धर्मशास्त्र का इतिहास

तृतीय भाग

महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरङ्ग वामन काणे

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

धर्मशास्त्र का इतिहास

तृतीय भाग (अध्याय १ से १६)

मूल लेखक

महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरङ्ग वामन काणे

अनुवादक

अर्जुन चौबे काश्यप

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

लखनऊ



धर्मशास्त्र का इतिहास



हिन्दी समिति ग्रंथमाला संख्या - १३२

धर्मशास्त्र का इतिहास

तृतीय भाग

(पातक, प्रायश्चित, कर्मविपाक, अन्त्यकर्म, अशौच, शुद्धि, श्राद्ध और तीर्थ-प्रकरण)

मूल लेखक

भारत-रत्न, महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरङ्ग वामन काणे

अनुवादक

अर्जुन चौबे काश्यप



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी समिति प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

६, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक :

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,

लखनऊ

प्रथम संस्करण : १९६६

द्वितीय संस्करण : १९७५

तृतीय संस्करण : १९९४

चतुर्थ संस्करण : २००३

प्रतियाँ : ३१००

मूल्य : रुपये १५०=०० (एक सौ पचास)

मुद्रक :

रोहिताश्व प्रिण्टर्स

२६८, ऐशबाग रोड, लखनऊ

फोन : २६९२९७३, २६९२२८६

प्रकाशकीय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा हिन्दी समिति की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' मूल रूप से मराठी भाषा के विद्वान भारत-रत्न महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरङ्ग वामन काणे द्वारा विरचित है, जिसका हिन्दी अनुवाद श्री अर्जुन चौबे काश्यप द्वारा किया गया है। यह ग्रन्थ विगत अनेक वर्षों से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है।

'धर्म' शब्द संस्कृत भाषा का ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थों में होता आया है। धर्म वस्तुतः उन गुणों का जीवन्त समवाय है जिनके आधार पर वस्तु 'धृत' है अर्थात् टिकी है तथा जो वस्तु द्वारा 'धारण' किये जाते हैं अर्थात् जो वस्तु के स्वाभाविक मूल गुण हैं। इस प्रकार धर्म ही पहचान भी है और अस्तित्व भी है। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया संस्कारों से है जिनसे मनुष्य अनुशासित होता है। प्राचीन काल में धर्म सम्बन्धी धारणा बड़ी व्यापक थी और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करती थी। वास्तव में धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण-संहिता है जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थित करता है, उसमें क्रमशः विकास करता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है।

हिन्दू धर्म उपासना की पद्धति मात्र नहीं है, वह एक समग्र जीवन-दर्शन एवं व्यवहार-प्रक्रिया है। उसमें सकारात्मक स्वीकृतियों के साथ निषेधात्मक पक्षों के उन्नयन की गम्भीर दृष्टि और उस पर आधारित समय-समय पर विकसित होते हुए जीवन के सभी क्षेत्रों के विधान हैं, जिन्हें 'शास्त्र' कहा जाता है। इन शास्त्रों के ज्ञान को सहज करने के लिए डॉ. पाण्डुरङ्ग वामन काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' नामक बृहद् ग्रन्थ का प्रणयन किया है। ग्रन्थ का तृतीय भाग पातक, प्रायश्चित, कर्मविपाक, अन्त्यकर्म, अशौच, शुद्धि, श्राद्ध और तीर्थ प्रकरण को समाहित किये हुए है।

दस अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में पातक के विभिन्न प्रकार पञ्च पातक, उपपातक, प्रकीर्णक पातक, पाप फलों को कम करने के साधन, प्रायश्चित का उद्भव, व्युत्पत्ति, अर्थ, विशिष्ट पापों के विशिष्ट प्रायश्चित, प्रायश्चितों के नाम, प्रायश्चित न करने के परिणाम, अन्त्येष्टि, मृत का श्मशान (समाधि स्तूप), शुद्धि, श्राद्ध, श्राद्धों का वर्गीकरण, पार्वण आदि का विवेचन किया गया है। पुस्तक में विद्वान लेखक ने धर्म सम्बन्धी नियमों-उपनियमों की चर्चा कुछ इस प्रकार की है कि व्यक्ति इसके अध्ययन से धर्म के प्रति आस्थावान होने के साथ-साथ अनुशासित भी होता है। धर्म का प्रबल समर्थन प्राप्त समाज व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया को दोनों रूपों में ग्रहण करता है।

मूल मराठी पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद होने से यह ग्रन्थ और भी लोकप्रिय तथा ग्राह्य हो गया है। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पूर्व की भाँति ग्रन्थ के चतुर्थ संस्करण का भी विद्वानों द्वारा समादर किया जायगा और ग्रन्थ अपनी उपादेयता की निरन्तरता बनाये रखेगा।

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक

निदेशक

मूल लेखक का वक्तव्यांश

"...'धर्मशास्त्र का इतिहास' के तृतीय खण्ड की भूमिका लिखते समय मैंने यह विश्वास प्रकट किया था कि इस विषय से सम्बन्धित समस्त अवशिष्ट सामग्री का समाहार एक ही खण्ड में कर दिया जायगा। परन्तु कार्यारम्भ होने पर वास्तविकता का अनुभव हुआ। पुस्तक के प्रथम तीन खण्डों को मैंने जिस ढंग एवं स्तर पर प्रस्तुत किया था, उसी के अनुरूप एक ही खण्ड में बचे हुए विषयों का सर्वाङ्ग निरूपण मुझे असंभव-सा लगा। इसके अतिरिक्त बढ़ती हुई अवस्था के कारण शारीरिक शक्ति भी क्षीण हो चली थी, परिणामतः प्रथम तीन खण्डों को मैंने जिस तत्परता एवं कौशल के साथ कुछ ही वर्षों में समाप्त कर दिया था, वैसा कर पाना अब संभव न था। अतः मैंने अनिच्छा होते हुए भी अवशिष्ट सामग्री को दो खण्डों में प्रकाशित करने का निर्णय किया। कागज एवं कुशल कारीगरों के अभाव के कारण प्रस्तुत खण्ड लगभग तीन वर्षों तक प्रेस में पड़ा रहा। इस खण्ड में आठ प्रकरण हैं—पातक, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, अन्त्येष्टि, आशौच, शुद्धि, श्राद्ध और तीर्थयात्रा।

नृशास्त्रियों के लिए ये विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन विषयों पर लिखते समय फ्रेज़र के 'गोल्डेन बाऊ' की भाँति ही प्राचीन भारत में प्रचलित विश्वासों, परिपाटियों एवं संस्कारों का वर्णन करने की मेरी बड़ी इच्छा थी। परन्तु मैंने अपने इस मोह का दृढ़ता से संवरण किया और वह भी दो विशिष्ट कारणों से। प्रथम कारण तो यह था कि पुस्तक का आकार अत्यधिक बढ़ गया था; और फिर मैंने यह भी सोचा कि प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में प्रचलित परिपाटियों एवं विश्वासों की तुलना अन्य स्थानों की तत्कालीन परम्पराओं से करना भ्रममूलक होगा। फ्रेज़र ने अपनी पुस्तक में मानव-सभ्यता की आदिम अवस्था में प्रचलित विश्वासों का निरूपण किया है। मुझे ऐसा लगा कि इस प्रकार की तुलनात्मक प्रक्रिया के द्वारा पाठकों में यह भ्रम हो सकता है कि प्राचीन एवं मध्य कालीन भारत सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में आदिम अवस्था में था; जब कि सर्वविदित है कि उस समय भारत की संस्कृति का सर्वोच्च धवल ध्वज फहर रहा था, यद्यपि उस समय भी अति प्राचीन काल से चली आयी हुई परम्पराएँ किसी-न-किसी रूप में जीवित थीं। अनेकों अत्याधुनिक समाजों में आज भी वे परम्पराएँ अक्षुण्ण बनी हुई हैं। फ्रांस की रानी जिस कक्ष में प्रथम बार अपने पति की मृत्यु का समाचार सुनती थी, एक वर्ष तक उस कक्ष से बाहर नहीं निकलती थी। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक इंग्लैण्ड में अभागिनी वृद्धाओं को चुड़ैल समझ कर मृत्यु-दण्ड दे दिया जाता था; जब कि भारतवर्ष में लगभग दो हजार वर्ष पूर्व मनु ने जादू, टोना इत्यादि के लिए केवल दो सौ पणों का सामान्य दण्ड निर्धारित किया था।

धर्मशास्त्र के विभिन्न अवयवों से सम्बन्धित तथ्यों का पर्यवेक्षण, संग्रह, वर्गीकरण एवं व्याख्या करना ही मेरा उद्देश्य रहा है और मैंने विषयसामग्री को, उसकी सारी सम्पूर्णता के साथ, निष्पक्ष होकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है (यद्यपि ब्राह्मण-कुल में जन्मने के कारण अचेतन मन में उद्भूत कुछ पूर्वाग्रहों अथवा संस्कारगत विश्वासों से अपने को अलग नहीं कर पाया हूँ)। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में, जहाँ एक ओर मेरा प्रयास भारतीय संस्कृति की निरन्तरता, उसके विकास-क्रम एवं परिवर्तनों को रूपायित करने का रहा है, वहीं दूसरी ओर अतीत और वर्तमान के सम्बन्ध तथा संभाव्य परिवर्तनों की ओर संकेत करने का भी प्रयास किया गया है।"

"...अब मैं कृतज्ञता-ज्ञापन का पावन कर्तव्य भी पूरा कर देना चाहता हूँ। अन्य खण्डों की भाँति इस खण्ड में भी ब्लूमफील्ड के 'वेदिक कान्कार्डेन्स', मैकडॉनल एवं कीथ के 'वेदिक इण्डैक्स' तथा 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' से प्रचुर सहायता मिली है। वाई के परमहंस स्वामी केवलानन्द सरस्वती मेरे पथप्रदर्शक रहे हैं और शंकाओं एवं कठिनाइयों का त्वरित समाधान देकर उन्होंने मुझे सदैव ही अनुगृहीत किया है। प्रूफ-शोधन के कार्य में सहायता करने के लिए मैं भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना के श्री एस० एन० सावदी का बहुत अधिक आभारी हूँ तथा पुस्तक के मुद्रित अंशों को पढ़ने एवं बहुमल्य सुझावों के लिए श्री पी० एम० पुरन्दरे, एडवोकेट (ओ० एस०) बम्बई हाईकोर्ट तथा लोणावाला के तर्कतीर्थ रघुनाथ शास्त्री कोकजी के प्रति कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत खण्ड के लेखन-काल के छः वर्षों के मध्य जिन महानुभावों के औदार्य से मैं लाभान्वित हुआ हूँ, उन सभी का नामोल्लेख यहाँ संभव नहीं, तथापि कुछ विशिष्ट नामों का उल्लेख करना आवश्यक है—प्रो० के० वी० रंगस्वामी आयंगर, श्री ए० एन० कृष्ण आयंगर, डा० ए० एस० अल्तेकर, डा० एस० के० वेलवेल्कर, प्रो० जी० एच० भट्ट, श्री भवतोष भट्टाचार्य, श्री एन० जी० चापेकर, डा० आर० एन० दाण्डेकर, श्री बी० डी० दिस्काल्कर, डा० जी० एस० गाय, प्रो० पी० के० गोडे, तर्कतीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी, श्री जी० एच० खरे, पण्डित बालाचार्य खुपेरकर, डा० उमेश मिश्र, डा० वी० राघवन, प्रो० एल० रेनू, प्रो० एच० डी० वेलणकर। इस खण्ड के तैयार करने में इन विद्वानों ने जो सहयोग दिया है और जो रुचि दिखायी है उसके लिए सभी धन्यवाद के पात्र हैं। इतने अधिक विद्वानों की कृपादृष्टि के पश्चात् भी इस खण्ड में बहुत-सी त्रुटियाँ हैं जिनके लिए पूर्ण रूप से मैं ही उत्तरदायी हूँ। असंख्य उद्धरणों एवं संदर्भों से भरे हुए प्रस्तुत खण्ड में कुछेक का यथास्थान उल्लेख नहीं हो पाया है, इसे मैं भली भाँति जानता हूँ। इसके लिए और पुस्तक के मुद्रण की त्रुटियों के लिए मैं अपने पाठकों से क्षमायाचना करता हूँ।..."

बम्बई
१०-१०-१९५३

—पाण्डुरंग वामन काणे

उद्धरण-संकेत

अग्नि०=अग्निपुराण
अ० वे० या अथर्व०=अथर्ववेद
अनु० या अनुशासन०=अनुशासन पर्व
अन्त्येष्टि०=नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति
अ० क० दी०=अन्त्यकर्मदीपक
अर्थशास्त्र, कौटिल्य०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
आ० गृ० सू० या आपस्तम्बगृ०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० ध० सू० या आपस्तम्बधर्म०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० म० पा० या आपस्तम्बम०=आपस्तम्ब मन्त्रपाठ
आ० श्रौ० सू० या आपस्तम्बश्रौ०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू० या आश्वलायनगृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० गृ० प० या आश्वलायनगृ० प०=आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट
ऋ० या ऋग्०=ऋग्वेद, ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ० या ऐतरेय आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० या ऐतरेय ब्रा०=ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ० या कठोप०=कठोपनिषद्
कलिवर्ज्य०=कलिवर्ज्यविनिर्णय
कल्प० या कल्पतरु, कृ० क०=लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु
कात्या० स्मृ० सा०=कात्यायन स्मृतिसारोद्धार
का० श्रौ० सू० या कात्यायनश्रौ०=कात्यायनश्रौतसूत्र
काम० या कामन्दक०=कामन्दकीय नीतिसार
कौ० या कौटिल्य० या कौटिलीय०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०=कौटिल्य का अर्थशास्त्र (डा० शाम शास्त्री का संस्करण)
कौ० ब्रा० उप० या कौषीतकिब्रा०=कौषीतकि ब्राह्मण-उपनिषद्
गं० भ० या गंगाभ० या गंगाभक्ति०=गंगाभक्तितरंगिणी
गंगावा० या गंगावाक्या०=गंगावाक्यावली
गरुड़०=गरुड़पुराण
गृ० र० या गृहस्थ०=गृहस्थरत्नाकर
गौ० या गौ० ध० सू० या गौतमधर्म०=गौतमधर्मसूत्र
गौ० पि० या गौतमपि०=गौतमपितृमेधसूत्र
चतुर्वर्ग०=हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि या केवल हेमाद्रि
छा० उ० या छान्दोग्य उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जीमूत०=जीमूतवाहन
जै० या जैमिनि०=जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र
जै० उप०=जैमिनीयोपनिषद्
जै० न्या० मा०=जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ताण्ड्य०=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ती० क० या ती० कल्प०=तीर्थकल्पतरु
ती० प्र० या तीर्थ प्र०=तीर्थप्रकाश
ती० चि० या तीर्थचि०=वाचस्पति की तीर्थचिन्तामणि
तै० आ० या तैत्तिरीया०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ० या तैत्तिरीयोप०=तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीय संहिता
त्रिस्थली०=नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु
त्रिस्थली० या त्रि० से०=भट्टोजि का त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह
नारद० या ना० स्मृ०=नारदस्मृति
नारदीय० या नारद०=नारदीयपुराण
नीतिवा० या नीतिवाक्या०=नीतिवाक्यामृत
निर्णय० या नि० सि०=निर्णयसिन्धु
पद्म०=पद्मपुराण
परा० मा०=पराशरमाधवीय
पाणिनि या पा०=पाणिनि की अष्टाध्यायी
पार० गृ० या पारस्करगृ०=पारस्करगृह्यसूत्र
पू० मी० सू० या पूर्वमी०=पूर्वमीमांसासूत्र
प्रा० त० या प्राय० तत्त्व०=प्रायश्चित्ततत्त्व

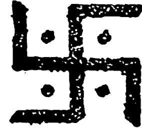
प्रा० प्र०, प्राय० प्र० या प्रायश्चित्त प्र०=प्रायश्चित्तप्रकरण
प्राय० प्रका० या प्रा० प्रकाश=प्रायश्चित्तप्रकाश
प्राय० वि०, प्रा० वि० या प्रायश्चित्तवि०=प्रायश्चित्त-विवेक
प्रा० म० या प्राय० म०=प्रायश्चित्तमयूख
प्रा० सा० या प्राय० सा०=प्रायश्चित्तसार
बु० भू०=बुधभूषण
बृ० या बृहस्पति०=बृहस्पतिस्मृति
बृ० उ० या बृह० उप०=बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० सं० या बृहत् सं०=बृहत्संहिता
बौ० गृ० सू० या बौधायनगृ०=बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० ध० सू० या बौधा० ध० या बौधायनध०=बौधायन-धर्मसूत्र
बौ० श्रौ० सू० या बौधा० श्रौ० सू०=बौधायनश्रौतसूत्र
ब्र०, ब्रह्म० या ब्रह्म पु०=ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड०=ब्रह्माण्डपुराण
भवि० पु० या भविष्य०=भविष्यपुराण
मत्स्य०=मत्स्यपुराण
म० पा० या मद० पा०=मदनपारिजात
मनु या मनु०=मनुस्मृति
मानव० या मानवगृह्य०=मानवगृह्यसूत्र
मिता०=मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्यस्मृति-की टीका)
मी० कौ० या मीमांसाकौ०=मीमांसाकौस्तुभ (खण्डदेव)
मेधा० या मेधातिथि=मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका या मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि
मैत्री० उप०=मैत्र्युपनिषद्
मै० सं० या मैत्रायणी सं०=मैत्रायणी संहिता
य० ध० सं० या यतिधर्म०=यतिधर्मसंग्रह
या०, या याज्ञ०=याज्ञवल्क्यस्मृति
राज०=कल्हण की राजतरंगिणी
रा० ध० कौ० या राजध० कौ०=राजधर्मकौस्तुभ
रा० नी० प्र० या राजनी० प्र०=मित्र मिश्र का राजनीति-प्रकाश
राज० र० या राजनीतिर०=चण्डेश्वर का राजनीति-रत्नाकर
वाज० सं० या वाजसनेयीसं०=वाजसनेयीसंहिता
वायु०=वायुपुराण
वि० चि० या विवादचि०=वाचस्पति मिश्र की विवाद-चिन्तामणि
वि० र० या विवादर०=विवादरत्नाकर
विश्व० या विश्वरूप०=याज्ञवल्क्यस्मृति की विश्व-रूपकृत टीका
विष्णु०=विष्णुपुराण
विष्णु० या वि० ध० सू०=विष्णुधर्मसूत्र
वी० मि०=वीरमित्रोदय
वै० स्मा० या वैखानस०=वैखानसस्मार्तसूत्र
व्यव० त० या व्यवहारत०=रघुनन्दन का व्यवहारतत्त्व
व्य० नि० या व्यवहारनि०=व्यवहारनिर्णय
व्य० प्र० या व्यवहारप्र०=मित्र मिश्र का व्यवहारप्रकाश
व्य० म० या व्यवहारम०=व्यवहारमयूख
व्य० मा० या व्यवहारमा०=जीमूतवाहन की व्यवहार-मातृका
व्यव० सा०=व्यवहारसार
श० ब्रा० या शतपथब्रा०=शतपथब्राह्मण
शातातप०=शातातपस्मृति
शां० गृ० या शांखायनगृ०=शांखायनगृह्यसूत्र
शां० ब्रा० या शांखायनब्रा०=शांखायनब्राह्मण
शां० श्रौ० सू० या शांखायनश्रौत०=शांखायनश्रौतसूत्र
शान्ति०=शान्तिपर्व
शुक्र० या शुक्रनीति०=शुक्रनीतिसार
शूद्रकम०=शूद्रकमलाकर
शु० कौ० या शुद्धिकौ०=शुद्धिकौमुदी
शु० क० या शुद्धिकल्प०=शुद्धिकल्पतरु (शुद्धि पर)
शु० प्र० या शुद्धिप्र०=शुद्धिप्रकाश
श्रा० क० ल० या श्राद्धकल्प०=श्राद्धकल्पलता
श्रा० क्रि० कौ० या श्राद्धक्रिया०=श्राद्धक्रिया-कौमुदी

श्रा० प्र० या श्राद्धप्र०=श्राद्धप्रकाश
श्रा० वि० या श्राद्धवि०=श्राद्धविवेक
स० श्रौ० सू० या सत्या० श्रौ० =सत्याषाढश्रौतसूत्र
स० वि० या सरस्वतीवि०=सरस्वतीविलास
सा० ब्रा० या साम० ब्रा०=सामविधान ब्राह्मण
स्कन्द० या स्कन्दपु०=स्कन्दपुराण
स्मृ० च० या स्मृतिच०=स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु० या स्मृतिमु०=स्मृतिमुक्ताफल
सं० कौ० या संस्कारकौ०=संस्कारकौस्तुभ
सं० प्र०=संस्कारप्रकाश
सं० र० मा० या संस्काररं०=संस्काररत्नमाला
हि० गृ० या हिरण्य० गृ०=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

इंग्लिश नामों के संकेत

A. G. = ऐं० जि० (ऐंश्येंट जियाग्रफी आव इंडिया)
Ain. A. = आइने अकबरी (अबुल फजल कृत)
A. I. R. = आल इण्डिया रिपोर्टर
A. S. R. = आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्टस
B. B. R. A. S. = बाम्बे ब्रांच, रायल एशियाटिक सोसाइटी
B. O. R. I. = भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
C. I. I. = कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम्
E. I. = एपिग्रैफिया इण्डिका (एपि० इडि०)
I. A. = इण्डियन ऐंटिक्वेरी (इंडि० ऐंटि०)
I. O. = इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन।
I. H. Q. = इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
J. A. O. S. = जर्नल आव दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी
J. A. S. B. = जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल
J. B. O. R. S. = जर्नल आव दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
J. R. A. S. = जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (लन्दन)
S. B. E. = सेक्रेड बुक आव दि ईस्ट (मैक्समूलर द्वारा सम्पादित)
G. O. S. = गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़





प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल-निर्धारण

[इनमें से बहुतों का काल सम्भावित, कल्पनात्मक एवं विचाराधीन है। ई० पू०=ईसा के पूर्व;
ई० उ०=ईसा के उपरान्त]

४०००—१००० (ई० पू०)	: यह वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों का काल है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण की कुछ ऋचाएँ ४००० ई० पू० के बहुत पहले की भी हो सकती हैं, और कुछ उपनिषद् (जिनमें कुछ वे भी हैं जिन्हें विद्वान् लोग अत्यन्त प्राचीन मानते हैं) १००० ई० पू० के पश्चात्कालीन भी हो सकती हैं। (कुछ विद्वान् प्रस्तुत लेखक की इस मान्यता को कि वैदिक संहिताएँ ४००० ई० पू० प्राचीन हैं, नहीं स्वीकार करते।)
८००—५०० (ई० पू०)	: यास्क की रचना निरुक्त।
८००—४०० (ई० पू०)	: प्रमुख श्रौत सूत्र (यथा—आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ आदि) एवं कुछ गृह्यसूत्र (यथा—आपस्तम्ब एवं आश्वलायन)।
६००—३०० (ई० पू०)	: गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ के धर्मसूत्र एवं पारस्कर तथा कुछ अन्य लोगों के गृह्यसूत्र।
६००—३०० (ई० पू०)	: पाणिनि।
५००—२०० (ई० पू०)	: जैमिनि का पूर्वमीमांसासूत्र।
५००—२०० (ई० पू०)	: भगवद्गीता।
३०० (ई० पू०)	: पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन।
३०० (ई० पू०)—१०० (ई० उ०)	: कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अपेक्षाकृत पहली सीमा के आसपास)।
१५० (ई० पू०)—१०० (ई० उ०)	: पतञ्जलि का महाभाष्य (सम्भवतः अपेक्षाकृत प्रथम सीमा के आसपास)।
२०० (ई० पू०)—१०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति।
१००—३०० (ई० उ०)	: विष्णुधर्मसूत्र।
१००—४०० (ई० उ०)	: नारदस्मृति।
२००—५०० (ई० उ०)	: वैखानसस्मार्त-सूत्र।
२००—५०० (ई० उ०)	: जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर (अपेक्षाकृत पूर्व समय के आसपास)।
३००—५०० (ई० उ०)	: व्यवहार आदि पर बृहस्पतिस्मृति (अभी तक इसकी प्रति नहीं मिल सकी है)। ऐस० बी० ई० (जिल्द ३३) में व्यवहार के अंश अनूदित हैं, प्रो० रंगस्वामी आयंगर ने धर्म के बहुत से विषय संगृहीत किये हैं जो गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित हैं।

३००—६०० (ई० उ०)	: कुछ विद्यमान पुराण, यथा—वायु०, विष्णु०, मार्कण्डेय०, मत्स्य०, कूर्म०।
४००—६०० (ई० उ०)	: कात्यायनस्मृति (अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है)।
५००—५५० (ई० उ०)	: वराहमिहिर, पञ्चसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक आदि के लेखक।
६००—६५० (ई० उ०)	: कादम्बरी एवं हर्षचरित के लेखक बाण।
६५०—६६५ (ई० उ०)	: पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका'-व्याख्याकार वामन—जयादित्य।
६५०—७०० (ई० उ०)	: कुमारिल का तन्त्रवार्तिक।
६००—९०० (ई० उ०)	: अधिकांश स्मृतियाँ, यथा—पराशर, शंख, देवल तथा कुछ पुराण, यथा—अग्नि०, गरुड़०।
७८८—८२० (ई० उ०)	: महान् अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य।
८००—८५० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप।
८०५—९०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि।
९६६ (ई० उ०)	: वराहमिहिर के बृहज्जातक के टीकाकार उत्पल।
१०००—१०५० (ई० उ०)	: बहुत से ग्रन्थों के लेखक धारेश्वर भोज।
१०८०—११०० (ई० उ०)	: याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर।
१०८०—११०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज।
११००—११३० (ई० उ०)	: कल्पतरु या कृत्यकल्पतरु नामक विशाल धर्मशास्त्र विषयक निबन्ध के लेखक लक्ष्मीधर।
११००—११५० (ई० उ०)	: दायभाग, कालविवेक एवं व्यवहारमातृका के लेखक जीमूतवाहन।
११००—११५० (ई० उ०)	: प्रायश्चित्तप्रकरण एवं अन्य ग्रन्थों के रचयिता भवदेव भट्ट।
११००—११३० (ई० उ०)	: अपरार्क, शिलाहार राजा ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक टीका लिखी।
१११४—११८३ (ई० उ०)	: भास्कराचार्य, जो सिद्धान्तशिरोमणि के, जिसका लीलावती एक अंश है, प्रणेता हैं।
११२७—११३८ (ई० उ०)	: सोमेश्वर देव का मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिन्तामणि।
११५०—११६० (ई० उ०)	: कल्हण की राजतरंगिणी।
११५०—११८० (ई० उ०)	: हारलता एवं पितृदयिता के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट।
११५०—१२०० (ई० उ०)	: श्रीधर का स्मृत्यर्थसार।
११५०—१३०० (ई० उ०)	: मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक।
११५०—१३०० (ई० उ०)	: गौतम एवं आपस्तम्ब धर्मसूत्रों तथा कुछ गृह्यसूत्रों के टीकाकार हरदत्त।
१२००—१२२५ (ई० उ०)	: देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका।
११७५—१२०० (ई० उ०)	: धनञ्जय के पुत्र, ब्राह्मणसर्वस्व के प्रणेता हलायुध।
१२६०—१२७० (ई० उ०)	: हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि।
१२००—१३०० (ई० उ०)	: वरदराज का व्यवहारनिर्णय।
१२७५—१३१० (ई० उ०)	: पितृभक्ति, समयप्रदीप एवं अन्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रीदत्त।
१३००—१३७० (ई० उ०)	: गृहस्थरत्नाकर, विवादरत्नाकर, क्रियारत्नाकर आदि के रचयिता चण्डेश्वर।

१३००—१३८० (ई० उ०) : वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के भाष्यों के संग्रहकर्त्ता सायण।

१३००—१३८० (ई० उ०) : पराशरस्मृति की टीका पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता एवं सायण के भाई माधवाचार्य।

१३६०—१३९० (ई० उ०) : मदनपाल एवं उसके पुत्र के संरक्षण में मदनपारिजात एवं महार्णवप्रकाश संगृहीत किये गये।

१३६०—१४४८ (ई० उ०) : गंगावाक्यावली आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्यापति के जन्म एवं मरण की तिथियाँ। देखिए इंडियन ऐण्टिक्वेरी (जिल्द १४, पृ० १९०-१९१), जहाँ देवसिंह के पुत्र शिवसिंह द्वारा विद्यापति को प्रदत्त बिसपी नामक ग्रामदान के शिलालेख में चार तिथियों का विवरण उपस्थित किया गया है (यथा—शक १३२१, संवत् १४५५, ल० स० २८३ एवं सन् ८०७)।

१३७५—१४४० (ई० उ०) : याज्ञवल्क्य० की टीका दीपकलिका, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक एवं अन्य ग्रन्थों के लेखक शूलपाणि।

१३७५—१५०० (ई० उ०) : विशाल निबन्ध धर्मतत्त्वकलानिधि (श्राद्ध, व्यवहार आदि के प्रकाशों में विभाजित) के लेखक एवं नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र।

१४००—१५०० (ई० उ०) : तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर की न्यायसुधा।

१४००—१४५० (ई० उ०) : मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र।

१४००—१४५० (ई० उ०) : मदनसिंह देव द्वारा संगृहीत विशाल निबन्ध मदनरत्न।

१४२५—१४६० (ई० उ०) : शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि के लेखक रुद्रधर।

१४२५—१४९० (ई० उ०) : शुद्धिचिन्तामणि, तीर्थचिन्तामणि आदि के रचयिता वाचस्पति।

१४५०—१५०० (ई० उ०) : दण्डविवेक, गंगाकृत्यविवेक आदि के रचयिता वर्धमान।

१४९०—१५१२ (ई० उ०) : दलपति का व्यवहारसार, जो नृसिंहप्रसाद का एक भाग है।

१४९०—१५१५ (ई० उ०) : दलपति का नृसिंहप्रसाद, जिसके भाग हैं—श्राद्धसार, तीर्थसार, प्रायश्चित्त-सार आदि।

१५००—१५२५ (ई० उ०) : प्रतापरुद्रदेव राजा के संरक्षण में संगृहीत सरस्वतीविलास।

१५००—१५४० (ई० उ०) : शुद्धिकौमुदी, श्राद्धक्रियाकौमुदी आदि के प्रणेता गोविन्दानन्द।

१५१३—१५८० (ई० उ०) : प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु के लेखक नारायण भट्ट।

१५२०—१५७५ (ई० उ०) : श्राद्धतत्त्व, तीर्थतत्त्व, शुद्धितत्त्व प्रायश्चित्ततत्त्व आदि के लेखक रघुनन्दन।

१५२०—१५८९ (ई० उ०) : टोडरमल के संरक्षण में टोडरानन्द ने कई सौख्यों में शुद्धि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक एवं अन्य १५ विषयों पर ग्रन्थ लिखे।

१५६०—१६२० (ई० उ०) : द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय के लेखक शंकर भट्ट।

१५९०—१६३० (ई० उ०) : वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र की टीका), श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका एवं दत्तकमीमांसा के लेखक नन्द पण्डित।

१६१०—१६४० (ई० उ०) : निर्णयसिन्धु तथा विवादताण्डव, शूद्रकमलाकर आदि २० ग्रन्थों के लेखक कमलाकर भट्ट।

१६१०—१६४० (ई० उ०)	: मित्र मिश्र का वीरमित्रोदय, जिसके भाग हैं तीर्थप्रकाश, प्रायश्चित्तप्रकाश, श्राद्धप्रकाश आदि।
१६१०—१६४५ (ई० उ०)	: प्रायश्चित्त, शुद्धि, श्राद्ध आदि विषयों पर १२ मयूखों में (यथा—नीति-मयूख, व्यवहारमयूख आदि) रचित भागवतभास्कर के लेखक नीलकण्ठ।
१६५०—१६८० (ई० उ०)	: राजधर्मकौस्तुभ के प्रणेता अनन्तदेव।
१७००—१७४० (ई० उ०)	: वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल।
१७००—१७५० (ई० उ०)	: तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर आदि लगभग ५० ग्रन्थों के लेखक नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट।
१७९० (ई० उ०)	: धर्मसिन्धु के लेखक काशीनाथ उपाध्याय।
१७३०—१८२० (ई० उ०)	: मिताक्षरा पर 'बालम्भट्टी' नामक टीका के लेखक बालम्भट्ट।

चतुर्थ खण्ड

पातक, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, अन्त्येष्टि, अशौच, शुद्धि, श्राद्ध और तीर्थयात्रा



विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड

तीर्थप्रकरण

अध्याय १

पातक (पाप)

पाप-सम्बन्धी भावना विभिन्न धर्मों, युगों एवं देशों में विभिन्न-प्रकार की रही है। हम यहाँ वैदिक काल से लेकर मध्य काल के निबन्धों एवं धर्मशास्त्र-सम्बन्धी टीकाओं के काल तक भारत में पाप-सम्बन्धी मत के उदय एवं विकास के विषय में विवेचन उपस्थित करेंगे।

पाप की परिभाषा देना कठिन है। पाप या पातक ऐसा शब्द है जिसका आचार-शास्त्र की अपेक्षा धर्म से अधिक सम्बन्ध है। सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि यह एक ऐसा कृत्य है जो ईश्वर या उसके द्वारा प्रकाशित किसी व्यवहार (कानून) के उल्लंघन अथवा जान-बूझकर उसके विरोध करने से उद्भूत होता है; यह ईश्वर की उस इच्छा का विरोध है जो किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में अभिव्यक्त रहती है; अथवा यह उस ग्रन्थ में पाये जानेवाले नियमों के पालन में असफलता का परिचायक है।[1]

ऋग्वेद में पातक के सम्बन्ध में उन्मेषशालिनी एवं हृदय-स्पर्शिनी अभिव्यञ्जनाएँ पायी जाती हैं और यह प्रकट होता है कि प्राचीन ऋषियों में पापरहित होने की उद्दाम इच्छा पायी जाती थी। ऋग्वेद की पातक-सम्बन्धी भावना ऋत की धारणा से गुम्फित है। हम यहाँ पर ऋत की धारणा के विषय में सविस्तर नहीं लिखेंगे, किन्तु एक संक्षिप्त विवेचन अनिवार्य-सा है, क्योंकि बिना उसके पातक सम्बन्धी वैदिक सिद्धान्त नहीं अभिव्यक्त किया जा सकता।

१. आजकल पूर्व और पश्चिम के बहुत से व्यक्ति पाप के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। अपनी पुस्तक 'सिन एण्ड दि न्यू साइकॉलोजी' पृ० १९ में बारबोअर ने लिखा है—"ऐसी धारणा बहुत घर करती चली जा रही है कि ईसाई भावना में पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है। किसी व्यक्ति का जीवन दुष्कर्म से परिपूर्ण हो सकता है जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तित्व विच्छिन्न हो सकता है, किन्तु यह पाप नहीं है। यह मानसिक दुष्कर्म है जिसकी व्याख्या के मूल में मानसिक कारण हैं और सम्भवतः मनोवैज्ञानिक चिकित्सा से यह दूर किया जा सकता है. . . .।" बहुत लोग कहा करते हैं; 'तो सत्य या झूठ कुछ नहीं है (अथवा अच्छा या बुरा कुछ नहीं है)। प्रत्येक भावनाग्रंथियों का प्रतिफल है।' इसका परिणाम पाप के प्रति सहज सहिष्णुता के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। 'क्रिश्चियन डॉक्ट्रिन' नामक अपने लेख में सर आलिवर लॉज (हिब्बर्ट जर्नल, १९०३-४ पृ० ४६६) ने कहा है—"आज का उच्च व्यक्ति पापों के विषय में कुछ भी चिंता नहीं करता, दण्डों के विषय में तो बात ही दूसरी है। उसका उद्देश्य यदि वह किसी काम का है तो, खाते-पीते जाना है और यदि वह त्रुटिपूर्ण अथवा नासमझ हो जाता है तो कष्ट की सम्भावना करता है।" प्राचीन भारत के नास्तिकों में प्रमुख चार्वाक के अनुयायी गण कहा करते थे—जब तक जीवन रहे, व्यक्ति को आनन्दों के बीच विचरण करना चाहिए (यावद् जीवेत् सुखं जीवेत्); उसे दूसरों से ऋण लेकर खूब डटकर खाना चाहिए (ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्)। जब शरीर जलकर भस्म हो जाता है तो इस संसार में फिर से आना नहीं होता (भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः)।

ऋत के तीन स्वरूप हैं--(१) इसका तात्पर्य है "प्रकृति की गति" या "अखिल ब्रह्मांड में एक-सा सामान्य क्रम", (२) यज्ञ के संदर्भ में इसका तात्पर्य है "देवताओं की पूजा की सम्यक् एवं व्यवस्थित विधि", (३) इसका तीसरा तात्पर्य है "मानव का नैतिक आचरण"। ऋत के इन तीन स्वरूपों पर प्रकाश डालने के लिए कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। एक स्थान पर ऋग्वेद (४।२३।८-१०) के तीन मंत्रों में **ऋत** शब्द बारह बार अपने व्यापक रूप के साथ आया है--"ऋत में पर्याप्त जल (समृद्धियाँ एवं प्रीतिदान या उपहार) हैं; ऋत-सम्बन्धी विचार (स्तुति) दुष्कृत्यों (पातकों) का नाश करता है, ऋत के विषय में उत्तम एवं दीप्यमान (उन्मेषकारी) स्तुति (स्तोत्र) मनुष्य के बधिर कानों में प्रवेश कर जाती है। ऋत के आश्रय स्थिर होते हैं; इसकी (भौतिक) अभिव्यक्तियाँ बहुत-सी हैं और शरीर (मनुष्य) के लिए सुखप्रद (सौम्य) हैं। ऋत के द्वारा वे (मनुष्य) भोजन की आकांक्षा करते हैं। गौएँ (सूर्य की किरणें) ऋत के द्वारा ऋत में प्रविष्ट हुईं। जो ऋत पर विजय प्राप्त करता है, वह उसे पाता है। ऋत के लिए (स्वर्ग) एवं पृथिवी विस्तृत एवं गहरे हैं; (ये) दो अति उच्च गौएँ (अर्थात् स्वर्ग एवं पृथिवी) ऋत के लिए दूध (कांक्षाएँ या उपहार) देती हैं।"[२] इसी प्रकार अन्य मंत्र भी हैं, यथा--ऋग्वेद (२।२८।४; १।१०५।१२; १।१६४।११; १।१२४।३; १।१२३।९; ४।५१।१; १।१३६।२; १।१२१।४)।

बहुत-से वैदिक देवता ऋत के दिक्पालों, प्रवर्तकों या सारथियों के रूप में वर्णित हैं। **मित्र** और **वरुण** ऋत के द्वारा ही विश्व पर राज्य करते हैं (ऋ० ५।६३।७); मित्र, वरुण एवं अर्यमा ऋत के सारथि कहे गये हैं (८।६६।१२); वे तथा अदिति एवं भग ऋत के रक्षक हैं (६।५१।३)। अग्नि को ऋत का रथी (३।२।८), रक्षक (१।१।८; ३।१०।२; १०।८।५; १०।११८।७) और ऋतावान् (४।२।१) कहा गया है। सोम को ऋत का रक्षक (९।४८।४; ९।७३।८) और उसका आश्रयदाता (९।९७।२४) कहा गया है। ऋग्वेद (७।६६।१३) में आदित्यों को **ऋतावान्** (प्रकृति के स्थिर क्रम के अनुसार कार्य करनेवाले), **ऋतजात** (ऋत से उत्पन्न) एवं **ऋतावृध्** (ऋत को बढ़ानेवाले या ऋत में आनन्द लेनेवाले) कहा गया है और वे **अनृत**, के भयंकर विद्वेषी कहे गये हैं।

ऋत एवं यज्ञ में अन्तर है। यह कोई विशिष्ट यज्ञिय कृत्य नहीं है और न यज्ञ का कोई विधान। यह सामान्य अर्थ में यज्ञ की सुव्यवस्थित गति अथवा व्यवस्था का द्योतक है। ऋग्वेद (४।३।४) में अग्नि को ऋतचित् (ऋत को भली भांति जाननेवाला या पालन करनेवाला) कहा गया है, या उसे (यज्ञ के) ऋत को जानने के लिए उद्वेलित किया गया है; कई मंत्रों में 'ऋतेन, ऋतम्' जैसे शब्द आये हैं (४।३।९; ५।१५।२; ५।६८।४), जिनमें 'ऋतेन' का संभवतः अर्थ है यज्ञिय कृत्यों की सम्यक् गति तथा 'ऋतम्' का अर्थ है विश्व में व्यवस्थित (नियमित) क्रम। सोम को दशापवित्र (९।७३।९) पर फैलाया गया ऋत का सूत्र (सूत या धागा) कहा गया है। देखिए ऋग्वेद के ये मंत्र १।८४।४, ४।१।१३, १।७१।३, १०।६७।२ एवं १०।३७।१, जहाँ यज्ञों में ऋत के व्यापक सम्बन्ध की ओर निर्देश है।

२. **ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥ ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि। ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमाविवेशुः॥ ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः। ऋताय पृथ्वी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते॥ (ऋ० ४।२३।८-१०)। निरुक्त ने ऋत का अर्थ 'जल' किया है और उसकी व्याख्या निम्न रूप से की है--ऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णौ आतृणत्ति। बधिरः बद्धश्रोत्रः। कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्च आयोः अयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वा उदकस्य वा।**

नैतिकता-सम्बन्धी आदेशों (उत्प्रेरणाओं) के रूप में ऋत की धारणा कई स्थानों पर व्यक्त हुई है। ऋग्वेद (१।९०।६, मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः) में आया है; हवाएँ मधु (मिठास) ढोती हैं (वहन करती हैं), यही नदियाँ भी उनके लिए करती हैं जो ऋत धारण करते हैं। ऋग्वेद (५।१२।२) में आया है—"हे ऋत को जानने-वाले अग्नि, केवल ऋत को ही (मुझमें) जानो......मैं बल द्वारा या द्विधाभाव से इन्द्रजाल (जादू) का आश्रय नहीं लूँगा, मैं भूरे बैल (अर्थात् अग्नि) के ऋत का पालन करूँगा।"[3] पुनः आया है (१०।८७।११); "हे अग्नि, वह दुरात्मा जो ऋत को अनृत से पीड़ा देता है (घायल करता है), तुम्हारी बेड़ियों में तीन बार बँध जाय।" यम ने अपनी ओर बढ़ती हुई यमी को मना करते हुए कहा है—(ऋ० १०।१०।४) "जो हमने कभी नहीं किया (क्या उसे हम अभी करेंगे?); क्या हम, जब हमने सदैव (अब तक) ऋत कहा है, अब अनृत कहेंगे? (ऋता वदन्तो अनृतं रपेम)।"

दो-तीन स्थानों पर ऋत को **देवत्व** अथवा **ऐश्वर्य** के रूप में ही उल्लिखित किया गया है, यथा "हे अग्नि, हम लोगों के लिए मित्र एवं वरुण देवताओं तथा बृहत् ऋत की आहुति दो" (ऋ० १।७५।५)। इसी प्रकार महत् ऋत का वर्णन अदिति, द्यावापृथिवी (स्वर्ग एवं पृथ्वी), इन्द्र, विष्णु, मरुतों आदि के साथ किया गया है (ऋ० १०।६६।४)।

ऋग्वेद में कई स्थानों पर **ऋत** एवं **सत्य** का अन्तर स्पष्ट हुआ है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद (५।५१।२) ने विश्वे देवों को **ऋतधीतयः** (जिनके विचार ऋत पर अटल हैं) एवं **सत्यधर्माणः** (जिनकी विशिष्टता सत्य है या जिनके धर्म सच्चे हैं) कहा है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०।११३।४) में **ऋत** एवं **सत्य** दोनों शब्द आये हैं और इनका अर्थ एक-सा लगता है। एक स्थान (१०।१९०।१) पर दोनों पृथक्-पृथक् 'तप' से उद्भूत माने गये हैं। **ऋत** शब्द का ग्रहण बृहत् अर्थ में हुआ है और **सत्य** अपने मौलिक सीमित अर्थ (स्थिर क्रम या व्यवस्था) में प्रयुक्त हुआ है। **अनृत** शब्द **ऋत** एवं **सत्य** के विरोधी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (ऋ० १०।१०।४; ७।४९।३; १०।१२४।५)। वैदिक साहित्य में भी क्रमशः आगे चलकर **ऋत** शब्द पीछे रह गया और **सत्य** शब्द उसके अर्थ में बैठ गया, किन्तु तब भी इतस्ततः (यथा तै० उप० २।१ एवं १।९।१) **ऋत** एवं **सत्य** एक-दूसरे की सन्निधि में पाये गये हैं।

ऋग्वेद के ऋषि पातक या अपराध के विषय में अत्यधिक सचेत पाये गये हैं और देवों से, विशेषतः वरुण एवं आदित्यों से क्षमा याचना करते हैं और पातक के फल से छुटकारा पाने के लिए प्रार्थना करते हैं। इस विषय में उनके ये शब्द हैं—**आगस्, एनस्, अघ, दुरित, दुष्कृत, द्रुग्ध, अंहस्**। अत्यधिक प्रयुक्त शब्द हैं **आगस्** एवं **एनस्** जिनको अत्यन्त गम्भीर एवं नैतिक अर्थ में लिया गया है। और देखिए ऋग्वेद (७।८६।३); ७।८९।५=अथर्ववेद ६।५१।३; २।२७।-१४; २।२८।५; २।२९।१)। विशिष्ट अध्ययन के लिए देखिए ऋग्वेद के ये मन्त्र—१।१६२।२२; १।१८५।८; २।२९।५; ४।१२।४; ४।५४।३; ७।५१।१; ७।५७।७; ५।८५।७; ७।८७।७; ७।९३।७; १०।३६।१२; १०।३७।-७ एवं ९। एनस् के सम्बन्ध में देखिए ऋग्वेद (६।५१।७; ६।५१।८; ६।७४।३; ७।२०।१; १।१८९।१; २।२८।७; ७।५२।२; १।९७।१-८; २।२९।५; १०।११७।६)। **अंहस्** के लिए देखिए ऋग्वेद (२।२८।५; २।२८।६; ३।१२।-१४; ८।१९।६; १०।३६।२ एवं ३)।

ऋग्वेद में एक अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द **वृजिन** है, जो बहुधा **साधु** या **ऋजु** के विरोध में प्रयुक्त होता है। आदित्यों से कहा गया है कि वे मनुष्यों के भीतर पापों एवं **साधु** (सद् विचारों एवं कर्मों) को देखें, और यह भी कहा गया है कि राजाओं के पास दूर की सभी वस्तुएँ चली आती हैं, अर्थात् राजाओं के लिए दूर की वस्तु भी सन्निकट हो जाती

३. **ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः। नाहं यातुं सहसा न द्वयेन ऋतं शपाम्य-रुषस्य वृष्णः। ऋ० (५।१२।२)।**

है।[४] ऋग्वेद (२।२७।२) में आदित्यों को 'अवृजिनाः' (वृजिनरहित) माना गया है। सूर्य से यह कहा गया है कि वह मनुष्यों के अच्छे एवं बुरे कर्मों को देखे (ऋ० ४।१।१७)। और देखिए ऋग्वेद (४।५१।२ एवं ७।६०।२), जहाँ सूर्य के लिए ऐसा ही कहा गया है (ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्)।

अनृत शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है। वरुण से कहा गया है कि वह मनुष्यों में उनके **सत्य** एवं **अनृत** को देखे। ऋग्वेद (७।६०।५) में आया है—"मित्र, अर्यमा एवं वरुण देवता-गण पापों को देखते हैं; वे ऋत में निवास करते हैं।" "मित्र, वरुण एवं अर्यमा **अनृत** को घृणा की दृष्टि से देखते हैं" (६।६६।१३)।

कभी-कभी **दुरित** शब्द पाप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद (१।२३।२२) में जलों का आह्वान इस प्रकार किया गया है—"हे जल, मुझमें जो भी पाप हों उन्हें दूर करो, मैंने विषय-भोग-सम्बन्धी भूख मिटाने में जो भी अपराध किये हों, या जो जो झूठ कहा हो, उसे दूर करो।" यहाँ पर **दुरित, द्रोह** एवं **अनृत** शब्द एक ही स्थान पर हैं और उनका अर्थ भी एक ही है, अर्थात् देवों के नियम के विरुद्ध पाप या अपराध।[५] ऋग्वेद (१।१८५।१०) में स्वर्ग एवं पृथिवी को क्रम से पिता एवं माता कहा गया है और उन्हें अपने पूजक को **दुरित** (पाप) से बचाने को कहा गया है (पातामवद्याद्दुरितात्)। 'अवद्य' का अर्थ है 'गर्ह्य' (पाणिनि ३।१।१०१)। ऋग्वेद (७।८२।७) में आया है—"हे मित्र एवं वरुण, जिनके यज्ञ में आप जाते हैं उनके यहाँ कहीं से भी **अंहस्** (पाप), **दुरित** एवं चिन्ता नहीं आती।" और देखिए ऋग्वेद (१०।१२५।१)। ऋग्वेद (८।६७।२१) में 'अंहति' एवं 'रपस्' शब्दों का प्रयोग पाप के अर्थ में ही हुआ है। और देखिए ऋग्वेद (८।४७।१३; १०।१६४।३) जहाँ **दुष्कृत** शब्द पाप के अर्थ में आया है। 'पाप' शब्द पाप करनेवाले अर्थात् पापी के अर्थ में आया है (ऋ० ८।६१।११; १०।१०।१२; ४।५।५)। यह शब्द अपराधी एवं दुष्कर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है (ऋ० १०।१०८।६; १०।१६४।५; १।१२९।११)। **पापत्व** शब्द भी आया है (ऋ० ७।३२।१८; ७।९४।३; ८।१९।२६)। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'पापम्' (नपुंसक लिंग) शब्द पाप के अर्थ में आया है (शतपथब्राह्मण ११।२।७।१९; ऐतरेय ब्राह्मण ३३।५)। यही बात उपनिषदों में भी पायी जाती है (तैत्तिरीयोपनिषद् २।९; छान्दोग्योपनिषद् ४।१४।३)। **पाप** एवं **कर्म** के सिद्धान्त के विषय में आगे चलकर उपनिषदों एवं भगवद्गीता में कुछ संशोधन हुए, जिनके बारे में हम आगे पढ़ेंगे।

उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि ऋग्वेदीय काल में पाप एवं अपराध के विषय की भावना भली भाँति उत्पन्न हो गयी थी, तथापि कुछ यूरोपीय विद्वानों ने ऐसा नहीं माना है। किन्तु प्रसिद्ध विद्वान् एवं यशस्वी लेखक मैक्स मूलर ने उनको मुँहतोड़ उत्तर दिया है—"अपराध की धारणा का क्रमिक विकास उन मनोरम उपदेशों में मिलता है, जिन्हें इन प्राचीन मन्त्रों के कुछ वचन हमें देते हैं।"[६]

व्यक्ति के मन में पाप का उदय किस प्रकार होता है? सभी कालों में यह प्रश्न कठिन समस्या का द्योतक रहा है। मनुष्य अपने किये हुए पापों के प्रति सचेत रहते हैं। भले ही उन्हें पाप के उदय के सिद्धान्त के विषय में जानकारी न हो। (ऋग्वेद (७।८६।६) में एक ऋषि का वरुण से कथन है कि पाप किसी व्यक्ति की शक्ति के कारण नहीं होता, प्रत्युत यह भाग्य, सुरा, क्रोध, द्यूत (जुआ), असावधानी के कारण होता है, यहाँ तक कि स्वप्न भी दुष्कृत्य करा डालता

४. अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति। ऋ० (२।२७।३); आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठद् अज्राँ ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्। ऋ० (४।१।१७)।

५. इदमापः प्रवहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ ऋग्वेद (१।२३।२२)।

६. सेक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द १, पृ० २२।

है।[७] कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् (३।९) में ऐसा आया है—"सबके स्वामी अर्थात् ईश्वर उसको, जो अच्छा (साधु) कर्म करता है, अच्छे लोकों की ओर उठाने की इच्छा रखते हैं और जिसे वे नीचे खींच लाना चाहते हैं उससे दुष्ट असाधु कर्म कराते हैं।"[८] इससे प्रकट होता है कि ईश्वर कुछ लोगों को बचाने के लिए और कुछ लोगों को गिराने के लिए चुन लेता है। यह वाक्य कैल्विनवादी पूर्व-निश्चितता के सिद्धान्त की ध्वनि प्रकट करता है। भगवद्गीता (३।३६) में अर्जुन ने श्री कृष्ण से पूछा है—"किससे प्रेरित होकर व्यक्ति न चाहते हुए भी अनायास पाप-कृत्य कर जाता है?" दिया हुआ उत्तर यह है (३।३७)—"रजोगुण से उत्पन्न विषयेच्छा एवं क्रोध मनुष्य के शत्रु हैं।" एक स्थान (१६।२१) पर भगवद्गीता में आया है—"नरक में प्रवेश के लिए तीन द्वार हैं, इनसे अपना नाश हो जाता है (और ये हैं) काम, क्रोध एवं लोभ, अतः मनुष्य इन तीनों को छोड़ दे।" किन्तु इस कथन से समस्या का समाधान नहीं होता। प्रश्न तो यह है—मनुष्य के मन में काम, क्रोध एवं लोभ का उदय ही क्यों होता है? सांख्य दर्शन के मत से इस प्रश्न का उत्तर यह है—"गुण तीन हैं; **सत्त्व, रज** एवं **तम**, ये विभिन्न अनुपातों में मनुष्य में पाये जाते हैं, और **रजोगुण** के कारण ही मनुष्य दुष्कृत्य करता पाया जाता है।" शान्तिपर्व (अध्याय १६३) में आया है कि **क्रोध** एवं **काम** आदि तेरह अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु मनुष्य में पाये जाते हैं, ऐसा कहा गया है कि **क्रोध** लोभ से उत्पन्न होता है और **लोभ अज्ञान** से उदित होता है (श्लोक ७ एवं ११)। किन्तु उस अध्याय में अज्ञान के उदय के विषय में सन्तोषजनक विवेचन नहीं मिलता। गौतम (१९।२) का कथन है—"विश्व में मनुष्य दुष्कर्मों से अपवित्र हो उठता है, यथा ऐसे व्यक्ति के लिए यज्ञ करना जो यज्ञ करने के अयोग्य है, निषिद्ध भोजन करना, जो कहने योग्य न हो उसे कहना, जो व्यवस्थित है उसे न करना तथा जो वर्जित है उसे करना।"[९] याज्ञ० (३।२१९) का कथन है—"जो विहित है उसे न करने से, जो वर्जित है उसे करने से तथा इन्द्रिय-निग्रह न करने से मनुष्य गिर जाता है (पाप करता है)।" और देखिए मनु (११।४४) एवं शान्ति० (३४।२)।

बहुत प्राचीन काल से ही दुष्कृत्यों की गणना एवं उनकी कोटियों का निर्धारण होता आया है। ऋग्वेद (१०।५।६) में आया है—"कवियों (बुद्धिमानों या विद्वानों) ने सात मर्यादाएँ बनायी हैं, वह मनुष्य जो इनमें से किसी का अतिक्रमण करता है, पापी हो जाता है।"[१०] निरुक्त (६।२७) ने इस मन्त्र में निर्देशित सात पापों को इस प्रकार व्यक्त

७. न स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः। अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥ ऋ० (७।८६।६)।

८. एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। कौषीतकिब्रा० उप० (३।९)। यही ब्रह्मसूत्र (२।१।३४ एवं २।३।४१) का आधार है।

९. विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्। अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥ याज्ञ० (३।२१९); अकुर्वन् विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन्। प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्या तु वर्तयन्॥ शान्तिपर्व ३४।२। याज्ञवल्क्य के प्रथम पाद (३।२१९) के अनुसार गौतम ने पाप के उदय के दो कारण कहे हैं—"अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते यथैतदयाज्ययाजनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनमिति। गौ० (१९।२)। और देखिए शबर (जैमिनि १२।३।१६)।

१०. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। ऋ० १०।५।६; सप्त एव मर्यादाः कवयश्चक्रुः। तासामेकामपि अधिगच्छन्नंहस्वान् भवति। स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातके अनृतोद्यमिति। निरुक्त (६।२७)।

किया है—"**स्तेय** (चोरी), **तल्पारोहण** (गुरु की शय्या को अपवित्र करना), **ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, एक ही दुष्कृत को बारम्बार करना** एवं **अनृतोद्य** (किसी पापमय कृत्य के विषय में झूठ बोलना)।" तैत्तिरीयसंहिता (२।५।१।२; ५।३।१२।१-२), शतपथब्राह्मण (१३।३।१।१) एवं अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रकट होता है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में ब्राह्मणहत्या को सबसे बड़ा पाप कहा जाता था, किन्तु काठकसंहिता (३१।७) में भ्रूणहत्या को ब्रह्महत्या से बड़ा कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने **एकत, द्वित** एवं **त्रित** (जो पापों को दूर करने के लिए बलि का बकरा बनता था) की कथा कहते हुए निम्न पापियों की गणना की है—**सूर्याभ्युदित** (जो सूर्योदय होने तक सोता रहता है), **सूर्याभिनिर्मुक्त** (जो सूर्यास्त के समय ही सो जाता है), जिसके नख एवं दाँत काले हों, **अग्रदिधिषु** (जो बड़ी बहिन के अविवाहित रहते छोटी बहिन का विवाह रचता है), बड़ा भाई जो अभी अविवाहित है और जिसका छोटा भाई विवाहित हो गया है (अर्थात् वह अविवाहित बड़ा भाई जिसके छोटे भाई का विवाह हो गया हो), वह व्यक्ति जो अग्निहोत्र को त्याग देता है तथा ब्रह्महत्यारा (तै० ब्रा० ३।२।८।११)। और देखिए काठकसंहिता (३१।७) एवं अथर्ववेद (६।११३)। त्रित की कथा का आधार ऋग्वेद (८।४७।१३) में भी है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१२।२२) ने तैत्तिरीय ब्राह्मण की सूची में कुछ अन्य पापियों की संज्ञाएँ जोड़ दी हैं, यथा—**दिधिषुपति** (उस स्त्री का पति जिसकी छोटी बहिन का विवाह पहले हो चुका रहता है), **पर्याहित** (वह बड़ा भाई जिसके पूर्व छोटा भाई अग्निहोत्र आरम्भ कर लेता है), **परिविविदान** (वह छोटा भाई जो बड़े भाई के पूर्व पैतृक सम्पत्ति का दायांश ले लेता है), **परिविन्न** (वह बड़ा भाई जिसके पूर्व छोटा भाई पैतृक सम्पत्ति का दायांश ले लेता है)। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) ने एक उद्धरण देकर पाँच पापियों के नाम गिनाये हैं—सोना चुरानेवाला, सुरा पीनेवाला, गुरु की शय्या अपवित्र करनेवाला, ब्राह्मण की हत्या करनेवाला, तथा वह जो इन चारों का साथ करता है।[11] बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।२२) ने चोर एवं भ्रूणहत्यारे को महापापियों में गिना है।

पापों की संख्या और उनकी कोटियों के विषय में सूत्रों में विभिन्न मत पाये गये हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र ने पापों की दो कोटियाँ दी हैं; **पतनीय** (वे पाप जिनसे जातिच्युतता की प्राप्ति होती है) एवं **अशुचिकर** (वे पाप जिनसे जातिच्युतता तो नहीं प्राप्त होती किन्तु अशुचिता प्राप्त होती है)। आपस्तम्ब० (१।७।२१।७-११) के अनुसार **पतनीय** पाप ये हैं—सोने का स्तेय (चोरी), अभिशस्त (लांछित) करनेवाले अपराध, अध्ययन से प्राप्त वैदिक विद्या का उपेक्षा या प्रमाद के कारण पूर्ण ह्रास, भ्रूणहत्या, अपनी माता या पिता या उनकी सन्तानों के सम्बन्धियों से (अर्थात् ऐसे सम्बन्धियों से जो एक ही प्रकार के गर्भ से उदित हुए माने गये हैं) व्यभिचार-संसर्ग, सुरापान, वर्जित लोगों से संभोग-सम्बन्ध, आचार्या (स्त्री-गुरु अर्थात् अध्यापिका आदि) की सखी से संभोग-कृत्य, अपने गुरु (पिता आदि) की सखी से संभोग-कृत्य, किसी अजनबी की पत्नी से संभोग-कृत्य, तथा इनके अतिरिक्त (जो वर्णित नहीं हैं) अन्य अधर्मों अथवा अनैतिक कार्यों का लगातार पालन। आपस्तम्ब० (१।७।२१।१०) का कथन है कि कुछ लोगों के मत से किसी गुरु की पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से संभोग **पतनीय** नहीं है। **अशुचिकर** पाप कृत्य (आपस्तम्ब० १।७।१२।१२-१८) ये हैं—शूद्रों से आर्य नारी द्वारा संभोग करना; कुत्ते, मानव, ग्राम के कुक्कुट (मुर्गे) या ग्राम के शूकर (सूअर) ऐसे पशुओं का वर्जित मांस सेवन; मानव का मल-मूत्र खाना; शूद्र द्वारा छोड़ा गया भोजन करना; अपपात्र स्त्रियों के साथ आर्य पुरुषों का संभोग। कुछ लोगों के मत से **अशुचिकर** कर्म भी **पतनीय** ठहराये

११. तदेष श्लोकः। स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा। चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैः॥ छा० उप० (५।१०।९)।

असत्य है, विपन्नता है और अन्धकार है।" ऐसा लगता है कि काठकसंहिता (१२।१२) के बहुत पहले से ब्राह्मण लोग सुरापान को पापमय समझते रहे हैं; "अतः ब्राह्मण सुरा नहीं पीता (इस विचार से कि) उससे वह पापमय हो जायगा।"[१५] छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।९) ने सुरापायी को पतित कहा है; राजा अश्वपति कैकेय ने **आत्मा वैश्वानर** के ज्ञानार्थ समागत पाँच विद्वान् ब्राह्मणों के समक्ष गर्व के साथ कहा है कि उसके राज्य में न तो कोई चोर है और न कोई मद्यप।[१६] जब कि मनु (११।५४) ने **सुरापान** को महापातकों में गिना है, याज्ञ० (३।२२७) ने मद्यप को पंच महापापियों में गिना है, तब हमें यह जानना है कि **सुरा** का तात्पर्य क्या है और सुरापान कब महापातक हो जाता है। मनु (११।९३) के मत से सुरा भोजन का मल है और यह तीन प्रकार की होती है—(१) जो गुड़ या सीरा से बने, (२) जो आटे से बने एवं (३) जो मधूक (महुआ) या मधु से बने (मनु ११।९४)। बहुत-से निबन्धों में सुरा के विषय में सविस्तर वर्णन हुआ है और निम्न प्रतिपत्तियाँ उपस्थित की गयी हैं—(१) सभी तीन उच्च वर्णों को आटे से बनी सुरा का पान करना निषिद्ध है और उनको इसके सेवन से महापातक लगता है; (२) सभी आश्रमों के ब्राह्मणों के लिए मद्य के सभी प्रकार वर्जित हैं (गौतम २।२५; मद्यं नित्यं ब्राह्मणः। आप० ध० सू० १।५।१७-२१)। किन्तु गौड़ी एवं माध्वी प्रकार की सुरा के सेवन से ब्राह्मण को उपपातक लगता है महापातक नहीं, जैसा कि विष्णु का मत है; (३) वैश्यों एवं क्षत्रियों के लिए आटे से बनी सुरा के अतिरिक्त अन्य सुरा-प्रकार निन्द्य नहीं हैं; (४) शूद्र किसी भी प्रकार की सुरा का प्रयोग कर सकते हैं; (५) सभी वर्णों के वेदपाठी ब्रह्मचारियों को सभी प्रकार की सुरा निषिद्ध है। विष्णु० (२२।८३-८४) ने खजूर, पनसफल, नारियल, ईख आदि से बने सभी मद्य-प्रकारों का वर्णन किया है। पौलस्त्य (मिता०, याज्ञ० ३।२५३; भवदेवकृत प्रायश्चित्तप्रकरण, पृ० ४०), शूलपाणि के प्रायश्चित्तविवेक (पृ० ९०) एवं प्रायश्चित्तप्रकाश ने सुरा के अतिरिक्त ११ प्रकार की मद्यों के नाम दिये हैं। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४, जहाँ मद्यों के विषय में चर्चा की गयी है।

मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५३) ने सुरापान का निषेध उन बच्चों के लिए, जिनका उपनयन-संस्कार नहीं हुआ रहता तथा अविवाहित कन्याओं के लिए माना है, क्योंकि मनु (११।९३) ने सुरापान के लिए लिंग-अन्तर नहीं बताया है और प्रथम तीन उच्च वर्णों के लिए इसे वर्ज्य माना है। भविष्यपुराण ने स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-नारी के लिए सुरापान वर्जित किया है। किन्तु कल्पतरु का अपना अलग मत है। उसके अनुसार स्त्री एवं अल्पवयस्क को हलका प्रायश्चित्त करना पड़ता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। वसिष्ठ (२१।११) एवं याज्ञ० (३।२५६) का कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य की सुरापान करने वाली पत्नी पति के लोकों को नहीं जाती और इस लोक में कुक्कुरी या शूकरी हो जाती है। मिताक्षरा (३।२५६) का कथन है कि यद्यपि शूद्र को मद्य-सेवन मना नहीं है, किन्तु उसकी पत्नी को ऐसा नहीं करना चाहिए।

सुरापान का तात्पर्य है सुरा को गले के नीचे उतार देना। अतः यदि किसी व्यक्ति के ओष्ठों ने केवल सुरा का स्पर्श मात्र किया हो या यदि सुरा मुख में चली गयी हो किन्तु व्यक्ति उसे उगल दे, तो यह सुरापान नहीं कहा जायगा

१५. तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नेत्संसृज्या इति। काठक० (१२।१२)। देखिए तन्त्रवार्तिक (जैमिनि १।३।७, पृ० २१०) एवं शंकराचार्य (वेदान्तसूत्र ३।४।३१)।

१६. स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच—न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ छान्दो० उप० (५।११।५)।

(अर्थात् महापातक नहीं कहा जायगा) और व्यक्ति को सुरा-स्पर्श के कारण एक हलका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० ९३)।

(३) स्तेय (चोरी)

टीकाकारों के अनुसार वही चोरी महापाप के रूप में गिनी जाती है जिसका संबंध ब्राह्मण के किसी भी मात्रा के हिरण्य (सोने) से हो। आप० ध० सू० (१।१०।२८।१) के अनुसार स्तेय की परिभाषा यह है—"एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति के लोभ एवं (बिना स्वामी की सम्मति से) उसके लेने से चोर हो जाता है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो।" कात्या० (८१०) ने इसकी परिभाषा यों की है—"जब कोई व्यक्ति गुप्त या प्रकट रूप से दिन या रात में किसी को उसकी सम्पत्ति से वंचित कर देता है तो यह चोरी कहलाती है।" यही परिभाषा व्यास की भी है। अपनी योगसूत्रव्याख्या (२।३) में वाचस्पति ने स्तेय की परिभाषा यों की है—"स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्", अर्थात् इस प्रकार किसी की सम्पत्ति ले लेना जो शास्त्रसम्मत न हो। यद्यपि मनु (११।५४) एवं याज्ञ० (३।२२७) ने केवल 'स्तेय' (चौर्य) या स्तेन (चोर) शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु स्तेय के प्रायश्चित्त के विषय में लिखते हुए मन (११।९९, 'सुवर्णस्तेयकृत्') एवं याज्ञ० (३।२५७, 'ब्राह्मणस्वर्णहारी') ने यह विशेषता जोड़ दी है कि उसे सोने की चोरी के अपराध का चोर होना चाहिए (याज्ञ० के अनुसार ब्राह्मण के सोने की चोरी)। वसिष्ठ (२०।४१) एवं च्यवन (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० ११७) ने ब्राह्मण-सुवर्ण-हरण को महापातक कहा है और सामविधान ब्राह्मण (१।६।१) ने 'ब्राह्मणस्वं हृत्वा' शब्दों का प्रयोग किया है। और देखिए संवर्त (१२२) एवं विश्वामित्र (प्राय० वि० पृ० १०८)। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२५२, अनाख्याय आदि), मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५७), मदनपारिजात (पृ० ८२७-२८), प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० ७२), प्रायश्चित्तविवेक (पृ० १११) एवं अन्य टीकाकारों ने एक अन्य विशेषता भी जोड़ दी है कि चुराया हुआ सोना तोल में कम-से-कम १६ माशा होना चाहिए, नहीं तो महापातक नहीं सिद्ध हो सकता। अतः यदि कोई व्यक्ति किसी ब्राह्मण के यहाँ से १६ माशे से कम सोना चुराता है या अब्राह्मण के यहाँ से वह किसी भी मात्रा (१६ माशे से अधिक भी) सोना चुराता है तो वह साधारण पाप (उपपातक) का अपराधी होता है।

वार्ष्यायणि (आप० ध० सू० १।१०।२८।२) के मत से यदि कोई बीजकोषों में पकते हुए अनाजों (यथा मुद्ग, माष एवं चना) की थोड़ी मात्रा खेत से ले लेता है तो वह चोरी नहीं है, या बैलगाड़ी में जाते हुए कोई अपने बैलों के लिए थोड़ी घास ले लेता है तो वह चोरी के अपराध में नहीं फँसता। गौतम (१२।२५) के मत से कोई व्यक्ति (बिना अनुमति एवं बिना चौर्य अपराध में फँसे) गौओं के लिए एवं श्रौत या स्मार्त अग्नियों के लिए घास, इंधन, पुष्प या पौधे (जो घेरों से न रक्षित हों) ले सकता है (मानो वे उसी की सम्पत्ति या फल पुष्प आदि हैं)। मनु (८।३३९=मत्स्य २२७।११२-११३) ने भी गौतम के समान ही कहा है। उन्होंने (८।३४१) एक बात यह भी जोड़ दी है कि तीन उच्च वर्णों का कोई भी यात्री, यदि पाथेय घट गया हो, (बिना दण्ड के भय से) किसी दूसरे के खेत से दो ईखें एवं दो मूलियाँ ले सकता है।

(४) गुरु-अंगनागमन

मनु (५१।५४) ने गुर्वङ्गनागमन शब्द का प्रयोग किया है किन्तु याज्ञ० (३।२२७) एवं वसिष्ठ (२०।१३) ने अपराधी को गुरुतल्पग (जो गुरु की शय्या को अपवित्र करता है) एवं वसिष्ठ (१।२०) ने इस पाप को 'गुरुतल्प' (गुरु की शय्या या पत्नी) की संज्ञा दी है। मनु (२।१४२) एवं याज्ञ० (१।३४=शंख ३।२) के अनुसार 'गुरु' का मौलिक अर्थ है 'पिता'। गौतम (२।५६) के अनुसार (वेद का) गुरु गुरुओं में सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु अन्य लोग माता को ऐसा कहते

हैं। संवर्त (१६०) एवं पराशर (१०।१३, 'पितृदारान् समारुह्य') का कथन है कि गुरु का मुख्य अर्थ हैं 'पिता', जैसा कि मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५९) ने कहा है। मिताक्षरा एवं मदनपारिजात (पृ० ८३५) जैसे निबन्धों के मतानुसार गुरु-अंगना का तात्पर्य है स्वयं अपनी माता। भवदेव ने प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० ८०) में गुरु-अंगना का कर्मधारय समास किया है एवं देवल ने जो पुरुषों में ११ व्यक्ति गुरु बतलाये हैं, उनकी चर्चा करके प्रायश्चित्तप्रकरण के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि 'गुरु-अंगना' या 'गुरुपत्नी' का अर्थ केवल अपनी माँ नहीं होता, प्रत्युत पिता की जातिवाली विमाता भी होता है। मदनपारिजात (पृ० ८३५) ने प्रायश्चित्तविवेक का समर्थन किया है। प्रायश्चित्तमयूख (पृ० ७३) ने प्राय० प्रक० एवं प्राय० वि० के दोषों को बताकर मत प्रकाशित किया है कि वेदाध्यापक गुरु की पत्नी के साथ सम्भोग भी एक महापातक है। इस विषय में इसने याज्ञ० (३।२३३) का सहारा लिया है जहाँ पर 'गुरुतल्पगमन' नामक पाप गुरुपत्नी, पुत्री एवं अन्य सम्बंधित स्त्रियों तक बढ़ाया गया है। यदि गुरुतल्प शब्द मौलिक अर्थ में गुरुपत्नी तक ही सीमित होता तो यह विस्तार निरर्थक सिद्ध हो गया होता। प्राय० वि० ने गौतम (२।५६, "आचार्य गुरुओं में सबसे महान् हैं, कुछ लोग माता को भी ऐसा कहते हैं") एवं विष्णु० (३१।१-२, "तीन व्यक्ति अति गुरु हैं, अर्थात् महत्ता में गुरु से भी बढ़ जाते हैं") का सहारा लिया है। विष्णु के तीन अति गुरु हैं माता, पिता एवं आचार्य। प्राय० वि० ने देवल का भी सहारा लिया है जिन्होंने ग्यारह व्यक्तियों को गुरु रूप में उल्लिखित किया है। प्राय० म० का कथन ठीक नहीं जँचता, क्योंकि प्राय० वि० (पृ० १३४-१३५) ने अपना अंतिम मत यह दिया है कि यहाँ गुरु का तात्पर्य केवल पिता है, आचार्य आदि नहीं और विष्णु० (३६।४-८) के अनुसार गुरुपत्नी एवं अन्य सम्बन्धियों के साथ सम्भोग केवल अनुपातक है।

(५) महापातकी-संसर्ग

हमने इस ग्रंथ के खण्ड ३, अ० २७ एवं ३४ में चार महापातकों के अपराधियों के संसर्ग के विषय में लिख दिया है। गौतम (२१।३), वसिष्ठ (१।२१-२२), मनु (११।१८०=शान्ति० १६५।३७), याज्ञ० (३।२६१), विष्णु० (३५।३) एवं अग्निपुराण (१७०।१-२) ने संक्षेप में व्यवस्था दी है कि जो लगातार एक साल तक चार महापातकियों का अति संसर्ग करता है अथवा उनके साथ रहता है तो वह भी महापातकी हो जाता है, और उन्होंने यह भी कहा है कि यह संसर्ग उस अर्थ में भी प्रयुक्त है जब वह व्यक्ति पातकी के साथ एक ही वाहन या एक ही शय्या का सेवन करता है या पातकी के साथ एक ही पंक्ति में खाता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति पातकी से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करता है या करती है (यथा—पातकी को वेद की शिक्षा देता है या उससे वेदाध्ययन करता है या उसकी पुरोहिती करता है या उसे अपने लिए पुरोहित बनाता है) या उसके साथ सम्भोग-सम्बन्ध या वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है तो वह व्यक्ति उसी क्षण महापातक का अपराधी हो जाता है। बृहस्पति ने नौ प्रकार के संसर्गों का उल्लेख किया है, जिनमें प्रथम पाँच हलके पाप कहे गये हैं और शेष चार गम्भीर, यथा—एक ही शय्या या आसन पर बैठना, पातकी के साथ एक ही पंक्ति में बैठकर खाना, पातकी के भोजन बनाने वाले भाण्डों (बरतनों) में भोजन बनाना या उसके द्वारा बनाये गये भोजन का सेवन, उसका यज्ञिय पुरोहित या उसे अपना यज्ञिय पुरोहित बनाना, उसका वेदाचार्य बनना या उसे स्वयं अपना वेदाचार्य बनाना, उससे सम्भोग करना तथा उसके साथ एक ही पात्र में भोजन करना। प्राय० प्रका० के मत से संसर्ग के तीन प्रकार हैं; उत्तम, मध्यम, निकृष्ट। प्रथम में ये चार आते हैं—**यौन** (योनि-सम्बन्ध, विवाह), **स्रौव** (अर्थात् वह, जो पापी का पुरोहित बनने या पापी को पुरोहित बनाने से उत्पन्न होता है), **मौख** (वेद पढ़ना या पढ़ाना), **एकामत्रभोजन** (एक ही पात्र में साथ-साथ खाना)। मध्यम के पाँच प्रकार हैं—एक ही वाहन, एक ही आसन, एक ही शय्या या चादर का सेवन, एक पंक्ति में खाना एवं साथ-साथ वेदाध्ययन करना (**सहाध्ययन**)।

निकृष्ट के कई अन्य प्रकार हैं, यथा घुल-मिलकर बात करना, स्पर्श करना, एक ही पात्र में भोजन बनाना, उससे दान लेना आदि। **अध्यापन** तभी दुष्कृत्य माना जायगा जब वह वेद से सम्बन्धित हो, इसी प्रकार याजन का सम्बन्ध है दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम जैसे वैदिक यज्ञों से। महापातकी को पंच आह्निक यज्ञों के सम्पादन में सहायता देना, उसे अंग (छंद, व्याकरण आदि) एवं शास्त्र पढ़ाना हलके पाप हैं। पराशर (१२।७९) का कथन है कि साथ बैठने या सोने या एक ही वाहन के प्रयोग करने या उससे बोलने या एक ही पंक्ति में खाने से पाप उसी प्रकार एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में पहुँच जाते हैं (संक्रमित हो जाते हैं) जैसे जल पर तेल। यही बातें देवल एवं छागलेय (मिता०, याज्ञ० ३।२६१; प्राय० प्र० पृ० ११०; प्राय० वि० पृ० १४५; प्राय० मयूख २, भाग १, पृ० २८) आदि में व्यवहृत पायी जाती हैं। प्राय० प्रकाश के मत से किसी व्यक्ति के पतित होने के लिए इन चारों का एक साथ व्यवहृत होना आवश्यक है; अलग-अलग व्यवहृत होने से **पातित्य** की प्राप्ति नहीं होती बल्कि केवल दोष उत्पन्न होता है। पराशर (१।२५-२६) का कथन है कि कृतयुग में पतित से बातचीत करने से ही व्यक्ति पतित हो जाता है, त्रेता में उसे स्पर्श करने से, द्वापर में उसके घर में बने भोजन के ग्रहण से तथा कलि में पापमय कृत्य के वास्तविक सम्पादन से; कृत युग में किसी के पतित होने से जनपद का त्याग कर दिया जाता था, त्रेता में ग्राम, द्वापर में (पतित का) कुल एवं कलि में केवल वास्तविक कर्त्ता (अर्थात् पतित) त्याज्य होता है।

मध्यकाल के लेखकों ने संसर्गदोष के क्षेत्र को क्रमशः बहुत आगे बढ़ा दिया है, इसका कारण था संस्कार सम्बन्धी शुचिता की भावना पर अत्यधिक बल देना। उदाहरणार्थ, स्मृत्यर्थसार (पृ० ११९) का कहना है कि जो व्यक्ति महापातकी से संसर्ग रखनेवाले से संसर्ग रखता है, उसे प्रथम संसर्गकर्ता का आधा प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यह ग्रंथ इसके आगे नहीं बढ़ पाता। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६१) के अनुसार यद्यपि ऐसा संसर्गकर्ता पतित नहीं हो जाता तथापि उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है और यहाँ तक कि चौथे एवं पाँचवें संसर्गकर्ताओं को भी प्रायश्चित्त करना पड़ता है, यद्यपि वह अपेक्षाकृत हलका पड़ता जाता है। प्राय० प्रक० (पृ० १०९), प्रा० वि० (पृ० १६९-१७०) एवं प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ५४७) ने आपस्तम्ब एवं व्यास के कुछ पद्य उद्धृत करके संसर्ग की सीमा को पर्याप्त प्रशस्त कर दिया है। आपस्तम्बस्मृति (३।१-३) का कथन है—"यदि कोई चांडाल चार वर्ण वालों में किसी के यहाँ अविज्ञात रूप में निवास करता है तो गृहस्वामी को ज्ञात हो जाने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है, प्रथम तीन उच्च वर्णों को **चान्द्रायण या पराक** तथा शूद्र को **प्राजापत्य** व्रत करना पड़ता है। जो व्यक्ति उसके घर में भोजन करता है, उसे **कृच्छ्र** व्रत करना पड़ता है; जो दूसरे संसर्गकर्ता के यहाँ बना भोजन करता है उसे आधा कृच्छ्र तथा जो इस अंतिम व्यक्ति के घर में बना भोजन करता है उसे चौथाई कृच्छ्र करना पड़ता है।" स्पष्ट है, मौलिक संसर्गकर्ता के अतिरिक्त क्रमशः तीन अन्य व्यक्तियों को प्रायश्चित्त करना पड़ता था। दया करके स्मृतिकारों ने मौलिक संसर्गकर्ता के संसर्ग में आनेवाले चौथे व्यक्ति पर प्रायश्चित्त की इतिश्री कर दी! कुछ स्मृतिकारों ने अपेक्षाकृत अधिक तर्कयुक्त मत दिये हैं। परा० माध० (२, पृ० ९०) का कथन है कि पराशर ने महापातकियों के संसर्ग में आनेवालों के लिए इस भावना से कोई प्रायश्चित्त व्यवस्थित नहीं किया कि कलियुग में संसर्गदोष कोई पाप नहीं है और इसी से कलियुग में कलिवर्ज्यों की संख्या में एक अन्य स्मृति ने 'पतित के संसर्ग से उत्पन्न अशुचिता' एक अन्य कलिवर्ज्य जोड़ दिया है। स्मृतिमुक्ताफल (प्रायश्चित्त, पृ० ८९७-८९८) ने माधव के इन शब्दों को मानो मान्यता दे दी है और इस विषय में अन्य प्रमाण भी एकत्र कर डाले हैं। निर्णयसिन्धु ने पतित-संसर्ग को दोष अवश्य माना है किन्तु संसर्गकर्ता को पतित नहीं कहा है (३, पृ० ३६८)।

यद्यपि बहुत-से अपराध महापातक की परिभाषाओं के अन्तर्गत नहीं बैठ पाते, तथापि स्मृतियों ने उन्हें तीन समताओं से महापातकों के जैसा ही निन्दित माना है। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (३।२५१) ने स्पष्ट कहा है कि (सोम)

गये हैं। आपस्तम्ब० (१।७।२१।१९) का कथन है कि वर्णित पाप-कृत्यों के अतिरिक्त अन्य दुष्कृत्य **अशुचिकर** समझे जाने चाहिए। आपस्तम्ब० (१।९।२४।६-९) ने **अभिशस्त** लोगों को इस प्रकार उल्लिखित किया है—वह अभिशस्त हैं जो वेदज्ञ या सोमयज्ञ के लिए दीक्षित प्रथम दो वर्णों के (ब्राह्मण एवं क्षत्रिय) लोगों की हत्या करता है, जो साधारण ब्राह्मण (जिसने वेदाध्ययन नहीं किया है या सोमयज्ञ के लिए दीक्षित नहीं हुआ है) की हत्या करता है, जो किसी ब्राह्मण के भ्रूण की हत्या करता है (भले ही भ्रूण का लिंग जाना न जा सके) या जो **आत्रेयी** (रजस्वला) की हत्या करता है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१।१९-२३) ने पापियों को तीन कोटियों में बाँटा है; **एनस्वी, महापातकी** एवं **उपपातकी**। **एनस्वी** वे ही हैं जिनका वर्णन आपस्तम्ब०। (२।५।१२।२२) में हुआ है, अन्तर केवल इतना है कि वसिष्ठ ने आपस्तम्ब० के **ब्रह्मोज्झ** (वेदत्यागी, जो उसके अनुसार **पतनीय** है) को **एनस्वी** माना है। वसिष्ठ० (२०।४-१२) ने प्रत्येक **एनस्वी** के लिए विशिष्ट प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है। **एनस्वी** साधारण पातकी को कहते हैं। वसिष्ठ० के अनुसार **महापातक** पाँच हैं—गुरु की शय्या को अपवित्र करना, सुरापान, भ्रूण (विद्वान् ब्राह्मण) की हत्या, ब्राह्मण के हिरण्य का स्तेय (सोने की चोरी) एवं पतित से संसर्ग। **उपपातकी** ये हैं—जो वैदिक अग्निहोत्र छोड़ देता है, जो गुरु को (अपने अपराध से) कुपित करता है, नास्तिक (जो नास्तिकों के यहाँ जीविका का अर्जन करता है) या जो सोम लता बेचता है। बौधायनधर्मसूत्र (२।१) ने पापों को **पतनीय, उपपातक** एवं **अशुचिकर** नामक कोटियों में विभाजित किया है। इनमें से प्रथम में ये आते हैं—समुद्र-संयान, ब्राह्मण की सम्पत्ति या न्यास (धरोहर) का अपहरण, भूम्यनृत (भूमि के विवादों में असत्य साक्ष्य देना), सर्वपण्य-व्यवहार (सभी प्रकार की व्यापारिक वस्तुओं का व्यापार), शूद्रसेवा, शूद्राभिजनन (शूद्रा से सन्तानोत्पत्ति)। बौधायन० (२।१।६०-६१) के अनुसार उपपातक ये हैं—अगम्यागमन (वर्जित स्त्रियों के साथ सम्भोग), स्त्रीगुरु-सखी (नारी गुरु अथवा आचार्या की सखी) के साथ सम्भोग या गुरुसखी (पुरुष गुरु की सखी) के साथ सम्भोग या अपपात्र स्त्री या पतित स्त्री के साथ सम्भोग, भेषजकरण (भेषजवृत्ति का पालन), ग्रामयाजन (ग्राम के लिए पुरोहित-कार्य), रंगोपजीवन (अभिनय आदि से जीविका साधन), नाट्याचार्यता (नृत्य, गान या अभिनय की गुरु-वृत्ति), गोमहिषी-रक्षण एवं अन्य नीच वृत्तियाँ तथा कन्यादूषण (कन्या के साथ व्यभिचार)।[१२] अशुचिकर पाप निम्न हैं—द्यूत (जुआ), अभिचार, अनाहिताग्नि अर्थात् जिसने अग्निहोत्र नहीं किया या त्याग दिया उसके द्वारा उञ्छवृत्ति (खेत में गिरे अन्न के दाने चुनकर खाना), वेदाध्ययन के उपरान्त भैक्ष्यचर्या (भिक्षा-वृत्ति), वेदाध्ययन के उपरान्त घर पर लौटे हुए व्यक्ति का पुनरध्ययन के लिए गुरुकुल में चार मास से अधिक निवास, जिसने अध्ययन समाप्त कर लिया हो उसको पढ़ाना तथा नक्षत्र-निर्देश (फलित ज्योतिष द्वारा जीवन वृत्ति या जीविका-साधन)। गौतम (२१।१-३) ने पतनीयों के अन्तर्गत पञ्च महापातकों एवं आप० (१।७।२१।९-११) तथा वसिष्ठ० (१।२३) द्वारा वर्णित पापों को सम्मिलित कर दिया है और कुछ अन्य पापों को भी जोड़ दिया है, यथा—पतनीयों के अपराधियों का त्याग न करना, निरपराध सम्बन्धियों का परित्याग एवं जातिच्युत कराने के लिए किसी व्यक्ति को दुष्कृत्य करने के लिए प्रेरित करना।

१२. पापों की ये सूचियाँ केवल ब्राह्मण एवं क्षत्रियों से सम्बन्धित हैं, क्योंकि गाय आदि का चराना या व्यापार करना वैश्यों के लिए किसी प्रकार वर्जित नहीं हो सकता था, क्योंकि ये उनकी विशिष्ट वृत्तियाँ रही हैं। देखिए आप० ध० सू० (२।५।१०।७), गौतम (१०।५०), मनु (१०।७९) एवं याज्ञ० (१।११९)। वैद्यक कार्य या नृत्य-शिक्षणवृत्ति अथवा अभिनय-वृत्ति ब्राह्मणों के लिए श्राद्धकर्म के लिए अयोग्य ठहरायी गयी है। देखिए गौतम (१५।१५-१६) जहाँ ऐसे ब्राह्मणों की गणना की गयी है जो श्राद्ध-भोजन आदि के लिए अयोग्य माने गये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकारों में महापातकों, उपपातकों एवं अन्य पापों की कोटियों की संख्या एवं उनके विशिष्ट स्वरूपों के श्रेणी-विभाजन में भेद रहा है, यद्यपि छान्दोग्योपनिषद् के बहुत पहले ही महापातकों की संख्या पाँच बता दी गयी थी। अतः हमें यह मानना होगा कि आपस्तम्ब, बौधायन एवं गौतम के कालों में छान्दोग्योपनिषद् किसी ऐसी विचारधारा की समर्थक थी जो उन लोगों की परम्परा के बिल्कुल विरुद्ध थी और विभिन्न विचारों की पोषक (अनुयायी) थी। यह मानना किसी प्रकार सम्भव नहीं है कि उस उपनिषद् में उद्धृत श्लोक आपस्तम्ब, गौतम, बौधायन एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों से पश्चात्कालीन है।

कात्यायन ने, ऐसा प्रतीत होता है, दुष्कृत्यों को पाँच कोटियों में बाँटा है—**महापाप** (प्राणहारी पाप), **अतिपाप** (जिनसे बढ़कर कोई अन्य महत्तम पाप न हों), **पातक** (ऐसे पाप जो महापातक के समान हैं), **प्रासंगिक** पाप (जो संग या संसर्ग से उत्पन्न हों) एवं **उपपातक** (साधारण पाप)। भविष्यपुराण ने भी कहा है कि वे पाप या दुष्कृत्य जो महापातक के समान घोषित हैं (मनु आदि द्वारा) पातक कहे जाते हैं। वृद्ध-हारीत (९।२१५-२१६) ने भी पाँच प्रकार दिये हैं, यथा—**महापाप**, पातक, अनुपातक, उपपाप एवं प्रकीर्णक (अन्य नाना प्रकार), और कहा है (९।२१६-२१८) कि वे पाप जो **महापातक** कहे जाते हैं, पातक हैं, अनुपातक पातकों से कम गम्भीर हैं, उपपातक अनुपातक से कम गम्भीर हैं तथा प्रकीर्णक सबसे कम अथवा हलके पापमय कृत्य हैं। विष्णु ध० सू० (३३।३-५) ने नौ प्रकार की त्रुटियाँ (दोष या पाप) गिनायी हैं, यथा—**अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, जातिभ्रंशकर** (जातिच्युत करने-वाला), **संकरीकरण** (जिससे वर्णसंकरता उत्पन्न होती है), **अपात्रीकरण** (किसी को शुभ कर्म के अयोग्य ठहराना), **मलावह** (गन्दा करना) एवं **प्रकीर्णक**। विष्णु० (३४।१) के अनुसार अतिपातक ये हैं—माता, पुत्री या पुत्रवधू के साथ सम्भोग, और इसके लिए अग्निप्रवेश ही एक मात्र प्रायश्चित्त है। मनु ने अतिपातक एवं अनुपातक का उल्लेख नहीं किया है और इनमें अधिकांश को उनकी संज्ञा दी है जो प्रसिद्ध चार महापातकों में गिने जाते हैं। प्रायश्चित्तमुक्तावली (दिवाकर लिखित) में उद्धृत कात्यायन के अनुसार विष्णु द्वारा वर्णित अतिपातकों में बहिन के साथ संभोग का दुष्कृत्य भी सम्मिलित होना चाहिए। हारीतधर्मसूत्र (मिताक्षरा द्वारा उद्धृत) को अनुपातक नामक पातकों की कोटि ज्ञात थी, किन्तु उनके कतिपय पातकों के अनुक्रम से प्रकट होता है कि उन्होंने मनु के अतिपातक को महापातक से कम गुरुतर पाप समझा है। मनु (अ० ११) ने विष्णु द्वारा वर्णित सभी पातकों के प्रकारों की ओर संकेत किया है किन्तु अतिपातकों को छोड़ दिया है।

छान्दोग्योपनिषद के समय से लेकर आगे साधारणतः केवल पाँच महापातक परिगणित हुए हैं, यथा ब्रह्महत्या, सुरापान, (ब्राह्मण के) सोने की चोरी, गुरुपत्नी के साथ सम्भोग तथा इस प्रकार के पापों के कर्त्ता के साथ एक वर्ष तक लगातार संसर्ग। देखिए वसिष्ठ (१।९-२०), मनु (११।५५ एवं १८०), याज्ञ० (३।-२२७ एवं २६१), विष्णु (३५।१-५) एवं वृद्ध हारीत (९।१७४)। मनु ने कुछ पापों को महापातकों की संज्ञा दी है जिन्हें विष्णु (अ० ३६) ने अनुपातक कहा है। मनु, याज्ञ० एवं विष्णु ने सभी प्रकार के पापों का विस्तृत विवरण उप-स्थत किया है। इन तीनों स्मृतिकारों में भी कुछ बातों में भिन्नता है। उदाहरणार्थ मनु (११।५६) का कथन है कि ब्रह्मोज्झता (वेद-विस्मरण), वेदनिन्दा, कौटसाक्ष्य (गलत गवाही), सुहृद्वध (मित्र-हत्या), गर्हित एवं न खाने योग्य (अनाद्य) भोजन करना; ऐसे कर्म सुरापान के समान हैं। याज्ञ० (३।२२८) का कथन है कि इनमें से तीन (वेद-निन्दा, मित्र-हत्या एवं ब्रह्मोज्झता) एवं असत्य दोषों को मढ़कर गुरुनिन्दा करना ब्रह्महत्या के समान हैं। हम सर्वप्रथम प्रत्येक महापातक का वर्णन करेंगे, उसके उपरान्त पापों के अन्य प्रकारों का उल्लेख करेंगे और अन्त में उनके शमन (दूर करने) के लिए निर्धारित प्रायश्चित्तों का विवरण उपस्थित करेंगे। यहाँ हमें यह जानना चाहिए कि दण्डों के विषय में लौकिक व्यवहार (कानून) एवं प्रायश्चित्त के लिए धार्मिक नियम जान-बूझकर किये गये

(कामतः) पापमय कर्म एवं अज्ञान या असावधानी से किये गये कर्म तथा केवल एक बार (सकृत्) किये गये पाप या बारबार किये गये (असकृत्) दुष्कर्मों में अन्तर्भेद उपस्थित करते हैं।

(१) ब्रह्महत्या

ब्रह्महत्या या **वध** शब्द का प्रयोग उस कर्म के लिए होता है जिसके करने से तुरन्त या कुछ समय उपरान्त बिना कोई अन्य कारण उपस्थित हुए जीवन की हानि होती है। अग्निपुराण (१७३।१), मिताक्षरा, प्रायश्चित्तविवेक (पृ० ४७) एवं अन्य ग्रन्थों ने वध की परिभाषा दी है। ब्राह्मण या किसी की भी मृत्यु के लिए पाँच प्रकारों से वधिक कारण हो सकता है, यथा—वह स्वयं हत्या कर सकता है (अर्थात् वह स्वयं **कर्ता** होता है); वह **प्रयोजक** हो सकता है (अर्थात् वह दूसरे को हत्या करने के लिए उकसा सकता है, जैसा कि राजा आदि अपने नौकरों को आज्ञा देकर किसी की हत्या करा सकते हैं), या दूसरे से प्रार्थना करके एवं सम्मति देकर हत्या करा सकता है; **अनुमन्ता** अर्थात् वह अपने अनुमोदन द्वारा दूसरे को उत्साहित कर हत्या करा सकता है; **अनुग्राहक** अर्थात् जब हत्यारा हत्या करने से हिचकिचाये तो उसकी सहायता कर सकता है या हत्यारे को अन्य लोगों से बचा सकता है; **निमित्त** (कारण) होकर वह हत्या कर सकता है। इस प्रकार अपने विविध रूपों में वधिकत्व की पाँच विधियाँ परिलक्षित हुई—**कर्ता, प्रयोजक, अनुमन्ता, अनुग्राहक** एवं **निमित्त** (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० ४७)।

मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२७ एवं २४३) ने पैठीनसि को उद्धृत कर उपर्युक्त विधियों की सविस्तर व्याख्या की है। **अनुग्राहक** की परिभाषा के लिए मिताक्षरा ने मनु का सहारा लिया है—"जहाँ बहुत-से व्यक्ति किसी एक उद्देश्य को लेकर अस्त्र-शस्त्रसज्जित खड़े हों, यदि वहाँ उनमें से कोई एक व्यक्ति किसी की हत्या कर डालता है तो सभी उस हत्या के अपराधी होते हैं।" मनु की यह उक्ति भारतीय दंडविधान (इण्डियन पेनल कोड) की ३४वीं धारा के बहुत समीप है। कई हत्यारों के बीच का यह अन्तर-प्रदर्शन बहुत प्राचीन है और आप० ध० सू० (२।२।२९।१-२) पर आधारित है—जो प्रयोजित करता है, जो अनुमोदन करता है, जो स्वयं कर्म करता है—ये सभी स्वर्ग एवं नरक में फलों के भागी होते हैं; किन्तु उनमें वह, जो कर्म में अधिकतम भाग लेता है, फल का अपेक्षाकृत अधिक भाग पाता है।[13] मिताक्षरा ने **निमित्त** की परिभाषा यों दी है—यह वह घातक है जो ब्राह्मण की सम्पत्ति छीनकर, उसे पीटकर या धमकी देकर (धनापहरण, ताड़ना एवं भर्त्सना करके) उसे कुपित करता है तथा जिसकी उपस्थिति में और जिसके कारण वह कुपित ब्राह्मण अपने को मार डालता है। मिताक्षरा ने इस विषय में विष्णु का एक श्लोक तथा किसी अन्य का वचन भी उद्धृत किया है। यदि कोई व्यक्ति ऐसे ब्राह्मण बालक को मार डाले जिसका उपनयन-संस्कार अभी न हुआ हो तो यह ब्रह्महत्या ही है (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० ८६)।

सामविधानब्राह्मण (१।७।५), आप० ध० सू० (१।९।२४। ६-९), वसिष्ठ० (२०।३४), मनु (९।८७) एवं याज्ञ० (३।२५१) का कथन है कि वेदज्ञ या सोमयज्ञ के लिए दीक्षित क्षत्रिय एवं वैश्य की हत्या भी हत्यारे को ब्रह्महत्या का अपराध लगाती है, किसी ब्राह्मण के अज्ञातलिंग भ्रूण तथा आत्रेयी (रजस्वला) नारी की हत्या भी ब्रह्म-हत्या ही है। मनु (११।६६) एवं याज्ञ० (३।२३६) के मत से आत्रेयी के अतिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण नारी या सोमयाजी की पत्नी की हत्या केवल उपपातक है। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२६४) का कथन है कि किसी स्त्री

१३. **प्रयोजयिता मन्ता कर्तेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनः। यो भूय आरभते तस्मिन् फलविशेषः। आप० ध० सू० (२।२।२९।१-२)।**

को जान-बूझकर मार डालने से किसी भी प्रायश्चित्त से पाप का छुटकारा नहीं हो सकता। ब्राह्मण के अतिरिक्त तीन वर्णों द्वारा दुष्कर्मों के विषय में च्यवन आदि की स्मृतियों ने पाँच के अतिरिक्त अन्य महापातक भी निर्धारित किये हैं, यथा—क्षत्रियों के लिए अदण्ड्य को दण्डित करना एवं रणक्षेत्र से भाग जाना; वैश्यों के लिए झूठा मान (बाट) एवं तुला रखना; शूद्रों के लिए मांसविक्रय, ब्राह्मण को घायल करना, ब्राह्मणी से संभोग करना एवं कपिला (काली-भूरी) गाय का दूध पीना। देखिए दीपकलिका (याज्ञ० ३।२२७)। यदि औषध-प्रयोग में औषध, तेल या भोजन देने तथा किसी स्नायु की शल्य-क्रिया से ब्राह्मण या कोई अन्य व्यक्ति या गाय मर जाय तो शिक्षित एवं दक्ष वैद्य को कोई अपराध नहीं लगता।[१४] किन्तु यह बात उस वैद्य के लिए नहीं है जो मिथ्याचिकित्सक है। याज्ञ० (२।२४२) ने उसके लिए कई प्रकार के दण्डों की व्यवस्था दी है। यदि कोई ब्राह्मण अपने पुत्र, शिष्य या पत्नी को किसी अपराध के कारण कोई शारीरिक दण्ड दे जिससे वे मर जायँ तो उसे कोई पाप नहीं होता (भविष्यपुराण, प्राय० वि० पृ० ५८; अग्निपुराण १७३।५)। दण्ड का प्रयोग पीठ पर रस्सी या बाँस की छड़ी से होना चाहिए (सिर या छाती पर कभी नहीं), ऐसा गौतम (२।४८-५०), आप० ध० सू० (१।२।८।२९-३०), मनु (८।२९९-३०० मत्स्यपुराण २२७।-१५२-१५४), विष्णु (७१।८१-८२) एवं नारद (अभ्युपेत्याशुश्रूषा १३-१४) का कथन है। किन्तु मनु (८।३००) का कथन है कि यदि इन नियन्त्रणों का अतिक्रमण हो तो अपराधी को चोरी का दण्ड मिलना चाहिए। और देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अ० ७।

प्राचीन एवं मध्य काल के धर्मशास्त्रकारों के समक्ष एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रहा है कि क्या आत्म-रक्षा के लिए कोई व्यक्ति आततायी ब्राह्मण की हत्या कर सकता है? क्या ऐसा करने से पाप लगेगा? या क्या उसे राजा दण्डित कर सकता है? इस विषय में विभिन्न मत हैं और हमने इस पर इस ग्रन्थ के खण्ड २ अध्याय ३ एवं खण्ड ३ अध्याय २३ में कुछ सीमा तक विचार कर लिया है। मिताक्षरा का निष्कर्ष बहुमत का द्योतक है; यदि ब्राह्मण आततायी आग लगाने, विष देने या खेत उजाड़ने की इच्छा से आता है, तो आत्म-रक्षार्थ कोई उसका विरोध कर सकता है, किन्तु यदि वह आक्रामक ब्राह्मण मर जाता है और आत्मरक्षार्थी को उसे मार डालने की कोई इच्छा नहीं थी तो राजा उसे (आत्मरक्षार्थी को) नहीं दण्डित करता, उसे केवल हलका प्रायश्चित्त कर लेना पड़ता है, अर्थात् वह ब्रह्महत्या का अपराधी नहीं होता (मिताक्षरा, याज्ञ० २।२१)।

(२) सुरापान

यह महापातक कहा गया है। 'सुरा' शब्द वेद में कई बार आया है (ऋग्वेद १।११६।७; १।१९१।१०; ७।८६।६; ८।२।१२; १०।१०७।९)। इसे द्यूत के समान ही पापमय माना गया है (७।८६।६)। सम्भवतः यह मधु या किसी अन्य मधुर पदार्थ से बनती थी (१।११६।६-७)। यह उस सोमरस से भिन्न है जो देवों को अर्पित होता था तथा जिसका पान सोमयाजी ब्राह्मण पुरोहित करते थे। देखिए तैत्तिरीय संहिता (२।५।१।१), वाजसनेयी संहिता (१९।७) एवं शतपथब्राह्मण (५।१।५।२८)। इस ग्रन्थ में आया है—"सोम सत्य है, समृद्धि है और प्रकाश है; सुरा

१४. क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम्। याज्ञ० (३।२८४); औषधं स्नेहमाहारं ददद् गोब्राह्मणादिषु। दीयमाने विपत्तिः स्यान्न स पापेन लिप्यते॥ संवर्त (१३८; विश्वरूप, याज्ञ० ३।२६२; मिता०, याज्ञ० ३।२२७; प्राय० विवेक, पृ० ५६)। और देखिए अग्निपुराण (१७३।५)—औषधाद्युपकारे तु न पापं स्यात् कृते मृते। पुत्रं शिष्यं तथा भार्यां शासतो न मृते ह्यघम्॥

सन्मार्ग दिखलाते हैं (ऋ० १।८९।१), उसकी सन्ततियों को आनन्द या सुख देते हैं (ऋ० १।१८९।२, ४।१२।५) और उसे धन प्रदान करते हैं (ऋ० ४।४५।४०)।

ऋग्वेद में पाप के फल को दूर करने के लिए जो प्रथम साधन व्यक्त हुआ है, वह है दया के लिए **प्रार्थना करना** या **पापमोचन** के लिए **स्तुतियाँ** करना (ऋ० ७।८६।४-५, ७।८८।६-७, ७।८९।१-४)। ऋग्वेद के मत से **जल-मार्जन** भी पाप से मुक्त करता है (ऋ० १।२३।२२)। देवताओं की कृपा प्राप्ति के लिए एवं गम्भीर पापों के फल से छुटकारा पाने के लिए **यज्ञ** भी किये जाते थे। तै० सं० (५।३।१२।१-२) एवं शत० ब्रा० (१३।३।१।१) का कथन है कि अश्वमेध करने से देवताओं द्वारा राजा पापमुक्त होते थे और इससे वे ब्रह्महत्या के पाप से भी छुटकारा पाते थे। पाप से मुक्त होने का एक अन्य साधन था **पाप की स्वीकारोक्ति**, जो **वरुणप्रघास** (चातुर्मास्य यज्ञों में एक) नामक कृत्य से व्यक्त होती है। यदि इस कर्म में यजमान-पत्नी अपना दोष स्वीकार नहीं करती तो उसके प्रिय एवं सम्बन्धियों (पुत्र या पति) पर विपत्ति पड़ सकती है (तैत्तिरीय ब्राह्मण)। किसी यज्ञ के लिए दीक्षित हो जाने पर यजमान और पत्नी को उपवास करना पड़ता था या थोड़े भोजन पर रहना पड़ता था, उन्हें सत्य आदि बोलने से सम्बन्धित नियमों का पालन करना पड़ता था, यज्ञ की सामग्रियों का प्रबन्ध करना पड़ता था और पुरोहितों की दक्षिणा की व्यवस्था कर लेनी पड़ती थी। इन कृत्यों के पीछे केवल इच्छापूर्ति की भावना ही मात्र नहीं थी, जैसा कि यूरोपीय विद्वानों ने कहा है, किन्तु पापमोचन की भावना भी निहित रहती थी।

अब हम सूत्रों एवं स्मृतियों में वर्णित पाप-फलों से संबंधित व्यवस्थाओं का विवेचन उपस्थित करेंगे। इस विषय में हमें **कर्म** एवं **पुनर्जन्म** के सिद्धान्तों का स्मरण भली भाँति करना होगा। इन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ हम **कर्म** के सिद्धान्त की प्रमुख उपपत्तियों पर ही विचार करेंगे। इस विषय में हमें भौतिक विज्ञान के कार्य-कारण सिद्धान्त का सहारा लेना होगा। सत् कर्म से शुभ फल मिलता है और असत् कर्म से बुरा फल। यदि बुरे कर्मों का फल अचानक या इसी जीवन में नहीं प्राप्त हो पाता तो आत्मा का पुनर्जन्म होता है और नये परिवेश या वातावरण में वह अतीत कर्मों के फलस्वरूप कष्ट पाता है। प्राचीन उपनिषदों के काल से ही कर्म एवं **आवागमन** के सिद्धान्त एक-दूसरे से अटूट रूप में जुड़े आ रहे हैं। सामान्य नियम यह है कि कर्म से, चाहे वह सत् हो या असत्, छुटकारा नहीं मिल सकता, हमें उसके शुभ या अशुभ फल भुगतने ही पड़ेंगे। ऐसा गौतम (१९।५), मार्कण्डेयपुराण आदि ग्रन्थों में कहा भी है।[२१] "क्योंकि कर्म का नाश नहीं होता" (गौतम); "मानवकर्म चाहे जो हो, अच्छा या बुरा, बिना फलोपभोग के उससे छुटकारा नहीं हो सकता; यह निश्चित है कि मानव (फल को) भोग लेने से अच्छे या बुरे कर्म से छुटकारा पा जाता है" (मार्क०)। यह सिद्धान्त शत० ब्रा० (२।२।२७), बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४ एवं ६।२), छा० उप० (३।१४ एवं ५।३-१०), कठ० (५।६-७) आदि के औपनिषद वचनों पर आधारित है।

इसी से उनका कथन है—"व्यक्ति पुनः उस लोक में जन्म लेता है जिसके लिए उसने कर्म किया था।" "जो जैसा करता है और जैसा विश्वास करता है, वैसा ही वह होता है, पुण्यवान् कर्मों का व्यक्ति पुण्यवान् होता है, और अपुण्यवान् का अपुण्यवान्।" यहाँ उनका कथन है कि "व्यक्ति संकल्पों का पुंज होता है। उसके जैसे संकल्प होते हैं, वैसी ही उसकी इच्छा-शक्ति होती है; जैसी उसकी इच्छाशक्ति या कामना होती है, वैसे ही उसके कर्म होते हैं; और जो

२१. न हि कर्म क्षीयते। गौ० (१९/५)। देखिए शंकराचार्य का वेदान्तसूत्र भाष्य (४।१।१३); न तु भोगादृते पुण्यं पापं वा कर्म मानवम्। परित्यजति भोगाच्च पुण्यापुण्ये निबोध मे॥ मार्क० (१४।४७; तस्मात्कृतस्य पापस्य प्रायश्चित्तं समाचरेत्। नाभुक्तस्यान्यथा नाशः कल्पकोटिशतैरपि॥ भविष्यपुराण (१।१९।२७)।

कुछ वह कर्म करता है वैसा ही फल पाता है" (बृ० उप० ४।४।५); "कुछ मनुष्य शरीर के अस्तित्व के लिए योनि (गर्भ) में प्रविष्ट होते हैं, और अन्य लोग अपने कर्मों एवं ज्ञान के अनुसार जड़ पदार्थ (स्थाणु, पेड़ आदि) में प्रविष्ट होते हैं।"[२२] "मनुष्य द्वारा किये हुए कर्म तब तक नष्ट नहीं होते जब तक कि उनका (अर्थात् उनके फलों का) उपभोग करोड़ों वर्षों तक नहीं हो जाता; कर्म (अर्थात् उनके फल), चाहे वे अच्छे हों या बुरे (शुभाशुभ), अवश्य ही भोगे जाने चाहिए।"[२३] और देखिए आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।१।२-७) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२०।४७)—"जिस प्रकार सहस्रों गायों के बीच में बछड़ा अपनी माँ को खोज लेता है, उसी प्रकार पूर्व जीवन में किये गये कर्म अपने कर्ता के पास बिना किसी त्रुटि के पहुँच जाते हैं।"

किन्तु आगे चलकर स्मृतियों एवं अन्य ग्रन्थों में यह सिद्धान्त कई प्रकार से संशोधित हो गया। गौतम (१९।११=वसिष्ठ० २२।८) का कथन है—"जप (वेद मन्त्रों का बारम्बार पाठ), तप, होम, उपवास एवं दान उस (दुष्कृत्य) के प्रायश्चित्त के साधन हैं।"[२४] वसिष्ठ० (२०।४७ एवं २५।३) की व्यवस्था है—"पापी प्राणी शरीर को पीड़ा देने, जप, तप एवं दान द्वारा पाप से छुटकारा पा जाता है" और "जो लगातार प्राणायामों में संलग्न रहते हैं, पवित्र वचनों का पाठ करते रहते हैं, दान, होम एवं जप करते रहते हैं, वे निस्संदेह पापों से मुक्त हो जाते हैं।" मनु (३।२२७) का कथन है—"आत्मापराध स्वीकार, पश्चात्ताप, तप, वैदिक मन्त्रों (गायत्री आदि) के जप से पापी अपराध (पाप) से मुक्त हो जाता है और कठिनाई पड़ जाने पर (अर्थात् यदि वह जप, तप आदि न कर सके तो) दान से मुक्त हो जाता है।" और देखिए इसी के समान व्यवस्थाओं के लिए पराशर (१०।४०), शातातप (१।४), संवर्त (२०३), हारीत (प्राय० तत्त्व, पृ० ४६७), यम (प्राय० वि०, पृ० ३० एवं ३१) एवं भविष्यपुराण (प्राय० वि०, पृ० ३१)।

प्रायश्चित्तों के विषय में लिखने के पूर्व हम पाप के फलों को कम करने के अन्य साधनों पर संक्षेप में लिखेंगे। इनमें प्रथम है अपराध या पाप का स्वीकरण या आत्मापराध-स्वीकार। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।६।५।२) में वरुणप्रघास के सिलसिले में पत्नी द्वारा अपने प्रेमियों के विषय में स्वीकारोक्ति का स्पष्ट उल्लेख है—"वह अपनी पत्नी से स्वीकार कराता है, अतः वह उसे पवित्र (शुद्ध) बना देता है और तब उसे प्रायश्चित्त की ओर ले जाता है।" शतपथब्राह्मण (२।५।२।२०) इसे यों रखता है—"क्योंकि स्वीकार कर लेने पर पाप कम हो जाता है; तब वह सत्य हो जाता है।" यह आत्मापराध-स्वीकार देवता (अग्नि) एवं मनुष्यों (पुरोहितों) के समक्ष इसलिए होता था कि व्यक्ति को दैवी क्षमा या कृपा प्राप्त हो जाय। अन्य दुष्कृत्यों में आत्मापराध-स्वीकार का कार्य पापमोचन के लिए व्यवस्थित विधि का एक भाग मात्र था।

२२. यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म तदभिसंपद्यते॥ बृह० उ० (४।४।५); अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति॥ छा० (३।१४।१); योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ कठ० उप० (५।७)।

२३. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ यह स्मृति प्रायश्चित्तविवेक (पृ० १७) में गोविन्दानन्द द्वारा एवं तैत्तिरीयारण्यक (८।२) के भाष्य में सायण द्वारा उद्धृत है। और देखिए परा० मा० (२, भाग १, पृ० ११)।

२४. तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम्। गौ० (१९।११=वसिष्ठ० २२।८=बौधा० ध० सू० ३।१०।९)।

अध्याय २

पाप-फलों को कम करने के साधन

आत्मापराध-स्वीकृति—आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९।२४।१५, १।१०।२८।१९, १।१०।२९।१) में ऐसी व्यवस्था दी गयी है कि व्यक्ति को **अभिशस्तता** के कारण प्रायश्चित्त करते समय, या अन्यायपूर्वक पत्नी-परित्याग करने पर, या विद्वान् (वेदज्ञ) ब्राह्मण की हत्या करने पर अपनी जीविका के लिए भिक्षा माँगते समय अपने दुष्कृत्यों की घोषणा करनी चाहिए। वैदिक विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) को संभोगापराधी होने पर सात घरों में भिक्षा माँगते समय अपने दोष की घोषणा करनी पड़ती थी (गौ० २३।१८ एवं मनु ११।१२२)।

अनुताप (पश्चात्ताप)—मनु (११।२२९-२३० = विष्णुधर्मोत्तर २।७३।२३१-२३३ = ब्रह्मपुराण २१८।५) का कथन है—"व्यक्ति का मन जितना ही अपने दुष्कर्म को घृणित समझता है उतना ही उसका शरीर (उसके द्वारा किये गये) पाप से मुक्त होता जाता है। यदि व्यक्ति पाप-कृत्य के उपरान्त उसके लिए अनुताप (पश्चात्ताप) करता है तो वह उस पाप से मुक्त हो जाता है। उस पाप का त्याग करने के संकल्प एवं यह सोचने से कि 'मैं यह पुनः नहीं करूँगा' व्यक्ति पवित्र हो उठता है।" देखिए अपरार्क (पृ० १२३१)। विष्णुपुराण (२।६।४०) ने अनुताप एवं कृष्ण-भक्ति करने पर बल दिया है। प्रायश्चित्तविवेक (पृ० ३०) ने अंगिरा की उक्ति दी है—"पापों को करने के उपरान्त यदि व्यक्ति अनुताप में डूबा हुआ हो और रात-दिन पश्चात्ताप कर रहा हो तो वह प्राणायाम से पवित्र हो जाता है।" प्रायश्चित्तप्रकाश जैसे निवन्धों का मत है कि केवल पश्चात्ताप पापों को दूर करने के लिए पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत उससे पापी प्रायश्चित्त करने के योग्य हो जाता है, यह उसी प्रकार है जैसा कि वैदिक यज्ञार्थी नख आदि कटा लेने के उपरान्त यज्ञ में **दीक्षित** होने के योग्य हो जाता है। अपरार्क (पृ० १२३१) द्वारा उल्लिखित यम का वचन है कि अनुताप एवं पापकर्म की पुनरावृत्ति न करना प्रायश्चित्तों के अंग (सहायक तत्व) मात्र हैं और वे स्वतः (स्वतन्त्र रूप से) प्रायश्चित्तों का स्थान नहीं प्राप्त कर सकते।

प्राणायाम (श्वासावरोध)—इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ७। मनु (११।२४८ = बौधा० ध० सू० ४।१।३१ = वसिष्ठ० २६।४, अत्रि २।५, शंखस्मृति १२।१८-१९) ने कहा है—"यदि प्रति दिन व्याहृतियों एवं प्रणव (ओंकार) के साथ १६ प्राणायाम किये जायँ तो एक मास के उपरान्त भ्रूण-हत्या (विद्वान् ब्राह्मण की हत्या) छूट जाती है।" यही बात विष्णुधर्मसूत्र (५५।२) ने भी कही है। वसिष्ठ (२६।१-३) ने व्यवस्था दी है कि तीन प्राणायामों के सम्यक् सम्पादन से रात या दिन में किये गये सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। याज्ञ० (३।३०५) का कथन है कि उन सभी पापों के लिए तथा उन उपपातकों एवं पापों के लिए जिनके लिए कोई विशिष्ट प्रायश्चित्त न निर्धारित हो, एक सौ प्राणायाम नष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। शूद्र का भोजन कर लेने से लेकर ब्रह्महत्या तक के विभिन्न पापों के मोचन के लिए बौधा० ध० सू० (४।१।५-११) ने एक दिन से लेकर वर्ष भर के लिए विभिन्न संख्याओं (३,७,१२) वाले प्राणायामों की व्यवस्था दी है। देखिए मिता० (याज्ञ० ३।३०५) एवं अग्नि० (१७३।२१)।

तप—ऋग्वेद (१०।१५४।२) में भी **तप** स्वर्ग ले जानेवाला एवं अनाक्रमणीय माना गया है। छा० उप० (५।१०।१-२) एवं मुण्डकोपनिषद् (१।२।१०-११) ने **तप** को **यज्ञ** से ऊपर रखा है। गौतम (१९।१५) का कथन

है कि ब्रह्मचर्य, सत्यवचन, प्रति दिन तीन बार (प्रातः, मध्याह्न एवं सायं) स्नान, गीले वस्त्र का धारण (जब तक शरीर पर ही वस्त्र सूख न जाय) एवं उपवास तप में सम्मिलित हैं। बौधा० ध० सू० (३।१०।१३) ने इसमें **अहिंसा, अस्तैन्य** (किसी को उसकी सम्पत्ति से वंचित न करना) एवं **गुरुशुश्रूषा** भी जोड़ दिये हैं। गौतम (१९।१७) ने पाप के स्वरूप के अनुसार तप की निम्न अवधियाँ दी हैं—एक वर्ष, छः मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास, २४ दिन, १२ दिन, ६ दिन, ३ दिन, एक दिन एवं एक रात। मनु (११।२३९-३४१) ने घोषणा की है कि जो महापातकों एवं अन्य दुष्कर्मों के अपराधी होते हैं वे सम्यक तप से पाप-मुक्त हो जाते हैं तथा विचार, शब्द या शरीर से जो पाप हुए रहते हैं वे तप से जल जाते हैं। इस सिद्धान्त को जैनों ने भी अपनाया है (उत्तराध्ययन, ३९।२७)—"तपों द्वारा वह कर्म को काट डालता है।"

होम—तैत्तिरीयारण्यक (२।७-८) ने कूष्माण्डहोम एवं दीक्षा का वर्णन किया है और व्यवस्था दी है (२।८) कि उस व्यक्ति को जो अपने को अपवित्र समझता है, **कूष्माण्ड** मन्त्रों से होम करना चाहिए, यथा—'यद्देवा देवहेडनम्' (वाज० सं० २०।१४-१६=तै० आ० २।३।१ एवं ३-६)। कूष्माण्डहोम के लिए देखिए महार्णवकर्मविपाक। इस होम के कर्ता को **दीक्षा** के नियमों का पालन करना होता था, यथा—मांस का सेवन न करना, संभोग न करना, असत्य न बोलना, शय्या पर न सोना। उसे दूध (यदि ब्राह्मण हो तो) पीना पड़ता था, (क्षत्रिय होने पर) जौ की लपसी खानी पड़ती थी और (वैश्य होने पर) आमिक्षा का सेवन करना पड़ता था। बौधा० ध० सू० (३।७।१) के अनुसार अपवित्र व्यक्ति को कूष्माण्ड-होम में भुनी हुई आहुतियाँ छोड़नी चाहिए, निषिद्ध संभोग करने से व्यक्ति चोर एवं ब्रह्मघातक के समान हो जाता है और वह इस होम द्वारा ब्रह्महत्या से कम पापों से मुक्ति पा जाता है। याज्ञ० (३।३०९) के अनुसार यदि कोई द्विज अपने को पापमुक्त करना चाहे तो उसे गायत्री मन्त्र द्वारा तिल से होम करना चाहिए। मिता० ने यम के मत से तिल की एक लाख आहुतियों का उल्लेख किया है। मनु (११।३४) एवं वसिष्ठ (२६।१६) के मत से ब्राह्मण व्यक्ति वैदिक मन्त्रों के जप एवं होम से सभी विपत्तियों से छुटकारा पा जाता है। शत० ब्रा० (२।५।२।२०) का कथन है कि जब पत्नी अपने अन्य प्रेमियों के सम्बन्ध को स्वीकार करती है तो उसे निम्न मन्त्र के साथ **दक्षिणाग्नि** में होम करना पड़ता है—"यद् ग्रामे यदरण्ये य सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा" (वाज० सं० ३।८।३।), अर्थात् "हमने जो भी पाप ग्राम में, वन में, समाज में या इन्द्रियों से किया हो, हम उसे इस होम द्वारा दूर कर रहे हैं, स्वाहा।" मनु (८।१०५) एवं याज्ञ० (२।८३) ने व्यवस्था दी है कि जब कोई साक्षी किसी को मृत्यु-दण्ड से बचाने के लिए झूठी गवाही देता है तो उसे इस कौटसाक्ष्य के प्रायश्चित्त के लिए सरस्वती को भात की आहुतियाँ देनी चाहिए। कुछ अन्य होम भी व्यवस्थित हैं, यथा **गणहोम** जिसमें तैत्तिरीय शाखा के 'अग्ने नय सुपथा' जैसे मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है (महार्णव०)।

ऐसा लगता है कि प्राचीन होम-भावना का स्वरूप शान्तिकारक या शमनकारक मात्र था। होम देवता द्वारा अपेक्षित नहीं था, अर्थात् देवता द्वारा इसकी माँग नहीं की गयी थी। होम सम्भवतः एक प्रकार की भेंट थी जिससे देवता प्रसन्न होता था। होम से प्रसन्न होकर देवता या ईश्वर व्यक्ति को (उसके अपराधों के लिए) क्षमा करता था। होम से व्यक्ति अपने दुष्कृत्य द्वारा खोयी हुई भगवत्कृपा को पुनः प्राप्त कर लेता था। अतः होम का परिणाम प्रायश्चित्त-सम्बन्धी एवं शुद्धीकरण-सम्बन्धी था, अर्थात होम करने से पापी शुद्ध हो जाता था और अपने पाप का मार्जन भी कर लेता था। होम पशु की बलि (उस व्यक्ति के प्रतिनिधि के रूप में जिसने पाप-कर्म एवं नियमोल्लंघन से अपना जीवन खो दिया हो) या आहुतियों या ईश्वर को दी गयी किसी वस्तु एवं पुनः उसके दान द्वारा किया जा सकता था।

जप (प्रार्थना या स्तुति के रूप में वैदिक मन्त्रों का पाठ)—जप के तीन प्रकार हैं; **वाचिक** (स्पष्ट उच्चरित), **उपांशु** (अस्पष्ट उच्चरित) एवं **मानस** (मन से उच्चरित)। इनमें से प्रत्येक आगे वाला दस गुना अच्छा माना जाता

यज्ञ में लिप्त क्षत्रिय या वैश्य को जो मारता है या जो भ्रूणहत्या करता है या किसी आत्रेयी नारी की हत्या करता है, उसे ब्राह्मण-हत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ता है (अतः यह **वाचनिक अतिदेश है**)। याज्ञ० (३।२३२-२३३) ने **गुरुतल्पगमन** पातक को अन्य सन्निकट नारी-सम्बन्धियों (यथा मौसी या फूफी) के सम्भोग तक बढ़ा दिया है। इसे **तादूप्य अतिदेश** कहते हैं। स्मृतियों ने बहुत-से कृत्यों को सामान्यतः महापातकों के समान या उनमें से किसी एक के समान माना है। यह **साम्य अतिदेश** कहा जाता है। इस विषय में कुछ शब्द अपेक्षित हैं। सामान्य नियम यह है कि महापातकों के समान पातकों के लिए आधे प्रायश्चित्त का दण्ड लगता है। **वाचनिक** या **तादूप्य अतिदेश** के अन्तर्गत आनेवाले पातकों का प्रायश्चित्त महापातक के प्रायश्चित्त का तीन-चौथाई होता है। किन्तु इस विषय में सूत्रों एवं स्मृतियों में मतभेद है।

गौतम (२१।१०) के मत से **कौटसाक्ष्य** (झूठी गवाही), ऐसा पैशुन (चुगलखोरी) जो राजा के कानों तक किसी के अपराध को पहुँचा दे और गुरु को झूठ-मूठ महापातक का अपराध लगाना महापातक के समान हैं। मनु (११।५५= अग्निपु० १६८।२५) में उपर्युक्त तीनों में से अन्तिम दो एवं अपनी जाति या विद्या या कुल के विषय में समृद्धि एवं महत्ता के लिए झूठा वचन (यथा, ब्राह्मण न होते हुए भी अपने को ब्राह्मण कहना) ब्रह्महत्या के बराबर कहे गये हैं। याज्ञ० (३।२२८) के मत से गुरु को झूठ-मूठ अपराधी कहना ब्रह्महत्या के बराबर है और अपनी जाति या विद्या के विषय में असत्य कथन करना सुरापान के समान है (याज्ञ० ३।२२९)। विष्णु (३७।१-३) के मत से मनु (११।५५) में वर्णित तीन पाप उपपातकों में गिने जाने चाहिए और कौटसाक्ष्य सुरापान के सदृश समझा जाना चाहिए (३६।२)। मनु (११।५६=अग्नि पु० १६८।२६) का कथन है कि वेदविस्मरण, वेदनिन्दा, कौटसाक्ष्य, सुहृद्वध, निषिद्ध-भोजन-सेवन या ऐसा पदार्थ खाना जिसे नहीं खाना चाहिए—ये छः सुरापान के समान हैं। देखिए याज्ञ० ३।२२८ जो ऊपर वर्णित है। मनु (९।५७) ने कहा है कि न्यास (धरोहर) या प्रतिभूति; मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, रत्नों की चोरी ब्राह्मण के हिरण्य (सोने) की चोरी के समान हैं। याज्ञ० (३।२३०), विष्णु (५।३८३) एवं अग्नि (१६८।२७) ने भी यही बात कही है। मनु (११।५८=अग्नि० १६८।१२८) के मत से अपनी बहिन, कुमारियों, नीच जाति की नारियों, मित्रपत्नी या पुत्रपत्नी के साथ विषयभोग का सम्बन्ध गुरुतल्पशयन, गुरु-शैय्या को अपवित्र करने के पाप के समान हैं। याज्ञ० (३।२३१) ने भी यही बात कही हैं, किन्तु सूची में सगोत्र नारी-सम्भोग भी जोड़ दिया है। गौतम (२३।१२) एवं मन (११।१७०) बहुत सीमा तक एक दूसरे के समान हैं। याज्ञ० (३।२३२-२३२) ने घोषित किया है कि उस व्यक्ति का, जो अपनी मौसी या फूफी, मामी, पुत्रवधू, विमाता, बहिन, गुरु की पत्नी या पुत्री या अपनी पुत्री के साथ सम्भोग करता है, लिंग काट लेना चाहिए और उसे राजा द्वारा प्राणदण्ड मिलना चाहिए और उस नारी की, यदि उसकी सहमति रही हो, हत्या कर डालनी चाहिए। नारद (स्त्री-पुंसयोग, श्लोक ७३-७५) का कथन है—"यदि व्यक्ति माता, मौसी, सास, मामी, फूफी, चाची, मित्रपत्नी, शिष्यपत्नी, बहिन, बहिन की सखी, पुत्रवधू, आचार्यपत्नी, सगोत्र नारी, दाई, व्रतवती नारी एवं ब्राह्मण नारी के साथ सम्भोग करता है, वह गुरुतल्प नामक व्यभिचार के पाप का अपराधी हो जाता है। ऐसे दुष्कृत्य के लिए शिश्न-कर्तन के अतिरिक्त कोई और दण्ड नहीं है।" उपर्युक्त दोनों (याज्ञ० एवं नारद) के वचनों से व्यक्त होता है कि शिश्न-कर्तन एवं मृत्यु-दण्ड इस प्रकार के अपराध के लिए प्रायश्चित्त भी है और दण्ड भी है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२३३) का कहना है कि इस प्रकार का दण्ड ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी अपराधियों पर लगता है, क्योंकि मनु (८।३८०) ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण अपराधी को मृत्युदण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, प्रत्युत उसे देश-निष्कासन का दण्ड दिया जाना चाहिए। विष्णु (३६।४-७) ने याज्ञ० एवं नारद की उपर्युक्त नारी-सूची में कुछ अन्य नारियाँ भी जोड़ दी हैं, यथा—रजस्वला नारी, विद्वान् ब्राह्मण की पत्नी या पुरोहित अथवा उपाध्याय की पत्नी। गुरु के विरुद्ध गलत अपराध मढ़ने (याज्ञ० ३।२२८ या मन ११।५५—याज्ञ० ३।२३३ या मनु ११।५८) से लेकर अन्य अपराधों में कुछ महापातक के समान कहे गये हैं या कुछ पातक कहे गये हैं (बृद्ध हारीत ९।२१६-२१७ एवं

मिता० याज्ञ० ३।२३३) या कुछ अनुपातक कहे गये हैं (विष्णु ३६।८)।[१७] गौतम (२१।१-२) ने पतितों की सूची में कुछ और नाम जोड़ दिये हैं, यथा—माता या पिता की सपिण्ड नारियों या बहिनों एवं उनकी संततियों से योनि-सम्बन्ध करनेवाला, सोने का चोर, नास्तिक, निन्दित कर्म को बार-बार करनेवाला, पतित का साथ नहीं छोड़नेवाला या निरपराध सम्बन्धियों का परित्याग करनेवाला, या दूसरों को पातक करने के लिए उकसाने वाला, ये सब पतित कहे गये हैं।[१८] पातक अपनी गुरुता में महापातकों से अपेक्षाकृत कम एवं उपपातकों से अपेक्षाकृत अधिक गहरे हैं।

उपपातक (हलके पाप)

उपपातकों की संख्या विभिन्न युगों एवं स्मृतियों में भिन्न-भिन्न है। वसिष्ठ (१।२३) ने केवल पाँच उपपातक गिनाये हैं; अग्निहोत्र के आरम्भ के पश्चात् उसका परित्याग, गुरु को कुपित करना, नास्तिक होना, नास्तिक से जीविकोपार्जन करना एवं सोम लता की बिक्री करना। शातातप (विश्वरूप, याज्ञ० ३।२२९-२३६) ने केवल आठ उपपातक गिनाये हैं। बौधायन० (२।१।६०-६१) ने बहुत कम उपपातक गिनाये हैं। गौतम (२१।११) का कथन है कि उनको उपपातक का अपराध लगता है, जो श्राद्ध भोजन के समय पंक्ति में बैठने के अयोग्य घोषित होते हैं,[१९] यथा—पशुहन्ता, वेदविस्मरणकर्ता, जो इनके लिए वेदमन्त्रोच्चारण करते हैं, वे वैदिक ब्रह्मचारी जो ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित करते हैं तथा वे जो उपनयन-संस्कार का काल बिता देते हैं। शंख (विश्वरूप, याज्ञ० २।२२९-२३६) ने केवल १८ उपपातक गिनाये हैं और उन्हें **उपपतनीय** संज्ञा दी है। मनु (११।५९-६६), याज्ञ० (३।२३४-२४२), वृद्ध हारीत (९।२०८-२१०), विष्णु० ध० सू० (३७) एवं अग्निपुराण (१६८-२९-३७) में उपपातकों की लम्बी सूचियाँ हैं। प्राय० वि० (पृ० १९५) ने मनु-कथित ४९ उपपातक गिनाये हैं। याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णित ५१ उपपातक ये हैं (विश्वरूप, याज्ञ० ३।२२९-२३६)—गोवध, व्रात्यता (निश्चित अवस्था में उपनयन न किया जाना), स्तेय (चोरी, महापातक वाला स्वर्णस्तेय छोड़कर), ऋणों का न चुकाना (देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण को छोड़कर), अग्निहोत्र न करना (यद्यपि कोई उसे करने के लिए समर्थ है), जो बिक्री करने योग्य न हो उसे बेचना (यथा नमक), परिवेदन (बड़े भाई के रहते छोटे भाई द्वारा विवाह सम्पादन या श्रौत अग्नियों की उसके पहले स्थापना), वृत्ति लेनेवाले शिक्षक से वेदाध्ययन; शुल्क के लिए वेदाध्ययन, व्यभिचार (गुरुतल्पगमन या उसके समान अन्य दुष्कर्मों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ व्यभिचार), छोटे भाई के विवाहित हो जाने पर बड़े भाई का अविवाहित रूप में रहना, अधिक ब्याज ग्रहण (स्मृतियों द्वारा निर्धारित मात्रा से अधिक सूद लेना), लवणक्रिया (नमक बनाना), नारीहत्या (आत्रेयी को छोड़कर किसी अन्य जाति की नारी की हत्या), शूद्रहत्या, (श्रौत यज्ञ के लिए न दीक्षित) क्षत्रिय या वैश्य की हत्या, निन्दित धन पर जीविकोपार्जन, नास्तिकता

१७. एतानि गुर्वधिक्षेपादितनयागमनपर्यन्तानि महापातकातिदेशविषयाणि सद्यःपतनहेतुत्वात्पातकान्युच्यन्ते। मिता० (याज्ञ० ३।२३३)।

१८. ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिसम्बन्धागस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः। पातकसंयोजकाश्च। गौतम (२१।१-२)। गौतम (२०।१) ने त्याज्य लोगों के नाम भी लिखे हैं—"त्यजेत् पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहनं यश्चांत्यावसायिभिः सहः संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा।"

१९. अपंक्त्यानां प्राग्दुर्बालाद् गोहन्तृब्रह्मघ्नतन्मंत्रकृदवकीर्णिपतितसावित्रीकेषूपपातकम्। गौतम (२१।११)।

(मृत्यु के उपरान्त आत्मा एवं विश्व में विश्वास न करना), अपनी स्थिति के उपयुक्त व्रतों का परित्याग (यथा वैदिक विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य परित्याग, ब्रह्महत्या के लिए अपराधयाआरम्भ किये गये प्रायश्चित्त का परित्याग), बच्चों का विक्रय, अनाज, साधारण धातुओं (यथा सीसा, ताँबा) या पशु की चोरी, जो लोग यज्ञ करने के अधिकारी नहीं हैं, उनका पुरोहित होना (यथा शूद्र या व्रात्य आदि का), पिता-माता या पुत्र को अकारण घर से निकाल बाहर करना, तड़ाग या आराम (वाटिका) का विक्रय (जो वास्तविक रूप में जनसाधारण को न दे दिये गये हों किन्तु सबके प्रयोग में आते हों), कुमारी कन्या के साथ दूषण, उस विवाह में पौरोहित्य करना जहाँ बड़े भाई के पहले छोटे भाई का विवाह हो रहा है, ऐसे व्यक्ति से अपनी पुत्री का विवाह रचाना जो अपने बड़े भाई के पूर्व विवाह रचा रहा हो, कुटिलता (गुरु-सम्बन्धी कुटिलता को छोड़कर जो सुरापान के समान मानी गयी है), व्रतलोप (अपने से आरम्भ किये गये व्रत का परित्याग), केवल अपने लिए भोजन बनाना (देवताओं, अतिथियों की विना चिन्ता किये, जिसकी निन्दा ऋ० १०।११७।६ एवं मनु ३।११८ ने की है), ऐसी स्त्री से सम्भोग-कार्य जो शराव पीती हो (यहाँ तक कि अपनी स्त्री भी), अन्य विषयों के अध्ययन के पूर्व वेद-स्वाध्याय का परित्याग, श्रौत या स्मार्त अग्नियों में होम न करना, अपने पुत्र का त्याग, अपने सम्बन्धियों (यथा मामा या चाचा, जब कि सामर्थ्य हो) का भरण-पोषण न करना, केवल अपना भोजन पकाने में ईंधन के लिए किसी बड़े वृक्ष को काटना, स्त्री द्वारा अपना भरण-पोषण करना (अर्थात् उसके अनैतिक कार्यों द्वारा या उसके स्त्री-धन द्वारा जीविकोपार्जन करना) या पशुओं का हनन करके या जड़ी-बूटियों के (जादू या इन्द्रजाल में) प्रयोग द्वारा जीविकोपार्जन, ऐसे यन्त्रों (मशीनों) को बैठाना जिनसे जीवों की हत्या या उनको पीड़ा हो (तेल या ईख का रस निकालने के लिए कोल्हू का प्रयोग), धन के लिए अपने को वेचना अथवा दासत्व, शूद्र का भृत्य होना, नीच लोगों से मित्रता करना, नीच जाति की नारी से योनि-सम्बन्ध करना (स्त्री रूप में या रखैल के रूप में), चारों आश्रमों से बाहर रहना अथवा अनाश्रमी होना, दूसरे द्वारा निःशुल्क एवं दान में दिये गये धन को खाकर मोटा होना (परान्न-परिपुष्टता), असच्छास्त्राधिगमन (चार्वाक जैसे नास्तिकों के ग्रन्थों का अध्ययन), आकरों (सोना आदि धातुओं की खानों) की अध्यक्षता एवं भार्याविक्रय (अपनी स्त्री को वेचना)।

उपर्युक्त लम्बी सूची में कुछ उपपातक छूट भी गये हैं, यथा—वसिष्ठ (१।१८) द्वारा वर्णित **एनस्विनः** (उपपातक, विश्वरूप, याज्ञ० ३।२२९-२३६)। याज्ञवल्क्यस्मृति में उल्लिखित अधिकांश उपपातक मनु (११।५९-६६) में पाये जाते हैं, किन्तु कुछ छूट भी गये हैं, यथा—**अभिचार** (श्येनयाग नामक कर्म जो शत्रुनाश के लिए किया जाता है), **मूलकर्म** (किसी व्यक्ति को अपने प्रभाव में लाने के लिए जड़ी-बूटियों का प्रयोग अर्थात् वशीकरण)। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२४२) का कथन है कि कुछ उपपातकों के बार-बार करने से मनुष्य पतित हो जाता है (गौ० २१।१)। इसी से विश्वरूप ने उपपातक की व्युत्पत्ति यों की है—"उपचय से (लगातार बढ़ते रहने या संग्रह से) या उपेत्य (लगातार स्पृहा से) जिसका सेवन किया जाय वह उपपातक कहा जाता है।"[२०]

मनु (११।६७=अग्नि० १६८।३७-३८) एवं विष्णु (३८।१-६) ने कुछ दोषों को **जातिभ्रंशकर** (जिनसे जातिच्युतता प्राप्त होती है) की संज्ञा दी है, यथा ब्राह्मण को (छड़ी या हाथ से) पीड़ा देना, ऐसी वस्तुओं (यथा लहसुन आदि) को सूँघना जिसे नहीं सूँघना चाहिए एवं आसव या मद्य सूँघना, धोखा देना (कहना कुछ करना कुछ), मनुष्य (पशु के साथ भी, विष्णु के मत से) के साथ अस्वाभाविक अपराध करना। मनु (११।६८=अग्नि० १६८।३८-३९) के मत से

२०. उपपातकसंज्ञाप्येवमर्थैव। उपचयेन उपेत्य वा सेव्यमानं पातकमेव स्यादिति। अत एव गौतमेन पातकमध्ये निन्दितकर्माभ्यासो दर्शितः। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२२९-२३६)। और देखिए गौतम (२१।१)।

बन्दर, घोड़ा, ऊँट, हिरन, हाथी, बकरी, भेड़, मछली या भैंस का हनन **संकरीकरण** (किसी को वर्णसंकर बनाने के पाप) के समान मानना चाहिए। विष्णु० (२९।१) के मत से संकरीकरण ग्राम या जंगल के पशुओं का हनन है। मनु (११।६९) का कथन है कि निन्द्य लोगों (जो मनु ४।८४ में वर्णित हैं) से दानग्रहण, व्यापार, शूद्रसेवा एवं झूठ बोलने से व्यक्ति धर्म-संमान के अयोग्य (**अपात्रीकरण**) हो जाता है। विष्णु० (४०।१) ने इसमें ब्याज वृत्ति से जीविकोपार्जन भी जोड़ दिया है। मनु (११।७०) ने व्यवस्था दी है कि छोटे या बड़े कीट-पतंगों या पक्षियों का हनन, मद्य के समीप रखे गये पदार्थों का खाना, फलों, ईंधन एवं पुष्पों को चुराना एवं मन की अस्थिरता **मलावह** (जिससे व्यक्ति अशुद्ध हो जाता है) कर्म कहे जाते हैं। यही बात विष्णु० (४१।१-४) ने भी कही है। विष्णु० (४२।१) का कथन है कि वे दुष्कृत्य जो विभिन्न प्रकारों में उल्लिखित नहीं हैं, उनकी **प्रकीर्णक** संज्ञा है। वृद्ध हारीत (९।२१०-२१५) ने बहुत-से प्रकीर्णक दुष्कृत्य गिनाये हैं।

यथा—ईंधन के लिए बड़े-बड़े पेड़ों का काटना; छोटे एवं बड़े कीट-पतंगों का हनन; ऐसे भोज्य-पदार्थों का सेवन जो **भावदुष्ट** हों (निषिद्ध भोजन के रंग एवं गन्ध की समानता के कारण अथवा जब परोसना असम्मान-पूर्वक हुआ हो), या ऐसे भोजन का सेवन जो **कालदुष्ट** हो (एकादशी या ग्रहण के समय भोजन करना या घर में सूतक पड़ने पर या सूतक वाले घर में भोजन करना या बासी भोजन करना) या **क्रियादुष्ट** हो (ऐसी क्रिया, जो खाली हाथ से भोजन परोसने से व्यक्त होती है या **पतित, चांडाल** या **कुत्ता** आदि के देखने से प्रकट होती है, देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अ० २२); मिट्टी, चर्म, घास, लकड़ी की चोरी; अत्यधिक भोजन करना; झूठ बोलना; विषयभोग के लिए चिन्तित रहना; दिन में सोना; अफवाह उड़ाना; दूसरे को अफवाह सुनने को उकसाना; दूसरे के घर में खाना; दिन में सम्भोग करना; मासिक धर्म के समय या बच्चा जनने के बिल्कुल उपरान्त स्त्रियों को देखना; दूसरे की पत्नियों पर दृष्टिपात करना; उपवास, श्राद्ध या पर्व के दिनों में सम्भोग करना; शूद्र की नौकरी करना; नीच लोगों से मित्रता करना; उच्छिष्ट भोजन को छूना; स्त्रियों से हँसी-ठट्ठा करना; अनियमित ढंग (प्रेम प्रदर्शन) से बातचीत करना; खुले केशों वाली स्त्रियों की ओर ताकना। यह पता चला होगा कि उपर्युक्त प्रकीर्णक दोषों में कुछ ऐसे भी हैं जो याज्ञवल्क्य द्वारा वर्णित उपपातकों के अन्तर्गत आ जाते हैं; यथा ईंधन के लिए बड़े वृक्षों का कर्तन, शूद्र की सेवा, नीच लोगों से मित्रता।

पापों के विभिन्न प्रकारों के विषय में पढ़ लेने के उपरान्त अब हमें उनसे उत्पन्न फलों एवं उनके दूर करने के साधनों पर विचार कर लेना है। अर्थात् हमें यह देखना है कि वैदिक एवं संस्कृत-धर्मसाहित्य में पापों के फलों के प्रश्न पर एवं उनके दूरीकरण के साधनों पर किस प्रकार विचार किया गया है और कौन-सी व्यवस्थाएँ प्रतिपादित की गयी हैं।

हमने ऊपर देख लिया है कि ऋग्वेद काल के ऋषियों ने किस प्रकार देवताओं, विशेषतः अदिति, मित्र, वरुण, आदित्यों एवं अग्नि के प्रति **अपने को आगः** या **एनः** (जो पाप के वाचक हैं) आदि से बचाने के लिए स्तुतियाँ की हैं। ऋषियों ने स्वीकार किया है कि उन्होंने देवताओं के धर्मों या व्रतों का बहुधा अतिक्रमण किया है। इसी से वे क्षमायाचना के लिए प्रेरित भी हुए हैं। वे अपने अपराध के परिणामों से भयभीत थे, अर्थात् देवताओं के लिए व्यवस्थित धर्मों एवं व्रतों के न करने पर उनके कोप से डरा करते थे। उन्होंने ऐसा समझा था कि ईश्वर उनके नियमोल्लंघन से उन पर विपत्ति, नाश, रोग एवं मृत्यु ढाह देता है। देखिए ऋग्वेद (१।२५।२, ७।८९।५, १०।८९।८-९, २।२९।६, ९।७३।८) जहाँ वरुण, मित्र, अर्यमा एवं इन्द्र से दण्ड न देने के लिए विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएँ एवं स्तुतियाँ की गयी हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ऋषिगण (मंत्रद्रष्टा) अपने उन कर्मों के फलों से परिचित थे जिनसे वे देवताओं द्वारा दण्डित हो सकते थे। दूसरी ओर ऐसी भी बातें पायी जाती हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि ईश्वर या देवता प्रसन्न होने पर अपने पूजक को

है (लघु-हारीत ४, पृ० १८६)।[1] शबर (जैमिनि १२।४।१) ने जप एवं स्तुति में अन्तर बतलाया है, जिनमें प्रथम (जप) में मन्त्र या मन्त्रों का कथन मात्र होता है।[2] शांखायनब्राह्मण (१४।१) में उपांशु नामक जप की प्रशंसा की गयी है। आश्वलायनश्रौतसूत्र (१।१।२०) के मत से जप, अनुमन्त्रण, आप्यायन एवं उपस्थान व्यक्त उपांशु हैं। आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र (२४।१।८-१०) ने कहा है कि ऋग्वेद एवं सामवेद के मन्त्र यज्ञों में उच्च स्वर से बोले जाते हैं तथा यजुर्वेद के मन्त्र उपांशु बोले जाते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (२३।६) का कथन है कि उपांशु जप वागिन्द्रिय के प्रयोग सहित किंतु बिना उच्चारण-ध्वनि किये किया जाता है (अर्थात् बहुत धीमे से बोला जाता है) और उसमें आन्तरिक प्रयत्न नहीं रहता (उसमें उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरों का प्रयोग नहीं होता—'करणवदशब्दममनःप्रयोगमुपांशु')। गौतम (१९।१२ = बौधा० ध० सू० ३।१०।१० = वसिष्ठ २२।९) ने निम्न वैदिक रचनाओं को शुचिकर (पवित्र करनेवाली) कहा है—उपनिषद्, वेदान्त, संहिताएँ (सभी वेदों की, किन्तु **पदपाठ** या **क्रमपाठ** को छोड़कर), यजुर्वेद का 'मधु' सूक्त, अघमर्षण सूक्त (ऋ० १०।१९०।१-३), अथर्वशिरस् (अनुवाक वाला), रुद्रपाठ, पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०), राजत एवं रौहिण नामक दो साम, बृहत्साम एवं रथन्तर, पुरुषगति साम, महानाम्नी ऋचा, महावैराज साम, ज्येष्ठ सामों में कोई एक, बहिष्पवमान साम, कूष्माण्ड, पावमानी (ऋ० ९) एवं सावित्री (ऋ० ३।६२।१०)। जप-सम्बन्धी मौलिक भावना अत्यन्त आध्यात्मिकतावर्धक थी। उपनिषदों एवं अन्य वचनों के गम्भीर ज्ञान ने आत्मा को पवित्र बनाया, परम तत्त्व को समझने में समर्थ किया और लोगों को यह विदित कराया कि मानव उसी एक दैवी शक्ति की चिनगारी (स्फुलिंग या अभिव्यंजना) है। जप उच्च मनोभूमि पर परमात्मा का ध्यान है और उसकी एकता का प्रयत्न है। पवित्र वचनों के पाठ का अभ्यास परमात्मा की उपस्थिति एवं तत्सम्बन्धी विचार में आत्मा की व्यवस्था या नियमन है। जप के लिए तीन बातें आवश्यक हैं; हृदय (मन) की शुचिता, असंगता (निष्कामता या मोहरहितता) एवं परमात्मा में आत्म-समर्पण।

मनु (११।४६) ने व्यवस्था दी है कि बिना जाने किये गये पाप का मार्जन प्रार्थना के रूप में वैदिक वचनों के जप करने से हो जाता है, किन्तु जो पाप जान-बूझकर किये जाते हैं उनका मार्जन प्रायश्चित्तों से ही होता है।

मनु (२।८५-८७ = वसिष्ठ २६।९-११ = विष्णु० ५५।१०-२१) ने कहा है—"जप का सम्पादन (वेद के) नियमों से व्यवस्थित यज्ञों (दर्शपूर्णमास आदि) से दस-गुना लाभकारी है, **उपांशु**-विधि से किया गया जप (यज्ञों से) सौ गुना अच्छा है और **मानस** जप सहस्र गुना अच्छा है। चारों **पाकयज्ञ** या **महायज्ञ (वैश्वदेव, बलि, आह्निक श्राद्ध** एवं **अतिथि-सम्मान)** वैदिक यज्ञों से मिलकर भी जप के सोलहवें भाग तक नहीं पहुँच पाते। ब्राह्मण जप द्वारा परमोच्च गति को प्राप्त करता है; वह अन्य कर्म (यथा—वैदिक यज्ञ) करे या न करे; ब्राह्मण सभी प्राणियों को मित्र बनाता है (सभी का साहाय्य करता है)।" गायत्री मन्त्र के उपांशु पाठ या जप को बड़ी महत्ता प्राप्त हुई है (ऋ० ३।६२।१०)। देखिए इस ग्रन्थ का खंड २, अध्याय ७। जिस मन्त्र में संख्या-सम्बन्धी कोई निर्देश न हो वहाँ सौ बार जप किया जाता है (प्राय० प्रकाश)।

१. अत्र जपयज्ञं प्रकृत्य नरसिंहपुराणम्। त्रिविधो जपयज्ञः स्यात्तस्य भेदं निबोधत। वाचिकाख्य उपांशुश्च मानसस्त्रिविधः स्मृतः॥ त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरम्॥ अत्र हारीतः। उच्चस्त्वेकगुणः प्रोक्तो ध्यानाद्दशगुणः स्मृतः। उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः॥ स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १४९)।

२. वचनं जपनमिति समानार्थः, यस्मात् जप् व्यक्तायां वाचीति स्मर्यते। तेन यत्र वचनमात्रं मन्त्रस्य क्रियते न स्तूयते नाशास्यते स जपः। शबर (जै० १२।४।१)।

मनु (११।२६१-२६२), वसिष्ठ (२७।१-३), अंगिरा (१०१) आदि का कथन है कि जिस प्रकार अधिक वेगवती अग्नि हरी घास को भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार वेदाध्ययन की अग्नि दुष्कर्मों से प्राप्त अपराध को जला डालती है या वह ब्राह्मण, जो (पढ़े हुए) ऋग्वेद का स्मरण रखता है, अपराध से अछूता रहता है, भले ही उसने तीनों लोकों का नाश कर दिया हो या उसने किसी का भी दिया हुआ भोजन कर लिया हो। किन्तु ये वचन केवल अर्थवाद (प्रशंसामय) हैं और इन्हें गम्भीरता से या शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए, जैसा कि वसिष्ठ (२७।४ = अंगिरा १०२) ने सावधान किया है—"वेद की सामर्थ्य का सहारा लेकर पापकर्म का लाभ नहीं उठाना चाहिए (जैसा कि कुछ स्मृतियों ने कह डाला है), केवल अज्ञान एवं प्रमाद से किये गये दुष्कर्म ही वेदाध्ययन से नष्ट होते हैं न कि अन्य दुष्कर्म (जो जान बूझकर किये जाते हैं)।[3]

बहुत-सी स्मृतियों, यथा—मनु (११।२४९-२५७=विष्णु० ३।७४।४-१३), वसिष्ठ० (२६।५-७ एवं २८।१०-१५), विष्णु० (५६।३-२७), शंख (अध्याय ११ वसिष्ठ० २८।१०-१५), संवर्त (२२७-२२८), बौधा० ध० सू० (४।२।४-५, ४।३।८, ४।४।२-५), याज्ञ० (३।३०२-३०५) ने पापमोचन के लिए कतिपय वैदिक सूक्तों, पृथक्-पृथक् वैदिक मन्त्रों या गद्य-वचनों के पाठ का निर्देश किया है। स्थानाभाव से हम उन्हें यहाँ उद्धृत नहीं करेंगे।

ऋग्वेद के मन्त्रों को इतनी रहस्यात्मक महत्ता प्रदान की गयी है कि शौनक के ऋग्विधान (जो मनुस्मृति के उपरान्त प्रणीत हुआ) ने बहुत-से रोगों, पापों एवं शत्रु-विजय के लिए कतिपय ऋङ्मन्त्रों के जप की व्यवस्था बतलायी है। सामविधान ब्राह्मण (१।५।२) का कथन है कि जहाँ सामान्यतः किन्हीं विशिष्ट वैदिक सूक्तों के पाठ की व्यवस्था न हुई हो, ऐसे स्थल में चाहे जो कोई वैदिक मन्त्र पापों को दूर करने में समर्थ होता है। ऐसे मन्त्र तप के साथ पवित्रीकरण में सहायक होते हैं। इसी प्रकार अभीष्ट उद्देश्य के प्रायश्चित्त के लिए सामों का जप कम-से-कम दस से लेकर सौ बार करना चाहिए। गौतम (१९।१३) ने जप के समय भोजन की व्यवस्था यों दी है—केवल दूध पर रहना, केवल शाक-भाजी खाना, केवल फल खाना, एक मुट्ठी जौ का सत्तू या लपसी खाना, केवल सोना खाना (घृत में कुछ सोना घिसकर खाना), केवल घृत खाना, सोम पीना आदि। गौतम (१९।१४) ने कहा है कि सभी पर्वत, सभी नदियाँ, पवित्र सरोवर, तीर्थ, ऋषियों के आश्रम, गोशालाएँ, देव-मन्दिर पाप के नाशक हैं।

सूत्रकाल में या उसके उपरान्त केवल तीन उच्च वर्णों का पुरुष-वर्ग ही वेदाध्ययन कर सकता था, अतः शूद्रों द्वारा पाप-मोचन के लिए वैदिक वचनों का जप सम्भव नहीं था। इसलिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६२) का कथन है कि यद्यपि शूद्र (एवं स्त्रियों और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न लोगों) को गायत्री एवं अन्य वैदिक मन्त्रों के जप का अधिकार नहीं प्राप्त है, तथापि शूद्र एवं स्त्रियाँ देवता के नाम को सम्प्रदान (चतुर्थी) कारक में रखकर उसका मानस जप कर सकते हैं। शूद्र केवल 'नमो नमः' कह सकता है 'ओम्' आदि नहीं (गौ० १०।६६-६७ एवं याज्ञ० १।१२१)। आप० ध० सू० (१।४।१३।६) के मत से 'ओम्' यह रहस्यात्मक शब्द स्वर्ग का द्वार है और प्रत्येक वैदिक वचन के जप के पूर्व उसका उच्चारण होना चाहिए। योगसूत्र (१।२७) का दृढ़तापूर्वक कथन है कि ओम् (जिसे प्रणव की संज्ञा मिली है) परमात्मा की भावना का द्योतक है और इसके जप तथा मन में इसके अर्थ को रखने से ध्यान बँध जाता है।[4]

३. न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरतिर्भवेत्। अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दह्यते कर्म नेतरम्।। वसिष्ठ (२७।४) एवं अंगिरा (१०२)।

४. ओङ्कारः स्वर्गद्वारं तस्माद् ब्रह्माध्येष्यमाण एतदादि प्रतिपद्येत। आप० ध० सू० (१।४।१३।६); तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगसूत्र (१।२७-२८); वाचस्पति की व्याख्या है--प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते।

जहाँ एक ओर पापमोचन के लिए वैदिक सूक्तों एवं मन्त्रों आदि के जप की व्यवस्था की गयी है, वहीं कुछ अन्य ग्रन्थों ने, विशेषतः पुराणों ने एक अन्य सरल विधि की व्यवस्था की है, यथा भगवान् नारायण (हरि या कृष्ण) के स्मरण से पाप कट जाते हैं। ब्रह्मपुराण (अध्याय १७६) में विष्णु का एक स्तोत्र है, जिसके पाठ से मन, वाणी या देह से किये गये सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है। प्राय० वि० (पृ० ३१) ने भविष्यपुराण से एक एवं विष्णुपुराण से तीन पद्य उद्धृत किये हैं—"बड़ा पाप (महापाप) **अपुनःकरण** से ('फिर ऐसा नहीं करेंगे', इस संकल्प से), दान (त्याग) से, आख्यापन से (दूसरे से कह देने से), (विष्णु के) ध्यान से और प्रायश्चित्त से (भविष्य०) तो दूर हो ही जाता है; किंतु (ऋषियों द्वारा घोषित सभी पापों के) प्रायश्चित्तों, यथा —तप (चान्द्रायण आदि) एवं अन्य कृत्यों (जप, होम, दान) से पाप नाशन के लिए उत्तम कृष्णानुस्मरण है। यदि कोई नारायण को प्रातः, रात्रि, संध्या, मध्याह्न आदि में स्मरण करता है, तो वह उसी क्षण पाप-क्षय प्राप्त कर लेता है (विष्णुपुराण)।"[5] ब्रह्मपुराण (२१६।८७।८८) ने एक सामान्य मान्यता की ओर निर्देश किया है—"मनुष्य मोहसमन्वित होकर कई बार पाप करने पर भी पापहर हरि के समक्ष नत होने पर नरक नहीं जाता। ऐसे लोग भी, जो जनार्दन को शठतापूर्वक स्मरण करते हैं, मृत्यु के उपरान्त विष्णुलोक को चले जाते हैं।"[6] विष्णुपुराण (१।६।३९) का कथन है कि जो लोग द्वादशाक्षर मन्त्र ('ओं नमो भगवते वासुदेवाय') पर ध्यानावस्थ होते हैं या उसका जप करते हैं वे जन्म-मरण के चक्र में पुनः नहीं पड़ते। आदिपर्व (१६१। १४) में कुन्ती ने मन्त्रों की महती शक्ति का उल्लेख किया है। नृसिंहपुराण (अध्याय १८) ने अष्टाक्षर ('ओं नमो नारायणाय') मन्त्र की महिमा गायी है और कहा है (६३।६)—"बहुत-से मन्त्रों के प्रयोग एवं व्रतों के सम्पादन से क्या लाभ है, जब 'ओं नमो नारायणाय' नामक मन्त्र सभी सिद्धियों एवं इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ है।" लिंग-पुराण (पूर्वार्ध, अध्याय ८५) एवं सौरपुराण (६५) में पंचाक्षर मन्त्र (नमः शिवाय) की महत्ता का वर्णन है। ब्रह्म-पुराण (४१।६३) ने वैदिक मन्त्रों एवं **आगमोक्त** मन्त्रों के विषय में कहा है। नित्याचारपद्धति (पृ० ६७) का कथन है कि श्रौत कृत्यों में वैदिक मन्त्रों को समझने की आवश्यकता पड़ती हैं किन्तु स्मार्त कृत्यों में ऐसी बात नहीं है।

दान—गौतम (१९।१६) का कथन है कि सोना, गौ, परिधान, घोड़ा, भूमि, तिल, घृत एवं अन्न ऐसे दान हैं जो पाप का क्षय करते हैं, विकल्प से इनका उपयोग करना चाहिए यदि कोई स्पष्ट उल्लेख न हो। वसिष्ठ ने दान के विषय में कई वचन उद्धृत किये हैं, जिनमें एक ऐसा है—"जीविकावृत्ति को लेकर अर्थात् वृत्ति या भरण-पोषण से परेशान होकर जब मनुष्य कोई पाप कर बैठता है तो वह गोचर्म के बराबर भूमि भी देकर पवित्र हो सकता है।"[7] यही

५. भविष्यपुराणम्। अपुनःकरणात्त्यागात्ख्यापनादनुचिन्तनात्। व्यपैति महदप्येनः प्रायश्चित्तैर्न केवलम्॥ विष्णुपुराण। प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै। यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥ प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्। नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयं नरः॥ प्राय० वि० (पृ० ३१)। 'प्रायश्चि० ...परम्' विष्णु० का ११।६।३९ पद्य है। और देखिए ब्रह्मपुराण (२२।३७ एवं ३९), अपरार्क (पृ १२३२) एवं प्राय० तत्त्व (पृ० ५२४)।

६. कृत्वापि बहुशः पापं नरा मोहसमन्विताः। न यान्ति नरकं नत्वा सर्वपापहरं हरिम्॥ शाठ्येनापि नरा नित्यं ये स्मरन्ति जनार्दनम्। तेपि यान्ति तनुं त्यक्त्वा विष्णुलोकमनामयम्॥ ब्रह्मपुराण (२१६।८७-८८); अद्यापि न निवर्तन्ते द्वादशाक्षरचिन्तकाः। विष्णुपुराण (१।६।३९)।

७. हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिला घृतमन्नमिति देयानि। एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन्। गौ०

बात विष्णु० (९२।४) ने भी कही है। संवर्त (२०४) में आया है कि सोने, गाय, भूमि का दान इस जन्म एवं अन्य जन्मों में किये गये पापों को काट देता है।[८] मेधातिथि (९।१३९) ने कहा है कि हिंसा करने से जो पाप होते हैं उनके प्रायश्चित्तों के लिए व्यवस्थित उपायों में दान प्रमुख है। दान के विषय में हमने इस ग्रन्थ के खंड २, अध्याय २५ में विस्तार के साथ पढ़ लिया है। दो-एक बातें और दे दी जा रही हैं। बहुत-से शिलालेखों एवं ताम्रपत्रकों में जो भूमिदानों एवं ग्राम-दानों का वर्णन है उसमें यह लक्षित है कि दाताओं ने अपने एवं अपने माता-पिता के उत्तम फल अथवा उनके पुण्यों की वृद्धि के लिए ये दान किये हैं (एपि० इण्डिका, जिल्द ९, पृ० २१९, पृ० २२१)। बृहस्पति (मदनरत्न, व्यवहार, पृ० ६६) ने व्यवस्था दी है कि राजा को भूमि-दानपत्रकों में यह लिखित करा देना चाहिए कि उसने यह दान अपने एवं अपने माता-पिता के पुण्य के लिए किया है।[९] राजतरंगिणी (१।१४३) ने विहारों की स्थापना की ओर संकेत किया है।

उपवास---उपवास करने का वास्तविक अर्थ है अन्न-जल का पूर्ण त्याग, किन्तु साधारणतः इसका अर्थ है थोड़ी मात्रा में हलका भोजन (जो भोज्य पदार्थ के स्वभाव पर भी निर्भर है) करना। तै० सं० (१।६।७।३-४) में दशपूर्णमास-इष्टि के दिनों के व्रत की तीन विधियाँ वर्णित हैं, यथा---ग्राम में प्राप्त भोजन पर ही रहना या वन-भोजन करना या कुछ न खाना। गौतम (१९।११) ने उपवास को पापमोचन की कई विधियों में रखा है। उसके अनुसार तप भी एक साधन है। किन्तु गौतम ने एक स्थान (१९।१६) पर उपवास (या **अनाशक**) को 'तपांसि' अर्थात् तपों में रखा है। हरदत्त (गौतम १९।११) ने उपवास को भक्त (भात या पके हुए चावल) के त्याग के अर्थ में लिया है, और कहा है कि उपवास एक बार पुनः 'तपांसि' के अन्तर्गत इसलिए रखा गया है कि इसकी बड़ी महत्ता है। हरदत्त ने लिखा है कि उनके एक पूर्ववर्ती लेखक ने उपवास को 'इन्द्रिय-निग्रह' के अर्थ में लिया है। गृह्यसूत्रों में उपवास का अथ है यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले अनाज से बने भोजन का दिन में केवल एक बार हलका प्रयोग, किन्तु उसके साथ शाक, माष (दाल), नमक एवं मांस का प्रयोग मना है (गोभिल० १।५।२६; खादिर० २।१।४ एवं ६; कौशिकसूत्र १।३१, ३२; काठक० ४६।२)। बृहदा० उप० (४।४।२२) ने **अनाशक** (उपवास) को **तप** से संयुक्त कर कहा है कि यह परमात्मा की अनुभूति के लिए साधन-स्वरूप है। जैमिनि (३।८।९-११) ने उपवास को तप माना है। मनु (११।२०३=विष्णु० ५४।२९) का कथन है कि एक दिन का उपवास वेदव्यवस्थित कृत्यों (यथा दर्शपूर्णमास यज्ञ या सन्ध्या-वन्दन) को छोड़ देने एवं स्नातक के विशिष्ट कर्मों को प्रमाद से छोड़ देने पर प्रायश्चित्त रूप में किया जाता है (मनु ४।३४)। उपवास करते समय कई कर्म छोड़ देने पड़ते हैं। बार-बार पानी पीने से उपवास का फल जाता रहता है, इसी प्रकार पान (ताम्बूल) खाने, दिन में सोने एवं संभोग से इसका फल नष्ट हो जाता है (देवल, अपरार्क पृ० १९९, स्मृतिच० २, पृ० ३५५) किन्तु गरुड़पुराण (१।१२८।६) एवं भविष्यपुराण (१।१८४।२७) ने उपवास के समय

(१९।१६ एवं १८); अथाप्युदाहरन्ति। यत्किंचित्कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः। अपि गोचर्ममात्रेण भूमिदानेन शुध्यति॥ वसिष्ठ० (२९।१६)। 'गोचर्म' के अर्थ के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खंड ३, अध्याय १६।

८. सुवर्णदानं गोदानं भूमिदानं तथैव च। नाशयन्त्याशु पापानि अन्यजन्मकृतान्यपि॥ संवर्त (२०४, प्राय० तत्त्व पृ० ४८३)। हिंसायां दानमेव मुख्यमित्युक्तं भविष्ये। हिंसात्मकानां सर्वेषां कीर्तितानां मनीषिभिः। प्रायश्चित्तकदम्बानां दानं प्रथममुच्यते॥ प्राय० प्र०।

९. दत्त्वा भूम्यादिकं राजा ताम्रपट्टे पटेऽथवा। शासनं कारयेद्धर्म्यं स्थानवंश्यादिसंयुतम्॥ मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यायामुकसूनवे। दत्तं मयामुकायाद्य दानं सब्रह्मचारिणे॥ बृहस्पति (मदनरत्न, व्यवहार, पृ० ६६)।

पुष्पों, आभूषणों, भड़कीले परिधानों, मालाओं, अंजनों, चन्दन-लेप, दन्तमंजन के सेवन की अनुमति दी है। दक्ष (परा० मा०, ३१, पृ० ४३८) का कथन है कि जब कोई व्यक्ति सूर्य के उत्तरायण या दक्षिणायन होने के दिन या विषुव के दिन (जब रात और दिन बराबर होते हैं) या सूर्य-ग्रहण या चन्द्र ग्रहण के समय रात और दिन उपवास करता है और स्नान करता है तो वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है।[10]

मनु (११।१६६=अग्नि० १६९।३१) ने घास, ईंधन, वृक्ष, सूखे भोज्य पदार्थ (चावल आदि), वस्त्र, खाल एवं मांस की चोरी के प्रायश्चित्त के लिए तीन दिनों का उपवास निर्धारित किया है। अनुशासनपर्व (१०६।१) ने कहा है कि सभी वर्णों के लोगों ने एवं म्लेच्छों ने उपवास की महत्ता गायी है। सभी धर्मों (पारसियों को छोड़कर) ने, यथा—हिब्रू, ईसाई (लेण्ट में) एवं मुस्लिम (रमजान में) ने अपने मन के नियन्त्रण एवं प्रायश्चित्त के लिए उपवास की महत्ता समझी है। भविष्य० (१, अध्याय १६।१२-१४) का कथन है कि अग्निहोत्र न करनेवाले लोग व्रतों, निग्रहों, दानों और विशेषतः उपवासों द्वारा देवों को प्रसन्न रख सकते हैं; इसने प्रतिपदा से १५वीं तिथि तक के भोज्य पदार्थों के नाम गिनाये हैं (श्लोक १८–२२)। शत० ब्रा० तथा श्रौत एवं गृह्य सूत्रों में **उपवसथ** शब्द उपवास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (उप+वस्)। आप० ध० सू० (२।१।१।४-५) ने पति-पत्नी के लिए पर्व के दिन उपवास की व्यवस्था दी है और कहा है कि यदि वे बिना खाये न रह सकें तो दिन में केवल एक बार उपवास के योग्य पदार्थ ग्रहण कर सकते हैं। अपरार्क (पृ० १९९), स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ३५५), कृत्यरत्नाकर ने व्यास को उदधृत कर 'उपवास' की व्युत्पत्ति बतायी है।[11] आप० ध० सू० (२।५।९-१३), बौधा० ध० सू० (२।७।३२), वसिष्ठ० (६।२१), शांखायनगृह्य० (२।१६।५) में एक वाक्य है, यथा—'आहिताग्नि, गाड़ी का बैल एवं ब्रह्मचारी—ये अपना कार्य खाकर करते हैं, वे बिना खाये अपने कर्तव्यों का सम्पादन नहीं कर सकते।' यह कथन प्रायश्चित्तों एवं एकादशी के उपवासों में नहीं प्रयुक्त होता (आप० ध० सू० २।७।३४)। शान्तिपर्व (३२३। १७) का कथन है—"जिस प्रकार गन्दा वस्त्र आगे चलकर जल से धो लिया जाता है उसी प्रकार उपवास की अग्नि में तपाये गये व्यक्ति के पास समाप्त न होनेवाला आनन्द आ जाता है।" शान्तिपर्व में एक स्थान (७९।१८) पर और आया है—"उपवास से शरीर को दुर्बल कर देना तप नहीं है, प्रत्युत अहिंसा, सत्य-वचन, अनिर्दयता, निग्रह एवं कृपा ही तप के द्योतक हैं।"

तीर्थयात्रा—ऐसा विश्वास था कि तीर्थयात्रा करने एवं पवित्र नदियों (यथा गंगा) में स्नान करने से मनुष्य के पाप कटते हैं। विष्णु० (३५।६) में आया है कि महापातकी लोग अश्वमेध से या पृथ्वी पर पवित्र स्थानों की यात्रा करने से पवित्र हो जाते हैं। देवल ने कहा है कि यज्ञों के सम्पादन या तीर्थों की यात्रा द्वारा जान-बूझकर न की गयी ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्ति मिल सकती है। पराशर (१२।५८) का कथन है कि चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की हत्या करनेवाले को सेतुबन्ध (रामेश्वर) जाना चाहिए।[12] देवल का कथन है—"व्यक्ति तीर्थस्थानों एवं देवमन्दिरों में जाने

१०. अयने विषुवे चैव चन्द्रसूर्यग्रहे तथा। अहोरात्रोषितः स्नात्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ दक्ष (परा० मा० १, १, पृ० ४३८)। विषुव के समय रात और दिन बराबर होते हैं।

११. 'उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह। उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः॥ अपरार्क, पृ० १९९। 'गुणैः' का अर्थ है 'क्षमादिभिः' एवं 'वासः' का अर्थ है 'नियमेनावस्थानम्'।

१२. चातुर्विद्योपपन्ने तु निधने ब्रह्मघातके। समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्॥ पराशर (१२।५८, अपरार्क, पृ० १०६१; प्राय० वि० पृ० ४५)। प्रायश्चित्तप्रकाश ने कहा है—"ब्रह्महत्याव्रतमुपक्रम्य भविष्यपुराणे;

से एवं तपस्वी ब्राह्मणों के दर्शनों से पाप-मुक्त हो जाता है, और समुद्र में मिलनेवाली नदियाँ, सभी महान् पर्वत, मन्दिर एवं वन पवित्र हैं।" मत्स्यपुराण (१८४।१८) ने कहा है कि मेरु या मन्दर नामक पर्वत से भी भारी पाप की गठरी अवि-मुक्त (वाराणसी) में पहुँचने से कट जाती है। कूर्मपुराण (पूर्वार्ध, २९।३) का कथन है—"मैं कलियुग में सभी जीवों के पापों के नाश के लिए वाराणसी से बढ़कर कोई अन्य प्रायश्चित्त नहीं देखता।"[13] पेशवाओं के राज्य काल में भी ब्रह्म-हत्या के लिए तीर्थयात्रा की व्यवस्था थी और यह कहा गया था कि इस प्रायश्चित्त के उपरान्त ब्राह्मणों को हत्यारे के साथ भोजन करना चाहिए और उसे पवित्र समझना चाहिए (सेलेक्शन फ्राम पेशवा रेकर्ड्स, जिल्द ४३, पृ० १०७)। और देखिए राजवाड़े खण्ड (६, पत्र ११३, पृ० २२५)। स्मृत्यर्थसार (पृ० १४९-१५०) में आया है कि पुराणों से पता चलता है कि ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव जैसे देवों; भृगु, वसिष्ठ एवं विश्वामित्र जैसे महान् ऋषियों; हरिश्चन्द्र, नल एवं सगर जैसे राजाओं ने तीर्थों द्वारा ही इतनी महत्ता प्राप्त की; पाण्डवों, कृष्ण ने तथा नारद, व्यास आदि ऋषियों ने राज्य-प्राप्ति एवं पापमोचन के लिए तीर्थयात्राएँ की थीं। हम तीर्थों के विषय में अलग से एक विभाग में लिखेंगे।

विन्ध्यावुत्तरतो यस्य निवासः परिकीर्तितः। पराशरमतं तस्य सेतुबन्धस्य दर्शनम्॥ इति। ....अत्र च विन्ध्योत्तर-वर्तिनः षष्ट्यधिकशतत्रययोजनगमनेन तावत्संख्याकप्राजापत्यापनोद्यब्रह्महत्यापनोदोक्तेस्तीर्थानुकूलैकैकयोजनगमन-स्यैकैकप्राजापत्यतुल्यत्वमर्थादुक्तं भवति।"

१३. नान्यत्पश्यामि जन्तूनां मुक्त्वा वाराणसीं पुरीम्। सर्वपापप्रशमनं प्रायश्चित्तं कलौ युगे॥ कूर्मपुराण (पूर्वार्ध, २९।३, परा० मा० २, २, पृ० १६२)। अभिसंगम्य तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च। नरः पापात्प्रमुच्येत ब्राह्मणांश्च तपस्विनः॥ सर्वाः समुद्रगाः पुण्याः सर्वे पुण्या नगोत्तमाः। सर्वमायतनं पुण्यं सर्वे पुण्या वनाश्रयाः॥ देवल (परा० मा० २।२, पृ० २०१; प्रा० प्रकाश)।

अध्याय ३

प्रायश्चित्त; इसका उद्भव, व्युत्पत्ति एवं अर्थ

वैदिक साहित्य में दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं; **प्रायश्चित्ति** एवं **प्रायश्चित्त** और दोनों का अर्थ भी वहाँ एक ही है, यद्यपि **प्रायश्चित्ति** अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन लगता है। तैत्तिरीय संहिता (२।१।२।४, २।१।४।१, ३।१।३।२-३, ५।१।९।३ एवं ५।३।१२।१) में **प्रायश्चित्ति** शब्द बार-बार आया है। यहाँ पाप का प्रश्न नहीं उठाया गया है।[1] इस शब्द का अर्थ है 'कोई ऐसा कार्य करना जिससे किसी अचानक घटित घटना या अनर्थ (अनिष्ट) का मार्जन हो जाय, यथा—**उखा** (उबालने या पकाने के पात्र) का टूट जाना या सूर्य की दीप्ति का घट जाना।' तै० सं० (५।३।१२।१) में यह शब्द पाप के प्रायश्चित्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। स्पष्ट है, अति प्राचीन ग्रन्थों में इस शब्द के अर्थ के दो रूप थे। कौषीतकि ब्रा० (६।१२) में आया है—"लोगों का कथन है कि जो कुछ यज्ञ में त्रुटि या अतिरेक घटित होता है उसका प्रभाव **ब्रह्मा** पुरोहित पर पड़ता है और वह तीन वेदों से उसका मार्जन करता है या ठीक करता है।"[2] यह शब्द अथर्ववेद (१४।१।३०), वाज० सं० (३९।१२, **निष्कृति** से मिलता-जुलता), ऐत० ब्रा० (५।२७), शत० ब्रा० (४।५।७।१, ७।१।४।९, ९।५।३।८ एवं १२।५।१।६) आदि में भी आया है। **प्रायश्चित्त** शब्द कौषीतकि ब्रा० (५।९।६।१२) में और अन्यत्र भी आया है। आश्व० श्रौ० (३।१०।३८) एवं शांखा० श्रौ० (३।१९।१) में क्रम से **प्रायश्चित्ति** एवं **प्रायश्चित्त** शब्द आये हैं।[3] पारस्कर गृह्य० (१।१०) में **प्रायश्चित्ति** का प्रयोग हुआ है। जैमिनि में कई स्थानों (६।३।७, ६।४।१०, ६।५।४५ एवं १२।३।१६) पर प्रायश्चित्त शब्द आया है। शबर ने इनमें से अन्तिम सूत्र की (जै० १२।३।१६) व्याख्या करते हुए प्रायश्चित्त के दो प्रकार व्यक्त किये हैं—(१) यज्ञ की विधि में प्रमाद से या यज्ञोपकरण के गिरने से जो गड़बड़ी होती है उसके कुप्रभाव को सुधारने के लिए कुछ का प्रयोग होता है तथा (२) कुछ का प्रयोग किसी कृत्य के सहायक भागों के रूप में, अर्थात् उनका प्रयोग कभी इसलिए होता है कि व्यक्ति ने जो व्यव-

१. असावादित्यो न व्यरोचत तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तै० सं० (२।१।२।४ एवं २।१।४।१); यदि भिद्येत तैरेव कपालैः संसृजेत्सैव ततः प्रायश्चित्तिः। तै० सं० (५।१।९।३); एष वै प्रजापतिं सर्वं करोति योऽश्वमेधेन यजते सर्व एव भवति सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजम्। तै० सं० (५।३।१२।१)।

२. यद्वै यज्ञस्य स्खलितं वोल्बणं वा भवति ब्रह्मण एव तत्प्राहुस्तस्य त्रय्या विद्यया भिषज्यति। कौषीतकि ब्रा० (६।१२)।

३. विध्यपराधे प्रायश्चित्तिः। आश्व० श्रौ० (३।१०); विध्यपराधे प्रायश्चित्तम्। अर्थलोपे प्रतिनिधिः। शां० श्रौ० (३।१९।१); विध्यपराधे प्रायश्चित्तं दोषनिघातार्थं विधीयतेऽनाज्ञाते विशेषे ध्यानं नारायणस्य तज्जपेज्या-होमाश्च हननार्थमिति। वैखानसश्रौतसूत्र (२०।१)। नारायण की टीका में आश्व० श्रौ० (३।१०) की व्याख्या यों है—"विहितस्याकरणेऽन्यथाकरणे च प्रायश्चित्तिः कर्त्तव्या। प्रायो विनाशः चित्तिः सन्धानम्। विनष्टसंधानं प्राय-श्चित्तिरित्युक्तं भवति।"

स्थित कृत्य नहीं किया है उसका समाधान हो जाय या व्यक्ति ने जो निषिद्ध कार्य किया है उसका मोचन हो जाय (यथा सूर्योदय हो जाने के उपरान्त भी यदि दैनिक अग्निहोत्र न किया जाय तब)। शत० ब्रा० (१२।४) एवं ऐत० ब्रा० (३२।३-११) ने प्रायश्चित्त के लिए कुछ मनोरंजक दृष्टान्त दिये हैं, यथा -- जब कोई दुष्ट शूकर, भेड़ या कुत्ता यज्ञिय अग्नियों के बीच से चला जाय, या जब गाय दुहते समय अग्निहोत्र-दुग्ध गिर जाय, या जब दुग्ध-पात्र मुख के बल उलट जाय या वह टूट जानेवाला रहा हो, या दुही जाते समय गाय बैठ जानेवाली रही हो, या जब प्रथम आहुति के उपरान्त ही अग्नि बुझ जानेवाली रही हो, आदि आदि। और देखिए इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों के लिए मानव गृ० (१।३), हिरण्यकेशि गृ० (१।५।१-१६), भारद्वाज गृ० (२।३२), कौशिकसूत्र (४६।१४-५५), आश्व० श्रौ० (३।१०) एवं आश्व० गृ० (३।६-७)। मीमांसा के शब्दों में प्रायश्चित्त या तो **क्रत्वर्थ** है या **पुरुषार्थ**। प्रथम प्रकार की व्यवस्था श्रौतसूत्रों में है। दूसरे प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन स्मृतियों में हुआ है। हम यहाँ **पुरुषार्थ** प्रायश्चित्तों का ही वर्णन करेंगे, क्योंकि प्रथम प्रकार के प्रायश्चित्तों की ओर संकेत इस ग्रन्थ के खंड २ में हो चुका है, और वे प्राचीन काल में भी बहुत कम प्रयोजित होते थे।

अधिकांश निबन्धों एवं टीकाओं ने **प्रायश्चित** की व्युत्पत्ति **प्रायः** (अर्थात **तप**) एवं **चित्त** (अर्थात संकल्प या दृढ विश्वास) से की है। इसका तात्पर्य यह है कि इसका सम्बन्ध तप करने के संकल्प से है या इस विश्वास से है कि इससे पापमोचन होगा।[४] कुछ अन्य लेखकों ने अन्य व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। बालम्भट्टी[५] (याज्ञ० ३।२०६) के मत से 'प्रायः' का अर्थ है 'पाप' और 'चित्त' का 'शोधन' या शुद्धीकरण (पक्षधर मिश्र, भक्तूपाध्याय एवं टोडरानन्द ने इसे उद्धृत किया है, किन्तु परा० मा० पृ० २ ने इस उद्धरण के मूल को अप्रामाणिक माना है। हेमाद्रि ने भी एक अज्ञात भाष्यकार की व्याख्या की ओर संकेत किया है; 'प्रायः' का अर्थ है 'विनाश' और 'चित्त' का अर्थ है 'संधान' (एक साथ जोड़ना) अतः 'प्रायश्चित्त' का अर्थ हुआ 'जो नष्ट हो गया है उसकी पूर्ति', अतः यह पाप क्षय के लिए **नैमित्तिक** कार्य हुआ।[६]

पराशरमाधवीय ने एक स्मृति का उल्लेख करके कहा है कि वह प्रायश्चित्त है जिसके द्वारा अनुताप (पश्चात्ताप) करने वाले पापी का **चित्त** (मन) सामान्यतः (प्रायशः) पर्षद् (विद्वान् ब्राह्मणों की परिषद् या सभा) द्वारा विषम के स्थान पर सम कर दिया जाता है अर्थात् साधारण स्थिति में कर दिया जाता है।[७] सामविधान की टीका में सायण ने एक अन्य व्युत्पत्ति दी है; 'प्रायः' शब्द 'प्र' एवं 'अयः' से बना है, और इसका अर्थ है जो विहित है उसके न सम्पा-

४. प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ अंगिरा (हरदत्त, गौ० २२।१; प्रायश्चित्तविवेक पृ० २)।

५. तदुक्तम्। प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्। इति। चतुर्विंशतिमतेऽप्येवम्। तथा पापनिवर्तनक्षमधर्मविशेषे योगरूढोऽयं शब्द इति तत्त्वम्। बालम्भट्टी (याज्ञ० ३।२०६)।

६. यत्तु पक्षधरमिश्रभक्तूपाध्यायटोडरानन्दकृतः—प्रायः पापं विजानीयाच्चित्तं तस्य विशोधनमिति च पेठुस्तत्राकरश्चिन्त्यः। प्राय० म० (पृ० २); भाष्यकारस्तु प्रायो विनाशः चित्तं सन्धानं विनष्टस्य सन्धानमिति विभागयोगेन प्रायश्चित्तशब्दः पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे वर्तते। हेमाद्रि (प्रायश्चित्त, पृ० ९८९)।

७. प्रायशश्च समं चित्तं चारयित्वा प्रदीयते। पर्षदा कार्यते यत्तु प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ पापिनोनुतापिनश्च चित्तं व्याकुलं सद् विषमं भवति तच्च पर्षदा येन व्रतानुष्ठानेन प्रायशोऽवश्यं समं कार्यते तद् व्रतं प्रायश्चित्तम्। व्रतं चारयित्वा चित्तवैषम्यनिमित्तं पापं प्रदीयते खण्ड्यते विनाश्यते इत्यर्थः। परा० मा० (२, भाग १, पृ० ३)।

दन करने की घटना या जानकारी, और 'चित्त' का अर्थ है 'ज्ञान', अतः किसी विशिष्ट घटना की जानकारी के उपरान्त धार्मिक कृत्यों का पालन प्रायश्चित्त है।[8] प्राय० वि० (पृ० ३) एवं प्राय० तत्त्व (पृ० ४६७) ने हारीत को उद्धृत कर एक अन्य व्युत्पत्ति दी है—प्रयत (पवित्र) + चित (संगृहीत), जिसके अनुसार 'प्रायश्चित्त' का अर्थ है ऐसे कार्य यथा—तप, दान एवं यज्ञ जिनसे व्यक्ति प्रयत (पवित्र) हो जाता है और अपने एकत्र पापों (चित = उपचित) का नाश कर देता है; जिस प्रकार कि वस्त्र नमक (क्षार), उपस्वेद (गर्मी, उष्णता) तथा खौलते पानी में डालने एवं जल से धोने से स्वच्छ हो जाता है।[9] अतः जैसा कि मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२०) का कथन है, 'प्रायश्चित्त' शब्द रूढ रूप से उस कर्म या कृत्य का द्योतक है जिसे **नैमित्तिक** कहा जाता है, अर्थात् इसका उपयोग तभी होता है जब कि उसके लिए कोई अवसर आता है; यह पाप-नाश के लिए भी प्रयुक्त होता है अतः यह **काम्य** भी है।[10] बृहस्पति ने प्रायश्चित्त को **नैमित्तक** कर्म माना है। देखिए परा० मा० (२, भाग १, पृ० ७) एवं बालम्भट्टी (याज्ञ० ।२०६)।[11] ज़ाबाल (प्राय० प्र०) के मत से प्रायश्चित्त का सम्बन्ध **नैमित्तिक** एवं **काम्य** दोनों कर्मों से है।

बृहस्पति आदि ने पापों के दो प्रकार दिये हैं; **कामकृत** (अर्थात् जो जान-बूझकर किया जाय) तथा **अकामकृत** (अर्थात् जो यों ही बिना जाने-बूझे हो जाय)। कामकृत पापों को प्रायश्चित्तों द्वारा नष्ट किया जा सकता है कि नहीं, इस विषय में प्राचीन काल से ही प्रभूत मतभेद रहा है। मनु (११।४५) एवं याज्ञ० (३।२२६) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अनजान में किये गये पापों का नाश प्रायश्चित्तों अथवा वेदाध्ययन से किया जा सकता है। अब प्रश्न है जान-बूझ कर किये गये पापों के विषय में। गौतम (१९।३-६ = वसिष्ठ०२२।२-५) ने दो मत दिये हैं, जिनमें से एक में कहा गया है कि दुष्कृत्यों के लिए प्रायश्चित्त नहीं किये जाने चाहिए, क्योंकि उनका नाश नहीं होता (उनके फलों के भोग से ही उनका नाश सम्भव है); किन्तु दूसरे मत में कहा गया है कि पाप के प्रभावों (फलों) को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त का सम्पादन होना चाहिए। दूसरे मत का आधार चार वैदिक उक्तियों में पाया जाता है। प्रथम यह है—"कोई व्यक्ति **पुनःस्तोम** के सम्पादन-उपरान्त पुनः सोमयज्ञ में आ सकता है (अर्थात् वह सामान्य वैदिक कृत्य कर सकता है)।" दूसरी उक्ति यह है—"**व्रात्यस्तोम** करने के उपरान्त (व्यक्ति वैदिक यज्ञों के सम्पादन के योग्य हो जाता है)।" तीसरी यह है—"जो व्यक्ति अश्वमेध करता है वह सब पापों को पार कर जाता है, और ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता

८. अयं अयः प्राप्तिः। प्रकर्षेणायः प्रायः। विहितधर्माकरणस्य प्राप्तिरित्यर्थः। तत्प्रकारविषयं चित्तं चित्तिर्ज्ञानम्। तत्पूर्वकानुष्ठानानि प्रायश्चित्तानि। सायण (सामविधान ब्रा० १।५।१)।

९. तत्र हारीतः। प्रयतत्वादोपचितमशुभं कर्म नाशयतीति प्रायश्चित्तमिति। यत्तपःप्रभृतिकं कर्म उपचितं संचितमशुभं पापं नाशयतीति। कृततत्कर्मभिः कर्तुः प्रयतत्वाद्वा। शुद्धत्वादेव तत्प्रायश्चित्तम्। तथा च पुनर्हारीतः। यथा क्षारोपस्वेदचण्डनिर्णोदनप्रक्षालनादिभिर्वासांसि शुध्यन्ति एवं तपोदानयज्ञैः पापकृतः शुद्धिमुपयन्ति। प्राय० तत्त्व (पृ० ४६७); और देखिए प्राय० वि० (पृ० ३), मदनपारिजात (पृ० ७०३) एवं प्रा० प्र०।

१०. प्रायश्चित्तशब्दश्चायं पापक्षयार्थे नैमित्तिके कर्मविशेषे रूढः। मिता० (३।२२०), स्मृतिमुक्ताफल (प्रायश्चित्त, पृ० ८५९; पराशरमाधवीय २।१, पृ० ३)।

११. कर्म के तीन प्रकार हैं—नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। नित्य वह है जो प्रति दिन किया जाता है, यथा—सन्ध्या-वन्दन, और जिसके न करने से पाप लगता है। नैमित्तिक वह है जो विशेष अवसर पर किया जाता है, यथा—ग्रहण के समय स्नान। काम्य वह है जो किसी इच्छा की पूर्ति के लिए सम्पादित होता है, यथा—पुत्र के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ।

है।" और चौथी उक्ति यह है--"जो दूसरों पर महापातक मढ़ता है, वह अग्निष्टुत् करता है।" वसिष्ठ (२०।१-२) ने प्रायश्चित्तों की सामर्थ्य के विषय में उपर्युक्त दो मतों को व्यक्त किया है।[१२] मनु (११।४५) का कथन है कि कुछ लोगों के मतानुसार वेदों के संकेत से जान-बूझकर किये गये पापों के शमनार्थ प्रायश्चित्त किये जा सकते हैं। ऐंसा नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त श्रुतिवचन केवल **अर्थवाद** (अर्थात् प्रशंसा या स्तुति के वचन मात्र) हैं। ऐसा समझना चाहिए कि इन वचनों से यह व्यक्त होता है कि पाप-मोचन के लिए अश्वमेध एवं अन्य उल्लिखित यज्ञ किये जाने चाहिए। इस विषय में 'रात्रिसत्र' न्याय चरितार्थ होता है (जै० ४।३।१७-१९)। कुछ सत्र (बारह वर्षों से भी अधिक अवधियों तक चलने वाले यज्ञ) प्रसिद्ध हैं, यथा--त्रयोदश-रात्र, चतुर्दश-रात्र आदि। इन्हें **रात्रिसत्र** कहा जाता है। इनके विषय में वैदिक वचन यह है--"जो रात्रिसत्र सम्पादित करते हैं वे स्थिरता (दीर्घजीवन या अलौकिक महत्ता) प्राप्त करते हैं।" इनके सम्पादन के सिलसिले में किसी फल-विशेष का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः इस वचन में प्रयुक्त 'प्रतिष्ठा' या स्थिरता को ही रात्रिसत्रों के सम्पादन का फल या प्रयोजन समझना चाहिए (जै० ४।३।१५-१६)। यही बात याज्ञ० (३।२२६) के इस वचन के विषय में भी लागू है; 'प्रायश्चित्तों से पापमोचन होता है।' मेधातिथि ने तैत्ति० सं० (६।२।७।५), काठक सं० (८।५) एवं ऐत० ब्रा० (३५।२) में वर्णित गाथा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है; "इन्द्र ने यतियों को शालावृकों (कुत्तों या भेड़ियों) को अर्पित कर दिया और उसे उस पाप से मुक्ति पाने के लिए **उपहव्य** नामक कृत्य करना पड़ा।" मनु (११।४६) ने अपना मत भी दिया है कि अनजान में किये गये पापों का शमन वेदवचनों के पाठ से होता है और जान-बूझकर किये गये पाप विभिन्न प्रायश्चित्तों से ही नष्ट किये जाते हैं।

याज्ञ० (३।२२६) का कथन है कि प्रायश्चित्त जान-बूझकर किये गये पापों को नष्ट नहीं करते, किन्तु पापी प्रायश्चित्त कर लेने से (प्रायश्चित्तों के विषय में कही गयी व्यवस्थित उक्तियों के कारण) अन्य लोगों के संसर्ग में आ जाने के योग्य हो जाता है। लगता है, याज्ञवल्क्य के कहने का तात्पर्य यह है कि जान-बूझकर अर्थात् ज्ञानपूर्वक किये गये पापों के फलों (नरक आदि) से मुक्ति नहीं मिलती। यही बात मनु (११।१८९) के इस कथन से भी झलकती है --'प्रायश्चित्त न करनेवाले पापियों से सामाजिक सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।' याज्ञ० (३।२२०) ने व्यवस्था दी है कि पातकी को अपनी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए ; इस प्रकार (जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है) उसकी अन्तरात्मा पूर्व स्थिति को प्राप्त कर लेती है और अन्य लोग भी प्रसन्न हो जाते हैं। अतः स्मृतियों में उल्लिखित प्रायश्चित्त-उद्देश्य संक्षेप में निम्न हैं---शुद्धीकरण, पापी के मन को सन्तोष एवं लोगों से संसर्ग-स्थापन। छागलेय (मदनपारिजात, पृ० ७०५, परा० मा० २, भाग १, पृ० २०१) का कथन है कि अनजान में किये गये पापों के फलों से ही प्रायश्चित्तों द्वारा छुटकारा मिलता है, जान-बूझकर किये गये पापों (उपपातकों, आत्महत्या या आत्महत्या करने के प्रयत्न के पापों को छोड़कर) के फलों से मुक्ति पाने के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। परा० मा० (२, भाग १, पृ० २००-२०१) ने जाबाल के एक पद्य एवं देवल के दो पद्यों को उद्धृत कर प्रायश्चित्त की सामर्थ्य के विषय में दो मत प्रकाशित किये हैं और इस विषय में बौधायनस्मृति के मत का भी उल्लेख किया है; ज्ञानपूर्वक किये गये पापों के लिए प्रायश्चित्त नहीं है और अंगिरा ने इसके लिए दूने प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। अंगिरा का यह भी कथन है कि वर्जित कार्य करने से उत्पन्न पापों को प्रायश्चित्त उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार अन्धकार को उगता हुआ सूर्य नष्ट कर देता है। मनु (११।४७) का कहना है--"जो द्विज पूर्वजन्म के कारण अथवा इस जन्म में

१२. अनभिसन्धिकृते प्रायश्चित्तमपराधे। अभिसन्धिकृतेप्येके। वसिष्ठ० (२०।१-२)।

भाग्य के कारण कोई पाप कृत्य-करता है और प्रायश्चित्त-सम्पादन का भागी हो जाता है, तो वह जब तक प्रायश्चित्त नहीं कर लेता तब तक सुधी जनों के सम्पर्क में उसे नहीं ही जाना चाहिए।" आप० ध० सू० (१।९।२४।२४-२५) ने व्यवस्था दी है—"यदि कोई व्यक्ति गुरु (पिता, वेद-शिक्षक आदि) को या उस ब्राह्मण को, जो वेदज्ञ है और जिसने सोमयज्ञ समाप्त कर लिया है, मार डालता है, तो उसे मृत्यु पर्यन्त इन नियमों (आप० ध० सू० १।९।२४।१०-३२) के अनुसार चलना चाहिए। वह इस जीवन में इस दुष्कृत्य के पाप से मुक्ति नहीं पा सकता। किन्तु उसका पाप उसकी मृत्यु पर कट जाता है।" इससे प्रकट होता है कि मृत्यु-पर्यन्त चलता हुआ प्रायश्चित्त पाप को नष्ट कर देता है। यही मत अंगिरा, यम आदि का भी है।

स्मृतियों द्वारा उपस्थापित विभिन्न मतों का समाधान मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२६) ने किया है, जो सभी मध्य-काल के लेखकों को मान्य है। उसकी उक्ति है—पापों के फल एवं शक्ति दो प्रकार की हैं, यथा—नरक की प्राप्ति एवं पापी का समाज के सदस्यों द्वारा बहिष्कार। अतः यदि प्रायश्चित्त पापी को नरक से न बचा सके तो भी उसके द्वारा समाज-संसर्ग-स्थापन अनुचित नहीं कहा जा सकता। जो पापकृत्य **पतनीय** (जातिच्युत करनेवाले) नहीं हैं वे मनु (११।४६) के कथन द्वारा प्रायश्चित्त से अवश्य नष्ट हो जाते हैं। वे पाप भी जो **पतनीय** हैं और जान-बूझकर किये गये हैं, आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।९।२४।२४-२५ एवं १।१०।२८।१८) के कथन से मृत्यु पर्यन्त चलने वाले प्रायश्चित्तों से दूर हो सकते हैं (मनु ११।७३, याज्ञ० ३।२४७-२४८, गौतम २२।२-३, ब्राह्मण-हत्या के लिए; मनु ११।९०-९१, याज्ञ० ३।२५३, गौतम २३।१, सुरापान के लिए; गौतम २३।८-११, मनु ११।१०३-१०४, याज्ञ० ३।२५९, गुरु-पत्नी से संभोग के लिए; मनु ११।९९-१०० एवं याज्ञ० ३।२५७, ब्राह्मण के सोने की चोरी के लिए)। प्रायश्चित्तमुक्तावली जैसे मध्यकाल के निबन्धों का कथन है कि ब्राह्मण पापियों के विषय में मृत्यु पर्यन्त चलनेवाला प्रायश्चित्त **कलिवर्ज्य** मतानुसार वर्जित है, अतः ब्राह्मण हत्यारे के लिए केवल बारह वर्षों का प्रायश्चित्त ही पर्याप्त है।

पराशरमाधवीय (२, भाग १, पृ० २०१-२०३) ने मिताक्षरा का मत प्रदर्शित किया है और लगता है इसने उसे स्वीकृत भी किया है। इसने एक मत और दिया है। जो लोग इसे मानते हैं उन्होंने याज्ञ० (३।२२६) के 'कामतोऽव्यवहार्यस्तु' को 'अवग्रह' के साथ पढ़ा है और अर्थ लगाया है कि जिसने किसी पाप के लिए व्यवस्थित प्रायश्चित्त कर लिया है वह नरक में नहीं गिरता, किन्तु यदि उसने जान-बूझकर कोई अपराध किया है तो वह शिष्टों से मिलने की अनुमति नहीं पा सकता। मनु (११।१९०=विष्णु० ५४।३२) में आया है कि जो बच्चों की हत्या करता है, जो अच्छा करने पर बुरा करता है, जो शरण में आगत की हत्या कर डालता है, जो स्त्रियों का हन्ता है, ऐसे व्यक्ति के साथ, भले ही उसने उचित प्रायश्चित्त कर लिया हो तब भी संसर्ग नहीं रखना चाहिए। इसी प्रकार का एक श्लोक याज्ञ० का भी है (३।२९८) जिस पर विज्ञानेश्वर ने बहुत ही मनोरंजक टिप्पणी दी है, जो मध्यकाल के लेखकों की उस भावना की द्योतक है जिसे वे वैदिक या स्मृति-वाक्यों की तथाकथित प्रामाणिकता से परेशान होकर व्यक्त करते रहते थे। मिताक्षरा का कथन है—"याज्ञ० (३।२९८) ने जो निषिद्धता प्रदर्शित की है वह केवल प्राचीन वचनों (उक्तियों) पर आधारित है न कि तर्क पर। 'वचन' क्या नहीं कर सकते हैं ? वचन से भारी कुछ नहीं है। इसलिए यद्यपि व्यभिचारिणी स्त्री की हत्या के लिए हलके प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी गयी है तथापि उस हत्यारे के लिए 'वचनों' पर आधारित यह नियम बना है कि उसके साथ कोई संसर्ग नहीं कर सकता।"[१३] । यह उक्ति शाबर भाष्य से ली गयी है और विश्व-

१३. प्रायश्चित्तेन क्षीणदोषानपि न संव्यवहरेदिति वाचनिकोऽयं प्रतिषेधः। 'किमिति वचनं न कुर्यान्न हि

रूप से लेकर आगे के सभी धर्मशास्त्रकारों द्वारा स्मृतिवचनों को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए अपनायी गयी है, भले ही वे तर्कसंगत न हों और अतिशयोक्ति से भरे पूरे हों। प्रायश्चित्ततत्व (पृ० ५४४-५४५) ने मिताक्षरा द्वारा प्रतिपादित पाप की दो शक्तियों एवं याज्ञवल्क्य (३।२९८) से सम्बन्धित उसके निर्देशों को उद्धृत कर कहा है कि बृहस्पति के निम्न वचन का सहारा लेना चाहिए ; "केवल शास्त्र के शब्दों के आधार पर ही निर्णय नहीं करना चाहिए, प्रत्युत निर्णय तर्कसंगत होना चाहिए ; 'स्त्रियों के हत्यारों' नामक वचन व्यभिचारिणी स्त्रियों की ओर संकेत नहीं करता प्रत्युत वह निर्दोष स्त्रियों की ओर निर्देश (यथा अपने शत्रुओं की पत्नियों की ओर निर्देश) करता है।" नारद (साहस, श्लोक ११) का कथन है कि उन लोगों को, जो राजा द्वारा प्रथम या द्वितीय (मध्यम) प्रकार के दण्ड से दण्डित होते हैं, समाज के अन्य सदस्यों से मिलने-जुलने की अनुमति मिलती है, किन्तु उत्तम प्रकार के अर्थात अधिकतम दण्ड पाने वाले को नहीं। जो लोग प्रायश्चित्त कर लेने के उपरान्त भी पापी की संसर्ग-सम्बन्धी अयोग्यता के मत का समर्थन करते हैं वे वेदान्तसूत्र (३।४।४३, बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च) का सहारा लेते हैं। किंतु परा० मा० ने ठीक ही कहा है कि यह सूत्र उन लोगों की ओर संकेत करता है जो जीवन भर ब्रह्मचर्य के पालन का व्रत लेकर उसे छोड़ देते हैं (उसके अनुसार नहीं चलते हैं), न कि यह सूत्र गृहस्थों की ओर संकेत करता है। यही बात परा० मा० के मत से कौशिक भी कहते हैं। देखिए स्मृतिमुक्ताफल (प्रायश्चित्त, पृ० ८६७-८६८)। प्रायश्चित्तमयूख (पृ०७) का कथन है कि शंकराचार्य ने याज्ञ० (३।२२६) की पढ़ने के उपरान्त ही वेदान्त-सूत्र (३।४।४३) की व्याख्या की है और कहा है कि जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत (आजीवन ब्रह्मचर्य या संन्यास) से च्युत हो जाते हैं वे ही समाज-संसर्ग से वंचित होते हैं।

एक प्रश्न पूछा जा सकता है; प्रायश्चित्त पाप को नष्ट करता है, ऐसा क्योंकर माना जाय? उत्तर है—कौन सा पाप महापातक है या उपपातक है या बिल्कुल पाप नहीं है, इसकी व्यवस्था शास्त्र (श्रुति एवं स्मृति) ने दी है। उदाहरणार्थ, साधारण जन के समक्ष यह नहीं प्रकट हो पाता कि खानों के अध्यक्ष होने, नीच लोगों से मित्रता करने या शूद्र की नौकरी करने से पाप क्यों लगता है। किन्तु स्मृतियाँ ऐसा कहती हैं, अतः हमें इसे मानना पड़ेगा। यदि पापमय कृत्यों की जानकारी के लिए हमें स्मृतियों पर निर्भर रहना ही है तो यह निष्कर्ष निकालना ही पड़ता है कि उन स्मृतियों पर भी, जो पापमोचन के लिए प्रायश्चित्तों की व्यवस्था देती हैं, विश्वास करना होगा । भगवद्गीता (४।३७) का कथन है कि आध्यात्मिक ज्ञान की अग्नि सभी (संचित) कर्मों (एवं उनके फलों) को जला डालती है।

बहुत-से पापों के लिए (सभी नहीं), जिनके लिए प्रायश्चित्तों की व्यवस्था है, राजा या राज्य से भी दण्ड मिलता है। उदाहरणार्थ, सभी देशों में आजकल और प्राचीन एवं मध्य काल में भी हत्या, चोरी, व्यभिचार, कूटसाक्ष्य (झूठी गवाही) जैसे कृत्यों के लिए राज्य द्वारा दण्ड की व्यवस्था रही है। इन कृत्यों के अपराधियों को प्रायश्चित्त भी करने पड़ते थे । सम्भवतः दो प्रकार की दण्ड-व्यवस्था के कारण ही प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत की दण्ड-व्यवस्था पश्चिमी देशों की अपेक्षा हलकी थी। पश्चिमी देशों में अभी एक-दो शताब्दी पूर्व तक साधारण अपराधों के लिए भारी-भारी दण्डों की व्यवस्था थी। कुछ ऐसे कर्म भी हैं जिनके लिए राज्य की ओर से आज और सम्भवतः प्राचीन या मध्यकालीन भारत में भी, दण्ड की व्यवस्था नहीं थी, यथा—पूर्व अधीत वेद का विस्मरण, सूर्योदय एवं सूर्यास्त के उपरान्त सोना (यह पातक माना जाता था, वसिष्ठ १।१९; कुछ ऐसे पातक याज्ञ० ३।२३९ के अनुसार उपपातक मात्र है), अग्निहोत्र आरम्भ कर उसे छोड़ देना (उससे सम्बन्धित कृत्य न करना)। ऐसा नहीं प्रकट होता कि इन कर्मों के लिए किसी भारतीय

वचनस्यातिभारोऽस्ति।' अतश्च यद्यपि व्यभिचारिणीनां वधेऽल्पीय एवं प्रायश्चित्तं तथापि वाचनिकोऽयं संव्यवहार-प्रतिषेधः। मिता० (याज्ञ० ३।२९८)।

राजा ने कभी किसी व्यक्ति को दण्डित किया। किन्तु मार्ग को अवरुद्ध करने, राजा को भोजन करते समय लुक-छिपकर देखने, राजा के समक्ष नितम्बों या जंघाओं के बल बैठने, राजा के समक्ष उच्च स्वर से बोलने से (ऐसे कृत्य करने से जो पचास छलों में गिने जाते हैं) राजा उचित दण्ड दे सकता था। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ११। किन्तु हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर कहा जा सके कि ये कृत्य प्रायश्चित्तों के नियमों की सीमा के अन्तर्गत आते थे।

प्रायश्चित्त के योग्य पातकों, एवं विद्वान् ब्राह्मणों की परिषद् द्वारा व्यवस्था-प्राप्त राजा द्वारा दण्डित किये जानेवाले अपराधियों के अपराधों में क्या सम्बन्ध था? प्रायश्चित्त के नियमों एवं परिषदों द्वारा व्यवस्थित राज्यशासन-व्यवहारों में कौन पहले बना? क्या प्रायश्चित्त एवं राज्य-दण्ड एक साथ चलते थे या पृथक् पृथक्? इन प्रश्नों का उत्तर निश्चित रूप में देना कठिन है। हम जानते हैं कि तै० सं० में भी अश्वमेध-जैसे प्रायश्चित्तों का उल्लेख है। हम यह भी जानते हैं कि **प्रश्नविवाक** (जो व्युत्पत्ति एवं अर्थ में **प्राड्विवाक** के समान है) का उल्लेख वाज० सं० (३०।१०) एवं तै० ब्रा० (३।५।६)) में हुआ है। अतः स्पष्ट है कि आरम्भिक काल में भी न्याय-सम्बन्धी कार्यों एवं शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों में अन्तर-विशेष प्रकट कर दिया गया था। ताण्डयब्रा० (१४।६।६) में निर्देशित **अग्नि-दिव्य** (देखिए इस ग्रन्थ का खंड ३, अध्याय १४) तथा चोरी के अपराध में व्यक्ति द्वारा हाथ में जलता लौह-खण्ड रखना और उसका मारा जाना यह व्यक्त करता है कि दिव्य-ग्रहण कराया जाता था, और साथ ही साथ चोरी के अपराध में मृत्यु-दण्ड भी दिया जाता था। बृहस्पति (विवादरत्नाकर में उद्धृत) का कथन है—"यदि किसी सच्चरित्र एवं वेदाभ्यासी व्यक्ति ने चोरी का अपराध किया है तो उसे बहुत समय तक बन्दी-गृह में रखना चाहिए और धन को लौटा देने के उपरान्त उससे प्रायश्चित्त कराना चाहिए।"[१४]

परिषद् प्रायश्चित्तों के लिए स्वयं अपने नियम निर्धारित करती थीं, और राजा दण्ड देता था। परिषद् के नियमों एवं राजा के दण्डों में कौन प्राचीन है, कहना कठिन है। यह बहुत सम्भव है कि परिषद् के धार्मिक न्याय-क्षेत्र में राजा दखल नहीं देता था और ब्राह्मण लोग न्यायाधीशों के रूप में एवं दण्ड-सम्बन्धी सम्मतियाँ देकर राजा को न्याय-शासन में सहायता देते थे। देखिए वसिष्ठ (५।१९४)। गौतम (८।१) ने शत० ब्रा० (५।४।४।५) के शब्दों के समान ही कहा है—राजा एवं बहुश्रुत ब्राह्मण संसार की नैतिक व्यवस्था को धारण करनेवाले हैं।[१५] आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।५।१०।१२-१६) में एक महत्त्वपूर्ण सूचना है—"जो लोग इन्द्रिय-दौर्बल्य के कारण शास्त्रविहित जाति-सम्बन्धी सुविधाओं एवं कर्तव्यों के पालन से पथ-भ्रष्ट हो गये हों, उन्हें आचार्य उनके पापमय कृत्यों के अनुरूप शास्त्रानुमोदित प्रायश्चित्त करने की आज्ञा दे। जब वे अपने आचार्य के आदेश का उल्लंघन करें तो वह उन्हें राजा के पास ले जाय। राजा उन्हें धर्मशास्त्रज्ञ एवं शासन-चतुर पुरोहित के पास भेज दे। वह (पुरोहित), उन्हें यदि वे ब्राह्मण हैं, उचित प्रायश्चित्त करने का आदेश दे। शारीरिक दण्ड एवं दासता को छोड़कर वह अन्य कठिन साधनों द्वारा उन्हें हीन (दुर्बल)

१४. वृत्तस्वाध्यायवान् स्तेयी बन्धनात् क्लिश्यते चिरम्। स्वामिने तद्धनं दाप्यः प्रायश्चित्तं तु कारयेत्॥ बृहस्पति (विवादरत्नाकर पृ० ३३१)। सम्भव है कि इस श्लोक का अर्थ यह है कि उस विद्वान् ब्राह्मण को, जो सदाचारी है, किन्तु जिसने लोभ में पड़कर चोरी कर ली है, बहुत काल तक बन्दी नहीं रखना चाहिए, क्योंकि बन्दी-जीवन से मन को पीड़ा होती है, अतः उससे धन लौटा देने के उपरान्त प्रायश्चित्त कराना चाहिए।

१५. द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः। गौ० (८।१)। शतपथब्राह्मण (५।४।४।५) में आया है—'निषसाद धृतव्रत इति धृतव्रतो वै राजा...एष च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ।'

बना दे।" इससे प्रकट होता है कि राजा प्रायश्चित्तों के सम्पादन में सहायता करता था। नारद (प्रकीर्णक, श्लोक ३) ने प्रायश्चित्त की उपेक्षा को उन विषयों में रखा है जो केवल राजा पर ही आश्रित हैं, न कि व्यक्तिगत रूप से लोगों द्वारा उपस्थित किये गये अभियोगों या प्रतिवेदनों पर। देवल का कथन है—"राजा कृच्छ्रों का दाता है (अर्थात् व्यवस्थित प्रायश्चित्तों के वास्तविक सम्पादन में उसकी सम्मति आवश्यक है), विद्वान् धर्मपाठक (धर्मशास्त्रज्ञ) प्रायश्चित्तों के व्यवस्थापक हैं, पापी प्रायश्चित्त-सम्पादन करता है और राजकर्मचारी प्रायश्चित्त-सम्पादन की देख-रेख करनेवाला है।"[16] पराशर (८।२८) का कथन है—"राजा की अनुमति ले लेने के उपरान्त परिषद् को उचित प्रायश्चित्त का निर्देश करना चाहिए, बिना राजा को बतलाये निर्देश स्वयं नहीं करना चाहिए, किन्तु हलका प्रायश्चित्त बिना राजा को सूचित किये भी कराया जा सकता है।" परा० मा० (२, भाग १, पृ० २३२) ने व्याख्या की है कि ऐसी व्यवस्था केवल गोवध जैसे पापों या उससे बड़े पापों के लिए ही है। देवल के भी ऐसे ही वचन हैं (परा० मा० २, भाग १, पृ० २३२-२३३; प्राय० सा०, पृ० २१)। पराशर (८।२९) का कथन है कि राजा को भी परिषद् की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और न अपनी ओर से प्रायश्चित्त-व्यवस्था करनी चाहिए। पैठीनसि (दण्डविवेक, पृ० ७६) ने प्रायश्चित्त एवं दण्ड दोनों की व्यवस्था दी है और श्लोक के ढंग या गठन से झलकता है कि दोनों राजा द्वारा आज्ञापित होते थे।[17] इस प्रकार मध्यकाल की स्थिति कुछ सीमा तक स्पष्ट है।

दण्ड एवं प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में एवं इन दोनों के लिए राजा की स्थिति के विषय में प्राचीन काल में जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर कुछ निश्चित रूप से स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। आप० ध० सू० (१।९।२४।१-४) का कथन है कि क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र की हत्या करनेवाले को वैर मिटाने के लिए क्रम से एक सहस्र, एक शत एवं दस गायें देनी चाहिए और इनमें से प्रत्येक दुष्कृत्य के प्रायश्चित्त के लिए एक बैल देना चाहिए। लेकिन ये गायें किसको दी जायँगी, इस विषय में कोई स्पष्ट उक्ति नहीं है। टीकाकार हरदत्त ने लिखा है कि ये गायें ब्राह्मणों को दी जानी चाहिए। मनु (११।१२७, १२९, १३०) एवं याज्ञ० (३।२६६-२६७) ने भी प्रायश्चित्तों के अध्याय में ऐसी व्यवस्थाएँ दी हैं। किन्तु बौधा० ध० सू० (१।१०।२३) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि गायें राजा को दी जानी चाहिए। सम्भवतः आपस्तम्ब के भी कहने का यही तात्पर्य था। राजा इन गायों को मृत व्यक्तियों के कुल को दे देता था, किन्तु यदि मृत के कुल के सदस्य अस्वीकार करते थे तो वह उन्हें अपने पास न रखकर ब्राह्मणों में बाँट देता था। मनु (९।२४३-२४५) का कथन है कि हत्यारों के दण्ड से प्राप्त धन राजा को नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत उसे वरुण के लिए जल में छोड़ देना चाहिए या विद्वान् ब्राह्मणों में बाँट देना चाहिए। मनु (९।२२६) का कथन है कि यदि चार महापातकों (ब्रह्महत्या आदि) के अपराधी उचित प्रायश्चित्त न करें तो राजा को उन्हें शारीरिक दण्ड (मस्तक पर दाग लगाने का दण्ड) देना चाहिए और शास्त्र के अनुसार अर्थ-दण्ड भी देना चाहिए। मनु (९।२३७=मत्स्य० २२७।१६४) एवं वसिष्ठ (५।४-७) का कहना है कि व्यभिचार, सुरापान, स्तेय एवं ब्राह्मण-हत्या के लिए क्रम से स्त्री के गुप्तांगों,

१६. कृच्छ्राणां दायको (दापको ५।१) राजा निर्देष्टा धर्मपाठकः। अपराधी प्रयोक्ता च रक्षिता कृच्छ्रपालकः॥ देवल (मदनपारिजात पृ० २७७); प्राय० सा०, प० ८। राज्ञश्चानुमते स्थित्वा प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्। स्वयमेव न कर्त्तव्यं कर्तव्या स्वल्पनिष्कृतिः॥ पराशर (८।२८)। इस पर पराशरमाधवीय का वचन है—"अत्र गोवधस्य प्रकृतत्वात्तमारभ्याधिकेषु राजानुज्ञयैव व्रतं निर्दिशेत्।

१७. अकार्यकारिणामेषां प्रायश्चित्तं तु कल्पयेत्। यथाशक्त्यनुरूपं च दण्डं चैषां प्रकल्पयेत्॥ पैठीनसि (दण्डविवेक, पृ० ७६)।

शौंडिक (कलवार) के ध्वज, कुत्ते एवं मुखविहीन शुण्ड (सूंड़) के चिह्न दाग देने चाहिए। यदि किसी भी जाति का कोई व्यक्ति अनजान में किये गये पापों के कारण महापातकी हो और उसने उचित प्रायश्चित्त कर लिया हो तो राजा द्वारा उसके मस्तक पर दाग़ नहीं लगाना चाहिए, प्रत्युत भारी अर्थ-दण्ड देना चाहिए (मनु ९।२४०)। मनु (९।२४१-२४२) ने व्यवस्था दी है कि यदि अनजान में किसी ब्राह्मण ने महापातक कर दिया हो तो उसे मध्यम प्रकार का दण्ड मिलता है (यदि वह सदाचारी हो), किन्तु यदि किसी ब्राह्मण ने जान-बूझकर कोई महापाप किया हो तो उसे उसकी सम्पत्ति के साथ देश-निष्कासन का दण्ड देना चाहिए; किन्तु यदि किसी अन्य जाति के व्यक्ति ने अनजान में महापातक किया हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिए और जब उसने जान-बूझकर महापाप किया हो तो उसे मृत्यु-दण्ड देना चाहिए। इन बातों से प्रकट होता है कि प्रायश्चित्त कर लेने पर भी महापातकी को दण्डित होना पड़ता था और यदि उसने प्रायश्चित्त न किया हो तो उसे चिन्ह लगाने, अर्थ-दण्ड आदि के दण्ड भुगतने पड़ते थे।

मनु (११।५६) के मत से कूटसाक्ष्य (झूठी गवाही) सुरापान के समान है और मनु (११।५७) एवं याज्ञ० (३।२३०) के अनुसार धरोहर को हड़प जाना सोने की चोरी के समान है। विष्णु (५।१६९) के मत से धरोहर हड़प कर जानेवाले को धन लौटाना पड़ता है या व्याज के साथ उसका मूल्य देना पड़ता है और साथ-ही साथ उसे चोरी करने का दण्ड (राजा द्वारा) प्राप्त होता है; झूठा साक्ष्य देनेवाले की सारी सम्पत्ति छीन ली जाती है (५।१७९)। इन उदाहरणों से व्यक्त होता है कि महापातकियों को राज-दण्ड एवं परिषद्-दण्ड (विद्वान् लोगों की परिषद द्वारा व्यवस्थापित प्रायश्चित्त) दोनों भुगतने पड़ते थे। इस प्रकार महापातक राजापराधों में भी गिने जाते थे। कुछ विषयों में प्रायश्चित्त एवं दण्ड बराबर ही थे। उदाहरणार्थ, गौ० (२३।१०-११), वसिष्ठ (२०।१३), मनु (११।१०४), याज्ञ० (३।२५९) आदि स्मृतिकारों ने व्यभिचार (माता, बहिन, पुत्रवधू आदि के साथ व्यभिचार) के लिए अण्ड-कोश एवं लिंग काट लिये जाने एवं दक्षिण या दक्षिण-पश्चिम दिशा में तब तक चलते जाने के प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है जव तक व्यक्ति का शरीर गिर न पड़े। नारद ने व्यभिचार के लिए अण्डकोश काट लेने की व्यवस्था दी है। मिता० (याज्ञ० २।२३३) ने नारद को उद्धृत कर कहा है कि याज्ञ० द्वारा अण्डकोश एवं लिंग काट लेने की व्यवस्था केवल अब्राह्मणों के लिए है, और ऐसे विषयों में मृत्यु-दण्ड ही प्रायश्चित्त है। मनु (११।१००) ने कहा है कि ब्राह्मण के सोने की चोरी करनेवाले ब्राह्मण को राजा के पास स्वयं हाथ में लोहे की गदा लेकर जाना चाहिए, जिससे राजा स्वयं उसका सिर कुचल डाले। ऐसा करना प्रायश्चित्त ही है। अतः मदनपारिजात (पृ० ८२७) एवं मिताक्षरा के अनुसार ब्राह्मणों के लिए शरीर-दण्ड केवल उन्हीं बातों में (मनु ८।३८०) वर्जित है जो प्रायश्चित्त करने से भिन्न हैं, जैसा कि मनु (११।१००) के उपर्युक्त कथन से स्वतः सिद्ध है। कुछ बातों में राज-दण्ड ही पर्याप्त समझा जाता था और प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं मानी जाती थी (मनु ८।३१८=वसिष्ठ १९।४५)। आप० ध० सू० (२।१०।२७।१५-१६) का कथन है कि नरहत्या, स्तेय एवं भूम्यादान (वलपूर्वक भूमि छीन लेने) के अपराधी की सम्पत्ति राजा द्वारा हृत हो जानी चाहिए और उसे मृत्यु-दण्ड मिलना चाहिए, किन्तु यदि वह अपराधी ब्राह्मण हो तो उसकी आँखें जीवन भर के लिए बाँध दी जानी चाहिए (अर्थात् उसे मृत्यु-दण्ड नहीं मिलता)। आप० ध० सू० (१।९।२५।४) के अनुसार, लगता है, प्राचीन काल में चोर राजा के पास लोहे या खदिर काष्ठ की गदा लेकर पहुँचता था और अपने अपराध की घोषणा करता था, तव राजा उसे उसी गदा से मार देता था; इस प्रकार मरने से वह पाप से मुक्त हो जाता था। यह प्रायश्चित्त एवं वैधानिक दण्ड दोनों था। इसी प्रकार मनु (८।३१४-३१५) ने भी कहा है—"चोर को कोई मुसल या गदा (खदिर की वनी) या दुधारी शक्ति (एक प्रकार की बर्छी) या लोहदण्ड लेकर राजा के पास जाना चाहिए और यदि राजा के एक वार मारने से वह मृत हो जाय या अर्धमृत होकर जीता रहे तो वह चोरी के अपराध से मुक्त हो जाता है। और देखिए मिताक्षरा एवं शंख (याज्ञ० २।२५७)। यही बात मनु (११।१००-१०१=अग्नि०

१६९।२०, २१) ने चोरी के प्रायश्चित्त के लिए भी कही है। ब्राह्मण के सोने की चोरी में वसिष्ठ (२०।४१), याज्ञ० (३।२५९), विष्णु (५२।१-२) एवं पराशर (१२।६९-७०) ने भी कुछ ऐसे ही प्रायश्चित्त की चर्चा की है। वसिष्ठ ने एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया है, यथा राजा उदुम्बर काष्ठ का बना एक हथियार चोर को दे देता है, जिससे चोर स्वयं अपने को मार डालता है (सम्भवतः यह हथियार ताम्र का होगा, न कि लकड़ी का)। लगता है, कालान्तर में राजा ने यह भद्दी विधि स्वयं छोड़ दी। नारद (परिशिष्ट, श्लोक ४६-४७) का कथन है कि जब चोर दौड़ता हुआ राजा के पास आता है और अपना अपराध स्वीकार कर लेता है तो राजा उसे (गदा से प्रतीकात्मक रूप में) छू लेता है और उसे छोड़ देता है, और चोर इस प्रकार अपराध स्वीकरण के कारण मुक्त हो जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि चोर को चोरी की हुई वस्तु लौटा देनी पड़ती थी (मनु ८।४०; याज्ञ० २।३६ एवं २७०; बृहस्पति, प्रायश्चित्त-प्रकरण पृ० ७७)। यदि चोर के लिए ऐसा सम्भव नहीं था तो राजा को अपनी ओर से धन देना पड़ता था, या चोरी रोकने के लिए नियुक्त किये गये राजकर्मचारियों को अपनी ओर से उतना धन देना पड़ता था (आप० ध० सू० २।१०।२६।८)। और देखिए इस ग्रन्थ का खंड ३, अध्याय ५। आगे चलकर मृत्यु-दण्ड देने का कार्य चाण्डाल करने लगा था (मनु १०।५६ एवं विष्णु १६।११ -- वध्यघातित्वं चाण्डालानाम्)।

दण्ड देते समय या प्रायश्चित्त की व्यवस्था देते समय यह देख लेना पड़ता था कि जिस विषय पर विचार किया जा रहा है वह निश्चित रूप से वही होना चाहिए, यथा-- दोष 'कामतः' है या 'अकामतः' अर्थात ज्ञान में हुआ है या अनजान में; यह पहली बार हुआ है या कई बार किया गया है और दोष करते समय काल, स्थान, जाति, अवस्था (वय), योग्यता, विद्या, धन की स्थितियाँ क्या थीं।[18] देखिए कौटिल्य (४।१०), गौतम (१२।४८), मनु (७।१६ एवं ८।१२६), याज्ञ० (१।३६८), विष्णु० (५।१९४) एवं वसिष्ठ (१९।९)---दण्डों के लिए; और बौधा० ध० सू० (१।१।१६), याज्ञ० (३।२९३=अत्रि २४८=अग्नि० १७३।६), अंगिरा (१४३), विश्व मित्र, वृद्ध हारीत (९।२९७) एवं व्याघ्र---प्रायश्चित्तों के लिए। दण्ड एवं प्रायश्चित्त के इसी सम्बन्ध के कारण प्रायश्चित्ततत्त्व ने देवल को इस सिलसिले में उद्धृत कर कहा है कि यदि कोई वर्ष भर प्रायश्चित्त नहीं करता है तो उसे दूना प्रायश्चित्त करना पड़ता है और राजा को दूना अर्थ-दण्ड भी देना पड़ता है; और नियम तो यह है कि दण्डों के आधार पर ही प्रायश्चित्तों की व्यवस्था करनी पड़ती है।[19] प्रायश्चित्तमयूख (पृ० १२४-१२५) ने काश्यप को उद्धृत किया है जिसके अनुसार उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है जो कूप, उद्यान, पुल, चहारदीवारी, मन्दिर, मूर्ति आदि को हानि पहुँचाता है। यहाँ विष्णु

१८. ज्ञात्वापराधं देशं च कालं बलमथापि वा। वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्।। याज्ञ० (१।३६८); अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः। सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्।। मनु (८।१२६)।

१९. यथा स्मृतिसागरे देवलः। कालातिरेके द्विगुणं प्रायश्चित्तं समाचरेत्। द्विगुणं राजदण्डं च दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात्।। कालातिरेके संवत्सरातिरेके। संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः---इति मनुवचने (८।३७३) संवत्सरात्परतो द्विगुणदण्डदर्शनेन दण्डवत्प्रायश्चित्तानि भवन्तीति न्यायेन एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो बाधकमन्तरेणान्यत्रापि तथेति न्यायाच्च। प्राय० तत्त्व पृ० ४७४; और देखिए इसी न्याय के लिए यही ग्रन्थ पृ० ५३०। 'अथ मण्डपोद्यानादिदेवतागारादि -- भेदने काश्यपः। वापीकूपारामसेतुलतातडागवप्रदेवतायतनभेदने प्रायश्चित्तम्।... ब्राह्मणान्भोजयेत्। इति। एतच्चाल्पोपघाते। महदुपघातेऽभ्यासे प्राजापत्यादि कल्पनीयम्। देवता चात्र मृन्मयी पूजोज्झिता च ग्राह्या। प्रायश्चित्तस्याल्पत्वादन्यत्र दण्डगौरवदर्शनेन प्रायश्चित्तगौरवं कल्प्यं दण्डवत्प्रायश्चित्तानि भवन्तीति वचनात्। तथात्र दण्डगौरवमाह कात्यायनः।...विष्णुरपि...मनुः...इति।

(५।१६९) को भी उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार मूर्ति-भंजक के लिए सबसे अधिक दण्ड की व्यवस्था दी हुई है; यहीं मनु (९।२८५) को भी उद्धृत किया गया है, जिसके मत से मूर्ति तोड़नेवाले को ५०० पण दण्ड देना पड़ता है और मूर्ति को पुनः स्थापित करना पड़ता है। नारद ने साहस को तीन भागों में बाँटा है; **प्रथम, मध्यम एवं उत्तम** (उग्र)। उत्तम प्रकार में ये आते हैं—विष या हथियार से मारना, व्यभिचार, बलात्कार एवं जीवन को हानि पहुँचाना। नारद, ने कहा है कि प्रथम एवं मध्यम साहस के अपराधियों को राजा से दण्डित होने पर लोगों से मिलने की छूट मिल जाती है, किन्तु उत्तम साहस के अपराधी राजा द्वारा दण्डित होने पर भी बातचीत करने के योग्य नहीं समझे जाते (नारद, साहस, श्लोक ११)।

परिषद् द्वारा व्यवस्थित प्रायश्चित्त न करने पर पापियों को दण्ड देने का राजा को अधिकार था, किन्तु वह सभी विषयों में ऐसा करता था कि नहीं इस विषय में कुछ कहना अत्यन्त कठिन है। समाज या जाति को एक अस्त्र प्राप्त था, यथा—व्यवस्थित प्रायश्चित्त न करने पर महापातकी को **घटस्फोट** द्वारा जातिच्युत किया जा सकता था। इसे जातिदण्ड भी कह सकते हैं। देखिए घटस्फोट की जानकारी के लिए गौतम (२०।२-९), मनु (११।१८२-१८५), याज्ञ० (३।२९४) एवं इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ७ एवं खण्ड ३, अध्याय २७। महापातकों के लिए व्यवस्थित कुछ प्रायश्चित्त बड़े भयंकर थे, यथा—सुरापान के लिए अपने को अग्नि में झोंक देना, खौलती हुई सुरा, जल, गोमूत्र, दूध या घी पीना (मनु ११।७३, ९०-९१, १०३ आदि)। मनु (११।७३) एवं कुछ निबन्धों के मत से ऐसे प्रायश्चित्त परिषद् द्वारा आज्ञापित नहीं होने चाहिए, प्रत्युत अपराधी को ऐसा ज्ञान होने पर स्वयं करने चाहिए।[20] प्रायश्चित्त कर लेने के उपरान्त लोगों से संसर्ग स्थापित करने के लिए व्यक्ति को उन्हें भोज देना चाहिए और मिठाई बाँटनी चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि अपराधी को तीन भार वहन करने पड़ते थे, यथा—राजा द्वारा दण्ड, परिषद् द्वारा व्यवस्थित प्रायश्चित्त एवं विद्वान् ब्राह्मणों को भोज तथा जाति भाइयों को मिठाई। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ३५।

प्रायश्चित्त-सम्बन्धी साहित्य बहुत विशाल है, क्योंकि प्राचीन समय में प्रायश्चित्तों की जन-साधारण में बड़ी महत्ता थी। गौतमधर्मसूत्र के २८ अध्यायों में से दस अध्याय प्रायश्चित्तों पर ही हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र के मुद्रित ३० अध्यायों में से ९ अध्याय (२०-२८) प्रायश्चित्त सम्बन्धी हैं। मनु के ग्यारहवें अध्याय के ४४ से लेकर २६५ (कुल २२२) श्लोक प्रायश्चित्तों के विषय में ही हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के अध्याय ३ के १००९ श्लोकों में १२२ श्लोक (३।२०५-३२७) इसी विषय के हैं। अंगिरा के १६८ श्लोक, अत्रि के १ से ८ तक के अध्याय, देवल के ९० श्लोक, बृहद्यम के १८२ श्लोक, शातातपस्मृति के २७४ श्लोक केवल प्रायश्चित्त-सम्बन्धी हैं। बहुत-सी स्मृतियाँ एवं कतिपय पुराण, यथा—अग्नि (अध्याय १६८-१७४), गरुड (५२), कूर्म (उत्तरार्ध ३०-३४), वराह (१३१-१३६), ब्रह्माण्ड (उपसंहार पाद, अध्याय ९), विष्णुधर्मोत्तर (२।७३, ३।२३४-२३७) बहुत-से श्लोकों में प्रायश्चित्तों का वर्णन करते हैं। टीकाओं में मिताक्षरा, अपरार्क, पराशरमाधवीय आदि एवं निबन्धों में मदनपारिजात (पृ० ६९१-९९४) आदि ने विस्तार के साथ प्रायश्चित्तों का उल्लेख किया है। कुछ विशिष्ट निबन्ध प्रायश्चित्तों को लेकर लिखे गये हैं, यथा—हेमाद्रि का ग्रन्थ (जिसके विषय में अभी प्रामाणिकता नहीं स्थापित की जा सकी है), प्रायश्चित्तप्रकरण (भवदेव द्वारा प्रणीत),

२०. प्राणान्तिकप्रायश्चित्तं तु पर्षदा न देयम्। तत्स्वयमेव ज्ञात्वा कुर्यात्। प्राय० सा० (पृ० ४१); एतच्च मरणान्तिकं प्रायश्चित्तं पर्षदा नादेष्टव्यमपि तु व्युत्पन्नश्चेत्स्वयमेव ज्ञात्वा कुर्यात्। अव्युत्पन्नश्चेत् प्रायश्चित्तस्वरूपं शिष्टेभ्यो ज्ञात्वा तदनुज्ञामन्तरेण स्वयमेव कुर्यात्। भव० पा० (पृ० ५/७)।

प्रायश्चित्तविवेक, प्रायश्चित्ततत्त्व, स्मृतिमुक्ताफल (प्रायश्चित्त वाला प्रकरण), प्रायश्चित्तसार (नृसिंहप्रसाद का भाग), प्रायश्चित्तमयूख, प्रायश्चित्तप्रकाश, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर (नागोजिभट्ट लिखित)। प्रायश्चित्तों के विषय में विस्तार के साथ वर्णन निम्न पुस्तकों में मिलता है; प्रायश्चित्तविवेक, पराशरमाधवीय (२, भाग १ एवं २) एवं प्रायश्चित्तप्रकाश।

टीकाकारों ने प्रायश्चित्त के अधिकारी के प्रश्न पर विचार किया है। मनु (११।४४) एवं याज्ञ० (३।२१९) ने क्रम से 'प्रायश्चित्तीयते नरः' एवं 'नरः पतनमृच्छति' उक्तियों में 'नर' शब्द का प्रयोग किया है, अतः टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने यह घोषित किया है कि प्रायश्चित्तों के लिए सभी अधिकारी हैं, यहाँ तक कि चाण्डाल, प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न एवं सभी जातियों के लोग। देखिए विश्वरूप (याज्ञ० ३।२१०), मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२१९), प्राय० वि० (पृ० १२)। याज्ञ० (३।२६२) का कथन है कि शूद्र पापी भी, जिन्हें वैदिक मन्त्रों के उच्चारण का अधिकार नहीं है, **जप** एवं **होम** के अतिरिक्त सभी नियमों का पालन करके शुद्ध हो सकते हैं। और देखिए अंगिरा (मिता०, याज्ञ० ३।२६२, प्राय० म० पृ० १२ एवं प्रा० सार पृ० १७३)। **जप** एवं **होम** के विषय में भी मदनपारिजात (पृ० ७४९) एवं व्यवहारमयूख (पृ० ११२) ने पराशर (६।६३-६४) के एक श्लोक के आधार पर यह कहा है कि साधारण अग्नि (लौकिक अग्नि) में किसी ब्राह्मण द्वारा स्त्रियों एवं शूद्रों के लिए **जप** एवं **होम** किये जा सकते हैं। प्रायश्चित्त-विवेक ने मनु (१०।६२) एवं देवल के एक गद्यांश के आधार पर कहा है कि चाण्डाल भी अपने नियमों के विरुद्ध जाने पर प्रायश्चित्त कर सकते हैं।

इसके पूर्व कि हम प्रायश्चित्तों का विवरण उपस्थित करें, हमारे लिए कुछ प्रश्नों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

बृहद्-यम (४।१-२), शंख आदि स्मृतियों का मत है कि पाँच वर्ष से ऊपर एवं ग्यारह वर्ष से नीचे के बच्चों के लिए **सुरापान** आदि पातकों के अपराध में स्वयं प्रायश्चित्त करना आवश्यक नहीं है, उनके स्थान पर उनके भाई, पिता या कोई सम्बन्धी या सुहृद् को प्रायश्चित्त करना पड़ता है, और पाँच वर्ष से नीचे की अवस्था के बच्चों को न तो पाप लगता है, न प्रायश्चित्त करना पड़ता है और न उन पर कोई वैधानिक कार्रवाई ही होती है। किन्तु मिता० (याज्ञ० ३।२४३) ने कुछ और ही कहा है, उसका मत है कि बच्चों को भी पाप लग जाता है किन्तु हलका-सा ही। यही बात बृहस्पति ने भी कही है (प्राय० तत्त्व, पृ० ५५१)।

हमने पहले ही देख लिया है कि प्रायश्चित्त-प्रयोग काल, स्थान, वय आदि परिस्थितियों के अनुसार ही होता है। ८० वर्ष के बूढ़ों, १६ वर्ष से नीचे के बच्चों, स्त्रियों एवं रोगियों को व्यवस्थित प्रायश्चित्तों का आधा करना पड़ता है। इस विषय में देखिए विष्णुधर्मसूत्र (५४।३३), लघु हारीत (३३), देवल (३०), आपस्तम्बस्मृति (३।३), बृहद्यम (३।३), मदनपारिजात (पृ० ७९६), मिता० (याज्ञ० ३।२४३)। मिता० (याज्ञ० ३।२४३) ने सुमन्तु का उद्धरण देकर कहा है कि पुरुष के लिए १२ वर्ष से नीचे एवं ८० वर्ष से ऊपर प्रायश्चित्त आधा और स्त्रियों के लिए चौथाई होता है। विष्णु का मत है कि स्त्रियों, बूढ़ों एवं रोगियों के लिए आधा एवं उपनयन के पूर्व बच्चों के लिए चौथाई प्रायश्चित्त माना जाता है। कुछ लोगों ने पाँच वर्ष से नीचे के बच्चों के लिए चौथाई प्रायश्चित्त निर्धारित किया है। च्यवन (गद्य में) ने बच्चों, बूढ़ों एवं स्त्रियों के लिए इसे आधा माना है और कहा है कि १६ वर्ष तक व्यक्ति बालक रहता है और यही बात ७० वर्ष के उपरान्त बूढ़ों के लिए भी है, अर्थात् वे भी बालक जैसे समझे जाते हैं। कात्यायन (४८७) का मत है कि स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा आधा अर्थ-दण्ड लगता है, जहाँ पुरुष को मृत्यु-दण्ड मिलता है वहाँ स्त्रियों का अंग-विच्छेद (नाक, कान आदि काट लेना) ही पर्याप्त है।

अंगिरा (प्राय० वि० पृ० २२), व्यास (प्राय० वि० पृ० २४) एवं अग्नि० (१७३।९) के मत से जान-बूझ-

कर ('कामतः') किये गये पापों के लिए अनजान में ('अकामतः') किये गये पापों की अपेक्षा दूना प्रायश्चित्त होता है। याज्ञ० (३।२२६) ने 'अज्ञान' एवं 'ज्ञानपूर्वक' होनेवाले पापों के फलों में सम्भवतः कोई अन्तर नहीं प्रकट किया है।

प्रायश्चित्तों एवं वैधानिक दण्डों में पापी की जाति पर विचार होता था। देखिए इस विषय में इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय १५, जहाँ विस्तार से वर्णन है। विष्णु (प्राय० वि०, पृ० १०२; प्राय० प्रक०, पृ० १६) के मत से क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को क्रम से ब्राह्मण पापी के प्रायश्चित्त का ३/४, १/२ एवं १/४ लगता है। यही बात अग्नि० (१६८।१३) में भी है। और देखिए परा० माध० (२, भाग १, पृ० २३१) एवं मिता० (याज्ञ० ३।२५०)। बृहद्यम (४।१३-१४) ने गोहत्या के लिए चारों वर्णों में क्रम से ४, ३, २ एवं १ का अनुपात दिया है। अंगिरा (३) ने अन्त्यज के यहाँ भोजन करने पर ब्राह्मण के लिए कृच्छ्र एवं चान्द्रायण प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है, किन्तु इसी के लिए क्षत्रिय एवं वैश्य को केवल आधे की व्यवस्था दी है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२५०) ने कहा है कि हत्या करने पर ब्राह्मण को जो प्रायश्चित्त करना पड़ता है उसका दूना क्षत्रिय को तथा तिगुना वैश्य को करना पड़ता है। स्मृतिचन्द्रिका, मदनरत्न (व्यवहार) एवं सरस्वतीविलास के मतों से प्रकट होता है कि आरम्भिक काल के प्रायश्चित्त-सम्बन्धी जाति-अन्तर बारहवीं शताब्दी के उपरान्त समाप्त हो गये। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २३। आगे चल कर कठिन प्रायश्चित्तों की परम्पराएँ समाप्त-सी होती चली गयीं और उनके स्थान पर गोदान एवं अर्थदण्ड की व्यवस्था बढ़ती चली गयी। देखिए प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० २२), जहाँ यह लिखित है कि उसके काल में क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की हत्या के लिए किये जानेवाले प्रायश्चित्त अप्रचलित हो गये थे।

देश के नियमों के अनुसार भी प्रायश्चित्तों में भेद था। हम जानते हैं कि कुछ भागों में, यथा—दक्षिण की कुछ जातियों में मातुल-कन्या (ममेरी बहिन) से विवाह होता है, क्योंकि वहाँ ऐसी रीति या आचार ही है, किन्तु मनु (११।१७१-१७२), बौधा० ध० सू० (१।१।१७-२४) एवं अन्य स्मृतियों ने इस प्रथा को निन्द्य एवं घृणित माना है। बृहस्पति ने दक्षिणियों में इसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था अथवा राजा द्वारा दण्ड दिये जाने की बात नहीं उठायी है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ९।

प्रायश्चित्तों की कठोरता एवं अवधि व्यक्ति के प्रथम बार अपराध करने या कई बार दुहराने पर भी निर्भर थी। आप० ध० सू० (२।१०।२७।११-१३) के मत से उस ब्राह्मण को जो अपनी जाति की किसी विवाहित नारी से व्यभिचार करता है, उसे शूद्र के प्रायश्चित्त का आधा करना पड़ता है, जो तीन उच्च वर्णों की स्त्री से संभोग करने के अपराध के कारण करता है। इस पाप के दुहराने पर चौथाई और बढ़ जाता है, किन्तु चौथी बार दुहराने से पूरी अवधि (अर्थात् १२ वर्षों) तक प्रायश्चित्त करना पड़ता है। मिता० (याज्ञ० ३।२९३) ने कहा है कि ज्ञान में किये गये पाप के लिए अज्ञान में किये गये पाप की अपेक्षा इन्हें दूना प्रायश्चित्त करना पड़ता है; किन्तु वही पाप दुहराने पर अज्ञान में किये गये पाप के प्रायश्चित्त का चौगुना प्रायश्चित्त और करना पड़ता है। आश्रमों के अनुसार भी प्रायश्चित्त की गुरुता या हलकेपन में अन्तर था। गृहस्थों की अपेक्षा अन्य आश्रम वालों को उसी अनुपात से अधिक प्रायश्चित्त करना पड़ता था। मनु (५।१३७), वसिष्ठ (६।१९), विष्णु (६०।२६) एवं शंख (१६।२३-२४) के मत से गृहस्थों की अपेक्षा ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों एवं संन्यासियों को क्रम से दूना, तिगुना एवं चौगुना प्रायश्चित्त करना पड़ता था और तभी वे शुद्ध माने जाते थे (देखिए मनु ५।१३६, विष्णु० ६०।२५)।

हारीत, व्यास एवं यम (प्राय० वि० पृ० ८६) के मत से यदि कोई प्रायश्चित्त करने की अवधि के बीच में ही (कभी-कभी कुछ प्रायश्चित्त १२ वर्ष या इससे भी अधिक समय तक चलते थे) मर जाय तो वह पाप से मुक्त हो जाता है, इस पाप से दोनों लोकों (इह लोक एवं परलोक) में छुटकारा मिल जाता है। यह एक दया सम्बन्धी छूट है तथा सचमुच सुविधाजनक भी है।

यद्यपि विभिन्न पातकों के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था स्मृतियों ने सविस्तर दी है तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें सभी पातकों एवं दुष्कृत्यों का समावेश हो गया है। अतः गौतम (१९।१८-२०) ने प्रतिपादित किया है कि जब किसी प्रायश्चित्त की व्यवस्था न की गयी हो तो मन्त्र-पाठ, तप, उपवास, होम, दान आदि विकल्प से कर लेने चाहिए और महापातकों के लिए कठोर तथा हलके पापों के लिए अपेक्षाकृत हलके प्रायश्चित्तों की व्यवस्था हो जानी चाहिए; कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र एवं चान्द्रायण व्रत ऐसे प्रायश्चित्त हैं जो सभी पापों में लागू होते हैं। मनु (११।२०९=विष्णु० ५४।३४) ने व्यवस्था दी है कि जहाँ प्रायश्चित्त प्रतिपादित न हुए हों, परिषद् को चाहिए कि वह पातकी के अपराध की गुरुता एवं स्वभाव को देखकर तदनुकूल व्यवस्था कर दे। पराशर (११।५५-५६) का कथन है कि गायत्री का दस हजार बार जप सभी पापों के लिए सबसे अच्छा प्रायश्चित्त है, **चान्द्रायण, यावक, तुलापुरुष** एवं **गोदान** सभी पापों को नष्ट कर देते हैं। याज्ञ० (३।२६५) के मत से गोहत्या पर **चान्द्रायण**, एक मास तक **दुग्ध-व्रत** या **पराक** करने से शुद्धि प्राप्त हो जाती है। मनु (११।११७) ने भी सभी उपपातकों के प्रायश्चित्तों के लिए इसी व्यवस्था या चान्द्रायण का उल्लेख किया है। केवल वैदिक ब्रह्मचारी के व्रत-भंग पर अन्य प्रायश्चित्त बतलाया है।

पापी को, चाहे वह स्वयं विद्वान् क्यों न हो, परिषद् के पास जाना चाहिए, और कोई वस्तु भेंट देने के उपरान्त (गौ आदि देकर) अपने पाप का उद्घोष कर उसके प्रायश्चित्त के विषय में सम्मति लेनी चाहिए (याज्ञ० ३।३०० एवं पराशर ८।२)। मिताक्षरा, पराशरमाधवीय, प्रायश्चित्तसार एवं अन्य निबन्धों ने अंगिरा के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं, जो निम्न बात कहते हैं—पापी को अपना पाप नहीं छिपाना चाहिए और न समय खोना चाहिए; उसे वस्त्र के साथ ही स्नान करके गीले वस्त्र से परिषद् के पास जाकर पृथिवी पर दण्डवत् पड़ जाना चाहिए। परिषद् के सदस्य उससे पूछते हैं—'क्या काम है? क्या कष्ट है? तुम हम लोगों से क्या चाहते हो?' तब सदस्य उससे थोड़ा हट जाने को कहकर आपस में परामर्श करके एवं काल, स्थान, पाप-कृत्य, वय आदि पर विचार करके प्रायश्चित्त की व्यवस्था देते हैं। इस व्यवस्था को एक सदस्य स्मृति-वचन उच्चारित करके परिषद् की आज्ञा से उद्घोषित करता है। हमने पहले ही देख लिया है कि परिषद् यह कार्य राज्यानुशासन के अन्तर्गत ही करती है और राजा उसके निर्णय पर कोई नियन्त्रण नहीं रखता। प्रायश्चित्त के प्रमुख चार स्तर ये हैं—(१) परिषद् के पास जाना, (२) परिषद् द्वारा उचित प्रायश्चित्त का उद्घोष, (३) प्रायश्चित्त का सम्पादन तथा (४) पापी के पाप की मुक्ति का प्रकाशन (अंगिरा, प्रायश्चित्तप्रकाश—उपस्थानं व्रतादेशश्चर्या शुद्धिप्रकाशनम्। प्रायश्चित्तं चतुष्पादं विहितं धर्मकर्तृभिः॥)।

यहाँ पर परिषद् के निर्माण, शिष्टों के शील गुणों एवं उनके कर्तव्यों तथा अधिकारों की सविस्तर व्याख्या अपेक्षित नहीं है, क्योंकि इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय २८ में पढ़ लिया है। वहाँ जो बातें नहीं दी हुई हैं, हम उनका वर्णन करते हैं। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि उस शूद्र को, जो विद्वान् है, आत्म-निग्रही और शास्त्र-ज्ञान में भक्ति रखनेवाला है, कोई नहीं पूछता था, प्रत्युत उस द्विज को, जो भले ही दुश्चरित्र हो, परामर्श देने की छूट प्राप्त थी। शूद्र को उस यज्ञिय भोजन के समान त्याज्य समझा जाता था जिसे कुत्तों ने छू लिया हो। 'परिषद्' शब्द के स्थान पर 'पर्षद्' का व्यवहार स्मृतियों ने किया है। पराशर (४।५५-५७) के मत से परिषद् को बच्चों, दुर्बलों एवं बूढ़ों के लिए छूट देने की अनुमति थी, यदि परिषद् के शिष्ट लोग स्नेह, लोभ, भय या अज्ञानवश किसी को छूट देते थे तो उलटा पाप उन्हीं को लगता था। देवल ने यही बात कही है। जहाँ तक सम्भव हो सर्वसम्मति से निष्कर्ष या निर्णय दिया जाता था। यदि शिष्ट उचित प्रायश्चित्त जानते हुए उचित निर्णय नहीं देते थे तो पापी के प्रायश्चित्त के उपरान्त बचा हुआ पाप उन्हें भोगना पड़ता था।

अध्याय ४

विशिष्ट पापों के विशिष्ट प्रायश्चित्त

अब हम महापातकों, उपपातकों एवं अन्य प्रकार के दुष्कृत्यों के विभिन्न प्रकारों के लिए व्यवस्थित प्रायश्चित्तों का विवेचन उपस्थित करेंगे। स्मृतियों में एक ही प्रकार के पाप के लिए कई प्रकार के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था है, अतः सभी मतों का समाधान करना दुष्कर है। टीकाएँ एवं मिताक्षरा तथा प्रायश्चित्तविवेक जैसे निबंध विशिष्ट प्रायश्चित्तों की व्यवस्था अन्य परिस्थितियों की जाँच करके देते हैं, अर्थात् वे 'विषयव्यवस्था' पर ध्यान देते हैं।[1] हम इस ग्रन्थ में न तो सभी दुष्कृत्यों का वर्णन कर सकेंगे और न सभी प्रायश्चित्तों की व्याख्या ही कर सकेंगे। शब्दकल्पद्रुम (भाग ३) में प्रायश्चित्त विवेक से उपस्थापित जो व्याख्या है, केवल उसी में कतिपय पाप-कृत्यों, उनके लिए प्रायश्चित्तों, प्रतिनिधि रूप में दी जानेवाली गौओं एवं धन तथा इनके स्थान पर दक्षिणा आदि के विषय में ३२१ से ३६४ पृष्ठों तक वर्णन है। आज ये प्रायश्चित्त प्रयोग में नहीं लाये जाते, केवल गोदान, दक्षिणा, जप आदि का प्रचलन मात्र रह गया है। हम केवल विशिष्ट प्रायश्चित्तों का ही वर्णन उपस्थित कर सकेंगे और आगे के अध्याय में सभी प्रायश्चित्तों की संक्षिप्त व्याख्या देंगे।

महापातकों के लिए प्रायश्चित्त—शंख (१७।१-३) ने चार महापातकों के लिए निम्न प्रायश्चित्त निर्धारित किये हैं—महापातकी को दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए; वन में पर्णकुटी (घास-फूस पत्तियों आदि से झोपड़ी) बना लेनी चाहिए; पृथिवी पर सोना चाहिए; पर्ण (पत्ती), मूल, फल पर ही रहना चाहिए; ग्राम में भिक्षाटन के लिए प्रवेश करते समय महापातक की घोषणा करनी चाहिए; दिन में केवल एक ही बार खाना चाहिए। जब इस प्रकार १२ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं तो सोने का चोर, सुरापान करने वाला, ब्रह्महत्यारा एवं व्यभिचारी (माता, बहिन, पुत्रवधू, गुरुपत्नी आदि से व्यभिचार करने वाला) महापाप से मुक्त हो जाता है।[2] विष्णु० (३४।१) ने माता, पुत्री, पुत्रवधू के साथ संभोग करने को **अतिपाप** कहा है और उसके लिए (३४।२) **अग्निप्रवेश** से बढ़कर कोई अन्य प्रायश्चित्त नहीं ठहराया है। यही बात भविष्य०, हारीत एवं संवर्त (प्राय० वि० पृ० ४३) ने भी कही है। किन्तु मनु (११।५८), याज्ञ० (३।२२७) आदि कुछ स्मृतियों ने **मातृगमन** को महापातक (**गुरुतल्पगमन**) एवं पुत्री तथा पुत्र-वधू के साथ गमन को गुरु-शय्या अपवित्र करने के समान माना है (मनु ११।५८ एवं याज्ञ० ३।२३३-२३४)।

१. एवमादीन्यन्यानि उत्कर्षापकर्षप्रतिपादकवचनानि ब्राह्मणादिजातत्व-वृत्तस्थावृत्तस्थत्व-वेदाग्न्यादियुक्तत्वायुक्तत्व-कामाकामकृतत्व—व्यवस्थया व्याख्येयानि। प्राय० वि० (पृ० २२०)।

२. नित्यं त्रिषवणस्नायी कृत्वा पर्णकुटीं वने। अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः।। ग्रामं विशेच्च भिक्षार्थं स्वकर्म परिकीर्तयन्। एककालं समश्नीयाद्वर्षे तु द्वादशे गते।। हेमस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः। व्रतेनैतेन शुध्यन्ते महापातकिनस्त्विमे।। शंख (१७।१-३); अपरार्क (पृ० १०-५३-५४); परा० मा० (२, भाग १, पृ० ३२०-३२१ एवं प्राय० प्रका० द्वारा उद्धृत)।

महापातकों में प्रथम स्थान ब्रह्महत्या को दिया गया है। गौ० (२२।२-१०), आप० ध० सू० (१।९।२४।१०-२५ एवं १।९।२५।१२-१३), वसिष्ठ (२०।२५-२८), विष्णु० (३५।६ एवं ५०।१-६ एवं १५), मनु (११।७२-८२), याज्ञ० (३।२४३-२५०), अग्नि० (१६९।१-४ एवं १७३।७-८), संवर्त (११०-११५) आदि नें विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। मनु ने बहुत-सी बातें कहीं हैं। भविष्य० (कुल्लूक, मनु ११।७२-८२; अपरार्क पृ० १०५५ एवं प्राय० वि० पृ० ६३) ने ब्रह्महत्या के विषय में मनु द्वारा स्थापित १३ विभिन्न प्रायश्चित्त गिनाये हैं। सामान्यतः नियम यह था कि ब्रह्महत्यारों को मृत्यु-दण्ड मिल जाना चाहिए। प्रायश्चित्तविवेक की अपनी टीका 'तत्त्वार्थकौमुदी' में गोविन्दानन्द ने १३ प्रायश्चित्तों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

(१) ब्रह्मघातक को वन में पर्णकुटी बनाकर १२ वर्षों तक रहना चाहिए; उसे भिक्षा पर जीना चाहिए और एक दण्ड पर मृत व्यक्ति की मस्तक-अस्थि का एक टुकड़ा सदैव रखकर चलना चाहिए। यह एक अति प्राचीन प्रायश्चित्त है। अन्य स्मृतियों ने कुछ और बातें भी जोड़ दी हैं, यथा—गौतम (२२।४) के मत से पापी को वैदिक ब्रह्मचारी के नियमों (मांस, मधु आदि का प्रयोग न करना) का पालन करना चाहिए। उसे ग्राम में केवल भिक्षा के लिए जाना चाहिए और अपने पाप का उद्घोष करना चाहिए। याज्ञ० (२।२४३) के मत से उसे बायें हाथ में मस्तक की हड्डी का एक टुकड़ा और दाहिने हाथ की छड़ी में एक अन्य टुकड़ा रखना चाहिए तथा दिन में केवल एक बार भोजन करना चाहिए। हड्डी के टुकड़े का यह तात्पर्य नहीं है कि वह उसमें भिक्षा माँगेगा, किन्तु इस विषय में कई मत हैं। आप० ध० सू० (१।९।२४।१४) के मत से उसे एक टूटे लाल (मिट्टी या ताँबे के) पात्र में केवल सात घरों से ही भिक्षा माँगनी चाहिए और यदि उन सात घरों से भोजन न मिले तो उस दिन उसे भूखा रहना चाहिए। उसे घुटनों के ऊपर एक कछनी मात्र पहननी चाहिए; उसे गाय-पालन करना चाहिए और उसी के लिए (गायों को चराने के लिए ले जाने और पुनः लौटाने के लिए) ग्राम में प्रवेश करना चाहिए। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२४३) ने जोड़ा है कि छड़ी में तथा बायें हाथ में मृत व्यक्ति की हड्डी रखने का तात्पर्य यह है कि वह सदैव अपने दुष्कर्म का स्मरण करता रहे तथा अन्यों को अपने पाप का स्मरण दिलाता रहे; उसे किसी आर्य को देखकर मार्ग छोड़ देना चाहिए (गौ० २२।६); उसे दिन में खड़ा रहना चाहिए और रात्रि में बैठना चाहिए एवं दिन में तीन बार स्नान (गौ० २२।६) करना चाहिए। मिता० ने यह भी कहा है कि यदि मृत ब्राह्मण के मस्तक की हड्डी न मिले तो किसी अन्य मृत ब्राह्मण के मस्तक की हड्डी ले लेनी चाहिए। मिताक्षरा ने यह भी कहा है कि गौतम, मनु एवं याज्ञ० के अनुसार यह व्रत १२ वर्षों तक चलता रहना चाहिए (याज्ञ० ३।२४३)। मिताक्षरा एवं कुल्लूक (मनु ११।७२) का कथन है कि यदि ब्रह्महत्या अनजान में हुई हो तो यह व्रत १२ वर्षों तक चलना चाहिए, किन्तु जान-बूझकर की गयी ब्रह्महत्या के लिए अवधि दूनी अर्थात् २४ वर्षों की होती है। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२४३) के मत से केवल **घातक** को १२ वर्षों तक यह व्रत करना चाहिए, **अनुग्राहक** को ९ वर्षों, **प्रयोजक** को ६ वर्षों, **अनुमन्ता** को ४½ वर्षों तथा **निमित्ती** को केवल ३ वर्षों तक व्रत करना चाहिए। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२४३) ने मनु एवं देवल का हवाला देकर कहा है कि यदि कई ब्रह्महत्याएँ की जायँ और प्रायश्चित्त एक ही बार हो तो दो हत्याओं के लिए २४ वर्षों, तीन हत्याओं के लिए ३६ वर्षों का व्रत होना चाहिए तथा चार हत्याओं के लिए केवल मृत्युदण्ड ही प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ४६८) के मत से, जैसा कि भविष्यपुराण में भी आया है, कई हत्याओं के लिए १२ वर्षों की अवधि ही पर्याप्त है (यह मत 'क्षामवती इष्टि' के आधार पर है, अर्थात् जब दुर्घटनावश आहुति देने के पूर्व ही पुरोडाश एवं घर भस्म हो जाय तो इस इष्टि से मार्जन कर दिया जाता है (जैमिनि ६।४।१७-२०)। यही बात प्रायश्चित्तप्रकाश ने भी कही है। यदि ब्रह्मघातक क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र हो तो उसे क्रम से २४, ३६ एवं ४८ वर्षों तक प्रायश्चित्त करना पड़ता था (स्मृत्यर्थसार पृ० १०५)। वन में पर्णकुटी बनाकर रहने के स्थान पर वह ग्राम के अन्त भाग में या गोशाला में रह सकता है, वह अपना सिर एवं

मूँछें मुंड़ा सकता है, या वह किसी आश्रम में या पेड़ के तने के नीचे रह सकता है। इस प्रकार रहते हुए उसे ब्राह्मणों एवं गायों की सेवा करनी चाहिए तथा ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए (मनु ११।७८ एवं ८१)। बारह वर्षों के उपरांत वह ब्रह्महत्या के महापातक से मुक्त हो जाता है।

(२) आप० ध० सू० (१।९।२५।१२), गौतम (२२।३), मनु (११।७२) एवं याज्ञ० (३।२४८) के मत से यदि ब्रह्मघातक क्षत्रिय हो और उसने जान-बूझकर हत्या की हो तो वह चाहे तो युद्ध करने चला जाय, उसके साथ युद्ध करनेवाले लोग उसे ब्रह्मघातक समझकर मार सकते हैं। यदि हत्यारा मर जाय या घायल होकर संज्ञाशून्य हो जाय और अन्त में बच भी जाय तो वह महापातक से मुक्त हो जाता है।

(३) आप० ध० सू० (१।९।२५।१३), वसिष्ठ (२०।२५-२६), गौतम (२२।८), मनु (११।७४) एवं याज्ञ० (३।२४७) का कथन है कि हत्यारा किसी कुल्हाड़ी से अपने बाल, चर्म, रक्त, मांस, मांसपेशियाँ, वसा, अस्थियाँ एवं मज्जा काट-काटकर साधारण अग्नि में (उसे मृत्यु-देवता समझकर) आहुतियों के रूप में दे दे और अन्त में अपने को अग्नि में (मनु ११।७३ के अनुसार सिर नीचा करके तीन बार) झोंक दे। मदनपारिजात एवं भविष्य० (प्राय० प्रकाश द्वारा उद्धृत) के मत से यह प्रायश्चित्त क्षत्रिय द्वारा की गयी ब्रह्महत्या के लिए व्यवस्थित है।

(४–८) ब्रह्मघातक अश्वमेध या गोसव या अभिजित् या विश्वजित् या तीन प्रकार वाला अग्निष्टुत् (मनु ११।७४) यज्ञ कर सकता है। अश्वमेध केवल राजा या सम्राट् कर सकता है। अन्य यज्ञ तीन उच्च वर्णों का कोई घातक कर सकता है। ये यज्ञ केवल उसके लिए हैं जो अनजान में ही ब्रह्महत्या करता है (कुल्लूक, मनु ११।७४)। विष्णु० (अध्याय ३५, अन्तिम श्लोक) के मत से किसी भी महापातक का अपराधी अश्वमेध या पृथिवी के सभी तीर्थ-स्थानों की यात्रा करके शुद्ध हो सकता है। (९) मनु (११।७५) के अनुसार ब्रह्महत्या के महापातक से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति सीमित भोजन करते हुए आत्मनिग्रहपूर्वक चारों में किसी एक वेद के पाठ के साथ १००० योजनों की पैदल यात्रा कर सकता है। कुल्लूक (मनु ११।७५) का कथन है कि यह प्रायश्चित्त केवल उसके लिए है जिसने किसी साधारण ब्राह्मण (जो वेदज्ञ या विद्वान् आदि न हो) की हत्या अनजान में की है। (१०) मनु (११।७६) के मत से ब्रह्मघातक किसी वेदज्ञ को अपनी सारी सम्पत्ति दान में देकर छुटकारा पा सकता है।

(११) मनु (११।७६) एवं याज्ञ० (३।२५०) का कथन है कि घातक किसी सदाचारी एवं वेदज्ञ ब्राह्मण को उतनी सम्पत्ति दान दे सकता है जिससे वह ब्राह्मण जीवन भर एक सुसज्जित घर में रहकर जीविका चला सके। ऐसा गोविन्दानन्द का मत है। किन्तु मिता० (याज्ञ० ३।२५०) का कथन है कि उपर्युक्त (१०) संख्यक एवं यह पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त नहीं हैं, प्रत्युत दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं, अर्थात् यदि हत्यारा सन्तानहीन हो तो वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर सकता है, किन्तु यदि वह संतानयुक्त हो तो केवल एक सुसज्जित घर दे सकता है। यह व्याख्या अच्छी है। और देखिए स्मृत्यर्थसार (पृ० १०५)। (१२) मनु (११।७७) एवं याज्ञ० (३।२४९) के मत से घातक नीवार, दूध या घृत पर जीवन-यापन करता हुआ सरस्वती नदी की शाखाओं की यात्रा कर सकता है। भविष्य० एवं कुल्लूक के मत से यह व्रत उस व्यक्ति के लिए है जिसने किसी साधारण ब्राह्मण (जिसने विद्या अर्जन न किया हो) की हत्या जान-बूझकर की हो और जो स्वयं धनवान् हो किन्तु वेदज्ञ न हो। अपरार्क, सर्वज्ञनारायण एवं राघवानन्द ने व्याख्या की है कि घातक को समुद्र से ऊपर सरस्वती के मूल स्रोत की ओर जाना चाहिए। (१३) मनु (११।७७) एवं याज्ञ० (३।२४९) ने व्यवस्था दी है कि उसको वन में सीमित भोजन करते हुए वेद की संहिता का तीन बार पाठ करना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि वह केवल संहिता का पाठ कर सकता है, पदपाठ या क्रमपाठ नहीं कर सकता। भविष्य० एवं कुल्लूक के मत से यह प्रायश्चित्त केवल उसके लिए है जिसने केवल जन्म से ब्राह्मण (जो वेदज्ञ न हो) कहलाने वाले की हत्या अनजान में की हो।

मनु (११।७९), याज्ञ० (३।२४४ एवं २४६), वसिष्ठ (२०।२७-२८) एवं गौतम (२२।७-८ एवं ११) ने तीन अन्य प्रायश्चित्तों का उल्लेख किया है। किंतु वे, जैसा कि शंख ने कहा है, स्वतन्त्र रूप से पृथक् प्रायश्चित्त नहीं हैं। यदि कोई घातक १२ वर्षों का प्रायश्चित्त करते हुए ब्राह्मण पर आक्रमण करने वालों से युद्ध करता है और उसे बचा लेता है (या वसिष्ठ के मत से राजा के लिए युद्ध करता है) या ऐसा करने में मर जाता है तो वह तत्क्षण पापमुक्त हो जाता है और यदि वह युद्धोपरान्त जीवित रहता है तो उसे पूरी अवधि तक प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता। यही बात अपने प्राणों को भयावह स्थिति में डालकर १२ गायों के बचाने में भी पायी जाती है। इसी प्रकार यदि घातक किसी ब्राह्मण के धन को छीनने वाले डाकू से युद्ध करता है और धन बचा लेता है या इस प्रयास में मर जाता है या बुरी तरह घायल हो जाता है (याज्ञ०, वसिष्ठ एवं गौतम के मत से तीन बार) तो वह ब्रह्महत्या के महापातक से मुक्त हो जाता है।

मनु (११।८२), याज्ञ० (३।२४४), शंख एवं गौतम (२२।९) का कथन है कि अश्वमेध के उपरान्त स्नान-कृत्य (अवभृथ) के लिए उपस्थित राजा एवं पुरोहितों के समक्ष यदि कोई ब्रह्मघातक अपराध उद्घोषित करता है और उनकी अनुमति पर स्नान करने में सम्मिलित हो जाता है तो वह पाप-मुक्त हो जाता है। हरदत्त के मत से यह एक पृथक् प्रायश्चित्त है, किन्तु मिता० (याज्ञ० ३।२४४) एवं अपरार्क (पृ० १०५७) के मत से ऐसा नहीं है, प्रत्युत १२ वर्षों के प्रायश्चित्त की अवधि में ऐसा हो सकता है।

याज्ञ० (३।२४५) का कहना है कि यदि घातक बहुत दिनों से रुग्ण एवं यों ही मार्ग में पड़े हुए किसी ब्राह्मण या गाय की दवा करता है और अच्छा कर देता है तो वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है।

पराशर (१२।६५-६७) ने व्यवस्था दी है कि ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त के लिए व्यक्ति को समुद्र एवं रामसेतु को जाना चाहिए और ऐसा करते हुए उसे अपने पाप का उद्घोष करते हुए भिक्षा माँगनी चाहिए, छाता एवं जूता का प्रयोग नहीं करना चाहिए, पैदल चलना चाहिए, गोशाला, जंगलों, तीर्थों में एवं नदी-नालों के पास ठहरना चाहिए। सेतु पर पहुँचने पर समुद्र में स्नान करना चाहिए और लौटने पर ब्रह्म-भोज देकर विद्वान् ब्राह्मणों को १०० गौएँ दान में देनी चाहिए।

जमदग्नि, अत्रि, कश्यप आदि ने (अपरार्क, पृ० १०६४-१०६५) ब्रह्महत्या के लिए कई प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है, जिन्हें हम यहाँ स्थानाभाव से नहीं दे रहे हैं।

प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० १३), प्रायश्चित्तविवेक (पृ० ७०-७१), स्मृतिमुक्ताफल (प्रायश्चित्त, पृ० ८७३), दक्ष (३।२७-२८ एवं आप० ध० सू० १।९।२४ को उद्धृत करके) ने कहा है कि यदि कोई ब्राह्मण अपने पिता, माता, सहोदर भाई, वेद-गुरु, वेदज्ञ ब्राह्मण या अग्निहोत्री ब्राह्मण की हत्या करता है तो उसे अन्तिम श्वास तक प्रायश्चित्त करना पड़ता है। सोमयज्ञ में लिप्त पुरोहित की हत्या पर दूना प्रायश्चित्त करना पड़ता है। प्रायश्चित्त-प्रकरण (पृ० १३) का कथन है कि इस विषय में हत्यारे को १२ वर्षों के प्रायश्चित्त के उपरान्त उतनी गौएँ दान में देनी पड़ती हैं जितने वर्ष उसकी अवस्था से लेकर १२० वर्षों (जीवन की अधिकतम अवधि) के बीच में बच रहते हैं। यदि कोई किसी ब्राह्मण को मार डालने की इच्छा से घायल कर देता है तो उसे ब्रह्महत्या के समान प्रायश्चित्त करना पड़ता है (याज्ञ० ३।२५२, गौ० २२।११)। मिता० ने व्याख्या की है कि यह नियम का अतिदेश (विस्तार) मात्र है और प्रायश्चित्त केवल ९ वर्षों का होता है। जो महापातक ब्रह्महत्या या सुरापान के समान कहे गये हैं उनके प्रायश्चित्त केवल उनके लिए व्यवस्थित प्रायश्चित्तों से आधे होते हैं। जो व्यक्ति आत्महत्या की इच्छा कर जल या अग्नि के प्रवेश से, या लटककर मर जाने से, विष से, या प्रपात से गिरकर, या उपवास से, मंदिर के कँगूरे से गिरकर या पेट में छुरा भोंक लेने से बच जाता है उसे तीन वर्षों का प्रायश्चित्त करना पड़ता है (प्राय० प्रक०, पृ० १५)। वसिष्ठ

(२३।१८-१९) एवं पराशर (१२।५-८) ने इन लोगों के लिए (जो प्रत्यवसित कहे गये हैं) अन्य प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० १५) एवं प्रायश्चित्तविवेक (पृ० ७५) ने यम को उद्धृत कर प्रत्यवसितों के नौ प्रकार किये हैं और उनके लिए चान्द्रायण या तप्तकृच्छ्र की व्यवस्था दी है।[3]

यदि कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जान-बूझकर स्वयं किसी ब्राह्मण को मार डाले तो उसके लिए मृत्यु ही प्रायश्चित्त है, किन्तु अज्ञान में हुई ब्रह्महत्या के लिए, उसी पाप में ब्राह्मण को जो प्रायश्चित्त करना पड़ता है उसका उनके लिए क्रम से दूना, तिगुना या चौगुना प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यदि कोई ब्राह्मण किसी क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को मार डालता है तो केवल उपपातक लगता है, किन्तु यदि क्षत्रिय या वैश्य सोमयज्ञ में लगे हों और उन्हें कोई ब्राह्मण मार डाले तो पाप बड़ा होता है और प्रायश्चित्त भी भारी होता है (सामविधानब्राह्मण १।७।५, याज्ञ० ३।२५१, वसिष्ठ २०।३४)। याज्ञ० (३।२६६-२६७), मनु (११।१२६-१३०) एवं आप० ध० सू० (१।९।२४।१-४) के मत से क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को मारने वाले के लिए अन्य प्रायश्चित्त भी हैं। क्षत्रिय के क्षत्रिय-हत्यारे को क्षत्रिय के ब्राह्मण-हत्यारे से कुछ कम (अर्थात् ¼ भाग कम) प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

मृत स्त्रियों को क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र पुरुषों के समान ही माना जाता था (याज्ञ० ३।२३६ एवं मनु ११।६६), किन्तु आत्रेयी या गर्भवती स्त्री के विषय में ऐसी बात नहीं थी (गौ० २२।१७; आप० ध० सू० १।९।२४।५ एवं ९; बौधा० ध० सू० २।१।१०, १२-१३; वसिष्ठ २०।३४; विष्णु० ५०।७-९), उनके हत्यारे को भारी प्रायश्चित्त करना पड़ता था। यदि द्विज-पत्नी सोमयज्ञ कर रही हो और उसे कोई मार डाले तो उसके हत्यारे को ब्रह्मघातक के समान ही प्रायश्चित्त करना पड़ता था। व्यभिचारिणी को मारने पर प्रेमी हत्यारे एवं उस स्त्री की जाति के अनुसार ही भारी प्रायश्चित्त करना पड़ता था (गौ० २२।२६-२७, मनु ११।१३८, याज्ञ० ३।२६८-६९)।

मनु (११।२०८=विष्णु० ५४।३०) एवं याज्ञ० (३।२९३) के मत से ब्राह्मण को धमकी देने या पीटने पर क्रम से कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र तथा रक्त निकाल देने पर कृच्छ्र एवं अतिकृच्छ्र प्रायश्चित्त करने पड़ते थे। इन अपराधों के लिए सामविधानब्राह्मण (१।७।४) ने अन्य प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है।

सुरापान करने पर ब्राह्मण को अति कठोर प्रायश्चित्त करने पर ही जीवन-रक्षा मिल सकती थी। गौतम (२३।१), आप० ध० सू० (१।९।२५।३), बौधा० ध० सू० (२।१।२१), वसिष्ठ (२०।२२), मनु (११।९०-९१) एवं याज्ञ० (३।२५३) के मत से यदि कोई ब्राह्मण अन्न से बनी सुरा को ज्ञान में केवल एक बार भी पी ले तो उसका प्रायश्चित्त मृत्यु से ही बन पाता है, अर्थात् उसे उसी खौलती हुई सुरा को, या खौलते हुए गोमूत्र को, या खौलते हुए दूध, घी, जल या गीले गोबर को पीना पड़ता था, और जब वह पूर्णरूपेण इस प्रकार जल उठता था और उसके फलस्वरूप मर जाता था तो वह सुरापान के महापातक से छुटकारा पा जाता था।[4] हरदत्त (गौतम २३।१) ने कहा

३. जलाग्न्युद्बन्धनभ्रष्टाः प्रव्रज्यानाशकच्युताः। विषप्रपतनप्रायशस्त्रघातहताश्च ये॥ नवैते प्रत्यवसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः। चान्द्रायणेन शुध्यन्ति तप्तकृच्छ्रद्वयेन वा॥ यम (२२-२३), बृहद्यम (३-४), नारदपुराण। इसमें संन्यास को त्याग देने वाले एवं प्राण देने के लिए किसी के द्वार पर बैठने वाले भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।

४. सुरापोऽग्निस्पर्शां सुरां पिबेत्। आप० ध० सू० (१।९।२५।३); सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः सुरामास्ये मृतः शुध्येत्। गौ० (२३।१); सुरापाने कामकृते ज्वलन्तीं तां विनिक्षिपेत्। मुखे तया विनिर्दग्धे मृतः शुद्धिमवाप्नुयात्॥ बृहस्पति (मिता०, याज्ञ० ३।२५३); अपरार्क (पृ० १०७१); प्राय० प्रकरण (पृ० ४३); प्रायेण वर्णत्रयेषु

है कि यह भयानक प्रायश्चित्त उसके लिए है जो जान-बूझकर लगातार सुरापान करता है (यहाँ अन्न से बनी सुरा की ओर संकेत है)। मनु (११।९२) एवं याज्ञ० (३।२५४) ने उपर्युक्त प्रायश्चित्त के स्थान पर एक अन्य प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है—पापी को एक वर्ष (याज्ञ० के मत से तीन वर्षों) तक केवल एक बार भोजन करना चाहिए (और वह भी रात्रि में कोद्रव चावल का भात या खली की रोटी खाना चाहिए), उसे गाय के बालों से बना वस्त्र धारण करना चाहिए, सिर पर जटा होनी चाहिए और हाथ में सुरा के प्याले के साथ छड़ी होनी चाहिए।

ऋषियों ने क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए भी सुरापान करने पर यही प्रायश्चित्त बताया है। हमने पहले देख लिया है कि सुरापान के अपराधी क्षत्रिय एवं वैश्य को ब्राह्मण अपराधी की अपेक्षा क्रम से तीन-चौथाई एवं आधा प्रायश्चित्त करना पड़ता था (विष्णु, प्राय० वि० पृष्ठ १०२ में उद्धृत)। यह प्रायश्चित्त पेट में पड़े हुए खाद्य पदार्थों का वमन कर देने के उपरान्त किया जाता था। मदनपारिजात (पृ० ८१८), प्रायश्चित्तविवेक (पृ० १०४), प्रायश्चित्तप्रकरण (पृ० ४३), मिता० (याज्ञ० ३।२४) आदि के मत से १२ वर्षों का प्रायश्चित्त उस व्यक्ति के लिए है जो अज्ञानवश या बलवश आटे से बनी हुई सुरा पी लेता है। गौतम (२३।२-३), याज्ञ० (३।२५५), मनु (११।१४६), अत्रि (७५) के मत से अज्ञान में मद्यों, मानव वीर्य, मल-मूत्र को पी जानेवाले तीन उच्च वर्णों के व्यक्तियों को तप्तकृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त करके पुनः उपनयन-संस्कार करना पड़ता है। वसिष्ठ (२९।१९) ने अज्ञान में किसी भी प्रकार का मद्य पी लेने पर कृच्छ्र एवं अतिकृच्छ्र की व्यवस्था दी है और घी पीने तथा पुनः उपनयन-संस्कार करने की आज्ञा दी है। मनु (११।१४६) एवं याज्ञ० (३।२५५) के मतों के विषय में बहुत-सी व्याख्याएँ हैं जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। बृहस्पति (मिता०, अपरार्क आदि द्वारा उद्धत) के कथन से गौडी (गुड़ से बनी), पैष्टी (आटे से बनी), माध्वी (मधु या महुवा से बनी) नामक सुरा पीनेवाले ब्राह्मण को क्रम से तप्तकृच्छ्र, पराक एवं चान्द्रायण प्रायश्चित्त करना पड़ता है। यह हलका प्रायश्चित्त उन्हें करना पड़ता है जो किसी अन्य दवा के न रहने पर इनका सेवन करते हैं।[5]

कोई ब्राह्मण आटे से बनी सुरा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार के मद्य का सेवन करता है तो उसके लिए कई प्रकार के हलके प्रायश्चित्तों (यथा—समुद्र-गामिनी नदी पर चान्द्रायण करना, ब्रह्मभोज देना, एक गाय एवं बैल का दान करना) की व्यवस्था दी हुई है (पराशर १२।७५-७६)। देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५५)। क्षत्रियों एवं वैश्यों को सुरा (पैष्टी, आटे से बनी) के अतिरिक्त अन्य मद्य पीने से कोई पाप नहीं लगता है और शूद्र पैष्टी सुरा भी पी सकता है। मिता० (याज्ञ० ३।२४३) का कथन है कि मनु (११।९३) ने यद्यपि ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए सुरा वर्जित मानी है, किन्तु उन बच्चों के लिए, जिनका उपनयन कृत्य नहीं हुआ है तथा अविवाहित लड़कियों के लिए भी सुरापान वर्जित है। यदि ऐसे लड़के या लड़कियाँ सुरापान के दोषी ठहरते थे तो उन्हें तीन वर्षों का (यदि अपराध अनजान में हुआ हो) या छः वर्षों का (यदि अपराध ज्ञान में हुआ हो) प्रायश्चित्त करना पड़ता था (देखिए प्राय० प्रकरण, पृ० ४८)। कल्पतरु ने गौतम (२।१) के आधार पर यह कहा है कि उपनयन के पूर्व लड़कों को खान-पान, बोली एवं व्यवहार में पूरी छूट है और अविवाहित लड़की को सुरापान करने पर पाप नहीं लगता। किन्तु प्राय० वि० (पृ० १०४) एवं

सर्वेष्वेव नराधिप। मतिपूर्वं सुरापाने प्राणान्तिकमुदाहृतम्॥ पैष्टीपाने तु ऋषिभिर्नेतरस्यां कदाचन। भविष्य० (दीपकलिका, याज्ञ० ३।२५३)।

५. गौडीं पैष्टीं तथा माध्वीं पीत्वा विप्रः समाचरेत्। तप्तकृच्छ्रं पराकं च चान्द्रायणमनुक्रमात्॥ बृहस्पति (मिता०, याज्ञ० ३।२५४; अपरार्क पृ० १०७३; परा० मा० २, भाग २, पृ० ८४; मदनपारिजात पृ० ८२१; प्राय० सार० पृ० ४२)।

प्राय० प्रकाश ने कल्पतरु के इस मत की आलोचना की है। बृहस्पति का कथन है कि गौतम आदि ने केवल खट्टे या बासी मद्य (मादक) की छूट दी है न कि सुरा की, जिसका पीना महापातक है। जातूकर्ण्य (परा० माध० २, भाग २, पृ० ८०) ने कहा है कि यदि उपनयन के पूर्व कोई बच्चा मूर्खतावश कोई मद्य पी ले तो उसके माता-पिता या भाई को प्रायश्चित्तस्वरूप तीन कृच्छ्र करने पड़ते हैं। अंगिरा, आपस्तम्बस्मृति (३।७), लघु हारीत (३४-३५), बृहद्यम (३।१-२) ने भी कहा है कि उन बच्चों के लिए जो अभी ५ वर्ष के ऊपर एवं १० वर्ष से नीचे हैं, भाई, पिता या मित्र प्रायश्चित्त के लिए प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

आश्वलायनगृह्यसूत्र (१।२२।२२-२६) ने पुनरुपनयन के समय क्या करना चाहिए और क्या छोड़ देना चाहिए आदि के विषय में व्यवस्था दी है। उसके मत से बाल कटाना एवं बुद्धि-वर्धक कृत्य करना आदि वैकल्पिक हैं, किंतु उसने देवताओं, समय एवं मन्त्रोच्चारण के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। वसिष्ठ (२०।१८) ने मनु (११।१५१) को इस विषय में उद्धृत किया है, और विष्णु (५१।४-५) ने भी यही बात कही है। विष्णु (५१।२-३) ने शरीर से निकलने वाली (बारह प्रकार की) वस्तुओं को पीने या कतिपय मद्यों को पीने या लशुन (लहसुन) या पियाज़ या शलजम या किसी अन्य ऐसे गंध वाले पदार्थों के खाने, ग्रामशूकरों, पालतू मुर्गों, बन्दरों एवं गायों का मांस खाने के अपराध में चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था दी है और कहा है कि ऐसे पापियों का पुनरुपनयन होना चाहिए।

स्मृतियों ने खान-पान के विषय में दोषों के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है, यथा—सुरा के लिए प्रयुक्त किसी पात्र में जल पीना, किसी चाण्डाल या धोबी या शूद्र के घर के पात्र में जल पीना, न पीने योग्य दूध का सेवन आदि (गौतम १७।२२-२६, याज्ञ० १।१७०, मनु ५।८-१०)। इस विषय में हम नहीं लिखेंगे, क्योंकि वे संख्या में अधिक हैं और परिस्थितियों पर ही उनका प्रयोग भी आधारित है। शंख का कथन है कि भक्ष्याभक्ष्य-सम्बन्धी बहुत-से पदार्थ हैं, विशेषतः ब्राह्मणों के विषय में, उनका निर्णय शिष्टों (सम्मानार्ह व्यक्तियों की परिषद् के सदस्यों) पर निर्भर है। बृहस्पति ने व्यवस्था दी है कि खाने एवं चाटने की निषिद्ध वस्तुओं के सेवन या मानव-वीर्य, मूत्र या मल के सेवन पर चान्द्रायण व्रत द्वारा शुद्धि होती है। संवर्त, शंखलिखित-जैसे ऋषियों ने उदार मत भी दिया है और गोमांस एवं मानवमांस के सेवन के लिए भी चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था दी है।[६] सामविधानब्राह्मण (१।५।१३), मनु (११।१६०) आदि ने एक सामान्य नियम प्रतिपादित किया है कि यदि कोई व्यक्ति आंतरिक शुचिता चाहता है तो उसे निषिद्ध भोजन नहीं करना चाहिए, यदि वह अज्ञानवश ऐसा भोजन कर ले तो उसे प्रयास करके वमन कर देना चाहिए और यदि वह ऐसा न कर सके तो उसे शीघ्रता से प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए (अज्ञान से निषिद्ध भोजन कर लेने पर हलका प्रायश्चित्त होता है)।

बहुत प्राचीन काल से ही निषिद्ध भोजन के प्रतिबन्धों के विषय में अपवाद रखे गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् (१।१०) में उषस्ति चाक्रायण की गाथा में कहा गया है कि जब कुरु देश में तुषारपात या टिड्डी दल से नाशकारी स्थिति

६. अलेह्यानामपेयानामभक्ष्याणां च भक्षणे। रेतोमूत्रपुरीषाणां शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम्॥ बृहस्पति (अपरार्क पृ० ११६४; परा० मा० २, भाग १, पृ० ३६७)। गोमांसं मानुषं चैव सूनिहस्तात्समाहृतम्। अभक्ष्यं तद् भवेत्सर्वं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्॥ संवर्त (१९७, अपरार्क पृ० ११६५; पराशरमाधवीय २, भाग १, पृ० ३६७); शृगाल-कुक्कुटदंष्ट्रि-क्रव्याद-वानर-खरोष्ट्र-गजवाजि-विड्वराह-गोमानुषमांसभक्षणे चान्द्रायणम्। शंखलिखित (अपरार्क, पृ० ११६६; परा० मा० २, भाग १, पृ० ३६८)। और देखिए गौ० (२३।४-३), वसिष्ठ (२३।३०), मनु (११। १५६), विष्णु (५१।३-४)।

उत्पन्न हो गयी थी तो उसने अपनी पत्नी के साथ किसी आढच व्यक्ति द्वारा छोड़े गये कुलथी के दाने खाये थे और उसके जल को इस बात पर ग्रहण नहीं किया था कि जल तो कहीं भी प्राप्त हो सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि आपत्-काल में उच्छिष्ट भोजन भी किया जा सकता है, किन्तु जब ऐसा न हो तो ब्रह्मज्ञानी को भी भोजन-सम्बन्धी शास्त्र-विहित नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। वेदान्तदर्शन (३।४।२८) में इस विषय में एक सूत्र है; 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्।' मनु (१०।१०४) ने कहा है कि जब कोई व्यक्ति विपत्ति-काल में (जब कि जीवन-भय भी उत्पन्न हो गया हो) किसी से भी कुछ ग्रहण कर लेता है तो उसे पाप नहीं लगता, क्योंकि आकाश में पंक नहीं रहता। मनु (१०।१०५-१०८) ने अजीगर्त (जिसने भूख से पीड़ित होकर अपने पुत्र की हत्या करनी चाही थी), ऋषि वामदेव (जिसने भूख से विकल होकर प्राण-रक्षा के लिए कुत्ते का मांस खाना चाहा), भरद्वाज (जिसने अपने पुत्र के साथ क्षुधापीड़ित होकर वन में वृधु या बृभु से गौएँ लीं) एवं विश्वामित्र (जिसने भूख से आहत होकर सदसत का विचार रखते हुए भी चाण्डाल से कुत्ते की जंघा प्राप्त की थी) की गाथाओं की ओर संकेत किया है।[७]

विभिन्न प्रकार के पक्षियों के खाने पर विष्णु (५१।२९ एवं ३१) ने तीन दिनों या एक दिन के उपवास की व्यवस्था दी है। विभिन्न प्रकार की मछलियों के खाने के विषय में देखिए विष्णुध० सू० (५१।२१)।

सोने की चोरी के महापातक के विषय में हमने इस खण्ड के अध्याय ३ में बहुत कुछ पढ़ लिया है। चोर को एक गदा लेकर राजा के पास पहुँचना होता था और राजा उसे एक ही बार में मार डालने का प्रयास करता था। आप० ध० सू० (१।९।२५।४) ने इसकी ओर संकेत किया है और विकल्प से (१।९।२५।६-७) अग्नि-प्रवेश या कम खाते-खाते मर जाने की व्यवस्था दी है। ८० रत्तियों की तोल या इससे अधिक की तोल तक (ब्राह्मण के) सोने की चोरी में सभी वर्णों के लिए चोरों का प्रायश्चित्त मृत्यु के रूप में था (मनु ८।१३४ एवं याज्ञ० १।३६३), किन्तु ब्राह्मण को इस महापातक के लिए वन में बारह वर्षों तक चीथड़ों में लिपटकर प्रायश्चित्त-स्वरूप रहना पड़ता था, या वही प्रायश्चित्त करना पड़ता था जो ब्रह्महत्या (मनु ११।१०१) या सुरापान (याज्ञ० ३।२५८) के लिए व्यवस्थित था। सोने की चोरी में चोर अपने भार के बराबर सोना भी दे सकता था या उसे इतना धन देना पड़ता था कि किसी ब्राह्मण के कुल का ब्राह्मण के जीवन-काल तक भरण-पोषण हो सके (मिताक्षरा, याज्ञ० ३।२५८)। आप० ध० सू० (१।९।२५।८) ने इस विषय में एक वर्ष तक कृच्छ्र करने को कहा है और एक उद्धरण दिया है—उन्हें, जिन्होंने (सोने की) चोरी की है, सुरा पी है या गुरु-पत्नी से सम्बन्ध किया है, किन्तु उसे नहीं जिसने ब्रह्महत्या की है, दिन के चौथे काल में थोड़ा खाना चाहिए, दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए, दिन में खड़ा रहना चाहिए और रात्रि में बैठे रहना चाहिए; इस प्रकार करते-करते तीन वर्षों के उपरान्त वे पाप-मुक्त हो जाते हैं।[८] निबन्धों ने चोरी गये सोने की तोल, जिसकी चोरी हुई है उसके गणों, चोर के गुणों, दोनों की जातियों, एक बार या कई बार चोरी के दुहराने, चोरी गयी वस्तु के मूल्य एवं रूप, समय एवं स्थान आदि के आधार पर विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। देखिए प्राय० वि० (पृ० ११७-

७. अजीगर्त की गाथा के लिए देखिए ऐतरेय ब्राह्मण (७।१३-१६) एवं इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २७। ऋग्वेद (६।४५।३१-३२) में बृभु को पणियों का बढ़ई कहा गया है और उसकी दया की प्रशंसा की गयी है। विश्वामित्र एवं उनके द्वारा चाण्डाल की झोपड़ी से कुत्ते के पैर के चुराने की गाथा शान्तिपर्व (१४१।२६-९६) में दी हुई है।

८. कृच्छ्रसंवत्सरं वा चरेत्। अथाप्युदाहरन्ति। स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुदारं च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा चतुर्थकाला मितभोजनाः स्युरपोऽभ्यवेयुः सवनानुकल्पम्। स्थानासनाभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैरप पापं नुदन्ते। आप० ध० सू० (१।९।२५।८-१०)।

१२७), प्राय० सार (पृ० ४९), मदनपारिजात (पृ० ८२८-८३४), स्मृत्यर्थसार (पृ० १०८-१०९), स्मृतिमुक्ताफल (पृ० ८८३-८८५)। हम स्थानाभाव से विस्तार नहीं दे रहे हैं।

यदि ८० रत्तियों से कम (ब्राह्मण के भी) सोने की चोरी हुई हो, या किसी क्षत्रिय या किसी अन्य अब्राह्मण का सोना किसी भी मात्रा में चोरी गया हो तो चोर को उपपातक का प्रायश्चित्त लगता है। मनु (११।१६२-१६८=मत्स्य० २२७।४१-४७) एवं विष्णु (५२।५-१३) ने कई प्रकार के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है, यथा—अनाज, पके भोजन या धन की चोरी में एक वर्ष का कृच्छ्र; पुरुषों या स्त्रियों (दासियों) को भगाने या किसी भूमि को हड़प लेने या कूपों और जलाशयों के जल का अनुचित प्रयोग करने पर चान्द्रायण व्रत; कम मूल्य वाली वस्तुओं की चोरी पर सान्तपन प्रायश्चित्त; विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों, गाड़ी या शय्या या आसन या पुष्पों या फल-मूलों की चोरी पर पञ्चगव्य प्राशन का प्रायश्चित्त; घास, लकड़ी, पेड़ों, सूखे भोजन, खाँड, परिधानों, चर्म (या कवच) एवं मांस की चोरी पर तीन दिनों एवं रातों का उपवास; रत्नों, मोतियों, मूँगा, ताम्र, चाँदी, लोहा, कांस्य या पत्थरों की चोरी पर कोदो चावलों का १५ दिनों तक भोजन; रूई, रेशम, ऊन, फटे खुरों वाले पशुओं (गाय आदि) या बिना फटे खुरों वाले पशुओं (घोड़ा आदि), पक्षियों, सुगंधियों, जड़ी-बूटियों या रस्सी (पानी खींचने वाली) की चोरी पर केवल दुग्ध-पान। चोर को चोरी की वस्तु लौटाकर ही प्रायश्चित्त करना पड़ता था (मनु ११।१६४ एवं विष्णु ५२।१४)। मेधातिथि (मनु ११।१६४) का कथन है कि यदि चोरी गयी वस्तु न लौटायी जा सके तो प्रायश्चित्त दूना होता है। इसके अतिरिक्त चोरी के कुछ मामलों में यदि राजा द्वारा शारीरिक दण्ड या मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता था तो चोर को चोरी गयी वस्तु का ग्यारहगुना अर्थ-दण्ड देना पड़ता था। देखिए मनु (८।३२१, ३२३) एवं विष्णु (५।८२)।

स्तेय के दो प्रकार हैं—बलपूर्वक चोरी करना (लूट-पाट या डकैती, जिसे साहस कहा जाता है) तथा छिपी तौर से चोरी करना। साहस में क्षत्रिय एवं वैश्य को क्रम से दुगुना एवं तिगुना प्रायश्चित्त करना पड़ता था, और इस विषय में ब्राह्मणों के लिए परिषद् प्रायश्चित्त की व्यवस्था करती थी (परा० मा० २, भाग १, पृष्ठ २३१)। छिपकर या गुप्त रूप से सोने या धन की चोरी करने पर यदि जिसकी चोरी हुई है वह ब्राह्मण हो और चोर क्षत्रिय या वैश्य हो तो प्रायश्चित्त ब्राह्मण-चोर की अपेक्षा अधिक होता था (नारद, साहस, १६; देवमूर्तियों, ब्राह्मणों एवं राजाओं का धन उत्तम है)। किन्तु यदि चोरी के सामान वाले स्वामी की जाति चोर की जाति से नीची हो तो बृहद्-विष्णु का नियम लागू होता था, अर्थात् ब्राह्मण पापी के प्रायश्चित्त से क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को क्रम से ३/४, १/२ एवं १/४ भाग का प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार करने के विषय में आदिकाल से ही प्रायश्चित्त की व्यवस्था रही है। गौतम (२३।८-११), आप० ध० सू० (१।९।२५।१-२), बौधा० ध० सू० (२।१।१४-१६), वसिष्ठ (२०।१३-१४) एवं मनु (११।१०३-१०४) ने व्यवस्था दी है कि अपराधी को अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए और तब उसे तप्त लौह पर शयन करना होगा या नारी की तप्त लौहमूर्ति का आलिंगन करना होगा या उसे अपने लिंग एवं अण्डकोशों को काटकर उन्हें लिये हुए दक्षिण या दक्षिण-पूर्व की दिशा में तब तक सीधे चलते जाना होगा जब तक वह मृत होकर गिर न पड़े और तभी वह (इस प्रकार की मृत्यु से) शुद्ध हो सकेगा। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५९) के मत से उपर्युक्त तीनों पृथक् प्रायश्चित्त नहीं हैं, किंतु इनमें दो, यथा नारी की तप्त लौह-मूर्ति का आलिंगन एवं तप्त लौह पर शयन

९. तप्ते लोहशयने गुरुतल्पगः शयीत। सूर्मीं वा श्लिष्येज्ज्वलन्तीम्। लिंगं वा सवृषणमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षिणाप्रतीच्यौ व्रजेदजिह्मगा शरीरपातात्। गौ० (२३।८-१०)।

एक ही प्रकार का प्रायश्चित्त है। इस विषय में विभिन्न व्याख्याओं के लिए देखिए मदनपारिजात (पृ० ८३७), मेधातिथि (मनु ११।१०३)।

मनु (११।५८ एवं १७०-१७१), याज्ञ० (३।२३१), संवर्त (१५९) ने गुरु-पत्नी (आचार्याणी), उच्च जाति की कुमारी, पुत्र-वधू, सगोत्र नारी, सोदरा नारी (बहिन आदि) या अन्त्यज नारी के साथ संभोग करने को गुरुतल्प-गमन के समान ही माना है और प्रायश्चित्त उससे थोड़ा ही कम ठहराया है। मनु (११।१०५) एवं याज्ञ० (३।२६०) ने मृत्यु के अतिरिक्त यह प्रायश्चित्त बताया है—पापी को विजन वन में रहना चाहिए, दाढ़ी बढ़ने देना चाहिए, चिथड़े धारण करने चाहिए और एक वर्ष (याज्ञ० के मत से तीन वर्ष) तक प्राजापत्य कृच्छ्र प्रायश्चित्त करना चाहिए। टीकाकारों का मत है कि यह प्रायश्चित्त अज्ञान में किये गये दुष्कृत्य के लिए है। मनु (११।२९०) एवं याज्ञ० (३।२६०) ने तीन मासों का चान्द्रायण व्रत व्यवस्थापित किया है; मनु ने उसे याज्ञिक पदार्थ (यथा—फल, मूल या नीवार अन्न) या जौ की लपसी या माँड़ खाने को कहा है और याज्ञ० ने तीन मासों तक वेदसंहिता का पाठ करने को कहा है। टीकाकारों का कथन है कि यह नियम उस विषय में है जहाँ गुरु-पत्नी नीच वर्ण की हो या शूद्रा हो। पराशर (१०।१०-११) ने तीन प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है—लिंग काट लेना, तीन कृच्छ्र या तीन चान्द्रायण, जब कि व्यक्ति अपनी माता, बहिन या पुत्री से व्यभिचार करता है। पराशर (१०।१२-१४) ने अन्य सन्निकट सम्बन्ध वाली नारियों के साथ व्यभिचार करने वालों के लिए अन्य प्रायश्चित्त बताये हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५९) ने शंख का हवाला देकर कहा है कि चारों महापातकों के लिए बारह वर्षों का प्रायश्चित्त होता है, अतः यह नियम सजातीय गुरु-पत्नी के साथ संभोग करने पर भी लागू होता है। प्रायश्चित्तों के विषय में स्मृति-वचन विभिन्न नियम देते हैं, अतः अन्य बातों का हवाला देना आवश्यक नहीं है। मनु (११।१७८, विष्णु ५३।९, अग्नि० १६९।४१) एवं शांतिपर्व (१६५।२९) का कथन है कि वह पाप, जिसमें द्विज किसी वृषली (चाण्डाल नारी) के साथ एक रात संभोग करता है, तीन वर्षों तक भीख माँगकर खाने एवं गायत्री आदि मन्त्रों के जप से दूर हो जाता है।[10] और देखिए आप० ध० सू० (१।९।२७।११)। याज्ञ० (३।२३३) के मत से यदि कोई पुरुष चाची, मामी, पुत्र-वधू, मौसी आदि से उनकी सहमति से संभोग करता है तो उस व्यभिचारिणी नारी को मृत्यु का राज-दण्ड मिलता है और उसे वही प्रायश्चित्त करना पड़ता है जो पुरुष के लिए व्यवस्थित है। मनु (११।१७५=लघु शातातप १५५=अग्नि० १६९।३८) का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण अज्ञान में चाण्डाल स्त्री या म्लेच्छ स्त्री से संभोग करता है, या चाण्डाल या म्लेच्छ के यहाँ खाता है या दान लेता है तो उसे पतित होने के बाद का प्रायश्चित्त करना पड़ता है, और यदि वह ऐसा ज्ञान में करता है तो उन्हीं के समान हो जाता है। देखिए वसिष्ठ (२३।४१) एवं विष्णु (५३।५।६)।

महापातक के अपराध में स्त्रियों के विषय में सामान्य नियम यह है कि अन्य लोगों की पत्नियों के साथ पुरुषों के व्यभिचार के लिए जो प्रायश्चित्त व्यवस्थित है वही उन स्त्रियों के लिए भी है जो पुरुषों से व्यभिचार करती हैं (मनु ११।१७६; कात्यायन एवं बृहस्पति)। किंतु यदि स्त्री का व्यभिचार अज्ञान में हो जाय तो प्रायश्चित्त आधा होता है। यही नियम अंगिरा ने भी दिया है।[11] यदि कोई स्त्री पतित होने पर प्रायश्चित्त न करे तो उसे घटस्फोट

१०. मनु (११।१७७) का 'वृषली' शब्द कुल्लूक एवं मिताक्षरा द्वारा व्याख्यापित हुआ है। मिता० (याज्ञ० ३।२६०) ने स्मृति-वचन उद्धृत किया है—'चण्डाली बन्धकी वेश्या रजःस्था या च कन्यका। ऊढा या च सगोत्रा स्याद् वृषल्यः पञ्च कीर्तिताः॥' शूलपाणि ने 'वृषली' को शूद्री कहा है (देखिए प्राय० प्रकाश)।

११. यत्पुंसः परदारेषु समानेषु व्रतं चरेत्। व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री तदशेषं समाचरेत्॥ बृहस्पति (अपरार्क

विधि से जातिच्युत कर दिया जाता था (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २७)। किन्तु इस विषय में पुरुष तथा नारी में अन्तर था। पतित नारी को यों ही मार्ग पर नहीं त्याग दिया जाता था, प्रत्युत उसे घास-फूस से बनी झोपड़ी में रख दिया जाता था, आगे के अपराध से उसे रक्षित किया जाता था, उसे इतना ही भोजन दिया जाता था कि वह जी सके और पहनने के लिए पुराने वस्त्र दिये जाते थे (मनु ११।१०६ एवं याज्ञ० ३।२९६)। याज्ञ० (३।२९७) के मत से स्त्रियों के लिए कुछ विशिष्ट कर्म निन्द्य माने जाते हैं, यथा—नीच जाति के पुरुष से संभोग करना, भ्रूण-हत्या करना (गर्भ गिराना) एवं पति की हत्या करना। वसिष्ठ (२१।१०) ने चार प्रकार की नारियों को सर्वथा त्याज्य माना है, अर्थात् उन्हें भरण-पोषण आदि के लिए भी अयोग्य ठहराया है, यथा—**शिष्यगा** (जो पति के शिष्य से संभोग करती है), **गुरुगा** (जो पति के गुरु से संभोग करती है), **पतिघ्नी** (जो पति की हत्या करनेवाली होती है) तथा **जुंगितोपगता** (जो किसी नीच जाति से रमण करती है)।[१२] वसिष्ठ (२१।१२) के मत से तीन उच्च वर्णों की जो स्त्री शूद्र से संभोग करती है वह यदि सन्तानवती न हो जाय तो उचित प्रायश्चित्त से शुद्ध कर ली जा सकती है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४।

अब हम महापातकियों के संसर्ग में आनेवाले लोगों के प्रायश्चित्त के विषय में चर्चा करेंगे। मनु (११।१८१), विष्णु (५४।१) एवं याज्ञ० (३।२६१) का कथन है कि जो भी कोई महापातकियों का संसर्ग (याज्ञ० के मत से वर्ष भर) करता है उसे संसर्ग-पाप से मुक्त होने के लिए महापातक वाला ही व्रत (प्रायश्चित्त) करना पड़ता है। कुल्लूक एवं प्राय० सार (पृ० ६१) का कथन है कि यहाँ व्रत शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः केवल १२ वर्षों वाला प्रायश्चित्त करना पड़ता है, मृत्यु का आलिंगन नहीं करना पड़ता।[१३] यदि संसर्ग अज्ञानवश हो तो प्रायश्चित्त आधा होता है। व्यास ने ज्ञान में किये गये संसर्ग के लिए ३/४ प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है।[१४] प्राय० वि० (पृ० १७१) के मत से ब्राह्मण एवं शूद्र के संसर्ग के विषय में प्रायश्चित्त में कोई अन्तर नहीं था, यद्यपि अन्य बातों में प्रत्येक वर्ण के लिए १/४ छूट दी जाती थी। यदि संसर्ग एक वर्ष से कम का होता था तो उसी अनुपात से प्रायश्चित्त में छूट मिलती थी। केवल पतित ही निन्द्य नहीं माना जाता था, प्रत्युत पतित होने के उपरान्त उत्पन्न पुत्र भी पतित माना जाता था और उसे उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था। किन्तु पतित की पुत्री के साथ ऐसा नियम नहीं था, उसके

पृ० ११२४, प्राय० वि० पृ० ३७१); एवं दोषश्च शुद्धिश्च पतितानामुदाहृता। स्त्रीणामपि प्रसक्तानामेष एव विधिः स्मृतः॥ कात्यायन (मिता०, याज्ञ० ३।२६०)। व्रतं यच्चोदितं पुंसां पतितस्त्रीनिषेवणात्। तच्चापि कारयेन्मूढां पतितासेवनात् स्त्रियम्॥ अंगिरा (प्राय० वि० पृ० ३७२)।

१२. चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या। पतिघ्नी च विशेषेण जुंगितोपगता च या॥ वसिष्ठ (२१।१०, मिता०, याज्ञ० ३।२९७ एवं अपरार्क पृ० १२०८, याज्ञ० १।७२)। मिताक्षरा ने यह श्लोक व्यास का माना है और 'जुंगित' को 'प्रतिलोमजश्चर्मकारादिः' कहा है। दीपकलिका ने 'कुत्सितः प्रतिलोमजः' माना है। प्राय० वि० (पृ० ३७४) ने इसे अंगिरा का माना है और 'जुंगितः कुत्सितो हीनवर्णः' कहा है।

१३. अत्र च ब्रह्महादिषु यद्यपि कामतो मरणान्तिकमुपदिष्टं तथापि संसर्गिणस्तन्नातिदिश्यते। स तस्यैव व्रतं कुर्यादिति व्रतस्यैवातिदेशात। मरणस्य च व्रतशब्दवाच्यत्वाभावात्। अतोऽत्र कामकृतेऽपि संसर्गे द्वादशवार्षिकमकामतस्तु तदर्धम्। मिता० (याज्ञ० ३।२६१)। और देखिए मदनपारिजात (पृ० ८५३)।

१४. यो येन संवसेद्वर्षं सोऽपि तत्समतामियात्। पादहीनं चरेत्सोऽपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः॥ व्यास (मिता०, याज्ञ० ३।२६१; कुल्लूक, मनु ११।१८१)।

साथ विवाहित पति को दोष नहीं लगता था। देखिए वसिष्ठ (१३।५१-५३), याज्ञ० (३।२६१), बौधा० ध० सू० (२।१।७३-७४), हारीत (प्राय० वि० पृ० १७४ एवं प्राय० प्रकरण पृ० ११० द्वारा उद्धृत) एवं इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २७।

विष्णु (अध्याय ३६) ने कुछ पापों को अनुपातक की संज्ञा दी है और मनु (११।५५-५८) एवं याज्ञ० (३।२२८-२३३) ने उन्हें महापातकों के समान ही गिना है और उनके लिए अश्वमेध या तीर्थयात्रा की व्यवस्था दी है। हमने देख लिया है कि इन पापों के लिए प्रायश्चित्त थोड़ा कम, अर्थात् १/४ कम होता है।

अब हम उपपातकों के प्रायश्चित्तों का उल्लेख करेंगे। उपपातकों की संख्या बड़ी है और उनमें प्रत्येक का वर्णन आवश्यक नहीं है। सर्वप्रथम हम उनके विषय के कुछ सामान्य नियमों का वर्णन करेंगे और आगे चलकर कुछ महत्त्वपूर्ण उपपातकों का विधिवत् उल्लेख करेंगे। सामविधानब्राह्मण (१।५।१४) का कथन है कि व्यक्ति कई उपपातकों के करने के कारण उपवास करते हुए यदि सम्पूर्ण वेद का पाठ तीन बार कर जाय तो शुद्ध हो जाता है। मनु (११।११७), याज्ञ० (३।२६५) एवं विष्णु (३७।३५) ने व्यवस्था दी है कि सभी उपपातकों से शुद्धि (केवल अवकीर्णी को छोड़कर) उस प्रायश्चित्त से जो गोवध के लिए व्यवस्थित है, या चान्द्रायण से या एक मास तक केवल दुग्ध-प्रयोग से या पराक या गोसव से हो जाती है। निबन्धों का कथन है कि पराक उसके लिए है जो उसे करने में समर्थ है, चान्द्रायण उसके लिए है, जो दुर्बल है और गोसव उसके लिए है जो एक ही उपपातक को बार-बार करता है या एक ही समय कई उपपातकों का अपराधी होता है (प्राय० प्रकाश)।

मनु, याज्ञ० एवं अग्नि० (१६८।२९-३७) ने गोवध को उपपातकों में सबसे पहले रखा है। कतिपय स्मृतियों ने गोवध के लिए विविध प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। गौतम (२२।१८) ने इसके लिए वही प्रायश्चित्त निर्धारित किया है जो वैश्य-हत्या पर किया जाता है, यथा—वन में तीन वर्षों का निवास, भीख माँगकर खाना, ब्रह्मचर्य-पालन एवं बैल के साथ सौ गायों का दान। आप० ध० सू० (१।९।२६।१) ने दुधारू गाय या तरुण बैल की हत्या पर शूद्र-हत्या का प्रायश्चित्त बतलाया है। वसिष्ठ (२१।१८) ने कहा है कि गोवधकर्ता को उस गाय की खाल से अपने को ढँक लेना चाहिए और छः मासों तक कृच्छ्र या अतिकृच्छ्र करना चाहिए। मनु (११।१०८।११६), विष्णु (५०।१६-२४), संवर्त (१३०-१३५) एवं पराशर (८।३१-४१) ने गोवध के लिए विस्तार के साथ प्रायश्चित्त-पालन की व्यवस्था दी है। याज्ञ० (३।२६३-२६४) ने चार पृथक् प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है, यथा—(१) गोघातक को अपनी इन्द्रियों पर एक मास नियन्त्रण करना चाहिए, उसे पंचगव्य पर ही रहना चाहिए, गोशाला में सोना चाहिए, दिन में उस गोशाला की गौएँ चराना चाहिए और मास के अन्त में एक गाय का दान करना चाहिए; (२) या उसे कृच्छ्र प्रायश्चित्त करना चाहिए, गोशाला में सोकर उसकी गायों के पीछे-पीछे दिन में चलना चाहिए; (३) या इसी प्रकार अतिकृच्छ्र करना चाहिए; (४) या तीन दिनों का उपवास कर अन्त में एक बैल के साथ दो गौएँ दान करनी चाहिए। शंख ने २५ दिन एवं रातों का उपवास बताया है और कहा है कि इन दिनों में पंचगव्य पर ही रहना चाहिए, शिखा के साथ सिर मुँड़ा लेना चाहिए, शरीर के ऊपरी भाग पर गाय की खाल पहननी चाहिए, गायों को चराना चाहिए, उनके पीछे-पीछे चलना चाहिए, गोशाला में सोना चाहिए और अन्त में एक गाय दान करनी चाहिए।[15] कुछ

१५. गोघ्नः पंचगव्याहारः पंचविंशतिरात्रमुपवसेत् सशिखं वपनं कृत्वा गोचर्मणा प्रावृतो गाश्चानुगच्छन् गोष्ठेशयो गां च दद्यात्। शंख (विश्वरूप, याज्ञ० ३।२६१; मिता०, याज्ञ० ३।२६४; हरदत्त, गौतम २२।१८; अपरार्क पृ० १०९४)। मिता० एवं हरदत्त ने यह वचन शंख एवं प्रचेता दोनों का माना है।

स्मृतियों एवं निबन्धों ने कहा है कि यदि गाय किसी विद्वान् ब्राह्मण की हो या केवल-ब्राह्मण (जाति से ब्राह्मण, अर्थात् जो पढ़ा-लिखा न हो) की हो, या क्षत्रिय या वैश्य या शूद्र की हो तो उसी के अनुसार प्रायश्चित्त भिन्न होना चाहिए। उदाहरणार्थ, देवल (प्राय० वि०, पृ० २०२) के अनुसार यदि ब्राह्मण की गाय की हत्या हुई हो तो हत्यारे को छः मास तक उस गाय की खाल उत्तरीय रूप में धारण करनी चाहिए, गायों के लिए चारा लाना चाहिए, गायों का अनुकरण करना चाहिए, केवल जौ की लपसी खानी चाहिए; गायों के साथ ही विचरण करना चाहिए; तभी उसे पाप से छुटकारा मिल सकता है। शातातप (प्राय० वि०, पृ० २०३) का कथन है कि वैश्य की गाय के हत्यारे को एक मास तक पंच-गव्य पर रहना चाहिए, गोमती-विद्या का पाठ करना चाहिए, और एक मास तक गोशाला में रहना चाहिए। विश्वामित्र (प्राय० वि०, पृ० २०३) ने कहा है कि शूद्र की गाय की हत्या ज्ञान या अज्ञान में हो जाने पर हत्यारे को क्रम से चार कृच्छ्र या दो कृच्छ्र करने चाहिए। गोमती-विद्या (अपरार्क, पृ० ११०२; मदनपारिजात, पृ० ८६२; प्रायश्चित्ततत्त्व, पृ० ५२२) में गौओं की स्तुति की गयी है—"गौएँ सदैव सुरभित होती हैं, उनमें गुग्गुल की गंध होती है, वे प्राणियों का आधार होती हैं, वे प्रभूत स्वस्तिमती होती हैं, वे दूध के रूप में सर्वोत्तम भोजन देती हैं, देवों के लिए सर्वोत्तम आहुतियाँ देती हैं, वे सभी प्राणियों को पवित्र करनेवाली होती हैं, उनसे हविर्द्रव्य निकलते हैं, उनसे जो दूध या घी प्राप्त होता है उस पर मन्त्रों का उच्चारण होता है और वह देवों को चढ़ाया जाता है, अतः वे (इन वस्तुओं के द्वारा) देवों को प्रसन्न करती हैं। ऋषियों के अग्निहोत्र में गौएँ उन्हें होम की उत्पत्ति के लिए सहायता देती हैं, गौएँ सभी प्राणियों के लिए पवित्र हैं और सबको शरण देनेवाली हैं। वे परम पवित्र एवं उत्तम मंगल हैं, वे स्वर्ग की सीढ़ी हैं और हम उन्हें, जो धन से परिपूर्ण हैं और सौरभेयी कही जाती हैं, प्रणाम करते हैं। उन पवित्र एवं ब्रह्मा की पुत्रियों को हम प्रणाम करते हैं। ब्राह्मण एवं गौएँ एक ही कुल के हैं और दो भागों में बँटे हैं, जिनमें एक (ब्राह्मणों) में वैदिक मन्त्र निवास करते हैं और दूसरी (गायों में) में देवों के लिए (घृत आदि रूप में) आहुतियाँ रहती हैं।" प्रायश्चित्त-प्रकरण (पृ० ३३) का कहना है कि कात्यायन, गौतम, संवर्त, पराशर एवं अन्य ऋषियों ने गोवध के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है जो निम्न बातों पर निर्भर है—गोवध ज्ञान में किया गया या अज्ञान में, वह गाय सोम-याजी ब्राह्मण की थी या उस ब्राह्मण की जिसने षडंग वेद का अध्ययन कर लिया था, वह गाय अच्छे गुण वाले ब्राह्मण द्वारा किये जानेवाले होम के लिए थी या गर्भवती थी या कपिला (भूरी या पिंगला) थी। इस ग्रन्थ ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि उसके काल में ऐसी गाय साधारण जीवन में नहीं उपलब्ध थी, अतः उपर्युक्त वचनों के विषय में अधिक लिखना आवश्यक नहीं है।

याज्ञ० (३।२८४), संवर्त (१३७), अग्नि० (१६९।१४), ने कहा है कि यदि कोई गाय या बैल दवा करते समय, या बच्चा जनने में सहायता देते समय या दवा के रूप में दागते समय मर जाय तो पाप नहीं लगता। ब्राह्मणों, गायों एवं अन्य पशुओं की इसी प्रकार की मृत्यु के विषय में प्रायश्चित्त-सम्बन्धी अपवाद हैं। पराशर (९।४) एवं अंगिरा (प्राय० त०, पृ० ५२६-५२७) ने गायों या बैलों को नियन्त्रित करते या बाँधते समय या हल में जोतते समय उनके मर जाने पर क्रम से प्रायश्चित्त का १/४, १/२ एवं ३/४ भाग निर्धारित किया है। ब्रह्मपुराण एवं पराशर (प्राय० त०, पृ० ५१३) के अनुसार गोवध का प्रायश्चित्त करने के पूर्व पापी को पशु का मूल्य चुका देना पड़ता था।

सामविधानब्राह्मण (१।७।८) ने कहा है कि किसी भी पशु (गाय या बैल के अतिरिक्त) की हत्या करने पर अपराधी को एक रात उपवास करना चाहिए और सामवेद (१।१।३।२) का पाठ करना चाहिए। आप० ध० सू० (१।९।२५।१४) के अनुसार कौआ, गिरगिट, मोर, चक्रवाक, हंस, भास, मेढक, नेवला, गंधमूषक (छुछूंदर) एवं कुत्ता को मारने पर शूद्र-हत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ता है। गौतम (२२।१९-२२), मनु (११।१३३-१३७), याज्ञ० (३।२६९-२७४), विष्णु (५०।२५-३२), पराशर (६।१-१५) आदि ने हाथी, घोड़ा, व्याघ्र, वानर, बिल्ली

सर्प आदि की हत्या पर विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है, जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। संवर्त (१०), पैठीनसि आदि स्मृतियों ने ग्राम्य एवं आरण्य (बनैले) पशुओं का अन्तर बताया है। ऋषियों ने प्राणियों के साथ ही वनस्पतियों की हत्या (काटने) पर विशेष विचार किया है। यदि कोई व्यक्ति आम, पनस आदि वृक्षों या लता-गुल्मों को यज्ञों एवं कृषि के उपयोग में लाने के अतिरिक्त काटता था तो उसे सौ वैदिक मन्त्रों के जप का प्रायश्चित्त करना पड़ता था (मनु ११।१४२, याज्ञ० ३।२७६, वसिष्ठ १९।११-१२)। स्पष्ट है, ऋषियों को आध्यात्मिकता के साथ ही मानव-कल्याण के लिए वृक्षों, लता-गुल्मों आदि का उपयोग भली भाँति ज्ञात था।

यह अवलोकनीय है कि जब किसी को कोई वेश्या, या वानर या गदहा या कुत्ता या शृगाल या ऊँट या कौआ काट लेता था तो उसे दर्द सहने के साथ-साथ जल में खड़े होकर प्राणायाम करना पड़ता था और शुद्धि के लिए घी पीना पड़ता था (मनु ११।१९९, याज्ञ० ३।२७७ एवं वसिष्ठ २३।३१)। पराशर (५।१-९) ने भेड़ियों, कुत्तों एवं शृगालों के काटने पर शुद्धि के लिए विस्तृत नियमों की व्यवस्था दी है, यथा—स्नान, गायत्री का जप आदि।

पारदार्य (दूसरे की पत्नी के साथ व्यभिचार) उपपातक माना जाता था (मनु ११।५९ एवं याज्ञ० ३।-२३५)। इसमें गुरुतल्पगमन, गुरु-पत्नी एवं चाण्डाल की स्त्रियों के साथ संभोग नहीं सम्मिलित है (मनु ११।१७०-१७२, १७५, १७८; याज्ञ० ३।२३१-२३३, वसिष्ठ २०।१५-१७ एवं २३।४१)। आप० ध० सू० (१।१०।२८।१९) उस पुरुष व्यभिचारी के प्रति अति कठोर है जो अपनी पत्नी के साथ किये गये शपथ-व्रत से च्युत होता है। ऐसे व्यक्ति को गदहे का चर्म बाल के भाग को ऊपर करके पहनना पड़ता था और सात घरों से भिक्षा माँगते समय कहना पड़ता था कि "उस व्यक्ति को भिक्षा दीजिए जिसने अपनी पत्नी के प्रति वचन-भंग किया है।" इसी प्रकार उसे छः मास तक करना पड़ता था। आप० ध० सू० (१।१०।२८।२०) ने इसी प्रकार भ्रष्ट चरित्र वाली पत्नी के लिए भी व्यवस्था दी है। उसे कई मासों (छः मासों) तक १२ रात्रि वाला कृच्छ्र प्रायश्चित्त करना पड़ता था। एक स्थान (२।१०।२७।११) पर ऐसा कहा गया है कि जो ब्राह्मण अपनी जाति की विवाहित स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो उसे जाति-च्युत व्यक्ति के लिए व्यवस्थित प्रायश्चित्त का १/४ भाग करना पड़ता था। गौतम (२२।२९-३०, ३४) ने ऐसे विषय में सामान्यतः दो वर्षों वाला और विद्वान् ब्राह्मण की पत्नी के साथ व्यभिचार करने पर तीन वर्षों वाला प्रायश्चित्त निर्धारित किया है। और देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६५) जहाँ महापातकों के अतिरिक्त अन्य व्यभिचार सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का वर्णन है। हम उनकी चर्चा नहीं करेंगे। यदि कोई स्त्री स्वजाति या किसी उच्च जाति के पुरुष के साथ व्यभिचार करती है तो उसे समान-अपराधी पुरुष के सदृश ही प्रायश्चित्त करना पड़ता है (मनु ११।७८ एवं बृहस्पति)। किंतु यदि कोई स्त्री नीच जाति के पुरुष से व्यभिचार करती है तो उसे दूसरे प्रकार का प्रायश्चित्त करना पड़ता है (देखिए ऊपर, वसिष्ठ २१।१-५ एवं संवर्त १६७-१७२)। बृहद्यम (४।४८) ने प्रतिलोम जातियों के व्यभिचार को महापाप कहा है, किन्तु अनुलोम-व्यभिचार से शुद्धि पाने के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की है।

व्रात्यता (उचित समय पर उपनयन संस्कार न करने की स्थिति)—जो व्यक्ति उचित समय पर उपनयन संस्कार नहीं करता उसे व्रात्य या पतितसावित्रीक कहा जाता है। देखिए आश्व० गृ० सू० (१।१९।५-७), आप० ध० सू० (१।१।१।२२-२६), बौधा० गृ० सू० (३।१३।५-६), वसिष्ठ० (११।७१-७५), मनु (२।३६-३९) एवं याज्ञ० (१।३७-३८)। इस संबंध में व्रात्यस्तोम एवं उद्दालक व्रत (वसिष्ठ ११।७६-७९ एवं गौतम १९।८) नामक प्रायश्चित्त कुछ ग्रन्थों द्वारा निर्धारित हैं और मनु (११।१९१=विष्णु ५४।२६-२७=अग्नि० १७०।८-९) ने ३ कृच्छ्रों एवं पुनरुपनयन के सम्पादन की व्यवस्था दी है। वसिष्ठ (११।७७) ने उद्दालक व्रत का यों वर्णन किया है—"दो मासों तक जौ की लपसी पर रहना चाहिए, एक मास तक दूध पर, आधे मास तक आमिक्षा पर, आठ दिनों तक घी पर,

छः दिनों तक बिना भिक्षा या बिना माँगे, तीन दिनों तक जल पर रहना चाहिए तथा एक दिन पूर्ण उपवास करना चाहिए।" आप० ध० सू० (१।१।१।२४-२७) ने **व्रात्यता** का एक अन्य प्रायश्चित्त बतलाया है। व्रात्य या पतितसावित्रीक के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ७। हरदत्त (आप० ध० सू० १।१।२।१०) के मत से यदि प्रपितामह के पूर्व कई पीढ़ियाँ बिना उपनयन के रही हैं तब भी व्यक्ति को उचित प्रायश्चित्त के उपरान्त हिन्दू धर्म में सम्मिलित किया जा सकता है।[16] किन्तु कुछ ग्रन्थकारों ने आपस्तम्ब एवं पराशर को शाब्दिक अर्थ में ही लिया है और कहा है कि यदि प्रपितामह के पिता से लेकर अब तक उपनयन न हुआ हो तो व्यक्ति के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता।[17]

व्रतलोप (ब्रह्मचारी द्वारा ब्रह्मचर्य-पालन के व्रत की हानि की स्थिति)—वह वैदिक ब्रह्मचारी जो किसी स्त्री से संभोग कर लेता है उसे **अवकीर्णी** कहा जाता है। तैत्तिरीयारण्यक (२।१८) में अवकीर्णी के लिए प्रथम बार सुदेव काश्यप द्वारा प्रतिपादित प्रायश्चित्त का उल्लेख है। आप० ध० सू० (१।९।२६।८-९) ने कहा है कि ऐसे विद्यार्थी को **पाकयज्ञ** की विधि से **निर्ऋति** (नरक या मृत्यु की देवी) को गदहे की बलि देनी चाहिए और किसी शूद्र द्वारा अवशिष्ट हवि खा डाली जानी चाहिए। जैमिनि (६।८।२२) ने कहा है कि आहुतियाँ **लौकिक अग्नि** में दी जानी चाहिए न कि वैदिक अग्नि में। वसिष्ठ (२३।१-३) ने व्यवस्था दी है—"जब वैदिक विद्यार्थी स्त्री-संग करता है तो उसे बन में किसी चतुष्पथ (चौराहे) पर लौकिक अग्नि जलाकर राक्षसों के लिए गर्दभ (गदहा) की बलि देनी चाहिए, या उसे निर्ऋति को भात की आहुति देनी चाहिए और चार आहुतियाँ देकर यह कहना चाहिए—"कामपिपासा को स्वाहा; उसको जो उसकी कामलिप्सा का अनुसरण करता है, स्वाहा; निर्ऋति को स्वाहा; राक्षस देवता को स्वाहा।" यही व्यवस्था गौतम (२३।१७-१९), मनु (११।११८-१२३), बौधा० ध० सू० (२।१।३५-३४), याज्ञ० (३।२८०), अग्निपुराण (१६९।१५-१८) एवं पारस्करगृह्य० (३।१२) में भी पायी जाती है, किन्तु गौतम ने इतना जोड़ दिया है कि उसे मिट्टी के पात्र में सात घरों से वर्ष भर भिक्षा माँगनी चाहिए और अपने दुष्कृत्य का उद्घोष करते रहना चाहिए।

यदि कोई संन्यासी पुनः गृहस्थ हो जाता है तो उसके लिए संवर्त (१७१-१७२) ने छः मासों का कृच्छ्र निर्धारित किया है। ऐसे व्यक्ति की **प्रत्यवसित** संज्ञा है। यम (२२-२३), बृहद्यम (३-४) आदि ने प्रत्यवसितों के नौ प्रकार दिये हैं, यथा—जो जल, अग्नि, उद्बन्धन (जिसके द्वारा वे अपनी हत्या कर डालना चाहते थे) से बच निकले (लौट आये) हैं, वे जो संन्यासाश्रम से लौट आये हैं, या आमरण अनशन (उपवास) से हट गये हैं, जो विष, प्रपात-पात, धर्णा (किसी के घर पर धरना देने) से बच गये हैं (लौट चुके हैं), जो आत्महत्या के हेतु किसी शस्त्र के वार से बच गये हैं। ये संसर्ग के योग्य नहीं होते और इनकी शुद्धि चान्द्रायण या दो तप्त कृच्छ्रों से होती है।[18] वृद्ध-पराशर (परा० मा०, २, भाग २, पृ० ११ एवं प्राय० मुक्ता०) का कथन है कि उन संन्यासियों को जो पुनः गृहस्थ

१६. यस्य प्रपितामहस्य पितुरारम्य नानुस्मर्यंत उपनयनं तत्र प्रायश्चित्तं नोक्तम्। धर्मज्ञैरूहितव्यम्। एवं ततः पूर्वेष्वपि। हरदत्त (आप० ध० सू० १।१।२।१०)।

१७. त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च। पार० गृ० (२।५)। इदं व्याख्यातं हरदत्तेन भाष्यकृता।...यस्य प्रपितामहस्य पितुरारम्य नानुस्मर्यंत उपनयनं तस्य प्रायश्चित्तं नोक्तमिति। तथा च संस्कार्यस्य त्रिपुरुषोर्ध्वमपि व्रात्यत्वे कथमपि संस्कार्यस्य उपनयनं न भवतीति फलितम्। प्रायश्चित्तमुक्तावली।

१८. जलाग्न्युद्बन्धनभ्रष्टाः प्रव्रज्यानाशकच्युताः। विषप्रपतनप्रायशस्त्रघातहताश्च ये॥ नवैते प्रत्यवसिताः सर्वलोकबहिष्कृताः। चान्द्रायणेन शुध्यन्ति तप्तकृच्छ्रद्वयेन वा॥ यम (२२-२३, प्राय० सा० पृ० १२६)।

हो गये हैं, चाण्डाल समझा जाना चाहिए (उन्होंने प्रायश्चित्त कर लिया हो तब भी) और संन्यासच्युत हो जाने के उपरान्त उनकी उत्पन्न सन्तानों को चाण्डालों के साथ रहना चाहिए। १३वीं शताब्दी में यही कठोर व्यवहार पैठन के सन्त ज्ञानेश्वर एवं उनके भाइयों के साथ किया गया था। ऐसे संन्यासच्युत व्यक्ति को आरूढपतित भी कहा गया है (पराशरमाधवीय, २, भाग १, पृ० ३७३)।

कुछ विशिष्ट व्यक्तियों, अस्थि-जैसे गन्दे पदार्थों (मनु ५।८७), रजस्वला नारियों, बच्चा जनने के उपरान्त कुछ दिनों तक नारियों एवं कुत्तों, ग्रामशूकरों, मुर्गों, कौओं आदि जीवों के छूने पर शुद्धि के लिए विस्तृत नियम बने हुए हैं। स्थानाभाव से हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे। कुछ वचन उदाहरणार्थ दे दिये जाते हैं। गौतम (१४।२८) ने व्यवस्था दी है कि पतित, चाण्डाल, सूतिका (जच्चा), उदक्या (रजस्वला), शव, स्पृष्टि (जिसने इनको छू लिया है), तत्स्पृष्टि (जिसने उस स्पर्श करनेवाले को छू लिया हो) को छूने पर वस्त्र के साथ स्नान कर लेना चाहिए। यही बात मनु (५।८४) एवं याज्ञ० (३।३०) ने भी कही है। प्राय० वि० (पृ० ४९५-४९९) ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि स्पर्श में प्रत्यक्ष स्पर्श एवं अप्रत्यक्ष स्पर्श दोनों सम्मिलित हैं कि नहीं और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों प्रकार के स्पर्श स्पर्श ही हैं। उसने आपस्तम्बस्मृति के आधार पर कहा है कि यदि एक ही डाल पर कोई ब्राह्मण एवं चाण्डाल बिना एक दूसरे को स्पर्श किये बैठे हों तो ब्राह्मण केवल स्नान द्वारा शुद्ध हो सकता है। प्राय० प्रकरण (पृ० ११०) ने याज्ञ० का हवाला देकर कहा है कि चाण्डाल, पुक्कस, म्लेच्छ, भिल्ल एवं पारसीक तथा महापातकियों को छूने पर वस्त्र के सहित स्नान करना चाहिए। षट्त्रिंशन्मत ने कहा है--"बौद्धों, पाशुपतों, लोकायतिकों, नास्तिकों, विकर्मस्थों (जो निषिद्ध या वर्जित कर्म करते हैं) को छूने पर सचैल (वस्त्र सहित) जल में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। चैत्य वृक्ष (जिसके चारों ओर चबूतरा बना हो), चिति (जहाँ शव की चिता जलायी जाती है या जहाँ अग्निचयन के श्रौत कृत्य के लिए ईंटों की वेदिका बनायी जाती है), यूप (यज्ञ-संबंधी स्तम्भ, जिसमें बाँधकर पशु-बलि दी जाती है), चाण्डाल, सोम-विक्रेता को छू लेने पर ब्राह्मण को वस्त्रसहित जल में प्रवेश कर जाना चाहिए।"[१९] संवर्त (प्राय० वि०, पृ० ४७२-४७३) ने मोची, धोबी, वेण (जो ढोलक आदि बजाता है, मनु १०।१९ एवं ४९), धीवर (मछली मारने वाले), नट आदि को छूनेवाले को आचमन करने को कहा है। शातातप का कथन है कि यदि द्विज का कोई अंग (सिर के अतिरिक्त) रजक (रँगरेज), चर्मकार (मोची), व्याध (बहेलिया), जालोपजीवी (धीवर), निर्णेजक (धोबी), सौनिक (कसाई), ठक (ठग), शैलूष (नट), मुखेभग (जो मुख में संभोग करने की अनुमति देता है), कुत्ता, सर्वगा वनिता (वह वेश्या जो सभी वर्णों को अपने यहाँ स्थान देती है), चक्री (तेल निकालने वाला), ध्वजी (शौंडिक या मद्य बेचनेवाला), वध्यघाती (जल्लाद), ग्राम्यशूकर, कुक्कुट (मुर्ग) से छू जाय तो अंग-प्रक्षालन करके आचमन करना चाहिए। यदि इन लोगों से सिर छू जाय तो स्नान कर लेना चाहिए। इस सिलसिले में यह ज्ञातव्य है कि हेमाद्रि ने (पृ० ३८) गरुड़पुराण एवं (पृ० ३१६) पराशर को उद्धृत कर ग्राम की १६ जातियों का उल्लेख किया है जिन्हें स्पर्श करने, बोलने एवं देखने के मामलों में चाण्डाल कहा जाता है।[२०] देवल (हेमाद्रि, प्रायश्चित्त, पृ० ३१२) का कथन

१९. तत्र याज्ञवल्क्यः। चाण्डालपुक्कसम्लेच्छभिल्लपारसिकादिकान्। महापातकिनश्चैव स्पृष्ट्वा स्नायात् सचेलकः॥ प्राय० प्रक० (पृ० ११०)। अपरार्क (पृ० ९२३) ने इस श्लोक को वृद्धयाज्ञवल्क्य का ठहराया है। षट्त्रिंशन्मतम्। बौद्धान्पाशुपतांश्चैव लौकायतिकनास्तिकान्। विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्॥ प्राय० प्रक० (पृ० ११०) एवं स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ११८)।

२०. चर्मारं रजकं वेणं धीवरं नटमेव च। एतान् स्पृष्ट्वा द्विजो मोहादाचामेत् प्रयतोऽपि सन्॥ संवर्त (प्राय०

है कि चाण्डाल एवं तुरुष्क (तुर्क) समान रूप से नीच हैं। देखिए इस विषय में इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ४। अत्रि, शातातप, बृहस्पति आदि ने धार्मिक उत्सवों, वैवाहिक जुलूसों, युद्ध, अग्नि लगने, आक्रमण होने तथा अन्य आपत्तियों के समय में अस्पृश्यता के आधार पर शुद्धीकरण की आवश्यकता नहीं ठहरायी है।

दान-ग्रहण में ब्राह्मणों के समक्ष स्मृतियों ने उच्च आदर्श रखे हैं। सामविधानब्राह्मण (१।७।१-२) ने व्यवस्था दी हैं कि कोई ब्राह्मण विपत्ति न पड़ने पर किसी क्षत्रिय से दान ग्रहण करता है तो उसे एक मास तक केवल दिन में एक बार भोजन करना चाहिए। जल में खड़े होकर 'महत् तत् सोमो महिषश्चकार' (सामवेद १।६।१।५।१०, संख्या ५४२) का पाठ करना चाहिए और यदि वह किसी वर्जित व्यक्ति से दान लेता है तो उसे कृच्छ्र प्रायश्चित्त करना चाहिए, तथा 'त्रिकद्रुकेषु' (सामवेद १।५।३।१, सं० ४५७) का पाठ करना चाहिए। याज्ञ० (१।१४०) का कथन है कि ब्राह्मण को कृपण या लोभी एवं शास्त्रविरुद्ध कार्य करनेवाले राजा से दान नहीं लेना चाहिए। मनु (११।१९४, विष्णु ५४।२४) के मत से न लेने लायक दान के ग्रहण एवं गर्हित व्यक्ति के दान ग्रहण से जो पाप लगता है उससे छुटकारा तीन सहस्र गायत्री-जप से या एक मास में केवल दूध पर रहने या एक मास तक गोशाला में रहने से हो जाता है। यह अवलोकनीय है कि मनु (१०।१०२-१०३) एवं याज्ञ० (३।४१) ने आपत्ति से ग्रस्त ब्राह्मण को किसी से भी दान लेने या भोजन ग्रहण करने, किसी को भी पढ़ाकर जीविका चलाने की अनुमति दी है और कहा है कि ब्राह्मण तो गंगा के जल एवं अग्नि के समान पवित्र है, उस पर इस कृत्य से पाप नहीं लगता, 'क्योंकि जो पवित्र है वह भी अशुद्ध हो सकता है' ऐसा कहना तर्कहीन (अनुचिन) है। किन्तु मनु (१०।१०९) ने अपात्र से दान लेने के कर्म को अपात्र को शिक्षा देने या उसका पौरोहित्य करने से अधिक बुरा माना है। ब्राह्मण को वर्जित पदार्थ बेचना मना है, यथा—तिल, तैल, दधि, क्षौद्र (मधु), नमक, अंगूर, मद्य, पक्वान्न, पुरुष या नारी दासी, हाथी, घोड़ा, बैल, सुगन्धि पदार्थ, रस, क्षौम (रेशमी वस्त्र), कृष्णाजिन (काले हरिण की खाल), सोम, उदक (जल), नीली (नील रंग); इन्हें बेचने से वह तुरत पापयुक्त हो जाता है। प्रायश्चित्त-स्वरूप उसे सिर मुँड़ाकर साल भर तप्त कृच्छ्र करना चाहिए, दिन में तीन बार जल-प्रवेश करना चाहिए, एक ही गीला वस्त्र पहने रहना चाहिए, मौन व्रत धारण करना चाहिए, वीरासन करना चाहिए, रात में बैठना एवं दिन में खड़ा रहना चाहिए और गायत्री का जप करना चाहिए।

म्लेच्छों द्वारा बलपूर्वक अपने धर्म में लिये गये हिन्दुओं के शुद्धीकरण के विषय में कुछ स्मृतियों एवं निबन्धों के वचन हैं। 'म्लेच्छ' शब्द के अर्थ के विषय में मतैक्य नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (३।२।१।२३-२४) से पता चलता है कि वे अशुद्ध भाषा का प्रयोग करते थे, यथा 'हेऽरयः' को 'हेलयः' कहते थे। पराशर (९।३६) ने म्लेच्छों को गोमांस-भक्षक कहा है। प्राय० त० (पृ० ५४९) ने स्मृतिवचन उद्धृत करके कहा है कि म्लेच्छ गोमांसखादक एवं विरोधी वचन

वि०, पृ० ४७२-४७३)। रजकश्चर्मकृच्चैव व्याधजालोपजीविनौ। निर्णेजकः सौनिकश्च ठकः शैलूषकस्तथा।। मुखेभगस्तथा श्वा च वनिता सर्ववर्णगा। चक्री ध्वजी वध्यघाती ग्राम्यशूकरकुक्कुटौ। एभिर्यदङ्गं संस्पृष्टं शिरोवर्जं द्विजातिषु। तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्तः शुचितामियात्।। शातातप (प्राय० वि०, पृ० ४७३ एवं स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ११९)। प्राय० वि० ने 'ठक' का अर्थ 'धूर्त' बताया है और यह आज 'ठग' शब्द का मौलिक रूप लगता है। स्मृतिचन्द्रिका ने 'नटः' के स्थान पर 'ठकः' पढ़ा है और उसे एक जातिविशेष माना है। रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तमेदभिल्लाश्च स्वर्णकारश्च सौविकः (सौविदः?)।। कारुको लोहकारश्च शिलाभेदी तु नापितः। तक्षकस्तिलयन्त्री च सूनश्चक्री तथा ध्वजी। एते षोडशधा प्रोक्ताश्चाण्डाला ग्रामवासिनः।। गरुडपुराण (हेमाद्रि, प्रायश्चित्त, पृ० ३८ एवं पराशर के उद्धरण के लिए पृ० ३१६)।

बोलनेवाले होते हैं। उसने हरिवंश के वचन का हवाला देते हुए शकों, यवनों, कम्बोजों, पारदों, पहलवों के वस्त्रों एवं केश-विन्यास का वर्णन किया है।[२१] देखिए इस विषय में इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २, ७ एवं २८। दो-एक अन्य बातें यहाँ दी जा रही हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२।७३।२०३-२०६) ने कहा है कि जब म्लेच्छों या आक्रमणकारियों द्वारा व्यक्तियों का हरण हो जाता है या वन में जाते हुए लोगों का हरण हो जाता है और वे जब पुनः लौटकर स्वदेश में चले आते हैं, तो वर्जित भोजन करने के कारण उनके लिए जो प्रायश्चित्त निर्धारित होता है वह उनके वर्ण-विशेष पर निर्भर है, यथा—ब्राह्मण को आधा कृच्छ्र एवं पुनरुपनयन करना पड़ता है, क्षत्रिय को तीन चौथाई कृच्छ्र और पुनरुपनयन करना पड़ता है, वैश्य को चौथाई कृच्छ्र एवं शूद्र को चौथाई कृच्छ्र तथा दान देना पड़ता है।[२२] मनु (८।१६९), विष्णु (८।६-७) एवं याज्ञ० (२।८९) ने घोषणा की है कि जो बलवश दिया, बलवश अधिकृत किया जाय, बलवश लिखित कराया जाय तथा जो कुछ भी विनिमय या आदान-प्रदान बलवश हो, वह अवैधानिक होता है। आजकल इन कथनों का उपयोग कर शुद्धि की जा सकती है और बिछुड़े हुए लोगों को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत लाया जा सकता है। इस प्रकार लौटाये गये लोगों के विषय में **परावर्तन** शब्द का उपयोग किया जा सकता है। इसी प्रयोग द्वारा कुछ नियमों में परिवर्तन करके अहिन्दू को भी हिन्दू बनाया जा सकता है। प्राचीन काल में **व्रात्यस्तोम** के सम्पादन द्वारा अन्य लोगों को हिन्दू जाति में लाया जाता था। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ७ एवं खण्ड ३, अध्याय ३४, जहाँ जावा, बालि, सुमात्रा, स्याम आदि दक्षिण-पूर्वी देशों के लोगों के हिन्दू बनने का उल्लेख किया गया है। रूसी अज़रबैजान देश की राजधानी बाकू के पास सुरुहनी के ज्वालाजी अग्नि-मन्दिर में प्राप्त १८वीं एवं १९वीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों से पता चलता है कि हिन्दू यात्री वहाँ जाते थे और उन्होंने ही उन्हें अंकित कराया था। इन शिलालेखों का आरम्भ **गणेश** की प्रशस्ति से होता है। एक श्लोक यों है—"श्लोकः। देवयज्ञे व्रते तीर्थे सत्पात्रब्रह्मभोजने। पितृश्राद्धे जटीहस्ते धनं व्रजति धर्म्यताम्॥"

मनु (११।१२४=विष्णु ३८।७) ने उपर्युक्त सभी **जातिभ्रंशकर** कर्म ज्ञान से करने पर **सान्तपन** एवं अज्ञान में करने पर **प्राजापत्य** प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है, और उन कर्मों के करने पर, जिन्हें ऊपर **संकरीकरण** या **अपात्रीकरण** कहा गया है, एक मास तक **चान्द्रायण** करने को कहा है (मनु ९।१२५); इसी प्रकार **मलावह** कर्मों के लिए कर्ता को तीन दिनों तक केवल जौ की लपसी पर रहने को कहा है। ये मनुवचन अग्नि० (१७०।२३-२५) में भी पाये जाते हैं। विष्णु (३९।२, ४०।२ एवं ४१।५) ने **संकरीकरण, अपात्रीकरण** या मलिनीकरणीय दुष्कर्मों के लिए कुछ भिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है। यम एवं बृहस्पति के वचनों के लिए देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२९०)। अन्य प्रकार के

२१. गोमांसखादको यश्च विरुद्धं बहु भाषते। सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते॥ बौधा० (प्राय० त०, पृ० ५४९; सगरः स्वां प्रतिज्ञां च गुरोर्वाक्यं निशम्य च। धर्मं जघान तेषां वै वेषान्यत्वं चकार ह॥ अर्धं शकानां शिरसो मुण्डं कृत्वा व्यसर्जयत्। यवनानां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च॥ पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः। निःस्वाध्यायवषट्काराः कृतास्तेन महात्मना॥ शका यवनकाम्बोजाः पारदाश्च विशांपते। कोलिसर्पाः समहिषाः दार्वाश्चोलाः सकेरलाः॥ सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः। हरिवंश, हरिवंशपर्व (१४।१५-१९; प्राय० त० पृ० ५४९)।

२२. म्लेच्छैर्हृतानां चोरैर्वा कान्तारे वा प्रवासिनाम्। भक्ष्याभक्ष्यविशुद्ध्यर्थं तेषां वक्ष्यामि निष्कृतिम्॥ पुनः प्राप्य स्वदेशं च वर्णानामनुपूर्वशः। कृच्छ्रस्यार्धे ब्राह्मणस्तु पुनः संस्कारमर्हति॥ पादोनान्ते क्षत्रियस्तु अर्धार्धे वैश्य एव च। पादं कृत्वा तथा शूद्रो दानं दत्त्वा विशुध्यति॥ विष्णुधर्मोत्तर (२।७३।२०३-२०६)।

प्रकीर्णक पातकों के लिए मनु (११।२०९), विष्णु (४२।२) एवं याज्ञ० (३।२९४) ने कहा है कि ब्राह्मणों को दुष्कर्मों के स्वभाव, कर्ताओं की योग्यता तथा काल, स्थान आदि संबंधी अन्य परिस्थितियों पर विचार कर व्यवस्था देनी चाहिए।

कुछ निबन्धों ने प्रायश्चित्त-सम्पादन के लिए विशिष्ट समय निर्धारित किये हैं। हारीत ने प्रथम नियम यह दिया है कि विश्वसनीयता, प्यार, लालच, भय या असावधानी से किये गये किसी अनुचित या पापमय कर्म का शुद्धीकरण तत्क्षण होना चाहिए। दक्ष (२।७३) ने कहा है कि नैमित्तिक एवं काम्य विषयों में देरी नहीं करनी चाहिए, अर्थात् समय के अनुसार ही उनका सम्पादन नियमविहित होता है। पाप करने के उपरान्त यदि एक वर्ष से अधिक हो जाय और शुद्धीकरण न हुआ हो तो मनु एवं देवल के अनुसार दूना प्रायश्चित्त करना पड़ता है।[23] प्राय० त० (पृ० ४७४, ५१२) ने व्यवहारचिन्तामणि एवं एक ज्योतिष-ग्रन्थ का उद्धरण देते हुए कहा है कि प्रायश्चित्त एवं परीक्षण-कार्य (दिव्य) महीने की अष्टमी और चतुर्दशी तिथि को नहीं करना चाहिए और न विवाह एवं परीक्षण-कार्य शनिवार एवं बुधवार को होना चाहिए। प्रायश्चित्तेन्दुशेखर (पृ० १५) ने कहा है कि शिष्टों के मत से संकल्प चतुर्दशी तिथि को किया जा सकता है किन्तु वास्तविक कृत्य अमावस्या को करना चाहिए। यदि अपराधी सूतक में पड़ा हो तो सूतक-काल के उपरान्त प्रायश्चित्त करना चाहिए।

शिष्टों की परिषद् द्वारा व्यवस्थित प्रायश्चित्तों की विधि के विषय में जो बातें कही गयी हैं उनमें समय-समय पर अन्तर पड़ता चला गया है। गौतमधर्मसूत्र (२६।६-१७) ने कृच्छ्र के सम्पादन की विधि यों दी है—'यदि पापी पाप से शीघ्र मुक्त होना चाहे तो उसे दिन में खड़ा एवं रात्रि में बैठा रहना चाहिए (अर्थात् उसे रात्रि में बैठकर ही सोना चाहिए, लेटकर नहीं), उसे सत्य बोलना चाहिए, अनार्यों (शूद्र आदि) से बातचीत नहीं करनी चाहिए, दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए, मार्जन करना चाहिए (कुश से जल लेकर मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सिर एवं अन्य अंगों पर छिड़कना चाहिए), 'आपो हि ष्ठा' आदि (ऋग्वेद १०।९।१-३) मन्त्रों, पवित्रवती मन्त्रों एवं तै० सं० (५।६।१।१-८) के आठ मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। इसके उपरान्त १३ मन्त्रों के आदि में 'नमः' एवं अन्त में 'नमः' का उच्चारण करते हुए तर्पण (जल लेकर) करना चाहिए (प्रत्येक मन्त्र में क्रम से ६, ४, ४, १३, २, २, २, ६, ५, २, २, ६ एवं २ देवताओं के नाम होने चाहिए)। यह प्रायश्चित्ती के लिए आदित्य (सूर्य) का पूजन है। वह १३ मन्त्रों के साथ घी की आहुतियाँ देता है। इस प्रकार वह १२ दिन व्यतीत कर देता है। तेरहवें दिन वह अग्नि, सोम, अग्नि एवं सोम, इन्द्र एवं अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवों, ब्रह्मा, प्रजापति, स्विष्टकृत् अग्नि को ९ आहुतियाँ देता है। इसके उपरान्त वह ब्रह्मभोज करता है।' आप० ध० सू० (२।६।१५।९) ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि ब्रह्मभोज में केवल शुचियुक्त (सदाचारी) एवं मन्त्रवान् (वेदज्ञ) ब्राह्मणों को ही निमन्त्रित करना चाहिए।[24] बौधा० ध० सू० (२।१।९५-९९) ने व्यव-

२३. नैमित्तिकानि काम्यानि निपतन्ति यथा यथा। तथा तथा हि कार्याणि न कालं तु विलम्बयेत्।। दक्ष (२।७३; प्राय० त०, पृ० ५१२)। यथा स्मृतिसागरे देवलः। कालातिरेके द्विगुणं प्रायश्चित्तं समाचरेत्। द्विगुणं राजदण्डं च दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात्।। कालातिरेके संवत्सरातिरेके। संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः। इति मनुवचने। प्राय० त०, पृ० ४७४। यह मनु (८।३७४) है। 'तस्माद्विश्रम्भात् स्नेहाद् लोभाद् भयात्प्रमादाद्वा अशुभं कृत्वा सद्यः शौचमारभेत्' इति हारीतेन सद्यःकरणमुक्तम्। अत्रापि व्यवहारचिन्तामणौ विशेषः। नाष्टम्यां न चतुर्दश्यां प्रायश्चित्तपरीक्षणे। न परीक्षा विवाहश्च शनिभौमदिने तथा।। प्राय० त०, पृ० ४७४।

२४. शुचीन्मन्त्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेत्। आप० ध० सू० (२।६।१५।९)।

स्था दी है कि कृच्छ्र प्रायश्चित्त में दिन में तीन बार स्नान करना चाहिए, पृथिवी पर ही सोना चाहिए, केवल एक वस्त्र धारण करना चाहिए, सिर, मूँछ एवं शरीर के बाल तथा नख कटा लेने चाहिए। यही नियम स्त्रियों के लिए भी है, वे केवल सिर के बाल नहीं कटातीं। मनु (११।२२२-२२५) ने कहा है कि सभी प्रायश्चित्तों में महाव्याहृतियों के साथ होम प्रति दिन होना चाहिए; पापी को अहिंसा, सत्य, क्रोध-विवर्जन, ऋजुता का पालन करना चाहिए; वस्त्रों के साथ दिन में तीन बार और रात्रि में तीन बार स्नान करना चाहिए; शूद्र, पतित एवं स्त्रियों से बातचीत नहीं करनी चाहिए; दिन में खड़े एवं रात्रि में बैठे रहना चाहिए या यदि कोई ऐसा करने में अयोग्य हो तो उसे पृथिवी (स्थण्डिल या चबूतरा) पर सोना चाहिए; ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए, विद्यार्थी के नियमों (यथा—मूँज की मेखला, पलाश-दण्ड धारण आदि) का पालन करना चाहिए। देवों, ब्राह्मणों एवं गुरुजनों का सम्मान करना चाहिए और लगातार गायत्री एवं पवित्र वचनों का पाठ करना चाहिए। यही व्यवस्था वसिष्ठ (२४।५) ने भी दी है। याज्ञ० (३।३१२-१३) के वचन महत्त्वपूर्ण हैं। प्रायश्चित्तों के लिए **यमों** (ब्रह्मचर्य, दया, सहिष्णुता, सत्य, अहिंसा आदि) एवं **नियमों** (स्नान, मौन, उपवास, शुचिता आदि) का पालन अति आवश्यक है। लौगाक्षिगृह्य० (५।३-११) ने प्रायश्चित्तों की विधि दी है। याज्ञ० (३।३२५) ने कहा है कि कृच्छ्र या चान्द्रायण प्रायश्चित्त करते समय तीन बार स्नान करना चाहिए, पवित्र मन्त्रों (जैसा कि वसिष्ठ २८।११-१५ ने कहा है) का पाठ करना चाहिए और उस भात के पिण्डों को खाना चाहिए जिन पर गायत्री मन्त्र का पाठ हुआ हो। शंख (१८।१२-१४) ने प्रायश्चित्त की विधि बतायी है।[२५] प्रायश्चित्तों की विधि के विषय में मदनपारिजात (पृ० ७८१-७८४), प्राय० वि० (पृ० ५०३-५०६), प्राय० सार (पृ० ३१, ३२ एवं २०२-२०३), प्राय० तत्त्व (पृ० ४९७-५१०, ५२३-५२४), प्राय० मयूख (पृ० १८-२१), प्राय० प्रकाश, प्रायश्चित्तेन्दु-शेखर (पृ० १५ एवं ८८) आदि ने विस्तार के साथ वर्णन किया है। किन्तु हम उन्हें यहाँ उल्लिखित करना अनावश्यक समझते हैं। संक्षेप में विधि यों है—प्रायश्चित्त आरम्भ करने के एक दिन पूर्व नख एवं बाल कटा लेने चाहिए; मिट्टी, गोबर, पवित्र जल आदि से स्नान कर लेना चाहिए; घृत पीना चाहिए, शिष्टों की परिषद् द्वारा व्यवस्थित नियमों के पालन की घोषणा करनी चाहिए। दूसरे दिन व्यक्ति को स्नान करना चाहिए, श्राद्ध करना चाहिए, पंचगव्य पीना चाहिए, होम करना चाहिए, सोना, गाय आदि ब्राह्मणों को दक्षिणा में देना चाहिए और उन्हें भोज देना चाहिए। पराशर (११।२) का कथन है कि प्रायश्चित्त के उपरान्त पंचगव्य पीना चाहिए तथा प्रायश्चित्त करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को क्रम से एक, दो, तीन या चार गायें दान देनी चाहिए। जाबालि का कहना है कि प्रायश्चित्त के आरंभ एवं अन्त में स्मार्त अग्नि में व्याहृतियों के साथ घी की आहुतियाँ देनी चाहिए, श्राद्ध करना चाहिए एवं सोने तथा गाय की दक्षिणा देनी चाहिए। देखिए अपरार्क (पृ० १२३०) एवं परा० माध० (२, भाग २, पृ० १९२) जहाँ जाबालि का उद्धरण दिया हुआ है। प्राय० प्रकाश का कथन है कि महार्णव के मत से व्याहृति-होम की संख्या २८ या १०८ होनी चाहिए।

वपन या मुण्डन के विषय में भी कुछ लिख देना आवश्यक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।५।६।१-२) में आया है—"असुरों ने सर्वप्रथम सिर के बाल मुँड़ाये, उसके उपरान्त मूँछें मुँड़वा दीं और तब काँखें, इसी से वे नीचे गिरे (या उनका मुख नीचा हुआ) और पराभूत हुए; किन्तु देवों ने सर्वप्रथम काँखों के बाल बनवाये, उनके उपरान्त मूँछ बनवायीं और तब सिर के बाल कटाये।" प्राय० प्रकाश ने इस कथन को विभ त रूप में उद्धृत करके वपन के तीन प्रकार दिये हैं; **दैव** (देवों का), **आसुर** (असुरों का) एवं **मानुष** (मानवों का)। इनमें आसुर वर्जित है और वैदिक अग्नियों को

२५. मुण्डस्त्रिषवणस्नायी अधःशायी जितेन्द्रियः। स्त्रीशूद्रपतितानां च वर्जयेत्परिभाषणम्।। पवित्राणि जपेच्छक्त्या जुहुयाच्चैव शक्तितः। अयं विधिः स विज्ञेयः सर्वकृच्छ्रेषु सर्वदा।। शंख (१८।१२-१३)।

प्रज्वलित करने में, इष्टियों एवं सोमयज्ञों में दैव प्रकार का प्रयोग होता है। किन्तु प्रायश्चित्तों में कोई विशिष्ट विधि नहीं है, कोई भी विधि विकल्प रूप से प्रयुक्त हो सकती है। कई अवसरों पर शिर-मुण्डन की व्यवस्था है, यथा—तीर्थ-यात्रा में, प्रयाग में, माता या पिता की मृत्यु पर। व्यर्थ में शिर-मुण्डन नहीं कराना चाहिए (विष्णुपुराण, प्राय० त०, पृ० ४८९)। इन्हीं अवसरों में प्रायश्चित्तों की गणना भी होती है। बात ऐसी है कि जब कोई पाप किया जाता है तो वह बालों में केन्द्रित हो जाता है, ऐसा मदनपारिजात एवं प्राय० मयूख का कथन है।[२६] गौतम (२७।२), वसिष्ठ (२४।५), बौधा० ध० सू० (२।१।९८-९९) आदि ने सिर एवं दाढ़ी-मूंछ के बालों (भौंहों, शिखा एवं कटिबन्ध के बालों को छोड़कर) के वपन की व्यवस्था दी है। कुछ अपवाद भी हैं। दक्ष ने उनके लिए जिनके पिता जीवित हैं और जिनकी पत्नियाँ गर्भवती हैं, शिर-मुण्डन, पिण्डदान, शव-वहन एवं प्रेत-कर्म वर्जित माना है। किन्तु यह वर्जना प्राय-श्चित्तों के लिए नहीं प्रयुक्त होती। बौधायन ने स्त्रियों के प्रायश्चित्तों में सिर-मुण्डन वर्जित ठहराया है। अंगिरा (१६३), आपस्तम्बस्मृति (१।३३-३४), बृहद्यम (३।१६), वृद्धहारीत (९।३८८), पराशर (९।५४-५५), और यम (५४।५५) ने व्यवस्था दी है कि सधवा विवाहित स्त्रियों एवं कुमारियों के बाल बाँध देने चाहिए और केवल दो अंगुल बाल काट देने चाहिए। विधवाओं एवं संन्यासियों का पूर्ण शिर-मुण्डन होना चाहिए। पराशर (९।५२-५४) तथा शंख (परा० मा०, २, भाग १, पृ० २९०-२९१) के मत से राजा, राजकुमार या विद्वान् ब्राह्मणों को शिर-मुण्डन के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उन्हें दूना प्रायश्चित्त करना चाहिए और दूनी दक्षिणा भी देनी चाहिए। मिता० (याज्ञ० ३।३२५) ने मनु को उद्धृत कर (यह वचन मुद्रित मनुस्मृति में नहीं उपलब्ध है) कहा है कि विद्वान् ब्राह्मणों एवं राजाओं को शिर-मुण्डन नहीं कराना चाहिए, किन्तु महापातकों एवं गोवध करने पर एवं अवकीर्णी होने पर यह नियम नहीं लागू होता। मिता० (याज्ञ० ३।२६४) ने संवर्त का हवाला देते हुए कहा है कि जब प्रायश्चित्त चौथाई हो तो गले के नीचे के बाल, जब आधा हो तो मूंछों के सहित बाल भी, जब तीन चौथाई हो तो शिखा को छोड़ सभी बाल और जब पूर्ण हो तो शिखा के बाल भी काटे जाने चाहिए। परा० माधवीय (२, भाग १, पृ० ३००) ने कहा है कि चान्द्रायण व्रत में गुप्तांगों के सहित शरीर के सभी स्थानों का वपन हो जाना चाहिए। वपन-कार्य नापित करता है तब भी संकल्प-वचन 'वपनं करिष्ये' है न कि 'वपनं कारयिष्ये।' गौतम (२७।३) में आया है—'वपनं व्रतं चरेत्' जो चान्द्रायण के विषय में आया है, इसी से हरदत्त आदि ने अनुमान लगाया है कि कृच्छ्र में वपन अनावश्यक है।

प्रायश्चित्त में स्नान होता ही है और वह भस्म, गोबर, मिट्टी, जल, पंचगव्य एवं कुश डाले हुए जल से सम्पादित होता है। स्नान करने के समय जिन मन्त्रों का पाठ किया जाता है वे लिंगपुराण तथा भविष्यपुराण में एवं अन्यत्र दिये हुए हैं।

प्रायश्चित्त करते समय कुछ यमों एवं नियमों का पालन गुप्त रूप से या प्रकट रूप से करते रहना चाहिए। इस विषय में हमने याज्ञवल्क्य (३।३१२-३१३) के वचन ऊपर पढ़ लिये हैं। अत्रि (४८-४९) ने यमों एवं नियमों को दूसरे ढंग से व्यक्त किया है। मेधातिथि (मनु ४।२०८=अत्रि ४८) ने मनु की व्याख्या यों की है—यम वर्जना (निषेध) के रूप में होते हैं, यथा—ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए, तथा नियम किये जाने (विधि) के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, यथा—वेद का पाठ सदा करना चाहिए (मनु ४।१४७)।

२६. यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। केशानाश्रित्य तिष्ठन्ति तस्मात्केशान्वपाम्यहम्॥ इति मन्त्रमुक्त्वा कक्षोपस्थशिखावर्जं क्रमेण श्मश्रूपपक्षकेशानुदक्संस्थान् वापयेत्। यतिविधवादीनां सशिखं वपनम्। ब्रह्म-हत्यादिष्वपि सशिखं सर्वांगलोम्नां च। प्राय० म० (पृ० १९)।

प्रायश्चित्त करते समय भोजन आदि के विषय में कुछ नियमों का पालन आवश्यक ठहराया गया है। हारीत के मत से माष एवं मसूर की दाल प्रायश्चित्त के समय नहीं खानी चाहिए, मधु का सेवन भी वर्ज्य है और इसी प्रकार दूसरे का भोजन या दूसरे के घर में भोजन नहीं करना चाहिए, संभोग से दूर रहना चाहिए, अनुचित समय पर नहीं बोलना चाहिए, यदि स्त्रियों, शूद्रों या उच्छिष्टों से बात हो जाय तो आचमन करना चाहिए। यम ने आदेश दिया है कि प्रायश्चित्त करते समय शरीर-मर्दन कराना, सिर में तेल लगवाना, ताम्बूल खाना, अंजन लगाना या उन वस्तुओं का सेवन करना, जिनसे कामोद्दीपन होता है या शक्ति आती है, वर्जित है।

प्राय० प्रकाश के मत से प्रायश्चित्त आरम्भ करते समय 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि' (व्रतों के पति अग्नि, मैं व्रत का सम्पादन करूँगा) मन्त्र पढ़ना चाहिए और अन्त करते समय 'अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मे राधि' (व्रतों के स्वामी, मैंने व्रत कर लिया है, मुझे यह करने की शक्ति थी, यह मेरे लिए शुभ हो) का पाठ करना चाहिए।

प्रायश्चित्त के दो प्रकार हैं; प्रकट (बाह्य रूप में किया जानेवाला) एवं रहस्य (गुप्त रूप से किया जाने-वाला)। अन्तिम के विषय में दो-एक शब्द यहाँ दिये जा रहे हैं। इस विषय में गौतम (२४।१-११), वसिष्ठ (२५।१-३), मनु (११।२४८-२६५), याज्ञ० (३।३०१-३०५), विष्णु (५५) आदि ने नियम दिये हैं। यदि कोई पाप किसी अन्य को न ज्ञात हो तो रहस्य प्रायश्चित्त किया जा सकता है। व्यभिचार एवं महापातकियों के संसर्ग से उत्पन्न पाप के लिए भी रहस्य प्रायश्चित्त किया जा सकता है। यद्यपि दोनों बातें क्रम से उस नारी एवं महापातकी को ज्ञात रहती हैं जिनके साथ व्यक्ति ने व्यभिचार एवं संसर्ग स्थापित किया था। वसिष्ठ (२५-२) ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि रहस्य-प्रायश्चित्त का अधिकार केवल उसी को है जो अग्निहोत्र करता है, जो अनुशासित एवं विनीत है, वृद्ध है या विद्वान् है। प्रकाश-प्रायश्चित्त अन्य लोगों के लिए है। यदि व्यक्ति स्वयं प्रायश्चित्त का ज्ञाता है तो उसे शिष्टों की परिषद् में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह किसी जानकार व्यक्ति से सामान्य ढंग से पूछ ले सकता है। वसिष्ठ (२५।३) का कथन है कि जो सदैव प्राणायाम, पवित्र वचनों, दानों, होमों एवं जप में लिप्त रहते हैं वे पाप से मुक्त हो जाते हैं। मनु (११।२२६) का कथन है कि जिनके पाप जनता में प्रकट नहीं हुए हैं, वे होमों एवं मन्त्रों से शुद्ध हो सकते हैं। स्त्रियाँ एवं शूद्र भी रहस्य-प्रायश्चित्त कर सकते हैं। यद्यपि वे होम नहीं कर सकते एवं वैदिक मन्त्रों का जप नहीं कर सकते, किन्तु वे दानों एवं प्राणायाम से शुद्धि पा सकते हैं (मिता०, याज्ञ० ३।३००)। गौतम (२६।२) एवं मनु (११।२५३) का कहना है कि जो वर्जित दान प्राप्त करना चाहता है, या जो ऐसा दान ग्रहण कर लेता है उसे पानी में कमर तक खड़े होकर 'तरत् स मन्दि' (ऋग्वेद १०।५८।१-४) से आरम्भ होनेवाले चार मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। गौतम (२४।६) ने ब्रह्म-घातक के लिए प्रथम दस दिनों तक दूध पर, पुनः दस दिनों तक घी पर और पुनः दस दिनों तक जल पर रहने को कहा है और वह भी केवल एक बार प्रातःकाल, और कहा है कि उसे गीले वस्त्र धारण करने चाहिए और प्रति दिन आठ अंगों के नाम से प्रतीकात्मक घृताहुतियाँ देनी चाहिए, जो निम्न हैं—शरीर के बाल, नख, चर्म, मांस, रक्त, मांसपेशियाँ, हड्डियाँ एवं मज्जा, और अन्त में कहना चाहिए 'मैं मृत्यु के मुख में आहुतियाँ दे रहा हूँ।' याज्ञ० (३।३०१) के मत से उसको दस दिनों तक उपवास करना चाहिए, जल में खड़े होकर अघमर्षण सूक्त (ऋ० १०।१९०) का जप करना चाहिए, एक दुधारू गाय देनी चाहिए। किन्तु विष्णु का कथन है कि उसे किसी बहती नदी में एक मास तक स्नान करना चाहिए, प्रति दिन १६ प्राणायाम करने चाहिए और केवल एक बार यज्ञिय भोजन करना चाहिए, तब कहीं उसे शुचिता प्राप्त हो सकती है। विष्णु के मत से सुरापान करनेवाला ब्रह्म-हत्या के लिए व्यवस्थित व्रत का पालन करके एवं अघमर्षण का पाठ करके शुद्ध हो सकता है; ब्राह्मण के सोने की चोरी करनेवाला तीन दिनों का उपवास करके एवं गायत्री का दस सहस्र बार जप करके पवित्र हो सकता है और माता, बहिन, पुत्री, पुत्रवधू आदि से व्यभिचार करनेवाला 'सहस्रशीर्षा' (ऋ० १०।९०) आदि १६ मन्त्रों का पाठ करके शुद्ध हो सकता है।

ऋषियों ने देखा कि प्राचीन स्मृतियों में वर्णित कुछ प्रायश्चित्त बड़े भयावह एवं मरणान्तक हैं, अतः उन्होंने क्रमशः अपेक्षाकृत अधिक उदार एवं सरल प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की। उदाहरणार्थ हारीत का कथन है कि धर्मशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को अपराधी की वय (अवस्था), शक्ति एवं काल को देखकर ही प्रायश्चित्त की व्यवस्था देनी चाहिए, प्रायश्चित्त ऐसा होना चाहिए कि प्राणों की हानि न हो और वह शुद्ध हो जाय; ऐसी व्यवस्था नहीं होनी चाहिए कि पापी को महान् कष्ट या आपत्ति का सामना करना पड़े।[२७] अंगिरा ने भी कहा है कि सर्वसम्मति से परिषद् द्वारा ऐसी ही प्रायश्चित्त-व्यवस्था देनी चाहिए कि जीवन-हानि न हो। शंख ने घोषित किया है कि "ब्राह्मण को चोरों, भयानक पशुओं, हाथियों एवं अन्य पशुओं से आकीर्ण वन में जीवनबाधा के भय से प्रायश्चित्त सम्पादन नहीं करना चाहिए। शरीर में ही धर्म के पालन का मूल है, अतः वह रक्षणीय है; जिस प्रकार जल पर्वत से निकलकर स्रोत बनता है उसी प्रकार धर्म शरीर से आचरित होकर संचित किया जा सकता है।"[२८]

समय के परिवर्तन के साथ प्रायश्चित्तों के बदले प्रत्याम्नाय नामक सरलतम प्रायश्चित्त-प्रतिनिधियों की व्यवस्था की गयी। आप० श्रौ० सू० (५।२०।१८– यद्यनाढ्योऽग्नीनादधीत कौममेवैकां गां दद्यात् सा गवां प्रत्याम्नायो भवतीति विज्ञायते; ६।३०।९), शांखा० श्रौ० सू० (१४।५१।६) एवं अन्य सूत्रों ने इसी अर्थ में प्रत्याम्नाय शब्द का प्रयोग किया है। संवर्त का कथन है कि यदि पापी प्राजापत्य प्रायश्चित्त करने में समर्थ न हो तो वह उसके स्थान पर एक गाय का दान करे और यदि गाय न दे सके तो उसका मूल्य दे (परा० मा०, २, भाग १, पृ० १९७; प्राय० सार पृ० २०३; प्राय० तत्त्व पृ० ५१७ एवं ५४१)। पराशर (२।६३-६४) ने प्राजापत्य के चार प्रतिनिधि बतलाये हैं, यथा—गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०) का दस सहस्र बार जप, २०० प्राणायाम, प्रत्येक बार सिर सुखाकर किसी पवित्र जलाशय में बारह बार स्नान तथा किसी पवित्र स्थान की दो योजन यात्रा। गौतम (१९।१६) से पता चलता है कि प्रायश्चित्त में गाय का प्रतिनिधि सोना है। ब्रह्मपुराण का कथन है कि गाय के स्थान पर एक या आधा या चौथाई निष्क दिया जा सकता है।[२९] चतुर्विंशतिमत ने प्राजापत्य के लिए कतिपय प्रत्याम्नायों की

२७. यथावयो यथाकालं यथाप्राणं च ब्राह्मणे। प्रायश्चित्तं प्रदातव्यं ब्राह्मणैर्धर्मपाठकैः॥ येन शुद्धिमवाप्नोति न च प्राणैर्वियुज्यते। आर्तिं वा महतीं याति न चैतद् व्रतमादिशेत्॥ हारीत (परा० मा० २, भाग १, पृ० २३५); पर्षत्संचिन्त्य तत्सर्वं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्। सर्वेषां निश्चितं यत्स्याद्यच्च प्राणान् न घातयेत्॥ अंगिरा (परा० मा० २, भाग १, पृ० २३६; मदनपारिजात, पृ० ७७९)।

२८. तस्करश्वापदाकीर्णे बहुव्यालमृगे वने। न व्रतं ब्राह्मणः कुर्यात्प्राणबाधाभयात्सदा॥ शरीरं धर्मसर्वस्वं रक्षणीयं प्रयत्नतः। शरीरात् स्रवते धर्मः पर्वतात्सलिलं यथा॥ शंख (१७।६३ एवं ६५; मदनपारिजात पृ० ७२८; अपरार्क पृ० १२३१)। अपरार्क ने एक अन्य श्लोक भी जोड़ दिया है—'सर्वतो जीवितं रक्षेज्जीवन्पापं व्यपोहति। व्रतैः कृच्छ्रैस्तथा दानैरित्याह भगवान्यमः॥' (शंख १७।६४)।

२९. प्राजापत्यव्रताशक्तौ धेनुं दद्यात्पयस्विनीम्। धेनोरभावे दातव्यं तुल्यं मूल्यं न संशयः॥ संवर्त (परा० मा० २, भाग २, पृ० १९७; प्राय० सार, पृ० २०३; प्राय० त०, पृ० ५१७ एवं ५४१)। मिता० (याज्ञ० ३।३२६) ने इसे स्मृत्यन्तर माना है, और दूसरा आधा इस प्रकार जोड़ा है—"मूल्यार्धमपि निष्कं वा तदर्धं शक्त्यपेक्षया।" इस श्लोक को अपरार्क (पृ० १२४८) ने मार्कण्डेयपुराण का माना है। प्राजापत्यकृच्छ्रस्य चतुरः प्रत्याम्नायानाह; कृच्छ्रं देव्ययुतं चैव प्राणायामशतद्वयम्। पुण्यतीर्थेऽनार्द्रशिरःस्नानं द्वादशसंख्यया॥ द्वियोजने तीर्थयात्रा कृच्छ्रमेकं प्रकल्पितम्॥ पराशर (१२।६३-५४) एवं परा० मा० (२, भाग २, पृ० ४७)। मूल्यं च यथाशक्ति देयम्। अत एव ब्रह्मपुराणे

व्यवस्था दी है, यथा—दस सहस्र बार गायत्री-जप, जल में खड़ा रहना, ब्राह्मण को गोदान (प्राजापत्य को लेकर)—ये चार समान हैं, और तिल के साथ होम, सम्पूर्ण वैदिक संहिता का पाठ, बारह ब्राह्मणों का भोजन एवं पावकेष्टि समान कहे गये हैं। चतुर्विंशतिमत के अनुसार प्राजापत्य का प्रतिनिधि एक गाय का दान है, सान्तपन का प्रत्याम्नाय (प्रतिनिधि) दो गौएँ हैं तथा पराक, तप्तकृच्छ्र एवं अतिकृच्छ्र का प्रत्याम्नाय तीन गौएँ तथा चान्द्रायण के लिए आठ गौएँ है। इन सरल से सरलतर एवं सरलतम विधियों का फल यह हुआ है कि मध्य काल में महापातकों के प्रत्याम्नाय ब्रह्म-भोज, धन-दान या अन्य दानों तक चले आये। उदाहरणार्थ, मिता० (याज्ञ० ३।३२६) का कथन है कि १२ वर्षों के प्रायश्चित्त के स्थान पर विकल्प से ३६० प्राजापत्य किये जा सकते हैं, प्रत्येक प्राजापत्य १२ दिनों तक चलता रहेगा; यदि व्यक्ति यह भी न कर सके तो वह ३६० दुधारू गौओं का दान कर दे; किन्तु यदि यह असम्भव हो तो उनके बराबर मूल्य या ३६० निष्क दे या ऐसा न कर सकने पर इनका आधा या चौथाई मूल्य दान करे। याज्ञ० (३।३०९) ने व्यवस्था दी है कि गायत्री के साथ एक लाख होम किया जा सकता है या तिल-दान के साथ ब्राह्मणों द्वारा वेद-पाठ कराया जा सकता है। वसिष्ठ (२८।१८-१९=अत्रि ६।७-८) एवं विष्णु (९०।१०) का कथन है कि वैशाख की पूर्णिमा को सात या पाँच ब्राह्मणों को मधु एवं तिल के साथ भोजन देने से व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है। ये व्यवस्थाएँ मध्य काल के अधिकांश ग्रन्थों में दी हुई हैं, यथा—स्मृत्यर्थसार (पृ० १४९, १५५), प्रायश्चित्तसार (पृ० २०३), प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ५१७, ५४१), प्रायश्चित्तमयूख (पृ० १८) आदि। इन्हीं व्यवस्थाओं के फलस्वरूप आजकल के लोग मरते समय एक या अधिक गौओं का दान या पुरोहितों को धन-दान देकर अपने पापों का प्रायश्चित्त कर लेते हैं।

मध्यकाल के लेखकों ने दुधारू गौओं, साधारण गौओं एवं बैलों के मूल्य के विषय में लिखकर मनोरंजक जानकारी दी है। प्रायश्चित्तविवेक (पृ० १९९) के मत से पयस्विनी (दुधारू) गाय का मूल्य तीन पुराण, साधारण गाय का एक पुराण एवं बैल का पाँच पुराण था। प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ५१७-५१८) ने कात्यायन का हवाला देकर कहा है कि गाय का मूल्य ३२ पण, बछड़े का एक पुराण है। एक पण ताँबे का होता है और तोल में ८० रत्ती या मूल्य में ८० वराटकों (कौड़ियों) के समान होता है तथा १६ पण के बराबर एक पुराण होता है (भविष्य० एवं मत्स्य० के अनुसार), निष्क वह नहीं है जैसा कि मनु (८।१३७) ने कहा है, प्रत्युत वह एक दीनार-निष्क है, अर्थात् सोना जो तोल में ३२ रत्ती होता है। प्रायश्चित्तेन्दुशेखर (पृ० ७) ने याज्ञ० (१।३६५) का अनुसरण कर कहा है कि निष्क चाँदी है और तोल में चार सुवर्णों या एक पल के सामन होता है। एक रत्ती की तोल औसत १.८ ग्रेन होती है, अतः ८० रत्ती का एक ताम्र-पण तोल में लगभग १४४ ग्रेन होगा। इसी तरह से एक धेनु ३२ पणों (या दो पुराणों) के बराबर था, अर्थात् ताम्र के २६ तोला के बराबर (जब एक तोला १८० ग्रेन के बराबर लिया जाय)। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ४, जहाँ प्राचीन सिक्कों एवं तोलों के विषय में लिखा हुआ है। कालक्रम से आगे चलकर कई शताब्दियों में लेखकों के मतों में अन्तर पड़ गया। विज्ञानेश्वर के मत से एक चाँदी का निष्क 'चार सुवर्ण' के बराबर होता है। लीलावती के अनुसार २० वराटक (कौड़ियाँ) एक काकिणी के बराबर, ४ काकिणी एक पण के बराबर तथा एक निष्क २५६ पणों के बराबर होता है।

'गवामभावे निष्कं स्यात्तदर्धं पादमेव वा।' परा० मा० (२, भाग २, पृ० १९७), प्रा० सा० (पृ० २०३) एवं मिता० (याज्ञ० ३।३२६, जहाँ नाम नहीं दिया हुआ है)।

अध्याय ५

प्रायश्चित्तों के नाम

इस अध्याय में हम स्मृतियों एवं निबन्धों में उल्लिखित सभी प्रायश्चित्तों को क्रमानुसार उपस्थित करेंगे। ऐसा करने में हम केवल मन्त्रोच्चारण, उपवास आदि को छोड़ देंगे। छोटी-मोटी व्याख्याएँ एवं संकेत मात्र उपस्थित किये जायँगे, क्योंकि प्रायश्चित्तों की विस्तृत चर्चा गत अध्याय में हो चुकी है।

अघमर्षण (ऋग्वेद १०।१९०।१-३)। अत्यन्त प्राचीन धर्मशास्त्र-ग्रन्थों (यथा—गौतम (२४।११), बौधा० ध० सू० (४।२।१९।२०), वसिष्ठ (२६।८), मनु (११।२५९-२६०), याज्ञ० (३।३०१), विष्णु (५५।७), शंख (१८।१-२) आदि ने इसे सभी पापों का प्रायश्चित्त माना है। उनका कथन है कि यदि व्यक्ति जल में खड़ा होकर दिन में तीन बार (हरदत्त के अनुसार तीन दिनों तक) अघमर्षण मन्त्रों का पाठ करता है तो वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है और यह प्रायश्चित्त अश्वमेध के अन्त में किये गये स्नान के समान पवित्र माना जाता है। प्राय० सा० (पृ० १९९) ने भी इसका उल्लेख किया है। व्यक्ति को तीन दिनों का उपवास, दिन में खड़ा रहना, रात में बैठा रहना एवं अन्त में दुधारू गाय का दान करना होता है। शंख (१८।१-२) एवं विष्णु (४७।१-९) ने इसका सविस्तर वर्णन किया है।

अतिकृच्छ्र (और देखिए कृच्छ्र के अन्तर्गत)। मनु (११।२१३) के मत से यह प्रायश्चित्त तीन दिनों तक केवल प्रातःकाल एक कौर भोजन से, उतने ही दिन संध्याकाल एक कौर भोजन से, पुनः तीन दिनों तक बिना माँगे एक कौर भोजन से और अन्त में तीन दिनों तक पूर्ण उपवास से सम्पादित किया जाता है। याज्ञ० (३।३१९) ने एक कौर के स्थान पर एक मुट्ठी भोजन की व्यवस्था दी है। मिता० (याज्ञ० ३।३१९) एवं प्राय० सा० (पृ० १७६) के मत से मनु की व्यवस्था शक्त लोगों के लिए तथा याज्ञ० की अशक्त लोगों के लिए है। और देखिए साम० ब्रा० (१।२।६-७), गौ० (२६।१८-१९), विष्णु (५४-३०), लौगाक्षिगृ० (५।१२-१३), पराशर (११।५४-५५), वसिष्ठ (२४।१-२) एवं बौधा० ध० सू० (४।५।८)। मनु (११।२०८) एवं विष्णु (५४।३०) ने इस प्रायश्चित्त को उसके लिए व्यवस्थित किया है जो ब्राह्मण को लाठी या किसी अस्त्र से ठोकता या पीटता है। गौतम (२६।२२) के मत से महापातकों को छोड़-कर अन्य पाप इस प्रायश्चित्त से नष्ट हो जाते हैं।

अतिसान्तपन (और देखिए महासान्तपन)। यह कई प्रकार से परिभाषित हुआ है। अग्नि० (१७१।-१०) एवं विष्णु (४६।२१) के मत से यह १८ दिनों तक चलता है (महासान्तपन का तिगुना, जिसमें ६ दिनों तक गोमूत्र एवं अन्य पाँच वस्तुओं का आहार करना पड़ता है)। मिता० (याज्ञ० ३।३१५) ने यम को उद्धृत कर इसके लिए १२ दिनों की व्यवस्था की ओर संकेत किया है। प्राय० मयूख (पृ० २३) ने इसके लिए १५ दिनों की व्यवस्था दी है।[1]

१. यदा तु षण्णां सान्तपनद्रव्याणामेकैकस्य द्व्यहमुपयोगस्तदातिसान्तपनम्। यथाह यमः—एतान्येव तथा

अर्धकृच्छ् (और देखिए कृच्छ्)। आपस्तम्बस्मृति (९।४३-४४) के अनुसार यह छः दिनों का प्रायश्चित्त है जिसमें एक दिन केवल एक बार, एक दिन केवल सन्ध्याकाल, दो दिन बिना माँगे भोजन करना पड़ता है और दो दिनों तक पूर्ण उपवास करना पड़ता है। मिताक्षरा ने एक अन्य प्रकार दिया है, जिसमें तीन दिनों तक बिना माँगे प्राप्त भोजन करना पड़ता है और तीन दिनों तक पूर्ण उपवास करना पड़ता है।[2]

अश्वमेधावभृथस्नान—यह अश्वमेघ के अन्त में समुद्र या पवित्र नदी में संस्कारजन्य अथवा कृत्य-स्नान होता है। विष्णु (३६ के उत्तरार्ध) ने महापातकों एवं अनुपातकों के लिए अश्वमेघ की व्यवस्था दी है। केवल सम्राट् अथवा अभिषिक्त राजा ही अश्वमेघ कर सकते हैं जिसके अन्त में एक विशिष्ट स्नान किया जाता है। देखिए इस ग्रन्थ का ख ड २, अध्याय ३५, जहाँ अश्वमेघ का वर्णन है। प्राय० वि० (पृ० ६५) के मत से अश्वमेघ केवल क्षत्रिय ही कर सकता है। अतः यह प्रायश्चित्त केवल क्षत्रियों के लिए है। किन्तु कुल्लूक (मनु ११।९२) एवं प्राय० तत्त्व (दोनों ने भविष्यपुराण का हवाला दिया है) ने कहा है कि ब्राह्मण भी अश्वमेघ के अन्त में होनेवाले स्नान में भाग लेकर अज्ञान में किये गये ब्रह्महत्या के महापातक से छुटकारा पा सकता है।[3]

आग्नेय कृच्छ्—अग्निपुराण एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण के मत से यदि व्यक्ति केवल तिल खाकर बारह दिन व्यतीत कर दे तो वह आग्नेय कृच्छ् कहलाता है।[4]

ऋषिचान्द्रायण—बृहद्-विष्णु (प्राय० प्रकरण, पृ० १३२) के मत से इस प्रायश्चित्त में एक मास तक केवल तीन कौर यज्ञिय भोजन किया जाता है।[5]

एकभक्त—प्राय० प्रकाश के मत से यदि कोई एक मास तक दिन में केवल एक बार खाये तो इसे एकभक्त व्रत कहा जाता है।

कृच्छ्—कई प्रायश्चित्तों के लिए यह एक सामान्य शब्द है। साम० ब्रा० (१।२।१) में आया है—"अथातस्त्रीन् कृच्छ्रान् व्याख्यास्यामः। हविष्यान् त्र्यहमनक्ताश्यदिवाशी ततस्त्र्यहं त्र्यहमयाचितव्रतस्त्र्यहं नाश्नाति किंचनेति कृच्छ्-द्वादशरात्रस्य विधिः", जिसका तात्पर्य है कि "व्यक्ति को तीन दिनों तक केवल दिन में ही खाना चाहिए,

पेयान्येकैकं तु द्व्यहं द्व्यहम्। अतिसान्तपनं नाम श्वपाकमपि शोधयेत्॥ मिता० (याज्ञ० ३।३१५); प्राय० सार (पृ० १९१); अपरार्क (पृ० १२३४)।

२. सायंप्रातस्तथैवैकं दिनद्वयमयाचितम्। दिनद्वयं च नाश्नीयात्कृच्छ्रार्धं तद्विधीयते॥ आपस्तम्बस्मृति (९।४३-४४); मिता० (याज्ञ० ३।३१८); प्राय० वि० (पृ० ५०९); परा० मा० (२, भाग २, पृ० १७३) एवं प्राय० सा० (पृ० १७२)।

३. अश्वमेधप्रायश्चित्तं तु राज्ञ एव तत्र तस्यैवाधिकारात्।...अश्वमेधावभृथस्नाने विप्रस्याप्यधिकारः। तथा च कल्पतरुधृतं भविष्यपुराणम्। यदा तु गुणवान् विप्रो हन्याद्विप्रं तु निर्गुणम्। अकामतस्तदा गच्छेत्स्नानं चैवाश्वमेधिकम्॥ ततश्चावभृथस्नानं क्षत्रियविषयमिति प्रायश्चित्तविवेकोक्तं हेयम्। प्रा० त० (पृ० ५४४)। और देखिए निर्देशित शब्दों के लिए प्राय० वि० (पृ० ६५)।

४. तिलैर्द्वादशरात्रेण कृच्छ्रमाग्नेयमार्तिनुत्। अग्निपुराण (१७१।१४); विष्णुधर्मोत्तर (प्राय० प्रका०)।

५. तथा बृहद्विष्णुः—त्रींस्त्रीन् पिण्डान् समश्नीयान्नियतात्मा दृढव्रतः। हविष्यान्नस्य वै मासमृषिचान्द्रायणं चरन्॥ प्राय० प्रक० (पृ० १३२)। प्राय० वि० (पृ० ५२०), प्राय० त० (पृ० ५४४) एवं प्राय० सा० (पृ० १९६) ने इस श्लोक को यम का माना है।

तीन दिनों तक रात्रि में ही खाना चाहिए, तीन दिनों तक उसे भोजन नहीं माँगना चाहिए (मिल जाय तो खा सकता है) और तीन दिनों तक पूर्ण उपवास करना चाहिए। यदि वह शीघ्र ही पापमुक्त हो जाना चाहता है तो उसे दिन में खड़ा रहना चाहिए और रात में बैठे ही सोना चाहिए। गौतम (२६।२-२६) ने प्रथम कृच्छ्र का (जिसे पश्चात्कालीन लेखकों ने प्राजापत्य की संज्ञा दी है) वर्णन करके अतिकृच्छ्र (२६।१८-१९) की व्याख्या की है और तब कृच्छ्रातिकृच्छ्र की (२६।२०)। बौधा० ध० सू० (२।१।९१) ने पराक का वर्णन कृच्छ्र की भाँति ही किया है। आप० ध० सू० (१।९।२७।७) ने १२ दिनों के कृच्छ्र का वर्णन किया है। गौतम (२६।२-१६) द्वारा वर्णित कृच्छ्र बारह दिनों का है और उसे मनु (११।२११), शंख (१८।३), याज्ञ० (३।३१९) आदि ने प्राजापत्य के नाम से पुकारा है। परा० मा० (२, भाग १, पृ० ३०) एवं प्राय० प्रकाश के मत से कृच्छ्र शब्द बिना किसी विशेषण के प्राजापत्य का द्योतक है। प्राय० तत्त्व (पृ० ४८१) का कथन है कि गौतम (२६।१-५) द्वारा वर्णित कृच्छ्र को मनु (११।२११) ने प्राजापत्य माना है। भोजन के अतिरिक्त अन्य नियम गौतम ने इस प्रकार दिये हैं—सत्य बोलना; अनार्य पुरुषों एवं नारियों से न बोलना; 'रौरव' एवं 'यौधाजय' नामक सामों का लगातार गायन; प्रातः, मध्याह्न एवं सायं स्नान; ऋग्वेद (१०।९।१-३), तैत्ति० ब्रा० (१।४।८।१) एवं तै० सं० (५।६।१) के मन्त्रों के साथ मार्जन करना; तेरह (गौतम २६।१२) मन्त्रों के साथ तर्पण; गौतम द्वारा निर्धारित तेरह मन्त्रों के साथ आदित्य (सूर्य) की पूजा; उन्हीं तेरह मन्त्रों के साथ घृताहुतियाँ देना और तेरहवें दिन लौकिक अग्नि में पके हुए चावलों की आहुतियाँ सोम, अग्नि एवं सोम, इन्द्र एवं अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवों, ब्रह्मा, प्रजापति एवं स्विष्टकृत् अग्नि को देना तथा ब्रह्मभोज।

कृच्छ्रसंवत्सर—आप० ध० सू० (१।९।२७-८) ने इस प्रायश्चित्त का उल्लेख किया है, जिसमें वर्ष भर कृच्छ्र व्रत लगातार किये जाते हैं।

कृच्छ्रातिकृच्छ्र—गौतम (२६।२०), साम० ब्रा० (१।२।८) एवं वसिष्ठ (२४।३) ने इसे वह कृच्छ्र कहा है जिसमें उन दिनों जब कि भोजन की अनुमति रहती है केवल जल ग्रहण किया जाता है और गौतम (२६।२३) एवं साम० ब्रा० (१।२।९) का कथन है कि इस प्रायश्चित्त से व्यक्ति के सभी पाप कट जाते हैं। याज्ञ० (३।३२०=देवल ८६, प्रथमार्ध) एवं ब्रह्मपुराण (प्राय० प्रकाश) के मत से इसमें २१ दिनों तक केवल जल ग्रहण किया जाता है। गौतम एवं याज्ञ० के इस अन्तर का समाधान निबन्धों ने यह कहकर किया है कि अवधि पापी की सामर्थ्य पर निर्भर है। यम ने २४ दिनों की अवधि दी है (अपरार्क, पृ० १२३८)। और देखिए परा० मा० (२, भाग १, पृ० १७९) एवं मदनपारिजात (पृ० ७१६)। मनु (११।२०८=विष्णु ५४।३०) के मत से यह प्रायश्चित्त उसके लिए है जो किसी ब्राह्मण को किसी अस्त्र से ऐसा मारता है कि रक्त निकल आता है। प्राय० प्रकरण (पृ० १५) का कहना है कि जो लोग कृच्छ्र नहीं कर सकते वे प्रतिनिधि (प्रत्याम्नाय) के रूप में एक (पयस्विनी) गाय दे सकते हैं, इसी प्रकार अतिकृच्छ्र एवं कृच्छ्रातिकृच्छ्र के प्रत्याम्नाय-स्वरूप क्रम से दो एवं चार गौएँ दी जा सकती हैं।

गोमूत्रकृच्छ्र—प्रायश्चित्तसार (पृ० १८७) ने इस विषय में एक श्लोक उद्धृत किया है—"एक गौ को जौ-गेहूँ मिलाकर भरपेट खिलाना चाहिए और उसके उपरान्त उसके गोबर से जौ के दाने निकालकर गोमूत्र में उसके आटे की लपसी या माँड़ बनाकर पीना चाहिए।"[६]

६. आ तृप्तेश्चारयित्वा गां गोधूमान् यवमिश्रितान्। तान् गोमयोत्थान् संगृह्य पिबेद् गोमूत्रयावकम्॥ (प्राय० सार, पृ० १८७)। महार्णव ने इसे योगयाज्ञवल्क्य से उद्धृत किया है और 'पिबेत्' के स्थान पर 'पचेत्' लिखा है।

गोव्रत—प्राय० प्रकरण (पृ० १३२) ने मार्कण्डेय पुराण को इस विषय में उद्धृत किया है—"व्यक्ति को गोमूत्र में स्नान करना चाहिए, गोबर को ही खाकर रहना चाहिए, गौओं के बीच में खड़ा रहना चाहिए, गोबर पर ही बैठना चाहिए, जब गौएँ जल पी लें तभी जल पीना चाहिए, जब तक वे खा न लें तब तक खाना नहीं चाहिए, जब वे खड़ी हों तो खड़ा हो जाना चाहिए, जब वे बैठें तो बैठ जाना चाहिए। इस प्रकार लगातार एक मास तक करना चाहिए।"

चान्द्रायण—चन्द्र के बढ़ने एवं घटने के अनुरूप ही जिसमें भोजन किया जाय, उस कृत्य को चान्द्रायण व्रत कहते हैं।[7] यह शब्द पाणिनि (५।१।७२) में भी आया है (पारायण-तुरायण-चान्द्रायणं वर्तयति)। बहुत प्राचीन काल से ही चान्द्रायण के दो प्रकार कहे गये हैं; **यवमध्य** (जौ के समान बीच में मोटा एवं दोनों छोरों में पतला) एवं **पिपीलिकामध्य** (चींटी के समान बीच में पतला एवं दोनों छोरों में मोटा)। बौधा० ध० सू० (३।८।३३) ने ये प्रकार लिखे हैं। जाबालि के अनुसार इसके पाँच प्रकार हैं; **यवमध्य, पिपीलिकामध्य, यतिचान्द्रायण, सर्वतोमुखी** एवं **शिशु-चान्द्रायण**। हम इनका वर्णन आगे करेंगे। याज्ञ० (३।३२६) के मत से जब स्मृतियों में कोई विशिष्ट प्रायश्चित्त न व्यवस्थित हो, तो चान्द्रायण से शुद्धि प्राप्त की जाती है, यह व्रत प्रायश्चित्त के लिए न करके धर्म संचय करने के लिए भी किया जाता है और जब इस प्रकार वर्ष भर यह किया जाता है तो कर्ता मृत्यु के उपरान्त चन्द्रलोक में जाता है।[8] यही बात मनु (११।२२१) एवं गौतम (२७।१८) ने भी कही है। जब यह व्रत धर्मार्थ किया जाता है तो वपन या शिर-मुण्डन नहीं होता (गौतम २७।३—वपनं व्रतं चरेत्)। गौतम (१९।२०) एवं वसिष्ठ (२२।२०) ने कहा है कि कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र एवं चान्द्रायण सभी पापों के लिए समान प्रायश्चित्त हैं (सभी सम्मिलित रूप में महा-पातकों के लिए, हलके पापों के लिए पृथक्-पृथक्, जैसा कि हरदत्त आदि ने कहा है)। मिलाइए मनु (५।२१ एवं ११।२१५, बौधा० ध० सू० ४।५।१६)। मनु (११।२७), याज्ञ० (३।३२३), वसिष्ठ (२७।२१), बौधा० ध० सू० (४।५।१८) आदि ने चान्द्रायण (यवमध्य प्रकार) की परिभाषा यों दी है—मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास या पिण्ड (कौर) भोजन किया जाता है, दूसरी तिथि को दो ग्रास, तीसरी तिथि को तीन ग्रास. . .और इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास खाये जाते हैं, इसके उपरान्त कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन १४ ग्रास, दूसरे दिन १३ ग्रास . . इस प्रकार कृष्ण चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और अमावास्या के दिन पूर्ण उपवास किया जाता है। यहाँ मास के मध्य में ग्रासों की अधिकतम संख्या होती है, अतः यह **यवमध्य** प्रकार है, क्योंकि उस दिन पूर्णमासी होती है (चन्द्र पूर्ण रहता है), इसके उपरान्त चन्द्र छोटा होने लगता है। यहाँ व्रत के बीच में ही पूर्णमासी होती है। यदि कोई कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि को व्रत आरम्भ करता है तो वह एक ग्रास कम कर देता है अर्थात केवल १४ ग्रास खाता है और इसी प्रकार ग्रासों में कमी करता जाता है। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को वह एक ग्रास खाता है और अमावास्या को एक ग्रास भी नहीं। इसके उपरान्त शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास लेता है और इस प्रकार बढ़ाता-बढ़ाता पूर्णमासी के दिन १५ ग्रास खाता है। इस दूसरी स्थिति में मास पूर्णिमान्त होता है। इस क्रम में व्रत के मध्य में एक भी ग्रास

७. चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं यस्मिन् कर्मणि ह्रासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम्। मिता० (याज्ञ० ३।३२३)। वास्तव में 'चान्द्रायण' शब्द 'चन्द्रायण' होना चाहिए, किन्तु यह पारिभाषिक शब्द है अतः प्रथम शब्द 'च' को विस्तारित 'चा' कर दिया गया है।

८. अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु। धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम्॥ याज्ञ० (३।३२६); संवत्सरं चाप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोति। गौतम (२७।१८)।

नहीं होता और अधिक ग्रासों की संख्या आरम्भ एवं अन्त में होती है, इसी से यह **पिपीलिकामध्य** कहलाता है। इस अन्तिम का विवरण वसिष्ठ (२३।४५) एवं मनु (११।२१६) ने किया है। और देखिए विष्णु (४७।५-६); 'यस्यामावस्या मध्ये भवति स पिपीलिकामध्यः यस्य पौर्णमासी स यवमध्यः।' जब मास में १४ या १६ तिथियाँ पड़ जायँ तो ग्रासों के विषय में उसी प्रकार व्यवस्था कर लेनी चाहिए। और देखिए हरदत्त (गौतम २७।१२-१५)। कल्पतरु ने कुछ और ही कहा है—कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन १५ ग्रास और आगे एक-एक ग्रास कम करके अमावास्या के दिन एक ग्रास, तब शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन दो ग्रास और आगे एक-एक ग्रास अधिक करके शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि को १५ ग्रास और पूर्णमासी को पूर्ण उपवास। किन्तु यह भ्रामक बात है, क्योंकि इस सिद्धान्त से चन्द्र की ह्रास-वृद्धि पर आधारित समता नष्ट हो जाती है, जैसा कि वसिष्ठ (२३।४५) एवं पराशर (१०।२) आदि स्मृतियों में कहा गया है। एक दूसरे मत से चान्द्रायण की दो कोटियाँ हैं—**मुख्य** एवं **गौण**। प्रथम **यवमध्य** एवं **पिपीलिकामध्य** है और दूसरी पुनः चार भागों में बँटी है, यथा—**सामान्य**, **ऋषिचान्द्रायण**, **शिशुचान्द्रायण** एवं **यतिचान्द्रायण**। **सामान्य** (या **सर्वतोमुख**) में कुल २४० ग्रास खाये जाते हैं जो इच्छानुकूल मास के तीस दिनों में यज्ञिय भोजन के रूप में खाये जा सकते हैं (इसमें चन्द्र की घटती-बढ़ती पर विचार नहीं किया जाता (मनु ११।२२०; बौधा० ध० सू० ४।५।२१; याज्ञ० ३।३२४ और उसी पर मिताक्षरा, मदनपारिजात आदि)। यहाँ पर चन्द्र के स्वरूपों पर न आधारित होते हुए भी प्रायश्चित्त चान्द्रायण ही कहा गया है। यहाँ मीमांसा का **कुण्डपायिनामयन** नियम प्रयुक्त हुआ है। गौतम (२७।१२-१५) से पता चलता है कि उन्होंने ३२ दिनों (पिपीलिकामध्य) या ३१ दिनों का चान्द्रायण परिकल्पित किया है, क्योंकि उन्होंने कहा है कि कर्ता को शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि को उपवास रखना चाहिए, पूर्णिमा को १५ ग्रास खाने चाहिए और आगे एक-एक ग्रास इस प्रकार कम करते जाना चाहिए कि अमावास्या को पूर्ण उपवास हो जाय और शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास खाना चाहिए और आगे बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को १५ ग्रास खाने चाहिए। इस प्रकार शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि (जिस दिन उपवास पूर्ण रहता है) से आगे के मास की पूर्णिमा तक कुल मिलाकर ३२ दिन हुए और चान्द्रायण पिपीलिकामध्य प्रकार का हुआ।

ग्रास के आकार के विषय में कई मत अभिव्यक्त हैं। गौतम (२७।१०) एवं विष्णु (४७।२) के मत से ग्रास इतना बड़ा होना चाहिए कि खाते समय मुख की आकृति न बिगड़े। याज्ञ० (३।३२३) ने एक ग्रास को मोरनी के अण्डे के बराबर, पराशर (१०।३) ने कुक्कुटी (मुर्गी) के अण्डे के बराबर तथा शंख ने हरे आमलक फल के बराबर माना है।[1] मिता० ने गौतम के दिये हुए आकार को बच्चों एवं जवानों के लिए उचित ठहराया है तथा अन्य आकारों को व्यक्ति की शक्ति के अनुरूप विकल्प से दिया है। चान्द्रायण की विधि का वर्णन गौतम (२७।२-११), बौधा० (३।८), मनु (११।२२१-२२५), वृद्ध-गौतम (अध्याय १६) आदि में हुआ है। गौतम द्वारा उपस्थापित विधि का वर्णन नीचे दिया जाता है। सम्भवतः गौतम का ग्रन्थ धर्मशास्त्रग्रन्थों में सबसे प्राचीन है।

गौतम (२६।६-११) ने कृच्छ्र प्रायश्चित्त के लिए जो सामान्य नियम दिये हैं वे चान्द्रायण के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। प्रायश्चित्तकर्ता को पूर्णिमा के एक दिन पूर्व मुण्डन कराना पड़ता है और उपवास करना होता है। वह तर्पण करता है, घृताहुतियाँ देता है, यज्ञिय भोजन को प्रतिष्ठापित करता है और 'आप्यायस्व' (ऋ० १।९१।१७) एवं 'सन् ते पयांसि' (ऋ० १।९१।१८) का पाठ करता है। उसे वाज० सं० (२०।१४) या तै० ब्रा० (२।६।६।१) में दिये हुए 'यद् देवा देवहेळनम्' से आरम्भ होनेवाली चार ऋचाओं के पाठ के साथ घृताहुतियाँ देनी होती हैं। इस प्रकार इन

१. कुक्कुटाण्डप्रमाणं तु ग्रासं वै परिकल्पयेत्। पराशर (१०।३); प्राय० म० (पृ० २१)

चारों के साथ कुल मिलाकर सात घृताहुतियाँ दी जाती हैं। घृताहुतियों के अन्त में 'देवकृतस्य' (वाज० सं० ८।१३) से आरम्भ होनेवाले आठ मन्त्रों के साथ समिधा की आहुतियाँ दी जाती हैं। प्रत्येक ग्रास के साथ मन में निम्न शब्दों में से एक का पाठ किया जाता है—ओं भूः, भुवः, स्वः, तपः, सत्यं, यशः, श्रीः (समृद्धि), ऊर्जू, इडा, ओजः, तेजः, वर्चः, पुरुषः, धर्मः, शिवः[10], या सभी शब्दों का पाठ 'नमः स्वाहा' यह कहकर किया जाता है। याज्ञिक भोजन निम्न में कोई एक होता है; चावल (भात), भिक्षा से प्राप्त भोजन, पीसा हुआ जौ, भूसारहित अन्न, यावक (जौ की लपसी), दूध, दही, घृत, मूल, फल एवं जल। इनमें से क्रम से पहले वाला अच्छा माना जाता है।

जलकृच्छ्र—देखिए नीचे तोयकृच्छ्र।

तप्तकृच्छ्र—इसके विषय में कई मत हैं। मनु (११।२१४), वसिष्ठ (२१।२१), विष्णु (४६।११), बौधा० ध० सू० (४।५।१०), शंख-स्मृति (१८।४), अग्नि० (१७१।६-७), अत्रि (१२२-१२३) एवं पराशर (४।७) ने इसे १२ दिनों का माना है और तीन-तीन दिनों की चार अवधियाँ निर्धारित की हैं। इसमें तीन अवधियों के अन्तर्गत एक अवधि में गर्म जल, दूसरी में गर्म दूध एवं तीसरी में गर्म घी पीया जाता है और आगे तीन दिनों तक पूर्ण उपवास रहता है और गर्म वायु का पान मात्र किया जाता है (मनु ११।२१४)। मनु ने इतना और जोड़ दिया है कि इसमें तीन बार के स्थान पर (जैसा कि कुछ प्रायश्चित्तों में किया जाता है) केवल एक बार स्नान होता है और इन्द्रिय-निग्रह किया जाता है। याज्ञ० (३।३१७=देवल ८४) ने इसे केवल चार दिनों का माना है, जिनमें प्रथम तीन दिनों में क्रम से गर्म दूध, घी एवं गर्म जल लिया जाता है और चौथे दिन पूर्ण उपवास किया जाता है। मिता० (याज्ञ० ३।३१७) ने इसे महातप्तकृच्छ्र कहा है और दो दिनों के तप्तकृच्छ्र की भी व्यवस्था दी है, जिसमें प्रथम दिन पापी तीनों, अर्थात् गर्म जल, गर्म दूध एवं गर्म घी ग्रहण करता है और दूसरे दिन पूर्ण उपवास करता है। प्रायश्चित्तप्रकाश ने मिताक्षरा की इस व्यवस्था को प्रामाणिक नहीं माना है। उसने २१ दिनों के तप्तकृच्छ्र का भी उल्लेख किया है। प्राय० प्रकाश ने यह भी कहा है कि बारह दिनों का तप्तकृच्छ्र बड़े पापों तथा ४ दिनों का हलके पापों के लिए है। पराशर (४।८), अत्रि (१२३-१२४) एवं ब्रह्मपुराण (प्राय० वि०, पृ० ५११) ने गर्म जल, गर्म दूध एवं गर्म घी की मात्रा क्रम से ६ पल, ३ पल एवं एक पल दी है। ब्रह्मपुराण ने जोड़ा है कि जल, दूध एवं घी क्रम से सन्ध्या, प्रातः एवं मध्याह्न में ग्रहण करना चाहिए।[11]

तुलापुरुष-कृच्छ्र—जाबालि ने इसके लिए आठ दिनों की अवधि दी है। शंख (१८।९-१०) एवं विष्णु (४६।२२) ने इस दिनों की अवधि वाले तुलापुरुष-कृच्छ्र का उल्लेख किया है, जिसमें खली या पिण्याक, भात का माँड़, तक्र, जल, सत्तू अलग-अलग दिन में खाया जाता है, एक दिन खाने के उपरान्त उपवास किया जाता है।[12] याज्ञ० (३।-

१०. मन्त्र के शब्द ये हैं "ओं भूर्भुवः स्वस्तपः सत्यं यशः श्रीर्हर्गिडौजस्तेजो वर्चः पुरुषो धर्मः शिव इत्येतैर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं मनसा। नमः स्वाहेति वा सर्वान्। गौ० (२७।८-९); कुछ पाण्डुलिपियों में 'वर्चः' शब्द नहीं आया है।

११. षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत्। पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं विधीयते।। पराशर(४।८)। याज्ञ० (१।३६३-३३६४) के अनुसार एक पल ४ या ५ सुवर्ण के बराबर होता है और एक सुवर्ण तोल में ८० कृष्णलों (गुञ्जा) के बराबर होता है।

१२. तत्र जाबालः। पिण्याकं च तथाचामं तक्रं चोदकसक्तवः। त्रिरात्रमुपवासश्च तुलापुरुष उच्यते।। प्राय० सार (पृ० १७८), परा० मा० (२, भाग २, पृ० १८३)।

३२२ =अत्रि १२९-१३०) ने १५ दिनों के व्रत का भी उल्लेख किया है, जिसमें उपर्युक्त पाँचों पदार्थ (पिण्याक, आचाम (कान्जी, भात का उफनाव या माँड़), तक्र, जल एवं सत्तू) प्रति तीन दिनों पर खाये जाते हैं। यम ने तुलापुरुषकृच्छ्र को २१ दिनों का प्रायश्चित्त माना है जिसमें पाँच पदार्थ क्रम से तीन-तीन दिनों पर खाये जाते हैं (मिता०, याज्ञ० ३।३२२)। अपरार्क (पृ० १२३९-१२४१), परा० मा० (२, भाग २, पृ० १८४-१८९), मदनपारिजात (पृ० ७१८-७२७) एवं प्राय० सार (पृ० १७९-१८१) ने इस प्रायश्चित्त के सम्पादन की विधि का पूरा वर्णन किया है। इसमें उशीर (खस) से बनी कर्ता की दो आकृतियाँ सोने या चाँदी या चन्दन की बनी तराजू (तुला) के एक पलड़े पर रखी जाती हैं और दूसरे पलड़े पर कंकड़-पत्थर रखे जाते हैं या महादेव एवं अन्य देवों, यथा अग्नि, वायु एवं सूर्य की स्थापना और पूजा की जाती है।

तोयकृच्छ्र—यम (प्राय० प्रकाश), शंख (प्राय० सार पृ० १८२) ने इसे वरुण-कृच्छ्र भी कहा है। विष्णु (४६।१४) का कथन है कि एक मास तक केवल सत्तू एवं जल मिलाकर पीने से उदककृच्छ्र सम्पादित होता है। ऋग्वेद (७।४९।३) के काल से ही वरुण जल के देवता कहे जाते रहे हैं, और वे सत्य एव असत्य की परीक्षा करने वाले कहे गये हैं, अतः यह तोयकृच्छ्र वारुण (वरुण-कृच्छ्र) भी कहा जाता है। जाबाल (प्राय० प्रकाश) का कथन है—"यदि कोई पापी बिना कुछ खाये एक दिन और एक रात जल में खड़ा रहता है और वरुण को संबोधित मन्त्रों का पाठ करता है तो वह साल भर के पापों को जलकृच्छ्र द्वारा दूर कर देता है।" याज्ञवल्क्य (प्राय० सार, पृ० १८७) के अनुसार इस प्रायश्चित्त में एक दिन एवं रात खड़े रहकर उपवास किया जाता है, रात में जल में खड़ा रहना होता है और दूसरे दिन गायत्री मन्त्र का १००८ बार जप किया जाता है। शंख (मदनपारिजात, पृ० ७३७) के मत से इस प्रायश्चित्त में या तो जल में उबाले हुए कमलडण्ठल (मृणाल) पर या पानी में मिश्रित सत्तू पर रहना पड़ता है।

दधिकृच्छ्र—विष्णुधर्मोत्तर (प्राय० प्रकाश) के मत से इस प्रायश्चित्त में एक मास तक केवल दही का प्रयोग होता है।[13]

देवकृच्छ्र—यम (परा० मा० २, भाग २, पृ० १९१-१९२) ने इसका वर्णन यों किया है[14]—"लगातार तीन-तीन दिनों तक केवल यवागू (माँड़), यावक (जौ की लपसी), शाक, दूध, दही एवं घी ग्रहण करना चाहिए और आगे के तीन दिनों तक पूर्ण उपवास करना चाहिए, यह देवकृत (देवों द्वारा सम्पादित) प्रायश्चित्त कहा जाता है जो सभी कल्मषों का नाशक है। यह मरुतों, वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों आदि द्वारा सम्पादित हुआ था। इस व्रत के प्रभाव से वे विरज (अपवित्रता से मुक्त) हो गये।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यह व्रत २१ दिनों तक चलता है, क्योंकि उपर्युक्त सात वस्तुएँ तीन-तीन दिनों तक खायी जाती हैं। प्राय० प्रकाश ने एक अन्य प्रकार भी दिया है, जिसका वर्णन आवश्यक नहीं है।

धनदकृच्छ्र—देखिए वायव्य-कृच्छ्र। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (प्राय० प्रकाश) के अनुसार यह व्रत एक मास

१३. विष्णुधर्मोत्तरे। दध्ना क्षीरेण तक्रेण पिण्याकाचामकैस्तथा। शाकैर्मासं तु कार्याणि स्वनामानि विचक्षणैः॥ प्रा० प्रकाश।

१४. यवागूं यावकं शाकं क्षीरं दधि घृतं तथा। त्र्यहं त्र्यहं तु प्राश्नीयाद् वायुभक्षस्त्र्यहं परम्॥ मरुद्भिर्वसुभी रुद्रैरादित्यैश्चरितं व्रतम्। व्रतस्यास्य प्रभावेण विरजस्का हि तेऽभवन्॥ कृच्छ्रं देवकृतं नाम सर्वकल्मषनाशनम्। यम (परा० मा० २, भाग २, पृ० १९१-१९२; प्राय० सार, पृ० १८३-१८४)।

तक चलता है और सोने से मिश्रित (जिसमें सोना घिसा गया हो या जिसके साथ सोना उबाला गया हो) भोजन किया जाता है।[१५]

नित्योपवास कृच्छ्र—प्रायश्चित्तप्रकाश का कथन है कि इसमें छः वर्षों तक केवल सायं एवं प्रातः भोजन करना होता है और दोनों भोजनों के बीच में जल-ग्रहण नहीं किया जाता।

पञ्चगव्य—पंचगव्य में पाँच वस्तुएँ होती हैं; गोमूत्र, गोबर, दुग्ध, दही एवं घी। इसके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २२।[१६] पंचगव्य की आहुति अग्नि में 'इरावती' (ऋ० ७।९९।३), 'इदं विष्णुः' (ऋ० १।२२।१७), 'मानस्तोके' (ऋ० १।११४।८), 'शं नो देवीः' (ऋ० १०।९।४) नामक मन्त्रों के साथ दी जाती है और अवशिष्ट अंश पी लिया जाता है। यह कमल-दल द्वारा या तीन पत्तियों वाले पलाश की मध्य शाखा द्वारा ग्रहण किया जाता है। मनु (११।१६५ = अग्निपुराण १६९।३०) ने छोटी-छोटी चोरियों के लिए पंचगव्य-ग्रहण की व्यवस्था दी है। याज्ञ० (३।२६३) ने गोहत्या करने वाले को एक मास तक यह व्रत करने को कहा है। मिता० (याज्ञ० ३।२६३) ने विष्णु को उद्धृत कर कहा है कि गोवध में निम्न तीन व्रतों में एक का सम्पादन होना चाहिए; एक मास तक प्रति दिन तीन पल पंचगव्य पीना, पराक या चान्द्रायण नामक व्रत का सम्पादन।[१७] यद्यपि विष्णु (५४।७) एवं अत्रि (श्लोक ३००) का कथन है कि सुरा पीनेवाला ब्राह्मण एवं पंचगव्य पीनेवाला शूद्र नरक (विष्णु के अनुसार महारौरव) में जाता है, किन्तु देवल (६१), पराशर (११।३ एवं २०) एवं मध्य काल के प्राय० मयूख (पृ० १३), शूद्रकमलाकर (पृ० ४२) जैसे निबन्धों ने शूद्रों को बिना वैदिक मन्त्रों के पंचगव्य-ग्रहण की अनुमति दी है। सभी वर्णों की स्त्रियों को, जो कुछ कृत्यों में शूद्रवत् मानी गयी हैं, विकल्प से पंचगव्य-ग्रहण की अनुमति मिली है।

पत्रकृच्छ्र—देखिए पर्ण-कूर्च।

पराक—मनु (११।२१५), बौधा० ध० सू० (४।५।१६), याज्ञ० (३।३२० = शंख १८।५ = अत्रि २८), अग्नि० (१७०।१०), विष्णु (४६।१८) एवं बृहस्पति के मत से इसमें बारह दिनों तक भोजन नहीं करना होता, कर्ता को इन्द्रिय-निग्रह के साथ लगातार जप-होम आदि करते रहना पड़ता है। इस प्रायश्चित्त से सारे पाप कट जाते हैं।

पर्णकूर्च—पत्रकृच्छ्र का यह कठिनतर प्रकार है। याज्ञ० (३।३१६ = देवल ३८) एवं शंख-लिखित ने इसे निम्न रूप में वर्णित किया है—जब लगातार प्रत्येक दिन पलाश, उदुम्बर, कमल एवं बिल्व (बेल) की पत्तियाँ उबाली जाती हैं और उनका क्वाथ या रस पीया जाता है, उसके उपरान्त कुशोदक (वह जल जिसमें कुश डाल दिये गये हों) पीया जाता है तो वह पर्णकृच्छ्र कहलाता है।[१८] इस प्रकार यह व्रत पाँच दिनों का होता है। मिता०

१५. वाजप्रसृतिमप्येकां कनकेन समन्विताम्। भुञ्जानस्य तथा मासं कृच्छ्रं धनददैवतम्।। विष्णुधर्मोत्तर (प्राय० प्रकाश)।

१६. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु पवित्रं पापनाशनम्।।...गायत्र्या गृह्य गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम्। आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि। तेजोसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम्।। पराशर (११।२८-३३)। और देखिए मिता० (याज्ञ० ३।३१४) एवं अपरार्क (पृ० १२५०)।

१७. गोघ्नस्य पञ्चगव्येन मासमेकं पलत्रयम्। प्रत्यहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वा।। विष्णु (मिता०, याज्ञ० ३।२६३; परा० मा० २, भाग १, पृ० २४३; 'मासमेकं निरन्तरम्। प्राजापत्यं पराको वा।'

१८. शंखलिखितौ—पद्मबिल्वपलाशोदुम्बरकुशोदकान्येकैकमभ्यस्तानि पर्णकृच्छ्रः। मद० पारि० (पृ० ७३३)। तथा वसिष्ठः। पद्मोदुम्बरपलाशबिल्वाश्वत्थकुशानामुदकं पीत्वा षड्रात्रेणैव शुध्यति। प्रा० प्रक० (पृ० १२८)।

(याज्ञ० ३।३१६) ने यम को उद्धृत कर कहा है कि जब पापी तीन दिन एवं रात उपवास करके उसके उपरान्त चारों पत्तियों का उबाला हुआ रस कुशोदक के साथ उसी दिन पीता है तो यह पर्णकूर्च कहलाता है। पराशरमाधवीय (२, भा० २, पृ० १८१) ने पर्णकूर्च को पर्णकृच्छ्र का एक प्रकार माना है। वसिष्ठ, जाबालि एवं अत्रि (११६-११७) ने पर्णकृच्छ्र को अश्वत्थ की पत्तियाँ मिलाकर छः दिनों का व्रत माना है। विष्णु (४६।२३) ने सात दिनों वाले एक अन्य पर्णकृच्छ्र का उल्लेख किया है।[१९]

पर्णकृच्छ्र—देखिए ऊपर पर्णकूर्च।

पादकृच्छ्र—याज्ञ० (३।३१८=देवल ८५) के मत से यह वह प्रायश्चित्त है जिसमें पापी एक दिन केवल दिन में, दूसरे दिन रात में केवल एक बार एवं आगे केवल एक बार (दिन या रात में) भोजन करे किन्तु बिना किसी अन्य व्यक्ति, नौकर या पत्नी से माँगे, और अगले दिन पूर्ण उपवास करे। इस प्रकार यह चार दिनों का व्रत है। किन्तु ग्रासों की संख्या के विषय में मतभेद है। आपस्तम्ब (मिता०, याज्ञ० ३।३१८) के मत से ग्रास २२, २६ एवं २४ होने चाहिए जब कि सायं या प्रातः या बिना माँगे खाया जाय। पराशर ने इसी प्रकार १२, १५ या १४ ग्रासों की संख्या दी है। चतुर्विंशतिमत (परा० मा०, २, भाग २, पृ० १७२) ने क्रम से १२, १५ एवं १० की संख्या घोषित की है।

पादोनकृच्छ्र—यह ९ दिनों का होता है न कि प्राजापत्य की भाँति १२ दिनों का। इसमें तीन दिनों तक केवल दिन में खाया जाता है, तीन दिनों तक बिना माँगे खाया जाता है और तीन दिनों तक पूर्ण उपवास रहता है (यहाँ इन तीन दिनों में केवल रात्रि वाले भोजन का आदेश छोड़ दिया गया है)।

पुष्पकृच्छ्र—अग्नि० (१७१।१२) एवं मिता० (याज्ञ० ३।३१६) के मत से इसमें एक मास तक पुष्पों को उबालकर पीया जाता है।

प्रसृतयावक या प्रसृतियावक—विष्णु (अध्याय ४८), बौधा० ध० सू० (३।६), हारीत (परा० मा० २, भाग २, पृ० १९२-१९४) ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। प्रसृति का अर्थ है अँगुलियों के साथ खुला हाथ, किन्तु हथेली में गहराई हो। इस प्रकार खुली हथेली में जौ भरे जाते हैं। बौधायन ने जो उपर्युक्त तीनों लेखकों में सबसे प्राचीन हैं, इस प्रायश्चित्त का वर्णन इन शब्दों में किया है—यदि व्यक्ति दुष्कृत्यों के कारण अपने अन्तःकरण को भारी समझ रहा है तो उसे स्वयं, नक्षत्रों के उदित हो जाने के उपरान्त, प्रसृतियावक लेकर, अर्थात् अर्घाञ्जलि या पसर भर जौ उबालकर लपसी बनानी चाहिए। उसे न तो वैश्वदेव को आहुतियाँ देनी चाहिए और न बलिकर्म ही करना चाहिए (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २०)। अग्नि पर प्रसृतियावक रखने के पूर्व जौ का संस्कार करना चाहिए और जब वह उबल रहा हो या उबल जाय तो ऐसा मन्त्र कहना चाहिए—"तू यव है, धान्यों (अन्नों) का तू राजा है, तू वरुण के लिए पवित्र है और मधु से सिक्त है, ऋषियों ने तुझे सभी पापों का नाशक एवं पवित्र माना है।" इसके उपरान्त पाँच श्लोक और हैं जिनमें पापकर्ता को दुष्कृत्यों, शब्दों, विचारों और सभी पापों से उबारने के लिए कहा गया है और कहा गया है कि उसके कष्ट एवं दुर्भाग्य नष्ट हो जायँ और गणों (श्रेणियों या जन-संघों), वेश्याओं, शूद्रों द्वारा दिये गये भोजन से या जन्म होने पर या श्राद्ध पर खाये गये भोजन से या चोर के भोजन से या नवश्राद्ध (अर्थात् मृत्यु की पहली, तीसरी, पाँचवीं, सातवीं, नवीं, ग्यारहवीं तिथि पर किये गये श्राद्ध) के भोजन से जो अपवित्रता उत्पन्न हो गयी हो या भयानक मर्मान्तिक (हत्या आदि से उत्पन्न) पापों से, बच्चों के प्रति किये गये अपराधों से, राजसभा में

१९. कुशपलाशोदुम्बरपद्मशंखपुष्पीवटब्रह्मसुवर्चलानां पत्रैः क्वथितस्याम्भसः प्रत्येकं (प्रत्यहं ?) पानेन पर्णकृच्छ्रः। विष्णुधर्मसूत्र (४६।२३)।

भ्रूणहत्या करने से, सोने की चोरी से, व्रतोल्लंघन से, अयोग्य लोगों के यहाँ पौरोहित्य करने से तथा ब्राह्मणों के विरुद्ध बोलने से जो पाप उदित हो गया हो, उससे उसका छुटकारा हो जाय। बौधायन ने पुनः आगे कहा है—जब जौ उबल रहे हों तो उनकी रक्षा करनी चाहिए और यह "हे भूताधिपति रुद्र लोगो, आपको नमस्कार है, आकाश प्रसन्न है" कहना चाहिए। पापी को तै० सं० (१।२।१४।१) का 'कृणुष्व', तै० सं० (१।८।७।११) के पाँच वाक्य—'ये देवा', ऋग्वेद (१।११४।८ एवं तै० सं० ३।४।२।२) के दो वचन 'मा नस्तोके', ऋग्वेद (९।९।६।६) एवं तै० सं० (३।४।११।२) के 'ब्रह्मा देवानाम्' मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। इसके उपरान्त पापी को उबले हुए भोजन को दूसरे पात्र में डालकर और आचमन करके थोड़ा खाना चाहिए और उसे 'ये देवा' (तै० सं० १।२।३।१) मन्त्र के साथ आत्म-यज्ञ के रूप में लेना चाहिए।

बौधायन का कथन है कि जो लोग ज्ञानार्जन करना चाहते हैं उन्हें इस कृत्य को तीन दिनों एवं रातों तक करना चाहिए। जो पापी इसे छः दिन करता है वह पवित्र हो जाता है, जो सात दिन करता है वह महापातकों से मुक्त हो जाता है, जो ग्यारह दिन करता है वह अपने पूर्वजों के पाप भी काट देता है। किन्तु जो व्यक्ति इस (प्रसृतियावक) को २१ दिनों तक करता है और इसमें गाय के गोबर से प्राप्त जौ का प्रयोग करता है वह गणों, गणपति, सरस्वती (विद्या) एवं विद्याधिपति के दर्शन करता है।[२०]

प्राजापत्य—देखिए ऊपर कृच्छ्र जहाँ यह बताया गया है कि जब कृच्छ्र का कोई विशेषण न हो तो उसे **प्राजापत्य** समझना चाहिए। मनु (११।२११), याज्ञ० (३।३१९), विष्णु (४७।१०), अत्रि (११९-१२०), शंख (१८।३), बौधा० ध० सू० (४।५।६) ने प्राजापत्य का उल्लेख किया है एवं इसकी परिभाषा दी है। इस प्राजापत्य के कई प्रकार हैं। प्रथम का वर्णन मनु (११।२११) ने किया है—तीन-तीन दिनों की चार अवधियाँ होती हैं, जिनमें क्रम से केवल दिन में एक बार, पुनः केवल रात्रि में एक बार पुनः तीन दिनों तक बिना माँगे खाना एवं फिर पूर्ण उपवास किया जाता है। अर्थात् प्रथम तीन दिनों में केवल एक बार दिन में, दूसरे तीन दिनों में केवल रात्रि में, तीसरे तीन दिनों में बिना माँगे और चौथे तीन दिनों में पूर्ण उपवास। दूसरे प्रकार का वर्णन वसिष्ठ (२३।४३) ने किया है—पहले दिन केवल दिन में, दूसरे दिन केवल रात में, तीसरे दिन केवल बिना माँगे खाया जाता है और चौथे दिन पूर्ण उपवास होता है, यही क्रिया पुनः चार-चार दिनों की दो अवधियों में की जाती है। पहले प्राजापत्य प्रकार को 'स्थानविवृद्धि' एवं दूसरे को 'दण्डकलित' कहा गया है। इन दोनों को 'आनुलोम्येन' (उचित एवं सीधे क्रम से से बने) कहा गया है। यदि उपर्युक्त क्रम उलट दिया जाय, यथा—प्रथम तीन दिनों तक पूर्ण उपवास हो, पुनः तीन दिनों तक बिना माँगे खाया

२०. अथ कर्मभिरात्मकृतैर्गुरुमिवात्मानं मन्येतात्मार्थे प्रसृतयावकं श्रपयेदुदितेषु नक्षत्रेषु। न ततोऽग्नौ जुहुयात्। न चात्र बलिकर्म। अशृतं श्रप्यमाणं शृतं चाभिमन्त्रयेत। यवोसि धान्यराजोसि वारुणो मधुसंयुतः। निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतम्॥...सर्वं पुनथ मे यवाः॥ इति। श्रप्यमाणे रक्षां कुर्यात्। नमो रुद्राय भूताधिपतये द्यौः शान्ता कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमित्येतेनानुवाकेन। ये देवाः पुरःसदोऽग्निनेत्रा रक्षोहण इति पञ्चभिः पर्यायैः। मानस्तोके ब्रह्मा देवानामिति द्वाभ्याम्। शृतं च लब्ध्वाश्नीयात्प्रयतः पात्रे निषिच्य। ये देवा मनोजाता मनोयुजः सुदक्षा दक्षपितरस्ते नः पान्तु ते नोऽवन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहेति। आत्मनि जुहुयात् त्रिरात्रं मेधार्थी षड्रात्रं पीत्वा पापकृच्छुद्धो भवति। सप्तरात्रं पीत्वा भ्रूणहननं गुरुतल्पगमनं सुवर्णस्तैन्यं सुरापानमिति च पुनाति। एकादशरात्रं पीत्वा पूर्वपुरुषकृतमपि पापं निर्णुदति। अपि वा गोनिष्क्रान्तानां यवानामेकविंशतिरात्रं पीत्वा गणान्पश्यति गणाधिपतिं पश्यति विद्यां पश्यति विद्याधिपतिं पश्यतीत्याह भगवान् बौधायनः। बौधा० ध० सू० (३।६)।

जाय, तीन दिनों तक केवल रात्रि में खाया जाय और आगे तीन दिनों तक केवल दिन में खाया जाय, तो उसे 'प्रातिलोम्येन' कहा जायगा। इसमें वैदिक मन्त्रों का पाठ हो सकता है या नहीं हो सकता (स्त्रियों एवं शूद्रों के विषय में)।

फलकृच्छ्र—इसमें केवल फलों पर ही एक मास रहा जाता है। श्रीकृच्छ्र भी फलकृच्छ्र ही है। फलों में केवल बिल्व (बेल), आमलक (आमला) एवं पद्माक्ष (तालमखाना) ही खाये जाते हैं।[21]

बालकृच्छ्र—देखिए शिशुकृच्छ्र।

बृहद्-यावक—प्रायश्चित्तप्रकाश द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराण में आया है—व्यक्ति को घृत में मिश्रित जौ पर्याप्त मात्रा में गायों को खाने के लिए देने चाहिए। इसके उपरान्त गायों के गोबर को पानी में घोलकर पेट से निकले हुए जौ पृथक् कर लेने चाहिए। इस प्रकार से प्राप्त जौ को धूप में सुखाकर स्वच्छ पत्थर पर पीस डालना चाहिए और उनमें घी एवं तिल मिलाकर, गोमूत्र में सानकर एक वेदिका पर लायी हुई अग्नि पर पका लेना चाहिए। इस प्रकार पकाये हुए जौ किसी सोने के पात्र या पलाश के दोने में रखकर देवों एवं पितरों को अर्पित कर खाने चाहिए। इस प्रकार यह कृत्य १२, २४ या ३६ वर्षों तक पापों को काटने के लिए करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त अपने गुरु, भाई, मित्र या निकट संबंधी आदि की हत्या पर किया जाता है।

ब्रह्मकूर्च—मिता० (याज्ञ० ३।३१४) का कथन है कि जब व्यक्ति एक दिन उपवास करके दूसरे दिन पंचगव्य के पदार्थों को वैदिक मन्त्रों के साथ मिलाता है और मन्त्रों के साथ ही उन्हें ग्रहण करता है तो यह ब्रह्मकूर्च कहलाता है। शंख के मत से गायत्री (ऋ० ३।६२।१०) के साथ गोमूत्र, 'गंधद्वाराम्' (तै० आ० १०।१) के साथ गोबर, 'आप्यायस्व' (ऋ० १।९१।१६) के साथ दुग्ध, 'दधिक्राव्णो' (ऋ० ४।३९।६) के साथ दधि, 'तेजोसि' (वा० सं० २२।१) के साथ घृत एवं 'देवस्य त्वा' (वा० सं० २२।१; ऐत० ब्रा० ३६।३ आदि) के साथ कुशोदक मिलाये जाते हैं। जाबाल का कथन है कि जब व्यक्ति एक दिन एवं रात, विशेषतः पूर्णिमा को पूर्ण उपवास करता है और दूसरे दिन प्रातः पंचगव्य पीता है तो यह कृत्य ब्रह्मकूर्च कहलाता है। पराशर (११।२७-२८) का मत है कि पंचगव्य एवं ब्रह्मकूर्च एक ही है। मदनपारिजात (पृ० ७२९) एवं प्रायश्चित्तसार (पृ० १८९) का कथन है कि याज्ञ० (३।३१४) द्वारा वर्णित सान्तपन ब्रह्मकूर्च ही कहलाता है।[22]

२१. यथाह मार्कण्डेयः। फलैर्मासेन कथितः फलकृच्छ्रो मनीषिभिः। श्रीकृच्छ्रः श्रीफलैः प्रोक्तः पद्माक्षैरपरस्तथा॥ मासेनामलकैरेवं श्रीकृच्छ्रमपरं स्मृतम्। पत्रैर्मतः पत्रकृच्छ्रः पुष्पैस्तत्कृच्छ्र उच्यते। मूलकृच्छ्रः स्मृतो मूलैस्तोयकृच्छ्रो जलेन तु॥ मिता० (याज्ञ० ३।३१६; मद० पा० पृ० ७३४)। मदनपारिजात के अनुसार 'क्वथित' के स्थान पर 'कथित' पढ़ना चाहिए। मदनपारिजात का कथन है—'शरीरयात्रामात्रप्रयुक्तफलानि मासं भक्षयेत्। तत्र सर्वव्रतसाधारणेतिकर्तव्यतापि कर्तव्या। तानि च फलानि कानीत्याकांक्षायामाह श्रीकृच्छ्रः।'

२२. यदा पुनः पूर्वेद्युरुपोष्यापरेद्युः समन्त्रकं संयुज्य समन्त्रकमेव पञ्चगव्यं पीयते तदा ब्रह्मकूर्च इत्याख्यायते। मिता० (याज्ञ० ३।३१४)। देखिए लघुशातातप (१५६-१६६), जहाँ ब्रह्मकूर्च को उन सभी पापों के लिए व्यवस्थित किया गया है जहाँ कोई विशिष्ट प्रायश्चित्त न कहा गया हो। अहोरात्रोषितो भूत्वा पौर्णमास्यां विशेषतः। पञ्चगव्यं पिबेत् प्रातर्ब्रह्मकूर्चविधिः स्मृतः॥ जाबाल (प्राय० वि०, पृ० ५१५, प्राय० प्रकाश एवं प्रायि० म०, पृ० २२)। ततश्च योगीश्वराभिहितं सान्तपनमेव ब्रह्मकूर्च इत्युच्यते। स एव ब्रह्मकूर्चोपवास इति। प्रा० सार (पृ० १८९); और देखिए मद० पा० (पृ० ७२९) यहाँ निम्न वचन की ओर संकेत है—'यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मानवे।

ब्रह्मकृच्छ्र—देखिए हेमाद्रि का प्रायश्चित्त (पृ० ९६३), जहाँ देवल एवं मार्कण्डेय का उल्लेख है। यह १२ दिनों का प्रायश्चित्त है, जिसमें प्रति दिन मध्याह्न में पंचगव्य पीया जाता है और पीने के पूर्व किसी मंदिर या गोशाला में मन्त्रों के साथ अग्नि में उसकी आहुतियाँ दी जाती हैं। संध्या तक विष्णु का ध्यान किया जाता है। किसी देवप्रतिमा के पास सोया जाता है और ताम्बूल एवं अञ्जन का प्रयोग छोड़ दिया जाता है।

महातप्तकृच्छ्र—देखिए तप्तकृच्छ्र।

महासान्तपन—याज्ञ० (३।३१४), मनु (११।२१२=बौ० ध० सू० ४।५।११=शंख १८।८=बृहद्यम १।१३), अत्रि (११७-११८), विष्णु (४६।२०) के मत से सान्तपन दो दिनों तक चलता है; प्रथम दिन गोमूत्र, गोबर, दुग्ध, दधि, घृत एवं कुशोदक अर्थात् पंचगव्य लिया जाता है और दूसरे दिन पूर्ण उपवास किया जाता है। महासान्तपन प्रायश्चित्त में, लौगाक्षिगृह्यसूत्र (७।३), याज्ञ० (३।३१५=देवल ८२=अत्रि ११८-११९) के मत से, प्रति दिन उपर्युक्त छः पदार्थों में क्रम से एक-एक का ग्रहण होता है और सातवें दिन पूर्ण उपवास किया जाता है। शंख (१९।९), बौ० ध० सू० (४।५।१७) एवं जाबाल के मत से **महासान्तपन** २१ दिनों का होता है, तीन-तीन दिनों तक उपर्युक्त छः पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं और अन्तिम तीन दिनों तक उपवास किया जाता है। यम ने १५ दिनों के महासान्तपन का उल्लेख किया है जिसमें क्रम से तीन-तीन दिनों तक गोमूत्र, गोबर, दुग्ध, दधि एवं घृत ग्रहण किये जाते हैं।[२३]

महेश्वरकृच्छ्र—देखिए हेमाद्रि (प्रायश्चित्त, पृ० ९६१) जहाँ देवल का हवाला देकर यह कहा गया है कि मदन का नाश करने पर महेश्वर के लिए यह प्रायश्चित्त ब्रह्मा ने व्यवस्थित किया था। इसमें अपराह्ण के समय व्यक्ति को खपड़ा (कपाल, अर्थात् मिट्टी के पात्र का टुकड़ा) लेकर तीन विद्वान् ब्राह्मणों के यहाँ शाक की भिक्षा माँगनी चाहिए और उसे भगवान् को निवेदन कर खाना चाहिए तथा सायं देवप्रतिमा के निकट सोना चाहिए। दूसरे दिन उठने के उपरान्त व्यक्ति को एक गौ का दान एवं पंचगव्य ग्रहण करना चाहिए।

मूलकृच्छ्र—विष्णु (४६।१५) के अनुसार इसमें केवल मृणाल खाना चाहिए, किन्तु मिता० (याज्ञ० ३।३१६) के मत से मूलों (जड़ में उत्पन्न होनेवाले खाद्य पदार्थ, यथा कन्द आदि) का व्यवहार करना चाहिए।[२४]

मैत्रकृच्छ्र—प्रायश्चित्तप्रकाश ने इसका उल्लेख किया है। इसकी विशेषता यह है कि सान्तपनवत् इसमें तीसरे दिन कपिला गाय का दूध ग्रहण किया जाता है। इस ग्रन्थ ने कल्पतरु के मत की चर्चा की है जिसके अनुसार यह सान्तपन ही है जिसमें प्रथम दिन पंचगव्य के सारे पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं, फिर दो दिन उपवास किया जाता है।

यज्ञकृच्छ्र—अंगिरा (प्राय० सार, पृ० १८२, स्मृतिमुक्ता०, पृ० ९३९) ने इसे एक दिन का व्रत माना है। और यों कहा है—पापी को तीन बार स्नान करना चाहिए, जितेन्द्रिय एवं मौन रहना चाहिए, प्रातः स्नान के उपरान्त आरंभ में ओम् एवं व्याहृतियों के साथ १००८ बार गायत्री का जप करना चाहिए। जप करते समय वीरासन से रहना

ब्रह्मकूर्चोपवासस्तु दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥' जिसे प्राय० सार (पृ० १८९) ने पराशर का माना है; किन्तु पराशर (११।३७-३८) में यों आया है—'यस्त्व...देहिनाम्। ब्रह्मकूर्चो दहेत्सर्वं प्रदीप्ताग्निरिवेन्धनम् ॥'

२३. षण्णामेकैकमेतेषां त्रिरात्रमुपयोजयेत्। त्र्यहं चोपवसेदन्त्यं महासान्तपनं विदुः ॥ जाबाल (अपरार्क, पृ० १२३४; परा० मा० २, भाग १, पृ० ३१)। त्र्यहं पिबेत्तु गोमूत्रं त्र्यहं वै गोमयं पिबेत्। त्र्यहं दधि त्र्यहं क्षीरं त्र्यहं सर्पिस्ततः शुचिः ॥ महासान्तपनमेतत्सर्वपापप्रणाशनम्। यम (मिता०, याज्ञ० ३।३१५, प्राय० सार पृ० १९१, परा० मा० २, भाग १, पृ० ३१)।

२४. बिसाभ्यवहारेण मूलकृच्छ्रः। विष्णु० (४६।१५)।

चाहिए। व्यक्ति को खड़े होकर या बैठकर गोदुग्ध पीना चाहिए। यदि दुग्ध न मिले तो गाय के दधि या तक्र या गोमूत्र के साथ (दुग्ध, दही या तक्र के अभाव में) यावक पीना चाहिए। यह एक दिन का यज्ञकृच्छ्र नामक प्रायश्चित्त सभी पापों को हरने वाला होता है।

यतिचान्द्रायण—मनु (११।२१८=बौ० ध० सू० ४।५।२०), अग्नि० (१७१।४) एवं विष्णु (४७।७) ने इस प्रायश्चित्त में एक मास तक केवल एक बार हविष्य अन्न के आठ ग्रास खाने तथा आत्मनियन्त्रण करने को कहा है।[25]

यतिसान्तपन—मिता० (याज्ञ० ३।३१४) के मत से जब पंचगव्य के पदार्थ कुशोदक के साथ मिलाकर लगातार तीन दिनों तक खाये जाते हैं तो यह यतिसान्तपन कहा जाता है। प्राय० प्रकरण (पृ० १२८) ने तीन दिनों के उपरान्त एक दिन उपवास भी जोड़ दिया है।

याम्य—विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार इसमें एक मास तक गोबर में से प्राप्त अन्न का सत्तू खाया जाता है।

यावक—शंख (१८।१०-११) के मत से एक मास तक गोबर से प्राप्त जौ को उबालकर खाते हुए सभी पापों का नाश करने वाला यावक प्रायश्चित्त किया जाता है। परा० मा० (२, भाग २, पृ० १९२) एवं प्राय० प्रकाश ने देवल का उद्धरण देकर कहा है कि यह व्रत ७ दिन, १५ दिनों तक या एक मास तक किया जा सकता है, और इसमें प्राजापत्य की विधि अपनायी जा सकती है।

वज्र—अत्रि (१६४) ने कहा है कि जब घी में भुने हुए जौ गोमूत्र में मिलाकर खाये जाते हैं तो वज्र व्रत का पालन होता है। विश्वरूप (याज्ञ० ३।२४८) का कथन है कि अंगिरस्-स्मृति के मत से वज्र व्रत वह प्रायश्चित्त है जिसके द्वारा महापातकी तीन वर्षों में शुद्ध हो जाता है। और देखिए मिता० (याज्ञ० ३।२५४)।

वायव्यकृच्छ्र—अग्नि० (१७१।१४) एवं विष्णुधर्मोत्तर के मत से इसमें एक मास तक प्रति दिन केवल एक पसर (हथेली भर) भोजन किया जाता है।

वृद्धकृच्छ्र या वृद्धिकृच्छ्र—शंख-लिखित (प्राय० वि०, पृ० ५११) एवं यम (प्राय० सार, पृ० १७७) के मत से यह आठ दिनों तक किया जाता है, जिसमें दो दिनों तक केवल दिन में, दो दिनों तक केवल रात में, दो दिनों तक बिना माँगे भोजन किया जाता है और दो दिनों तक पूर्ण उपवास किया जाता है।

व्यासकृच्छ्र—यह मैत्रकृच्छ्र के समान है। देखिए ऊपर।

शिशुकृच्छ्र—इसे शंख-लिखित ने बालकृच्छ्र, देवल एवं प्रायश्चित्तमुक्तावली ने पादकृच्छ्र कहा है और यह

२५. अष्टौ ग्रासान् प्रतिदिवसं मासमश्नीयात् स यतिचान्द्रायणः। विष्णुधर्मसूत्र (४७।७)। और देखिए प्राय० प्रकरण (पृ० १२१) जहाँ यह बृहद्विष्णु का वचन माना गया है। हविष्य भोजन के लिए देखिए कात्यायन—हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनु व्रीहयः स्मृताः। अभावे व्रीहियवयोर्दध्नापि पयसापि वा। तदभावे यवाग्वा वा जुहुयादुदकेन वा।। (स्मृतिचन्द्रिका, १, पृ० १६३)। गोभिलस्मृति (१।१३१) में यों आया है—हविष्येषु. . .स्मृताः। माषकोद्रवगौरादि सर्वालाभे विवर्जयेत्।। और देखिए गोभिलस्मृति (३।११४)। आश्व० गृह्यसूत्र (११९।६) में (हौम्यं च मांसवर्जनम्) हरदत्त ने उद्धृत किया है—'पयो दधि यवागूश्च सर्पिरोदनतण्डुलाः। सोमो मांसं तथा तैलमापश्चैव दशैव तु।।' इन बातों एवं हविष्यान्नों के लिए देखिए कृत्यरत्नाकर (पृ० ४००) एवं नित्याचारपद्धति (पृ० ३२०)।

लघु-कृच्छ्र ही है।[२६] इसमें एक दिन केवल दिन में, एक दिन केवल रात में, एक दिन बिना माँगे केवल एक बार भोजन किया जाता है और एक दिन पूर्ण उपवास किया जाता है। और देखिए वसिष्ठ (२३।४३, हरदत्त, गौतम २६।५), बौ० ध० सू० (२।१।९२) एवं याज्ञ० (३।३१८)।

शिशु-चान्द्रायण—मनु (११।२१९), बौ० ध० सू० (४।५।१९), अग्नि० (१७१।५) के मत से जब कोई ब्राह्मण एक मास तक प्रातः केवल चार ग्रास, सायं केवल चार ग्रास खाता है, तो उसे शिशु-चान्द्रायण (बच्चों एवं बूढ़ों आदि के लिए) कहा जाता है।

शीतकृच्छ्र—यह तप्तकृच्छ्र का उलटा है, क्योंकि इसमें सभी पदार्थ शीतल रूप में खाये जाते हैं। देखिए विष्णु (४६।१२), अग्नि० (१७१।७), मिता० (याज्ञ० ३।३१७)। विष्णु (प्राय० सार, पृ० १८५ एवं मदन-पारि०, पृ० ७३६ द्वारा उद्धृत) के मत से यह १० दिनों का (१२ दिनों का नहीं, जैसा मिता० का कथन है) होता है, जिसमें क्रम से तीन-तीन दिन शीतल जल, शीतल दूध एवं शीतल घृत खाया जाता है और एक दिन पूर्ण उपवास किया जाता है।

श्रीकृच्छ्र—विष्णु (४६।१६), अग्नि० (१७१।१२) एवं मिता० (याज्ञ० ३।३१६) के अनुसार इसमें एक मास तक बिल्वफल या कमल के बीज (पद्माक्ष, तालमखाना) खाये जाते हैं। देखिए मदनपारिजात (पृ० ७३७)।

सान्तपन—देखिए ऊपर महासान्तपन एवं अतिसान्तपन। यह पाँच प्रकार का है, यथा—प्रथम दो दिनों का, दूसरा ७ दिनों का, तीसरा ११ दिनों का (अतिसान्तपन), चौथा १५ दिनों का तथा पाँचवाँ २१ दिनों का।

सुर-चान्द्रायण—इसमें एक मास तक कुल मिलाकर बिना लगातार घटती-बढ़ती किये २४० ग्रास खाये जाते हैं। याज्ञ० (३।३२४) ने इसे चान्द्रायण का एक प्रकार माना है। विष्णुधर्मसूत्र (४७।९) ने इसे सामान्य चान्द्रायण की संज्ञा दी है।

सुवर्णकृच्छ्र—देखिए हेमाद्रि (प्रायश्चित्त, पृ० ९६९-९७२), जहाँ देवल एवं मार्कण्डेयपुराण का उद्धरण दिया हुआ है। इसमें एक वराह या इसका आधा या चौथाई सोना दान किया जाता है। एक वराह नौ रूपकों तथा एक रूपक पाँच गुञ्जाओं वाले एक माष के बराबर होता है। गुप्त रूप से ब्रह्महत्या पर या व्यभिचार (माता, बहिन, पुत्र-वधू आदि से) पर दस सहस्र या ४० सहस्र सुवर्ण-कृच्छ्र तथा अन्य हलके पापों के लिए कम संख्या वाले सुवर्ण-कृच्छ्र किये जाते हैं।

सोमायन—मदनपारिजात (पृ० ७४६, जिसमें हारीतधर्मसूत्र एवं मार्कण्डेय० का हवाला दिया हुआ है) एवं प्रायश्चित्तप्रकाश के मत से यह प्रायश्चित्त ३० दिनों का होता है, जिसमें क्रम से ७, ७, ७, ६ एवं ३ दिनों की पाँच अवधियाँ होती हैं, जिनमें क्रम से गाय के चारों स्तनों, दो स्तनों, तीन स्तनों एवं एक स्तन का दूध ग्रहण किया जाता है और अन्तिम तीन दिनों तक पूर्ण उपवास किया जाता है। अन्य प्रकार २४ दिनों का होता है, जिसमें कृष्ण पक्ष की चतुर्थी से लेकर शुक्ल पक्ष की द्वादशी तक की अवधि होती है और २४ दिन में तीन-तीन दिनों के आठ भाग कर दिये जाते हैं; प्रथम चार भागों में क्रम से चार स्तनों, तीन स्तनों, दो स्तनों एवं एक स्तन का दूध लिया जाता है और आगे के चार भागों में क्रम से एक स्तन, दो स्तनों, तीन स्तनों एवं चार स्तनों का दूध ग्रहण किया जाता है। देखिए प्रायश्चित्तेन्दुशेखर (पृ० १२)।

२६. लघुकृच्छ्रस्यैव धिशुकृच्छ्र इति नामान्तरम्। प्राय० मयूख (पृ० २१)।

सौम्यकृच्छ्र—याज्ञ० (३।३२१) के मत से यह छः दिनों तक किया जाता है। प्रथम पाँच दिनों तक क्रम से तेल की खली, चावल उबालते समय का फेन, तक्र, केवल जल एवं जौ का सत्तू खाया जाता है और छठे दिन पूर्ण उपवास किया जाता है। मिता०, मदनपारिजात (पृ० ७१७), प्राय० सार (पृ० १७८) एवं अन्य निबन्धों के मत से उपर्युक्त पदार्थ उतनी ही मात्रा में खाये जाने चाहिए कि व्यक्ति किसी प्रकार जीवित रह सके। जाबाल (मिता०, परा० २, भाग २, पृ० १८३ आदि द्वारा उद्धृत) ने इसे चार दिनों का व्रत माना है, जिसमें प्रथम तीन दिनों तक क्रम से तेल की खली, सत्तू एवं तक्र खाये जाते हैं और चौथे दिन पूर्ण उपवास होता है। अत्रि (१२८-१२९) ने भी इसका उल्लेख किया है। प्रायश्चित्तप्रकाश ने ब्रह्मपुराण को उद्धत करते हुए कहा है कि इसका एक प्रकार छः दिनों का होता है जिसमें प्रथम दिन पूर्ण उपवास किया जाता है, अन्तिम दिन में केवल सत्तू खाया जाता है और बीच के चार दिनों में गोमूत्र में पकायी हुई जौ की लपसी खायी जाती है।[२७]

२७. प्रकारान्तरेण षडहः सौम्यकृच्छ्र उक्तो ब्रह्मपुराणे——प्रथमेऽहनि नाश्नीयात्सौम्यकृच्छ्रेपि सर्वदा। गोमूत्र-यावकाहारः षष्ठे सक्तूंश्च तत्समान्॥ प्रायश्चित्तप्रकाश।

अध्याय ६

प्रायश्चित्त न करने के परिणाम

स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों ने घोषित किया है कि प्रायश्चित्त न करने से पापी को दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं। याज्ञ० (३।२२१) का कथन है कि पापकृत्य के फलस्वरूप सम्यक् प्रायश्चित्त न करने से परम भयावह एवं कष्टकारक नरकयातना सहनी पड़ती है। मनु (१२।५४) एवं याज्ञ० (३।२०६) ने प्रतिपादित किया है कि जो व्यक्ति गम्भीर एवं अन्य पातकों के लिए सम्यक् प्रायश्चित्त नहीं करते वे भाँति-भाँति की नरक-यातनाएँ भुगतने के उपरान्त पुनः इस लोक में आते हैं और निम्न कोटि के पशुओं, कीट-पतंगों, लता-गुल्मों के रूप में प्रकट होते हैं। मनु (११।५३) ने आदेश दिया है कि पापमुक्ति के लिए व्यक्ति को प्रायश्चित्त करना चाहिए। क्योंकि वे लोग, जो (प्रायश्चित्त द्वारा) पापों को नष्ट नहीं करते, पुनः जन्म ग्रहण करते हैं और अशुभ चिह्नों या लक्षणों (भद्दे नख, काले दाँत आदि) से युक्त हो जाते हैं। उन्होंने पुनः (११।४८) कहा है कि दुष्टात्मा व्यक्ति इस जीवन एवं पूर्व जीवन में किये गये दुष्कर्मों के कारण विकलांग होते हैं और उनके अंग-प्रत्यंग भद्दी आकृतियों वाले हो जाते हैं। विष्णुपुराण ने याज्ञ० (३।२२१) की ही बात कही है।[1] विष्णुधर्मोत्तर ने घोषित किया है कि वे पापी जो प्रायश्चित्त नहीं करते और न राजा द्वारा दण्डित होते हैं, नरक में गिर पड़ते हैं, तिर्यग्योनि में जन्म-ग्रहण करते हैं और मनुष्य-योनि पाने पर भी शरीर-दोषों से युक्त होते हैं।[2] विष्णुधर्मसूत्र ने व्यवस्था दी है कि पापी लोग नारकीय जीवन के दुःखों की अनुभूति करने के उपरान्त तिर्यक् योनि में पड़ते हैं, और जो अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, जातिभ्रंशकरण कर्म, संकरीकरण, अपात्रीकरण, मलिनीकरण एवं प्रकीर्ण पापकृत्य करते हैं, वे क्रम से स्थावर योनि (वनस्पति), कृमि-योनि, पक्षि-योनि, जलजयोनि, जलचरयोनि, मृगयोनि, पशु-योनि, अस्पृश्य-योनि एवं हिंस्र-योनि में पड़ जाते हैं।[3] विष्णुधर्मसूत्र (४५।१) ने पुनः कहा है कि नरक की यातनाओं को भुगत लेने एवं तिर्यकों की योनि में जन्म लेने के उपरान्त जब पापी मनुष्य-योनि में आते हैं तो पापों को बतलाने वाले लक्षणों से युक्त ही रहते हैं।[4]

१. पापकृद्याति नरकं प्रायश्चित्तपराङ्मुखः। विष्णुपुराण (४।५।२१; परा० मा० २, भाग २, पृ० २०९)।

२. प्रायश्चित्तविहीना ये राजभिश्चाप्यवासिताः। नरकं प्रतिपद्यन्ते तिर्यग्योनिं तथैव च॥ मानुष्यमपि चासाद्य भवन्तीह तथांकिताः। विष्णुधर्मोत्तर० (२।७३।४-५); परा० मा० २, भाग २, पृ० २१० एवं प्राय० वि० (पृ० १२०)।

३. अथ पापात्मनां नरकेष्वनुभूतदुःखानां तिर्यग्योनयो भवन्ति। अतिपातकिनां पर्यायेण सर्वाः स्थावरयोनयः। महापातकिनां च कृमियोनयः। अनुपातकिनां पक्षियोनयः। उपपातकिनां जलजयोनयः। कृतजातिभ्रंशकराणां जलचरयोनयः। कृतसंकरीकरणकर्मणां मृगयोनयः। कृतापात्रीकरणकर्मणां पशुयोनयः। कृतमलिनीकरणकर्मणां मनुष्येष्वस्पृश्ययोनयः। प्रकीर्णेषु प्रकीर्णा हिंस्राः क्रव्यादा भवन्ति। विष्णुधर्मसूत्र (४४।१-१०)।

४. अथ नरकाभिभूतदुःखानां तिर्यक्त्वमुत्तीर्णानां मनुष्येषु लक्षणानि भवन्ति। वि० ध० सू० (४५।१):

उपर्युक्त कथनों से प्रकट होता है कि प्रायश्चित्तों या राजदण्ड से विहीन होने पर व्यक्ति नरक में पड़ता है। दुष्कर्म फलों के अवशिष्ट रहने पर नीच योनियों में गिर पड़ता है और मनुष्य-योनि में आने पर भी रोगग्रस्त या विकलांग रहता है।

अब हम संक्षेप में नरक एवं स्वर्ग की धारणा का विवेचन उपस्थित करेंगे। ऋग्वेद में नरक के विषय में स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। कुछ ऋचाएँ अवलोकनीय हैं।[५] यथा—ऋग्वेद (२।२९।६, ३।५।५, ७।१०४।३, ७।१०४।-११, १०।१५२।४, ९।७३।८) जहाँ क्रम से ऐसी बातें आयी हैं—'गड्ढे से मेरी रक्षा कीजिए, इसमें गिरने से बचाइए'; 'वे लोग जो ऋत एवं सत्य से विहीन हैं, पापी होने के कारण अपने लिए गहरा स्थान बनाते हैं'; 'हे इन्द्र एवं सोम, दुष्टों को मारकर अलग अन्धकार में डाल दो!' 'जो कोई मुझे रात या दिन में हानि पहुँचाने की इच्छा करता है उसे शरीर एवं सन्तानों से वंचित कर तीनों पृथिवियों के नीचे डाल दो'; 'जो लोग सोम के आदेशों का पालन न करें और जिनसे सोम घृणा करे, कुदृष्टि से देखे उन्हें गड्ढे में फेंक दो।' इन वैदिक वचनों से प्रकट होता है कि ऋग्वेदीय ऋषिगण को कुछ ऐसा विश्वास था कि पृथिवी के नीचे कोई अन्ध गर्त है जहाँ देवों द्वारा दुष्ट को फेंक दिया जाता था। किन्तु ऋग्वेद में नरक की यातना की कोई चर्चा नहीं है। अथर्ववेद में नरक के विषय में स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। अथर्ववेद (२।१४।३) के अनुसार (पृथिवी के) नीचे ऐंद्रजालिक (मायावी) एवं राक्षस निवास करते हैं। अथर्ववेद (५।३०।११) ने एक व्यक्ति को मृत्यु से, गम्भीर काले अंधकार से निकल आने को कहा है। अथर्ववेद (५।१९।३) में आया है कि जो व्यक्ति किसी ब्राह्मण के सम्मुख थूकता या जो उस पर धन-कर लगाता है, वह रक्त की नदी के मध्य में बालों को दाँत से काटता रहता है। अथर्ववेद (१२।४।३६) में 'नरक-लोक' का उल्लेख है। वाजसनेयी संहिता (३०।५) में वीरहा (जो अग्निहोत्र को त्याग देता है) को नरक में जाने को कहा है। 'वीरहा' का अर्थ वीर को मारनेवाला' भी हो सकता है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ यह नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (११।६।१।४) में हमें नरक-यातना की ओर संकेत मिलता है, यथा—अपराधों के कारण लोग दूसरे के शरीर के अंग काट डालते हैं। तै० आ० (१।१९) में चार नरकों का उल्लेख है, यथा—**विसर्पी, अविसर्पी, विषादी** एवं **अविषादी** जो क्रम से दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व में हैं। कठोपनिषद् (२।५।६) के समय में ऐसा विश्वास था कि जो परमतत्त्व को नहीं जानते और केवल भौतिक जगत के अस्तित्व में ही विश्वास करते हैं, वे बार-बार जन्म लेते हैं और यम के हाथ में पड़ जाते हैं। इस उपनिषद् (५।७) में पुनः आया है कि कुछ लोग मृत्यूपरान्त अपने कर्मों एवं ज्ञान से शरीर धारण करते हैं और कुछ लोग स्थावर (पेड़ आदि) हो जाते हैं। किंतु इस उपनिषद् में नरक-यातनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः महाकाव्यों एवं पुराणों के समय की धारणाएँ उन दिनों प्रचलित नहीं थीं। कठोपनिषद् के आरम्भिक शब्द (१।२१ देवैरत्रापि विचिकित्सितम्) यह बताते हैं कि उस समय में भी मरनेवालों के भाग्य के विषय में कई धारणाएँ थीं। कौषीतकि ब्राह्मण (११।३) ने घोषित किया है कि जिस प्रकार इस विश्व में लोग पशुओं का मांस खाते हैं, उसी प्रकार दूसरे लोक में पशु उन्हें खाते हैं।

स्वर्ग के विषय में धारणाएँ अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। कुछ ऋचाओं में तीन स्वर्गों का उल्लेख है, यथा ऋग्वेद (१।३५।६, ८।५।८, ८।४१।९, ९।११३।९)। दयालु दाता या पूजक स्वर्ग में जाता है, देवों से मिलता है; मित्र

५. 'स्वर्ग' एवं 'नरक' के विषय में देखिए ए० ए० मैकडोनेल कृत 'वेदिक माइथॉलॉजी', पृ० १६७-१७०; प्रो० कीथकृत 'रेलिजिन एण्ड फिलासफी आव दी वेद एण्ड उपनिषद्स', पृ० ४०५-४१०; जर्नल आव अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी, जिल्द १३, पृ० ५३, जिल्द ६१, पृ० ७६-८०, जिल्द ६२, पृ० १५०-१५६।

एवं वरुण जैसे देव अमरता देने के लिए प्रार्थित हुए हैं (ऋ० १।१२५।५; ५।६३।२; १०।१०७।२)। स्वर्ग का जीवन आनन्दों एवं प्रकाशों से परिपूर्ण है और वहाँ के लोगों की सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं (ऋ० ९।११३।१०-११)। ऋ० (९।११३।८) में कवि कहता है—'मुझे (स्वर्ग में) अमर कर दो, जहाँ राजा वैवस्वत रहते हैं, जहाँ सूर्य बन्दी है (कभी नहीं अस्त होता) और जहाँ दैवी जल बहते हैं' जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता, पूजा नहीं करता, इन्द्र के अतिरिक्त अन्य लोगों के आदेशों का पालन करता है, वह स्वर्ग से नीचे फेंक दिया जाता है (ऋ० ८।७०।११)। एक ऋषि हर्षातिरेक में कहते हैं—'हमने सोम का पान किया है, हम अमर हो गये हैं, हम प्रकाश (स्वर्ग) को प्राप्त हो गये हैं और हमने देवों को जान लिया है, शत्रु या हानि पहुँचाने वाले हमारा क्या कर लेंगे जो अभी तक मरणशील रहे हैं?'[६] पवित्र होकर मृत लोग स्वर्ग में अपने इष्टापूर्त (यज्ञों एवं दानपुण्य-कर्मों से उत्पन्न धर्म या गुण) एवं अपने पूर्वजों से मिल जाते हैं और देदीप्यमान शरीर से युक्त हो जाते हैं (ऋ० १०।१४।८)। जो तप करते हैं या जो ऐसे यज्ञों का सम्पादन करते हैं, जिनमें दक्षिणा सहस्रों गौओं तक पहुँच जाती है, वे स्वर्ग पहुँचते हैं (ऋ० १०।१५४।१-३) और वहाँ उनके लिए सोम, घी एवं मधु का प्रवाह होता है। स्वर्ग में यम का निवास रहता है और वहाँ बाँसुरियों एवं गीतों का नाद होता रहता है (ऋ० १०।१३५।७)। अथर्ववेद अपेक्षाकृत अधिक लौकिक है और उसमें स्वर्ग के विषय में अधिक सूचनाएँ भी हैं। ऐसा कहा गया है कि दाता स्वर्ग में जाता है जहाँ अबल लोगों को सबल लोगों के लिए शुल्क नहीं देना पड़ता (अथर्ववेद ३।२९।३)। अथर्ववेद (३।३४।२, ५-६) में कहा गया है कि स्वर्गिक लोक में वहाँ के निवासियों के लिए बहुत-सी स्त्रियाँ होती हैं, उन्हें भोज्य पौधे एवं पुष्प प्राप्त होते हैं, वहाँ घी के ह्रद (तालाब), दुग्ध एवं मधु की नदियाँ होती हैं, सुरा जल की भाँति बहती रहती हैं और निवासियों के चतुर्दिक् कमलों की पुष्करिणियाँ होती हैं। स्वर्ग में गुणवान् लोग प्रकाशानन्द पाते हैं और उनके शरीर रोगमुक्त रहते हैं।[७] अथर्ववेद (६।१२०।३ आदि) में माता-पिता, पत्नी, पुत्रों (१२।३।१७) से मिलने की इच्छा अभिव्यक्त की गयी है। तै० सं० में स्वर्ग के विषय में प्रभूत संकेत हैं, हम केवल एक की चर्चा यहाँ कर रहे हैं—ऐसा आया है कि जो ज्योतिष्टोम यज्ञ में अदाभ्य पात्र की आहुति करता है वह इस लोक से जीता ही स्वर्ग चला जाता है।[८] तै० ब्रा० (१।५।२।५-६) में आया है—जो यज्ञ करते हैं वे आकाश में देदीप्यमान नक्षत्र हो जाते हैं। शत० ब्रा० (११।१।८।६) का कथन है—यह यजमान, जो अपने उद्धार या मोक्ष के लिए यज्ञ करता है, वह दूसरे लोक (स्वर्ग) में इस पूर्ण शरीर के साथ ही जन्म लेता है।[९] तै० ब्रा० (३।१०।११) में

६. अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥ ऋ० (८।४८।३)।

७. नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्। घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ॥ एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमानाः। उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ अथर्व० (४।३४।२ एवं ६)। यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अंगैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अथर्व० (६।१२०।३); स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ॥ अथर्व० (१२।३।१७)।

८. किं तद्यज्ञे यजमानः कुरुते येन जीवन्सुवर्गं लोकमेतीति जीवग्रहो वा एष यददाभ्योऽनभिषुतस्य गृह्णाति जीवन्तमेवैनं सुवर्गं लोकं गमयति ॥ तै० सं० (६।६।९।२)।

९. 'यो वा इह यजते अमुं स लोकं नक्षते... देवगृहा वै नक्षत्राणि।' तै० ब्रा० (१।५।२।५-६)। स ह सर्वतनूरेव यजमानोऽमुष्मिंल्लोके सम्भवति य एवं विद्वान् निष्कृत्या यजते। शत० ब्रा० (११।१।८।६)।

मृत्यु के उपरान्त आत्मा की अवस्थिति की चर्चा दृढतापूर्वक की गयी है। उपर्युक्त वचनों से यह स्पष्ट होता है कि पवित्र लोगों एवं वीरगति प्राप्त हुए लोगों को स्वर्ग प्राप्त होता था और उन्हें इस लोक की सुन्दर खाद्य वस्तुएँ, यथा घृत, मधु आदि वहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते थे। मेकडोनेल का यह कथन कि "लौकिक वस्तुओं एवं आनन्दों से पूर्ण कल्पना का स्वर्ग पुरोहितों के लिए था न कि योद्धाओं के लिए", ठीक नहीं है (देखिए वेदिक माइथॉलॉजी, पृ० १६८, ऋ० १०।१५४।३)। इस बात के लिए कि वैदिक काल में योद्धा लोग पुरोहितों के समान ही विश्वास नहीं रखते थे, कोई प्रमाण नहीं है। पश्चात्कालीन ग्रन्थों, यथा भगवद्गीता (२।३७), रघुवंश (७।५१) में आया है कि युद्ध में वीरगति प्राप्त लोग स्वर्ग में जाते हैं और सुन्दर स्त्रियों के संसर्ग की सुविधा पाते हैं। ऐसी धारणाएँ सभी प्राचीन धर्मों में पायी गयी हैं। उन दिनों इस पृथिवी को समतल कहा गया एवं इसके ऊपर दैवी वस्तुओं से युक्त आकाश की स्थिति मानी गयी थी। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।३३) एवं तै० उप० (२।८) में कहा गया है कि देवों का लोक मर्त्यों के लोक से सैकड़ों गुना आनन्दमय है। कठोपनिषद् (१।१२) में आया है—स्वयं यम ने कहा है कि स्वर्ग में न भय है, न जरा (वृद्धावस्था) है, वहाँ के निवासी भूख, प्यास एवं चिन्ता से विकल नहीं होते, प्रत्युत आनन्दों के बीच विचरण किया करते हैं।[10] वेदान्तसूत्र (१।२।२८) में शंकराचार्य ने कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् (३।९) का उद्धरण देते हुए कहा है कि पापियों का निवासस्थल इस लोक के नीचे या पृथिवी है।[11] छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।७) में आया है—जिनके आचरण रमणीय हैं, वे शीघ्र ही अच्छा जन्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य का जन्म—पायेंगे। जिनके आचरण अशोभन हैं, वे शीघ्र ही कपूय (बुरा) जन्म—कुत्ते, सूकर या चाण्डाल का जन्म— पायेंगे।

हमारे समक्ष दो सिद्धांतों का जटिल सम्मिश्रण उपस्थित हो जाता है। वैदिक काल का मौलिक सिद्धान्त था स्वर्ग एवं नरक, जो अधिकांश में सभी धर्मों में पाया जाता है। आगे चलकर जब **कर्म** एवं **पुनर्जन्म** का सिद्धान्त भारत में सर्वमान्य हो गया तो स्वर्ग-नरक सम्बन्धी सिद्धान्त परिष्कृत हुआ और कहा गया कि कभी स्वर्ग के आनन्द एवं नरक की यातनाएँ समाप्त हो सकती हैं और पापी आगे के जन्म में पशु या वृक्ष या मानव के रूप में रोगग्रस्त एवं दोष-पूर्ण शरीरांगों के साथ पुनः जन्म लेंगे।

यों तो (मृत्यूपरान्त) आत्मा के विषय में हम **अन्त्येष्टि** एवं **श्राद्ध** के परिच्छेद में वर्णन करेंगे। किन्तु यहाँ जब हम स्वर्ग एवं नरक की चर्चा कर रहे हैं तो **यम** के विषय में कुछ कहना अत्यावश्यक है। ऋग्वेद (१०।४८।१) में यम को **वैवस्वत** (विवस्वान् या सूर्य का पुत्र) कहा गया है। यह भारत-पारसीय देवता है। ऋग्वेद (१०।१४) में यम की प्रशस्ति है, उसे राजा कहा गया है और वह लोगों को एकत्र करनेवाला कहा गया है (१०।१४।१); उसने सर्वप्रथम स्वर्ग के मार्ग का अनुसरण किया है, जहाँ मानवों के पूर्व-पुरुष भी गये (१०।१४।२ 'यमो नो गातुं प्रथमो विवेद. . .यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः')। इस लोक से जाते हुए आत्मा को कहा गया है कि जब वह पूर्वपुरुषों के मार्ग से जायगा तो वह यम एवं वरुण नामक दो राजाओं को देखेगा। ऋग्वेद (१०।१४।१३-१५) में पुरोहितों से कहा गया है कि वे यम के लिए सोम का रस निकालें और यह भी कहा गया है कि यज्ञ यम के पास पहुँचता है और इसके लिए अग्नि ही दूत होता है। ऋग्वेद

१०. तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। . . .ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः। तै० उप० (२।८)। स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ कठोप० (१।१२)।

११. एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते। कौ० ब्रा० उप० (३।९)।

(१०।१३५।१) में यम को देवों के संग सोम पीते हुए एवं मानवों का अधिपति दर्शाया गया है। यम के दो कुत्ते हैं जिनकी चार आँखें होती हैं, वे मार्ग की रक्षा करते हैं, यम के गुप्तचर हैं और लोगों के बीच विचरण करते हुए उनके कर्मों का निरीक्षण करते रहते हैं। ऋग्वेद (१०।९७।१६) में ऋषि ने प्रार्थना की है—"शपथों के उल्लंघन के प्रभाव से पौधे हमें मुक्त करें, वरुण के आदेशों के उल्लंघन से प्राप्त दोषों से वे मुक्त करें, पापियों के पैरों को बाँधने वाली यम की बेड़ियों से हमें मुक्त करें और देवों के विरुद्ध किये गये पापों से छुड़ा दें।" ऋग्वेद (१०।१६५।४) में यम को मृत्यु कहा गया है और उल्लू या कपोत को यम का दूत माना गया है। ऋग्वेद (१।३८।५) में मरुतों को सम्बोधित करते हुए जो कहा गया है वह उपर्युक्त संकेतों के विरोध में पड़ता दीखता है—'तुम्हारी प्रशस्तियों के गायक यम के मार्ग से न जायँ।' इससे प्रकट होता है कि यद्यपि ऋग्वेद में यम एक देवता है और मनुष्य के दयालु शासक के रूप में वर्णित है, तथापि उसमें भय का तत्त्व भी सन्निहित है, क्योंकि उसके दो गुप्तचर कुत्ते एवं उसकी उपाधि 'मृत्यु' इसकी ओर निर्देश कर ही देते हैं। ऋग्वेद के समान ही अथर्ववेद ने यम का उल्लेख किया है। अथर्ववेद (१८।३।१३) में आया है—"यम को आहुति दो, वह सर्वप्रथम मारनेवाला मानव था, वह इस लोक से सबसे पहले गया, वह विवस्वान् का पुत्र और मनुष्यों को इकट्ठा करने वाला है।"[१२] तै० सं० (५।१।८।२ एवं ५।२।३।१) में कहा गया है कि यम मर्त्यों (मनुष्यों) का स्वामी है और सम्पूर्ण पृथिवी का अधिपति है। तै० सं० में (३।३।८-३-४) ऐसा घोषित है—"यम अग्नि है और यह (पृथिवी एवं वेदिका) यमी है। जब यजमान वेदी पर ओषधियाँ फैलाता है तो यम से कुसीद (ऋण) लेना सार्थक है। यदि यजमान को बिना उन्हें (ओषधियाँ) जलाये इस लोक से चला जाना पड़े तो वे (यम के गण) उसके गले में बन्धन डालकर उसे दूसरे लोक में ले जा सकते हैं।" ऋग्वेद (१०।१।४।१०) में आया है कि पितृगण यम के साथ प्रकाशानन्द पाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (१३।३) में ऐसा आया है कि मृत्यु के पास पाश (बन्धन) एवं स्थाणु (काठ की गदा) होते हैं, जिनसे दुष्ट कर्म करने वाले मनुष्य पकड़े जाते हैं। इन कथनों से स्पष्ट होता है कि यम क्रमशः मनुष्यों को भयानक दण्ड देनेवाला माना जाने लगा था। पुराणों में यम के लोक एवं यम के सहायकों का जिनमें चित्रगुप्त मुख्य है, चित्रवत् वर्णन है। उदाहरणार्थ, वराहपुराण (२०५।१-१०) में यम एवं चित्रगुप्त की बातचीत का उल्लेख है, जिसमें चित्रगुप्त मृत लोगों के कर्म का फल या भाग्य घोषित करता प्रदर्शित किया गया है। अग्निपुराण (३७१।१२) में ऐसा आया है कि यम की आज्ञा से चित्रगुप्त (पापी को) भयानक नरकों में गिराने की घोषणा करता है।

अब हम उत्तरकालीन वैदिक साहित्य, सूत्रों, स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों में प्रतिपादित स्वर्ग-नरक की भावनाओं पर विचार करेंगे। निरुक्त (१।११) ने कतिपय वैदिक मन्त्रों की चर्चा की है, यथा—"यदि हम (स्त्रियाँ) अपने पतियों के प्रति दुष्टाचरण करेंगी तो हम नरक में गिर सकती हैं।" निरुक्त ने नरक की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है; नि+अरक (न्यरक) अर्थात् (पृथिवी के) नीचे जाना, या न+र+क (नरक) अर्थात् जहाँ आनन्द के लिए तनिक भी स्थान न हो। एक अन्य स्थान (२।११) पर निरुक्त ने पुत्र को पुत्र इसलिए कहा है कि वह (पिता को) पुत् नामक नरक से बचाता है। पुत्र की यही व्युत्पत्ति मनु (९।१३८=आदिपर्व २२९।१४=विष्णुधर्मसूत्र १५।४४) ने भी की है। गौतम (१३।७) ने सत्य बोलने वाले को स्वर्ग और असत्य बोलने वाले को नरक मिलने की बात कही है। गौतम के मत से अपनी जाति के कर्मों को न करने से द्विजों का पतन होता है, पापों के कारण व्यक्ति

१२. यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ अथर्व० (१८।३।१३)।

अपने सत् कर्मों का फल उस लोक में नहीं पाता। अन्य लोगों का मत है कि नरक जातिकर्म-योग्यता की कमी एवं सत् कर्मों के फल की हानि का द्योतक है। गौतम का अपना मत है कि नरक वह विशिष्ट स्थान है जहाँ व्यक्ति केवल कष्ट एवं दुःख पाता रहता है। गौतम का दृढ मत है कि कतिपय वर्णों एवं आश्रमों के लोग अपने-अपने धर्मों (कर्मों) की निष्ठता के कारण इस जीवन के उपरान्त कर्म-फल भोगते हैं और सम्पूर्ण कर्मों के अवशिष्ट फलों के कारण विशिष्ट देश; जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत (विद्या), वृत्त (आचरण), वित्त (धन), सुख, मेधा (बुद्धि) के अनुसार शरीर धारण कर जन्म लेते हैं, और जो लोग विपरीत कर्म करते हैं वे भाँति-भाँति के जन्म ग्रहण करते हैं और नाश को प्राप्त होते हैं।[13] आप० ध० सू० (१।४।१२।१२) का कथन है कि यदि व्यक्ति इन्द्रियोपभोग के लिए ही कर्मरत रहता है तो वह नरक के योग्य है। अन्य स्थान पर पुनः कथन है कि जब व्यक्ति धर्म का उल्लंघन करता है तो नरक ही उसका भाग्य है। निष्काम कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है।[14] वेदान्तसूत्र (२।१।१३) ने स्पष्ट किया है कि यमलोक (संयमन) में कर्मफल भोग कर लेने के उपरान्त दुष्कर्म करनेवाले इस मर्त्यलोक में आते हैं। वेदान्तसूत्र (३।१।१५) में नरक सात प्रकार के कहे गये हैं। पाणिनि (३।२।३८) ने महारौरव का विग्रह बताया है। पाणिनि (३।२।८८) की टीका काशिका में एक वैदिक श्लोक उद्धृत है जिसमें मातृहन्ता को सातवें नरक का भागी माना गया है। विष्णुपुराण (१।६।४१) ने सातों नरक लोकों के नाम दिये हैं—तामिस्र, अंधतामिस्र, महारौरव, रौरव, असि-पत्रवन, कालसूत्र एवं अवीचि। अन्यत्र (२।६।२-५) २६ नाम दिये हुए हैं। शंख-लिखित (मदनपारिजात, पृ० ६९४-६९५) ने कुम्भीपाक, रौरव, महारौरव आदि नरकों की यातनाओं का विशद वर्णन किया है। मनु (४।८८-९०), याज्ञ० (३।२२२-२२४), विष्णुधर्मसूत्र (४३।२।२२), अग्नि० (३७१)२०-२०) एवं नारद (प्रकीर्णक, ४४) ने २१ नरकों का वर्णन उपस्थित किया है। सभी नाम एक-जैसे हैं, जो अन्तर है वह लिपिकों की लिखावट के विभिन्न रूपों के कारण है। मनु के अनुसार २१ नाम ये हैं—तामिस्र (अन्धकार), अन्धतामिस्र (अंधा बनाने वाला अन्धकार); महारौरव, रौरव (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० १५ के मत से जलते हुए तलों वाले मार्गों से आकीर्ण), कालसूत्र (कुम्हार के चाक के उस सूत्र के समान जिससे वह मिट्टी के कच्चे पात्रों को दो भागों में कर देता है), महानरक, संजीवन (जहाँ जिलाकर पुनः मार डाला जाता है), महावीचि (जहाँ उठती हुई लहरियों में व्यक्ति को डुबा दिया जाता है), तपन (अग्नि के समान जलता हुआ), सम्प्रतापन (प्रायश्चित्तविवेक, पृ० १५ के मत से कुम्भीपाक), संघात (छोटे स्थान में बहुतों को रखना), काकोल (जहाँ व्यक्ति कौओं का शिकार बना दिया जाता है), कुड्मल (जहाँ व्यक्ति को इस प्रकार बाँध दिया जाता है कि वह बंद कली की भाँति लगता है), पूतिमृत्तिक (जहाँ दुर्गन्धपूर्ण मिट्टी हो), लोहशंकु (जहाँ लोहे की कीलों से बेधा जाता है), ऋजीष (जहाँ गरम बालू बिछी रहती है), पन्था (जहाँ व्यक्ति लगातार

१३. स्वर्गः सत्यवचने विपर्यये नरकः। गौ० (१३।७)। द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनं तथा परत्र चासिद्धिः। तमेके नरकम्। गौ० (२१।४-६)। अन्तिम के विषय में हरदत्त का कथन है—'स्वमतं तु विशिष्टे देशे दुःखैकतानस्य वासो नरक इति।' गौतम के मत के लिए और देखिए अपरार्क (पृ० १०४५)। वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते। विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति। गौ० (९।२९-३०), और देखिए शांकरभाष्य (वेदान्तसूत्र ३।१।८)।

१४. तदनुवर्तमानो नरकाय राध्यति। आप० ध० सू० (१।४।१२।१२); हृष्टो दर्पति दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे खलु पुनर्नरकः। आप० ध० सू० (१।४।१३।४); ततः परमनन्त्यं फलं स्वर्ग्यशब्दं श्रूयते। आप० ध० सू० (२।९।२३।१२)।

इधर-उधर चलाया जाता है), शाल्मलि (जहाँ सेमल की रूई के समान शूलों से व्यक्ति छेदा जाता है), नदी (जहाँ प्राणी वैतरणी नदी में बहाया जाता है), असिपत्रवन (जहाँ पर व्यक्ति तलवार की धारों वाले वन से काटा जाता है), लोह-दारक (जो अंगों को लोहे से काटता है)। मनु (१२।७५-७६) में तामिस्र, असिपत्रवन एवं कुम्भीपाक नरकों का एवं कालसूत्र (३।२४९) का फिर से उल्लेख हुआ है। और देखिए कुल्लूक (मनु ४।८०-९०), प्राय० वि० (पृ० १६) एवं दीपकलिका (याज्ञ० ३।२२२-२२४)। अग्नि० (२०३ एवं ३७१) में नरकों की संख्या १४४ है। ब्रह्मपुराण के २२वें अध्याय में २५ नरकों का उल्लेख है और प्रत्येक के भागी पापियों की भी चर्चा की गयी है।[१५]

ब्रह्मवैवर्त (प्रकृतिखण्ड, अध्याय २९ एवं ३३) ने ८६ नरककुण्डों, नारदपुराण (पूर्वार्ध, १५।१-२०) ने नरकों एवं यातनाओं, पद्मपुराण (उत्तर, अध्याय २२७) ने १४० नरकों एवं (अध्याय ४८) कुछ अन्य नरकों, भविष्य-पुराण (ब्रह्मपर्व, १९२।११-२७) ने नरक-यातनाओं एवं (उत्तरपर्व, अध्याय ५-६) पापों एवं नरकों का उल्लेख किया है। भागवतपुराण (५।२६।६) ने २८ नरकों एवं अन्यों ने २१ नरकों की चर्चा की है।[१६] और देखिए विष्णुपुराण (५।६।-२-५), स्कन्दपुराण (१, अध्याय ३९ एवं ६।२२६-२२७), मार्कण्डेयपुराण (अध्याय १२, १४।३९-९४)। महा-भारत में भी नरकों एवं यातनाओं का उल्लेख है। शान्तिपर्व (३२१।३२) ने वैतरणी एवं असिपत्रवन का, अनुशासन-पर्व (२३।६०-८२) ने नरक में ले जानेवाले कर्मों का उल्लेख किया है। और देखिए अनुशासन (१४५।१०-१३), स्वर्गारोहणपर्व (२।१६-२६)। वृद्धहारीतस्मृति (९।१६७-१७१) ने मनु द्वारा प्रस्तुत अधिकांश २१ नरकों के नाम दिये हैं। इन ग्रन्थों में नरकों के बढ़ाने की प्रवृत्ति इतनी अधिक हो गयी कि ब्रह्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर०[१७], गरुड़पुराण आदि ने घोषित किया है कि नरकों की संख्या सहस्रों, लाखों एवं करोड़ों है।

विष्णुधर्मसूत्र (४६।२३-२९) ने व्यवस्था दी है कि अतिपातक, अनुपातक एवं संकरीकरण के अपराधी यदि प्रायश्चित्त नहीं करते हैं, तो वे क्रम से एक कल्प, एक मन्वन्तर, चार युगों एवं एक सहस्र वर्षों तक २१नरकों में

१५. याज्ञ० एवं विष्णु ने महावीचि के स्थान पर अवीचि पढ़ा है। याज्ञ० ने सम्प्रतापन के स्थान पर सम्प्रपातन पढ़ा है ('सम्प्रपातन' का अर्थ है 'गड्ढे में फेंकना') और अलग से कुम्भीपाक (घड़े में रखकर गर्म करना) जोड़ दिया है। मुद्रित मनुस्मृति में 'प्रतिमूर्तिकम्' आया है, जो किसी पाण्डुलिपि का अशुद्ध पाठ है। कुछ पाण्डुलिपियों में 'लोह-चारक' आया है, जिसका अर्थ 'उत्तप्त लोह पर चलाना' या 'लोह-शृंखलाओं से बाँधना' हो सकता है (प्राय० वि०, पृ० १६)। इन सभी प्रकारों की व्याख्या प्राय० वि० (पृ० १५-१६) तथा अन्य टीकाकारों ने की है। प्रायश्चित्तविवेक (पृ० १६) द्वारा उद्धृत जमदग्नि के मत से वैतरणी यमलोक की वह नदी है जो दुर्गन्ध, रक्त आदि से भरी रहती है, जिसका जल उष्ण एवं बहुत तीक्ष्ण धार वाला होता है और जिसकी लहरियों पर हड्डियां एवं बाल होते हैं। शंख-लिखित (म० पा०, पृ० ६९५) ने वैतरणी को तप्तोदका (उष्ण जल वाली) कहा है।

१६. नरकाणां च कुण्डानि सन्ति नानाविधानि च। नानापुराणभेदेन नामभेदानि तानि च॥...षडशीतिश्च कुण्डानि संयमन्यां वसन्ति च। ब्रह्मवैवर्त, प्रकृतिखण्ड (२९।४-६)।

१७. खड्गशूलनिपातैश्च भिद्यन्ते पापकारिणः। नरकाणां सहस्रेषु लक्षकोटिशतेषु च। स्वकर्मोपार्जितैर्दोषैः पीड्यन्ते यमकिंकरैः॥ ब्रह्मपुराण (२१५।८२-८३); अष्टाविंशतिकोट्यः स्युर्घोराणि नरकाणि वै। महापात-किनश्चात्र सर्वे स्युर्नरकाङ्घ्रिषु॥ आचन्द्रतारकं यावत्प ड्यन्ते विविधैर्वधैः। अतिपातकिनश्चान्ये निरयार्णवकोटिषु॥ विष्णुधर्मोत्तर० (स्मृतिमुक्ताफल, प्रायश्चित्त, पृ० ८५९); गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, ३।३)—नरकाणां सहस्राणि वर्तन्ते ह्यरणानुज।

बारी-बारी से चक्कर काटते रहते हैं और अन्य पापी बहुत वर्षों तक रहते हैं।[१८] यम (मदनपारिजात, पृ० ६९६) का कथन है कि महापातकी एक युग तक मुँह नीचे किये नरक में पड़े रहते हैं। यम ने विशिष्ट पापियों के लिए विशिष्ट नरक-यातनाओं का उल्लेख किया है।

बौद्धों ने अपने नरक-सिद्धान्त को ब्राह्मणधर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों पर आधारित किया है। देखिए डा० बी० सी० ला कृत हेवेन एण्ड हेल इन बुद्धिस्ट पर्सपेक्टिव (१९२५, पृ० १११-११३), जिसमें आठ **महानिरयों** एवं अन्य हलके नरकों की ओर संकेत किया है। आठ महानिरय ये हैं—सञ्जीव, कालसुत्त, संघात, रोरुव, महारोरुव, तप, महातप एवं अवीचि। ये नाम मनु द्वारा उपस्थापित नामों के पालि रूपान्तर हैं। जैनों के ग्रन्थों में उल्लिखित नरकों एवं उनकी यातनाओं के विषय में देखिए उत्तराध्ययन-सूत्र (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ४५, पृ० ९३-९७) एवं सूत्रकृताङ्ग (१।५, वही, पृ०२७९-२८६)। इसी प्रकार पारसी-मत की नरक-स्वर्ग-सम्बन्धी भावनाओं के लिए देखिए एस० एन० कंग कृत 'हेवेन एवं हेल एण्ड देअर लोकेशन इन जोराष्ट्रियनिज्म एण्ड इन दि वेदज़' (१९३३)।

बौद्ध **पातिमोक्ख** नामक पश्चात्ताप-सम्बन्धी सभाएँ किया करते थे और उन्होंने ९२ **पाचित्तिय** (प्रायश्चित्तीय) नियम प्रतिपादित किये थे (देखिए सैक्रेड बुक ऑव दि ईस्ट, जिल्द १३, पृ० १-६९ एवं पृ० ३२-५५)।

महाभारत, पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में स्वर्ग का सुन्दर वर्णन उपस्थित किया गया है। ऋग्वेद एवं उपनिषदों (यथा—कठोपनिषद् १।१२-१३ एवं १८ 'शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके') में स्वर्ग प्रकाशों का स्थल कहा गया है। ऋग्वेद (१०।१०७।२) में आया है कि जो प्रभूत दक्षिणा देते हैं वे स्वर्ग में (नक्षत्रों के समान) ऊँचा स्थान पाते हैं, जो अश्व दान करते हैं वे सूर्य के संग में जाते हैं और जो सोना देते हैं (दान करते हैं) वे अमर हो जाते हैं। इस कथन की प्रतिध्वनि वनपर्व (१८६।९) में है।[१९] कौषीतकि उप० (१।३) ने अग्नि, वायु, वरुण, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्म नामक देवलोकों की चर्चा की है। और देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् (३।६)। इस उपनिषद् (१।५।१६) ने मनुष्यलोक, पितृलोक एवं देवलोक की चर्चा करते हुए देवलोक को सर्वश्रेष्ठ कहा है। कौषी० उप० (१।४) से प्रकट होता है कि भाग्यशाली निवासियों को देवलोक में दैवी अप्सराएँ, मालाएँ, नेत्ररंजन, सुगन्धित चूर्ण, परिधान प्राप्त होते हैं। शंकर (वेदान्तसूत्र ४।३।४) ने कहा है कि **लोक** का अर्थ है 'वह स्थान जहाँ अपने कर्मों का फलानन्द प्राप्त होता है (भोगायतन) और **हिरण्यगर्भ** ब्रह्मलोक का अध्यक्ष है (वेदान्तसूत्र ४।३।१०)। वनपर्व (५४।१७-१९) में स्वर्ग को उन वीरों का भी स्थान माना है जो रण में वीरगति प्राप्त करते हैं। वनपर्व (१८६।६-७) में स्वर्गानन्द का वर्णन है; वहाँ पंकहीन एवं सुवर्णकमल-पुष्पयुक्त जलाशय हैं, जिनके तट पर गुणवान लोग रहते हैं, अप्सराएँ जिनका सम्मान करती हैं एवं उनके शरीरों में सुगन्धित कान्तिवर्धक अंगराग लगाती हैं, वे आभूषण धारण करते हैं और दीप्तिमान् स्वर्णिम रंगों वाले होते हैं। ये सुविधाएँ ब्रह्मपुराण (२२५।५-६) में वर्णित नन्दन वन में भी पायी जाती हैं। वनपर्व (२६१।२८-२९) ने स्वर्ग में जाने का एक दोष भी बताया है, यथा—वहाँ सत्कर्मों का फल मात्र मिलता है, नये गुण संगृहीत नहीं होते, व्यक्ति संगृहीत गुणों के मूलधन का ही व्यय करता है, जब वह समाप्त हो जाता है तो वह नीचे चला आता है, किन्तु वह मनुष्य-योनि में ही उत्पन्न होता है और आनन्द का उपभोग करता है। अनुशासन० (२३।८४-१०२), ब्रह्मपुराण (२२४।९-१४, १८-२५ एवं ३०-३७) ने उन कर्मों का

१८. कल्प, मन्वन्तर एवं युग के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४।

१९. परं लोकं गोप्रदास्त्वाप्नुवन्ति दत्त्वानडुहं सूर्यलोकं व्रजन्ति। वासो दत्त्वा चान्द्रमसं तु लोकं दत्त्वा हिरण्यममरत्वमेति ॥ वन० (१८९।९)।

उल्लेख किया है जिनसे स्वर्ग-प्राप्ति होती है। और देखिए अनुशासन० (१४४।५।१५, १९-२६ एवं ३१-३९; १४५)। शान्तिपर्व (९९।४-५) में आया है कि स्वर्ग रण में मृत वीरों से पूर्ण है, वहाँ गन्धर्वकुमारियाँ रहती हैं, स्वर्ग में सभी कांक्षाएँ पूर्ण होती हैं, कायरों को नरक मिलता है। शांतिपर्व (१९२।८ एवं २१) में आया है कि स्वर्ग उत्तर में है, वहाँ भूख, प्यास, थकावट, जरा, पाप (१९१।१३; १९३।२७) नहीं होते; अच्छे व्यक्ति नक्षत्र के समान दीखते हैं (२७१।२४)। मत्स्यपुराण (२७६।१७) में ऐसा आया है कि जो ब्रह्माण्डदान (१६ महादानों में एक) करता है वह विष्णुलोक जाता है और अप्सराओं के साथ आनन्द पाता है। और देखिए ब्रह्मपुराण (२२५।६-७), जहाँ ऐसा कहा गया है कि उदार दाता स्वर्ग जाता है, जहाँ उसे अप्सराओं द्वारा परमोच्च आनन्द मिलता है और वह नन्दनवन का उपभोग करता है; जब वह स्वर्ग से नीचे आता है तो धनी, कुलीन परिवार में जन्म पाता है। और देखिए गरुड़पुराण (२।३।८६-८९)। आगे और कुछ लिखना आवश्यक नहीं है। स्वर्ग एवं उसके आनन्दों के विषय में दो बातें विचारणीय हैं स्मृतियों एवं पुराणों में दान-सम्बन्धी हानि-लाभ की बातें दी हुई हैं। स्वर्ग के आनन्दोपभोग की एक सीमा है अर्थात् व्यक्ति पुनः लौट आता है और मनुष्य-देह धारण करता है। यह सिद्धान्त पुनः आगे बढ़ा और कहा गया कि केवल सत् कर्मों से ही जन्म-मरण (आवागमन) से छुटकारा नहीं मिल सकता।

स्मृतियों एवं पुराणों में सविस्तर वर्णित नरक की भयानक यातनाओं का वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, विष्णुधर्मसूत्र (४३।३२-४५) का उद्धरण यों है—"नौ प्रकार के पापों में किसी एक के अपराधी को मरने पर यम के मार्ग में पहुँचने पर भयानक पीड़ाएँ सहनी पड़ती हैं। यम के किंकरों द्वारा इधर-उधर घसीटे जाने पर पापियों को भयंकर दृष्टि से घूरे जाते हुए नरक में जाना पड़ता है। वहाँ (नरक में) वे कुत्तों, शृगालों, कौओं, क्रौंचों, सारसों आदि पक्षियों द्वारा तथा अग्निमुख वाले सर्पों एवं बिच्छुओं द्वारा भक्षित किये जाते हैं। वे अग्नि द्वारा झुलसाये जाते हैं, काँटों द्वारा छेदे जाते हैं, आरियों द्वारा दो भाग में चीरे जाते हैं और प्यास से तड़पाये जाते हैं, भूख से प्रताड़ित किये जाते हैं, भयानक व्याघ्रों द्वारा पीड़ित होते हैं और मज्जा, पीव एवं रक्त की दुर्गन्ध से वे पग-पग पर मूर्च्छित होते रहते हैं। दूसरे के भोजन एवं पेय पदार्थों की लालसा रखने पर वे ऐसे यम-किंकरों द्वारा पीटे जाते हैं जिनके मुख कौओं, क्रौंचों, सारसों जैसे भयावह पशुओं के समान होते हैं। कहीं-कहीं उन्हें तेल में उबाला जाता है और कहीं-कहीं वे लोहे के टुकड़ों के साथ पीसे जाते हैं या प्रस्तर या लोहे की ओखली में कूटे जाते हैं। कुछ स्थानों पर उन्हें वमन की हुई वस्तुएँ या मज्जा या रक्त या मल-मूत्र खाने पड़ते हैं और दुर्गन्धयुक्त मज्जा के समान मांस खाना पड़ता है। कहीं-कहीं उन्हें भयावह अंधकार में रहना पड़ता है और वे ऐसे कीड़ों द्वारा खा डाले जाते हैं जिनके मुँह से अग्नि निकलती रहती है। कहीं-कहीं उन्हें शीत सहना पड़ता है और कहीं-कहीं गन्दी वस्तुओं में चलना पड़ता है। कहीं-कहीं वे एक-दूसरे को खाने लगते हैं और इस प्रकार वे स्वयं अत्यन्त भयानक हो उठते हैं। कहीं-कहीं वे पूर्व कर्मों के कारण पीटे जाते हैं और कहीं-कहीं उन्हें (पेड़ों आदि से) लटका दिया जाता है या बाणों से विद्ध कर दिया जाता है या टुकड़ों में विभाजित कर दिया जाता है। कहीं-कहीं उन्हें काँटों पर चलाया जाता है और साँपों के फणों से आवृत कर दिया जाता है; उन्हें यन्त्रों (कोल्हू) से पीड़ित किया जाता है और घुटनों के बल घसीटा जाता है। उनकी पीठें, सिर एवं गर्दन तोड़ दी जाती हैं, देखने में वे भयावह लगते हैं, उनके कण्ठ इस प्रकार फाड़ दिये जाते हैं कि मानो वे गुफा हों और पीड़ा सहने में असमर्थ हो जाते हैं। पापी इस प्रकार सताये जाते हैं और आगे चलकर वे भाँति-भाँति के पशुओं के शरीरों के रूप में (जन्म लेकर) भयानक पीड़ाएँ सहते हैं।"

पुराणों ने बहुधा उल्लेख किया है कि नरक पृथिवी के नीचे होता है। गरुड़ एवं ब्रह्माण्ड के मत से रौरव आदि नरक पृथिवी के नीचे कहे गये हैं। और देखिए विष्णुपुराण (२।६।१)। भागवतपुराण में आया है कि नरक पृथिवी के नीचे, तीनों लोकों के दक्षिण जल के ऊपर है, उसका कोई आश्रय नहीं है (लटका हुआ है) और उसमें 'अग्निष्वात्त'

नामक पितरों के दल रहते हैं।[20] अग्निपुराण (३७१।१३-१४) का दृढ़तापूर्वक कथन है कि नरकों के २८ दल पृथिवी के नीचे, यहाँ तक कि सातवें लोक पाताल के नीचे हैं।

हमें निम्न प्रकार के वैदिक वचन मिलते हैं—'यह यज्ञ के पात्रों वाला यजमान सीधे स्वर्ग जाता है' (शत० ब्रा०-१२।५।२।८); 'स्वर्ग चाहने वाले को दर्श-पूर्णमास यज्ञ करना चाहिए;' 'स्वर्ग तक पहुँचने वाले को ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए।' 'स्वर्ग' एवं 'नरक' के तात्पर्य के विषय में आदि काल से ही गर्मागर्म विवाद चलता आया है। जैसा कि वेदों, स्मृतियों एवं पुराणों के कथनों से प्रकट होता है, आरम्भिक काल से लोकप्रसिद्ध मत यही रहा है कि स्वर्ग पृथिवी से ऊपर एवं नरक पृथिवी से नीचे है। प्राचीन ज्योतिष-ग्रन्थों में भी स्वर्ग पृथिवी से सहस्रों योजन ऊपर माना गया है। वराहमिहिर से पहले के पराशर नामक ज्योतिषी ने कहा है—'भू (पृथिवी) ६७,०८० करोड़ योजन है और यही इसका विस्तार है; इसके आगे अगम्य तम है, जिसके बीच में सुनहला मेरु पर्वत है, स्वर्ग ८४,००० योजन ऊँचा है, १६ योजन नीचा है और तिगुना लम्बाई-चौड़ाई में है।[21] किन्तु यह कहना सत्य नहीं ठहरेगा कि सभी लेखक स्वर्ग एवं नरक के स्थानों के वास्तविक अस्तित्व के विषय में एकमत हैं। यह बात बहुत पहले कही जा चुकी है कि ईसा की कई शताब्दियों पूर्व गौतम बुद्ध ने अपने पहले के लोगों का मत प्रकाशित कर दिया था कि नरक कोई एक स्थान नहीं है, प्रत्युत वह है किसी वर्ण के लिए निर्धारित कर्मों के करने की अक्षमता का द्योतक। कुछ अन्य लोगों ने भी इसी प्रकार का तर्क उपस्थित किया है। शबर (जैमिनि ४।३।२७-२८) ने श्रुति-वचन उद्धृत कर कहा है कि यज्ञों से दूसरे जीवन में फल मिलता है (जैसा कि श्रुति ने वचन दिया है)। कुमारिल ने इस विषय में टीका करते हुए कहा है कि वेद-विधि केवल कर्मफल का वचन देती है, किन्तु यह नहीं कहती कि इसी जीवन में यह फल अनुसरित होने लगता है, स्वर्ग, जो अपूर्व आनन्द देनेवाला है, जन्मान्तर में ही प्रतिफलित होता है। शबर ने सर्वप्रथम स्वर्ग का तात्पर्य लौकिक अर्थ में दिया है, यथा—वहाँ सुन्दर रेशमी वस्त्र, चन्दन, अंगराग, षोडशियाँ प्राप्त होती हैं। शबर ने स्वर्ग के विषय में लौकिक मत यह भी दिया है कि वह एक ऐसा स्थान है जहाँ न गर्मी है न शीत, जहाँ न भूख है न प्यास, जहाँ न कष्ट है न थकावट, जहाँ केवल पुण्यवान् ही जाते हैं अन्य नहीं। शबर ने ऐसे मत का खण्डन किया है और कहा है कि स्वर्ग का मौलिक अर्थ है प्रीति (आनन्द) या उल्लास (हर्ष), वह द्रव्य नहीं है, जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है।[22]

स्वर्ग की एक प्रसिद्ध परिभाषा यह है—(यह वह) आनन्द है जो दुःखरहित है, आगे दुःख से ग्रसित नहीं होता, इच्छा करने पर उपस्थित हो जाता है और वही 'स्वः' (या स्वर्ग) शब्द से द्योतित होता है।[23] और देखिए

२०. भूमेरधस्तात्ते सर्वे रौरवाद्याः प्रकीर्तिताः। गरुड० (प्रेतखण्ड, ३।५५); ब्रह्माण्ड (उपसंहारपाद, २।५२); ततश्च नरकान् विप्र भुवोऽधः सलिलस्य च। पापिनो येषु पात्यन्ते तान् शृणुष्व महामुने॥ ब्रह्मपुराण (२२।६।१)। राजोवाच। नरका नाम भगवन् किं देशविशेषा अथवा बहिस्त्रिलोक्या आहो स्विदन्तराल इति। ऋषिरुवाच। अन्तराल एव त्रिजगत्यास्तु दिशि दक्षिणस्यामधस्ताद् भूमेरुपरिष्टाच्च जलाद्यस्यामग्निष्वात्तादयः पितृगणाः... निवसन्ति। भागवत० (५।२६।३-४)।

२१. सप्तषष्टिसहस्राण्यशीतियोजनकोट्यो भूर्यत्पृथिवीमण्डलं परस्मादगम्यं तमः। तन्मध्ये हिरण्मयो मेरुश्चतुरशीतियोजनसहस्रोच्छ्रितो षोडश चाधस्तात्। त्रिगुणविस्तारायामो यं स्वर्गमाचक्षते तन्मध्येनार्कचन्द्रौ ज्योतिश्चक्रं च पर्येति। पराशर (बृहत्संहिता १।११ की टीका में उत्पल द्वारा उद्धृत)।

२२. देखिए टुप्टीका (जै० ४।३।२७-२८.), शबर (जै० ६।१।१ एवं ६।१।२)।

२३. यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

शालिकनाथ की प्रकरणपंचिका (पृ० १०२), जो प्राभाकर (मीमांसक) मत के प्रारम्भिक ग्रन्थों में एक है। शान्तिपर्व (२८।४२) में स्पष्ट आया है—बुद्धिमान् लोग परलोक को किसी अन्य द्वारा स्पष्ट (प्रत्यक्ष) देखा हुआ नहीं मानते। (परलोक की स्थिति के विषय में) विश्वास रखना होगा, अन्यथा लोग वेदों (आगमों) का अतिक्रमण करने लगेंगे।[२४] ब्रह्मपुराण एवं विष्णुपुराण ने शबर के समान ही बातें कही हैं—'स्वर्ग वही है जिससे मन को प्रीति मिलती है; नरक इसका उलटा (विपर्यय) है; पुण्य एवं पाप को ही क्रम से स्वर्ग एवं नरक कहा जाता है; सुख एवं दुःख से युक्त मनःस्थिति ही स्वर्ग एवं नरक की परिचायक है।'[२५]

भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में नरक एवं स्वर्ग के विषय में जो अनगढ़ विचार-धाराएँ हैं, उनसे चकित नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसी ही भावनाएँ विश्व के सभी धर्मों में प्रचलित रही हैं। मिस्र के राजाओं एवं लोगों में, जिनकी वंशपरम्पराएँ ५,००० वर्षों तक चलती रही हैं, स्वर्ग एवं नरक की विचित्र बातें पायी जाती थीं, जिन्हें वे चित्रों द्वारा अंकित करते थे (किसी अन्य राष्ट्र या देश ने ऐसा कभी नहीं किया), यद्यपि अत्यन्त प्राचीन मृत लोगों की पुस्तकों में चित्र नहीं हैं (देखिए ई० ए० डब्लू० बज महोदय की पुस्तक 'ईजिप्शिएन हेवेन एण्ड हेल' (१९०५, पृ० ११ एवं २)। हिब्रू (यहूदी) लोगों ने पृथिवी के निम्नतम भाग में मत लोगों को रखा है, जहाँ भयानक अन्धकार है, और उसे 'शियोल' की संज्ञा दी है (जाब १०।२१-२२ एवं ३०।२३)। ग्रीक 'हैडेस' अपनी विशिष्टताओं में 'शियोल' के बहुत समान है। 'न्यू टेस्टामेण्ट' में नरक को निरन्तर प्रज्वलित रहने वाली अग्नि का स्थान कहा गया है, जहाँ दुष्कर्मकारी पापीजन अनन्त काल-व्यापी दण्डों एवं यातनाओं को सहने के लिए जाते हैं; पुण्यवान् लोग अमर जीवन प्राप्त करते हैं (मैथ्यू २५।४१ एवं ४६, लूक १६।२३)। न्यू टेस्टामेण्ट के अनुसार स्वर्ग का स्थान पृथिवी एवं बादलों के ऊपर है और नरक पृथिवी के नीचे अंधकार एवं यातनाओं से परिपूर्ण है। और देखिए लूक (२३।४३); ईफेसिएन्स (१।३ एवं २०।२। कोर० १२।४, रेव० २।७); लूक (१२।५ एवं १६।२३); २. पेटर (२।४) एवं रेव० (६।८, २०।१३-१४)। शेक्सपियर एवं अधिकांश में सभी ईसाई धर्मावलम्बियों ने बाइबिल में दी हुई नरक-स्वर्ग-सम्बन्धी धारणाओं में विश्वास किया है। आधुनिक काल के बहुत-से ईसाई अब यह मानने लगे हैं कि बाइबिल में दी हुई नरक-स्वर्ग-सम्बन्धी भावनाएँ वास्तव में प्रतीकात्मक हैं। कुरान में नरक के विषय में ऐसा आया है—"अति दुष्टों को युगों तक पीड़ा देने के लिए नरक एक इनाम है। उन्हें वहाँ शीतलता एवं जल नहीं मिलेगा, केवल खौलता हुआ पानी एवं पीव पीने को मिलेगा।" (देखिए सैक्रेड बुक ऑव दि ईस्ट, जिल्द ९, पृ० ३१७)। कुरान के सात स्वर्गीय भागों के लिए देखिए वही, जिल्द ६, पृ० १६५; अन्य बातों के लिए देखिए वही, जिल्द १४, पृ० ३१७, एवं पृ० ३४०, जहाँ क्रम से नरक की अग्नि-यातनाओं तथा खौलते जल, पीव एवं अग्नि का वर्णन है। कुरान में स्वर्ग के सात भाग कहे गये हैं, यथा—अमरत्व का उपवन, शान्ति-निवास, आराम का निवास, इडेन का उपवन, आश्रय का उपवन, आनन्द का उपवन, अत्युच्च उपवन या स्वर्ग का उपवन।

स्मृतियों ने सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि यदि पापी ने प्रायश्चित्त नहीं किया तो उसे नरक की यातनाएँ भुगतनी पड़ेंगी और इसके उपरान्त पापों के अवशिष्ट चिह्न-स्वरूप उसे कीट-पतंगों या निम्न कोटि के जीव या वृक्ष

२४. न दृष्टपूर्वप्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः। आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता।। शान्तिपर्व (२८।४२))।

२५. मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः। नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तमाः।। ब्रह्मपुराण (२२।२४); विष्णुपुराण (२।६।४६)—मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखादिलक्षणः। ब्रह्मपुराण (२२।४७)।

के रूप में पुनः जन्म लेना पड़ेगा और मनुष्य रूप में जन्म लेने पर उसे रोगों एवं कुलक्षणों से युक्त होना पड़ेगा।[२६] अन्तिम दो फल **कर्म-विपाक** के अन्तर्गत रखे गये हैं। कर्मविपाक का अर्थ है दुष्कर्मों का फलवान् होना। शातातप (१।१-५) ने दृढतापूर्वक कहा है कि महापातकी यदि प्रायश्चित्त नहीं करते हैं तो वे नरकोपभोग के उपरान्त शरीर पर कुछ निन्द्य चिह्न लेकर जन्म-ग्रहण करते हैं। इस प्रकार लक्षणों से युक्त होकर महापातकी सात बार, उपपातकी पाँच बार एवं पापी तीन बार जन्म लेते हैं। पापों के कतिपय चिह्न पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त से दूर हो सकते हैं। इसी प्रकार वैदिक मन्त्रों के जप, देव-पूजा, होम एवं दान द्वारा दुष्कृत्यों से उत्पन्न रोग दूर हो सकते हैं। शातातप (१।६-१०) ने पापों से उत्पन्न होनेवाले रोगों के नाम दिये हैं, यथा—कुष्ठ, क्षय, शुक्रदोष (सूजाक), संग्रहणी, वृक्ककष्ट, मूत्राशय में पथरी पड़ना, खाँसी का रोग, भगन्दर आदि। व्यक्ति तीन प्रकार से पाप कर सकता है; शरीर से, वाणी से एवं मन से (मनु १२।३)। वास्तव में मन से ही सारी क्रियाएँ प्रकट होती हैं (मनु १२।४), किन्तु सुविधा के लिए ही ये तीन प्रकार व्यक्त किये गये हैं। बेईमानी (छल-कपट) से दूसरे के धन को हड़प लेने की क्षुद्र लालसा रखना, दूसरे का अमंगल हो ऐसी इच्छा रखना और असत्य विचारों को मानते जाना (यथा आत्मा नहीं है, शरीर ही आत्मा है आदि)—ये तीन **मानस पाप** हैं (मनु १२।५)। कठोर या परुष वचन, असत्य, पैशुन्य (चुगलखोरी) एवं असंगत वाचालता—ये चार **वाचिक पाप** हैं (मनु १२।६)। बिना सहमति के किसी की सम्पत्ति हथिया लेना, शास्त्र-वचनों के विपरीत चेतन प्राणियों की हिंसा एवं दूसरे की पत्नी से संभोग—ये तीन **शारीरिक पाप** हैं (मनु १२।७)। मनु का कथन है कि शारीरिक पापों से पापी मनुष्य स्थावर योनि (वृक्ष आदि) में जाता है, वाणी द्वारा किये गये पापों से व्यक्ति पशु-पक्षियों के रूप में जन्म लेता है तथा मानस पापों से चाण्डाल आदि निम्न कोटि की जातियों में जन्म पाता है। हारीत ने नरक में ले जानेवाले १८ दुष्कृत्यों के नाम गिनाये हैं, जिनमें छः **मानस** हैं, चार **वाचिक** हैं और शेष **कायिक** हैं।[२७]

नरक-यातनाओं के उपभोग के उपरान्त किन-किन पशुओं, वृक्षों, लता-गुल्मों आदि में जन्म लेना पड़ता है, इसके विषय में देखिए मनु (१२।५४-५९ एवं ६२-६८), याज्ञ० (३।१३१, १३५-१३६, २०७-२०८ एवं २१३-२१५), विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ४४) एवं अत्रि (४।५।१४ एवं १७-४४, गद्य में)। याज्ञवल्क्य-स्मृति की बातें संक्षेप में हैं अतः हम उन्हें ही यहाँ लिख रहे हैं—संसार में आत्मा सैकड़ों शरीर धारण करता है, यथा—मानस, वाचिक एवं कायिक दुष्कृत्यों के कारण किसी निम्न जाति में, पक्षियों में तथा वृक्ष आदि किसी स्थावर वस्तु के रूप में (याज्ञ०

२६. **प्रायश्चित्तविहीनानां महापातकिनां नृणाम्। नरकान्ते भवेज्जन्म चिह्नाङ्कितशरीरिणाम्।। प्रतिजन्म भवेत्तेषां चिह्नं तत्पापसूचकम्। प्रायश्चित्ते कृते याति पश्चात्तापवतां पुनः।। महापातकजं चिह्नं सप्तजन्मसु जायते। उपपापोद्भवं पञ्च त्रीणि पापसमुद्भवम्।। दुष्कर्मजा नृणां रोगा यान्ति चोपक्रमैः शमम्। जाप्यैः सुरार्चनैर्होमैर्दानैस्तेषां शमो भवेत्।। शातातप (१।१-४)। प्राय० वि० (पृ० १०६) में आया है—"पूर्वजन्मकृतयोः सुवर्णापहारसुरापान-पापयोर्नरकोपभोगक्षीणयोरपि 'सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्' (मनु ११।४९) इत्यनुमितयोः किंचित्साव-शिष्टत्वादल्पप्रायश्चित्तमाह वसिष्ठः" (२०।६)।**

२७. **सर्वाभक्ष्यभक्षणमभोज्यभोजनमपेयपानमगम्यागमनमयाज्ययाजनमसत्प्रतिग्रहणं परदाराभिगमनं द्रव्यापहरणं प्राणिहिंसा चेति शारीराणि। पारुष्यमनृतं विवादः श्रुतिविक्रयश्चेति वाचिकानि। परोपतापनं पराभिद्रोहः क्रोधो लोभो मोहोऽहंकारश्चेति मानसानि। तदेतान्यष्टादश नैरयाणि कर्माणि...। हारीत (पराशरमाधवीय २, भाग २, पृ० २१२-२१३)।**

३।१३१) व्यक्ति जन्म लेता है; असत्यभाषी, पिशुन, परुषभाषी एवं असंगत वाचाल पक्षी या पशु के रूप में जन्म लेता है (वही ३।१३५); पर-द्रव्यग्रहण, पर-दाराभिगमन एवं शास्त्रविरुद्ध प्राणि-हिंसा से व्यक्ति अचल योनि (वृक्ष आदि) के रूप में प्रकट होता है; ब्रह्मघातक पशु (हिरन आदि), कुत्ता, सूकर य ऊँट के रूप में जन्म-ग्रहण करता है; सुरा-पान करनेवाला गदहा, **पुल्कस** (निषाद पुरुष एवं शूद्रा स्त्री से उत्पन्न) या **वेण** (वैदेहक द्वारा अम्बष्ठ स्त्री से उत्पन्न) होता है; सोना चुरानेवाला कीड़ा (चींटी आदि), पतंग के रूप में तथा माता, पुत्री, बहिन आदि से व्यभिचार करनेवाला घास, झाड़-झंखाड़, लता-गुल्मों के रूप में प्रकट होता है (वही, ३।२०७-२०८)। पापियों द्वारा ग्रहण की जानेवाली विभिन्न पशुयोनियों का वर्णन ब्रह्मपुराण (२१७।३७-११०) में पाया जाता है। और देखिए गरुड-पुराण (प्रेतखण्ड, २।६०-८८) एवं अग्निपुराण (३७१।३०-३२)।

प्राचीन काल में ऐसा विश्वास था कि पापों के कारण ही रोग उत्पन्न होते हैं। ऐसी धारणा केवल भारत में ही नहीं थी; सेण्ट जान के गास्पेल (९।१-३) में ऐसा लिखा है कि जब एक जन्मान्ध व्यक्ति ईसा मसीह के पास पहुँचा तो उसके शिष्यों ने उससे पूछा—'किसने पाप किया, इसने या इसके माता-पिता ने, जिसके कारण यह जन्मान्ध हुआ ?' ईसा मसीह ने यह धारणा काट दी और अपने चमत्कार से उस जन्मान्ध को आँखें दे दीं। अथर्ववेद (८।७।३) में ऐसा आया है कि पाप से उत्पन्न रोगों द्वारा ग्रस्त व्यक्ति के शरीर के प्रत्येक अंग के रोग लता-गुल्मों द्वारा काट दिये गये। मनु (९।४९-५२), वसिष्ठ (२०।४४), याज्ञ० (३।२०९-२११), विष्णु (अ० ४५), शातातप (१।३-११ एवं २।१, ३०, ३२ तथा ४७), गौतम (अ० २०, पद्य), गौतम (गद्य, मिता०, याज्ञ० ३।२१६), वृद्ध गौतम (स्मृतिमुक्ताफल, पृ० ८६१), यम (प्राय० मयूख, पृ० ९), शंख (मिता०, याज्ञ० ३।२१६), स्मृत्यर्थसार (पृ० ९९-१००) ने उन रोगों एवं शारीरिक दोषों का वर्णन किया है, जिनसे पापी मनुष्यरूप में जन्म पाने पर ग्रसित होते हैं। चरकसंहिता जैसे वैद्यक ग्रन्थों ने भी ऐसा विश्वास प्रकट किया है कि रोग पूर्वजन्म में किये गये दुष्कर्मों के फल मात्र हैं (देखिए सूत्रस्थान, अध्याय १।११६)।

रोगों अथवा शारीरिक दोषों के, जिनसे विभिन्न कोटियों के पापी ग्रसित होते हैं, विषय में स्मृतियों में पूर्ण मतैक्य नहीं है, यथा जहाँ वसिष्ठ (२४।४४) एवं शंख (मिताक्षरा, याज्ञ० ३।२१६) के मत से ब्रह्मघातक कोढ़ी होता है, वहीं मनु (९।४९), याज्ञ० (३।२०९), विष्णु० (४५।३), अग्नि० (३७१।३२) ने उसे क्षयरोग से पीड़ित होने-वाला कहा है। शंख, हारीत, गौतम, यम एवं पुराणों (मिताक्षरा ३।२१६; परा० मा० २, भाग २, पृ० २३०-२४०, २४२-२७२; मद० पारि०, पृ० ७०१-७०२, महार्णव-कर्मविपाक) ने निम्न कोटि के जीवों की योनियों एवं रोगों तथा विकलांगों के विषय में लम्बी-लम्बी सूचियाँ दी हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं।

यद्यपि **कर्म** शब्द सामान्यतः सत् और असत् चेष्टाओं का द्योतक है तथापि प्रायश्चित्तों के विषय में यह शब्द मन में दुष्कर्मों की भावना ही उपस्थित करता है। अतः **कर्म-विपाक** शब्द का अर्थ दुष्कृत्यों या पापों के फलवान् होने का ही द्योतक है। योगसूत्र (२।१३) के अनुसार कर्मविपाक के तीन स्वरूप हैं; **जाति** (कीट-पतंगों या पशुओं आदि की योनि), **आयु** (जीवन अर्थात् पाँच या दस वर्षों का जीवन) एवं **भोग** (नरकयातनाओं आदि का अनुभव)। **कर्म-विपाक** शब्द याज्ञ० (३।१३१ 'विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते') में आया है और पुराणों में तो इसका बहुत प्रयोग हुआ है (ब्रह्मपुराण २२४।४१, २२५।४३ एवं ५९; मत्स्य० १२५।१४ आदि)। प्रायश्चित्तसार (पृ० २१९-२३१) में कर्मविपाक-संबंधी विवेचन सम्भवतः सबसे लम्बा है। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन को कर्मविपाक का सिद्धान्त भली भाँति ज्ञात था, क्योंकि उन्होंने अपनी **रत्नावली** में इसकी ओर निर्देश किया है। और देखिए बौद्ध ग्रंथ अवदानशतक, सुत्तनिपात। मध्यकाल के ग्रंथों (यथा हारीतसंहिता) में भी कर्मविपाक के विषय में लम्बे उल्लेख हैं।

विवागसुयम् (विपाकश्रुतम्), जो जैनागम का ग्यारहवाँ अंग है, बहुत-सी ऐसी गाथाएँ कहता है जिनमें दुष्कृत्यों के कर्मफल घोषित हैं। इस ग्रंथ में सत्कर्मों के फलों का निरूपण भी हुआ है।

मनु (१२।३, ९ एवं ५४) एवं याज्ञ० (३।२०६) के कथनों पर आधारित सिद्धान्त से प्रकट होता है कि केवल मानवों को ही (बाघ आदि निम्न कोटि के पशुओं को नहीं) अपने कर्मों के फल से स्वर्ग एवं नरक भोगने पड़ते हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने इस विषय में स्पष्ट बातें कही हैं (२।१०२।४-६; परा० मा० २, भाग २, पृ० २०८-२०९; प्राय० सार० पृ० २१५)।

मिता० (याज्ञ० ३।२१६), स्मृत्यर्थसार, परा० मा०, प्राय० सार आदि का कथन है कि **कर्म-विपाक**-सम्बन्धी निरूपण मात्र **अर्थवाद** है, इसे यथाश्रुत शब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि पापी लोग **प्राजापत्य** जैसे प्रायश्चित्तों को कर सकें, क्योंकि ऐसे कठिन प्रायश्चित्तों में महान् कष्ट होता है और लोग इच्छा-पूर्वक उन्हें करने में हिचकते हैं।

कर्मविपाक-सम्बन्धी ग्रन्थों का उपदेश इतना ही है कि प्राणी को तब तक निराश होने की आवश्यकता नहीं है जब तक वह दुष्कृत्यों से उत्पन्न यातनाओं को सहने के लिए सन्नद्ध है और न उसे बहुत-सी योनियों में जन्म लेने के कारण उपस्थित परिस्थिति से भी भयाकुल होना चाहिए। क्योंकि अन्ततोगत्वा उसे अपनी लम्बी यात्रा एवं विकास के फलस्वरूप अपना वास्तविक महत्त्व प्राप्त हो ही जायगा और वह अमर शान्ति एवं पूर्णत्व को प्राप्त कर लेगा।

मनु (१२।६९), विष्णु (४४।४५) एवं गरुड़पुराण (२।२।८९) का कथन है कि वे स्त्रियाँ, जो चोरी करने के कारण पापी ठहरायी गयी हैं, आनेवाले जन्मों में चोरों की पत्नियाँ होती हैं।

वामनपुराण का अध्याय १२ **कर्मविपाक** है और मार्कण्डेयपुराण ने अपने पन्द्रहवें अध्याय में इसी विषय का निरूपण किया है। वराहपुराण (२०३।२१) ने असंख्य वर्षों तक नरक-यातनाएँ भोगने के विषय में सविस्तर लिखा है ओर यह प्रकट किया है कि किस प्रकार पापी अपने दुष्कृत्यों को दूर कर मानव-रूप धारण करते हैं और भाँति-भाँति के रोगों एवं शारीरिक दोषों से ग्रसित होते हैं।

मान्धाता के 'महार्णव-कर्मविपाक' नामक ग्रंथ में आया है कि दुष्कृत्यों के फलों के शमन के दो साधन हैं; **कृच्छ्र** (प्रायश्चित) एवं रोगों के प्रति **विपर्यय** (व्याधि-विपर्यय अर्थात् उनके विरोध में उचित उपाय)। व्याधि-विपर्यय के लिए किसी वेदिका के मण्डप में सूर्य एवं रोगदेव की सुवर्ण-प्रतिमाओं की पूजा की जाती है। इस ग्रंथ में लिखा है कि आश्वलायन एवं तैत्तिरीय शाखा के अनुसार घोषा-शान्ति के लिए वैदिक मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ किया जाता है; वैदिक मन्त्रों के साथ सूर्यपूजा, नक्षत्र-पूजा, आहुति-दान, रुद्रैकादशिनी, महारुद्र (११, १२) और अतिरुद्र के कृत्य सम्पादित होते हैं और विष्णु के सहस्र नामों का पाठ किया जाता है, विनायकशान्ति (याज्ञ० १।२७१-२९४) एवं नवग्रह-यज्ञ किये जाते हैं। इस ग्रंथ में यह भी व्यवस्थित किया गया है कि किन-किन दानों से कौन-कौन रोग नष्ट किये जा सकते हैं, यथा **कदलीदान** (एक पल सोने से कदली का पौधा बनाकर दान करना)। इस ग्रंथ में सभी असाध्य रोगों की प्रतिमाओं के दान का वर्णन है (शातातप २।४७-४८ को राजयक्ष्मा नष्ट करने के विषय में उद्धृत किया गया है)। इस ग्रंथ में ज्वरों, अन्य रोगों एवं हरी या बिल्ली के समान आँखों, बहरापन आदि शारीरिक दोषों का सविस्तर वर्णन है। स्थानाभाव से हम इस ग्रंथ में दी गयी बातों का वर्णन नहीं करेंगे और ऐसा करना आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि आजकल या तो लोग इनमें विश्वास नहीं रखते या इनका सम्पादन बहुत कम होता है।

अध्याय ७

अन्त्येष्टि

मृत्यु के उपरान्त मानव का क्या होता है? यह एक ऐसा प्रश्न है जो आदिकाल से ज्यों-का-त्यों चला आया है; यह एक ऐसा रहस्य है जिसका भेदन आज तक सम्भव नहीं हो सका है। आदिकालीन भारतीयों, मिस्रियों, चाल्डियनों, यूनानियों एवं पारसियों के समक्ष यह प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा एवं समस्या के रूप में विद्यमान रहा है। मानव के भविष्य, इस पृथिवी के उपरान्त उसके स्वरूप एवं इस विश्व के अन्त के विषय में भाँति-भाँति के मत प्रकाशित किये जाते रहे हैं जो महत्त्वपूर्ण एवं मनोरम हैं। प्रत्येक धर्म में इसके विषय में पृथक् दृष्टिकोण रहा है। इस प्रश्न एवं रहस्य को लेकर एक नयी विद्या का निर्माण भी हो चुका है, जिसे अंग्रेजी में 'Eschatology' (इश्चैटॉलॉजी) कहते हैं। यह शब्द यूनानी शब्दों—इश्चैटॉस (Eschatos=Last) एवं लोगिया (Logia=Discourse) से बना है, जिसका तात्पर्य है अन्तिम बातों, यथा—मृत्यु, न्याय (Judgment) एवं मृत्यु के उपरान्त की अवस्था से संबंध रखनेवाला विज्ञान। इसके दो स्वरूप हैं, जिनमें एक का संबंध है मृत्यु के उपरान्त व्यक्ति की नियति, आत्मा की अमरता, पाप एवं दण्ड तथा स्वर्ग एवं नरक के विषय की चर्चा से, और दूसरे का सम्बन्ध है अखिल ब्रह्माण्ड, उसकी सष्टि, परिणति एवं उद्धार तथा सभी वस्तुओं के परम अन्त के विषय की चर्चा से। हम इस ग्रंथ के इस प्रकरण में प्रथम स्वरूप का निरूपण करेंगे और दूसरे का विवेचन आगे के प्रकरण में। प्राचीन ग्रन्थों में प्रथम स्वरूप पर ही अधिक बल दिया गया है, किन्तु आजकल वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले लोग बहुधा दूसरे स्वरूप पर ही अधिक सोचते हैं।

सामान्यतः मृत्यु विलक्षण एवं भयावह समझी जाती है, यद्यपि कुछ दार्शनिक मनोवृत्ति वाले व्यक्ति इसे मंगलप्रद एवं शरीररूपी बन्दीगृह में बन्दी आत्मा की मुक्ति के रूप में ग्रहण करते रहे हैं। मृत्यु का भय बहुतों को होता है; किन्तु वह भय ऐसा नहीं है कि उस समय की अर्थात् मरण-काल के समय की सम्भावित पीड़ा से वे आक्रान्त होते हैं, प्रत्युत उनका भय उस रहस्य से है जो मृत्यु के उपरान्त की घटनाओं से सम्बन्धित है तथा उनका भय उन भावनाओं से है जिनका गंभीर निर्देश जीवनोपरान्त सम्भावित एवं अचिन्त्य परिणामों के उपभोग की ओर है। सी० ई० वुल्लियामी ने अपने ग्रन्थ 'इम्मार्टल मैन' (पृ० २) में कहा है—'यद्यपि (मृत्यूपरान्त या प्रेत) जीवन के संबंध में अत्यन्त कठोर एवं भयानक कल्पनाओं से लेकर अत्यन्त उच्च एवं सुन्दरतम कल्पनाएँ प्रकाशित की गयी हैं, तथापि तात्त्विक बात यही रही है कि शरीर मरता है न कि आत्मा।'[1] मृत्यु के विषय में आदिम काल से लेकर सभ्य अवस्था तक के

१. अंग्रेजी शब्द 'स्पिरिट' (Spirit) एवं भारतीय शब्द 'आत्मा' में धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से अर्थ-साम्य नहीं है। प्रथम शब्द जीवनोच्छ्वास का द्योतक है और दूसरे को भारतीय दर्शन में परमात्मा की अभिव्यक्ति का रूप दिया गया है। आत्मा अमर है, शरीर नाशवान्। गीता में, आया भी है—'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥' और भी—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः . . . . .।'

लोगों में भाँति-भाँति की धारणाएँ रही हैं। कठोपनिषद् (१।१।२०) में आया है—'जब मनुष्य मरता है तो एक सन्देह उत्पन्न होता है, कुछ लोगों के मत से मृत्यूपरान्त जीवात्मा की सत्ता रहती है, किन्तु कुछ लोग ऐसा नहीं मानते।' नचिकेता ने इस सन्देह को दूर करने के लिए यम से प्रार्थना की है। मृत्यूपरान्त जीवात्मा का अस्तित्व माननेवालों में कई प्रकार की धारणाएँ पायी जाती हैं।[2] कुछ लोगों का विश्वास है कि मृतों का एक लोक है, जहाँ मृत्यूपरान्त जो कुछ बच रहता है, वह जाता है। कुछ लोगों की धारणा है कि सुकृत्यों एवं दुष्कृत्यों के फलस्वरूप शरीर के अतिरिक्त प्राणी का विद्यमानांश क्रम से स्वर्ग एवं नरक में जाता है। कुछ लोग आवागमन एवं पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। देखिए यूनानी लेखक पिण्डार (द्वितीय आलिचिएन ओड), प्लेटो (पीड्रस एवं टिमीएस) एवं हेरोडोटस (२।१२३)।

ब्रह्मपुराण (२१४।३४-३९) ने ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जिन्हें मृत्यु सुखद एवं सरल प्रतीत होती है; न कि पीडाजनक एवं चिन्तायुक्त। वह कुछ यों हैं—'जो झूठ नहीं बोलता, जो मित्र या स्नेही के प्रति कृतघ्न नहीं है, जो आस्तिक है, जो देवपूजा-परायण है और ब्राह्मणों का सम्मान करता है तथा जो किसी से ईर्ष्या नहीं करता—वह सुखद मृत्यु पाता है।' इसी प्रकार अनुशासनपर्व (१०४।११-१२; १४४।४९-६०) ने विस्तार के साथ अकाल-मृत्यु एवं दीर्घ जीवन के कारणों का वर्णन किया है, वह कुछ यों है—'नास्तिक, यज्ञ न करनेवाले, गुरुओं एवं शास्त्रों की आज्ञा के उल्लंघनकर्ता, धर्म न जाननेवाले एवं दुष्कर्मी लोग अल्पायु होते हैं। जो चरित्रवान् नहीं हैं, जो सदाचार के नियम तोड़ा करते हैं और जो कई प्रकार से संभोग-क्रिया करते रहते हैं वे अल्पायु होते हैं और नरक में जाते हैं। जो क्रोध नहीं करते, जो सत्यवादी होते हैं, जो किसी की हिंसा नहीं करते, जो किसी की ईर्ष्या नहीं करते और जो कपटी नहीं होते वे शतायु होते हैं (१०४।११–१२ एवं १४)।

बहुत-से ग्रन्थ मृत्यु के आगमन के संकेतों का वर्णन करते हैं, यथा—शान्तिपर्व (३१८।९-१७), देवल (कल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृ० २४८-२५०), वायुपुराण (१९।१-३२), मार्कण्डेयपुराण (४३।१-३३ या ४०।१-३३), लिंगपुराण (पूर्वार्ध, अध्याय ९१) आदि पुराणों में मृत्यु के आगमन के संकेतों या चिह्नों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ मिलती हैं। स्थानाभाव से अधिक नहीं लिखा जा सकता, किन्तु उदाहरणार्थ कुछ बातें दी जा रही हैं। शान्तिपर्व (अध्याय ३१८) के अनुसार जो अरुन्धती, ध्रुव तारा एवं पूर्ण चन्द्र तथा दूसरे की आँखों में अपनी छाया नहीं देख सकते, उनका जीवन बस एक वर्ष का होता है; जो चन्द्रमण्डल में छिद्र देखते हैं वे केवल छः मास के शेष जीवनवाले होते हैं; जो सूर्यमण्डल में छिद्र देखते हैं या पास की सुगंधित वस्तुओं में शव की गन्ध पाते हैं उनके जीवन के केवल सात दिन बचे रहते हैं। आसन्न-मृत्यु के लक्षण ये हैं—कानों एवं नाक का झुक जाना, आँखों एवं दाँतों का रंग-परिवर्तन हो जाना, संज्ञाशून्यता, शरीरोष्णता का अभाव, कपाल से धूम निकलना एवं अचानक बायीं आँख से पानी गिरना। देवल ने १२, ११ या १० मास से लेकर एक मास, १५ दिन या २ दिनों तक की मृत्यु के लक्षणों का वर्णन किया है और कहा है कि जब अँगुलियों से बन्द करने पर कानों में स्वर की धमक नहीं ज्ञात होती या आँख में प्रकाश नहीं दीखता तो समझना चाहिए कि मृत्यु आने ही वाली है। अन्तिम दो लक्षणों को वायुपुराण (१९।२८) एवं लिंगपुराण (पूर्वार्ध, ९१।२४) ने सबसे बुरा माना है।[3] 'मुंशी हीरक जयन्ती ग्रन्थ' (पृ० २४६-२६८) में डा० आर० जी० हर्षे ने कई

२. देखिए सी० ई० वुल्लियामी (C. E. Vull'amy) का इम्मार्टल मैन (Immortol Man), पृ० ११।

३. द्वे चात्र परमेऽरिष्टे एतद्रूपं परं भवेत्। घोषं न शृणुयात्कर्णे ज्योतिर्नेत्रे न पश्यति॥ वायुपुराण (१९।२७); नग्नं वा श्रमणं दृष्ट्वा विद्यान्मृत्युमुपस्थितम्। लिंगपुराण (पूर्वभाग ९१।१९)।

ग्रन्थों के आधार पर लिखा है कि जब व्यक्ति स्वप्न में गदहा देखता है तो उसका मरण निश्चित-सा है, जब वह स्वप्न में बूढ़ी कुमारी स्त्री देखता है तो भय, रोग एवं मृत्यु का लक्षण समझना चाहिए (पृ० २५१) या जब त्रिशूल देखता है तो मृत्यु परिलक्षित होती है।

भारत के अधिकांश भागों में ऐसी प्रथा है कि जब व्यक्ति मरणासन्न रहता है या जब वह अब-तब रहता है तो लोग उसे खाट से उतारकर पृथिवी पर लिटा देते हैं। यह प्रथा यूरोप में भी है (देखिए प्रो० एडगर्टन का लेख; 'दी आवर आव डेथ', एनल्स आव दी भण्डारकर ओ० आर० इंस्टीट्यूट, जिल्द ८, पृ० २१९-२४९)। कौशिकसूत्र (८०।३) में आया है; जब व्यक्ति शक्तिहीन होता जाता है अर्थात् मरने लगता है तो (पुत्र या सेवा करनेवाला कोई सम्बन्धी) शाला में उगी हुई घास पर कुश बिछा देता है और उसे 'स्योनास्मै भव' मन्त्र के साथ (बिस्तर या खाट से) उठाकर उस पर रख देता है। बौधायनपितृमेधसूत्र (३।१।१८) के मत से जब यजमान के मरने का भय हो जाय तो यज्ञशाला में पृथिवी पर बालू बिछा देनी चाहिए और उस पर दर्भ फैला देने चाहिए, जिनकी नोक दक्षिण की ओर होती है, मरणासन्न के दायें कान में 'आयुषः प्राणं सन्तनु' से आरम्भ होनेवाले अनुवाक का पाठ (पुत्र या किसी अन्य सम्बन्धी द्वारा) होना चाहिए। और देखिए गोभिलस्मृति (३।२२), पितृदयिता आदि।[४]

शुद्धिप्रकाश (पृ० १५१-१५२) में आया है कि जब कोई व्यक्ति मृतप्राय हो, उसकी आँखें आधी बन्द हो गयी हों और वह खाट से नीचे उतार दिया गया हो तो उसके पुत्र या किसी सम्बन्धी को चाहिए कि वह उससे निम्न प्रकार का कोई एक या सभी प्रकार के दस दान कराये—गौ, भूमि, तिल, सोना, घृत, वस्त्र, धान्य, गुड़, रजत (चाँदी) एवं नमक।[५] ये दान गयाश्राद्ध या सैकड़ों अश्वमेधों से बढ़कर हैं। संकल्प इस प्रकार का होता है—'अभ्युदय (स्वर्ग) की प्राप्ति या पापमोचन के लिए मैं दस दान करूँगा।' दस दानों के उपरान्त **उत्क्रान्ति-धेनु** (मृत्यु को ध्यान में रखकर बछड़े के साथ गौ) दी जाती है, और इसके उपरान्त **वैतरणी** गौ का दान किया जाता है।[६] अन्त्येष्टिपद्धति एवं शुद्धिप्रकाश

४. दुर्बलीभवन्तं शालातृणेषु दर्भानास्तीर्य स्योनास्मै भवेत्यवरोहयति। मन्त्रोक्तावनुमन्त्रयते। यत्ते कृष्णे-स्यवदीपयति। कौशिक० (८०।३-५)। 'स्योनास्मै' मन्त्र के लिए देखिए अथर्ववेद (१८-२-१९), ऋग्वेद (१।२२।१५) एवं वाज० सं० (३६।१३), देखिए निरुक्त (९।३२)। पितृदयिता (पृ० ७४) में आया है—'यदा कण्ठस्थानगत-जीवो विह्वलो देही भवति तदा बहिर्गोमयेनोपलिप्तायां भूमौ कुशान्दक्षिणाग्रानास्तीर्य तदुपरि दक्षिणशिरसं स्थाप-यित्वा सुवर्णरजतगोभूमिदीपतिलपात्राणि दापयेत्।' गोभिलस्मृति (३।२२)—'दुर्बलं स्नापयित्वा तु शुद्धचैलाभि-संवृतम्। दक्षिणाशिरसं भूमौ बर्हिष्मत्यां निवेशयेत्॥'

५. दानानि च जातूकर्ण्य आह। उत्क्रान्तिवैतरण्यौ च दश दानानि चैव हि। प्रेतेऽपि कृत्वा तं प्रेतं शवधर्मेण दाहयेत्।....दश दानानि च तेनैवोक्तानि। गोभूतिलहिरण्याज्यवासोधान्यगुडानि च। रूप्यं लवणमित्याहुर्दश दानान्यनुक्रमात्॥ शुद्धिप्रकाश (पृ० १५२)। और देखिए गरुडपुराण (प्रेतखण्ड, ४।४); एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द १९, पृ० २३०)।

६. आसन्नमृत्युना देया गौः सवत्सा तु पूर्ववत्। तदभावे तु गौरेव नरकोत्तरणाय च॥ तदा यदि न शक्नोति दातुं वैतरणीं तु गाम। शक्तोऽन्योऽरुक् तदा दत्त्वा दद्याच्छ्रेयो मृतस्य च॥ व्यास (शुद्धितत्त्व, पृ० ३००; शुद्धिप्रकाश पृ० १५३; अन्त्यकर्मदीपक (पृ० ७)। गरुडपुराण (प्रेतखण्ड, ४।६) में आया है—'नदीं वैतरणीं तर्तुं दद्याद्वैतरणीं च गाम्। कृष्णस्तनी सकृष्णाङ्गी सा वै वैतरणी स्मृता॥' ऐसा आया है कि यम के द्वार पर वैतरणी नाम की नदी है जो रक्त एवं पैने अस्त्रों से परिपूर्ण है; जो लोग मरते समय गोदान करते हैं वे उस नदी को गाय की पूँछ पकड़कर

(पृ० १५२-१५३) में उन मन्त्रों का (जो वैदिक नहीं हैं) उल्लेख है जो दानों के समय कहे जाते हैं। **अन्त्येष्टिपद्धति**, अन्त्यकर्मदीपक आदि ने व्यवस्था दी है कि जब व्यक्ति आसन्नमृत्यु हो, तो उसके पुत्र या सम्बन्धियों को चाहिए कि वे उससे **व्रतोद्यापन**, **सर्वप्रायश्चित्त** एवं दस दानों के कृत्य करायें, किन्तु यदि मरणासन्न इन कृत्यों को स्वयं करने में अशक्त हो तो पुत्र या सम्बन्धी को उसके लिए ऐसा स्वयं कर देना चाहिए। जब व्यक्ति संकल्पित व्रत नहीं कर पाता तो मरते समय वह **व्रतोद्यापन** कृत्य करता है। देखिए अन्त्यकर्मदीपक (पृ० ३-४)। संक्षेप में **व्रतोद्यापन** यों है—पुत्र या सम्बन्धी मरणासन्न व्यक्ति को स्नान द्वारा या पवित्र जल से मार्जन करके या गंगा-जल पिलाकर पवित्र करता है, स्वयं स्नान-सन्ध्या से पवित्र हो लेता है, दीप जलाता है, गणेश एवं विष्णु की पूजा-वन्दना करता है, पूजा की सामग्री रखकर संकल्प करता है,[७] निमन्त्रित ब्राह्मण को सम्मानित करता है और पहले से संकल्पित सोना उसे देता है और ब्राह्मण घोषित करता है—"सभी व्रत पूर्ण हों। **उद्यापन** (व्रत-पूर्ति) के फल की प्राप्ति हो।" **सर्वप्रायश्चित्त** में पुत्र चार या तीन विद्वान् ब्राह्मणों या एक आत्मज्ञानी ब्राह्मण को ६, ३ या १॥ वर्ष वाले प्रायश्चित्तों के निष्क्रय रूप में सोना आदि का दान देता है और इसकी घोषणा करता है और वह आशौच के उपरान्त प्रायश्चित्त करता है। मरणासन्न व्यक्ति को या पुत्र या सम्बन्धी को सर्वप्रायश्चित्त करना पड़ता है। वह क्षौरकर्म करके स्नान करता है, पंचगव्य पीता है, चन्दन-लेप एवं अन्य पदार्थों से एक ब्राह्मण को सम्मानित करता है, गोपूजा करके या उसके स्थान पर दिये जानेवाले धन की पूजा करके संचित पापों की ओर संकेत करता है और बछड़ा सहित एक गौ का दान या उसके स्थान पर धन का दान करता है।[८] सर्वप्रायश्चित्त के उपरान्त दश-दान होते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। गरुड़पुराण (२।४।७-९) ने **महादान** संज्ञक अन्य दानों की व्यवस्था दी है, यथा—तिल, लोहा, सोना, रूई, नमक, सात प्रकार के अन्न, भूमि, गौ; कुछ अन्य दान भी हैं, यथा—छाता, चन्दन, अँगूठी, जलपात्र, आसन, भोजन, जिन्हें **पददान** कहा जाता है। गरुड़-पुराण (२।४।३७) के मत से यदि मरणासन्न व्यक्ति **आतुर-संन्यास** के नियमों के अनुसार संन्यास ग्रहण कर लेता है तो वह आवागमन (जन्म-मरण) से छुटकारा पा जाता है।

आदि काल से ही ऐसा विश्वास रहा है कि मरते समय व्यक्ति जो विचार रखता है, उसी के अनुसार दैहिक

पार कर जाते हैं। और देखिए स्कन्दपुराण (६।२२६।३२-३३) जहाँ वैतरणी की चर्चा है; 'मृत्युकाले प्रयच्छन्ति ये धेनुं ब्राह्मणाय वै। तस्याः पुच्छं समाश्रित्य ते तरन्ति च तां नृप॥'

७. संकल्प यह है—'अत्र पृथिव्यां जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्तैकदेशे विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे....अमुकतिथौ अमुकगोत्रः....अमुकशर्माहं ममात्मनः (मम पित्रादेः) व्रतग्रहणदिवसादारभ्य अद्य यावत्फलाभिलाषादिगृहीतानां निष्कामतया गृहीतानां च अमुकामुकव्रतानामकृतोद्यापनदोषपरिहारार्थं श्रुतिस्मृति-पुराणोक्ततत्तद्व्रतजन्यसांगफलप्राप्त्यर्थं विष्ण्वादीनां तत्तद्देवानां प्रीतये इदं सुवर्णमग्निदैवतम् (तदभावे इदं रजतं चन्द्रदैवतम्) अमुकगोत्रायामुकशर्मणे ब्राह्मणाय दास्ये ओं तत्सत् न मम इति संकल्प्य....आदि-आदि (अन्त्यकर्म-दीपक, पृ० ४)।

८. देशकालौ संकीर्त्य मम (मत्पित्रादेर्वा) ज्ञाताज्ञातकामाकामसकृदसकृत्कायिकवाचिकमानसिकसां-सर्गिक—स्पृष्टास्पृष्ट—भुक्ताभुक्त—पीतापीतसकलपातकानुपातकोपपातकलघुपातकसंकरीकरणमलिनीकरणापात्री-करणजातिभ्रंशकरप्रकीर्णकादिनानाविधपातकानां निरासेन देहावसानकाले देहशुद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थमिमां सर्वप्रायश्चित्तप्रत्याम्नायभूतां यथाशक्त्यलंकृतां सवत्सां गां रुद्रदेवताममुकगोत्रायामुकशर्मणे ब्राह्मणाय तुभ्यमहं संप्रददे ओं तत्सत् न मम। अ० क० दी० (पृ० ५)।

जीवन के उपरान्त उसका जीवात्मा आक्रान्त होता है (अन्ते या मतिः सा गतिः), अतः मृत्यु के समय व्यक्ति को सांसारिक मोह-माया छोड़कर हरि या शिव का स्मरण करना चाहिए और मन ही मन 'ओं नमो वासुदेवाय' का जप करना चाहिए।[९] बहुत से वचनों के अनुसार उसे वैदिक पाठ सुनाना चाहिए। देखिए गौतम-पितृमेधसूत्र (१।१-८)।

हिरण्यकेशिपितृमेधसूत्र (१।१) के मत से आहिताग्नि के मरते समय पुत्र या सम्बन्धी को उसके कान में (जब वह ब्रह्मज्ञानी हो) तैत्तिरीयोपनिषद् के दो अनुवाक (२।१ एवं ३।१) कहने चाहिए। अन्त्यकर्मदीपक (पृ० १८) का कथन है कि जब मरणासन्न व्यक्ति जप न कर सके तो उसे विष्णु या शिव का रमणीय रूप मन में धारण कर विष्णु या शिव के सहस्र नाम सुनने चाहिए और भगवद्गीता, भागवत, रामायण, ईशावास्य आदि उपनिषदों एवं सामवेदीय मन्त्रों का पाठ सुनना चाहिए।[१०]

उपनिषदों में भी मरणासन्न व्यक्ति की भावनाओं के विषय में संकेत मिलते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (शाण्डिल्य-विद्या, ३।१४।१) में आया है—'सभी ब्रह्म है। व्यक्ति को आदि, अन्त एवं इसी में स्थिति के रूप में इसका (ब्रह्म का) ध्यान करना चाहिए। इसी की इच्छा की सृष्टि मनुष्य है। इस विश्व में उसकी जो इच्छा (या भावना) होगी, उसी के अनुसार वह इहलोक से जाने के उपरान्त होगा।'[११] इसी प्रकार की भावना प्रश्नोपनिषद् (३।१०) में भी पायी जाती है। वहाँ ऐसा आया है कि विचार-शक्ति आत्मा को उच्चतर उठाती जाती है जिससे मनुष्य-मन को ऐसा परिज्ञान होना चाहिए कि अखिल ब्रह्माण्ड में जितने भौतिक पदार्थ या अभिव्यक्तियाँ हैं वे सब एक हैं और उनमें एक ही विभु रूप समाया हुआ है। भगवद्गीता ने यही भावना और अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त की है—'वह व्यक्ति, जो अन्तकाल में मुझे स्मरण करता हुआ इस जीवन से बिदा होता है, वह मेरे पास आता है, इसमें संशय नहीं है' (८।५)। किन्तु एक बात स्मरणीय यह है कि अन्तकाल में ही केवल भगवान् का स्मरण करने से कुछ न होगा; जब जीवन भर आत्मा ऐसी भावना से अभिभूत रहता है तभी भगवत्प्राप्ति होती है। ऐसा कहा गया है—'व्यक्ति मृत्यु के समय जो भी रूप (या वस्तु) सोचता है, उसी को वह प्राप्त होता है, और यह तभी सम्भव है जब कि वह जीवन भर ऐसा करता आया हो (भग० ८।६)।

पुराणों के आधार पर कुछ निबन्धों का ऐसा कथन है कि अन्तकाल उपस्थित होने पर व्यक्ति को, यदि सम्भव हो तो, किसी तीर्थ-स्थान (यथा गंगा) में ले जाना चाहिए। शुद्धितत्त्व (पृ० २९९) ने कूर्मपुराण को उद्धृत किया है—'गंगा के जल में, वाराणसी के स्थल या जल में, गंगासागर में या उसकी भूमि, जल या अन्तरिक्ष में मरने से

९. देखिए भगवद्गीता (८।५-६) एवं पद्मपुराण (५।४७।२६२)—'मरणे या मतिः पुंसां गतिर्भवति तादृशी।'

१०. जपेऽसमर्थश्चेद् हृदये चतुर्भुजं शंखचक्रगदापद्मधरं पीताम्बरकिरीटकेयूरकौस्तुभवनमालाधरं रमणीयरूपं विष्णुं त्रिशूलडमरुधरं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं गंगाधरं शिवं वा भावयन् सहस्रनामगीताभागवतभारतरामायणेशावास्याद्युपनिषदः पावमानादीनि सूक्तानि च यथासम्भवं शृणुयात्। अ० क० दी० (पृ० १८)। विष्णुसहस्रनाम के लिए देखिए अनुशासनपर्व (१४९।१४-१२०); शिव के १००८ नामों के लिए देखिए वही (१७।३१-१५३); और शिव-सहस्रनाम के लिए देखिए शान्तिपर्व भी (२८५।७४)।

११. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत। छा० उप (३।१४।१)। अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ भगवद्गीता (८।५-६) देखिए और शांकरभाष्य, वेदान्तसूत्र (१।२।१ एवं ४।१।१२)।

व्यक्ति मोक्ष (संसार से अन्तिम छुटकारा) पाता है।' इसी अर्थ में स्कन्दपुराण में आया है--'गंगा के तटों से एक गव्यूति (दो कोस) तक क्षेत्र (पवित्र-स्थान) होता है, इतनी दूर तक दान, जप एवं होम करने से गंगा का ही फल प्राप्त होता है; जो इस क्षेत्र में मरता है, वह स्वर्ग जाता है और पुनः जन्म नहीं पाता' (शुद्धितत्त्व, पृ० २९९-३००; शुद्धिप्रकाश, पृ० १५५)। पूजारत्नाकर में आया है—'जहाँ जहाँ शालग्रामशिला होती है वहाँ हरि का निवास रहता है; जो शालग्रामशिला के पास मरता है, वह हरि का परमपद प्राप्त करता है।' ऐसा भी कहा गया है कि यदि कोई अनार्य देश (कीकट) में भी शालग्राम से एक कोस की दूरी पर मरता है वह वैकुण्ठ (विष्णुलोक) पाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति तुलसी के वन में मरता है या मरते समय जिसके मुख में तुलसीदल रहता है वह करोड़ों पाप करने पर भी मोक्षपद प्राप्त करता है। इस प्रकार की भावनाएँ आज भी लोकप्रसिद्ध हैं।[१२]

मृत्यु के उत्तम काल के विषय में भी कुछ धारणाएँ हैं। शान्तिपर्व (२९८।२३, कल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृ० २५४) में आया है—'जो व्यक्ति सूर्य के उत्तर दिशा में जाने पर (उत्तरायण होने पर) मरता है या किसी अन्य शुभ नक्षत्र एवं मुहूर्त में मरता है, वह सचमुच पुण्यवान् है।' यह भावना उपनिषदों में व्यक्त उत्तरायण एवं दक्षिणायन में मरने की धारणा पर आधारित है। छान्दोग्योपनिषद् (४।१५।५-६) में आया है—"अब (यदि यह आत्मज्ञानी व्यक्ति मरता है) चाहे लोग उसकी अन्त्येष्टि क्रिया (श्राद्ध आदि) करें या न करें वह अर्चिः अर्थात् प्रकाश को प्राप्त होता है, प्रकाश से दिन, दिन से चन्द्र के अर्ध प्रकाश (शुक्ल पक्ष), उससे उत्तरायण के छः मास, उससे वर्ष, वर्ष से सूर्य, सूर्य से चन्द्र, चन्द्र से विद्युत् को प्राप्त होता है। अमानव उसे ब्रह्म की ओर ले जाता है। यह देवों का मार्ग है; वह मार्ग, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। जो लोग इस मार्ग से जाते हैं वे मानव-जीवन में पुनः नहीं लौटते। हाँ, वे नहीं लौटते।" ऐसी ही बात छा० उप० (५।१०।१-२) में आयी है, जहाँ कहा गया है कि पंचाग्नि-विद्या जाननेवाले गृहस्थ तथा विश्वास (श्रद्धा) एवं तप करनेवाले वानप्रस्थ एवं परिव्राजक (जो अभी ब्रह्म को नहीं जानते) भी देवयान (देवमार्ग) से जाते हैं। और (५।१०।३-७) जो लोग ग्रामवासी हैं, यज्ञपरायण हैं, दान-दक्षिणायुक्त हैं, धूम को जाते हैं, वे धूम से रात्रि, रात्रि से चन्द्र के अर्ध अंधकार (कृष्ण पक्ष) में, उससे दक्षिणायन के छः मास, उससे पितृलोक, उससे आकाश एवं चन्द्र को जाते हैं, जहाँ वे कर्मफल पाते हैं और पुनः उसी मार्ग से लौट आते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।८) ने एक तीसरे स्थान की ओर संकेत किया है, जहाँ कीट-पतंग आदि लगातार आते-जाते रहते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।२।११५-१६) ने भी देवलोक, पितृलोक एवं उस लोक

१२. कूर्मपुराणम्। गंगायां च जले मोक्षो वाराणस्यां जले स्थले। जले स्थले चान्तरिक्षे गंगासागरसंगमे।। तथा स्कन्दे—तीराद् गव्यूतिमात्रं तु परितः क्षेत्रमुच्यते। अत्र दानं जपो होमो गंगायां नात्र संशयः।। अत्रस्थास्त्रिदिवं यान्ति ये मृता न पुनर्भवाः। शुद्धितत्त्व (पृ० २९९-३००); शुद्धिप्रकाश (पृ० १५५)। पूजारत्नाकरे—शाल-ग्रामशिला यत्र तत्र संनिहितो हरिः। तत्सन्निधौ त्यजेत् प्राणान् याति विष्णोः परं पदम्।। लिंगपुराणे—शालग्राम-समीपे तु क्रोशमात्रं समन्ततः। कीकटेपि मृतो याति वैकुण्ठभवनं नरः।। वैष्णवामृते व्यासः—तुलसीकानने जन्तोर्यदि मृत्युर्भवेत् क्वचित्। स निर्भर्त्स्य नरं पापी लीलयैव हरिं विशेत्।। प्रयाणकाले यस्यास्ये दीयते तुलसीदलम्। निर्वाणं याति पक्षीन्द्र पापकोटियुतोपि सः।। शुद्धितत्त्व (पृ० २९९); शुद्धिप्रकाश (पृ० १५५)। 'कीकट' मगध देश का नाम है, जिसे ऋग्वेद (३।५३।१४) में आर्यधर्म से बाहर की भूमि कहा गया है। और देखिए निरुक्त (६।३२) जहाँ कीकट देश को अनार्य-निवास कहा गया है। शुद्धिप्रकाश 'कीकटेपि' के स्थान पर 'कीटकोऽपि' लिखता है जो अधिक समीचीन है, किन्तु यह संशोधन भी हो सकता है।

का उल्लेख किया है जहाँ कीट, पतंग आदि जाते हैं। भगवद्गीता (८।२३-२५) ने भी उपनिषदों के इन वचनों को सूक्ष्म रूप में कहा है—"मैं उन कालों का वर्णन करूँगा जब कि भक्तगण कभी न लौटने के लिए इस विश्व से विदा होते हैं। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण सूर्य के छः मास; जब ब्रह्मज्ञानी इन कालों में मरते हैं तो ब्रह्मलोक जाते हैं। धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन सूर्य के छः मासों में मरनेवाले भक्तगण चन्द्रलोक में जाते हैं और पुनः लौट आते हैं। इस विश्व में ये दो मार्ग जो प्रकाशमान एवं अंधकारमय हैं सनातन हैं। एक से जानेवाला कभी नहीं लौटता किंतु दूसरे से जानेवाला लौट आता है।" वेदान्तसूत्र (४।३।४-६) ने 'प्रकाश', 'दिन' आदि शब्दों को यथाश्रुत शाब्दिक अर्थ में लेने को नहीं कहा है; अर्थात् उसके मत से ये मार्गों के लक्षण या स्तर नहीं हैं, प्रत्युत ये उन देवताओं के प्रतीक हैं जो मृतात्माओं को सहायता देते हैं और देवलोक एवं पितृलोक के मार्गों में उन्हें ले जाते हैं, अर्थात् वे **आतिवाहिक** एवं **अभिमानी देवता** हैं। शंकर ने वेदान्तसूत्र (४।२।२० अतश्चायनेपि दक्षिणे) की व्याख्या में बताया है कि जब भीष्म ने उत्तरायण की बाट जोही तो इससे यही समझना चाहिए कि वहाँ **अर्चिरादि** की प्रशस्ति मात्र है—जो ब्रह्मज्ञानी है, वह यदि दक्षिणायन में मर जाता है तो भी वह अपने ज्ञान का फल पाता है, अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त करता है। जब भीष्म ने उत्तरायण की बाट जोही तो ऐसा करके उन्होंने केवल लोकप्रसिद्ध प्रयोग या आचरण को मान्यता दी और उन्होंने यह भी प्रकट किया कि उनमें यह शक्ति भी थी कि वे अपनी इच्छाशक्ति से ही मर सकते हैं, क्योंकि उनके पिता ने उन्हें ऐसा वर दे रखा था। और देखिए याज्ञवल्क्यस्मृति (३।१९३-१९६)।[13] शंकर एवं वेदान्तसूत्र के वचनों के रहते हुए भी लोकप्रसिद्ध बात यही रही है कि उत्तरायण में मरना उत्तम है (बौधायनपितृमेधसूत्र २।७।२१ एवं गौतमपितृमेधसूत्र २।७।१-२)।

अन्त्येष्टि एक संस्कार है। यह द्विजों द्वारा किये जानेवाले सोलह या इससे भी अधिक संस्कारों में एक है और मनु (२।१६), याज्ञ० (१।१०) एवं जातूकर्ण्य (संस्कारप्रकाश, पृ० १३५ एवं अन्त्यकर्मदीपक, पृ० १) के मत से यह वैदिक मन्त्रों के साथ किया जाता है।[14] ये संस्कार पहले स्त्रियों के लिए भी (आश्वलायनगृह्यसूत्र १।१५।१२, १।१६।६, १।१७।११ एवं मनु २।६६) होते थे किन्तु बिना वैदिक मन्त्रों के (किन्तु विवाह-संस्कार में वैदिक मन्त्रोच्चारण होता है) और शूद्रों के लिए (मनु १०।१२७ एवं याज्ञ० १।१०) भी बिना वैदिक मन्त्रों के। बौ०पितृमेधसूत्र (३।१।४) का कथन है कि प्रत्येक मानव के लिए दो संस्कार ऋण-स्वरूप हैं (अर्थात् उनका सम्पादन अनिवार्य है) और वे हैं **जन्म-संस्कार** एवं **मृतक-संस्कार**। दाह-संस्कार तथा श्राद्ध आदि **आहिताग्नि** (जो श्रौत अग्निहोत्र अर्थात् वैदिक यज्ञ करता है) एवं **स्मार्ताग्नि** (जो केवल स्मार्त अग्नि को पूजता है अर्थात् स्मृतियों में व्यवस्थित धार्मिक कृत्य करता है) के लिए भिन्न-भिन्न रीतियों से होते हैं, तथा उन लोगों के लिए भी जो श्रौत या स्मार्त कोई अग्नि नहीं रखते। जो स्त्री है, बच्चा है, परिव्राजक है, जो दूर देश में मरता है, जो अकाल-मृत्यु पाता है या आत्महत्या करता है या दुर्घटनावश

१३. 'देवयान' एवं 'पितृयान' के विषय में देखिए ऋग्वेद में भी, यथा—३।५८।५; ७।३८।८; ७।७६।२; १०।५१।५; १०।९८।११; १०।१८।१; १०।२।७। और देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।६।३।५); शतपथब्राह्मण (१।९।३।२); बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।१६)।

१४. निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ मनु २।१६; ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः। निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥ याज्ञ० (१।१०); आधानपुंससीमन्तजातनामान्नचौलकाः। मौञ्जी व्रतानि गोदानं समावर्तविवाहकाः॥ अन्त्यं चैतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते षोडशैव तु॥ जातूकर्ण्य (संस्कारप्रकाश, पृ० १३५ एवं अन्त्यकर्मदीपक, पृ० १)।

मर जाता है; उनके लिए अन्त्येष्टि-कृत्य भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। एक ही विषय की कृत्य-विधियों में श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र विभिन्न बातें कहते हैं और आगे चलकर मध्य एवं पश्चात्कालीन युगों में विधियाँ और भी विस्तृत होती चली गयी हैं। हम विधि-विस्तारों की चर्चा यहाँ स्थानाभाव से नहीं कर सकेंगे, क्योंकि ऐसा करने के लिए एक पृथक् ग्रन्थ-लेखन की आवश्यकता पड़ जायगी। हम केवल संक्षेप में विभिन्न सूत्रों, स्मृतियों एवं निबन्धों में वर्णित विधि का कालानुसार उल्लेख करेंगे। निर्णयसिन्धु (पृ० ५६९) ने स्पष्ट कहा है कि अन्त्येष्टि प्रत्येक शाखा में भिन्न रूप से उल्लिखित है, किन्तु कुछ बातें सभी शाखाओं में एक-सी हैं।[१५] अन्त्य-कर्मों के विस्तार, अभाव एवं उपस्थिति के आधार पर सूत्रों, स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों के काल-क्रम-सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले गये हैं (जैसा कि डा० कैलैण्ड ने किया है), किन्तु ये निष्कर्ष बहुधा अनुमानों एवं वैयक्तिक भावनाओं पर ही आधारित हैं। हम उन पर निर्भर नहीं रह सकते।

श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों एवं पश्चात्कालीन ग्रन्थों में उल्लिखित अन्त्य कर्मों को उपस्थित करने के पूर्व हम ऋग्वेद के पाँच सूक्तों (१०।१४-१८) का अनुवाद उपस्थित करेंगे। इन सूक्तों की ऋचाएँ (मन्त्र) बहुधा सभी सूत्रों द्वारा प्रयुक्त हुई हैं और उनका प्रयोग आज भी अन्त्येष्टि के समय होता है और उनमें अधिकांश वैदिक संहिताओं में भी पायी जाती हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य टीकाकारों ने इन मन्त्रों की टीका एवं व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है। हम इन विभिन्न टीकाओं एवं आलोचनाओं का उल्लेख यहाँ नहीं करेंगे।[१६]

ऋग्वेद (१०।१४)—(१) "(यजमान!) उस यम की पूजा करो, जो (पितरों का) राजा है, विवस्वान् का पुत्र है, (मृत) पुरुषों को एकत्र करनेवाला है, जिसने (शुभ कर्म करनेवाले) बहुतों के लिए मार्ग खोज डाला है और जिसने महान् (अपार्थिव) ऊँचाइयाँ पार कर ली हैं। (२) हम लोगों के मार्ग का ज्ञान सर्वप्रथम यम को हुआ; वह ऐसा चरागाह (निवास) है जिसे कोई नहीं छीन सकता, वह वही निवास-स्थान है जहाँ हमारे प्राचीन पूर्वज अपने-अपने मार्ग को जानते हुए गये। (३) मातलि (इन्द्र के सारथि या स्वयं इन्द्र) 'काव्य' नामक (पितरों) के साथ, यम अंगिरसों के साथ एवं बृहस्पति ऋक्वनों के साथ समृद्धिशाली होते हैं (शक्ति में वृद्धि पाते हैं); जिन्हें (अर्थात् पितरों को) देवगण आश्रय देते हैं और जो देवगण को आश्रय देते हैं; उनमें कुछ लोग (देवगण, इन्द्र तथा अन्य) **स्वाहा** से प्रसन्न होते हैं और अन्य लोग (पितर) **स्वधा** से प्रसन्न होते हैं।[१७] (४) हे यम! अंगिरस् नामक पितरों के साथ

१५. प्रतिशाखं भिन्नेप्यन्त्यकर्मणि साधारणं किंचिदुच्यते। निर्णय० (पृ० ५६९)।

१६. श्री बेर्ट्रम एस्० पकिल (Bertrum S. Puckle) **ने अपनी पुस्तक 'फ्यूनरल कस्टम्स'** (Funeral Customs : London **१९२६) में अन्त्य कर्मों आदि के विषय में बड़ी मनोरंजक बातें दी हैं। उन्होंने इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि यूरोपीय देशों, यहूदियों तथा विश्व के अन्य भागों के अन्त्य कर्मों के विषय में विस्तार के साथ वर्णन किया है। उनके द्वारा उपस्थापित वर्णन प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय विश्वासों एवं आचारों से बहुत मेल खाते हैं, यथा—जहाँ व्यक्ति रोगग्रस्त पड़ा रहता है वहाँ काक (काले कौआ) या काले पंख वाले पक्षी का उड़ते हुए बैठ जाना मृत्यु की सूचना है (पृ० १७), कब्र में गाड़ने के पूर्व शव को स्नान कराना या उस पर लेप करना (पृ० ३४ एवं ३६), मृत व्यक्ति के लिए रोने एवं शोक प्रकट करने के लिए पेशेवर स्त्रियों को भाड़े पर बुलाना (पृ० ६७), रात्रि में शव को न गाड़ना (पृ० ७७), सूतक के कारण क्षौरकर्म करना (पृ० ९१), मृत के लिए कब्र पर मांस एवं मद्य रखना (पृ० ९९-१००), कब्रगाह में बपतिस्मा-रहित बच्चों, आत्महन्ताओं, पागलों एवं जातिच्युतों को न गाड़ने देना (पृ० १४३)।**

१७. काव्य, अंगिरस् एवं ऋक्वन् लोग पितरों की विभिन्न कोटियों के द्योतक हैं। ऋग्वेद (७।१०।४) में

एकमत होकर इस यज्ञ में आओ और (कुशों के) आसन पर बैठो। विज्ञ लोगों (पुरोहितों) द्वारा कहे जानेवाले मंत्र तुम्हें (यहाँ) लायें। (राजन् !) इस आहुति से प्रसन्न होओ। (५) हे यम ! अंगिरसों एवं वैरूपों (के साथ आओ) और आनन्दित होओ। मैं तुम्हारे पिता विवस्वान् का आह्वान करता हूँ; यज्ञ में बिछे हुए कुशासन पर बैठकर (वे स्वयं आनन्दित हों)।[18] (६) अंगिरस्, नवग्व, अथर्व एवं भृगु लोग हमारे पितर हैं और सोम से प्रीति रखते हैं। हमें उन श्रद्धास्पदों की सदिच्छा प्राप्त हो ! हमें उनका कल्याणप्रद अनुग्रह भी प्राप्त हो ! (७) जिन मार्गों से हमारे पूर्वज गये उन्हीं प्राचीन मार्गों से शीघ्रता करके जाओ। तुम लोग (अर्थात् मृत लोग) यम एवं वरुण नामक दो राजाओं को स्वेच्छापूर्वक आनन्द मनाते हुए देखो।[19] (८) (हे मृत !) उच्चतम स्वर्ग में पितरों, यम एवं अपने इष्टापूर्त के साथ जा मिलो।[20] अपने पापों को वहीं छोड़कर अपने घर को लौट आओ ! दिव्य ज्योति से परिपूर्ण हो (नवीन) शरीर से जा मिलो ![21] (९) (हे दुष्टात्माओ !) दूर हटो, प्रस्थान करो, इस स्थान (श्मशान) से अलग हट जाओ; पितरों ने उसके (मृत के) लिए यह स्थान (निवास) निर्धारित किया है। यम ने उसको यह विश्रामस्थान दिया है जो जलों, दिवसों एवं रातों से भरा-पूरा है। (१०) (हे मृतात्मा) ! शीघ्रता करो, अच्छे मार्ग से बढ़ते हुए सरमा की संतान (यम के) दो कुत्तों से, जिन्हें चार आँखें प्राप्त हैं बचकर बढ़ो। इस प्रकार अपने पितरों के पास पहुँचो जो तुम्हें पहचान लेंगे और जो स्वयम् यम के साथ आनन्दोपभोग करते हैं। (११) हे राजा यम ! इसे (मृतात्मा को) उन अपने दो कुत्तों से, जो रक्षक हैं, चार-चार आँख वाले हैं, जो पितृलोक के मार्ग की रक्षा करते हैं और मनुष्यों पर दृष्टि रखते हैं, सुरक्षा दो। तुम इसको आनन्द और स्वास्थ्य दो। (१२) यम के दो दूत, जिनके नथुने चौड़े होते हैं, जो अति शक्तिशाली हैं और जिन्हें कठिनाई से संतुष्ट किया जा सकता है, मनुष्यों के बीच में विचरण करते हैं। वे दोनों (दूत) हमें आज वह शुभ जीवन फिर से प्रदान करें जिससे कि हम सूर्य को देख सकें। (१३) (हे पुरोहितो !) यम के लिए सोमरस निकालो, यम को आहुति दो। वह यज्ञ, जिसमें अग्नि देवों तक ले जानेवाला दूत कहा गया है और जो पूर्णरूपेण संन्नद्ध है, यम के पास पहुँचता है। (१४) (पुरोहितो !) घी-मिश्रित आहुतियाँ यम को दो और तब प्रारम्भ करो। वह हमें देवपूजा में लगे रहने दे जिससे हमें लम्बी आयु प्राप्त हो। (१५) यमराज को अत्यन्त मधुर आहुति दो, यह प्रणाम उन ऋषियों को है जो हमसे बहुत पहले उत्पन्न हुए थे और जिन्होंने हमारे लिए मार्ग बनाया। वह बृहत् (बृहत्साम) तीन यज्ञों में और छः बृहत् विस्तारों में विचरता है। त्रिष्टुप्, गायत्री आदि छन्द—सभी यम में केन्द्रित हैं।"

ऋक्वन् (गायक) लोग बृहस्पति से संबंधित हैं। अन्य स्थानों पर वे विष्णु, अज-एकपाद एवं सोम से भी सम्बन्धित माने गये हैं। स्वाहा का उच्चारण देवगण को आहुति देते समय तथा स्वधा का उच्चारण पितरों को आहुति देते समय किया जाता है।

१८. वैरूप लोग अंगिरसों की उपकोटि में आते हैं।

१९. यह और आगे आनेवाले तीन मंत्र मृत लोगों को सम्बोधित हैं।

२०. देखिए इस ग्रंथ का खण्ड २, अध्याय ३५, जहाँ इष्टापूर्त की व्याख्या उपस्थित की गयी है। इष्टापूर्त का अर्थ है यज्ञकर्मों (इष्ट) एवं दान-कर्मों (पूर्त) से उत्पन्न समन्वित आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक फलोत्पत्ति।

२१. पितृलोक के आनन्दों की उपलब्धि के लिए मृतात्मा के वायव्य शरीर की कल्पना की गयी है। यह ऋग्वेदीय कल्पना अपूर्व है।

ऋग्वेद (१०।१५)—(१) "सोम—निम्न, मध्यम या उत्तरतर श्रेणियों के स्नेही पितर लोग आगे आयें, और वे पितर लोग भी जिन्होंने शाश्वत जीवन या मृतात्मा का रूप धारण किया है, कृपालु हों और आगे आयें, क्योंकि वे दयापूर्ण एवं ऋत के ज्ञाता हैं। वे पितर लोग, जिनका हम आह्वान करें, हमारी रक्षा करें। (२) आज हमारा प्रणाम उन पितरों को है जो (इस मृत के जन्म के पूर्व ही) चले गये या (इस मृत के जन्मोपरान्त) बाद को गये, और (हम उन्हें भी प्रणाम करते हैं) जो इस विश्व में विराजमान हैं या जो शक्तिशाली लोगों के बीच स्थान ग्रहण करते हैं। (३) मैं उन पितरों को जान गया हूँ जो मुझे (अपना वंशज) पहचानेंगे, और मैं विष्णु के पादन्यास एवं उनके बच्चे (अर्थात् अग्नि) को जान गया हूँ। वे पितर, जो कुशों पर बैठते हैं और अपनी इच्छा के अनुसार हवि एवं सोम ग्रहण करते हैं, बारम्बार यहाँ आयें। (४) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितर लोगो, (नीचे) अपनी रक्षा लेकर हमारी ओर आओ; हमने आपके लिए हवि तैयार कर रखी हैं; इन्हें ग्रहण करो। कल्याणकारी रक्षा के साथ आओ और ऐसा आनन्द दो जो दुःख से रहित हो। (५) कुश पर रखी हुई प्रिय निधियों (हव्यों) को ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित सोम-प्रिय पितर लोग आयें। वे हमारी स्तुतियाँ (यहाँ) सुनें। वे हमारे पक्ष में बोलें और हमारी रक्षा करें। (६) हे पितर लोगो, आप सभी, घुटने मोड़कर एवं हव्य की दायीं ओर बैठकर यज्ञ की प्रशंसा करें; मनुष्य होने के नाते हम आपके प्रति जो ग़लती करें उसके लिए आप हमें पीड़ा न दें। (७) पितर लोग, अग्नि की दिव्य ज्वाला के सामने (उसकी गोद में) बैठकर मुक्ष मर्त्य यजमान को धन दें। आप मृत व्यक्ति के पुत्रों को धन दें और उन्हें शक्ति दें। (८) यम हमारे जिन पुराने एवं समृद्ध पितरों की संगति का आनन्द उठाते हैं, वे सोमपान के लिए एक-एक करके आयें, जो यशस्वी थे और जिनकी संगति में (पितरों के राजा) यम को आनन्द मिलता है, वह (हमारे द्वारा दिये गये) हव्य स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करे। (९) हे अग्नि, उन पितरों के साथ आओ, जो तृषा से व्याकुल थे और (देवों के लोकों में पहुँचने में) पीछे रह जाते थे, जो यज्ञ के विषय में जानते थे और जो स्तुतियों के रूप में स्तोमों के प्रणेता थे, जो हमें भली भाँति जानते थे, वे (हमारी पुकार) अवश्य सुनते हैं, जो कव्य नामक हवि ग्रहण करते हैं और जो गर्म दूध के चतुर्दिक् बैठते हैं। (१०) हे अग्नि, उन अवश्य आनेवाले पितरों के साथ पहले और समय से कालान्तर में आओ और जो (दिये हुए) हव्य ग्रहण करते हैं, जो हव्य का पान करते हैं, जो उसी रथ में बैठते हैं जिसमें इन्द्र एवं अन्य देव विराजमान हैं, जो सहस्रों की संख्या में देवों को प्रणाम करते हैं, और जो गर्म दूध के चतुर्दिक् बैठते हैं। (११) हे अग्निष्वात्त नामक पितर लोगो, जो अच्छे पथप्रदर्शक कहे जाते हैं, (इस यज्ञ में) आओ और अपने प्रत्येक उचित आसन पर विराजमान होओ। (दिये हुए) पवित्र हव्य को, जो कुश पर रखा हुआ है, ग्रहण करो और शूर पुत्रों के साथ समृद्धि दो। (१२) हे जातवेदा अग्नि, (हम लोगों द्वारा) प्रशंसित होने पर, हव्यों को स्वादयुक्त बना लेने पर और उन्हें लाकर (पितरों को) दे देने पर वे उन्हें अभ्यासवश ग्रहण करें। हे देव, आप पूत हव्यों को खायें। (१३) हे जातवेदा, आप जानते हैं कि कितने पितर हैं, यथा—वे जो यहाँ (पास) हैं, जो यहाँ नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं और जिन्हें हम नहीं जानते हैं (क्योंकि वे हमारे बहुत दूर के पूर्वज हैं)। आप इस भली प्रकार बने हुए हव्य को अपने आचरण के अनुसार कृपा कर ग्रहण करें। (१४) (हे अग्नि) उनके (पितरों के) साथ जो (जिनके शरीर) अग्नि से जला दिये गये थे, जो नहीं जलाये गये थे और जो स्वधा के साथ आनन्दित होते हैं, आप मृत की इच्छा के अनुसार शरीर की व्यवस्था करें जिससे नये जीवन (स्वर्ग) में उसे प्रेरणा मिले।"

ऋग्वेद (१०।१६)—(१) "हे अग्नि ! इस (मृत व्यक्ति ?) को न जलाओ, चतुर्दिक् इसे न झुलाओ, इसके चर्म (के भागों को) इतस्ततः न फेंको; हे जातवेदा (अग्नि) ! जब तुम इसे भली प्रकार जला लो तो इसे (मृत को) पितरों के यहाँ भेज दो। (२) हे जातवेदा ! जब तुम इसे पूर्णरूपेण जला लो तो इसे पितरों के अधीन कर दो। जब यह (मृत व्यक्ति) उस मार्ग का अनुसरण करता है जो इसे (नव) जीवन की ओर ले जाता है, तो यह वह हो जाय

जो देवों की अभिलाषाओं को ढोता है। (३) तुम्हारी आँखें सूर्य की ओर जायें, तुम्हारी साँस हवा की ओर जाय और तुम अपने गुणों के कारण स्वर्ग या पृथिवी को जाओ या तुम जल में जाओ यदि तुम्हें वहाँ आनन्द मिले (या यदि यही तुम्हारा भाग्य हो तो), अपने सारे अंगों के साथ तुम ओषधियों (जड़ी-बूटियों) में विराजमान होओ! (४) हे जातवेदा, तुम उस बकरी को जला डालो, जो तुम्हारा भाग है, तुम्हारी ज्वाला, तुम्हारा दिव्य प्रकाश उस बकरी को जला डाले;[२२] तुम इसे (मृत को) उन लोगों के लोक में ले जाओ जो तुम्हारे कल्याणकारी शरीरों (ज्वालाओं) के द्वारा अच्छे कर्म करते हैं। (५) हे अग्नि, (इस मृत को) पितरों की ओर छोड़ दो, यह जो तुम्हें अर्पित है चारों ओर घूम रहा है। हे जातवेदा, यह (नव) जीवन ग्रहण करे और अपने हव्यों को बढ़ाये तथा एक नवीन (वायव्य) शरीर से युक्त हो जाय। (६) (हे मृत व्यक्ति!) वह अग्नि, जो सब कुछ जला डालता है, तुम्हारे उस शरीरांग को दोष-मुक्त कर दे, जो काले पक्षी (कौआ) द्वारा काट लिया गया है, या जिसे चींटी या सर्प या जंगली पशु ने काटा है, और ब्राह्मणों में प्रविष्ट सोम भी यही करे। (७) (हे मृत व्यक्ति!) तुम गायों के साथ अग्नि का कवच धारण करो (अर्थात् अग्नि की ज्वालाओं से बचने के लिए गाय का चर्म धारण करो) और अपने को मोटे मांस से छिपा लो, जिससे (वह अग्नि) जो अपनी ज्वाला से घेर लेता है, जो (वस्तुओं को नष्ट करने में) आनन्दित होता है, जो तीक्ष्ण है और पूर्ण-तया भस्म कर देता है, (तुम्हारे भागों को) इधर-उधर बिखेर न दे। (८) हे अग्नि, इस प्याले को, जो देवों को एवं सोमप्रिय (पितरों) को प्रिय है, नष्ट न करो। इस चमस (चम्मच या प्याले) में, जिससे देव पीते हैं, अमर देव लोग आनन्द लेते हैं। (९) जो अग्नि कच्चे मांस का भक्षण करता है, मैं उसे बहुत दूर भेज देता हूँ, वह अग्नि जो दुष्कर्मों (पापों) को ढोता है यम लोक को जाय! दूसरा अग्नि (जातवेदा), जो सब कुछ जानता है, देवों को अर्पित हव्य ग्रहण करे। (१०) मैं, पितरों को हव्य देने के हेतु (जातवेदा) अग्नि को निरीक्षित करता हुआ, कच्चा मांस खानेवाले अग्नि को पृथक् करता हूँ जो तुम्हारे घर में प्रविष्ट हुआ था; वह (दूसरा अग्नि) घर्म (गर्म दूध या हव्य) को उच्चतम लोक की ओर प्रेरित करे।[२३] (११) वह अग्नि जो हव्यों को ले जाता है, ऋत के अनुसार समृद्धि पानेवाले पितरों को उसे दे। वह देवों एवं पितरों को हव्य दे। (१२) (हे अग्नि!) हमने, जो तुम्हें प्यार करते हैं, तुम्हें प्रतिष्ठापित किया है और जलाया है। तुम प्यारे पितरों को यहाँ ले आओ, जो हमें प्यार करते हैं और वे हव्य ग्रहण करें। (१३) हे अग्नि! तुम उस स्थल को, जिसे तुमने शवदाह में जलाया, (जल से) बुझा दो। कियाम्बु (पौधा) यहाँ उगे और दूर्वा घास अपने अंकुरों को फैलाती हुई यहाँ उगे! (१४) हे शीतिका (शीतल पौधे), हे शीतलताप्रद ओषधि, हे ह्लादिका (तरोताजा करनेवाली बूटी), आनन्द बिखेरती हुई मेढकी के साथ पूर्णरूपेण घुल-मिल जाओ! तुम इस अग्नि को आनन्दित करो।"

ऋग्वेद (१०।१७)—इस सूक्त के ३ से लेकर ६ तक के मन्त्रों को छोड़कर अन्य मन्त्र अन्त्येष्टि पर प्रकाश नहीं डालते, अतः हम केवल चार मन्त्रों को ही अनूदित करेंगे। प्रथम दो मन्त्र त्वष्टा की कन्या एवं विवस्वान् के विवाह एवं विवस्वान् से उत्पन्न यम एवं यमी के जन्म की ओर संकेत करते हैं। निरुक्त (१२।१०-११) में दोनों की व्याख्या

२२. ऋ० (१०।१६।४)... अजो भागः—इससे उस बकरी की ओर संकेत है जो शव के साथ ले जायी जाती थी। और देखिए ऋ० (१०।६।७), जहाँ शव के साथ गाय के जलाने की बात कही गयी है।

२३. यह मन्त्र कुछ जटिल है। यदि इस मन्त्र के शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दें तो प्रकट होता है कि 'क्रव्याद्' अग्नि पितृयज्ञ में प्रयुक्त होती है। ऐसा कहना सम्भव है कि 'क्रव्याद्' अग्नि को अपवित्र माना जाता था और वह साधारण या यज्ञिय अग्नि से पृथक् थी।

विस्तार से दी हुई है। सरस्वती की स्तुति वाले मन्त्र (७-९) अथर्ववेद (१८।१।४१-४३) में भी पाये जाते हैं और कौशिकसूत्र (८१-३९) में उन्हें अथर्ववेद (७।६८।१-२ एवं १८।३।२५) के साथ अन्त्येष्टि-कृत्य के लिए प्रयुक्त किया गया है।

(३) "सर्वविज्ञ पूषा, जो पशुओं को नष्ट नहीं होने देता और विश्व की रक्षा करता है, तुम्हें इस लोक से (दूसरे लोक में) भेजे! वह तुम्हें इन पितरों के अधीन कर दे और अग्नि तुम्हें जाननेवाले देवों के अधीन कर दे! (४) वह पूषा जो इस विश्व का जीवन है, जो स्वयं जीवन है, तुम्हारी रक्षा करे। वे लोग जो तुमसे आगे गये हैं (स्वर्ग के) मार्ग में तुम्हारी रक्षा करें। सविता देव तुम्हें वहाँ प्रतिष्ठापित करे जहाँ सुन्दर कर्म करनेवाले जाकर निवास करते हैं। (५) पूषा इन सभी दिशाओं को क्रम से जानता है। वह हमें उस मार्ग से ले चले जो भय से रहित है। वह समृद्धिदाता है, प्रकाशमान है, उसके साथ सभी शूर-वीर हैं; वह विज्ञ हमारे आगे बिना किसी त्रुटि के बढ़े। (६) पूषा (पितृलोक में जानेवाले) मार्गों के सम्मुख स्थित है, वह स्वर्ग को जानेवाले मार्गों और पृथिवी के मार्गों पर खड़ा है। हमको प्रिय लगनेवाला वह दोनों लोकों के सम्मुख खड़ा है और वह विज्ञ दोनों लोकों में आता-जाता रहता है।"

ऋग्वेद (१०।१८)—(१) "हे मृत्यु! उस मार्ग की ओर हो जाओ, जो तुम्हारा है और देवयान से पृथक् है। मैं तुम्हें, जो आँखों एवं कानों से युक्त हो, सम्बोधित करता हूँ। हमारी सन्तानों को पीड़ा न दो, हमारे वीर पुत्रों को हानि न पहुँचाओ। (२) हे यज्ञ करनेवाले (याज्ञिक) हमारे सम्बन्धीगण! क्योंकि तुम मृत्यु के पद-चिह्नों को मिटाते हुए आये हो और अपने लिए दीर्घ जीवन प्रतिष्ठापित कर चुके हो तथा समृद्धि एवं सन्तानों से युक्त हो, तुम पवित्र एवं शुद्ध बनो! (३) ये जीवित (सम्बन्धी) मृत से पृथक् हो पीछे घूम गये हैं; आज के दिन देवों के प्रति हमारा आह्वान कल्याणकारी हो गया। तब हम नाचने के लिए, (बच्चों के साथ) हँसने के लिए और अपने दीर्घ जीवन को दृढ़ता से स्थापित करते हुए आगे गये। (४) मैं जीवित (सम्बन्धियों, पुत्र आदि) की (रक्षा) के लिए यह बाधा (अवरोध) रख रहा हूँ, जिससे कि अन्य लोग (इस मृत व्यक्ति के) लक्ष्य को न पहुँचें। वे सौ शरदों तक जीवित रहें। वे इस पर्वत (पत्थर) के द्वारा मृत्यु को दूर रखें! (५) हे धाता! बचे हुए लोगों को उसी प्रकार सँभाल रखो जिस प्रकार दिन के उपरान्त दिन एक-एक क्रम में आते रहते हैं, जिस प्रकार अनुक्रम से ऋतुएँ आती हैं, जिससे कि छोटे लोग अपने बड़े (सम्बन्धी) को न छोड़ें। (६) हे बचे हुए लोगों, बुढ़ापा स्वीकार कर दीर्घ आयु पाओ, क्रम से जो भी तुम्हारी संख्याएँ हों (वैसा ही प्रयत्न करो कि तुम्हें लम्बी आयु मिले); भद्र जन्म वाला एवं कृपालु त्वष्टा तुम्हें यहाँ (इस विश्व में) दीर्घ जीवन दे! (७) ये नारियाँ, जिनके पति योग्य एवं जीवित हैं, आँखों में अंजन के समान घृत लगाकर घर में प्रवेश करें। ये पत्नियाँ प्रथमतः सुसज्जित, अश्रुहीन एवं पीड़ाहीन हो घर में प्रवेश करें। (८) हे (मृत की) पत्नी! तुम अपने को जीवित (पुत्रों एवं अन्य सम्बन्धी) लोगों के लोक की ओर उठाओ; तुम उस (अपने पति) के निकट सोयी हुई हो जो मृत है; आओ! तुम पत्नीत्व के प्रति सत्य रही हो और उस पति के प्रति, जिसने पहले (विवाह के समय) तुम्हारा हाथ पकड़ा था और जिसने तुम्हें भली भाँति प्यार किया, सत्य रही हो। (९) (मैं) मृत (क्षत्रिय) के हाथ से प्रण करता हूँ जिससे कि हममें सैनिक वीरता, दिव्यता एवं शक्ति आये। तुम (मृत) वहाँ और हम यहाँ पर शूर पुत्र पायें और यहाँ सभी आक्रमणकारी शत्रुओं पर विजय पायें। (१०) (हे मृत) इस विशाल एवं सुन्दर माता पृथिवी के पास जाओ। यह नयी (पृथिवी), जिसने तुम्हें भेंटें दीं और तुम्हें मृत्यु की गोद से सुरक्षित रखा, तुम्हारे लिए ऊन के समान मृदु लगे। (११) हे पृथिवी! ऊपर उठ आओ, इसे न दबाओ, इसके लिए सरल पहुँच एवं आश्रय बनो, और इस (हड्डियों के रूप में मृत व्यक्ति) को उसी प्रकार ढँको जिस प्रकार माता अपने आँचल से पुत्र को ढँकती है। (१२) पृथिवी ऊपर उठे और अटल रहे। सहस्रों स्तम्भ इस घर को सँभाले हुए खड़े रहें। ये

घर (मिट्टी के खण्ड) उसे भोजन दें। वे यहाँ सभी दिनों के लिए उसके हेतु (हड्डियों के रूप में मृत के लिए) आश्रय बनें! (१३) मैं तुम्हारे चारों ओर तुम्हारे लिए मिट्टी का आश्रय बना दे रहा हूँ। मिट्टी का यह खण्ड रखते समय मेरी कोई हानि न हो। पितर लोग इस स्तम्भ को अटल रखें। यम तुम्हारे लिए यहाँ आसनों की व्यवस्था कर दे। (१४) (देवगण) ने मुझे दिन में रखा है जो पुनः तीर के पंख के समान (कल के रूप में) लौट आयेगा; (अतः) मैं अपनी वाणी उसी प्रकार रोक रहा हूँ जिस प्रकार कोई लगाम से घोड़ा रोकता है।"

यह अवलोकनीय है कि 'पितृ-यज्ञ' शब्द ऋग्वेद (१०।१६।१०) में आया है। इसका क्या तात्पर्य है? हमें यह स्मरण रखना है कि ऋग्वेद (१०।१५-१८) की ऋचाएँ किसी एक व्यक्ति के मरने के उपरान्त के कृत्यों की ओर संकेत करती हैं। उनका सम्बन्ध पूर्वपुरुषों की श्राद्ध-क्रियाओं से नहीं है। पूर्वपुरुषों से, जिन्हें बर्हिषदः एवं अग्नि-ष्वात्ताः (ऋ० १०।१५।३-४, ११) कहा गया है, तुरंत के मृतात्मा के प्रति स्नेह प्रदर्शित करने के लिए उत्सुकता अवश्य प्रकट की गयी है। पूर्वपुरुषों को 'हविः' दिया गया है और वे उसे ग्रहण करते हैं, ऐसा प्रदर्शित किया गया है '(ऋ० १०।१५।११-१२)। तैत्तिरीय संहिता (१।८।५) में दिये गये मन्त्रों के उद्देश्य (जो साकमेघ में सम्पादित पितृयज्ञ की ओर संकेत करता है) से उपर्युक्त ऋग्वेदीय मन्त्रों का उद्देश्य पृथक् है। यह बात ठीक है कि तै० सं० (१।८।५) के तीन मन्त्र ऋग्वेद (१०।५७।३-५) के हैं और वे पिण्ड-पितृयज्ञ में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु यह कहने के लिए कोई तर्क नहीं है कि ऋग्वेद (१०।१५।१०) का 'पितृयज्ञ', पिण्ड-पितृयज्ञ से अधिक प्राचीन है। यह सम्भव है कि ये दोनों विभिन्न बातों की ओर संकेत करते हुए समकालिक प्रचलन के ही द्योतक हों।

अब हम श्रौत एवं गृह्य सूत्रों में वर्णित आहिताग्नि की मृत्यु से सम्बन्धित कृत्यों का वर्णन करेंगे। सोमयज्ञ या सत्र के लिए दीक्षित व्यक्ति के (यज्ञ-समाप्ति के पूर्व ही) मर जाने पर जो कृत्य होते थे उनका वर्णन आश्वलायन-श्रौतसूत्र (६।१०) में हुआ है। इसमें आया है—"जब दीक्षित मर जाता है तो उसके शरीर को वे तीर्थ से ले जाते हैं, उसे उस स्थान पर रखते हैं जहाँ अवभृथ (सोमयज्ञ या सत्र-यज्ञ की परिसमाप्ति पर स्नान) होनेवाला था, और उसे उन अलंकरणों से सजाते हैं जो बहुधा शव पर रखे जाते हैं। वे शव के सिर, चेहरे एवं शरीर के बाल और नख काटते हैं। वे नलद (जटामांसी) का लेप लगाते हैं और शव पर नलदों का हार चढ़ाते हैं। कुछ लोग अँतड़ियों को काटकर उनसे मल निकाल देते हैं और उनमें पृषदाज्य (मिश्रित घृत एवं दही) भर देते हैं। वे शव के पाँव के बराबर नवीन वस्त्र का एक टुकड़ा काट लेते हैं और उससे शव को इस प्रकार ढँक देते हैं कि अंचल पश्चिम दिशा में पड़ जाता है (शव पूर्व में रखा रहता है) और शव के पाँव खुले रहते हैं। कपड़े के टुकड़े का भाग पुत्र आदि ले लेते हैं। मृत की श्रौत अग्नियाँ अरणियों पर रखी रहती हैं, शव को वेदि से बाहर लाया जाता है और दक्षिण की ओर ले जाते हैं, घर्षण से अग्नि उत्पन्न की जाती है और उसी में शव जला दिया जाता है। श्मशान से लौटने पर उन्हें दिन का कार्य समाप्त करना चाहिए। दूसरे दिन प्रातः शस्त्रों का पाठ, स्तोत्रों का गायन एवं सस्तवों (समवेत रूप में मन्त्रपाठ) का गायन बिना दुहराये एवं बिना 'हिम्' स्वर उच्चारित किये होता है। उसी दिन पुरोहित लोग ग्रहों (प्यालों) को लेने के पूर्व तीर्थों से आते हैं, दाहिने हाथ को ऊँचा करके श्मशान की परिक्रमा करते हैं और निम्न प्रकार से उसके चतुर्दिक् बैठ जाते हैं; होता श्मशान के पश्चिम में, अध्वर्यु उत्तर में, उद्गाता अध्वर्यु के पश्चिम और ब्रह्मा दक्षिण में। इसके उपरान्त धीमे स्वर में 'आयं गौः पृश्निरक्रमीत्' से आरम्भ होनेवाला मन्त्र गाते हैं। गायन समाप्त होने के उपरान्त होता अपने बायें हाथ को श्मशान की ओर करके श्मशान की तीन परिक्रमा करता है और बिना 'ओम्' का उच्चारण किये उद्गाता के गायन के तुरत पश्चात् धीमे स्वर में स्तोत्रिय का पाठ करता है और निम्न मन्त्रों को, जो यम एवं याम्यायनों (ऋषियों या प्रणेताओं) के मन्त्र हैं, कहता है; यथा—ऋ० (१०।१४।७-८, १०-११; १०।१६।१-६; १०।१७-३-६; १०।१८।१०-१३; १०।१५४।१-५)। उन्हें ऋ० (१०।१४।१२) के साथ समाप्त करना चाहिए और इसके

उपरान्त किसी घड़े में अस्थियाँ एकत्र करनी चाहिए, घड़े को तीर्थ की तरफ से ले जाना चाहिए और उस आसन पर रखना चाहिए जहाँ मृत यजमान बैठता था।[२४]

शांखायनश्रौतसूत्र (४।१४-१५) ने आहिताग्नि की अन्त्येष्टि-क्रिया के विषय में विस्तार के साथ लिखा है। कात्यायनश्रौतसूत्र (२५।७) नें यही बात संक्षेप में कही है। कात्या० (२५।७।१८) ने केश एवं नख काटने एवं मल-पदार्थ निकाल देने की चर्चा की है। कौशिकसूत्र (८०।१३-१६) एवं शांखायनश्रौतसूत्र (४।१४।४-५) ने भी केश काटने, शव को स्नान कराने, लेप करने एवं माला-पुष्प रखने की बात कही है। बौधायनपितृमेधसूत्र (१।२) ने इन सब बातों की ओर संकेत किया है और इतना जोड़ दिया है कि यदि वे दाहिनी ओर से अँतड़ियाँ काटकर निकालते हैं तो उन्हें पुनः दर्भ से सी देते हैं या वे केवल शरीर को स्नान करा देते हैं (बिना मल स्वच्छ किये), उसे वस्त्र से ढँक देते हैं, सँवारते हैं, आसन्दी पर, जिस पर काला मृगचर्म (जिसका मुख वाला भाग दक्षिण ओर रहता है) बिछा रहता है, रख देते हैं, उस पर नलद की माला रख देते हैं,[२५] और उसे नवीन वस्त्र से ढँक देते हैं (जैसा कि ऊपर आश्वलायन-श्रौतसूत्र के अनुसार लिखा गया है)। सत्याषाढश्रौतसूत्र (२८।१।२२) एवं गौतमपितृमेधसूत्र (१।१०-१४) में भी ऐसी बातें दी हुई हैं और यह भी है कि शव के हाथ एवं पैर के अँगूठे श्वेत सूत्रों या वस्त्र के अंचल भाग से बाँध दिये जाते हैं और आसन्दी (वह छोटा सा पलंग या कुर्सी जिस पर शव रखकर ढोया जाता है) उदुम्बर लकड़ी की बनी होती है। कौशिकसूत्र (८०।३।३।४५) ने अथर्ववेद के बहुत-से मन्त्रों का उल्लेख किया है जो चिता जलाने एवं हवि देते समय कहे जाते हैं, यथा १८।२।४ एवं ३६; १८।३।४; १८।१।४९-५० एवं ५८; १८।१।४१-४३; ७।६८।१-२; १८।३।२५; १८।२।४-१८ (१८।२।१० को छोड़कर); १८।४।१-१५ आदि।

आश्वलायनगृह्यसूत्र (४।१ एवं २) ने आहिताग्नि की मृत्यु से सम्बन्धित सामान्य कृत्यों का वर्णन किया है, किन्तु आश्वलायनश्रौतसूत्र (जिसका वर्णन ऊपर किया गया है) ने उस आहिताग्नि की अन्त्येष्टि का वर्णन किया है जो सोमयज्ञ या अन्य यज्ञों में लगे रहते समय मर जाता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र का कहना है—"जब आहिताग्नि मर जाता है तो किसी को (पुत्र या कोई अन्य सम्बन्धी को) चाहिए कि वह दक्षिण-पूर्व में या दक्षिण-पश्चिम में ऐसे स्थान पर भूमि-खण्ड खुदवाये जो दक्षिण या दक्षिण-पूर्व की ओर ढालू हो, या कुछ लोगों के मत से वह भूमि-खण्ड दक्षिण-पश्चिम की ओर भी ढालू हो सकता है। गड्ढा एक उठे हुए हाथों वाले पुरुष की लम्बाई का, एक **व्याम** (पूरी बाँह तक लम्बाई) के बराबर चौड़ा एवं एक **वितस्ति** (बारह अंगुल) गहरा होना चाहिए। श्मशान चतुर्दिक् खुला रहना चाहिए। इसमें जड़ी-बूटियों का समूह होना चाहिए, किन्तु कँटीले एवं दुग्धयुक्त पौधे निकाल बाहर कर देने चाहिए (देखिए आश्व० गृह्य० २।७।५, वास्तु-परीक्षा)। उस स्थान से पानी चारों ओर जाता हो, अर्थात् श्मशान कुछ ऊँची भूमि पर होना चाहिए। यह सब उस श्मशान के लिए है जहाँ शव जलाया जाता है। उन्हें शव के सिर के केश एवं नख काट

२४. चात्वाल एवं उत्कर के मध्य वाले यज्ञ-स्थान को जानेवाला मार्ग तीर्थ कहा जाता है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २९। स्तोत्रिय के लिए देखिए खण्ड २, अध्याय ३३। शतपथब्राह्मण (१२।५।२।५) ने मृत व्यक्ति के शरीर से सभी गन्दे पदार्थों के निकाल देने की परम्परा की ओर संकेत किया है, किन्तु इसे अकरणीय ठहराया है। उसका इतना ही कथन है—'उसके भीतर को स्वच्छ कर लेने के उपरान्त वह उस पर घृत का लेप करता है और इस प्रकार शरीर को यज्ञिय रूप में पवित्र कर देता है।'

२५. प्रयोगरत्न के सम्पादक ने नलद को उशीर कहा है। कुछ ग्रन्थों में नलद के स्थान पर जपा पुष्प की बात कही गयी है।

देने चाहिए (देखिए आश्व० गृह्य० ६।१०।२)। यज्ञिय घास एवं घृत का प्रबंध करना चाहिए। इसमें (अन्त्येष्टि क्रिया में) वे घृत को दही में डालते हैं। यही पृषदाज्य है जो पितरों के कृत्यों में प्रयुक्त होता है। (मृत के सम्बन्धी) उसकी पूताग्नियों एवं उसके पवित्र पात्रों को उस दिशा में जहाँ चिता के लिए गड्ढा खोदा गया है, ले जाते हैं। इसके उपरान्त विषम संख्या में बूढ़े (पुरुष और स्त्रियाँ साथ नहीं चलतीं) लोग शव को ढोते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि शव बैलगाड़ी में ढोया जाता है। कुछ लोगों ने व्यवस्था दी है कि (श्मशान में) एक रंग की या काली गाय या बकरी ले जानी चाहिए। (मृत के सम्बन्धी) बायें पैर में (एक रस्सी) बाँधते हैं और उसे शव के पीछे-पीछे लेकर चलते हैं। उसके उपरान्त (मृत के) अन्य सम्बन्धी यज्ञोपवीत नीचा करके (शरीर के चारों ओर करके) एवं शिखा खोलकर चलते हैं; वृद्ध लोग आगे-आगे और छोटी अवस्था वाले पीछे-पीछे चलते हैं। श्मशान के पास पहुँच जाने पर अन्त्येष्टि क्रिया करनेवाला अपने शरीर के वामांग को उसकी ओर करके चिता-स्थल की तीन बार परिक्रमा करते हुए उस पर शमी की टहनी से जल छिड़कता है और 'अपेत वीता वि च सर्पतातः' (ऋ० १०।१४।९) का पाठ करता है। (श्मशान के) दक्षिण-पूर्व कुछ उठे हुए एक कोण पर वह (पुत्र या कोई अन्य व्यक्ति) आहवनीय अग्नि, उत्तर-पश्चिम दिशा में गार्हपत्य अग्नि और दक्षिण-पश्चिम में दक्षिण अग्नि रखता है। इसके उपरान्त चिता-निर्माण में कोई निपुण व्यक्ति चितास्थल पर चिता के लिए लकड़ियाँ एकत्र करता है। तब कृत्यों को सम्पादित करनेवाला लकड़ी के ढूह पर (कुश) बिछाता है और उस पर कृष्ण हरिण का चर्म, जिसका केश वाला भाग ऊपर रहता है, रखता है और सम्बन्धी लोग गार्हपत्य अग्नि के उत्तर से और आहवनीय अग्नि की ओर सिर करके शव को चिता पर रखते हैं। वे तीन उच्च वर्णों में किसी भी एक वर्ण की मृत व्यक्ति की पत्नी को शव के उत्तर चिता पर सो जाने को कहते हैं और यदि मृत क्षत्रिय रहता है तो उसका धनुष उत्तर में रख दिया जाता है। देवर, पति का कोई प्रतिनिधि या कोई शिष्य या पुराना नौकर या दास 'उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम्' (ऋ० १०।१८।८) मन्त्र के साथ उस स्त्री को उठ जाने को कहता है।[२६] यदि शूद्र उठने को कहता है तो मन्त्रपाठ अन्त्येष्टि-क्रिया करनेवाला ही करता है, और 'धनुर्हस्तादाददानो' (ऋ०१०।१८।९) के साथ धनुष उठा लेता है। प्रत्यंचा को तानकर (चिता बनाने के पूर्व, जिसका वर्णन नीचे होगा) उसे टुकड़े-टुकड़े करके लकड़ियों के समूह पर फेंक देता है।[२७] इसके उपरान्त उसे शव पर निम्नलिखित यज्ञिय वस्तुएँ रखनी चाहिए; दाहिने

२६. बहुत-से सूत्र पत्नी को शव के उत्तर में चिता पर सो जाने और पुनः उठ जाने की बात कहते हैं। देखिए कौशिकसूत्र (८०।४४-४५) 'इयं नारीति पत्नीमुपसंवेशयति। उदीर्ष्वेत्युत्थापयति।' ये दोनों मन्त्र अथर्ववेद (१८।३।१-२) के हैं। सत्याषाढश्रौतसूत्र (२८।२।१४-१६) का कथन है कि शव को चिता पर रखने के पूर्व पत्नी 'इयं नारी' उच्चारण के साथ उसके पास सुलायी जाती है और उसके उपरान्त देवर या कोई ब्राह्मण 'उदीर्ष्व नारी' के साथ उसे उठाता है। वही सूत्र (२८।२।२२) यह भी कहता है कि शव को चिता पर रखे जाने पर या उसके पूर्व पत्नी को उसके पास सुलाना चाहिए।

२७. यहाँ पर शतपथ ब्राह्मण (१२।५।२।६) एवं कुछ सूत्र (यथा—कात्यायनश्रौतसूत्र २५।७।१९; शांखायनश्रौतसूत्र ४।१४।१६-३५; सत्याषाढश्रौतसूत्र २४।२।२३-५०; कौशिकसूत्र ८१।१-१९; बौधायनपितृमेधसूत्र १।८-९) तथा गोभिल (३।३४) जैसी कुछ स्मृतियाँ इतना और जोड़ देती हैं कि सात मार्मिक वायु-स्थानों, यथा मुख, दोनों नासारंध्रों, दोनों आँखों एवं दोनों कर्णों पर वे सोने के टुकड़े रखते हैं। कुछ लोगों ने यह भी कहा है कि घृतमिश्रित तिल भी शव पर छिड़के जाते हैं। गौतमपितृमेधसूत्र (२।७।१२) का कथन है कि अध्वर्यु मृत शरीर के सिर पर कपालों (गोल पात्रों) को रखता है।

हाथ में जुहू नामक चमस, बायें हाथ में उपभृत चमस, दाहिनी ओर स्फ्य (काठ की तलवार), बायीं ओर अग्निहोत्रहवणी (वह दर्वी या चमस जिससे अग्नि में हवि डाली जाती है), छाती, सिर, दाँतों पर क्रम से स्रुव (बड़ी यज्ञिय दर्वी), पात्र (या कपाल अर्थात् गोल पात्र) एवं रस निकालने वाले प्रस्तर खण्ड (पत्थर के वे टुकड़े जिनसे सोमरस निकाला जाता है), दोनों नासिका-रंध्रों पर दो छोटे-छोटे स्रुव, कानों पर दो प्राशित्र-हरण[२८] (यदि एक ही हो तो दो टुकड़े करके), पेट पर पात्री (जिसमें हवि देने के पूर्व हव्य एकत्र किये जाते हैं) एवं चमस (जिसमें इडा भाग काटकर रखा जाता है), गुप्तांगों पर शम्या, जाँघों पर दो अरणियाँ (जिनके घर्षण से अग्नि प्रज्वलित की जाती है), पैरों पर उखल (ओखली) एवं मुसल (मूसल), पाँवों पर शूर्प (सूप) या यदि एक ही हो तो उसे दो भागों में करके। वे वस्तुएँ जिनमें गड्ढे होते हैं (अर्थात् जिनमें तरल पदार्थ रखे जा सकते हैं), उनमें पृषदाज्य (घृत एवं दही का मिश्रण) भर दिया जाता है। मृत के पुत्र को स्वयं चक्की के ऊपरी एवं निचले पाट ग्रहण करने चाहिए, उसे वे वस्तुएँ भी ग्रहण करनी चाहिए जो ताम्र, लोह या मिट्टी की बनी होती हैं। किस वस्तु को कहाँ रखा जाय, इस विषय में मतैक्य नहीं है। जैमिनि (११।३।३४) का कथन है कि यजमान के साथ उसकी यज्ञिय वस्तुएँ (वे उपकरण या वस्तुएँ जो यज्ञ-सम्पादन के काम आती हैं) जला दी जाती हैं और इसे प्रतिपत्ति कर्म नामक प्रमेय (सिद्धान्त) की संज्ञा दी जाती है अर्थात् इसे यज्ञपात्रों का प्रतिपत्तिकर्म कहा जाता है।"

शतपथ ब्राह्मण (१२।५।२।१४) का कथन है कि पत्थर एवं मिट्टी के बने यज्ञ-पात्र किसी ब्राह्मण को दान दे देने चाहिए, किन्तु लोग मिट्टी के पात्रों को शववाहन समझते हैं, अतः उन्हें जल में फेंक देना चाहिए। अनुस्तरणी (बकरी या गाय) की वपा निकालकर उससे (अन्त्येष्टि क्रिया करनेवाले द्वारा) मृत के मुख एवं सिर को ढँक देना चाहिए और ऐसा करते समय 'अग्नेर्वर्म' (ऋ० १०।१६।७) का पाठ करना चाहिए। पशु के दोनों वृक्क निकालकर मृत के हाथों में रख देने चाहिए—दाहिना वृक्क दाहिने हाथ में और बायाँ बायें हाथ में—और 'अतिद्रव' (ऋ० १०।१४।१०) का केवल एक बार पाठ करना चाहिए। वह पशु के हृदय को शव के हृदय पर रखता है, कुछ लोगों के मत से भात या जौ के आटे के दो पिण्ड भी रखता है।[२९] शव के अंगों पर पशु के वही अंग काट-काटकर रख देता है और पुनः उसकी खाल से शव को ढँककर प्रणीता के जल को आगे ले जाते समय वह (अन्त्येष्टि कर्म करने वाला) 'इमम् अग्ने' (ऋ० १०।१६।८) का आह्वान के रूप में पाठ करता है। अपना बायाँ घुटना मोड़कर वह दक्षिण-अग्नि में घृत की

२८. प्राशित्रहरण वह पात्र है जिसमें ब्रह्मा पुरोहित के लिए पुरोडाश का एक भाग रखा जाता है। शम्या हल के जुए की काँटी को कहा जाता है।

२९. कात्यायनश्रौतसूत्र के अनुसार अनुस्तरणी पशु को कान के पास घायल करके मारा जाता है। जातूकर्ण्य के मत से शव के विभिन्न भागों पर पशु के उन्हीं भागों के अंग रखे जाते हैं। किन्तु कात्यायन इसे नहीं मानते क्योंकि ऐसा करने पर जलाने के पश्चात् अस्थियों को एकत्र करते समय पशु की अस्थियाँ भी एकत्र हो जायँगी, अतः उनके मत से केवल मांस-भाग ही शव के अंगों में लगाना चाहिए। मिलाइए शतपथब्राह्मण (१२।५।१-१२)। आश्वलायनगृह्यसूत्र (४।२।४) ने (जैसी कि नारायण ने व्याख्या की है) कहा है कि पशु का प्रयोग विकल्प से होता है, अर्थात् या तो पशु काटा जा सकता है या छोड़ दिया जा सकता है या किसी ब्राह्मण को दे दिया जा सकता है (देखिए बौधायनपितृमेधसूत्र १।१०।२ भी)। शांखायनश्रौतसूत्र (४।१४।१४-१५) का कथन है कि मारे गये या जीवित पशु के दोनों वृक्क पीछे से निकालकर दक्षिण अग्नि में थोड़ा गर्म करके मृत के दोनों हाथों में रख देने चाहिए और 'अतिद्रव' (ऋ० १०।१४।१०-११) का पाठ करना चाहिए।

चार आहुति यह कहकर डालता है—'अग्नि को स्वाहा ! सोम को स्वाहा ! लोक को स्वाहा ! अनुमति को स्वाहा !' पाँचवीं आहुति शव की छाती पर यह कहकर दी जाती है 'यहाँ से तू उत्पन्न हुआ है ! वह तुझसे उत्पन्न हो, न न। स्वर्गलोक को स्वाहा' (वाजसनेयी संहिता २५।२२)। इसके उपरान्त आश्वलायनगृह्यसूत्र (४।४।२-५) यह बताता है कि यदि आहवनीय अग्नि या गार्हपत्य या दक्षिण अग्नि शव के पास प्रथम पहुँचती है या सभी अग्नियाँ एक साथ ही शव के पास पहुँचती हैं तो क्या समझना चाहिए; और जब शव जलता रहता है तो वह उस पर मन्त्रपाठ करता है (ऋ० १०।१४।७ आदि)। जो व्यक्ति यह सब जानता है, उसके द्वारा जलाये जाने पर धूम के साथ मृत व्यक्ति स्वर्गलोक जाता है, ऐसा ही (श्रुति से) ज्ञात है। 'इमे जीवाः' (ऋ० १०।१८।३) के पाठ के उपरान्त सभी (सम्बन्धी) लोग दाहिने से बायें घूमकर बिना पीछे देखे चल देते हैं। वे किसी स्थिर जल के स्थल पर आते हैं और उसमें एक बार डुबकी लेकर और दोनों हाथों को ऊपर करके मृत का गोत्र, नाम उच्चारित करते हैं, बाहर आते हैं, दूसरा वस्त्र पहनते हैं, एक बार पहने हुए वस्त्र को निचोड़ते हैं और अपने कुरतों के साथ उन्हें उत्तर की ओर दूर रखकर वे तारों के उदय होने तक बैठे रहते हैं या जब सूर्यास्त का एक अंश दिखाई देता है तो वे घर लौट आते हैं, छोटे लोग पहले और बूढ़े लोग अन्त में प्रवेश करते हैं। घर लौटने पर वे पत्थर, अग्नि, गोबर, भुने जौ, तिल एवं जल स्पर्श करते हैं। और देखिए शतपथ ब्राह्मण (१३।८।४।५) एवं वाजसनेयी संहिता (३५-१४, ऋ० १।५०।१०) जहाँ अन्य कृत्य भी दिये गये हैं, यथा स्नान करना, जल-तर्पण करना, बैल को छूना, आँख में अंजन लगाना तथा शरीर में अंगराग लगाना।

गृह्यसूत्रों में वर्णित अन्य बातें स्थानाभाव से यहाँ नहीं दी जा सकतीं। कुछ मनोरंजक बातें दी जा रही हैं। शतपथ ब्राह्मण (१३।८।४।११) एवं पारस्करगृह्यसूत्र (३।१०।१०) ने स्पष्ट लिखा है कि जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार श्रौत अग्निहोत्र करनेवाले व्यक्ति की, अन्तर केवल इतना होता है कि आहिताग्नि तीनों वैदिक अग्नियों के साथ जला दिया जाता है, जिसके पास केवल स्मार्त अग्नि या औपासन अग्नि होती है, वह उसके साथ जला दिया जाता है और साधारण लोगों का शव केवल साधारण अग्नि से जलाया जाता है। देवल का कथन है कि साधारण अग्नि के प्रयोग में चाण्डाल की अग्नि या अशुद्ध अग्नि या सूतकगृह-अग्नि या पतित के घर की अग्नि या चिता की अग्नि का व्यवहार नहीं करना चाहिए। पितदयिता के मत से जिसने अग्निहोत्र न किया हो, उसके लिए 'अस्मात् त्वम् आदि' मंत्र का पाठ नहीं करना चाहिए। पार० गृ० सूत्र ने व्यवस्था दी है कि एक ही गाँव के रहनेवाले संबंधी एक ही प्रकार का कृत्य करते हैं, वे एक ही वस्त्र धारण करते हैं, यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे से लटकाते हैं और बायें हाथ की चौथी अँगुली से वाजसनेयी संहिता (३५।६) के साथ जल तर्पण करते हैं तथा दक्षिणाभिमुख होकर जल में डुबकी लेते हैं और अंजलि से एक बार जल तर्पण करते हैं। आप० ध० सू० (२।६।१५।२-७) का कथन है कि जब किसी व्यक्ति की माता या पिता की सातवीं पीढ़ी के संबंधी या जहाँ तक वंशावली ज्ञात हो, वहाँ तक के व्यक्ति मरते हैं तो एक वर्ष से छोटे बच्चों को छोड़कर सभी लोगों को स्नान करना चाहिए। जब एक वर्ष से कम अवस्था वाला बच्चा मरता है तो माता-पिता एवं उनको जो बच्चे का शव ढोते हैं, स्नान करना चाहिए। उपर्युक्त सभी लोगों को बाल नहीं सँवारने चाहिए, बालों से धूल हटा देनी चाहिए, एक ही वस्त्र धारण करना चाहिए, दक्षिणाभिमुख होना चाहिए, पानी में डुबकी लगानी चाहिए, मृत को तीन बार जल तर्पण करना चाहिए और नदी या जलाशय के पास बैठ जाना चाहिए, इसके पश्चात् गाँव को लौट आना चाहिए तथा स्त्रियाँ जो कुछ कहें उसे करना चाहिए (अग्नि, पत्थर, बैल आदि स्पर्श करना चाहिए)। याज्ञ० (३।२) ने भी ऐसे नियम दिये हैं और 'अप नः शोशुचद् अघम्' (ऋ० १।९७।१; अथर्व० ४।३३।१ एवं तैत्तिरीयारण्यक ६।१०।१)) के पाठ की व्यवस्था दी है। गौतमपितृमेधसूत्र (२।२३) के मत से चिता का निर्माण यज्ञिय वृक्ष की लकड़ी से करना चाहिए और सपिण्ड

लोग जिनमें स्त्रियाँ और विशेषतः कम अवस्था वाली सबसे आगे रहती हैं, चिता पर रखे गये शव पर अपने वस्त्र के अन्त-भाग (आँचल) से हवा करते हैं, अन्त्येष्टि क्रिया करनेवाला एक जलपूर्ण घड़ा लेता है और अपने सिर पर दर्मेण्डू (?) रखता है और तीन बार शव की परिक्रमा करता है, पुरोहित घड़े पर एक पत्थर (अश्म) या कुल्हाड़ी से धीमी चोट करता है और 'इमा आपः आदि' का पाठ करता है। जब टूटे घड़े से जल की धार बाहर निकलने लगती है तो मन्त्र के शब्दों में कुछ परिवर्तन हो जाता है, यथा 'अस्मिन् लोके' के स्थान पर 'अन्तरिक्षे आदि'। अन्त्येष्टिकर्त्ता खड़े रूप में जलपूर्ण घड़े को पीछे फेंक देता है। इसके उपरान्त 'तस्मात् त्वमधिजातोसि. . . .असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' के पाठ के साथ शव को जलाने के लिए चिता में अग्नि प्रज्वलित करता है (गौ० पि० सू० १।३।१-१३)। शत० ब्रा० (२८।१।३८) का कथन है कि घर के लोग अपनी दाहिनी जाँघों को पीटते हैं, आँचल से शव पर हवा करते हैं और तीन बार शव की बायें ओर होकर परिक्रमा करते हैं तथा 'अप नः शोशुचदघम्' (ऋ० १।४७।१ तथा तै० आ० ६।१०-१) पढ़ते हैं। इसने आगे कहा है (२८।१।३७-४६) कि शव किसी गाड़ी में या चार पुरुषों द्वारा ढोया जाता है, और ढोते समय चार स्थानों पर रोका जाता है और उन चारों स्थानों पर पृथ्वी खोद दी जाती है और उसमें भात का पिंड 'पूषा त्वेतः' (ऋ० १०।१७।३ एवं तै० आ० ६।१०।१) एवं 'आयुर्विश्वायुः' (ऋ० १०।१७।४ एवं तै० आ० ६।१०।२) मन्त्रों के साथ आहुति के रूप में रख दिया जाता है। वराहपुराण के अनुसार पौराणिक मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए, अन्त्येष्टिकर्त्ता को चिता की परिक्रमा करनी चाहिए और उसके उस भाग में अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए जहाँ पर सिर रखा रहता है।

आधुनिक काल में अन्त्येष्टिक्रिया की विधि सामान्यतः उपर्युक्त आश्वलायनगृह्यसूत्र के नियमों के अनुसार या गरुड़पुराण (२।४।४१) में वर्णित व्यवस्था पर आधारित है। स्थानाभाव से हम इसका वर्णन यहाँ उपस्थित नहीं कर सकेंगे। एक बात और है, विभिन्न स्थानों में विभिन्न विधियाँ परम्परा से प्रयुक्त होती आयी हैं। एक स्थान की विधि दूसरे स्थान में ज्यों की त्यों नहीं पायी जाती। इस प्रकार की विभिन्नता के मूल में विभिन्न शाखाएँ आदि हैं।

शव को ले जाने के विषय में कई प्रकार के नियमों की व्यवस्था है। हमने ऊपर देख लिया है कि शव गाड़ी में ले जाया जाता था या सम्बन्धियों या नौकरों (दासों) द्वारा विशिष्ट प्रकार से बने पलंग या कुर्सी या अरथी द्वारा ले जाया जाता था। इस विषय में कुछ सूत्रों, स्मृतियों, टीकाओं एवं अन्य ग्रंथों ने बहुत-से नियम प्रतिपादित किये हैं। रामायण (अयोध्या० ७६।१३) में आया है कि दशरथ की मृत्यु पर उनके पुरोहितों द्वारा शव के आगे वैदिक अग्नियाँ ले जायी जा रही थीं, शव एक पालकी (शिबिका) में रखा हुआ था, नौकर ढो रहे थे, सोने के सिक्के एवं वस्त्र अरथी के आगे दरिद्रों के लिए फेंके जा रहे थे। सामान्य नियम यह था कि तीन उच्च वर्णों में शव को मृत व्यक्ति के वर्ण वाले ही ढोते थे और शूद्र उच्च वर्ण का शव तब तक नहीं ढो सकते थे जब तक उस वर्ण के लोग नहीं पाये जाते थे। उच्च वर्ण के लोग शूद्र के शव को नहीं ढोते थे और इस नियम का पालन न करने पर तत्सम्बन्धी अशौच मृत व्यक्ति की जाति से निर्णीत होता था। देखिए विष्णुधर्मसूत्र (९।१-४), गौतमधर्मसूत्र (१४।२९), मनु (५।१०४), याज्ञ० (३।२६) एवं पराशर० (३।४३-४५)। ब्रह्मचारी को किसी व्यक्ति या अपनी जाति के किसी व्यक्ति के शव को ढोने की आज्ञा नहीं थी, किन्तु वह अपने माता-पिता, गुरु, आचार्य एवं उपाध्याय के शव को ढो सकता था और ऐसा करने पर उसे कोई कल्मष नहीं लगता था। देखिए वसिष्ठ (२३।७), मनु (५।९१), याज्ञ० (३।१५), लघु हारीत (९२-९३), ब्रह्मपुराण (पराशरमाधवीय १।२ पृ० २७८)। गुरु, आचार्य और उपाध्याय की परिभाषा याज्ञ० (१।३४-३५) ने दी है। यदि कोई ब्रह्मचारी उपर्युक्त पाँच व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी अन्य का शव ढोता था तो उसका ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित माना जाता था और उसे व्रतलोप का प्रायश्चित्त करना पड़ता था। मनु (५।१०३ एवं याज्ञ० ३।१३-१४) का कथन है कि जो लोग स्वजातीय व्यक्ति का शव ढोते हैं उन्हें वस्त्रसहित स्नान करना चाहिए; नीम की

पत्तियाँ दाँत से चबानी चाहिए; आचमन करना चाहिए; अग्नि, जल, गोबर, श्वेत सरसों का स्पर्श करना चाहिए; धीरे से किसी पत्थर पर पैर रखना चाहिए और तब घर में प्रवेश करना चाहिए। सपिण्डों का यह कर्तव्य है कि वे अपने सम्बन्धी का शव ढोएँ, ऐसा करने के उपरान्त उन्हें केवल स्नान करना होता है, अग्नि को छूना होता है और पवित्र होने के लिए घृत पीना पड़ता है (गौ० १४।२९; याज्ञ० ३।२६; मनु ४।१०३; परा० ३।४२; देवल, परा० मा० १।२, पृ० २७७ एवं हारीत, अपरार्क पृ० ८७१)।

सपिण्ड-रहित ब्राह्मण के मृत शरीर को ढोनेवाले की पराशर (३।३।४१) ने बड़ी प्रशंसा की है और कहा है कि जो व्यक्ति मृत ब्राह्मण के शरीर को ढोता है वह प्रत्येक पग पर एक-एक यज्ञ के सम्पादन का फल पाता है और केवल पानी में डुबकी लेने और प्राणायाम करने से ही पवित्र हो जाता है। मनु (५।१०१-१०२) का कथन है कि जो व्यक्ति किसी सपिण्डरहित व्यक्ति के शव को प्रेमवश ढोता है वह तीन दिनों के उपरान्त ही अशौचरहित हो जाता है। आदिपुराण को उद्धृत करते हुए हारलता (पृ० १२१) ने लिखा है कि यदि कोई क्षत्रिय या वैश्य किसी दरिद्र ब्राह्मण या क्षत्रिय (जिसने सब कुछ खो दिया हो) के या दरिद्र वैश्य के शव को ढोता है, वह बड़ा यश एवं पुण्य पाता है और स्नान के उपरान्त ही पवित्र हो जाता है। सामान्यतः आज भी (विशेषतः ग्रामों में) एक ही जाति के लोग शव को ढोते हैं या साथ जाते हैं और वस्त्रसहित स्नान करने के उपरान्त पवित्र मान लिये जाते हैं। कुछ मध्य काल की टीकाओं, यथा मिताक्षरा ने जाति-संकीर्णता की भावना से प्रेरित होकर व्यवस्था दी है कि "यदि कोई व्यक्ति प्रेमवश शव ढोता है, मृत के परिवार में भोजन करता है और वहीं रह जाता है तो वह दस दिनों तक अशौच में रहता है; यदि वह मृत व्यक्ति के घर में केवल रहता है और भोजन नहीं करता तो वह तीन दिनों तक अशौच में रहता है। यह नियम तभी लागू होता है जब कि शव को ढोनेवाला मृत की जाति का रहता है। यदि ब्राह्मण किसी मृत शूद्र के शव को ढोता है तो वह एक मास तक अपवित्र रहता है, किन्तु यदि कोई शूद्र किसी मृत ब्राह्मण के शव को ढोता है तो वह दस दिनों तक अशौच में रहता है।" कूर्मपुराण ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई ब्राह्मण किसी मृत ब्राह्मण के शव को शुल्क लेकर ढोता है या किसी अन्य स्वार्थ के लिए ऐसा करता है तो वह दस दिनों तक अपवित्र (अशौच में) रहता है, और इसी प्रकार कोई क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ऐसा करता है तो क्रम से १२, १५ एवं ३० दिनों तक अपवित्र रहता है।

विष्णुपुराण का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति शुल्क लेकर शव ढोता है तो वह मृत व्यक्ति की जाति के लिए व्यवस्थित अवधि तक अपवित्र रहता है। हारीत (मिता०, याज्ञ० ३।२; मदनपारिजात पृ० ३९५) के मत से शव को मार्ग के गाँवों में से होकर नहीं ले जाना चाहिए। मनु (५।९२) एवं वृद्ध-हारीत (९।-१००-१०१) का कथन है कि शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण का मृत शरीर क्रम से ग्राम या बस्ती के दक्षिणी, पश्चिमी, उत्तरी एवं पूर्वी मार्ग से ले जाना चाहिए। यम एवं गरुड़पुराण (२।४।५६-५८) का कथन है कि चिता के लिए अग्नि, काष्ठ (लकड़ी), तृण, हवि आदि उच्च वर्णों की अन्त्येष्टि के लिए शूद्र द्वारा नहीं ले जाना चाहिए, नहीं तो मृत व्यक्ति सदा प्रेतावस्था में ही रह जायगा। हारलता (पृ० १२१) का कथन है कि यदि शूद्रों द्वारा लकड़ी ले जायी जाय तो ब्राह्मण के शव के चिता-निर्माण के लिए ब्राह्मण ही प्रयुक्त होना चाहिए। स्मृतियों एवं पुराणों ने व्यवस्था दी है कि शव को नहलाकर जलाना चाहिए, शव को नग्न रूप में कभी न जलाना चाहिए, उसे वस्त्र से ढँका रहना चाहिए, उस पर पुष्प रखने चाहिए और चन्दन-लेप करना चाहिए; अग्नि को शव के मुख की ओर ले जाना चाहिए। किसी व्यक्ति को कच्ची मिट्टी के पात्र में पकाया हुआ भोजन ले जाना चाहिए, किसी अन्य व्यक्ति को उस भोजन का कुछ अंश मार्ग में रख देना चाहिए और चाण्डाल आदि (जो श्मशान में रहते हैं) के लिए वस्त्र आदि दान करना चाहिए।

ब्रह्मपुराण (शुद्धिप्रकाश, पृ० १५९) का कथन है कि शव को श्मशान ले जाते समय वाद्ययन्त्रों द्वारा पर्याप्त निनाद किया जाता है।[30]

शव को जलाने के उपरान्त, अन्त्येष्टि-क्रिया के अंग के रूप में कर्ता को वपन (मुंडन) करवाना पड़ता है और उसके उपरान्त स्नान करना होता है, किन्तु वपन के विषय में कई नियम हैं। स्मृति-वचन यों है—'दाढ़ी-मूँछ बनवाना सात बातों में घोषित है, यथा—गंगातट पर, भास्कर क्षेत्र में, माता, पिता या गुरु की मृत्यु पर, श्रौताग्नियों की स्थापना पर एवं सोमयज्ञ में।'[31] अन्त्यकर्मदीपक (पृ० १९) का कथन है कि अन्त्येष्टि-क्रिया करनेवाले पुत्र या किसी अन्य कर्ता को सबसे पहले वपन कराकर स्नान करना चाहिए और तब शव को किसी पवित्र स्थल पर ले जाना चाहिए तथा वहाँ स्नान कराना चाहिए, या यदि ऐसा स्थान वहाँ न हो तो शव को स्नान करानेवाले जल में गंगा, गया या अन्य तीर्थों का आवाहन करना चाहिए, इसके उपरान्त शव पर घी या तिल के तेल का लेप करके पुनः उसे नहलाना चाहिए, नया वस्त्र पहनाना चाहिए, यज्ञोपवीत, गोपीचन्दन, तुलसी की माला से सजाना चाहिए और सम्पूर्ण शरीर में चन्दन, कपूर, कुंकुम, कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। यदि अन्त्येष्टि-क्रिया रात्रि में हो तो रात्रि में वपन नहीं होना चाहिए बल्कि दूसरे दिन होना चाहिए।[32] अन्य स्मृतियों ने दूसरे, तीसरे, पाँचवें या सातवें दिन या ग्यारहवें दिन के श्राद्ध-कर्म के पूर्व किसी दिन भी वपन की व्यवस्था दी है।[33] आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।३।१०।६) के मत से मृत व्यक्ति से छोटे सभी सपिण्ड लोगों को वपन कराना चाहिए। मदनपारिजात का कथन है कि अन्त्येष्टि-कर्ता को वपन-कर्म प्रथम दिन तथा अशौच की समाप्ति पर कराना चाहिए, किन्तु शुद्धिप्रकाश (पृ० १६२) ने मिता० (याज्ञ० ३।१७) के मत का समर्थन करते हुए कहा है कि वपन-कर्म का दिन स्थान-विशेष की परम्परा पर निर्भर है। वाराणसी सम्प्रदाय के मत से कर्ता अन्त्येष्टि-कर्म के समय वपन कराता है, किन्तु मिथिला सम्प्रदाय के मत से अन्त्येष्टि के समय वपन नहीं होता।

गरुड़पुराण (२।४।६७-६९) के मत से घोर रुदन शव-दाह के समय किया जाना चाहिए, किन्तु दाह-कर्म एवं जल-तर्पण के उपरान्त रुदन-कार्य नहीं होना चाहिए।

३०. भरत ने चार प्रकार के वाद्यों की चर्चा यों की है—'ततं चैवावनद्धं घनं सुषिरमेव च।' अमरकोश ने उन्हें निम्न प्रकार से समझाया है—'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम्। वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम्।'

३१. गंगायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरोमृतौ। आधानकाले सोमे च वपनं सप्तसु स्मृतम्।। देखिए मिता० (याज्ञ० ३।१७), परा० मा० (१।२, पृ० २९६), शुद्धिप्रकाश (पृ० १६१), प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ४९३)। भास्कर क्षेत्र प्रयाग का नाम है।

३२. रात्रौ दग्ध्वा तु पिण्डान्तं कृत्वा वपनवर्जितम्। वपनं नेष्यते रात्रौ श्वस्तनी वपनक्रिया।। संग्रह (शुद्धिप्रकाश, पृ० १६१)।

३३. अलुप्तकेशो यः पूर्वं सोऽत्र केशान् प्रवापयेत्। द्वितीये तृतीयेऽह्नि पञ्चमे सप्तमेऽपि वा ।। यावच्छ्राद्धं प्रदीयेत तावदित्यपरं मतम्।। बौधायन (परा० मा० १।२, पृ० २); वपनं दशमेऽहनि कार्यम्। तदाह देवलः। दशमेऽहनि संप्राप्ते स्नानं ग्रामाद् बहिर्भवेत्। तत्र त्याज्यानि वासांसि केशश्मश्रुनखानि च।। (मिता०, याज्ञ० ३।१७); मदनपारिजात (पृ० ४१६) ने देवल आदि को उद्धृत करते हुए लिखा है—'पञ्चमादिदिनेषु कृतक्षौरस्यापि शुद्ध्यर्थं दशमदिनेपि वपनं कर्तव्यम्।'

सपिण्डों एवं समानोदकों द्वारा मृत के लिए जो उदकक्रिया या जलदान होता है उसके विषय में मतैक्य नहीं है। आश्व० गृह्य० ने केवल एक बार जल-तर्पण की बात कही है, किन्तु सत्याषाढश्रौ० (२८।२।७२) आदि ने व्यवस्था दी है कि तिलमिश्रित जल अंजलि द्वारा मृत्यु के दिन मृत का नाम एवं गोत्र बोलकर तीन बार दिया जाता है और ऐसा ही प्रति दिन ग्यारहवें दिन तक किया जाता है।[34] गौतमधर्मसूत्र (१४।३८) एवं वसिष्ठ० (४।१२) ने व्यवस्था दी है कि जलदान सपिण्डों द्वारा प्रथम, तीसरे, सातवें एवं नवें दिन दक्षिणाभिमुख होकर किया जाता है, किंतु हरदत्त का कथन है कि सब मिलाकर कुल ७५ अञ्जलियाँ देनी चाहिए (प्रथम दिन ३, तीसरे दिन ९, सातवें दिन ३० एवं नवें दिन ३३), किन्तु उनके देश में परम्परा यह थी कि प्रथम दिन अंजलि द्वारा तीन बार और आगे के दिनों में एक-एक अंजलि अधिक जल दिया जाता था। विष्णुधर्मसूत्र (१९।७ एवं १३), प्रचेता एवं पैठीनसि (अपरार्क पृ० ८७४) ने व्यवस्था दी है कि मृत को जल एवं पिण्ड दस दिनों तक देते रहना चाहिए।[35] शुद्धिप्रकाश (पृ० २०२) ने गृह्यपरिशिष्ट के कतिपय वचन उद्धृत कर लिखा है कि कुछ के मत से केवल १० अंजलियाँ और कुछ के मत से १०० और कुछ के मत से ५५ अंजलियाँ दी जाती हैं, अतः इस विषय में लोगों को अपनी वैदिक शाखा के अनुसार परम्परा का पालन करना चाहिए। यही बात आश्व० गृह्य० परिशिष्ट (३।४) ने भी कही है। गरुड़पुराण (प्रेतखंड, ५।२२-२३) ने भी १०, ५५ या १०० अञ्जलियों की चर्चा की है। कुछ स्मृतियों ने जाति के आधार पर अञ्जलियों की संख्या दी है। प्रचेता (मिता०, याज्ञ० ३।४) के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र मृतक के लिए क्रम से १०, १२, १५ एवं ३० अंजलियाँ दी जानी चाहिए। यम (श्लोक ९२-९४) ने लिखा है कि नाभि तक पानी में खड़े होकर किस प्रकार जल देना चाहिए और कहा है (श्लोक ९८) कि देवों एवं पितरों को जल में और जिनका उपनयन-संस्कार न हुआ हो उनके लिए भूमि में खड़े होकर जल-तर्पण करना चाहिए। देवयाज्ञिक द्वारा उद्धृत एक स्मृति में आया है कि मृत्यु-काल से आगे ६ पिण्ड निम्न रूप से दिये जाने चाहिए ; मृत्यु-स्थल पर, घर की देहली पर, चौराहे पर, श्मशान के मार्ग पर जहाँ शव-यात्री रुकते हैं, चिता पर तथा अस्थियों को एकत्र करते समय। स्मृतियों में ऐसा भी आया है कि लगातार दस दिनों तक तैल का दीप जलाना चाहिए, जलपूर्ण मिट्टी का घड़ा भी रखा रहना चाहिए और मृत का नाम-गोत्र कहकर दोपहर के समय एक मुट्ठी भात भूमि पर रखना चाहिए। इसे पाथेय श्राद्ध कहा जाता है, क्योंकि इससे मृत को यमलोक जाने में सहायता मिलती है (धर्मसिन्धु, पृ० ४६३)। कुछ निबन्धों के मत से मृत्यु के दिन सपि-

३४. केशान् प्रकीर्य पांसूनोप्यैकवाससो दक्षिणामुखाः सकृदुन्मज्ज्योत्तीर्य सव्यं जान्वाच्य वासः पीडयित्वोपविशन्त्येवं त्रिस्तत्प्रत्ययं गोत्रनामधेयं तिलमिश्रमुदकं त्रिरुत्सिच्याहरहरञ्जलिनैकोत्तरवृद्धिरैकादशाहात्। सत्याषाढश्रौत० (२८।२।७२)। यही बात गौ० पि० सू० (१।४।७) ने भी कही है। जल-तर्पण इस प्रकार होता है--'काश्यपगोत्र देवदत्त शर्मन्, एतत्ते उदकम्' या 'काश्यपगोत्राय देवदत्तशर्मणे प्रेतायैतत्तिलोदकं ददामि' (हरदत्त) या 'देवदत्तनामा काश्यपगोत्रः प्रेतस्तृप्यतु' (मिता०, याज्ञ० ३।५)। और देखिए गोभिलस्मृति (३।३६-३७, अपरार्क पृ० ८७४ एवं परा० मा० १।२, पृ० २८७)।

३५. दिने दिनेऽञ्जलीन् पूर्णान् प्रदद्यात्प्रेतकारणात्। तावद् वृद्धिश्च कर्तव्या यावत्पिण्डः समाप्यते।। प्रचेता (मिता०, याज्ञ० ३।३); 'यावदाशौचं तावत्प्रेतस्योदकं पिण्डं च दद्युः।' वि० ध० सू० (१९।१३)। यदि एक दिन केवल एक ही अंजलि जल दिया जाय तो दस दिनों में केवल दस अंजलियाँ होंगी, यदि प्रति दिन १० अंजलियाँ दी जायँ तो १००, किन्तु यदि प्रथम दिन एक अंजलि और उसके उपरान्त प्रति दिन एक अंजलि बढ़ाते जायँ तो कुल मिलाकर ५५ अंजलियाँ होंगी।

ण्डों द्वारा वपन, स्नान, ग्राम एवं घर में प्रवेश कर लेने के उपरान्त नग्न-प्रच्छादन नामक श्राद्ध करना चाहिए। नग्न-प्रच्छादन श्राद्ध में एक घड़े में अनाज भरा जाता है, एक पात्र में घृत एवं सामर्थ्य के अनुसार सोने के टुकड़े या सिक्के भरे जाते हैं। अन्नपूर्ण घड़े की गरदन वस्त्र से बँधी रहती है। विष्णु का नाम लेकर दोनों पात्र किसी कुलीन दरिद्र ब्राह्मण को दे दिये जाते हैं (देखिए स्मृतिमुक्ताफल, पृ० ५९५-५९६ एवं स्मृतिचन्द्रिका, पृ० १७६)।

स्मृतियों एवं पुराणों (यथा—कूर्मपुराण, उत्तरार्ध २३।७०) के मत से अंजलि से जल देने के उपरान्त पके हुए चावल या जौ का पिण्ड तिलों के साथ दर्भ पर दिया जाता है। इस विषय में दो मत हैं। याज्ञ० (३।१६) के मत से पिण्डपितृयज्ञ की व्यवस्था के अनुसार तीन दिनों तक एक-एक पिण्ड दिया जाता है (इसमें जनेऊ दाहिने कंधे पर या अपसव्य रखा जाता है); विष्णु० (१९।१३) के मत से अशौच के दिनों में प्रति दिन एक पिण्ड दिया जाता है। यदि मृत व्यक्ति का उपनयन हुआ है तो पिण्ड दर्भ पर दिया जाता है, किन्तु मन्त्र नहीं पढ़ा जाता, यो पिण्ड पत्थर पर भी दिया जाता है। जल तो प्रत्येक सपिण्ड या अन्य कोई भी दे सकता है, किन्तु पिण्ड पुत्र (यदि कई पुत्र हों तो ज्येष्ठ पुत्र, यदि वह दोषरहित हो) देता है; पुत्रहीनता पर भाई या भतीजा देता है और उनके अभाव में माता के सपिण्ड, यथा मामा या ममेरा भाई आदि देते हैं।[३६] वैसी स्थिति में भी जब पिण्ड तीन दिनों तक दिये जाते हैं या जब अशौच केवल तीन दिनों का रहता है, शातातप ने पिण्डों की संख्या १० दी है और पारस्कर ने उन्हें निम्न रूप से बाँटा है; प्रथम दिन ३, दूसरे दिन ४ और तीसरे दिन ३। किन्तु दक्ष ने उन्हें निम्न रूप से बाँटा है; प्रथम दिन में एक, दूसरे दिन ४ और तीसरे दिन ५। पारस्कर ने जाति के अनुसार क्रम से १०, १२, १५ एवं ३० पिण्डों की संख्या दी है। वाराणसी सम्प्रदाय के मत से शव-दाह के समय ४, ५ या ६ पिण्ड तथा मिथिला सम्प्रदाय के अनुसार केवल एक पिण्ड दिया जाता है। गृह्यपरिशिष्ट एवं गरुड़पुराण के मत से उन सभी को, जिन्होंने मृत्यु के दिन कर्म करना आरम्भ किया है, चाहे वे सगोत्र हों या किसी अन्य गोत्र के हों, दस दिनों तक सभी कर्म करने पड़ते हैं।[३७] ऐसी व्यवस्था है कि यदि कोई व्यक्ति कर्म करता आ रहा है और इसी बीच में पुत्र आ उपस्थित हो तो प्रथम व्यक्ति ही १० दिनों तक कर्म करता रहता है, किन्तु ग्यारहवें दिन का कर्म पुत्र या निकट सम्बन्धी (सपिण्ड) करता है। मत्स्यपुराण का कथन है कि मृत के लिए पिण्डदान १२ दिनों तक होना चाहिए, ये पिण्ड मृत के लिए दूसरे लोक में जाने के लिए पाथेय होते हैं और वे उसे सन्तुष्ट करते हैं, मृत १२ दिनों के उपरान्त मृतात्माओं के लोक में चला जाता है, अतः इन दिनों के भीतर वह अपने घर, पुत्रों एवं पत्नी को देखता रहता है।

जिस प्रकार एक-ही गोत्र के सपिण्डों एवं समानोदकों को जल-तर्पण करना अनिवार्य है उसी प्रकार किसी व्यक्ति को अपने नाना तथा अपने दो अन्य पूर्वपुरुषों एवं आचार्य को उनकी मृत्यु के उपरान्त जल देना अनिवार्य है। व्यक्ति यदि चाहे तो अपने मित्र, अपनी विवाहिता बहिन या पुत्री, अपने भानजे, श्वशुर, पुरोहित को उनकी मत्यु पर जल दे सकता है (पार० गृ० ३।१०; शंख-लिखित, याज्ञ० ३।४)। पारस्करगृह्य (३।१०) ने एक विचित्र रीति की ओर संकेत किया है। जब सपिण्ड लोग स्नान करने के लिए जल में प्रवेश करने को उद्यत होते हैं और

३६. पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डाः शिष्याश्च वा दद्युः। तदभावे ऋत्विगाचार्यौ। गौ० ध० सू० (१५।१३-१४)।

३७. असगोत्रः सगोत्रो वा यदि स्त्री यदि वा पुमान्। प्रथमेऽहनि यो दद्यात्स दशाहं समापयेत्॥ गृह्यपरिशिष्ट (मिता०, याज्ञ० १।२५५ एवं ३।१६; अपरार्क पृ० ८८७; मदनपारिजात, पृ० ४००; हारलता पृ० १७२)। देखिए लघ्वाश्वलायन (२०।६) एवं गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, ५।१९-२०)।

जब वे मृत को जल देना चाहते हैं तो अपने सम्बन्धियों या साले से जल के लिए इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—'हम लोग उदकक्रिया करना चाहते हैं', इस पर दूसरा कहता है—'ऐसा करो किन्तु पुनः न आना।' ऐसा तभी किया जाता था जब कि मृत १०० वर्ष से कम की आयु का होता था, किन्तु जब वह १०० वर्ष का या इससे ऊपर का होता था तो केवल 'ऐसा करो' कहा जाता था। गौतमपितृमेधसूत्र (१।४।४-६) में भी ऐसा ही प्रतीकात्मक वार्तालाप आया है। कोई राजकर्मचारी, सगोत्र या साला (या बहनोई) एक कँटीली टहनी लेकर उन्हें जल में प्रवेश करने से रोकता है और कहता है, 'जल में प्रवेश न करो'; इसके उपरान्त सपिण्ड उत्तर देता है—'हम लोग पुनः जल में प्रवेश नहीं करेंगे।' इसका सम्भवतः यह तात्पर्य है कि वे कुटुम्ब में किसी अन्य की मृत्यु से छुटकारा पायेंगे, अर्थात् शीघ्र ही उन्हें पुनः नहीं आना पड़ेगा या कुटुम्ब में कोई मृत्यु शीघ्र न होगी।

मृत को जल देने के लिए कुछ लोग अयोग्य माने गये हैं और कुछ मृत व्यक्ति भी जल पाने के लिए अयोग्य ठहराये गये हैं। नपुंसक लोगों, सोने के चोरों, व्रात्यों, विधर्मी लोगों, भ्रूणहत्या (गर्भपात) करनेवाली तथा पति की हत्या करनेवाली स्त्रियों, निषिद्ध मद्य पीनेवालों (सुरापियों) को जल देना मना था। याज्ञ० (३।६) ने व्याख्या की है कि नास्तिकों, चार प्रकार के आश्रमों में न रहनेवालों, चोरों, पति की हत्या करनेवाली नारियों, व्यभिचारिणियों, सुरापियों, आत्महत्या करनेवालों को न तो मरने पर जल देना चाहिए और न अशौच मनाना चाहिए। यही बात मनु (५।८९-९०) ने भी कही है। गौतमधर्मसूत्र (१४।११) ने व्यवस्था दी है कि उन लोगों की न तो अन्त्येष्टि-क्रिया होती है, न अशौच होता है, न जल-तर्पण होता है और न पिण्डदान होता है, जो क्रोध में आकर महाप्रयाण करते हैं, जो उपवास से या शस्त्र से या अग्नि से या विष से या जल-प्रवेश से या फाँसी लगाकर लटक जाने से या पर्वत से कूदकर या पेड़ से गिरकर आत्महत्या कर लेते हैं।[38] हरदत्त (गौ० १४।११) ने ब्रह्मपुराण से तीन पद्य उद्धृत कर कहा है कि जो ब्राह्मण-शाप या अभिचार से मरते हैं या जो पतित हैं वे इसी प्रकार की गति पाते हैं। किन्तु अंगिरा (मिता०, याज्ञ० ३।६) का कथन है कि जो लोग असावधानी से जल या अग्नि द्वारा मर जाते हैं उनके लिए अशौच होता है और उदकक्रिया की जाती है। देखिए वैखानसश्रौतसूत्र (५।११), जहाँ ऐसे लोगों की सूची है जिनका दाहकर्म नहीं होता। महाभारत में अन्त्येष्टि-कर्म का बहुधा वर्णन हुआ है, यथा आदिपर्व (अध्याय १२७) में पाण्डु का दाह-कर्म (चारों ओर से ढँकी शिबिका में शव ले जाया गया था, वाद्य यन्त्र थे, जुलूस में राजछत्र एवं चामर थे, साधुओं को धन बाँटा जा रहा था, गंगातट के एक सुरम्य स्थल पर शव ले जाया गया था, शव को स्नान कराया गया था, उस पर चन्दनलेप लगाया गया था); स्त्रीपर्व (अध्याय २३।३९-४२) में द्रोण का दाह-कर्म (तीन साम पढ़े गये थे, उनके शिष्यों ने पत्नी के साथ चिता की परिक्रमा की, गंगा के तट पर लोग गये थे); अनुशासनपर्व (१६९।१०-१९) में भीष्म का दाह-कर्म (चिता पर सुगंधित पदार्थ डाले गये थे, शव सुन्दर वस्त्रों एवं पुष्पों से ढँका था, शव के ऊपर छत्र एवं चामर थे, कौरवों की नारियाँ शव पर पंखे झल रही थीं और सामवेद का गायन हो रहा था);

३८. प्रायानाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्। गौ० (१४।११); क्रोधात् प्रायं विषं वह्निः शस्त्रमुद्बन्धनं जलम्। गिरिवृक्षप्रपातं च ये कुर्वन्ति नराधमाः॥ ब्रह्मदण्डहता ये च ये चैव ब्राह्मणैर्हताः। महापातकिनो ये च पतितास्ते प्रकीर्तिताः॥ पतितानां न दाहः स्यान्न च स्यादस्थिसंचयः। न चाश्रुपातः पिण्डो वा कार्या श्राद्धक्रिया न च॥ ब्रह्मपुराण (हरदत्त, गौ० १४।११; अपरार्क पृ० ९०२—९०३), देखिए औशनसस्मृति (७।१, पृ० ५३९), संवर्त (१७८-१७९), अत्रि (२१६-२१७), कूर्मपुराण (उत्तरार्ध २३।६०-६३), हारलता (पृ० २०४), शुद्धिप्रकाश (पृ० ५९)।

मौसलपर्व (७।१९-२५) में वासुदेव का, स्त्रीपर्व (२६।२८-४३) में अन्य योद्धाओं का तथा आश्रमवासिकपर्व (अध्याय ३९) में कुन्ती, धृतराष्ट्र एवं गान्धारी का दाहकर्म वर्णित है। रामायण (अयोध्याकाण्ड, ७६।१६-२०) में आया है कि दशरथ की चिता चन्दन की लकड़ियों से बनी थी और उसमें अगुरु एवं अन्य सुगंधित पदार्थ थे; सरल, पद्मक, देव-दारु आदि की सुगंधित लकड़ियाँ भी थीं; कौसल्या तथा अन्य स्त्रियाँ शिबिकाओं एवं अपनी स्थिति के अनुसार अन्य गाड़ियों में शवयात्रा में सम्मिलित हुई थीं।

यदि **आहिताग्नि** (जो श्रौत अग्निहोत्र करता हो) विदेश में मर जाय तो उसकी अस्थियाँ मँगाकर काले मृगचर्म पर फैला दी जानी चाहिए (शतपथब्राह्मण १२।५।१।१३-१४) और उन्हें मानव-आकार में सजा देना चाहिए तथा रूई एवं घृत तथा श्रौत अग्नियों एवं यज्ञपात्रों के साथ जला डालना चाहिए। इस विषय में और देखिए कात्या-यनश्रौत० (२५।८।९), बौधायनपितृमेधसूत्र (३।८), गोभिलस्मृति (३।४७) एवं वसिष्ठधर्मसूत्र (४।३७)।

यदि अस्थियाँ न प्राप्त हो सकें तो सूत्रों ने ऐतरेयब्राह्मण (३२।१) एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर यह व्यवस्था दी है कि पलाश की ३६० पत्तियों से काले मृगचर्म पर मानव-पुत्तल बनाना चाहिए और उसे ऊन के सूत्रों से बाँध देना चाहिए, उस पर जल से मिश्रित जौ का आटा डाल देना चाहिए और घृत डालकर मृत की अग्नियों एवं यज्ञपात्रों के साथ जला डालना चाहिए। ब्रह्मपुराण (शुद्धिप्रकाश, पृ० १८७) ने भी ऐसे ही नियम दिये हैं और तीन दिनों का अशौच घोषित किया है। अपरार्क (पृ० ५४५) द्वारा उद्धृत एक स्मृति में पलाश की पत्तियों की संख्या ३६२ लिखी हुई है। बौधायनपितृमेधसूत्र एवं गौतमपितृमेधसूत्रों के मत से ये पत्तियाँ निम्न रूप से सजायी जानी चाहिए; सिर के लिए ४०, गरदन के लिए १०, छाती के लिए २०, उदर (पेट) के लिए ३०, पैरों के लिए ७०, पैरों के अँगूठों के लिए १०, दोनों बाँहों के लिए ५०, हाथों की अँगुलियों के लिए १०, लिंग के लिए ८ एवं अण्डकोशों के लिए १२। यही वर्णन सत्याषाढश्रौत० (१९।४।३९) में भी है। और देखिए शांखा० श्रौ० (४।१५।१९-३१), कात्या० श्रौ० (२५।८।१५), बौधा० पि० सू० (३।८), गौ० पि० सू० (२।१।६-१४), गोभिल० (३।४८), हारीत (शुद्धिप्रकाश, पृ० १८६) एवं गरुड़पुराण (२।४।१३४-१५४ एवं २।४०।४४)। सूत्रों एवं स्मृतियों में पलाश-पत्रों की उन संख्याओं में मतैक्य नहीं है जो विभिन्न अंगों के लिए व्यवस्थित हैं। अपरार्क (पृ० ५४५) द्वारा उद्धृत एक स्मृति में संख्या यों है—सिर के लिए ३२, गरदन के लिए ६०, छाती के लिए ८०, नितम्ब के लिए २०, दोनों हाथों के लिए २०-२०, अँगुलियों के लिए १०, अंडकोशों के लिए ६, लिंग के लिए ४, जाँघों के लिए ६०, घुटनों के लिए २०, पैरों के निम्न भागों के लिए २०, पैर के अँगूठों के लिए १०। जातूकर्ण्य (अपरार्क, पृ० ५४५) के मत से यदि पुत्र १५ वर्षों तक विदेश गये हुए अपने पिता के विषय में कुछ न जान सके तो उसे पुत्तल जलाना चाहिए। पुत्तल जलाने को **आकृति-दहन** कहा जाता है। बृहस्पति ने इस विषय में १२ वर्षों तक जोहने की बात कही है। वैखानसस्मार्तसूत्र (५।१२) ने **आकृतिदहन** को फलदायक कर्म माना है और इसे केवल शव या अस्थियों की अप्राप्ति तक ही सीमित नहीं माना है। शुद्धिप्रकाश (पृ० १८७) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर कहा है कि **आकृतिदहन** केवल आहिताग्नियों तक ही सीमित नहीं मानना चाहिए, यह कर्म उनके लिए भी है जिन्होंने श्रौत अग्निहोत्र नहीं किया है। इस विषय में आहिताग्नियों के लिए अशौच १० दिनों तक तथा अन्य लोगों के लिए केवल ३ दिनों तक होता है।

सत्याषाढश्रौत० (२९।४।४१), बौधा० पितृमेधसूत्र (३।७।४) एवं गरुड़पुराण (२।४।१६९-७०) में ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि यदि विदेश गया हुआ व्यक्ति आकृतिदहन (पुत्तल-दाह) के उपरान्त लौट आये, अर्थात् मृत समझा गया व्यक्ति जीवित अवस्था में लौटे तो वह घृत से भरे कुण्ड में डुबोकर बाहर निकाला जाता है, पुनः उसको स्नान कराया जाता है और जातकर्म से लेकर सभी संस्कार किये जाते हैं। इसके उपरान्त उसको अपनी पत्नी के साथ पुनः विवाह करना होता है, किन्तु यदि उसकी पत्नी मर गयी है तो वह दूसरी कन्या से विवाह कर सकता है, और

तब वह पुनः अग्निहोत्र आरम्भ कर सकता है। कुछ सूत्रों ने ऐसी व्यवस्था दी है कि यदि आहिताग्नि की पत्नी उससे पूर्व ही मर जाय तो वह चाहे तो उसे श्रौताग्नियों द्वारा जला सकता है या गोबर से ज्वलित अग्नि या तीन थालियों में रखे, शीघ्र ही जलनेवाले घास-फूस से उत्पन्न अग्नि द्वारा जला सकता है। मनु (५।१६७-१६८) का कथन है कि यदि आहिताग्नि द्विज की सवर्ण एवं सदाचारिणी पत्नी मर जाय तो आहिताग्नि पति अपनी श्रौत एवं स्मार्त अग्नियों से उसे यज्ञपात्रों के साथ जला सकता है। इसके उपरान्त वह पुनः विवाह कर अग्निहोत्र आरम्भ कर सकता है। इस विषय में और देखिए याज्ञ० (१।८९), बौधा० पि० सू० (२।४ एवं ६), गोभिल-स्मृति (३।५), वैखानसस्मार्तसूत्र (७।२), वृद्ध हारीत (११।२१३), लघु आश्व० (२०।५९)। विश्वरूप (याज्ञ० १।८७) ने इस विषय में काठक-श्रुति को उद्धृत कर कहा है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त भी वे ही पुरानी श्रौताग्नियाँ रखता है तो वे अग्नियाँ उस अग्नि के समान अपवित्र मानी जाती हैं जो शव के लिए प्रयुक्त होती है, और उसने इतना और जोड़ दिया है कि यदि आहिताग्नि की क्षत्रिय पत्नी उसके पूर्व मर जाय तो उसका दाह भी श्रौताग्नियों से ही होता है। यह सिद्धान्त अन्य टीकाकारों के मत का विरोधी है, किन्तु उसने मनु (५।१६७) में प्रयुक्त 'सवर्ण' को केवल उदाहरण-स्वरूप लिया है, क्योंकि ऐसा न करने से **वाक्यभेद** दोष उत्पन्न हो जायगा। अतः ब्राह्मण-पत्नी के अतिरिक्त क्षत्रिय-पत्नी को भी मान्यता दी गयी है। कुछ स्मृतियों ने ऐसा लिखा है कि आहिताग्नि विधुर रूप में रहकर भी अपना अग्नि-होत्र सम्पादित कर सकता है, और पत्नी की सोने या कुश की प्रतिमा बनाकर यज्ञादि कर सकता है, जैसा कि राम ने किया था। देखिए गोभिलस्मृति (३।९-१०) एवं वृद्ध-हारीत (११।२१४)। जब गृहस्थ अपनी मृत पत्नी को श्रौताग्नियों के साथ जलाने के उपरान्त पुनः विवाह नहीं करता है और न पुनः नवीन वैदिक (श्रौत) अग्नियाँ रखता है तो वह मरने के उपरान्त साधारण अग्नियों से ही जलाया जाता है। यदि गृहस्थ पुनः विवाह नहीं कर सकता तो वह अपनी मृत पत्नी के शव को अरणियों से उत्पन्न अग्नि में जला सकता है और अपनी वैदिक अग्नियों को सुरक्षित रखकर पत्नी की प्रतिमा के साथ अग्निहोत्र का सम्पादन कर सकता है। यदि आहिताग्नि पहले मर जाय तो उसकी विधवा अरणियों से उत्पन्न अग्नि (**निर्मन्थ्य**) से जलायी जाती है। देखिए बौधा० पि० सू० (४।६-८), कात्या० श्रौ० (२९।४।३४-३५) एवं त्रिकाण्डमण्डन (२।१२१)। जब पत्नी का दाहकर्म होता है तो 'अस्मात्त्वमभिजातोसि' नामक मन्त्र का पाठ नहीं होता (गोभिल० ३।५२)। केवल सदाचारिणी एवं पतिव्रता स्त्री का दाहकर्म श्रौत या स्मार्त अग्नि से होता है (वही ३।५३)। ऋतु (शुद्धिप्रकाश, पृ० १६६) एवं बौधा० पि० सू० (३।१।९-१३) के अनुसार विधुर एवं विधवा का दाहकर्म **कपाल** नामक अग्नि (कपाल को तपाकर कण्डों से उत्पादित अग्नि) से, ब्रह्मचारी एवं यति (साधु) का **उत्पन** (या **कपालज**) नामक अग्नि से, कुमारी कन्या तथा उपनयनरहित लड़के का भूसा से उत्पन्न अग्नि से होता है। यदि आहिताग्नि पतित हो जाय या किसी प्रकार से आत्महत्या कर ले या पशुओं या सर्पों से भिड़कर मर जाय तो उसकी श्रौताग्नियाँ जल में फेंक देनी चाहिए, स्मार्त अग्नियाँ चौराहे या जल में फेंक देनी चाहिए, यज्ञपात्रों को जला डालना चाहिए (परा० मा० १।२, पृ० २२६; पराशर ५।१०-११; वैखानसस्मार्त० ५।११) और उसे साधारण (लौकिक) अग्नि से जलाना चाहिए।

मनु (५।६८), याज्ञ० (३।१), पराशर (३।१४), विष्णु० (२२।२७-२८), ब्रह्मपुराण (परा० मा० १।२, पृ० २३८) के मत से गर्भ से पतित बच्चे, भ्रूण, मृतोत्पन्न शिशु तथा दन्तहीन शिशु को वस्त्र से ढँककर गाड़ देना चाहिए। छोटी अवस्था के बच्चों को नहीं जलाना चाहिए, किन्तु इस विषय में प्राचीन स्मृतियों में अवस्था-सम्बन्धी विभेद पाया जाता है। पारस्करगृह्य० (३।१०), याज्ञ० (३।१), मनु (५।६८-६.), यम आदि ने व्यवस्था दी है कि वर्ष के भीतर के बच्चों को ग्राम के बाहर श्मशान से दूर किसी स्वच्छ स्थान पर गाड़ देना चाहिए; ऐसे बच्चों के शवों पर घृत का लेप करना चाहिए, उन पर चन्दन-लेप, पुष्प आदि रखने चाहिए, न तो उन्हें जलाना चाहिए और न जल-

तर्पण करना चाहिए और न उनका अस्थि-चयन करना चाहिए। सम्बन्धी साथ में नहीं भी जा सकते हैं। यम ने यमसूक्त (ऋ० १०।१४) के पाठ एवं यम के सम्मान में स्तुतिपाठ करने की व्यवस्था दी है। मनु (५।७०) ने कुछ वैकल्पिक व्यवस्थाएँ दी हैं, यथा—दाँत वाले बच्चों या नामकरण-संस्कृत बच्चों के लिए जल-तर्पण किया जा सकता है, अर्थात् ऐसे बच्चों का शवदाह भी हो सकता है। अतः दो वर्ष से कम अवस्था के बच्चों की अन्त्येष्टि के विषय में विकल्प है, अर्थात् नामकरण एवं दाँत निकलने के उपरान्त ऐसे बच्चे जलाये या गाड़े जा सकते हैं। किन्तु ऐसा करने में सभी सपिण्डों का शव के साथ जाना आवश्यक नहीं है। यदि बच्चा दो वर्ष का हो या अधिक अवस्था का हो किन्तु अभी उपनयन संस्कार न हुआ हो तो उसका दाहकर्म लौकिक अग्नि से अवश्य होना चाहिए और मौनरूप से जल देना चाहिए। लौगाक्षि के मत से चूड़ाकरण-संस्कृत बच्चों की अन्त्येष्टि भी इसी प्रकार होनी चाहिए। वैखानसस्मार्तसूत्र (५।११) ने कहा है कि ५ वर्ष के लड़के तथा ७ वर्ष की लड़की का दाहकर्म नहीं होता। उपनयन के उपरान्त आहिताग्नि की भाँति दाहकर्म होता है किन्तु यज्ञपात्रों का दाह एवं मन्त्रोच्चारण नहीं होता। बौधा० पि० सू० (२।३-१०-११) ने व्यवस्था दी है कि चूड़ाकरण के पूर्व मृत बच्चों का शवदाह नहीं होता, कुमारी कन्याओं एवं उपनयन-रहित लड़कों का पितृमेध नहीं होता। उसने यह भी व्यवस्था दी है कि बिना दाँत के बच्चों को 'ओम्' के साथ तथा दाँत वाले बच्चों को व्याहृतियों के साथ गाड़ा जाता है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२) ने नियमों को निम्न रूप से दिया है—'नामकरण के पूर्व केवल गाड़ा जाता है, जल-तर्पण नहीं होता; नामकरण के उपरान्त तीन वर्ष तक गाड़ना या जलाना (जलतर्पण के साथ) विकल्प से होता है; तीन वर्ष से उपनयन के पूर्व तक शवदाह एवं तर्पण मौन रूप से (बिना मन्त्रों के) होता है; यदि तीन वर्ष के पूर्व चूड़ाकरण हो गया हो तो मरने पर यही नियम लागू होता है। उपनयन के उपरान्त मृत का दाहकर्म लौकिक अग्नि से होता है किन्तु ढंग वही होता है जो आहिताग्नि के लिए निर्धारित है।'

यति (संन्यासी) को प्राचीन काल में भी गाड़ा जाता था। ऊपर ऋतु का मत प्रकाशित किया गया है कि ब्रह्मचारी एवं यति का शव उत्तपन अग्नि से जलाया जाता है। इस विषय में शुद्धिप्रकाश (पृ० १६६) ने व्याख्या उपस्थित की है कि यहाँ पर यति कुटीचक श्रेणी का संन्यासी है और उसने यह भी बताया है कि चार प्रकार के संन्यासी लोगों (कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस) की अन्त्येष्टि किस प्रकार से की जाती है। बौधा० पि० सू० (३।११) ने संक्षेप में लिखा है, जिसे स्मृत्यर्थसार (पृ० ९८) ने कुछ अन्तरों के साथ ग्रहण कर लिया है और परिव्राजक की अन्त्येष्टि क्रिया का वर्णन उपस्थित किया है—किसी को ग्राम के पूर्व या दक्षिण में जाकर पलाश वृक्ष के नीचे या नदी-तट पर या किसी अन्य स्वच्छ स्थल पर व्याहृतियों के साथ यति के दण्ड के बराबर गहरा गड्ढा खोदना चाहिए; इसके उपरान्त प्रत्येक बार सात व्याहृतियों के साथ उस पर तीन बार जल छिड़कना चाहिए, गड्ढे में दर्भ बिछा देना चाहिए, माला, चन्दन-लेप आदि से शव को सजा देना चाहिए और मन्त्रों (तै० सं० १।१।३।१) के साथ शव को गड्ढे में रख देना चाहिए। परिव्राजक के दाहिने हाथ में दण्ड तीन खण्डों में करके थमा देना चाहिए और ऐसा करते समय (ऋ० १।२२।१७; वाज० सं० ५।१५ एवं तै० सं० १।२।१३।१ का) मन्त्रपाठ करना चाहिए। शिक्य को बायें हाथ में मन्त्रों (तै० सं० ४।२।५।२) के साथ रखा जाता है और फिर क्रम से पानी छाननेवाला वस्त्र मुख पर (तै० ब्रा० १।४।-८।६ के मन्त्र के साथ), गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०; वाज० सं० ३।३५; तै० सं० १।५।६।४) के साथ पात्र को पेट पर और जलपात्र को गुप्तांगों के पास रखा जाता है। इसके उपरान्त 'चतुर्होतारः' मन्त्रों का पाठ किया जाता है। अन्य कृत्य नहीं किये जाते; न तो शवदाह होता, न अशौच मनाया जाता और न जल-तर्पण ही किया जाता है, क्योंकि यति संसार की विषयवासना से मुक्त होता है। स्मृत्यर्थसार ने इतना जोड़ दिया है कि न तो एकोद्दिष्ट श्राद्ध और न सपिण्डीकरण ही किया जाता है, केवल ग्यारहवें दिन पार्वण श्राद्ध होता है। किन्तु कुटीचक जलाया जाता है, बहूदक गाड़ा जाता है, हंस को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है और परमहंस को भली भाँति गाड़ा जाता है। और देखिए निर्णय-

सिन्धु (पृ० ६३४-६३५)। गाड़ने के उपरान्त गड्ढे को भली भाँति बालू से ढँक दिया जाता है, जिससे कुत्ते, शृगाल आदि शव को (पंजों से गड्ढा खोदकर) निकाल न डालें। धर्मसिन्धु (पृ० ४९७) ने लिखा है कि मस्तक को शंख या कुल्हाड़ी से छेद देना चाहिए, यदि ऐसा करने में असमर्थता प्रदर्शित हो तो मस्तक पर गुड़ की भेली रखकर उसे ही तोड़ देना चाहिए। इसने भी यही कहा है कि कुटीचक को छोड़कर कोई यति नहीं जलाया जाता। आजकल सभी यति गाड़े जाते हैं, क्योंकि बहूदक एवं कुटीचक आजकल पाये नहीं जाते, केवल परमहंस ही देखने में आते हैं। यतियों को क्यों गाड़ा जाता है? सम्भवतः उत्तर यही हो सकता है कि वे गृहस्थों की भाँति श्रौताग्नियाँ या स्मार्ताग्नियाँ नहीं रखते और वे लोग भोजन के लिए साधारण अग्नि भी नहीं जलाते। गृहस्थ लोग अपनी श्रौत या स्मार्त अग्नियों के साथ जलाये जाते हैं, किन्तु यति लोग बिना अग्नि के होते हैं अतः गाड़े जाते हैं। गाड़ने की विधि के लिए देखिए वैखानसस्मार्तसूत्र (१०।८)।

जो स्त्रियाँ बच्चा जनते समय या जनने के तुरत उपरान्त ही या मासिक धर्म की अवधि में मर जाती हैं, उनके शवदाह के विषय में विशिष्ट नियम हैं। मिताक्षरा द्वारा उद्धृत एक स्मृति एवं स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १२१) ने सूतिका के विषय में लिखा है कि एक पात्र में जल एवं पंचगव्य लेकर मन्त्रोच्चारण (ऋ० १०।९।१-९, 'आपो हि ष्ठा') करना चाहिए और उससे सूतिका को स्नान कराकर जलाना चाहिए। मासिक धर्म वाली मृत नारी को भी इसी प्रकार जलाना चाहिए किन्तु उसे दूसरा वस्त्र पहनाकर जलाना चाहिए। देखिए गरुड़पुराण (२।४।१७१) एवं निर्णयसिन्धु (पृ० ६२१)। इसी प्रकार गर्भिणी नारी के शव के विषय में भी नियम हैं (बौधा० पि० सू० ३।९; निर्णयसिन्धु पृ० ६२२) जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

विभिन्न कालों एवं विभिन्न देशों में शव-क्रिया (अन्त्येष्टि-क्रिया) विभिन्न ढंगों से की जाती रही है। अन्त्येष्टि-क्रिया के विभिन्न प्रकार ये हैं—जलाना (शव-दाह), भूमि में गाड़ना, जल में बहा देना, शव को खुला छोड़ देना, जिससे चील, गिद्ध, कौए या पशु आदि उसे खा डालें (यथा पारसियों में),[३९] गुफाओं में सुरक्षित रख छोड़ना या ममी-रूप में (यथा मिस्र में) सुरक्षित रख छोड़ना।[४०] जहाँ तक हमें साहित्यिक प्रमाण मिलता है, भारत में सामान्य नियम शव को जला देना ही था, किन्तु अपवाद भी थे, यथा—शिशुओं, संन्यासियों आदि के विषय में। प्राचीन भारतीयों ने शवदाह की वैज्ञानिक किन्तु कठोर हृदय वाली विधि किस प्रकार निकाली, यह बतलाना कठिन है। प्राचीन भारत में शव को गाड़ देने की बात अज्ञात नहीं थी (अथर्ववेद ५।३०।१४ 'मा नु भूमिगृहो भुवत्' एवं १८।२।३४)। अन्तिम मन्त्र का रूप यों है—"हे अग्नि, उन सभी पितरों को यहाँ ले आओ, जिससे कि वे हवि ग्रहण करें, उन्हें भी बुलाओ जिनके शरीर गाड़े गये थे या खुले रूप में छोड़ दिये गये थे या ऊपर (पेड़ों पर या गुहाओं में?) रख दिये गये

३९. पारसियों के शास्त्रों के अनुसार शव को गाड़ देना महान् अपराध माना जाता है, यदि शव कब्र से बाहर नहीं निकाला गया तो मज्द के कानून के प्राध्यापक (शिक्षक) के विषय में कोई प्रायश्चित्त नहीं है, या उसके लिए भी कोई प्रायश्चित्त नहीं है जिसने मज्द के कानून को पढ़ा है, और जब वे छः मास या एक वर्ष के भीतर शव को कब्र से बाहर नहीं निकालते तो उन्हें क्रम से ५०० या १००० कोड़े खाने पड़ते हैं। देखिए वेंडिडाड, फर्गार्ड ३ (सैक्रेड बुक आफ़ दि ईस्ट, जिल्द ४, पृ० ३१-३२)। पर्वतों के शिखरों पर शव रख दिये जाते हैं और उन्हें पक्षीगण एवं कुत्ते खा डालते हैं। शव को खुला छोड़ देना मज्द रीति की अत्यन्त विचित्र बात है।

४०. पियाज्जा बर्बेरिनी के पास रोम के कपूचिन चर्च के भूगर्भ कब्रगाहों की दीवारों में ४००० पादरियों की हड्डियाँ सुरक्षित हैं। देखिए पकल की पुस्तक 'फ्यूनरल कस्टम्स (पृ० १३६)।

थे।'[41] किन्तु सम्भव है कि शव के गाड़ने की ओर संकेत न भी हो; कुछ पूर्वज बहुत दूर लड़ाई में मारे गये हों, या शत्रुओं द्वारा पकड़ लिये गये हों, मार डाले गये हों, और उनके शव यों ही छोड़ दिये गये हों, अर्थात् न तो उन्हें जलाया गया, न गाड़ दिया गया। छान्दोग्योपनिषद् (८।८।५) में आये हुए एक कथन से कुछ विद्वान् गाड़ने की बात निकालते हैं—'अतः वे अब भी उन मनुष्यों को असुर नाम देते हैं जो दान नहीं देते, जो विश्वास नहीं रखते (धर्म नहीं मानते) और न यज्ञ ही करते हैं; क्योंकि यह असुरों का गूढ़ सिद्धान्त है। वे मृत के शरीर को भिक्षा (धूप-गंध या पुष्प?) एवं वस्त्र से सँवारते हैं और सोचते हैं कि वे इस प्रकार दूसरे लोक को जीत लेंगे।' यद्यपि यह वचन स्पष्ट नहीं है किन्तु असुरों, उनके शव-शृंगार और परलोक-प्राप्ति की ओर जो संकेत है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि असुरों में शव को गाड़ने की प्रथा संभवतः थी। ऋग्वेद (७।८९।१) में ऋषि ने प्रार्थना की है कि 'हे वरुण, मैं मिट्टी के घर में न जाऊँ।' संभवतः यह गाड़ने की प्रथा की ओर संकेत है। इसके अतिरिक्त अस्थियों को इकट्ठा करके पात्र में रखकर भूमि में गाड़ने और बहुत दिनों के उपरान्त उस पर श्मशान बना देने आदि की प्रथा भी प्रचलित थी, जैसा कि हम शतपथब्राह्मण आदि की उक्तियों से अभी जानेंगे। अथर्ववेद (१८।२।२५) में ऐसा आया है—'उन्हें वृक्ष कष्ट न दे और न पृथिवी माता ही (ऐसा करे)।' इससे शवाधार (ताबूत) एवं शव को गाड़ने की ओर संभवतः संकेत मिलता है।

यह कुछ विचित्र-सा है कि पश्चिम के प्रगतिशील राष्ट्र बाइबिल के कथन की शाब्दिक व्याख्या में विश्वास करते हुए कि 'मृत का भौतिक शरीरोत्थान होता है,' केवल शव को गाड़ने की ही प्रथा से चिपके रहे और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ईसाई लोग शवदाह के लिए कभी तत्पर नहीं हुए। सन् १९०६ में क्रेमेशन एक्ट (इंगलैंड में) पारित हुआ जिसके अनुसार स्वास्थ्यमंत्री-समर्थित समतल भूमि पर शवदाह करने की अनुमति अन्त्येष्टि-क्रिया के अध्यक्ष को प्राप्त होने लगी। कैथोलिक चर्च वाले अब भी शवदाह नहीं करते। आदिकालीन रोम के लोग शवदाह को सम्मान्य समझते थे और शव गाड़ने की रीति केवल उन लोगों के लिए बरती जाती थी जो आत्महन्ता या हत्यारे होते थे।

कुछ समय तक शव को विकृत होने से बचाने के लिए तेल आदि में रख छोड़ना भारत में अज्ञात नहीं था। शतपथ ब्राह्मण (२९।४।२९) एवं वैखानसश्रौतसूत्र (३१।३२) ने व्यवस्था दी है कि यदि आहिताग्नि अपने लोगों से सुदूर मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसके शव को तिल-तेल से पूर्ण द्रोण (नाद) में रखकर गाड़ी द्वारा घर लाना चाहिए। रामायण में यह कई बार कहा गया है कि भरत के आने के बहुत दिन पूर्व से ही राजा दशरथ का शव तेलपूर्ण लम्बे द्रोण या नाँद में रख दिया गया था (अयोध्याकाण्ड, ६६।१४-१६, ७६।४)। विष्णुपुराण में आया है कि निमि का शव तेल तथा अन्य सुगंधित पदार्थों से इस प्रकार सुरक्षित रखा हुआ था कि वह सड़ा नहीं और लगता था कि मृत्यु मानो अभी हुई हो।

ऋग्वेद के प्रणयन के पूर्व की स्थिति के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद तथा सिन्धु घाटी के मोहेंजोदड़ो एवं हरप्पा अवशेषों के काल के निर्णय के विषय में अभी कोई सामान्य निश्चय नहीं हो सका है। सर जान मार्शल (मोहेंजोदड़ो, जिल्द १, पृ० ८६) ने पूर्ण रूप से गाड़ने, आंशिक रूप में गाड़ने एवं शवदाह के उपरान्त गाड़ने के रीतियों की ओर संकेत किया है। लौरिया नन्दनगढ़ की खुदाई से कुछ ऐसी श्मशान-भूमियों का पता चला है जो वैदिक काल की कही जाती हैं और उनमें एक छोटी स्वर्णिम वस्तु पायी गयी है जो नंगी स्त्री, सम्भवतः

४१. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे॥ अथर्ववेद (१८।२।१४)।

पृथिवी माता की है। ये सब बातें पुरातत्त्व-वेत्ताओं से संबंध रखती हैं, अतः हम इन पर यहाँ विचार नहीं करेंगे।

हारलता (पृ० १२६) ने आदिपुराण का एक वचन उद्धृत करते हुए लिखा है कि मग लोग गाड़े जाते थे और दरद लोग एवं लुम्त्रक लोग अपने संबंधियों के शवों को पेड़ पर लटकाकर चल देते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभिक बौद्धों में अन्त्येष्टि-क्रिया की कोई अलग विधि प्रचलित नहीं थी, चाहे मरनेवाला भिक्षु हो या उपासक। महापरिनिब्बान सुत्त में बौद्धधर्म के महान् प्रस्थापक की अन्त्येष्टि क्रियाओं का वर्णन पाया जाता है (४।१४)। इस ग्रंथ से इस विषय में जो कुछ एकत्र किया जा सकता है वह यह है—'बुद्ध के अत्यन्त प्रिय शिष्य आनन्द ने कोई पद्य कहा, कुछ ऐसे शिष्य जो विषयभोग से रहित नहीं थे, रो पड़े और पृथिवी पर धड़ाम से गिर पड़े, और अन्य लोग (अर्हत्) किसी प्रकार दुःख को सँभाल सके। दूसरे दिन आनन्द कुशीनारा के मल्लों के पास गये, मल्लों ने धूप, मालाएँ, वाद्ययंत्र तथा पाँच सौ प्रकार के वस्त्र आदि एकत्र किये; मल्लों ने शाल वृक्षों की कुंज में पड़े बुद्ध के शव की प्रार्थना सात दिनों तक की और नाच, स्तुतियों, गायन, मालाओं एवं गंधों से पूजा-अर्चनाएँ कीं और वे वस्त्रों से शव को ढँकते रहे। सातवें दिन वे भगवान् के शव को दक्षिण की ओर ले चले, किन्तु एक चमत्कार (६।२९-३२ में वर्णित) के कारण वे उत्तरी द्वार से नगर के बीच से होकर शव को लेकर चले और पूर्व दिशा में उसे रख दिया (सामान्य नियम यह था कि शव को गाँव के मध्य से लेकर नहीं जाया जाता और उसे दक्षिण की ओर ले जाया जाता था, किन्तु बुद्ध इतने असाधारण एवं पवित्र थे कि उपर्युक्त प्रथाविरुद्ध ढंग उनके लिए मान्य हो गया)। बुद्ध का शव नये वस्त्रों से ढँका गया और ऊपर से रूई और ऊन के चोंगे बाँधे गये और फिर उनके ऊपर एक नया वस्त्र बाँधा गया, इस प्रकार वस्त्रों एवं सूत्रों के पाँच सौ स्तरों से शरीर ढँक दिया गया। इसके उपरान्त एक ऐसे लोहे के तैलपात्र में रखा गया जो स्वयं एक तैलयुक्त पात्र में रखा हुआ था। इसके पश्चात् सभी प्रकार की गंधों से युक्त चिता बनायी गयी और उस पर शव रख दिया गया। तब महाकस्सप एवं पाँच सौ अन्य बौद्धों ने जो साथ में आये थे, अपने परिधानों को कंधों पर सजाया (उसी प्रकार जिस प्रकार ब्राह्मण लोग अपने यज्ञोपवीत को धारण करते हैं), उन्होंने बद्धबाहु होकर सिर झुकाया और श्रद्धापूर्वक शव की तीन बार प्रदक्षिणा की। इसके उपरान्त शव का दाह किया गया, केवल अस्थियाँ बच गयीं। इसके उपरान्त मगधराज अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों आदि ने बुद्ध के अवशेषों पर अपना-अपना अधिकार जताना आरम्भ कर दिया। बुद्ध के अवशेष आठ भागों में बाँटे गये। जिन्हें ये भाग प्राप्त हुए उन्होंने उन पर स्तूप (थूप) बनवाये, मोरिय लोगों ने जिन्हें केवल राख मात्र प्राप्त हुई थी, उस पर स्तूप बनवाया और एक ब्राह्मण द्रोण (दोन) ने उस घड़े पर, जिसमें अस्थियाँ एकत्र कर रखी गयी थीं, एक स्तूप बनवाया।' श्री राइस डेविड्स ने कहा है कि यद्यपि ऐतिहासिक ग्रंथों एवं जन्म-गाथाओं में अन्त्येष्टियों का वर्णन मिलता है किन्तु कहीं भी प्रचलित धार्मिक क्रिया आदि की ओर संकेत नहीं मिलता। ऐसा कहा जा सकता है कि बौद्ध अन्त्येष्टि-क्रिया, यद्यपि सरल है, तथापि वह आश्वलायनगृह्यसूत्र के कुछ नियमों से बहुत कुछ मिलती है।[४२]

४२. देखिए जे० आर० ए० एस० (१९०६, पृ० ६५५-६७१ एवं ८८१-९१३) में प्रकाशित फ्लीट के लेख, जो महापरिनिब्बान-सुत्त, दिव्यावदान, फाहियान के ग्रंथ, सुमंगलविलासिनी एवं अन्य ग्रंथों के आधार पर लिखे गये ऐसे लेख हैं, जो बुद्ध की अस्थियों एवं भस्म के बँटवारे अथवा उन पर बने स्तूपों पर प्रकाश डालते हैं। फ्लीट का कहना है कि पिप्रहवा अवशेष-कुंभ में, जिस पर एक अभिलेख है, जो अब तक पाये गये अभिलेखों में सबसे पुराना है (लगभग ईसापूर्व सन् ३७५) और जिसमें सात सौ वस्तुएँ पायी गयी हैं, भगवान् बुद्ध के अवशेष चिह्न नहीं हैं, प्रत्युत उनके सम्बन्धियों के हैं। फ्लीट ने एक परम्परा की ओर संकेत किया है जो यह बतलाती है कि सम्राट् अशोक ने बुद्ध के अवशेष-चिह्नों पर बने ८ स्तूपों में ७ को खोदकर उनमें पाये गये अवशेषों को ८४००० सोने और चाँदी के पात्रों

अब मृत के संबंधीगण (पुत्र आदि) जलतर्पण एवं स्नान करके जल (नदी, जलाशय आदि) से बाहर निकल कर हरी घास के किसी स्थल पर बैठ गये हों, तो गुरुजनों (वृद्ध आदि) को उनके दुःख कम करने के लिए प्राचीन गाथाएँ कहनी चाहिए (याज्ञ० ३।७ एवं गौ० पि०-सू० १।४।२)।[43] विष्णुधर्मसूत्र (२०।२२-५३) में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है 'कि किस प्रकार काल (समय, मृत्यु) सभी को, यहाँ तक कि इन्द्र, देवों, दैत्यों, महान् राजाओं एवं ऋषियों को घर दबोचता है, कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म लेकर एक दिन मरण को प्राप्त होता ही है (मृत्यु अवश्यंभावी है), कि (पत्नी को छोड़कर) कोई भी मृत व्यक्ति के साथ यमलोक को नहीं जाता है, कि किस प्रकार सदसत् कर्म मृतात्मा के साथ जाते हैं, कि किस प्रकार श्राद्ध मृतात्मा के लिए कल्याणकर है।' इसने निष्कर्ष निकाला है कि इसी लिए जीवित संबंधियों को श्राद्ध करना चाहिए और रुदन छोड़ देना चाहिए, क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं और केवल धर्म ही ऐसा है जो मृतात्मा के साथ जाता है।[44] ऐसी ही बातें याज्ञ० (३।८-११=गरुड़पुराण २।४।८१-८४) में भी पायी जाती हैं; 'जो व्यक्ति मानवजीवन में, जो केले के पौधे के समान सारहीन है, और जो पानी के बुलबुले के समान अस्थिर है, अमरता खोजता है, वह भ्रम में पड़ा हुआ है। रुदन से क्या लाभ है जब कि शरीर पूर्व जन्म के कर्मों के कारण पंचतत्त्वों से निर्मित हो पुनः उन्हीं तत्त्वों में समा जाता है। पृथिवी, सागर और देवता नाश को प्राप्त होनेवाले हैं (भविष्य में जब कि प्रलय होता है)। यह कैसे संभव है कि वह मृत्युलोक, जो फेन के समान क्षणभंगुर है, नाश को प्राप्त नहीं होगा? मृतात्मा को असहाय होकर अपने संबंधियों के आँसू एवं नासिकारंध्रों से निकले द्रव पदार्थ को पीना पड़ता है, अतः उन संबंधियों को रोना नहीं चाहिए बल्कि अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्राद्धकर्म आदि करना चाहिए।' गोभिलस्मृति (३।३९) ने बलपूर्वक कहा है कि 'जो नाशवान् है और जो सभी प्राणियों की विशेषता (नियति) है उसके लिए रोना-कलपना क्या? केवल शुभ कर्मों के संपादन में, जो तुम्हारे साथ जानेवाले हैं, लगे रहो।' गोभिल ने याज्ञ० (३।८-१०) एवं महाभारत को उद्धृत किया है—'सभी संग्रह क्षय को प्राप्त होते हैं, सभी उदय पतन को, सभी संयोग वियोग को और जीवन मरण को।'[45] अपरार्क ने रामायण एवं महाभारत से उदाहरण दिये हैं, यथा दुर्योधन की मृत्यु

में परिवर्तित कर दिया और उन्हें संपूर्ण भारत में वितरित कर दिया। इस प्रकार ८४००० स्तूपों का निर्माण उन पर किया गया। राइस डेविड्स ने अपने ग्रंथ 'बुद्धिस्ट इंडिया' (पृ० ७८-८०) में यह कहते हुए कि जन या धन से विशिष्ट मृत लोगों या राजकर्मचारियों या शिक्षकों के शव जलाये जाते और अवशिष्ट भस्मांश स्तूपों (पालि में थूप या टोप) के अन्दर गाड़ दिये जाते थे, निर्देश किया है कि साधारण लोगों के शव अजीब ढंग से रखे जाते थे। वे खुले स्थल में रख दिये जाते थे, नियमानुकूल वे शव या चितावशेष गाड़े नहीं जाते थे, प्रत्युत पक्षियों या पशुओं द्वारा नष्ट किये जाने के लिए छोड़ दिये जाते थे अथवा वे स्वयं प्राकृतिक रूप से नष्ट हो जाया करते थे।

४३. शोकमुत्सृज्य कल्याणीभिर्वाग्भिः सात्त्विकाभिः कथाभिः पुराणैः सुकृतिभिः श्रुत्वाधोमुखा व्रजन्ति। गौतम-पितृमेधसूत्र (१।४।२)।

४४. यह अवलोकनीय है कि विष्णुधर्मसूत्र के कुछ पद्य (२०।२९, ४८-४९ एवं ५१-५३) भगवद्गीता के पद्यों (२।२२-२८, १३।२३-२५) के समान ही हैं। विष्णु० (२०।४७ यथा धेनुसहस्रेषु आदि) शान्तिपर्व (१८१।१६, १८७।२७ एवं ३२३।१६) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।७८।२७) के समान ही है। इसी प्रकार देखिए विष्णु० (२०।४१) एवं शान्ति० (१७५।१५ एवं ३२२।७३)। देखिए कल्पतरु (शुद्धिप्रकाश, पृ० ९१-९७), याज्ञ० (३।७,-११), विष्णु० (२०।२२-५३) एवं भगवद्गीता (२।१३, १८)।

४५. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ और देखिए शान्तिपर्व (३३१।२०)।

पर वासुदेव द्वारा धृतराष्ट्र के प्रति कहे गये वचन। परा० मा० (१।२, पृ० २९२-२९३), शुद्धिप्रकाश (पृ० २०५-२०६) एवं अन्य ग्रंथों ने विष्णु०, याज्ञ० एवं गोभिल० के वचन उद्धृत किये हैं।

गरुड़पुराण (२।४।९१-१००) ने पति की मृत्यु पर पत्नी के (पति-चिता पर) बलिदान अर्थात् मर जाने एवं पतिव्रता की चमत्कारिक शक्ति के विषय में बहुत-कुछ लिखा है और कहा है कि ब्राह्मण स्त्री को अपने पति से पृथक् नहीं चलना चाहिए (अर्थात् साथ ही जल जाना चाहिए), किन्तु क्षत्रिय एवं अन्य नारियाँ ऐसा नहीं भी कर सकतीं। उसमें यह भी लिखा है कि सती-प्रथा सभी नारियों, यहाँ तक कि चाण्डाल नारियों के लिए भी, समान ही है, केवल गर्भवती नारियों को या उन्हें जिनके बच्चे अभी छोटे हों, ऐसा नहीं करना चाहिए। उसमें यह भी लिखा है कि जब तक पत्नी सती नहीं हो जाती तब तक वह पुनर्जन्म से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकती।

गुरुजनों का दार्शनिक उपदेश सुनने के उपरान्त सम्बन्धीगण अपने घर लौटते हैं, बच्चों को आगे करके घर के द्वार पर खड़े होकर और मन को नियन्त्रित कर नीम की पत्तियाँ दाँतों से चबाते हैं, आचमन करते हैं, अग्नि, जल, गोबर एवं श्वेत सरसों छूते हैं; इसके उपरान्त किसी पत्थर पर धीरे से किन्तु दृढता से पाँव रखकर घर में प्रवेश करते हैं। शंख के अनुसार संबंधियों द्वारा को दूर्वाप्रवाल (दूब की शाखा), अग्नि, बैल को छूना चाहिए, मृत को घर के द्वार पर पिण्ड देना चाहिए और तब घर में प्रवेश करना चाहिए।[४६] बैजवाप (शुद्धितत्त्व, पृ० ३१९; निर्णयसिन्धु ३, पृ० ५८०) ने शमी, अश्मा (पत्थर), अग्नि को स्पर्श करते समय मन्त्रों के उच्चारण की व्यवस्था दी है और कहा है कि अपने एवं पशुओं (गाय एवं बकरी) के बीच में अग्नि रखकर उन्हें छूना चाहिए, एक ही प्रकार का भोजन खरीदना या दूसरे के घर से लेना चाहिए, उसमें नमक नहीं होना चाहिए, उसे केवल एक दिन और वह भी केवल एक बार खाना चाहिए तथा सारे कर्म तीन दिनों तक स्थगित रखने चाहिए। याज्ञ० (३।१४) ने व्यवस्था दी है कि उसके बतलाये हुए कर्म (३।१२), यथा—नीम की पत्तियों को कुतरने से लेकर गृह-प्रवेश तक के कार्य उन लोगों द्वारा भी सम्पादित होने चाहिए जो सम्बन्धी नहीं हैं किन्तु शव को ढोने, उसे सँवारने, जलाने आदि में सम्मिलित थे।

शांखायनश्रौत० (४।१५।१०), आश्वलायनगृह्य० (४।४।१७-२७), बौधायनपितृमेधसूत्र (१।१२।१०), कौशिकसूत्र (८२।३३-३५ एवं ४२-४७), पारस्करगृह्य० (३।१०), आपस्तम्बधर्म० (१।३।१०।४-१०), गौतमधर्म० (१४।१५-३६), मनु (५।७३), वसिष्ठ० (४।१४-१५), याज्ञ० (३।१६-१७), विष्णु० (१९।१४-१७), संवर्त (३९-४३), शंख (१५-२५), गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, ५।१-५) एवं अन्य ग्रंथों ने उन लोगों (पुरुषों एवं स्त्रियों) के लिए कतिपय नियम दिये हैं जिनके सपिण्ड मर जाते हैं और लिखा है कि श्मशान से लौटने के उपरान्त तीन दिनों तक क्या करना चाहिए। शांखा० श्रौ० ने व्यवस्था दी है कि उन्हें खाली (विस्तरहीन) भूमि पर सोना चाहिए, केवल याज्ञिक भोजन करना चाहिए, वैदिक अग्नियों से सम्बन्धित कर्मों को करते रहना चाहिए, किन्तु अन्य धार्मिक कृत्य नहीं करने चाहिए, और ऐसा एक रात के लिए या नौ रातों के लिए या अस्थि-संचय करने तक करना चाहिए। आश्व० गृह्य० (४।४।१७-२४) ने निम्न बातें दी हैं—उस रात उन्हें भोजन नहीं बनाना चाहिए, खरीद कर या अन्य के घर से प्राप्त भोजन करना चाहिए, तीन रातों तक निर्मित या खान से प्राप्त नमक का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यदि मुख्य गुरुओं (पिता, माता या वह जिसने उपनयन-संस्कार कराया हो या जिसने वेद पढ़ाया हो) में किसी की मृत्यु हो गयी हो तो विकल्प से १२ रातों तक दान देना तथा वेदाध्ययन स्थगित कर देना चाहिए। पार० गृ० (३।१०) का

४६. दूर्वाप्रवालमग्निं वृषभं चालभ्य गृहद्वारे प्रेताय पिण्डं दत्त्वा पश्चात्प्रविशेयुः। शंख (मिता०, याज्ञ० ३।१३, परा० मा० १।२, पृ० २९३)।

कथन है कि ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करना चाहिए, दिन में केवल एक बार खाना चाहिए। उस दिन वेदपाठ स्थगित रखना चाहिए तथा वेदाग्नियों के कृत्यों को छोड़कर अन्य धार्मिक कृत्य भी स्थगित कर देने चाहिए। वसिष्ठ० (४।१४-१५) का कथन है कि संबंधियों को चटाई पर तीन दिन बैठकर उपवास करना चाहिए। यदि उपवास न किया जा सके तो बाजार से मँगाकर या बिना माँगे प्राप्त भोजनसामग्री का आहार करना चाहिए। याज्ञ० (३।१७) एवं पार० (३।१०) ने व्यवस्था दी है कि उस रात उन्हें एक मिट्टी के पात्र में दूध एवं जल डालकर उसे खुले स्थान में शिक्य (सिकहर) पर रखकर यह कहना चाहिए—'हे मृतात्मा, यहाँ (जल में) स्नान करो और इस दूध को पीओ।' याज्ञ० (३।१७), पैठीनसि, मनु (५।८४), पार० गृह्य० (३।१०) आदि का कथन है कि मृतात्मा के संबंधियों को श्रौत अग्नियों से संबंधित आह्निककृत्य (अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास आदि) तथा स्मार्त अग्नियों वाले कृत्य (यथा, प्रातः एवं सायं के होम आदि) करते रहना चाहिए, क्योंकि वेद के ऐसे ही आदेश हैं (यथा, व्यक्ति को आमरण अग्निहोत्र करते जाना चाहिए)। टीकाकारों ने कई एक सीमाएँ एवं नियन्त्रण घोषित किये हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१७) का कथन है कि मनु (५।-८४) ने केवल श्रौत एवं स्मार्त अग्नियों के कृत्यों का अपवाद, किया है, अतः पंच महायज्ञ-जैसे धार्मिक कर्म नहीं करने चाहिए। वैश्वदेव, जिसका सम्पादन अग्नि में होता है, छोड़ दिया जाता है, क्योंकि संवर्त ने स्पष्ट रूप से कहा है कि (सपिण्ड की मृत्यु पर) ब्राह्मण को १० दिनों तक वैश्वदेव-रहित रहना चाहिए। श्रौत एवं स्मार्त कृत्य दूसरों द्वारा करा देने चाहिए, जैसा कि पार० (३।१० 'अन्य एतानि कुर्युः') ने स्पष्ट रूप से आज्ञापित किया है। केवल **नित्य** एवं **नैमित्तक कृत्यों** को, जो श्रौत एवं स्मार्त अग्नियों में किये जाते हैं, करने की आज्ञा दी गयी है, अतः **काम्य** कर्म नहीं किये जा सकते।

आजकल भी अग्निहोत्री लोग स्वय **श्रौत नित्य होम** अशौच के दिनों में करते हैं, यद्यपि कुछ लोग ऐसा अन्य लोगों से कराते हैं (याज्ञ० ३।१७ एवं मनु ५।८४)। यद्यपि गोभिलस्मृति (३।६०) ने सन्ध्या का निषेध किया है, किन्तु पैठीनसि का हवाला देकर मिताक्षरा ने कहा है कि सूर्य को जल दिया जा सकता है। कुछ अन्य लोगों का कथन है कि सन्ध्या के मन्त्रों को मन में कहा जा सकता है, केवल प्राणायाम के मन्त्र नहीं कहे जाते (स्मृतिमुक्ताफल पृ० ४७८)। आजकल भारत के बहुत-से भागों में ऐसा ही किया जाता है। विष्णु० (२२।६) ने व्यवस्था दी है कि जन्म एवं मरण के अशौच में होम (वैश्वदेव), दान देना एवं ग्रहण करना तथा वेदाध्ययन रुक जाता है। वैखानसस्मार्त० (६।४) के मत से सन्ध्या-पूजा, देवों एवं पितरों के कृत्य, दान देना एवं लेना तथा वेदाध्ययन अशौच की अवधि में छोड़ देना चाहिए। गौतम (१४।४४) का कथन है कि वेदाध्ययन के लिए जन्म-मरण के समय ब्राह्मण पर अशौच का प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी ओर संवर्त (४३) का कथन है कि जन्म-मरण के अशौच में पंच महायज्ञ एवं वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए। नित्याचारपद्धति (पृ० ५४४) का कथन है कि अशौच में भी विष्णु के सहस्र नामों का पाठ किया जा सकता है।

अस्थिसञ्चयन या **सञ्चयन** वह कृत्य है जिसमें शव-दाह के उपरान्त जली हुई अस्थियाँ एकत्र की जाती हैं। यह कृत्य बहुत-से सूत्रों एवं स्मृतियों में वर्णित है, यथा—शांखा० श्रौ० (४।१५।१२-१८), सत्याषाढश्रौ० (२८।३), आश्व० गृह्य० (४।५।१-१८), गौ० पि० सू० (१।५), विष्णु० (१९।१०-१२), बौधा० पि० सू० (५।७), यम (८७-८८), संवर्त (३८), गोभिल० (३।५४-५९), हारलता (पृ० १८३)। यह कृत्य किस दिन किया जाय, इस विषय में मतैक्य नहीं है। उदाहरणार्थ, सत्या० श्रौ० (२८।३।१) के मत से अस्थि-संचयन शवदाह के एक दिन उपरान्त या तीसरे, पाँचवें या सातवें दिन होना चाहिए; संवर्त (३८) एवं गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड ५।१५) के मत से पहले, तीसरे सातवें या नवें दिन और विशेषतः द्विजों के लिए चौथे दिन अस्थिसंचयन होना चाहिए। वामनपुराण (१४।९७-९८) ने पहले, चौथे या सातवें दिन की अनुमति दी है। यम (८७) ने सम्बन्धियों को शवदाह के उपरान्त प्रथम दिन से लेकर चौथे

दिन तक अस्थियाँ एकत्र कर लेने को कहा है और पुनः (८८) कहा है कि चारों वर्णों में संचयन क्रम से चौथे, पाँचवें, सातवें एवं नवें दिन होना चाहिए। आश्व० गृ० (४।५।१) के मत से शवदाह के उपरान्त दसवें दिन (कृष्ण पक्ष में) संचयन होना चाहिए, किन्तु विषम तिथियों (प्रथमा, तृतीया, एकादशी, त्रयोदशी एवं अमावस्या के दिन) में तथा उस नक्षत्र में, जिसका नाम दो या दो से अधिक नक्षत्रों के साथ प्रयुक्त नहीं होता है (अर्थात् दो आषाढ़ाओं, दो फाल्गुनियों एवं दो भाद्रपदाओं को छोड़कर)। विष्णु० (१९।१०), वैखा० स्मार्त० (५।७), कूर्मपुराण (उत्तर, २३), कौशिकसूत्र (८२।२९), विष्णुपुराण (३।१३।१४) आदि ने कहा है कि संचयन दाह के चौथे दिन अवश्य होना चाहिए। विस्तार के विषय में भी मतैक्य नहीं है। आश्व० गृह्य० (४।५) में निम्न बातें पायी जाती हैं; पुरुष की अस्थियाँ अचिह्नित पात्र (ऐसे पात्र जिसमें कहीं गंड या शोथ आदि न उभरा हो) में एकत्र करनी चाहिए और स्त्री की अस्थियाँ गण्डयुक्त पात्र में। विषम संख्या में बूढ़ों द्वारा (इसमें स्त्रियाँ नहीं रहतीं) अस्थियाँ एकत्र की जाती हैं। कर्ता चितास्थल की परिक्रमा अपने वामांग को उस ओर करके तीन बार करता है और उस पर जलयुक्त दूध शमी की टहनी से छिड़कता है और ऋ० (१०।१६।१४) के 'शीतिके' का पाठ करता है। अँगूठे और अनामिका अँगुली से अस्थियाँ उठाकर एक-एक संख्या में पात्र में बिना स्वर उत्पन्न किये रखी जाती हैं, सर्वप्रथम पाँव की अस्थियाँ उठायी जाती हैं और अन्त में सिर की। अस्थियों को भली भाँति एकत्र करके और उन्हें पछोड़नेवाले पात्र से स्वच्छ करके एवं पात्र में एकत्र करके ऐसे स्थान में रखा जाता है जहाँ चारों ओर पानी आकर एकत्र नहीं होता और 'उपसर्प' (ऋ० १०।१८।१०) का पाठ किया जाता है, इसके उपरान्त चिता के गड्ढे में मिट्टी भर दी जाती है और ऋ० (१०।१८।११) का मन्त्रोच्चारण किया जाता है, फिर ऋ० (१०।१८।१२) का पाठ किया जाता है। अस्थि-पात्र को ढक्कन से बन्द करते समय (ऋ० १०।१८।१३) का पाठ (उत् ते स्तभ्निम) किया जाता है। इसके उपरान्त बिना पीछे घूमे घर लौट आया जाता है, स्नान किया जाता है और कर्ता द्वारा अकेले मृत के लिए श्राद्ध किया जाता है। कौशिकसूत्र (८२।२९-३२) ने अस्थि-संचयन की विधि कुछ दूसरे ही प्रकार से दी है।

अन्य सूत्रों ने कतिपय भिन्न बातें दी हैं, जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। दो-एक बातें ये हैं—सत्याषाढश्रौ० का कथन है कि टहनी उदुम्बर पेड़ की होनी चाहिए, अस्थियाँ मृत के घर की स्त्रियाँ (पत्नी आदि) विषम संख्या (५ या अधिक) में एकत्र करती हैं, उनके अभाव में अन्य घरों की स्त्रियाँ ऐसा करती हैं। वह स्त्री, जिसे अब बच्चा न उत्पन्न होनेवाला हो, अपने बायें हाथ में गीले एवं लाल रंग के दो धागों से बृहती फल बाँधती है, वह बायें पैर को पत्थर पर रखती है और सर्वप्रथम दाँतों या सिर की अस्थियाँ 'उत्तिष्ठत' (तै० आ० ६।४।२) उच्चारण के साथ एकत्र करती है और उसे किसी पात्र या वस्त्र में रखती है, दूसरी स्त्री (उसी प्रकार की) कंधों या बाहुओं की अस्थियाँ चुनती है, तीसरी पार्श्वों की या कटि की अस्थियाँ, चौथी जाँघों या पैरों की तथा पाँचवीं पाँवों की अस्थियाँ चुनती है। वे या अन्य स्त्रियाँ सभी अस्थियाँ चुन लेती हैं। अस्थि-पात्र शमी या पलाश वृक्ष की जड़ में रखा जाता है।

आजकल, विशेषतः कसबों एवं ग्रामों में शवदाह के तुरत उपरान्त ही अस्थियाँ संचित कर ली जाती हैं। अन्त्येष्टिपद्धति उपर्युक्त आश्व० गृह्य० की विधि का अनुसरण करती है। इसका कथन है—कर्ता चितास्थल को जाता है, आचमन करता है, काल एवं स्थान का नाम लेता है और मृत का नाम और गोत्र बोलकर संकल्प करता है कि वह अस्थिसंचयन करेगा। अपने वामांग को चितास्थल की ओर करके उसकी तीन बार परिक्रमा करता है, उसे शमी की टहनी से बुहारता है और उस पर 'शीतिके' (ऋ० १०।१६।१४) के साथ दूधमिश्रित जल छिड़कता है। इसके उपरान्त कर्ता के साथ विषम संख्या में बूढ़े लोग अस्थिसंचयन करते हैं और अस्थियों को एक नये पात्र में रखते हैं, किन्तु यदि अस्थियाँ किसी मृत स्त्री की हैं तो उन्हें ऐसे पात्र में रखा जाता है जिसमें गंड या शोथ के चिह्न पड़े रहते हैं। अस्थियों को शूर्प (सूप) से हवा करके स्वच्छ कर दिया जाता है और छोटी-छोटी अस्थियाँ भी चनकर पात्र में रख दी

जाती हैं तथा भस्म गंगा में बहा दी जाती है। इसके उपरान्त वर्षाऋतु के अतिरिक्त किसी अन्य काल में एक ऐसे पवित्र स्थान पर जहाँ जल एकत्र नहीं होता, एक गड्ढा खोदा जाता है और कर्ता उसमें ऋ० (१०।१८।१२) के मंत्र के साथ पात्र को गाड़ देता है। कर्ता ऋ० (१०।१८।११) के साथ गड्ढे में पात्र के चारों ओर मिट्टी फेंकता है और हाथ जोड़कर ऋ० (१०।१८।१२) का पाठ करता है तथा पात्र के मुख पर एक मिट्टी का नया ढक्कन ऋ० (१०।१८।१३) मंत्रोच्चारण के साथ रख देता है। इसके उपरान्त पात्र को इस प्रकार भली भाँति ढँक देता है कि कोई देख न सके और बिना पीछे घूमे कहीं अन्यत्र चला जाता है और स्नान करता है। निर्णयसिन्धु (पृ० ५८६) ने स्पष्ट कहा है कि अस्थिसंचयन की विधि अपने सूत्र अथवा भट्ट (कमलाकर के पितामह नारायण भट्ट) के ग्रंथ से प्राप्त करनी चाहिए।

विष्णुधर्मसूत्र (१९।११-१२) एवं अनुशासनपर्व (२६।३२) का कथन है कि संचित अस्थियाँ गंगा में बहा देनी चाहिए, क्योंकि जितने दिन अस्थियाँ गंगा में रहेंगी, उतने सहस्र वर्ष मृत व्यक्ति स्वर्ग में रहेगा। पुराणों में ऐसा आया है कि कोई सदाचारी पुत्र, भाई या दौहित्र (लड़की का पुत्र) या पिता या माता के कुल का कोई सम्बन्धी गंगा में अस्थियों को डाल सकता है, जो इस प्रकार सम्बन्धित नहीं है उसे अस्थियों का गंगा-प्रवाह नहीं करना चाहिए, यदि वह ऐसा करता है तो उसे चान्द्रायण प्रायश्चित्त करना चाहिए। आजकल भी बहुत-से हिन्दू अपने माता-पिता या अन्य सम्बन्धियों की अस्थियाँ प्रयाग में जाकर गंगा में या किसी पवित्र नदी में डालते हैं या समुद्र में बहा देते हैं।[४७] निर्णय-सिन्धु ने शौनक का उद्धरण देकर गंगा के अस्थि-विसर्जन पर विस्तार से चर्चा की है, जो संक्षेप में यों है—कर्ता को ग्राम के बाहर जाकर स्नान करना चाहिए और गायत्री तथा उन मन्त्रों का, जो सामान्यतः पंचगव्य में कहे जाते हैं, उच्चारण करके अस्थि-स्थल पर मिट्टी छिड़कनी चाहिए। ऋग्वेद के चार मन्त्रों (१०।१८।१०-१३) के साथ उसे क्रम से पृथिवी की प्रार्थना करनी चाहिए, उसे खोदना चाहिए, मिट्टी निकालनी चाहिए और अस्थियों को बाहर करना चाहिए। इसके उपरान्त स्नान करके उसे ऋ० (८।९५।७-९) के मन्त्रों के पाठ (इतो न्विन्द्र स्तवाम शुद्धम् आदि) के साथ अस्थियों को बार-बार छूना चाहिए। तब उन्हें पंचगव्य से स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिए। इसके उपरान्त उसे (पवित्र अग्नियों की) भस्म, मिट्टी, मधु, कुशपूर्ण जल, गोमूत्र, गोबर, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत एवं जल से दस बार स्नान कराना चाहिए। तब उसे ऋ० (१।२२।१६; ८।२५।७-९; ७।५६।१२-१४; १०।१२६।१-८; १०।१९।१-१३; ९।१।१-१।१०; १०।१२८।१-९; १।४३।१-९) के उच्चारण के साथ अस्थियों पर कुश से जल छिड़कना चाहिए;[४८] इसके उपरान्त उसे मृत के लिए हिरण्य-श्राद्ध करना चाहिए, उसे पिण्ड देना चाहिए और तिल से तर्पण करना चाहिए। इसके उपरान्त उसे अस्थियों को निम्न सात प्रकार से ढँकना चाहिए; मृगचर्म, कम्बल, दर्भ, गाय के बालों, सन से बने वस्त्र, भूर्ज (भोज) के पत्रों एवं ताड़ के पत्तों से। अस्थियों की शुद्धि के लिए उसे उनमें सोने, चाँदी के टुकड़े, मोती,

४७. स्मृतिचन्द्रिका (आशौच, पृ० १९०) ने इस विषय में कतिपय स्मृति-वचन उद्धृत किये हैं; तत्र शाण्डिल्यः—द्वारवत्यां सेतुबन्धे गोदावर्यां च पुष्करे। अस्थीनि विसृजेद्यस्य स मृतो मुक्तिमाप्नुयात्॥ शंखलिखितौ—गंगायां च प्रयागे च केदारे पुष्करोसमे। अस्थीनि विधिवत् त्यक्त्वा गयायां पिण्डदो भवेत्॥ पित्रोर्ऋणात्प्रमुच्येत तौ नित्यं मोक्षगामिनौ॥ इति। योगयाज्ञवल्क्यः—गंगायां यमुनायां वा कावेर्यां वा शतद्रुतौ। सरस्वत्यां विशेषेण ह्यस्थीनि विसृजेत्सुतः॥

४८. यह अवलोकनीय है कि ऋ० (८।२५।७-९) में 'शुद्ध' शब्द तेरह बार आया है अतः यह उचित ही है कि शुद्धीकरण में इन मन्त्रों का पाठ किया जाय। इसी प्रकार ऋ० (७।५६।१२) में 'शुचि' शब्द छः बार आया है।

मूँगा, नीलम रख देना चाहिए। इसके उपरान्त उसे ऋ० (१०।१५) के मन्त्रों ('उदीरताम्'....आदि) के साथ अग्नि में घृत एवं तिल की १०८ आहुतियाँ डालनी चाहिए। तब उसे अस्थियों को पवित्र जल में डालना चाहिए; ऐसा करने से वह अशुद्ध वस्तु छूने का अपराधी नहीं सिद्ध होता। मलमूत्र-त्याग करते समय या आचमन करते समय उसके हाथों में अस्थियाँ नहीं रहनी चाहिए।

निर्णयसिन्धु (पृ० ५८८) ने इतना और जोड़ दिया है कि जिनका उपनयन-संस्कार नहीं हुआ है, उन लोगों का अस्थिसंचयन नहीं होना चाहिए।

आश्व० गृ० (४।६), सत्या० श्रौ० (४।६, **परिधिकर्म**) आदि ने मृत के अस्थिसंचयन के उपरान्त एक **शान्ति** नामक कृत्य की व्यवस्था दी है। बौधा० पि० सू० (२।३।३) एवं विष्णु० (१९।१९) ने अशौच के दस दिनों के पश्चात् शांति के कृत्य की व्यवस्था दी है (दशरात्रे शौचं कृत्वा शान्तिः)। आश्व० गृ० में इसका वर्णन यों है—जिसके गुरु (पिता या माता) मर गये हों उसे अमावस्या के दिन शुद्धीकरण कृत्य करना चाहिए। सूर्योदय के पूर्व ही उसे अग्नि की राख एवं उसके आधार के साथ ऋ० (१०।१६।९) के मन्त्र के अर्धांश का पाठ करके दक्षिण दिशा में जाना चाहिए। चौराहे या किसी अन्य स्थान पर उसे (अग्नि को) फेंककर, उसकी ओर शरीर का वाम भाग करके और बायें हाथ से बायीं जाँघ को ठोकते हुए उसकी तीन बार परिक्रमा करनी चाहिए। बिना पीछे घूमे घर लौट आना चाहिए, जल में स्नान करना चाहिए, केश, दाढ़ी एवं नख कटाने चाहिए, नया घड़ा, पाक एवं मुख धोने के लिए नये पात्र रखने चाहिए तथा शमी के पुष्पों की मालाएँ, शमी की लकड़ियों की समिधा, अग्नि उत्पन्न करने के लिए शमी की लकड़ी के दो टुकड़े, अग्नि को एकत्र करने के लिए टहनियाँ, बैल का गोबर एवं चर्म, ताजा मक्खन, एक पत्थर तथा घर में जितनी स्त्रियाँ हों उतनी शाखाएँ रख लेनी चाहिए। अपराह्न में अग्निहोत्र के समय कर्ताओं को ऋ० (१०।१६।९) के अर्धांश के साथ अरणि से अग्नि उत्पन्न करनी चाहिए। इस प्रकार अग्नि जलाकर कर्ता को रात्रि की मूकता की प्राप्ति के समय तक बैठे रहना चाहिए और (कुल के) बूढ़े लोगों की कहानियाँ, शुभ बातों से भरी गाथाएँ, इतिहास एवं पुराण कहते रहना चाहिए। जब चारों ओर सन्नाटा छा जाता है अथवा जब अन्य लोग अपने-अपने विश्राम-स्थल को चले जाते हैं तो कर्ता को द्वार के दक्षिण भाग से लगातार जलधारा गिराते रहना चाहिए एवं ऋ० (१०।५३।६) का पाठ करते हुए घर की परिक्रमा कर द्वार के उत्तर भाग में जाकर रुक जाना चाहिए। इसके उपरान्त अग्नि को रखने के पश्चात् और उसके पश्चिम में बैल के चर्म को रखकर घर के लोगों को (स्त्रियों को भी) उस पर ऋ० (१०।१८।६) मन्त्र के साथ चलने को कहना चाहिए। उसे अग्नि के चारों ओर लकड़ियाँ रख देनी चाहिए और ऋ० (१०।१८।४) का पाठ करना चाहिए। तब वह अग्नि के उत्तर पत्थर रखता हुआ ऋ० (१०।१८।४) का अन्तिम पाद कहता है ('वह उनके एवं मृत्यु के बीच में पर्वत रखे') और ऋ० (१०।१८।१-४) के चार मन्त्रों को कहकर वह ऋ० (१०।१८।५) के मन्त्र के साथ अपने लोगों की ओर देखता है। घर की स्त्रियाँ अपने पृथक्-पृथक् हाथों के अँगूठों एवं चौथी अँगुली (अनामिका) से एक ही साथ दर्भांकुरों से अपनी आँखों में ताजा मक्खन लगाती हैं और दर्भांकुरों को फेंक देती हैं। जब तक स्त्रियाँ आँखों में मक्खन का अंजन लगाती रहें कर्ता को उनकी ओर देखते रहना चाहिए और ऋ० (१०।१८-७) का पाठ करना चाहिए—'ये स्त्रियाँ विधवा नहीं हैं और अच्छे पतियों वाली हैं।' उसे पत्थर का स्पर्श करना चाहिए (ऋ० १०।५३।८ 'पत्थर वाली नदियाँ बहती हैं), इसके उपरान्त उत्तर-पूर्व में खड़े होकर जब कि अन्य लोग अग्नि एवं बैल के गोबर की परिक्रमा करते हैं, उसे ऋ० (१०।९।१-३ एवं १०।१५५।५) का पाठ करते हुए जलधारा गिरानी चाहिए। एक पीले रंग के बैल को चारों ओर घुमाना चाहिए। इसके उपरान्त सभी लोग नवीन किन्तु बिना धुले हुए वस्त्र पहनकर किसी इच्छित स्थान पर बैठ जाते हैं और बिना सोये सूर्योदय तक बैठे रहते हैं। सूर्योदय के उपरान्त सूर्य के लिए प्रणीत एवं अन्य शुभ मन्त्रों का पाठ करके, भोजन बनाकर, मन्त्रों (ऋ० १।९७।१-८) के साथ

आहुतियाँ देकर तथा ब्राह्मण-भोजन कराकर उन्हें (ब्राह्मणों को) शुभ शब्द कहने के लिए प्रेरित करना चाहिए। प्रत्येक ब्राह्मण को एक गाय, एक धातु-पात्र, एक नवीन अप्रयुक्त वस्त्र यज्ञ-दक्षिणा के रूप में देना चाहिए। और देखिए सत्याषाढश्रौतसूत्र (२८।४।१)।

शतपथब्राह्मण (१३।८।१-४) एवं कात्या० श्रौ० ने **श्मशान या समाधि-स्थलों** के विषय में मनोरंजक सूचनाएँ दी हैं।[४९] शतपथब्राह्मण में ऐसा आया है कि मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही श्मशान (समाधि या चैत्य) का निर्माण नहीं होना चाहिए, नहीं तो मृत के पाप को कर्ता पुनर्जीवित कर देगा; इतना पर्याप्त समय बीत जाना चाहिए कि लोग मृत की मृत्यु के विषय में भूल-से जायँ और यह न जान सकें कि वह कब मृत्यु को प्राप्त हुआ था। समाधि-निर्माण विषम वर्षों में केवल एक नक्षत्र के अन्तर्गत (अर्थात् चित्रा एवं पुष्य जैसे केवल एक तारा वाले नक्षत्र में, न कि पुनर्वसु एवं विशाखा के द्विसंख्यक या कृत्तिका जैसे बहुसंख्यक तारा वाले नक्षत्र में) अमावस्या के दिन होना चाहिए। शरद ऋतु, माघ या ग्रीष्मकाल में ऐसा करना अच्छा है। श्मशान या समाधि चार कोणों (चतुःस्रक्ति) वाली होनी चाहिए, क्योंकि देवपूजक लोग अपने समाधि-स्थलों को चौकोर बनाते हैं और असुर, प्राच्य लोग आदि मण्डलाकार बनाते हैं। स्थान के चुनाव के विषय में शतपथ ब्राह्मण ने कई दृष्टिकोण दिये हैं, यथा—कुछ लोगों के मत से उत्तर की ओर ढालू स्थान और कुछ लोगों के मत से दक्षिण की ओर, किन्तु सिद्धान्ततः उस स्थान पर समाधि बनानी चाहिए जहाँ समतल हो और दक्षिण दिशा से आता हुआ जल पूर्वाभिमुख ठहर जाय और धक्का देकर न बहे। वह स्थल रमणीक एवं शांत होना चाहिए। समाधि-स्थल मार्ग पर या खुले स्थान में नहीं होना चाहिए, नहीं तो मृत के पाप पुनर्जीवित हो जायँगे। समाधि पर मध्याह्न-काल की सूर्य-किरणें पड़ती रहनी चाहिए। वहाँ से ग्राम नहीं दिखाई पड़ना चाहिए और उसके पश्चिम में सुन्दर वन, वाटिका आदि होने चाहिए। यदि ये सुन्दर वस्तुएँ न हों तो पश्चिम या उत्तर में जल होना चाहिए। समाधि को ऊषर भूमि तथा ऐसी भूमि में होना चाहिए जहाँ पर्याप्त मात्रा जड़ें हों। वहाँ भूमिपाशा नामक पौधे, सरकंडे के पौधे तथा अश्वगन्धा या अध्यण्डा या पृश्निपर्णी के पौधे नहीं होने चाहिए। पास में अश्वत्थ (पीपल), विभीतक, तिल्वक, स्फूर्जक, हरिद्रु, न्यग्रोध या ऐसे वृक्ष नहीं होने चाहिए जिनके नाम पापमय हों, यथा—श्लेष्मातक या कोविदार। जिसने **अग्नि-चयन** किया है उसकी समाधि वेदिका की भाँति बनायी जाती है। समाधि बड़ी नहीं होनी चाहिए नहीं तो मृत के पाप बड़े हो जायँगे। उसकी लम्बाई मनुष्य के बराबर होनी चाहिए, वह पश्चिम एवं उत्तर में चौड़ी होनी चाहिए। जिधर सूर्य की किरणें न

४९. सत्याषाढश्रौतसूत्र (२८।४।२८) में आया है—अथैकेषां कुम्भान्तं निधानमनाहिताग्नेः स्त्रियाश्च निवपनान्तं हविर्याजिनः पुनर्दहनान्तं सोमयाजिनश्चयनान्तमग्निचित इति। यही बात बौधा० पि० सू० (२।३।२) में भी पायी जाती है। उपर्युक्त उक्ति में जली हुई अस्थियों के विसर्जन-कृत्य की चार विधियाँ हैं—

(१) उन पुरुषों एवं स्त्रियों की, जिन्होंने श्रौताग्नियाँ नहीं जलायी हैं, जली हुई अस्थियाँ पात्र में रखकर गाड़ दी जाती हैं; (२) जिन्होंने हविर्यज्ञ (जिसमें केवल भात एवं घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं) किया है, उनकी अस्थियाँ केवल भूमि में गाड़ दी जाती हैं (गौ० ४।२०); जिन्होंने सोमयज्ञ किया है उनकी अस्थियों का पुनर्दाह किया जाता है तथा (४) जिन्होंने अग्निचयन का पवित्र कृत्य किया है उनकी अस्थियों पर ईंटों का चैत्य बना दिया जाता है या मिट्टी का स्तूप उठा दिया जाता है। अस्थि-पात्र पर समाधि, पृथिवी-समाधि एवं अस्थिपुनर्दाह की प्रथाएँ मोहेंजोदडो एवं हरप्पा के ताम्रयुग के लोगों में प्रचलित थीं (देखिए रामप्रसाद चन्द, आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ़ इण्डिया, मेम्बायर नं० ३१, पृ० १३-१४)।

पड़ती हों उधर ही रस्सियों को घेरा होना चाहिए। पृथिवी में इतना बड़ा गड्ढा खोदना चाहिए जो पुरुष-नाप के बराबर हो। और देखिए कात्या० श्रौ० (२१।३।१ एवं ६) जहाँ ऐसा ही वर्णन है। सत्याषाढश्रौ० (२९।१।२) ने व्यवस्था दी है कि जब शवदाह का दिन विस्मृत हो जाय तो अमावस्या के दिन, जो माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख या ग्रीष्म मासों (ज्येष्ठ एवं आषाढ़) के तुरत पश्चात् आये, ईंटों या मिट्टी की समाधि अस्थियों पर बना दी जानी चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण (१३।८।२-४) ने और आगे कहा है—देवप्रेमी लोग समाधि को पृथिवी से अलग करके नहीं बनाते। किन्तु असुर, प्राच्य आदि उसे पृथिवी से अलग पत्थर पर या इसी प्रकार के अन्य आधारों पर बनाते हैं। समाधि को बिना किसी पूर्वनिश्चित संख्या वाले पत्थरों से घेर दिया जाता है। इसके उपरान्त उस स्थल को (जहाँ समाधि बनने को होती है) पलाश की एक शाखा से वाज० सं० (३५।१ क्षुद्र देवद्रोही यहाँ से भाग जायँ) के उच्चारण के साथ बुहार दिया जाता है और कर्ता यम से प्रार्थना करता है कि वह मृत को निवास-स्थान दे। इसके उपरान्त शाखा को दक्षिण ओर फेंक देता है। इसके उपरान्त दक्षिण या उत्तर में वह हल में छः बैल जोड़ता है। 'जोतो' की आज्ञा पाने के उपरान्त वह (कर्ता) मन्त्रोच्चारण (वाज० सं० ३५।२) करता है। हल को दक्षिण से उत्तर की ओर घुमाकर वह प्रथम सीता (सीर या पहला फार या कूँड़) वाज० सं० (४३५।३) के अर्थात् 'वायु पवित्र करे' मन्त्र के साथ जोतता है और उत्तर से पश्चिम जाता है; 'सविता पवित्र करे' के साथ पश्चिम से दक्षिण जाता है; 'अग्नि की आभा' के साथ दक्षिण से पूर्व की ओर जाता है; 'सूर्य की दिव्यता' के साथ सामने उत्तर जाता है। यजुर्वेद के मन्त्रों के साथ वह चार सीता (कूँड़) जोतता है। इसके उपरान्त मौनरूप से समाधि-स्थल को बिना पूर्वनिश्चित संख्या में जोतता है। इसके उपरान्त बैलों को छटका देता है (हल से अलग कर देता है)। दाहिनी ओर (दक्षिण-पश्चिम में) वह बैलों एवं हल को अलग करता है।

तत्पश्चात् कर्ता सभी प्रकार की ओषधियों या शाकों को एक ही मन्त्र (वाज० सं० ३५।४) के साथ बोता है; इसके द्वारा अपने कुल के लोगों की लम्बी आयु के लिए प्रार्थना करता है कि एक के पश्चात् एक वृद्धावस्था में ही मृत्यु पायें। इसके उपरान्त वह अस्थि-पात्र को उड़ेल देता है। ऐसा वह सूर्योदय के पूर्व ही करता है जिससे कि वैसा करते समय उसके ऊपर सूर्य का उदय हो। वह इसे वाज० सं० (३५।५-६) के पाठ के साथ करता है। तब वह किसी से कहता है—'साँस रोककर उस (दक्षिण) दिशा की ओर बढ़ो और पात्र को फेंकने के उपरान्त बिना पीछे देखे यहाँ लौट आओ। तब वह वाज० सं० (३५।७) का पाठ करता है। इसके उपरान्त वह वाज० सं० (३५।८-९) के साथ मृत की अस्थियों को अंग-अंग के अनुसार व्यवस्थित करता है। अब तेरह अचिह्नित ईंटें, जो पुरुष के पैर के बराबर होती हैं, नीचे सजा दी जाती हैं (किन्तु यहाँ अग्निचयन के समान मन्त्रोच्चारण नहीं किया जाता)।[५०] तेरह ईंटों में एक ईंट

५०. अग्नि-वेदिका की ईंटों पर लम्बी-लम्बी रेखाओं के चिह्न होते हैं (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ३५)। अग्निचयन की ईंटें मनुष्य के पैर के बराबर होती हैं। उन पर देवों की पूजा होती है। समाधि-निर्माण में गुरुजनों का सम्मान होता है। शतपथब्राह्मण (१३।८।२-३) में देवों एवं पितरों में पृथक्त्व प्रदर्शित किया गया है, क्योंकि दैवी शक्तियाँ मनुष्य की शक्तियों से पृथक् होती हैं। अग्निचयन में बहुधा पक्षी का आकार बनाया जाता है (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ३५)। इसी से शतपथ ब्राह्मण ने पंखों एवं पुच्छों की चर्चा की है। कतिपय वर्णों एवं स्त्रियों की लम्बाइयों के विषय में जो व्यवस्था है, वह प्रतीकात्मक है। क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य क्रम से पुरुष के हाथों (बाहुओं), मुख एवं जंघाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं (ऋ० १०।९०।१२)। कात्या० श्रौ० (२१।४।१३-१४) ने क्षत्रिय के लिए एक विकल्प दिया है अर्थात् उसकी समाधि छाती के बराबर या बिना हाथ उठाये हुए मनुष्य की लम्बाई के बराबर हो सकती है।

को कर्ता बीच में रखता है, जिसका सम्मुख भाग पूर्व की ओर रहता है (यह कबन्ध का द्योतक है), तीन ईंटें सामने रखी जाती हैं, जो सिर की परिचायक हैं, तीन दाहिने और तीन बायें रखी जाती हैं (इस प्रकार दोनों पार्श्व बन जाते हैं) और तीन पीछे (पुच्छ भाग की द्योतक) रखी जाती हैं। तत्पश्चात् वह (कर्ता) पृथिवी के गड्ढे में रखने के लिए कुछ तेल लाने की आज्ञा देता है। कुछ लोग दक्षिण-पूर्व कोण में गड्ढा खोदते हैं और वहीं से तेल मँगवाते हैं; कुछ लोग दक्षिण-पश्चिम में गड्ढा खोदते हैं और उत्तर की ओर मँगवाते हैं (वह इस विषय में जैसा चाहे कर सकता है)। समाधि अधिक बड़ी नहीं होनी चाहिए; क्षत्रियों के लिए बिना हाथ उठाये मनुष्य की ऊँचाई के बराबर हो सकती है, ब्राह्मणों के लिए मुख तक की लम्बाई तक, स्त्रियों के लिए नितम्बों तक, वैश्यों के लिए जंघाओं तक तथा शूद्रों के लिए घुटनों तक ऊँचाई होनी चाहिए, या सभी के लिए केवल घुटनों तक की ऊँची समाधि हो सकती है। जब तक समाधि बनती रहती है, लोगों को उत्तर की ओर बेंत का एक गुच्छ लेकर खड़ा रहना चाहिए। इस प्रकार उस गुच्छ को पकड़ने के उपरान्त पृथिवी पर नहीं रखना चाहिए प्रत्युत उसे घर में रखना चाहिए, क्योंकि वह सन्ततियों का परिचायक होता है। समाधि बनाने के उपरान्त उस पर कर्ता यव (जौ) बो देता है और सोचता है—"ये मेरे पाप को दूर करें (यवय)!" कर्ता समाधि को अवका नामक पौधों से ढक देता है, जिससे कि आर्द्रता बनी रहे और इसी प्रकार कोमलता के लिए दर्भ लगा देता है।

समाधि के चतुर्दिक् खूँटियाँ गाड़ दी जाती हैं; सामने पलाश की, उत्तर कोण में शमी की, पीछे वरण की, दाहिने (दाहिने कोण में) वृत्र की खूँटी लगा दी जाती है। दक्षिण में कुछ टेढ़ी दो सीताएँ (कूंड) खोदकर उनमें दूध एवं जल छोड़ दिया जाता है और उत्तर ओर इसी प्रकार सात कूँड बनाये जाते हैं, उनमें जल छोड़ दिया जाता है जिससे पाप पार कर न आने पाये। उत्तरी कूँडों में तीन पत्थर रखे जाते हैं और उन पर वाज० सं० (३५।१० = ऋ० १०।५३।८) का पाठ कर चलना होता है। कर्ता अपामार्ग के पौधों से अपना मार्जन करते हैं और इस प्रकार पाप दूर करते हैं। इसके उपरान्त जहाँ जल पाया जाय वहाँ स्नान किया जाता है। वा० सं० (३५।१२) के पाठ के साथ कर्ता अंजलि में जल लेकर उस ओर फेंकता है जहाँ घृणास्पद व्यक्ति (दुर्मित्र) रहता है और इस प्रकार उस पर विजय पाता है। स्नान करके, कोरे वस्त्र पहनकर तथा एक कुल्हाड़ी को निचले भाग से पकड़कर सब लोग घर लौट आते हैं। गाँव की ओर वे लोग वा० सं० (३५।१४) को पढ़ते हुए आते हैं। घर पहुँचने पर उनके पास आँखों एवं पैरों में लगाने के लिए लेप लाया जाता है और इस प्रकार वे लोग अपने से मृत्यु को दूर करते हैं। घर में लौकिक अग्नि जलाकर और उसके चतुर्दिक् वरण की लकड़ियाँ लगाकर वे आयुष्मान् अग्नि को स्रुव से आहुति देते हैं। इस विषय में वाज० सं० (३५।१७) का मन्त्र पुरोनुवाक्या (आमन्त्रणकारक सूक्त) का कार्य करता है। यह इसलिए किया जाता है कि अग्नि इन लोगों की रक्षा करे। यज्ञ-दक्षिणा के रूप में एक बूढ़ा बैल, पुराना जौ (यव), पुरानी कुर्सी और एक ऐसा पीठासन दिया जाता है जिस पर सिर को भी सहारा मिल सके। इच्छानुसार अधिक भी दिया जा सकता है। यह विधि उनके लिए है जिन्होंने अग्नि-चयन किया है। अन्य लोगों के लिए भी ऐसा ही होता है, केवल अग्नि-वेदिका नहीं बनायी जाती। समाधि के घेरे से एक मुट्ठी मिट्टी लाकर समाधि एवं ग्राम के बीच में रख दी जाती है और वाज० सं० (३५।१५) का पाठ कर दिया जाता है। इस प्रकार यह ऐसा घेरा बन जाता है जो पितरों एवं जीवित लोगों के बीच में मेंड़ का कार्य करता है और दोनों मिल नहीं पाते।

सत्याषाढश्रौ० (२९।१।३) एवं बौधा० पि० सू० (१।१७-२०) ने अग्निचयन करनेवाले की समाधि के निर्माण के लिए एक अति विस्तृत विधि दी है, जिसे हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। समाधि बनाते समय वृक्ष की जड़ में रखे हुए अस्थि-पात्र को निकाला जाता है और अस्थियाँ कई प्रकार से शुद्ध की जाती हैं, यथा—एक घड़े के वाजिन (एक प्रकार के दूध) में दही मिश्रित कर उसे उस पर उड़ेलते हैं, कई बैलों से युक्त हल से जोतकर मिट्टी उभाड़ते हैं।

सत्याषाढ श्रौ० (२९।१।३-१२) ने एक विधि दी है जिसमें धवन नहीं होता, एक और विधि दी है (२९।१।१३-३२) जिसमें धवन होता है, आगे चलकर ऐसी विधि दी है जिसमें दोनों प्रकार से धवन किया जाता है।

लोष्टचितियों से समाधि बनाना, जिसमें धवन होता है, अब प्राचीन मान लिया गया है। इसका वर्णन संक्षेप में यों है--मृत के घर के सदस्यगण एक शाला या पर्यंक के लिए एक आधार बनाते हैं। वे उसके पूर्व अर्ध भाग या बीच या पश्चिम अर्ध भाग में तीन मुँह वाली पलाश की खूँटी गाड़ते हैं। इसके सामने एक शूद्र नारी से उत्पन्न व्यक्ति या ब्रह्मबन्धु (केवल नाम का ब्राह्मण) कथनोपकथन के लिए बैठता है। वह मृत की मुख्य पत्नी से पूछता है—'क्या तुम मेरे पास रहोगी?' वह स्त्री प्रत्युत्तर देती है—'(जो तुम चाहते हो) मैं नहीं करूँगी।' यह बातचीत दूसरे दिन भी होती है। तब वह तीसरे दिन प्रत्युत्तर देती है—'मैं केवल एक रात्रि के लिए रहूँगी।' यदि यह विचित्र पद्धति (धवन के विषय में, जिसका शाब्दिक अर्थ संभोग है) तीन दिन से अधिक चलनेवाली होती है तो स्त्री को उचित उत्तर देना होता है (अर्थात् तीन रात्रियों या पाँच रात्रियों के लिए, आदि)। जब उत्तर के शब्द उच्चारित होते हैं तो कर्ता अस्थियों को खूँटी की जड़ में रखता है और खूँटी के निकले हुए तीन मुखों पर एक ऐसा घड़ा रख देता है जिसके तल में एक सौ छिद्र होते हैं। घड़े का मुख चर्म एवं कुश से ढँका रहता है। घड़े पर वह वाजिन-युक्त दही छोड़ता है और 'वैश्वानरे हविरिदम्' (तै० आ० ६।१) का पाठ करता है। जब घड़े से तरल पदार्थ अस्थियों पर चूने लगता है तो वह तै० आ० (६।६) के मंत्र कहने लगता है। इसके उपरान्त सत्याषाढ श्रौ० (२९।१)२६-२९) ने व्यवस्था दी है कि चार ब्रह्मचारी या अन्य ब्राह्मण, जो पवित्र होते हैं, अपने सिर की दाहिनी ओर की चोटी बाँधते हैं और बायीं ओर की चोटी के बालों को बिखेर देते हैं, वे अपनी दाहिनी जाँघों को पीटते हैं और उस चर्म को भी छूते हैं जो अस्थि-पात्र को चारों ओर घेरे रहता है, अपने वस्त्रों से उसकी हवा करते हैं और घड़े की बायीं ओर से खूँटी की परिक्रमा करते हैं, ऐसा ही घर के अन्य लोग और स्त्रियाँ करती हैं; वीणा बजायी जाती है, शंख फूँके जाते हैं और नालिक, तूण, पणव आदि वाद्य बजाये जाते हैं, नृत्य, गीत आदि किया जाता है। यह धवन ५, ६, ९ दिनों तक, अर्ध मास, मास भर या वर्ष भर चलता है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार भोजन, धन (सोना आदि) का दान किया जाता है, कुछ लोगों के मत से यह दान-कर्म अन्तिम दिन में किया जाता है। यदि कल्पना की जाय तो यह कृत्य केवल मृत को यह विश्वास दिलाने के लिए है कि उसकी पत्नी इतने दिनों के उपरान्त भी सदाचारिणी रही है। बौधा० पि० सू० (१।१७।८) का भी कथन है कि इस कृत्य में नर्तकियाँ नृत्य करती हैं। अस्थियों के ऊपर बनी हुई समाधि की लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई के विषय में सूत्रों ने कई मत दिये हैं। सत्या० श्रौ० (२९।१।५-६) के अनुसार **श्मशानायतन** (श्मशान या समाधि का आयतन—लम्बाई, चौड़ाई आदि) चारों ओर से पाँच **प्रक्रम** (या पूर्व से छः तथा अन्य दिशाओं से पाँच प्रक्रम) होता है। एक ही सूत्र में समाधि की ऊँचाई कई प्रकार से दी हुई है। सत्या० श्रौ० सू० का कथन है कि ऊँचाई दो अंगुल या तीन, चार, एक **प्रादेश** (अँगूठे एवं तर्जनी की दूरी, जब कि फैला दिये जायँ) या एक **वितस्ति** (बारह अंगुल) या वह घुटनों या जंघाओं या नितम्बों तक पहुँच सकती है। इस विषय में और देखिए बौ० पि० सू० (१।१८), कौशिकसूत्र (८४।४-१०) आदि। वर्णनों से पता चलता है कि समाधि सामान्यतः चतुर्भुजाकार होती थी, किन्तु कुछ शाखाओं के मत से मण्डलाकार भी होती थी। लौरिया की समाधियाँ मण्डलाकार ही हैं।

एक विशिष्ट अवलोकनीय बात यह है कि समाधि का निर्माण कई स्तरों (तहों) में होता था और मिट्टी के धोंधे या लोंदे (तभी समाधि को **लोष्ट-चिति** कहा जाता है) या ईंटों का व्यवहार होता था। पूर्व, उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण में क्रम से ईंटें लगती थीं और सत्या० श्रौ० (२९।१।५३), बौधा० पि० सू० (१।१९।४-७) के मंत्र पढ़े जाते थे (ऋ० १०।१८।१३, १०, १२=अथर्व० १८।३।५२, ४९, ५०, ५१ एवं तै० आ० ६।७।१)। ऋ० (१०।१८।१२) में स्तम्भों एवं ऋ० (१०।१८।१३) में स्थूणा (थूम्ही) का उल्लेख है। लौरिया-नन्दनगढ़ में जो समाधियाँ मिली हैं

उनमें लकड़ी के स्तम्भ हैं, जिससे पता चलता है कि उनमें श्रौत सूत्रों में वर्णित वैदिक प्रथा का पालन हुआ था। अन्तर केवल इतना ही है कि लौरिया की समाधियों की ऊँचाई तथा वैदिक एवं सूत्रोक्त ऊँचाई में भेद है।

सत्या० श्रौ० ने २८वें प्रश्न में **पितृमेध** एवं २९वें प्रश्न में **ब्रह्ममेध** का वर्णन किया है। दोनों का अन्तर सत्या० श्रौ० (२९।३।४-१८) में बताया गया है। 'चतुर्होतारः' नामक मन्त्र ब्रह्म कहलाता है (तै० ब्रा० ३।१२।५) और ब्रह्ममेध की विधि केवल **आचार्य** या **श्रोत्रिय** के लिए प्रयुक्त होती है। महादेव की वैजयन्ती में आया है कि सत्या० श्रौ० के २८ एवं २९ प्रश्न भरद्वाज से लिये गये हैं। सत्या० श्रौ० में वर्णित **धवन** की विधि का प्रयोग आधुनिक भारत में नहीं होता। धवन का उल्लेख बौधा० पि० सू० (१।१७) एवं कात्या० श्रौ० सू० (२१।३।६) में भी हुआ है।

उपर्युक्त विवेचनों से प्रकट हुआ होगा कि प्राचीन भारत में अन्त्येष्टि-कर्म चार स्तरों में होता था, यथा—**शवदाह** (शव को जलाना), **अस्थिसंचय** एवं **अस्थि पात्र को पृथिवी के भीतर गाड़ना, शान्तिकर्म** एवं अस्थियों के ऊपर **श्मशान** या **समाधि** निर्मित करना। अन्तिम स्तर सभी लोगों के लिए आवश्यक रूप से नहीं प्रयुक्त होता था। रुद्रदामन् के समय में सीहिल के पुत्र मदन ने अपनी बहिन, भाई एवं पत्नी की स्मृति में लाठी (लष्टि या यष्टि) खड़ी की थी (एपि० इण्डिका, जिल्द १६, पृ० २३-२५, अन्धौ शिलालेख, सम्भवतः शक सं० ५३)। अपरार्क द्वारा उद्धृत ब्रह्मपुराण की एक लम्बी उक्ति में ऐसा आया है (पृ० ८८५-८८६) कि जलाये गये शव की अस्थियाँ एक पात्र में एकत्र करनी चाहिए और उसे किसी वृक्ष की जड़ में रखना चाहिए या गंगा में बहा देना चाहिए, शवदाह की भूमि को गोबर एवं जल से लीपकर पवित्र कर देना चाहिए और वहाँ पुष्करक नामक वृक्ष लगा देना चाहिए या एडूक (समाधि) का निर्माण कर देना चाहिए।[५१]

सत्या० श्रौ० (२८।२।२८) एवं बौ० पि० सू० (२।१।२) ने, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, लिखा है कि मृत्यु के उपरान्त से लेकर अस्थि-पात्र को भूमि में गाड़ने तक के कर्म केवल उन मृत लोगों के लिए, जिन्होंने वैदिक अग्नियाँ नहीं जलायी हैं और विवाहित स्त्रियों के लिए हैं, किन्तु **अग्निचयन** कर्म करनेवालों की अस्थियों पर मिट्टी या ईंटों का श्मशान (या समाधि) बना दिया जाता है। यह विचारणीय है कि बेबीलोनिया एवं केल्टिक ब्रिटेन में स्वामी के साथ दास एवं नौकर गाड़ दिये जाते थे, किन्तु प्राचीन भारत में शवदाह एवं शव (या अस्थि) गाड़ने की प्रथा में ऐसा नहीं पाया जाता। शतपथब्राह्मण जैसे प्राचीन ग्रन्थ में ऐसा कोई उल्लेख या विधि नहीं है। यह सम्भव है कि प्राक्-वैदिक काल में पति की चिता पर पत्नी भी भस्म हो जाती रही हो। इसमें सन्देह नहीं कि विष्णुधर्मसूत्र ने स्त्रियों को पातिव्रत धर्म निबाहने के लिए ऐसा कहा है कि वे यदि चाहें तो सती हो सकती हैं।

अन्त्यकर्माधिकारी वे ही होते हैं जो श्राद्धकर्म करने के लिए अधिकारी माने जाते हैं। किसको प्राथमिकता दी जाय, इस विषय में धर्मशास्त्रकारों में मतैक्य नहीं है। उदाहरणार्थ, गौतमधर्मसूत्र (१५।१३-१४) का कथन है कि 'पुत्रों के अभाव में सपिण्ड लोग (भाई-भतीजे), माता के सपिण्ड लोग (मामा या ममेरा भाई) एवं शिष्य लोग मृत का श्राद्ध-कर्म कर सकते हैं; इनके अभाव में कुल-पुरोहित एवं आचार्य (वेद-शिक्षक) ऐसा कर सकते हैं।' शंख का कथन है कि 'पिता के लिए पिण्डदान एवं जल-तर्पण पुत्र द्वारा होना चाहिए; पुत्राभाव में (उसकी अनुपस्थिति या

५१. गृहीत्वास्थीनि तद्भस्म नीत्वा तोये विनिक्षिपेत्। ततः संमार्जनं भूमेः कर्तव्यं गोमयाम्बुभिः॥...भूमेराच्छादनार्थं तु वृक्षः पुष्करकोऽथवा। एडूको वा प्रकर्तव्यस्तत्र सर्वैः स्वबन्धुभिः॥ ब्रह्मपुराण (अपरार्क, पृ० ८८६)। यही वचन त्रिशच्छ्लोकी (श्लोक २८, पृ० २५३) की रघुनाथकृत टीका में भी आया है जिसने पुष्कर को पुष्करिणी के अर्थ में लिया है और एडूकः को पट्टकः पढ़ा है और उसे 'चत्वर' (चबूतरा) के अर्थ में लिया है।

मृत्यु पर) पत्नी को अधिकार है और पत्नी के अभाव में सगा भाई (सहोदर) श्राद्धकर्म करता है' (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ३३५; निर्णयसिन्धु ३, पृ० २८०)। विष्णुपुराण (३।१३।३१-३३) ने व्यवस्था दी है—(मृत के) पुत्र, पौत्र, (मृत के) भाई की संतति एवं सपिण्ड की संतति पिण्ड देने के अधिकारी होते हैं। मार्कण्डेयपुराण (३०।१९-२१ या १९।२३, संस्करण २) का कथन है कि पुत्रों के अभाव में सपिण्ड, उनके अभाव में समानोदक, इसके उपरान्त माता के सपिण्ड एवं (उनके अभाव में) उसके समानोदक पिण्डदान करते हैं, (यदि व्यक्ति अपुत्र ही मर जाय तो) पुत्री का पुत्र पिंण्ड दे सकता है, नाना के लिए पुत्रिका-पुत्र दे सकता है। इन लोगों के अभाव में पत्नियाँ बिना मन्त्रों के श्राद्ध-कर्म कर सकती हैं, पत्नी के अभाव में राजा को चाहिए कि वह कुल के किसी व्यक्ति द्वारा या उसी जाति के किसी व्यक्ति द्वारा श्राद्धकर्म करा दे, क्योंकि राजा सभी वर्णों का सम्बन्धी है।[52] मृत्यु के उपरान्त दस दिनों तक कर्म करते रहने एवं मृत-व्यक्ति की सम्पत्ति लेने में गहरा सम्बन्ध है। इस विषय में देखिए मिताक्षरा एवं दायभाग के मत (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २९)। उन लोगों ने भी, जिन्होंने रिक्थ (दाय या सम्पत्ति के उत्तराधिकार) को रक्त-सम्बन्ध पर आधारित माना है न कि पिण्ड देने की समर्थता पर, कहा है कि उन सभी लोगों के लिए, जो दूसरे की सम्पत्ति पाते हैं (यहाँ तक कि राजा के लिए भी जो संतति के अभाव में अन्तिम उत्तराधिकारी होता है), मृत की अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्ध-कर्म करना अति आवश्यक है। विष्णुधर्मसूत्र (१५-४०) ने घोषित किया है—जो भी कोई मृत की सम्पत्ति रिक्थ में पाता है, उसे (मृत के लिए) पिण्ड देना होता है।[53] यही बात याज्ञ० (२।१२७) ने क्षेत्रज पुत्र के लिए कही है (उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः)।

स्मृत्यर्थसार (पृ० ९४) ने अधिकारियों का क्रम यों दिया है—'पिण्ड देने के लिए योग्य पुत्र प्रथम अधिकारी है, उसके अभाव में पति, पत्नी एवं सहपत्नियाँ होती हैं; इनके अभाव में भतीजा, भाई, पतोहू, पुत्री, पुत्री का पुत्र, अन्य सगोत्र, सपिण्ड, सहपाठी, मित्र, शिष्य, शिक्षक, कोई सम्बन्धी एवं कोई भी, जो मृत की सम्पत्ति ग्रहण करता है, पिण्ड दे सकता है। पिता अपने पुत्र के श्राद्ध-कर्म के योग्य नहीं होता है और न बड़ा भाई छोटे भाई के श्राद्धकर्म के योग्य माना जाता है, ये लोग स्नेहवश वैसा कर सकते हैं किन्तु सपिण्डीकरण नहीं कर सकते। माता-पिता कुमारी कन्याओं को पिण्ड दे सकते हैं, यहाँ तक कि वे किसी योग्य व्यक्ति (कर्ता) के अभाव में विवाहित कन्याओं को भी पिण्ड दे सकते हैं।

५२. पितुः पुत्रेण कर्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया। पुत्राभावे तु पत्नी स्यात्पत्न्यभावे तु सोदरः॥ शंख (स्मृतिच० २, पृ० ३६५; निर्णयसिन्धु ३, पृ० ३८०)। पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा तद्वद्वा भ्रातृसंततिः। सपिण्डसन्ततिर्वापि क्रियार्हा नृप जायते॥ तेषामभावे सर्वेषां समानोदकसन्ततिः। मातृपक्षस्य पिण्डेन संबद्धा ये जलेन च॥ कुलद्वयेऽपि चोत्सन्ने स्त्रीभिः कार्या क्रिया नृप। संघातान्तर्गतैर्वापि कार्या प्रेतस्य च क्रिया। उत्सन्नबन्धुरिक्थानां कारयेदवनीपतिः॥ विष्णुपुराण (३।१३।३१-३३; अपरार्क, पृ० ४३३; स्मृतिच० २, पृ० ३३६; परा० मा० १।२, पृ० ४६१; शुद्धितत्त्व पृ० ३८३)। विष्णुपुराण (५।३४) ने राजा को भी अधिकारी माना है। पुत्राभावे सपिण्डास्तु तदभावे सहोदकाः। मातुः सपिण्डा ये च स्युर्ये वा मातुः सहोदकाः॥ कुर्युरेनं विधिं सम्यगपुत्रस्य सुतासुतः। कुर्युर्मातामहायैवं पुत्रिकातनयास्तथा॥ सर्वाभावे स्त्रियः कुर्युः स्वभर्तॄणाममन्त्रकम्। तदभावे च नृपतिः कारयेत् स्वकुटुम्बिना॥ तज्जातीयैर्नरैः सम्यग्दाहाद्याः सकलाः क्रियाः। सर्वेषामेव वर्णानां बान्धवो नृपतिर्यतः॥ मार्कण्डेयपुराण (३०।१९-२४; स्मृतिच० २, पृ० ३३६; परा० मा० १।२, पृ० ४६३)। और देखिए ब्रह्मपुराण (२२०।७६-८०)।

५३. मृतस्य रिक्थग्राहिणा येन केनापि राजपर्यन्तेनौर्ध्वदेहिकं दशाहान्तं कार्यम्। तथा च विष्णुः—यश्चार्थहरः स पिण्डदायी स्मृत इति। व्यवहारमयूख (पृ० १४५)।

पुत्री का पुत्र एवं नाना एक-दूसरे को पिण्ड दे सकते हैं; इसी प्रकार दामाद और श्वशुर भी कर सकते हैं, पुत्रवधू सास को पिण्ड दे सकती है, भाई एक-दूसरे को, गुरु-शिष्य एक-दूसरे को दे सकते हैं। 'दायभाग' द्वारा उपस्थापित श्राद्धाधिकारियों के क्रम के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २९। निर्णयसिन्धु (पृ० ३८१) का कहना है कि कलियुग में केवल दो प्रकार के पुत्र, औरस एवं दत्तक ही आज्ञापित हैं (१२ प्रकार के पुत्रों के लिए देखिए याज्ञ० २।१२८-१३२); इसने श्राद्धाधिकारियों का क्रम इस प्रकार दिया है—औरस पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र एवं दत्तक पुत्र। कई पुत्र हों तो ज्येष्ठ को ही केवल अधिकार है। यदि ज्येष्ठ पुत्र अनुपस्थित या पतित हो तो उसके पश्चात् वाले पुत्र को अधिकार है (सबसे छोटे को नहीं)। यदि सभी पुत्र अलग हो गये हैं तो सपिण्डीकरण तक के कृत्य केवल ज्येष्ठ पुत्र करता है और वह अन्य भाइयों से श्राद्धव्यय ले सकता है, किन्तु वार्षिक श्राद्ध सभी पुत्र अलग-अलग कर सकते हैं। यदि पुत्र एकत्र ही रहते हैं तो सभी कृत्य, यहाँ तक कि वार्षिक श्राद्ध ज्येष्ठ पुत्र ही करता है। यदि ज्येष्ठ पुत्र अनुपस्थित हो तो उसके पश्चात्-वाला या सबसे छोटा पुत्र सभी कृत्य—१६ श्राद्ध कर सकता है, किन्तु सपिण्डीकरण नहीं, इसके लिए उसे वर्ष भर ज्येष्ठ भाई के लिए जोहना पड़ता है। यदि ज्येष्ठ पुत्र वर्ष के भीतर पिता की मृत्यु का सन्देश पा लेता है तो उसे ही सपिण्डी-करण करना चाहिए। यदि एक वर्ष के भीतर कोई छोटा भाई या कोई अन्य व्यक्ति मासिक, ऊनमासिक, सपिण्डीकरण श्राद्ध कर लेता है तो ज्येष्ठ पुत्र या कोई अन्य पुत्र इन श्राद्धों को पुनः करता है। यदि पौत्र हो और उसका उपनयन हो चुका हो तो उसकी अपेक्षा उस पुत्र को अधिक अधिकार है जिसका अभी उपनयन नहीं हुआ है, किन्तु उसे तीन वर्ष का अवश्य होना चाहिए और उसका चूड़ाकरण अवश्य हो गया रहना चाहिए (सुमन्तु, परा० मा० १।२, पृ० ४६५; निर्णयसिन्धु पृ० ३८२; मदनपा० पृ० ४०३)। मनु (२।१७२) का कथन है कि लड़के को उपनयन के पूर्व वैदिक मन्त्र नहीं कहने चाहिए, किन्तु वह उन मन्त्रों को कह सकता है जो माता-पिता के श्राद्ध में कहे जाते हैं। यदि वह वैदिक मन्त्रों के पाठ के अयोग्य हो तो उसे केवल शवदाह के समय के मन्त्र कहकर मौन हो जाना चाहिए और अन्य कृत्य दूसरे व्यक्ति द्वारा मंत्रों के साथ किये जा सकते हैं। इसी प्रकार उसे दर्शश्राद्ध एवं महालय का केवल संकल्प कर लेना चाहिए, अन्य कृत्य कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है। उपनयन होने के उपरान्त ही दत्तक पुत्र श्राद्धाधिकारी होता है। यदि प्रपौत्र तक कोई अन्वयागत (वंशज) व्यक्ति न हो और न दत्तक पुत्र हो तो पत्नी मन्त्रों के साथ अन्त्येष्टि-कर्म, वार्षिक एवं अन्य श्राद्धकर्म कर सकती है, यदि वह वैदिक मन्त्र न कह सके तो इसके विषय में वही नियम लागू होता है जो अनुपनीत पुत्र के लिए होता है। उस स्थिति में जब कि पति अपने भाई से अलग न हुआ हो, या वह अलग होकर पुनः संयुक्त हो गया हो, पत्नी को ही (भाई को नहीं) श्राद्धकर्म करने में वरीयता मिलती है, यद्यपि सम्पत्ति भाई को ही प्राप्त हो जाती है। यद्यपि कुछ पश्चात्कालीन ग्रन्थ, यथा—निर्णयसिन्धु एवं धर्मसिन्धु (भार्ययापि समन्त्रकमे-वौर्ध्वदैहिकादिकं कार्यम्) पत्नी को वैदिक मन्त्रों के साथ अन्त्येष्टि कर्म करने की अनुमति देते हैं, तथापि कतिपय ग्रन्थ, यथा—मार्कण्डेयपुराण एवं ब्रह्मपुराण पत्नी को मन्त्र बोलने से मना करते हैं। पत्नी के अभाव में पुत्री को श्राद्ध करने का अधिकार है किन्तु ऐसा तभी संभव है जब कि मृत अलग रहा हो और पुनः संयुक्त न हुआ हो। यदि मृत संयुक्त रहा हो तो उसका सोदर भाई पत्नी के उपरान्त उचित अधिकारी होता है। कन्याओं में विवाहित कन्या को वरीयता प्राप्त होती है, किन्तु अविवाहित कन्या भी अधिकार रखती है। कन्याओं के अभाव में दौहित्र अधिकारी होता है; इसके उपरान्त भाई और तब भतीजा। भाइयों में सोदर को सौतेले भाई से वरीयता प्राप्त है, किन्तु यदि ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ भाई हों तो छोटे को वरीयता प्राप्त है क्योंकि ऐसा करने से पिता एवं पुत्र में अधिक समीपता लक्षित होती है। यदि छोटा भाई न हो, तो बड़ा भाई, और सगा भाई न हो तो सौतेला भाई, भी अधिकारी हो सकता है। कुछ लोगों का कथन है कि यदि मृत अपने भाई से अलग रहता हो और उसे पुत्री या दौहित्र उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त हो तो भी भाई को वरीयता प्राप्त होती है, क्योंकि सगोत्र को असगोत्र से वरीयता प्राप्त है। यदि भाई न हों तो भतीजा अधिकारी होता है, इसके

उपरान्त सौतेले भाई का पुत्र, तब पिता, माता, तब पतोहू और अन्त में बहिन। अपनी बहिनों, सौतेली बहिनों, छोटी एवं बड़ी बहिनों के विषय में वे ही नियम लागू होते हैं जो भाइयों के विषय में हैं; बहिन के अभाव में बहिन का पुत्र अधिकारी होता है। यदि बहुत से भानजे हों तो भाई वाले नियम ही लागू होते हैं। इसके उपरान्त चाचा, चचेरा भाई, अन्य सपिण्ड लोग आते हैं; तब समानोदक तथा कुलोत्पन्न अन्य लोग अधिकारी होते हैं।[५४] इन लोगों के अभाव में माता के सपिण्ड लोग, यथा—नाना, मामा एवं ममेरा भाई; माता के सपिण्डों के अभाव में भूआ या मौसी के पुत्र; इनके अभाव में पितृबन्धु, यथा—पिता की भूआ के पुत्र, पिता की माता की बहिन के पुत्र, पिता के चाचा के पुत्र; इसके उपरान्त मातृबन्धु, यथा—माता की भूआ के पुत्र; इनके अभाव में मृत का शिष्य; शिष्य के अभाव में मृत के दामाद या श्वशुर; इनके अभाव में मित्र; मित्र के अभाव में वह जो ब्राह्मण (मृत) की संपत्ति ग्रहण करता है; यदि मृत ब्राह्मण को छोड़ किसी अन्य जाति का होता है तो राजा अधिकारी होता है (जो ब्राह्मण की सम्पत्ति को छोड़कर अन्य उत्तराधिकारी-हीन की सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है) और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा मृत की अन्त्येष्टि-क्रिया एवं श्राद्धकर्म कराता है।

धर्मसिन्धु (पृ० ३७०) में स्त्रियों के विषय में श्राद्धाधिकारियों का क्रम यों है—कुमारी कन्या के विषय में पिता अधिकारी है, इसके उपरान्त उसके भाई आदि; यदि स्त्री विवाहिता हो तो पुत्र, इसके उपरान्त उसकी सौत, तब सौत का पौत्र और तब प्रपौत्र; इनके अभाव में पति; पति के अभाव में पुत्री, तब पुत्री का पुत्र; इसके अभाव में देवर, तब देवर का पुत्र; इसके अभाव में पतोहू; तब मृत स्त्री का पिता; तब उसका भाई; इसके उपरान्त उसका भतीजा तथा अन्य लोग।

दत्तक पुत्र अपने स्वाभाविक (असली) पिता का श्राद्ध पुत्र तथा अन्य अधिकारी के अभाव में कर सकता है। यदि ब्रह्मचारी मर जाय तो उसकी मासिक, वार्षिक तथा अन्य श्राद्ध-क्रियाएँ पिता तथा माता द्वारा सम्पादित होनी चाहिए। ब्रह्मचारी अपने पिता एवं माता या चचेरे पितामह, उपाध्याय एवं आचार्य के शवों को ढो सकता है, शवदाह एवं अन्य क्रियाएँ कर सकता है, यदि अन्य अधिकारी उपस्थित हों तो उसे उपर्युक्त लोगों का श्राद्धकर्म नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचारी उपर्युक्त पाँच के अतिरिक्त किसी अन्य का शवदाह तथा अन्य श्राद्धकर्म नहीं कर सकता। यदि ब्रह्मचारी दस दिनों तक क्रियाएँ करता है तो उसे उतने दिनों तक अशौच मानना पड़ता है, किन्तु यदि वह केवल शवदाह करता है तो केवल एक दिन का अशौच मानता है। अशौच के दिनों में उसके आवश्यक या अपरिहार्य कार्य बन्द नहीं होते, किन्तु उसे अशौच मनानेवाले अन्य सम्बन्धियों के लिए पकाया गया भोजन नहीं करना चाहिए और न उनके साथ निवास करना चाहिए; यदि वह ऐसा करे तो उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है और पुनः उपनयन संस्कार से अभिषिक्त होना पड़ता है।

यह निश्चित-सी बात है कि बौधायन, लिंगपुराण (श्राद्धप्रकाश, पृ० ३६१-३७१), मार्कण्डेयपुराण, पितृदयिता (पृ० ८२) तथा कुछ अन्य ग्रन्थों ने मनुष्य को जीवन-काल में ही अपनी अन्त्येष्टि करने की आज्ञा दे दी है। इस पर हम आगे श्राद्ध के अध्याय में लिखेंगे। यदि कोई व्यक्ति पतित हो जाय और प्रायश्चित्त करना अस्वीकार करे तो

५४. यहाँ पर सपिण्ड का तात्पर्य है उस व्यक्ति से जो मृत के गोत्र का होता है, किन्तु उसे एक ही पुरुष पूर्वज से सातवीं पीढ़ी के अन्तर्गत होना चाहिए। समानोदक का तात्पर्य है आठवीं पीढ़ी से लेकर चौदहवीं पीढ़ी तक का समान गोत्र वाला, जिसके पूर्वज एक ही पुरुष पूर्वज के हों। गोत्रज का अर्थ है मृत के ही गोत्र का कोई सम्बन्धी जो एक ही पूर्वज से चौदहवीं पीढ़ी के उपरान्त उत्पन्न हुआ हो।

वह हिन्दू-सम्प्रदाय से पृथक् कर दिया जाता है (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ८)। गौतमधर्मसूत्र (२०।२) एवं मनु (११।१८२-१८३) ने व्यवस्था दी है कि ऐसे मनुष्य को मरा हुआ समझ लेना चाहिए और उसके सम्बन्धियों को उसके सारे अन्त्येष्टि-कर्म सम्पादित कर देने चाहिए, यथा—जल-तर्पण एवं श्राद्ध करना तथा अशौच मनाना।[५५]

बहुत-से टीकाकारों एवं निबन्धों ने विष्णुपुराण (३।१३।३४-३९) के वचन उद्धृत किये हैं, जिनमें व्यक्ति की मरणोपरान्त वाली क्रियाएँ निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटी गयी हैं; पूर्व, मध्यम एवं उत्तर। शवदाह से लेकर १२ दिनों तक की क्रियाएँ **पूर्व**, मासिक, सपिण्डीकरण एवं एकोद्दिष्ट नामक श्राद्ध **मध्यम** तथा वे क्रियाएँ जो सपिण्डीकरण के उपरान्त की जाती हैं और जब प्रेतयोनि के उपरान्त मृत व्यक्ति पितरों की श्रेणी में आ जाता है, तब की क्रियाएँ **उत्तर** कहलाती हैं। **पूर्व** एवं **मध्यम** कृत्य पिता, माता, सपिण्डों, समानोदकों, सगोत्रों तथा राजा द्वारा (जब वह मृत की सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है) किये जाते हैं। किन्तु **उत्तर** कृत्य केवल पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, दौहित्र या दौहित्र के पुत्र द्वारा ही सम्पादित होते हैं। स्त्रियों के लिए भी प्रति वर्ष वार्षिक दिन पर एकोद्दिष्ट श्राद्ध-कर्म किया जा सकता है। श्राद्धों को अन्य प्रकार की श्रेणियों में भी बाँटा गया है, यथा—**नवश्राद्ध** (मृत्यु के पश्चात् दस दिनों के कृत्य), **नवमिश्र** ऐसे कृत्य (जो दस दिनों के उपरान्त छः ऋतुओं तक किये जाते हैं) तथा **पुराण** (ऐसे कृत्य जो एक वर्ष के उपरान्त किये जाते हैं।)

जैसा कि ऊपर उल्लिखित किया जा चुका है, मृत्यु के उपरान्त दस दिनों तक कुशों पर स्थापित एक पत्थर पर एक अंजलि तिलमिश्रित जल छोड़ा जाता है और दक्षिणाभिमुख हो तथा यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे पर रखकर (**प्राचीनावीती**) एक बड़ा पिण्ड (पूरक-पिण्ड) प्रति दिन कुश पर रखा जाता है जिससे कि मृत प्रेतयोनि से मुक्त हो सके। पिण्ड पर तिल-जल, भृंगराज की पत्तियाँ एवं तुलसीदल छोड़ा जाता है। इसके साथ 'अनादिनिधनो देवः शंखचक्रगदाधरः। अक्षय्यः पुण्डरीकाक्षः प्रेतमोक्षप्रदो भव॥' का पाठ किया जाता है। कर्ता पिण्ड को जल में छोड़कर स्नान करता है। दस दिनों की विधि के लिए देखिए अन्त्यकर्मदीपक (पृ० ४३-५०) एवं अन्त्येष्टिपद्धति (नारायणकृत)। इसके अतिरिक्त आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट (३।६) ने पाँच श्राद्धकर्मों के नाम दिये हैं, जिन्हें **नवश्राद्ध** (या विषम श्राद्ध) की संज्ञा मिली है और जो क्रम से विषम दिनों में, यथा—पहले, तीसरे, पाँचवें, सातवें एवं नवें दिन सम्पादित होते हैं। इनमें बिना पका भोजन दिया जाता है। गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, ३४।३६) के मत से छः श्राद्ध पहले दिन से ग्यारहवें दिन तक विषम दिनों में होते हैं; आपस्तम्ब के मत से (धर्मसिन्धु पृ० ४६४; निर्णयसिन्धु पृ० ५८८; शुद्धिप्रकाश पृ० २१४-२१६; श्राद्धतत्त्व, पृ० ६१९) तथा अन्य लोगों के मत से विकल्प भी होता है। अंगिरा एवं वसिष्ठ ने विषम दिनों में (पहले दिन से ग्यारहवें दिन तक) छः नवश्राद्धों का उल्लेख किया है। बौ० पि० सू० (२।१०।६) ने पाँच की संख्या दी है। कुछ लोगों ने ब्राह्मण के हाथ पर घी-मिश्रित भोजन रखने की व्यवस्था दी है। कुछ लोग इसकी अनुमति नहीं देते। कुछ लोग किसी ब्राह्मण के समक्ष या कुश की बनी ब्राह्मण की आकृति के समक्ष बिना पका अन्न रखने की व्यवस्था देते हैं। गरुड़पुराण (२।५।६७) का कथन है कि नवश्राद्ध वे श्राद्ध हैं जो मरण-स्थल, शवयात्रा के विश्राम-स्थल पर एवं अस्थिसंचयन करते समय सम्पादित होते हैं तथा ५वें, ७वें, ९वें, १०वें तथा ११वें दिन तक किये जाते हैं। शुद्धिप्रकाश (पृ० २१४) ने ऐसे ही मत कात्यायन एवं वृद्ध-वसिष्ठ से उद्धृत किये हैं और कहा है कि मृत व्यक्ति तब तक प्रेतावस्था से मुक्त नहीं होता जब तक नवश्राद्ध सम्पादित न हो जायँ। गरुड़पुराण (प्रेतखंड ३४।२७-२८, ४४, ४८) का कथन है कि दस दिनों के पिण्डों से मृतात्मा के सूक्ष्म शरीर के कतिपय अंग बन जाते हैं, क्योंकि सर्वप्रथम प्रेतात्मा

५५. तस्य विद्यागुरून् योनिसम्बद्धांश्च संनिपात्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकार्याणि कुर्युः। गौतमधर्मसूत्र (२०।२)।

सूक्ष्म वायु में ही संतरण करता रहता है। नवश्राद्धों के विषय में बहुत-से सिद्धान्त हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं। नवश्राद्धों के विषम दिनों में दो पिण्ड दिये जाते हैं, एक प्रति दिन का और दूसरा नवश्राद्ध का। पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड, १०।१९) ने व्यवस्था दी है कि नवश्राद्धों के अन्तर्गत भोजन नहीं करना चाहिए, नहीं तो ऐसा करने पर चान्द्रायण व्रत करना पड़ता है।

आधुनिक काल में शवदाह के प्रथम दिन की क्रियाओं तथा अस्थिसंचयन की क्रियाओं के पश्चात् मृतात्मा के लिए सामान्यतः दसवें दिन क्रियाएँ प्रारम्भ होती हैं। कर्ता उस स्थान पर जाता है जहाँ प्रथम दिन के कृत्य सम्पादित हुए थे, वहाँ वह संकल्प करता है और पिण्ड देते समय यह कहता है—'यह पिण्ड उस व्यक्ति के पास जाय, जिसका यह. .नाम है, यह. .गोत्र है, जिससे कि प्रेत को सताने वाली भूख एवं प्यास मिट जाय।' इसके उपरान्त वह तिल-जल देता है। भृंगराज एवं तुलसी के दल रखता है और 'अनादिनिधनः' आदि का पाठ करता है, इसके उपरान्त पिण्ड को उस स्थान से हटा देता है। इसके उपरान्त वह मुरमुरी मिट्टी से एक त्रिकोणात्मक वेदिका बनाता है, गोबर से उसका शुद्धीकरण करता है, हल्दी के चूर्ण से सँवारता है और उस पर जलपूर्ण पाँच घड़े रखता है, उनमें प्रत्येक पर भात का एक पिण्ड रखता है। इसके उपरान्त वह मध्य के घड़े की प्रार्थना करता है—'यह पिण्ड जलपूर्ण पात्र के साथ इस नाम एवं इस गोत्र वाले मृतात्मा के पास जाय जिससे उसकी भूख एवं प्यास मिट सके।' पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर के घड़ों के समक्ष भी प्रार्थना की जाती है, इसी प्रकार उन लोगों के लिए भी जिन्हें प्रेत ने मित्र बनाया था तथा यम, कौओं एवं रुद्र के लिए प्रार्थना की जाती है। यहाँ पर कुछ भिन्न मत भी हैं; कुछ लोग चार और कुछ लोग तीन घड़ों का उल्लेख करते हैं और कुछ लोग प्रेत के लिए निश्चित स्थल पर एक घड़े के जल के साथ पिण्ड देने की बात कहते हैं और अन्यों को केवल पिण्ड देने की व्यवस्था देते हैं। इसके उपरान्त पिण्ड पर जल दिया जाता है और उपर्युक्त सभी पर चन्दन, छत्र, झंडा, रोटी रखी जाती है। इसके पश्चात् पश्चिम में रखे पिण्ड को जब तक कोई कौआ ले नहीं जाता या खा नहीं लेता तब तक कर्ता रुका रहता है।[५६] तब अश्मा (पत्थर) पर तेल लगाया जाता है और उसे जल में फेंक दिया जाता है। इसके उपरान्त कर्ता सम्बन्धियों से प्रार्थना करता है, और वे एक अंजलि या दो अंजलि जल जलाशय के तट पर प्रेत को देते हैं। इसके पश्चात् परम्परा के अनुसार पुत्र तथा अन्य लोग बाल एवं नख कटाते हैं। तब परम्परा के अनुसार एक गोत्र के सभी लोग तिल एवं तिष्यफला से स्नान करते हैं, पवित्र एवं सूखे वस्त्र धारण करते हैं, घर जाते हैं और अपना भोजन करते हैं।

कुछ पुराणों एवं निबन्धों का कथन है कि जब व्यक्ति मर जाता है तो आत्मा आतिवाहिक[५७] शरीर धारण

५६. आधुनिक काल में कौए द्वारा पिण्ड-भोजन को छूने या उस पर चोंच लगाने पर बड़ा महत्त्व दिया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि कौआ पिण्ड को नहीं छूता तो मृतात्मा मरते समय कोई बलवती अभिकांक्षा रखता था और वह पूर्ण नहीं हुई। जब कोई कौआ पिण्ड शीघ्र ही छू लेता है तो ऐसी स्थिति में सम्बन्धी ऐसा अनुभव करते हैं कि उनके मृत सम्बन्धी की सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो चुकी थीं! शुद्धिकौमुदी (पृ० १३५) ने काकबलिदान की प्रथा की ओर संकेत किया है—तथाचारात् काकबलिदानम्। पिण्डशेषमन्नं पात्रे कृत्वा अमुकगोत्रस्य प्रेतस्यामुकशर्मणो विशेषतृप्तये यमद्वारोपस्थितवायसाय एष बलिर्न मम इत्युत्सृज्य कृताञ्जलिः—काक त्वं यमदूतोसि गृहाण बलिमुत्तमम्। यमलोकगतं प्रेतं त्वमाप्याययितुमर्हसि।। काकाय काकपुरुषाय वायसाय महात्मने। तुभ्यं बलिं प्रयच्छामि प्रेतस्य तृप्तिहेतवे।।

५७. तत्क्षणादेव गृह्णाति शरीरमातिवाहिकम्। ऊर्ध्वं व्रजन्ति भूतानि त्रीण्यस्मात्तस्य विग्रहात्।। आति-

कर लेता है, जिसमें पाँच तत्त्वों में अब केवल तीन तत्त्व बच रहते हैं, अर्थात् अग्नि, वायु एवं आकाश बच रहते हैं, जो शरीर से ऊपर उठ जाते हैं और पृथिवी एवं जल नीचे रह जाते हैं; ऐसा शरीर केवल मनुष्य ही धारण करते हैं अन्य जीव नहीं। दस दिन तक जो पिण्ड दिये जाते हैं (शवदाह के समय से लेकर) उनसे आत्मा एक दूसरा शरीर धारण कर लेता है जिसे **भोगदेह** (वह शरीर जो दिये हुए पिण्ड का भोग करता है) कहा जाता है। वर्ष के अन्त में जब सपिण्डीकरण होता है, आत्मा एक तीसरा शरीर धारण कर लेता है जिसके द्वारा कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक को जाता है। देखिए वेदान्तसूत्र (४।३।४, आतिवाहिकस्तल्लिंगात्), किन्तु यहाँ अर्थ कुछ दूसरा है। उपनिषदों ने आत्मा को अर्चियों, दिन आदि के मार्ग से जाते हुए कहा है। सूत्र का कथन है कि ये (अर्चियाँ, अहः आदि) अध्यक्ष-रूपी देवता हैं जो आत्मा को क्रमशः मार्ग द्वारा ऊपर ब्रह्म की ओर ले जाते हैं। प्रायश्चित्तविवेक की टीका में गोविन्दानन्द ने (पृ० १३-१४) केवल दो शरीरों का (तीन नहीं, जैसा कि प्रथम दृष्टि से प्रकट होता है), अर्थात् **आतिवाहिक या प्रेतदेह** और **भोगदेह** का उल्लेख किया है। ऐसा विश्वास था कि जिस मृत व्यक्ति के लिए पिण्ड नहीं दिये जाते या जिसके लिए १६ श्राद्ध (जिनका वर्णन आगे होगा) नहीं किये जाते, वह सदा के लिए **पिशाच** की स्थिति में रहता है।[५८] जिससे वह आगे अगणित श्राद्धों के करने से भी छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। ब्रह्मपुराण ने इस शरीर की स्थिति को **यातनीय** (वह जो कष्टों एवं यातनाओं को पाता है) कहा है, किन्तु अग्निपुराण ने इसे **यातनीय** या **आतिवाहिक** की संज्ञा दी है और कहा है कि यह शरीर आकाश, वायु एवं तेज से बनता है। पद्मपुराण (२।६७।९८) का कथन है कि जो व्यक्ति कुछ पाप करते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त भौतिक शरीर के समान ही दुःख भोगने के लिए एक शरीर पाते हैं। अन्तर्निहित धारणा यह रही है कि जब तक मृतात्मा पुनः शरीरी रूप में आविर्भूत नहीं होता, तब तक स्थूल शरीर को दाह, भूमि में

वाहिकसंज्ञोऽसौ देहो भवति भार्गव। केवलं तन्मनुष्याणां नान्येषां प्राणिनां क्वचित्॥ प्रेतपिण्डैस्ततो दत्तैर्देहमाप्नोति भार्गव। भोगदेहमिति प्रोक्तं क्रमादेव न संशयः॥ प्रेतपिण्डा न दीयन्ते यस्य तस्य विमोक्षणम्। श्माशानिकेभ्यो देवेभ्य आकल्पं नैव विद्यते॥ तत्रास्य यातना घोराः शीतवातातपोद्भवाः। ततः सपिण्डीकरणे बान्धवैः स कृते नरः। पूर्णे संवत्सरे देहमतोन्यं प्रतिपद्यते॥ ततः स नरके याति स्वर्गे वा स्वेन कर्मणा॥ विष्णुधर्मोत्तरपुराण (प्राय० वि०, पृ० १३-१४ एवं शुद्धितत्त्व, पृ० ३२४)। गोविन्दानन्द ने 'त्रीणि भूतानि' को 'पृथिव्यप्तेजांसि' के अर्थ में लिया है और इस प्रकार रघुनन्दन से मतभेद उपस्थित किया है। गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, १०।७९) ने भी यही बात कही है—'उत्क्रामन्तं....ज्ञानचक्षुषः॥ आतिवाहिकमित्येवं वायवीयं वदन्ति हि।...पुत्रादिभिः कृताश्चेत्स्युः पिण्डा दश दशाहिकाः। पिण्डजेन तु देहेन वायुजश्चैकतां व्रजेत्। पिण्डतो यदि नैव स्याद्वायुजोर्हति यातनाम्॥' प्रथम पद्य गीता का है (१५।१०)। ब्रह्म० ने कहा है—विहाय सुमहत्कृत्स्नं शरीरं पाञ्चभौतिकम्। अन्यच्छरीरमादत्ते यातनीयं स्वकर्मजम्॥... स्वशरीरं समुत्सृज्य वायुभूतस्तु गच्छति। (२१४।२९-३० एवं ५१); निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते। अन्यच्छरीरमादत्ते यातनीयं स्वकर्मभिः॥ अग्निपुराण (२३०।२-३); गृह्णाति तत्क्षणाद्योगे शरीरं चातिवाहिकम्। आकाशवायुतेजांसि विग्रहादूर्ध्वगामिनः॥ जलं मही च पञ्चत्वमापन्नः पुरुषः स्मृतः। आतिवाहिकदेहं तु यमदूता नयन्ति तम्॥ अग्नि० (३७१।९-१०)। मार्कण्डेय० (१०।६३-६४) का कथन है—'वाय्वग्रसारी तद्रूपं देहमन्य प्रपद्यते। तत्कर्मजं यातनार्थं न मातापितृसम्भवम्॥'

५८. यस्यैतानि न दीयन्ते प्रेतश्राद्धानि षोडश। पिशाचत्वं ध्रुवं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि॥ यम (श्राद्धक्रियाकौमुदी, पृ० ३६२ एवं प्रा० वि० पृ० १४ पर तत्त्वार्थकौमुदी)। यही पद्य लिखितस्मृति (५।१६) एवं गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, ३४।१३१) में भी पाया जाता है।

गाड़ने या अन्य विधि से नष्ट कर देने के उपरान्त एक सूक्ष्म रूप धारण करना पड़ता था। सूक्ष्म शरीर का निर्माण क्रमशः होता है (मार्कण्डेयपुराण १०।७३) और यह मृत्यु के उपरान्त बहुत दिनों के कृत्यों के उपरान्त ही मिलता है। यद्यपि ऐसी धारणा स्पष्ट रूप से पुराणों में व्यक्त की गयी है, किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह सर्वथा नवीन धारणा है। इसकी ओर संकेत आरम्भिक वैदिककाल में हो चुका था (ऋ० १०।१५।१४; १०।१६।४-५, जिनका अनुवाद इस अध्याय में हो चुका है)। यद्यपि तै० सं० (१।८।५।१-२) एवं तै० ब्रा० तथा शत० ब्रा० में कहा गया है कि पूर्वज पितृ-पुरुषों को आहुतियाँ दी जाती हैं, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि उनके निमित्त बना हुआ भोजन ब्राह्मणों को खाने के लिए नहीं दिया जाता, क्योंकि वैदिक यज्ञों में जब अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, विष्णु आदि देवताओं को आहुतियाँ दी जाती हैं तो यज्ञ में नियुक्त पुरोहितों को भोजन एवं भेटें (दक्षिणा) दी जाती हैं। अतः ऐसा नहीं समझना चाहिए कि श्राद्ध के समय ब्रह्मभोज पश्चात्कालीन धारणा है और मृत को आहुतियों या पिण्डों के रूप में भोजन देना मौलिक धारणा या प्राचीन विधि है।

अध्याय ८

शुद्धि

शुद्धि के अन्तर्गत (जन्म-मरण के समय के) अशौच ; किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से तथा कुछ घटनाओं के कारण उत्पन्न अपवित्रता, पात्रों (बरतनों), कूप, भोजन आदि की शुद्धि का विवेचन होता है। शुद्धि के अन्तर्गत अशौच का सबसे अधिक महत्त्व है, इसी से शुद्धिकौमुदी (पृ० १) ने शुद्धि की परिभाषा यों दी है—'वेदबोधित-कर्मार्हता शुद्धिः' अर्थात् 'वेद से बोधित कृत्यों के सम्पादन की दशा या उन्हें करने की योग्यता की स्थिति शुद्धि है।' स्मृतियाँ 'शुद्धि' शब्द को अशौच के उपरान्त की शुद्धि के अर्थ में लेती हैं। मनु (५।५७) ने यह कहते हुए इसका आरम्भ किया है कि हम प्रेतशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि की व्याख्या करेंगे। पुनः मनु (५।८३=दक्ष ६।७) में आया है कि ब्राह्मण (किसी सम्बन्धी के जन्म या मरण पर) १० दिनों के उपरान्त शुद्ध होता है, क्षत्रिय १२ दिनों के उपरान्त, आदि। पराशरस्मृति में तृतीय अध्याय का आरम्भ इस घोषणा से हुआ है—'मैं जन्म एवं मरण से सम्बन्धित शुद्धि की व्याख्या करूँगा।' याज्ञ० (३।१४।२५) में भी 'शुद्धि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः हम सर्वप्रथम जन्म-मरण से उत्पन्न अशौच का वर्णन करेंगे।

पाणिनि (५।१।१३१ एवं ७।३।३०)[1] के मत से अशौच या आशौच शब्द 'न' (अ) निषेधार्थक अव्यय से संयुक्त 'शुचि' से निर्मित हुआ है। कुछ स्मृतियों (यथा देवलस्मृति) में 'आशुच्य' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (हारलता, पृ० २१९ एवं ३६)।[2] 'आशौच' का एक अन्य पर्याय शब्द 'अघ' है। वैदिक साहित्य (ऋ० १।९७।१-८ एवं १०।११७।६) में 'अघ' का अर्थ है 'पाप'। किन्तु शांखायन श्रौ० (४।१५।११) एवं मनु (५।८४ 'न वर्धयेदघाहानि') में 'अघ' का अर्थ 'आशौच' ही है। पद्मपुराण (२।६६।७३-७४) का कथन है कि शरीर अशुद्ध है क्योंकि इससे मल, मूत्र आदि निकलता रहता है।

मिता० (याज्ञ० ३।१) ने आशौच को पुरुषगत आशौच कहा है, जो काल, स्नान आदि से दूर होता है, जो मृत को पिण्ड, जल आदि देने का प्रमुख कारण है और जो वैदिक अध्यापन तथा अन्य कृत्यों को छोड़ने का कारण बनता है। मिताक्षरा का कथन है कि आशौच धार्मिक कर्म करने के अधिकार या योग्यता के अभाव का द्योतक मात्र नहीं है, क्योंकि उन लोगों को, जो जन्म या मरण पर अशुद्ध हो गये हैं, जल-तर्पण आदि धार्मिक कृत्य करने ही पड़ते हैं। सम्भवतः मिताक्षरा की यह व्याख्या गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, ५।९) की प्रतिध्वनि है और सम्भवतः 'संग्रह' नामक ग्रन्थ के एक वाक्य पर आधारित है। हरदत्त (गौतम० १४।१) ने 'आशौच' को धार्मिक कर्मों के सम्पादन के अधिकार की

---

१. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् (पा० ५।१।१३१; अण् अनुवर्तते)—शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। न शौचम्, अशौचम्। इस शब्द की व्याख्या का यह एक रूप है। हम यों भी कह सकते हैं—न शुचि अशुचि, अशुचेर्भावः कर्म च आशौचं वा अशौचम् (देखिए पा० ७।३।३०—नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्)।

२. जनने मरणे नित्यमाशुच्यमनुधावति। देवल (हारलता, पृ० २); आशुच्यं दशरात्रं तु सर्वत्राप्यपरे विदुः। देवल (शुद्धि०, पृ० ४१)।

हीनता, अभोज्यान्नता (ऐसी स्थिति जिसमें किसी का भोजन खाने के अयोग्य समझा जाय), अस्पृश्यता एवं दानादि देने की अनधिकारिता के अर्थ में लिया है। अपेक्षाकृत एक पूर्व लेखक भट्टाचार्य ने 'शुद्धि' को 'पाप क्षय करने' या 'धार्मिक कर्म करने की योग्यता' के अर्थ में लिया है। स्मृतिचन्द्रिका ने इसे मान लिया है किन्तु षड-शीति (पृ० २।३) के टीकाकार नन्द पण्डित ने इस परिभाषा को अस्वीकृत कर दिया है। मिता० (याज्ञ० ३।१८) ने भी 'आशौच' की दो विशेषताएँ बतायी हैं; यह धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का अधिकार छीन लेता है तथा यह व्यक्ति को अस्पृश्य बना देता है। स्मृतिमुक्ताफल ने इस व्याख्या का अनुमोदन किया है। अपने शुद्धिविवेक में रुद्रधर ने कहा है कि शुद्धि वह विशेषता है जो सभी धर्मों के सम्पादन की योग्यता या अधिकार प्रदान करती है और 'अशुद्धि' वह विशेषता है जो 'शुद्धि' की विरोधी है और जो किसी सपिण्ड के जन्म आदि के अवसर से उत्पन्न होती है।

आशौच के दो प्रकार हैं; जन्म से उत्पन्न, जिसे **जननाशौच** या सूतक कहा जाता है, तथा मरण से उत्पन्न, जिसे **शावाशौच, मृतकाशौच** या **मरणाशौच** कहा जाता है।[3] 'शाव' शब्द 'शव' से बना है। 'सूतक' शब्द ऐतरेय ब्राह्मण (३२।८) में आया है और सम्भवतः वहाँ यह जन्म एवं मरण से उत्पन्न अशुद्धि का द्योतक है।[4] वहाँ ऐसा आया है कि आहिताग्नि सूतक से प्रभावित किसी व्यक्ति के घर का भोजन कर लेता है, तो उसे तन्तुमान् अग्नि के लिए आठ कपालों पर बना हुआ पुरोडाश आहुति रूप में देने का प्रायश्चित्त करना पड़ता है। 'तन्तु' का अर्थ है 'सन्तति या पुत्र', अतः यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि ऐतरेय ब्राह्मण में 'सूतक' शब्द जन्म से उत्पन्न अशुद्धि की ओर संकेत करता है। 'सूतक' शब्द स्मृतियों में तीन अर्थों में लिखित हुआ है; (१) जन्म के समय की अशुद्धि (मनु ५।५८), (२) जन्म एवं मरण पर अशुद्धि (गोभिल० ३।६० एव ६३) एवं (३) केवल मरण की ही अशुद्धि (दक्ष ६।१ एवं गोभिल० ३।४८)।[5]

एक प्रश्न उपस्थित होता है—जन्म एवं मरण पर आशौच या अशुद्धि कुल के सदस्यों एवं सम्बन्धियों पर क्यों आती है? इस प्रश्न पर बहुत कम लोगों ने विचार किया है। हारीत का कथन है—कुल को मरणाशौच होता है, क्योंकि मरण से वह अभिभूत (दुखी एवं निराश) होता है और जब कोई नया जीवन प्रकट होता है तो कुलवृद्धि होती है और तब सन्तुष्टि या आनन्द प्राप्त होता है।

आशौच और शुद्धि पर बहुत विस्तृत साहित्य पाया जाता है। सूत्रों, स्मृतियों एवं पुराणों के अतिरिक्त बहुत-से ऐसे निबन्ध हैं जिन्होंने इस पर विस्तार के साथ लिखा है। कुछ निबन्ध प्रकाशित भी हैं। स्मृतियों में इस विषय में

३. आशौचं द्विविधं कर्मानधिकारलक्षणं स्पृश्यत्वलक्षणं च। स्मृतिमु० (पृ० ४७७)।

४. तदाहुर्य आहिताग्निर्यदि सूतकान्नं प्राश्नीयात्का तत्र प्रायश्चित्तिरिति। सोऽग्नये तन्तुमतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत्तस्य याज्यानुवाक्ये तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विह्यक्षानहो नह्यतनोत सोम्या इति। आहुतिं वाहवनीये जुहुयादग्नये तन्तुमते स्वाहेति। ऐ० ब्रा० (३२।८)। 'तन्तुं तन्वन्' एवं 'अक्षानहा' क्रम से ऋग्वेद की १०।५३।६ एवं १०।५३।७ ऋचाएँ हैं।

५. सूतके कर्मणां त्यागः सन्ध्यादीनां विधीयते। होमः श्रौतस्तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः॥ गोभिल स्मृति, जिसे छन्दोगपरिशिष्ट कहा जाता है (हारलता, पृ० ६, शु० कौ० एवं श्राद्धप्र० पृ० ८३)। सूतकं तु प्रवक्ष्यामि जन्ममृत्युनिमित्तकम्। यावज्जीवं तृतीयं तु यथावदनुपूर्वशः॥ दक्ष (६।१); अस्थ्नामलाभे पार्णानि शकलान्युक्तयावृता। भर्जयेदस्थिसंख्यानि ततः प्रभृति सूतकम्॥ गोभिल० (३।४८)। अन्तिम का चौथा पाद हारलता (पृ० २) द्वारा उद्धृत है।

विभिन्न मत पाये जाते हैं और वे मध्य काल की परम्पराओं से इतने भिन्न हैं कि मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२२) ने चारों वर्णों के लिए आशौच से सम्बन्धित अवधियों को पराशर, शातातप, वसिष्ठ एवं अंगिरा से उद्धृत कर उनका क्रम बैठाने में असमर्थता प्रकट की है और उद्घोष किया है कि उसके समय की प्रथाओं एवं ऋषियों के आदेशों में भिन्नता है।[६] मदन-पारिजात (पृ० ३९२) मिताक्षरा का समर्थन करता है और इस विरोध से हटने की अन्य विधियाँ उपस्थित करता है। विभिन्न स्मृतियों ने एक ही समस्या को किस प्रकार लिया है, इसके विषय में दो उदाहरण दिये जा सकते हैं। अत्रि (८३), पराशर (३।५) एवं दक्ष (६।६) ने व्यवस्था दी है कि वैदिक अग्निहोत्री ब्राह्मण एवं वह ब्राह्मण जिसने वेद पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, जन्म-मरण के आशौच से एक दिन में मुक्त हो सकता है। जिसने वेद पर तो अधिकार प्राप्त कर लिया है, किन्तु श्रौताग्नियाँ नहीं स्थापित की हैं, वह तीन दिनों में तथा जिसने दोनों नहीं किये हैं, वह दस दिनों में मुक्त होता है। मनु (५।५९) ने कई विकल्प या छूटें दी हैं, यथा १० दिन, ४ दिन, ३ दिन एवं एक दिन, किन्तु यह नहीं व्यक्त किया है कि ये अवधियाँ किनके लिए हैं। बृहस्पति (हारलता, पृ० ५; हरदत्त, गौतम० के १४।१ की टीका में) के मत से वेदज्ञ एवं आहिताग्नि तीन दिनों में शुद्ध हो जाता है, वेदज्ञ किन्तु श्रौताग्निहीन पाँच दिनों में तथा वह जो केवल ब्राह्मण है (अर्थात् न तो अग्निहोत्री है और न वेदज्ञ या श्रोत्रिय है) १० दिनों में शुद्ध होता है। शांखा० श्रौ० एवं मनु ने दृढतापूर्वक कहा है कि आशौच के दिनों को आलस्य द्वारा बढ़ाना नहीं चाहिए (मनु ५।८४)। यह सम्भव है कि श्रोत्रिय लोग अशुद्धि बहुत कम दिनों तक मनाने लगे हों और उनके पड़ोसी लोग उनके इस अधिकार को मानने को सन्नद्ध न हुए हों, अतएव आगे चलकर सभी के लिए १० दिनों की अशुद्धि की व्यवस्था कर दी गयी, चाहे लोग विद्वान् हों या न हों और अशुद्धि-सम्बन्धी छूट कलिवर्ज्यों में गिन ली गयी (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४)।

अशुद्धि के दिन जाति पर भी आधारित थे, किन्तु इस विषय में भी विभिन्न मत मिलते हैं। मनु (५।८३), दक्ष (६।७), याज्ञ० (३।२२), अत्रि (८५), शंख (१५।२-३), मत्स्यपुराण (१८।२-३), ब्रह्मपुराण (२२०।६३), विष्णु० (२२।१-४) आदि ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के लिए क्रम से १०, १२, १५ एवं एक मास की अशुद्धि की व्यवस्था दी है। याज्ञ० (३।२२) ने सदाचारी शूद्र के लिए केवल १५ दिनों की अशुद्धि-अवधि दी है। गौतम० (१५।१-४) ने चारों वर्णों के लिए क्रम से १०, ११, १२ (या १५ दिन) एवं एक मास की आशौचावधि दी है, किन्तु वसिष्ठ (४।२७-३०) ने क्रम से १०, १५, २० एवं एक मास की अवधियाँ दी हैं। स्व० प्रो० डी० आर० भण्डारकर ने अपने "नागर ब्राह्मण एवं बंगाल के कायस्थों" के विषय के एक लेख में विरोध प्रकट किया है कि कायस्थों को (सामाजिक अत्याचार के कारण) अब भी एक मास का आशौच रखना पड़ता है, मानो वे साधारण शूद्र हैं (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, १९३२, पृ० ७१)। दूसरी ओर अंगिरा (मिता०, याज्ञ० ३।२२) ने शातातप का मत प्रकाशित किया है कि सभी वर्ण १० दिनों में आशौच से निवृत्त हो जाते हैं, चाहे वह आशौच जन्म के कारण हो या मरण से उत्पन्न हुआ हो। यह अवलोकनीय है कि बंगाल को छोड़कर भारत के अधिकांश सभी भागों में शूद्रों एवं अन्य वर्णों में मृत्यु का आशौच केवल दस दिनों का मनाया जाता है। पराशर० (३।९७, मिता०, याज्ञ० ३।१८) ने व्यवस्था दी है कि एक ही पूर्वज की चौथी पीढ़ी में एक सपिण्ड १० दिनों में शुद्ध हो जाता है, पाँचवीं पीढ़ी वाला ६ दिनों में, छठी पीढ़ी वाला ४ दिनों में और सातवीं पीढ़ी

६. इत्येवमनेकोच्चावचाशौचकल्पा दर्शिताः। तेषां लोके समाचाराभावान्नातीव व्यवस्थाप्रदर्शनमुपयोगीति नात्र व्यवस्था प्रदर्श्यते। मिता० (३।२२); लोकसमाचारादनादरणीयमिति केचन। अथवा देशाचारतो व्यवस्था। उत गुणवदगुणवद्विषये यथाक्रमं न्यूनाधिककल्पाश्रयेण निर्वाहः। किंवा आपदनापद्भेदेन व्यवस्था। मदनपारि० (पृ० ३९२)।

वाला एक दिन में शुद्ध हो जाता है। मिताक्षरा का कथन है कि हमें यह अस्वीकृत कर देना चाहिए, क्योंकि यह अन्य स्मृतियों के विरोध में पड़ जाता है और लोग इसका अनुमोदन नहीं करते। मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर (लगभग ११०० ई०) के बहुत से वर्णित नियम ५०० वर्षों के उपरान्त परिवर्तित हो गये, जैसा कि निर्णयसिन्ध (सन् १६१२ ई० में प्रणीत) ने कहा है।

मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१८) ने घोषित किया है कि जब दो वर्ष से कम अवस्था का बच्चा मर जाता है तो केवल माता-पिता १० दिनों का आशौच करते हैं और वे लोग अन्य सपिण्डों के लिए अस्पृश्य होते हैं। निर्णयसिन्धु (पृ० ५१७) ने लिखा है कि उसके समय में विज्ञानेश्वर की बातें लोकाचार के विरुद्ध पड़ गयीं, इसी प्रकार स्मृत्यर्थसार ने भी विज्ञानेश्वर की बातें नहीं मानी हैं।

उपर्युक्त परिस्थिति के कारण स्मृतियों, पुराणों एवं निबन्धों में वर्णित बातों को लेकर आशौच के अन्तर्गत बहुत से विषयों के बारे में कुछ विशेष कहना उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। इस विषय में बहुत-से निबन्धों का प्रणयन हुआ है। निम्नलिखित विवेचन के लिए निम्न निबन्धों का सहारा लिया गया है—प्रथमतः वे निबन्ध हैं जो पद्य में हैं। आशौचाष्टक (वररुचि द्वारा लिखित) ने आठ स्रग्धरा श्लोकों में इस विषय पर लिखा है। इसके एक अज्ञात टीकाकार हैं जिन्होंने गौतमधर्मसूत्र के मस्करी नामक भाष्यकार की चर्चा पृ० ३५ पर की है। आशौचदशक या दशश्लोकी नामक पुस्तक, जो विज्ञानेश्वर की लिखी हुई कही जाती है, बड़ी प्रसिद्ध रही है। इस पर भी बहुत-सी टीकाएँ हैं, हरिहर वाली टीका सबसे प्राचीन है। भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट (पूना) की पाण्डुलिपियों के संग्रह में इसकी कई प्रतियाँ हैं, जिनमें दो संवत् १५३९ एवं १५७९ में लिखी गयी थीं, इनमें यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि यह ग्रन्थ विज्ञानेश्वर—योगीन्द्र का लिखा हुआ है। लक्ष्मीधर के कल्पतरु में शुद्धि पर एक अध्याय है। स्मृतिचन्द्रिका का आशौचकाण्ड स्व० डा० शाम शास्त्री द्वारा सम्पादित हुआ है (मैसूर यूनि० संस्कृत-प्रकाशन, सं० ५६)। रघुनाथ की टीका के साथ त्रिंशच्छ्लोकी में आशौच पर ३० स्रग्धरा छन्द हैं। कौशिकादित्य की षडशीति (अनुष्टुप् छन्द में ८६ पद्य) विनायक उर्फ नन्द पण्डित (सन् १६०० ई० के लगभग) की शुद्धिचन्द्रिका नामक टीका के साथ चौखम्भा (वाराणसी) से प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार शुद्धिकौमुदी (गोविन्दानन्द कृत), रघुनन्दन कृत शुद्धितत्त्व, शुद्धिप्रकाश (मित्र मिश्र के वीरमित्रोदय का एक अंश), नीलकण्ठ का शुद्धिमयूख एवं वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल अन्य उपयोगी ग्रन्थ हैं। इतने ग्रन्थों के प्रणयन से विदित होता है कि मध्य काल के ब्राह्मण जन्म एवं मरण से उत्पन्न आशौच को अतीव महत्त्व देते थे।

आशौचावधियाँ कई प्रकार की परिस्थितियों पर आधारित थीं। जन्म एवं मरण की अशुद्धि में भिन्नता मानी गयी थी। इसी प्रकार मृत की अवस्था, अर्थात् वह शिशु है या पुरुष है या स्त्री है, आशौचावधि के लिए परिगणित होती थी। इतना ही नहीं, आशौचावधि मृत के उपनयन-संस्कार से युक्त होने या न होने पर भी निर्भर थी। यह जाति पर भी आधारित थी और यह भी देखा जाता था कि मृत्यु सम्बन्धी के पास हुई है या कहीं दूर। यह सम्बन्धी की दूरी पर भी निर्भर थी, और यह भी देखा जाता था कि कितने दिनों के पश्चात् जन्म या मृत्यु का समाचार सम्बन्धी के कानों तक पहुँचा। निम्न बातों में अशुद्धि की तीव्रता विभिन्न रूपों में देखी जाती थी—सूतिका (हाल में बच्चा जनी हुई नारी), रजस्वला, मरणाशुद्धि, जन्माशुद्धि (अन्तिम में तीव्रता कम मानी जाती थी)।

दक्ष (५।२—३) ने आशौच के दस भेद बताये हैं, यथा—तात्कालिक शौच वाला (केवल स्नान करने से समाप्त), एक दिन, तीन दिन, चार दिन, छः दिन, दस दिन, बारह दिन, एक पक्ष, एक मास एवं जीवन भर।[7] दक्ष ने इन सभी

७. सद्यःशौचं तथैकाहस्त्र्यहश्चतुरहस्तथा। षड्दशद्वादशाहाश्च पक्षो मासस्तथैव च॥ मरणान्तं तथा

आशौचावधियों को समझाया है। मरणान्त आशौच (वह आशौच जो जलकर भस्म हो जाने तक चले) के विषय में दक्ष (६।८–१०)का कथन है कि जो लोग बिना स्नान किये भोजन करते हैं या बिना देवाहुति दिये या बिना दान दिये ऐसा करते हैं वे जीवन भर आशौच में रहते हैं। जो व्याधित (सदा के लिए रोगी) है, कदर्य (लोभी, अर्थात् जो धन के लोभ से अपने लिए, पत्नी, पुत्र एवं धार्मिक कृत्यों के लिए व्यय नहीं करता) है, ऋणी (जिसने देवों, ऋषियों एवं पितरों का ऋण नहीं चुकाया हो) है, क्रियाहीन (नित्य एवं नैमित्तिक धार्मिक कृत्यों से च्युत) है, मूर्ख है और अपनी पत्नी की मुट्ठी में है, व्यसनासक्त-चित्त (जुआरी, वेश्यागामी आदि) है, नित्य पराधीन (राजा का नौकर आदि) है तथा श्रद्धा-त्याग-विहीन (जो अविश्वासी या अधार्मिक एवं दया-दाक्षिण्य से हीन) है, वह मरणान्त या भस्मान्त (भस्म हो जाने अर्थात् मर जाने के उपरान्त चिता पर राख हो जाने) तक अशुद्ध रहता है।[8] इन शब्दों को यथाश्रुत शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए; केवल इतना ही समझना चाहिए कि इस प्रकार के लोगों का संसर्ग नहीं करना चाहिए (अर्थात् यह केवल **अर्थवाद** है जो भर्त्सना मात्र प्रकट करता है)।

अब हम जन्म होने पर उत्पन्न आशौच का वर्णन करेंगे।

वैदिक काल में भी जन्म पर सूतक मनाया जाता था और वह दस दिनों तक चलता था। देखिए ऐतरेय ब्राह्मण (३३।२) में वर्णित शुनःशेप की गाथा, जहाँ एक उक्ति आयी है; 'जब पशु दस दिनों का हो जाता है तो वह शुद्ध माना जाता है (और यज्ञ में बलि के योग्य हो जाता है)।' और देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।१।१।३) जहाँ आया है—'अतः बछड़ा उत्पन्न हो जाने पर लोग गाय का दूध दस दिनों तक नहीं ग्रहण करते।'[9]

गर्भ के उपरान्त चार महीनों के गर्भ गिरने को **स्राव** कहा जाता है, पाँचवें या छठे महीने के गर्भ गिरने को **पात** तथा सातवें या इसके पश्चात् के महीनों के गर्भ गिरने को **प्रसूति** या **प्रसव** कहा जाता है (पराशर, ३।१६ एवं षडशीति, श्लोक ९)। **स्राव** में माता को तीन दिनों का सूतक लगता है, **पात** में उतने ही दिनों का सूतक लगता है जितने महीनों पश्चात् वह होता है (५ या ६ दिनों का)। यह आशौच माता को न छूने तक है, **स्राव** में केवल पिता को भी अशुद्धि लगती है किन्तु **पात** में पिता के साथ सपिण्डों को भी तीन दिनों तक (देखिए मदनपारिजात, पृ० ३८०–३८१) सूतक लगता है। किन्तु यह मृत्यु की अशुद्धि के समान नहीं है। ये नियम सभी वर्णों में समान हैं। किन्तु यदि सातवें मास के उपरान्त कभी भी भ्रूण मरा हुआ निकलता है तो सभी वर्णों में अशुद्धि पिता तथा सपिण्डों के लिए दस दिनों की या याज्ञ० (३।२२) के मत से चारों वर्णों में क्रम से १०, १२, १५ एवं ३० दिनों की होती है, किन्तु समानोदक लोग केवल

चान्यद् दश पक्षास्तु सूतके। दक्ष (६।२-३)। देखिए विश्वरूप (याज्ञ० ३।३०; कल्पतरु (शुद्धि, पृ० ५); अपरार्क (पृ० ८९४); परा० मा० (१।२, पृ० २०७)।

८. अस्नात्वा चाप्यहुत्वा च ह्यदत्त्वा ये तु भुञ्जते। एवंविधानां सर्वेषां यावज्जीवं तु सूतकम्॥ व्याधितस्य कदर्यस्य ऋणग्रस्तस्य सर्वदा। क्रियाहीनस्य मूर्खस्य स्त्रीजितस्य विशेषतः॥ व्यसनासक्तचित्तस्य पराधीनस्य नित्यशः। श्रद्धात्यागविहीनस्य भस्मान्तं सूतकं भवेत्॥ दक्ष (६।८-१०; विश्वरूप, याज्ञ० ३।३०; कल्पतरु, शुद्धि, पृ० १५; हारलता, पृ० १४; अपरार्क, पृ० ८९३)। षडशीति का अन्तिम श्लोक उपर्युक्त प्रथम श्लोक के समान ही है। कूर्म-पुराण (उत्तर, २३।९) ने व्यवस्था दी है—'क्रियाहीनस्य मूर्खस्य महारोगिण एव च। यथेष्टाचरणस्येह मरणान्त-मशौचकम्॥' (हारलता, पृ० १५)।

९. अजनि वै ते पुत्रो यजस्व माऽनेनेति। स होवाच यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति। ऐ० ब्रा० (३३।२)। तस्माद्वत्सं जातं दशरात्रीर्न दुहन्ति। तै० ब्रा० (२।१।१।३)।

तीन दिनों का तथा सगोत्र लोग एक दिन का आशौच मनाते हैं (धर्मसिन्धु,पृ० ४२७)। यही निर्णय कुछ भेदों के साथ गौतम (१४।१५-१६), बौधा० ध० सू० (१।५।१३६), पराशर (३।२४), मनु (५।६६), याज्ञ० (३।२०) एवं आशौचदशक (प्रथम श्लोक) ने भी दिया है। जन्म, मृतोत्पत्ति या सातवें, आठवें या नवें मास के गर्भपात में माता दस दिनों तक अस्पृश्य रहती है, किन्तु पिता तथा सपिण्ड लोग प्रसव में स्नान के उपरान्त अस्पृश्य नहीं ठहरते (या० ३।९१)। प्राचीन काल में पिता के जननाशौच के विषय में कई एक मत प्रचलित थे (बौ० ध० सू० १।५।१२५-१२८)। यद्यपि जनन के १० दिनों के उपरान्त स्त्री स्पृश्य हो जाती है, किन्तु उसके उपरान्त २० दिनों तक (पुत्र उत्पन्न किया हो तो) धार्मिक कृत्य करने योग्य नहीं रहती। किन्तु यदि स्त्री पुत्री उत्पन्न करती है तो ३० दिनों तक (जनन के उपरान्त कुल मिलाकर ४० दिनों तक) धार्मिक कृत्य नहीं कर सकती। प्रचेता के मत से सभी वर्णों की स्त्रियाँ बच्चा जनने के दस दिनों के उपरान्त शुद्ध हो जाती हैं। देवल का कथन है कि १० या १२ दिनों की अवधि के उपरान्त जननाशौच नहीं रहता। यदि स्त्री अपने पिता या भाई के घर में बच्चा जने तो माता-पिता एवं भाइयों को एक दिन का आशौच मानना पड़ता है (धर्मसिन्धु,पृ० ४२७), किन्तु यदि वह पति के घर बच्चा जने तो उसके पिता या भाई को अशुद्धि नहीं लगती। जब सगोत्रों को जननाशौच में रहना पड़ता है तो वे अस्पृश्य नहीं माने जाते (षडशीति, श्लोक ६)।

कुछ सामान्य नियमों के विषय में यहाँ कहना आवश्यक है। जब कोई ग्रन्थ 'अहः' (दिन) या रात्रि के आशौच की व्यवस्था करे तो इससे 'अहोरात्र' (दिन एवं रात्रि दोनों) समझना चाहिए। आहिताग्नि के विषय में आशौच के दिन शवदाह से गिने जाने चाहिए, किन्तु जो आहिताग्नि नहीं है उसकी मृत्यु के दिन से ही आशौच के दिन का आरम्भ समझ लेना चाहिए (आशौचदशक, श्लोक ४; कूर्म, उत्तरार्ध २३।५२)। पारस्कर० (३।१०) ने व्यवस्था दी है—'यदि कोई विदेश में जाकर मर जाय, तो समाचार मिलने पर उसके सम्बन्धियों को बैठ जाना चाहिए, जल-तर्पण करना चाहिए और आशौचावधि (१०, १२, १५ एवं ३० दिन, वर्णों के क्रमानुसार) के बचे दिनों तक अस्पृश्य रूप में रहना चाहिए; यदि आशौचावधि समाप्त हो चुकी हो तो उन्हें एक रात या तीन रातों तक 'आशौच' का पालन करना चाहिए।' यही बात मनु (५।७५-७६) ने भी कही है। ब्रह्मपुराण का कथन है—'यदि कुल के जनन एवं मरण की बातें ज्ञात न हों और दाता दान करे या दान लेनेवाला दान ग्रहण करे तो पाप नहीं लगता।'

अब हम मरण के आशौच की चर्चा करेंगे। इस विषय में भी धर्मशास्त्रकारों में मतैक्य नहीं है, अतः पश्चात्कालीन ग्रन्थों (यथा धर्मसिन्धु) का ही हम विशेषतः उल्लेख करेंगे, कुछ स्मृति-वचनों की ओर भी संकेत करेंगे। मरणाशौच से व्यक्ति अस्पृश्य एवं धार्मिक कृत्य करने के अयोग्य हो जाता है। पारस्करगृह्यसूत्र (३।१०।२९-३०) ने सामान्यतः कहा है कि मरणाशौच तीन रातों तक रहता है, किन्तु कुछ ग्रन्थकारों ने इसकी अवधि दस दिनों की दी है। यदि बच्चा दस दिनों के भीतर ही मर जाय तो माता-पिता जननाशौच ही मनाते हैं और दस दिनों के उपरान्त शुद्ध हो जाते हैं, उतने दिनों तक पिता अस्पृश्य रहता है (कूर्मपुराण, शुद्धिकौमुदी, पृ० २१)। यदि बच्चा दाँत निकलने के पूर्व ही मर जाय तो सपिण्ड लोग स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु माता-पिता को, यदि मृत बच्चा पुत्र है तो तीन दिनों का, और यदि मृत बच्चा लड़की है तो एक दिन का आशौच करना पड़ता है (और देखिए याज्ञ० ३।२३; शंख १५।४; अत्रि ९५ एवं आशौच-दशक, श्लोक २)। यदि बच्चा दाँत निकलने के पश्चात् किन्तु चूड़ाकरण के पूर्व अर्थात् तीसरे वर्ष के अन्त में मर जाय तो सपिण्डों को एक दिन एवं एक रात्रि का आशौच मनाना चाहिए (याज्ञ० ३।२३, शंख १५।५), किन्तु ऐसी स्थिति में माता-पिता को तीन दिनों का आशौच करना चाहिए। यदि बच्चा लड़की हो तो सपिण्ड लोग उसके तीसरे वर्ष की मृत्यु पर स्नान करके पवित्र हो जाते हैं। यदि चूड़ाकरण (या तीन वर्षों) के पश्चात् और उपनयन या विवाह (लड़कियों के विषय में) के बीच मृत्यु हो तो पिता एवं सपिण्ड तीन दिनों का आशौच मनाते हैं, किन्तु समानोदक लोग स्नान के उपरान्त पवित्र हो जाते हैं। उपनयन के उपरान्त सभी सपिण्ड लोग मृत्यु पर १० दिनों का (गौतम० १४।१; मनु

५।५९; आशौचदशक, २) एवं समानोदक तीन दिनों का आशौच मनाते हैं। शूद्रों में तीन वर्ष के उपरान्त एवं विवाह या १६ वर्षों के पूर्व मरने पर सपिण्डों को तीन दिनों का आशौच करना होता है। १६ वर्षों या विवाह (शूद्रों के विषय में) के उपरान्त मृत्यु होने पर उस जाति के लिए व्यवस्थित आशौचावधि मनायी जाती है। लड़की के तीन वर्षों के उपरान्त एवं वाग्दान के पूर्व मरने पर माता-पिता को तीन दिनों का एवं तीन पीढ़ियों के सपिण्डों को एक दिन का आशौच मनाना चाहिए। यदि वाग्दान के उपरान्त किन्तु विवाह के पूर्व कन्या मर जाय तो पिता के सपिण्डों एवं होनेवाले पति को तीन दिनों का आशौच करना चाहिए। स्त्रियों एवं शूद्रों के विषय में यदि मृत्यु विवाहोपरान्त हो जाय या १६ वर्षों के उपरान्त (यदि शूद्र अविवाहित हो) तो सभी सपिण्डों की आशौचावधि दस दिनों की होती है। यदि विवाहित स्त्री अपने पिता के यहाँ मर जाय तो माता-पिता, विमाता, सहोदर भाइयों, विमाता के पुत्रों को तीन दिनों का तथा चाचा आदि को, जो एक ही घर में रहते हैं, एक दिन का आशौच मनाना पड़ता है। कुछ लोगों का कहना है कि यदि विवाहित कन्या अपने पिता के ग्राम के अतिरिक्त कहीं और मरती है तो माता-पिता को **पक्षिणी** (दो रात एवं मध्य में एक दिन या दो दिन एवं मध्य में एक रात) का आशौच मनाना पड़ता है। अन्य मत भी हैं, जिन्हें हम छोड़ रहे हैं। उदाहरणार्थ, विष्णुधर्मसूत्र (२२।३२–३४) का कथन है कि विवाहित स्त्री के लिए माता-पिता को आशौच नहीं लगता, किन्तु जब वह पिता के घर में बच्चा जनती है या मर जाती है तो क्रम से एक दिन या तीन दिनों का आशौच लगता है। अपने माता-पिता या विमाता के मरने पर यदि दस दिन न बीते हों तो विवाहित स्त्री को तीन दिनों का या दस दिनों के शेष दिनों का आशौच मनाना होता है (याज्ञ० ३।२१, उत्तर भाग)। यदि विवाहित स्त्री अपने माता-पिता या विमाता की मृत्यु का सन्देश दस दिनों के उपरान्त या वर्ष के भीतर सुन लेती है तो उसे **पक्षिणी** आशौच करना पड़ता है। यदि उपनयन-संस्कृत भाई अपनी विवाहित बहिन के यहाँ या ऐसी बहिन अपने भाई के यहाँ मरती है तो तीन दिनों का आशौच होता है, किन्तु यदि वे एक-दूसरे के घर न मरकर कहीं और मरते हैं तो आशौच **पक्षिणी** होता है, यदि मृत्यु किसी अन्य ग्राम में होती है तो आशौच केवल एक दिन का होता है। यही नियम विमाता के भाइयों एवं बहिनों एवं अपनी बहिनों के लिए भी प्रयुक्त होता है। अपने पितामह या चाचा के मरने पर विवाहित नारी केवल स्नान कर शुद्ध हो जाती है। यदि मामा मर जाता है तो भानजा एवं भानजी एक पक्षिणी का आशौच निबाहते हैं। यदि मामा भानजे के घर में मरता हैं तो भानजे के लिए आशौच तीन दिनों का, किन्तु यदि मामा का उपनयन नहीं हुआ हो या वह किसी अन्य ग्राम में मरता है तो एक दिन का होता है। यही नियम अपनी माता के विमाता-भाई के विषय में लागू होता है। यदि मामी मर जाय तो भानजे एवं भानजी को एक पक्षिणी का आशौच करना पड़ता है। यदि उपनयन-संस्कृत भानजा मर जाय तो मामा एवं मामी को तीन दिन का आशौच होता है। यही नियम मामा की विमाता-बहिन के पुत्र के लिए भी लागू है। यदि बहिन की पुत्री मर जाय तो मामा को केवल स्नान करना पड़ता है। यदि नाना मर जाय तो नाती या नतिनी को तीन दिनों का आशौच लगता है। किन्तु यदि नाना किसी अन्य ग्राम में मरे तो उन्हें एक पक्षिणी का आशौच करना पड़ता है। नानी के मरने पर नाती एवं नतिनी को एक पक्षिणी का आशौच लगता है। कुछ ग्रन्थ भतीजी एवं पोती को छूट देते हैं। उपनयन-संस्कृत दौहित्र की मृत्यु पर नाना एवं नानी को तीन दिनों का आशौच किन्तु उपनयन न होने पर केवल एक पक्षिणी का आशौच लगता है। पुत्री की पुत्री के मरने पर नाना और नानी को आशौच नहीं लगता। इन विषयों में सामान्य नियम यही है कि केवल उपनयन-संस्कृत पुरुष एवं विवाहित स्त्री ही माता-पिता के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्धी की मृत्यु पर आशौच मनाते हैं (अर्थात् उपनयन-संस्कारविहीन पुरुष तथा अविवाहित स्त्री माता या पिता की मृत्यु पर ही आशौच का नियम पालन करते हैं)।

दामाद के घर में श्वशुर या सास के मरने से दामाद को तीन दिनों का तथा अन्यत्र मरने से एक पक्षिणी का आशौच लगता है। दामाद की मृत्यु पर श्वशुर एवं सास एक दिन का आशौच करते हैं या केवल स्नान से शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु

ससुराल में मरने पर श्वशुर एवं सास को तीन दिनों का आशौच करना पड़ता है। साले के मरने पर (यदि वह उपनयन-संस्कृत हो) एक दिन का आशौच होता है, किन्तु यदि साला उपनयन संस्कार-विहीन हो या किसी अन्य ग्राम में मर जाय तो केवल स्नान कर लेना पर्याप्त है।

मौसी के मरने पर व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) को एक पक्षिणी का आशौच करना चाहिए; यही नियम फूफी के मरने पर लागू होता है। किन्तु यदि फूफी पिता की विमाता-बहिन हो तो स्नान ही पर्याप्त है। भतीजे के मरने पर फूफी स्नान करती है। यदि फूफी या मौसी व्यक्ति के घर में मर जाय तो आशौच तीन दिनों का होता है।

बन्धुओं के विषय में, जिन्हें मिता० (याज्ञ० २।१३५) ने **भिन्नगोत्र सपिण्ड** कहा है और जो तीन प्रकार[10] के होते हैं, आशौच एक पक्षिणी का होता है, जब कि बन्धु उपनीत (उपनयन संस्कार युक्त) हो; किन्तु जब बन्धु उपनयन-संस्कार नहीं किये रहता तो आशौच एक दिन, किन्तु जब बन्धु व्यक्ति के घर में मरता है तो आशौच तीन दिनों का होता है। जब फूफी की लड़की तथा अन्य बन्धुओं की लड़की विवाहित रूप में मरती है तो आशौच एक दिन का होता है, किन्तु जब वह अविवाहित रूप में मरती है तो केवल स्नान पर्याप्त होता है। तीन प्रकार के बन्धुओं में स्वयं व्यक्ति एवं उसके तीन आत्मबन्धुओं के बीच में एक-दूसरे की मृत्यु पर आशौच होता है, किन्तु पितृबन्धुओं एवं मातृबन्धुओं में दूसरा नियम पाया जाता है। यदि मातृबन्धुओं में कोई मरता है तो उसे आशोच करना पड़ता है जिसका वह बन्धु होता है, उसके पितृबन्धु एवं मातृबन्धु आशौच नहीं मानते।

यदि दत्तक पुत्र मर जाता है तो वास्तविक (असली) पिता एवं गोद लेनेवाले पिता को तीन दिनों का आशौच करना पड़ता है (व्यवहारमयूख यह नियम नहीं मानता) और सपिण्डों को केवल एक दिन का।

यदि गोद लेनेवाला या वास्तविक पिता मर जाता है तो दत्तक पुत्र को तीन दिनों का आशौच मानना पड़ता है किन्तु मृत सपिण्डों के लिए केवल एक दिन का। दत्तक के पुत्र या पौत्र की मृत्यु पर वास्तविक एवं गोद लेनेवाले पिता के सपिण्ड केवल एक दिन का आशौच मानते हैं और ऐसा ही उनकी मृत्यु पर दत्तक के पुत्र या पौत्र करते हैं। ये नियम तभी लागू होते हैं जब कि दत्तक पुत्र गोद लेनेवाले का सपिण्ड अथवा समानोदक नहीं होता और जब गोद जानेवाला अपने जन्म-कुल में ही रहता है। किन्तु जब सगोत्र सपिण्ड या समानोदक दत्तक होता है तो क्रम से आशौच १० दिनों या तीन दिनों का होता है।

जब आचार्य[11] मरता है तो शिष्य को तीन दिनों के लिए आशौच करना पड़ता है, किन्तु यदि वह दूसरे ग्राम में मरता है तो एक दिन का (गौतम० १४।२६ एवं ५२ तथा मनु ५।८०)। आचार्यपत्नी एवं आचार्यपुत्र की मृत्यु पर एक

१०. बन्धु तीन प्रकार के होते हैं—आत्मबन्धु, पितृबन्धु एवं मातृबन्धु। इन बन्धु-प्रकारों के तीन उदाहरण तीन श्लोकों (बौधायन या शातातप द्वारा प्रणीत) में दिये हुए हैं—आत्मपितृष्वसुः पुत्रा आत्ममातृष्वसुः सुताः। आत्ममातुलपुत्राश्च विज्ञेया आत्मबान्धवाः॥ पितुः पितृष्वसुः पुत्राः पितुर्मातृष्वसुः सुताः। पितृमातुलपुत्राश्च विज्ञेयाः पितृबान्धवाः॥ मातुः पितृष्वसुः पुत्रा मातुर्मातृष्वसुः सुताः। मातुर्मातुलपुत्राश्च विज्ञेया मातृबान्धवाः॥ मिता० (याज्ञ० २।१३५); व्यवहारनिर्णय (पृ० ४५५); परा० मा० (३, पृ० ५२८); मदनपा० (पृ० ६७५)। अन्य विस्तारों के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २९।

११. मनु (२।१४०) ने उसे ही आचार्य कहा है जो शिष्य का उपनयन करता है और उसे कल्पसूत्र एवं उपनिषदों के साथ वेद पढ़ाता है। मनु (२।१४३) ने उस व्यक्ति को ऋत्विक् कहा है जो अग्न्याधान, पाकयज्ञों एवं अग्निष्टोम जैसे पूत यज्ञों के सम्पादन के लिए चुना जाता है।

दिन का आशौच निश्चित किया गया है।[१२] गुरु (जो वैदिक मन्त्रों की शिक्षा देता है) की मृत्यु पर तीन दिनों का और जब वह किसी अन्य ग्राम में मरता है तो एक पक्षिणी का आशौच लगता है। उस शिक्षक की मृत्यु पर जो व्याकरण, ज्योतिष एवं वेदों के अन्य अंगों की शिक्षा देता है, एक दिन का आशौच करना पड़ता है। ऐसे ही नियम शिष्य, ऋत्विक् (यज्ञिय पुरोहित), यजमान, आश्रित श्रोत्रिय, सहपाठी, मित्र की मृत्यु पर भी हैं जिन्हें हम छोड़ रहे हैं, क्योंकि वे अब अनुपयोगी हैं। देखिए गौ० (१४।१९-२०) जो सहाध्यायी (सहपाठी) या आश्रित श्रोत्रिय की मृत्यु पर एक दिन का आशौच निर्धारित करता है।

आचार्य एवं ऋत्विक् की मृत्यु-सम्बन्धी आशौच-व्यवस्था से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में शिक्षकों एवं शिष्यों में कितना गहरा सम्बन्ध था जो अधिकांशतः रक्त-सम्बन्ध के सदृश था।

जब संन्यासी मरता था तो उसके सभी सपिण्ड स्नान-मात्र कर लेते थे और कुछ नहीं करते थे। इसके विपरीत यति एवं ब्रह्मचारी को आशौच नहीं मनाना पड़ता था। मनु (५।८२), याज्ञ० (३।२५), विष्णु० (२२।२५) एवं शंख० (१५।१५) ने व्यवस्था दी है कि देश के राजा की मृत्यु पर जिस दिन या रात्रि में वह मरता है, उसके दूसरे दिन या रात्रि तक आशौच मनाया जाता है।

जब तक ग्राम से शव बाहर नहीं चला जाता, सारा ग्राम आशौच में रहता है। आप० ध० सू० (१।३।९।१४) के मत से ग्राम में शव के रहने पर वेद का अध्ययन रोक दिया जाना चाहिए। स्मृतिमुक्ताफल (पृ० ५४१) ने कई स्मृतियों का मत देते हुए कहा है कि जब तक ग्राम से शव बाहर न चला जाय, भोजन, वेदाध्ययन एवं यज्ञ नहीं करना चाहिए। किन्तु जब उस ग्राम में ४०० से अधिक ब्राह्मण निवास करते हों तो यह नियम नहीं लागू होता। धर्मसिन्धु (पृ० ४३२) ने भी यही कहा है, किन्तु इतना जोड़ा है कि कसबे में इस नियम की छूट है।

धार्मिक कृत्य-सम्बन्धी शुद्धि इतनी दूर तक बढ़ गयी थी कि शुद्धितत्त्व (निर्णयसिन्धु ३, पृ० ५२८) ने इतना तक कह डाला कि यदि ब्राह्मण के घर में कोई कुत्ता मर जाय तो घर १० दिनों के लिए अशुद्ध हो जाता है, और यदि किसी ब्राह्मण के घर में कोई शूद्र, पतित या म्लेच्छ मर जाय तो वह घर क्रम से एक मास, दो मासों या चार मासों के लिए अशुद्ध हो जाता है, किन्तु यदि उस घर में कोई श्वपाक मर जाय तो उसे छोड़ ही देना चाहिए।

अतिक्रान्ताशौच (निर्धारित अवधियों के उपरान्त जनन एवं मरण की जानकारी से उत्पन्न आशौच) का सामान्य नियम तो यह है कि यदि कोई व्यक्ति विदेश में रहता हुआ अपने सपिण्डों का जनन या मरण सुनता है तो उसे दस दिनों (उसके लिए निर्धारित दिनों के अनुसार) तक आशौच नहीं मनाना पड़ता, केवल शेष दिनों का ही आशौच होता है (देखिए मनु ५।७५; याज्ञ० ३।२१; शंख १५।११; पारस्कर गृ० (३।१०)। आशौच व्यक्ति की क्रियाओं में अवरोध उपस्थित करता है। इसी से लोग दूसरे स्थान में रहने वाले सम्बन्धियों के पास बन्द पत्र भेजते हैं और किसी निश्चित तिथि पर ही खोलने को कहते हैं (विशेषतः सपिण्ड की मृत्यु के दसवें दिन)। प्रत्येक व्यक्ति ऐसे निर्देश का तात्पर्य समझता है और इस छद्म के द्वारा असुविधा से बचाव होता है तथा शास्त्रों की आज्ञाएँ पालित-सी समझी जाती हैं। यदि कोई पुत्र अपने पिता या माता की मृत्यु का सन्देश सुनता है तो उसे

१२. आचार्यपत्नीपुत्रोपाध्यायमातुलश्वशुरश्वशुर्यसहाध्यायिशिष्येष्वतीतेष्वेकरात्रेण। विष्णुधर्मसूत्र (२२।४४)। 'श्वशुर्य' का अर्थ है साला। मनु (५।८०-८१) ने आचार्य, उसकी पत्नी एवं पुत्र तथा श्रोत्रिय की मृत्यु पर तीन दिनों के आशौच की व्यवस्था दी है। यही बात गौ० (१४।२६) में भी पायी जाती है।

उसी दिन से दस दिनों का आशौच रखना पड़ता है, किन्तु यदि वह अस्थिसंचयन से पूर्व ही समाचार पा लेता है तो उसे शेष पाँच दिनों का आशौच करना पड़ता है (स्मृतिमुक्ता० पृ० ५३४)। दस दिनों के उपरान्त सपिण्ड-मृत्यु का समाचार पाने पर आशौचावधियों के विषय में मतैक्य नहीं है। मनु (५।७७) के मत से यदि जनन एवं मरण के समाचार दस दिनों के उपरान्त मिलें तो वस्त्रसहित जल में स्नान कर लेने से शुद्धि प्राप्त हो जाती है। याज्ञ० (३।२१) के मत से ऐसी स्थिति में स्नान एवं जल-तर्पण से ही शुद्धि प्राप्त हो जाती है। मनु के इस कथन से कि केवल पिता ही पुत्रोत्पत्ति का सन्देश दस दिनों के उपरान्त सुनने से स्नान करता है, मिता० (याज्ञ० ३।२१) ने अनुमान निकाला है कि जनन पर सपिण्डों के लिए अतिक्रान्ताशौच नहीं लागू होता। धर्मसिन्धु ने मिता० का अनुसरण किया है। मनु (५।७६), शंख (१५।१२), कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, २३।२१) का कथन है कि दस दिनों के उपरान्त मरण-समाचार सुनने से भी तीन दिनों का आशौच लगता ही है, किन्तु यदि समाचार मृत्यु के एक वर्ष से अधिक अवधि के उपरान्त मिले तो स्नान के उपरान्त ही शुद्धि मिल जाती है। स्मृतियों की विरोधी उक्तियों के समाधान में वृद्ध-वसिष्ठ ने व्यवस्था दी है कि यदि तीन मासों के भीतर संदेश मिल जाय तो आशौच केवल तीन दिनों का होता है (किन्तु मृत्यु के दस दिनों के उपरान्त ही यह अवधि गिनी जाती है), किन्तु तीन मासों से अधिक, छः मासों के भीतर सन्देश मिलने से एक पक्षिणी का आशौच लगता है; छः मासों के उपरान्त नौ मासों के भीतर संदेश सुनने से एक दिन का तथा नौ मासों से ऊपर एक वर्ष के भीतर सन्देश से स्नान-मात्र करने पर शुद्धि प्राप्त हो जाती है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२१) ने कहा है कि यह नियम माता-पिता को छोड़कर सबके साथ लागू होता है और पैठीनसि तथा अन्य स्मृति का उद्धरण दिया है कि जब भी कभी विदेश में रहता हुआ पुत्र अपनी माता या पिता की मृत्यु का संदेश सुनता है; एक वर्ष के भीतर या उसके पश्चात्, तो उसे उसी दिन से दस दिनों का आशौच मनाना चाहिए। लघु-आश्वलायन (२०।८८) ने भी यही बात कही है। मिता० (याज्ञ० ३।२१) ने आगे कहा है कि अतिक्रान्ताशौच का नियम केवल तभी लागू होता है जब कि मृत व्यक्ति उपनीत रहता है। धर्मसिन्धु (पृ० ४३३) का कथन है कि उपनयन संस्कार-हीन व्यक्ति की मृत्यु पर जो एक या तीन दिनों का आशौच लगता है तथा मामा एवं अन्य दूसरे गोत्र वाले की मृत्यु पर जो पक्षिणी या तीन दिनों का आशौच लगता है, उसके विषय में अतिक्रान्ताशौच के नियम नहीं प्रयुक्त होते। इसी प्रकार समानोदकों के लिए निर्धारित तीन दिनों की अशुद्धि पर अतिक्रान्ताशौच नहीं लगता, किन्तु इस विषय में अवधि के उपरान्त भी स्नान करना आवश्यक है। वास्तव में, अतिक्रान्ताशौच के नियम १० दिनों के आशौच के विषय में ही प्रयक्त होते हैं। जिस प्रकार पुत्र के लिए अतिक्रान्ताशौच का नियम लागू है, उसी प्रकार पति, पत्नी एवं सपत्नियों के बीच में एक वर्ष के उपरान्त भी, चाहे मृत्यु परदेश में ही क्यों न हुई हो, दस दिनों का आशौच अनिवार्य है। माता-पिता औरस पुत्र की मृत्यु का सन्देश एक वर्ष के उपरान्त भी सुनने पर तीन दिनों का आशौच करते हैं। एक ही देश में रहनेवाले सपिण्ड की मृत्यु १० दिनों के उपरान्त, तीन मासों के भीतर सुनी जाय तो आशौचावधि तीन दिनों की होती है, छः मासों के उपरान्त पक्षिणी, नौ मासों तक एक दिन और एक वर्ष तक स्नान करने का आशौच लगता है। इस विषय में भी अनेक मत हैं, यथा माधव एवं अन्य लोगों के। इस विषय में देखिए शुद्धिप्रकाश (पृ० ४९-५१)।

मिताक्षरा ने याज्ञ० (३।२१) के अन्तिम चरण की व्याख्या में एक ही देश में रहने वाले सपिण्ड की मृत्यु के दस दिनों के उपरान्त सन्देश सुनने एवं बड़ी नदी आदि से विभाजित अन्य देश में रहने वाले सपिण्ड की मृत्यु के सन्देश सुनने में अन्तर व्यक्त किया है। अन्तिम सपिण्ड की मृत्यु का सन्देश जब दस दिनों के उपरान्त किन्तु तीन मासों के भीतर मिल जाता है तो केवल स्नान से शुद्धि प्राप्त हो जाती है। मिता० ने वहीं एक स्मृति-वचन उद्धृत किया है कि किसी परदेशी सपिण्ड की मृत्यु पर तथा नपुंसक या वैखानस (वनवासी यति) या संन्यासी की मृत्यु पर स्नान

मात्र से शुद्धि प्राप्त हो जाती है और यही नियम गर्भपात में सगोत्र सपिण्डों के लिए लागू होता है।[13] षडशीति (३५) में भी ऐसा ही आया है।[14] मिता० ने बृहस्पति के दो श्लोकों का हवाला देकर 'देशान्तर' की परिभाषा दी है—'जहाँ बड़ी नदी हो या पर्वत हो, जो एक देश को दूसरे से पृथक् करता हो या जहाँ की भाषाओं में अन्तर हो, वह देशान्तर कहलाता है। कुछ लोगों का कथन है कि साठ योजनों का अन्तर देशान्तर का कारण होता है, कुछ लोग चालीस या तीस योजनों के अन्तर की सीमा बताते हैं।'[15] इस विषय में मतैक्य नहीं है कि देशान्तर के लिए इन तीनों (महानदी, पर्वत एवं भाषा-भेद) का साथ-साथ रहना परमावश्यक है, या इनमें कोई एक पर्याप्त है या ६०, ४० या ३० योजन का अन्तर आवश्यक है या किसी देशान्तर में दस दिनों में समाचार पहुँच जाना ही उसके देशान्तरत्व का सूचक है। स्मृति-च० एवं षडशीति (३७) के मत से उपर्युक्त तीन में कोई एक भी पर्याप्त है, किन्तु अन्यों के विभिन्न मत हैं। शुद्धि-विवेक के मत से ६० योजनों की दूरी देशान्तर के लिए पर्याप्त है, किन्तु ६० योजनों के भीतर एक महानदी, एक पर्वत एवं भाषा-भेद सम्मिलित रूप से देशान्तर बना देते हैं। स्मृत्यर्थसार का कथन है कि स्मृतियों, पुराणों तथा तीर्थ-सम्बन्धी ग्रन्थों में देशान्तर विभिन्न रूपों में वर्णित है। 'योजन' के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ५।

धर्मसिन्धु (पृ० ४१५) के मत से यदि आहिताग्नि देशान्तर में मर जाय और बहुत दिन व्यतीत हो जायँ तथा उसकी अस्थियाँ न प्राप्त हों और ऐसी स्थिति में जब पलाश की पत्तियों से उसका आकृतिदहन हो तब भी दस दिनों का आशौच होता है। इसी प्रकार जो आहिताग्नि नहीं है तथा उसकी मृत्यु पर कोई आशौच नहीं मनाया गया है और बाद को उसका पुतला जलाया जाय तो पुत्र एवं पत्नी को १० दिनों का आशौच करना पड़ता है, किन्तु जब संदेश मिलने पर उन्होंने दस दिनों का आशौच मना लिया है तो आकृतिदहन पर तीन दिनों का आशौच करना होता है। अन्य सपिण्डों को इन्हीं परिस्थितियों में क्रम से तीन दिनों का आशौच या स्नान-मात्र पर्याप्त है।

गृह्यकारिका, स्मृत्यर्थसार (पृ० ९४), धर्मसिन्धु एवं अन्य ग्रंथों में ऐसा आया है कि यदि कोई व्यक्ति परदेश चला जाय और उसकी जीवितावस्था के विषय में कोई समाचार न मिले तो उसके पुत्र एवं अन्य सम्बन्धियों को, समाचार न मिलने के बीस वर्षों के पश्चात्, या जब युवावस्था या १५ वर्ष की अवस्था में वह चला गया हो, या जब वह अधेड़ अवस्था या १२ वर्ष की अवस्था में चला गया हो या बुढ़ौती में चला गया हो, तो चान्द्रायण व्रत या ३० कृच्छ्र

१३. यस्तु नद्यादिव्यवहिते देशान्तरे मृतस्तत्सपिण्डानां दशाहादूर्ध्वं मासत्रयादर्वागपि सद्यः शौचम्। देशान्तर-मृतं श्रुत्वा क्लीबे वैखानसे यतौ। मृते स्नानेन शुध्यन्ति गर्भस्रावे च गोत्रिणः।। इति। मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति, ३।२१)।

१४. ज्ञातिमृत्यौ यदाशौचं दशाहात्तु बहिः श्रुतौ। एकदेश इदं प्रोक्तं स्नात्वा देशान्तरे शुचिः।। षडशीति (३५)।

१५. देशान्तरलक्षणं च बृहस्पतिनोक्तम्। महानद्यन्तरं यत्र गिरिर्वा व्यवधायकः। वाचो यत्र विभिद्यन्ते तद्देशान्तरमुच्यते।। देशान्तरं वदन्त्येके षष्टियोजनमायतम्। चत्वारिंशद्वदन्त्यन्ये त्रिंशदन्ये तथैव च।। इति। मिता० (याज्ञ० ३।२१)। प्रथम श्लोक को अपरार्क (पृ० ९०५) एवं स्मृतिच० (आशौच, पृ० ५२) ने वृद्धमनु का माना है और शुद्धिप्रकाश (पृ० ५१) ने बृहन्मनु का माना है। स्मृतिच० (पृ० ५३) ने बृहन्मनु का एक अन्य पाद जोड़ा है और यही बात षडशीति (श्लोक ३७) की टीका एवं शुद्धिप्र० (पृ० ५१) में भी पायी जाती है, यथा—देशनाम-नदीभेदो निकटे यत्र वै भवेत्। तेन देशान्तरं प्रोक्तं स्वयमेव स्वयम्भुवा।। दशरात्रेण या वार्ता यत्र न श्रूयतेऽथवा। लघ्वाश्वलायन (२०।८७) में आया है—पर्वतश्च (स्य ?) महानद्या व्यवधानं भवेद्यदि। त्रिंशद्योजनदूरं वा सद्यः-स्नानेन शुध्यति।।

करने चाहिए, कुश या पलाश-दलों की आकृति बनानी चाहिए और उसे जलाना चाहिए तथा आशौच मनाकर श्राद्ध आदि करना चाहिए।

निष्कर्ष—मेधातिथि (मनु ५।५८) ने आशौचावधियों एवं उनसे प्रभावित लोगों के अन्तर को कई ढंग से समझाया है—(१) जनन एवं मरण के आशौच में बहुत से अन्तर हैं, (२) मरण के आशौच में बहुत से अन्तर हैं, यथा (क) गर्भ (गर्भस्राव, गर्भपात, यथा शंख १५।४ एवं बृहत्पराशर ६, पृ० १८६ में); (ख) जब ७वें या ९वें मास में भ्रूण निकल आये या शिशु मरा ही उत्पन्न हो या उत्पन्न होकर मर जाय (किन्तु दाँत निकलने के पूर्व, देखिए याज्ञ० ३।२३ एवं अत्रि ९५); (ग) दाँत निकलने किन्तु चूड़ाकरण के पूर्व या तीन वर्ष के पूर्व (विष्णु० २२।२९ एवं याज्ञ० ३।२३); (घ) चूड़ाकरण या तीन वर्षों के उपरान्त से उपनयन तक (मनु ५।६७); (ङ) उपनयन के उपरान्त (याज्ञ० ३।२३, मनु ५।५९ एवं गौतम० १४।१); (च) उपनयन के उपरान्त मृत्यु होने से आशौच की अवधि ब्राह्मणों के लिए पूर्व समय में वेदाध्ययन तथा श्रौत-कृत्यों पर आधारित थी जिसमें यह था कि ब्राह्मण शिलोञ्छ-वृत्ति पर रहता था (पराशर ३।५, शंख १।५, अत्रि ८३, अग्निपुराण १५८।१०-११); (छ) आशौचावधि जाति पर आधारित थी (गौतम १४।१-४, याज्ञ० ३।२२ आदि); (ज) आशौचावधि रक्त-सम्बन्ध की सन्निकटता पर आधारित थी, अर्थात् प्रभावित व्यक्ति सपिण्ड है या समानोदक (गौ० १४।१ एवं १८ तथा मनु ५।५९ एवं ६४); (झ) मृत्यु-स्थल की सन्निकटता एवं दूरी पर भी अवधि निर्भर थी (लघ्वाश्वलायन २०।८५ एवं ८९); (ञ) यह महानदी, पर्वत या ३० योजन दूरी के देशान्तर में हुई मृत्यु पर भी आधारित थी (लघ्वाश्वलायन, २०।८७); (ट) सम्बन्धी को सन्देश मिलने के काल के आधार पर भी आशौचावधि का निर्णय होता था; (ठ) पहले आशौच के समाप्त हो जाने के बाद दूसरे आशौच के हो जाने पर भी आशौचावधि का निर्णय निर्भर था।

जब कोई रात में जन्म लेता है या मर जाता है या इन घटनाओं के समाचार रात में प्राप्त होते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि किस दिन से आशौच की अवधि की गणना की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई सोमवार की मध्य रात्रि के बाद एक बजे मरे तो क्या सोमवार को दस दिनों की आशौचावधि के अन्तर्गत मानना चाहिए या उसे छोड़ देना चाहिए? इसके उत्तर में दो मत हैं।[१६] एक मत यह है कि आधी रात के पूर्व का काल पूर्व दिन का सूचक होता है और उसके पश्चात् आनेवाले दिन का माना जाता है। इस मत के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण में सोमवार को दस दिनों के अन्तर्गत नहीं गिना जायगा। दूसरा मत यह है कि रात्रि को तीन भागों में बाँटा जाता है, प्रथम दो भागों में मृत्यु होने से दिन की गणना हो जाती है, किन्तु तीसरे भाग में मृत्यु होने से दस दिनों की गणना आगे के दिन से आरम्भ होती है। इस मत से उपर्युक्त उदाहरण में सोमवार दस दिनों के अन्तर्गत परिगणित हो जायगा। धर्मसिन्धु (पृ० ४३५) के मत से इस विषय में लोकाचार का अनुसरण होना चाहिए। और देखिए मदनपारिजात (पृ० ३९४-३९५)।

स्मृतियों में उन सम्बन्धियों की आशौचावधियों के विषय में भी कतिपय नियम व्यवस्थित हैं, जो उच्च वर्णों

१६. रात्रौ जननमरणे रात्रौ मरणज्ञाने वा रात्रिं त्रिभागां कृत्वा प्रथमभागद्वये पूर्वदिनं तृतीयभागे उत्तरदिनमारभ्याशौचम्। यद्वार्धरात्रात् प्राक् पूर्वदिनं परतः परदिनम्। अत्र देशाचारादिना व्यवस्था। धर्मसिन्धु (पृ० ४३५)। ये मत पारस्कर एवं काश्यप के श्लोकों पर आधारित हैं; अर्धरात्रादधस्ताच्चेत्सूतके मृतके तथा। पूर्वमेव दिनं ग्राह्यमूर्ध्वं चेदुत्तरेऽहनि॥ रात्रिं कुर्यात् त्रिभागां तु द्वौ भागौ पूर्ववासरः। उत्तरांशः परदिनं जातेषु च मृतेषु च॥ पारस्कर० (स्मृतिच०, आशौच, पृ० ११८-११९)।

के होते हुए भी हीन वर्ण की नारियों से विवाह करते हैं (अनुलोम विवाह)। उदाहरणार्थ, दक्ष (६।१२) के मत से यदि कोई ब्राह्मण चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह करता है तो इन स्त्रियों के जनन एवं मरण पर आशौच क्रम से १०, ६, ३ एवं १ दिन का होता है। विष्णु० (२२।२२ एवं २४) ने व्यवस्था दी है कि यदि क्षत्रिय के वैश्य या शूद्र वर्णों के सपिण्ड हों तो उनके जनन एवं मरण पर आशौच क्रम से ६ या ३ दिनों का होता है, यदि वैश्य का शूद्र सपिण्ड हो तो अशुद्धि ६ दिनों के उपरान्त दूर हो जाती है। किन्तु जब निम्न वर्णों के सपिण्ड उच्च वर्णों के हों तो उनका आशौच उच्च वर्णों के जनन एवं मरण के आशौच के साथ समाप्त हो जाता है। यही व्यवस्था लघु-हारीत (८४=आपस्तम्ब-स्मृति ९।१३) में भी है। अन्य स्मृतियाँ एवं पुराण, यथा कूर्म० (उत्तरार्ध २३।३०-३६), विभिन्न मत देते हैं (हारलता पृ० ५४-६० एवं स्मृतिमुक्ताफल, पृ० ४९५-४९६)। मदनपारिजात (पृ० ४२५-४२६) के अनुसार कुछ लोगों का कथन है कि इन विभिन्न व्यवस्थाओं को छोड़ देना चाहिए, या इन्हें देशाचार के अनुसार उचित स्थान देना चाहिए या इन्हें इनसे प्रभावित व्यक्ति के गुणों एवं अवगुणों के आधार पर समझ-बूझ लेना चाहिए या इन्हें आपदों आदि के दिनों के अनुसार प्रयुक्त होने या न होने योग्य मान लेना चाहिए।

मिता० (याज्ञ० ३।२२) के मत से प्रतिलोम जातियों के लोगों की आशौचावधियाँ नहीं होतीं, वे लोग मल-मूत्र के त्यागोपरान्त किये जानेवाले शुद्धि-सम्बन्धी नियमों के समान ही शुद्धीकरण कर लेते हैं। स्मृतिमुक्ताफल (पृ० ४९५) आदि ग्रन्थ मनु (१०।४१) पर निर्भर रहते हुए कहते हैं कि प्रतिलोम जातियाँ शूद्र के समान हैं और वे शूद्रों के लिए व्यवस्थित आशौच का पालन करती हैं।[17] यही बात आदिपुराण को उद्धृत कर हारलता (पृ० १२) ने कही है। स्मृत्यर्थसार (पृ० ९२) का कहना है कि प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न लोगों को प्रायश्चित्त करने के उपरान्त आशौच करना चाहिए, किन्तु यदि वे प्रायश्चित्त नहीं करते तो उनके लिए आशौच नहीं होता।

हमने गत अध्याय में देख लिया है कि किस प्रकार शव को उठाना एवं उसे जलाना सपिण्डों का कर्तव्य है, और हमने यह भी देख लिया है कि प्राचीन काल में दरिद्र ब्राह्मण के शव को ढोना प्रशंसायुक्त कार्य समझा जाता रहा है (पराशर० ३।३९-४०)। किन्तु, जैसा कि मनु (५।१०१-१०२) ने कहा है, यदि कोई ब्राह्मण स्नेहवश किसी अस-पिण्ड का शव ढोता है, मानो वह बन्धु हो, या जब वह मातृबन्धु (यथा मामा या मौसी) का शव ढोता है तो वह तीन दिनों के उपरान्त शुद्ध हो जाता है; किन्तु यदि वह उनके घर भोजन करता है जिनके यहाँ कोई मर गया है, तो वह दस दिनों में पवित्र होता है; किन्तु यदि वह उनके घर में न रहता है और न वहाँ भोजन करता है तो वह एक दिन में शुद्ध हो जाता है (किन्तु भोजन न करने पर भी घर रह जाने से उसे तीन दिनों का आशौच करना पड़ता है)। देखिए कूर्मपुराण (उत्तरार्ध २३।३७) एवं विष्णु० (२२।७९)। गौतम० (१४।२१-२५) ने भी इस विषय में नियम दिये हैं, किन्तु वे भिन्न हैं, अर्थात् सपिण्डों द्वारा मनाये जानेवाले आशौच से वे भिन्न हैं, यथा—वह अस्पृश्य तो हो जाता है, किन्तु अन्य नियमों का पालन नहीं करता, यथा पृथिवी पर सोना आदि। यदि कोई लोभवश शव ढोता है तो इस विषय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के लिए १०, १२, १५ या ३० दिनों का आशौच करना पड़ता है। इसे **निर्हाराशौच** कहा जाता है; **निर्हार** शब्द के अन्तर्गत वस्त्र से शव को ढकना, मालाओं, गन्धों एवं भूषणों से शव को सजाना उसे ढोकर ले जाना एवं जलाना सम्मिलित हैं। जो सपिण्ड लोग किसी व्यक्ति की मृत्यु का आशौच

१७. प्रतिलोमानां त्वाशौचाभाव एव, प्रतिलोमा धर्महीनाः—इति मनुस्मरणात्। केवलं मृतौ प्रसवे च मलाप-कर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत् शौचं भवत्येव। मिता० (याज्ञ० ३।२२)। प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः (गौतम० ४।२०)। संकरजातीनां शूद्रेष्वन्तर्भावात्तेषां शूद्रवदाशौचम्। स्मृतिमु० (आशौच, पृ० ४९५)।

मनाते हैं वे उसके घर में बना हुआ भोजन कर सकते हैं, किन्तु वे लोग ऐसा नहीं कर सकते जो उस आशौच को नहीं मना रहे हैं।

गौतम० (१४।२९), मनु (५।१०३), याज्ञ० (३।२६) एवं पराशर (३।४२) ने व्यवस्था दी है कि किसी ब्राह्मण को किसी अन्य ब्राह्मण की शवयात्रा में नहीं सम्मिलित होना चाहिए, नहीं तो उसे स्नान करना पड़ेगा, अग्नि छूनी पड़ेगी और घृत पीना पड़ेगा, तब कहीं अशुद्धि से मुक्ति मिलेगी। पराशर (३।४३।४६) एवं कूर्म० (उत्तरार्ध २३।४५) के मत से यदि वह क्षत्रिय की शवयात्रा में जाये तो एक दिन का आशौच एवं पंचगव्य पीना पड़ेगा। इसी प्रकार वैश्य एवं शूद्र की शवयात्राओं में सम्मलित होने से दो दिनों का आशौच एवं छः प्राणायाम तथा तीन दिनों का आशौच, समुद्रगामी नदी में स्नान, १०० प्राणायाम करना एवं घृत पीना पड़ेगा। देखिए त्रिंशच्छ्लोकी (श्लोक १३)।

यदि ब्राह्मण किसी असपिण्ड के मरण में उसके घर जाय और उसके सम्बन्धियों के साथ रुदन करे तो उसे एक दिन का आशौच लगता है (किन्तु ऐसा अस्थिसंचयन के पूर्व जाने से होता है), यदि मृत क्षत्रिय या वैश्य हो तो स्नान भी करना पड़ता है, किन्तु यदि मृत शूद्र हो तो तीन दिनों का आशौच लगता है, किन्तु अस्थिसंचयन के उपरान्त जाने से केवल स्नान करना पड़ता है; किन्तु यदि मृत शूद्र हो तथा रुदन अस्थिसंचयन के पश्चात् मनाया गया हो तो आशौच केवल एक दिन एवं रात का होता है। और देखिए कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, २३।४६-४७), अग्निपुराण (१५८।४७-४८), परा० मा० (१।२, पृ० २८३-२८५), स्मृतिमुक्ताफल (आशौच, पृ० ५४३) एवं आशौचदशक (९)।

जनन-मरण से उत्पन्न आशौच वाले व्यक्ति इसी प्रकार के अन्य व्यक्ति को नहीं छू सकते। यदि वे ऐसा करते हैं तो उन्हें प्रायश्चित्त (प्राजापत्य या सान्तपन) करना पड़ता है।

यदि पत्नी पति को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति से अनैतिक शरीर-सम्बन्ध स्थापित कर ले और वह व्यक्ति पति की जाति या किसी उच्च जाति का हो तो स्त्री के मरने पर पति को एक दिन का आशौच होता है; किन्तु यदि उस पत्नी का सम्बन्ध किसी छोटी जाति के पुरुष के साथ हो गया हो तो उसके मरण पर आशौच नहीं करना पड़ता (याज्ञ० ३।६)। इसी प्रकार औरस को छोड़कर अन्य पुत्रों (क्षेत्रज आदि) की मृत्यु पर एक दिन का आशौच करना होता है। देखिए याज्ञ० (३।२५) एवं विष्णु० (२२।४२-४३)।

उपर्युक्त नियमों के कुछ अपवाद भी हैं, यथा आशौच-ग्रस्त व्यक्ति के घर का भोजन करने में; जब कि विवाहोत्सव में (चौल एवं उपनयन में भी), देवोत्सव एवं ज्योतिष्टोम जैसे यज्ञों में जनन एवं मरण से अशुद्धि आ जाय तो कर्ता द्वारा देवों एवं ब्राह्मणों को देने के लिए जो कुछ धन या पदार्थ अलग कर दिये गये हों उन्हें देवों एवं ब्राह्मणों को दे देने में कोई अपराध नहीं है। भोजन के विषय में मिता० (याज्ञ० ३।२७) ने एक स्मृति-वचन उद्धृत किया है—'यदि विवाहोत्सव, देवोत्सव या यज्ञ के समय जनन या मरण हो जाय तो बना हुआ भोजन आशौचहीन द्वारा दिया जाना चाहिए, और ऐसी स्थिति में दाता एवं भोजनकर्ता को कोई अपराध नहीं लगता।' अंगिरा, पैठीनसि (स्मृचि०, आशौच, पृ० ६०) एवं विष्णु० के मत से जब एक बार यज्ञ (सोमयज्ञ आदि), विवाह, पृथिवी माता या किसी देव का उत्सव, देवप्रतिष्ठा, मन्दिर-निर्माण आरम्भ हो जाता है तो बीच में आशौच हो जाने पर भी उसका प्रभाव नहीं होता। आजकल भी विवाह एवं उपनयन में इसी नियम का अनुसरण होता है। यज्ञ, विवाह आदि कब आरम्भ हुआ माना जाता है, इस विषय में लघु-विष्णु का यों कहना है—यज्ञ पुरोहितों के वरण के उपरान्त आरम्भ हुआ माना जाता है, व्रत एवं जप में सामग्री संचय आरम्भ का द्योतक है, विवाह में नान्दीश्राद्ध तथा श्राद्ध में ब्राह्मणों के लिए भोजन बन जाना उनका आरम्भ हो गया मान लिया जाता है। आशौच में लगे हुए व्यक्ति के घर से जब कि वह गृहस्वामी होता है, कुछ वस्तुएँ ली जा

सकती हैं (किन्तु उसके हाथ से नहीं ; उसकी अनुमति से)। कूर्मपुराण के मत से वे वस्तुएँ ये हैं—फल, पुष्प, कच्चे शाक, लवण, ईंधन, तक्र (मट्ठा), दही, घी, तेल, दवा, दूध एवं सूखा भोजन (लड्डू, लावा आदि)। मरीचि (मिता०, याज्ञ० ३।१७) एवं त्रिंशच्छ्लोकी (२०) ने इन वस्तुओं की लम्बी सूची दी है।

कुछ स्मृतियों एवं टीकाकारों ने स्वामी की आशौचावस्था में दासों के आशौच के नियम भी दिये हैं। देखिए विष्णु० (२२।१९), देवलस्मृति (६), बृहस्पति (हरदत्त, गौतम० १४।४)। दास-प्रथा बहुत पहले ही समाप्त कर दी गयी, अतः इसका विवेचन नहीं होगा।

आशौचसन्निपात या आशौचसम्पात (आशौच करते हुए व्यक्ति के यहाँ अन्य आशौच की जानकारी की पहुँच)। इस विषय के नियम बहुत प्राचीन हैं और सुविधा एवं साधारण ज्ञान पर निर्भर रहते हैं; ये ऐसे नहीं हैं कि व्यक्ति को दोनों आशौचों को अलग-अलग करने की व्यवस्था दें। गौतम० (१४।५) का कथन है कि ऐसी स्थिति में प्रथम आचौच की समाप्ति पर ही दूसरे आशौच से शुद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके आगे के दो सूत्रों का कथन है कि यदि दूसरा आशौच प्रथम आशौच की अन्तिम रात्रि में आ पड़ता है तो प्रथम की समाप्ति के दो दिनों के पश्चात् शुद्धि हो जाती है, किन्तु यदि दूसरे का समाचार प्रथम के अन्तिम दिन की रात्रि के अन्तिम प्रहर में पहुँचता है तो प्रथम की समाप्ति के तीन दिनों के पश्चात् शुद्धि प्राप्त हो जाती है। यही बात बौधा० ध० सू० (१।५।१२३) में पायी जाती है। और देखिए गौतम (१४।५-६), मनु (५।७९), याज्ञ० (३।२०), विष्णु० (२२।३५-३८), शंख (१५।१०), पराशर (३।२८), जहाँ गौतम (१४।५) के ही नियम लागू किये गये हैं।

इस आशौच से सम्बन्धित कुछ सामान्य नियमों का वर्णन आवश्यक है। जनन एवं मरण के आशौचों में मरण के आशौच के नियम अपेक्षाकृत कठिन हैं। दूसरा नियम यह है—जब दो आशौच समान प्रकार के हों और दूसरा समान अवधि का या कम अवधि का हो तो व्यक्ति प्रथम की समाप्ति पर दूसरे से भी मुक्त हो जाता है, किन्तु यदि दूसरा समान आशौच अधिक अवधि का हो तो शुद्धि अधिक लम्बे आशौच के उपरान्त ही प्राप्त होती है। यह ज्ञातव्य है कि जनन एवं मरण से आशौच तभी उत्पन्न होता है जब कि वे व्यक्ति को ज्ञात हों।

इस विषय में मिताक्षरा, गौड़ों एवं मैथिलों के सम्प्रदायों में मतैक्य नहीं है (देखिए शुद्धिप्रकाश, पृ० ७४-८२, निर्णयसिन्धु, पृ० ५३६-५४०)। जब अन्य आशौच आ पड़ता है तो निर्णयसिन्धु के अनुसार बारह विकल्प सम्भव दीखते हैं, जिन्हें हम यों लिखते हैं—"(१ एवं २) यदि दोनों आशौच जनन के हैं और दूसरा पहले की अवधि के बराबर या कम है तो प्रथम की समाप्ति पर दूसरे से शुद्धि हो जाती है (विष्णु० २२।३५, शंख १५।७०); (३) यदि दोनों जनन से उत्पन्न हों और दूसरा अपेक्षाकृत लम्बी अवधि का हो तो दूसरे आशौच की समाप्ति पर शुद्धि प्राप्त होती है (शंख १५।१० एवं षडशीति १९); (४ एवं ५) यदि दोनों मरण से जनित हों और दूसरा पहले के समान या कम अवधि का हो तो पहले की समाप्ति पर शुद्धता प्राप्त होती है; (६) यदि दोनों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा लम्बी अवधि का हो तो दूसरे की समाप्ति पर शुद्धि हो जाती है (षडशीति २१); (७, ८ एवं ९) यदि पहला आशौच जनन से उत्पन्न हो और दूसरा मरण से, तो मरण वाला पूरी अवधि तक चलता है (अर्थात् प्रथम की समाप्ति पर ही शुद्धि नहीं हो जाती) चाहे मरण वाला कम अवधि का हो या समानावधि का हो या अधिकावधि का हो (षडशीति १८); (१० एवं ११) यदि प्रथम मरणोत्पन्न हो और बीच में आ पड़नेवाला जनन-प्राप्त हो और मरणोत्पन्न वाले से कम अवधि का हो तो दोनों का अन्त मरणोत्पन्न आशौच की परिसमाप्ति पर होता है (षडशीति २१); (१२) यदि प्रथम आशौच मरण-जनित हो और दूसरा आ जानेवाला जनन-जनित एवं लम्बी अवधि का हो तो दोनों उचित अवधि तक चलते जाते हैं" (षडशीति २१)।

धर्मसिन्धु (पृ० ४३६) सामान्यतः निर्णयसिन्धु का अनुसरण करता है, किन्तु उसका कथन है—"मरण

का आशौच जनन के आशौच द्वारा, चाहे वह समानावधि का हो चाहे कम का, दूर नहीं किया जा सकता; मरणोत्पन्न एक पक्षिणी का आशौच तीन दिनों या दस दिनों वाले जननोत्पन्न आशौच को काट नहीं सकता और जनन-जनित दस दिनों का आशौच मरण-जनित तीन दिनों के आशौच को नहीं दूर कर सकता।" यही बहुत से लेखकों का मत है। एक लेखक का कथन है कि जननोत्पन्न आशौच, यद्यपि वह अपेक्षाकृत लम्बी अवधि का हो, मरणोत्पन्न कम अवधि वाले आशौच से दूर नहीं हो सकता।

मिता० (याज्ञ० ३।२०, पूर्वार्ध) ने उपर्युक्त आशौच-सन्निपात के विषय में एक अपवाद दिया है। यदि किसी की माता मर जाय और आशौचावधि के समाप्त न होने पर ही यदि उसका पिता भी मर जाय तो ऐसा नहीं होता कि माता के मरण से उत्पन्न आशौच के साथ ही पिता के मरण का आशौच समाप्त हो जाय; प्रत्युत पुत्र को पिता के मरण-जनित आशौच की पूरी अवधि बितानी पड़ती है। इसी प्रकार यदि पिता पहले मर जाय तो इस आशौचावधि में माता के भी मर जाने से उत्पन्न आशौच पिता की मृत्यु से जनित आशौच के साथ ही सामाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत पिता की मृत्यु से उत्पन्न आशौच कर लेने के उपरान्त माता के लिए एक पक्षिणी का अतिरिक्त आशौच करना पड़ता है। ज्ञातव्य है कि अपरार्क ने उपर्युक्त उक्ति को दूसरे ढंग से समझा है, उनका कथन है कि यदि पिता माता के मरण से उत्पन्न आशौचावधि में मर जाता है तो सामान्य नियम प्रयुक्त होता है, यथा—माता के लिए किये गये आशौच की समाप्ति पर ही शुद्धि प्राप्त हो जाती है।

यदि कोई मरण-जनित आशौच मनाया जा रहा हो और इसी बीच में जनन-जनित आशौच हो जाय तो उत्पन्न पुत्र का पिता जातकर्म आदि करने के योग्य रहता है, क्योंकि प्रजापति (मिता०, याज्ञ० ३।२०; मदनपारिजात, पृ० ४३९) के मत से वह उस अवसर पर शुद्ध हो ही जाता है।

षडशीति (२२) ने व्यवस्था दी है कि वाद में आनेवाले जनन या मरण-उत्पन्न आशौचों में प्रथम आशौच की समाप्ति के विषय में जो नियम है उसमें तीन अपवाद हैं, यथा—बच्चा जननेवाली नारी, जो व्यक्ति वास्तव में शव जलाता है और मृत के पुत्र; अर्थात् **सूतिका** को अस्पृश्यता की अवधि बितानी ही पड़ती है, जो शव जलाता है उसे दस दिनों का आशौच करना ही पड़ता है, भले ही जनन या शवदाह मृत्यूत्पन्न अन्य आशौच के बीच ही में क्यों न किये गये हों।

सद्यःशौच (उसी दिन शुद्धि)—हमने पहले ही देख लिया है कि जनन-मरणजनित आशौच दक्ष (६।२) के अनुसार दस प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रथम दो के नाम हैं **सद्यःशौच** एवं **एकाह**। 'एकाह' का अर्थ है दिन एवं रात दोनों। 'सद्यः' का सामान्य अर्थ है 'उसी या इसी समय या तत्क्षण या तात्कालिक या शीघ्र आदि।'[१८] किन्तु जब याज्ञ० (३।२९), पराशर (३।१०), अत्रि (९७) तथा अन्य स्मृतियाँ 'सद्यःशौच' शब्द का प्रयोग करती हैं तो वहाँ उसका अर्थ है—'पूरे दिन या तीन दिनों या दस दिनों तक आशौच नहीं रहता, प्रत्युत स्नान करने तक या दिन-समाप्ति तक या रात के अन्त तक या उस दिन तक, जिस दिन घटना घटित होती है, रहता है। याज्ञ० (३।२३ 'आ दन्तजन्मनः सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता') से प्रतीत होता है कि 'सद्यः' का अर्थ है एक दिन का भाग या एक रात का भाग (जैसा विषय हो) एवं 'नैशिकी' का अर्थ है 'पूरा दिन एवं रात।'[१९] शुद्धितत्त्व (पृ० ३४०-३-४१) ने व्याख्या की है कि 'सद्यः' का अर्थ है

१८. पाणिनि (५।३।२२)। इस सूत्र का वार्तिक है—'समानस्य सभावो द्यस् चाहनि', महाभाष्य ने इसे 'समानेऽहनि सद्यः' समझाया है।

१९. अत्राशौचप्रकरणे अहर्ग्रहणं रात्रिग्रहणं चाहोरात्रोपलक्षणार्थम्। मिता० (याज्ञ० ३।१८)।

'दिन या रात का एक अंश' और इसके समर्थन में कई ग्रन्थों से प्रमाण दिये हैं।[20] शुद्धिप्रकाश (पृ० ९२) ने व्याख्या की है कि 'सद्यःशौच' कुछ संदर्भों में 'अशौच के अभाव' का द्योतक है, अन्य सन्दर्भों में यह 'स्नान' का अर्थ रखता है और उन लोगों के सम्बन्ध में, जो युद्ध आदि में वीर-गति को प्राप्त हो गये हैं (जिन्हें पिण्डदान करना होता है), इसका अर्थ है 'एक दिन या रात का एक अंश।' स्मृतिमुक्ताफल (आशौच, पृ० ४८१) का कथन है कि 'सद्यःशौच' का अर्थ है वह अशौच जो स्नान के उपरान्त समाप्त हो जाता है।[21] आदिपुराण में आया है कि जिनके लिए सद्यःशौच होता है उन्हें पिण्ड भी दिया जाता है।[22] शुद्धिकौमुदी (पृ० ७३) ने सद्यःशौच के दो अर्थ दिये हैं; (१) अशौच का पूर्ण अभाव, यथा—यज्ञिय (यज्ञ वाले) पुरोहितों आदि के विषय में (याज्ञ० ३।२८) तथा (२) वह अशौच जो स्नान से दूर हो जाता है (मनु ५।७६)।

आशौच के नियम पाँच प्रकार के विषयों में अधिक अवधि तक नहीं लागू होते, यथा—(१) कुछ व्यक्ति सर्वथा मुक्त होते हैं, (२) कुछ लोगों के, जो साधारणतः अस्पृश्य माने जा सकते हैं, कर्म बिना अशुद्धि के चलने दिये जाते हैं, (३) ऐसे लोगों से, जो आशौच में रहते हैं, कुछ वस्तुएँ बिना किसी अशुद्धि-भय के ली जा सकती हैं, (४) कुछ अपराधियों की मृत्यु पर आशौच नहीं मनाया जाता तथा (५) कुछ लोगों के विषयों में ऐसे स्मृति-वचन हैं कि उनके लिए आशौच मनाना आवश्यक नहीं है। इन पाँचों के विषय में हम क्रम से वर्णन करेंगे। मुख्य-मुख्य ग्रन्थों में ये पाँचों विषय मिश्रित रूप में उल्लिखित हैं। विष्णुपुराण (३।१३।७) में ऐसी व्यवस्था है कि शिशु की मृत्यु पर, या देशान्तर में किसी की मृत्यु पर, या पतित या यति (संन्यासी) की मृत्यु पर, या जल, अग्नि या फाँसी लटकाकर मर जानेवाले आत्मघातक की मृत्यु पर सद्यःशौच होता है। और देखिए गौतम (१४।११ एवं ४२) तथा वामनपुराण (१४।९९)।

याज्ञ० (३।२८-२९) के मत से यज्ञ के लिए वरण किये गये पुरोहितों को, जब उन्हें मधुपर्क दिया जा चुका हो, जनन या मरण की स्थिति में, सद्यःशौच (स्नान द्वारा शुद्धि) करना पड़ता है। यही बात उन लोगों के लिए भी है जो **सोमयाग** जैसे वैदिक यज्ञों के लिए दीक्षित हो चुके हैं, जो किसी दानगृह में भोजन-दान करते रहते हैं, जो चान्द्रायण जैसे व्रत या स्नातकधर्म-पालन में लगे रहते हैं, जो ब्रह्मचारी (आश्रम के कर्तव्यों में संलग्न) हैं, जो प्रति दिन गौ, सोने आदि के दान में लगे रहते हैं (दान के समय), जो ब्रह्मज्ञानी (संन्यासी) हैं, दान देते समय, विवाह, वैदिक यज्ञों,

२०. अत्र सद्यःपदमहोरात्रार्धपरम्।....द्वे सन्ध्ये सद्य इत्याहुस्त्रिसन्ध्यैकाह्निकः स्मृतः। द्वेऽहनी एकरात्रिश्च पक्षिणीत्यभिधीयते।। इति भट्टनारायणवचनात्। द्वे सन्ध्ये सद्य इत्याहुस्त्रिसन्ध्यैकाह उच्यते। दिनद्वयैकरात्रिस्तु पक्षिणीत्यभिधीयते।। इति नव्यवर्धमानधृतवचनाच्च। सद्य एकाहेनाशौचमिति पारिजाते, सद्य एकाहेनेति स्मृतिसारे, एकमहः सद्य इति शुद्धिपञ्ज्यां दर्शनाच्चेति। तच्चार्धं दिनमात्रं रात्रिमात्रं च। एतदेव क्वचित् सज्योतिःपदेन व्यपदिश्यते। शुद्धितत्त्व (पृ० ३४०-३४१)। शुद्धिप्रकाश (पृ० ९३) का कथन है कि 'द्वे सन्ध्ये सद्य' आदि नारायणभट्ट के गोभिलभाष्य में पाया जाता है।

२१. सद्यः शौचं नाम स्नानान्तमघम्। सद्यः शौचं तु तावत्स्यादाशौचं संस्थितस्य तु। यावत्स्नानं न कुर्वन्ति सचैलं बान्धवा बहिः।। इत्यंगिरःस्मरणात्। स्मृतिमु० (पृ० ४८१)।

२२. दिवसे दिवसे पिण्डो देय एवं क्रमेण तु। सद्यःशौचेपि दातव्याः सर्वेपि युगपत्तथा।। आदिपुराण (हारलता, पृ० १६५)। त्रिंशच्छ्लोकी (२८) की व्याख्या में रघुनाथ ने इसके अन्तिम पाद को ब्रह्मपुराण से उद्धृत किया है। ऐसा लगता है कि ब्रह्मपुराण, जो बहुत-से ग्रन्थों में १८ पुराणों में सर्वप्रथम वर्णित है, आदिपुराण भी कहा जाता था।

युद्ध (उनके लिए जो अभी युद्धभूमि में जानेवाले हैं), (आक्रमण के कारण) देश में विप्लव के समय तथा दुर्भिक्ष या आपत्काल में (जब कि प्राणरक्षा के लिए कोई कहीं भी भोजन ग्रहण कर सकता है) सद्यःशौच होता है। गौतम० (१४।४३-४४) का कथन है कि राजाओं (नहीं तो उनके कर्तव्यों में बाधा पड़ेगी) एवं ब्राह्मणों (नहीं तो उनके शिक्षण-कार्य अवरुद्ध हो जायँगे) के लिए सद्यःशौच होता है। यही बात शंख-लिखित (राजा धर्म्यायितनं सर्वेषां तस्मादनवरुद्धः प्रेतप्रसवदोषैः) ने भी कही है (शुद्धिकल्पतरु, पृ० ६२)। मनु (५।९३) में ऐसा आया है[23] कि राजाओं, व्रतों एवं सत्रों (गवामयन आदि) में संलग्न लोगों को आशौच का दोष नहीं लगता, क्योंकि राजा इन्द्र का स्थान ग्रहण करता है और वे ब्रह्म के (जो सभी दोषों से मुक्त है) समान हैं। मनु (५।९४) आगे कहते हैं कि 'सद्यःशौच राजा की उस स्थिति के लिए व्यवस्थित है जो (पूर्व जन्मों के) सद्‌गुणों से प्राप्त होती है, और प्रजा की परिरक्षा करने के कारण प्राप्त होती है, अतः इस नियम की व्यवस्था उसकी इस स्थिति के कारण ही है।' इसी प्रकार, गोभिलस्मृति (३।६४-६५, जिसे कात्यायन ने छन्दोगपरिशिष्ट के रूप में उद्धृत किया है) का कथन है कि सूतक में ब्रह्मचारी को अपने विशिष्ट कर्म (वेदाध्ययन एवं व्रत) नहीं छोड़ने चाहिए, दीक्षित होने पर यजमान को यज्ञ-कर्म नहीं छोड़ना चाहिए, प्रायश्चित्त करने वाले को कृच्छ्र आदि नहीं त्यागना चाहिए; ऐसे लोग पिता-माता के मरने पर भी अशुद्धि को प्राप्त नहीं होते।[24] कूर्म-पुराण (उत्तरार्ध, पृ० २३।६१) का कथन है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी (जो जीवन भर वेदाध्ययन करते रहते हैं और गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट नहीं होते) एवं अन्य ब्रह्मचारी तथा यति (संन्यासी) के विषय में मृत्यु पर आशौच नहीं होता (देखिए हारलता, पृ० ११४; परा० मा० १।२, पृ० २५४; निर्णयसिन्धु, पृ० ५४३; लिंगपुराण, पूर्वार्ध ८९।७७ एवं अत्रि ९७-९८)। मिता० (याज्ञ० ३।२८) का कथन है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास के आश्रमों के विषय में किसी भी समय या किसी भी विषय में आशौच नहीं लगता; संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों को माता-पिता की मृत्यु पर वस्त्रसहित स्नान मात्र कर लेना चाहिए (धर्मसिन्धु, पृ० ४४२)। उन लोगों के विषय में, जो लगातार दान-कर्म में संलग्न रहते हैं या व्रतादि करते रहते हैं, केवल तभी आशौच नहीं लगता जब कि वे उन विशिष्ट कृत्यों में लगे रहते हैं, किन्तु जब वे अन्य कर्मों में व्यस्त रहते हैं या अन्य लोगों के साथ दैनिक कर्म में संयुत रहते हैं तब आशौच से मुक्ति नहीं मिलती।[25] ऐसे ही नियम पराशर, (३।२१-२२) में भी पाये जाते हैं। मनु (५।९१) का उल्लेख करते हुए

२३. न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्। ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा॥ राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते। प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम्॥ मनु (५।९३)। पहला श्लोक वसिष्ठ (१९। ४८) में भी पाया जाता है जिसे उसने यम का कहा है (फर्हरर का संस्करण अशुद्ध है, उसे 'नाघदोषोऽस्ति' के रूप में शुद्ध कर देना चाहिए)। यही व्यवस्था है जिसके अनुसार राजा (चाहे क्षत्रिय या ब्राह्मण या शूद्र) आशौच से मुक्त है। विष्णुधर्मसूत्र (२२।४७-५२) ने यह कहते हुए कि 'जब राजा राजा के सदृश अपने कर्तव्यों को करते रहते हैं, तो वे आशौच से मुक्त रहते हैं', आशौच पर रुकावट लगायी है—'न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे न कारूणां स्वकर्मणि न राजाज्ञाकारिणां तदिच्छया।'

२४. न त्यजेत्सूतके कर्म ब्रह्मचारी स्वकं क्वचित्। न दीक्षणात्परं यज्ञे न कृच्छ्रादि तपश्चरन्॥ पितर्यपि मृते नैषां दोषो भवति कर्हिचित्। गोभिलस्मृति (३।६४-६५; हारलता, पृ० १७; अपरार्क, पृ० ९१९ एवं शुद्धिकल्प० पृ० ६४)।

२५. सत्रिणां व्रतिनां सत्रे व्रते च शुद्धिर्न कर्ममात्रे संव्यवहारे वा।....ब्रह्मविशतिः। एतेषां च त्रयाणामाश्रमिणां सर्वत्र शुद्धिः। विशेषे प्रमाणाभावात्। मिता० (याज्ञ० ३।२८)।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रह्मचारी अपने पिता, माता, उपाध्याय, आचार्य एवं गुरु; पाँच व्यक्तियों को छोड़कर किसी अन्य की अन्त्येष्टि-क्रियाएँ (शव ढोना, जलाना आदि) नहीं कर सकता। वह अपने माता-पिता की अन्त्येष्टि करने एवं जल-पिण्ड आदि देने में आशौच से आबद्ध नहीं होता। किन्तु यदि वह उपर्युक्त पाँच व्यक्तियों को छोड़कर किसी अन्य के लिए वैसा करता है तो उसे दस दिनों का आशौच एवं प्रायश्चित्त करना पड़ता है और पुनः उपनयन संस्कार करना होता है। ब्राह्मण को समावर्तन (वैदिक शिक्षक के यहाँ से लौटने) के पश्चात् उन सभी लोगों के लिए, जो उसके विद्यार्थी-जीवन में मृत हुए थे, तीन दिनों का आशौच करना पड़ता था (मनु ५।८८ एवं विष्णु-धर्म० २२।८७)। गौतम (१४।४२-४४) का कथन है कि सामान्यतः (दाँत निकलने एवं चूड़ाकरण के पूर्व) शिशुओं, देशान्तरगत लोगों, संन्यासियों, असपिण्डों की मृत्यु पर सम्बन्धी स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं।[२६] शुद्धिप्रकाश (पृ० ९३) का कथन है कि यद्यपि पुरोहित के लिए आशौच नहीं है, जैसा कि याज्ञ० (३।२८) ने कहा है, तथापि यज्ञिय पुरोहित एवं दीक्षित को सपिण्ड की मृत्यु पर स्नान करना पड़ता है। ब्रह्मचारी को भी अपने पिता या माता की शवयात्रा में भाग लेने पर स्नान करना पड़ता है, किन्तु संन्यासी को स्नान भी नहीं करना पड़ता (और उसके समय में ऐसी ही परम्परा भी थी)।

दूसरे प्रकार के अपवाद ऐसे विषयों से सम्बन्धित हैं जिनमें व्यक्ति आशौच में रहने पर भी कुछ ऐसे कर्म कर सकते हैं जिनसे उनको आशौच नहीं लग सकता, जिनके साथ वे व्यवहार में या सम्पर्क में आते हैं। उदाहरणार्थ, पराशर (३।२०-२१) का कथन है कि—शिल्पी (यथा चित्रकार या धोबी या रंगसाज), कारुक (नौकर-चाकर, यथा रसोइया आदि), वैद्य, दास-दासी, नाई, राजा एवं श्रोत्रिय सद्यःशौच घोषित हैं; इसी प्रकार व्रत (चान्द्रायण आदि) करने वाले, सत्र (गवामयन आदि) में लगे रहने के कारण पवित्र हो गये लोग, वह ब्राह्मण जो आहिताग्नि (श्रौताग्नियों को प्रतिष्ठित करनेवाला) है, सद्यःशौच करते हैं; राजा भी आशौच नहीं करता, और वह भी (यथा राजा का पुरोहित) जिसे राजा अपने काम के लिए वैसा नहीं करने देना चाहता।[२७] आदिपुराण ने तर्क उपस्थित किया है कि शिल्पी, वैद्य आदि आशौच से क्यों निवृत्त हैं (जब कि उन्हें अपने विशिष्ट कार्य करने की छूट दी हुई है); ये व्यक्ति जो कार्य करते हैं उन्हें अन्य कोई नहीं कर सकता, कम-से-कम उतना अच्छा एवं शीघ्रता से नहीं कर सकता।[२८] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शिल्पी, वैद्य आदि के विषय में आशौचाभाव तभी होता है जब कि वे अपने व्यवसाय आदि में

२६. बालदेशान्तरितप्रव्रजितासपिण्डानां सद्यःशौचम्। राज्ञां कार्यविरोधात्। ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम्। गौ० (१४।४२-४४)। पराशर (३।१०) एवं वामनपुराण (१४।९९-१००) में उपर्युक्त प्रथम सूत्र के शब्द श्लोक रूप में वर्णित हैं।

२७. शिल्पिनः कारुका वैद्या दासीदासाश्च नापिताः। राजानः श्रोत्रियाश्चैव सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताः॥ सव्रतः सत्रपूतश्च आहिताग्निश्च यो द्विजः। राज्ञश्च सूतकं नास्ति यस्य चेच्छति पार्थिवः॥ पराशर (३।२०-२१)।

२८. तथा चादिपुराणे। शिल्पिनश्चित्रकाराद्याः कर्म यत्साधयन्त्यलम्। तत्कर्म नान्यो जानाति तस्माच्छुद्धाः स्वकर्मणि॥ सूपकारेण यत्कर्म करणीयं नरेष्विह। तदन्यो नैव जानाति तस्माच्छुद्धः स सूपकृत्॥ चिकित्सको यत्कुरुते तदन्येन न शक्यते। तस्माच्चिकित्सकः स्पर्शे शुद्धो भवति नित्यशः॥ दास्यो दासाश्च यत्किंचित् कुर्वन्त्यपि च लीलया। तदन्यो न क्षमः कर्तुं तस्मात्ते शुचयः सदा॥ राजा करोति यत्कर्म स्वप्नेप्यन्यस्य तत्कथम्। एवं सति नृपः शुद्धः संस्पर्शे मृतसूतके॥ यत्कर्म राजभृत्यानां हस्त्यश्वगमनादिकम्। तन्नास्ति यस्मादन्यस्य तस्मात्ते शुचयः स्मृताः॥ पराशर-माधवीय (१।२, पृ० २५५-२५६)।

संलग्न रहते हैं, ऐसा नहीं है कि वे अन्य धार्मिक कृत्यों, श्राद्ध एवं दानादि कर्मों में लगे रहने पर भी ऐसी छूट पाते हैं (शुद्धिप्रकाश, पृ० ९५)। विष्णुधर्म० (२२।४८-५२) ने भी ऐसा ही कहा है। त्रिशच्छ्लोकी (१८) ने ऐसे विशिष्ट कर्मों की एक लम्बी सूची दी है।[२९] कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, २३।५७-६४) में इस विषय पर नौ श्लोक हैं, जिन्हें हारलता (पृ० ११४) ने उद्धृत किया है।

हमने बहुत पहले देख लिया है (गत अध्याय में) कि पारस्करगृह्यसूत्र (३।१० 'नित्यानि विनिवर्तन्ते वैतानवर्जम्'), मनु (५।८४) एवं याज्ञ० (३।१७) ने व्यवस्था दी है कि उन लोगों को भी, जो मृत्यु के आशौच से युक्त हैं, श्रौताग्नियों के कृत्य नहीं बन्द करने चाहिए, प्रत्युत उन्हें स्वयं करते रहना चाहिए या किसी अन्य से कराते रहना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि आशौच की स्थिति में भी कुछ धार्मिक कृत्य करने की अनुमति मिलती है।

धर्मसिन्धु (पृ० ५५२) का कथन है कि जब कोई अन्य विकल्प न हो या आपत्ति-काल हो तभी इस प्रकार के अपवाद का उपयोग करना चाहिए।

यह पहले ही उल्लिखित हो चुका है कि आशौच में प्रवृत्त लोगों से भी कुछ पदार्थ एवं सामग्रियाँ बिना किसी अशुद्धि के ग्रहण की जा सकती हैं। यह उन विषयों का, जो आशौच के नियमों की परिधि के बाहर हैं अर्थात् अपवाद हैं, तीसरा प्रकार है।

आशौच की परिधि में न आनेवाले विषयों के चौथे प्रकार में ऐसे व्यक्ति आते हैं जो किसी दोष के अपराधी हैं या जो कलंकी होते हैं। गौतम (१४।११) एवं शंख-लिखित ने व्यवस्था दी है कि उनके लिए सद्यःशौच होता है जो आत्महन्ता होते हैं और अपने प्राण महायात्रा (हिमालय आदि में जाकर), उपवास, कृपाण जैसे अस्त्रों, अग्नि, विष या जल से या फाँसी पर लटक जाने से, (रस्सी से झूलकर) या प्रपात से गवाँ देते हैं।[३०]

याज्ञ० (३।६) ने व्यवस्था दी है कि वे स्त्रियाँ, जो पाषण्ड-धर्मावलम्बी अथवा विधर्मी हो गयी हैं, जो किसी विशिष्ट आश्रम में नहीं रहतीं, जो (सोने आदि की) चोरी करती हैं, जो पतिघ्नी होती हैं, जो व्यभिचारिणी होती हैं, जो मद्य पीती हैं, जो आत्महत्या करने का प्रयत्न करती हैं, वे मरने पर जल-तर्पण के अयोग्य होती हैं और उनके लिए आशौच नहीं किया जाता। जहाँ तक सम्भव है, यह श्लोक पुरुषों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यही बात मनु (५।८०-९०) में भी पायी जाती है। कूर्मपुराण (उत्तरार्ध, २२।६०-६३) ने भी कहा है कि उसके लिए, जो अपने को अग्नि, विष आदि से मार डालता है, न तो आशौच होता है, न शवदाह होता है और न जल-तर्पण होता है; पतितों का शवदाह नहीं होता, उनके लिए अन्त्येष्टि, अस्थिसंचयन, रुदन, पिण्डदान एवं श्राद्ध आदि नहीं करना चाहिए।[३१]

२९. तत्तत्कार्येषु सत्रिव्रतिनृपनृपवद्दीक्षितर्त्विक्स्वदेश-भ्रंशापत्स्वप्यनेकश्रुतिपठनभिषक्कारुशिल्प्यातुराणाम्। संप्रारब्धेषु दानोपनयनयजनश्राद्धयुद्धप्रतिष्ठा-चूडातीर्थयात्राजपपरिणयनाद्युत्सवेष्वेतदर्थे॥ त्रिंशच्छ्लोकी (१८)। नृपवत् का अर्थ है नृपसेवक।

३०. प्रायाग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम्। अथ शस्त्रानाशकाग्नि-रज्जु-भृगु-जल-विष-प्रमापणेष्वेवमेव। शंखलिखितौ (हारलता, पृ० ११३); भृग्वग्निपाशकाम्भोभिर्मृतानामात्मघातिनाम्। पतितानां तु नाशौचं विद्यु-च्छस्त्रहताश्च ये॥ अग्निपुराण (१५७।३२)। और देखिए वामनपुराण (१४।९९-१००)।

३१. पतितानां न दाहः। अग्निपुराण (१५९।२-४) का कथन है कि 'आत्मनस्त्यागिनां नास्ति पतितानां तथा क्रिया। तेषामपि तथा गांगे तोयेऽस्थ्नां पतनं हितम्॥ तेषां दत्तं जलं चान्नं गगने तत्प्रलीयते। अनुग्रहेण महता प्रेतस्य पतितस्य च। नारायणबलिः कार्यस्तेनानुग्रहमश्नुते॥'

मिता० (याज्ञ० ३।६) ने व्यवस्था दी है कि 'यदि चाण्डाल से लड़ते हुए दुष्ट प्रकृति वाले मनुष्यों की मृत्यु हो जाय या जल, सर्प, ब्राह्मण, बिजली या तीक्ष्ण दन्त वाले पशुओं (व्याघ्रादि) द्वारा मृत्यु हो जाय और उन्हें (जो इस प्रकार जान-बूझकर प्राण गँवाते हैं) जल-पिण्ड आदि दिये जायँ तो वे (जल, पिण्ड) उनके पास नहीं पहुँचते और अन्तरिक्ष में ही नष्ट हो जाते हैं।' ये शब्द उस मृत्यु से सम्बन्धित हैं जो व्याघ्र, सर्प आदि के साथ क्रोधपूर्वक लड़ने से होती है या क्रोधवश या चिन्ताकुल होने पर जल आदि द्वारा आत्महत्या से होती है। किन्तु कोई असावधानी या प्रमाद के कारण या जल द्वारा मर जाय तो अंगिरा ने उसके लिए जल-तर्पण एवं आशौच की व्यवस्था दी है।[32] यही बात ब्रह्मपुराण (हरदत्त, गौतम १४।११), शुद्धिप्रकाश (पृ० ५६-५७), निर्णयसिन्धु (पृ० ५५०) में भी कही गयी है और इतना जोड़ दिया गया है कि यदि कोई पतितों को अनुग्रहवश जल या श्राद्ध देता है या उनका शवदाह करता है तो उसे प्रायश्चित्त (यथा दो तप्तकृच्छ्र) करना पड़ता है।

यदि कोई आहिताग्नि युद्ध करते हुए चाण्डालों के हाथ से मर जाय, या आत्महत्या कर ले तो उसका शव शूद्रों द्वारा जलाया जाना चाहिए, किन्तु मन्त्रों का उच्चारण नहीं होना चाहिए, और गोभिलस्मृति (३।४९-५१) में आया है कि उसके यज्ञपात्र एवं श्रौताग्नियाँ समाप्त कर दी जानी चाहिए। यद्यपि आत्महत्या सामान्यतः वर्जित थी, किन्तु स्मृतियों (यथा अत्रि २१८-२१९) एवं पुराणों ने कुछ अपवाद दिये हैं, यथा—अत्यधिक बूढ़े लोग (लगभग ७० वर्ष के), अत्यधिक दुर्बल लोग जो अपने शरीर को शुद्ध रखने के नियमों का पालन न कर सकें, या वे लोग जो इन्द्रिय-भोग की इच्छा से हीन हों, या वे लोग जो सारे कार्य एवं कर्तव्य कर चुके हों, महाप्रस्थान कर सकते हैं या प्रयाग में मर सकते हैं। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २७। यदि कोई शास्त्रानुमोदित ढंग से अपने को मार डालता है तो यह पाप नहीं कहा जा सकता और उसके लिए आशौच, जल-तर्पण एवं श्राद्ध किये जाते हैं। यह ज्ञातव्य है कि महाप्रस्थान करना, प्रपात से गिरकर या अग्नि द्वारा मर जाना बूढ़ों के लिए कलियुग में वर्जित है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४।

मिता० (याज्ञ० ३।६) ने वृद्ध-याज्ञवल्क्य एवं छागलेय को उद्धृत कर कहा है कि शास्त्र के नियमों के विरुद्ध आत्महत्या करने पर एक वर्ष के उपरान्त **नारायणबलि** करनी चाहिए और उसके उपरान्त श्राद्धकर्म कर देना चाहिए। मिता० (याज्ञ० ३।६) ने विष्णुपुराण पर निर्भर होकर नारायणबलि का वर्णन यों किया है—मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को विष्णु एवं यम की पूजा करके दक्षिणाभिमुख होकर दर्भों के अंकुरों को दक्षिण ओर करके मधु, घृत एवं तिल से मिश्रित दस पिण्ड दिये जाने चाहिए और मृत व्यक्ति का विष्णु के रूप में ध्यान करना चाहिए, उसके नाम और गोत्र का उच्चारण करना चाहिए, पिण्डों पर चन्दन आदि रखना चाहिए और पिण्डों को हिला देने तक के सारे कृत्य करके उन्हें नदी में डाल देना चाहिए, उन्हें पत्नी या किसी अन्य को नहीं देना चाहए। उस दिन की रात्रि को ब्राह्मणों को विषम संख्या में आमन्त्रित करना चाहिए, उपवास करना चाहिए और दूसरे दिन विष्णु की पूजा करनी चाहिए, मध्याह्न में ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन से लेकर **एकोद्दिष्ट** श्राद्ध की विधि के अनुसार उनकी (भोजन आदि से) सन्तुष्टि तक के सारे कृत्य करने चाहिए। इसके उपरान्त **उल्लेखन** (रेखाएँ खींचना) से लेकर **अवनेजन** (जल सिंचन) तक के कृत्यों को पिण्डपितृयज्ञ की विधि के अनुसार मौन रूप से करना चाहिए। विष्णु, ब्रह्मा, शिव एवं यम को (उनकी मूर्तियों को) उनके सहगामियों के साथ चार पिण्ड देने चाहिए, मृत को नाम एवं गोत्र से स्मरण करना चाहिए और विष्णु का

३२. यदि कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः। तस्याशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया॥ अंगिरा (मिता०, याज्ञ० ३।६)। औशनसस्मृति (अध्याय ७) में भी ऐसा ही श्लोक है।

नाम लेकर पाँचवाँ पिण्ड देना चाहिए। ब्राह्मणों को दक्षिणा के साथ सन्तुष्ट कर (जब वे आचमन कर लें) उनमें से सबसे बड़े गुणवान् को मृत के प्रतिनिधि रूप में मानकर और उसे गोदान, भूमिदान, धनदान से संतुष्ट कर सभी ब्राह्मणों को, जिनके हाथ में पवित्र रहते हैं, जल-तिल देने को उद्वेलित करना चाहिए और अन्त में अन्य सम्बन्धियों के साथ भोजन करना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होता है कि नारायणबलि केवल आत्महन्ताओं के लिए की जाती है और आत्महन्ता की मृत्यु के एक वर्ष उपरान्त ही यह की जाती है। हारलता (पृ० २१२) का भी यही कहना है और उसने विष्णु० के एक श्लोक का हवाला देते हुए इसे उन लोगों के लिए भी अनुमोदित माना है जो गौओं या ब्राह्मणों द्वारा मार डाले गये हैं या जो पतित हैं, और इस बलि को देशविशेष-व्यवस्था तक सीमित ठहराया है। नारायणबलि के विषय में नारायण भट्ट की अन्त्येष्टिपद्धति में विस्तार के साथ विवेचन पाया जाता है। और देखिए स्मृत्यर्थसार (पृ० ८५-८६), बृहत्पराशर (५, पृ० १७५-१७६), निर्णयसिन्धु, हेमाद्रि, गरुड़पुराण (३।४।११३-११९)।

वैखानसस्मार्तसूत्र (१०।९) ने भी नारायणबलि की पद्धति का संक्षिप्त वर्णन किया है। उसमें आत्मघातकों, मारे गये लोगों एवं संन्यासियों के विषय में इस बलि का उल्लेख है। उसमें यह भी आया है कि यही कृत्य १२ वर्षों के उपरान्त मृत महापातकियों के लिए भी करना चाहिए। बौधायनगृह्य-शेषसूत्र (३।२० एवं २१) में दो विधियाँ वर्णित हैं, जिनमें दूसरी पश्चात्कालीन है और उसमें चाण्डालों आदि द्वारा मारे जाने का प्रसिद्ध श्लोक भी है।[33]

आशौच-नियमों के पाँचवें अपवाद-प्रकार में वे नियम आते हैं जिनके अनुसार व्यक्ति को आशौच करना अनिवार्य नहीं है। गौतम (१४।८-१०) ने व्यवस्था दी है कि सपिण्ड लोग उन लोगों के लिए, जो गौओं एवं ब्राह्मणों के लिए मर जाते हैं, जो राजा के क्रोध के कारण मार डाले जाते हैं और जो रणभूमि में मर जाते हैं, आशौच नहीं मनाते, केवल सद्यःशौच करते हैं।[34] मनु (५।९५ एवं ९८) के मत से सपिण्ड लोग उनके लिए, जो डिम्बाहव (शस्त्र-रहित झगड़े या दंगे) में, बिजली से या राजा द्वारा (किसी अपराध के कारण), गोब्राह्मण-रक्षा में, क्षत्रिय के समान रणभूमि में तलवार से मार डाले जाते हैं; आशौच नहीं मनाते और वे लोग भी जिन्हें राजा (अपने कार्यवश) ऐसा करने नहीं देना चाहता, आशौच नहीं मनाते।[35] शातातप (स्मृतिच०, आशौच, पृ० १७१ ने इसे वसिष्ठ का कथन माना है) के मत से यति के मरने पर उसके पुत्र एवं सपिण्ड उसके लिए जल-तर्पण, पिण्डदान एवं आशौच नहीं करते। धर्मसिन्धु (पृ० ४४९) का कथन है कि यह नियम सभी प्रकार के यतियों के लिए है, चाहे वे त्रिदण्डी हों, एकदण्डी हों, हंस

३३. चाण्डालादुदकात् सर्पाद् ब्राह्मणाद्वैद्युतादपि। दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणं पापकर्मिणाम्॥ बौ० गृ० शेषसूत्र (३।२१)। इसी को अपरार्क (पृ० ८७७) ने यम का कहा है, शुद्धिप्रकाश (पृ० ५६) ने स्मृत्यन्तर माना है और मिता० (याज्ञ० ३।६) ने बिना नाम के उद्धृत किया है।

३४. गोब्राह्मणहतानामन्वक्षम्। राजक्रोधाच्च। युद्धे। गौतम० (१४।८-१०)। हरदत्त ने व्याख्या की है—'अन्वक्ष्यते प्रत्यक्ष्यते शवस्तावत्संस्कारान्ते स्नात्वा शुध्येरन्निति।' मिता० (याज्ञ० ३।२१) ने इसे इस प्रकार व्याख्यात किया है—'तत्सम्बन्धिनां चान्वक्षमनुगतमक्षमन्वक्षं सद्यःशौचमित्यर्थः।'

३५. डिम्बाहवे हतानां च विद्युता पार्थिवेन च। गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः॥ मनु (५।९५)। कुल्लूक एवं हारलता (पृ० १११) ने 'डिम्बाहव' को 'नृपतिरहित युद्ध' कहा है, किन्तु हरदत्त ने 'डिम्ब' को 'जनसंमर्द' माना है; अपरार्क (पृ० ९१६) ने डिम्बाहव को अशस्त्रकलह एवं शुद्धिकल्पतरु (पृ० ४६) ने इसे 'अशस्त्रकलहः संमर्दो वा' के रूप में व्याख्यात किया है।

हों या परमहंस हों। इसी प्रकार वानप्रस्थ की मृत्यु पर भी आशौच नहीं होता। जिस व्यक्ति ने जीवितावस्था में ही अपना श्राद्ध कर लिया, उसके सपिण्ड उसके लिए आशौच कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते। ब्रह्मचारी की मृत्यु पर आशौच होता है। धर्मसिन्धु (पृ० ४४९) ने इतना और कहा है कि युद्ध में मृत के लिए आशौच नहीं होता, किन्तु ब्राह्मणों (जो युद्ध में मृत होते हैं) के लिए शिष्टों की परम्परा या व्यवहार या आचार कुछ और ही है, अर्थात् आशौच किया जाता है।[३६]

पराशर (३।१२-१३) ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई देशान्तर में बहुत दिनों तक रहकर मर जाय और यह ज्ञात हो जाय कि वह मृत हो गया, किन्तु मृत्यु-तिथि का पता न चल सके, तो कृष्ण पक्ष की अष्टमी या एकादशी तिथि या अमावस्या को मृत्यु-तिथि मानकर उस दिन जल-तर्पण, पिण्डदान एवं श्राद्ध कर देना चाहिए और परा० मा० (१।२, पृ० २३७) के मत से उसी दिन से आशौच भी मानना चाहिए। किंतु लघु-हारीत का कथन है कि यदि श्राद्ध के समय कोई अवरोध हो जाय या मृत्य-तिथि ज्ञात न हो तो आनेवाले कृष्ण पक्ष की एकादशी को अन्त्येष्टि-कृत्य सम्पादित कर देना चाहिए (शुद्धिकौमुदी, पृ० १७)।

निबन्धों ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि आशौच के विषय में देशाचारों को महत्त्व अवश्य देना चाहिए। हारलता (पृ० ५५ एवं २०५) ने आदिपुराण से वचन उद्धृत कर देशाचारों के प्रमाण की ओर विशिष्ट संकेत किया है (देश-धर्मप्रमाणत्वात्)। शुद्धितत्त्व (पृ० २७५) ने मरीचि का एक श्लोक उद्धृत किया है—विशिष्ट स्थानों के प्रचलित शौच-सम्बन्धी नियमों एवं धार्मिक आचारों का अनादर नहीं करना चाहिए; उन स्थानों में धर्माचार उसी प्रकार का होता है। पृ० २७६ पर इसने वामनपुराण से एक उक्ति उद्धृत की है।[३७]

यह ज्ञातव्य है, जैसा कि दक्ष (६।१५) ने कहा है, कि आशौच के सभी नियम तभी प्रयुक्त होते हैं, जब कि काल स्वस्थ एवं शान्तिमय हो, किन्तु जब व्यक्ति आपद्ग्रस्त हो तो सूतक सूतक नहीं रहता, अर्थात् तब आशौच (के नियमों) का प्रयोग या बलपूर्वक प्रवर्तन नहीं होता।[३८]

विष्णुधर्मसूत्र (१९।१८-१९) ने व्यवस्था दी है कि आशौचावधि के उपरान्त ग्राम के बाहर जाना चाहिए, बाल बनवाने चाहिए, तिल या सफेद सरसों के उबटन से शरीर में लेप करके स्नान करना चाहिए और वस्त्र-परिवर्तन कर घर में प्रवेश करना चाहिए। इसके उपरान्त शान्तिकृत्य करके ब्राह्मणपूजन करना चाहिए।[३९] बहुत-से निबन्धों ने विस्तृत विधि दी है। उदाहरणार्थ, शुद्धिकौमुदी (पृ० १५५-१६४) ने तीन वेदों के अनुयायियों के लिए एकादशाह के दिन की विधि पृथक् रूप से दी है। कुछ मुख्य बातें निम्न हैं। सम्पूर्ण शरीर से स्नान के उपरान्त सपिण्डों को गौ, सोना, अग्नि, दूब एवं घृत छूना चाहिए और गोविन्द का नाम-स्मरण करना चाहिए, तब ब्राह्मणों द्वारा जल-मार्जन कराकर 'स्वस्ति' पाठ कहलाना चाहिए। यदि ब्राह्मण न मिलें तो 'शान्ति' स्वयं कर लेनी चाहिए। हारलता का कथन है कि बिना

३६. युद्धमृतेप्याशौचं नेति सर्वग्रन्थेषूपलभ्यते न त्वेवं ब्राह्मणेषु शिष्टाचार इति। धर्मसिन्धु (पृ० ४४९)।

३७. तथा च मरीचिः। येषु स्थानेषु यच्छौचं धर्माचारश्च यादृशः। तत्र तन्नावमन्येत धर्मस्तत्रैव तादृशः॥ चक्रधर (शुद्धिविवेक); शु० कौ० (पृ० ३६०); शुद्धित० (पृ० २७५)। तथा च वामनपुराणे—'देशानुशिष्टं कुलधर्ममग्र्यं सगोत्रधर्मं न हि सन्त्यजेच्च' (शुद्धितत्त्व, पृ० २७६)।

३८. स्वस्थकाले तथा सर्वं-सूतकं परिकीर्तितम्। आपद्ग्रस्तस्य सर्वस्य सूतकेऽपि न सूतकम्॥ दक्ष (६।१५)।

३९. ग्रामान्निष्क्रम्याशौचान्ते कृतश्मश्रुकर्माणस्तिलकल्कैः सर्षपकल्कैर्वा स्नाताः परिवर्तितवाससो गृहं प्रविशेयुः। तत्र शान्तिं कृत्वा ब्राह्मणानां च पूजनं कुर्युः। विष्णुधर्मसूत्र (१९।१८-१९)।

'शान्ति' के जलाशौच पूर्णतया दूर नहीं होता। सामवेद के अनुयायियों को 'शान्ति' के लिए सामवेदगान पढ़ना चाहिए या गायत्री को आदि एवं अन्त में कहकर सामवेद के अन्तिम मन्त्र (स्वस्ति न इन्द्रः) के साथ 'कयानश्चित्र', 'कस्त्वा सत्य,' 'अभी षूण:' का पाठ करना चाहिए। ये सभी मन्त्र सामवेदियों के लिए हैं। यजुर्वेदियों के लिए आदि एवं अन्त में गायत्री के साथ १७ मन्त्र (आदि में 'ऋचं वाचं प्रपद्ये' एवं अन्त में 'द्यौः शान्तिः') 'शान्ति' के लिए कहे जाते हैं। ऋग्वेदियों को आदि एवं अन्त में गायत्री के साथ ऋ० के १०।९।४, ७।३५।१, ५।४७।५ आदि मन्त्रों के साथ शान्ति करनी चाहिए। इसके उपरान्त चाँदी के साथ कुछ सोना ब्राह्मणों को देना चाहिए, तब वैतरणी गौ देनी चाहिए यदि वह मृत्यु के समय न दी गयी हो तो और अन्त में पलंग आदि का दान (शय्या-दान) करना चाहिए।

हमने यह देख लिया है कि मौलिक रूप से सूत्रों (शांखायन० आदि) एवं स्मृतियों (मनु आदि) ने इस बात पर बल देकर कहा है कि आशौच के दिनों को बढ़ाना नहीं चाहिए और वेदज्ञों एवं आहिताग्नियों को एक दिन का ही आशौच करना चाहिए (पराशर० ३।५ एवं दक्ष ६।६)। किन्तु अन्ततोगत्वा आशौच को सीधे रूप में मनाने के लिए सभी सपिण्डों के लिए दस दिनों की अवधि निर्धारित हो गयी (मनु ५।५९)। प्राचीन काल में आवागमन के साधन सीमित थे अतः पास में रहनेवाले सम्बन्धियों के यहाँ भी जनन-मरण के समाचार बहुत देर में पहुँचते थे, इसी लिए आशौच-नियमों से सम्बन्धित अवरोध लोगों को बहुत बुरा नहीं लगता था। इसी कारण तथा सभी प्रकार के विभागों, उपविभागों एवं श्रेणियों के विषय में धर्मशास्त्रकारों के बड़े झुकाव के कारण हम मध्य काल के लेखकों को आशौच जैसे विषयों पर अत्यधिक ध्यान देते हुए देखते हैं। भारतवर्ष में आशौच-सम्बन्धी जो नियम देखने में आते हैं वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। आजकल डाक, रेल, वायुयान एवं तार की सुविधाओं के कारण प्राचीन एवं मध्य काल के आशौच-नियम लोगों को बहुत अखरते हैं। कभी-कभी ईर्ष्या करनेवाले या किसी प्रकार के मनमुटाव के कारण दुष्ट प्रकृति के लोग विवाह जैसे उत्सवों में जनन या मरण के संदेश भेजकर बाधा डालते हैं। अतः आशौच-सम्बन्धी नियमों में असुविधाओं के दूरीकरण के लिए उपाय करने चाहिए, जिससे कठिनाइयों, समयापव्यय को दूर कर स्मृति-वचनों के साथ पवित्रता की रक्षा की जा सके। कम-से-कम जननाशौच में आजकल एक सरल नियम का पालन किया जा सकता है, अर्थात् केवल माता को दस दिनों का आशौच करना चाहिए। ऐसा करने से उपर्युक्त स्मृति-वचनों में कोई विभेद उत्पन्न नहीं होगा। मरणाशौच के विषय में चार नियम सामान्यतः पर्याप्त होंगे, जो निम्न हैं—

(१) पुत्र की मृत्यु पर दस दिनों का आशौच माता-पिता करें, इसी प्रकार माता-पिता की मृत्यु पर पुत्र भी करे, पति की मृत्यु पर पत्नी और पत्नी की मृत्यु पर पति भी ऐसा करे और वह भी ऐसा करे जो शवदाह करता है या मृत्यूत्तरभावी कृत्य करता है।

(२) उपर्युक्त लोगों के अतिरिक्त अन्य लोग, जो मृत के पास संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में रहते थे, केवल तीन दिनों का आशौच करें।

(३) सभी सम्बन्धियों के लिए मृत्यु के पश्चात् वर्ष के भीतर संदेश पहुँचने पर सद्यःशौच (केवल स्नान से परिशुद्धि) पर्याप्त है।

(४) वर्ष के उपरान्त मृत्यु-सन्देश पहुँचने पर केवल प्रथम नियम के अन्तर्गत आनेवाले व्यक्ति ही सद्यःशौच करें।

यदि हम प्राचीन एवं आधुनिक अधिवासियों के आचारों पर ध्यान दें तो प्रकट होगा कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निषेध मरण पर तथा प्रसव एवं मासिक धर्म के समय स्त्रियों पर रखे गये थे। प्राचीन इजराइलियों में ऐसी प्रथा थी कि मृत्यु होने पर जो कुछ अशुद्ध पदार्थ होते थे वे शिविर के बाहर रख दिये जाते थे और वे मृत के लिए कोई आहुति नहीं देने पाते थे। सीरियनों में जो मृत के कुल के होते थे, वे ३० दिनों तक बाहर रहते थे और मुण्डित-सिर होकर

घर में प्रवेश कर सकते थे। प्रसव से स्त्री अशुद्ध मानी जाती थी और अशुद्धि के दिन बच्चे के लड़का या लड़की होने पर निर्भर थे। भारत में आर्य लोगों ने जनन एवं मरण से सम्बन्धित धारणाएँ अपने पूर्व-पुरुषों से ही सम्भवतः सीखीं। कल्पना द्वारा यह कहा जा सकता है—वैदिक आर्यों के पूर्व-पुरुषों ने ऐसा समझा होगा कि जो लोग मृत के कपड़े छूते हैं या मरने के पूर्व उसके वस्त्रों का प्रयोग करते हैं, वे भी मृत के रोग से पीड़ित होते हैं (विशेषतः प्लेग, हैजा, मियादी ज्वर आदि रोगों से), अतः ऐसे लोगों को अन्य लोगों से दस दिनों तक दूर रखने से बीमारी फैलने की संभावना नहीं रहती थी। अतः जो लोग मृत के शव को छूते थे, शव को श्मशान तक ढोते थे, वे तथा अन्य सम्बन्धी लोग अशुद्ध माने जाते थे और दस दिनों तक पृथक् रखे जाते थे। आगे चलकर सभी प्रकार के रोगों एवं कारणों से उत्पन्न मृत्यु पर आशौच एवं पृथक्त्व प्रयोग में आने लगा। मरणाशौच से ही जननाशौच की भावना उत्पन्न हुई। स्मृतिकारों ने दोनों को समान माना; "जिस प्रकार सपिण्डों के लिए मरणाशौच दस दिनों का होता है उसी प्रकार जननाशौच की भी व्यवस्था है।" रजस्वला स्त्रियों के विषय के नियम तै० सं० में भी पाये जाते हैं। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १२।

अब हम आशौच के अतिरिक्त शुद्धि के अन्य स्वरूपों पर विचार करेंगे। **द्रव्य-शुद्धि** का तात्पर्य है किसी वस्तु से लगे हुए दोष का दूरीकरण, और यह दो प्रकार की है; शरीरशुद्धि एवं बाह्य द्रव्यशुद्धि (मनु ५।११० एवं अपरार्क २५३)।[४०] हमने पहले ही देख लिया है कि ऋग्वेद (८।९५।७-९ एवं ७।५६।१२ जहाँ क्रम से 'शुद्ध' एवं 'शुचि' शब्द १३ एवं ६ बार आये हैं) 'शुद्धि' एवं 'शुचि' पर बहुत बल देता है। ऐसी वैदिक उक्तियाँ हैं कि ज्योतिष्टोम में प्रयुक्त ग्रह (पात्र, प्याले) एवं अन्य यज्ञिय पात्र ऊन से स्वच्छ किये जाते हैं, किन्तु चमसों के साथ ऐसा नहीं किया जाता। ऐत० ब्रा० (३२।४) में आया है कि आहिताग्नि का दूध, जो होम के लिए गर्म किया गया था, अपवित्र हो जाय (अमेध्य, चींटी या किसी अन्य कीड़े के गिरने से) तो उसे अग्निहोत्रहवणी में ढारकर आहवनीय अग्नि के पास भस्म में डाल देना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ-पात्रों एवं यज्ञिय वस्तुओं की शुद्धि पर बहुत ध्यान दिया जाता था। गौतम (८।२४), अत्रि (३३ एवं ३५), मत्स्यपुराण (५२।८-१०), बृहस्पति (अपरार्क पृ० १६४) के अनुसार आठ आत्म-गुणों के अन्तर्गत शुद्धि का नाम भी है। गौतम की व्याख्या में हरदत्त ने शौच के चार प्रकार दिये हैं—धन-सम्बन्धी शुद्धि, मानसिक शुद्धि, शारीरिक शुद्धि एवं वाणी-शुद्धि। अत्रि एवं बृहस्पति (अपरार्क, पृ० १६४) के अनुसार शौच में अभक्ष्य-परिहार, अनिन्दित लोगों के साथ संसर्ग एवं स्वधर्म में व्यवस्थान पाये जाते हैं। बहुत-से लोग शौच को दो भागों में बाँटते हैं; बाह्य एवं आन्तर (आभ्यन्तर)। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १७, जहाँ बौधा० ध० सू० (१।५।३-४), हारीत, दक्ष आदि के वचनों की ओर संकेत है। अग्नि० (३७२।१७-१८) ने दक्ष (५।३) के समान ही मत दिया है। वनपर्व (२००।५२) ने वाणी एवं कर्म की शुद्धता तथा जल से प्राप्त शुद्धता की चर्चा की है। पद्मपुराण (२।६६।८६-८७) ने मानसिक वृत्ति पर बल दिया है और कहा है कि नारी अपने पुत्र एवं पति का आलिंगन विभिन्न मनोभावों से करती है।

लिंगपुराण में एक सुन्दर उक्ति मिलती है जिसमें आया है कि आभ्यन्तर शौच (शुचिता) बाह्य शौच से उत्तम है; उसमें यह आया है कि स्नान करने के उपरान्त भी आभ्यन्तर शौच के अभाव में व्यक्ति मलिन है, शैवाल

४०. द्रव्यस्य दोषापगमः शुद्धिः। तत्र द्विविधा शुद्धिः शरीरशुद्धिर्बाह्यद्रव्यशुद्धिश्च। अपरार्क (पृ० २५२-२५३); तत्राशुद्धिर्नाम द्रव्यादेः स्पर्शनाद्यनर्हतापादको दोषविशेषः। शुद्धिस्तु संस्कारविशेषोत्पादिता तन्निवृत्तिः। हेमाद्रि (श्राद्ध, पृ० ७८७)।

(सेवार), मछली एवं मछली खाकर जीनेवाले जीव सदा जल में ही रहते हैं किन्तु उन्हें कोई शुद्ध नहीं कहेगा। अतः व्यक्ति को सदा अन्तःशुद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए और आत्मज्ञान के जल में स्नान करना चाहिए, विश्वासरूपी चन्दन लेप का प्रयोग करना चाहिए और वैराग्यरूपी मिट्टी से अपने को शुद्ध रखना चाहिए—यही वास्तविक शौच (शुचिता) है।[४१] मनु (५।१०६) ने घोषित किया है कि शुद्धि के प्रकारों में मानसिक शुद्धि सर्वश्रेष्ठ है। जो धन की ओर से शुद्ध है, अर्थात् जो अन्यायपूर्ण साधनों से दूसरे का धन नहीं हड़पता, वह सचमुच पवित्र है और अपेक्षाकृत उससे भी अधिक शुद्ध है जो जल एवं मिट्टी से शुद्धता प्राप्त करता है। यही बात विष्णु० (२२।८९) में भी पायी जाती है, किन्तु वहाँ अर्थ (धन) के स्थान पर अन्न रख दिया गया है। त्रिकाण्डमण्डन (प्रकीर्णक २१) में मनु (५।१०६) वाला श्लोक पाया जाता है। और देखिए अनुशासनपर्व (१०८।१२), जहाँ आचरण, मन, तीर्थ-स्थान एवं सम्यक् दार्शनिक ज्ञान नामक शुद्धियों का वर्णन है; ब्रह्माण्डपुराण (३।१४।६० 'शुचिकामा हि देवा वै') एवं योगसूत्र (२।३२), जहाँ यम-नियमों के अन्तर्गत शौच भी कहा गया है।

शारीरिक शुद्धि अर्थात् बाह्य शुद्धि के, जो मुख-प्रक्षालन, स्नान से प्राप्त होती है, विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १७। प्राचीन एवं मध्य काल के लेखकों ने सबके लिए दैनिक स्नान की व्यवस्था दी है, कुछ लोगों के लिए दिन में दो बार स्नान और संन्यासियों के लिए तीन बार स्नान की व्यवस्था है। किन्तु आरम्भिक ईसाइयों में ऐसा व्यवहार नहीं प्रचलित था; सन्त अग्नेस को स्नान न करने से उच्च पद मिला, असीसी के सन्त फ्रांसिस ने धूलि या गन्दगी को पवित्र दरिद्रता का एक प्रमुख चिह्न माना है।

श्रौत कृत्यों (यथा अग्निष्टोम) में यजमान को दीक्षा का कठिन अनुशासन मानना पड़ता था, उसके शरीर को अध्वर्यु पुरोहित सात-सात दर्भों के तीन गुच्छों से रगड़कर स्वच्छ करता था। शातातप (स्मृतिच०, १, पृ० १२०; शुद्धिप्रकाश, पृ० १४७) ने उसके लिए स्नान की व्यवस्था दी है जो मासिक धर्म के आरम्भ होने के उपरान्त पाँचवें दिन से सोलहवें दिन की अवधि में अपनी पत्नी से संभोग करता है, किन्तु इस अवधि के पश्चात् संभोग करने से केवल मूत्र-त्याग करने एवं अपानवायु छोड़ने के उपरान्त वाला शुद्धीकरण-नियम पालन करना पड़ता है। सूर्यास्त के उपरान्त वमन करने से भी स्नान करना पड़ता है। इसी प्रकार बाल बनवाने, बुरा स्वप्न देखने, चाण्डाल आदि को छू लेने से भी स्नान करना पड़ता है।

आप० श्रौ० (११।१२) का कहना है कि जो शुद्धि चाहता है उसे पवित्रेष्टि कृत्य करना चाहिए, जो प्रत्येक ऋतु में वैश्वानरी (अग्नि वैश्वानर को), व्रातपति (अग्नि व्रतपति को) एवं पवित्रेष्टि करता है वह अपने कुल की दस पीढ़ियों को शुद्ध कर देता है।

अब हम द्रव्यशुद्धि का विवेचन करेंगे। किन्तु कुछ सामान्य बातें आरम्भ में ही कह दी जा रही हैं। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।६।१५।१७-२०) का कथन है कि छोटे-छोटे बच्चे रजस्वला स्त्री के स्पर्श से अशुद्ध नहीं होते, जब तक उनका अन्नप्राशन नहीं हो गया रहता या एक वर्ष तक या जब तक उन्हें दिशा-ज्ञान नहीं हो जाता, और कुछ लोगों

४१. अवगाह्यापि मलिनो ह्यन्तःशौचविवर्जितः। शैवला झषका मत्स्याः सत्त्वा मत्स्योपजीविनः।। सदावगाह्य सलिले विशुद्धाः किं द्विजोत्तमाः। तस्मादाभ्यन्तरं शौचं सदा कार्यं विधानतः।। आत्मज्ञानाम्भसि स्नात्वा सकृदालिप्य भावतः। सुवैराग्यमृदा शुद्धाः शौचमेवं प्रकीर्तितम्।। लिंगपुराण (८।३४-३६); भावशुद्धिः परं शौचं प्रमाणं सर्वकर्मसु। अन्ययालिंगते कान्ता भावेन दुहितान्यथा....अन्यथैव ततः पुत्रं भावयत्यन्यथा पतिम्।। पद्म० (भूमिखण्ड, ६६। ८६-८७)।

के मत से उपनयन-संस्कार तक। मनु (५।१२७-१३३), याज्ञ० (१।१८६, १९१-१९३), विष्णु० (२३।४७-५२), बौधा० धर्म० (१।५।५६-५७, ६४ एवं ६५), शंख (१६।१२-१६), मार्कण्डेयपुराण (३५।१९-२१) का कथन है कि निम्नलिखित वस्तुएँ सदा शुद्ध रहती हैं—जो वस्तु अशुद्ध होती न देखी गयी हो; जो पानी से स्वच्छ कर दी जाती है; जिसे ब्राह्मण शुद्ध कह दे (जब कि सन्देह उत्पन्न हो गया हो); किसी (पवित्र) स्थल पर एकत्र जल, जो देखने में किसी अपवित्र पदार्थ से अशुद्ध न कर दिया गया हो, जो मात्रा में इतना हो कि कोई गाय उससे अपनी प्यास बुझा सके और जो गंध, रंग एवं स्वाद में (शुद्ध) जल की भाँति हो; शिल्पी का हाथ (धोबी या रसोइया का हाथ जब कि वे अपने कार्यों में संलग्न हों); बाजार में खुले रूप में बिकनेवाले पदार्थ, यथा—यव (जौ) एवं गेहूँ (जिन्हें क्रय करनेवालों ने चाहे छू भी लिया हो); भिक्षा (जिसे ब्रह्मचारी ने मार्ग में घर-घर से एकत्र किया हो); संभोग के समय स्त्री का मुख; कुत्तों, चाण्डालों एवं मांसभक्षी पशुओं से छीना गया पशु-मांस; (सूर्य की) किरणें, अग्नि, धूलि, (वृक्ष आदि की) छाया, गाय, अश्व, भूमि, वायु, ओस, मक्खियाँ, गाय दुहते समय बछड़ा—ये (अन्तिम) किसी व्यक्ति का स्पर्श हो जाने पर भी शुद्ध रहते हैं। यह भी कहा गया है कि कुछ पक्षी एवं पशु या तो शुद्ध होते हैं या उनके कुछ शरीरभाग शुद्ध माने जाते हैं, यथा—याज्ञ० (१।१९४) का कथन है कि बकरियों एवं अश्वों का मुख शुद्ध होता है, किन्तु गायों का मुख नहीं। बौधायन (अपरार्क, पृ० २७६) ने कहा है कि मुख को छोड़कर गाय एवं दौड़ती या घूमती हुई बिल्ली शुद्ध मानी जाती है।[४२] बृहस्पति एवं यम (अपरार्क, पृ० २७६) का कथन है[४३]—"ब्राह्मण के पाँव, बकरियों एवं अश्वों का मुख, गायों का पृष्ठ भाग एवं स्त्रियों के सभी अंग शुद्ध होते हैं; गाय पृष्ठ भाग से, हाथी स्कन्ध भाग से, अश्व सभी अंगों से एवं गाय का गोबर एवं मूत्र शुद्ध हैं।" अत्रि (२४०, २४१) के भी वचन ऐसे ही हैं—"खान एवं भोजनालय (या वे स्थान जहाँ अन्न आदि पीसे जाते हैं) से निकाली हुई वस्तुएँ अशुद्ध नहीं होतीं, क्योंकि ऐसे सभी स्थान (जहाँ समूहरूप में वस्तुएँ तैयार होती हैं), केवल जहाँ सुरा बनती हो वैसे स्थानों को छोड़कर, पवित्र होते हैं। सभी भूने हुए पदार्थ, भूने हुए जौ एवं अन्य अन्न, खजूर, कपूर और जो भी भली भाँति भूने हुए रहते हैं, पवित्र होते हैं।"[४४] अत्रि (५।१३) में पुनः आया है—"मक्खियाँ, शिशु, अखंड धारा, भूमि, जल, अग्नि, बिल्ली, लकड़ी का करछुल एवं नेवला (नकुल) सदैव पवित्र होते हैं।"[४५] पराशर (१०।४१) का कथन है—"आकाश, वायु, अग्नि, जल (जो पृथिवी

४२. मुखवर्जं तु गौर्मेध्या मार्जारश्चङक्रमे (? श्चाक्रमे) शुचिः। बौधा० (अपरार्क, पृ० २७६)। और देखिए शंख (१६।१४)।

४३. बृहस्पतिः। पादौ शुची ब्राह्मणानामजाश्वस्य मुखं शुचि। गवां पृष्ठानि मेध्यानि सर्वगात्राणि योषिताम्॥ यमः। पृष्ठतो गौर्गजः स्कन्धे सर्वतोऽश्वः शुचिस्तथा। गोः पुरीषं च मूत्रं च सर्वं मेध्यमिति स्थितिः॥ पृष्ठशब्दोत्र मुखव्यतिरिक्तविषयः। अपरार्क (पृ० २७६)।

४४. आकराहृतवस्तूनि नाशुचीनि कदाचन। आकराः शुचयः सर्वे वर्जयित्वा सुराकरम्॥ भृष्टा भृष्टयवाश्चैव तथैव चणकाः स्मृताः। खर्जूरं चैव कर्पूरमन्यद् भृष्टतरं शुचि॥ अत्रि (२४०-२४१)। 'आकराः...करम्' बौ० ध० सू० (१।५।५८) में भी आया है। शु० कौ० (पृ० २५८) ने शंख (१६।१३) के पद्यार्ध 'शुद्धं नदीगतं तोयं सर्व एव तथाकराः' को उद्धृत करते हुए कहा है—'सर्वं एवाकरा धान्यादिमर्दनस्थानानि तथा अन्नलाजादिनिष्पत्तिस्थानानि चेत्यर्थः।'

४५. मक्षिका सन्ततिर्धारा भूमिस्तोयं हुताशनः। मार्जारश्चैव दर्वी च नकुलश्च सदा शुचिः॥ अत्रि (५।११)। और देखिए विश्वरूप (याज्ञ० १।१९५), लघुहारीत (४३)। शुद्धिकौमुदी (पृ० ३५७) ने व्याख्या की है—'सन्ततिः शिशुः पञ्चवर्षाभ्यन्तरवयस्कः, धारा तु पतन्ती।'

पर गिरा हो) एवं दर्भ अपवित्र नहीं कहे जाते, वे यज्ञों के चमसों के समान शुद्ध ही रहते हैं।"[४६] परा० मा० ने चतुर्विंशतिमत को उद्धृत किया है कि "कच्चा मांस, घृत, मधु, फलों से निकाले हुए तेल, चाहे वे चाण्डालों के पात्रों में ही क्यों न हों, बाहर निकालें जाने पर शुद्ध हो जाते हैं।"[४७] बृहस्पति ने कहा है—"अनार, ईख पेरनेवाली कल, खानें, शिल्पियों के हाथ, गोदोहनी (मटकी), यन्त्रों से निकलने वाले तरल पदार्थ, बालों एवं स्त्रियों के कर्म (भोजन बनाना आदि) जो देखने में अशुद्ध से लगते हैं (बच्चे सड़क पर नंगे पैर घूमते रहते हैं), शुद्ध ही हैं।"[४८] अपने बिस्तर, वस्त्र, पत्नी, बच्चा, जलपात्र अपने लिए शुद्ध होते हैं, किन्तु अन्य लोगों के लिए अशुद्ध हैं।[४९] यही बात शंख ने भी कही है। शंख का कथन है कि वह चीज, जो वस्तु में स्वाभाविक रूप से लगे हुए मल को या किसी अशुद्ध पदार्थ के संसर्ग से उत्पन्न मल को दूर करती है, शुद्ध घोषित है।[५०] शंख-लिखित ने घोषित किया है कि जो वस्तुएँ अशुद्ध को शुद्ध करती हैं वे ये हैं—जल, मिट्टी, इंगुद, अरिष्ट (रीठा), बेल का फल, चावल, सरसों का उबटन, क्षार (रेह, सोडा), गोमूत्र, गोबर एवं कुछ लोगों के मत से एक स्थान पर संग्रह की हुई वस्तुएँ तथा प्रोक्षण अर्थात् जल-मार्जन।[५१] मनु (५।११८), याज्ञ० (१।१८४), विष्णु० (२३।१३) ने भी कहा है कि जब बहुत-से वस्त्र एवं अन्नों की ढेरी अपवित्र हो गयी हो तो जल छिड़कने से शुद्ध हो जाती है, किन्तु जब संख्या या मात्रा कम हो तो जल से धो लेना चाहिए। वह संख्या या मात्रा अधिक कही जाती है जिसे एक व्यक्ति ढो न सके (कुल्लूक, मनु ५।११८)।

गौतम (१।४५-४६), मनु (५।१२६=विष्णु० २३।३९) एवं याज्ञ० (१।१९१) ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि द्रव्यों एवं गन्दी वस्तु से लिप्त शरीर को शुद्ध करने के लिए जल एवं मिट्टी का प्रयोग तब तक करते रहना चाहिए जब तक गन्ध एवं गन्दी वस्तु दूर न हो जाय।[५२] देवल (अपरार्क, पृ० २७०) ने धूलिधूसरित पदार्थ, तेल, चिकनाई एवं अशुद्ध करने वाली गन्ध के मिट्टी, जल, गोबर आदि से दूरीकरण को शौच कहा है।

गौ० ध० सू० (१।२८-३३) ने द्रव्य-शुद्धि का वर्णन यों किया है—धातु की वस्तुओं, मिट्टी के पात्रों, लकड़ी

४६. आकाशं वायुरग्निश्च मेध्यं भूमिगतं जलम्। न प्रदुष्यन्ति दर्भाश्च यज्ञेषु चमसा यथा।। पराशर (१०।४१)।

४७. आमं मांसं घृतं क्षौद्रं स्नेहाश्च फलसम्भवाः। अन्त्यभाण्डस्थिता ह्येते निष्क्रान्ताः शुचयः स्मृताः।। चतुर्विंशतिमत (परा० मा० २।१, पृ० ११५)। और देखिए प्राय० विवेक (पृ० ३२८) एवं शु० कौ० (पृ० ३१८)।

४८. द्राक्षेक्षुयन्त्राकरकारुहस्ता गोदोहनी यन्त्रविनिःसृतानि। बालैरथ स्त्रीभिरनुष्ठितानि प्रत्यक्षदृष्टानि शुचीनि तानि।। बृहस्पति (शुद्धिप्रकाश, पृ० १०६)।

४९. आत्मशय्या च वस्त्रं च जायापत्यं कमण्डलुः। आत्मनः शुचीन्येतानि परेषामशुचीनि च।। आप० स्मृति (१।१४); बौधा० (१।५।६१); अपरार्क (पृ० २५७)।

५०. मलं संयोगजं तज्जं यस्य येनोपहन्यते। तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं सामान्यं द्रव्यशुद्धिकृत्।। शंख० (अपरार्क, पृ० २५६; दीपकलिका, याज्ञ० १।१९१; मदनपारिजात, पृ० ४५१)।

५१. सर्वेषामापो मृदरिष्टकेंगुदबिल्वतण्डुलसर्षपकल्कक्षारगोमूत्रगोमयादीनि शौचद्रव्याणि संहतानां प्रोक्षणमित्येके। शंखलिखितौ (चतुर्वर्ग०, जिल्द ३, भाग १, पृ० ८१७)।

५२. लेपगन्धापकर्षणं शौचममेध्याक्तस्य। तदद्भिः पूर्वं मृदा च। गौ० ध० सू० (१।४५-४६)। यही बात वसिष्ठ० (३।४८) में भी है। यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद् गन्धो लेपश्च तत्कृतः। तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु।। मनु (५।१२६=विष्णु० २३।३९)।

से बनी वस्तुओं एवं सूत्रों से बने वस्त्रों की शुद्धि क्रम से रगड़ने (घर्षण) से, अग्नि में पकाने से, छीलने से एवं जल में धोने से होती है; पत्थरों, मणियों, शंखों एवं मोतियों को धातुओं से निर्मित वस्तुओं को स्वच्छ करने वाले पदार्थों से शुद्ध किया जाता है; अस्थियों (हाँथीदाँत से बनी वस्तुओं) एवं मिट्टी (मिट्टी के फर्श या घर) को लकड़ी छीलकर शुद्ध करने के समान शुद्ध किया जाता है; भूमि को (पवित्र स्थान से लाकर) मिट्टी रखकर शुद्ध किया जाता है; रस्सियाँ, बाँस के टुकड़े, विदल (छाल) एवं चर्म वस्त्र के समान ही शुद्ध किये जाते हैं या अत्यधिक अशुद्ध हो जाने पर त्यक्त कर दिये जा सकते हैं (मल-मूत्र या मद्य से वे अत्यधिक अशुद्ध हो जाते हैं)।[५३] वसिष्ठ (३।४९-५३) ने 'भस्मपरिमार्जन' (भस्म से या जल से स्वच्छ करने) को 'परिमार्जन' के स्थान पर रखकर यही बात कही है। आप० ध० सू० (१।५।१७।१०-१३) ने व्यवस्था दी है—"यदि कोई अन्य-प्रयुक्त पात्र मिले तो उसे उष्ण करके उसमें भोजन करना चाहिए, धातु से बने पात्र को राख (भस्म) से शुद्ध करना चाहिए, लकड़ी के बने पात्र छील देने से शुद्ध हो जाते हैं, यज्ञ में वेदनियम के अनुसार पात्र स्वच्छ किये जाने चाहिए।" याज्ञ० (३।३१-३४) का कथन है—काल (आशौच के लिए दस दिन या एक मास), अग्नि, धार्मिक कृत्य (अश्वमेध या सन्ध्या करना), मिट्टी, वायु, मन, आध्यात्मिक ज्ञान, (कृच्छ जैसे) तप, जल, पश्चात्ताप एवं उपवास—ये सभी शुद्धि के कारण हैं। जो लोग वर्जित कर्म करते हैं उनके द्वारा दान देना शुद्धि का द्योतक है, नदी के लिए जल-प्रवाह, मिट्टी एवं जल अशुद्ध वस्तुओं की शुद्धि के साधन हैं; द्विजों के लिए संन्यास, अज्ञानवश पाप करने पर वेदज्ञों के लिए तप, आत्मज्ञों के लिए सहनशीलता, गंदे शरीरांगों के लिए जल, गुप्त पापों के लिए वैदिक मन्त्रों का जप, पापमय विचारों से अशुद्ध मन के लिए सत्य, जो अपने शरीर से आत्मा को संयुक्त मानते हैं उनके लिए तप एवं गूढ़ ज्ञान, बुद्धि के लिए सम्यक् ज्ञान शुद्धि के स्वरूप हैं, ईश्वर-ज्ञान आत्मा का सर्वोत्तम शुद्धि-साधन है। यही बात मनु (५।१०७-१०९=विष्णु० २२।९०-९२) ने भी इन्हीं शब्दों में कही है।

द्रव्यशुद्धि के लिए विधि-व्यवस्था देने के समय कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए, जो बौधायन (मिता०, याज्ञ० १।१९०) द्वारा यों व्यक्त की गयी हैं—काल, स्थान, शरीर (या अपने स्वयं), द्रव्य (शुद्ध की जानेवाली वस्तु), प्रयोजन (वह प्रयोजन जिसके लिए वस्तु का प्रयोग होनेवाला हो), उपपत्ति (मूल, अर्थात् अशुद्धि का कारण एवं) उस अशुद्ध वस्तु की या व्यक्ति की अवस्था।[५४]

शुद्धि के साधनों एवं कुछ वस्तुओं की शुद्धि के विषय में कुछ विभिन्न मत भी हैं। इन भेदों की चर्चा विस्तार के साथ करना अनावश्यक है। कतिपय स्मृतियों एवं निबन्धों के मत से कौन-सी वस्तुएँ किस प्रकार शुद्ध की जाती हैं, उनके विषय में एक के पश्चात् एक का वर्णन हम उपस्थित करेंगे।

५३. द्रव्यशुद्धिः परिमार्जनप्रदाहतक्षणनिर्णेजनानि तैजसमार्तिकदारवतान्तवानाम्। तैजसवदुपलमणिशंख-मुक्तानाम्। दारुवदस्थिभूम्योः। आवपनं च भूमेः। चैलवद्रज्जुविदलचर्मणाम्। उत्सर्गो वात्यन्तोपहतानाम्। गौ० ध० सू० (१।२८-३३)। 'अत्यन्तोपहत' को विष्णुधर्म० (२३।१) ने 'शारीरैर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वा यदुपहतं तदत्यन्तोपहतम्' के द्वारा समझाया है।

५४. देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्। उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत्।। बौधायन (मिता०, याज्ञ० १।१९०; विश्वरूप, याज्ञ० १।१९५ एवं मेधातिथि, मनु ५।११८)। बौधा० ध० सू० (१।५।५५) में आया है—देशं... वस्थां च विज्ञाय शौचं शौचज्ञः कुशलो धर्मेप्सुः समाचरेत्। लघुहारीत (५५) में 'कालं देशम्' आया है। मिता० ने 'तथा' के बाद 'मानं' पढ़ा है जिसका अर्थ है 'परिमाण' (वह परिभाषा या सीमा जहाँ तक वस्तु को शुद्ध किया जाय)।

स्मृत्यर्थसार (पृ० ७०) के मत से कुछ वस्तुएँ अत्यन्त अशुद्धि के साथ और कुछ कम या मामूली अशुद्धि के साथ बनती हैं। उदाहरणार्थ—उत्सर्गनाल, मूत्र, वीर्य, रक्त, मांस, चर्बी, मज्जा, मद्य एवं मदोन्मत्त करने वाले पदार्थ बड़ी अशुद्धि के साथ बनते हैं; कुत्ते, ग्रामसूकर, बिल्लियाँ, उनके मूत्र, कान का मैल, नख, बलगम (श्लेष्मा), आँख का कीचड़ एवं पसीना कम अशुद्ध होते हैं।

बौधा० ध० सू० (१।५।६६) में आया है कि भूमि की शुद्धि **संमार्जन** (स्वच्छ झाड़ देने), **प्रोक्षण** (दूध, गोमूत्र या जल छिड़कने या धोने), **उपलेपन** (गोबर से लीपने), **अवस्तरण** (कुछ मिट्टी को ऊपर डाल देने) एवं **उल्लेखन** (मिट्टी को कुछ खुरचकर निकाल देने) से हो जाती है। जब ये विधियाँ भूमि की स्थिति के अनुसार प्रयुक्त होती हैं तो उस प्रकार की अशुद्धि दूर हो जाती है।[५५] एक अन्य स्थान पर बौधा० ध० सू० (१।६।१७-२१) में आया है—जब कठोर भूमि अशुद्ध हो जाय तो वह **उपलेपन** (गोबर से लीपने) से शुद्ध हो जाती है, नरम (छिद्रवती) भूमि **कर्षण** (जोतने) से शुद्ध होती है, (अशुद्ध तरल पदार्थ से) भींगी भूमि **प्रच्छादन** (किसी अन्य स्थान से शुद्ध मिट्टी लाकर ढँक देने से) और अशुद्ध पदार्थों को हटा देने से शुद्ध हो जाती है। भूमि चार साधनों से शुद्ध होती है, यथा—गायों के पैरों द्वारा रौंदने से, खोदने से, (लकड़ी या घास-पात) जलाने से एवं (जल, गोमूत्र या दूध आदि के) छिड़काव से, पाँचवीं विधि है गोबर से लीपकर शुद्ध करना और छठा साधन है काल, अर्थात् समय पाकर भूमि अपने आप शुद्ध हो जाती है।[५६] वसिष्ठ० (३।५७) ने बौधायन के समान पाँच शुद्धि-साधन दिये हैं, किन्तु छठा (काल) छोड़ दिया है। मनु (५।१२४) ने भी पाँच साधन दिये हैं—झाड़ू से बुहारना, गोबर से लीपना, जल-छिड़काव, खोदना (एवं निकाल बाहर करना) और उस पर (एक दिन एवं रात) गायों को रखना। विष्णु० (२३।५७) ने छठा अन्य भी जोड़ दिया है, यथा—**दाह** (कुछ जला देना)। याज्ञ० (१।८८) ने **दाह** एवं **काल** जोड़कर सात साधन दिये हैं। वामनपुराण (१४।६८) के अनुसार भूमि की अशुद्धि का दूरीकरण **खनन, दाह, मार्जन, गोक्रम** (गायों को ऊपर चलाना), **लेपन, उल्लेखन** (खोदना) एवं **जलमार्जन** से होता है।[५७] देवल (मिता० एवं अपरार्क, याज्ञ० १।८८) ने विस्तृत विवरण उपस्थित किया है। उनके मत से अशुद्ध भूमि के तीन प्रकार हैं; **अमेध्य** (अशुद्ध), **दुष्ट** एवं **मलिन**। जहाँ स्त्री बच्चा जने, कोई मरे या जलाया जाय या जहाँ चाण्डाल रहें या जहाँ दुर्गन्ध-युक्त वस्तुओं, विष्ठा आदि की ढेरी आदि हो, जो भूमि इस प्रकार गन्दी वस्तुओं से भरी हो उसे **अमेध्य** घोषित किया गया है। जहाँ कुत्तों, सूअरों, गधों एवं ऊँटों का संस्पर्श हो वह भूमि **दुष्ट** कही जाती है तथा जहाँ अंगार (कोयला), तुष (भूसी), केश, अस्थि एवं भस्म (राख) हो वह भूमि मलिन कही जाती है।[५८] इसके उपरान्त देवल ने इन भूमि-प्रकारों की शुद्धि की चर्चा की है। शुद्धि पाँच प्रकार की होती है, यथा **खनन,**

५५. भूमेस्तु संमार्जनप्रोक्षणोपलेपनावस्तरणोल्लेखनैर्यथास्थानं दोषविशेषात्प्रायत्यम्। बौ० ध० सू० (१।५।६६)। यही बात वसिष्ठ (३।५६) में भी आयी है।

५६. घनाया भूमेरुपघात उपलेपनम्। सुषिरायाः कर्षणम्। क्लिन्नाया मेध्यमाहृत्य प्रच्छादनम्। चतुर्भिः शुध्यते भूमिः गोभिराक्रमणात्खननाद् दहनादभिवर्षणात्। पञ्चमाच्चोपलेपनात्षष्ठात्कालात्। बौ० ध० सू० (१।६।१७-२१)। देखिए शु० कौ० (पृ० १००)।

५७. भूमिर्विशुध्यते खातदाहमार्जनगोक्रमैः। लेपादुल्लेखनात्सेकाद्वेश्मसंमार्जनार्चनात्॥ वामनपुराण (१४।६८)।

५८. यत्र प्रसूयते नारी म्रियते दह्यतेऽपि वा। चण्डालाध्युषितं यत्र यत्र विष्ठादिसंहतिः॥ एवं कश्मलभूयिष्ठा भूरमेध्या प्रकीर्तिता। श्वसूकरखरोष्ट्रादिसंस्पृष्टा दुष्टतां व्रजेत्। अंगारतुषकेशास्थिभस्माद्यैर्मलिना भवेत्॥ मिता० (याज्ञ० १।१८८); शु० कौ० (पृ० १०१) एवं शु० प्र० (पृ० ९९)।

दहन, अवलेपन, वापन एवं पर्जन्यवर्षण। इन पाँचों द्वारा अमेध्या भूमि की (जहाँ शवदाह होता है या चाण्डाल रहते हैं) भी शुद्धि की जा सकती है, या चार विधियों से (अमेध्या के विषय की पर्जन्यवर्षण या दहन विधि को छोड़कर); दुष्टा भूमि तीन विधियों (खनन, दहन एवं अवलेपन) से; या दो विधियों (खनन या दहन) से तथा मलिन एक विधि (खनन) से शुद्ध की जाती है।[५९]

स्मृत्यर्थसार (पृ० ७३-७४) ने व्यवस्था दी है कि लोह या किसी अन्य धातु की प्रतिमा यदि कुछ अशुद्ध हो जाय तो वह पंचगव्य द्वारा, भस्म से रगड़कर स्वच्छ किये जाने के उपरान्त, पवित्र की जा सकती है; इसी प्रकार यदि प्रस्तर-प्रतिमा अशुद्ध हो जाय तो वह वल्मीक (दीमक द्वारा निर्मित ढूह) की मिट्टी एवं जल से स्वच्छ कर पंचगव्य से शुद्ध की जाती है। यदि कोई प्रतिमा विष्ठा, मूत्र एवं ग्राम्य-मिट्टी से अशुद्ध हो जाय तो वह पाँच दिनों तक पंचगव्य में डुबोये जाने पर शुद्ध होती है, किन्तु इसके पूर्व वह गोमूत्र, गोबर, वल्मीक की मिट्टी से स्वच्छ की जाती है और उसका फिर से संस्थापन (प्रतिष्ठा) किया जाता है। निर्णयसिन्धु (३, पूर्वार्ध, पृ० ३५१-५२), धर्मसिन्धु (३, पृ० ३२४) एवं अन्य मध्य काल के निबन्धों में प्रतिमा की **पुनः प्रतिष्ठा** की बात पायी जाती है, जब कि प्रतिमा चाण्डाल या मद्य के स्पर्श से अपवित्र हो जाय या अग्नि से जला दी जाय या पापियों या ब्राह्मण-रक्त से अशुद्ध हो जाय। निम्नलिखित दस स्थितियों में प्रतिमा का देवत्व समाप्त हो जाता है—जब प्रतिमा दो या तीन टुकड़ों में टूट जाय, या इधर-उधर से टूट जाय, या जल जाय, अपने आसन से च्युत हो नीचे गिर जाय, या अपमानित हो जाय, या जिसकी पूजा बन्द हो जाय, या गधा एवं ऐसे ही पशुओं का स्पर्श हो जाय, या मलिन भूमि पर गिर जाय, या अन्य देवताओं के मन्त्रों से पूजित हो जाय, या पतित-स्पृष्ट हो जाय यदि प्रतिमा डाकुओं, चाण्डालों, पतितों से छू जाय, कुत्ते या रजस्वला नारी या शव से छू जाय तो पुनः प्रतिष्ठा आवश्यक है।

विष्णुधर्मसूत्र (२३।३४) ने कहा है कि अशुद्ध होने पर प्रतिमा उसी प्रकार शुद्ध की जाती है जिस प्रकार उसकी धातु या जिस वस्तु से वह बनी होती है वह शुद्ध की जाती है और उसके उपरान्त उसकी पुनः प्रतिष्ठा होती है। यदि प्रतिष्ठित प्रतिमा की पूजा एक दिन, दो दिन, एक मास या दो मास बन्द हो जाय या वह शूद्रों या रजस्वला स्त्रियों से छू जाय तो उचित समय पर **पुण्याहवाचन** किया जाना चाहिए, विषम संख्या में ब्राह्मणों को भोज देना चाहिए, प्रतिमा रात भर पानी में रखकर दूसरे दिन पंचगव्य-पूर्ण घड़े से मन्त्रों के साथ नहला दी जानी चाहिए, इसके पश्चात् अन्य घड़े में नौ प्रकार के रत्न डालने चाहिए, उस पर १००८ या १०८ या २८ बार गायत्री-मन्त्र पढ़ा जाना चाहिए और तब उस घड़े के जल से प्रतिमा को स्नान कराना चाहिए, इसके उपरान्त पुरुषसूक्त के एवं मूलमन्त्र के १००८ या १०८ या २८ बार पाठ के साथ पवित्र जल से स्नान कराना चाहिए। इसके उपरान्त पुष्पों के साथ उसकी पूजा की जानी चाहिए और भात एवं गुड़ का नैवेद्य चढ़ाना चाहिए।

अति प्राचीन काल से जल को शुद्धिकारक माना गया है। ऋ० (७।४७ एवं ४९) में जलों को देवत्व प्रदान किया गया है और उन्हें दूसरों को शुद्ध करने वाले कहा गया है (ऋ० ७।४९।२ एवं ३, 'शुचयः पावकाः')। और देखिए ऋ० (१०।९ एवं १०), अथर्ववेद (१।३३।१ एवं ४), वाजसनेयी संहिता (४।२), शतपथब्राह्मण (१।७।४।१७)।[६०]

५९. दहनं खननं भूमेरवलेपनवापने। पर्जन्यवर्षणं चेति शौचं पञ्चविधं स्मृतम्।। पञ्चधा वा चतुर्धा वा भूरमेध्या विशुध्यति। द्विधा त्रिधा वा दुष्टा तु शुध्यते मलिनैकधा।। देवल (शु० कौ० पृ० १०१, जहाँ वापन का अर्थ 'मृदन्तरेण पूरणम्' अर्थात् अन्य मिट्टी से भर देना बताया गया है)।

६०. इदमापः प्रवहतावद्यं च मलं च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्। आपो मा तस्मादेनसः

विश्वरूप (याज्ञ० १।१९१) ने एक लम्बी वैदिक उक्ति उद्धृत की है जहाँ यह आया है—'जो सन्देह उत्पन्न कर दे (यह शुद्ध है कि अशुद्ध) उसे जल का स्पर्श करा देना चाहिए तब वह पवित्र हो जाता है। इसी से गर्म या ठंडा जल कतिपय पात्र-प्रकारों एवं भूमि को शुद्ध करनेवाला कहा गया है (मनु ५।१०९, ११२ एवं १२६ ; याज्ञ० १।१८२-१८८ एवं १८९)। गोभिल (१।३१-३२) ने कहा है कि जब कोई धार्मिक कृत्य करते हुए पितरों वाला मन्त्र सुन ले, अपने शरीर को खुजला दे, नीच जाति के व्यक्ति को देख ले, अपान वायु छोड़ दे, जोर से हँस पड़े या असत्य बोल दे, बिल्ली या चूहे को छू ले, कठोर वचन बोल दे, क्रोध में आ जाय तो उसे आचमन करना चाहिए या जल छू लेना चाहिए।[६१]

याज्ञ० (१।१८७) एवं विष्णु० (२३।५६) के मत से अशुद्ध घर को झाड़ू-बुहारू एवं गोबर से लीपकर शुद्ध किया जाता है। किन्तु ब्राह्मण के घर में यदि कुत्ता, शूद्र, पतित, म्लेच्छ या चाण्डाल मर जाय तो शुद्धि के कठिन नियम बरते जाते थे। घर को बहुत दिनों तक छोड़ देना होता था। संवर्त (अपरार्क, पृ० २६५; शु० प्र०, पृ० १००-१०१; शु० कौ०, ३०३-३०४) का कथन है कि जो घर शव के रहने से अपवित्र हो जाय तो उसके साथ निम्न व्यवहार होना चाहिए; मिट्टी के पात्र एवं पक्वान्न फेंक दिये जाने चाहिए, घर को गोबर से लीपना चाहिए, उसमें बकरी को घुमाना चाहिए जिससे वह सभी स्थानों को सूँघ ले, इसके उपरान्त पूरे घर को जल से धोना चाहिए, उस में सोना एवं कुश युक्त जल गायत्री मन्त्र के पाठ से पवित्र हुए ब्राह्मणों द्वारा छिड़का जाना चाहिए, तब कहीं घर शुद्ध होता है।[६२] मरीचि का कथन है कि यदि चाण्डाल केवल घर में प्रविष्ट हो जाय तो वह गोबर से शुद्ध हो सकता है, किन्तु यदि वह उसमें लम्बी अवधि तक रह जाय तो शुद्धि तभी प्राप्त हो सकती है जब कि वह गर्म कर दिया जाय और अग्नि की ज्वाला दीवारों को छू लें।[६३]

ब्राह्मण का घर, मन्दिर, गोशाला की भूमि, यम के मत से, सदा शुद्ध मानी जानी चाहिए, जब तक कि वे अशुद्ध न हो जायँ।

जल की शुद्धि के विषय में स्मृतियों एवं निबन्धों में बहुत कुछ कहा गया है। आप० ध० सू० (१।५।१५।२) ने सामान्य रूप से कहा है कि भूमि पर एकत्र जल का आचमन करने से व्यक्ति पवित्र हो जाता है।[६४] किन्तु बौधा० ध० सू० (१।५।६५), मनु (५।१२८), याज्ञ० (१।१९२), शंख (१६।१२-१३), मार्कण्डेयपुराण (३५।१९) आदि ने इतना जोड़ दिया है कि वह जल स्वाभाविक स्थिति वाला कहा जाता है जो भूमि पर एकत्र हो, वह इतनी मात्रा में हो कि उसे पीकर एक गाय की तृप्ति हो सके, जो किसी अन्य अपवित्र वस्तु से अशुद्ध न कर दिया गया हो, जिसका स्वाभाविक

पवमानश्च मुञ्चतु॥ वा०सं० (६।१७)। आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। वा० सं० (४।२)।

६१. पित्र्यमन्त्रानुश्रवण आत्मालम्भेऽधमेक्षणे। अधोवायुसमुत्सर्गे प्रहासेऽनृतभाषणे॥ मार्जारमूषकस्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसम्भवे। निमित्तेष्वेषु सर्वत्र कर्म कुर्वन्नपः स्पृशेत्॥ गोभिलस्मृति (१।३१-३२, कृत्यरत्नाकर, पृ० ५०)।

६२. संवर्तः। गृहशुद्धिं प्रवक्ष्यामि अन्तःस्थशवदूषणे। प्रोत्सृज्य मृन्मयं भाण्डं सिद्धमन्नं तथैव च॥ गृहादपास्य तत्सर्वं गोमयेनोपलेपयेत्। गोमयेनोपलिप्याथ छागेनाघ्रापयेद् बुधः॥ ब्राह्मणैर्मन्त्रपूतैश्च हिरण्यकुशवारिणा। सर्वमभ्युक्षयेद्वेश्म ततः शुध्यत्यसंशयम्॥ अपरार्क (पृ० २६५; शु० प्र०, पृ० १००-१०१; शु० कौ०, पृ० ३०३-३०४)।

६३. गृहेष्वजातिसंवेशे शुद्धिः स्यादुपलेपनात्। संवासो यदि जायेत दाहतापैर्विनिर्दिशेत्॥ मरीचि (अपरार्क, पृ० २०६; शुद्धि प्र०, पृ० १०१; शु० कौ०, पृ० ३०३)।

६४. भूमिगतास्वप्स्वाचम्य प्रयतो भवति। आप० ध० सू० (१।५।१५।२)।

रंग (पारदर्शक) हो गया हो और जिसका स्वाद एवं गन्ध शुद्ध हो। शंख का कथन है कि पथरीली भूमि पर एकत्र एवं बहता हुआ जल सदैव शुद्ध होता है।[६५] देवल का कथन है कि स्वच्छ पात्र में लाया हुआ जल शुद्ध होता है, किन्तु जब वह बासी होता है (एक रात्रि या अधिक समय तक रखा रहता है) तो उसे फेंक देना चाहिए (यद्यपि मूलतः वह शुद्ध था)। किसी जीव द्वारा न हिलाया गया एवं प्रपात का जल शुद्ध होता है। गहरे तालाबों (जिन्हें हिलाया नहीं जा सकता), नदियों, कूपों, वापियों के जल को उन सीढ़ियों द्वारा प्रयोग में नहीं लाना चाहिए, जो चाण्डालों एवं अन्य अशुद्ध व्यक्तियों या वस्तुओं के सम्पर्क में आ गयी हों (अपरार्क, पृ० २७२; शु०, प्र०, पृ० १०२)।[६६]

बृहस्पति ने व्यवस्था दी है कि यदि कूप में पाँच नखों वाले प्राणियों अर्थात् किसी मनुष्य या पशु का शव पाया जाय, या यदि कूप-जल किसी प्रकार अत्यन्त अशुद्ध हो जाय तो सारा जल निकाल बाहर करना चाहिए, और शेष को वस्त्र से सुखा देना चाहिए; यदि कूप ईंटों से निर्मित किया गया हो तो अग्नि जलायी जानी चाहिए जिसकी ज्वाला दीवारों तक को छू ले, और जब ताजा पानी निकलना आरम्भ हो जाय तो उस पर पंचगव्य ढारना चाहिए।[६७] आप० (शु० कौ०, पृ० २९९) ने उन स्थितियों का उल्लेख किया है जिनसे कूप अशुद्ध हो सकता है—'केश, विष्ठा, मूत्र, रजस्वला स्त्री का द्रव पदार्थ, शव—इनके पड़ने से जब कूप अशुद्ध हो जाता है तो उससे सौ घड़े जल निकाल बाहर करना चाहिए (यदि अधिक पानी हो तो पंचगव्य से शुद्धि भी करनी चाहिए)।' यही बात पराशर (७।३) ने भी वापियों, कूपों एवं तालाबों के विषय में कही है।

याज्ञ० (१।१९७=विष्णु० २३।४१) ने व्यवस्था दी है कि मिट्टी (कीचड़) एवं जल जो सड़क पर चाण्डाल जैसी जातियों, कुत्तों एवं कौओं के सम्पर्क में आता है, तथा मठ जैसे मकान जो ईंटों से बने रहते हैं, केवल उन पर बहने वाली हवा से शुद्ध हो जाते हैं। पराशर (७।३४) का कथन है कि मार्गों का कीचड़ एवं जल, नावें, मार्ग और वे सभी जो पकी ईंटों से बने रहते हैं, केवल वायु एवं सूर्य से पवित्र हो जाते हैं।

भूमि पर गिरा हुआ वर्षा-जल १० दिनों तक अशुद्ध माना जाता है। इसी प्रकार योगी-याज्ञवल्क्य (शु० कौ०, पृ० २९१) का कथन है कि (गर्मी में सूख जानेवाली) नदी में जो सर्वप्रथम बाढ़ आती है उसे शुद्ध नहीं समझना चाहिए, और वह जल जिसे पैर से हिला दिया गया है और वह जल जो गंगा जैसी पवित्र नदियों से नाले के रूप में निकलता है, शुद्ध नहीं समझना चाहिए। जो वापी, कूप या बाँध वाले जलाशय हीन जाति के लोगों द्वारा निर्मित होते हैं, उनमें स्नान करने या उनका जल ग्रहण करने से प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता (शातातप, मिता० एवं अपरार्क, याज्ञ० ३।१९२; शु० प्र०, पृ० १६)।

विष्णु० (२३।४६) का कथन है कि स्थिर जल वाले जलाशयों (जिनसे बाहर जल नहीं जाता) की शुद्धि वापी की भाँति होती है, किन्तु बड़े-बड़े जलाशयों के विषय में शुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा घोषित हुआ

६५. भूमिष्ठमुदकं शुद्धं शुचि तोयं शिलागतम्। वर्णगन्धरसैर्दुष्टैर्वर्जितं यदि तद् भवेत्॥ शंख (१६।१२-१३; शुद्धिकौमुदी, पृ० २९७; शुद्धिप्रकाश, पृ० १०२)।

६६. अक्षोभ्याणि तडागानि नदीवापीसरांसि च। चण्डालाद्यशुचिस्पर्शे तीर्थतः परिवर्जयेत्॥ अक्षोभ्याणामपां नास्ति प्रस्तुतानां च दूषणम्। देवल (अपरार्क, पृ० २७२; शु० प्र०, पृ० १०२)।

६७. मृतपंचनखात्कूपादत्यन्तोपहतात्तथा। अपः समुद्धरेत्सर्वाः शेषं वस्त्रेण शोधयेत्॥ वह्निप्रज्वालनं कृत्वा कूपे पक्वेष्टकाचिते। पंचगव्यं न्यसेत् पश्चान्नवतोयसमुद्भवे॥ बृहस्पति (अपरार्क, पृ० २७२)। और देखिए शु० कौ० (पृ० २९८) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२३।४४-४५)।

है कि जल सूर्य एवं चन्द्र की किरणों, वायु-सम्बन्ध, गोबर एवं गोमूत्र से शुद्ध हो जाता है; इनमें कुछ पदार्थ आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से शुद्धिकारक मान लिये गये हैं।

एक स्मृति-वचन (अपरार्क, पृ० २७३) के अनुसार वन में, प्रपा (पौसरा या प्याऊ) या कूप के पास रखे हुए घड़े (जिससे कोई भी कूप से जल निकाल सकता है) का जल या पत्थर या लकड़ी वाले पात्र (जो सभी के लिए रहते हैं) का एवं चर्म-पात्र (चरस, मशक आदि) का जल, भले ही उससे शूद्र का कोई सम्बन्ध न हो, पीने के अयोग्य ठहराया गया है, किन्तु आपत्-काल में ऐसा जल जितना चाहे उतना पीया जा सकता है। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन काल में भी जलाभाव में जल चर्म-पात्र या ढोलक (मशक, जिसे आजकल भिश्ती काम में लाते हैं) में भरकर लाया जाता था और द्विज लोग भी उसे प्रयोग में लाते थे।[६८]

अब हम धातुओं एवं पात्रों की शुद्धि की चर्चा करेंगे। बौ० ध० सू० (१।५।३४-३५ एवं १।६।३७-४१), वसिष्ठ (३।५८ एवं ६१-६३), मनु (५।१११-११४), याज्ञ० (१।१८२ एवं १९०), विष्णु० (२३।२७, २३-२४), शंख (१६।३-४), स्मृत्यर्थसार (पृ० ७०) ने धातु-शुद्धि के विषय में नियम दिये हैं, जो विभिन्न प्रकार के हैं। अतः केवल मनु एवं दो-एक के मत यहाँ दिये जायँगे। मनु (५।११३) का कहना है—'बुधों (विद्वान् लोगों) ने उद्घोषित किया है कि सोना आदि धातुएँ, मरकत जैसे रत्न एवं पत्थर के अन्य पात्र राख, जल एवं मिट्टी से शुद्ध हो जाते हैं, सोने की वस्तुएँ (जो जूठे भोजन आदि से गन्दी नहीं हो गयी हैं) केवल जल से ही पवित्र हो जाती हैं। यही बात उन वस्तुओं के साथ भी पायी जाती है जो जल से प्राप्त होती हैं (यथा—सीपी, मूँगा, शंख आदि) या जो पत्थर से बनी होती हैं या चाँदी से बनी होती हैं और जिन पर शिल्पकारी नहीं हुई रहती है। सोना-चाँदी जल एवं तेज से उत्पन्न होते हैं, अतः उनकी शुद्धि उनके मूलभूत कारणों से ही होती है, अर्थात् जल से (थोड़ा अशुद्ध होने पर) एवं अग्नि से (अधिक अशुद्ध होने पर)। ताम्र, लोह, कांस्य, पीतल, टीन (त्रपु या राँगा) और सीसा को क्षार (भस्म), अम्ल एवं जल से परिस्थिति के अनुसार (जिस प्रकार की अशुद्धि हो) शुद्ध किया जाता है।' वसिष्ठ (३।५८, ६१-६३) का कथन है—'त्रपु (टीन), सीसा, ताँबा की शुद्धि नमक के पानी, अम्ल एवं साधारण जल से हो जाती है, काँसा एवं लोह भस्म एवं जल से शुद्ध होते हैं।' लिंगपुराण (पूर्वार्ध, १८९।५८) ने कहा है—'काँसा भस्म से, लोह-पात्र नमक से, ताँबा, त्रपु एवं सीसा अम्ल से शुद्ध होते हैं; सोने एवं चाँदी के पात्र जल से, बहुमूल्य पत्थर, रत्न, मूँगे एवं मोती धातु-पात्रों के समान शुद्ध किये जाते हैं।' और देखिए वामनपुराण (१४।७०)। मेधातिथि (मनु ५।११४) ने एक उक्ति उद्धृत की है—'काँसे या पीतल के पात्र जब गायों द्वारा चाट लिये जायँ या जिन्हें गायें सूँघ लें या जो कुत्तों द्वारा चाट या छू लिये जायँ, जिनमें शूद्र भोजन कर ले तथा जिन्हें कौए अपवित्र कर दें, वे नमक या भस्म द्वारा १० बार रगड़ने से शुद्ध हो जाते हैं।'[६९] देखिए पराशर भी (परा० मा०, जिल्द २, भाग १, पृ० १७२)।

सामान्य जीवन में व्यवहृत पात्रों एवं बरतनों की शुद्धि के विषय में बौधा० ध० सू० (१।५।३४-५० एवं १।६।३३-४२), याज्ञ० (१।१८२-१८३), विष्णु० (२३।२-५), शंख (१६।१५) आदि ने विस्तृत नियम दिये हैं। इनका कतिपय नियमों में मतैक्य नहीं है। मिता० (याज्ञ० १।१९०) ने कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि ताम्र-

६८. प्रपास्वरण्ये घटगं च कूपे द्रोण्यां जलं कोशगतास्तथापः। ऋतेपि शूद्रात्तदपेयमाहुरापद्गतः कांक्षितवत् पिबेत्॥ यम (अपरार्क, पृ० २७३; शु० प्र०, पृ० १०४)।

६९. गवाघ्रातानि कांस्यानि शूद्रोच्छिष्टानि यानि च। शुध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि च॥ मेधा० (मनु ५।११३ एवं याज्ञ० १।१९०)।

शुद्धि केवल अम्ल (खटाई) से होती है, अन्य साधन भी प्रयुक्त हो सकते हैं। पात्रों की शुद्धि की विभिन्न विधियों के विषय में लिखना आवश्यक नहीं है। शुद्धिप्रकाश (पृ० ११७-११८) की एक उक्ति इस विषय में पर्याप्त होगी कि मध्यकाल में पात्र-शुद्धि किस प्रकार की जाती थी—"सोने, चाँदी, मूँगा, रत्न, सीपियों, पत्थरों, काँसे, पीतल, टीन, सीसा के पात्र केवल जल से शुद्ध हो जाते हैं यदि उनमें गन्दगी चिपकी हुई न हो; यदि उनमें उच्छिष्ट भोजन आदि लगे हों तो वे अम्ल, जल आदि से परिस्थिति के अनुसार शुद्ध किये जाते हैं; यदि ऐसे पात्र शूद्रों द्वारा बहुत दिनों तक प्रयोग में लाये गये हों या उनमें भोजन के कणों का स्पर्श हुआ हो तो उन्हें पहले भस्म से माँजना चाहिए और तीन बार जल से धोना चाहिए और अन्त में उन्हें अग्नि में उस सीमा तक तपाना चाहिए कि वे समग्र रह सकें अर्थात् टूट न जायँ, गल न जायँ या जल न जायँ, तभी वे शुद्ध होते हैं। काँसे के बरतन यदि कुत्तों, कौओं, शूद्रों या उच्छिष्ट भोजन से केवल एक बार छू जायँ तो उन्हें जल एवं नमक से दस बार माँजना चाहिए, किन्तु यदि कई बार उपर्युक्त रूप से अशुद्ध हो जायँ तो उन्हें २१ बार माँजकर शुद्ध करना चाहिए। यदि तीन उच्च वर्णों के पात्र को शूद्र व्यवहार में लाये तो वह चार बार नमक से धोने एवं तपाने से तथा जल से धोये गये शुद्ध हाथों में ग्रहण करने से शुद्ध हो जाता है। सद्यः प्रसूता नारी द्वारा व्यवहृत काँसे का पात्र या वह जो मद्य से अशुद्ध हो गया हो तपाने से शुद्ध हो जाता है, किन्तु यदि वह उस प्रकार कई बार व्यवहृत हुआ हो तब वह पुनर्निर्मित होने से ही शुद्ध होता है। वह काँसे का बरतन जिसमें बहुधा कुल्ला किया गया हो, या जिसमें पैर धोये गये हों उसे पृथिवी में छः मास तक गाड़ देना चाहिए और उसे फिर तपाकर काम में लाना चाहिए (पराशर ७।२४-२५); किन्तु यदि वह केवल एक बार इस प्रकार अशुद्ध हुआ हो तो केवल १० दिनों तक गाड़ देना चाहिए। सभी प्रकार के धातु-पात्र यदि थोड़े काल के लिए शरीर की गन्दगियों, यथा—मल, मूत्र, वीर्य से अशुद्ध हो जायँ तो सात दिनों तक गोमूत्र में रखने या नदी में रखने से शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु यदि वे कई बार अशुद्ध हो जायँ या शव, सद्यःप्रसूता नारी या रजस्वला नारी से छू जायँ तो तीन बार नमक, अम्ल या जल से धोये जाने के उपरान्त तपाने से शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु यदि वे मूत्र से बहुत समय तक अशुद्ध हो जायँ तो पुनर्निर्मित होने पर ही शुद्ध हो सकते हैं।"

विष्णु० (२३।२ एवं ५) ने कहा है कि सभी धातुपात्र जब अत्यन्त अशुद्ध हो जाते हैं तो वे तपाने से शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु अत्यन्त अशुद्ध लकड़ी एवं मिट्टी के पात्र त्याग देने चाहिए। किन्तु देवल का कथन है कि कम अशुद्ध हुए काष्ठपात्र तक्षण (छीलने) से या मिट्टी, गोबर या जल से स्वच्छ हो जाते हैं और मिट्टी के पात्र यदि अधिक अशुद्ध नहीं हुए रहते तो तपाने से शुद्ध हो जाते हैं (याज्ञ० १।१८७ में भी ऐसा ही है)। किन्तु वसिष्ठ (३।५९) ने कहा है कि सुरा, मूत्र, मल, बलगम (श्लेष्मा), आँसू, पीव एवं रक्त से अशुद्ध हुए मिट्टी के पात्र अग्नि में तपाने पर भी शुद्ध नहीं होते।[७०]

वैदिक यज्ञों में प्रयुक्त पात्रों एवं वस्तुओं की शुद्धि के लिए विशिष्ट नियम हैं। बौधा० ध० सू० (१।५।५१-५२) के मत से यज्ञों में प्रयुक्त चमस-पात्र विशिष्ट वैदिक मन्त्रों से शुद्ध किये जाते हैं[७१]; क्योंकि वेदानुसार जब उनमें सोमरस का पान किया जाता है तो चमस-पात्र उच्छिष्ट होने के दोष से मुक्त रहते हैं। मनु (५।११६-११७), याज्ञ० (१।१८३-१८५), विष्णु० (२३।८-११), शंख (१६।६), पराशर (७।२-३) आदि ने भी यज्ञ-पात्रों की शुद्धि के

७०. मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः। संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम्॥ वसिष्ठ (३।५९ = मनु ५।१२३)।

७१. वचनाद्यज्ञे चमसपात्राणाम्। न सोमेनोच्छिष्टा भवन्तीति श्रुतिः। बौ० ध० सू० (१।५।५१-५२)। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ३३, जहाँ एक के पश्चात् एक पुरोहितों द्वारा चमसों से सोम पीने का उल्लेख है।

नियम दिये हैं। उदाहरणार्थ, मनु (५।११६-११७) का कथन है—यज्ञिय पात्रों को सर्वप्रथम दाहिने हाथ (या दर्भ या छन्ने) से रगड़ना चाहिए और तब चमस एवं प्याले यज्ञ में व्यवहृत होने के पश्चात् जल से धोये जाते हैं; चरु-स्थाली (जिसमें आहुति के लिए भात की हवि बनायी जाती है), स्रुव (काठ का करछुल जिससे यज्ञिय अग्नि में घृत डाला जाता है) एवं स्रुचि (अर्धवृत्त-मुखी काठ का करछुल) गर्म जल से शुद्ध किये जाते हैं; स्फ्य (काठ की तलवार), सूर्प (सूप), गाड़ी (जिसके द्वारा सोम के पौधे लाये जाते हैं), काठ का ऊखल (ओखली) एवं मुशल जल से स्वच्छ किये जाते हैं (या याज्ञ० १।१७४ के अनुसार जल-मार्जन से शुद्ध किये जाते हैं)।

अशुद्ध अन्न एवं सिद्ध भोजन की शुद्धि के लिए भी कतिपय नियम हैं। इन नियमों में सुविधा, साधारण जानकारी एवं हानि की बातों पर भी ध्यान दिया गया है। विष्णु० (२३।२५) का कथन है कि जब चावल (या अन्य अन्न) की ढेरी अशुद्ध हो जाय तो केवल अशुद्ध भाग को हटा देना चाहिए और शेष को धोकर चूर्ण में परिणत कर देना चाहिए; एक द्रोण (प्रायः ३० सेर) सिद्ध अन्न अशुद्ध हो जाने पर केवल उस भाग को हटा देना उपयुक्त है जो वास्तव में अशुद्ध हुआ है, किन्तु शेष पर सोना-मिश्रित जल छिड़कना चाहिए (उस जल पर गायत्रीमन्त्र का पाठ होना चाहिए), उसे बकरी को दिखाना चाहिए और अग्नि के पास रखना चाहिए।[७२] और देखिए बौ० ध० सू० (१।६।४४-४८)। यदि धान अशुद्ध हो गये हों तो उन्हें धोकर सुखा देना चाहिए। यदि वे अधिक हों तो केवल जल-मार्जन पर्याप्त है; भूसी हटाया हुआ चावल (अशुद्ध होने पर) त्याग देना चाहिए। यही नियम पके हुए हविष्यों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यदि अधिक सिद्ध-भोजन अशुद्ध हो जाय तो वह भाग जो कौओं या कुत्तों से अशुद्ध हो गया हो हटा देना चाहिए और शेषांश पर 'पवमानः सुवर्जनः' (तैत्तिरीयब्राह्मण, १।४।८) के अनुवाक के साथ जल-छिड़काव कर लेना चाहिए। गौतम० (१७। ९-१०) का कथन है कि केश एवं कीटों (चींटी आदि) के साथ पके भोजन, रजस्वला नारी से छू गये या कौए से चोंच मारे गये या पैर से लग गये भोजन को नहीं खाना चाहिए।[७३] किन्तु जब भोजन बन चुका हो तब वह कौए द्वारा छूआ गया हो या उसमें केश, कीट एवं मक्खियाँ पड़ गयी हों तो याज्ञ० (१।१८९) एवं पराशर (६।६४-६५) के मत से उस पर भस्म-मिश्रित जल एवं धूलि (जलयुक्त) छोड़ देनी चाहिए। आ० ध० सू० (१।५।१६।२४-२९) ने व्यवस्था दी है कि जिस भोजन में केश (पहले से ही पड़ा हुआ) या अन्य कोई वस्तु (नख आदि) हो तो वह अशुद्ध कहा जाता है और उसे नहीं खाना चाहिए, या वह भोजन जो अपवित्र पदार्थ से छू दिया गया हो या जिसमें अपवित्र वस्तुभोजी कीट पड़े हुए हों या जो किसी के पैर से धक्का खा गया हो या जिसमें चूहे की लेंड़ी या पूँछ (या कोई शरीरांग) पड़ा पाया जाय, उसे नहीं खाना चाहिए।

मनु (५।११८) ने एक सामान्य नियम दिया है जो अन्नों एवं वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के साथ भी व्यवहृत होता है, यथा यदि वस्तु-समूह की राशि हो तो प्रोक्षण (जल छिड़कना) पर्याप्त है, यदि मात्रा कम हो तो जल से धो लेना आवश्यक है। मनु (५।१२५=विष्णु० २३।३८) ने व्यवस्था दी है कि सिद्ध भोजन (थोड़ी मात्रा में), जिसका एक अंश (मनुष्यों द्वारा खाये जानेवाले) पक्षियों द्वारा चोंच मारे जाने पर या कौए द्वारा छू लिये जाने पर, मनुष्य के पैर द्वारा धक्का खा जाने पर, उस पर किसी द्वारा छींक दिये जाने पर, केश या कीटों के पड़ जाने पर धूलि

७२. असिद्धस्यान्नस्य यावन्मात्रमुपहतं तन्मात्रं परित्यज्य शेषस्य कण्डनप्रक्षालने कुर्यात्। द्रोणाधिकं सिद्धमन्नमुपहतं न दुष्यति। तस्योपहतमात्रमपास्य गायत्र्याभिमन्त्रितं सुवर्णाम्भः प्रक्षिपेद् बस्तस्य च प्रदर्शयेदग्नेश्च। विष्णु० (२३।११)। शुद्धिकौ० (पृ० ३१७) ने 'सूर्यस्य दर्शयेदग्नेश्च' पढ़ा है।

७३. नित्यमभोज्यम्। केशकीटावपन्नम्। रजस्वलाकृष्णशकुनिपदोपहतम्। गौ० (१७।८-१०)।

एवं जल छिड़क देने से पवित्र हो जाता है। पराशर (६।७१-७५) ने इस विषय में यों कहा है—'ब्राह्मण द्वारा वह भोजन, जिसे कुत्तों ने चाट लिया हो, कौए ने चोंच से छू दिया हो, या जिसे गाय या गधे ने सूँघ लिया हो, त्यक्त हो जाना चाहिए, किन्तु यदि वह एक द्रोण या आढक की मात्रा में हो तो उसकी शुद्धि कर लेनी चाहिए। वह भाग, जिस पर कुत्ते की लार टपक पड़ी हो या जिसे कौए ने छू लिया हो, त्याग देना चाहिए और शेषांश पर सुवर्ण-जल छिड़क देना चाहिए, उस पर अग्नि का ताप दे देना चाहिए, ब्राह्मणों को उस पर वैदिक मन्त्र (पवमान सूक्त आदि) का जोर से पाठ करना चाहिए, इसके उपरान्त वह भोजन खाने योग्य हो जाता है।'[७४] शुद्धिप्रकाश (पृ० १२८-१२९) ने व्याख्या की है कि एक द्रोण से अधिक भोजन धनिक लोगों द्वारा फेंक नहीं दिया जाना चाहिए और यही बात दरिद्रों के लिए एक आढक भोजन के विषय में भी लागू होती है।[७५]

मनु (५।११५) का कथन है कि द्रव (तरल पदार्थ, यथा—तेल, घी आदि) की शुद्धि (जब वह थोड़ी मात्रा में हो) उसमें दो कुशों को डाल देने से (या दूसरे पात्र में छान देने से) हो जाती है, किन्तु यदि मात्रा अधिक हो तो जल-मार्जन पर्याप्त है।[७६] शंख (१६।११-१२) का कथन है कि सभी प्रकार के निर्यासों (वृक्षों से जो स्राव या रस आदि निकलते हैं), गुड़, नमक, कुसुम्भ, कुंकुम, ऊन एवं सूत के विषय में शुद्धि प्रोक्षण से हो जाती है।[७७]

कुछ बातें वस्त्र-परिधानों एवं उन वस्तुओं के विषय में, जिनसे ये निर्मित होती हैं, लिखना आवश्यक है। लघु-आश्वलायन (१।२८-३०) ने व्यवस्था दी है कि पहनने के लिए श्वेत वस्त्र (धोती) उपयुक्त है, उत्तरीय आदि श्वेत वस्त्र के होने चाहिए, किसी के स्पर्श से ये अशुद्ध नहीं होते हैं। दोनों से युक्त होकर लोग मल-मूत्र का त्याग कर सकते हैं। त्रसर (टसर) धोकर स्वच्छ किया जाता है, किन्तु रेशमी वस्त्र सदा शुद्ध रहते हैं। मनु (५।१२०-१२१), याज्ञ० (१।१८६-१८७) एवं विष्णु (२३।१९-२२) ने भी यही कहा है, किन्तु थोड़े अन्तर के साथ, यथा—रेशमी एवं ऊनी वस्त्र लवणयुक्त (क्षार) जल से स्वच्छ करना चाहिए (गोमूत्र एवं जल से भी), नेपाली कम्बल रीठे से, छाल से बने वस्त्र बेल के फल से एवं क्षौम पट या सन से बना वस्त्र श्वेत सरसों के लेप से स्वच्छ करना चाहिए। विष्णु० (२३।६) का कथन है कि जब वस्त्र अत्यन्त अशुद्ध हो गया हो और जब वह भाग जो शुद्ध करने से रंगहीन हो गया हो तो उसे फाड़कर बाहर कर देना चाहिए। शंख (विश्वरूप, याज्ञ० १।१८२) ने व्यवस्था दी है कि परिधान को गर्म वाष्प एवं जल से शुद्ध करना चाहिए और अपवित्र अंश को फाड़ देना चाहिए। पराशर (७।२८) ने कहा है कि बाँस, वृक्ष की छाल, सन एवं रूई के परिधान, ऊन एवं भूर्जपत्र के बने वस्त्र केवल प्रोक्षण (पानी से धो देने) से स्वच्छ हो जाते हैं।

७४. काकश्वानावलीढं तु गवाघ्रातं खरेण वा। स्वल्पमन्नं त्यजेद्विप्रः शुद्धिर्द्रोणाढके भवेत्।। अन्नस्योद्धृत्य तन्मात्रं यच्च लालाहतं भवेत्। सुवर्णोदकमभ्युक्ष्य हुताशेनैव तापयेत्।। हुताशनेन संस्पृष्टं सुवर्णसलिलेन च। विप्राणां ब्रह्मघोषेण भोज्यं भवति तत्क्षणात्।। पराशर (६।७१-७४) एवं शु० प्र० (पृ० १२८-१२९)।

७५. द्रोण एवं आढक की विशिष्ट जानकारी के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ४। अधिकांश लेखकों ने एक द्रोण को चार आढक के समान माना है।

७६. द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्। प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम्।। मनु (५।११५)। कुल्लूक ने व्याख्या की है—"प्रादेशप्रमाणकुशपत्रद्वयाभ्यामुत्पवनेन शुद्धिः"; शुद्धिप्रकाश (पृ० १३३) ने यों लिखा है—"उत्पवनं वस्त्रान्तरितपात्रप्रक्षेपेण कीटाद्यपनयनमित्युक्तम्।"

७७. निर्यासानां गुडानां च लवणानां तथैव च। कुसुम्भकुंकुमानां च ऊर्णाकार्पासयोस्तथा। प्रोक्षणात्कथिता शुद्धिरित्याह भगवान्यमः।। शंख (१६।११-१२)।

स्मृतियों ने बहुत-सी अन्य वस्तुओं की शुद्धि की चर्चा की है, जिसे हम महत्त्वपूर्ण न समझकर छोड़ रहे हैं। दो-एक उदाहरण दे दिये जा रहे हैं। मनु (५।११९) ने कहा है कि चर्म एवं बाँस की तीलियों (या बेतों) से बनी हुई वस्तुएँ वस्त्रों के समान ही शुद्ध की जाती हैं और शाक, मूल एवं फल आदि अन्नों के सदृश स्वच्छ किये जाते हैं। मनु (५।१२०-१२१) ने पुनः कहा है कि सीप, शंख, सींग (भैंसों एवं भेड़ों के) एवं हाथियों के दाँत तथा अस्थियाँ या सूअरों के दाँत सन के वस्त्रों के समान या गोमूत्र या जल से शुद्ध होते हैं, घास, लकड़ियाँ एवं भूसा प्रोक्षण से पवित्र किये जाते हैं। विष्णु० (२३।१५, १६, २३) एवं याज्ञ० (१।१८५) ने भी ऐसी ही व्यवस्था दी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वस्तुओं की शुद्धि कई बातों पर निर्भर है, अर्थात् वे धातु की हैं या मिट्टी की, वे कठोर हैं या तरल, वे अधिक मात्रा में हैं या थोड़ी, या ढेरी में हैं, अथवा अशुद्धि अत्यधिक है या साधारण, आदि।

मनु (५।११०) की द्रव्य-शुद्धि मनुष्य के शरीर की शुद्धि के साधनों का अनुसरण करती है। इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय ७, ११, १२ एवं १७ में आचमन, स्नान आदि के रूप में शरीर-शुद्धि का विवेचन हो चुका है। अशौच की शुद्धि स्नान से होती है, इस पर हमने विचार कर लिया है। व्यभिचार के अपराध वाली नारी एवं बलात्कार से भ्रष्ट की हुई नारी की शुद्धि के लिए विशिष्ट नियम हैं (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ११)। पतित (ब्रह्मघातक आदि), चाण्डाल, सद्यःप्रसूता नारी, रजस्वला नारी तथा शव का स्पर्श करने पर वस्त्रयुक्त स्नान का विधान है। यही बात शव-यात्रा एवं कुत्तों के छूने पर भी है (गौतम० १४।२८-३०; मनु ५।८५ एवं १०३; अंगिरा १५२; आ० ध० सू० १।५।१५। १५-१६ एवं याज्ञ० ३।३०)। बौ० ध० सू० (१।५।१४०) में आया है कि वेद-विक्रेता (धन लेकर पढ़ाने वाले), यूप (जिसमें सिर बाँधकर बलि दी जाती है), चिता, पतित, कुत्ते एवं चाण्डाल का स्पर्श करने पर स्नान करना चाहिए। यही बात पराशर ने भी कही है।[७८] इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय ४ में हमने देख लिया है कि किस प्रकार मन्दिर या धार्मिक जुलूसों में, विवाहों, उत्सवों एवं तीर्थों के मेले-ठेले में अस्पृश्यों के स्पर्श के विषय में नियम ढीले कर दिये गये हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ अस्पृश्यों के प्रति नहीं प्रत्युत अशौच से युक्त पुरुषों के प्रति छूट की ओर संकेत है। किन्तु यह ठीक नहीं है, जैसा कि शुद्धिप्रकाश एवं शुद्धिकौमुदी की व्याख्या से प्रकट होता है। यथा—प्रथम बात यह है कि प्रयुक्त वचन सामान्य रूप से कहे गये हैं, न कि संकुचित अर्थ में। दूसरी बात यह है कि जननाशौच के आधार पर (माता को छोड़कर) छूत नहीं लगती, और यह बात प्रकट है कि मरणाशौच वाले व्यक्ति मन्दिर में, विवाहों, धार्मिक यात्रा या मेले या उत्सव में नहीं जाते। तीसरी बात यह है कि बहुत से अवसरों को उल्लिखित करते समय (यथा—धार्मिक यात्राओं, युद्धों, गाँव एवं नगर में आग लगने, विप्लवों या बाह्याक्रमणों में सम्मिलित होते समय) ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त उक्ति केवल जनन-मरणाशौच की ओर संकेत करती है।[७९]

७८. वेदविक्रयिणं यूपं पतितं चितिमेव च। स्पृष्ट्वा समाचरेत्स्नानं श्वानं चण्डालमेव च॥ बौ० ध० सू० (१।५।१४०)। चैत्यवृक्षश्चितिर्यूपश्चाण्डालः सोमविक्रयी। एतांस्तु ब्राह्मणः स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत्॥ पराशर (शु० कौ०, पृ० ३२७, जिसने व्याख्या की है—चैत्यवृक्षो ग्राममध्ये देवपूजावृक्षः, यूपोन्त्येष्टिकर्मयूपश्चिति-संनिधानात्)।

७९. तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे। नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति॥ बृहस्पति (शु० कौ०, पृ० ३२३; शु० प्र०, पृ० १३०)। और देखिए स्मृतिच० (१, पृ० १२१-१२२), जिसने यह एवं अन्य दो उद्धृत किये हैं—"देवयात्राविवाहेषु यज्ञेषु प्रकृतेषु च। उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते॥... (शातातप एवं षट्त्रिंशन्मत)।

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीयों ने तन, मन, (धन,) स्थल (जहाँ वे रहते थे या धार्मिक कृत्य करते थे), पात्रों (उनके द्वारा व्यवहृत बरतनों), भोजन-सामग्री एवं पूजा-सामग्री की पवित्रता पर बहुत ही बल दिया है। आधुनिक काल के लोगों को द्रव्यशुद्धि-सम्बन्धी कतिपय नियम बहुत कड़े लगते होंगे; किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राचीन भारतीयों का ऐसा विचार था कि शुद्ध भोजन से ही शुद्ध मन की प्राप्ति होती है (देखिए छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२ "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" एवं हारीत)। यह ज्ञातव्य है कि शुद्धि-सम्बन्धी (यथा—अन्नों की ढेरी या सिद्ध अन्नों की पुंजीकृत मात्रा के विषय में) कतिपय नियम सुविधा एवं साधारण जानकारी पर निर्भर थे। आजकल जहाँ भी कहीं भोजन, पान करते हुए हम सम्भवतः नियम-विरोध के सीमातिक्रमण से पीड़ित हो रहे हैं।

अध्याय ९

श्राद्ध

कई दृष्टियों से यह विषय बड़ा व्यावहारिक महत्त्व रखता है।

ब्रह्मपुराण ने श्राद्ध की परिभाषा यों दी है—'जो कुछ उचित काल, पात्र एवं स्थान के अनुसार उचित (शास्त्रानुमोदित) विधि द्वारा पितरों को लक्ष्य करके श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों को दिया जाता है, वह श्राद्ध कहलाता है।'[1] मिताक्षरा (याज्ञ० १।२१७) ने श्राद्ध को यों परिभाषित किया है—'पितरों का उद्देश्य करके (उनके कल्याण के लिए) श्रद्धापूर्वक किसी वस्तु का या उनसे सम्बन्धित किसी द्रव्य का त्याग श्राद्ध है।' कल्पतरु की परिभाषा यों है—'पितरों का उद्देश्य करके (उनके लाभ के लिए) यज्ञिय वस्तु का त्याग एवं ब्राह्मणों द्वारा उसका ग्रहण प्रधान श्राद्धस्वरूप है।' रुद्रधर के श्राद्धविवेक एवं श्राद्धप्रकाश ने मिता० के समान ही कहा है, किन्तु इनमें परिभाषा कुछ उलझ-सी गयी है। याज्ञ० (१।२६८=अग्निपुराण १६३।४०-४१) का कथन है कि पितर लोग, यथा—वसु, रुद्र एवं आदित्य, जो श्राद्ध के देवता हैं, श्राद्ध से सन्तुष्ट होकर मानवों के पूर्वपुरुषों को सन्तुष्टि देते हैं। यह वचन एवं मनु (३।२८४) की उक्ति यह स्पष्ट करती है कि मनुष्य के तीन पूर्वज, यथा—पिता, पितामह एवं प्रपितामह क्रम से पितृ-देवों, अर्थात् वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों के समान हैं और श्राद्ध करते समय उनको पूर्वजों का प्रतिनिधि मानना चाहिए। कुछ लोगों के मत से श्राद्ध से इन बातों का निर्देश होता है; होम, पिण्डदान एवं ब्राह्मण-तर्पण (ब्राह्मण-संतुष्टि, भोजन आदि से); किन्तु श्राद्ध शब्द का प्रयोग इन तीनों के साथ गौण अर्थ में उपयुक्त समझा जा सकता है।

१. देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्। पितॄनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दत्तं श्राद्धमुदाहृतम्॥ ब्रह्मपुराण (श्राद्धप्रकाश, पृ० ३ एवं ६; श्राद्धकल्पलता, पृ० ३; परा० मा० १।२, पृ० २९९)। मिता० (याज्ञ० १।२१७) में आया है—'श्राद्धं नामादनीयस्य तत्स्थानीयस्य वा द्रव्यस्य प्रेतोद्देशेन श्रद्धया त्यागः।' श्राद्धकल्पतरु (पृ० ४) में ऐसा कहा गया है—'एतेन पितॄनुद्दिश्य द्रव्यत्यागो ब्राह्मणस्वीकरणपर्यन्तं श्राद्धस्वरूपं प्रधानम्।' श्राद्धक्रियाकौमुदी (पृ० ३-४) का कथन है—'कल्पतरुलक्षणमप्यनुपादेयं संन्यासिनामात्मश्राद्धे देवश्राद्धे सनकादिश्राद्धे चाव्याप्तेः।' श्रीदत्तकृत पितृभक्ति में आया है—'अत्र कल्पतरुकारः पितॄनुद्दिश्य द्रव्यपातो ब्राह्मणस्वीकरणपर्यन्तो हि श्राद्धमित्याह तदयुक्तम्।' दीपकलिका (याज्ञ० १।१२८) ने कल्पतरु की बात मानी है। श्राद्धविवेक (पृ० १) ने इस प्रकार कहा है—'श्राद्धं नाम वेदबोधितपात्रालम्भनपूर्वकप्रमीतपित्रादिदेवतोद्देश्यको द्रव्यत्यागविशेषः।' श्राद्धप्रकाश (पृ० ४) ने इस प्रकार कहा है—'अत्रापस्तम्बादिसकलवचनपर्यालोचनया प्रमीतमात्रोद्देश्यकान्नत्यागविशेषस्य ब्राह्मणाद्यधिकरणप्रतिपत्त्यङ्गकस्य श्राद्धपदार्थत्वं प्रतीयते।' श्राद्धविवेक का कथन है कि 'द्रव्यत्याग' वेद के शब्दों द्वारा विहित (वेदबोधित) है और त्यागी हुई वस्तु सुपात्र ब्राह्मण को (पात्रालम्भनपूर्वक) दी जाती है। श्राद्धप्रकाश में 'प्रतिपत्ति' का अर्थ है यज्ञ में प्रयुक्त किसी वस्तु की अन्तिम परिणति, जैसा कि 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ में 'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' नामक वाक्य आया है। यहाँ 'शाखाप्रहरण' 'प्रतिपत्तिकर्म' है (जैमिनि० ४।२।१०-१३) न कि अर्थकर्म। इसी प्रकार आहिताग्नि के साथ उसके यज्ञपात्रों का दाह प्रतिपत्तिकर्म है (जहाँ तक यज्ञपात्रों का सम्बन्ध है)।

कर्म, पुनर्जन्म एवं कर्मविपाक के सिद्धान्त में अटल विश्वास रखनेवाले व्यक्ति इस सिद्धान्त के साथ कि पिण्डदान करने से तीन पूर्व-पुरुषों की आत्मा को सन्तुष्टि प्राप्त होती है, कठिनाई से समझौता कर सकते हैं। पुनर्जन्म (देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।४ एवं भगवद्गीता २।२२)[2] के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे नवीन शरीर में प्रविष्ट होती है। किन्तु तीन पूर्व पुरुषों के पिण्डदान का सिद्धान्त यह बतलाता है कि तीनों पूर्वजों की आत्माएँ ५० या १०० वर्षों के उपरान्त भी वायु में सन्तरण करते हुए चावल के पिण्डों की सुगन्धि या सारतत्त्व वायव्य शरीर द्वारा ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसके अतिरिक्त याज्ञ० (१।२६९=मार्कण्डेयपुराण २९।३८), मत्स्यपुराण (१९।११-१२) एवं अग्निपुराण (१६३।४१-४२) में आया है कि पितामह लोग (पितर) श्राद्ध में दिये गये पिण्डों से स्वयं सन्तुष्ट होकर अपने वंशजों को जीवन, संतति, सम्पत्ति, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, सभी सुख एवं राज्य देते हैं। मत्स्य-पुराण (१९।२) में ऋषियों द्वारा पूछा गया एक प्रश्न ऐसा आया है कि वह भोजन, जिसे ब्राह्मण (श्राद्ध में आमन्त्रित) खाता है या जो अग्नि में डाला जाता है, क्या उन मृतात्माओं द्वारा खाया जाता है, जो (मृत्यूपरान्त) अच्छे या बुरे शरीर धारण कर चुके होंगे। वहीं (श्लोक ३-९) यह उत्तर दिया गया है कि पिता, पितामह एवं प्रपितामह, वैदिक उक्तियों के अनुसार, क्रम से वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों के समानरूप माने गये हैं; कि नाम एवं गोत्र (श्राद्ध के समय वर्णित), उच्चरित मन्त्र एवं श्रद्धा आहुतियों को पितरों के पास ले जाते हैं; कि यदि किसी के पिता (अपने अच्छे कर्मों के कारण) देवता हो गये हैं, तो श्राद्ध में दिया हुआ भोजन अमृत हो जाता है और वह उनके देवत्व की स्थिति में उनका अनुसरण करता है; यदि वे दैत्य (असुर) हो गये हैं तो वह (श्राद्ध में दिया गया भोजन) उनके पास भाँति-भाँति के आनन्दों के रूप में पहुँचता है; यदि वे पशु हो गये हैं तो वह उनके लिए घास हो जाता है और यदि वे सर्प हो गये हैं तो श्राद्ध-भोजन वायु बनकर उनकी सेवा करता है, आदि-आदि। श्राद्धकल्पतरु (पृ० ५) ने मत्स्य० (१९।५-९) के श्लोक मार्कण्डेय पुराण के कहकर उद्धृत किये हैं। विश्वरूप (याज्ञ० १।२६५) ने भी उपर्युक्त विरोध उपस्थित करके स्वयं कई उत्तर दिये हैं। एक उत्तर यह है—यह बात पूर्णरूपेण शास्त्र पर आधारित है, अतः जब शास्त्र कहता है कि पितरों को संतुष्टि मिलती है और कर्ता को मनोवांछित फल प्राप्त होता है, तो कोई विरोध नहीं खड़ा करना चाहिए। एक दूसरा उत्तर यह है—'वसु, रुद्र आदि ऐसे देवता हैं जो सभी स्थानों में अपनी पहुँच रखते हैं, अतः पितर लोग जहाँ भी हों वे उन्हें सन्तुष्ट करने की शक्ति रखते हैं। विश्वरूप ने प्रश्नकर्ताओं को नास्तिक नहीं कहा है, जैसा कि कुछ अन्य लोगों एवं पश्चात्कालीन लेखकों ने कहा है।[3]

नन्द-पण्डितकृत श्राद्धकल्प ता (लगभग १६०० ई०) ने विरोधियों (जिन्हें वे नास्तिक कहते हैं) को विस्तृत प्रत्युत्तर दिया है। विरोधियों का कथन है कि पिता आदि के लिए, जो अपने विशिष्ट कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक को जाते हैं या अन्य प्रकार का जीवन धारण करते हैं, श्राद्ध-सम्पादन कोई अर्थ नहीं रखता। नन्द पण्डित ने पूछा है—"श्राद्ध क्यों अनुपयोगी है? क्या इसलिए कि इसके सम्पादन की अपरिहार्यता के लिए कोई व्यवस्थित विधान नहीं है? या

२. अयमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्। बृह० उप० (४।४।४); तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। गीता (२।२२)।

३. 'कथं हि स्वकर्मानुसारादनेकविषयोनिगतपितृतुष्ट्युपपत्तिः। शास्त्रप्रमाणकत्वादस्यार्थस्याचोद्यमेतत्। ......एते देवा वस्वादयः प्रीताः प्रीणयन्ति यत्रतत्रस्थान् मनुष्याणां पितॄन् श्राद्धात्तरसानुप्रदानेनेत्यर्थः। सर्वप्राणिगतत्वाच्चैषां सर्वावस्थितपितृतर्पणसामर्थ्यमविरुद्धम्।' विश्वरूप (याज्ञ० १।२६५, पृ० १७१)।

इसलिए कि श्राद्ध से फलों की प्राप्ति नहीं होती ? या इसलिए कि यह सिद्ध नहीं हुआ है कि पितगण श्राद्ध से संतुष्टि पाते हैं ? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि "विज्ञ लोगों को पूरी शक्ति भर श्राद्ध अवश्य करना चाहिए"-- ऐसे वचन मिलते हैं जो श्राद्ध की अनिवार्यता घोषित करते हैं। इसी प्रकार दूसरा विरोध भी अनुचित है, क्योंकि याज्ञ० (१।२६९) ने श्राद्ध के फल भी घोषित किये हैं, यथा दीर्घ जीवन आदि। इसी प्रकार तीसरा विकल्प भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। श्राद्ध-कृत्यों में ऐसा नहीं है कि केवल 'देवदत्त' आदि नाम वाले पूर्वज ही प्राप्तिकर्ता हैं और वे पितृ, पितामह एवं प्रपितामह शब्दों से लक्षित होते हैं, प्रत्युत वे नाम वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों-जैसे अधीक्षक देवताओं के साथ ही द्योतित होते हैं। जिस प्रकार 'देवदत्त' आदि शब्दों से जो लक्षित होता है वह न केवल शरीरों (जैसे कि नाम दिये गये हैं) एवं आत्माओं का द्योतन करता है, प्रत्युत वह शरीरों से विशिष्टीकृत व्यक्तिगत आत्माओं का परिचायक है; इसी प्रकार पितृ आदि शब्द अधीक्षक देवताओं (वसु, रुद्र एवं आदित्य) के साथ 'देवदत्त' एवं अन्यों के सम्मिलित रूप का द्योतन करते हैं। अतः वसु आदि अधीक्षक देवतागण पुत्रों आदि द्वारा दिये गये भोजन-पान से सन्तुष्ट होकर उन्हें, अर्थात् देवदत्त आदि को सन्तुष्ट करते हैं और श्राद्धकर्ता को पुत्र, संतति, जीवन, सम्पत्ति आदि के फल देते हैं। जिस प्रकार गर्भवती माता दोहद (गर्भवती दशा में स्त्रियों की विशिष्ट इच्छा) रूप में अन्य लोगों से मधुर अन्न-पान आदि द्वारा स्वयं सन्तुष्टि प्राप्त करती है और गर्भस्थित बच्चे को भी संतुष्टि देती है तथा दोहद, अन्न आदि देनेवाले को प्रत्युपकारक फल देती है, वैसे ही पितृ शब्द से द्योतित पिता, पितामह एवं प्रपितामह वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों के रूप हैं, वे केवल मानव रूप में कहे जानेवाले देवदत्त आदि के समान नहीं हैं। इसी से ये अधिष्ठाता देवतागण श्राद्ध में किये गये दानादि के प्राप्तिकर्ता होते हैं, श्राद्ध से तर्पित (सन्तुष्ट) होते हैं और मनुष्यों के पितरों को सन्तुष्ट करते हैं" (श्राद्धकल्पलता, पृ० ३-४)। श्राद्धकल्पलता ने मार्कण्डेयपुराण से १८ श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें बहुत-से अध्याय २८ में पाये जाते हैं। जिस प्रकार बछड़ा अपनी माता को इतस्ततः फैली हुई अन्य गायों में से चुन लेता है उसी प्रकार श्राद्ध में कहे गये मन्त्र प्रदत्त भोजन को पितरों तक ले जाते हैं।[४]

श्राद्धकल्पलता ने मार्कण्डेयपुराण के आधार पर जो तर्क उपस्थित किये हैं वे सन्तोषजनक नहीं हैं और उनमें बहुत खींचातानी है। मार्कण्डेय एवं मत्स्य, ऐसा लगता है, वेदान्त के इस कथन के साथ हैं कि आत्मा इस शरीर को छोड़कर देव या मनुष्य या पशु या सर्प आदि के रूप में अवस्थित हो जाती है। जो अनुमान उपस्थित किया गया है वह यह है कि श्राद्ध में जो अन्न-पान दिया जाता है वह पितरों के उपयोग के लिए विभिन्न द्रव्यों में परिवर्तित हो जाता है (मत्स्य० १४१।७४-७५)। इस व्याख्या को स्वीकार करने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि पितृगण विभिन्न स्थानों में मर सकते हैं और श्राद्ध बहुधा उन स्थानों से दूर एक ही स्थान पर किया जाता है। ऐसा मानना क्लिष्ट कल्पना है कि जहाँ दुष्कर्मों के कारण कोई पितर पशु रूप में परिवर्तित हो गये हैं, ऐसे स्थान-विशेष में उगी हुई घास वही है, जो सैकड़ों कोस दूर श्राद्ध में किये गये द्रव्यों के कारण उत्पन्न हुई है। इतना ही नहीं, यदि एक या सभी पितर पशु आदि योनि में परिवर्तित हो गये हैं तो किस प्रकार अपनी सन्तानों को आयु, धन आदि दे सकते हैं ? यदि यह कार्य वसु, रुद्र एवं आदित्य करते हैं तो सीधे तौर पर यही कहना चाहिए कि पितर लोग अपनी सन्तति को कुछ भी नहीं दे सकते।

४. यथा गोषु प्रनष्टासु वत्सो विन्दति मातरम्। तथा श्राद्धेषु दृष्टान्तो (दत्तान्नं ?) मन्त्रः प्रापयते तु तम्॥ मत्स्य० (१४१।७६); वायु० (५६।८५ एवं ८३।११९-१२०); ब्रह्माण्ड, अनुषंगपाद (२१८-९०।९१), उपोद्घातपाद (२०।१२-१३), जैसा कि स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४४८) ने उद्धृत किया है। और देखिए श्रा० क० ल० (पृ० ५)।

प्रतीत होता है कि (श्राद्ध द्वारा) **पूर्वज-पूजा** प्राचीन प्रथा है और **पुनर्जन्म** एवं **कर्मविपाक** के सिद्धान्त अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन हैं और हिन्दू धर्म ने, जो व्यापक है (अर्थात् अपने में सभी को समेट लेता है) पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त ग्रहण करते हुए भी श्राद्धों की परम्परा को ज्यों-का-त्यों रख लिया है। एक प्रकार से श्राद्ध-संस्था अति उत्तम है। इससे व्यक्ति अपने उन पूर्वजों का स्मरण कर लेता है जो जीवितावस्था में अपने प्रिय थे। 'आर्यसमाज' श्राद्ध-प्रथा का विरोध करता है और ऋग्वेद में उल्लिखित पितरों को वानप्रस्थाश्रम में रहने वाले जीवित लोगों के अर्थ में लेता है। यह ज्ञातव्य है कि वैदिक उक्तियाँ दोनों सिद्धान्तों का समर्थन करती हैं। शतपथब्राह्मण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि यज्ञकर्ता के पिता को दिया गया भोजन इन शब्दों में कहा जाता है—'यह तुम्हारे लिए है।' विष्णु० (७५।४) में आया है—'वह, जिसका पिता मृत हो गया हो, अपने पिता के लिए एक पिण्ड रख सकता है।' मनु (३।२८४) ने कहा है कि पिता वसु, पितामह रुद्र एवं प्रपितामह आदित्य कहे गये हैं। याज्ञ० (१।२६९) ने व्यवस्था दी है कि वसु, रुद्र एवं आदित्य पित हैं और श्राद्ध के अधिष्ठाता देवता हैं। इस अन्तिम कथन का उद्देश्य है कि पितरों का ध्यान वसु, रुद्र आदि के रूप में करना चाहिए।

जैसा कि अभी हम वैदिक उक्तियों के विषय में देखेंगे, पितरों की कल्पित, कल्याणकारी एवं हानिप्रद शक्ति पर ही आदिम अवस्था के लोगों में पूर्वज-पूजा की प्रथा महत्ता को प्राप्त हुई। ऐसा समझा जाता था कि पितर लोग जीवित लोगों को लाभ एवं हानि दोनों दे सकते हैं। आरम्भिक काल में पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए जो आहुतियाँ दी जाती थीं अथवा जो उत्सव किये जाते थे वे कालान्तर में श्रद्धा एवं स्मरण के चिह्नों के रूप में प्रचलित हो गये हैं। प्राक्-वैदिक साहित्य में पितरों के विषय में कतिपय विश्वास प्रकट किये गये हैं।[5] बौ० ध० सू० (२।८।१४) ने एक ब्राह्मण-ग्रन्थ से निष्कर्ष निकाला है कि पितर लोग पक्षियों के रूप में विचरण करते हैं। यही बात औशनसस्मृति एवं देवल (कल्पतरु) ने भी कही है। वायु० (७५।१३-१५=उत्तरार्ध १३।१३-१५), में ऐसा कहा गया है कि श्राद्ध के समय पितर लोग (आमन्त्रित) ब्राह्मणों में वायु रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं और जब योग्य ब्राह्मण वस्त्रों, अन्नों, प्रदानों, भक्ष्यों, पेयों, गायों, अश्वों, ग्रामों आदि से सम्पूजित हो जाते हैं तो वे प्रसन्न होते हैं।[6] मनु (३।१८९) एवं औशनस-स्मृति इस स्थापना का अनुमोदन करते हैं कि पितर लोग आमन्त्रित ब्राह्मणों में प्रवेश करते हैं। मत्स्यपुराण (१८।५-७) ने व्यवस्था दी है कि मृत्यु के उपरान्त पितर को १२ दिनों तक पिण्ड देने चाहिए, क्योंकि वे उसकी यात्रा में भोजन का कार्य करते हैं और उसे सन्तोष देते हैं। अतः आत्मा मृत्यु के उपरान्त १२ दिनों तक अपने आवास को नहीं त्यागती; मृतात्मा अपने घर, अपने पुत्रों, अपनी पत्नी के चतुर्दिक् १२ दिनों तक चक्कर काटता रहता है। अतः १० दिनों तक दूध (और जल) ऊपर टाँग देना चाहिए जिससे सभी यातनाएँ (मृत के कष्ट) दूर हो सकें और यात्रा की थकान मिट सके (मृतात्मा को निश्चित आवास स्वर्ग या यम के लोक में जाना पड़ता है)। विष्णुधर्मसूत्र (२०।३४-३६) में आया है—"मृतात्मा श्राद्ध में 'स्वधा' के साथ प्रदत्त भोजन का पितृलोक में रसास्वादन करता है; चाहे मृतात्मा (स्वर्ग

५. वयसां पिण्डं दद्यात्। वयसां हि पितरः प्रतिमया चरन्तीति विज्ञायते। बौ० ध० सू० (२।८।१४); न च पश्यत काकादीन् पक्षिणस्तु न वारयेत्। तद्रूपा पितरस्तत्र समायान्ति बुभुत्सवः॥ औशनस; न चात्र श्येनकाकादीन् पक्षिणः प्रतिषेधयेत्। तद्रूपाः पितरस्तत्र समायान्तीति वैदिकम्॥ देवल (कल्पतरु, श्राद्ध, पृ० १७)।

६. श्राद्धकाले तु सततं वायुभूताः पितामहाः। आविशन्ति द्विजान् दृष्ट्वा तस्मादेतद् ब्रवीमि ते॥ वस्त्रैरन्नैः प्रदानैस्तैर्भक्ष्यपेयैस्तथैव च। गोभिरश्वैस्तथा ग्रामैः पूजयित्वा द्विजोत्तमान्॥ भवन्ति पितरः प्रीताः पूजितेषु द्विजातिषु। तस्मादन्नेन विधिवत् पूजयेद् द्विजसत्तमान्॥ वायु० (७५।१३-१५); ब्राह्मणांस्ते समायान्ति पितरो ह्यन्तरिक्षगाः। वायुभूताश्च तिष्ठन्ति भुक्त्वा यान्ति परां गतिम्॥ औशनसस्मृति।

में) देव के रूप में हो, या नरक में हो (यातनाओं के लोक में हो), या निम्न पशुओं की योनि में हो, या मानव रूप में हो, सम्बन्धियों द्वारा श्राद्ध में प्रदत्त भोजन उसके पास पहुँचता है; जब श्राद्ध सम्पादित होता है तो मृतात्मा एवं श्राद्धकर्ता दोनों को तेज या सम्पत्ति या समृद्धि प्राप्त होती है।[7]

ब्रह्मपुराण (२२०।२) के मत से श्राद्ध का वर्णन पाँच भागों में किया जाना चाहिए; कैसे, कहाँ, कब, किसके द्वारा एवं किन सामग्रियों द्वारा। किन्तु इन पाँच प्रकारों के विषय में लिखने के पूर्व हमें 'पितरः' शब्द की अन्तर्निहित आदिकालीन विचारधारा पर प्रकाश डाल लेना चाहिए। हमें यह देखना है कि अत्यन्त प्राचीन काल में (जहाँ तक हमें साहित्य-प्रकाश मिल पाता है) इस शब्द के विषय में क्या दृष्टिकोण था और इसकी क्या महत्ता थी।

'पितृ' का अर्थ है 'पिता', किन्तु 'पितरः' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है; (१) व्यक्ति के आगे के तीन मृत पूर्वज एवं (२) मानव जाति के आरम्भिक या प्राचीन पूर्वज जो एक पृथक् लोक के अधिवासी के रूप में कल्पित हैं।[8] दूसरे अर्थ के लिए देखिए ऋ० (१०।१४।२ एवं ७; १०।१५।२ एवं ९।९७।३९)—"वह सोम जो शक्तिमान् होता चला जाता है और दूसरों को शक्तिमान् बनाता है, जो ताननेवाले से तान दिया जाता है, जो धारा में बहता है, प्रकाशमान (सूर्य) द्वारा जिसने हमारी रक्षा की—वही सोम, जिसकी सहायता से हमारे पितर लोगों ने स्थान (जहाँ गौएँ छिपाकर रखी हुई थीं) को एवं उच्चतर स्थलों को जानते हुए गौओं के लिए पर्वत को पीड़ित किया।" ऋग्वेद (१०।१५।१) में पितृगण निम्न, मध्यम एवं उच्च तीन श्रेणियों में व्यक्त हुए हैं। वे प्राचीन, पश्चात्कालीन एवं उच्चतर कहे गये हैं (ऋ० १०।१५।२)। वे सभी अग्नि को ज्ञात हैं, यद्यपि सभी पितृगण अपने वंशजों को ज्ञात नहीं हैं (ऋ० १०।१५।१३)। वे कई श्रेणियों में विभक्त हैं, यथा—अंगिरस्, वैरूप, अथर्वन्, भृगु, नवग्व एवं दशग्व (ऋ० १०।१४।५-६); अंगिरस् लोग यम से सम्बन्धित हैं, दोनों को यज्ञ में साथ ही बुलाया जाता है (ऋ० १०।१४।३-५)। ऋ० (१।६२।२) में ऐसा कहा गया है—"जिसकी (इन्द्र की) सहायता से हमारे प्राचीन पितर अंगिरस्, जिन्होंने उसकी स्तुति-वन्दना की और जो स्थान को जानते थे, गौओं का पता लगा सके।" अंगिरस् पितर लोग स्वयं दो भागों में विभक्त थे; नवग्व एवं दशग्व (ऋ० १।६२।४; ५।३९।१२ एवं १०।६२।६)। कई स्थानों पर पितर लोग सप्त ऋषियों जैसे सम्बोधित किये गये हैं (ऋ० ४।४२।८ एवं ६।२२।२) और कभी-कभी नवग्व एवं दशग्व भी सप्त ऋषि कहे गये हैं (ऋ० १।६२।४)। अंगिरस् लोग अग्नि (ऋ० १०।६२।५) एवं स्वर्ग (ऋ० ४।२।१५) के पुत्र कहे गये हैं। पितृ लोग अधिकतर देवों, विशेषतः यम के साथ आनन्द मनाते हुए व्यक्त किये गये हैं (ऋ० ७।७६।४, १०।१४।१० एवं १०।१५।८-१०)। वे सोमप्रेमी होते हैं (ऋ० १०।१५।१ एवं ५, ९।९७।३९), वे कुश पर बैठते हैं (ऋ० १०।१५।५), वे अग्नि एवं इन्द्र

७. पितृलोकगतश्चान्नं श्राद्धे भुंक्ते स्वधासमम्। पितृलोकगतस्यास्य तस्माच्छ्राद्धं प्रयच्छत ॥ देवत्वे यातनास्थाने तिर्यग्योनौ तथैव च। मानुष्ये च तथाप्नोति श्राद्धं दत्तं स्वबान्धवः॥ प्रेतस्य श्राद्धकर्तुश्च पुष्टिः श्राद्धे कृते ध्रुवम्। तस्माच्छ्राद्धं सदा कार्यं शोकं त्यक्त्वा निरर्थकम् ॥ विष्णुधर्मसूत्र (२०।३४-३६) और देखिए मार्कण्डेयपुराण (२३। ४९-५१)।

८. यह दृष्टिकोण यदि भारोपीय (इण्डो-यूरोपियन) नहीं है तो कम-से-कम भारत-पारस्य (इण्डो-ईरानियन) तो है ही। प्राचीन पारसी शास्त्र फ्रवशियों (फ्रवशीस=अंग्रेजी बहुवचन) के विषय में चर्चा करते हैं जो आरम्भिक रूप में प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में प्रयुक्त 'पितृ' या प्राचीन रोमकों (रोमवासियों) का 'मेनस' शब्द हैं। वे मृत लोगों के अमर एवं अधिष्ठाता देवता थे। क्रमशः 'फ्रवशी' का अर्थ विस्तृत हो गया और उसमें देवता तथा पृथिवी एवं आकाश जैसी वस्तुएँ भी सम्मिलित हो गयीं, अर्थात् प्रत्येक में फ्रवशी पायी जाने लगा।

के साथ आहुतियाँ लेने आते हैं (ऋ० १०।१५।१० एवं १०।१६।१२) और अग्नि उनके पास आहुतियाँ ले जाता है (ऋ० १०।१५।१२)। जल जाने के उपरान्त मृतात्मा को अग्नि पितरों के पास ले जाता है (ऋ० १०।१६।१-२ एवं ५=अथर्ववेद १८।२।१०; ऋ० १०।१७।३)। पश्चात्कालीन ग्रन्थों में भी, यथा मार्कण्डेय० (अध्याय ४५) में ब्रह्मा को आरम्भ में चार प्रकार की श्रेणियाँ उत्पन्न करते हुए व्यक्त किया गया है, यथा—देव, असुर, पितर एवं मानव प्राणी। और देखिए ब्रह्माण्डपुराण (प्रक्रिया, अध्याय ८, उपोद्घात, अध्याय ९।१०)—'इत्येते पितरो देवा देवाश्च पितरः पुनः। अन्योन्यपितरो ह्येते।'

ऐसा माना गया है कि शरीर के दाह के उपरान्त मृतात्मा को वायव्य शरीर प्राप्त होता है और वह मनुष्यों को एकत्र करनेवाले यम एवं पितरों के साथ हो लेता है (ऋ० १०।१४।१ एवं ८, १०।१५।१४ एवं १०।१६।५)। मृतात्मा पितृलोक में चला जाता है और अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह उसे सत् कर्म वाले पितरों एवं विष्णु के पाद-न्यास (विक्रम) की ओर ले जाय (ऋ० १०।१४।९, १०।१५।३ एवं १०।१६।४)।

यद्यपि ऋ० (१०।६४।३) में यम को दिवि (स्वर्ग में) निवास करने वाला लिखा गया है, किन्तु निरुक्त (१०।१८) के मत से वह मध्यम लोक में रहनेवाला देव कहा गया है। अथर्ववेद (१८।२।४९) का कथन है—"हम श्रद्धापूर्वक पिता के पिता एवं पितामह की, जो बृहत् मध्यम लोक में रहते हैं और जो पृथिवी एवं स्वर्ग में रहते हैं, पूजा करें।" ऋ० (१।३५।६) में आया है—'तीन लोक हैं; दो (अर्थात् स्वर्ग एवं पृथिवी) सविता की गोद में हैं, एक (अर्थात् मध्यम लोक) यमलोक है, जहाँ मृतात्मा एकत्र होते हैं।' 'महान् प्रकाशमान (सूर्य) उदित हो गया है, (वह) पितरों का दान है (ऋ० १०।१०७।१)।' तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।३।१०।५) में ऐसा आया है कि पितर लोग इससे आगे तीसरे लोक में निवास करते हैं। इसका अर्थ यह है कि भूलोक एवं अन्तरिक्ष के उपरान्त पितृलोक आता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।१६) में मनुष्यों, पितरों एवं देवों के तीन लोक पृथक्-पृथक् वर्णित हैं। ऋ० (१०।१३८।१-७) में यम कुछ भिन्न भाषा में उल्लिखित है, वह स्वयं एक देव कहा गया है, न कि प्रथम मनुष्य जिसने मार्ग बनाया (ऋ० १०। १४।२), या वह मनुष्यों को एकत्र करने वाला है (१०।१४।१) या पितरों की संगति में रहता है। कुछ स्थलों पर वह निस्सन्देह राजा कहा जाता है और वरुण के साथ ही प्रशंसित है (ऋ० १०।१४।७)। किन्तु ऐसी स्थिति बहुत ही कम वर्णित है। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए देखिए इस खण्ड का अध्याय ६।

पितरों की अन्य श्रेणियाँ भी हैं, यथा—पितरः सोमवन्तः, पितरः बर्हिषदः एवं पितरः अग्निष्वात्ताः। अन्तिम दो के नाम ऋ० (१०।१५।४ एवं ११=तै० सं० २।६।१२।२) में आये हैं। शतपथब्राह्मण ने इनकी परिभाषा यों की है—"जिन्होंने एक सोमयज्ञ किया वे पितर सोमवन्तः कहे गये हैं; जिन्होंने पक्व आहुतियाँ (चरु एवं पुरोडाश के समान) दीं और एक लोक प्राप्त किया वे पितर बर्हिषदः कहे गये हैं; जिन्होंने इन दोनों में कोई कृत्य नहीं सम्पादित किया और जिन्हें जलाते समय अग्नि ने समाप्त कर दिया, उन्हें अग्निष्वात्ताः कहा गया है; केवल ये ही पितर हैं।" और देखिए तै० ब्रा० (१।६।९।५) एवं काठकसंहिता (९।६।१७)। पश्चात्कालीन लेखकों ने पितरों की श्रेणियों के नामों के अर्थों में परिवर्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ, नान्दीपुराण (हेमाद्रि) में आया है—ब्राह्मणों के पितर अग्निष्वात्त, क्षत्रियों के बर्हिषद, वैश्यों के काव्य, शूद्रों के सुकालिनः तथा म्लेच्छों एवं अस्पृश्यों के व्याम हैं (मिलाइए मनु ३।१९७)। यहाँ तक कि मनु (३।१९३-१९८) ने भी पितरों की कई कोटियाँ दी हैं, और चारों वर्णों के लिए क्रम से सोमपाः, हविर्भुजः, आज्यपाः एवं सुकालिनः पितरों के नाम बतला दिये हैं। आगे चलकर मनु (३।१९९) ने कहा है कि ब्राह्मणों के पितर अनग्निदग्ध, अग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त एवं सौम्य नामों से पुकारे जाते हैं। इन नामों से पता चलता है कि मनु ने पितरों की कोटियों के विषय में कतिपय परम्पराओं को मान्यता दी है। देखिए इन नामों एवं इनकी परिभाषा के लिए मत्स्यपुराण (१४१।४, १४१।१५-१८)। शातातपस्मृति (६।५-६) में पितरों की १२

कोटियों या विभागों के नाम आये हैं, यथा—**पिण्डभाजः** (३), **लेपभाजः** (३), **नान्दीमुख** (३) एवं **अश्रुमुख** (३)। यह पितृ-विभाजन दो दृष्टियों से हुआ है। वायु० (७२।१ एवं ७३।६), ब्रह्माण्ड० (उपोद्घात ९।५३), पद्म० (५।९।२-३), विष्णुधर्मोत्तर (१।१३८।२-३) एवं अन्य पुराणों में पितरों के सात प्रकार आये हैं, जिनमें तीन **अमूर्तिमान्** हैं और चार **मूर्तिमान्**; वहाँ उनका और उनकी संतति का विशद वर्णन हुआ है। इन पर हम विचार नहीं कर रहे हैं। स्कन्दपुराण (६।२१६।९-१०) ने पितरों की नौ कोटियाँ दी हैं; **अग्निष्वात्ताः, बर्हिषदः, आज्यपाः, सोमपाः, रश्मिपाः, उपहूताः, आयन्तुनः, श्राद्धभुजः** एवं **नान्दीमुखाः**। इस सूची में नये एवं पुराने नाम सम्मिलित हैं। भारतीय लोग भागों, उपविभागों, विभाजनों आदि में बड़ी अभिरुचि प्रदर्शित करते हैं और सम्भवतः यह उसी भावना का एक दिग्दर्शन है। मनु (३।२०१) ने कहा है कि ऋषियों से पितरों की उद्भूति हुई, पितरों से देवों एवं मानवों की तथा देवों से स्थावर एवं जंगम के सम्पूर्ण लोक की उद्भूति हुई। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ देवगण पितरों से उद्भूत माने गये हैं। यह केवल पितरों की प्रशस्ति है (अर्थात् यह एक अर्थवाद है)।

पितर लोग देवों से भिन्न थे। ऋ० (१०।५३।४) के 'पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्' में प्रयुक्त शब्द 'पंचजनाः' एवं अन्य वचनों के अर्थ के आधार पर ऐतरेयब्राह्मण (१३।७ या ३।३१) ने व्याख्या की है कि वे पाँच कोटियाँ हैं अप्सराओं के साथ गन्धर्व, पितृ, देव, सर्प एवं राक्षस। निरुक्त ने इसका कुछ अंशों में अनुसरण किया है (३।८) और अपनी ओर से भी व्याख्या की है। अथर्ववेद (१०।६।३२) में देव, पितृ एवं मनुष्य उसी क्रम में उल्लिखित हैं। प्राचीन वैदिक उक्तियाँ एवं व्यवहार देवों एवं पितरों में स्पष्ट भिन्नता प्रकट करते हैं। तै० सं० (६।१।१।१) में आया है—'देवों एवं मनुष्यों ने दिशाओं को बाँट लिया, देवों ने पूर्व लिया, पितरों ने दक्षिण, मनुष्यों ने पश्चिम एवं रुद्रों ने उत्तर।' सामान्य नियम यह है कि देवों के यज्ञ मध्याह्न के पूर्व आरम्भ किये जाते हैं और पितृयज्ञ अपराह्ण में (शांखायनब्राह्मण, ५।६)। शतपथब्राह्मण (२।४।२।२) ने वर्णन किया है कि पितर लोग अपने दाहिने कंधे पर (और बायें बाहु के नीचे) यज्ञोपवीत धारण करके प्रजापति के यहाँ पहुँचे, तब प्रजापति ने उनसे कहा—"तुम लोगों को भोजन प्रत्येक मास (के अन्त) में (अमावास्या को) मिलेगा, तुम्हारी स्वधा विचार की तेजी होगी एवं चन्द्र तुम्हारा प्रकाश होगा।" देवों से उसने कहा—"यज्ञ तुम्हारा भोजन होगा एवं सूर्य तुम्हारा प्रकाश।" तै० ब्रा० (१।३।१०।४) ने, लगता है, उन पितरों में जो देवों के स्वभाव एवं स्थिति के हैं एवं उनमें, जो अधिक या कम मानव के समान हैं, अन्तर बताया है।

कौशिकसूत्र (१।९-२३) ने एक स्थल पर देव-कृत्यों एवं पितृ-कृत्यों की विधि के अन्तर को बड़े सुन्दर ढंग से दिया है। देव-कृत्य करनेवाला यज्ञोपवीत को बायें कंधे एवं दाहिने हाथ के नीचे रखता है एवं पितृ-कृत्य करनेवाला दायें कंधे एवं बाय हाथ के नीचे रखता है; देव-कृत्य पूर्व की ओर या उत्तर की ओर मुख करके आरम्भ किया जाता है किन्तु पितृ-यज्ञ दक्षिणाभिमुख होकर आरम्भ किया जाता है; देव-कृत्य का उत्तर-पूर्व (या उत्तर या पूर्व) में अन्त किया जाता है और पितृ-कृत्य दक्षिण-पश्चिम में समाप्त किया जाता है; पितरों के लिए एक कृत्य एक ही बार किया जाता है, किन्तु देवों के लिए कम-से-कम तीन बार या शास्त्रानुकूल कई बार किया जा सकता है; प्रदक्षिणा करने में दक्षिण भाग देवों की ओर किया जाता है और बायाँ भाग पितरों के विषय में किया जाता है; देवों को हवि या आहुतियाँ देते समय 'स्वाहा' एवं 'वषट्' शब्द उच्चारित होते हैं, किन्तु पितरों के लिए इस विषय में 'स्वधा' या 'नमस्कार' शब्द उच्चारित होते हैं; पितरों के लिए दर्भ जड़ से उखाड़कर प्रयुक्त होते हैं किन्तु देवों के लिए जड़ के ऊपर काटकर। बौधा० श्रौ० (२।२) ने एक स्थल पर इनमें से कुछ का वर्णन किया है।[९] स्वयं ऋ० (१०।१४।३ 'स्वाहयान्ये स्वधयान्ये मदन्ति')

९. प्रागपवर्गाण्युदगपवर्गाणि वा प्राङ्मुखः प्रदक्षिणं यज्ञोपवीती दैवानि कर्माणि करोति। दक्षिणामुखः प्रसव्यं प्राचीनावीती पित्र्याणि। बौ० श्रौ० (२।२)।

ने देवों एवं पितरों के लिए ऐसे शब्दान्तर को व्यक्त किया है। शतपथब्राह्मण (२।१।३।४ एवं २।१।४।९) ने देवों को अमर एवं पितरों को मर कहा है।

यद्यपि देव एवं पितर पृथक् कोटियों में रखे गये हैं, तथापि पितर लोग देवों की कुछ विशेषताओं को अपने में रखते हैं। ऋ० (१०।१५।८) ने कहा है कि पितर सोम पीते हैं। ऋ० (१०।६८।११) में ऐसा कहा गया है कि पितरों ने आकाश को नक्षत्रों से सुशोभित किया (नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्) और अंधकार रात्रि में एवं प्रकाश दिन में रखा। पितरों को गुप्त प्रकाश प्राप्त करने वाले कहा गया है और उन्हें 'उषा' को उत्पन्न करने वाले द्योतित किया गया है (ऋ० ७।७६।३)। यहाँ पितरों को उच्चतम देवों की शक्तियों से समन्वित माना गया है। भाँति-भाँति के वरदानों की प्राप्ति के लिए पितरों को श्रद्धापूर्वक बुलाया गया है और उनका अनुग्रह कई प्रकार से प्राप्य कहा गया है। ऋ० (१०।१४।६) में पितरों से **सुमति** एवं **सौमनस** (अनुग्रह) प्राप्त करने की बात कही गयी है। उनसे कष्टरहित आनन्द देने (ऋ० १०।१५।४) एवं यजमान (यज्ञकर्ता) को एवं उसके पुत्र को सम्पत्ति देने के लिए प्रार्थना की गयी है (ऋ० १०।१५।७ एवं ११)। ऋ० (१०।१५।११) एवं अथर्व० (१८।३।१४) ने सम्पत्ति एवं शूर पुत्र देने को कहा है। अथर्व० (१४।२।७३) ने कहा है—'वे पितर जो वधू को देखने के लिए एकत्र होते हैं उसे सन्ततियुक्त आनन्द दें।' वाजसनेयी संहिता (२।३३) में प्रसिद्ध मन्त्र यह है—"हे पितरो, (इस पत्नी के) गर्भ में (आगे चलकर) कमलों की माला पहनने वाला बच्चा रखो, जिससे वह कुमार (पूर्ण विकसित) हो जाय", जो उस समय कहा जाता है जब कि श्राद्धकर्ता की पत्नी तीन पिण्डों में बीच का पिण्ड खा लेती है।[10] इन शब्दों से यह नहीं समझना चाहिए कि पितरों के प्रति लोगों में भय-तत्त्व का सर्वथा अभाव था।[11] उदाहरणार्थ ऋ० (१०।१५।६) में आया है—"(त्रुटि करनेवाले) मनुष्य होने के नाते यदि हम आप के प्रति कोई अपराध करें तो हमें उसके लिए दण्डित न करें।" ऋ० (३।५५।२) में हम पढ़ते हैं—"वे देव एवं प्राचीन पितर, जो इस स्थल (गौओं या मार्ग) को जानते हैं, हमें यहाँ हानि न पहुँचायें।" ऋ० (१०।६६।१४) में ऐसा आया है—"वसिष्ठों ने देवों की स्तुति करते हुए पितरों एवं ऋषियों के सदृश वाणी (मन्त्र) परिमार्जित की या गढ़ी।" यहाँ 'पितृ' एवं 'ऋषि' दो पृथक् कोटियाँ हैं और वसिष्ठों की तुलना दोनों से की गयी है।[12]

१०. आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्।। वाज० सं० (२।३३)। खादिरगृह्य० (३।५।३०) ने व्यवस्था दी है—'मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्राशयेदाधत्तेति'; और देखिए गोभिलगृह्य (४।३।२७) एवं कौशिकसूत्र (८९।६)। आश्व० श्रौ० (२।७।१३) में आया है—'पत्नीं प्राशयेदाधत्त पितरो . . . स्रजम्।' अश्विनौ को पुष्करस्रजौ कहा गया है, अतः 'पुष्करस्रज' शब्द में भावना यह है कि पुत्र लम्बी आयु वाला एवं सुन्दर हो। 'यथेह . . . असत्' को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है—'येन प्रकारेण इहैव क्षितौ पुरुषो देवपितृमनुष्याणामभीष्टपूरयिता भूयात् तथा गर्भमाधत्त।' देखिए हलायुध का ब्राह्मणसर्वस्व। कात्यायनश्रौ० (४।१।२२) ने भी कहा है—'आधत्तेति मध्यमपिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामा।'

११. मिलाइए बुलियामीकृत 'इम्मॉर्टल मैन' (पृ० २४-२५), जहाँ आदिम अवस्था एवं सुसंस्कृत काल के लोगों के मृतक-सम्बन्धी भय-स्नेह के भावों के विषय में प्रकाश डाला गया है।

१२. देवाः सौम्याश्च काव्याश्च अयज्वानो ह्ययोनिजाः। देवास्ते पितरः सर्वे देवास्तान्वादयन्त्युत।। मनुष्यपितरश्चैव तेभ्योऽन्ये लौकिकाः स्मृताः। पिता पितामहश्चैव तथा यः प्रपितामहः।। ब्रह्माण्डपुराण (२।२८।७०-७१); अंगिराश्च क्रतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः। एते कुरुकुलश्रेष्ठ महायोगेश्वराः स्मृताः।। एते च पितरो राजन्नेष श्राद्धविधिः परः। प्रेतास्तु पिण्डसम्बन्धान्मुच्यन्ते तेन कर्मणा।। अनुशासनपर्व (९२।२१-२२)। इस उद्धरण से प्रकट होता है कि अंगिरा, क्रतु एवं कश्यप पितर हैं, जिन्हें जल दिया जाता है (पिण्ड नहीं), किन्तु अपने समीपवर्ती मृत पूर्वजों को पिण्ड दिये जाते हैं।

वैदिक साहित्य की बहुत सी उक्तियों में 'पितरः' शब्द व्यक्ति के समीपवर्ती, मृत पुरुष पूर्वजों के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अतः तीन पीढ़ियों तक वे (पूर्वजों को) नाम से विशिष्ट रूप से व्यंजित करते हैं, क्योंकि ऐसे बहुत-से पितर हैं जिन्हें आहुति दी जाती है' (तै० ब्रा० १।६।९।५)। शतपथब्राह्मण (२।४।२।१९) ने पिता, पितामह एवं प्रपितामह को पुरोडाश (रोटी) देते समय के सूक्तों का उल्लेख किया है और कहा है कि कर्ता इन शब्दों को कहता है—"हे पितर लोग, यहाँ आकर आनन्द लो, बैलों के समान अपने-अपने भाग पर स्वयं आओ" (वाज० सं० २।३१, प्रथम पाद)। कुछ (तै० सं० १।८।५।१) ने यह सूक्त दिया है—"यह (भात का पिण्ड) तुम्हारे लिए और उनके लिए है जो तुम्हारे पीछे आते हैं।" किन्तु शतपथब्राह्मण ने दृढतापूर्वक कहा है कि यह सूक्त नहीं कहना चाहिए, प्रत्युत यह विधि अपनानी चाहिए—"यहाँ यह तुम्हारे लिए है।" शत० ब्रा० (१२।८।१।७) में तीन पूर्व पुरुषों को **स्वधाप्रेमी** कहा गया है। इन वैदिक उक्तियों एवं मनु (३।२२१) तथा विष्णु० (२१।३ एवं ७५।४) की इस व्यवस्था पर कि नाम एवं गोत्र बोलकर ही पितरों का आह्वान करना चाहिए, निर्भर रहते हुए श्राद्धप्रकाश (पृ० १३) ने निष्कर्ष निकाला है कि पिता एवं अन्य पूर्वजों को ही श्राद्ध का देवता कहा जाता है, न कि वसु, रुद्र एवं आदित्य को, क्योंकि इनके गोत्र नहीं होते और पिता आदि वसु, रुद्र एवं आदित्य के रूप में केवल ध्यान के लिए वर्णित हैं। श्राद्धप्रकाश (पृ० २०४) ब्रह्मपुराण के इस कथन पर, जो यह व्यवस्था देता है कि कर्ता को ब्राह्मणों से यह कहना चाहिए कि मैं कृत्यों के लिए पितरों को बुलाऊँगा और जब ब्राह्मण ऐसी अनुमति दे देते हैं तो उसे वैसा करना चाहिए (अर्थात् पितरों का आह्वान करना चाहिए), यह निर्देश देता है कि यहाँ पितरों का तात्पर्य है देवों से, अर्थात् वसुओं, रुद्रों एवं आदित्यों से तथा मानवों से, यथा—कर्ता के पिता तथा अन्यों से। वायु० (५६।६५-६६), ब्रह्माण्ड० एवं अनुशासन पर्व ने उपर्युक्त पितरों एवं लौकिक पितरों (पिता, पितामह एवं प्रपितामह) में अन्तर दर्शाया है। देखिए वायु० (७०।३४), जहाँ पितर लोग देवता कहे गये हैं।

वैदिक साहित्य के उपरान्त की रचना में, विशेषतः पुराणों में पितरों के मूल एवं प्रकारों के विषय में विशद वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ, वायुपुराण (५६।१८) ने पितरों की तीन कोटियाँ बतायी हैं; **काव्य, बर्हिषद** एवं **अग्निष्वात्त**। पुनः वायु० (अध्याय ७३) ने तथा वराह० (१३।१६), पद्म० (सृष्टि ९।२–४) एवं ब्रह्माण्ड (३।१०।१) ने सात प्रकार के पितरों के मूल पर प्रकाश डाला है, जो स्वर्ग में रहते हैं, जिनमें चार तो मूर्तिमान् हैं और तीन अमूर्तिमान्। शातातपस्मृति (६।५।६) ने १२ पितरों के नाम दिये हैं; पिण्डभाजः, लेपभाजः, नान्दीमुखाः एवं अश्रुमुखाः। स्थानाभाव से हम इन पर विवेचन नहीं करेंगे।

सूत्रकाल (लगभग ई० पू० ६००) से लेकर मध्यकाल के धर्मशास्त्रकारों तक सभी लोगों ने श्राद्ध की महत्ता एवं उससे उत्पन्न कल्याण की प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं। आपस्तम्बधर्म० (२।७।१६।१-३) ने अधोलिखित सूचना दी है—"पुराने काल में मनुष्य एवं देव इसी लोक में रहते थे। देव लोग यज्ञों के कारण (पुरस्कारस्वरूप) स्वर्ग चले गये। किन्तु मनुष्य रह गये। जो मनुष्य देवों के समान यज्ञ करते हैं वे परलोक (स्वर्ग) में देवों एवं ब्रह्मा के साथ निवास करते हैं। तब (मनुष्यों को पीछे रहते देखकर) मनु ने उस कृत्य का आरम्भ किया जिसे श्राद्ध की संज्ञा मिली है जो मानव जाति को श्रेय (मुक्ति या आनन्द) की ओर ले जाता है। इस कृत्य में पितर लोग देवता (अधिष्ठाता) हैं, किन्तु ब्राह्मण लोग (जिन्हें भोजन दिया जाता है) आहवनीय अग्नि (जिसमें यज्ञों के समय आहुतियाँ दी जाती हैं) के स्थान पर माने जाते हैं।" इस अन्तिम सूत्र के कारण हरदत्त (आप० ध० सू० के टीकाकार) एवं अन्य लोगों का कथन है कि श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाना प्रमुख कृत्य है। ब्रह्माण्डपुराण (उपोद्घातपाद ९।१५ एवं १०।९९) ने मनु को श्राद्ध के कृत्यों का प्रवर्तक एवं विष्णुपुराण (३।१।३०), वायु० (४४।३८) एवं भागवत० (३।१।२२) ने **श्राद्धदेव** कहा है। इसी प्रकार शान्तिपर्व (३४५।१४-२१) एवं विष्णुधर्मोत्तर० (१।१३९।१४-१६) में आया है कि श्राद्ध-प्रथा का

संस्थापन विष्णु के वराहावतार के समय हुआ और विष्णु को पिता, पितामह एवं प्रपितामह को दिये गये तीन पिण्डों में अवस्थित मानना चाहिए। इससे और आप० ध० सू० के वचन से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि ईसा की कई शताब्दियों पूर्व श्राद्ध-प्रथा का प्रतिष्ठापन हो चुका था और यह मानवजाति के पिता मनु के समान ही प्राचीन है (ऋ० ८।६३।१ एवं ८।३०।३)। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि 'श्राद्ध' शब्द किसी भी प्राचीन वैदिक वचन में नहीं पाया जाता, यद्यपि **पिण्डपितृयज्ञ** (जो आहिताग्नि द्वारा प्रत्येक मास की अमावस्या को सम्पादित होता था)[13], **महापितृयज्ञ** (चातुर्मास्य या साकमेध में सम्पादित) एवं **अष्टका** आरम्भिक वैदिक साहित्य में ज्ञात थे। कठोपनिषद् (१।३।१७) में 'श्राद्ध' शब्द आया है; 'जो भी कोई इस अत्यन्त विशिष्ट सिद्धान्त को ब्राह्मणों की सभा में या श्राद्ध के समय उद्घोषित करता है वह अमरता प्राप्त करता है।' 'श्राद्ध' शब्द के अन्य आरम्भिक प्रयोग सूत्र साहित्य में प्राप्त होते हैं। अत्यन्त तर्कशील एवं सम्भव अनुमान यही निकाला जा सकता है कि पितरों से सम्बन्धित बहुत ही कम कृत्य उन दिनों किये जाते थे, अतः किसी विशिष्ट नाम की आवश्यकता प्राचीन काल में नहीं समझी गयी। किन्तु पितरों के सम्मान में किये गये कृत्यों की संख्या में जब अधिकता हुई तो 'श्राद्ध' शब्द की उत्पत्ति हुई।

श्राद्ध की प्रशस्तियों के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। बौ० ध० सू० (२।८।१) का कथन है कि पितरों के कृत्यों से दीर्घ आयु, स्वर्ग, यश एवं पुष्टिकर्म (समृद्धि) की प्राप्ति होती है। हरिवंश (१।२१।१) में आया है—श्राद्ध से यह लोक प्रतिष्ठित है और इससे योग (मोक्ष) का उदय होता है। सुमन्तु (स्मृतिच०, श्राद्ध, पृ० ३३३) का कथन है—श्राद्ध से बढ़कर श्रेयस्कर कुछ नहीं है।[14] वायुपुराण (३।१४।१-४) का कथन है कि यदि कोई श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करता है तो वह ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र एवं अन्य देवों, ऋषियों, पक्षियों, मानवों, पशुओं, रेंगने वाले जीवों एवं पितरों के समुदाय तथा उन सभी को जो जीव कहे जाते हैं एवं सम्पूर्ण विश्व को प्रसन्न करता है। यम ने कहा है कि पितृपूजन से आयु, पुत्र, यश, स्वर्ग, कीर्ति, पुष्टि (समृद्धि), बल, श्री, पशु, सौख्य, धन, धान्य की प्राप्ति होती है।[15] और देखिए याज्ञ० (१।२७०)। श्राद्धसार (पृ० ६) एवं श्राद्धप्रकाश (पृ० ११-१२) द्वारा उद्धृत विष्णुधर्मोत्तर में ऐसा कहा गया है कि प्रपितामह को दिया गया पिण्ड स्वयं वासुदेव घोषित है, पितामह को दिया गया संकर्षण तथा पिता को दिया गया प्रद्युम्न घोषित है और पिण्डकर्ता स्वयं अनिरुद्ध कहलाता है। शान्तिपर्व (३४५।२१) में कहा गया है कि विष्णु को तीनों पिण्डों में अवस्थित समझना चाहिए। कूर्मपुराण में आया है कि "अमावस्या के दिन पितर लोग वायव्य रूप धारण कर अपने पुराने निवास के द्वार पर आते हैं और देखते हैं कि उनके कुल के लोगों द्वारा श्राद्ध किया जाता है कि नहीं। ऐसा वे सूर्यास्त तक देखते हैं। जब सूर्यास्त हो जाता है, वे भूख एवं प्यास से व्याकुल हो निराश हो जाते हैं, चिन्तित हो

१३. 'पिण्डपितृयज्ञ' श्राद्ध ही है, जैसा कि गोभिलगृह्य० (४।४।१-२) में आया है—'अन्वष्टक्यस्थालीपाकेन पिण्डपितृयज्ञो व्याख्यातः। अमावास्यां तच्छ्राद्धमितरदन्वाहार्यम्।' और देखिए श्रा० प्र० (पृ० ४)। पिण्डपितृयज्ञ एवं महापितृयज्ञ के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ३० एवं ३१।

१४. पित्र्यमायुष्यं स्वर्ग्यं यशस्यं पुष्टिकर्म च। बौ० ध० सू० (२।८।१)। श्राद्धे प्रतिष्ठितो लोकः श्राद्धे योगः प्रवर्तते॥ हरिवंश (१।२१।१)। श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः॥ सुमन्तु (स्मृतिच०, श्राद्ध, ३३३)।

१५. आयुः पुत्रान् यशः स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियः। पशून् सौख्यं धनं धान्यं प्राप्नुयात् पितृपूजनात्॥ यम (स्मृतिच०, श्राद्ध, पृ० ३३३ एवं श्राद्धसार पृ० ५)। ऐसा ही श्लोक याज्ञ० (१।२७०, मार्कण्डेयपुराण ३२।३८) एवं शंख (१४।३३) में भी है।

जाते हैं, बहुत देर तक दीर्घ श्वास छोड़ते हैं और अन्त में अपने वंशजों को कोसते (उनकी भर्त्सना करते) हुए चले जाते हैं। जो लोग अमावस्या को जल या शाक-भाजी से भी श्राद्ध नहीं करते उनके पितर लोग उन्हें अभिशापित कर चले जाते हैं।"

'श्राद्ध' शब्द की व्युत्पत्ति पर भी कुछ लिख देना आवश्यक है। यह स्पष्ट है कि यह शब्द 'श्रद्धा' से बना है। ब्रह्मपुराण (उपर्युक्त उद्धृत), मरीचि एवं बृहस्पति की परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि श्राद्ध एवं श्रद्धा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्राद्ध में श्राद्धकर्ता का यह अटल विश्वास रहता है कि मृत या पितरों के कल्याण के लिए ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जाता है वह उसे या उन्हें किसी प्रकार अवश्य मिलता है। स्कन्दपुराण (६।२१८।३) का कथन है कि 'श्राद्ध' नाम इसलिए पड़ा है कि उस कृत्य में श्रद्धा मूल (मूल स्रोत) है। इसका तात्पर्य यह है कि इसमें न केवल विश्वास है, प्रत्युत एक अटल धारणा है कि व्यक्ति को यह करना ही है। ऋ० (१०।१५१।१-५) में श्रद्धा को देवत्व दिया गया है और वह देवता के समान सम्बोधित है। और देखिए ऋ० (२।२६।३; ७।३२।१४; ८।१।३१ एवं ९।११३।४)। कुछ स्थलों पर श्रद्धा शब्द के दो भाग (श्रत् एवं धा) बिना किसी अर्थ-परिवर्तन के पृथक्-पृथक् रखे गये हैं। देखिए ऋ० (२।१२।५), अथर्ववेद (२०।३४।५) एवं ऋ० (१०।१४७।१=श्रत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवे)। तै० सं० (७।४।१।१) में आया है—"बृहस्पति ने इच्छा प्रकट की; देव मुझमें विश्वास (श्रद्धा) रखें, मैं उनके पुरोहित का पद प्राप्त करूँ।" और देखिए ऋ० (१।१०३।५)। निरुक्त (३।१०) में 'श्रत्' एवं 'श्रद्धा' को 'सत्य' के अर्थ में व्यक्त किया गया है। वाज० सं० (१९।७७) में कहा गया है कि प्रजापति ने 'श्रद्धा' को सत्य में और 'अश्रद्धा' को झूठ में रख दिया है, और वाज० सं० (१९।३०) में कहा गया है कि सत्य की प्राप्ति श्रद्धा से होती है।

वैदिकोत्तरकालीन साहित्य में पाणिनि (५।२।८५) ने 'श्राद्धिन्' एवं 'श्राद्धिक' को 'वह जिसने श्राद्ध-भोजन कर लिया हो' के अर्थ में निश्चित किया है। 'श्राद्ध' शब्द 'श्रद्धा' से निकाला जा सकता है (पा० ५।१।१०९)। योग-सूत्र (१।२०) के भाष्य में 'श्रद्धा' शब्द कई प्रकार से परिभाषित है—'श्रद्धा चेतसः संप्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति', अर्थात् श्रद्धा को मन का प्रसाद या अक्षोभ (स्थैर्य) कहा गया है। देवल ने श्रद्धा की परिभाषा यों की है—'प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता। नास्ति ह्यश्रद्धधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम्॥' (कृत्यरत्नाकर, पृ० १६ एवं श्राद्धतत्त्व, पृ० १८९) अर्थात् धार्मिक कृत्यों में जो प्रत्यय (या विश्वास) होता है वही श्रद्धा है, जिसे प्रत्यय नहीं है उसे धार्मिक कर्म करने का प्रयोजन नहीं है। कात्यायन के श्राद्धसूत्र (हेमाद्रि, पृ० १५२) में व्यवस्था है—'श्रद्धायुक्त व्यक्ति शाक से भी श्राद्ध करे (भले ही उसके पास अन्य भोज्य पदार्थ न हो)।' और देखिए मनु (३।२७५) जहाँ पितरों की संतुष्टि के लिए श्राद्ध पर बल दिया गया है। मार्कण्डेय० (२९।२७) में श्राद्ध का सम्बन्ध श्रद्धा से द्योतित किया गया है और कहा गया है कि श्राद्ध में जो कुछ दिया जाता है वह पितरों द्वारा प्रयुक्त होनेवाले उस भोजन में परिवर्तित हो जाता है जिसे वे कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार नये शरीर के रूप में पाते हैं। इस पुराण में यह भी आया है कि अनुचित एवं अन्यायपूर्ण ढंग से प्राप्त धन से जो श्राद्ध किया जाता है वह चाण्डाल, पुक्कस तथा अन्य नीच योनियों में उत्पन्न लोगों की सन्तुष्टि का साधन होता है।[१६]

१६. श्रद्धया परया दत्तं पितृणां नामगोत्रतः। यदाहारास्तु ते जातास्तदाहारत्वमेति तत्॥ मार्कण्डेयपुराण (२९।२७); अन्यायोपार्जितैरर्थैर्यच्छ्राद्धं क्रियते नरैः। तृप्यन्ते तेन चाण्डालपुक्कसाद्यासु योनिषु॥ मार्कण्डेय० (२८।१६) एवं स्कन्द० (७।१।२०५।२२)।

हमने ऊपर लिख दिया है कि अति प्राचीन काल में मृत पूर्वजों के लिए केवल तीन कृत्य किये जाते थे; (१) **पिण्डपितृयज्ञ** (उनके द्वारा किया गया जो श्रौताग्नियों में यज्ञ करते थे) या मासिक श्राद्ध (उनके द्वारा जो श्रौताग्नियों में यज्ञ नहीं करते थे; देखिए आश्व० गृ० २।५।१०, हिरण्यकेशिगृ० २।१०।१७, आप० गृ० ८।२१।१, विष्णुपुराण ३।१४।३, आदि), (२) **महापितृयज्ञ** एवं (३) **अष्टकाश्राद्ध**। प्रथम दो का वर्णन इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय ३० एवं ३१ में हो चुका है। अष्टका श्राद्धों के विषय में अभी तक कुछ नहीं बताया गया है। इनका विशिष्ट महत्त्व है, किन्तु इनके सम्पादन के दिनों एवं मासों, अधिष्ठाता देवों, आहुतियों एवं विधि के विषय में लेखकों में मतैक्य नहीं है।

गौतम० (८।१९) ने **अष्टका** को सात **पाकयज्ञों** एवं चालीस संस्कारों में परिगणित किया है। लगता है, 'अष्टका' पूर्णिमा के पश्चात् किसी मास की अष्टमी तिथि का द्योतक है (श० ब्रा० ६।४।२।४०)। श० ब्रा० (६।२।२।२३) में आया है—'पूर्णिमा के पश्चात् आठवें दिन वह (अग्निचयनकर्ता) अग्नि-स्थान (चुल्लि या चुल्ली, चूल्ही या चूल्हे) के लिए सामग्री एकत्र करता है, क्योंकि प्रजापति के लिए (पूर्णिमा के पश्चात्) अष्टमी पवित्र है और प्रजापति के लिए यह कृत्य पवित्र है।' जैमिनि० (१।३।२) के भाष्य में शबर ने अथर्ववेद (३।१०।२) एवं आप० मन्त्रपाठ (२०।२७) में आये हुए मन्त्र को **अष्टका** का द्योतक माना है। मन्त्र यह है—'वह (अष्टका) रात्रि हमारे लिए सुमंगल हो, जिसका लोग किसी की ओर आती हुई गौ के समान स्वागत करते हैं और जो वर्ष की पत्नी है।'[१७] अथर्ववेद (३।१०।८) में संवत्सर को **एकाष्टका** का पति कहा गया है। तै० सं० (७।४।८।१) में आया है कि 'जो लोग **संवत्सर सत्र** के लिए दीक्षा लेनेवाले हैं उन्हें एकाष्टका के दिन दीक्षा लेनी चाहिए, जो **एकाष्टका** कहलाती है वह वर्ष की पत्नी है।' जैमिनि० (६।५।३२-३७) ने **एकाष्टका** को माघ की पूर्णिमा के पश्चात् की अष्टमी कहा है। आप० गृ० (हरदत्त, गौतम० ८।१९) ने भी यही कहा है, किन्तु इतना जोड़ दिया है कि उस तिथि (अष्टमी) में चन्द्र ज्येष्ठा नक्षत्र में होता है।[१८] इसका अर्थ यह हुआ कि यदि अष्टमी दो दिनों की हो गयी तो वह दिन जब चन्द्र ज्येष्ठा में है, एकाष्टका कहलायेगा। हिरण्य० गृ० (२।१५।९) ने भी एकाष्टका को वर्ष की पत्नी कहा है।[१९]

आश्व० गृ० (२।४।१) के मत से अष्टका के दिन (अर्थात् कृत्य) चार थे; हेमन्त एवं शिशिर (अर्थात् मार्गशीर्ष, पौष, माघ एवं फाल्गुन) की दो ऋतुओं के चार मासों के कृष्ण पक्षों की आठवीं तिथियाँ। अधिकांश में सभी गृह्यसूत्र, यथा—मानवगृ० (२।८), शांखा० गृ० (३।१२।१), खादिरगृ० (३।२।२७), काठकगृ० (६१।१), कौषितकि गृ० (३।१५।१) एवं पार० गृ० (३।३) कहते हैं कि केवल तीन ही अष्टका कृत्य होते हैं; मार्गशीर्ष (आग्र-

१७. अष्टकालिंगाश्च मन्त्रा वेदे दृश्यन्ते यां जनाः प्रतिनन्दतीत्येवमादयः। शबर (जैमिनि० १।३।२)। शबर ने इसे जैमिनि० (६।५।३५) में इस प्रकार पढ़ा है—'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्। संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमंगली॥' और उन्होंने जोड़ दिया है—'अष्टकायै सुराधसे स्वाहा'। अथर्ववेद (३।१०।२) में 'जनाः' के स्थान पर 'देवाः' एवं 'धेनुमिवायतीम्' के स्थान पर धेनुमुपायतीम् आया है।

१८. पाणिनि (७।३।४५) के एक वार्तिक के अनुसार 'अष्टका' शब्द 'अष्टन्' से बना है। पा० (७।३।४५) का ९वाँ वार्तिक हमें बताता है कि 'अष्टन्' से 'अष्टका' व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है वह कृत्य जिसके अधिष्ठाता देवता पितर लोग हैं, और 'अष्टिका' शब्द का अर्थ कुछ और है, यथा 'अष्टिका खारी'।

१९. माघ की पूर्णिमा वर्ष का मुख कहलाती है, अर्थात् प्राचीन काल में उसी से वर्ष का आरम्भ माना जाता था। पूर्णिमा के पश्चात् अष्टका-दिन पूर्णिमा के उपरान्त का प्रथम एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पर्व था और यह वर्षारम्भ (वर्ष आरम्भ होने) से छोटा माना जाता था। सम्भवतः इसी कारण यह वर्ष की पत्नी कहा गया है।

हायण) की पूर्णिमा के पश्चात् आठवीं तिथि (जिसे आग्रहायणी कहा जाता था); अर्थात् मार्गशीर्ष, पौष (तैष) एवं माघ के कृष्ण पक्षों में। गोभिलगृ० (३।१०।४८) ने लिखा है कि कौत्स के मत से अष्टकाएँ चार हैं और सभी में मांस दिया जाता है, किन्तु गौतम, औद्गाहमानि एवं वार्कखण्डि ने केवल तीन की व्यवस्था दी है। बौ० गृ० (२।११।१) के मत से तैष, माघ एवं फाल्गुन में तीन अष्टकाहोम किये जाते हैं। आश्व० गृ० (२।४२) ने एक विकल्प दिया है कि अष्टका कृत्य केवल एक अष्टमी (तीन या चार नहीं) को भी सम्पादित किये जा सकते हैं। बौ० गृ० (२।११।१-४) ने व्यवस्था दी है कि यह कृत्य माघ मास के कृष्ण पक्ष की तीन तिथियों (७वीं, ८वीं एवं ९वीं) को या केवल एक दिन (माघ कृष्णपक्ष की अष्टमी) को भी संपादित हो सकता है। हिरण्य० गृ० (२।१४।२) ने केवल एक अष्टका कृत्य की, अर्थात् माघ के कृष्ण पक्ष में **एकाष्टका** की व्यवस्था दी है। भारद्वाज गृ० (२।१५) ने भी एकाष्टका का उल्लेख किया है किन्तु यह जोड़ दिया है कि माघ कृष्ण पक्ष की अष्टमी को, जब कि चन्द्र ज्येष्ठा में रहता है, एकाष्टका कहा जाता है। हिरण्य० गृ० (२।१४ एवं १५) के मत से अष्टका तीन दिनों तक, अर्थात् ८वीं, ९वीं (जिस दिन पितरों के लिए गाय की बलि होती थी) एवं १०वीं (जिसे अन्वष्टका कहा जाता था) तक चलती है। वैखानस-स्मार्तसूत्र (४।८) का कथन है कि अष्टका का सम्पादन माघ या भाद्रपद (आश्विन) के कृष्ण पक्ष की ७वीं, ८वीं या ९वीं तिथियों में होता है।

आहुतियों के विषय में भी मत-मतान्तर हैं। काठ० गृ० (६१।३), जैमि० गृ० (२।३) एवं शांखा० गृ० (३।१२।२) ने कहा है कि तीन विभिन्न अष्टकाओं में सिद्ध (पके हुए) शाक, मांस एवं अपूप (पूआ या रोटी) की आहुतियाँ दी जाती हैं, किन्तु पार० गृ० (३।३) एवं खादिरगृ० (३।३।२९-३०) ने प्रथम अष्टका के लिए अपूपों (पूओं) की (इसी से गोभिलगृ० ३।१०।९ ने इसे **अपूपाष्टका** कहा है) एवं अन्तिम के लिए सिद्ध शाकों की व्यवस्था दी है। खादिरगृ० (३।४।१) के मत से गाय की बलि होती है। आश्व० गृ० (२।४।७-१०), गोभिलगृ० (४।१।१८-२२), कौशिक (१३८।२) एवं बौ० गृ० (२।११।५१।६१) के मत से इसके कई विकल्प भी हैं—गाय या भेड़ या बकरे की बलि देना; सुलभ जंगली मांस या मधु-तिल युक्त मांस या गेंडा, हिरन, भैंसा, सूअर, शशक, चित्ती वाले हिरन, रोहित हिरन, कबूतर (या तीतर), सारंग एवं अन्य पक्षियों का मांस या किसी बूढ़े लाल बकरे का मांस; मछलियाँ; दूध में पका हुआ चावल (लपसी के समान), या बिना पके हुए अन्न या फल या मूल, या सोना भी दिया जा सकता है, अथवा गायों या साँड़ों के लिए केवल घास खिलायी जा सकती है, या वन में केवल झाड़ियाँ जलायी जा सकती हैं या वेदज्ञ को पानी रखने के लिए घड़े दिये जा सकते हैं, या 'यह मैं अष्टका संपादन करता हूँ' ऐसा कहकर श्राद्धसम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारण किया जा सकता है। किन्तु अष्टका के कृत्य को किसी-न-किसी प्रकार अवश्य करना चाहिए।[२०]

२०. अथ यदि गां न लभते मेषमजं वालभते। आरण्येन वा मांसेन यथोपपन्नेन। खड्गमृगमहिषमेषवराहपृषतशशरोहितशार्ङ्गतित्तिरिकपोतकपिंजलवार्ध्रीणसानामक्षय्यं तिलमधुसंसृष्टम्। तथा मत्स्यस्य शतवलैः(?) क्षीरोदनेन वा सूपोदनेन वा। यद्वा भवत्यामैर्वा मूलफलैः प्रदानमात्रम्। हिरण्येन वा प्रदानमात्रम्। अपि वा गोग्रासमाहरेत्। अपि वानूचानेभ्य उदकुम्भानाहरेत्। अपि वा श्राद्धमन्त्रानधीयीत। अपि वारण्येऽग्निना कक्षमुपोषेदेषा मेऽष्टकेति। न त्वेवानष्टकः स्यात्। बौ० गृ० (२।११।५१-६१); अष्टकायामष्टकाहोमाञ्जुहुयात्। तस्या हवींषि धानाः करम्भः शष्कुल्यः पुरोडाश उदौदनः क्षीरौदनस्तिलौदनो यथोपपादिपशुः। कौशिकसूत्र (१६८-१-२)। वार्ध्रीणस के अर्थ के विषय में आगे लिखा जायगा।

यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि उपर्युक्त उद्धृत वार्तिक एवं काठकगृ० (६१।१) का कथन है कि 'अष्टका' शब्द उस कृत्य के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें पितर लोग देवताओं (अधिष्ठाताओं) के रूप में पूजित होते हैं, किन्तु अष्टका के देवता के विषय में मत-मतान्तर हैं। आश्व० गृ० (२।४।३ एवं २।५।३-५) में आया है कि मास के कृष्णपक्ष की सप्तमी को तथा नवमी को पितरों के लिए हवि दी जाती है, किन्तु आश्व० गृ० (२।४।१२) ने अष्टमी के देवता के विषय में आठ विकल्प दिये हैं, यथा—विश्वे-देव (सभी देव), अग्नि, सूर्य, प्रजापति, रात्रि, नक्षत्र, ऋतुएँ, पितर एवं पशु। गोभिल गृ० (३।१०।१) ने यह कहकर आरम्भ किया है कि रात्रि अष्टका की देवता है, किन्तु इतना जोड़ दिया है कि देवता के विषय में अन्य मत भी हैं, यथा—अग्नि, पितर, प्रजापति, ऋतु या विश्वे-देव।

अष्टका की विधि तीन भागों में है; **होम**, भोजन के लिए **ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना** (भोजनोपरान्त उन्हें देखने तक) एवं **अन्वष्टक्य** या **अन्वष्टका** नामक कृत्य। यदि अष्टका कई मासों में सम्पादित होने वाली तीन या चार हों, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, तो ये सभी विधियाँ प्रत्येक अष्टका में की जाती हैं। जब अष्टका कृत्य केवल एक मास में, अर्थात् केवल माघ की पूर्णिमा के पश्चात् हो तो उपर्युक्त कृत्य कृष्णपक्ष की सप्तमी, अष्टमी एवं नवमी को किये जाते हैं। यदि यह एक ही दिन सम्पादित हो तो तीनों विधियाँ उसी दिन एक के उपरान्त एक अवश्य की जानी चाहिए।

अष्टकाओं के विषय में आश्वलायन, कौशिक, गोभिल, हिरण्यकेशी एवं बौधायन के गृह्यसूत्रों में विशद विधि दी हुई है। आपस्तम्बगृ० (८।२१ एवं २२) में उसका संक्षिप्त रूप है जिसे हम उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं। एकाष्टका की परिभाषा देने के उपरान्त आप० गृ० (८।२१।१०) ने लिखा है—"कर्ता को एक दिन पूर्व ('अमान्त' कृष्ण पक्ष की सप्तमी को) सायंकाल आरंभिक कृत्य करने चाहिए। वह चार प्यालों में (चावल की राशि में से) चावल लेकर उससे रोटी पकाता है, कुछ लोगों के मत से (पुरोडाश की भाँति) आठ कपालों वाली रोटी बनायी जाती है। अमावस्या एवं पूर्णिमा के यज्ञों की भाँति **आज्यभाग** नामक कृत्य तक सभी कृत्य करके वह दोनों हाथों से रोटी या अपूप की आहुतियाँ देता है और आप० मन्त्रपाठ का एक मन्त्र (२।२०।२७) पढ़ता है। अपूप का शेष भाग आठ भागों में विभाजित कर ब्राह्मणों को दिया जाता है। दूसरे दिन वह (कर्ता) 'मैं तुम्हें यज्ञ में बलि देने के लिए, जो पितरों को अच्छा लगता है, बनाता हूँ' कथन के साथ गाय को दर्भ स्पर्श कराकर बलि के लिए तैयार करता है। मौन रूप से (बिना 'स्वाहा' कहे) घृत की पाँच आहुतियाँ देकर पशु की वपा (मांस) को पकाकर और उसे नीचे फैलाकर तथा उस पर घृत छोड़कर वह पलाश की पत्ती से (डंठल के मध्य या अन्त भाग से पकड़कर) उसकी आगे के मन्त्र (आप० मन्त्रपाठ, २।२०।२८) के साथ आहुति देता है। इसके उपरान्त वह भात के साथ मांस आगे के सात मन्त्रों (आप० मन्त्रपाठ, २।२०।२९-३५) के साथ आहुति रूप में देता है। इसके पश्चात् वह दूध में पके हुए आटे को आगे के मन्त्र (२।२१।१ 'उक्थ्यश्चातिरात्रश्च') के साथ आहुति रूप में देता है। तब आगे के मन्त्रों (२।२१।२-९) के साथ घृत की आहुतियाँ देता है। **स्विष्टकृत्** के कृत्यों से लेकर पिण्ड देने तक के कृत्य मासिक श्राद्ध के समान ही होते हैं (आप० गृ० ८।२१।१-९)। कुछ आचार्यों का मत है कि अष्टका से एक दिन उपरान्त (अर्थात् कृष्ण पक्ष की नवमी को) ही पिण्ड दिये जाते हैं। कर्ता अपूप के समान ही दोनों हाथों से दही की आहुति देता है। दूसरे दिन गाय के मांस का उतना अंश, जितने की आवश्यकता हो, छोड़कर अन्वष्टका कृत्य सम्पादित करता है।"

यद्यपि आप० गृ० (२।५।३) एवं शांखा० गृ० (३।१३।७) का कथन है कि अन्वष्टका कृत्य में पिण्डपितृ-यज्ञ की विधि मानी जाती है, किन्तु कुछ गृह्यसूत्र (यथा खादिर० ३।५ एवं गोभिल० ४।२-३) इस कृत्य का विशद वर्णन उपस्थित करते हैं। आश्व० गृ० एवं विष्णुधर्मसूत्र (७४) ने मध्यम मार्ग अपनाया है। आश्व० गृ० का वर्णन अपेक्षाकृत संक्षिप्त है और हम उसी को प्रस्तुत कर रहे हैं। यह ज्ञातव्य है कि कुछ गृह्यसूत्रों का कथन है कि अन्वष्टका

कृत्य कृष्ण पक्ष की नवमी या दशमी को किया जाता है (खादिर० ३।५।१)। इसे पार० गृ० (३।३।३०), मनु (४।१५०) एवं विष्णु० (७४।१ एवं ७६।१) ने **अन्वष्टका** की संज्ञा दी है। अत्यन्त विशिष्ट बात यह है कि इस कृत्य में स्त्री पितरों का आह्वान किया जाता है और इसमें जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उनमें सुरा, माँड़, अंजन, लेप एवं मालाएँ भी सम्मिलित रहती हैं। यद्यपि आश्व० गृ० (२।५) आदि ने घोषित किया है कि अष्टका एवं अन्वष्टक्य मासिक श्राद्ध या पिण्डपितृयज्ञ पर आधारित हैं तथापि बौधा० गृ० (३।१२।१), गोभिल० (४।४) एवं खादिर० (३।५।३५) ने कहा है कि अष्टका या अन्वष्टक्य के आधार पर ही पिण्डपितृयज्ञ एवं अन्य श्राद्ध किये जाते हैं। काठक० (६६।१।६७, ६८।१ एवं ६९।१) का कथन है कि प्रथम श्राद्ध, सपिण्डीकरण जैसे अन्य श्राद्ध, पशुश्राद्ध (जिसमें पशु का मांस अर्पित किया जाता है) एवं मासिक श्राद्ध अष्टका की विधि का ही अनुसरण करते हैं। पिण्डपितृयज्ञ का सम्पादन अमावस्या के दिन केवल आहिताग्नि करता है। यह बात सम्भवतः उलटी थी, अर्थात् केवल थोड़े ही आहिताग्नि थे, शेष लोगों के पास केवल गृह्य अग्नियाँ थीं और उनसे भी अधिक बिना गृह्याग्नि के थे। यह सम्भव है कि सभी को पिण्डपितृयज्ञ के अनुकरण पर अमावस्या को श्राद्ध करना होता था। ज्यों-ज्यों पिण्डपितृयज्ञ का सम्पादन कम होता गया, अमावस्या के दिन श्राद्ध करना शेष रह गया और सूत्रों एवं स्मृतियों में जो कुछ कहा गया है वह **मासि-श्राद्ध** के रूप में रह गया और अन्य श्राद्धों के विषय में सूत्रों एवं स्मृतियों ने केवल यही निर्देश किया कि क्या-क्या छोड़ देना चाहिए। इसी से **मासि-श्राद्ध** ने प्रकृति की संज्ञा पायी और अन्य श्राद्ध **विकृति** (मासि-श्राद्ध के विभिन्न रूप) कहलाये। मासि-श्राद्ध में पिण्डपितृयज्ञ की अधिकांश बातें आवश्यक थीं और कुछ बातें, यथा—अर्घ्य देना, गन्ध, दीप आदि देना, जोड़ दी गयीं तथा कुछ अधिक विशद नियम निर्मित कर दिये गये।

अन्वष्टक्य का वर्णन आश्व० गृ० (२।५।२-१५) में इस प्रकार है—उसी मांस का एक भाग तैयार करके,[२१] दक्षिण की ओर ढालू भूमि पर अग्नि प्रतिष्ठापित करके, उसे घेरकर और घिरी शाला के उत्तर में द्वार बनाकर, अग्नि के चारों ओर यज्ञिय घास (कुश) तीन बार रखकर, किन्तु उसके मूलों को उससे दूर रखकर, अपने वामांग को अग्नि की ओर रखकर उसे (कर्ता को) हवि, यथा—भात, तिलमिश्रित भात, दूध में पकाया हुआ भात, दही के साथ मीठा भोजन एवं मधु के साथ मांस रख देना चाहिए। इसके आगे पिण्डपितृयज्ञ के कृत्यों के समान कर्म करने चाहिए (आश्व० श्रौ० २।६)। इसके उपरान्त मीठे खाद्य पदार्थ को छोड़कर सभी हवियों के कुछ भाग को मधु के साथ अग्नि में डालकर उस हवि का कुछ भाग पितरों को तथा उनकी पत्नियों को सुरा एवं माँड़ मिलाकर देना चाहिए। कुछ लोग हवि को गड्ढों में रखने को कहते हैं, जिनकी संख्या दो से छः तक हो सकती है। पूर्व वाले गड्ढों में पितरों को हवि दी जाती है और पश्चिम वालों में उनकी पत्नियों को। इस प्रकार वर्षा ऋतु के प्रौष्ठपद (भाद्रपद) की पूर्णिमा के पश्चात् कृष्ण पक्ष में मघा के दिन यह कृत्य घोषित किया गया है। इस प्रकार उसे (कर्ता को) प्रति मास (अन्वष्टका जैसा कृत्य) पितरों के लिए करना चाहिए और ऐसा करते हुए विषम संख्या पर ध्यान देना चाहिए (अर्थात् विषम संख्या में ब्राह्मण एवं तिथियाँ होनी चाहिए)। उसे कम-से-कम नौ ब्राह्मणों या किसी भी विषम संख्या वाले ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए। मांगलिक अवसरों एवं कल्याणप्रद कृत्यों के सम्पादन पर सम संख्या में ब्राह्मणों को खिलाना चाहिए तथा अन्य अवसरों पर विषम संख्या में। यह कृत्य बायें से दाहिने किया जाता है, इसमें तिल के स्थान पर यव (जौ) का प्रयोग होता है।"[२२]

२१. उस पशु का मांस जो अष्टका के दिन काटा जाता है (आश्व० गृ० २।४।१३)।

२२. 'वृद्धि' या 'आभ्युदयिक' (समृद्धि या अच्छे भाग्य की ओर संकेत करनेवाले) श्राद्ध पुत्र की उत्पत्ति, पुत्र

अन्वष्टक्य कृत्य प्रत्येक तीन या चार अष्टकाओं के उपरान्त सम्पादित होता था, किन्तु यदि माघ में केवल एक ही अष्टका की जाय तब वह कृष्ण पक्ष की अष्टमी के उपरान्त किया जाता था।

आश्व० गृह्यसूत्र (२।५।९) में माघ्यावर्ष नामक कृत्य के विषय में दो मत प्रकाशित किये गये हैं। नारायण के मत से यह कृत्य भाद्रपद कृष्ण पक्ष की तीन तिथियों में, अर्थात् सप्तमी, अष्टमी एवं नवमी को किया जाता है। दूसरा मत यह है कि यह कृत्य अष्टकाओं के समान ही है जो भाद्रपद की त्रयोदशी को सम्पादित होता है, जब कि सामान्यतः चन्द्र मघा नक्षत्र में होता है। इस कृत्य के नाम में सन्देह है, क्योंकि पाण्डुलिपियों में बहुत-से रूप प्रस्तुत किये गये हैं। वास्तविक नाम, लगता है, **माघ्यवर्ष या मघावर्ष** है (वर्षा ऋतु में जब कि चन्द्र मघा नक्षत्र में रहता है)। विष्णु० (७६।१) ने श्राद्ध करने के लिए निम्नलिखित काल बतलाया है—(वर्ष में) १२ अमावस्याएँ, ३ अष्टकाएँ, ३ अन्वष्टकाएँ, मघा नक्षत्र वाले चन्द्र के भाद्रपद कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी एवं शरद तथा वसन्त की ऋतुएँ। विष्णु० (७८।५२-५३) ने भाद्रपद की त्रयोदशी के श्राद्ध की बड़ी प्रशंसा की है। मनु (३।२७३) का भी कथन है कि वर्षा ऋतु के मघा नक्षत्र वाले चन्द्र की त्रयोदशी को मधु के साथ पितरों को जो कुछ अर्पित किया जाता है उससे उन्हें असीम तृप्ति प्राप्त होती है। ऐसा ही वसिष्ठ (११।४०), याज्ञ० (१।२६) एवं वराहपुराण में भी पाया जाता है। हिरण्य० गृ० (२।१३।३-४) में **माघ्यावर्ष** शब्द आया है और कहा गया है कि इसमें मांस अनिवार्य है, किन्तु मांसाभाव में शाक अर्पित हो सकते हैं। पार० गृ० (३।३) में **मध्यावर्ष** आया है, जिसे चौथी अष्टका कहा गया है और जिसमें केवल शाक का अर्पण होता है।' अपरार्क ने भी इसे **मध्यावर्ष** कहा है (पृ० ४२२)। भविष्यपुराण (ब्रह्मपर्व, १८३।४) में भी इस कृत्य की ओर संकेत है किन्तु यह कहा गया है कि मांस का अर्पण होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्राचीन कृत्य, जो भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी को होता था, पश्चात्कालीन **महालय-श्राद्ध** का पूर्ववर्ती है।

यदि आश्वलायन का मत कि हेमन्त एवं शिशिर में चार अष्टकाएँ होती हैं, मान लिया जाय और यदि नारायण के मतानुसार भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की अष्टमी में सम्पादित होनेवाले माघ्यावर्ष श्राद्ध को मान लिया जाय तो इस प्रकार पाँच अष्टकाएँ हो जाती हैं। चतुर्विंशतिमतसंग्रह में भट्टोजी ने भी यही कहा है।

स्थानाभाव से हम अन्य गृह्यसूत्रों के वर्णन यहाँ उपस्थित नहीं कर सकेंगे। यह ज्ञातव्य है कि बहुत-से सूत्रों ने इस कृत्य में प्रयुक्त मन्त्रों को समान रूप से व्यवहृत किया है।

यह कहना आवश्यक है कि अष्टका श्राद्ध क्रमशः लुप्त हो गया और अब इसका सम्पादन नहीं होता। उपर्युक्त विवेचन यह स्थापित करता है कि अमावास्या वाला मासि-श्राद्ध **प्रकृति** श्राद्ध है जिसकी अष्टका एवं अन्य श्राद्ध कुछ संशोधनों के साथ **विकृति** (प्रतिकृति) मात्र हैं, यद्यपि कहीं-कहीं कुछ उलटी बातें भी पायी जाती हैं।

गोभिलगृ० (४।४।३) में **अन्वाहार्य** नामक एक अन्य श्राद्ध का उल्लेख हुआ है जो कि पिण्डपितृयज्ञ के उपरान्त उसी दिन सम्पादित होता है। शांखा० गृ० (४।१।१३) ने पिण्डपितृयज्ञ से पृथक् मासिक श्राद्ध की चर्चा की है। मनु (३।१२२-१२३) का कथन है—'पितृयज्ञ (अर्थात् पिण्डपितृयज्ञ) के सम्पादन के उपरान्त वह ब्राह्मण जो अग्निहोत्री अर्थात् आहिताग्नि है, प्रति मास उसे अमावास्या के दिन **पिण्डान्वाहार्यक** श्राद्ध करना चाहिए। बुध लोग इस

या कन्या के विवाह के अवसरों पर किये जाते हैं। वृद्धि-श्राद्ध को नान्दीमुख भी कहा जाता है। पूर्त का अर्थ है कूप, तालाब, मन्दिर, वाटिका का निर्माण कार्य जो दातव्यस्वरूप होता है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २५ एवं याज्ञ० (१।२५०) तथा शां० गृ० (४।४।१)।

मासिक श्राद्ध को अन्वाहार्य कहते हैं और यह निम्नलिखित अनुमोदित प्रकारों के साथ बड़ी सावधानी से अवश्य सम्प दित करना चाहिए।' इससे प्रकट होता है कि आहिताग्नि को श्रौताग्नि में पिण्डपितृयज्ञ करना होता था और उसी दि उसके उपरान्त एक अन्य श्राद्ध करना पड़ता था। जो लोग श्रौताग्नि नहीं रखते थे उन्हें अमावास्या के दिन गृह्या ग्नियों में पिण्डान्वाहार्यक (या केवल अन्वाहार्य) नामक श्राद्ध करना होता था और उन्हें स्मार्त अग्नि में पिण्ड पितृयज्ञ भी करना पड़ता था। आजकल, जैसा कि खोज से पता लगा है, अधिकांश में अग्निहोत्री पिण्डपितृयज्ञ नहीं करते, या करते भी हैं तो वर्ष में केवल एक बार और पिण्डान्वाहार्यक श्राद्ध तो कोई नहीं करता। यह भी ज्ञातव्य है कि स्मार्त यज्ञों में अब कोई पशु-बलि नहीं होती, प्रत्युत उसके स्थान पर माष (उर्द) का अर्पण होता है, अब कुछ आहिताग्नि भी ऐसे हैं जो श्रौताग्नियों में मांस नहीं अर्पित करते, प्रत्युत उसके स्थान पर पिष्ट-पशु (आटे से बनी पशुप्रतिमा) की आहुतियाँ देते हैं।

श्राद्ध-सम्बन्धी साहित्य विशाल है। वैदिक संहिताओं से लेकर आधुनिक टीकाओं एवं निबन्धों तक में श्राद्ध के विषय में विशद वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों में श्राद्ध के विषय में सहस्रों श्लोक हैं। यदि हम सारी बातों का विवेचन उपस्थित करें तो वह स्वयं एक पोथी बन जाय। हम कालानुसार श्राद्ध-सम्बन्धी बातों पर प्रकाश डालेंगे। वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों, गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों से लेकर आरम्भिक स्मृतिग्रन्थों, यथा मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियों तक, तदनन्तर प्रतिनिधि पुराण एवं मेधातिथि, विज्ञानेश्वर तथा अपरार्क की टीकाओं द्वारा उपस्थित विवेचनों से लेकर मध्यकालिक निबन्धों तक का वर्णन उपस्थित करेंगे। ऐसा करते हुए भी हम केवल ढाँचा मात्र प्रस्तुत करेंगे। मत-मतान्तरों को, जो कालान्तर में देशों, कालों, शाखाओं, देशाचारों, लेखकों की परम्पराओं एवं उनकी वैयक्तिक मनोवृत्तियों तथा समर्थताओं आदि के फलस्वरूप उत्पन्न होते गये, हम छोड़ते जायँगे। पौराणिक काल में कतिपय शाखाओं की ओर संकेत मिलते हैं।[२३] स्मृतियों एवं महाभारत (यथा—अनुशासनपर्व, अध्याय ८७-९२) के वचनों तथा सूत्रों, मनु, याज्ञवल्क्य एवं अन्य स्मृतियों की टीकाओं के अतिरिक्त श्राद्ध-सम्बन्धी निबन्धों की संख्या अपार है। इस विषय में केवल निम्नलिखित निबन्धों की (काल के अनुसार व्यवस्थित) चर्चा होगी—श्राद्धकल्पतरु, अनिरुद्ध की हारलता एवं पितृदयिता, स्मृत्यर्थसार, स्मृतिचन्द्रिका, चतुर्वर्गचिन्तामणि (श्राद्ध प्रकरण), हेमाद्रि (बिब्लिओथिका इण्डिका माला, १७१६ पृष्ठों में), रुद्रधर का श्राद्धविवेक, मदनपारिजात, श्राद्धसार (नृसिंहप्रसाद का एक भाग), गोविन्दानन्द की श्राद्धक्रियाकौमुदी, रघुनन्दन का श्राद्धतत्त्व, श्राद्धसौख्य (टोडरानन्द का एक भाग), विनायक उर्फ नन्द पण्डित की श्राद्धकल्पलता, निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ का श्राद्धमयूख, श्राद्धप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक भाग), दिवाकर भट्ट की श्राद्धचन्द्रिका, स्मृतिमुक्ताफल (श्राद्ध पर), धर्मसिन्धु एवं मिताक्षरा की टीका—बालंभट्टी। श्राद्ध-सम्बन्धी विशद वर्णन उपस्थित करते समय, कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार सामान्य विचार भी उपस्थित किये जायँगे। हम देखेंगे कि किस प्रकार साधारण बातों से, यथा—देवों को भोजन-अर्पण श्राद्ध के पूर्व करना चाहिए या उपरान्त, परिवित्ति की परिभाषा, वृषलीपति आदि से, श्राद्ध-सम्बन्धी ग्रन्थों का आकार कितना बढ़ गया है।

सर्वप्रथम हम श्राद्धाधिकारियों अर्थात् श्राद्ध करने के योग्य या अधिकारियों के विषय में विवेचन करेंगे। इस विषय में इस ग्रन्थ के खण्ड ३, अध्याय २९ एवं इस खण्ड के अध्याय ८ में भी प्रकाश डाल दिया गया है। यह ज्ञातव्य है कि कुछ धर्मशास्त्र-ग्रन्थों (यथा—विष्णुधर्मसूत्र) ने व्यवस्था दी है कि जो कोई मृतक की सम्पत्ति लेता है उसे

२३. स्कन्दपुराण (नागरखण्ड, २१५।२४-२५) में आया है—दृश्यन्ते बहवो भेदा द्विजानां श्राद्धकर्मणि। श्राद्धस्य बहवो भेदाः शाखाभेदैर्व्यवस्थिताः॥

उसके लिए श्राद्ध करना चाहिए, और कुछ ने ऐसा कहा है कि जो भी कोई श्राद्ध करने की योग्यता रखता है अथवा श्राद्ध का अधिकारी है वह मृतक की सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है। दो-एक बातें, जो पहले नहीं दी गयी हैं, यहाँ दी जा रही हैं। शान्तिपर्व (६५।१३-२१) में वर्णन आया है कि इन्द्र ने सम्राट् मान्धाता से कहा कि किस प्रकार यवन, किरात आदि अनार्यों (जिन्हें महाभारत में दस्यु कहा गया है) को आचरण करना चाहिए और यह भी कहा गया है कि सभी दस्यु पितृयज्ञ (जिसमें उन्हें अपनी जाति वालों को भोज एवं धन देना चाहिए) कर सकते हैं और ब्राह्मणों को धन भी दे सकते हैं।[२४] वायुपुराण (८३।११२) ने भी म्लेच्छों को पितरों के लिए श्राद्ध करते हुए वर्णित किया है। गोभिल-स्मृति (३।७० एवं २।१०४) ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि पुत्रहीन पत्नी को (मरने पर) पति द्वारा पिण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, पिता द्वारा पुत्र को तथा बड़े भाई द्वारा छोटे भाई को भी पिण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। निमि ने अपने मृत पुत्र का श्राद्ध किया था, किन्तु उन्होंने आगे चलकर पश्चात्ताप किया क्योंकि वह कार्य धर्मसंकट था। यह बात भी गोभिल० के समान ही है। और देखिए अनुशासनपर्व (९१)। अपरार्क (पृ० ५३८) ने षट्त्रिंशन्मत का एक श्लोक उद्धृत कर कहा है कि पिता को पुत्र का एवं बड़े भाई को छोटे भाई का श्राद्ध नहीं करना चाहिए। किन्तु बृहत्पराशर (पृ० १५३) ने कहा है कि कभी-कभी यह सामान्य नियम भी नहीं माना जा सकता। बौधायन एवं वृद्धशातातप (स्मृतिच०, श्राद्ध, पृ० ३३७) ने किसी को स्नेहवश किसी के लिए भी श्राद्ध करने की, विशेषतः गया में, अनुमति दी है। ऐसा कहा गया है कि केवल वही पुत्र कहलाने योग्य है, जो पिता की जीवितावस्था में उसके वचनों का पालन करता है, प्रति वर्ष (पिता की मृत्यु के उपरान्त) पर्याप्त भोजन (ब्राह्मणों को) देता है और जो गया में (पूर्वजों) को पिण्ड देता है।[२५] एक सामान्य नियम यह था कि उपनयनविहीन बच्चा शूद्र के समान है और वह वैदिक मन्त्रों का उच्चारण नहीं कर सकता (आप० ध० सू० २।६।१५।१९; गौतम २।४-५; वसिष्ठ २।६; विष्णु० २८।४० एवं मनु २।१७२)। किन्तु इसका एक अपवाद स्वीकृत था, उपनयनविहीन पुत्र अन्त्येष्टि-कर्म से सम्बन्धित वैदिक मन्त्रों का उच्चारण कर सकता है। मेधातिथि (मनु २।१७२) ने व्याख्या की है कि अल्पवयस्क पुत्र भी, यद्यपि अभी वह उपनयनविहीन होने के कारण वेदाध्ययनरहित है, अपने पिता को जल-तर्पण कर सकता है, नवश्राद्ध कर सकता है और 'शुन्धन्तां पितरः' जैसे मन्त्रों का उच्चारण कर सकता है, किन्तु श्रौताग्नियों या गृह्याग्नियों के अभाव में वह पार्वण जैसे श्राद्ध नहीं कर सकता। स्मृत्यर्थसार (पृ० ५६) ने लिखा है कि अनुपनीत (जिनका अभी उपनयन-संस्कार नहीं हुआ है) बच्चों, स्त्रियों एवं शूद्रों को पुरोहित द्वारा श्राद्धकर्म कराना चाहिए या वे स्वयं भी बिना मन्त्रों के श्राद्ध कर सकते हैं किन्तु वे केवल मृत के नाम एवं गोत्र या दो मन्त्रों, यथा—'देवेभ्यो नमः' एवं 'पितृभ्यः स्वधा नमः' का उच्चारण कर सकते हैं। उपर्युक्त विवेचन स्पष्ट करता है कि पुरुषों, स्त्रियों एवं उपनीत तथा अनुपनीत बच्चों को श्राद्ध करना पड़ता था।

२४. यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः। शकास्तुषाराः कंकाश्च पल्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥....कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः। मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥....मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः।... पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च। दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत्सदा॥...पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः। शान्तिपर्व (६५।१३-२१)। इस पर शूद्रकमलाकर (पृ० ५५) ने टिप्पणी की है—'इति म्लेच्छादीनां श्राद्धविधानं तदपि सजातीयभोजनद्रव्यदानादिपरम्।'

२५. जीवतो वाक्यकरणात् प्रत्यब्दं भूरिभोजनात्। गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥ त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३१९)।

तै० सं० (१।८।५।१) एवं तै० ब्रा० (१।६।९) से प्रकट होता है कि पिता, पितामह एवं प्रपितामह तीन स्व-संबंधी पूर्वपुरुषों का श्राद्ध किया जाता है। बौ० ध० सू० (१।५।११३-११५) का कथन है कि सात प्रकार के व्यक्ति एक-दूसरे से अति सम्बन्धित हैं, और वे **अविभक्तदाय सपिण्ड** कहे जाते हैं—प्रपितामह, पितामह, पिता, स्वयं व्यक्ति (जो अपने से पूर्व के तीन को पिण्ड देता है), उसके सहोदर भाई, उसका पुत्र (उसी की जाति वाली पत्नी से उत्पन्न) पौत्र एवं प्रपौत्र। **सकुल्य** वे हैं जो **विभक्तदायाद** हैं, मृत की सम्पत्ति उसे मिलती है जो मृत के शरीर से उत्पन्न हुआ है।[२६] मनु (९।१३७=वसिष्ठ १७।५=विष्णु० १५।१६) ने लिखा है—पुत्र के जन्म से व्यक्ति लोकों (स्वर्ग आदि) की प्राप्ति करता है, पौत्र से अमरता प्राप्त करता है और प्रपौत्र से वह सूर्यलोक पहुँच जाता है। इससे प्रकट है कि व्यक्ति के तीन वंशज समान रूप से व्यक्ति को आध्यात्मिक लाभ पहुँचाते हैं। याज्ञ० (१।७८) ने भी तीन वंशजों को बिना कोई भेद बताये एक स्थान पर रख दिया है—'अपने पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र से व्यक्ति वंश की अविच्छिन्नता एवं स्वर्ग प्राप्त करता है।' अतः जब मनु (९।१०६) यह कहते हैं कि पुत्र के जन्म से व्यक्ति पूर्वजों के प्रति अपने ऋणों को चुकाता है, तो दायभाग (९।३४) ने व्याख्या की है कि 'पुत्र' शब्द प्रपौत्र तक के तीन वंशजों का द्योतक है, क्योंकि तीनों को पार्वणश्राद्ध करने का अधिकार है और तीनों पिण्डदान से अपने पूर्वजों को समान रूप से लाभ पहुँचाते हैं और 'पुत्र' शब्द को संकुचित अर्थ में नहीं लेना चाहिए, प्रत्युत उसमें प्रपौत्र को भी सम्मिलित मानना चाहिए, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ में बड़ी कठिनाई से यह बात मिलेगी कि प्रपौत्र को भी श्राद्ध करने या सम्पत्ति पाने का अधिकार है, किसी भी ग्रन्थ में यह स्पष्ट रूप से (पृथक् ढंग से) नहीं लिखा है कि प्रपौत्र सम्पत्ति पानेवाला एवं पिण्डदान-कर्ता है। याज्ञ० (२।५०) में जब यह आया है कि पिता की मृत्यु पर या जब वह दूर देश में चला गया है या आपदों (असाध्य रोगों से ग्रस्त आदि) में पड़ा हुआ है तो उसके ऋण पुत्रों या पौत्रों द्वारा चुकाये जाने चाहिए, तो मिताक्षरा ने जोड़ा है कि पुत्र या पौत्र को वंश-सम्पत्ति न मिलने पर भी पिता के ऋण चुकाने चाहिए, अन्तर केवल इतना ही है कि पुत्र मूल के साथ ब्याज भी चुकाता है और पौत्र केवल मूल। मिता० ने बृहस्पति को उद्धृत कर कहा है कि वहाँ सभी वंशज एक साथ वर्णित हैं। मिताक्षरा ने इतना जोड़ दिया है कि जब वंश-सम्पत्ति न प्राप्त हो तो प्रपौत्र को मूल धन भी नहीं देना पड़ता। इससे प्रकट है कि मिताक्षरा ने भी 'पुत्र' शब्द के अन्तर्गत प्रपौत्र को सम्मिलित माना है। याज्ञ० (२।५१) ने कहा है कि जो भी कोई मृत की सम्पत्ति ग्रहण करता है उसे उसका ऋण भी चुकाना पड़ता है, अतः प्रपौत्र को भी ऋण चुकाना पड़ता है यदि वह प्रपितामह से सम्पत्ति पाता है। इसी से मिता० (याज्ञ० २।५०) ने स्पष्ट कहा है कि प्रपौत्र अपने प्रपितामह का ऋण नहीं चुकाता है यदि उसे सम्पत्ति नहीं मिलती है, नहीं तो 'पुत्र' के व्यापक अर्थ में रहने के कारण उसे ऋण चुकाना ही पड़ता। यदि मिता० 'पुत्र' शब्द में 'प्रपौत्र' को सम्मिलित न करती तो याज्ञ० (२।५०) में प्रपौत्र शब्द के उल्लेख की आवश्यकता की बात ही नहीं उठती। इसके अतिरिक्त मिता० (याज्ञ० २।५१ 'पुत्रहीनस्य रिक्थिनः') ने 'पुत्र' के अन्तर्गत 'प्रपौत्र' भी सम्मिलित किया है। इससे प्रकट है कि मिताक्षरा इस बात से सचेत है कि मृत के तीन वंशज एक दल में आते हैं, वे उसके धन एवं उत्तरदायित्व का वहन करते हैं और 'पुत्र' शब्द में तीनों वंशज आते हैं (जहाँ भी कहीं कोई ऐसी आवश्यकता पड़े तो)। यदि 'पुत्र' शब्द को उपलक्षणस्वरूप नहीं माना

२६. अपि च प्रपितामहः पितामहः पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः पौत्रः प्रपौत्र एतानविभक्तदायादान् सपिण्डानाचक्षते। विभक्तदायादान् सकुल्यानाचक्षते। सत्स्वङ्गजेषु तद्गामी ह्यर्थो भवति। बौ० ध० सू० (१।५।११३-११५)। इसे दायभाग (११।३७) ने उद्धृत किया है और (११।३८) में व्याख्यापित किया है। और देखिए दायतत्त्व (पृ० १८९)।

जायगा तो याज्ञ० की व्याख्या में गम्भीर आपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी। उदाहरणार्थ, याज्ञ० (२।१३५-१३६) में आया है कि जब पुत्रहीन व्यक्ति मर जाता है तो उसकी पत्नी, पुत्रियाँ एवं अन्य उत्तराधिकारी एक-के-पश्चात् एक आते हैं। यदि 'पुत्र' का अर्थ केवल पुत्र माना जाय तो पुत्रहीन व्यक्ति के मर जाने पर पौत्र के रहते हुए मृत की पत्नी या कन्या (जो भी कोई जीवित हो) सम्पत्ति की अधिकारिणी हो जायगी। अतः 'पुत्र' शब्द की व्याख्या किसी उचित संदर्भ में विस्तृत रूप में की जानी चाहिए। व्यवहारमयूख, वीरमित्रोदय, दत्तकमीमांसा आदि ग्रन्थ 'पुत्र' शब्द में तीन वंशजों को सम्मिलित मानते हैं। इसी से, यद्यपि मिताक्षरा दायाधिकार एवं उत्तराधिकार के प्रति अपने निर्देशों में केवल पुत्र एवं पौत्र (शाब्दिक रूप में उसे 'पुत्र' का ही उल्लेख करना चाहिए) के नामों का उल्लेख करता है, इसमें प्रपौत्र को भी संयुक्त समझना चाहिए, विशेषतः इस बात को लेकर कि वह याज्ञ० (२।५० एवं ५१) की समीक्षा में प्रपौत्र की ओर भी संकेत करता है। बौधायन एवं याज्ञवल्क्य ने तीन वंशजों का उल्लेख किया है और शंख-लिखित, वसिष्ठ (११।३९) एवं यम ने तीन पूर्वजों के संबंध में केवल 'पुत्र' या 'सुत' का प्रयोग किया है। अतः डा० कापडिया (हिंदू किंगशिप, पृ० १६२) का यह उल्लेख कि विज्ञानेश्वर 'पुत्र' शब्द से केवल पुत्रों एवं पौत्रों की ओर संकेत करते है, निराधार है।

जिस प्रकार राजा दायादहीनों का अन्तिम उत्तराधिकारी है और सभी अल्पवयस्कों का अभिभावक है, उसी प्रकार वह (सम्बन्धियों से हीन) व्यक्ति के श्राद्ध-सम्पादन में पुत्र के सदृश है।

अब हम **श्राद्ध-काल** के विषय में विवेचन उपस्थित करेंगे। हमने इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय २८ में देख लिया है कि शतपथ ब्राह्मण के बहुत पहले प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंचमहायज्ञों की व्यवस्था थी, यथा—भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ। श० ब्रा० एवं तै० आ० (२।१०) ने आगे कहा है कि वह आह्निक यज्ञ जिसमें पितरों को **स्वधा** (भोजन) एवं जल दिया जाता है, पितृयज्ञ कहलाता है। मनु (३।७०) ने पितृयज्ञ को तर्पण (जल से पूर्वजों की संतुष्टि) करना कहा है। मनु (३।८३) ने व्यवस्था दी है कि प्रत्येक गृहस्थ को प्रति दिन भोजन या जल या दूध, मूल एवं फल के साथ श्राद्ध करना चाहिए और पितरों को सन्तोष देना चाहिए। प्रारम्भिक रूप में श्राद्ध पितरों के लिए अमावास्या के दिन किया जाता था (गौतम १५।१-२)। अमावास्या दो प्रकार की होती हैं; **सिनीवाली एवं कुहू**। आहिताग्नि (अग्निहोत्री) सिनीवाली में श्राद्ध करते हैं, तथा इनसे भिन्न एवं शूद्र लोग कुहू अमावास्या में श्राद्ध करते हैं।

श्राद्ध (या सभी कृत्य) तीन कोटियों में विभाजित किये गये हैं; **नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य**। वह श्राद्ध **नित्य** कहलाता है जिसके लिए ऐसी व्यवस्था दी हुई हो कि वह किसी निश्चित अवसर पर किया जाय (यथा—आह्निक, अमावास्या के दिन वाला या अष्टका के दिन वाला)। जो ऐसे अवसर पर किया जाय जो अनिश्चित-सा हो, यथा—पुत्रोत्पत्ति आदि पर, उसे नैमित्तिक कहा जाता है। जो किसी विशिष्ट फल के लिए किया जाय उसे काम्य कहते हैं; यथा स्वर्ग, संतति आदि की प्राप्ति के लिए कृत्तिका या रोहिणी पर किया गया श्राद्ध। पञ्चमहायज्ञ कृत्य, जिनमें पितृयज्ञ भी सम्मिलित है, नित्य कहे जाते हैं, अर्थात् उन्हें बिना किसी फल की आशा से करना चाहिए, उनके न करने से पाप लगता है। नित्य कर्मों के करने से प्राप्त फल की जो चर्चा धर्मशास्त्रों में मिलती है वह केवल प्रशंसा मात्र है, उससे केवल यही व्यक्त होता है कि इन कर्मों के सम्पादन से व्यक्ति पवित्र हो जाता है, किन्तु ऐसा नहीं है कि वे अपरिहार्य नहीं हैं और उनका सम्पादन तभी होता है जब व्यक्ति किसी विशिष्ट फल की आशा रखता है (अर्थात् इन कर्मों का सम्पादन काम्य अथवा इच्छाजनित नहीं है)। आप० ध० सू० (२।७।१६।४-७) ने श्राद्ध के लिए निश्चित कालों की व्यवस्था दी है, यथा—इसका सम्पादन प्रत्येक मास के अन्तिम पक्ष में हो जाना चाहिए, अपराह्न को श्रेष्ठता मिलनी चाहिए और पक्ष के आरम्भिक दिनों की अपेक्षा अन्तिम दिनों को अधिक महत्त्व देना चाहिए। गौतम (१५।३)

एवं वसिष्ठ (११।१६) का कथन है कि श्राद्ध प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष में चतुर्थी को छोड़कर किसी भी दिन किया जा सकता है और गौतम (१५।५) ने पुनः कहा है कि यदि विशिष्ट रूप में उचित सामग्रियाँ या पवित्र ब्राह्मण उपलब्ध हों या कर्ता किसी पवित्र स्थान (यथा—गया) में हो तो श्राद्ध किसी भी दिन किया जा सकता है। यही बात कूर्म० (२।२०।२३) ने भी कही है। अग्नि० (११५।८) का कथन है कि गया में किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है (न कालादि गयातीर्थे दद्यात् पिण्डांश्च नित्यशः)। मनु (३।२७६-२७८) ने व्यवस्था दी है कि मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को छोड़कर दशमी से आरंभ करके किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई चान्द्र सम तिथि (दशमी एवं द्वादशी) और सम नक्षत्रों (भरणी, रोहिणी आदि) में श्राद्ध करे तो उसकी इच्छाओं की पूर्ति होती है, किन्तु जब कोई विषम तिथि (एकादशी, त्रयोदशी आदि) में पितृपूजा करता है और विषम नक्षत्रों (कृत्तिका, मृगशिरा आदि) में ऐसा करता है तो भाग्यशाली संतति प्राप्त करता है। जिस प्रकार मास का कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है उसी प्रकार अपराह्न को मध्याह्न से अच्छा माना जाता है। अनुशासनपर्व (८७।१८) ने भी ऐसा ही कहा है। याज्ञ० (१।२१७-२१८), कूर्म० (२।२०।२-८), मार्कण्डेय० (२८।२०) एवं वराह० (१३।३३-३५) ने एक स्थान पर श्राद्ध सम्पादन के कालों को निम्न रूप से रखा है—अमावास्या, अष्टका दिन, शुभ दिन (यथा—पुत्रोत्पत्ति दिवस), मास का कृष्ण पक्ष, दोनों अयन (वे दोनों दिन जब सूर्य उत्तर या दक्षिण की ओर जाना आरम्भ करता है), पर्याप्त सम्भारों (भात, दाल या मांस आदि सामग्रियों) की उपलब्धि, किसी योग्य ब्राह्मण का आगमन, विषुवत रेखा पर सूर्य का आगमन, एक राशि से दूसरी राशि में जानेवाले सूर्य के दिन, व्यतीपात, गजच्छाया नामक ज्योतिषसंधियाँ, चन्द्र और सूर्य-ग्रहण तथा जब कर्मकर्ता के मन में तीव्र इच्छा का उदय (श्राद्ध करने के लिए) हो गया हो—यही काल श्राद्ध-सम्पादन के हैं।[२७] मार्कण्डेय (२८।२२।२३) ने जोड़ा है कि तब श्राद्ध करना चाहिए

२७. अपरार्क (पृ० ४२६) ने 'व्यतीपात' की परिभाषा के लिए वृद्ध मनु को उद्धृत किया है—'श्रवणाश्वि-धनिष्ठार्द्रानागदैवतमस्तके। यद्यमा रविवारेण व्यतीपातः स उच्यते॥' और देखिए अग्निपु० (२०९।१३)। जब अमावस्या रविवार को होती है और चन्द्र उस दिन श्रवण नक्षत्र में या अश्विनी, धनिष्ठा, आर्द्रा में या आश्लेषा के प्रथम चरण में होता है तो उस योग को व्यतीपात कहते हैं। कुछ लोग 'मस्तक' को 'मृगशिरोनक्षत्र' कहते हैं। बाण ने अपने हर्षचरित में 'व्यतीपात' का उल्लेख किया है। राशियों की ओर निर्देश करके भी व्यतीपात की परिभाषा की गयी है—'पञ्चाननस्थौ गुरुभूमिपुत्रौ मेषे रविः स्याद्यदि शुक्लपक्षे। पाशाभिधाना करभेन युक्ता तिथिर्व्यतीपात इतीह योगः॥' (श्रा० क० त०, पृ० १८-१९)। जब शुक्लपक्ष की द्वादशी को चन्द्र हस्त नक्षत्र में होता है, सूर्य मेष में, बृहस्पति एवं मंगल सिंह में होते हैं तो उस योग को व्यतीपात कहते हैं। गजच्छाया वह योग है जब चन्द्र मघा नक्षत्र में एवं सूर्य हस्त में होता है और तिथि वर्षा ऋतु की त्रयोदशी होती है। विश्वरूप (याज्ञ० २।२१८) ने उद्धृत किया है—'यदि स्याच्चन्द्रमाः पित्र्ये करे चैव दिवाकरः। वर्षासु च त्रयोदश्यां सा च्छाया कुञ्जरस्य तु॥' अपरार्क ने काठकश्रुति को उद्धृत किया है—'एतद्धि देवपितॄणां चायनं यद्धस्तिच्छाया'। मिताक्षरा और अपरार्क (पृ० ४२७) दोनों में यही वचन है। कल्पतरु (श्राद्ध, पृ० ९) एवं कृत्यरत्नाकर (पृ० ३१९) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत किया है—'योगो मघात्रयोदश्यां कुञ्जरच्छायसंज्ञितः। भवेन्मघायां संस्थे च शशिन्यर्के करे स्थिते॥' सौरपुराण ने इसे इस प्रकार व्याख्यापित किया है—'श्राद्धपक्षे त्रयोदश्यां मघास्विन्दुः करे रविः।' स्कन्दपुराण (६।२२०।४२-४४) ने 'हस्तिच्छाया' की व्याख्या कई प्रकार से की है। अग्निपुराण (१६५।३-४) ने 'हस्तिच्छाया' को दो प्रकार से समझाया है। कुछ लोग गजच्छाया का शाब्दिक अर्थ लेते हैं और कहते हैं कि किसी हाथी की छाया में श्राद्ध-सम्पादन होना चाहिए। वनपर्व

जब व्यक्ति दुःस्वप्न देखे और सभी बुरे ग्रह उसके जन्म के नक्षत्र को प्रभावित कर दें। ग्रहण में श्राद्ध का उपयुक्त समय स्पर्शकाल का है (अर्थात् जब ग्रहण का आरम्भ होता हो); यह बात वृद्ध वसिष्ठ के एक श्लोक में आती है। ब्रह्म-पुराण (२२०।५१-५४) में याज्ञवल्क्य द्वारा सभी कालों एवं कुछ और कालों का वर्णन पाया जाता है। और देखिए स्कन्द० (७।१।३०-३२), विष्णुपुराण (३।१४।४-६), पद्म० (सृष्टि ९।१२८-१२९)। विष्णुध० सू० (७६।१-२) के मत से अमावास्या, तीन अष्टकाएँ एवं तीन अन्वष्टकाएँ, भाद्रपद के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी, जिस दिन चन्द्र मघा नक्षत्र में होता है, शरद् एवं वसंत श्राद्ध के लिए नित्य कालों के द्योतक हैं और जो व्यक्ति इन दिनों में श्राद्ध नहीं करता वह नरक में जाता है। विष्णुध० सू० (७७।१-७) का कहना है कि जब सूर्य एक राशि से दूसरी में जाता है, दोनों विषुवीय दिन, विशेषतः उत्तरायण एवं दक्षिणायन के दिन, व्यतीपात, कर्ता के जन्म की राशि, पुत्रोत्पत्ति आदि के उत्सवों का काल—आदि **काम्य** काल हैं और इन अवसरों पर किया गया श्राद्ध (पितरों को) अनन्त आनन्द देता है। कूर्म० (उत्तरार्ध १६।६-८) का कथन है कि **काम्य** श्राद्ध ग्रहणों के समय, सूर्य के अयनों के दिन एवं व्यतीपात पर करने चाहिए, तब वे (पितरों को) अपरिमित आनन्द देते हैं। संक्रांति पर किया गया श्राद्ध अनन्त काल-स्थायी होता है, इसी प्रकार जन्म के दिन एवं कतिपय नक्षत्रों में श्राद्ध करना चाहिए। आप० ध० सू० (२।७।१६।८-२२), अनुशासन पर्व (८७), वायु० (९९।१०-१९), याज्ञ० (१।२६२-२६३), ब्रह्म० (२२०।१५।२१), विष्णुध० सू० (७८।३६-५०), कूर्म० (२।२०।१७-२२), ब्रह्माण्ड० (३।१७।१०-२२) ने कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि से अमावास्या तक किये गये श्राद्धों के फलों का उल्लेख किया है। ये फलसूचियाँ एक-दूसरी से पूर्णतया नहीं मिलतीं। आपस्तम्ब द्वारा प्रस्तुत सूची, जो सम्भवतः अत्यन्त प्राचीन है, यहाँ प्रस्तुत की जा रही है—कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि में किया गया श्राद्ध क्रम से अधोलिखित फल देता है—संतान (मुख्यतः कन्याएँ कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को), पुत्र जो चोर होंगे, पुत्र जो वेदज्ञ और वैदिक व्रतों को करनेवाले होंगे, पुत्र जिन्हें छोटे घरेलू पशु प्राप्त होंगे, बहुत-से पुत्र जो (अपनी विद्या से) यशस्वी होंगे और कर्ता संततिहीन नहीं मरेगा, बहुत बड़ा यात्री एवं जुआरी, कृषि में सफलता, समृद्धि, एक खुर वाले पशु, व्यापार में लाभ, काला लौह, काँसा एवं सीसा, पशु से युक्त पुत्र, बहुत-से पुत्र एवं बहुत-से मित्र तथा शीघ्र ही मर जानेवाले सुन्दर लड़के, शस्त्रों में सफलता (चतुर्दशी को) एवं सम्पत्ति (अमावास्या को)। गार्ग्य (परा० मा० १।२, पृ० ३२४) ने व्यवस्था दी है कि नन्दा, शुक्रवार, कृष्णपक्ष की त्रयोदशी, जन्म नक्षत्र और इसके एक दिन पूर्व एवं पश्चात् वाले नक्षत्रों में श्राद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुत्रों एवं सम्पत्ति के नष्ट हो जाने का डर होता है। अनुशासन पर्व ने व्यवस्था दी है कि जो व्यक्ति त्रयोदशी को श्राद्ध करता है वह पूर्वजों में श्रेष्ठ पद की प्राप्ति करता है किन्तु उसके फलस्वरूप घर के युवा व्यक्ति मर जाते हैं।

विष्णुध० सू० (७७।१-६) द्वारा वर्णित दिनों में किये जानेवाले श्राद्ध **नैमित्तिक** हैं और जो विशिष्ट तिथियों एवं सप्ताह के दिनों में कुछ निश्चित इच्छाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, वे **काम्य** श्राद्ध कहे जाते हैं। परा० मा० (१।१, पृ० ६३) के मत से **नित्य** कर्मों का सम्पादन **संस्कारक** (जो मन को पवित्र बना दे और उसे शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करे) कहा जाता है, किन्तु कुछ परिस्थितियों में यह अप्रत्यक्ष अन्तर्हित रहस्य (परम तत्त्व) की जान-

(२००।१२१) का कहना है कि वह श्राद्ध, जिसमें हाथी के कान पंखा झलने का काम करते हैं, सहस्रों कल्प तक संतुष्टि देता है। अपरार्क (पृ० ४२७) ने महाभारत से उद्धरण देकर कहा है कि वर्षा ऋतु में गज की छाया में और गज के कानों द्वारा पंखा झलते समय श्राद्ध किया जाता है, इसमें जो मांस अर्पित किया जाता है वह लोहित रंग के बकरे का होता है।

कारी की अभिकांक्षा भी उत्पन्न कर देता है (अर्थात् यह 'विविदिषाजनक' है, जैसा कि गीता ९।२७ में संकेत किया गया है)। जैमिनि० (६।३।१-७) ने सिद्ध किया है कि नित्य कर्म (यथा अग्निहोत्र, दर्श-पूर्णमास याग) अवश्य करने चाहिए, भले ही कर्ता उनके कुछ उपकृत्यों को सम्पादित करने में असमर्थ हो; उन्होंने (६।३।८-१०) पुनः व्यवस्था दी है कि काम्य कृत्यों के सभी भाग सम्पादित होने चाहिए और यदि कर्ता सोचता है कि वह सबका सम्पादन करने में असमर्थ है तो उसे काम्य कृत्य करने ही नहीं चाहिए।

विष्णुध० सू० (७८।१-७) का कथन है कि रविवार को श्राद्ध करनेवाला रोगों से सदा के लिए छुटकारा पा जाता है और वे जो सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनि को श्राद्ध करते हैं, क्रम से सौख्य (या प्रशंसा), युद्ध में विजय, सभी इच्छाओं की पूर्ति, अभीष्ट ज्ञान, धन एवं लम्बी आयु प्राप्त करते हैं। कूर्म० (२।२०, १६-१७) ने भी सप्ताह के कतिपय दिनों में सम्पादित श्राद्धों से उत्पन्न फल का उल्लेख किया है।

विष्णुध० सू० (७८।८-१५) ने कृत्तिका से भरणी (अभिजित् को भी सम्मिलित करते हुए) तक के २८ नक्षत्रों में सम्पादित श्राद्धों से उत्पन्न फलों का उल्लेख किया है। और देखिए याज्ञ० (१।२६५-२६८), वायु० (८२), मार्कण्डेय० (३०।८-१६), कूर्म० (२।२०।९-१५), ब्रह्म० (२२०।३३-४२) एवं ब्रह्माण्ड० (उपोद्घातपाद १८।१)। किन्तु इनमें मतैक्य नहीं पाया जाता, जिसका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है।

अग्नि० (११७।६१) में आया है कि वे श्राद्ध जो किसी तीर्थ या युगादि एवं मन्वादि दिनों में किये जाते हैं (पितरों को) अक्षय संतुष्टि देते हैं। विष्णुपुराण (३।१४।१२-१३), मत्स्य० (१७।४-५), पद्म० (५।९।१३०-१३१), वराह० (१३।४०-४१), प्रजापतिस्मृति (२२) एवं स्कन्द० (७।२।२०५।३३-३४) का कथन है कि वैशाख शुक्ल तृतीया, कार्तिक शुक्ल नवमी, भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशी एवं माघ की अमावास्या युगादि तिथियाँ (अर्थात् चारों युगों के प्रथम दिन) कही जाती हैं। मत्स्य० (१७।६-८), अग्नि० (११७।१६२-१६४ एवं २०९।१६-१८), सौरपुराण (५१।३३-३६), पद्म० (सृष्टि० ९।१३२-१३६) ने १४ मनुओं (या मन्वन्तरों) की प्रथम तिथियाँ इस प्रकार दी हैं—आश्विन शुक्ल नवमी, कार्तिक शुक्ल द्वादशी, चैत्र एवं भाद्रपद शुक्ल तृतीया, फाल्गुन की अमावास्या, पौष शुक्ल एकादशी, आषाढ़ शुक्ल दशमी एवं माघ शुक्ल सप्तमी, श्रावण कृष्ण अष्टमी, आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन, चैत्र एवं ज्येष्ठ की पूर्णिमा। मत्स्यपुराण की सूची स्मृतिच० (१, पृष्ठ ५८), कृत्यरत्नाकर (पृ० ५४३), परा० मा० (१।१ पृ० १५६ एवं १।२ पृ० ३११) एवं मदनपारिजात (पृ० ५४०) में उद्धृत है। स्कन्द० (७।१।२०५-३६-३९) एवं स्मृत्यर्थसार (पृ० ९) में क्रम कुछ भिन्न है। स्कन्दपुराण (नागर खण्ड) में श्वेत से लेकर तीस कल्पों की प्रथम तिथियाँ श्राद्ध के लिए उपयुक्त ठहरायी गयी हैं, जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

आप० ध० सू० (७।१७।२३-२५), मनु (३।२८०), विष्णु ध० सू० (७७।८-९), कूर्म० (२।१६।३-४), ब्रह्माण्ड० (३।१४।३), भविष्य० (१।१८५।१) ने रात्रि, सन्ध्या (गोधूलि-काल), या जब सूर्य का तुरत उदय हुआ हो तब—ऐसे कालों में श्राद्ध-सम्पादन मना किया है, किन्तु चन्द्रग्रहण के समय छूट दी है। आप० ने इतना जोड़ दिया है कि यदि श्राद्ध-सम्पादन अपराह्ण में आरम्भ हुआ हो और किसी कारण से देर हो जाय तथा सूर्य डूब जाय तो कर्ता को श्राद्ध-सम्पादन के शेष कृत्य दूसरे दिन करने चाहिए और उसे दर्भों पर पिण्ड रखने तक उपवास करना चाहिए। विष्णु ध० सू० का कथन है कि ग्रहण के समय किया गया श्राद्ध पितरों को तब तक सन्तुष्ट करता है जब तक चन्द्र एवं तारों का अस्तित्व है और कर्ता की सभी सुविधाओं एवं सभी इच्छाओं की पूर्ति होती है। यही कूर्म० का कथन है कि जो व्यक्ति ग्रहण के समय श्राद्ध नहीं करता वह पंक में पड़ी हुई गाय के समान डूब जाता है (अर्थात् उसे पाप लगता है या उसका नाश हो जाता है)। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२१७) ने सावधानी के साथ निर्देशित किया है कि यद्यपि ग्रहणों के समय भोजन करना निषिद्ध है, तथापि यह निषिद्धता केवल भोजन करने वाले (उन ब्राह्मणों को जो

ग्रहण-काल में श्राद्ध-भोजन करते हैं) को प्रभावित करती है किन्तु कर्ता को नहीं, जो उससे अच्छे फलों की प्राप्ति करता है।[२८]

श्राद्धकाल के लिए मनु (३।२७८) द्वारा व्यवस्थित अपराह्ण के अर्थ के विषय में अपरार्क (पृ० ४६५), हेमाद्रि (पृ० ३१३) एवं अन्य लेखकों तथा निबन्धों में विद्वत्तापूर्ण विवेचन उपस्थित किया गया है। कई मत प्रकाशित किये गये हैं। कुछ लोगों के मत से मध्याह्न के उपरान्त दिन का शेषांश अपराह्ण है। पूर्वाह्ण शब्द ऋ० (१०।३४।११) में आया है। कुछ लोगों ने शतपथब्राह्मण (२।४।२।८) के 'पूर्वाह्ण देवों के लिए, मध्याह्न मनुष्यों एवं अपराह्ण पितरों के लिए है', इस कथन के आधार पर कहा है कि दिन को तीन भागों में बाँट देने पर अन्तिम भाग अपराह्ण कहा जाता है। तीसरा मत यह है कि पाँच भागों में विभक्त दिन का चौथा भाग अपराह्ण है। इस मत को मानने वाले शत० ब्रा० (२।२।३।९) पर निर्भर हैं। दिन के पाँच भाग ये हैं—प्रातः, संगव, मध्यन्दिन (मध्याह्न), अपराह्ण एवं सायाह्न (सायं या अस्तगमन)। इनमें प्रथम तीन स्पष्ट रूप से ऋ० (५।७६।३) में उल्लिखित हैं। प्रजापतिस्मृति (१५६-१५७) में आया है कि इनमें प्रत्येक भाग तीन मुहूर्तों तक रहता है (दिन १५ मुहूर्तों में बाँटा जाता है)। इसने आगे कहा है कि कुतप सूर्योदय के उपरान्त आठवाँ मुहूर्त है और श्राद्ध को कुतप में आरम्भ करना चाहिए तथा उसे रौहिण मुहूर्त के आगे नहीं ले जाना चाहिए, श्राद्ध के लिए पाँच मुहूर्त (आठवें से बारहवें तक) अधिकतम योग्य काल है।

कुतप शब्द के आठ अर्थ हैं, जैसा कि स्मृतिच० (श्राद्ध पृ० ४३३) एवं हेमाद्रि (श्राद्ध, पृ० ३२०) ने कहा है। यह शब्द 'कु' (निन्दित अर्थात् पाप) एवं 'तप' (जलाना) से बना है। 'कुतप' के आठ अर्थ ये हैं—मध्याह्न, खड्गपात्र (गेंडे के सींग का बना पात्र), नेपाल का कम्बल, रूपा (चाँदी), दर्भ, तिल, गाय एवं दौहित्र (कन्या का पुत्र)। सामान्य नियम यह है कि श्राद्ध अपराह्ण में किया जाता है (किन्तु यह नियम अमावास्या, महालय, अष्टका एवं अन्वष्टका के श्राद्धों के लिए प्रयुक्त होता है), किन्तु वृद्धिश्राद्ध और आमश्राद्ध (जिसमें केवल अन्न का अर्पण होता है) प्रातःकाल किये जाते हैं। इस विषय में मेधातिथि (मनु ३।२५४) ने एक स्मृतिवचन उद्धृत किया है।[२९] त्रिकाण्डमण्डन (२।१५० एवं १६२) में आया है कि यदि मुख्य काल में श्राद्ध करना सम्भव न हो तो उसके पश्चात् वाले गौण काल में उसे करना चाहिए, किन्तु कृत्य के मुख्य काल एवं सामग्री संग्रहण के काल में प्रथम को ही वरीयता देनी चाहिए और सभी मुख्य द्रव्यों को एकत्र करने के लिए गौण काल के अतिरिक्त अन्य कार्यों में उसकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

अब हम श्राद्ध-सम्पादन के उपयुक्त स्थल के विषय में कुछ लिखेंगे। मनु (३।२०६-२०७) ने व्यवस्था दी है कि कर्ता को प्रयास करके दक्षिण की ओर ढालू भूमि खोजनी चाहिए, जो पवित्र हो और जहाँ मनुष्य अधिकतर न जाते हों; उस भूमि को गोबर से लीप देना चाहिए, क्योंकि पितर लोग वास्तविक स्वच्छ स्थलों, नदी-तटों एवं उस स्थान पर किये गये श्राद्ध से प्रसन्न होते हैं जहाँ लोग बहुधा कम जाते हैं। याज्ञ० (१।२२७) ने संक्षिप्त रूप से कहा है कि श्राद्ध-

२८. न च नक्तं श्राद्धं कुर्वीत। आरब्धे चाभोजनमा समापनात्। अन्यत्र राहुदर्शनात्। आप० ध० सू० (२।७।१७।२३-२५); नक्तं तु वर्जयेच्छ्राद्धं राहोरन्यत्र दर्शनात्। सर्वस्वेनापि कर्तव्यं क्षिप्रं वै राहुदर्शने। उपरागे न कुर्याद्यः पङ्के गौरिव सीदति॥ कूर्म० (२।१६-३।४)। यद्यपि 'चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यात्' इति ग्रहणे भोजननिषेधस्तथापि भोक्तुर्दोषो दातुरभ्युदयः। मिता० (याज्ञ० १।२१७-२१८)।

२९. पूर्वाह्णे दैविकं कार्यमपराह्णे तु पैतृकम्। एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्॥ मेधातिथि (मनु ३।२४३)। दीपकलिका (याज्ञ० १।२२६) ने इस श्लोक को वायुपुराण के श्लोक के रूप में उद्धृत किया है।

स्थल चतुर्दिक् से आवृत, पवित्र एवं दक्षिण की ओर ढालू होना चाहिए। शंख (परा० मा० ११२, पृ० ३०३; श्रा० प्र०, पृ० १४०; स्मृतिच०, श्राद्ध, पृ० ३८५) का कथन है—'बैलों, हाथियों एवं घोड़ों की पीठ पर, ऊँची भूमि या दूसरे की भूमि पर श्राद्ध नहीं करना चाहिए।' कूर्म० (२।२२।१७) में आया है—वन, पुण्य पर्वत, तीर्थस्थान, मन्दिर—इनके निश्चित स्वामी नहीं होते और ये किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं हैं। यम ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई किसी अन्य की भूमि पर अपने पितरों का श्राद्ध करता है तो उस भूमि के स्वामी के पितरों द्वारा वह श्राद्ध-कृत्य नष्ट कर दिया जाता है। अतः व्यक्ति को पवित्र स्थानों, नदी-तटों और विशेषतः अपनी भूमि पर, पर्वत के पास के लता-कुंजों एवं पर्वत के ऊपर श्राद्ध करना चाहिए।[30] विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ८५) ने कई पवित्र स्थलों का उल्लेख किया है और जोड़ा है—'इनमें एवं अन्य तीर्थों, बड़ी नदियों, सभी प्राकृतिक बालुका-तटों, झरनों के निकट, पर्वतों, कुंजों, वनों, निकुंजों एवं गोबर से लिपे सुन्दर स्थलों पर (श्राद्ध करना चाहिए)।' शंख (१४।२७-२९) ने लिखा है कि जो भी कुछ पवित्र वस्तु गया, प्रभास, पुष्कर, प्रयाग, नैमिष वन (सरस्वती नदी पर), गंगा, यमुना एवं पयोष्णी पर, अमरकंटक, नर्मदा, काशी, कुरुक्षेत्र, भृगुतुंग, हिमालय, सप्तवेणी, ऋषिकूप में दी जाती है वह अक्षय होती है। ब्रह्मपुराण (२२०।५-७) ने भी नदीतीरों, तालाबों, पर्वतशिखरों एवं पुष्कर जैसे पवित्र स्थलों को श्राद्ध के लिए उचित स्थल माना है। वायु० (अध्याय ७७) एवं मत्स्य० (२२) में भी श्राद्ध के लिए पूत स्थलों, देशों, पर्वतों की लम्बी सूचियाँ पायी जाती हैं।

पवित्र स्थानों के विषय में हम एक पृथक् अध्याय (तीर्थ वर्णन) में लिखेंगे।

विष्णुधर्मसूत्र (अ० ८४) ने व्यवस्था दी है कि म्लेच्छदेश में न तो श्राद्ध करना चाहिए और न जाना चाहिए; उसमें पुनः कहा गया है कि म्लेच्छदेश वह है जिसमें चार वर्णों की परम्परा नहीं पायी जाती। वायुपुराण ने व्यवस्था दी है कि त्रिशंकु देश, जिसका बारह योजन विस्तार है, जो महानदी के उत्तर और कीकट (मगध) के दक्षिण में है, श्राद्ध के लिए योग्य नहीं है। इसी प्रकार कारस्कर, कलिंग, सिंधु के उत्तर का देश और वे सभी देश जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं पायी जाती, श्राद्ध के लिए यथासाध्य त्याग देने चाहिए। ब्रह्मपुराण (२२०।८-१०) ने कुछ सीमा तक एक विचित्र बात कही है कि निम्नलिखित देशों में श्राद्ध कर्म का यथासंभव परिहार करना चाहिए—किरात देश, कलिंग, कोंकण, क्रिमि (क्रिवि ?), दशार्ण, कुमार्य (कुमारी अन्तरीप), तंगण, क्रथ, सिंधु नदी के उत्तरी तट, नर्मदा का दक्षिणी तट एवं करतोया का पूर्वी भाग।

मार्कण्डेयपुराण (२९।१९=श्रा० प्र०, पृ० १३९) ने व्यवस्था दी है कि श्राद्ध के लिए उस भूमि को त्याग देना चाहिए जो कीट-पतंगों से युक्त, रूक्ष, अग्नि से दग्ध है, जिसमें कर्णकटु ध्वनि होती है, जो देखने में भयंकर और दुर्गन्ध-पूर्ण है। प्राचीन काल से ही कुछ व्यक्तियों एवं पशुओं को श्राद्धस्थल से दूर रखने को कहा गया है, उन्हें श्राद्धकृत्य को

३०. गोगजाश्वादिपृष्ठेषु कृत्रिमायां तथा भुवि। न कुर्याच्छ्राद्धमेतेषु पारक्यासु च भूमिषु॥ शंख (परा० मा० ११२, पृ० ३०३; श्रा० प्र०, पृ० १४०; स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ३९५)। अटव्यः पर्वताः पुण्यास्तीर्थान्यायतनानि च। सर्वाण्यस्वामिकान्याहुर्न ह्येतेषु परिग्रहः॥ कूर्म० (२।२२।१७)। अपरार्क (पृ० ४७१), कल्पतरु (श्राद्ध, पृ० ११५) एवं श्रा० प्र० (पृ० १४८) ने ऐसा ही श्लोक यम से उद्धृत किया है—यमः। परकीयप्रदेशेषु पितॄणां निर्वपेत्तु यः। तद्भूमिस्वामिपितृभिः श्राद्धकर्म विहन्यते॥..... तस्माच्छ्राद्धानि देयानि पुण्येष्वायतनेषु च। नदीतीरेषु तीर्थेषु स्वभूमौ च प्रयत्नतः। उपह्वरनिकुंजेषु तथा पर्वतसानुषु॥ अपरार्क (पृ० ४७१), कल्पतरु (श्राद्ध, पृ० ११५)। मिलाइए कूर्म० (२।२२।१६)।

देखने या अन्य प्रकारों से विघ्न डालने की अनुमति नहीं है। गौतम (१५।२५-२८) ने व्यवस्था दी है कि कुत्तों, चाण्डालों एवं महापातकों के अपराधियों से देखा गया भोजन अपवित्र (अयोग्य) हो जाता है, इसलिए श्राद्ध-कर्म घिरे हुए स्थल में किया जाना चाहिए; या कर्ता को उस स्थल के चतुर्दिक् तिल बिखेर देने चाहिए या किसी योग्य ब्राह्मण को, जो अपनी उपस्थिति से पंक्ति को पवित्र कर देता है, उस दोष (कुत्ता या चाण्डाल द्वारा देखे गये भोजन आदि दोष) को दूर करने के लिए शान्ति का सम्पादन करना चाहिए। आप० ध० सू० ने कहा है कि विद्वान् लोगों ने कुत्तों, पतितों, कोढ़ी, खल्वाट व्यक्ति, परदारा से यौन-संबंध रखनेवाले व्यक्ति, आयुधजीवी ब्राह्मण के पुत्र तथा शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र द्वारा देखे गये श्राद्ध की भर्त्सना की है—यदि ये लोग श्राद्ध-भोजन करते हैं तो वे उस पंक्ति में बैठकर खानेवाले व्यक्तियों को अशुद्ध कर देते हैं। मनु (३।२३९-२४२) ने कहा है—चाण्डाल, गाँव के सूअर या मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला एवं क्लीब को भोजन करते समय ब्राह्मणों को देखने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए। इन लोगों द्वारा यदि होम (अग्निहोत्र), दान (गाय एवं सोने का) कृत्य देख लिया जाय, या जब ब्राह्मण भोजन कर रहे हों तब या किसी धार्मिक कृत्य (दर्श-पूर्णमास आदि) के समय या श्राद्ध के समय ऐसे लोगों की दृष्टि पड़ जाय तो सब कुछ फलहीन हो जाता है। सूअर देवों या पितरों के लिए अर्पित भोजन को केवल सूँघकर, मुर्गा भागता हुआ या उड़ता हुआ, कुत्ता केवल दृष्टि-निक्षेप से एवं नीच जाति स्पर्श से (उस भोजन को) अशुद्ध कर देते हैं। यदि कर्ता का नौकर लँगड़ा, ऐंचाताना, अधिक या कम अंगवाला (११ या ९ आदि अंगुलियों वाला) हो तो उसे श्राद्ध-सम्पादन स्थल से बाहर कर देना चाहिए। अनुशासन पर्व में आया है कि रजस्वला या पुत्रहीना नारी या चरक-ग्रस्त (श्वित्री) द्वारा श्राद्धभोजन नहीं देखा जाना चाहिए। विष्णुध० सू० (८२।३) में श्राद्ध के निकट आने की अनुमति न पानेवाले ३० व्यक्तियों की सूची है। कूर्म० (२।२२।३४-३५) का कथन है कि किसी अंगहीन, पतित, कोढ़ी, पूयव्रण (पके हुए घाव) से ग्रस्त, नास्तिक, मुर्गा, सूअर, कुत्ता आदि को श्राद्ध से दूर रखना चाहिए; घृणास्पद रूप वाले, अपवित्र, वस्त्रहीन, पागल, जुआरी, रजस्वला, नील रंग या पीत-लोहित वस्त्र धारण करने वालों एवं नास्तिकों को श्राद्ध से दूर रखना चाहिए। मार्कण्डेय० (३२।२०-२४), वायु० (७८।२६-४०), विष्णुपुराण (३।१६।१२-१४) एवं अनुशासन पर्व (९१।४३-४४) में भी लम्बी सूचियाँ दी हुई हैं किन्तु हम उन्हें यहाँ नहीं दे रहे हैं। स्कन्दपुराण (६।२१७।४३) ने भी लिखा है कि कुत्ते, रजस्वला, पतित एवं वराह (सूअर) को श्राद्धकृत्य देखने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

श्राद्धों का वर्गीकरण

श्राद्धों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। वर्गीकरण का एक प्रकार है नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य। इसके विषय में ऊपर हमने पढ़ लिया है। दूसरा है एकोद्दिष्ट एवं पार्वण[31], जिनमें पहला एक मृत व्यक्ति के लिए किया जाता है और दूसरा मास की अमावास्या, या आश्विन कृष्णपक्ष में, या संक्रांति पर किया जाता है और इसमें मुख्यतः तीन

३१. देखिए इन दोनों की व्याख्या के लिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २९। एकः उद्दिष्टः यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम्। मिता० (याज्ञ० १।२५१); तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत् क्रियते तत्पार्वणम्। एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम्। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२१७)। 'पार्वण' का अर्थ है 'किसी पर्व दिन में सम्पादित।' विष्णुपुराण (३।११।११८) के मत से पर्व दिन ये हैं—अमावास्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी एवं संक्रान्ति। भविष्यपुराण (श्राद्धतत्त्व, पृ० १९२) ने पार्वण श्राद्ध की परिभाषा यों की है—'अमावास्यां यत्क्रियते तत्पार्वणमुदाहृतम्। क्रियते वा पर्वणि यत्तत्पार्वणमिति स्थितिः॥'

पूर्व पुरुषों का आवाहन होता है। बृहस्पति (रुद्रधर का श्राद्धविवेक) ने मनु द्वारा घोषित श्राद्धों की पाँच कोटियाँ कही हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि एवं पार्वण। श्राद्धविवेक का कथन है कि नैमित्तिक में सोलह प्रेत-श्राद्ध होते हैं और गोष्ठी-श्राद्ध-जैसे श्राद्ध जो अन्य स्मृतियों में उल्लिखित हैं, पार्वण श्राद्धों में गिने जाते हैं। कूर्मपुराण (२।२०।२६) ने इसी प्रकार पाँच श्राद्धों का उल्लेख किया है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२१७) ने पाँच श्राद्धों के नाम दिये हैं—अहरहः-श्राद्ध, पार्वण, वृद्धि, एकोद्दिष्ट एवं सपिण्डीकरण। मनु (३।८२=शंख १३।१६ एवं मत्स्य० १६।४) ने अहरहः-श्राद्ध को वह श्राद्ध माना है जो प्रति दिन भोजन (पके हुए चावल या जौ आदि) या जल या दूध, फलों एवं मूलों के साथ किया जाता है। बहुत-से ग्रन्थों द्वारा उद्धृत विश्वामित्र के दो श्लोकों में बारह प्रकार के श्राद्ध उल्लिखित हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि-श्राद्ध (पुत्रोत्पत्ति, विवाह या किसी शुभ घटना पर किया जानेवाला), सपिण्डन (सपिण्डीकरण), पार्वण, गोष्ठीश्राद्ध, शुद्धिश्राद्ध, कर्मांग, दैविक, यात्रा-श्राद्ध, पुष्टि-श्राद्ध। कुछ ग्रंथों में इनकी परिभाषा भविष्यपुराण से दी गयी है। सपिण्डन एवं पार्वण की व्याख्या नीचे दी जायगी। शेष, जिनकी परिभाषा अभी तक नहीं दी गयी है, वह निम्न है—**गोष्ठीश्राद्ध** वह है जो किसी व्यक्ति द्वारा श्राद्ध के विषय में चर्चा करने के कारण प्रेरित होकर किया जाता है या जब बहुत से विद्वान् लोग किसी पवित्र स्थान पर एकत्र होते हैं और अलग-अलग भोजन पकानेवाले पात्रों का मिलना उनके लिए असम्भव हो जाता है और वे मिल-जुलकर श्राद्ध के सम्भार (सामग्रियाँ) एकत्र करते हैं और एक साथ अपने पितरों की संतुष्टि के लिए एवं अपने को आनन्द देने के लिए श्राद्ध करते हैं, तब वह गोष्ठी-श्राद्ध कहलाता है। **शुद्धि श्राद्ध** वह है जिसमें किसी पाप के अपराधी होने के कारण या प्रायश्चित्त न करने के कारण (वह प्रायश्चित्त का एक सहायक व्रत है) व्यक्ति शुद्धि का कृत्य करके ब्रह्मभोज देता है। उसे **कर्मांग** कहा जाता है जो गर्भाधान संस्कार या किसी यज्ञ-सम्पादन या सीमन्तोन्नयन एवं पुंसवन के समय किया जाता है। उसे **दैविक श्राद्ध** कहा जाता है जो देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है (यह नित्य-श्राद्ध के समान है और यज्ञिय भोजन के साथ सप्तमी या द्वादशी को किया जाता है)। जब कोई दूर देश की यात्रा करते समय श्राद्ध करता है, जिसमें ब्राह्मणों को पर्याप्त मात्रा में घृत दिया जाता है या जब वह अपने घर को लौट आता है और श्राद्ध करता है तब उसे **यात्रा-श्राद्ध** कहते हैं। वह **पुष्टि-श्राद्ध** कहलाता है जो शरीर के स्वास्थ्य (या मोटे होने के लिए जब कोई औषध सेवन की जाती है) या धन-वृद्धि के लिए किया जाता है। इन बारहों में मुख्य हैं पार्वण, एकोद्दिष्ट, वृद्धि एवं सपिण्डन। शिवभट्ट के पुत्र गोविन्द और रघुनाथ ने 'षण्णवति श्राद्ध' नामक ग्रन्थ में इन सबका संग्रह किया है। एक वर्ष में किये जाने वाले ९६ श्राद्ध संक्षिप्त रूप में ये हैं—वर्ष की १२ अमावास्याओं पर १२ श्राद्ध युगादि दिनों पर ४ श्राद्ध, मन्वन्तरादि पर १४ श्राद्ध, संक्रांतियों के १२ श्राद्ध, धृति (वैधृति) नामक योग पर १३ श्राद्ध, व्यतीपात योग पर १३ श्राद्ध, १६ महालय श्राद्ध, ४ अन्वष्टका दिन, ४ अष्टका दिन और चार अन्य दिन (हेमन्त एवं शिशिर के महीनों के कृष्णपक्ष की ४ सप्तमी)। इन वर्गीकरणों एवं श्राद्ध-सूचियों से यह प्रकट हो जाता है कि किस प्रकार श्राद्धों का सिद्धान्त शताब्दियों से बहता हुआ आतिशय्य की सीमा को पार कर गया। कहना न होगा कि कुछ ही लोग वर्ष में इतने श्राद्ध करने में लवलीन रहे होंगे और अधिकांश में लोग महालय श्राद्ध या दो-एक और श्राद्ध करके संतुष्ट हो जाते रहे होंगे। यह ज्ञातव्य है कि मनु (३।१२२) ने प्रथमतः प्रत्येक मास की अमावास्या पर बड़े परिमाण में श्राद्ध करने की व्यवस्था दी थी, किन्तु यह समझकर कि यह सब के लिए सम्भव नहीं है, उन्होंने वर्ष में (हेमन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा में) तीन अमावस्याओं पर ही बड़े पैमाने पर श्राद्ध करने की व्यवस्था दी और कहा कि प्रति दिन वह श्राद्ध करना चाहिए जो पञ्चमहायज्ञों में सम्मिलित है। देवल कुछ पग आगे चले गये हैं और उन्होंने कहा है कि वर्ष में केवल एक ही श्राद्ध बड़े पैमाने पर किया जा सकता है।

श्राद्ध-भोजन के लिए आमंत्रित लोग

अब हम श्राद्ध के ब्रह्मभोज के लिए आमंत्रित ब्राह्मणों की योग्यताओं के प्रश्न पर विचार करेंगे। श्राद्ध का कर्ता चाहे जो भी हो, श्राद्धभोजन के लिए आमंत्रण पाने के अधिकारी केवल ब्राह्मण ही होते हैं। इस विषय में बहुत से ग्रन्थों ने ब्राह्मणों की प्रशस्तियाँ गायी हैं, जिन पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे, क्योंकि इसे हमने इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय २ एवं ३ में विस्तार के साथ देख लिया है। यह ज्ञातव्य है कि गृह्यसूत्रों में बहुत कम योग्यताएँ वर्णित हैं किन्तु स्मृतियों एवं पुराणों के काल में निमन्त्रित होनेवाले लोगों की योग्यताओं की सूचियाँ बढ़ती ही चली गयीं। उदाहरणार्थ आश्व० गृ० (४।७।२)[32], शांखा० गृ० (४।१।२), आप० गृ० (८।२१।२), आप० ध० सू० (२।७।१७।४), हिरण्यकेशी गृ० (२।१०।२), बौधा० गृ० (२।१०।५-६ एवं २।८।२-३), गौतम (१५।९) ने कहा है कि आमंत्रित ब्राह्मणों को वेदज्ञ, अत्यन्त संयमी (क्रोध एवं वासनाओं से मुक्त तथा मन एवं इन्द्रियों पर संयम करनेवाले) एवं शुद्धाचरण वाले, पवित्र होना चाहिए और उन्हें न तो किसी अंग से हीन होना चाहिए और न अधिक अंग (यथा ६ अंगुली) वाले होना चाहिए। आप० ध० सू० का कहना है कि जिसने उन तीन वैदिक मन्त्रों को पढ़ लिया है जिनमें 'मधु' शब्द आता है (ऋ० १।९०।६-८, वाज० सं० १३।२७-२९ एवं तै० सं० ४।२।९।३), जिसने त्रिसुपर्ण पढ़ लिया है, जो त्रिणाचिकेत है, जिसने चारों यज्ञों (अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध एवं पितृमेध) में प्रयुक्त होनेवाले मंत्रों का अध्ययन कर लिया है या जिसने ये चारों यज्ञ कर लिये हैं, जो पाँचों अग्नियों को प्रज्वलित रखता है, जो ज्येष्ठ साम जानता है, जो वेदाध्ययन के प्रतिदिन का कर्तव्य करता है, जो वेदज्ञ का पुत्र है और अंगों के साथ सम्पूर्ण वेद पढ़ा सकता है और जो श्रोत्रिय है—ये सभी श्राद्ध के समय भोजन करनेवालों की पंक्ति को पवित्र कर देते हैं। पंक्तिपावन (जो लोग भोजन करनेवालों की पंक्ति को

३२. ब्राह्मणान् श्रुतशीलवृत्तसंपन्नानेकेन वा। आश्व० गृ० (४।७।२); ब्राह्मणान् शुचीन् मन्त्रवतः समंगानयुज आमन्त्रयते। योनिगोत्रासम्बन्धान्। नार्थापेक्षो भोजयेत्। हिर० गृ० (२।१०।२); त्रिमधुस्त्रिसुपर्णस्त्रिणाचिकेतश्चतुर्मेधः पञ्चाग्निर्ज्येष्ठसामिको वेदाध्याय्यनूचानपुत्रः श्रोत्रिय इत्येते श्राद्धे भुञ्जानाः पंक्तिपावना भवन्ति। आप० ध० सू० (२।७।१७-२२)। 'त्रिसुपर्ण' शब्द, हरदत्त के मत से, 'ब्रह्ममेतु माम्' (तै० आ० १०।४८-५०) से आरम्भ होनेवाले तीन अनुवाकों में या 'चतुःशिखण्डा युवतिः सुपेशाः' (तै० ब्रा० १।२।१।२७) या ऋ० (१०।११४।३-५) से आरम्भ होनेवालों का नाम है। 'त्रिणाचिकेत' को तीन प्रकार से व्याख्यायित किया गया है—(१) जो नाचिकेत अग्नि को जानता है, (२) वह व्यक्ति जिसने नाचिकेत अग्नि को तीन बार प्रज्वलित किया है एवं (३) वह जिसने 'विरज' नामक अनुवाक पढ़ डाला है। 'नाचिकेत' अग्नि के लिए देखिए कठोपनिषद् (१।१।१६-१८)। 'त्रिणाचिकेत' शब्द कठोपनिषद् (१।१।१७) में आया है और शंकर ने उसे इस प्रकार समझाया है—'त्रिः कृत्वा नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन सः त्रिणाचिकेतास्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान् वा।' तै० ब्रा० (३।२।७-८) ने नाचिकेत अग्नि एवं नचिकेता की गाथा का उल्लेख किया है। पाँच अग्नियाँ ये हैं—गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, आवसथ्य (या औपासन) तथा सभ्य। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १७। पंक्तिपावन, ज्येष्ठसामिक आदि शब्दों की व्याख्याओं के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २२। देवल (श्रा० प्र०, पृ० ५९) ने श्रोत्रिय की परिभाषा यों की है—'एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्॥' पाणिनि (५।२।८४) ने श्रोत्रिय की व्युत्पत्ति यों की है—'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते।' 'षट्कर्म' का संकेत 'यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रतिग्रहदानानि' की ओर है।

पवित्र करते हैं) के विषय में गौतम (५।२८), बौधा० ध० सू० (२।८।२), मनु (३।१८५-१८६), याज्ञ० (१।२१९) एवं वराहपुराण (१४।२) ने भी यही कहा है। अनुशासन पर्व (९०।२५-३१), कूर्म० (२।२१।१-१४), मत्स्य० (१६।७-१३), ब्रह्म० (२२०।१०१-१०४), वायु० (७९।५६-५९ एवं ८३।५२-५५), स्कन्द पुराण (६।२१७। २१-२५) ने पंक्तिपावन ब्राह्मणों की लम्बी सूचियाँ दी हैं।

हिरण्यकेशी गृह्य (२।१०।२), बौ० ध० सू० (२।२।७), कूर्म पुराण (२।२१।१४) आदि का कथन है कि श्राद्धकर्ता को ऐसा व्यक्ति आमंत्रित नहीं करना चाहिए जो विवाह से संबंधित हो (यथा—मामा) और जो सगोत्र या वेदाध्ययन से सम्बन्धित हो (अर्थात् गुरु या शिष्य), या जो मित्र हो, या जिससे वह धन की सहायता पाने का इच्छुक हो। मनु (३।१३८-१३९) ने व्यवस्था दी है कि श्राद्ध-भोजन में मित्र को नहीं बुलाना चाहिए, (अन्य अवसरों पर) बहुमूल्य दान देकर व्यक्ति किसी को मित्र बना सकता है। श्राद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण को आमंत्रित करना चाहिए जो न मित्र हो और न शत्रु; जो व्यक्ति केवल मित्र बनाने के लिए श्राद्ध करता है और देवार्पण करता है, वह उन श्राद्धों या अर्पणों द्वारा मृत्यु के उपरान्त कोई फल नहीं पाता। किन्तु मनु (३।१४४=कूर्म० २.-२१-२२) ने कहा है विद्वान् शत्रु की अपेक्षा मित्र को आमंत्रित किया जा सकता है। मनु (३।१३५-१३७ एवं १४५-१४७) ने कहा है कि मुख्य या अत्युत्तम नियम यह है कि श्राद्ध-भोजन उनको दिया जाय जो आध्यात्मिक ज्ञान में लीन रहते हों। जिसने सम्पूर्ण वेद का अध्ययन कर लिया है किन्तु जिसका पिता श्रोत्रिय न रहा हो और जो स्वयं श्रोत्रिय न हो किन्तु उसका पिता श्रोत्रिय हो इन दोनों में अन्तिम अपेक्षाकृत अधिक योग्य है। मनु ने यह भी कहा है कि ऐसे व्यक्ति को श्राद्ध-भोजन देने का प्रयत्न करना चाहिए जो ऋग्वेद का अनुयायी हो, जिसने उस वेद को सम्पूर्ण पढ़ लिया हो या जो यजुर्वेद का अनुयायी हो और उसकी एक शाखा का अध्ययन कर चुका हो या सामवेद गानेवाला हो और सामवेद का एक पाठ पढ़ चुका हो। यदि इन तीनों में एक का सम्मानित किया जाय या श्राद्ध के समय भोजन कराया जाय तो कर्ता के पूर्वज सात पीढ़ियों तक दीर्घ काल के लिए संतुष्टि प्राप्त करते हैं।

हारीत (हेमाद्रि, श्राद्ध, पृ० ३९२ एवं कल्पतरु, श्राद्ध, पृ० ६६, ६७) ने पांक्तेय ब्राह्मणों की योग्यताओं का वर्णन किया है; यथा--उन्हें उच्च (चार विशेषताओं से सम्पन्न) कुल में जन्म लेना चाहिए, और विद्या (६ प्रकार की) एवं शील (१३ प्रकार के चरित्र) एवं अच्छे (१६ प्रकार के) आचरण से सम्पन्न होना चाहिए। शंख-लिखित ने पांक्तेय ब्राह्मणों (पंक्ति अर्थात् भोजन करने वालों की पंक्ति से संबंधित होने योग्य) की एक लम्बी सूची दी है।[33] यथा—जो वेद अथवा वेदांगों का ज्ञाता है; जो पंचाग्नियाँ रखता है; जो वेदस्वाध्यायी है; जो सांख्य, योग, उपनिषदों एवं धर्मशास्त्र को जानता है; जिसने त्रिणाचिकेत (अग्नि), त्रिमधु (सूक्त), त्रिसुपर्णक एवं ज्येष्ठ साम का अध्ययन कर लिया है; जिसने सांख्ययोग, उपनिषद् एवं धर्मशास्त्र पढ़ लिया है; जो वेदप्रवण है; जो सदा अग्निहोत्र करता है; जो माता-पिता का आज्ञाकारी है और धर्मशास्त्र-प्रवण है (कल्प०, पृ० ६८; श्रा० प्र०, पृ० ६७)। ऐसे ही नियम विष्णुधर्मसूत्र (८३), बृहत् पराशर (पृ० १५०), वृद्ध गौतम (पृ० ५८१), प्रजापति (७०-७२), लघु शातातप (९९।१००), औशनस स्मृति में भी पाये जाते हैं। मेधातिथि (मनु

३३. शंखलिखितावपि। अथ पांक्तेयाः। वेदवेदाङ्गवित् पञ्चाग्निरनूचानः सांख्ययोगोपनिषद्धर्मशास्त्रविच्छ्रोत्रियः त्रिणाचिकेतः त्रिमधुः त्रिसुपर्णको ज्येष्ठसामगः। सांख्ययोगोपनिषद्धर्मशास्त्राध्यायी वेदपरः सदाग्निको मातापितृशुश्रूषुर्धर्मशास्त्ररतिः। इति। कल्पतरु (पृ० ६८) एवं श्रा० प्र० (पृ० ६७)।

३।१४७)[३४] ने उपर्युक्त उक्तियों का निष्कर्ष निकाला है कि वैसा विद्वान् ब्राह्मण, जिसने वेद का अध्ययन कर लिया है, जो साधु आचरण वाला है, जो प्रसिद्ध कुल का है, जो श्रोत्रिय पिता का पुत्र है और जो कर्ता का सम्बन्धी नहीं है, उसे अवश्य आमंत्रित करना चाहिए और शेष केवल अर्थवाद (प्रशंसा मात्र) है। मनु (३।२२८) ने दो बातें कही हैं; देवों और पितरों के लिए अर्पित भोजन केवल उसी ब्राह्मण को देना चाहिए जो वेदज्ञ हो। जो वस्तु अत्यन्त योग्य ब्राह्मण (वेदज्ञ ब्राह्मणों के अन्तर्गत) को दी जाती है, उससे सर्वोच्च फल प्राप्त होते हैं। इसके उपरान्त मनु (३।१८३) ने उद्घोष किया है कि पंक्तिपावन ब्राह्मण वे हैं जो भोजन करने वालों की उस पंक्ति को पवित्र करते हैं जिसमें ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जो (अपने अन्तर्हित) उन दोषों से युक्त हैं जो उन्हें भोजन करने वालों में बैठने के अयोग्य ठहराते हैं। मनु (३।१८४-१८६) ने पंक्तिपावन ब्राह्मणों के लक्षण लिखे हैं, यथा—जो वेदों या उनके विश्लेषक ग्रंथों के शाखाध्यायियों में सर्वोत्तम हैं और अविच्छिन्न वैदिक परंपरा के कुल में उत्पन्न हुए हैं और जो त्रिणाचिकेत अग्नि के ज्ञाता आदि हैं। हेमाद्रि (श्राद्ध, पृ० ३९१-३९५) एवं कल्पतरु (श्राद्ध, पृ० ६४-६५) ने यम के पंक्तिपावन-सम्बन्धी कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं।

मनु (३।१४७) का कथन है कि सर्वोत्तम विधि यह है कि जो ब्राह्मण सभी लक्षणों (मनु ३।१३२-१४६) को पूरा करता हो उसे ही आमंत्रित करना चाहिए, किन्तु यदि किसी ऐसे ब्राह्मण को पाना असम्भव हो तो अनुकल्प (उसके बदले कुछ कम लक्षण वाली विधि) का पालन करना चाहिए, अर्थात् कर्ता अपने ही नाना, मामा, बहिन के पुत्र, श्वशुर, वेद-गुरु, दौहित्र (पुत्री के पुत्र), दामाद, किसी बन्धु (यथा मौसी के पुत्र), साले या सगोत्र या कुल-पुरोहित या शिष्य को बुला सकता है। ऐसी ही व्यवस्थाएँ याज्ञ० (१।२२०), कूर्म० (उत्तरार्ध २१।२०), वराह० (१४।३), मत्स्य० (१६।१०-११), विष्णुपुराण (३।१५।२-४ अनुकल्पेष्वनन्तरान्) में भी पायी जाती हैं। किन्तु मनु ने सावधान किया है कि प्रथम सर्वोत्तम प्रकार के रहते हुए जब दूसरे उत्तम प्रकार का सहारा लिया जाता है तो पारलौकिक फल की प्राप्ति नहीं होती।[३५] यहाँ तक कि आप० ध० सू० (२।७।१७।५-६) ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि यदि दूसरे लोगों के पास आवश्यक योग्यताएँ न हों तो, अपने भाई (सोदर्य) को, जो सभी गुणों (वेदविद्या एवं अन्य सदाचार आदि) से सम्पन्न हो एवं शिष्यों को श्राद्ध-भोजन देना चाहिए।[३६] बौ० ध० सू० (२।८।५) ने सपिण्डों को भी खिलाने की अनुमति दी है। ऐसा लगता है कि गौतम (१५।२०) ने भी कहा है कि दूसरे गुणयुक्त लोगों के अभाव में उत्तम गुणशाली शिष्यों एवं सगोत्रों को भी आमन्त्रित कर लेना चाहिए। आजकल भी विद्वान् ब्राह्मण श्राद्ध-भोजन में सम्मिलित होने में अनिच्छा प्रकट करते हैं। विशेषतः जब व्यक्ति (जिसके लिए श्राद्ध किया जाता है) तीन या चार वर्ष पहले ही मृत हुआ हो। स्मृतियों ने श्राद्ध-भोज में सम्मिलित होनेवाले पर दोष मढ़ दिया है और

३४. श्रोत्रियो विद्वान् साधुचरणः प्रख्याताभिजनः श्रोत्रियापत्यमसम्बन्धी भोजनीयः। परिशिष्टं सर्वमर्थवादार्थम्। मेधातिथि (मनु ३।१४७)।

३५. मुख्याभावे योनुष्ठीयते प्रतिनिधिन्यायेन सोऽनुकल्प उच्यते। मेधा० (मनु ३।१४७)। अमरकोश में आया है—'मुख्यः स्यात्प्रथमः कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधमः।' प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते। न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥ मनु (११।३०=शांतिपर्व १६५।१७)। तन्त्रवार्तिक (पृ० १९१) में भी यह उद्धृत है, किन्तु वहाँ दूसरी पंक्ति यों है—'स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥'

३६. गुणहान्यां तु परेषां समुदेतः सोदर्योपि भोजयितव्यः। एतेनान्तेवासिनो व्याख्याताः। आप० ध० सू० (२।७।१७।५-६)।

प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दे दी है। उदाहरणार्थ, मिता० (याज्ञ० २।२८९) ने भारद्वाज के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं—'यदि कोई ब्राह्मण पार्वण श्राद्ध में भोजन करता है तो उसे प्रायश्चित्त-स्वरूप छः प्राणायाम करने पड़ते हैं, यदि वह मृत्यु के तीन मासों से लेकर एक वर्ष के भीतर श्राद्ध-भोजन करता है तो उसे एक उपवास करना पड़ता है, यदि वह वृद्धि-श्राद्ध में भोजन करता है तो उसे तीन प्राणायाम करने पड़ते हैं और यदि कोई सपिण्डन श्राद्ध में खाता है तो उसे एक दिन एवं रात का उपवास करना पड़ता है।' मिता० ने धौम्य का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसने पुत्रोत्पत्ति या सीमन्तोन्नयन पर किये गये श्राद्ध या नव-श्राद्ध आदि में भोजन करने पर चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था दी है। और देखिए इस विषय में निर्णयसिन्धु (३, पृ० ४६७-४६८)। वराहपुराण (१८९।१२-१३) में आया है कि यदि कोई ब्राह्मण प्रेत को दिया गया भोजन खाता है और पेट में उस भोजन को लिये हुए मर जाता है तो वह एक कल्प तक भयंकर नरक में रहता है, फिर राक्षस हो जाता है और तब कभी पाप से छुटकारा पाता है।

गौतम (१५।१०) के मत से गुणशाली (आवश्यक गुणों से सम्पन्न) युवा व्यक्तियों को वृद्ध लोगों की अपेक्षा वरीयता मिलनी चाहिए; कुछ लोगों के मत से पिता के श्राद्ध-भोज में नवयुवकों तथा पितामह के श्राद्ध में बूढ़े लोगों को आमंत्रित करना चाहिए। दूसरी ओर आप० ध० सू० (२।७।१७) का कथन है कि तुल्य गुण वालों में वृद्धों को तथा बुड्ढों में जो दरिद्र हैं और धनार्जन के इच्छुक हैं उन्हें वरीयता मिलनी चाहिए (तुल्यगुणेषु वयोवृद्धः श्रेयान् द्रव्यकृशश्चेप्सन्)।

कुछ ग्रन्थ संन्यासियों या योगियों को श्राद्ध में आमंत्रित करने पर बल देते हैं। विष्णुध० (८३।१९-२०) ने योगियों को विशेष रूप से पंक्तिपावन कहा है और पितरों द्वारा उच्चरित एक श्लोक उद्धृत किया है—'हमारे कुल में कोई (वंशज) उत्पन्न हो, जो श्राद्ध में ब्राह्मण योगी को खिलाये, जिससे हम स्वयं संतुष्ट होते हैं।' वराहपुराण (१४।५०) में योगी को १०० ब्राह्मणों से उत्तम कहा गया है। मार्कण्डेय० (२९।२९-३०) में आया है—समझदार व्यक्ति को श्राद्ध-भोजन में सदैव योगियों को खिलाना चाहिए, क्योंकि पितर लोग आश्रय के लिए योग पर निर्भर रहते हैं; यदि सहस्रों ब्राह्मणों में प्रथम बैठे हुए योगी को खिलाया जाता है तो वह योगी कर्ता (श्राद्धकर्ता) एवं अन्य भोजन करनेवालों को उसी प्रकार बचाता है जिस प्रकार नौका जल में से मनुष्यों को बचाती है। इसके उपरान्त उसने राजा ऐल के लिए पितरों द्वारा गाये गये श्लोकों को उद्धृत किया है (२९।३२-३४)। सौरपुराण (१९।२-३) ने गुणों या योग्यताओं का उल्लेख करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला है कि एकाग्र मन से शिव की पूजा करनेवाला व्यक्ति श्राद्ध भोजन के लिए पर्याप्त है।

मत्स्य० (१६।११-१२) में आया है—जो वैदिक मन्त्रों का विवेचन करता है, जो श्रौत यज्ञों का विचार करता है और जो साम की लयों के नियमों को जानता है, वह पंक्तिपावन रूप में पवित्र करनेवाला है। सामवेद में प्रवीण, वैदिक छात्र, वेदज्ञ एवं ब्रह्मज्ञ—ऐसे लोग जिस श्राद्ध में खिलाये जाते हैं वह सर्वोत्तम कल्याण देनेवाला है। उपर्युक्त वचनों में वेद-ज्ञान पर सबसे अधिक बल दिया गया है, किन्तु वेदज्ञों का सदाचारी होना एवं नियमरत रहना परम आवश्यक है (आश्व० गृ० ४।७।२, गौतम १५।९ एवं मनु २।११८)। मनु (२।११८) में आया है—'उस ब्राह्मण को जो केवल गायत्री मन्त्र जानता है किन्तु नियमों से युक्त जीवन बिताता है, वरीयता मिलनी चाहिए; किन्तु उसे नहीं जो तीनों वेदों का ज्ञाता है किन्तु नियम-नियन्त्रित नहीं है और जो चाहे (निषिद्ध या वर्जित खाद्य पदार्थ) खा लेता है तथा सभी प्रकार की वस्तुओं का विक्रेता है।' स्कन्द० (६।२१७।२७) में आया है कि ब्राह्मणों के कुल, उनके शील एवं अवस्था को जानना चाहिए और यह देखना चाहिए कि वे किससे विवाह करते हैं या किन्हें अपनी पुत्रियाँ देते हैं। ब्रह्माण्ड० (उपोद्घात, अ० १५) का कथन है कि अज्ञात ब्राह्मणों के विषय में छानबीन नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सिद्ध योगी लोग ब्राह्मण के रूप में विचरण किया करते हैं। किन्तु यदि ब्राह्मण के अवगुण बिना कठिनाई के ज्ञात हो जायँ या पास में रहने के

कारण किसी ब्राह्मण के दोष सरलतापूर्वक जान लिये जायँ तो उसे नहीं आमन्त्रित करना चाहिए (५।६)। इसी पुराण (उपो० १५।२४-२६) ने वरीयता के क्रम को यों रखा है—सर्वप्रथम यति (संन्यासी), तब चतुर्वेदी ब्राह्मण जो इतिहासज्ञ भी हो, तब त्रिवेदी, इसके उपरान्त द्विवेदी, तब एकवेदी और तब उपाध्याय। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० ४४३) ने अग्नि० को इस प्रकार उद्धृत किया है—किसी प्रसिद्ध कुल में जन्म लेने से क्या लाभ है, जब कि व्यक्ति वृत्तहीन (सदाचरणरहित) हो? क्या सुगन्धयुक्त कुसुमों में कृमि (कीड़े) नहीं उत्पन्न हो जाते? जातूकर्ण्य का कथन है—देवों और पितरों के कृत्यों में चरित्रहीन ब्राह्मणों से बात भी नहीं करनी चाहिए, भोजन आदि देने की तो बात ही दूसरी है, भले ही वे विद्वान् हों या अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हों।[३७] योग्यता पर इतना बल इसलिए दिया गया है कि श्राद्ध के समय पितर लोग वायव्य रूप धारण कर ब्राह्मणों में प्रविष्ट हो जाते हैं। और देखिए ब्रह्माण्ड पुराण (उपोद्घातपाद ११।४९)

उपर्युक्त विद्या, शील एवं सदाचरण-सम्बन्धी योग्यताएँ श्राद्धकर्ता को आमंत्रित होनेवाले ब्राह्मणों के अतीत जीवन, गुणों एवं दोषों को जानने के लिए स्वाभाविक रूप से विवश करती हैं। मनु आदि ने आमंत्रित होनेवाले ब्राह्मणों की परीक्षा के कतिपय नियम दिये हैं। मनु (३।३४९), विष्णु० ध० सू० (८२।१-२)[३८] ने व्यवस्था दी है—'देवकर्मों में (आमंत्रित करने के लिए) ब्राह्मण (के गुणों की) परीक्षा नहीं ली जानी चाहिए, किन्तु पितृश्राद्ध में (गुणों की) भली प्रकार छान-बीन उचित एवं न्यायसंगत घोषित है।' मनु (३।१३०) में आया है कि भले ही ब्राह्मण वेद का पूर्ण ज्ञाता हो, उसकी (पूर्वज-वंशपरम्परा में) पूर्ण छान-बीन करनी चाहिए। वायु० (८३।५१) में व्यवस्था दी हुई है कि दान-धर्म में ब्राह्मणों के गुणों की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, किन्तु देवों एवं पितरों के कृत्यों में परीक्षा आवश्यक है। अनुशासन० (९०।२, हेमाद्रि, पृ० ५११) ने कहा है कि देवकृत्यों में क्षत्रिय को दान-नियम जानते हुए ब्राह्मण की योग्यताओं की जानकारी नहीं करनी चाहिए, किन्तु देवों एवं पितरों के श्राद्धों में ऐसी जानकारी उचित है। वृद्ध मनु एवं मत्स्य० (हेमाद्रि, पृ० ५१३ एवं श्रा० प्र०, पृ० १०२) ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण के शील (चरित्र) की जानकारी उसके दीर्घकालीन निवासस्थल पर करनी चाहिए, उसकी पवित्रता उसके कर्मों एवं अन्य लोगों के साथ के व्यवहारों से जाननी चाहिए तथा उसकी बुद्धि की परीक्षा उसके साथ विवेचन करके करनी चाहिए। इन्हीं तीन विधियों से यह जानना चाहिए कि आमंत्रित होनेवाला ब्राह्मण योग्य है अथवा नहीं। नृसिंहपुराण ने श्राद्ध के समय अचानक आये हुए अतिथि की विद्या एवं चरित्र के विषय में जानकारी प्राप्त करना वर्जित किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुछ ऐसी उक्तियाँ भी हैं, विशेषतः पुराणों में, जो ब्राह्मणों की योग्यताओं अथवा उनके गुणों की जानकारी की भर्त्सना करती हैं। उदाहरणार्थ, स्कन्द० (अपरार्क, पृ० ४५५; कल्पतरु, श्रा०, पृ० १०२) में आया है—वैदिक कथन तो यह है कि (विद्या एवं शील की) छानबीन के उपरान्त ही (किसी ब्राह्मण को) श्राद्धार्पण करना चाहिए, किन्तु छानबीन की अपेक्षा सरल सीधा व्यवहार अच्छा माना जाता है। जब कोई बिना किसी छानबीन के सीधी तौर से पितरों को श्राद्धार्पण करता है तो वे और देवगण प्रसन्न होते हैं। भविष्य० (बालंभट्टी, आचार, पृ० ४९५) ने कहा है—यह मेरा मत है कि ब्राह्मणों के गुणों की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, केवल उनकी जाति देखनी चाहिए न कि उनके

३७. तदुक्तमग्निपुराणे। किं कुलेन विशालेन वृत्तहीनस्य देहिनः। कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगंधिषु।। जातूकर्ण्योऽपि। अपि विद्याकुलैर्युक्तान् वृत्तहीनान् द्विजाधमान्। अनर्हान् हव्यकव्येषु वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।। हेमाद्रि (पृ० ४४३-४४४) एवं श्रा० प्र० (पृ० ७४)।

३८. दैवे कर्मणि ब्राह्मणं न परीक्षेत। प्रयत्नात्पित्र्ये परीक्षेत। विष्णुधर्मसूत्र (८२।१-२)।

शील-गुण। ऐसी उक्तियों की इस प्रकार व्याख्या की गयी है कि वे केवल तीर्थस्थलों पर किये गये श्राद्ध की ओर निर्देश करती हैं या वे केवल दान कर्म या अतिथियों के लिए प्रयुक्त हैं (हेमाद्रि, श्राद्ध, पृ० ५१३ एवं बालंभट्टी, आचार, पृ० ४९४)।

कुछ दशाओं में ब्राह्मण लोग अपांक्तेय (पंक्ति में बैठने के अयोग्य या पंक्ति को अपवित्र करनेवाले) कहे गये हैं, यथा---शारीरिक एवं मानसिक दोष तथा रोग-व्याधि, कुछ विशिष्ट जीवन-वृत्तियाँ (पेशे), नैतिक दोष, अपराधी होने के कारण नास्तिक अथवा पाषण्ड धर्मों का अनुयायी होना, कुछ विशिष्ट देशों का वासी होना। आमंत्रित न होने योग्य ब्राह्मणों और अपांक्तेय या पंक्तिदूषक ब्राह्मणों में अन्तर दिखलाया गया है। उदाहरणार्थ, मित्र या सगोत्र ब्राह्मणों को साधारणतः नहीं बुलाना चाहिए, चाहे वे विद्वान् ही क्यों न हों, किन्तु ये लोग अपांक्तेय नहीं हैं। आप० ध० सू० (२।७।१७।२१)[39] का कहना है कि धवल या रक्तदोष-ग्रस्त, खल्वाट, परदारा से संबंध रखने वाला, आयुधजीवी-पुत्र, शूद्रसम ब्राह्मण का पुत्र (शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र)---ये पंक्तिदूषक कहलाते हैं। इन्हें श्राद्ध में निमंत्रित नहीं करना चाहिए। वसिष्ठध० सू० (११।१९) ने भी एक संक्षिप्त सूची दी है---'नग्न (संन्यासी) से बचना चाहिए, उनसे भी जो श्वित्री (श्वेत कुष्ठ ग्रस्त) हैं, क्लीब हैं, अंधे हैं, जिनके दाँत काले हैं, जो कोढ़ी हैं और जिनके नख विकृत हैं। गौतम (१५।१६।१९), मनु (३।२५०-१६६), याज्ञ० (१।२२२-२२४), विष्णु ध० सू० (८२।३-२९), अत्रि (श्लोक ३४५-३५९ एवं ३८५-३८८), बृहद्यम (३।३४-३८), बृहत्पराशर (पृ० १४९-१५०), वृद्ध गौतम (पृ० ५८०-५८३), वायु० (८३।६१-७०), अनुशासन० (९०।६-११), मत्स्य० (१६।१४-१७), कूर्म० (२।२१।२३-४७), स्कन्द० (७।१।२०५।५८-७२ एवं ६।२१७।११-२०), वराह० (१४।४-६), ब्रह्म० (२२०।१२७-१३५), ब्रह्माण्ड० (उपोद्घात १५।३९-४४ एवं १९।३०।४१), मार्कण्डेय० (२८।२६-३०), विष्णुपुराण (३।१५।५-८), नारद पुराण (पूर्वार्ध २८।११-१८), सौर पुराण (१९।७-९) आदि ग्रंथों में श्राद्ध में आमंत्रण के अयोग्य लोगों की बड़ी भारी सूचियाँ दी हुई हैं। मनुस्मृति की सूची यहाँ उद्धृत की जा रही है। ऐसा ब्राह्मण आमंत्रित नहीं होना चाहिए जो निम्न प्रकार का है---

(१) चोर, (२) जाति से निकाला हुआ, (३) क्लीब, (४) नास्तिक, (५) ब्रह्मचारी (जो अभी वेद पढ़ रहा है और सिर के बाल कटाता नहीं बल्कि बाँध रखता है), (६) वेदाध्ययन न करनेवाला, (७) चर्मरोगी, (८) जुआरी, (९) बहुतों का एक पुरोहित, (१०) वैद्य, (११) देवपूजक (जो धन के लिए प्रतिमा-पूजा करता है), (१२) मांस बेचनेवाला, (१३) दुकान करनेवाला, (१४ एवं १५) किसी ग्राम या राजा का नौकर, (१६) विकृत नखों वाला, (१७) स्वाभाविक रूप से काले दाँतों वाला, (१८) गुरुविरोधी, (१९) पूताग्नियों को त्यक्त करनेवाला (श्रौत या स्मार्त अग्नियों को अकारण छोड़नेवाला), (२०) सूदखोर (अधिक ब्याज खानेवाला),

३९. श्वित्री शिपिविष्टः परतल्पगाम्यायुधीयपुत्रः शूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्यामित्येते श्राद्धे भुंजानाः पंक्तिदूषका भवन्ति। आप० ध० सू० (२।७।१७।२१)। ब्राह्मण-स्त्री और शूद्र पुरुष से उत्पन्न पुत्र बहुत-सी स्मृतियों में चाण्डाल कहा गया है। अतः उसे श्राद्ध में आमंत्रित करने के अयोग्य ठहराया गया है। कपर्दी ने "शूद्रो ...ह्मण्याम्" नामक शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है---ऐसे ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न जो प्रथमतः शूद्र नारी से विवाह करने के कारण व्यवहारतः शूद्र हो गया है और तब ब्राह्मण नारी से विवाह करके अन्ततोगत्वा शूद्रा पत्नी से पुत्र उत्पन्न करता है और तब कहीं ब्राह्मण पत्नी से। यह अंतिम (शूद्रसम ब्राह्मण का पुत्र) अपांक्तेय है---'शूद्रोत्पन्नो ब्राह्मण्यां असमवर्ण-दारपरिग्रहे ब्राह्मण्यां पुत्रमनुत्पाद्य शूद्रायामुत्पादितपुत्र इति कपर्दी' (कल्पतरु, श्रा०, पृ० ९०)।

(२१) क्षय रोगी, (२२) (विपत्ति में न पड़ने पर भी) पशु पालन करके जीविका चलानेवाला, (२३ एवं २४) बड़े भाई के पहले विवाह करनेवाला और पूताग्नियाँ प्रज्वलित करने वाला, (२५) पञ्चमहायज्ञों के प्रति उदासीन रहनेवाला, (२६) ब्राह्मणों या वेद का शत्रु, (२७ एवं २८) छोटे भाई के उपरान्त विवाह करनेवाला या पूताग्नियाँ जलानेवाला बड़ा भाई, (२९) श्रेणी या संघ का सदस्य, (३०) अभिनेता या गायक, (३१) ब्रह्मचर्य व्रत भंग करनेवाला वेदाध्यायी ब्राह्मण, (३२) जिसकी पहली पत्नी या एक ही पत्नी शूद्रा हो, (३३) पुनर्विवाहित विधवा का पुत्र, (३४) मेंड़ा या काना, (३५) जिसके घर में पत्नी का प्रेमी रहता हो, (३६) जो किराये पर या पैसा लेकर पढ़ाता हो, (३७) जो किराया या शुल्क लेनेवाले गुरु से पढ़े, (३८) शूद्रों का शिक्षक, (३९) जिसका शिक्षक शूद्र हो, (४०) कर्कश या असत्य बोलनेवाला, (४१) व्यभिचारिणी का पुत्र, (४२) विधवा पुत्र, (४३) माता-पिता या गुरु को अकारण त्यागनेवाला, (४४) वेद (शिक्षक या शिष्य के रूप में) या विवाह के द्वारा पतितों से सम्बन्ध रखनेवाला, (४५) आग लगानेवाला, (४६) समुद्र यात्रा करनेवाला, (४७) भाट (वन्दी), (४८) तेली, (४९) झूठा साक्ष्य देने या लेख्य प्रमाण बनानेवाला या कूट लेखक या कपट रूप से मुद्रा बनानेवाला, (५०) पिता के विरोध में मुकदमा लड़नेवाला, (५१) दूसरों को जुआ खेलने को प्रेरित करनेवाला, (५२) सुरापी या मद्यपी, (५३) पूर्व जन्म के अपराध के दण्डस्वरूप उत्पन्न रोग से पीड़ित, (५४) महापातकी, (५५) कपटाचारी, (५६) मिष्टान्न या रस का विक्रेता, (५७) धनुष-बाण निर्माता, (५८) बड़ी बहिन के पूर्व विवाहित छोटी बहिन का पति, (५९) मित्र को धोखा देनेवाला, (६०) द्यूतशाला का पालक, (६१) पुत्र से (वेद) पढ़नेवाला, (६२) अपस्मार (मृगी) से पीड़ित, (६३) कंठमाला, रोग से पीड़ित (६४) संक्रामक रोगी, (६५) पिशुन (चुगलखोर), (६६) पागल, (६७) अन्धा, (६८) वेद के विषय में विवाद करनेवाला, (६९) हाथियों; घोड़ों, बैलों या ऊँटों को प्रशिक्षण देनेवाला, (७०) ज्योतिष (फलित) की वृत्ति (पेशा) करनेवाला, (७१) चिड़ियों को फँसाने वाला, (७२) शस्त्रों की शिक्षा देनेवाला, (७३) जलमार्गों को दूसरे मुख की ओर करनेवाला, (७४) जलमार्गों का अवरोध करनेवाला, (७५) भास्कर्य शिल्प की शिक्षा या व्यवहार की वृत्ति करनेवाला, (७६) संदेशक, (७७) धन के लिए वृक्ष लगानेवाला, (७८) शिकारी कुत्तों को उत्पन्न करनेवाला, (७९) श्येन (बाज) पालने वाला, (८०) कुमारी को अपवित्र करनेवाला (या झूठमूठ कुमारी को बदनाम करनेवाला), (८१) जीव-जन्तुओं को पीड़ा देनेवाला, (८२) शूद्रों से जीविका ग्रहण करनेवाला, (८३) श्रेणियों के उपलक्ष्य में किसी यज्ञ का पौरोहित्य करनेवाला, (८४) साधारण आचरण-नियमों (अतिथि-सत्कार आदि) का उल्लंघन करनेवाला, (८५) धार्मिक कृत्यों के लिए असमर्थ, (८६) सदैव दान माँगने वाला, (८७) स्वयं कृषि करनेवाला, (८८) फीलपाँव से ग्रस्त, (८९) सद्व्यक्तियों द्वारा भर्त्सित, (९०) भेड़-पालक, (९१) भैंस पालनेवाला, (९२) पुनर्विवाहित विधवा का पति तथा (९३) (धन के लिए) शव ढोनेवाला। मनु (३।१६७) ने कहा है कि पवित्र नियमों के ज्ञाता ब्राह्मण को देवों एवं पितरों दोनों प्रकार के यज्ञों में भाग लेनेवाले उपर्युक्त ब्राह्मण त्याज्य समझने चाहिए और वे भी जो श्राद्ध भोजन में एक पंक्ति में ब्राह्मणों के साथ बैठने के अयोग्य हों।

मनु (३।१७०-१८२) ने यह संकेत किया है कि किस प्रकार ऐसे अयोग्य ब्राह्मणों को खिलाने से पितरों की संतुष्टि की हानि होती है और यह भी बतलाया है कि किस प्रकार ऐसे अयोग्य व्यक्तियों द्वारा खाया गया भोजन अखाद्य वस्तुओं के समान समझा जाना चाहिए। कूर्म० (उत्तरार्ध २१।३२) एवं हेमाद्रि (पृ० ४७६ एव ३६५) ने श्राद्ध में बौद्ध श्रावकों (साधुओं), श्रावकों (निर्ग्रन्थ जैन साधुओं), पांचरात्र एवं पाशुपत सिद्धान्तों के माननेवालों, कापालिकों (शिव के वाममार्गी भक्तों) तथा अन्य नास्तिक लोगों को आमंत्रित करने से मना किया है। विष्णुपुराण (३।१८।१७) ने एक ऐसे राजा की कथा कही है जिसने पवित्र स्थल में स्नान के उपरान्त किसी नास्तिक से बात की जिसके फलस्वरूप

उसे कुत्ते, शृगाल, भेड़िया, गिद्ध, कौआ, सारस एवं मोर का शरीर धारण करना पड़ा और अन्त में अश्वमेध यज्ञ में अवभृथ स्नान करने पर उसे मुक्ति मिली। उसी पुराण ने व्यवस्था दी है (३।१८।८७) कि नास्तिकों से बातचीत एवं स्पर्श नहीं करना चाहिए, विशेषतः धार्मिक कृत्य के समय या जब किसी पवित्र यज्ञ के लिए दीक्षा ली गयी हो। वायुपुराण (७८।२६ एवं ३१) ने कहा है कि नग्न व्यक्तियों को श्राद्ध देखने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए और उसने नग्न की परिभाषा यों दी है—'तीन वेदों को सभी जीवों का संवरण (रक्षा करनेवाला आवरण) उद्घोषित किया गया है, अतः जो लोग मूर्खतावश वेदों का त्याग करते हैं वे नग्न कहलाते हैं; जो व्यर्थ जटा रखते हैं, व्यर्थ मुण्डी होते हैं, जो व्यर्थ व्रत एवं निरुद्देश्य जप करते हैं वे नग्नादि कहलाते हैं।' जिस प्रकार कुछ देश श्राद्ध के लिए अयोग्य घोषित हैं, उसी प्रकार कुछ ग्रन्थों द्वारा कुछ देशों के कुछ ब्राह्मण श्राद्ध में निमंत्रित करने के अयोग्य घोषित किये गये हैं।[40] उदाहरणार्थ मत्स्यपुराण का कहना है कि वे ब्राह्मण, जो कृतघ्न हैं, नास्तिक हैं, म्लेच्छ देशों में निवास करते हैं या जो त्रिशंकु, करवीर, आन्ध्र, चीन, द्रविड़ एवं कोंकण देश में रहते हैं, उन्हें श्राद्ध के समय सावधानी से अलग कर देना चाहिए। हेमाद्रि (श्राद्ध, पृ० ५०५) ने सौरपुराण से यह उद्धृत किया है कि 'अंग, वंग, कलिंग, सौराष्ट्र, गुर्जर, आभीर, कोंकण, द्रविड़, दक्षिणापथ, अवन्ती एवं मगध के ब्राह्मणों को श्राद्ध के समय नहीं बुलाना चाहिए।' उपर्युक्त दोनों उक्तियों को मिलाकर देखने से प्रकट होता है कि आज के भारत के आधे भाग के ब्राह्मणों को श्राद्ध में आमंत्रित करने के अयोग्य ठहराया गया है। किन्तु सम्भवतः यह सब उन ग्रंथों के लेखकों का दम्भ एवं पूर्वनिश्चित धारणाओं का द्योतक है। रुद्रधर के श्राद्धविवेक (पृ० ३९-४१) में श्राद्ध के लिए अयोग्य व्यक्तियों की सबसे बड़ी सूची पायी जाती है।

श्राद्धकृत्य करते समय अचानक किसी अतिथि के आगमन पर उसके सम्मान के विषय में वराहपुराण एवं अन्य लोगों ने निम्न तर्क उपस्थित किया है।[41] "योगी लोग न पहचान में आनेवाले विभिन्न रूप धारण कर पृथिवी पर विचरते रहते हैं और दूसरों का कल्याण करते रहते हैं; अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को श्राद्ध सम्पादन के समय आये हुए अतिथि का सम्मान करना चाहिए।" और देखिए भविष्यपुराण (१।१८४।९-१०), हेमाद्रि (पृ० ४२७) एवं मार्कण्डेय० (३६।३०-३१)। मार्कण्डेय० (३६।३०) में आया है कि अतिथि का गोत्र या शाखा या वेदाध्ययन नहीं पूछना चाहिए और न उसके शोभन एवं अशोभन आकार पर ध्यान देना चाहिए। हेमाद्रि (श्राद्ध, पृ० ४३०-४३३) ने शिवधर्मोत्तर, विष्णुधर्मोत्तर एवं वायु (७१।७४-७५) पुराणों का हवाला दिया है कि देवगण, सिद्ध एवं योगी लोग ब्राह्मण अतिथियों के रूप में लोगों का कल्याण करने के लिए और यह देखने के लिए कि श्राद्ध किस प्रकार सम्पादित होते हैं, विचरण किया करते हैं। अतिथि की परिभाषा एवं अतिथिसत्कार-विधि तथा आवश्यकता के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २१।

४०. कृतघ्नान्नास्तिकांस्तद्वन्म्लेच्छदेशनिवासिनः। त्रिशंकुबर्बरद्राववीतद्रविडकोंकणान् (त्रिशंकुकरवीरान्ध्रचीनद्रविड० ?)। वर्जयेल्लिंगिनः सर्वान् श्राद्धकाले विशेषतः॥ मत्स्य० (१६।१६-१७, हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५०५; कल्पतरु, श्रा०, पृ० ९४)।

४१. योगिनो विविधै रूपैर्नराणामुपकारिणः। भ्रमन्ति पृथिवीमेतामविज्ञातस्वरूपिणः॥ तस्मादभ्यर्चयेत् प्राप्तं श्राद्धकालेऽतिथिं बुधः। श्राद्धक्रियाफलं हन्ति द्विजेन्द्रापूजितो हरिः॥ वराह० (१४।१८-१९), विष्णुपुराण (१५। २३-२४); मिलाइए वायुपुराण (७९।७-८); सिद्धा हि विप्ररूपेण चरन्ति पृथिवीमिमाम्। तस्मादतिथिमायान्तमभिगच्छेत् कृतांजलिः॥

हेमाद्रि (श्राद्धखण्ड, पृ० ३८०-३८५) ने एक मनोरंजक विवेचन उपस्थित किया है--क्या किसी एक वेद-शाखा का श्राद्धकर्ता केवल उसी शाखा के ब्राह्मणों को आमन्त्रित करे या वह तीन वेदों की किसी भी शाखा के ब्राह्मणों को आमंत्रित कर सकता है ? कुछ लोग 'यथा कन्या तथा हविः' न्याय के आधार पर केवल अपनी ही शाखा के व्युत्पन्न एवं उपर्युक्त गुणों से संपन्न ब्राह्मणों को आमन्त्रित करते हैं। हेमाद्रि इस भ्रामक मत का उत्तर देते हैं और आप० ध० सू० (२।६।१५-९) का हवाला देते हैं कि उन सभी ब्राह्मणों को आमंत्रित करना चाहिए, जो अपने आचार में शुचि हैं और मन्त्रवान् (वेदज्ञ) हैं, और कहते हैं कि किसी भी स्मृति, इतिहास, पुराण, गृह्यसूत्र, कल्पसूत्र में कर्ता की शाखा वाले ब्राह्मणों को ही आमंत्रित करने का नियन्त्रण नहीं है। उन्होंने आगे कहा है कि 'त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुः' जैसे वचनों में जो नियम व्यवस्थित है वह ऐसे ब्राह्मणों को आमंत्रित करने की बात करता है जो विभिन्न शाखाओं एवं वेदों के ज्ञाता हों। अपनी शाखा वाले वर को ही कन्या के पति चुनने की भावना को वे नहीं मानते और कहते हैं कि यदि कुछ लोग अन्य शाखाओं वाले नवयुवक वरों को अपनी कन्या देने को प्रस्तुत नहीं हैं तो यह कुलों के विषय की अज्ञानता का द्योतक है और दम्भ एवं अहंकार का परिचायक है। उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि आर्यावर्त के देशों में यह सर्वत्र पाया जाता है कि विभिन्न शाखाओं वाले लोग एक ही जनपद में विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं और ऐसा करना वर्जित नहीं है, एवं कुछ लोग एक शाखा के रहते हुए भी एक-दूसरे को न जानते हुए ऐसा नहीं करते हैं। और देखिए बालम्भट्टी (आचार, प० ४९७) जिसने हेमाद्रि के मत का विरोधी मत उद्घाटित किया है और कहा है कि महाराष्ट्र ब्राह्मणों को अन्य ब्राह्मण-जातियों के ब्राह्मणों को, विशेषतः कोंकणस्थ ब्राह्मणों को, आमंत्रित नहीं करना चाहिए; और उसने यह भी कहा है कि अपनी जाति के व्यक्ति को, चाहे वह अच्छे गुणों का न भी हो और कदाचारी भी हो (किन्तु महापातकी न हो तो) अन्य जाति के गुण-सम्पन्न व्यक्ति से वरीयता मिलनी चाहिए।

वसिष्ठधर्मसूत्र (११।७) में आया है कि श्राद्ध करनेवाले को यतियों, गृहस्थों, साधुचरित लोगों एवं जो अति बूढ़े न हों, उनको आमंत्रित करना चाहिए। कूर्म० (उत्तरार्ध, २१।१७-१८) का कहना है कि जिसकी (भोजन) आहुतियाँ ऐसा यति खाता है, जो प्रकृति (आदि शक्ति) एवं गुणों (सत्त्व, रज, तम) में अन्तर्हित सत्य को जानता है, वह सहस्रों (अन्य ब्राह्मणों) को भोजन देने का फल पाता है। अतः देवों एवं पितरों की आहुतियाँ परमात्मा के ज्ञान में संलग्न अत्युत्तम योगी को ही खिलानी चाहिए और जब ऐसा कोई व्यक्ति न प्राप्त हो तो अन्यों को खिलानी चाहिए। ऐसी ही बातें वराह० (१४।५०), स्कन्द० (६।२१८।७), वायु० (७१।६५-७५ एवं ७६।२८) आदि में पायी जाती हैं। बृहस्पति (हेमाद्रि, पृ० ३८५; स्मतिमु०, पृ० ७६५) का कथन है कि यदि कोई व्यक्ति श्राद्ध में एक से अधिक ब्राह्मण को न खिला सके, तो उसे उस ब्राह्मण को खिलाना चाहिए जिसने सामवेद का अध्ययन किया हो, क्योंकि सामवेद में तीनों, ऋक्, यजुस् एवं साम एक साथ पाये जाते हैं, एवं पिता ऋक् (ऋग्वेदी ब्राह्मण को भोजन कराने) से सन्तुष्ट होता है, पितामह यजु से, प्रपितामह साम से सन्तुष्ट होता है। अतः छन्दोग (सामवेदी) उत्तम है। शातातप (हेमाद्रि, पृ० ३८५ आदि) ने कहा है कि यदि देवों एवं पितरों के कृत्य में अथर्ववेद का कोई अध्येता खिलाया जाय तो अक्षय एवं अनन्त फल की प्राप्ति होती है।

कुछ स्मृतियों ने श्राद्ध में आमन्त्रित होनेवाले ब्राह्मणों की योग्यताओं की व्यवस्था में बड़ी कड़ाई प्रदर्शित की है। औशनस (अध्याय ४) में आया है—'वह ब्राह्मण ब्रह्मबन्धु है और उसे श्राद्ध के समय नहीं बुलाना चाहिए जिसके कुल में वेदाध्ययन एवं वेदी (श्रौत यज्ञों का सम्पादन) तीन पुरुषों (पीढ़ियों) से बन्द हो चुके हों।' उसी स्मृति (अपरार्क, पृ० ४४९) में पुनः आया है कि छः व्यक्ति ब्रह्मबन्धु (निन्दित, केवल जन्म एवं जाति से ब्राह्मण) कहे जाते हैं, यथा—वह जो शूद्र का एवं राजा का नौकर हो, जिसकी पत्नी शूद्र हो, जो ग्राम का पुरोहित हो, जो पशुहत्या करके जीविका चलाता हो या उन्हें पकड़ने की वृत्ति करता हो। महाभाष्य के काल में ऐसा कहा गया है कि

तप (संयमित जीवन-यापन), वेदाध्ययन एवं (ब्राह्मण माता-पिता द्वारा) जन्म ऐसे कारण हैं जिनसे व्यक्ति ब्राह्मण कहलाता है, जो व्यक्ति इनमें दो से हीन है, वह केवल जाति से ब्राह्मण है (वास्तविक ब्राह्मण नहीं है)। यह विचित्र-सी बात यम ने कही है कि जो ब्राह्मण नक्षत्र, तिथि, दिन, मुहूर्त एवं अन्य बातों की गणना नहीं कर सकता (अर्थात् ज्योतिष व्यवसायी नहीं है) वह यदि श्राद्ध-भोजन करता है तो श्राद्ध अक्षय हो जाता है।

कुछ योग्यताएँ इतनी कड़ी थीं कि उनसे युक्त ब्राह्मण की प्राप्ति असम्भव-सी थी। गौतम० (१५।१५-१८) में ५० से ऊपर ऐसे ब्राह्मणों की सूचियां मिलती हैं, जो श्राद्ध या देवकृत्य में आमंत्रित होने के अयोग्य ठहराये गये हैं, किन्तु गौतम० (१५।१८) ने जोड़ा है कि कुछ लोगों के मत से[४२] इस वाक्य के अन्तर्गत केवल 'दुर्बाल' शब्द से आरम्भ होनेवाले लोग ही श्राद्ध में आमंत्रण के अयोग्य हैं (किन्तु वे देव-यज्ञों में आमन्त्रित हो सकते हैं)। गौतम (ई० पू० ६००) के पूर्व के कुछ लोगों के मत से निम्न व्यक्ति त्याज्य माने गये हैं—'दुर्बाल (खल्वाट), कुनखी (टेढ़े नखों वाला), श्यावदन्त (काले दाँत वाला), श्वेत कुष्ठी (चरक-ग्रस्त), पौनर्भव (पुन-र्विवाहित विधवा का पुत्र), जुआरी, जपत्यागी, राजा का भृत्य (नौकर), प्रातिरूपिक (गलत बाट-बटखरा रखने-वाला), शूद्रापति, निराकृती (जो पंच आह्निक यज्ञ नहीं करता), किलासी (भयंकर चर्मरोगी), कुसीदी (सूदखोर), वणिक्, शिल्पोपजीवी, धनुष-बाण बनाने की वृत्ति करने वाले, वाद्ययन्त्र बजाने वाले, ठेका देनेवाले, गायक एवं नृत्यकार। वसिष्ठ० (११।२०) ने एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत किया है—यदि कोई मन्त्रविद् अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मण शरीर-दोषयुक्त है (जिसके कारण सामान्यतः भोज में सम्मिलित नहीं किया जाता) तो वह यम के मत से निर्दोष और पंक्ति-पावन है। यह ज्ञातव्य है कि आजकल भी बहुधा विद्वान् एवं साधुचरित ब्राह्मण ही श्राद्ध में आमन्त्रित किये जाते हैं।[४३] मनु (३।१८९) एवं पद्मपुराण के विचार आज भी सम्मान्य हैं, जैसा कि उन्होंने कहा है कि पितर लोग आमन्त्रित ब्राह्मणों में प्रविष्ट हो जाते हैं और उनके चतुर्दिक् विचरण किया करते हैं, अतः उन्हें पितरों के प्रतिनिधि के रूप में मानना चाहिए। गरुड़० (प्रेतखण्ड, १०।२८-२९) ने कहा है कि यमराज मृतात्माओं एवं पितरों को श्राद्ध के समय यमलोक से मृत्युलोक में आने की अनुमति देते हैं।[४४]

विष्णुधर्मसूत्र (७९।१९-२१) में आया है कि कर्ता को क्रोध नहीं करना चाहिए, न उसे आँसू गिराना चाहिए और न शीघ्रता से ही कार्य करना चाहिए। वराह०[४५] ने व्यवस्था दी है कि कर्ता को दाँत स्वच्छ करने के लिए

४२. कुण्डाशि-सोमविक्रय्यगारदाहि-गरदावकीर्णि-गणप्रेष्यागम्यागामि-हिंस्र-परिवित्ति-परिवेत्तृ-पर्याहित-पर्याधातृ-त्यक्तात्म-दुर्बाल-कुनखि-श्यावदन्त-श्वित्रि-पौनर्भव-कितवाजप-राजप्रेष्य-प्रातिरूपिक-शूद्रापति-निराकृति-किलासि-कुसीदि-वणिक्-शिल्पोपजीवि-ज्यावादित्रतालनृत्य-गीतशीलान्।...दुर्बालादीन् श्राद्धे एवैके। अकृतान्नश्राद्धे चैवम्। गौतम० (१५।१८, ३१-३२)। यहाँ ऐसे शब्द, जो सन्धियुक्त हैं विच्छेदकों (हाइफन) से पृथक् नहीं किये गये हैं।

४३. अथाप्युदाहरन्ति। अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैः पंक्तिदूषणैः। अदुष्यं तं यमः प्राह पंक्तिपावन एव सः।। वसिष्ठधर्मसूत्र (११।२०; मेधातिथि, मनु ३।१६८)। यह श्लोक अत्रि (३५०-५१) एवं लघुशंख (२२) में पाया जाता है।

४४. निमन्त्रितांश्च पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्। वायुभूता निगच्छन्ति तथासीनानुपासते।। पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड, ९।८५-८६)। श्राद्धकाले यमः प्रेतान् पितृंश्चापि यमालयात्। विसर्जयति मानुष्ये निरयस्थांश्च काश्यप।। गरुडपुराण (प्रेतखण्ड, १०।२८-२९)।

४५. वराहपुराणे। दन्तकाष्ठं च विसृजेद् ब्रह्मचारी शुचिर्भवेत्। कल्पतरु (श्रा०, पृ० १०४) एवं श्रा० प्र० (पृ० ११२)।

दातुन का प्रयोग नहीं करना चाहिए और ब्रह्मचारी एवं पवित्र रहना चाहिए। आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।७।१७।२४) ने व्यवस्था दी है कि कर्ता को भोजन के लिए आमन्त्रण देने के काल से श्राद्ध-कृत्य समाप्त न होने तक भोजन नहीं करना चाहिए। कूर्म० (उत्तरार्ध, २२।८) में आया है कि यदि कोई किसी ब्राह्मण को आमन्त्रित कर पुनः दूसरे को (पहले की उपेक्षा करके) मूर्खतावश बुला लेता है तो वह उस ब्राह्मण से, जो प्रथमप्राप्त निमंत्रण त्याग कर दूसरे के यहाँ चला जाता है, अपेक्षाकृत बड़ा पापी है और वह मनुष्य के मल में कीट के रूप में जन्म लेता है। भविष्य० (१।१८५।२३) में आया है कि बिना उत्तरीय धारण किये देवों, पितरों एवं मनुष्यों को सम्मान एवं ब्राह्मणों को भोजन नहीं देना चाहिए, नहीं तो कृत्य फलवान् नहीं हो सकता।[४६]

श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों की संख्या के विषय में कई मत हैं। आश्व० गृ० (४।७।२-३) का कथन है कि पार्वण-श्राद्ध (किसी पर्व, यथा अमावस्या के दिन, किये जाने वाले), आभ्युदयिक श्राद्ध, एकोद्दिष्ट या काम्य श्राद्ध में जितनी ही बड़ी संख्या हो उतनी ही अधिक फल-प्राप्ति होती है; सभी पितरों के श्राद्ध में केवल एक ब्राह्मण को कभी भी नहीं बुलाना चाहिए; प्रथम को छोड़कर अन्य श्राद्धों में विकल्प से एक भी बुलाया जा सकता है; पिता, पितामह एवं प्रपितामह के श्राद्धों में एक, दो या तीन ब्राह्मण बुलाये जा सकते हैं। शांखा० गृ० (४।१।२) एवं कौषीतकि गृ० (३।१४।१-२) में आया है कि ब्राह्मणों को विषम संख्या में बुलाना चाहिए और कम-से-कम तीन को प्रतिनिधि-स्वरूप बुलाना चाहिए। गौतम० (१५।२।७-९ एवं ११) का कहना है—'वह अयुज (विषम) संख्या में ब्राह्मणों को खिलाये, कम-से-कम नौ या जितनों को खिला सके; और उन्हें (ब्राह्मणों को) वेदज्ञ, मृदुभाषी, अच्छी आकृतियों वाले (सुन्दर), प्रौढ़ अवस्था वाले एवं शीलसम्पन्न होना चाहिए।' यदि पाँच बुलाये गये हैं तो उनमें दो देवों के लिए और तीन पितरों के लिए होने चाहिए; यदि सात हों तो उनमें चार देवों के लिए एवं तीन पितरों के लिए होने चाहिए। वसिष्ठ (११।२७=मनु ३।१२५=बौधा० ध० सू० २।८।२९), याज्ञ० (१।२२८), मत्स्य० (१७। १३-१४) एवं विष्णु (३।१५।१४) ने कहा है कि देव-कृत्य में दो एवं पितृ-कृत्य में तीन या दोनों में एक ब्राह्मण को अवश्यमेव खिलाना चाहिए; धनी व्यक्ति को भी चाहिए कि वह अधिक ब्राह्मणों को न खिलाये। पद्म० (सृष्टि ९।९८ एवं १४१) ने भी यही बात कही है। इससे प्रकट है कि आमंत्रितों की संख्या कर्ता के साधनों पर नहीं निर्भर होती, प्रत्युत वह आमंत्रित करनेवाले की योग्यता पर निर्भर होती है जिससे वह उचित रूप में एवं सुकरता के साथ आमंत्रित का सम्मान कर सके। भावना यह थी कि जब श्राद्ध-कर्म हो तो देवों के लिए दो एवं पितरों के लिए तीन ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए। यदि एक ही ब्राह्मण बुलाया जा सका या एक ही उपलब्ध हुआ तो वसिष्ठ० (११। ३०-३१) ने व्यवस्था दी है कि सभी प्रकार के पके भोजनों के कुछ-कुछ भाग एक पात्र में रखकर उस स्थान पर रख देने चाहिए जहाँ वैश्वदेविक ब्राह्मण बैठाया जाता है, इसके उपरान्त उसे एक थाल में रखकर विश्वेदेवों का आवाहन करना चाहिए और उन्हें उस स्थान पर उपस्थित होने की कल्पना करनी चाहिए और तब उस भोजन को अग्नि में डाल देना चाहिए या ब्रह्मचारी को (भिक्षा के रूप में) दे देना चाहिए और उसके उपरान्त श्राद्ध-कर्म चलता रहना चाहिए। शंख (१४।१०) ने भी ऐसा ही नियम दिया है। इसका परिणाम यह है कि यदि कोई एक ही ब्राह्मण को बुलाने में समर्थ हो या यदि उसे एक ही ब्राह्मण प्राप्त हो सके तो वह ब्राह्मण पितृ-श्राद्ध के लिए समझा जाता है और देवों की आहुतियाँ अग्नि में डाल दी जाती हैं। बौ० ध० सू० (२।८।३०), मनु (३।१२६), वसिष्ठ० (११।-

४६. पितृदेवमनुष्याणां पूजनं भोजनं तथा। नोत्तरीयं विना कार्यं कृतं स्यान्निष्फलं यतः॥ भविष्य० (१। १८५।२३)।

२८), कूर्म० (उत्तरार्ध, २२।२८) में भी यही बात पायी जाती है; 'बड़ी संख्या निम्न पाँच रूपों को नष्ट कर देती है; आमंत्रितों का सम्यक् सम्मान (सत्क्रिया), उचित स्थान की प्राप्ति (यथा दक्षिण की ओर ढालू भूमि), काल, शौच (पवित्रता) एवं शीलवान् ब्राह्मणों का चुनाव; अतः बड़ी संख्या (विस्तार) की इच्छा नहीं करनी चाहिए।'[४७] कूर्म० (उत्तरार्ध, २२।३२) ने बल देकर कहा है कि श्राद्ध में एक अतिथि को अवश्य खिलाना चाहिए नहीं तो श्राद्ध प्रशंसा नहीं पाता। यद्यपि इन प्राचीन ग्रंथों ने श्राद्ध-कर्म में अधिक व्यय नहीं करने को कहा है तथापि कुछ स्मृतियों ने अधिक परिमाण में सम्पत्ति-व्यय की व्यवस्था दी है। उदाहरणार्थ, बृहस्पति ने कहा है—'उत्तराधिकारी को दाय का आधा भाग मृत के कल्याण के लिए पृथक् रख देना चाहिए और उसे मासिक, छमासी (षाण्मासिक) एवं वार्षिक श्राद्धों में व्यय करना चाहिए।' दायभाग (११।१२) ने इसका अनुमोदन किया है और आप० ध० सू० (२।६।१३।३) का उद्धरण दिया है—'सपिण्ड के अभाव में आचार्य (वेद-शिक्षक), आचार्य के अभाव में शिष्य दाय लेता है और उसे मृत के कल्याण के लिए धर्मकृत्यों में व्यय करना चाहिए (या वह स्वयं उसका उपभोग कर सकता है)।' इन वचनों से प्रकट होता है कि कुछ लेखकों ने मृतात्मा के कल्याण के मत को भारत में कितनी दूर तक प्रकाशित किया है। कुछ व्यावहारिक लेखकों ने, यथा हरदत्त आदि ने, इन सीमातिरेकी मतों को पसन्द नहीं किया है। वायु० (८२।१९), विष्णुपुराण आदि में स्पष्ट रूप से आया है कि गया में श्राद्ध करते समय वित्तशाठ्य (कंजूसी) नहीं करना चाहिए, प्रत्युत प्रभूत धन व्यय करना चाहिए, नहीं तो श्राद्ध-सम्पादन से कर्ता उस तीर्थस्थान पर फल नहीं प्राप्त कर सकता।[४८] और देखिए पद्म० (सृष्टि, ९।१७९-१८१)। वायु० (८२।२६-२८) ने पुनः कहा है कि गया के ब्राह्मण अमानुष हैं, यदि वे श्राद्ध में सन्तुष्ट होते हैं तो देव एवं पितर लोग सन्तुष्ट होते हैं, (गया के ब्राह्मणों के) कुल, शील, विद्या एवं तप के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठाना चाहिए, उन्हें सम्मानित कर व्यक्ति मुक्ति पाता है, उन्हें सम्मानित करने के उपरान्त अपनी धन-योग्यता एवं शक्ति के अनुरूप श्राद्ध करना चाहिए; इसके द्वारा व्यक्ति सभी दैवी इच्छाओं की पूर्ति करता है और मोक्ष के साधनों से युक्त हो जाता है।[४९] स्कन्द० (६।२२२।२३) ने यहाँ तक कहा है कि यद्यपि गया के ब्राह्मण आचारभ्रष्ट (दुराचारी एवं पिछड़े हुए) हैं, तथापि श्राद्ध में आमंत्रित होने योग्य हैं और वेद एवं वेदांगों के पण्डित ब्राह्मणों से उत्तम हैं।[५०] निर्णयसिन्धु (३, पृ० ४०१) ने टिप्पणी की है कि उनके पितामह-कृत त्रिस्थलीसेतु के मत से, यह व्यवस्था गया में केवल अक्षयवट पर श्राद्ध करने के विषय में है न कि अन्य स्थानों के विषय

४७. सत्क्रिया देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः। पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥ मनु (३।१२६)।

४८. वित्तशाठ्यं न कुर्वीत गयाश्राद्धे सदा नरः। वित्तशाठ्यं तु कुर्वाणो न तीर्थफलभाग्भवेत्॥ वायु० (८२। १९)। देखिए स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ३८८)—'अतो वित्तानुसारेण शारीरबलानुसारेण च गयायां श्राद्धं कार्यम्।' पद्म० (सृष्टि०, ९।१७९-१८१) में आया है—'सतिलं नामगोत्रेण दद्याच्छक्त्या च दक्षिणाम्। गोभूहिरण्यवासांसि भव्यानि शयनानि च॥ दद्याद्यदिष्टं विप्राणामात्मनः पितुरेव च। वित्तशाठ्येन रहितः पितृभ्यः प्रीतिमाहरन्॥

४९. अमानुषतया विप्रा (अमानुषा गयाविप्रा?) ब्राह्मणा (ब्रह्मणा?) ये प्रकल्पिताः। तेषु तुष्टेषु संतुष्टाः पितृभिः सह देवताः॥ न विचार्यं कुलं शीलं विद्या च तप एव च। पूजितैस्तैस्तु राजेन्द्र मुक्तिं प्राप्नोति मानवः॥ ततः प्रवर्तयेच्छ्राद्धं यथाशक्तिबलाबलम्। कामान्स लभते दिव्यान्मोक्षोपायं च विन्दति॥ वायु० (८२।२६-२८)।

५०. अथाचारपरिभ्रष्टाः श्राद्धार्हा एव नागराः। बलीवर्दसमानोऽपि ज्ञातीयो यदि लभ्यते। किमन्यैर्बहुभिर्विप्रैर्वेदवेदांगपारगैः॥ स्कन्दपुराण (६।२२२।२३)॥

में। आधुनिक काल के गयावाल (गया के ब्राह्मण) श्राद्ध-कर्ता को फल्गु नदी में खड़ा करके उसे अपनी सम्पत्ति के विषय में घोषणा करने को विवश करते हैं और वायुपुराण में कहे गये शब्दों का अक्षरशः पालन करने को उद्वेलित करते हैं तथा अपनी दक्षिणा माँगते हैं। बहुत-से लोग गया के ब्राह्मणों के व्यवहार से पूर्णरूपेण असन्तुष्ट होकर लौट आते हैं। वराहपुराण (१३।५०-५१) में पितरों के मुख से दो श्लोक कहलाये गये हैं—'क्या हमारे कुल में कोई धनवान् एवं मतिमान् व्यक्ति उत्पन्न होगा जो हमें बिना वित्तशाठ्य (कृपणता) के पिण्डदान देगा और हमारे कल्याण के लिए ब्राह्मणों को, जब कि उसके पास प्रभूत धन हो तो, रत्न, वस्त्र, भूमि, यान तथा अन्य प्रकार की वस्तुएँ जल के साथ देगा?' स्पष्ट है, यहाँ श्राद्ध में प्रभूत धन के व्यय की चर्चा है (गया के अतिरिक्त स्थानों में भी)। देवल (स्मृति-च०, श्रा०, पृ० ४१०) में आया है कि श्रौत यज्ञों, धर्म-कृत्यों, वार्षिक श्राद्धों या अमावस्या के श्राद्धों, वृद्धि के अवसरों, अष्टका के दिनों में आमंत्रित ब्राह्मणों को कुभोजन कभी नहीं कराना चाहिए।

यदि कोई ब्राह्मण उपलब्ध न हो, तो श्राद्धविवेक, श्राद्धतत्त्व आदि निबन्धों का कहना है कि सात या नौ दर्भों से बनी ब्राह्मणाकृतियाँ रख लेनी चाहिए और श्राद्ध करना चाहिए, दक्षिणा तथा अन्य सामग्रियाँ अन्य ब्राह्मणों को आगे चलकर दे देनी चाहिए (सामवेदी ब्राह्मणों के लिए ब्राह्मणाकृतियों के लिए रचनार्थ की कोई संख्या नहीं निर्धारित की गयी है)।

ब्राह्मणों को आमंत्रित करने की विधि के विषय में बहुत प्राचीन काल से नियम प्रतिपादित हुए हैं। आप० धर्म० सू० (२।७।१७।११-१३) का कथन है कि कर्ता को एक दिन पूर्व ही ब्राह्मणों से निवेदन करना चाहिए, श्राद्ध के दिन दूसरा निवेदन करना चाहिए ('आज श्राद्ध-दिन है', ऐसा कहते हुए) और तब तीसरी बार उन्हें सम्बोधित करना चाहिए ('भोजन तैयार है, आइए' ऐसा कहकर)। हरदत्त ने इन तीनों सूत्रों में पहले की व्याख्या की है कि प्रार्थना (निवेदन) इस प्रकार की होनी चाहिए; 'कल श्राद्ध है, आप आहवनीय अग्नि के स्थान में उपस्थित होने का अनुग्रह करें' (अर्थात् जो भोजन बनेगा, उसे पाइएगा)। मनु (३।१८७) ने भी कहा है कि आमंत्रण एक दिन पूर्व या श्राद्ध के दिन दिया जाना चाहिए। मत्स्य० (१६।१७-२०) एवं पद्म० (सृष्टि ९।८५-८८) ने व्यवस्था दी है कि श्राद्ध-कर्ता को विनीत भाव से ब्राह्मणों को एक दिन पूर्व या श्राद्ध के दिन प्रातः आमंत्रित करना चाहिए एवं आमंत्रित होनेवाले के दाहिने घुटने को इन शब्दों के साथ छूना चाहिए—'आपको मेरे द्वारा निमंत्रण दिया जा रहा है' और उनको सुनाकर यह कहना चाहिए—'आपको क्रोध से मुक्त होना चाहिए, तन और मन से शुद्ध होना चाहिए तथा ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए, मैं भी उसी प्रकार का आचरण करूँगा, पितर लोग वायव्य रूप में आमंत्रित ब्राह्मणों की सेवा करते हैं।' बृहन्नारदीय पुराण का कथन है कि आमंत्रण इस रूप का होना चाहिए—'हे उत्तम मनुष्यो, आप लोगों को अनुग्रह करना चाहिए और श्राद्ध का आमंत्रण स्वीकार करना चाहिए।' यह ज्ञातव्य है कि प्रजापतिस्मृति (६३) ने व्यवस्था दी है कि श्राद्धकृत्यों या देवकृत्यों के लिए ब्राह्मणों को एक दिन पूर्व संध्याकाल में 'अक्रोधनैः' श्लोक के साथ आमंत्रित करना चाहिए। स्कन्दपुराण (६।२१७।३७) में आया है कि कर्ता इस प्रकार ब्राह्मणों को सम्बोधित करे—'मेरे पिता आपके शरीर में (हैं या प्रवेश करेंगे), इसी प्रकार मेरे पितामह भी करेंगे; वे (पितामह) अपने पिता के साथ आयें, आपको प्रसन्नता के साथ व्रत (नियमों) का पालन करना चाहिए।' पितरों के प्रतिनिधि ब्राह्मणों को आमंत्रण प्राचीनावीत ढंग से एवं वैश्वदेविकों को यज्ञोपवीत ढंग से जनेऊ धारण करके देना चाहिए। इस प्रश्न पर कि वैश्वदेविक ब्राह्मणों को पहले निमंत्रित करना चाहिए या पितृ-ब्राह्मणों को, स्मृतियों में मतभेद है, किन्तु मध्य काल के निबन्धों ने विकल्प दिया है (हेमाद्रि, श्राद्ध, पृ० ११५४-११५७)। लगता है, मनु (३।२०५) ने दैव ब्राह्मण को वरीयता दी है। यम (श्राद्धक्रियाकौमुदी, पृ० ८०; श्राद्धतत्त्व, पृ० १९४; मंद० पा०, पृ० ५६४) का कथन है कि कर्ता को एक दिन पूर्व सन्ध्याकाल में ब्राह्मणों से इन शब्दों के साथ प्रार्थना करनी चाहिए—'आप लोगों को

आयास (थकावट) एवं काम-क्रोध से वर्जित होकर मेरे घर में होनेवाले श्राद्ध में भाग लेना है', ब्राह्मण लोग उत्तर देंगे—'ऐसा ही होगा यदि रात्रि किसी विघ्न-बाधा के बिना प्रसन्नतापूर्वक बीत जाय।' श्राद्धक्रियाकौमुदी (पृ० ८१), श्राद्धतत्त्व (पृ० १९४) एवं निर्णयसिन्धु (३, पृ० ८०४) का कथन है कि यदि एक दिन पूर्व आमंत्रण दिया जाय तो 'सर्वायास' आदि श्लोक के साथ और यदि श्राद्ध-दिन के प्रातःकाल वैसा किया जाय तो 'अक्रोधनैः' श्लोक के साथ वैसा करना चाहिए।"[५१] विभिन्न लेखकों ने आमंत्रण के विभिन्न शब्द दिये हैं। उदाहरणार्थ मिता० (याज्ञ० १।२२५) के मत से शब्द ये हैं—'श्राद्धे क्षणः क्रियताम्।' और देखिए श्राद्धप्रकाश (पृ० १०६)। मनु (३।१८७-१९१) में 'निमंत्रण' एवं 'आमंत्रण' शब्द पर्याय रूप में प्रयुक्त हैं। श्राद्धसूत्र (१, कात्यायनकृत) में भी 'आमंत्रण' शब्द आया है, किन्तु पाणिनि (३।३।१६१) ने स्पष्टतः दोनों शब्दों का अन्तर बताया है और महाभाष्य ने व्याख्या की है 'कि निमंत्रण वह है जिसे अकारण अस्वीकार करने पर दोष या पाप लगता है और आमंत्रण वह है जिसे बिना दोषी एवं पापी हुए अस्वीकार किया जा सकता है।' अतः ऐसा कहा जाना चाहिए कि बहुत कम लेखक (कात्यायन आदि) ऐसे हैं जो आमंत्रण को गौण अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। कर्ता स्वयं या उसका पुत्र, भाई या शिष्य या ब्राह्मण निमंत्रण कर दे, किन्तु दूसरे वर्ग के व्यक्ति द्वारा या स्त्री या बच्चा या दूसरे गोत्र के व्यक्ति द्वारा निमंत्रण नहीं दिया जाना चाहिए और न दूर से ही (प्रजापति ६४)। प्रचेता ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण श्राद्धकर्ता को निमंत्रण देते समय आमंत्रित होने वाले व्यक्ति का दाहिना घुटना, क्षत्रिय को बायाँ घुटना, वैश्य को दोनों पैर छूने चाहिए और शूद्र को साष्टांग पैरों पर गिर जाना चाहिए (श्रा० प्र०, पृ० १०६)। मार्कण्डेय ने एक अपवाद दिया है (२८।३५) कि यदि श्राद्ध-कृत्य के समय ब्राह्मण या ब्रह्मचारी (वेदाध्ययन करनेवाले) या संन्यासी अचानक भिक्षा माँगते हुए आ जायँ तो कर्त्ता को उनके पैरों पर गिरकर उन्हें प्रसन्न करना चाहिए और उन्हें भोजन देना चाहिए (अर्थात् इन लोगों को आमंत्रित करना आवश्यक नहीं है)। देखिए विष्णुपुराण (३।१५।१२)।

उशनस्-स्मृति में आया है कि कर्ता को श्राद्ध के एक दिन पूर्व घर की भूमि को पानी से धोना चाहिए, गोबर से लीपना चाहिए और पात्रों को स्वच्छ करना चाहिए, तब ब्राह्मणों को इन शब्दों के साथ आमंत्रित करना चाहिए—'कल मैं श्राद्ध कर्म करूँगा।' और देखिए वराहपुराण एवं कूर्मपुराण जिनमें वस्त्रों को स्वच्छ करने की भी व्यवस्था है। मनु (३।२०६) ने भी कहा है कि श्राद्धस्थल को स्वच्छ, एकान्त वर्ती, गोबर से लिपा हुआ एवं दक्षिण की ओर ढालू होना चाहिए।

कात्यायन के श्राद्धसूत्र (श्राद्धतत्त्व, पृ० १८९) में आया है कि श्राद्ध में दोषरहित कर्ता द्वारा आमंत्रित होने पर ब्राह्मण को अस्वीकार नहीं करना चाहिए और उसे स्वीकृति देने के उपरान्त किसी दूसरे व्यक्ति से असिद्ध (अर्थात् बिना पका हुआ) भोजन भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। मनु (३।१९०) एवं कूर्मपुराण ने लिखा है कि यदि कोई ब्राह्मण देवों एवं पितरों के यज्ञ में आमंत्रित होने के उपरान्त नियम भंग करता है तो वह पापी है और दूसरे जन्म में घोर नरक की यातना सहता हुआ सूकरयोनि को प्राप्त होता है। किन्तु रोग-ग्रसित होने पर या किसी उपयुक्त कारण से न आने पर दोष नहीं लगता।

स्मृतियों में आमंत्रित ब्राह्मणों एवं श्राद्धकर्ता के लिए कुछ कड़े एवं विशद नियमों की व्यवस्था दी हुई है। कुछ नियम तो दोनों के लिए समान हैं। गौतम (१५।२३-२४) ने कहा है कि उस ब्राह्मण को जिसने श्राद्ध-भोजन किया है, पूरे दिन भर ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करना चाहिए, यदि वह अपनी शूद्रा पत्नी के साथ सम्भोग करता है तो उसके

५१. अक्रोधनैः शौचपरैरिति गाथामुदीरयन्। सायमामन्त्रयेद्विप्रान् श्राद्धे दैवे च कर्मणि ।। प्रजापतिस्मृति, ६३।

पितर लोग उसकी स्त्री के मल में एक मास तक निवास करते हैं। वसिष्ठ० (११।३७) ने यह नियम श्राद्धकर्ता एवं आमंत्रित ब्राह्मण दोनों के लिए प्रयुक्त माना है किन्तु सभी वर्णों की स्त्रियों की ओर निर्देश किया है। मनु (३।१८८) ने भी कहा है कि श्राद्धकर्ता एवं श्राद्धिक (श्राद्ध में भोजन करनेवाला) दोनों को संयमित एवं क्रोधादि भावों से मुक्त रहना चाहिए और (जप के अतिरिक्त) वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिए। याज्ञ० (१।२२५) ने संक्षेप में यों कहा है—'उन्हें शरीर, वाणी एवं विचार से यात्रा, यान, श्रम, मैथुन, वेदाध्ययन, झगड़ा नहीं करना चाहिए और न दिन में सोना चाहिए।'[५२] और देखिए विष्णुधर्मसूत्र (९।२-४)। मिता० (याज्ञ० १।७९) ने पाँचवें दिन से सोलहवें दिन के बीच में अपनी पत्नी के साथ संभोग करने के विषय में अपना भिन्न मत दिया है; किन्तु अन्य लेखकों ने (यथा हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १००६-७ एवं श्रा० प्र०, पृ० १११) इससे भिन्न मत दिये हैं। कात्यायन के श्राद्धसूत्र[५३] ने व्यवस्था दी है कि श्राद्धकर्ता को ब्राह्मणों को आमंत्रित करने से लेकर उनके द्वारा आचमन (श्राद्ध-भोजन के उपरान्त) करने तक शुचि (पवित्र) रहना चाहिए, क्रोध, शीघ्रता एवं प्रमाद से रहित होना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, यात्रा, मैथुन, श्रम, वेदाध्ययन से दूर रहना चाहिए एवं वाणी पर नियंत्रण रखना चाहिए और आमंत्रित ब्राह्मणों को भी ऐसा करना चाहिए। यही बात औशनस में भी है। और देखिए मार्कण्डेय० (२८।३१-३३), अनुशासन० (१२५।२४)[५४] एवं वायु० (७९।६०-६१)। लघु शंख (२९), लघु हारीत (७५) एवं लिखित (६०) ने भी यही बात कही है और आमंत्रित ब्राह्मणों को निम्न बातें न करने को कहा है—'पुनर्भोजन, यात्रा, भार ढोना, वेदाध्ययन, मैथुन, दान देना, दान-ग्रहण और होम।' प्रजापति (९२) ने इन आठों में प्रथम चार के स्थान पर निम्न बातें जोड़ दी हैं—'दातुन से दाँत स्वच्छ करना, ताम्बूल, तेल लगाकर स्नान करना एवं उपवास।' अनुशासन० (९०।१२-१३) एवं पद्म० (पाताल खण्ड, १०१।९४-९५) ने न करने योग्य बातों की लम्बी सूची दी है। संक्षेप में, निम्न बातें श्राद्धकर्ता एवं श्राद्ध-भोक्ता के लिए त्याज्य हैं—मैथुन, फिर से भोजन, असत्य भाषण, जल्दीबाजी, वेदाध्ययन, भारी काम, जुआ, भार ढोना, दान देना, दान-ग्रहण करना, चोरी, यात्रा, दिन में सोना, झगड़ा। केवल श्राद्ध-कर्ता ही निम्न कार्य नहीं कर सकता—ताम्बूल-चर्वण, बाल

५२. आमन्त्रितो ब्राह्मणो वै योन्यस्मिन् कुरुते क्षणम्। स याति नरकं घोरं सूकरत्वं प्रयाति च॥ कूर्म० (उत्तरार्ध २२।७, श्रा० प्र०, पृ० ११०)। सद्यः श्राद्धी शूद्रातल्पगस्तत्पुरीषे मासं नयति पितॄन्। तस्मात्तदहर्ब्रह्मचारी स्यात्। गौतम० (१५।२३-२४); हरदत्त ने 'श्राद्धी' की व्याख्या यों की है—'श्राद्धमनेन भुक्तमिति, अत इनिठनौ।' पाणिनि (५।२।८५) में यों है—'श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ।' इसमें दो रूप आये हैं—(१) 'श्राद्धी' एवं (२) 'श्राद्धिक'। पुनर्भोजनमध्वानं यानमायासमैथुनम्। श्राद्धकृच्छ्राद्धभुक्चैव सर्वमेतद्विवर्जयेत्॥ स्वाध्यायं कलहं चैव दिवास्वप्नं च सर्वदा। मत्स्य० (१६।२७-२८); श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ९८। और देखिए पद्म० (सृष्टि० ९।१२३-१२४)।

५३. तदहः शुचिरक्रोधनोऽत्वरितोऽप्रमत्तः सत्यवादी स्यादध्वमैथुनश्रमस्वाध्यायान्वर्जयेदावाहनादि वाग्यत ओपस्पर्शनादामन्त्रिताश्चैवम्। श्रा० सू० (कात्यायन)। पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम्। दानं प्रतिग्रहं होमं श्राद्धभुक्त्वष्ट वर्जयेत्॥ लघुशंख (२९, मिता०, याज्ञ० १।२४९)। मिलाइए कूर्म० (२।२२।६) एवं नारदीय (पूर्वार्ध, २८।४)।

५४. श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च पुरुषो यः स्त्रियं व्रजेत्। पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन्रेतसि शेरते॥ अनुशासन० (१२५।२४)। यही श्लोक मार्कण्डेय० (२८।३२-३३), अनुशासन० (९०।१२-१३) एवं वसिष्ठ० (११।३७) में भी है। मिता० (याज्ञ० १।७९) का कथन है—'एवं गच्छन् ब्रह्मचार्येव भवति। अतो यत्र ब्रह्मचर्यं श्राद्धादौ चोदितं तत्र गच्छतोऽपि न ब्रह्मचर्यस्खलनदोषोऽस्ति।'

कटाना, शरीर में तेल लगाना, दातुन से दाँत स्वच्छ करना। आमंत्रित ब्राह्मणों के लिए (केवल) निम्न बातें पालनीय थीं—आमंत्रण स्वीकार कर लेने के उपरान्त अनुपस्थित न होना, भोजन के लिए बुलाये जाने पर देर न करना (देखिए श्राद्धकलिका एवं श्राद्ध पर पितृभक्ति)।[55]

अति प्राचीन काल से श्राद्ध में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों एवं पात्रों (बरतनों) तथा उसमें प्रयुक्त न होनेवाले पदार्थों के विषय में विस्तृत नियम चले आये हैं। आप० ध० सू० (२।७।१६।२२-२४) में आया है[56]—'श्राद्ध के द्रव्य ये हैं—तिल, माष, चावल, यव, जल, मूल एवं फल; किन्तु पितर लोग घृतमिश्रित भोजन से बहुत काल के लिए सन्तुष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार वे न्यायपूर्ण विधि से प्राप्त धन से और उसे योग्य व्यक्तियों को दिये जाने से सन्तुष्ट होते हैं।' और देखिए मनु (३।२६७=वायु० ८३।३)। याज्ञ० (१।२५८) केवल इतना कहते हैं कि जो भोजन यज्ञ में अर्पित होता है (हविष्य) वही खिलाना चाहिए। मनु (३।२५७) ने व्याख्या की है कि जंगल में यतियों द्वारा खाया जानेवाला भोजन, (गाय का) दूध, सोमरस, बिना मसालों से बना मांस (अर्थात् जो खराब गंध से मुक्त हो) एवं पर्वतीय नमक स्वभावतः यज्ञिय भोजन (हविष्य) है। गौतम० (२७।११) के मत से यज्ञिय भोजन (हविष्य), यह है—पका हुआ चावल (भक्त या भात), भिक्षा से प्राप्त भोजन, पीसा हुआ यव (उबाला हुआ, सेका हुआ या सत्तू) भूसी निकाला हुआ अन्न, यवागू या यावक, शाक, दूध, दही, घृत, मूल, फल एवं जल।[57] स्मृतियों एवं निबन्धों ने प्रारम्भिक ग्रन्थों में दिये गये इन संक्षिप्त संकेतों को बढ़ा दिया है। तीन प्रकार के धन (शुक्ल, शबल एवं कृष्ण) एवं अन्य न्यायोचित ढंग से प्राप्त (अनिषिद्ध) धन के विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ३। मार्कण्डेय० (२९।१४-१५) ने घूस से प्राप्त धन या पतित (महापातक के अपराधी) से लिये गये धन, पुत्री की बिक्री से प्राप्त धन, अन्यायपूर्ण ढंग से प्राप्त धन, 'पिता का श्राद्ध करना है अतः कुछ धन दीजिए' इस कथन से प्राप्त धन की भर्त्सना की है (स्मृतिच०, श्राद्ध, पृ० ४१२)। स्कन्द० ने सात बातों की शुचिता पर बल दिया है—कर्ता की शुचिता, द्रव्य, पत्नी, श्राद्ध-स्थल, मन, मन्त्रों एवं ब्राह्मणों की शुचिता। मनु (३।२३५=वसिष्ठ० ११।३५) का कथन है—'श्राद्ध में तीन वस्तुएँ शुद्धिकारक हैं, यथा—दौहित्र, नेपाल का कम्बल एवं तिल; श्राद्ध में तीन बातों की प्रशंसा होती है, यथा—स्वच्छता, क्रोधहीनता और त्वरा (शीघ्रता) का अभाव।[58] प्रचेता ने श्राद्ध में प्रयुक्त कतिपय अन्नों का

५५. निमन्त्रितः श्राद्धकर्ता च पुनर्भोजनं श्रमं हिंसां त्वरां प्रमादं भारोद्वहनं दूरगमनं कलहं शस्त्रग्रहणं च वर्जयेत्। शुचिः सत्यवादी क्षमी ब्रह्मचारी च स्यात्। (श्रीदत्त का पितृभक्ति नामक ग्रन्थ)।

५६. तत्र द्रव्याणि तिलमाषा व्रीहियवा आपो मूलफलानि। स्नेहवति त्वेवान्ने पितॄणां प्रीतिर्द्राघीयांसं च कालम्। तथा धर्माहृतेन द्रव्येण तीर्थप्रतिपन्नेन। आप० ध० सू० (२।७।१६।२२-२४)।

५७. चरुभैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि हवींष्युत्तरोत्तरं प्रशस्तानि। गौतम० (२७।११)। नारायण (आश्व० गृ० १।९।६) ने इसी के अनुरूप अर्थ वाला एक श्लोक उद्धृत किया है—'पयो दधि यवागूश्च सर्पिरोदनतण्डुलाः। सोमो मांसं तथा तैलमापस्तानि दशैव तु॥'

५८. त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः। त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्॥ मनु (३। २३५) एवं वसिष्ठ० (११।३५)। और देखिए विष्णुपुराण (३।१५।५२), भविष्य० (१।१८५।२०), मार्कण्डेय० (२८।६४), स्कन्द० (प्रभासखण्ड, २०५।१३) एवं पद्म० (सृष्टि०, ४७।२७८-२७९)। मनु के पूर्ववर्ती श्लोक से पता चलता है कि दौहित्र का अर्थ है 'कन्या का पुत्र'। किन्तु स्कन्द० (प्रभासखण्ड, २०५।१४) में इसके कई अर्थ हैं, यथा—'गैंडे के सींग से बना पात्र', या 'चितकबरी गाय के दूध से बना हुआ घृत।' अपरार्क (पृ० ४७४)

उल्लेख किया है। मनु (३।२५५) ने निष्कर्ष निकाला है कि श्राद्ध में धन (अर्थात् अत्यन्त महत्वपूर्ण बातें) ये हैं—अपराह्ण, दर्भ, श्राद्ध के निमित्त स्थान (या घर) की उचित स्वच्छता, तिल, उदारतापूर्ण व्यय (भोजन आदि में), व्यंजन एवं प्रसिद्ध (विद्वान्) ब्राह्मण।

मार्कण्डेय० का कथन है कि जब ब्रह्मा ने अकालपीड़ित लोगों के लिए पृथिवी को दुहा तो कई प्रकार के अन्नदाता पौधे (कुछ कृषि से उत्पन्न होनेवाले और कुछ जंगल में प्राप्त होनेवाले) उत्पन्न हुए; किन्तु ब्रह्मवैवर्त (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५६७) में आया है कि इन्द्र द्वारा सोमरस पिये जाते समय कुछ बूंदें नीचे गिर पड़ीं तब उनसे निम्न अन्न उत्पन्न हुए—श्यामाक, गेहूँ, यव, मुद्ग एवं लाल धान; ये अन्न सोमरस से उत्पन्न हुए थे अतः पितरों के लिए अमृतस्वरूप हैं और इन्हीं से बना हुआ भोजन पितरों को देना चाहिए। मार्कण्डेय ने सात प्रकार के ग्राम्य एवं सात प्रकार के आरण्य (बनैले) अन्नों का उल्लेख किया है। प्रजापति (११९) ने आठ प्रकार के अन्नों के प्रयोग की बात कही है; नीवार, माष, मुद्ग, गेहूँ, धान, यव, कण (भूसी निकाला हुआ अन्न) एवं तिल। मत्स्य० (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५३८) ने वर्णन किया है कि जब सूर्य ने अमृत पीना आरम्भ किया तो कुछ बूंदें गिर पड़ीं जिनसे कई प्रकार के धान, मुद्ग एवं ईख उत्पन्न हुईं, अतः ईख पवित्र है और देव-पितृ-यज्ञों में उसका प्रयोग हो सकता है। मार्कण्डेय० (८२।९-११) ने श्राद्धोपयोगी कई अन्नों का उल्लेख किया है।[५९] ब्रह्मपुराण (२२०।१५४-१५५), वायु० (८२।३), विष्णुपुराण (३।१६।५-६), विष्णुधर्मसूत्र (८०।१)[६०] एवं ब्रह्माण्ड० (२।७।१४३-१५२ एवं ३।१४) में श्राद्धोपयोगी विभिन्न अन्नों की समान सूचियाँ दी हुई हैं। वायु० (८०।४२-४८) ने विभिन्न प्रकार के अन्नों, ईख, घृत एवं दूध से बनाये जानेवाले खाद्य-पदार्थों का उल्लेख किया है।

कुछ विशिष्ट अन्न एवं खाद्य-पदार्थ वर्जित माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, मत्स्य० (१५।३६-३८) एवं पद्म० (सृष्टिखण्ड, ९।६२-६६) ने घोषित किया है कि मसूर, सन, निष्पाव, राजमाष, कुसुम्भिक, कोद्रव, उदार, चना, कपित्थ, मधूक एवं अतसी (तीसी) वर्जित है।[६१] विष्णुधर्मसूत्र (७९।१८) ने व्यवस्था दी है कि श्राद्धकर्ता को राजमाष, मसूर, पर्युषित (बासी) भोजन एवं समुद्र के जल से निर्मित नमक का परहेज करना चाहिए।[६२] षट्त्रिं-

---

ने एक स्मृति-वचन के आधार पर कुतप के नौ अर्थ दिये हैं—'ब्राह्मणः कम्बलो गावः सूर्योऽग्निस्तिथिरेव च। तिला दर्भाश्च कालश्च नवैते कुतपाः स्मृताः॥' और देखिए लघु शातातप (१०९, श्रा० कि० कौ०, पृ० ३१७)।

५९. राजश्यामाकश्यामाकौ तद्वच्चैव प्रशान्तिका। नीवाराः पौष्कराश्चैव वन्यानि पितृतृप्तये॥ यवव्रीहिस-गोधूमतिलमुद्गाः ससर्षपाः। प्रियंगवः कोद्रवाश्च निष्पावाश्चातिशोभनाः॥ वर्ज्या मर्कटकाः श्राद्धे राजमाषास्तथाणवः। विप्रूषिका मसूराश्च श्राद्धकर्मणि गर्हिताः॥ (मार्क० २९।९-११)।

६०. तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलैः शाकैः श्यामाकैः प्रियङ्गुभिर्नीवारैर्मुद्गैर्गोधूमैश्च मासं प्रीयन्ते। विष्णु-धर्म० (८०।१)।

६१. हव्यानि संप्रवक्ष्यामि श्राद्धे वर्ज्यानि यानि तु। मसूरशणनिष्पावराजमाषकुसुम्भिकाः... कोद्रवोदार-चणकाः कपित्थं मधुकातसी॥ मत्स्य० (१५।३६-३८; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५४८-५४९ एवं श्रा० प्र०, पृ० ४०)। पद्म० (५।९।६४-६७; हेमाद्रि, पृ० ५४८) में भी यही सूची है। हेमाद्रि ने 'मधुक' को 'ज्येष्ठीमधु' कहा है और मत्स्य० में ऐसा पाठ है—'कोद्रवोद्दालवरककपित्थ०'। 'वरक' को हिन्दी में बरी कहा जाता है।

६२. राजमाषमसूरपर्युषितकृतलवणानि च। विष्णुधर्म० (७९।१८); राजमाषान्मसूरांश्च कोद्रवान् कोर-

शन्मत ने श्राद्ध में तिल, मुद्ग एवं माष के अतिरिक्त सभी काली भूसी वाले अन्नों को वर्जित माना है। स्थानाभाव से इस विषय में हम और नहीं लिखेंगे। देखिए मिता० (याज्ञ० १।२४०)।

इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय २२ में प्रयुक्त एवं अप्रयुक्त होनेवाले दूध के विषय में लिखा जा चुका है। कुछ बातें यहाँ और दी जा रही हैं। मनु (३।२७१) एवं याज्ञ० (१।२५८) ने व्यवस्था दी है कि यदि गाय का दूध या उसमें भात पकाकर (पायस) दिया जाय तो पितर लोग एक वर्ष तक सन्तुष्ट रहते हैं। वायु० (७८।१७), ब्रह्म० (२२०।१६९),[६३] मार्कण्डेय० (३२।१७।१२) एवं विष्णु० (३।१६।११) ने श्राद्ध में भैंस, हरिणी, चमरी, भेड़, ऊँटनी, स्त्री एवं सभी एक खुर वाले पशुओं के दूध एवं उससे निर्मित दही एवं घृत का प्रयोग वर्जित माना है। किन्तु भैंस के घृत को सुमन्तु एवं देवल ने वर्जित नहीं ठहराया है (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५७२)।

मार्कण्डेय० (२९।१५-१७), वायु० (७८।१६) एवं विष्णुपुराण (३।१६।१०) ने कहा है कि श्राद्ध में प्रयुक्त होनेवाला जल दुर्गन्धयुक्त, फेनिल एवं अल्प जल वाली बावली का अर्थात् पंकिल नहीं होना चाहिए और न वह उस स्थल का होना चाहिए जिसके पीने पर गाय की तुष्टि न हो सके, उसे बासी नहीं होना चाहिए, वह उस जलाशय का नहीं होना चाहिए जो सबको समर्पित न हो और न वह उस हौज से लिया जाना चाहिए जिसमें पशु जल पीते हैं।[६४]

श्राद्ध में प्रयुक्त एवं अप्रयुक्त होनेवाले मूलों, फलों एवं शाकों के विषय में कतिपय नियमों की व्यवस्था दी हुई है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मपुराण (२२०।१५६-१५८) ने कई प्रकार के फलों के नाम लिये हैं, यथा—आम, बेल, दाड़िम, नारियल, खजूर, सेब, जो श्राद्ध में दिये जा सकते हैं। देखिए शंख (१४।२२-२३)। वायु० (७८।११-१५) का कथन है कि लहसुन, गाजर प्याज तथा अन्य वस्तुएँ जिनके स्वाद एवं गन्ध बुरे हों तथा वेद-निषिद्ध वृक्ष-रस, खारी भूमि से निकाले हुए नमक आदि का श्राद्ध में ग्रहण नहीं होना चाहिए।[६५] और देखिए विष्णुधर्मसूत्र (७९।१७)।[६६] रामायण में आया है कि दण्डकारण्य में रहते हुए राम ने इंगुदी, बदर एवं बेल से पितरों को सन्तुष्ट किया; उसमें यह भी कहा गया है कि देवताओं को वही भोजन अर्पित होता है जिसे व्यक्ति स्वयं खाता है।[६७] स्थानाभाव से स्मृतियों एवं

कूषकान्। लोहितान् वृक्षनिर्यासान् श्राद्धकर्मणि वर्जयेत् ॥ शंख (१४।२१); हेमाद्रि (श्रा०, पृ० ५४८) ने 'कोरदूषक' को 'वनकोद्रव' के अर्थ में लिया है।

६३. माहिषं चामरं मार्गमाविकैकशफोद्भवम्। स्त्रैणमौष्ट्रमाविकं च (मजावीकं ?) दधि क्षीरं घृतं त्यजेत् ॥ ब्रह्म० (२२०।१६९; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५७३)।

६४. दुर्गन्धि फेनिलं चाम्बु तथैवाल्पतरोदकम्। न लभेद्यत्र गौस्तृप्तिं नक्तं यच्चाप्युपाहृतम् ॥ यन्न सर्वार्थमुत्सृष्टं यच्चाभोज्यनिपानजम्। तद्वर्ज्यं सलिलं तात सदैव पितृकर्मणि ॥ मार्कण्डेय० (२९।१५-१७)। और देखिए ब्रह्माण्ड० (उपोद्घातपाद १४।२६)।

६५. लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं पिण्डमूलकम्। करम्भाद्यानि चान्यानि हीनानि रसगन्धतः ॥. . .अवेदोक्ताश्च निर्यासा लवणान्यौषराणि च। श्राद्धकर्मणि वर्ज्यानि याश्च नार्यो रजस्वलाः ॥ वायु० (७८।१२ एवं १५; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५५५ एवं स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४१६)। स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४१५) ने सुश्रुत से डेढ़ श्लोक उद्धृत कर पलाण्डु के दस प्रकार दिये हैं।

६६. पिप्पली - मुकुन्दक - भूस्तृण - शिग्रु - सर्षप - सुरसा-सर्जक-सुवर्चल-कूष्माण्ड-अलाबु-वार्ताकु-पालंक्याउपोदकी - तण्डुलीयक - कुसुम्भ - पिण्डालुक-महिषीक्षीराणि वर्जयेत्। वि० ध० सू० (७९।१७)।

६७. इंगुदैर्बदरैर्बिल्वै रामस्तर्पयते पितॄन्। यदन्नं पुरुषो भुंक्ते तदन्नास्तस्य देवताः ॥ रामायण, अयोध्या (१०३।

पुराणों में वर्णित बातों का विस्तार यहाँ नहीं दिया जा रहा है। स्मृत्यर्थसार (पृ० ५२-५३), रुद्रधर के श्राद्धविवेक (पृ० ४३-४७) आदि ने एक स्थान पर ग्राह्य एवं वर्जित भोजनों, शाकों, मूलों एवं फलों की सूची दी है। बनाया हुआ नमक वर्जित है, किन्तु झील या खान से स्वाभाविक रूप में प्राप्त नहीं। अलग से नमक नहीं दिया जा सकता (वि० ध० सू० ७९।१२) किन्तु पकते हुए शाक में डाला हुआ नमक वर्जित नहीं है। हींग के विषय में मतैक्य नहीं है (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५६५)। वि० ध० सू० (७९।५-६) में आया है कि उग्र गन्धी या गन्धहीन पुष्पों, काँटे वाले पौधों की कलियों एवं लाल पुष्पों का प्रयोग वर्जित है, किन्तु जल में उत्पन्न, कण्टक वाले, गन्धयुक्त फूलों का चाहे वे लाल भी क्यों न हों, प्रयोग हो सकता है। और देखिए शंख (१४।१५-१६)। वायु० (७५।३३-३५) ने भी यही कहा है, किन्तु उसने इतना जोड़ दिया है कि जपा, भण्डि, रूपिका (आक की) एवं कुरण्टक के पुष्प श्राद्ध में वर्जित हैं। ब्रह्मपुराण (२२०।१६२-१६५) ने श्राद्ध में प्रयुक्त होनेवाले कुछ विशिष्ट पुष्पों के नाम दिये हैं, यथा—जाती, चम्पक, मल्लिका, आम्रबौर, तुलसी, तगर, केतकी तथा श्वेत, नील, लाल आदि कमल-पुष्प। स्मृत्यर्थसार ने तुलसी को वर्जित वस्तुओं में परिगणित किया है। स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४३५) ने लिखा है कि किस आधार पर तुलसी को वर्जित किया गया है यह स्पष्ट नहीं है।

श्राद्ध में कुशों की आवश्यकता पड़ती है। कुश के विषय में सामान्य विवेचन के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १७। कुछ अन्य बातें यहाँ जोड़ दी जा रही हैं। शतपथ ब्राह्मण (७।२।३।२) में आया है कि वे जल, जो वृत्र के लिए घृणास्पद सिद्ध हुए वे मरुभूमि में चले गये और दर्भों के पौधों में परिणत हो गये।[68] इसी प्रकार आश्व० गृ० (३।२।२) ने एक ब्राह्मण-वचन का निष्कर्ष देते हुए कहा है कि दर्भ जल एवं ओषधियों का सारतत्त्व है। प्रजापति० (९८) में आया है कि ब्राह्मण द्वारा प्रातःकाल किसी पवित्र स्थल से दर्भ एकत्र किये जाने चाहिए। उन पर मन्त्रपाठ करना चाहिए, उन्हें हरे रंग का होना चाहिए और गाय के कान की लम्बाई के बराबर होना चाहिए, तभी वे पवित्र होते हैं।[69] गोभिल गृ० (१।५।१६-१७) में आया है—बर्हि वे कुश हैं जो तने के पास से निकले हुए अंकुरों के काटने से बनते हैं किन्तु पितरों के श्राद्ध में जड़ से उखाड़े हुए अंकुर प्रयुक्त होते हैं। दक्ष (२।३२ एवं ३५) में आया है कि दिन (आठ भागों में विभक्त) के दूसरे भाग में ईंधन, पुष्प एवं कुश एकत्र करने चाहिए। गोभिलस्मृति (१।२०-२१) का कथन है कि यज्ञ में, पाकयज्ञों, पितृ-कृत्यों एवं वैश्वदेव-कृत्यों में क्रम से हरे, पीले, जड़ से निकाले हुए (समूल) एवं कल्माष (कृष्ण-पीत) दर्भों का प्रयोग होना चाहिए, हरे एवं बिना अंकुर कटे, चिकने एवं अच्छी तरह बढ़े, एक अरत्नि लम्बे एवं पितृतीर्थ (हाथ के एक विशिष्ट भाग) से स्पर्श किये हुए दर्भ पवित्र कहे जाते हैं। पद्म० (सृष्टि० ११।९२) एवं स्कन्दपुराण (७।१।२०५।१६) का कहना है कि कुश एवं तिल विष्णु के शरीर से

३०, १०४।१५; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ५६१; मेधातिथि, मनु ५।७; स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४१६)। स्कन्द० (नागर खण्ड, २२०।४९) में आया है—'यदन्नं पुरुषोऽश्नाति तदन्नास्तस्य देवताः।'

६८. शतपथब्राह्मण में दर्भ के विषय में निम्न गाथा है और यह शब्द 'दृभ्' से बना है—'आपश्च ह्येता ओषधयश्च या वै वृत्राद् बीभत्समाना आपो धन्व दृभन्त्य उदायंस्ते दर्भा अभवन् यद्दृभन्त्य उदायंस्तस्माद्दर्भाः। ता हैताः शुद्धा मेध्या आपो वृत्राभिप्रक्षरिता यद्दर्भास्तेनौषधय उभयेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति। (७।२।३।२)।

६९. मन्त्रपूता हरिद्वर्णाः प्रातर्विप्रसमुद्धृताः। गोकर्णमात्रा दर्भाः स्युः पवित्राः पुण्यभूमिजाः॥ प्रजापति० (९८)। उत्पाटनमन्त्र यह है—'विरंचिना सहोत्पन्न परमेष्ठिनिसर्गज। नुद पापानि सर्वाणि भव स्वस्तिकरो मम॥ (स्मृतिच०, १, पृ० १०७ एवं अपरार्क, पृ० ४५८)।

निकले हैं। विष्णुधर्मोत्तर-पुराण (१।१३९।१२) में आया है कि वराहावतार में विष्णु के बालों एवं पसीने से दर्भ उत्पन्न हुआ है। और देखिए मत्स्य० (२२।८९)।

गरुड़० (प्रेतखण्ड २।२१-२२) का कथन है कि तीनों देवता कुश में निवास करते हैं; ब्रह्मा जड़ में, विष्णु मध्य में और शंकर अग्र भाग में। ब्राह्मण, मन्त्र, कुश, अग्नि एवं तुलसीदल बार-बार प्रयुक्त होने पर भी निर्माल्य (बासी अतः प्रयोग के लिए अयोग्य) नहीं होते।[70] किन्तु गोभिल ने एक अपवाद दिया है कि वे दर्भ जो पिण्ड रखने के लिए बिछाये जाते हैं या जो तर्पण में प्रयुक्त होते हैं या जिन्हें लेकर मल-मूत्र त्याग किया जाता है, वे त्याज्य हैं (उनका प्रयोग पुनः पुनः नहीं होता)। विष्णु ध० सू० (७९।२) एवं वायु० (७५।४१) ने व्यवस्था दी है कि कुशों के अभाव में काश या दूर्वा का प्रयोग हो सकता है। स्कन्द० (प्रभास खण्ड, ७, भाग १।२०६।१७) का कथन है कि दान, स्नान जप, होम, भोजन एवं देवपूजा में सीधे दर्भों का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु पितृकृत्य में उन्हें दुहराकर प्रयोग में लाना चाहिए। स्कन्द० (७।१।२०५।१६) ने कहा है कि देवकृत्य में दर्भों का ऊपरी भाग एवं पैतृक कृत्यों में मूल एवं नोक सहित दर्भ प्रयुक्त होते हैं। यह शतपथ ब्राह्मण (२।४।२।१७) पर आधारित है जिसका कहना है कि दर्भ का ऊपरी भाग देवों का होता है, मध्य मनुष्यों का एवं जड़ भाग पितरों का।

श्राद्ध में तिल-प्रयोग को बहुत महत्त्व दिया गया है। जैमिनिगृह्य० (२।१) का कहना है कि उस समय सारे घर में तिल बिखेरा रहना चाहिए। बौधा० ध० सू० (२।८।८) में आया है कि जब आमंत्रित ब्राह्मण आयें तो उन्हें तिल-जल देना चाहिए। बौधा० गृ० (२।११।६४) का कथन है कि श्राद्ध में दान करने या कुछ भाग भोजन रूप में या जल के साथ मिलाने के लिए तिल बहुत ही पवित्र माने गये हैं। प्रजापतिस्मृति ने चार प्रकार के तिलों का उल्लेख किया है; शुक्ल, कृष्ण, अति कृष्ण एवं जर्तिल जिनमें प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती से अपेक्षाकृत पितरों को अधिक संतुष्टि देनेवाला है।[71] तै० सं० (५।४।३।२) ने जर्तिलों का उल्लेख किया है और जैमिनि (१०।८।७) ने इस पर विवेचन उपस्थित किया है। नारदपुराण (पूर्वार्ध २८।३६) ने व्यवस्था दी है कि श्राद्धकर्ता को आमंत्रित ब्राह्मणों के बीच एवं द्वारों पर 'अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः' (वाज० सं० २।२९) मंत्र के साथ तिल विकीर्ण करने चाहिए। यही मंत्र याज्ञ० (२।२३४) ने भी दिया है जिसका अर्थ है—'असुर और दुष्टात्माएँ जो वेदी पर बैठी रहती हैं, हत हों एवं भाग जायँ।' कूर्म० (२।२२।१८) में आया है कि चतुर्दिक् तिल बिखेर देने चाहिए और उस स्थान पर बकरी बाँध देनी चाहिए, क्योंकि असुरों द्वारा अपवित्र किया गया श्राद्ध तिल और बकरी से शुद्ध हो जाता है। विष्णुपुराण (३।१६।१४) ने कहा है कि भूमि पर बिखेरे हुए तिलों द्वारा यातुधानों (दुष्टात्माओं) को भगाना चाहिए। गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, २।१६) ने श्री कृष्ण से कहलाया है; 'तिल मेरे शरीर के स्वेद (पसीना) से उद्भूत हैं और पवित्र हैं; असुर, दानव एवं दैत्य तिलों के कारण भाग जाते हैं।' अनुशासन० (९०।२२) में आया है कि बिना तिलों के श्राद्ध करने से यातुधान एवं दुष्टात्माएँ हवि को उठा ले जाती हैं। कृत्यरत्नाकर ने एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत किया है—जो तिल का उबटन (लेप) लगाता है, जो तिलोदक से स्नान करता है, जो अग्नि में तिल डालता है, जो तिल दान करता है, जो तिल खाता है और जो तिल उपजाता है—वह कभी नहीं गिरता (अर्थात् अभागा नहीं होता और न कष्ट में पड़ता है)।

७०. विप्रा मन्त्राः कुशा वह्निस्तुलसी च खगेश्वर। नैते निर्माल्यतां यान्ति क्रियमाणाः पुनः पुनः॥ गरुड़० (प्रेतखण्ड २।२२)।

७१. शुक्लः कृष्णः कृष्णतरश्चतुर्थो जर्तिलस्तिलः। उत्तरोत्तरतः श्राद्धे पितॄणां तृप्तिकारकाः॥ प्रजापति (९९)। 'जर्तिल' जंगली तिलों को कहते हैं।

अर्घ्य (आमंत्रित-ब्राह्मणों एवं पिण्डों को सम्मानित करने के लिए जल) देने, श्राद्ध-भोजन बनाने, भोजन करने एवं परोसने के लिए जो पात्र होते हैं, उनके विषय में विस्तार से कहा गया है। कात्यायन के श्राद्ध-सूत्र (२)[७२] में आया है कि अर्घ-जल यज्ञिय वृक्षों (पलाश, अश्वत्थ एवं उदुम्बर) से बने चमसों (प्यालों या कटोरों) या सोने, चाँदी, ताम्र, खड्ग (गेंडे के सींग के पात्रों), रत्नों या पत्तों के दोनों में देना चाहिए। विष्णु० ध० सू० (७९।-१४।१५) में आया है कि कर्ता को धातु के पात्रों का, विशेषतः चाँदी के पात्रों का प्रयोग करना चाहिए। मार्कण्डेय (३१।६५) एवं वायु० (७४।३) का कथन है कि पितरों ने चाँदी के पात्र में स्वधा दुही थी, अतः चाँदी का पात्र पितृगण बहुत चाहते हैं, क्योंकि उससे उन्हें संतोष प्राप्त होता है। वायु० (७४।१२), मत्स्य० (१७।१९-२२), ब्रह्माण्ड० (उपोद्घात ११।१-२) एवं पद्म० (सृष्टि ९।१४७-१५०) का कथन है कि पितरों के लिए सोने-चाँदी एवं ताँबे के पात्र उपयुक्त हैं; चाँदी के विषय में चर्चा करने मात्र से, या उसके दान से पितरों को स्वर्ग में अक्षय फल प्राप्त होता है; अर्घ्य, पिण्ड-दान तथा भोजन देने के लिए चाँदी के बरतनों को प्रधानता मिलनी चाहिए, किन्तु देवकार्यों में चाँदी का पात्र शुभ नहीं है। और देखिए अत्रि (स्मृतिच० २, पृ० ४६४)। पद्म० (सृष्टि ९।१४५-१५१) में आया है कि पात्र यज्ञिय काष्ठ, पलाश, चाँदी या समुद्रीय सीप-शंख आदि के होने चाहिए; चाँदी शिव की आँख से उत्पन्न हुई थी, अतः यह पितरों को बहुत प्यारी है। प्रजापति (१११) ने कहा है कि तीन पिण्डों को सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे या खड्ग के पात्र में रखना चाहिए, मिट्टी या काठ के पात्र में नहीं। इसमें पुनः (११२) आया है कि पकानेवाले पात्र ताँबे या अन्य धातुओं के होने चाहिए, किन्तु जल से शोधित मिट्टी के पात्र (पकाने के लिए) सर्वोत्तम हैं। लोहे के पात्र वाला भोजन कौए के मांस के समान है। फिर कहा गया है (११५) कि ब्राह्मण जिस पात्र में भोजन करे उसे सोने, चाँदी या पाँच धातुओं से बना होना चाहिए, या पत्रावली (पत्तल) हो सकती है (और देखिए मत्स्य० १७।१९-२०)। केले के पत्ते भोजन के लिए कुछ लोगों द्वारा वर्जित माने गये हैं। काँसे, खर्पर, शुक्र (सोने), पत्थर, मिट्टी, काष्ठ, फल या लोहे के पात्र से ब्राह्मणों को आचमन नहीं करना चाहिए। ताँबे के पात्र से आचमन करना चाहिए। अत्रि (१५३) ने कहा है कि लोहे के पात्र से भोजन नहीं परोसना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से भोजन मल के समान हो जाता है और परोसने वाला नरक में जाता है। श्राद्ध-भोजन बनाने के पात्र सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे या मिट्टी के होने चाहिए, किन्तु अन्तिम भली-भाँति पका होना चाहिए; ऐसे पात्र लोहे के कभी नहीं होने चाहिए। और देखिए श्राद्ध० प्र० (पृ० १५५)। विष्णु० ध० सू० (७९।२४) ने एक श्लोक उद्धृत किया है कि सोने, चाँदी, ताँबे, खड्ग या फल्गु (कठगूलर) के पात्र से दिया गया भोजन अक्षय होता है।[७३]

७२. यज्ञियवृक्षचमसेषु पवित्रान्तर्हितेषु एकैकस्मिन्नप आसिञ्चति शन्नो देवीरिति।...सौवर्णराजतौदुम्बरखड्गमणिमयानां पात्राणामन्यतमेषु यानि वा विद्यन्ते पत्रपुटेषु वैकैकस्यैकेन ददाति सपवित्रेषु हस्तेषु। श्राद्धसूत्र (कात्यायन, २)।

७३. यस्त्वंगिरसोक्तम् 'न जातिकुसुमानि न कदलीपत्रम्' इति कदलीपत्रमत्र भोजनमिति पात्रतया प्राप्तं निषिध्यते। स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४३४)। औरों ने कहा है कि कदलीपत्र के विषय में विकल्प है, जैसा कि कुछ स्मृतियों (यथा लघ्वाश्वलायन २३।४२) ने कदलीपत्र की अनुमति दे दी है। ब्रह्माण्ड० (उपोद्घातपाद २१।३५-४०) ने उल्लेख किया है कि पलाश, अश्वत्थ, उदुम्बर, विकंकत, काश्मर्य, खदिर, प्लक्ष, न्यग्रोध एवं बिल्व के पत्ते भोजन करने के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। फल्गु काष्ठ, बेल एवं बाँस के पात्रों की अनुमति दी गयी है, क्योंकि उनसे कुछ अच्छे फलों की प्राप्ति होती है।

विष्णु० ध० सू० (७९।११) ने व्यवस्था दी है कि आमंत्रित ब्राह्मणों के शरीर में अनुलेपन के लिए चन्दन कुंकुम, कपूर, अगुरु एवं पद्मक का प्रयोग करना चाहिए। ब्रह्मपुराण (२२०।१६५-१६६) ने कुष्ठ, जटामांसी, जातीफल, उशीर, मुस्ता आदि का उल्लेख श्राद्ध में प्रयुक्त होनेवाले सुगंधित पदार्थों के लिए किया है।

श्राद्ध के लिए वर्जित एवं अवर्जित भोजनों के विषय में हमने ऊपर चर्चा कर ली है। मत्स्य० (१७।३०-३६) में आया है कि दूध एवं दही तथा गाय के घृत एवं शक्कर से मिश्रित भोजन सभी पितरों को एक महीने तक संतुष्टि देता है। चाहे जो भी भोजन हो, गाय का दूध या घी या पायस (दूध में पकाया हुआ चावल) यदि दही से मिश्रित हो तो अक्षय फल प्राप्त कराता है। ब्रह्म० (२२०।१८२-१८४) ने भी कहा है कि वह खाद्य पदार्थ जो मीठा एवं तैलिक हो और थोड़ा खट्टा या तीता हो तो उसे श्राद्ध में देना चाहिए और ऐसे खाद्य पदार्थ जो अति खट्टे या नमकीन या तीते हों, त्याज्य हैं, क्योंकि वे आसुर (असुरों के योग्य) हैं। उरद के विभिन्न व्यंजनों पर अधिक बल दिया गया है। औशनसस्मृति[७४] ने धमकी दी है कि जो ब्राह्मण श्राद्ध-भोजन करते समय माष (उरद) का भोजन नहीं करता, वह मृत्यूपरान्त इक्कीस जन्मों तक पशु होता है। स्मृति च० ने एक स्मृतिवचन उद्धृत करते हुए कहा है कि वह श्राद्ध जिसमें माष के व्यंजन नहीं दिये जाते, असम्पादित-सा है।

अति प्राचीन काल से ही लेखकों के बीच श्राद्ध के समय मांस दिये जाने के विषय में मतभेद रहा है। हमने इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय २२ में मांस भक्षण के विषय में विस्तार के साथ पढ़ लिया है। यहाँ पर हम श्राद्ध के समय मांस भक्षण के विषय में उसे दुहरा देना चाहते हैं। आप० ध० सू० (२।८।१९।१३-१५) ने व्यवस्था दी है कि नैयमिक श्राद्ध (प्रति मास सम्पादनीय) में मांसमिश्रित भोजन अवश्य होना चाहिए, सर्वोत्तम ढंग है घृत और मांस देना; इन दोनों के अभाव में तिल के तेल एवं शाकों का प्रयोग किया जा सकता है। वही सूत्र (२।७।१६।२५ एवं २।७।१७।३)[७५] यह भी कहता है कि श्राद्ध में गोमांस खिलाने से पितर लोग एक वर्ष के लिए संतुष्ट हो जाते हैं, भैंस का मांस खिलाने से पितृ-संतुष्टि एक साल से अधिक की हो जाती है। यही नियम जंगली पशुओं (खरगोश आदि), ग्रामीण पशुओं (बकरी आदि) के मांस के विषय में भी है। पितृ-संतुष्टि अनन्त काल के लिए बढ़ जाती है यदि गेंड़े के चर्म पर बैठे हुए ब्राह्मणों को गेंड़े का मांस खिलाया जाय। यही बात 'शतबलि' नामक मछली के मांस एवं वार्ध्रीणस के मांस के विषय में भी है। वसिष्ठ (११।३४) में वचन आया है—'देवों या पितरों के कृत्य में आमंत्रित संन्यासी यदि मांस नहीं खाता तो वह उस पशु के शरीर के (जिसके मांस को वह नहीं खाता) बालों की संख्या के बराबर वर्षों तक नरक में रहता है।' यहाँ तक कि विष्णुधर्मोत्तर पुराण (१।१४०।४९-५०) ने भी दृढतापूर्वक कहा है कि जो व्यक्ति श्राद्ध में भोजन करनेवालों की पंक्ति में परोसे गये मांस का भक्षण नहीं करता, वह नरक में जाता है। मनु (५।३५) एवं कूर्म० (२।१७।४०)

७४. यो नाश्नाति द्विजो माषं नियुक्तः पितृकर्मणि। स प्रेत्य पशुतां याति सन्ततामेकविंशतिम्।। औशनसस्मृति (५, पृ० ५३१)।

७५. संवत्सरं गव्येन प्रीतिः। भूयांसमतो माहिषेण। एतेन ग्राम्यारण्यानां पशूनां मांसं मेध्यं व्याख्यातम्। खड्गोपस्तरणे खड्गमांसेनानन्त्यं कालम्। तथा शतबलेर्मत्स्यस्य मांसेन वार्ध्रीणसस्य च। आप० ध० सू० (२।७।१६।२५ एवं २।७।१७।३)। वार्ध्रीणस या वाध्रीणस को लाल बकरा कहा गया है जो 'त्रिपिब' (जिसके कान इतने लम्बे होते हैं कि जल पीते समय जल को स्पर्श करते हैं) होता है और जो बड़ी अवस्था का या झुण्ड में सबसे बड़ा होता है। त्रिपिबमिन्द्रियक्षीणं यूथस्याग्रचरं तथा। रक्तवर्णं तु राजेन्द्र छागं वार्ध्रीणसं विदुः।। विष्णुधर्मोत्तर (१।१४१।४८)। पानी पीते समय मुख एवं दोनों कानों से मानो पानी पिया जाता है, इसी से त्रिपिब नाम पड़ा (मेधातिथि, मनु ३।२७)।

में भी इसी प्रकार का वचन आया है जो श्राद्ध के समय आमंत्रित सभी ब्राह्मणों के लिए वैसी ही बात कहता है। कूर्म० (२।२२।७५) ने व्यवस्था दी है कि वह ब्राह्मण, जो श्राद्धकर्म में नियुक्त रहता है और अर्पित मांस का भक्षण नहीं करता, तो वह २१ जन्मों तक पशु होता है। मनु (३।२५७) का कहना है कि निम्नलिखित वस्तुएँ स्वभावतः श्राद्ध में सम्यक् आहुतियाँ हैं—(नीवार आदि से निर्मित) भोजन जो वानप्रस्थ के योग्य होता है, दूध, सोमरस, वह मांस जिससे दुर्गन्ध नहीं निकलती और बिना बनाया गया नमक। सामान्यतः संन्यासियों के लिए मांस खाना आवश्यक नहीं था; किन्तु वसिष्ठ ने श्राद्ध के समय उन्हें भी खाने के लिए बल दिया है।

मनु (३।२६७-२७२), याज्ञ० (१।२५८-२६०), विष्णुध० सू० (८०।१), अनुशासन० (अध्याय ८८), श्राद्धसूत्र (कात्या० कण्डिकाएँ, ७-८), कूर्म० (२।२०।४०-४२ एवं २९।२-८), वायु० (८३।३-९), मत्स्य० (१७।३१-३५), विष्णुपुराण (३।१६।१-३), पद्म० (सृष्टि० ९।१५८-१६४), ब्रह्माण्ड० (२२०।२३-२९), विष्णुधर्मोत्तर (१।१४१।४२-४७) ने विस्तार के साथ श्राद्ध भोजन में विभिन्न प्रकार के पशुओं के मांस-प्रयोग से उत्पन्न पितरों की सन्तुष्टि का वर्णन किया है। याज्ञ० का वर्णन संक्षिप्त है और हम उसे ही नीचे दे रहे हैं। याज्ञ० (१।२५८-२६१) का कथन है—पितर लोग यज्ञिय भोजन (यथा—चावल, फल, मूल आदि) से एक मास; गोदुग्ध एवं पायस से एक वर्ष; २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० एवं ११ महीनों तक क्रम से पाठीन (मछली), लोहित हरिण, भेड़, पक्षी (यथा तित्तिर), बकरा, चितकबरे हरिण, कृष्ण हरिण, रुरु हरिण, बनैले सूअर एवं खरगोश के मांस से; खड्ग, महाशल्क मछली के मांस, मधु, यति के योग्य भोजन, लोहित बकरे, महाशाक (कालशाक) एवं वार्ध्रीणस के मांस से अनन्त काल तक तृप्त होते हैं।[७६] कुछ ग्रन्थों के भिन्न मत हैं। मनु (३।२६७ एवं २७१), कात्यायन (श्राद्धसूत्र, ७) ने कहा है कि ग्राम के अन्न, यथा चावल, माष आदि से बने भोजन से या जंगली खाद्य-पदार्थ, यथा नीवार या फल-मूल से सन्तुष्टि केवल एक मास की होती है तथा वार्ध्रीणस के मांस से केवल १२ वर्षों तक (सदैव के लिए नहीं)। विष्णुध० (८०।१०) एवं मनु (३।२७०) ने भैंस एवं कछुए के मांस से क्रम से १० एवं ११ मास की सन्तुष्टि की ओर संकेत किया है। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० ५९०) ने कहा है कि कालविषयक बातों को यथाश्रुत शाब्दिक रूप में नहीं लेना चाहिए, केवल इतना ही स्मरण रखना यथेष्ट है कि मांस-प्रकार के अर्पण से उसी प्रकार की अधिकतर सन्तुष्टि होती है। पुलस्त्य (मिता० एवं अपरार्क, पृ० ५५५) ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण द्वारा सामान्यतः श्राद्ध में यति-भोजन अर्पण करना चाहिए, क्षत्रिय या वैश्य द्वारा मांस अर्पण, शूद्र द्वारा मधु का अर्पण करना चाहिए। (इन के अतिरिक्त) सभी वर्णों द्वारा अवर्जित भोजन का अर्पण करना चाहिए। चाहे कोई भी कर्ता हो, भोजन करने वाले केवल ब्राह्मण ही होते हैं; तो इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय या वैश्य द्वारा आमन्त्रित ब्राह्मण को मांस खाना पड़ता था। तथापि यह ज्ञातव्य है कि मिता० एवं कल्पतरु (११००-११२० ई० के लगभग प्रणीत) ने स्पष्टतः यह नहीं कहा है कि कलियुग में कम-से-कम ब्राह्मणों के लिए मांस-प्रयोग सर्वथा वर्जित है। हमने यह बहुत पहले देख लिया है (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २) कि ऋग्वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में, जब कि पशुयज्ञ निर्बाध होता था, एक अन्तर्हित भावना यह थी कि समिधाओं या भात का अर्पण जब देवों के प्रति भक्तिपूर्वक होता था तो वह देवों के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए मांसा-

७६. हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम्। मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः॥ ऐणरौरववाराहशाशैर्मांसैर्यथाक्रमम्। मासवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहाः॥ खड्गामिषं महाशल्कं मधु मुन्यन्नमेव वा। लौहामिषं महाशाकं मांसं वार्ध्रीणसस्य च॥ यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते। याज्ञ० (१।२५८-२६१)। मिता० ने 'महाशाक' को कालशाक कहा है।

र्पण के समान ही था। कालान्तर में यह भावना तीव्र से इतनी तीव्रतर होती चली गयी कि मनु (५।२७-४४ वं ५।४६-४७) एवं वसिष्ठ में दो मत प्रकट हो गये (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २२)। क्रमशः १२वीं एवं १३वीं शताब्दी के आते-आते मधुपर्क एवं श्राद्धों में मांसार्पण सर्वथा त्याज्य माना जाने लगा और आगे चलकर वह कलियुग में वर्ज्य हो गया (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४)। आज के भारत में केवल उत्तरी भाग में, जहाँ भोजन में मछली का प्रयोग होता है (बंगाल एवं मिथिला में), श्राद्ध में मांसार्पण होता है, अन्यत्र नहीं। सम्भवतः बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार ही उत्तर भारत का ऐसा आचार है, क्योंकि उसमें आया है कि देशाचार के अनुसार मधु, मांस एवं अन्य पदार्थ दिये जा सकते हैं। पृथ्वीचन्द्रोदय ने ऐसी ही व्याख्या की है।

मनु (५।११-१८) में ऐसे पशुओं, पक्षियों एवं मछलियों की लम्बी खाद्य-सूची पायी जाती है जो मांसभक्षियों के लिए भी वर्जित थी।

दरिद्रता की अवस्था में, कुछ पुराणों, यथा विष्णु० (३।१४।२४-३०), वराह० (१३।५३-५८) आदि ने बड़ी कृपापूर्वक व्यवस्था दी है कि वड़ा भोज न करके या मांस न खिलाकर दरिद्र लोग केवल असिद्ध अन्न, कुछ जंगली शाक-पंक्ति या कुछ दक्षिणा आदि दे सकते हैं, या कुछ (७ या ८) तिल ही अंजलि में जल लेकर किसी ब्राह्मण को दे सकते हैं, या किसी गाय को दिन भर के लिए घास दे सकते हैं; किन्तु यदि इनमें से कुछ भी न हो सके तो दरिद्र कर्ता को चाहिए कि वह वृक्षों के झुंड में जाकर, हाथ उठाकर दिक्पालों एवं सूर्य से निम्न शब्दों में प्रार्थना करे—'मेरे पास न तो धन है और न रुपये-पैसे, जिनसे मैं पितरों का श्राद्ध कर सकूँ, मैं पितरों को प्रणाम करता हूँ, पितर लोग मेरी भक्ति से सन्तुष्ट हों; मैंने ये हाथ आकाश (अर्थात् वायु के मार्ग) में फैला दिये हैं।'

पार्वण श्राद्ध

अब हम पार्वण श्राद्ध की विधि का वर्णन उपस्थित करेंगे, क्योंकि वही अन्य श्राद्धों यहाँ तक कि अष्टकाओं की भी विधि या प्रकृति है।[७७] इस विषय में सूत्रकाल से लेकर अब तक विभिन्न मत प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि प्रमुख बातें एवं स्तर सामान्यतः समान ही हैं, किन्तु प्रयुक्त मन्त्रों, विस्तारों एवं कतिपय विषयों के क्रम में भेद पाया जाता है। कात्यायन (श्राद्धसूत्र) ने कहा है कि 'स्वाहा' या 'स्वधा नमः' के प्रयोग, यज्ञोपवीत या प्राचीनावीत ढंग से जनेऊ पहनने एवं आहुतियों की संख्या आदि के विषय में व्यक्ति को अपने सूत्र की आज्ञा माननी चाहिए।[७८]

अत्यन्त प्राचीन वेद-वचनों में पितृ-यज्ञ के संकेतों का पता चलाना मनोरंजक चर्चा होगी। तै० सं० (१।८-५।१-२) में चार चातुर्मास्यों में तीसरे साकमेध के अन्तर्गत महापितृयज्ञ का उल्लेख है—"वह पितरों के साथ सोम को षट्कपाल पुरोडाश अर्पित करता है बर्हिषद् (दर्भ पर या यज्ञ में बैठे हुए) पितरों को भुना अन्न देता है, अग्निष्वात्त पितरों के लिए वह अभिवान्या गाय (जिसका बछड़ा मर गया हो और जिसे दूसरे बछड़े से दुहने का प्रयत्न किया जाय)

७७. 'पार्वण' एवं 'एकोद्दिष्ट' आदि शब्दों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। अमावास्या वाला श्राद्ध नित्य है (गौतम० १५।१) किन्तु किसी मास के कृष्ण पक्ष की किन्हीं तिथियों में किये गये श्राद्ध काम्य कहलाते हैं। और देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २९)।

७८. तथा च कात्यायनः। स्वाहा स्वधा नमः सव्यम सव्यं तथैव च। आहुतीनां तु या संख्या सावगम्या स्वसूत्रतः॥ मदनपा० (पृ० ५९२); स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४५८)। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० ३५६) में आया है—'एते देवादिविषयो यदीयेषु कल्पसूत्रगृह्यसूत्रेषूक्तास्ते तदीया एवेति व्यवस्थया बोद्धव्याः।'

का दूध दुहता है। हे पिता, यह तुम्हारे लिए है और उनके लिए भी जो तुम्हारे बाद आते हैं (अर्थात् तुम्हारे वंशजों के लिए भी); हे पितामह, यह तुम्हारे एवं प्रपितामह और उनके लिए, जो तुम्हारे पश्चात् आयेंगे, है; हे पितर, आप अपने अपने भाग पाइए। हे इन्द्र, जो हम पर दृष्टि फेरते हैं, हम आपको प्रसन्न कर सकें, आइए अपने रथासन पर बैठकर हम लोगों की स्तुति पाकर आप अपने इच्छित स्थान को चले जायँ। हे इन्द्र, अपने दो पिंगल घोड़ों को जोतिए। वे (पितर लोग) खा चुके हैं, सन्तुष्टि प्राप्त कर चुके हैं और प्यारे लोगों ने (कुष्ट) को भगा दिया है, ज्योतिष्मान् ऋषियों की वन्दना नवीनतम स्तोत्र से हो चुकी है, हे इन्द्र, अपने पिंगल वर्ण वाले घोड़ों को जोत लीजिए। पितरों ने खा लिया है, पितरों ने आनन्द मना लिया है, वे प्रसन्न हो चुके हैं और अपने को पवित्र कर लिया है। हे सोमप्रिय पितरो, अपने गम्भीर एवं पुराने मार्गों से चले जाइए। अब आप लोग जिसे भली भाँति जानते हैं उस यम के यहाँ पहुँचें और उसके साथ आनन्द मनायें।"

तै० ब्रा० (१।२।१०) में पिण्डपितृयज्ञ का वर्णन विस्तार से हुआ है। हम उसकी कतिपय बातें चुनकर नीचे दे रहे हैं—"दर्शेष्टि के एक दिन पूर्व यहाँ (पिण्डपितृयज्ञ का) कृत्य सम्पादित होता है। कर्ता कहता है-—'पितरों द्वारा पीये गये सोम को स्वधा नमः।' वह कहता है—'कव्य ढोनेवाले अग्नि को स्वधा नमः।' (इसके द्वारा) वह पितरों की अग्नि को प्रसन्न करता है। वह (अग्नि में) तीन आहुतियाँ डालता है; वह (पृथ्वी पर बिछाये हुए दर्भों पर) तीन पिण्ड रखता है। (ये) इस प्रकार छः की संख्या में आते हैं। वास्तव में, ऋतुएँ छः हैं। वह (उनके द्वारा) ऋतुओं को प्रसन्न करता है। वास्तव में ऋतु ही दिव्य या देवतुल्य पितर हैं।...दर्भ एक काट में काटे गये हैं; पितर लोग सदा के लिए चले-से गये हैं। वह (पिण्डों को) तीन बार रखता है। पितर लोग यहाँ से तीसरे लोक में हैं। वह (इसके द्वारा) उन्हें प्रसन्न करता है। वह (कर्ता) दक्षिण से उत्तर की ओर अपना मुख कर देता है, क्योंकि पितर लोग लज्जालु हैं। वह तब तक अपने मुख को हटाये रहता है जब तक कि (पिण्डों के भात से) भाप उठना बन्द न हो जाय; क्योंकि पितर लोग भाप से अपना भाग लेते हैं; उसे केवल पिण्ड-गंध लेनी चाहिए, मानो वह न खाने या खाने के बराबर है। (श्राद्ध-कृत्य से) जाते समय पितर लोग शूर पुत्र को ले जाते हैं या उसका दान करते हैं। वह वस्त्र का एक खण्ड (पिण्डों पर रखने के लिए) फाड़ लेता है। क्योंकि पितरों का भाग वह है जिसे (अर्पित होने पर) वे ले लेते हैं। (इसके द्वारा) वह पितरों को (अलग-अलग) भाग देता है (और उन्हें चले जाने को कहता है)। यदि कर्ता ढलती अवस्था में (५० वर्ष से आगे की अवस्था में) रहता है तो वह छाती के बाल काटता है (दशा को नहीं देता)। उस अवस्था (अर्थात् ५० वर्ष से ऊपर की अवस्था) में वह पितरों के पास रहता है। वह नमस्कार करता है, क्योंकि पितरों को नमस्कार प्रिय है। हे पितर, शक्ति के लिए तुम्हें नमस्कार; जीवन के लिए तुम्हें नमस्कार; स्वधा के लिए तुम्हें नमस्कार; उत्साह के लिए तुम्हें नमस्कार; घोर (भयानकता) के लिए तुम्हें नमस्कार; तुम्हें नमस्कार। यह (पिण्ड-पितृयज्ञ) वास्तव में मनुष्यों का यज्ञ (मृतात्माओं के लिए यज्ञ) है, और अन्य यज्ञ देवों के लिए हैं।" तै० ब्रा० (१।४।-१०) में साकमेध के साथ सम्पादित पितृयज्ञ की प्रशंसा है (२ में) और आगे ऐसा कहा गया है कि ऋतु पितर हैं और उन्होंने अपने पिता प्रजापति का पितृ-यज्ञ किया। यह उक्ति मनु एवं कुछ निबन्धों की उस व्यवस्था को प्रमाणित करती है कि ऋतु पितरों के समान हैं और उनका सम्मान किया जाना चाहिए।

शतपथब्राह्मण (२।४।२) में पिण्डपितृयज्ञ का अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण वर्णन मिलता है। हम कुछ अनावश्यक बातों को छोड़कर उसे उद्धृत कर रहे हैं—"जब चन्द्र पूर्व या पश्चिम में नहीं दिखाई पड़ता, तब वह (दर्श यज्ञ का कर्ता) प्रत्येक मास में पितरों को भोजन देता है।....वह ऐसा अपराह्ण में करता है। पूर्वाह्ण देवों का है, मध्याह्न मनुष्यों का है और अपराह्ण पितरों का है। गार्हपत्य अग्नि के पृष्ठ भाग में बैठकर, दक्षिणाभिमुख होकर एवं यज्ञोपवीत दाहिने कंधे पर रखकर वह (गाड़ी से अर्पण के लिए) सामान ग्रहण करता है। इसके उपरान्त वह वहाँ से उठता है और दक्षिणाग्नि

के उत्तर खड़ा होकर एवं दक्षिणाभिमुख होकर भूसी हटाकर चावल निकलता है। वह चावल केवल एक ही बार स्वच्छ करता है। क्योंकि पितर लोग सदा के लिए (एक ही बार) चले जाया करते हैं। तब वह उन्हें उबालता है। वह (दक्षिणाग्नि पर) खड़ा रहकर ही उसमें घृत डालता है। वहाँ से हटकर वह अग्नि में दो आहुतियाँ डालता है। ....वह पितृयज्ञ में संलग्न है; (उससे) वह देवों को प्रसन्न करता है और देवों से अनुमति लेकर वह पितरों को भोजन देता है। वह अग्नि एवं सोम दोनों को देता है।....वह 'कव्यवाह (पितरों की आहुतियों को ढोनेवाले) अग्नि को स्वाहा' मंत्र के साथ आहुति देता है। यह मन्त्र भी कहता है—'पितरों के साथ रहनेवाले सोम को स्वाहा।' वह तब मेक्षण (चंमच जिससे पकती हुई वस्तु चलायी जाती है) को अग्नि पर रखता है, वह स्विष्टकृत् के प्रतिनिधि-स्वरूप अर्थात् उसके स्थान पर ऐसा करता है। इसके उपरान्त वह दक्षिणाग्नि के दक्षिण स्फ्य से एक रेखा खींच देता है, जो वेदी के अभाव की पूर्ति करती है। तब वह और दक्षिण की ओर रेखा के अन्त भाग पर अग्नि रखता है; क्योंकि ऐसा न करने से पितरों के भोजन को असुर एवं राक्षस अशुद्ध कर देंगे।....वह ऐसा करते हुए कहता है—'विभिन्न रूप धारण करके, छोटे या बड़े शरीर में जो असुर स्वधा (पितरों की आहुति) से आकृष्ट होकर इधर-उधर विचरण किया करते हैं, उन्हें अग्नि इस संसार से हटा दे' (वाज० सं० २।३०); ...तब वह जल-पात्र उठाता है और पितरों के हाथ धुलाता है (ऐसा करते हुए वह पिता, पितामह, प्रपितामह के नाम लेता है)। यह उसी प्रकार किया जाता है, जैसा कि अतिथि को खिलाते समय किया जाता है। इसके उपरान्त दर्भ को एक बार में अलग करता है और जड़ से काट लेता है; ऊपरी भाग देवों का, मध्य भाग मनुष्यों का एवं मूल भाग पितरों का होता है। इसी लिए वे (दर्भ) जड़ के पास से काटे जाते हैं। वह उन्हें रेखा से सटाकर ऊपरी भाग को दक्षिण में करके रखता है। इसके उपरान्त वह पितरों को भात के तीन पिण्ड देता है। वह इस प्रकार देता है—देवों के लिए इस प्रकार; मनुष्यों के लिए दर्वी से उठाकर; ऐसा ही पितरों के लिए भी करता है; अतः वह इस प्रकार पितरों को पिण्ड देता है। 'आपके लिए यह' ऐसा कहकर यजमान के पिता को देता है (नाम लिया जाता है)। कुछ लोग जोड़ देते हैं 'उनके लिए जो पश्चात् आयेंगे', किन्तु वह ऐसा न करे, क्योंकि वह भी तो बाद को आनेवालों में सम्मिलित है। अतः वह केवल इतना ही कहे—'अमुक अमुक, यह आपके लिए है।' ऐसा ही वह पितामह एवं प्रपितामह के लिए भी करता है।....तब वह कहता है—'हे पितर, यहाँ आनन्द मनाओ, बैलों के समान अपने-अपने भाग पर जुट जाओ!' (वाज० सं० २।३१)। इसके उपरान्त वह दक्षिणाभिमुख हो जाता है, क्योंकि पितर लोग मनुष्यों से दूर रहते हैं, अतः वह भी इस प्रकार (पितरों) से दूर है। उसे साँस रोककर खड़ा रहना चाहिए या जब तक साँस न टूटे तब तक, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है, 'क्योंकि इससे शक्ति की बहुत वृद्धि होती है।' अस्तु, एक क्षण ऐसे खड़े रहने के उपरान्त वह दाहिनी ओर घूम जाता है और कहता है—'पितर लोग सन्तुष्ट हो गये हैं, बैल की भाँति वे अपने-अपने भाग पर आ गये हैं' (वाज० सं० २।३१)। इसके उपरान्त वह पिण्डों पर जल ढारकर पितरों से हाथों को स्वच्छ करने को कहता है। ऐसा वह अलग-अलग नाम लेकर पिता, पितामह एवं प्रपितामह को स्वच्छ कराता है। ऐसा उसी प्रकार किया जाता है जैसा कि अतिथि के साथ होता है। तब वह (यजमान अपना कटि वस्त्र) खींचकर नमस्कार करता है। ऐसा करना पितरों को प्रिय है। नमस्कार छः बार किया जाता है, क्योंकि ऋतुएँ छः हैं और पितर लोग ऋतुएँ हैं। वह कहता है, 'हे पिता, हमें घर दो', क्योंकि पितर लोग घरों के शासक होते हैं, और यह यज्ञ-सम्पादन के समय कल्याण के लिए स्तुति है। जब पिण्ड (किसी थाल में) अलग रख दिये जाते हैं तो यजमान उन्हें सूंघता है; यह सूंघना ही यजमान का भाग है। एक बार में काटे गये दर्भ अग्नि में रख दिये जाते हैं और वह रेखा के अन्त वाले उल्मुक (अग्नि-खण्ड) को भी अग्नि में डाल देता है।"

यह ज्ञातव्य है कि पार्वण श्राद्ध के बहुत-से प्रमुख तत्त्व शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से वर्णित हैं। हम उन्हें एक

स्थान पर यों रखते हैं—जनेऊ को दाहिने कंधे पर रखना, अपराह्ण के समय सम्पादन, चावलों को केवल एक बार स्वच्छ करना, उनको दक्षिणाग्नि पर रखना, उसी अग्नि में सर्वप्रथम देवों को दो आहुतियाँ देना, अग्नि कव्यवाहन एवं सोम पितृमान् को अर्पण करते समय के दो मंत्र, दक्षिण-अग्नि के दक्षिण रेखा या कूँड बनाना, अग्नि (अग्नि-काष्ठ या उल्मुक) रखना, तीनों पितरों को **अवनेजन** (जल से मार्जन) कराना, जड़ समेत दर्भ को अलग करना, दर्भो को रेखा पर रखना और तीन पिण्डों को उन पर तीन पितरों के लिए रखना, एक क्षण के लिए पिण्डों से मुख हटा लेना और पुनः ज्यों का त्यों हो जाना, तब यह कहना कि पितर सन्तुष्ट हो गये हैं, **प्रत्यवनेजन** (पुनः जल से स्वच्छ) कराना, यजमान का वस्त्र खींचना तथा छः बार अभिवादन करना (एवं पितरों को छः ऋतुओं के समान समझना), पितरों से घर देने के लिए प्रार्थना करना, पिण्ड को सूँघना, दर्भो एवं उल्मुक को अग्नि में डालना। आजकल भी शुक्ल यजुर्वेदी लोगों द्वारा पार्वण श्राद्ध में ये ही विधियाँ की जाती हैं, केवल कुछ बातें और जोड़ दी गयी हैं, यथा—माता के पितरों को बुलाना एवं अन्य मन्त्रों का उच्चारण। कात्यायन (श्राद्धसूत्र ४।१) ने शतपथब्राह्मण का अनुगमन किया है किन्तु कुछ बातें जोड़ दी हैं, यथा—हाथ जोड़ना और छः मन्त्रों का पाठ करना (वाज० सं० २।३२, नमो वः पितरो रसाय आदि), एतद्वः (वाज० सं० २।३३) के साथ पिण्डों पर तीन सूतों या परिधान का ऊनी भाग या यजमान की छाती के बाल (जब कि वह ५० वर्ष से ऊपर का हो) रखना, वाज० सं० (२।३४) के साथ पिण्डों पर उनके पास जल छिड़कना।[७९]

अन्य संहिताओं में भी समान मन्त्र पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, वाज० सं० (२।२९—३४) के मन्त्र साकमेध में सम्पादित होने वाले पिण्डपितृयज्ञ में प्रयुक्त होते हैं। मैत्रायणी सं० (१।१०।३।१०–२१) के बहुत-से मन्त्र वाज० सं० या तै० ब्रा० (१।१०।३-११) के हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्र भी समान ही हैं।

अब हम सूत्र-साहित्य की ओर आते हैं। हम आश्व० गृ० (४।७-८) में उल्लिखित पार्वण श्राद्ध की विधि का वर्णन करेंगे। अनाकुला व्याख्या (आप० गृ०, २१।१) में कहा है कि अष्टका एवं अन्य श्राद्धों की, जिनमें तीन पूर्व-पुरुष बुलाये जाते हैं, विधि या प्रकृति मासिश्राद्ध (मासिक श्राद्ध) वाली ही होती है। यह इस प्रकार है—"पार्वण श्राद्ध, काम्य श्राद्ध, आभ्युदयिक श्राद्ध या एकोद्दिष्ट श्राद्ध में ऐसे ब्राह्मणों को बैठाता है जो विद्या, नैतिक चरित्र एवं साधु-आचरण से युक्त होते हैं, या जो इनमें से किसी एक से युक्त होते हैं, जो उचित काल में आमन्त्रित हुए हैं, जिन्होंने स्नान कर लिया है, जिनके पैर (यजमान द्वारा) धो दिये गये हैं, जो आचमन कर चुके हैं, जो पितरों के प्रतिनिधि या बराबर हैं और एक-एक, दो-दो एवं तीन-तीन की संख्या में प्रत्येक पितर के प्रतिनिधिस्वरूप उत्तर मुख करके बैठ गये हैं। जितने अधिक ब्राह्मण आमंत्रित हुए हों उतना ही अधिक फल प्राप्त होता है, किन्तु सभी पितरों के लिए एक ही ब्राह्मण नहीं बुलाना चाहिए; या प्रथम श्राद्ध को छोड़कर अन्यों में एक ब्राह्मण भी बुलाया जा सकता है। पिण्ड-पितृयज्ञ की विधि में ही पार्वण श्राद्ध के नियम संनिहित हैं। ब्राह्मणों के हाथों में, जब वे बैठ जाते हैं, जल देते हैं एवं दर्भ की नोक दुहराकर गाँठ देने (जिन पर वे बैठाये जायँगे) के उपरान्त, उनको पुनः जल देने एवं सोने-चाँदी, पत्थर के एवं मिट्टी के पात्रों में जल ढारने या एक ही द्रव्य से बने पात्रों में जो दर्भो से ढँके हुए हैं जल ढारने के उपरान्त एवं पात्रों के जल पर ऋ० (१०।९।४) के 'शन्नो देवी' के पाठ के उपरान्त यजमान जल में तिल डालता है और निम्न मन्त्रो-

७९. जब पितरों को पिण्ड दिया जाता है तो यह पितृतीर्थ (अँगूठे एवं तर्जनी के बीच के भाग) से दिया जाता है। यजमान कृत्य के आरम्भ होने पर एक उत्तरीय धारण करता है, जिसकी दशा या बिना बुना हुआ किनारा वह कमर में लपेटे हुए वस्त्र (नीवी) से जोड़ देता है। उसे ही वह आगे खींच लेता है।

च्चारण करता है---'तुम तिल हो, सोम तुम्हारे देवता हैं, गोसव यज्ञ में तुम देवों द्वारा उत्पन्न किये गये हो, . . . स्वधा ! नमः।' कृत्य के विभिन्न भाग दाहिने से बायें किये जाते हैं। बायें हाथ के पितृतीर्थ से, क्योंकि वह यज्ञोपवीत दाहिने कंधे पर रखता है या दाहिने हाथ से जो बायें से संलग्न रहता है, वह पितरों को अर्घ्य निम्न शब्दों के साथ देता है[80]---'पिता, यह तुम्हारे लिए अर्घ्य है, पितामह, यह तुम्हारे लिए अर्घ्य है, प्रपितामह, यह तुम्हारे लिए अर्घ्य है।' ब्राह्मणों को अर्घ्य लेने के लिए प्रेरित करते समय केवल एक बार 'स्वधा ! ये अर्घ्यजल हैं' कहना चाहिए और उसके उपरान्त यह बात उन जलों के लिए भी कहनी चाहिए जो ढारे जाते हैं; ऐसा करते समय यह कहना चाहिए---'ये स्वर्गिक जल जो पृथिवी पर एवं वायव्य स्थलों पर उत्पन्न हुए हैं और वे जल जो भौतिक हैं, जो सुनहले रंग के हैं और यज्ञ के योग्य हैं---ऐसे जल हमारे पास कल्याण ले आयें और हम पर अनुग्रह करें।' बचे हुए जल को अर्घ्य-जल रखनेवाले पात्रों में रखता हुआ वह (यजमान) यदि पुत्र की इच्छा रखता है तो अपना मुख उससे धोता है। वह उस पात्र को जिसमें पितरों के लिए अर्घ्यजल ढारा जाता है, तब तक नहीं हटाता जब तक कृत्य समाप्त नहीं हो जाता, उसमें पितर अन्तर्हित रहते हैं; ऐसा शौनक ने कहा है। उसी समय चन्दन, पुष्प, धूप, दीप एवं वस्त्र ब्राह्मणों को दिये जाते हैं। (पिण्डपितृयज्ञ के लिए उपस्थापित स्थालीपाक से) कुछ भोजन लेकर और उस पर घी छिड़ककर वह ब्राह्मणों से इन शब्दों में अनुमति माँगता है, 'मैं इसे अग्नि में अर्पित करूँगा, या मुझे अग्नि में इसे अर्पित करने दीजिए।' अनुमति इस प्रकार मिलती है, 'ऐसा ही किया जाय' या 'ऐसा ही करो'। तब वह, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अग्नि में या यदि ब्राह्मण अनुमति दें तो, उनके हाथों में आहुति देता है; क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ में आया है---'अग्नि वास्तव में पितरों का मुख है।' यदि वह ब्राह्मणों के हाथों में अर्पण करता है तो उसके लिए अलग भोजन देता है जब कि वे आचमन कर चुके रहते हैं और शेष भोजन उस भोजन में मिला दिया जाता है जो ब्राह्मणों को परोसा जाता है, क्योंकि ऐसा कहा गया है कि जो कुछ त्यक्त होता है वह ब्राह्मणों को दिया जाता है। जब वह देखता है कि ब्राह्मण लोग श्राद्ध-भोजन से संतृप्त हो चुके हैं तो उसे 'मधु' (ऋ० १।९०।६-८) एवं 'उन्होंने खा लिया है, उन्होंने आनन्द मना लिया है', ऋ० (१।८२।२) के मंत्रों को सुनाना चाहिए। ब्राह्मणों से यह पूछकर कि क्या भोजन अच्छा था ? (वे उत्तर देंगे कि अच्छा था) और विभिन्न प्रकार के भोजनों के कुछ भागों को लेकर स्थालीपाक के भोजन के साथ (उसका पिण्ड बनाने के लिए) वह शेष भोजन ब्राह्मणों को दे देता है। उनके द्वारा अस्वीकृत किये जाने या अपने कुटुम्ब या मित्रों को दिये जाने की अनुमति पाकर वह पितरों के लिए पिण्ड रखता है। कुछ आचार्यों के मत से ब्राह्मणों के आचमन (भोजनोपरान्त उठने के पश्चात्) के उपरान्त पिण्ड रखे जाते हैं। शेषान्न के पास पृथिवी पर भोजन बिखेरने के उपरान्त और जनेऊ को बायें कंधे पर रखकर उसे (प्रथम पात्र को जिसका मुख नीचे था, हटाने एवं ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के पश्चात्) ब्राह्मणों से यह कहते हुए कि 'ओम् कहो, स्वधा' या 'ओं स्वधा !', ब्राह्मणों को बिदा देनी चाहिए।"

स्थानाभाव से हमारे लिए ऋग्वेद के विभिन्न गृह्यसूत्रों, तैत्तिरीय शाखा (बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भरद्वाज एवं वैखानस) के गृह्यसूत्रों, वाजसनेयी शाखा (कात्यायन के श्राद्ध सूत्र), सामवेद के (यथा---गोभिल एवं खादिर) तथा अथर्ववेद (कौशिक सूत्र) के गृह्यसूत्रों में दिये गये मत-मतान्तरों का विवेचन करना सम्भव नहीं है।

अब हम छन्दोबद्ध स्मृतियों की ओर झुकते हैं। मनु (३।२०८-२६५) ने श्राद्ध की विधि का सविस्तर वर्णन किया है। किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति (१।२२६-२४९) का वर्णन कुछ संक्षिप्त है और साथ ही साथ अधिक प्रांजल

८०. जल या जल-युक्त चावल, पुष्प आदि जो सम्मान्य देवों या श्रद्धास्पद लोगों को अर्पण किया जाता है, उसे अर्घ्य कहा जाता है।

ढंग से लिखा गया है। अतः हम उसे ही प्रस्तुत करते हैं--"जब आमंत्रित ब्राह्मण अपराह्न में आते हैं तो कर्ता दाहिने हाथ में पवित्र धारण करके[८१] उन्हें आसन देता है और आचमन कराता है। यजमान की सामर्थ्य के अनुसार आमंत्रित ब्राह्मणों को देवकृत्य (अर्थात् वैश्वदेविक कर्म) में २, ४, ६ आदि की सम संख्या में एवं पितरों के श्राद्ध (पार्वण श्राद्ध) में विषम संख्या में (३ या ५ आदि) होना चाहिए; उन्हें गोबर से लेपित, पवित्र, चतुर्दिक् घिरी हुई एवं दक्षिण की ओर ढालू भूमि में बैठाना चाहिए। देवकृत्य (पार्वण श्राद्ध का वह भाग जिसमें विश्वेदेव बुलाये जाते हैं) में दो ब्राह्मणों को पूर्व की ओर बैठाना चाहिए और पितरों के कृत्य में तीन ब्राह्मणों को उत्तराभिमुख बैठाना चाहिए या दोनों (दैव एवं पित्र्य) में एक-एक ब्राह्मण भी बैठाया जा सकता है। यही नियम मातृपक्ष के पितरों के श्राद्ध के लिए भी प्रयुक्त होता है। पितृश्राद्ध एवं मातामहश्राद्ध में विश्वेदेवों की पूजा अलग-अलग या साथ-साथ की जा सकती है। इसके उपरान्त ब्राह्मणों के हाथों में (विश्वेदेवों के सम्मान में किये जानेवाले कृत्य के लिए प्रस्तुत) जल ढारने एवं आसन के लिए (उनकी दायीं ओर) कुश देने के उपरान्त उसे (यजमान को) आमंत्रित ब्राह्मणों की अनुमति से विश्वेदेवों का आवाहन ऋ० (२।४२।१३ या ६।५२।७) एवं वाज० सं० (७।३४) के मन्त्र के साथ करना चाहिए। विश्वेदेवों के प्रतिनिधिस्वरूप ब्राह्मणों के पास वाली भूमि पर यव बिखेरने चाहिए और तब धातु आदि के एक पात्र में पवित्र जल एवं यव तथा चन्दन-पुष्प डालने के उपरान्त उसे ब्राह्मणों के हाथों में अर्घ्य देना चाहिए (इन कृत्यों के साथ बहुत-से मन्त्र भी हैं जिन्हें हम स्थानाभाव से छोड़ रहे हैं)। इसके उपरान्त हाथ धोने के लिए वैश्वदेव-ब्राह्मण या ब्राह्मणों के हाथ में जल ढारना चाहिए और उन्हें गंध, पुष्प, धूप, दीप एवं वस्त्र देना चाहिए। इसके उपरान्त दाहिने कंधे पर जनेऊ धारण करके (अर्थात् प्राचीनावीती ढंग से होकर) कर्ता को पितरों को (अर्थात् प्रतिनिधिस्वरूप तीन ब्राह्मणों को) दुहराये हुए कुश (जल के साथ) बायीं ओर आसन के लिए देने चाहिए (अर्थात् पहले से दिये गये आसन की बायीं ओर विष्टर पर कुश रखे जाने चाहिए), तब उसे ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर पितरों का आवाहन करना चाहिए। ......ब्राह्मणों के चारों ओर तिल बिखेरने के उपरान्त कर्ता को सभी उपयोगों के लिए यवों के स्थान पर तिल का प्रयोग करना चाहिए और देवकृत्य में किये गये सभी कृत्य (यथा अर्घ्य आदि) सम्पादित करने चाहिए। अर्घ्य देने के उपरान्त उसे ब्राह्मणों के हाथों की अँगुलियों से गिरते हुए जल-कणों को एक पात्र (पितृ-पात्र) में एकत्र करना चाहिए और उसे फिर पृथिवी पर उलट देना चाहिए (दक्षिण की ओर के अंकुरों वाले कुशों के एक गुच्छ के ऊपर) और मन्त्रोच्चारण करना चाहिए। तब 'अग्नौकरण' (यज्ञ में अर्पण) करने के समय वह घृतमिश्रित भोजन लेता है, ब्राह्मणों से आज्ञा माँगता है और उनसे अनुमति मिलने पर अग्नि में (घृतमिश्रित भोजन के दो खण्ड) पिण्डपितृयज्ञ की विधि के अनुसार मेक्षण द्वारा डालता है।[८२] उसे सम्यक् ढंग से श्राद्ध करने की इच्छा से दो खण्डों के उपरान्त बचे हुए भोजन को पित्र्य ब्राह्मणों को खिलाने के निमित्त रखे गये पात्रों में, जो विशेषतः चाँदी के होते हैं, परोसना चाहिए। पात्रों में भोजन परोसने के उपरान्त उसे उन पात्रों पर इस मन्त्र का पाठ

८१. 'पवित्र' के अर्थ के लिए देखिए इस ग्रंथ का खण्ड २, अध्याय २७। दाहिने हाथ या दोनों हाथों में अनामिका अंगुली में दर्भों की जो अँगूठी पहनी जाती है, उसे लोग 'पवित्र' कहते हैं। मिताक्षरा ने कहा है कि आमंत्रित ब्राह्मणों को भी पवित्र धारण करना चाहिए। पवित्र शब्द की परिभाषा के लिए देखिए गोभिलस्मृति (१।२८) एवं अपरार्क (पृ० ४३ एवं ४८०)।

८२. मेक्षण अश्वत्थ काष्ठ का एक अरत्नि लम्बा दण्ड होता है जिसके एक सिरे पर चार अंगुल लम्बाई में गोलाकार पट्ट होता है। यह बटलोई में पकती हुई सामग्रियों को मिलाने में प्रयुक्त होता है।

करना चाहिए, 'पृथिवी तुम्हारा आश्रय है०।' उसे ब्राह्मणों के अँगूठों को पकड़कर भोजन पर रखना चाहिए। कर्ता को गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०, वाज० सं० ३।३५ एवं तै० सं० १।५।६।४) का पाठ ओम्, व्याहृतियों एवं 'मधुवाता' (ऋ० १।९०।६-८, वाज० सं० १३।२७-२९, तै० सं० ४।२।९।३) से आरम्भ होनेवाले तीन मंत्रों के साथ करना चाहिए। उसे कहना चाहिए, 'रुचि के साथ भोजन करें।' ब्राह्मणों को मौन रूप से खाना चाहिए। बिना क्रोध एवं शोरगुल के उसे भोजन परोसना चाहिए और श्राद्ध में हवि के समान भोजन देना चाहिए, ऐसा तब तक करते जाना चाहिए जब तक वे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट न हो जायँ और उनके पात्रों में कुछ छूट न जाय। जब तक ब्राह्मण खाते रहते हैं तब तक वैदिक मन्त्रों एवं जप के मन्त्रों (गायत्री मन्त्र आदि, याज्ञ० १।२३९) का पाठ होता रहना चाहिए। मिता० (याज्ञ० १।२४०) ने पाठ के लिए पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१-१६) एवं पावमानी सूक्त (ऋ० के नवें मण्डल वाला) बतलाये हैं, जैसा कि मेधातिथि (मनु ३।८६) एवं हरदत्त (गौतम० १९।१२) ने कहा है। मनु (३।२३२) ने पाठ के लिए अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है, यथा—धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास (महाभारत), पुराण एवं खिल (श्रीसूक्त एवं विद्यासूक्त के समान रचना)। ब्रह्म-भोज के समय यजमान द्वारा पठनीय पवित्र उक्तियों के विषय में मत-मतान्तर हैं। हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे। इसके उपरान्त हाथ में भोजन लेकर कर्ता को ब्राह्मणों से पूछना चाहिए, 'क्या आप सन्तुष्ट हो गये ?' उत्तर मिल जाने के उपरान्त उसे कहना चाहिए कि अभी भोजन बहुत है और मैं इतना रखकर क्या करूँगा। जब ब्राह्मण लोग यह कह दें कि वह उसे अपने मित्रों एवं सम्बन्धियों में बाँट दे, तो उसे शेष भोजन को दक्षिणाभिमुख वाले दर्भों पर रख देना चाहिए और मन्त्र कहना चाहिए—'उनके लिए, जो जलाये गये थे या नहीं जलाये गये थे आदि।' इसके उपरान्त वह प्रत्येक ब्राह्मण के हाथ में जल ढारता है जिससे वह अपना मुख आदि धो ले। इसके उपरान्त पात्रों से भोजन का कुछ भाग निकालकर, उसमें तिल मिलाकर, दक्षिणाभिमुख होकर ब्राह्मणों द्वारा छोड़े गये भोजन के पास पिण्ड बनाकर रख देता है। मातृ-पक्ष के पितरों के लिए भी यही विधि प्रयुक्त होती है। इसके उपरान्त कर्ता ब्राह्मणों को आचमन के लिए जल देता है। तब ब्राह्मणों से आशीर्वाद माँगता है। जब ब्राह्मण 'स्वस्ति' कह देते हैं तो वह ब्राह्मणों के हाथ में जल ढारता है और कहता है, 'यह अक्षय हो।' इसके उपरान्त सामर्थ्य के अनुसार दक्षिणा देकर कर्ता ब्राह्मणों से कहता है, 'क्या मैं आपसे पुनः 'स्वधा' कहने की प्रार्थना कर सकता हूँ ?' जब वे ऐसा करने की अनुमति देते हैं तो वह कहता है—'सम्बन्धित व्यक्तियों (पितर एवं मातृकुल के पूर्वज) के लिए स्वधा का उद्‌घोष होना चाहिए।' तब ब्राह्मण कहते हैं—'स्वधा हो।' जब ब्राह्मण ऐसा कर लेते हैं तो वह पृथिवी पर जल छिड़कता है और कहता है—'विश्वेदेव प्रसन्न हों।' जब ब्राह्मण कह देते हैं कि 'विश्वेदेव प्रसन्न हों' तो वह निम्न बात कहता है—'हमारे कुल में दाताओं की वृद्धि हो, वेदाध्ययन बढ़े, सन्तति बढ़े, पितरों के प्रति हमारी भक्ति न घटे, दान देने के लिए हमारे पास प्रचुर पदार्थ हों।' यह कहकर, प्रसन्न करनेवाले शब्द कहकर, उनके चरणों पर गिरकर (उनकी प्रदक्षिणा करने के उपरान्त) और स्वयं प्रमुदित होकर उनसे जाने के लिए निम्न मन्त्र के साथ कहना चाहिए—'वाजे वाजे'० (ऋ० ७।३८।८, वाज० सं० २१।११, तै० सं० १।७।८।२)। उनका जाना इस प्रकार होना चाहिए कि पितृ-ब्राह्मण पहले प्रस्थान करें; पहले प्रपितामह, तब पितामह, पिता और तब विश्वेदेव के प्रतिनिधि जायँ। वह पात्र जिसमें पहले अर्घ्य के समय ब्राह्मणों के हाथ से टपका हुआ जल एकत्र किया गया था, सीधा कर दिया जाता है तब ब्राह्मणों को विदा किया जाता है। सीमा तक ब्राह्मणों को विदा किया जाता है और प्रदक्षिणा करके लौट आया जाता है। इसके उपरान्त शेष भोजन का कुछ भाग वह स्वयं खाता है। श्राद्धदिन की रात्रि में भोजन करने वाले ब्राह्मण एवं श्राद्धकर्ता संभोग नहीं करते।" और देखिए मिता० (याज्ञ० १।२४९)।

बहुत-से पुराणों में प्रत्येक अमावास्या पर किये जानेवाले श्राद्ध के विषय में विशद वर्णन मिलता है; उदाहरणार्थ मत्स्य० (१७।१२-६०), विष्णु० (३।१५।१३-४९), मार्कण्डेय० (२८।३७-६०), कूर्म० (२।२२।२०-६२), पद्म०

(सृष्टिखण्ड, ९।१४०-१८६), ब्रह्माण्ड० (उपोद्घातपाद, प्र० १२), स्कन्द० (६।२२४।३-५१), विष्णुधर्मोत्तर० (१।१४०।६-४४)। अग्नि० (१६३।२-४२) में दो-एक बातों को छोड़कर याज्ञ० (१।२२७-२७०) की सभी बातें यथावत् पायी जाती हैं; इसी प्रकार इस पुराण के अध्याय ११७ में बहुत-से श्लोक आश्व० गृ० एवं याज्ञ० के समान हैं। यही बात बहुत-से अन्य पुराणों के साथ भी पायी जाती है। इसी प्रकार गरुड़पुराण में बहुत-से श्लोक याज्ञवल्क्य-स्मृति के समान हैं; उदाहरणार्थ, मिलाइए याज्ञ० १।२२९-२३९ एवं गरुड० १।९९।११-१९। पुराणों की बातें गृह्य-सूत्रों, मनु एवं याज्ञ० से बहुत मिलती हैं, उनके मन्त्र एवं सूत्र समान ही हैं, कहीं-कहीं कुछ बातें जोड़ दी गयी हैं। वराह-पुराण (१४।५१) में आया है कि सभी पुराणों में श्राद्ध-विधि एक-सी है (इयं सर्वपुराणेषु सामान्या पैतृकी क्रिया)। पद्म० (सृष्टि०, ९।१४०-१८६) का निष्कर्ष यहाँ दिया जा रहा है—कर्ता विश्वेदेवों को (आमंत्रित ब्राह्मण या ब्राह्मणों को, जो विश्वेदेवों का प्रतिनिधित्व करते हैं) जौ एवं पुष्पों के साथ दो आसन देकर सम्मानित करने के उपरान्त दो पात्र जल से भरता है और उन्हें दर्भों के पवित्र पर रखता है। जलार्पण ऋ० (१०।९।४) के 'शन्नो देवी०' मन्त्र के साथ एवं जौ का अर्पण 'यवोसि०' के साथ होता है। उन्हें 'विश्वेदेवाः' (ऋ० २।४१।१३) के साथ बुलाया जाता है और यवों को 'विश्वे देवासः' (ऋ० २।४१।१३-१४) मन्त्रों से बिखेरा जाता है। उसे इन मन्त्रों के साथ यवों को बिखेरना चाहिए—'तुम यव हो, अन्नों के राजा हो आदि।' ब्राह्मणों को चन्दन एवं फूलों से पूजित करने के उपरान्त उन्हें 'या दिव्या'० मन्त्र से सम्मानित करना चाहिए। अर्घ्य से वैश्वदेव ब्राह्मणों को सम्मानित करने के पश्चात् उसे (कर्ता को) पितृयज्ञ आरम्भ करना चाहिए। उसे दर्भों का आसन बनाना चाहिए, तीन पात्रों की पूजा करनी चाहिए, उन पर पवित्र रखकर 'शन्नो देवी०' (ऋ० १०।९।४) के साथ जल भरना चाहिए और उनमें तिल डालने चाहिए और तब उनमें चन्दन एवं पुष्प डालने चाहिए (श्लोक १४७-१५२ में पात्रों का वर्णन है, जो प्रयोग में लाये जाते हैं)। इसके उपरान्त उसे पूर्व-पुरुषों के नाम एवं गोत्र का उद्घोष करके ब्राह्मणों के हाथ में दर्भ देना चाहिए। तब वह ब्राह्मणों से प्रार्थना करता है—'मैं पितरों का आवाहन करूँगा।' जब ब्राह्मण उत्तर देते हैं—'ऐसा ही हो', तब वह ऋ० (१०।१६।१२) एवं वाज० सं० (१९।५८) के उच्चारण के साथ पितरों का आवाहन करता है। इसके पश्चात् पितृ-ब्राह्मणों को अर्घ्य 'या दिव्या'० के साथ देकर, चन्दन, पुष्प आदि (अन्त में वस्त्र) से सम्मानित कर उसे अर्घ्यपात्रों के शेष जल को पिता वाले पात्र में एकत्र करना चाहिए और उसे उत्तर दिशा में अलग उलटकर रख देना चाहिए एवं 'तुम पितरों के आसन हो' ऐसा कहना चाहिए। तब दोनों हाथों द्वारा उन पात्रों को, जिनमें भोजन बना था, लाकर विभिन्न प्रकार के भोजनों को परोसना चाहिए (श्लोक १५७-१६५ में विभिन्न प्रकार के भोजनों एवं उनके द्वारा पितरों की सन्तुष्टि के कालों का वर्णन है)। जब ब्राह्मण खाते रहते हैं, उस समय उसे पितृ-संबन्धी वैदिक मन्त्रों,[८३] पुराणोक्त ब्रह्मा की

८३. किन मन्त्रों का पाठ होना चाहिए, इस विषय में पद्म० (सृष्टि० ९।१६५-१६९) के श्लोक अपरार्क (पृ० ५०२) ने उद्धृत किये हैं। पहला श्लोक 'स्वाध्याय आदि' मनु (३।२३२) का है। मिलाइए नारदपुराण (पूर्वार्ध, २८।६५-६८) जिसमें अन्यों के साथ रक्षोघ्न, वैष्णव एवं पैतृक (ऋ० १०।१५।१-१३) मन्त्रों, पुरुषसूक्त, त्रिमधु एवं त्रिसुपर्ण का भी उल्लेख है। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १०७५) के मत से शान्तिक अध्याय वाज० सं० (३६।१०) है, जो 'शं नो वातः पवताम्' से आरम्भ होता है। मधुब्राह्मण वही है जिसे बृह० उ० (२।५, 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु' से आरम्भ होनेवाले) एवं छान्दोग्य० (३।१, 'असौ वा आदित्यो देवमधु' से आरम्भ होनेवाले) में मधुविद्या कहा गया है। मण्डलब्राह्मण एक उपनिषद् है। पद्मपुराण के पाठ वाले श्लोकों में दी गयी बातें मत्स्य० (१७।३७-३९) में भी हैं। हेमाद्रि एवं श्रा० प्र० का कथन है कि यदि व्यक्ति को अधिक नहीं ज्ञात है तो उसे गायत्री मन्त्र का पाठ करना चाहिए।

कतिपय प्रशस्तियों और विष्णु, सूर्य, रुद्र की प्रशस्तियों, इन्द्र को संबोधित मन्त्र, रुद्र एवं सोम वाले मन्त्र तथा पावमानी मन्त्र, बृहत्, रथन्तर एवं ज्येष्ठ साम, शान्तिकल्प के अध्याय (दुष्टात्माओं को दूर करने वाले कृत्य या लक्षण बताने वाले अंश), मधुब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण तथा उन सभी का पाठ, जिनसे ब्राह्मणों एवं कर्ता को आनन्द मिलता है, करना चाहिए। महाभारत का भी पाठ होना चाहिए, क्योंकि पितरों को वह बहुत प्रिय है। ब्राह्मणों के भोजनोपरान्त कर्ता को सभी प्रकार के खाद्य-पदार्थों से कुछ-कुछ भाग एक पिण्ड के रूप में ले लेना चाहिए और उसे भोजन करने वाले ब्राह्मणों के समक्ष रखे पात्रों के आगे (पृथिवी पर दर्भों के ऊपर) रख देना चाहिए और यह कहना चाहिए—'पृथिवी पर रखे हुए भोजन से हमारे कुल के वे लोग, जो जलाये गये थे या नहीं जलाये गये थे, सन्तोष प्राप्त करें और सन्तुष्टि प्राप्त करने के उपरान्त वे उच्च लोकों (या कल्याण) की प्राप्ति करें। यह भोजन, जो उन लोगों की सन्तुष्टि के लिए अर्पित है, जिनके न पिता हैं, न माता हैं, न सम्बन्धी हैं, न कोई मित्र है और जिन्हें (श्राद्ध में किसी के द्वारा अर्पित) भोजन नहीं प्राप्त है, उनके साथ मिले और जाय, जहाँ इसे जाने की आवश्यकता पड़े।' श्राद्ध में पके हुए भोजन का शेषांश एवं पृथिवी पर रखा हुआ भोजन उन लोगों का भाग है, जो चौल, उपनयन आदि संस्कार के बिना ही मृत हो चुके हैं, जिन्होंने अपने गुरुओं का त्याग कर दिया था, यह उन कुल की स्त्रियों के लिए भी है जो अविवाहित थीं। यह देखकर कि सभी ब्राह्मण सन्तुष्ट हो चुके हैं, कर्ता को प्रत्येक ब्राह्मण के हाथ में जल देना चाहिए, गोबर एवं गोमूत्र से लेपित भूमि पर दर्भों को उनकी नोक दक्षिण ओर करके रखना चाहिए और उन पर पिण्डपितृयज्ञ की विधि से सभी प्रकार के भोजनों (श्राद्ध में पकाये गये) से बनाये गये पिण्डों को जल से सिंचित कर रखना चाहिए। उसे पिण्ड दिये जानेवाले पितरों का नाम एवं गोत्र बोल लेना चाहिए और पुष्प, दीप, गंध, चन्दन आदि अर्पण करके पिण्डों पर पुनः जल चढ़ाना चाहिए। उसे दर्भ हाथ में लेकर पिण्डों की तीन बार परिक्रमा करनी चाहिए और उन्हें दीपों एवं पुष्पों का अर्पण करना चाहिए। भोजनोपरान्त जब ब्राह्मण आचमन करें तो उसे भी आचमन करना चाहिए और एक बार पुनः ब्राह्मणों को जल, पुष्प एवं अक्षत देने चाहिए, तब तिलयुक्त अक्षय्योदक देना चाहिए। इसके उपरान्त उसे अपनी शक्ति के अनुसार गौएँ, भूमि, सोना, परिधान, भव्य शयन एवं ब्राह्मणों के इच्छित पदार्थ या अपनी या पिता की पसन्द की वस्तुएँ देनी चाहिए।[८४] दान देने में उसे (कर्ता को) कृपणता नहीं प्रदर्शित करनी चाहिए। इसके उपरान्त वह ब्राह्मणों से स्वधा कहने की प्रार्थना करता है और उन्हें वैसा करना चाहिए। तब उसे ब्राह्मणों से निम्न आशीर्वाद माँगना चाहिए और पूर्वाभिमुख हो आशीर्वचन सुनने चाहिए—'पितर हमारे लिए कृपालु हों', ब्राह्मण कहेंगे—'ऐसा ही हो'; 'हमारे कुल की वृद्धि हो', वे कहेंगे—'ऐसा ही हो'; 'मेरे कुल के दाता समृद्धि को प्राप्त हों और वेदों एवं सन्तति की वृद्धि हो तथा ये आशीर्वचन सत्य रूप में प्रतिफलित हों', ब्राह्मण कहेंगे—'ऐसा ही हो।' इसके उपरान्त कर्ता पिण्डों को हटाता है, और ब्राह्मणों से 'स्वस्ति' कहने की प्रार्थना करता है और वे वैसा करते हैं। जब तक ब्राह्मण विदा नहीं हो जाते तब तक उनके द्वारा छोड़ा गया भोजन

८४. पद्म० (सृष्टि०, ९।१८०) में आया है—गोभूहिरण्यवासांसि भव्यानि शयनानि च। दद्याद्यदिष्टं विप्राणामात्मनः पितुरेव च॥ श्राद्ध में भूमिदान के विषय में कई एक अभिलेख एवं लिखित प्रमाण हैं। प्रयाग में किये गये (गांगेयदेव के) सांवत्सरिक श्राद्ध के अवसर पर एक ब्राह्मण को दिये गये 'सुसि' नामक ग्राम के दान की चर्चा गांगेयदेव के पुत्र कर्णदेव के अभिलेख (उत्कीर्ण लेख) में हुई है (सन् १०४२ ई०)। और देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द १६, पृ० २०४-२०७ एवं जिल्द २९, भाग १ एवं २, सन् १९४८, पृ० ४१)। आश्रमवासिकपर्व (१४।३-४) में आया है कि युधिष्ठिर ने भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि के श्राद्ध में ब्राह्मणों को सोना, रत्नों, दासों, कम्बलों, ग्रामों, भूमियों, हाथियों, घोड़ों (उनके आसनों एवं झीनों के साथ) एवं कन्याओं के दान किये थे।

हटाया नहीं जाता और न वहाँ सफाई आदि की जाती। इसके उपरान्त वह वैश्वदेव, बलिहोम आदि आह्निक कृत्य करता है। त्यक्त भोजन (ब्राह्मणः द्वारा पृथिवी पर छोड़े गये खाद्य-पदार्थ) उन दासों का भाग होता है, जो अच्छे एवं आज्ञाकारी होते हैं। कर्ता एक जलपूर्ण पात्र को ले जाकर 'वाजे वाजे' (ऋ० ७।३८।८, वाज० सं० ९।१८, तै० सं० १।७।८।२) के साथ कुशों की नोकों से ब्राह्मणों को स्पर्श करता हुआ उन्हें जाने को कहता है। अपने घर से बाहर आठ पगों तक उसे उनका अनुसरण करना चाहिए और उनकी प्रदक्षिणा करके अपने सम्बन्धियों, पुत्रों, पत्नी के साथ लौट आना चाहिए और तब आह्निक वैश्वदेव एवं बलिहोम करना चाहिए। इसके उपरान्त उसे अपने सम्बन्धियों, पुत्रों, अतिथियों एवं नौकरों के साथ ब्राह्मणों द्वारा खाये जाने के उपरान्त भोजन-पात्र में बचा हुआ भोजन पाना चाहिए।

हमने यह देख लिया कि पद्मपुराण की बातें (मन्त्रों के साथ) याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत मिलती हैं। किसी भी पुराण की विधि उसके लेखक की शाखा एवं उसके द्वारा अधीत सूत्र पर निर्भर है।

कतिपय गृह्यसूत्रों, स्मृतियों एवं पुराणों में पाये गये मत-मतान्तरों को देखकर यह प्रश्न उठता है कि क्या कर्ता अपने वेद या शाखा के गृह्यसूत्र के अनुसार श्राद्ध करे या अन्य सूत्रों एवं स्मृतियों में दिये हुए कतिपय विषयों के (जो उसकी शाखा के सूत्र या कल्प में नहीं हैं) उपसंहार को लेकर श्राद्ध करे। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० ७४८-७५९) ने विस्तार के साथ एवं मेधातिथि (मनु २।२९ एवं ११।२१६), मिता० (याज्ञ० ३।३२५), अपरार्क (पृ० १०५३) आदि ने संक्षेप में इस प्रश्न पर विचार किया है। जो लोग अपने सूत्र में दिये गये नियमों के प्रतिपालन में आग्रह प्रदर्शित करते हैं, वे ऐसा कहते हैं—'यदि अपने सूत्र के नियमों के अतिरिक्त अन्य नियमों का भी प्रयोग होगा तो क्रमों एवं कालों में विरोध उत्पन्न हो जायगा। इतना ही नहीं, वैसा करने से कुल-परम्परा भी टूट जायगी। देखिए विष्णुधर्मोत्तर० (२।१२७। १४८-१४९)[८५]। स्मृतियों में जो अतिरिक्त बातें दी हुई हैं, वे उनके लिए हैं जिनके अपने कल्प या गृह्यसूत्र नहीं होते, या वे शूद्रों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि एक ही कृत्य के विषय में कहे गये गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों के वचनों को यथासम्भव प्रयोग में लाना चाहिए, वे जैमिनि० (२।४।८-३३) पर निर्भर हैं, जो **शाखान्तराधिकरण न्याय** या **सर्वशाखाप्रत्यय न्याय** कहलाता है। इस सूत्र में यह प्रतिपादित है कि विभिन्न सूत्रों एवं स्मृतियों में किसी कृत्य के **प्रयोजन एवं फल** एक ही हैं। उदाहरणार्थ, द्रव्य एवं देवता समान ही हैं (पार्वण श्राद्ध में पितर लोग ही देवता हैं और सभी ग्रन्थों में कुश, तिल, जल, पात्र, भोजन आदि द्रव्य एक-से ही हैं) विधि एक-सी है और नाम (पार्वण श्राद्ध, एकोद्दिष्ट श्राद्ध आदि) भी समान ही हैं। अतः स्पष्ट है कि इन समान लक्षणों के कारण सभी सूत्र एक ही बात कहते हैं, किन्तु जो अन्तर पाया जाता है, वह विस्तार मात्र है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि स्मृतियाँ केवल उन्हीं लोगों के लिए उपयोगी हैं, जिनके अपने सूत्र नहीं होते। अपनी कुल-परम्परा या जाति-परम्परा से तीनों वर्णों के लोग किसी-न-किसी सूत्र से अवश्य सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार ऐसा नहीं कहा जा सकता कि स्मृतियाँ केवल शूद्रों के लिए हैं, क्योंकि स्मृतियाँ मुख्यतः उपनयन, वेदाध्ययन, अग्निहोत्र एवं ऐसी ही अन्य बातों का विवेचन करती हैं, जिनसे शूद्रों का कोई सम्पर्क नहीं है। इसी प्रकार उस विषय में भी, जो यह कहा गया है कि अन्य सूत्रों एवं स्मृतियों की बातों को लेने से कृत्य के क्रम एवं काल में भेद उत्पन्न हो जायगा, जैमिनि० (१।३।५-७) ने उत्तर दिया है (इस पर विस्तार के साथ इस ग्रन्थ के खण्ड ३, अध्याय ३२ में विचार हो चुका है)। निष्कर्ष यह निकाला गया है कि जब मतभेद न हो, अर्थात् अपनी शाखा या सूत्र के कृत्य करने में

८५. यः स्वसूत्रमतिक्रम्य परसूत्रेण वर्तते। अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोप्यधर्मेण युज्यते।। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२।१२७।१४८-१४९)।

दूसरी शाखा या सूत्र के विषय बिना किसी भेद के लिये जायँ तो ठीक है, किन्तु यदि विभेद पड़ जाय तो अपनी शाखा के सूत्र का ही अवलम्बन करना चाहिए। यदि कोई बात दूसरी शाखा के सूत्र में पायी जाय और अपनी शाखा में न हो तो उसे विकल्प से ग्रहण किया जा सकता है।

'सर्वशाखाप्रत्यय न्याय' के आधार पर मध्यकालिक निबन्धों ने स्मृतियों एवं पुराणों से लेकर श्राद्धों के विषय में बहुत-सी ऐसी बातें सम्मिलित कर ली हैं जो आरम्भिक रूप में अति विस्तृत नहीं थीं।

कूर्म० (उत्तरार्ध, २२।२०-२१) में आया है कि मध्याह्न समाप्त होने के पूर्व ही आमन्त्रित ब्राह्मणों को घर पर बुलाना चाहिए। ब्राह्मणों को बाल कटवाने, नख कटवाने के उपरान्त उस समय आना चाहिए। कर्ता को दाँत स्वच्छ करने के लिए सामान देना चाहिए, उन्हें अलग-अलग आसनों पर बैठाना चाहिए और स्नान के लिए तेल एव जल देना चाहिए। यह ज्ञातव्य होना चाहिए कि ये बातें आश्व० गृ०, मनु (३।२०८), याज्ञ० (१।२२६) एवं कुछ अन्य पुराणों में भी नहीं पायी जातीं। उदाहरणार्थ, वराह० (१४।८) ने स्वागत करने के उपरान्त अपराह्ण में ब्राह्मणों को आसन देने की विधि बतलायी है। इसी प्रकार के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु स्थानाभाव से ऐसा नहीं किया जायगा।

मध्य काल के निबन्धों में एवं आजकल पायी जानेवाली पार्वणश्राद्ध-विधि के वर्णन के पूर्व हम कुछ विषयों का विवेचन करेंगे, जिनके विषय में मत-मतान्तर हैं और जो सामान्य रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

अपराह्ण में जब आमन्त्रित ब्राह्मण आ जाते हैं तो उन्हें सम्मान देने के लिए कर्ता के घर के सामने दो मण्डल बनाये जाते हैं, ऐसा कुछ पुराणों में आया है। उदाहरणार्थ नारदपुराण में आया है—'ब्राह्मण कर्ता के लिए मण्डल का आकार वर्गाकार होना चाहिए, क्षत्रिय के लिए त्रिभुजाकार, वैश्य के लिए वृत्ताकार और शूद्रों के लिए पृथिवी पर केवल जल छिड़क देना पर्याप्त है। गोबर और जलमिश्रित गोमूत्र से पृथिवी को पवित्र करके मण्डल का निर्माण करना चाहिए। दो मण्डलों में एक उत्तर दिशा में ढालू भूमि पर होना चाहिए और दूसरा दक्षिण दिशा में दक्षिण की ओर। उत्तरी मण्डल पर पूर्व की ओर नोक करके कुशों को अक्षतों के साथ रखना चाहिए और दक्षिणी मण्डल पर तिलों के साथ दुहराये हुए कुश रखने चाहिए। उत्तरी मण्डल सामान्यतः दोनों ओर दो हाथों की लम्बाई का और दक्षिणी मण्डल दोनों ओर चार हाथों की लम्बाई का होना चाहिए। कर्ता द्वारा दाहिना घुटना मोड़कर विश्वेदेवों के प्रतिस्वरूप ब्राह्मणों का सत्कार उत्तरी मण्डल पर जल से उनके पैर धोकर करना चाहिए और पितरों के प्रतिनिधि ब्राह्मणों का सम्मान बायाँ घुटना मोड़कर उनके पैर (पाद्य) धोकर किया जाना चाहिए। पाद्य अर्पण (पाद-प्रक्षालन) के समय का मन्त्र है—'शन्नो देवी' (ऋ० १०।९।४)। मन्त्र पाठ के उपरान्त उसे विश्वेदेव ब्राह्मणों एवं पित्र्य ब्राह्मणों को जल देना चाहिए। पाद्य जल के उपरान्त ब्राह्मण मण्डलों के सामने आते हैं और आचमन करते हैं।

प्राचीन सूत्र एवं मनु तथा याज्ञवल्क्य (१।२२९) आदि स्मृतियाँ सामान्यतः कहती हैं कि विश्वेदेवों का आवाहन करना चाहिए, किन्तु प्रजापति (श्लोक १७९-१८०) जैसी पश्चात्कालीन स्मृतियाँ एवं पुराण विश्वेदेवों के दस नामों वाले श्लोक उद्धृत करते हैं और उन्हें दो-दो की पाँच कोटियों में बाँटकर श्राद्धों की पाँच कोटियों के लिए उनको निर्धारित करते हैं। उनमें आया है—'किसी इष्टि में सम्पादित श्राद्ध के विश्वेदेव हैं क्रतु एवं दक्ष, नान्दीमुख श्राद्ध में हैं सत्य एवं वसु, काम्य श्राद्ध में धुरि एवं लोचन, नैमित्तिक श्राद्ध में काल एवं काम तथा पार्वण श्राद्ध में पुरूरवस एवं आर्द्रव।'[८६]

८६. क्रतुर्दक्षो वसुः सत्यः कालः कामस्तथैव च। धुरिश्चारोचनश्चैव तथा चैव पुरूरवाः॥ आर्द्रवश्च दशैते तु विश्वे देवाः प्रकीर्तिताः। बृहस्पति (अपरार्क, पृ० ४७८; कल्पतरु, श्रा०, पृ० १४२; स्मृतिच०, श्रा०, पृ०, ४४२-४४३);

स्मृतिच० एवं हेमाद्रि के मत से विश्वेदेव ब्राह्मणों को एक आसन दिया जाता है और उनके उपर्युक्त नामों का उच्चारण करके कतिपय श्राद्धों में उनका आवाहन किया जाता है। मिता० (याज्ञ० १।२२९), हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १२२५) एवं अन्य निबन्धों के अनुसार पार्वणश्राद्ध में विश्वेदेवों के आवाहन के लिए दो मन्त्र हैं—'विश्वे देवास आगत' (ऋ० २।४१।१३) एवं 'आगच्छन्तु महाभागाः', किन्तु स्मृतिच० (पृ० ४४४) ने 'विश्वे देवाः शृणुत' (ऋ० ६।५२।१३) यह एक मन्त्र और जोड़ दिया है।

सामान्य नियम यह है कि विश्वेदेव ब्राह्मण पूर्वाभिमुख एवं पित्र्य ब्राह्मण दक्षिणाभिमुख बैठते हैं (याज्ञ० १।१२८ एवं वराह० १४।११) किन्तु हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १२००) के मत से बैठने की दिशाओं के विषय में कम-से-कम पाँच मत उपस्थित किये गये हैं। यह ज्ञातव्य है कि श्राद्ध-विधि के सभी विषयों में विश्वेदेविक ब्राह्मणों को प्राथमिकता मिलती है, केवल भोजन से लगे हाथ धोने एवं श्राद्ध के अन्त में ब्राह्मणों से अन्तिम विदा लेने के विषयों में प्राथमिकता नहीं मिलती। दक्षिण एव पश्चिम भारत में श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण पूजित होते हैं, किन्तु बंगाल में दर्भों की आकृति पूजी जाती है। यही बात रघुनन्दन के श्राद्धतत्त्व में भी आयी है (पुरूरवसाद्रवसोर्विश्वेषां देवानां पार्वणश्राद्धं कुशमय-ब्राह्मणे करिष्ये इति पृच्छेत्)।

वायु० (७४।१५-१८) ने लिखा है कि श्राद्ध के आरम्भ एवं अन्त में एवं पिण्डदान के समय निम्न मन्त्र तीन बार कहे जाने चाहिए, जिनके कहने से पितर लोग श्राद्ध म शीघ्रता से आते हैं और राक्षस भाग जाते हैं तथा यह मन्त्र तीनों लोकों में पितरों की रक्षा करता है—'देवों, पितरों, महायोगियों, स्वधा एवं स्वाहा को नित्य नमस्कार।'[८७] स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४४१) के मत से ब्राह्मणों के आ जाने एवं बैठ जाने के पश्चात् एवं ब्राह्मणों के आसनों पर कुश रख देने के

'विश्वे देवाः' को अलग-अलग रखना चाहिए, सामासिक रूप में नहीं। 'इष्टिश्राद्धे क्रतुर्दक्षः सत्यो नान्दीमुखे वसुः। नैमित्तिके कालकामौ काम्ये च धुरिलोचनौ।। पुरूरवा आर्द्रवश्च पार्वणे समुदाहृतौ।' बृहस्पति (अपरार्क, पृ० ४७८; श्रा० प्र०, पृ० २३; मद० पा०, पृ० ५७३-५७४) ने व्याख्या की है—'इष्टिश्राद्धमाधानादौ क्रियमाणम्...। नैमित्तिके सपिण्डीकरणे। कामनयानुष्ठेयंगयामहालयादिश्राद्धं काम्यम्।' इष्टिश्राद्ध १२ श्राद्धों में ९वाँ श्राद्ध है (विश्वामित्र, कल्पतरु, पृ० ६; स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ३३४)। श्रा० प्र० (पृ०२३) ने 'पुरूरवस्' एवं 'आर्द्रव' ऐसे नामों के विभिन्न पाठ दिये हैं, यथा 'पुरूरव' एवं 'माद्रव'। श्राद्धतत्त्व (पृ० १९९) एवं टोडरानन्द (श्राद्धसौख्य) ने 'माद्रव' नाम दिया है। श्राद्धतत्त्व ने 'इष्टिश्राद्ध' को 'इच्छाश्राद्ध' एवं 'नैमित्तिक' को 'एकोद्दिष्ट' कहा है, श्राद्धक्रियाकौमुदी (पृ० ५६) ने 'पुरोरवाः' एवं 'माद्रवाः' पाठ रखे हैं। ब्रह्माण्ड० (३।३।३०-३१) ने 'विश्वेदेवों के दस नाम विभिन्न रूपों से दिये हैं—'पुरूरवो माद्रवसो रोचमानश्च'। ब्रह्माण्ड० (३।१२।३) ने कहा है कि दक्ष की एक कन्या विश्वा से १० पुत्र उत्पन्न हुए। जब हिमालय के शिखर पर उन्होंने कठिन तप किया तो ब्रह्मा ने उन्हें इच्छित वर दिया और पितरों ने स्वीकृति दी। पितरों ने कहा—'अग्रे दत्त्वा तु युष्माकमस्माकं दास्यते ततः। विसर्जनमथास्माकं पूर्वं पश्चात्तु दैवतम्।।' यह गाथा सम्भवतः श्राद्ध में वैश्वदेव ब्राह्मणों के प्रयोग को सिद्ध करने का प्रयास है। विष्णुधर्मोत्तरपु० (३।१७६।१-५) ने विश्वेदेवों के नाम कुछ भिन्न रूप में दिये हैं।

८७. ये उक्तियाँ (श्लोक) स्कन्द० (७।१।२०६।११४-११६), ब्रह्माण्ड० (३।११।१७-१८), विष्णुधर्मोत्तर० (१।१४०।६८-७२, कुछ अन्तरों के साथ) में पायी जाती हैं। मन्त्र गरुड़० (आचारखण्ड, २।८।६), कल्पतरु (श्रा० १४४) में पाया जाता है। अधिकांश पुराणों में मन्त्र का अन्त 'नित्यमेव नमोनमः' से होता है। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १०७९ एवं १२०८) ने इसे 'सप्तार्चिः' संज्ञा दी है और कहा है कि यह सात पुराणों में आया है।

पूर्व ही यह मन्त्र कहा जाता है। यह मन्त्र ब्रह्म० (२२०।१४३), ब्रह्माण्ड० (उपोद्घातपाद ११।२२) एवं विष्णु-धर्मोत्तर० (१।१४०।६८-७०) में आया है और अन्तिम दो ने इसका 'सप्तार्चिः' नाम रखा है और यह अश्वमेध के बराबर कहा गया है।

पितरों को आसन देने, आसन पर कुश रखने एवं अर्घ्य देने के लिए शब्दों के क्रम के विषय में बृहस्पति, कुछ पुराणों एवं निबन्धों ने कुछ नियम दिये हैं। यहाँ भी ऐकमत्य नहीं है। बृहस्पति का कथन है—'आसन देने, अर्घ्य देने या पिण्डदान करने एवं पिण्डों पर जल देने के समय कर्ता को प्रत्येक पूर्व-पुरुष से अपना सम्बन्ध, पितरों के नाम एवं गोत्र तथा उनके ध्यान का (वसु, रुद्र एवं आदित्य शब्दों के साथ) उद्घोष करना पड़ता है।'

कहा गया है कि कर्ता को श्राद्ध में छः बार आचमन करना चाहिए, यथा—श्राद्ध आरम्भ होने के समय, आमन्त्रित ब्राह्मणों के पाद-प्रक्षालन के समय, उनकी पूजा के समय, विकिर बनाते समय, पिण्डदान करते समय एवं श्राद्ध के अन्त में।

मध्यकाल के लेखकों के मन में उठनेवाले प्रश्नों में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि श्राद्ध में दी गयी आहुतियों के प्राप्तिकर्ता वास्तविक रूप में कौन हैं, ब्राह्मण या पितर? महार्णवप्रकाश, हरिहर आदि ने आश्व० गृ० (४।८।१) के 'एतस्मिन् काले . . . दानम्' एवं वराह० (१३।५१) जैसे पुराणों में व्यवहृत 'विभवे सति विप्रेभ्यो ह्यस्मानुद्दिश्य दास्यति' शब्दों पर निर्भर रहकर उद्घोषित किया है कि ब्राह्मण ही प्राप्तिकर्ता हैं। किन्तु श्रीदत्त आदि ने 'अक्षन्न पितरः अमीमदन्त पितरः' (वाज० सं० १९।३६) जैसे श्रुति-वचनों एवं 'पितरेतत् ते अर्घ्यम्' या 'एतद्वः पितरो वासः' जैसे मन्त्रों के आधार पर उद्घोषित किया है कि वास्तविक प्राप्तिकर्ता पितर लोग हैं; किन्तु, क्योंकि पितर लोग दूसरे लोक में चले गये रहते हैं और शरीर रूप से चन्दन, पुष्प, वस्त्र आदि के दान को नहीं ग्रहण कर सकते, अतः ये वस्तुएँ ब्राह्मणों को दी जाती हैं, जो उस क्षण पितरों के रूप में माने जाते हैं। इस विषय में विवेचन के लिए देखिए स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४४७-४४९) एवं श्रा० प्र० (पृ० ३०-३१)। यह ज्ञातव्य है कि ब्राह्मणों को दिया गया जल एवं दक्षिणा केवल ब्राह्मणों के लिए थे, जिनमें जल शुद्धि के लिए एवं दक्षिणा अक्षय कल्याण के लिए है।

पितरों के आवाहन के लिए प्रयुक्त मन्त्रों एवं उनके पाठ-काल के विषय में भी कई मत-मतान्तर हैं। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १२५४-५६) ने मन्त्र-पाठ के विषय में पाँच मत दिये हैं, जिनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीन मत ये हैं—'पित्र्य ब्राह्मणों के आसनों की बायीं ओर आसन के रूप में दर्भ रखे जाने के पूर्व ही आवाहन होना चाहिए या दर्भ रखे जाने के पश्चात् या अग्नौकरण के उपरान्त।' मन्त्र के विषय में याज्ञ० (१।२३२-२३३), ब्रह्माण्ड० आदि का कथन है कि आवाहन मन्त्र—'उशन्तस्त्वा' (ऋ० १०।१६।१२; वाज० सं० १९।७० एवं तै० सं० २।६।१२।१) है और इसके उपरान्त कर्ता को 'आ यन्तु नः' (वाज० सं० १९।५८) मन्त्र का पाठ करना चाहिए। विष्णुध० सू० (७३।१०-१२) का कथन है—'ब्राह्मण से अनुमति प्राप्त करने के उपरान्त कर्ता को पितरों का आवाहन करना चाहिए। तिल विकीर्ण करके यातुधानों को भगाने एवं दो मन्त्रों के पाठ के उपरान्त पितरों को चार मन्त्रों के साथ बुलाना चाहिए—'हे पितर, यहाँ पास में आइए', 'हे अग्नि, उन्हें यहाँ ले आइए', 'मेरे पितर (पूर्वपुरुष) यहाँ आयें', 'हे पितर, यह आप का भाग है।' हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १२६०।१२६७) ने विभिन्न लेखकों द्वारा उपस्थापित मन्त्रों का उल्लेख किया है।

याज्ञ० (१।२३६-२३७) द्वारा वर्णित अग्नौकरण के विषय में भी बहुत-सी विवेचनाएँ हुई हैं। मिताक्षरा ने संकेत किया है कि यदि कोई व्यक्ति सर्वाधान-विधि से श्रौताग्नियाँ रखता है तो पार्वण श्राद्ध में, जिसे वह पिण्डपितृ-यज्ञ के उपरान्त करता है, वह दक्षिणाग्नि में होम करता है, क्योंकि उसके पास औपासन (गृह्य) अग्नि नहीं होती। मिता० ने इस मत के समर्थन के लिए विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।१४०।१८) का उल्लेख किया है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अर्धाधान-विधि से श्रौताग्नि-स्थापन करता है तो उसे औपासन अग्नि में पार्वण होम करना चाहिए। यदि कोई

श्रौताग्नियाँ नहीं रखता और उसके पास केवल औपासन अग्नि है तो वह उसी में होम करता है। जिसके पास न तो श्रौताग्नियाँ हैं और न गृह्याग्नि, वह ब्राह्मण के हाथ में होम करता है। मिता० ने मनु (३।२१२) एवं एक गृह्यसूत्र के दो वचनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रौताग्नियाँ रखनेवाला अन्वष्टक्य श्राद्ध, अष्टका के एक दिन वाले श्राद्ध, प्रत्येक मास के कृष्ण पक्ष में सम्पादनीय श्राद्ध (जो पंचमी से लेकर आगे किसी भी तिथि पर किया जाता है) एवं पार्वण-श्राद्ध में होम दक्षिणाग्नि में करता है, किन्तु वह काम्य, आभ्युदयिक, एकोद्दिष्ट एवं अष्टका श्राद्धों में केवल पित्र्य ब्राह्मण के हाथ पर होम करता है; वे लोग, जो कोई पवित्र अग्नि नहीं प्रज्वलित करते, केवल पित्र्य ब्राह्मण के हाथ पर ही होम करते हैं। देखिए हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १३२८-१३४४) एवं बालम्भट्टी (आचार०, पृ० ५१८)। टोडरानन्द (श्राद्धसौख्य) ने मनु (३।२८२) का अनुगमन करते हुए कहा है कि अग्निहोत्री दर्श (अर्थात् अमावास्या) के अतिरिक्त किसी अन्य दिन पार्वण श्राद्ध नहीं कर सकता।

अग्नौकरण में आहुतियों की संख्या के विषय में भी गहरा मतभेद है। यही बात **होम वाले देवों, देवों के नामों के क्रम एवं प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के विषय में** भी है। यह मतभेद अति प्राचीन काल से ही चला आया है। शतपथ ब्रा० (२।४।२।१२-१३) में आहुतियाँ केवल दो हैं और वे अग्नि एवं सोम के लिए दी जाती हैं और अन्त में 'स्वाहा' शब्द कहा जाता है। तै० ब्रा० (१।३।१०।२-३) में आहुतियाँ तीन हैं, जो अग्नि, सोम एवं यम को दी जाती हैं और अन्त में 'स्वधा नमः' ('स्वाहा' नहीं) का शब्द-क्रम आता है। इसी से कात्यायन (स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४५८) ने कहा है—'स्वाहा' या 'स्वधा नमः' कहने, यज्ञोपवीत ढंग से और प्राचीनावीत ढंग से पवित्र सूत्र (जनेऊ) धारण करने और आहुतियों की संख्या के विषय में अपने-अपने सूत्र के नियम मानने चाहिए।[८८] ये मत-मतान्तर ब्राह्मणों के काल से लेकर सूत्रों, स्मृतियों एवं पुराणों तक चले आये हैं, जिन्हें संक्षेप में हम दे रहे हैं। आप० गृ० (२१।३-४) ने १३ आहुतियों की चर्चा की है, जिनमें ७ भोजन के साथ एवं ६ घृत के साथ दी जाती हैं। आश्व० श्रौ० (२।६।१२), आश्व० गृ० (४।७।२०), शंख-लिखित (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १३५४; मदन पा०, पृ० ५८९), काठकगृ० (६३।८९), नारदपुराण (पूर्वार्ध, २८।४८) एवं मार्कण्डेयपुराण (२८।४७-४८) ने केवल दो आहुतियों का उल्लेख किया है। बौ० ध० सू० (२।१४।७), शांखा० श्रौ० (४।३), शांखा० गृ० (४।१।१३), विष्णुधर्मसूत्र (७३।१२), मनु (३।२११), वराहपुराण (१४।२१-२२), ब्रह्माण्डपुराण (उपोद्घातपाद, ११।९३-९४) एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।१४०।१९) आदि अधिकांश स्मृतियों एवं पुराणों ने तीन आहुतियों का उल्लेख किया है। यहाँ देवताओं एवं 'स्वाहा' तथा 'स्वधा' के क्रम के कई रूप आये हैं, जिनमें कुछ ये हैं—पितरों के साथ संयुक्त सोम, कव्यवाह अग्नि, यम, अंगिरा; कुछ लोग क्रम यों देते हैं—कव्यवाह अग्नि, पितरों के साथ सोम, यम वैवस्वत आदि। यह भी क्रम है कि अग्नि को आहुति अग्नि के दक्षिण ओर, सोम को उसके उत्तर एवं वैवस्वत (यम) को दोनों ओर के मध्य में दी जाती है।

भोजन परोसने, ब्राह्मण-भोजन एवं अन्य सम्बन्धित बातों की विधि के विषय में बहुत-से नियम व्यवस्थित हैं। स्मृतिच० (पृ० ४६५-४७०), हेमाद्रि (पृ० १३६७-१३८४), श्रा० प्र० (पृ० ११६-१२२) एवं अन्य निबन्धों ने इन विषयों के विस्तृत नियम दिये हैं। याज्ञ० (१।२३७) ने व्यवस्था दी है कि होम करने के पश्चात् शेषांश पित्र्य ब्राह्मणों के पात्रों में परोसना चाहिए और पात्र चाँदी के हों तो अच्छा है। कात्यायन का कथन है कि उस कर्ता को, जिसके पास श्रौत या स्मार्त अग्नि नहीं होती, पित्र्य ब्राह्मणों में सबसे पुराने (वृद्ध) ब्राह्मण के हाथ पर ही मन्त्र के साथ

८८. स्वाहा स्वधा नमः सव्यमपसव्यं तथैव च। आहुतीनां तु या संख्या सावगम्या स्वसूत्रतः।। कात्यायन (स्मृतिचन्द्रिका, श्रा०, पृ० ४५८)।

होम करना चाहिए और शेषांश को अन्य पितृ-ब्राह्मणों के पात्रों में रख देना चाहिए (गोभिल० ४।१२०, स्मृतिच० २, पृ० ४६२)। स्मृतिचन्द्रिका ने टिप्पणी की है कि यम एवं वायुपुराण के मत से होम दैव ब्राह्मणों के हाथ पर होना चाहिए, और इसी से मतभेद उपस्थित हो गया है तथा विकल्प मान लिया गया है। आगे व्यवस्था दी गयी है कि उस भोजन का, जिससे अग्नौकरण किया गया था, एक भाग पिण्ड बनाने के लिए अलग रख दिया जाता है (मार्कण्डेय एवं गरुड़)। यज्ञोपवीत ढंग से जनेऊ धारण करके कर्ता द्वारा या उसकी पत्नी (सवर्णा) या किसी शुद्ध सेवक द्वारा भोजन परोसा जाना चाहिए। ब्राह्मणों के पास लाया जाता हुआ भोजन दोनों हाथों से भोजन-पात्र पकड़कर न लाया जाय तो वह दुष्ट असुरों द्वारा झपट लिया जाता है। श्राद्धकर्ता मनोयोगपूर्वक (परोसने में ही मन लगाये हुए) चटनी-अचार, शाक, दूध, दही, घृत एवं मधु के पात्रों को भूमि पर ही रखता है (काठ के बने पीढ़ों आदि पर नहीं)। पृथिवी पर रखे पात्रों में भोजन के विभिन्न प्रकार होने चाहिए, यथा—मिठाइयाँ, पायस, फल, मूल, नमकीन खाद्य, मसालेदार या सुगंधित पेय। पात्रों को सामने रखकर भोज्य-पदार्थों के गुणों का वर्णन करना चाहिए, यथा—यह मीठा है, यह खट्टा है आदि। भोजन परोसते समय (पूर्वजों का स्मरण करके) रोना नहीं चाहिए, क्रोध नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए, पात्रों को पैर से नहीं छूना चाहिए और न झटके से परोसना चाहिए। ब्राह्मणों की रुचि के अनुसार पदार्थ दिये जाने चाहिए, असन्तोष के साथ भुनभुनाना नहीं चाहिए, ब्रह्म के विषय में कुछ चर्चा करनी चाहिए, क्योंकि पितरों को यह रुचिकर होती है। प्रसन्न मुद्रा में ब्राह्मणों को मुदित रखना चाहिए, उन्हें धीरे-धीरे खाने देना चाहिए और विभिन्न व्यंजनों के गुणों का वर्णन करके और खाने के लिए बार-बार कहना चाहिए। भोजन गर्म रहना चाहिए, ब्राह्मणों को मौन रूप से खाना चाहिए, कर्ता के पूछने पर भी भोजन के गुणों के विषय में मौन रहना चाहिए। जब भोजन गर्म हो, ब्राह्मण चुपचाप खायें, वे भोजन के गुणों का उद्घोष न करें तो पितर लोग उसे पाते (खाते) हैं। जब ब्राह्मण लोग श्राद्ध-भोजन में पगड़ी या उत्तरीय या अँगोछे आदि से अपना सिर ढँककर या दक्षिणाभिमुख होकर या जूता-चप्पल पहने खाते हैं तो दुष्टात्माएँ भोजन खा जाती हैं, पितर नहीं। बहुत पहले गौतम० ने कहा है कि ब्राह्मणों के लिए भोजन सर्वोत्तम कोटि का होना चाहिए और उसे भाँति-भाँति के पदार्थों या व्यंजनों से मधुर एवं सुगंधित करना चाहिए।

भोजन बनाने वालों के विषय में भी नियम हैं। प्रजापतिस्मृति (श्लोक ५७-६२) में आया है—पत्नी, कर्ता के गोत्र की कोई सौभाग्यवती या सुन्दर स्त्री, जो पति वाली हो, पुत्रवती हो, भाई वाली हो और गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने वाली हो, कर्ता के गुरु की पत्नी, मामी, फूफी या मौसी, बहिन, पुत्री, वधू, ये सभी सधवाएँ श्राद्ध-भोजन बना सकती हैं। अच्छे कुल की नारियाँ, जिनकी संतानें अधिक हों, जो सधवा हों और जो ५० वर्षों के ऊपर हों या वे नारियाँ जो विधवा हो चुकी हों, चाची, भाभी, माता (स्वाभाविक या विमाता) या पितामही—श्राद्ध-भोजन बना सकती हैं और वे नारियाँ भी जो सगोत्र एवं मृदु स्वभाव की हों। अनुशासन० (२९।१५) में आया है कि मृत से पृथक् गोत्र वाली नारी श्राद्ध-भोजन बनाने के लिए नियुक्त नहीं हो सकती। अपना भाई, चाचा, भतीजा, भानजा, पुत्र, शिष्य, बहिन का पुत्र, बहनोई भी श्राद्ध भोजन तैयार कर सकता है, किन्तु वह नारी नहीं जो श्वेत या गीले वस्त्र धारण किये हो, जिसके केश खुले हों, जो चोली नहीं पहनती हो, जो रुग्ण हो या जिसने सिर धो लिया हो। ब्राह्मणों के भोजन करने के पूर्व विश्वेदेव ब्राह्मणों के पात्रों में भोजन परोसना चाहिए और तब पित्र्य ब्राह्मणों के पात्रों में (विष्णुध० ७३।१३-१४), किन्तु जब एक बार ब्राह्मण भोजन करना आरम्भ कर देते हैं तो यह प्राथमिकता दूर हो जाती है। जहाँ भी आवश्यकता पड़े (किसी के पात्र में भोजन कम हो जाय तो) भोजन परोसना चाहिए (जैसा कि मनु ३।२३१ ने संकेत किया है)। कर्ता भोजन परोसते समय (यहाँ तक कि पित्र्य ब्राह्मणों को भी परोसते समय) उपवीत विधि से जनेऊ धारण करता है। यद्यपि ऐसा कहा गया है कि भोजन गर्म होना चाहिए, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दही, फल, मूल, सुगंधित एवं

मसालेदार पेय भी वैसे ही हों (शंख १४।१३)। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १३७१) ने कहा है कि दाहिने हाथ से परोसना चाहिए, किन्तु बायाँ हाथ लगा रहना चाहिए; इसके अतिरिक्त केवल हाथ या एक हाथ से कोई भी पदार्थ नहीं परोसना चाहिए, बल्कि लकड़ी के चमचे या किसी पात्र (लोहे के नहीं) से परोसना चाहिए। सभी प्रकार के भोजन एवं सभी अन्य वस्तुएँ, यथा चटनी-अचार, घृत आदि किसी पात्र, चम्मच आदि से परोसना चाहिए (खाली हाथ से नहीं), किन्तु जल या लड्डू आदि नहीं। किसी प्रकार का नमक सीधे अर्थात् खाली हाथ से नहीं परोसना चाहिए (विष्णुध० ७९। १२)। कात्यायन के श्राद्ध-सूत्र में आया है—अग्नौकरण के पश्चात् शेष भोजन को पित्र्य ब्राह्मणों के पात्रों में सभी पात्रों को छूकर परोसना चाहिए और कर्ता को 'पृथिवी पात्र है, आकाश अपिधान (ढक्कन) है, मैं ब्राह्मण के अमृतमुख में अमृत परोस रहा हूँ, स्वाहा' का पाठ करके ऐसा करना चाहिए। इसके उपरान्त पित्र्य ब्राह्मण के दाहिने अँगूठे को कर्ता होम से बचे हुए भोजन में ऋक् एवं यजु के उन मन्त्रों के साथ जो विष्णु को सम्बोधित हैं, छुआता है तथा चतुर्दिक् (जहाँ भोजन होनेवाला है) वह 'असुर एवं राक्षस मारकर भगा दिये गये हैं' कहकर तिल बिखेरता है और पितरों एवं ब्राह्मणों की अभिरुचि वाला गर्म भोजन परोसता है। देखिए याज्ञ० (१।२३८), बौधा० सू० (२।८।१५-१६) एवं कालिकापुराण (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १०२४)। बौधायनपितृमेधसूत्र (२।९।१९) में आया है कि ब्राह्मण के अँगूठे को इस प्रकार भोजन से छुआना चाहिए कि नाखून वाला भाग भोजन को स्पर्श न करे (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १०२४; श्रा० प्र०, पृ० ११९)। वसिष्ठ का कथन है कि ब्राह्मणों को भोजन करने के अन्त तक बायें हाथ में भोजन-पात्र उठाकर रखना चाहिए। शंख-लिखित (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १०१९; श्रा० प्र०, पृ० ११८) ने कहा है कि ब्राह्मणों को खाते समय भोजन के गुण एवं दोषों का वर्णन नहीं करना चाहिए, असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, एक-दूसरे की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और न यही कहना चाहिए कि अभी बहुत रखा है (और मत परोसिए); केवल हाथ से संकेत मात्र करना चाहिए। अग्नौकरण के रूप में एवं पात्र में जो कुछ परोसा गया है, मिलाकर खाना चाहिए। हेमाद्रि ने मैत्रायणीय सूत्र एवं स्कन्दपुराण से ऐसी उक्तियाँ एवं मन्त्र दिये हैं जो कुछ पदार्थों को परोसते समय कहे जाते हैं, यथा ऋ० (४।३९।६); वाज० सं० (२।३२ एवं २३।३२); तै० सं० (३।२।५।५ एवं १।५।११।४)। आप० ध० सू० (२।८।१८।११) में आया है कि श्राद्ध-भोजन का उच्छिष्टांश आमन्त्रित ब्राह्मणों से हीन लोगों को नहीं देना चाहिए और मनु (३।२४९) का कथन है कि जो व्यक्ति श्राद्ध-भोजन करने के उपरान्त उच्छिष्ट अंश किसी शूद्र को देता है तो वह कालसूत्र नरक में गिरता है।

मत्स्यपुराण (१७।५२-५५; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४८२; स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४८२ एवं कल्पतरु०, श्रा०, पृ० २३०) एवं अन्य ग्रन्थों में आया है कि ब्राह्मणों को आचमन कर लेने एवं जल, पुष्प तथा अक्षत प्राप्त करने के उपरांत कर्ता को आशीर्वचन देने चाहिए। कर्ता प्रार्थना करता है—'हमारे पितर घोर न हों (अर्थात् हमारे प्रति दयालु हों); ब्राह्मण प्रत्युत्तर देते हैं—'तथास्तु (ऐसा ही हो)'। कर्ता पुनः कहता है—'हमारा कुल बढ़े, हमारे कुल में दाता बढ़ें और भोजन भी'; इन सभी प्रकार की प्रार्थनाओं पर ब्राह्मण उत्तर देते हैं—'ऐसा ही हो।' ब्राह्मणों के खा चुकने के उपरान्त पात्रों के उच्छिष्ट अंश हटाने एवं वहाँ सफ़ाई करने के काल के विषय में भी नियम बने हुए हैं। वसिष्ठ० (११।२१-२२) एवं कूर्मपुराण में आया है कि उच्छिष्ट भोजन सूर्यास्त के पूर्व नहीं हटाना चाहिए, क्योंकि उससे अमृत की धारा बहती है जिसे वे मृत व्यक्ति पीते हैं जिनके लिए जलतर्पण नहीं होता। मनु (३।२६५, मत्स्य० १७।५६, पद्म०, सृष्टि० ९।१८५) ने एक पृथक् नियम दिया है कि उच्छिष्ट भोजन वहीं तब तक पड़ा रहना चाहिए जब तक ब्राह्मण लोग प्रस्थान न कर जायँ। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १५१२) ने इस लिए व्यवस्था दी है कि यदि कर्ता के पास दूसरा घर हो तो उच्छिष्ट अंश सूर्यास्त तक पड़ा रहने देना चाहिए, किन्तु यदि एक ही घर हो तो ब्राह्मणों के चले जाने के उपरान्त उसे हटा देना चाहिए (याज्ञ० १।२५७ एवं मत्स्य० १७।५६)। बृहस्पति (स्मृति०, श्रा०, पृ० ४८२; हेमाद्रि, श्राद्ध०,

पृ० १४८५) का कथन है कि ब्राह्मणों द्वारा 'स्वस्ति' कहे जाने के पूर्व पात्रों को नहीं हटाना चाहिए; जातूकर्ण्य (स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४८२; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४८६) एवं स्कन्द० (नागरखण्ड, हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४८६) का कथन है कि पात्र एवं उच्छिष्ट अंश कर्ता द्वारा या उसके पुत्र या शिष्य द्वारा उठाया जाना चाहिए किन्तु स्त्री या बच्चे या अन्य जाति के व्यक्ति द्वारा नहीं। मनु (३।२५८) ने व्यवस्था दी है कि ब्राह्मणों के चले जाने के उपरान्त कर्ता को दक्षिण की ओर देखना चाहिए और पितरों से कल्याण की याचना करनी चाहिए (देखिए इस विषय में पुनः मनु (३।२५९), याज्ञ० (१।२४६), विष्णुध० सू० (७३।२८), मत्स्य० (१६।४९-५०)। आप० गृ० (२०।९), आप० ध० (२।७।१७।१६), मनु (३।२६४) एवं याज्ञ० (१।२४९) ने कहा है कि कर्ता श्राद्ध के लिए बने एवं शेष अंश को अपनी पत्नी, माता-पितृ-पक्ष के सम्बन्धियों के साथ यजुर्मन्त्र (आप० मन्त्रपाठ २।२०।२६) का उच्चारण (जीवन-श्वास में प्रवेश करते हुए मैं अमृत दे रहा हूँ; मेरी आत्मा अमरता के लिए ब्रह्म में प्रविष्ट हो गयी है) करके भोजन करता है। आप० गृ० एवं आप० ध० सू० (२।७।१७।१६) में आया है कि ब्राह्मणों को परोसने के उपरान्त कर्ता को शेषांश से एक कौर भोजन कर लेना चाहिए। व्यास एवं देवल का कथन है कि श्राद्ध के दिन कर्ता को उपवास नहीं करना चाहिए (भले ही वह साधारणतः ऐसा करता हो, जैसा कि एकादशी या शिवरात्रि में)। ब्रह्मवैवर्तपुराण ने एक मार्ग निकाला है कि कर्ता को श्राद्ध-भोजन का शेषांश सूँघ मात्र लेना चाहिए। इसके विवेचन के लिए देखिए हेमाद्रि (श्रा०, पृ०, १५१९-१५२१)। हेमाद्रि (पृ० १४८५) ने एक शिष्टाचार (जो आज भी किया जाता है) की ओर संकेत किया है कि कर्ता को आशीर्वचन मिल जाने के उपरान्त उसके पुत्र एवं पौत्र आदि को पिण्ड के रूप में स्थित पितरों की अभ्यर्थना करनी चाहिए। ब्राह्मणों को श्राद्ध की समाप्ति के उपरान्त खिलाये गये भोजन के गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। ब्राह्मणों को भोजन के अपने पात्रों में असावधानी से भोज्य पदार्थ छोड़-छाड़ कर नहीं बैठना चाहिए, प्रत्युत दूध, दही, मधु या यवान्न (सत्तू) को पूरा खाकर भोज्य का थोड़ा अंश छोड़ना चाहिए।

ठीक किस समय पिण्डदान करना चाहिए? इसके उत्तर में कई एक मत हैं। शांखा० गृ० (४।१।९), आश्व० गृ० (४।८।१२), शंख (१४।११), मनु (३।२६०-२६१), याज्ञ० (१।२४२) आदि के मत से जब श्राद्ध-भोजन ब्राह्मण समाप्त कर लेते हैं तो कर्ता पिण्डदान करता है। पिण्डों का निर्माण तिलमिश्रित भात से होता है और किसी स्वच्छ स्थल पर दर्भों के ऊपर पिण्ड रखे जाते हैं; ये पिण्ड उस स्थान से, जहाँ ब्राह्मणों के भोजन-पात्र रहते हैं, एक अरत्नि दूर रहते हैं और कर्ता दक्षिणाभिमुख रहता है। यहाँ पर भी दो मत हैं; (१) ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के उपरान्त आचमन करने के पूर्व पिण्डदान होता है (आश्व० गृ० ४।८।१२-१३; कात्यायनकृत श्राद्धसूत्र, कण्डिका ३), (२) ब्राह्मणों द्वारा मुख धो लेने एवं आचमन कर लेने के उपरान्त पिण्डदान होता है। अन्य मत यह है कि पिण्डदान आमन्त्रित ब्राह्मणों को सम्मान देने या अग्नौकरण के पश्चात् होता है और तब ब्राह्मण भोजन करते हैं। ब्रह्माण्डपुराण (उपोद्घात० १२।२४-२६) ने बलपूर्वक कहा है कि यही स्थिति ठीक है, जैसा कि बृहस्पति ने कहा है। विष्णुध० (७३।१५-२४) ने व्यवस्था दी है कि पितरों को तब पिण्ड देना चाहिए जब कि ब्राह्मण खा रहे हों। चौथा मत यह है कि (आप० गृ० २४।९, हिरण्यकेशि- गृ० २।१२।२-३) कर्ता को, जब ब्राह्मण खाकर जा चुके हों और जब वह उनका अनुसरण कर प्रदक्षिणा करके लौट आया हो, तब पिण्डदान करना चाहिए। इस प्रकार के मतभेदों के कारण हेमाद्रि एवं मदनपारिजात (पृ० ६००) का कहना है कि लोगों को अपनी शाखा की विधि का पालन करना चाहिए (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४०८)। हेमाद्रि ने जोड़ा है कि यदि किसी के गृह्यसूत्र में पिंडदान के काल का उल्लेख न हो तो उसे उस मत के अनुसार चलना चाहिए जो यह व्यवस्थित करता है कि ब्रह्म-भोज एवं आचमन के उपरान्त पिण्डदान करना चाहिए। श्राद्धप्रकाश (पृ० २४७) ने भी यही मत प्रकाशित किया है। प्रत्येक पिण्ड २५ दर्भों के ऊपर रखा जाता है। अपरार्क (याज्ञ० १।२४) का कथन है कि सभी दशाओं में (बिना किसी अपवाद के) पिण्डों को

दान उन पात्रों के पास होना चाहिए, जिनसे ब्राह्मणों को खिलाया जाता है, किन्तु हेमाद्रि का, जो कात्यायन के 'उच्छिष्टसन्निधौ' पर निर्भर है, कथन है कि यदि कर्ता आहिताग्नि है तो उसे अपना पिण्डदान पवित्र अग्नि के पास करना चाहिए, किन्तु यदि कर्ता यज्ञाग्नियाँ नहीं रखता तो उसे उन पात्रों के समक्ष, जिनसे ब्राह्मणों को खिलाया गया था, पिण्डदान करना चाहिए। श्राद्धसार (पृ० १६३) ने अत्रि को उद्धृत कर कहा है कि ब्रह्म-भोज के स्थान से तीन अरत्नियों की दूरी पर पिण्ड देने चाहिए और नवश्राद्धों आदि में पिण्डदान के पूर्व वैश्वदेव का सम्पादन होना चाहिए, किन्तु सांवत्सरिक श्राद्ध, महालय आदि में यह पिण्डदान के उपरान्त करना चाहिए (पृ० १६४)।

अमावास्या को किये जानेवाले श्राद्ध में **किन-किन पूर्व पुरुषों को पिण्ड देना चाहिए**? इस विषय में भी मतैक्य नहीं है। अधिकांश वैदिक ग्रन्थ पार्वण श्राद्ध के देवताओं के रूप में केवल तीन पूर्व पुरुषों की गणना करते हैं। ये तीनों अलग-अलग देवता हैं न कि सम्मिलित रूप में, जैसा कि आश्व० श्रौतसूत्र (२।६।१५) एवं विष्णुध० (७३। १३-१४) का कथन है। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—क्या प्राचीन काल में तीनों पितरों की पत्नियाँ, यथा—माता, मातामही एवं प्रमातामही अपने पतियों के साथ सम्मिलित थीं? क्या पार्वण में माता के पितर भी, यथा—नाना, परनाना एवं बड़े परनाना अपनी पत्नियों के साथ बुलाये जाते थे? वेदो एवं ब्राह्मणों में इन दोनों प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक हैं। देखिए तै० सं० (१।८।५।१), तै० ब्रा० (१।३।१० एवं २।६।१६), वाज० सं० (१९।३६-३७), श० ब्रा० (२।४।२।१६), जिनमें केवल पितरों एवं तीन पैतृक पूर्व-पुरुषों के ही नाम आये हैं। किन्तु वाज० सं० (९।१९) में पैतृक एवं मातृक, दोनों पूर्व-पुरुषों का स्पष्ट उल्लेख है (कात्यायन कृत श्राद्धसूत्र ३)। पार्वण में दोनों प्रकार के पूर्व पुरुषों को सम्मिलित रूप में बुलाने के विषय में अधिकांश सूत्र मौन हैं। देखिए आश्व० श्रौ० (२।६।१५); सुदर्शन (आप० गृ० ८।२१।२) का कहना है कि सूत्रकार एवं भाष्यकार ने मातामहश्राद्ध का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि दौहित्र (पुत्री के पुत्र) के लिए ऐसा करना आवश्यक नहीं है। कात्यायन (श्राद्धसूत्र, ३) ने पैतृक पितरों के लिए तीन पिण्डों एवं मातृक पितरों के लिए भी तीन पिण्डों के निर्माण की बात कही है। गोभिलस्मृति (३।७३) ने व्यवस्था दी है कि अन्वष्टका श्राद्ध प्रथम श्राद्ध (ग्यारहवें दिन), १६ श्राद्धों एवं वार्षिक श्राद्ध को छोड़कर अन्य श्राद्धों में छः पिण्डों का दान होना चाहिए। धौम्य (श्रा० प्र०, पृ० १४; स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ३३७) का कथन है कि जहाँ पैतृक पूर्वजों को पूजा जा रहा हो, मातामहों (मातृक पूर्व-पुरुषों) को भी सम्मानित करना चाहिए, किसी प्रकार का अन्तर प्रदर्शित नहीं करना चाहिए, यदि कर्ता विभेद करता है तो वह नरक में जाता है।[८९] विष्णुपुराण[९०], ब्रह्माण्डपुराण एवं वराहपुराण कहते हैं कि कुछ लोगों के मत से मातृक पूर्व-पुरुषों का श्राद्ध पृथक् रूप से करना चाहिए, और कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि पैतृक एवं मातृक पूर्वपुरुषों के लिए एक ही समय और एक ही श्राद्ध करना चाहिए। बृहस्पति (कल्पतरु, श्राद्ध, पृ० २०४) का कथन है कि श्राद्ध के लिए बने भोजन-पदार्थों से एवं तिल और मधु से अपनी गृह्यसूत्र-विधि के नियमों के अनुसार पिण्डों का निर्माण मातृ-पितृपक्षों के पूर्व-पुरुषों के लिए होना चाहिए। वराह० (१४। ४०-४१) में आया है कि पित्र्य ब्राह्मणों को सर्वप्रथम विदा देनी चाहिए, तब दैव ब्राह्मणों के साथ मातृक पितरों को

८९. पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा ध्रुवम्। अविशेषेण कर्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत्॥ धौम्य (श्रा० प्र०, पृ० १४; स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ३३७)।

९०. पृथक्तयोः केचिदाहुः श्राद्धस्य करणं नृप। एकत्रैकेन पाकेन वदन्त्यन्ये महर्षयः॥ विष्णुपुराण (३।१५।१७); पृथङ्मातामहानां तु केचिदिच्छन्ति मानवाः। त्रीन् पिण्डानानुपूर्व्येण सांगुष्ठान् पुष्टिवर्धनान्॥ ब्रह्माण्ड० (उपोद्घात पाद, ११।६१)। और देखिए वराहपुराण (१४।२२)।

और मातृ-पितरों के लिए पृथक् पिण्ड देने चाहिए (१४।३७)। कुछ लोगों का मत है कि पुत्रिकापुत्र (नियुक्त कन्या के पुत्र) या दौहित्र पुत्र को, जो नाना की सम्पत्ति का उत्तराधिकार पाता है, मातृ-पितरों के लिए पिण्डदान करना अनिवार्य है। बृहत्पराशर (अध्याय ५, पृ० १५३) ने इस विषय में कई मत दिये हैं। यह सम्भव है कि जब पुत्रों को गोद लेने की प्रथा कम प्रचलित हुई या सदा के लिए विलीन हो गयी तो पार्वण श्राद्ध में मातृ-पितर पित्र्य-पितरों के साथ ही संयुक्त हो गये।

पितरों की पत्नियाँ पुरुषों (पूर्व-पुरुषों) के साथ कब संयुक्त हुईं ? इस प्रश्न का उत्तर सन्तोषप्रद ढंग से नहीं दिया जा सकता। प्रस्तुत वैदिक साहित्य में पितामही का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु यह निश्चित है कि पूर्व-पुरुषों की पत्नियाँ सूत्र-काल में अपने पतियों के साथ सम्बन्धित हो गयीं। उदाहरणार्थ हिरण्यकेशि-गृ० (२।१०) ने कृष्ण पक्ष के मासिक श्राद्ध में माता, मातामही एवं प्रमातामही को उनके पतियों के साथ सम्बन्धित कर रखा है। इसी प्रकार बौधा० गृ० (२।११-३४) ने अष्टका श्राद्ध में न-केवल मातृ-पक्ष के पितरों को पितृपक्ष के पितरों के साथ रखा है, प्रत्युत उनकी पत्नियों को भी साथ रखा है। आप० मन्त्रपाठ (२।१९।२-७) में पूर्व-पुरुषों एवं उनकी पत्नियों के लिए भी मन्त्रों की योजना आयी है।[९१] शांखा० गृ० (४।१।११) ने व्यवस्था दी है कि पितृपक्ष के पितरों के पिण्डों के पश्चात् ही कर्ता को उनकी पत्नियों के पिण्ड रखने चाहिए; दोनों प्रकार के पिण्डों के बीच कुछ रख देना चाहिए, जिस पर भाष्यकार ने लिखा है कि दोनों के मध्य में दर्भ रख देना चाहिए। कौशिकसूत्र (८८।१२) का कथन है कि पूर्व-पुरुषों के पिण्डों के दक्षिण की ओर उनकी पत्नियों के पिण्ड रखे जाने चाहिए। आश्व० गृ० (२।५।४-५) ने अन्वष्टक्य कृत्य के विषय में चर्चा करते हुए कहा है कि उबाले हुए चावल के मण्ड (माँड़) के साथ पितरों की पत्नियों को पिण्ड देना चाहिए। वैखानसस्मार्तसूत्र (४।७) ने पिण्डपितृयज्ञ के कृत्य का वर्णन (४।५-६) करके टिप्पणी की है कि इसमें और सामान्य मासिक श्राद्ध में अन्तर यह है कि दूसरे (मासिक श्राद्ध) में पितरों की पत्नियों को भी पिण्ड दिया जाता है। पितरों की पत्नियों के लिए पिण्डदान का प्रचलन समयानुसार विकसित हुआ है और ऐसा स्वाभाविक भी था। कुछ स्मृतियों ने पार्वण श्राद्ध में पितरों की पत्नियों को रखने पर बल दिया है। शातातप में आया है—'सपिण्डीकरण के उपरान्त पितरों को जो दिया जाता है उसमें सभी स्थानों पर माता आती है। अन्वष्टका कृत्या, वृद्धि श्राद्ध, गया में एवं उसकी वार्षिक श्राद्ध-क्रिया में माता का अलग से श्राद्ध किया जा सकता है, किन्तु अन्य विषयों में उसके पति के साथ ही उसका श्राद्ध होता है' (श्रा० प्र०, पृ० ९, स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ३६९)। बृहस्पति में ऐसा आया है कि माता अपने पति (कर्ता के पिता) के साथ श्राद्ध ग्रहण करती है और यही नियम पितामही एवं प्रपितामही के लिए भी लागू है (स्मृतिच०, श्राद्ध, पृ० ३६९; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० ९९ एवं श्रा० प्र०, पृ० ९)। कल्पतरु एवं अन्यों का कथन है कि पितरों की पत्नियाँ पार्वण श्राद्ध में देवता नहीं हैं, वे केवल पितरों के पास आनेवाला वायव्य भोजन पाती हैं (श्रा० प्र०, पृ० ९-१०)। हेमाद्रि एवं अन्य दक्षिणी लेखकों का कथन है कि माता एवं अन्य स्त्री-पूर्वजाएँ पार्वण श्राद्ध के देवताओं में आती हैं, किन्तु विमाता नहीं। इस विषय में मतैक्य नहीं है कि 'माता', 'पितामही', 'प्रपितामही' शब्दों में उनकी सौतें (सपत्नियाँ) आती हैं कि नहीं। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० ९७-१०४) में इस पर लम्बा विवेचन पाया जाता है। एक मत से विमाता, पितामही की सौत एवं प्रपितामही की सौत एक साथ आती हैं, किन्तु हेमाद्रि के मत से केवल वास्तविक माता, पितामही एवं प्रपितामही ही आती हैं, किन्तु महालय श्राद्ध या गयाश्राद्ध जैसे अवसरों पर सभी आती हैं।

९१. मार्जयन्तां मम पितरो मार्जयन्तां मम पितामहा मार्जयन्तां मम प्रपितामहाः। मार्जयन्तां मम मातरो मार्जयन्तां मम पितामह्यो मार्जयन्तां मम प्रपितामह्यः। आप० म० पा० (२।१९।२-७)।

पिण्डदान संबन्धी मन्त्रपाठ के विषय में भी अति प्राचीन काल से कुछ मत-मतान्तर हैं। पूर्व-पुरुष को पिण्ड नाम, गोत्र एवं कर्ता-संबंध कहकर दिया जाता है।[९२] कुछ लेखकों के मत से पिण्डदान का रूप यह है—'हे पिता, यह तुम्हारे लिए है, अमुक नाम....अमुक गोत्र वाले।' तै० सं० (१।८।५।१) एवं आप० मन्त्रपाठ (२।१०।१३) आदि ने निम्न और जोड़ दिया है—'और उनके लिए भी जो तुम्हारे पश्चात् आते हैं (ये च त्वामनु)'[९३] गोभिलगृ० (४।३।६) एवं खादिरगृ० (३।५।१७) में सूत्र और लम्बा है—'हे पिता, यह पिण्ड तुम्हारे लिए है और उनके लिए जो तुम्हारे पश्चात् आते हैं और उनके लिए जिनके पश्चात् तुम आते हो।[९४] तुम्हें स्वधा।' भारद्वाज गृ० (२।१२) ने कुछ परिवर्तन किया है (यांश्च त्वमत्रान्वसि ये च त्वामनु)। यह हमने पहले ही देख लिया है कि शतपथब्राह्मण ने तै० सं० के वचन का अनुमोदन नहीं किया है। उसने तर्क यह दिया है कि जब पुत्र अपने पिता को पिण्ड देते हुए कहता है कि 'यह तुम्हारा है और उनका भी जो तुम्हारे पश्चात् आते हैं', तो वह इसमें अपने को भी सम्मिलित कर लेता है, जो अशुभ है। गोभिलगृ० (४।३।१०-११; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४४३ एवं श्रा० प्र०, पृ० २६०) ने व्यवस्था दी है कि जब कर्ता अपने पितरों के नाम नहीं जानता है तो उसे प्रथम पिण्ड 'पृथिवी पर रहने वाले पितरों को स्वधा' कहकर रखना चाहिए, दूसरा पिण्ड उनको जो वायु में निवास करते हैं 'स्वधा' यह कहकर और तीसरा पिण्ड 'स्वर्ग में रहनेवाले पितरों को स्वधा' कहकर रखना चाहिए और मन्द स्वर से उसे यह कहना चाहिए—'हे पितर, यहाँ आनन्द मनाओ और अपने-अपने भाग पर जुट जाओ।' और देखिए ऐसी ही व्यवस्था के लिए यम (कल्पतरु, श्रा०, पृ० २०३)। विष्णुध० सू० (७३।१७-१९) में भी ऐसा ही है और मन्त्र हैं क्रम से 'पृथिवी दर्विरक्षिता', 'अन्तरिक्षं दर्विरक्षिता' एवं 'द्यौर्दर्विरक्षिता।' मेधातिथि (मनु ३।१९४) ने आश्व० श्रौ० आदि का अनुसरण करते हुए कहा है कि यदि पितरों के नाम न ज्ञात हों तो केवल ऐसा कहना चाहिए—'हे पिता, पितामह आदि।' यदि गोत्र न ज्ञात हो तो 'कश्यप' गोत्र का प्रयोग करना चाहिए।[९५]

९२. अर्घदानेऽथ संकल्पे पिण्डदाने तथा क्षये। गोत्रसम्बन्धनामानि यथावत्प्रतिपादयेत् ॥ पारस्कर० (अपरार्क, पृ० ५०६; हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४३४; श्रा० प्र०, पृ० २५८)। सूत्र इस प्रकार का है—'अमुकगोत्रास्मत्पितरमुकशर्मन् एतत्तेऽन्नं (या ते पिण्डः) स्वधा नम इदममुकगोत्रायास्मत्पित्रे अमुकशर्मणे न ममेति' (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४३६) किन्तु यह सूत्र केवल वाजसनेयियों के लिए हैं।

९३. एतत्ते ततासौ ये च त्वामनु, एतत्ते पितामहासौ ये च त्वामनु, एतत्ते प्रपितामह ये च त्वामनु। आप० म० पा० (२।२०।१३)।

९४. असाववनेनिक्ष्व ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति। गोभिल गृ० (३।३।६) एवं खादिर गृ० (३।५।१७)। टोडरानन्द (श्राद्धसौख्य) ने यजुर्वेद एवं सामवेद के अनुयायियों के लिए निम्न सूत्र दिये हैं—'अमुक-गोत्र पितरमुकशर्मन्नेतत्तेऽन्नं स्वधेति यजुर्वेदिनामुत्सर्गवाक्यम्। अमुकसगोत्र पितरमुकदेवशर्मन्नेतत्तेऽन्नं ये चात्र त्वामनु यांश्च त्वमनु तस्मै ते स्वधेति छन्दोगानाम्। मिलाइए श्राद्धतत्त्व (पृ० ४३७) एवं श्राद्धक्रियाकौमुदी (पृ० ७०)।

९५. गोत्राज्ञानेप्याह व्याघ्रपादः—गोत्रनाशे तु कश्यपः—इति। गोत्राज्ञाने कश्यपगोत्रग्रहणं कर्तव्यम्। कश्यप-सगोत्रस्य सर्वसाधारणत्वात्। तथा च स्मृतिः। तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति। स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४८१)। और देखिए इन्हीं बातों के लिए श्रा० प्र० (पृ० २६०)। शूद्रकमलाकर (पृ० ४९) का कथन है—'यद्यपि तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति शतपथश्रुतेः....कश्यपं गोत्रमस्ति तथापि श्राद्ध एव तत्।' 'सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः'—ये शब्द शतपथब्राह्मण (७।५।१।५) के हैं।

पिण्डों के विषय में कुछ बातें यहाँ पर (आगे के संकेतों के लिए) कह दी जा रही हैं। पिण्डों के आकार के विषय में अधिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मरीचि (अपरार्क, पृ० ५०७) ने व्यवस्था दी है कि **पार्वण श्राद्ध** में पिण्ड का आकार हरे **आमलक** जैसा होना चाहिए, **एकोद्दिष्ट** में आकार **बिल्व** (बेल) के बराबर होना चाहिए, किन्तु आशौच के काल में प्रति दिन दिये जानेवाले पिण्ड का आकार (नवश्राद्धों में) उपर्युक्त आकार से अपेक्षाकृत बड़ा होना चाहिए। स्कन्द० (७।१।२०६, स्मृति च०, श्रा०, पृ० ४७५) में आया है कि पिण्ड इतना बड़ा होना चाहिए कि दो वर्ष का बछड़ा बड़ी सरलता से उसे अपने मुख में ले ले। अंगिरा (स्मृतिच०, पृ० ४७५ एवं हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४२९) ने व्यवस्था दी है कि पिण्ड का आकार **कपित्थ** या **बिल्व** या मुर्गी के **अण्डे** या **आमलक** या **बदर** फल के समान होना चाहिए। मैत्रायणीय-सूत्र (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४३०; श्रा० प्र०, पृ० २५७) के अनुसार पितामह का पिण्ड पिता के पिण्ड से बड़ा और तीनों पिण्डों के मध्य में (आकार में) होना चाहिए और प्रपितामह का सब से बड़ा होना चाहिए। दूसरा प्रश्न यह है कि पिण्ड किस पदार्थ का होना चाहिए। यदि पिण्ड **अग्नौकरण** के पूर्व दिये जायँ तो उन्हें पक्व चावल (भात या चरु) से बनाना चाहिए। यदि वे अग्नौकरण के पश्चात् दिये जायँ तो (अग्नौकरण के पश्चात् के शेषांश से) पके भोजन में तिल मिलाकर उन्हें बनाना चाहिए (याज्ञ० १।२४२)। यदि ब्रह्म-भोज के उपरान्त पिण्डों का अर्पण हो तो उनका निर्माण ब्रह्म-भोज से बचे पक्व भोजन से होना चाहिए और उसमें भात मिलाकर अग्नौकरण के लिए आहुति बनानी चाहिए, जैसा कि कात्यायन के श्राद्धसूत्र (३) में आया है। मत्स्यपुराण (१६।४५-४६) के मत से पिण्डों को गोमूत्र एवं गोबर-मिश्रित जल से लिपे-पुते स्थान में दर्भों पर रखना चाहिए। देवल, ब्रह्माण्डपुराण एवं भविष्यपुराण में आया है कि भूमि पर चार अंगुल ऊँची एवं एक हाथ चौड़ी तथा वृत्ताकार या वर्गाकार बालुकावेदिका बनानी चाहिए, उसे उन पात्रों के समीप बनाना चाहिए जिनसे ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता है और उस पर दर्भ रखकर पिण्ड रखे जाने चाहिए। वायुपुराण का कथन है कि वेदिका या भूमि पर एक दर्भ की जड़ से निम्नलिखित मन्त्रों के साथ एक रेखा खींचनी चाहिए---'जो अशुद्ध है उसका मैं नाश करता हूँ, मैंने सभी असुर, दानव, राक्षस, यक्ष, पिशाच, गुह्यक एवं यातुधानों को मार डाला है, (सभी असुरों एवं राक्षसों को, जो वेदिका पर बैठे हैं) मार डालो' (७५।४५-४६)। आप० श्रौ० (१।१०।२) मनु (३।२१७), विष्णुध० (७३।१७-१९), यम (हेमाद्रि, पृ० १४४०) कल्पतरु (श्रा०, पृ० २०३), महार्णवप्रकाश (हेमाद्रि में उद्धृत), हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १४४०-४२) एवं श्रा० प्र० (पृ० २६६-२६७) में छः ऋतुओं, 'नमो वः पितरो' (वाज० सं० २।३२) के साथ पितरों के लिए नमस्कार और प्रत्येक पिण्ड रखते समय तीन मन्त्र बोलने की ओर संकेत किया गया है। कुछ लोगों के मत से ऋतुओं को 'रस', 'शोष' एवं अन्य चार शब्दों (वाज० सं० २।३२) के समान कहा गया है और कुछ लोगों के मत से ऋतुओं की अभ्यर्थना एवं पितरों के नमस्कार में अन्तर है। शौनकाथर्वणश्राद्ध-कल्प में पिण्डार्पण का क्रम उलट दिया गया है, अर्थात् पहले प्रपितामह को, तब पितामह को और अन्त में पिता को (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १४४२)। आप० श्रौ० (१।९।४) ने 'पितामहप्रभृतीन् वा' में इस विधि की ओर संकेत किया है।

पिण्डों की प्रतिपत्ति के विषय में भी कई एक मत हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वाज० सं० (११।३३) एवं अन्य सूत्रों ने ऐसी व्यवस्था दी है कि मध्य का (तीन पिण्डों में बीच का) पिण्ड कर्ता की पत्नी द्वारा खाया जाना चाहिए, यदि वह पुत्र की इच्छा रखती हो। मनु (३।२६२-२६३) ने भी कहा है कि **धर्मपत्नी** (सवर्ण पत्नी, जिसका विवाह अन्य असवर्ण पत्नियों से पहले हुआ है) को 'आधत्त पितरो गर्भम्' मंत्र के साथ मध्यम पिण्ड खा लेना चाहिए, तब वह ऐसा पुत्र पाती है जो लम्बी आयु वाला, यशस्वी, मेधावी, सम्पत्तिमान्, सन्ततिमान्, साधुचरण एवं सत् चित्त वाला होता है। यही नियम लघु-आश्वलायन (२३।८३), कूर्म० (२।२।७१), मत्स्य० (१६।५२), वायु० (७६।३१), विष्णुधर्मोत्तर० (१।१७१-१७८ एवं २२०।१४९), पद्म० (सृष्टि० ९।१२१) आदि पुराणों में भी पाया

जाता है। सामान्य पिण्डों के विषय में आश्व० श्रौ० (२।७।१४-१७) का कथन है कि मध्यम के अतिरिक्त अन्य पिण्डों को जल में या अग्नि में डाल देना चाहिए या ऐसा व्यक्ति उन्हें खा सकता है जिसे भोजन से अरुचि उत्पन्न हो गयी हो, या उसे असाध्य रोगों (राजयक्ष्मा या कोढ़) से पीड़ित लोग खा सकते हैं, जो या तो अच्छे हो जाते हैं या मर जाते हैं। गोभिलगृ० (४।३।३१-३४) ने व्यवस्था दी है कि पिण्डों को जल में या अग्नि में छोड़ देना चाहिए या किसी ब्राह्मण या गाय को खाने के लिए दे देना चाहिए। मनु (३।२६०-२६१) का भी यही कथन है किन्तु उसने इतना जोड़ दिया है कि वे किसी बकरी को भी खाने को दिये जा सकते हैं और पक्षियों को भी दिये जा सकते हैं, जैसी कि कुछ अन्य लोगों ने अनुमति दी है। याज्ञ० (१।२५७), मत्स्य० (१६।५२-५३) एवं पद्म० (सृष्टि०, ९।१२०) ने भी उपर्युक्त पिण्ड-प्रतिपत्ति की पाँच विधियाँ दी हैं, किन्तु पद्म० ने यह भी जोड़ दिया है कि वे किसी भूमि-रूह पर भी रखे जा सकते हैं।[96] वराहपुराण (१९०-१२१) का कथन है कि कर्ता को प्रथम पिण्ड स्वयं खा जाना चाहिए और मध्य वाला अपनी पत्नी को दे देना चाहिए और तीसरे को जल में डाल देना चाहिए।[97] अनुशासन० (१२५।२५।२६) ने व्यवस्था दी है कि प्रथम और तृतीय पिंड जल या अग्नि में छोड़ देना चाहिए और द्वितीय पत्नी द्वारा खा डाला जाना चाहिए। बृहस्पति (स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४८६ एवं कल्पतरु, श्रा०, पृ० २२४) ने कहा है कि यदि पत्नी किसी रोग से पीड़ित हो या गर्भवती हो या किसी अन्य स्थान में हो, तो मध्यम पिंड किसी बैल या बकरी को खाने के लिए दे देना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर (१।१४१।८) में आया है कि यदि श्राद्ध का संपादन तीर्थ में हो तो पिंडों को पवित्र जल में छोड़ देना चाहिए। अनुशासन (११५।३८-४०) तथा वायु० (७६।३२-३४) एवं ब्रह्म० (२२०।१५०-१५२) जैसे पुराणों ने पिण्ड-प्रतिपत्ति से उत्पन्न फलों की चर्चा की है, यथा—गायों को पिण्ड खिलाने से सुन्दर लोगों की, जल में डालने से मेधा एवं यश की तथा पक्षी आदि को देने से दीर्घ आयु की प्राप्ति होती है। ब्रह्माण्ड० (उपोद्घात, १२।३१-३५) का कथन है कि गायों को देने से सर्वोत्तम वर्ण या रंग, मुर्गों को देने से सुकुमारता एवं कौओं को देने से दीर्घ जीवन की प्राप्ति होती है। यह ज्ञातव्य है कि सभी श्राद्धों में चावल (भात) या आटे के पिंड दिये जाने चाहिए। श्राद्धकल्पलता (पृ० ८६-८९) में उन श्राद्धों के विषय में लम्बा विवेचन उपस्थित किया गया है जिनमें भोजन का पिंड-दान निषिद्ध है। उदाहरणार्थ, पुलस्त्य के मत स दोनों अयनों के दिनों पर, विषुवीय दिनों पर, किसी संक्रान्ति पर पिंड नहीं दिये जाने चाहिए और इसी प्रकार, यदि व्यक्ति पुत्रों तथा धन की इच्छा रखता है, तो उसे एकादशी, त्रयोदशी, मघा एवं कृत्तिका नक्षत्रों के श्राद्धों में पिंड-दान नहीं करना चाहिए।

श्राद्ध के प्रमुख विषय के बारे में तीन मत प्रतिपादित किये जाते हैं, जैसे—कुछ लोगों (यथा गोविन्दराज) का कथन है कि श्राद्ध में प्रमुख विषय या वस्तु या प्रधान कर्म ब्राह्मण-भोजन है और इस कथन के लिए वे मनु० (३।१२९) के निम्न लिखित वचन को उद्धृत करते हैं—'देवों एवं पितरों के कृत्य में वेदज्ञान-शून्य ब्राह्मणों की अपेक्षा एक ही विद्वान् ब्राह्मण को भोजन कराया जा सकता है; ऐसा करने से कर्ता को अधिक फल प्राप्त होता

९६. पिण्डांस्तु गोऽजविप्रेभ्यो दद्यादग्नौ जलेऽपि वा। वप्रान्ते वाथ विकिरेद्वापोभिरथ वाहयेत्॥ पद्म० (सृष्टि०, ९।१२०); अपरार्क (पृ० ५५०) एवं हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १५०४)। पक्षियों को पिंड खिलाने की जो अनुमति दी गयी है वह स्वाभाविक ही है, क्योंकि ऐसा विश्वास किया गया था कि पितर लोग पक्षियों के रूप में विचरण किया करते हैं। और देखिए कूर्म० (२।२२।८३)।

९७. भक्षयेत् प्रथमं पिण्डं पत्न्यै देयं तु मध्यमम्। तृतीयमुदके दद्याच्छ्राद्ध एवं विधिः स्मृतः॥ वराह० (१९०।१२१)।

है।[98] यहाँ श्राद्धकर्म का फल विद्वान् ब्राह्मण के भोजन कराने से संबंधित है। इस विषय में देखिए जैमिनि (४।१४।१९) की पूर्व मीमांसा द्वारा उपस्थापित न्याय और वेदान्त पर शांकरभाष्य (२।१।१४) और जैमिनी (४।४।२९-३८)—'जो किसी कृत्य की समीपता में वर्णित होता है उससे फल की प्राप्ति तो होती है किन्तु कोई विशिष्ट फल नहीं मिलता, किन्तु वह घोषित फल का अंग मात्र होता है।' कुछ श्राद्धों में पिण्डदान नहीं होता, यथा आमश्राद्ध तथा उन श्राद्धों में जो युगादि दिनों में किये जाते हैं।[99] कर्क जैसे लोगों का कथन है कि श्राद्ध में पिण्डदान ही मुख्य विषय है। वे इस तथ्य पर निर्भर हैं कि गया में पिण्डदान ही मुख्य विषय है, और विष्णुधर्मसूत्र (७८।५२-५३ एवं ८५।६५—६६), वराह० (१३।५०), विष्णुपुराण (३।१४।२२-२३), ब्रह्म० (२२०।३१-३२), विष्णुधर्मोत्तर० (१।१४५।३—४) के आधार पर कहते हैं कि पितरों की ऐसी उत्कट इच्छा होती है कि उन्हें कोई पुत्र हो जो गया या पवित्र नदियों आदि पर उनके पिण्डदान करे। इस मत की पुष्टि में यह बात भी कही गयी है। कि पुत्रोत्पत्ति पर किये गये श्राद्ध में तथा सत् शूद्र द्वारा किये गये श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन निषिद्ध है। एक तीसरा मत यह है कि श्राद्ध में ब्राह्मणभोजन एवं पिण्डदान दोनों प्रमुख विषय हैं। गोभिलस्मृति (३।१६०-१६३) ने भी इस तीसरे मत का समर्थन किया है। उन विषयों में जहाँ 'श्राद्ध' शब्द प्रयुक्त होता है और जहाँ ब्राह्मणभोजन एवं पिण्डदान नहीं होता, यथा—देवश्राद्ध में, वहाँ यह शब्द केवल गौण अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। देखिए हेमाद्रि (श्रा०, पृ०१५७-१६०)। धर्मप्रदीप में कहा गया है कि यजुर्वेद के अनुयायियों (वाजसनेयियों) में पिण्डों का दान ही प्रमुख है, ऋग्वेद के अनुयायियों में ब्राह्मणभोजन तथा सामवेद के अनुयायियों में दोनों प्रमुख विषय माने जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि श्राद्ध के दो स्वरूप हैं; यह याग (यज्ञ) है और दान भी। हरदत्त, हेमाद्रि, कपर्दी आदि, ऐसा प्रतीत होता है, भोजन, पिण्डदान एवं अग्नौकरण तीनों को प्रमुख मानते हैं। देखिए संस्काररत्नमाला (पृ०१००३)।

सपिण्ड-सम्बन्ध सात पीढ़ियों तक होता है, जैसी कि मत्स्य० (१३।२९) की एक प्रसिद्ध उक्ति है; 'चौथी पीढ़ी से (कर्ता के प्रपितामह के पिता, पितामह एवं प्रपितामह) पितर लोग लेपभाजः (श्राद्धकर्ता के हाथ में लगे पिण्डावशेषों के भागी) होते हैं; (पिण्डकर्ता के) पिता, पितामह एवं प्रपितामह पिण्ड पाते हैं; पिण्डकर्ता सातवाँ होता है।'[100] साप्तपौरुष सम्बन्ध के विषय में मार्कण्डेय० (२८।४-५) में भी उल्लेख है।[101] और देखिए ब्रह्म० (२२०।८४-८६)। मनु (३।२१६) ने व्यवस्था दी है कि कर्ता को दर्भों पर तीन पिण्ड रखने चाहिए और तब हाथ में लगे भोजनावशेष एवं जल को दर्भों की जड़ से (जिन पर पिण्ड रखे हुए थे) हटाना चाहिए। यह झाड़न उनके लिए होता है जो लेपभागी (प्रपितामह

९८. पुष्कलं फलमाप्नोतीत्यभिधानाद् ब्राह्मणस्य भोजनमत्र प्रधानम् पिण्डदानादि त्वंगमित्यवसीयते। गोविन्दराज (मनु० ३।१२९)। कुल्लूक ने भी इस मत के लिए यही श्लोक उद्धृत किया है।

९९. तथा च पुलस्त्यः। अयनद्वितये श्राद्धं विषुवद्द्वितये तथा। युगादिषु च सर्वासु पिण्डनिर्वपणादृते ॥ इति। कर्तव्यमिति शेषः। स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ३६९)। और देखिए हेमाद्रि (श्रा०, पृ० ३३४-३३६)।

१००. लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः। पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥ मत्स्य० (१८।२९)। ये ही पद्य पद्म० (सृष्टिखंड १०।३४-३५) में भी आये हैं, जिसमें 'सपिण्डाः सप्तपूरुषाः' पाठ है। और देखिए अपरार्क (पृ० ५०७)। मत्स्य० (१६।३८) में पुनः आया है—तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम्।

१०१. लेपसम्बन्धिनश्चान्ये पितामहपितामहात्। प्रभृत्युक्तास्त्रयस्तेषां यजमानश्च सप्तमः। इत्येवं मुनिभिः प्रोक्तः सम्बन्धः साप्तपौरुषः ॥ मार्कण्डेय० (२८।४-५)। देखिए दायभाग (११।४१), जिसने मृत्यु से उत्पन्न आशौच से इसे सम्बन्धित किया है।

से आगे के तीन पूर्व-पुरुष) कहलाते हैं।[102] ऐसी ही व्यवस्था विष्णुधर्मसूत्र (७३।२२), वराहपुराण (१४।३६), गरुड़पुराण (आचारखण्ड २१८।२४) एवं कूर्मपुराण (२।२२।५२) में भी दी हुई है। मेधातिथि (मनु ३।२१६) का कथन है कि यदि हाँथ में भोजन एवं जल न भी लगा हो तब भी कर्ता दर्भों (जिन पर प्रथम पिण्ड रखा गया था) की जड़ों से हाथ पोंछता है। श्राद्धकल्पलता (पृ० १४) में उद्धृत देवल के कथन से एक विशिष्ट नियम यह ज्ञात होता है कि यदि पिता या माता बलवश या स्वेच्छा से म्लेच्छ हो जायँ तो उनके लिए आशौच नहीं लगता और उनके लिए श्राद्ध नहीं किया जाता तथा पिता के लिए दिये जानेवाले तीन पिण्डों के लिए विष्णु का नाम लिया जाना चाहिए।

प्रसिद्ध लेखकों के मन में एक प्रश्न उठता रहा है कि क्या आह्निक वैश्वदेव श्राद्धकर्म प्रारम्भ होने के पूर्व करना चाहिए या उसके पश्चात्। इस विषय में हमें स्मरण रखना होगा कि कुछ ग्रन्थों में आया है कि देवों की अपेक्षा पितर लोग पूर्व महत्त्व रखते हैं।[103] मनु (३।२६५) का कथन है कि ब्राह्मणों के प्रस्थान के उपरान्त श्राद्धकर्ता को गृहबलि (प्रति दिन किया जानेवाला अन्न-अर्पण) करनी चाहिए, क्योंकि यही धर्मव्यवस्था है। मेधातिथि ने व्याख्या की है कि 'बलि' शब्द केवल प्रदर्शन या उदाहरण मात्र है।[104] मत्स्य० (१७।६१), वराह० (१४।४३), स्कन्द० (७।१।२६६।१०१-१०२), देवल, कार्ष्णाजिनि आदि का कथन है कि पितरों के कृत्य के उपरान्त वैश्वदेव करना चाहिए। जब श्राद्ध-कृत्य के उपरान्त वैश्वदेव किया जाता है तो वह उस भोजन से किया जाता है जो श्राद्ध-भोजन के उपरान्त शेष रहता है। किन्तु हेमाद्रि (पृ० १०५८-१०६४) ने एक लम्बा विवेचन उपस्थित किया है और निम्न निष्कर्ष निकाले हैं। आहिताग्नि के विषय में वैश्वदेव श्राद्ध के पूर्व करना चाहिए; केवल मृत्यु के उपरान्त ११वें दिन के श्राद्ध को छोड़कर। किन्तु अन्य लोगों (जिन्होंने अग्न्याधान नहीं किया है) के लिए वैश्वदेव के विषय में तीन विकल्प हैं, यथा—अग्नौकरण के पश्चात् या विकिर (उनके लिए दर्भों पर भोजन छिड़कना जो बिना संस्कारों के मृत हो गये हैं) के पश्चात् या श्राद्ध-समाप्ति के उपरान्त ब्राह्मणों के चले जाने के पश्चात् (पृ० १०६४)। यदि वैश्वदेव श्राद्ध के पूर्व या उसके मध्य में किया जाय तो वैश्वदेव एवं श्राद्ध के लिए पृथक्-पृथक् भोजन बनना चाहिए। सभी के लिए, चाहे वे साग्निक हों अथवा अनग्निक, यदि वैश्वदेव श्राद्धकर्म के पश्चात् हो तो उसका सम्पादन श्राद्ध-कर्म से बचे भोजन से ही किया जाना चाहिए। पैठीनसि जैसे ऋषियों ने प्रतिपादित किया है कि श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन देने के पूर्व श्राद्ध-भोजन द्वारा वैश्वदेव कभी नहीं करना चाहिए, अर्थात् यदि वही भोजन ब्राह्मणभोजन के लिए बना हो तो वैश्वदेव श्राद्ध के उपरान्त ही करना चाहिए।[105] निर्णयसिन्धु (३, पृ० ४५९) का कथन है कि स्मृतियों में अधिकांश ने वैश्वदेव का सम्पादन श्राद्ध के उपरान्त माना है और यही बात बहुत-से टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने भी कही है (यथा मेधातिथि एवं स्मृतिरत्नावली)। अतः सभी को श्राद्ध-समाप्ति के उपरान्त वैश्वदेव करना चाहिए।

१०२. न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम्। तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम्॥ मनु (३।२१६)। अन्तिम आधा मत्स्य० (१६।३८) में भी आया है।

१०३ देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते। मनु (३।२०३); ब्रह्माण्ड० (उपोद्घातपाद, १०।१०४); मत्स्य० (१५।४०) एवं वायु० (७३।५५)।

१०४. ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः। मनु (३।२६५)। मेधातिथि की व्याख्या यों है—'ततो गृहबलिं निष्पन्ने श्राद्धकर्मण्यनन्तरं वैश्वदेवहोमान्वाहिकातिथ्यादिभोजनं कर्तव्यम्। बलिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्।'

१०५. पितृणामनिवेद्य तस्मादन्नाद्वैश्वदेवादिकमपि न कार्यम्। तथा च पैठीनसिः। पितृपाकात्समुद्धृत्य वैश्वदेवं करोति यः। आसुरं तद् भवेच्छ्राद्धं पितृणां नोपतिष्ठते॥ स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४१०)।

अब हमें यह देखना आवश्यक है कि आजकल पार्वण-श्राद्ध किस प्रकार किया जाता है। आधुनिक काल में इसके कई प्रकार हैं। भारत के विभिन्न भागों में इसके विस्तार में भिन्नता पायी जाती है। इस प्रकार की भिन्नता के कई कारण हैं; कर्ता किसी वेद या किसी वेद-शाखा का अनुयायी हो सकता है, किसी प्रसिद्ध लेखक को मान्यता दी जा सकती है, कर्ता वैष्णव है या शैव, क्योंकि इसके अनुसार भी बहुत-सी बातें जुड़ गयी हैं। हम इन विभिन्नताओं की चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। हमने ऊपर देख लिया है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं सूत्रों के काल में पार्वण श्राद्ध बहुत सरल था। उन दिनों पार्वण-श्राद्ध में विश्वेदेवों की पूजा के विषय में या मातृपक्ष के पूर्व-पुरुषों या पितरों की पत्नियों के विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु कालान्तर में इनकी परिगणना हो गयी और याज्ञवल्क्यस्मृति के काल में विश्वेदेवों के लिए एक विशिष्ट आवाहन की प्रथा बँध गयी। किन्तु ये सब इस स्मृति के समय तक कई कोटियों में नहीं विभाजित हो सके थे। स्मृति-काल में विभिन्न श्राद्धों के लिए विभिन्न विश्वेदेवों की कोटियाँ प्रतिष्ठापित हो गयीं। श्राद्ध-कृत्य के लिए पुराणों ने कतिपय पौराणिक मन्त्रों की निर्धारणा कर दी, यथा—'आगच्छन्तु' एवं 'देवताभ्यः पितृभ्यश्च'। और भी, आगे चलकर पूर्वमीमांसा का सिद्धान्त भी प्रतिपादित हो गया कि विभिन्न शाखाओं एवं सूत्रों में वर्णित सभी कृत्य एक ही हैं और किसी भी शाखा या सूत्र से कुछ भी लिया जा सकता है, यदि वह अपनी शाखा या सूत्र के विरोध में नहीं पड़ता है। इस सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ कि श्राद्ध-कृत्यों में सभी कुछ सम्मिलित-सा हो गया और सम्पूर्ण विधि विशद हो गयी। एक साधारण परिवर्तन से क्या अन्तर उत्पन्न हो सकता है, इसे हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। मिथिला में पार्वण-श्राद्ध के लिए दरिद्र लोग भी (गाँवों में) ११ ब्राह्मणों को आमन्त्रित करते हैं, किन्तु एक विद्वान् ब्राह्मण का मिलना, जिसे **पात्र** या **महापात्र** कहा जाता है, दुष्कर हो जाया करता है। ऐसी स्थिति में, जब कि **महापात्र** या **पात्र** ब्राह्मण नहीं मिलता, श्राद्ध को **अपात्रक-पार्वण श्राद्ध** (जिसके लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है) कहा जाता है। वह श्राद्ध **सपात्रक-पार्वण श्राद्ध** से कतिपय ऐसी बातों में भिन्न कहा जाता है, जिनमें दो (वाजसनेयी लोगों के विषय में) यहाँ दी जा रही हैं। यद्यपि कात्यायन के श्राद्धसूत्र ने (कण्डिका ३ के अन्त में), जो वाजसनेयियों में प्रामाणिक माना जाता है, उद्घोषित किया है कि श्राद्ध के अन्त में 'वाजे वाजे' (वाज० सं० ९।१८) के साथ ब्राह्मणों को विदा देनी चाहिए और कर्ता को 'आ मा वाजस्य' (वाज० सं० ९।१९) मन्त्र के साथ ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करनी चाहिए, किन्तु आजकल मिथिला के शिष्ट लोग, जैसा कि 'श्राद्धरत्न' के सम्पादक ने लिखा है, **अपात्रक-पार्वण श्राद्ध** में इन नियमों का पालन नहीं करते। रुद्रधर के श्राद्धविवेक (पृ० १३८-१४६) में **अपात्रक-पार्वणश्राद्ध-प्रयोग** पर विस्तार के साथ लिखा हुआ है।

मध्य एवं आधुनिक काल में भारत के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न वेदों के अनुयायियों द्वारा विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी जाती रही हैं। उदाहरणार्थ, बंगाल के सामवेदियों, यजुर्वेदियों एवं ऋग्वेदियों द्वारा क्रम से भवदेव, पशुपति एवं कालेसि की पार्वणश्राद्ध-सम्बन्धी पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं और कुछ लोग रघुनन्दन के 'श्राद्धतत्त्व' एवं 'यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व' में व्यवस्थित नियमों का अनुसरण करते हैं। मिथिला में, श्रीदत्त ने यजुर्वेदियों के लिए **पितृभक्ति** एवं सामवेदियों के लिए **श्राद्धकल्प** नामक ग्रन्थ लिखे, और महामहोपाध्याय लक्ष्मीपति (१५०० से १६४० ई० के बीच) के **श्राद्धरत्न** में, जो दरभंगा में मुद्रित हुआ है और मैथिलों के लिए परम्परागत पद्धति के रूप में (मैथिल साम्प्रदायिक श्राद्धपद्धति) विख्यात है, लिखा है कि इसने छन्दोगों के लिए एवं वाजसनेयियों के लिए प्रणीत प्रतिहस्तककृत **सुगतिसोपान** का अनुसरण किया है। मद्रास या दक्षिण भारत में वैष्णव ब्राह्मण वैदिक-सार्वभौम या तोलप्पर के हारीत वेंकटाचार्य की **पूर्व एवं अपर क्रिया** का अनुसरण करते हैं, और स्मार्त ब्राह्मण लोग वैद्यनाथ के **स्मृतिमुक्ताफल** का, जो बहुत-सी बातों में **वैदिक सार्वभौम** से भिन्न नहीं है, अनुसरण करते हैं। यहाँ इन सभी पद्धतियों का सांगोपांग निरूपण, मिलान एवं विरोध-प्रदर्शन नहीं किया जायगा। पश्चिम भारत के ऋग्वेदियों में प्रतिसांवत्सरिक श्राद्ध प्रसिद्ध

है, जिसका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे। दक्षिण भारत (मद्रास आदि) में जो प्रतिसांवत्सरिक श्राद्ध होता है उसमें एवं पश्चिम भारत वाले में केवल कुछ बातें ही भिन्न हैं। दक्षिण (या मद्रास) की पद्धति में बहुत-से मन्त्र एवं तै० आ० के कथन आदि नहीं पाये जाते, किन्तु ब्राह्मणों की पदधूलि की प्रशंसा वाले श्लोक आते हैं। बहुत-से वैदिक एवं पौराणिक मन्त्र एक-से हैं। मद्रास-पद्धति में आये हुए **आशीर्वाद** बहुत विस्तृत हैं, वहाँ कर्ता के पशुओं के दीर्घ जीवन एवं स्वास्थ्य के लिए भी आशीर्वाद-वचन दिये हुए हैं। वहाँ की विधि में ही बहुत-से मन्त्र 'अन्नसूक्त' के रूप में दिये गये हैं और उस पद्धति के अन्त में प्रसिद्ध उक्ति है—'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा'।

बंगाल में माध्यन्दिन शाखा वाले यजुर्वेदियों की विधि, जिसे रघुनन्दन ने अपने यजुर्वेदि-श्राद्धतत्त्व में दिया है, पूर्णरूपेण कात्यायन के श्राद्धसूत्र की दूसरी एवं तीसरी कण्डिकाओं पर आधारित है। हलायुध के **ब्राह्मणसर्वस्व** में जो पार्वणश्राद्ध-प्रयोग पाया जाता है, वह कात्यायन पर आधारित है। पश्चिम बंगाल के भाटपारा के माध्यन्दिनों द्वारा प्रयुक्त पार्वणश्राद्ध-विधि रघुनन्दन द्वारा स्थापित पद्धति का अनुसरण करती है। अब यहाँ कात्यायन के श्राद्धसूत्र का अनुवाद दिया जाता है और साथ ही हलायुध एवं रघुनन्दन की व्याख्याएँ एवं उन्होंने जो ऊपर से जोड़ा है—सब कुछ दिया जा रहा है।

"पार्वण श्राद्ध में पूर्व ही विश्वेदेवों के कृत्य किये जाते हैं। पिण्डपितृयज्ञ की विधि ही अनुसरित होती है।[१०६] पितृकृत्य में सर्वत्र द्विगुण (दोहराये हुए) दर्भ प्रयुक्त होते हैं (वैश्वदेविक कृत्य में सीधे दर्भ प्रयुक्त होते हैं)। जब कुछ दान किया जाता है, कर्ता (सभी दैव एवं पित्र्य कृत्यों में) **पवित्र** पहनता है और बैठे-बैठे दान देता है। (जब प्रश्न पूछे जाते हों तो) कर्ता ब्रह्मभोज में बैठे हुए लोगों में सर्वोच्च या मूर्धन्य से (दैव कृत्य में मूर्धन्य दैव ब्राह्मण से एवं पित्र्य कृत्य में मूर्धन्य पित्र्य ब्राह्मण से) प्रश्न करता है या वह सभी से प्रश्न कर सकता है (उत्तर एक व्यक्ति या सभी लोग देते हैं)। आसनों पर दर्भ बिछाकर (वह ब्राह्मणों को बैठाता है) वह प्रश्न करता है—'क्या मैं विश्वेदेवों का आवाहन करूँ?' (दैव ब्राह्मणों से) अनुमति पाकर (अवश्य आवाहन करो का उत्तर पाकर) वह 'विश्वे देवास आगत' (वाज० सं० ७।३४ 'हे सभी देव, आइए, मेरे आवाहन को सुनिए और दर्भ पर बैठिए') के साथ विश्वेदेवों का आवाहन करता है।[१०७] इसके उपरान्त वह (ब्राह्मणों के समक्ष) यव (जौ) बिखेरता है और एक मन्त्र का उच्चारण करता है (वाज० सं० ३३।५३, 'विश्वेदेवाः शृणुतेमम्' अर्थात् हे देव, मेरे इस आवाहन को सुनिए)। इसके उपरान्त वह (पित्र्य ब्राह्मणों से) पूछता है—'मैं पितरों को बुलाऊँगा।' (पित्र्य ब्राह्मणों से) अनुमति पाकर (अवश्य बुलाओ ऐसी अनुमति), वह 'उशन्तस् त्वाम्' (वाज० सं० १९।७०, 'हे अग्नि, हम अपने पितरों के इच्छुक हैं, तुम्हें नीचे रखते हैं आदि') मन्त्र के साथ उनका आवाहन करता है। तब वह (पित्र्य ब्राह्मणों के समक्ष तिल) बिखेरता है और मन्त्र-पाठ करता है (वाज० सं० १९।५८, 'आयन्तु नः पितरः' अर्थात् 'सोमप्रिय पिता हमारे पास आयें आदि')। तब वह यज्ञिय वृक्ष

१०६. पिण्डपितृयज्ञवदुपचारः—परिणाम यह है—अपराह्णः कालः, श्राद्धकर्तुः प्राचीनावीतिता, दक्षिणाभिमुखता, वामजानुनिपातः, पितृतीर्थं, अप्रादक्षिण्यं, दक्षिणापवर्गता, दर्भाणां दक्षिणाग्रता चेत्यादयः पैतृका धर्माः। इनसे यह प्रकट होता है कि वैश्वदेविक ब्राह्मणोपचार में निम्न प्रकार पाये जाते हैं—यज्ञोपवीतिता, कर्तुरुदङ्मुखता, दक्षिणजानुनिपातः, दैवतीर्थं, प्रादक्षिण्यम्, उदगपवर्गता, प्रागग्रता चेत्यादयो दैविकधर्माः। प्रथम भाग में कुछ अपवाद हैं, यथा—दक्षिणादान, स्तोत्रजप एवं विप्रविसर्जन।

१०७. यह ज्ञातव्य है कि कात्यायन द्वारा उद्धृत सभी मन्त्र उपयुक्त एवं समीचीन हैं। स्थानाभाव से सभी मन्त्र अनूदित नहीं किये जा रहे हैं।

(पलाश, उदुम्बर आदि) से बने पात्रों में जल भरता है, जिनमें 'शं नो देवी' (वाज० सं० ३६।१२, 'दैव जल हमारे सुख के लिए हों आदि') मन्त्र के साथ पवित्र डुबोया रहता है (वह दैवकृत्य के लिए पात्र में यव रखता है)। वह प्रत्येक पात्र (चमस) में 'तिलोसि' (आश्व० गृ० ७।७-८) के साथ तिल डालता है। वह प्रत्येक ब्राह्मण (पहले दैव और तब पित्र्य) के हाथ में, जिसमें पवित्र रहता है, जल ढारता है और नीचे सोने, चाँदी, ताम्र, खड्ग, मणिमय पात्र या कोई पात्र या पत्रों के पात्र रखे रहते हैं। ऐसा करते समय 'या दिव्या आपः' मन्त्र का पाठ होता है। जल इन शब्दों के साथ दिया जाता है—'हे पिता, अमुक नाम, यह आपके लिए अर्घ्य है' (तब अन्य पितरों को दिया जाता है)। (पिता वाले) प्रथम पात्र में अन्य पात्रों के शेष जल को, जो अन्य पितरों वाले पात्रों का होता है, डालकर वह उसे यह कहकर उलटा कर देता है—'तुम पितरों के स्थान हो।' यहीं पर (पित्र्य ब्राह्मणों को) गन्ध, चन्दन लेप, पुष्प, धूप, दीप एवं वस्त्र दिये जाते हैं।[108]

एक अन्य पात्र में श्राद्ध के लिए पहले से ही बने भोजन को रखकर और उसमें घी मिलाकर कर्ता कहता है—'मैं अग्नौकरण करूँगा।' 'अवश्य करो' की अनुमति पाकर वह गृह्य अग्नि में पिण्डपितृयज्ञ की भाँति आहुतियाँ डालता है। इसके उपरान्त (अग्नौकरण से) शेष भोजन को आमन्त्रित ब्राह्मणों के पात्रों में परोसकर वह प्रत्येक पात्र के ऊपर एवं नीचे स्पर्श करता है और इस मन्त्र का पाठ करता है—'पृथिवी तुम्हारा पात्र है आदि' (वह कुछ भोजन अलग रख लेता है जिससे आगे चलकर पिण्ड बनाये जाते हैं) तब (पात्रों में भोजन परोसने के उपरान्त) वह एक ऋचा (ऋ० १।२२।१७, 'इदं विष्णुर्विचक्रमे') के साथ ब्राह्मणों के अँगूठे को भोजन से लगाता है। तब वह (यवों को दैव ब्राह्मणों के समक्ष मौन रूप से) तिलों को 'अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः' (वाज० सं० २।२९) के साथ बिखेरता है। इसके उपरान्त वह (भोजनकर्ता या मृत व्यक्ति द्वारा चाहा गया) गर्म भोजन परोसता है या जो भी कुछ वह दे सके खाने को देता है। जब ब्राह्मण लोग खाने में व्यस्त रहते हैं, वह निम्न मन्त्रों का जप करता है—ओम् एवं व्याहृतियों से आरम्भ करके गायत्री का एक या तीन बार पाठ, राक्षोघ्नी (४।४।१-१५) 'उदीरतामवर उत्' ऋचा से आरम्भ होनेवाले मन्त्र, पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१-१६), अप्रतिरथ सूक्त (ऋ० १०।१०३।१-१३) आदि। इसके उपरान्त ब्राह्मणों को सन्तुष्ट जानकर वह उनके समक्ष कुछ भोजन बिखेर देता है और प्रत्येक ब्राह्मण को एक बार (भोजनोपरान्त अपोशन के लिए) जल देता है। तब उसे गायत्री मन्त्र, तीन मधुमती मन्त्र (ऋ० १।९०।६-८) एवं मधु (तीन बार) का पाठ करना चाहिए। तब उसे पूछना चाहिए—'क्या आप संतुष्ट हो गये?' उनके द्वारा 'हम सन्तुष्ट हो गये' कहे जाने पर वह उनसे शेष भोजन के लिए अनुमति माँगता है, सभी भोजन को एक पात्र में एकत्र करता है (उससे पिण्ड-निर्माण करने के लिए); जहाँ ब्राह्मणों ने भोजन किया हो उसी स्थल के पास वह पिण्डों के दो दल (तीन पितृपक्ष और तीन मातृपक्ष के पूर्वपुरुषों के लिए) बनाता है और उन पर जल ढारता है। कुछ लोगों का कथन है कि ब्राह्मणों के आचमन के उपरान्त पिण्ड देने चाहिए। आचमन के उपरान्त वह ब्राह्मणों को जल, पुष्प, अक्षत एवं अक्षय्योदक देता है।[109] इसके पश्चात् वह कल्याणार्थ प्रार्थना करता है—'पितर लोग अघोर

१०८. छः पितर होते हैं, तीन पितृपक्ष के और तीन मातृपक्ष के, अतः छः पात्र होते हैं। पाँच पात्रों की जल-बूँदें प्रथम पात्र में डाली जाती हैं। रघुनन्दन ने इतना जोड़ दिया है कि प्रथम पात्र पितामह के पात्र से ढका रहता है और फिर उलटे मुँह रख दिया जाता है। ब्राह्मणसर्वस्व ने व्याख्या की है—तत्र च पितरस्तिष्ठन्तीति बृहस्पतिः। 'आवृतास्तत्र तिष्ठन्ति पितरः श्राद्धदेवताः।'

१०९. 'अक्षय्योदक' के विषय में गदाधर की व्याख्या यों है—'अक्षय्योदकशब्देन दत्तान्नपानादेरानन्त्यप्रार्थन-सम्बन्धि जलमभिधीयते। तच्च पितृब्राह्मणेभ्य एवेति कर्कः। सर्वेभ्यो दद्यादिति स्मृत्यर्थसारे।'

(दयालु) हों।' ब्राह्मण प्रत्युत्तर देते हैं 'ऐसा ही हो,' वह कहता है—'हमारा कुल बढ़े।' वे कहते हैं—'ऐसा ही हो।' वह प्रार्थना करता है--'हमारे कुल में दाता बढ़ें।' वे कहते हैं—'ऐसा ही हो।' वह प्रार्थना करता है—'वेद और सन्तति बढ़ें।' वे कहते हैं—'वैसा ही कहो।' वह कहता है—'मुझसे श्रद्धा न दूर हटे।' वे कहते हैं—'न दूर हो।' वह कहता है—'हमारे पास प्रचुर द्रव्य हो जिसका हम दान कर सकें।' वे प्रत्युत्तर देते हैं—'ऐसा ही हो।' आशीर्वाद पाने के पश्चात् वह पवित्रों के साथ **स्वधा-वाचनीय** नामक कुशों (अग्रभागों एवं पवित्रों के सहित) को (पिण्डों के पास भूमि पर या पिण्डों पर ही जैसा कि 'देवयाज्ञिक' आदि में आया है) रखता है; वह (सभी ब्राह्मणों या मूर्धन्य से) पूछता है—'क्या मैं आप लोगों से **स्वधा** कहने को कहूँ ?' उनसे अनुमति मिलने पर वह प्रार्थना करता है—'पितरों के लिए स्वधा हो, पितामहों, प्रपितामहों, (मातृवर्ग के) नाना, परनाना, बड़े परनाना के लिए स्वधा हो।' जब ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि 'स्वधा हो' तो वह 'ऊर्जं वहन्तीः' (वाज० सं० २।३४) पाठ के साथ स्वधावाचनीय कुशों पर जल छिड़कता है। तब वह उलटे मुंह वाले पात्र को सीधा करता है और अपनी योग्यता के अनुसार ब्राह्मणों को दक्षिणा देता है। वह दैव ब्राह्मणों से कहलवाता हैं—'सभी देव प्रसन्न हों।' तब वह सभी ब्राह्मणों को 'वाजे वाजे' (वाज० सं० ९।१८) के साथ विदा करता है और 'आ मा वाजस्य' (वाज० सं० ९।१९) के साथ (गाँव की सीमा तक) उनका अनुसरण करता है और उनकी प्रदक्षिणा कर अपने घर लौट आता है।"

यह ज्ञातव्य है कि दर्भों पर पिण्डों को रखने के पश्चात् एवं ब्राह्मणों को बिदा करने के पूर्व बंगाल के पार्वण-श्राद्ध की पद्धति में, जो हलायुध के ब्राह्मणसर्वस्व एवं रघुनन्दन के यजुर्वेद-श्राद्धतत्त्व पर आधारित है, कुछ अन्य बातें भी जोड़ दी गयी हैं। कर्ता उत्तराभिमुख होकर कहता है—'हे पितर लोग, यहाँ सन्तोष प्राप्त करो और अपने-अपने भाग पर बैलों की भाँति आओ।' तब वह अपने पूर्व आसन पर आकर कहता है—'पितर लोग सन्तुष्ट हुए और अपने-अपने भाग पर बैल की भाँति आये।' तब वह अपनी धोती के एक भाग को, जो कटि में खोंसा हुआ था, खींच लेता है और हाथ जोड़ता है, अर्थात् छः बार नमस्कार करता है और मन्त्र 'नमो वः पितरो रसाय' (वाज० सं० २।३२) का पाठ करता है। वह पिण्डों को सूंघता है और मध्यम पिण्ड पुत्र की इच्छा करनेवाली पत्नी को देता है तथा मन्त्र 'आधत्त' (वाज० सं० २।३३) का पाठ करता है।[११०]

स्थानाभाव से हम आधुनिक हिरण्यकेशियों की पार्वणश्राद्ध-पद्धति पर प्रकाश नहीं डाल सकते। यह बहुत अंशों में आश्व० गृ० की पद्धति के साथ चलती है, मुख्य अन्तर यह है कि बहुत-से मन्त्र भिन्न हैं। गोपीनाथ की संस्काररत्नमाला में पृ० ९८५ से आगे इसी का उल्लेख है। इस अन्तिम ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसने अन्तर दिखाने के लिए बाल की खाल निकाली है। पृ० ९८५ पर इसमें अमावास्या पर किये जानेवाले (पिण्डपितृ-यज्ञ के अतिरिक्त) दो श्राद्धों की ओर संकेत है, यथा—**मासि-श्राद्ध** एवं **मासिक-श्राद्ध**। पहले का वर्णन हिरण्यकेशी धर्मसूत्र में एवं दूसरे का गृह्यसूत्र में हुआ है। गोपीनाथ ने आगे कहा है कि गृह्यसूत्र में वर्णित अन्य श्राद्धों की पद्धति पर ही मासिक श्राद्ध अवलम्बित है, और मासिश्राद्ध धर्मशास्त्रों में वर्णित श्राद्धों पर, यथा महालय श्राद्ध या सांवत्सरिक श्राद्ध। उन्होंने यह भी कहा है कि दर्शश्राद्ध ही मासिश्राद्ध है (पृ० ९८८), मासिक श्राद्ध प्रत्येक दर्श या वर्ष में किसी दर्श पर किया जा सकता है। मनु (३।१२२) के मत से मासिश्राद्ध पिण्डपितृयज्ञ के तुरन्त बाद ही किया जाता है

११०. देखिए मनु (३।२१८)।

और मासिक श्राद्ध का सम्पादन मासिश्राद्ध के उपरान्त होता है। आधुनिक काल में कोई भी प्राचीन नियमों के अनुसार मासिश्राद्ध या मासिक श्राद्ध नहीं करता। अब तो श्राद्ध एक ब्राह्मण को भोजन कराकर एवं कुछ आने दक्षिणा के रूप में देकर संपन्न कर लिया जाता है। श्राद्धतत्त्व (भाग १, पृ० २५४) ने मत्स्य० एवं भविष्य० का उद्धरण देते हुए कहा है कि यदि व्यक्ति प्रति मास पार्वणश्राद्ध करने में असमर्थ हो तो उसे, जब सूर्य कन्या, कुम्भ एवं वृषभ राशियों में हो, तो वर्ष में कम-से-कम तीन बार करना चाहिए, किन्तु यदि वह ऐसा भी नहीं कर सकता तो उसे, जब सूर्य कन्या राशि में हो, कम-से-कम एक बार अवश्य करना चाहिए।

मिताक्षरा एवं दायभाग द्वारा दिये गये **सपिण्ड के दो** अर्थों के विषय में इस ग्रन्थ के खण्ड २, अध्याय ९ में लिखा जा चुका है। दायभाग ने घोषित किया है कि जो व्यक्ति जितनी ही अधिक मात्रा में मृत को पारलौकिक या आध्यात्मिक कल्याण देता है (श्राद्धों के सम्पादन द्वारा) और पिण्डदान करता है, वह मृत की सम्पत्ति के उत्तराधिकार की प्राप्ति में उतनी ही वरीयता पाता है। मिताक्षरा का कहना है कि उत्तराधिकार रक्त-सम्बन्ध पर निर्भर है और मृत के सबसे अधिक समीप के व्यक्ति को वरीयता मिलती है। किन्तु मिताक्षरा के अन्तर्गत सम्पत्ति पाने वाले को मृत के ऋण (याज्ञ० २।५१) चुकाने पड़ते हैं और उसके लिए पिण्ड देना होता है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २९।

अधिकार की वरीयता स्थापित करने में एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है और वह है व्यक्ति की योग्यता एवं उसके द्वारा दिये जानेवाले पिण्ड का प्रभाव या सामर्थ्य। सम्पत्ति प्राप्त कर लेने के उपरान्त पिण्ड-कृत्य करने के लिए व्यक्ति पर कोई न्यायपूर्ण दबाव डालने की विधि नहीं है (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २९)।

यदि तीन पूर्व-पुरुषों में एक या अधिक जीवित हों तो श्राद्ध किस प्रकार किया जाना चाहिए? इस प्रश्न पर बहुत काल से विचार होता आया है। आश्व० श्रौ० (२।६।१६-२३) ने सर्वप्रथम गाणगारि, तौल्वलि एवं गौतम के मत दिये हैं और पुनः उनका खण्डन किया है। गाणगारि का कथन है कि तीन पूर्वजों में जो मृत हो गये हैं उन्हें पिण्ड देना चाहिए, किन्तु जो जीवित हों उन्हें व्यक्तिगत रूप में सम्मानित करना चाहिए, क्योंकि श्राद्ध-कृत्य पूर्व पुरुषों को सन्तुष्ट करने के लिए किया जाता है। तौल्वलि का कथन है कि पिण्ड सभी पूर्व पुरुषों को दिये जाने चाहिए, चाहे वे जीवित हों या मृत, क्योंकि श्राद्ध-कृत्य में वे केवल गौण हैं। गौतम ने कहा है कि यदि पिता जीवित हो तो इससे आगे के तीन मृत पितरों को श्राद्ध-पिंड देने चाहिए। इसी प्रकार पितामह के आगे (यदि वह जीवित हो) और प्रपितामह के आगे यदि तीनों जीवित हों। आश्व० ने उत्तर दिया है—पिता, पितामह या प्रपितामह के आगे तीन पितरों को पिण्ड नहीं दिये जा सकते, क्योंकि ऐसा करने का अधिकार नहीं है; जिनके पश्चात् (तीन पीढ़ियों के भीतर) कोई पुरुष जीवित हो उन पूर्व पुरुषों के लिए पिण्डदान नहीं किया जा सकता।[111] जीवितों के लिए अग्नि में होम किया जा सकता है। यदि सभी तीनों पूर्वज जीवित हों तो सभी पिण्डों को अग्नि में डाल देना चाहिए, या कृत्य ही नहीं किया जाना चाहिए। कात्यायन श्रौ०सू० (४।१।२३-२७) ने व्यवस्था दी है कि पिण्ड केवल मृत पूर्वजों को दिये जाने चाहिए; अतः यदि किसी का पिता जीवित हो या कोई ऐसा मृत

१११. वैदिक उक्तियों के अनुसार पिता से आरम्भ कर तीन पूर्वपुरुषों को पिण्ड दिये जाते हैं। मनु (९।१८६) में भी ऐसा ही है। अतः स्पष्ट है कि चौथी या पाँचवीं या छठी पीढ़ी के पूर्वपुरुषों को पिण्ड देने के लिए कोई प्राचीन प्रमाण नहीं है।

पूर्वज हो जिसके एवं कर्ता के बीच कोई पूर्वज जीवित हो, तो वह केवल अग्नि में होम मात्र कर सकता है (पिण्डदान नहीं), या वह कृत्य ही न करे। जातूकर्ण्य ने कहा है कि यदि कर्ता एवं किसी मृत पूर्वज के बीच कोई पूर्वज जीवित हो (अर्थात् पिता जीवित हो) तो पिण्डदान सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुति-वचन है—'जीवित पूर्वज से आगे के पूर्वजों को पिण्ड नहीं देना चाहिए।' मनु (३।२२०-२२२) ने इस प्रश्न पर यों विचार किया है—'यदि कर्ता का पिता जीवित हो तो उसे पितामह से आरम्भ करके आगे के तीन पूर्वजों को पिण्ड देना चाहिए, या वह अपने पिता से भोजन के लिए उसी प्रकार प्रार्थना कर सकता है जैसा कि किसी अपरिचित अतिथि के साथ किया जाता है और पितामह एवं प्रपितामह को पिण्ड दे सकता है। यदि पिता मर गया हो और पितामह जीवित हो तो वह केवल पिता एवं प्रपितामह को पिण्ड दे सकता है (अर्थात् केवल दो पिण्ड दिये जायँगे) या जीवित पितामह अपरिचित अतिथि के समान, मानो वे किसी मृत पूर्वपुरुष के प्रतिनिधि हों, भोजन के लिए आमन्त्रित करना चाहिए या जीवित पितामह की अनुमति से वह पिता, प्रपितामह एवं वृद्ध प्रपितामह को पिण्ड दे सकता है।' विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ७५) में भी इसी प्रकार के नियम हैं। स्कन्द० (६।२२५।२४-२५), अग्नि० (११७।५८-५९) आदि पुराणों ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। गोभिलस्मृति (२।९३) ने भी इस प्रश्न पर एक लम्बी उक्ति द्वारा विचार किया है, इसका यह श्लोक नीचे टिप्पणी में दिया जा रहा है।[११२] बहुत सी टीकाओं एवं निबन्धों में मत-मतान्तर दिये हुए हैं, यथा मिता० (याज्ञ० १।२५४), कल्पसूत्र (श्रा०, पृ० २४०), श्राद्धक्रियाकौमुदी (पृ० ५५२-५५६) एवं निर्णयसिन्धु (३, पृ० ४९९-५०३)। इन विभिन्न मतों में समझौता कराना असम्भव है। कल्पतरु (श्रा०, पृ० २४०) का कथन है कि उसके लिए, जिसका पिता अभी जीवित है, तीन विकल्प हैं—(१) उसे अपने जीवित पिता के तीन पूर्वपुरुषों को, जिन्हें उसका पिता पिण्ड देता है, पिण्ड देना चाहिए (मनु ३।२२०, विष्णु-ध० ७५।१); (२) वह केवल अग्नि में संकल्पित वस्तु छोड़ सकता है (आश्व० श्रौ० २।६।१६-२३); (३) उसे पिण्डपितृयज्ञ या पार्वण श्राद्ध नहीं करना चाहिए (गोभिल० २।९३)। निर्णयसिन्धु का कथन है कि विभिन्न लेखकों ने अगणित विकल्प दिये हैं, किन्तु वे कलियुग में वर्ज्य हैं। एक मत यह है कि जीवित पिता वाले को पार्वण श्राद्ध नहीं करना चाहिए। वास्तविक निष्कर्ष यह है कि उन्हीं को पिण्ड देना चाहिए जिन्हें कर्ता के पिता पिण्ड देते हैं। मनु (३।२२०) ने एक विकल्प दिया है—पिता को भोजन के लिए आमन्त्रित करना चाहिए और गन्ध, धूप, दीप आदि से सम्मानित करना चाहिए तथा मृत पितामह एवं प्रपितामह को पिण्ड देना चाहिए। यदि एक या दो पूर्वज (तीन में) जीवित हों और उनके वंशज को श्राद्ध करने की अनुमति हो तो विकल्पों की कई कोटियाँ उपस्थित होती हैं, जिन्हें हम स्थानाभाव एवं अनुपयोगिता की दृष्टि से यहाँ नहीं दे रहे हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि लोगों के मन में, यहाँ तक कि विद्वानों के मन में भी, ऐसी धारणा बँध गयी थी कि श्राद्धों से महान् कल्याण होता है, इस दशा में पिता के जीवित रहते तथा जब वह स्वयं पितरों का श्राद्ध कर सकता और पिण्ड दे सकता है, तब उसकी आज्ञा से पुत्र भी उन्हीं तीन पितरों को पिण्ड दे सकता है। विष्णुधर्मसूत्र (७५।८) ने माता के पूर्वपुरुषों के लिए 'जीवत्-पितृक' वाली विधि ही दी है (कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार मन्त्रों में परिवर्तन कर दिया गया है)।[११३] ऐसे ही नियम

११२. सपितुः पितृकृत्येषु अधिकारो न विद्यते। न जीवन्तमतिक्रम्य किंचिद् दद्यादिति श्रुतिः।। गोभिल० (२।९३); श्राद्धक्रियाकौमुदी (पृ० ५५२)। मिलाइए कात्या० श्रौ० सू० (४।१।२२-२७)।

११३. मातामहानामप्येवं श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः। मन्त्रोहेण यथान्यायं शेषाणां मन्त्रवर्जितम्।। विष्णुधर्म० (७५।८)।

माता के जीवित रहते श्राद्ध करने के विषय में भी दिये गये हैं (अग्नि० ११७।६० 'एवं मात्रादिकस्यापि तथा मातामहादिके')।

गोभिलस्मृति (३।१५७) का कथन है कि यदि मौलिक पद्धति का अनुसरण न किया जा सके तो उस श्रुति-नियम को अनुकल्प (किसी अन्य प्रतिनिधिस्वरूप व्यवस्थित पद्धति) के द्वारा प्रभावशील अर्थात् चरितार्थ करना चाहिए।[114] यदि कोई बहुत-से ब्राह्मणों को न पा सके, केवल एक ही ब्राह्मण को आमन्त्रित कर सके तो उसे उस पार्वण श्राद्ध का सम्पादन करना चाहिए, जिसमें केवल एक ही ब्राह्मण के साथ छः पिण्डों का अर्पण होता है, किन्तु उस ब्राह्मण को पंक्तिपावन अवश्य होना चाहिए और वैसी दशा में दैव ब्राह्मणों के लिए भोजन के स्थान पर नैवेद्य देना चाहिए, और फिर उसको अग्नि में डाल देना चाहिए (शंख १४।१०)।[115] यदि पार्वण श्राद्ध के लिए एक भी ब्राह्मण न मिल सके तो ब्राह्मण बटुओं की कुशाकृतियाँ बना लेनी चाहिए और कर्ता को स्वयं प्रश्न करना चाहिए और पार्वण-श्राद्ध में प्रयुक्त होनेवाले उत्तर देने चाहिए (देवल, हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १५२६; श्राद्धक्रियाकौमुदी, पृ० ८९)।

जब कोई ब्राह्मण न मिले, श्राद्ध-सामग्री न हो, व्यक्ति यात्रा में हो, या पुत्र उत्पन्न हुआ हो, या पत्नी रजस्वला हो गयी हो तो **आमश्राद्ध** (जिसमें बिना पका हुआ अन्न दिया जाता है) करना चाहिए।[116] यह स्कन्द० (७।१।२०६।५२) की उक्ति है। कात्यायन एवं सौरपुराण (१९।३२) में भी ऐसी उक्ति है कि 'प्रवास या यात्रा में या आपत्तिकाल में या यदि भोजन बनाने के लिए अग्नि न हो या यदि कर्ता बहुत दुर्बल हो तो द्विज को आमश्राद्ध करना चाहिए।' मदनपारिजात (पृ० ४८३) का कथन है कि वह आमश्राद्ध कर सकता है जिसे पार्वण श्राद्ध करने का अधिकार है। हारीत का कथन है कि यदि श्राद्ध-सम्पादन में कोई बाधा हो तो **आमश्राद्ध** करना चाहिए। किन्तु मासिक एवं सांवत्सरिक श्राद्धों में ऐसा नहीं करना चाहिए। आमश्राद्ध शूद्रों के लिए सदा व्यवस्थित है। ऐसी व्यवस्था है कि बिना पका हुआ अन्न, जो श्राद्ध में अर्पित होता है, ब्राह्मणों को पकाकर स्वयं खाना चाहिए, उसे किसी अन्य उपयोग में नहीं लाना चाहिए (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १५२७)। व्यास का कथन है कि अन्न की मात्रा इतनी होनी चाहिए कि खिलाने में वह दूनी, तिगुनी या चौगुनी मात्रा का हो जाय। 'आवाहन', 'स्वधाकार', 'विसर्जन' जैसे शब्दों में परिवर्तन हो जाता है, यथा—आवाहन में प्रयुक्त मंत्र है—'उशंतस्त्वा' (वाज० सं० १९।७०) जिसका अन्त 'हविषे अत्तवे' (हविष खाने के लिए) में होता है, वहाँ 'हविषे स्वीकर्तवे' का प्रयोग करना पड़ता है।

११४. चरितार्था श्रुतिः कार्या यस्मादप्यनुकल्पतः। अतो देयं यथाशक्ति श्राद्धकाले समागते॥ कात्यायन (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १५२२)।

११५. भोजयेदथवाप्येकं ब्राह्मणं पंक्तिपावनम्। दैवे कृत्वा तु नैवेद्यं पश्चाद्वह्नौ तु तत्क्षिपेत्॥ शंख (१४।१०), हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १५२४) ने इसे यों पढ़ा है—पश्चात्तस्य तु निर्वपेत्।

११६. द्रव्याभावे द्विजाभावे प्रवासे पुत्रजन्मनि। आमश्राद्धं प्रकुर्वीत यस्य भार्या रजस्वला॥ स्कन्द० (७।१।२०६।५२)। इसे स्मृतिच० (श्रा०, पृ० ४९२) ने व्यास की उक्ति कहा है। आपद्यनग्नौ तीर्थे च प्रवासे पुत्रजन्मनि। आमश्राद्धं प्रकुर्वीत भार्यारजसि संक्रमे॥ कात्या० (निर्णयसिन्धु ३, पृ० ४६२; मदन पा०, पृ० ४८०। कल्पतरु (पृ० २३४) ने व्याख्या की है—'अनग्निश्चात्र पाकसमर्थाग्निरहितः, न पुनरनग्निरनाहिताग्निः।'

आमश्राद्ध का सम्पादन दिन के प्रथम भाग में होता है, एकोद्दिष्ट का मध्याह्न में, पार्वण श्राद्ध का अपराह्न में और वृद्धिश्राद्ध का दिन के प्रथम भाग में (जब कि दिन पाँच भागों में बाँटा जाता है)।[११७]

यदि बिना पका अन्न भी न दिया जा सके तो **हेमश्राद्ध** (धन के साथ श्राद्ध) करना चाहिए। **हेमश्राद्ध** भोजनाभाव में, प्रवास में, पुत्रजन्म में या ग्रहण में किया जाता है, या स्त्री या शूद्रों के लिए इसके सम्पादन की अनुमति मिली है, या यह तब किया जाता है जब कि पत्नी रजस्वला हो। भोजन में जितना अन्न लगता है उसका दूना आमश्राद्ध में दिया जाना चाहिए और हेमश्राद्ध में चौगुना (भोजन देने में जितना अन्न लगता है उसकी लागत का मूल्य दिया जाता है)। निबन्धों में ऐसे नियम भी आये हैं जिनका पालन धन न रहने पर किया जाता है। देखिए वराह० (१३।५७-५८=विष्णुपुराण ३।१४।२९-३०); मदनपारिजात (पृ० ५१५-५१६); निर्णयसिन्धु (३, पृ० ४६७)। बृहत्पराशर (अध्याय ५, पृ० १५२) में भी ऐसी ही व्यवस्था है।

११७. आमश्राद्धं तु पूर्वाह्णे एकोद्दिष्टं तु मध्यतः। पार्वणं चापराह्णे तु प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्॥ हारीत एवं शातातप (अपरार्क, पृ० ४६८)।

अध्याय १०

एकोद्दिष्ट एवं अन्य श्राद्ध

सभी श्राद्धों के आदर्शस्वरूप पार्वण श्राद्ध के लम्बे विवेचन के उपरान्त हम अब एकोद्दिष्ट श्राद्ध पर विचार करेंगे, जो पार्वण श्राद्ध का एक संशोधन या परिमार्जन मात्र है। 'एकोद्दिष्ट' शब्द का अर्थ है 'वह जिसमें एक ही मृत व्यक्ति उद्दिष्ट रहता है' अर्थात् जिसमें एक ही व्यक्ति का आवाहन होता है या जिसमें एक ही व्यक्ति का कल्याण निहित है।[1] पार्वण श्राद्ध में तीन पितर उद्दिष्ट रहते हैं अतः वह एकोद्दिष्ट से भिन्न है। शांखा० गृ० (४।२), बौधा० गृ० (३।१२।६), कात्यायन कृत श्राद्धसूत्र (कण्डिका ४) एवं याज्ञ० (१।२५१-२५२) में दोनों के अन्तर्भेद स्पष्ट रूप से व्यक्त किये गये हैं।[2] इस श्राद्ध में एक अर्घ्य दिया जाता है, एक ही पवित्र होता है और एक ही पिण्ड दिया जाता है, आवाहन नहीं होता, अग्नौकरण नहीं किया जाता, विश्वे देवों के प्रतिनिधित्व के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रण नहीं दिया जाता; ब्राह्मण-भोजन की सन्तुष्टि के विषय में प्रश्न 'स्वदितम्' (क्या इसका स्वाद अच्छा था?) के रूप में होता है और ब्राह्मण 'सुस्वदितम्' (इसका स्वाद सर्वोत्तम था) के रूप में प्रत्युत्तर देते हैं; 'यह अक्षय हो' के स्थान पर 'उपतिष्ठताम्' अर्थात् 'यह पहुँचे' (मृत व्यक्ति के पास पहुँचे) कहा जाता है; जब ब्राह्मण विसर्जित किये जाते हैं (जब भोजन के अन्त में ब्राह्मणों को विदा दी जाती है) तो 'अभिरम्यताम्' (प्रसन्न हों) का उच्चारण होता है और वे 'अभिरताः स्म' (हम प्रसन्न हैं) कहते हैं। विष्णुपुराण (३।१३।२३-२६) एवं मार्कण्डेय पुराण (२८।८-११) ने श्राद्धसूत्र एवं याज्ञ० का अनुसरण किया है।[3] शांखा० गृ० (४।२।७), मनु (३।२५७), मार्कण्डेय (२८।११), याज्ञ० (१।२५६) आदि के मत से द्विज व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष तक, जब तक कि सपिण्डीकरण श्राद्ध न हो जाय, प्रत्येक मास में प्रेतात्मा के लिए इसी प्रकार का श्राद्ध किया जाता है। विष्णुधर्मसूत्र (२१।२) ने कहा है कि प्रयुक्त मन्त्रों में उपयुक्त परिवर्तन (ऊह) करना चाहिए ('अत्र पितरो मादयध्वम्' के स्थान पर 'अत्र पितर् मादयस्व' अर्थात् 'हे पिता, यहाँ आनन्द करो' कहना चाहिए)। एकोद्दिष्ट में 'ये च त्वामनु' (वे जो तुम्हारे बाद

१. एक उद्दिष्टो यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टमिति कर्मनामधेयम्। मिता० (याज्ञ० १।२५१)। एक स्थान पर और आया है—'तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत् क्रियते तत्पार्वणम्, एकपुरुषोद्देशेन क्रियमाणमेकोद्दिष्टम्' (मिता०, याज्ञ० १।२१७)। हलायुध ने श्राद्धसूत्र में कहा है—'एकोत्र सम्प्रदानत्वेनोद्दिष्ट इति।'

२. अथैकोद्दिष्टेषु नाग्नौकरणं नाभिश्रावणं न पूर्वं निमन्त्रणं न दैवं न धूपं न दीपं न स्वधा न नमस्कारो नात्रापूपम्। बौ० ध० सू० (३।१२।६)।

३. अथैकोद्दिष्टम् एकोर्घ्यं एकं पवित्रमेकः पिण्डो नावाहनं नाग्नौकरणं नात्र विश्वे देवाः स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः सुस्वदितमितीतरे ब्रूयुरुपतिष्ठतामित्यक्षय्यस्थानेऽभिरम्यतामिति विसर्गोऽभिरताः स्म इतीतरे। श्राद्धसूत्र ४ (कात्यायनीय)। ये ही शब्द कौषीतकि गृ० (४।२) में भी पाये जाते हैं। यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व (पृ० ४९५) में व्याख्या है—'एकं एकवलरूपं पवित्रम्।'

आते हैं) नामक मन्त्र नहीं कहना चाहिए और 'पितृ' का उच्चारण (जब तक सपिण्डीकरण न सम्पादित हो जाय) नहीं होना चाहिए, उसके स्थान पर 'प्रेत' शब्द कहना चाहिए (अपरार्क, पृ० ५२५ में शौनक-गृह्यपरिशिष्ट का उद्धरण दिया गया है)।

जैसा कि हमने इस खण्ड के सातवें अध्याय में देख लिया है (अपरार्क, पृ० ५२५; निर्णयसिन्धु ३, पृ० २९५ आदि) एकोद्दिष्ट के तीन प्रकार हैं—**नव, नवमिश्र** एवं **पुराण**। **नव श्राद्ध** वे हैं जिनमें मृत्यु के १०वें या ११वें दिन तक श्राद्ध किया जाता है, **नवमिश्र** (या **मिश्र**) वे श्राद्ध हैं जो मृत्यु के उपरान्त ११वें दिन से लेकर एक वर्ष (कुछ लोगों के मत से छः मासों) तक किये जाते हैं। अपरार्क ने व्याघ्र[4] का एक श्लोक उद्धृत किया है कि एकोद्दिष्ट श्राद्ध का सम्पादन मृत्यु के पश्चात् ११वें या चौथे दिन या वर्ष भर प्रत्येक मास के अन्त में और प्रत्येक वर्ष मृत्यु के दिन किया जाता है। कात्यायन के एक श्लोक में आया है कि आहिताग्नि के लिए एकोद्दिष्ट श्राद्ध दाह के ११वें दिन करना चाहिए और **ध्रुव श्राद्धों** का सम्पादन मृत्यु-दिन पर किया जाना चाहिए। अपरार्क ने व्याख्या की है कि 'ध्रुवाणि' का अर्थ है वे श्राद्ध जो मृत्यु के तीन पक्षों के पश्चात् किये जाते हैं। **नव श्राद्धों** के विषय में भी कई मत हैं। स्कन्द० (६, नागरखण्ड, २०५।१-४) एवं गरुड़पुराण (प्रेतखण्ड, ५।६७-६९) का कथन है कि नव श्राद्ध नौ हैं, जिनमें तीन का सम्पादन मृत्यु-स्थल, शवयात्रा-विश्रामस्थल, अस्थिसंचयन-स्थल पर होता है और छः का सम्पादन मृत्यु के उपरान्त ५वें, ७वें, ८वें, ९वें, १०वें एवं ११वें दिन होता है।

बहुत-से ग्रन्थों में ऐसा आया है कि **षोडश श्राद्ध** होते हैं जिनका सम्पादन मृत व्यक्ति के लिए अवश्य होना चाहिए, नहीं तो जीवात्मा प्रेत एवं पिशाच की दशा से छुटकारा नहीं पाता।[5] इन **षोडश श्राद्धों** के विषय में कई मत हैं। कुछ ग्रन्थों में **सपिण्डीकरण** को सोलहों में गिना जाता है और कुछ ग्रन्थों ने इसे उनमें नहीं रखा है। गोभिल-स्मृति (३।६७) ने षोडश श्राद्धों को इस प्रकार गिना है—**१२ मासिक श्राद्ध** (जो मृत्यु-तिथि पर प्रत्येक मास में किये जाते हैं), **प्रथम श्राद्ध** (अर्थात् ११वें दिन वाला श्राद्ध), मृत्यु तिथि के उपरान्त प्रत्येक छःमासी पर (समाप्त होने के एक दिन पूर्व) **दो श्राद्ध** एवं **सपिण्डीकरण**। गरुड० (प्रेतखण्ड, ५।४९-५० एवं अध्याय ३५।३३-३६ तथा ३७) ने १६ श्राद्धों के तीन पक्ष दिये हैं, जिनमें एक की परिगणना में वे हैं जो मृत्यु के १२वें दिन, तीन पक्षों के पश्चात्, छः मासों के पश्चात्, प्रत्येक मास के पश्चात् एवं वर्ष के अन्त में किये जाते हैं। पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड, ५।२७१) में गणना इस प्रकार है—षोडश श्राद्ध वे हैं जो मृत्यु के चौथे दिन, तीन पक्षों के अन्त में, छःमासों के उपरान्त, वर्ष के अन्त में एवं प्रत्येक मास में १२ श्राद्ध (मृत्यु तिथि पर) किये जाते हैं। कल्पतरु (पृ० २५) एवं ब्रह्मपुराण (अपरार्क, पृ० ५२३) का कथन है कि षोडश श्राद्ध वे हैं जो मृत्यु के पश्चात् चौथे, ५वें, ९वें एवं १२वें दिन तथा मृत्यु-तिथि पर

४. तत्र व्याघ्रः। एकादशे चतुर्थे च मासि मासि च वत्सरम्। प्रतिसंवत्सरं चैवमेकोद्दिष्टं मृताहनि॥ कात्यायनः। श्राद्धमग्निमतः कार्यं दाहादेकादशेऽहनि। ध्रुवाणि तु प्रकुर्वीत प्रमीताहनि सर्वदा॥ अपरार्क, पृ० ५२१। यह अन्तिम गोभिलस्मृति (३।६६) में भी है जिसमें 'प्रत्याब्दिकं प्रकुर्वीत' पाठ आया है।

५. यस्यैतानि न दीयन्ते प्रेतश्राद्धानि षोडश। पिशाचत्वं ध्रुवं तस्य दत्तैः श्राद्धशतैरपि॥ यम (श्राद्धक्रियाकौमुदी, पृ० ३६२)। यही श्लोक गरुड० (प्रेतखण्ड, ५।५०-५१), लिखितस्मृति (१६, यस्यैतानि न कुर्वीत एकोद्दिष्टानि), लघुशंख (१३), पद्म० (सृष्टिखण्ड, ४७।२७२, न सन्तीह यथाशक्त्या च श्रद्धया) में भी आया है। और देखिए मिता० (याज्ञ० १।२५४, पाठान्तर—'न दत्तानि' एवं 'प्रेतत्वं सुस्थिरं तस्य') एवं पुनः मिता० (याज्ञ० १।२५३) 'प्रेतलोके तु वसतिर्नृणां वर्षं प्रकीर्तिता। क्षुत्तृष्णे प्रत्यहं तत्र भवेतां भृगुनन्दन॥' जो मार्कण्डेयपुराण से उद्धृत है।

१२ मासों (वर्ष भर) में किये जाते हैं। लौगाक्षि (मिता०, याज्ञ० १।२५५; निर्णयसिन्धु, पृ० ५९९; भट्टोजि, चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ० १६८) आदि का कथन है कि एकोद्दिष्ट श्राद्धों की पद्धति के अनुसार १६ श्राद्धों के सम्पादन के उपरान्त सपिण्डन करना चाहिए। मदनपारिजात (पृ० ६१५), निर्णयसिन्धु (३, पृ० ५९९) आदि का कहना है कि मत-मतान्तरों में देशाचार, अपनी वैदिक शाखा एवं कुल की परम्परा का पालन करना चाहिए। मृत्यु के ग्यारहवें दिन के श्राद्ध के विषय में दो मत हैं—यह स्मरण रखना चाहिए कि याज्ञ० (३।२२) ने व्यवस्था दी है कि चारों वर्णों के लिए मृत्यु का आशौच क्रम से १०, १२, १५ एवं ३० दिनों का होता है। शंख एवं पैठीनसि द्वारा एक मत प्रकाशित है कि मरणाशौच के रहते हुए भी ११वें दिन श्राद्ध अवश्य करना चाहिए (उस समय उस कृत्य के लिए कर्ता पवित्र हो जाता है)। दूसरा मत मत्स्य० एवं विष्णुधर्मसूत्र (२१।१) का है कि प्रथम श्राद्ध (एकोद्दिष्ट) आशौच की परिसमाप्ति पर करना चाहिए।

मृत संन्यासियों के विषय में उशना (मिता०, याज्ञ० १।२५५; परा० मा० १।२, पृ० ४५८ एवं श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ४४५) ने व्यवस्था दी है कि संन्यास (कलियुग में केवल एकदण्डी प्रकार) के आश्रम में प्रविष्ट हो जाने से वे प्रेत-दशा में नहीं आते, उनके लिए पुत्र या किसी सम्बन्धी द्वारा एकोद्दिष्ट एवं सपिण्डीकरण नहीं किया जाना चाहिए। केवल ११वें दिन पार्वण श्राद्ध करना चाहिए, जो इसके पश्चात् भी प्रति वर्ष किया जाता है। शातातप (मदन पा०, पृ० ६२७; श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ४४५ एवं अपरार्क, पृ० ५३८) ने भी कहा है कि संन्यासी के लिए एकोद्दिष्ट, जल-तर्पण, पिण्डदान, शवदाह, आशौच नहीं किया जाना चाहिए, केवल पार्वण श्राद्ध कर देना चाहिए। प्रचेता (मिता०, याज्ञ० १।२५६) का कथन है कि संन्यासी के लिए एकोद्दिष्ट एवं सपिण्डीकरण नहीं होना चाहिए, केवल भाद्रपद (आश्विन) के कृष्ण पक्ष में प्रति वर्ष मृत्यु-दिवस पर पार्वण कर देना चाहिए। शिवपुराण (कैलास-संहिता) ने संन्यासी की मृत्यु पर ११वें एवं १२वें दिन के कृत्यों का वर्णन किया है (अध्याय २२ एवं २३)।

नव श्राद्धों में धूप एवं दीपों का प्रयोग नहीं होता। वे मन्त्र जिनमें 'पितृ' एवं 'स्वधा नमः' जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, छोड़ दिये जाते हैं और 'अनु' शब्द का भी प्रयोग नहीं होता, ब्राह्मणों को सुनाने के लिए जप एवं मन्त्रोच्चारण भी नहीं होते। जैसा कि ब्रह्मपुराण में आया है, वे श्राद्ध जो आशौच की परिसमाप्ति के उपरान्त १२वें दिन तथा मास के अन्त में या आगे भी घर में ही किये जाते हैं, एकोद्दिष्ट कहे जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि नव श्राद्धों का सम्पादन (जो आशौच के दिनों में होता है) मृत्यु के स्थल, दाह के स्थल पर या वहाँ जहाँ जल-तर्पण एवं पिण्डदान होता है, किया जाता है, घर में नहीं (देखिए स्मृतिच०, आशौच, पृ० १७६)। कुछ लोगों के मत से नवमिश्र श्राद्ध में मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता। प्राचीन काल में और आजकल भी षोडश श्राद्ध ग्यारहवें दिन किये जाते हैं। कदाचित् ही कोई सपिण्डीकरण के लिए अब वर्ष भर रुकता हो, प्राचीन काल में ऐसी व्यवस्था थी कि आपत्-काल में सपिण्डीकरण का सम्पादन एक वर्ष के भीतर भी षोडश श्राद्ध करने के बाद किया जा सकता है। किन्तु आजकल यह अपवाद नियम बन गया है।

सपिण्डीकरण या सपिण्डन से पिण्ड प्राप्त करने वाले पितरों के समाज में मृत व्यक्ति को मिलाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिए कई काल व्यवस्थित किये गये हैं। कौषीतकि-गृह्य० (४।२) के मत से मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के अन्त में या तीन पक्षों के अन्त में या किसी शुभ घटना के होने पर (पुत्रजन्म या विवाह के अवसर पर) यह श्राद्ध करना चाहिए। भारद्वाज-गृह्य० (३।१७) ने इसके सम्पादन की अनुमति मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के अन्त में या ११वें या छठे या चौथे मास में या १२वें दिन में दी है। बौ० पितृमेधसूत्र (२।१२।१) ने सपिण्डीकरण के लिए पाँच काल दिये हैं; एक वर्ष, ११वाँ या छठा या चौथा महीना या १२वाँ दिन। गरुड० (प्रेतखण्ड, ६।५३-५४) के मत से सपिण्डीकरण के काल हैं वर्ष के अन्त में, छः मासों के अन्त में, तीन पक्षों के अन्त में, १२वाँ दिन या कोई शुभ

अवसर। विष्णुपुराण (३।१३।२६) ने भी ऐसे ही नियम बतलाये हैं और सपिण्डीकरण को एकोद्दिष्ट श्राद्ध कहा है। अपरार्क (पृ० ५४०) ने लम्बे विवेचन के उपरान्त आहिताग्नि के लिए तीन काल दिये हैं; १२वाँ दिन, आशौचावधि के एवं मृत्यु के उपरान्त प्रथम अमावस्या के बीच में कोई दिन या आशौच के उपरान्त प्रथम अमावस्या। इसने उनके लिए जिन्होंने पवित्र अग्नियाँ नहीं जलायी हैं (अर्थात् जो आहिताग्नि नहीं हैं) चार काल दिये हैं, यथा—एक वर्ष, छः मासों, तीन पक्षों या किसी शुभ अवसर में। मदनपारिजात (पृ० ६३१) ने व्यास का एक श्लोक उद्धृत कर कहा है कि सपिण्डन श्राद्ध के लिए १२वाँ दिन उपयुक्त है, क्योंकि कुलाचार बहुत हैं, मनुष्य की आयु छोटी है और शरीर अस्थिर है।[6] विष्णुधर्मसूत्र (२१।२०) ने व्यवस्था दी है कि शूद्रों के लिए मृत्यु के पश्चात् केवल १२वाँ दिन (बिना मन्त्रों के) सपिण्डीकरण के लिए निश्चित है। गोभिल ने कहा है कि सपिण्डीकरण के उपरान्त प्रति मास श्राद्ध नहीं करने चाहिए, किन्तु गौतम (या शौनक, जैसा कि अपरार्क, पृ० ५४३ ने कहा है) का मत है कि उनका सम्पादन एकोद्दिष्ट श्राद्धों की पद्धति के अनुसार हो सकता है। भट्टोजि[7] का कथन है कि जब एक वर्ष के पूर्व सपिण्डीकरण हो जाता है तो उसके (सपिण्डीकरण के) पूर्व ही षोडश श्राद्धों का सम्पादन हो जाना चाहिए, किन्तु इसके उपरान्त भी वर्ष या उचित कालों में मासिक श्राद्ध किये जाने चाहिए। याज्ञ० (१।२५५) एवं विष्णुध० (२१।२३) में आया है कि यदि एक वर्ष के भीतर ही सपिण्डीकरण हो जाय, तब भी एक वर्ष तक मृत ब्राह्मण के लिए एक घड़ा जल एवं भोजन देते रहना चाहिए। उशना का कथन है कि उस स्थिति में जब कि सभी उत्तराधिकारी अलग-अलग हो जाते हैं, एक ही व्यक्ति (ज्येष्ठ पुत्र) द्वारा नव श्राद्धों, षोडश श्राद्धों एवं सपिण्डीकरण का सम्पादन किया जाना चाहिए, किन्तु प्रचेता ने व्यवस्था दी है कि एक वर्ष के पश्चात् प्रत्येक पुत्र अलग-अलग श्राद्ध कर सकता है।[8]

शांखायनगृह्य० (५।९), कौषीतकिगृह्य० (४।२), बौ० पितृमेधसूत्र (३।१२।१२), कात्यायनश्राद्धसूत्र (कण्डिका ५), याज्ञ० (१।२५३-२५४), विष्णुपुराण (३।१३।२७), विष्णुध० (२१।१२-२३), पद्म० (सृष्टि० १०।२२-२३), मार्कण्डेय० (२८।१२-१८), गरुड० (१।२२०), विष्णुधर्मोत्तर० (२।७७), स्मृत्यर्थसार (पृ० ५७-५८), निर्णयसिन्धु (३, पृ० ६१४) आदि ग्रन्थों में सपिण्डन या सपिण्डीकरण की पद्धति दी हुई है। यह संक्षेप में निम्न है—ब्राह्मणों को एक दिन पूर्व आमन्त्रित किया जाता है, अग्नौकरण होता है और जब ब्राह्मण लोग भोजन करते रहते हैं उस समय वैदिक मन्त्रों का पाठ होता है (बौ० पितृमेधसूत्र, ३।१२।१२)। वैश्वदेव ब्राह्मणों का सम्मान किया जाता है, इसमें काम एवं काल विश्वेदेव होते हैं (बृहस्पति, अपरार्क, पृ० ४७८; कल्पतरु, श्रा०, पृ० १४२ एवं स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४४२-४४३), धूप एवं दीप दिये जाते हैं और 'स्वधा' एवं 'नमस्कार' होते हैं। चन्दनलेप, जल एवं तिल से युक्त चार पात्र अर्घ्य के लिए तैयार किये जाते हैं, जिनमें एक प्रेत के लिए और तीन उसके पितरों के

६. आनन्त्यात्कुलधर्माणां पुंसां चैवायुषः क्षयात्। अस्थिरत्वाच्छरीरस्य द्वादशाहो प्रशस्यते॥ व्यास (मदन-पा०, पृ० ६३१)। श्रा० क्रि० कौ० (पृ० ३५०) ने इसे व्याघ्र की उक्ति माना है। और देखिए भट्टोजि (चतुर्विंशतिमत०, पृ० १७६) एवं श्राद्धतत्त्व (पृ० ३०१)।

७. यदा संवत्सरपूर्तेः प्रागेव सपिण्डीकरणं क्रियते तदा यद्यपि षोडश श्राद्धानि ततः प्रागेव कृतानि, श्राद्धानि षोडशादत्त्वा न कुर्यात्तु सपिण्डनम्—इति वृद्धवसिष्ठोक्तेः, तथापि स्वस्वकाले पुनरपि मासिकादीन्यावर्तनीयानि। भट्टोजि (चतुर्विंशतिमतसंग्रह, पृ० १७१)।

८. नवश्राद्धं सपिण्डत्वं श्राद्धान्यपि च षोडश। एकेनैव हि कार्याणि संविभक्तधनेष्वपि॥ उशना (अपरार्क, पृ० ५२४; मिता०, याज्ञ० १।२५५) यह श्लोक गरुड० (प्रेतखण्ड, ३४।१२८-१२९) में भी आया है।

लिए होते हैं। दो देव ब्राह्मण तथा एक प्रेत के लिए और तीन उसके तीन पितरों का प्रतिनिधित्व करने के लिए निमन्त्रित होते हैं, यदि व्यक्ति अधिक ब्राह्मणों को बुलाने में असमर्थ हो तो उसे तीन ब्राह्मणों को बुलाना चाहिए, जिनमें एक विश्वेदेवों, एक प्रेत एवं एक तीन पितरों के लिए होता है। उसे प्रार्थना करनी चाहिए—'मैं तीन पितरों के पात्रों के साथ प्रेत (मृत व्यक्ति) का पात्र मिलाऊँगा।' 'अवश्य मिलाओ' की अनुमति पाकर वह प्रेत एवं पितरों के पात्रों में कुश छोड़ता है और प्रेत के पात्र में थोड़ा जल छोड़कर शेष पितरों के पात्रों में दो मन्त्रों के साथ डाल देता है ('ये समानाः', वाज०सं० १९।४५-४६)। प्रेत-पात्र के जल से प्रेत को और पितृपात्रों से तीन पितरों को अर्घ्य दिया जाता है। चार पिण्ड बनाये जाते हैं, एक प्रेत के लिए और तीन पितरों के लिए, और तब कर्ता प्रार्थना करता है—'मैं प्रेत-पिण्ड को उसके तीन पितरों के पिण्डों से मिलाऊँगा', जब 'अवश्य मिलाओ' की अनुमति मिल जाती है तो वह प्रेत-पिण्ड के तीन भाग करके एक-एक भाग को पितृ-पिण्डों में अलग-अलग मिला देता है और उपर्युक्त (वाज० सं० १९।४५-४६) मन्त्रों का पाठ करता है। यहाँ पर गरुडपुराण (१।२२०।६) ने एक मतभेद उपस्थित कर कहा है कि प्रेत-पिण्ड को दो भागों में विभाजित कर केवल पितामह एवं प्रपितामह के पिण्डों के भीतर एक-एक करके डाल देना चाहिए।

सपिण्डीकरण में एकोद्दिष्ट एवं पार्वण के स्वरूप मिले हुए हैं; एक तो प्रेत वाला स्वरूप और दूसरा प्रेत के तीन पितरों वाला, अतः इसमें दोनों प्रकार के श्राद्ध सम्मिलित हैं। जब सपिण्डीकरण का अन्त ब्राह्मणों के दक्षिणा-दान से होता है तो प्रेत प्रेतत्व छोड़कर पितर हो जाता है। प्रेत की दशा या स्थिति में भूख एवं प्यास की भयानक यातनाएँ होती हैं, किन्तु पितर हो जाने पर **वसु, रुद्र, आदित्य** नामक श्राद्ध-देवताओं के संसर्ग में आ जाना होता है। प्रेत शब्द के दो अर्थ हैं; (१) वह जो मृत है एवं (२) वह जो मृत है किन्तु अभी उसका सपिण्डीकरण नहीं हुआ है। सपिण्डीकरण या सपिण्डन का परिणाम यह है कि मृत का प्रपितामह, जिसका सपिण्डीकरण हो चुका रहता है, पिण्ड के अधिकारी पितरों की पंक्ति से हट जाता है और केवल 'लेपभाक्' (अर्थात् केवल हाथ में लगे भोजन के 'झाड़न' का अधिकारी) रह जाता है, फलतः प्रेत पित्तरों की श्रेणी में आ जाता है और उसके पश्चात् किये जानेवाले पार्वण श्राद्ध के पिण्डों का वह अधिकारी हो जाता है। गरुडपुराण (१।२२०।२) में आया है कि पार्वण की भाँति ही अपराह्ण में सपिण्डीकरण श्राद्ध का सम्पादन होता है।

यह ज्ञातव्य है कि कुछ ग्रन्थों में प्रेतपात्र से पितृपात्रों में जल छोड़ने के समय के मन्त्रों में भेद पाया जाता है। विष्णुधर्मसूत्र (२१।१४) में मन्त्र ये हैं—'संसृजतु त्वा पृथिवी' (पृथिवी तुम्हें संयुक्त करे या मिलाये) एवं 'समानी व आकूतिः' (ऋ० १०।१९१।४)। आश्व० गृह्यपरिशिष्ट (३।११) ने ऋ० (१।९०।६-८) के तीन मधुमती मन्त्र और ऋग्वेद के अन्तिम तीन सुन्दर मन्त्र (१०।१९१।२-४) दिये हैं।[९]

याज्ञ० (१।२५४) एवं मार्कण्डेय० (२८।१७-१८) ने व्यवस्था दी है कि एकोद्दिष्ट एवं सपिण्डीकरण स्त्रियों के लिए भी होने चाहिए (किन्तु पार्वण एवं आभ्युदयिक नहीं)। माता के सपिण्डीकरण के विषय में कई मत हैं। जब स्त्री पुत्रहीन रूप में मर जाय और उसका पति जीवित हो तो उसका सपिण्डीकरण उसकी सास के साथ होता है (गोभिल स्मृति ३।१०२)। यदि पुत्र एवं पति से हीन कोई स्त्री मर जाय तो उसके लिए सपिण्डन नहीं होना चाहिए। यदि कोई स्त्री अपने पति की चिता पर जल जाय या बाद को (सती होकर) मर जाय तो उसके पुत्र को अपने पिता के साथ उसका सपिण्डन करना चाहिए, उसके लिए अलग से सपिण्डन नहीं होता। यदि उसका आसुर विवाह हुआ हो

९. प्रेतपिण्डं त्रिधा विभज्य पितृपिण्डेषु त्रिष्वादधाति मधु वाता इति तिसृभिः संगच्छध्वमिति द्वाभ्यामनुमन्त्र्य शेषं पार्वणवत्कुर्यात्। आश्व० गृ० परि० (३।११)।

या वह पुत्रिका बना ली गयी हो तो पुत्र को अपनी माता का सपिण्डन अपनी नानी के साथ करना चाहिए, किन्तु यदि विवाह ब्राह्म या अन्य तीन उचित विवाह-विधियों से हुआ हो तो पुत्र को अपनी माता का सपिण्डन अपने पिता या पितामही या नाना के साथ करना चाहिए। इन तीन विकल्पों में यदि कोई कुलाचार हो तो उसका अनुसरण करना चाहिए; इसके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है। यदि किसी स्त्री का विमाता-पुत्र (सौत का पुत्र) हो तो उसको उसका सपिण्डीकरण अपने पिता के साथ करना चाहिए, जैसा कि मनु (९।१८३=वसिष्ठ १७।११) ने संकेत किया है। इन बातों के विवेचन के लिए एवं अन्य विकल्पों के लिए देखिए मिताक्षरा (याज्ञ० १।२५३-२५४) एवं स्मृतिच० (आशौच, पृ० १६९)[१०]

निर्णयसिन्धु (३, पृ० ३८८) के मत से उपनयन-विहीन मृत व्यक्ति का सपिण्डन नहीं होना चाहिए, किन्तु यदि वह पाँच वर्ष से अधिक का रहा हो तो षोडश श्राद्धों का सम्पादन होना चाहिए (सपिण्डन नहीं) और पिण्ड का अर्पण खाली भूमि पर होना चाहिए। यह ज्ञातव्य है कि जब तक कुल के मृत व्यक्ति का सपिण्डन न हो जाय तब तक कोई शुभ कार्य, यथा विवाह (जिसमें आभ्युदयिक श्राद्ध का सम्पादन आवश्यक है) आदि कृत्य, नहीं किये जाने चाहिए (किन्तु सीमन्तोन्नयन जैसे संस्कार अवश्य कर दिये जाने चाहिए)।

मनु (५।८९-९०) में आया है कि कुछ लोगों के लिए जल-तर्पण एवं सपिण्डीकरण जैसे कृत्य नहीं किये जाने चाहिए, यथा—नास्तिक, वर्णसंकर, संन्यासी, आत्मघाती, नास्तिक सिद्धान्तों को मानने वाला, व्यभिचारिणी, भ्रूण एवं पति की हत्याकारिणी एवं सुरापी नारी। याज्ञ० (३।६) में भी ऐसी ही व्यवस्थाएँ दी हुई हैं। यह ज्ञातव्य है कि स्मृतियों ने आत्महत्या के सभी प्रकारों की भर्त्सना नहीं की है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४। इनके अतिरिक्त यम (मिता०, याज्ञ० ३।६) ने व्यवस्था दी है कि मनु एवं याज्ञ० में उल्लिखित व्यक्तियों के लिए आशौच, जल-तर्पण, रुदन, शवदाह एवं अन्त्येष्टि-क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए। मिता० (याज्ञ० ३।६) ने वृद्ध-याज्ञवल्क्य एवं छागलेय को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आत्महत्या के घृणित प्रकारों में एक वर्ष के उपरान्त नारायणबलि करके श्राद्ध करने चाहिए। इसके उपरान्त मिता० ने नारायणबलि पर सविस्तर लिखा है (देखिए इस खण्ड का अध्याय ९ एवं स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, २१९।१९-२१)। स्कन्द० में मत प्रकाशित हुआ है कि आत्मघातियों एवं लड़ाई-झगड़े में मृत लोगों के लिए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को श्राद्ध करना चाहिए।

अब हम **आभ्युदयिक श्राद्ध** का वर्णन करेंगे। आश्व० गृ० (४।७) ने केवल **पार्वण, काम्य, आभ्युदयिक** एवं **एकोद्दिष्ट** नामक चार श्राद्धों का उल्लेख किया है। आश्व० गृ० (२।५।१३-१५), शांखा० गृ० (४।४), गोभिल-गृ० (४।३।३५-३७), कौषीतकि गृ० (४।४), बौ० गृ० (३।१२।२-५) एवं कात्या० श्राद्धसूत्र (कण्डिका ६) ने संक्षेप में इस श्राद्ध का वर्णन किया है। अधिकांश सूत्रों के मत से यह श्राद्ध पुत्र-जन्म, चौल कर्म, उपनयन, विवाह जैसे मांगलिक अवसरों पर या किसी पूर्त (कूप, जलाशय, वाटिका आदि जन-कल्याणार्थ निर्माण-सम्बन्धी दान-कर्म) के आरम्भ में किया जाता है। आश्व० गृ० एवं गोभिलगृ० अति संक्षेप में इसकी विधि बतलाते हैं कि मांगलिक अवसरों पर

१०. स्वेन भर्त्रा समं श्राद्धं माता भुंक्ते सुधामयम्। पितामही च स्वेनैव स्वेनैव प्रपितामही॥ बृहस्पति (स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ४४९; कल्पतरु, श्रा०, पृ० २३९ एवं श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ४२८)। पितुः पितामहे यद्वत् पूर्णे संवत्सरे सुतैः। मातुर्मातामहे तद्वदेषा कार्या सपिण्डता॥ उशना (मिता०, याज्ञ० १।२५३-२५४)। मातुः सपिण्डीकरणं पितामह्या सहोदितम् (गोभिलस्मृति २।१०२; श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ४२८)। गरुड० (प्रेत० ३४।१२१) में आया है—'पितामह्या समं मातुः पितुः सह पितामहैः। सपिण्डीकरणं कार्यमिति तार्क्ष्य मतं मम॥'

या कल्याणार्थ किये जानेवाले कृत्यों पर सम संख्या में ब्राह्मणों को निमन्त्रित करना चाहिए, कृत्यों को बायें से दाहिने करना चाहिए और तिल के स्थान पर यव (जौ) का प्रयोग करना चाहिए। यह श्राद्ध अपरार्क (पृ० ५१४) के मत से पार्वण की ही विकृति (संशोधन या शाखा) है, अतः इसमें पार्वण के ही नियम, विशिष्ट संकेतों को छोड़कर, प्रयुक्त होते हैं। आश्व० गृ० परि० (२।१९), स्मृत्यर्थसार (पृ० ५६) एवं पितृदयिता (पृ० ६२-७१) ने संक्षिप्त किन्तु अपने में पूर्ण विवेचन उपस्थित किये हैं।

इस श्राद्ध में, जो प्रातःकाल किया जाता है (पुत्रोत्पत्ति को छोड़कर, जिसमें यह तत्क्षण किया जाता है), विश्वेदेव हैं सत्य एवं वसु; इसका सम्पादन पूर्वाह्न में होना चाहिए; आमन्त्रित ब्राह्मणों की संख्या सम होनी चाहिए; दर्भ सीधे होते हैं (दुहरे नहीं) और जड़ युक्त नहीं होते; कर्ता उपवीत ढंग से जनेऊ धारण करता है (प्राचीनावीत ढंग से नहीं); सभी कृत्य बायें से दाहिने किये जाते हैं ('प्रदक्षिणम्' न कि 'अपसव्यम्' ढंग से); 'स्वधा' शब्द का प्रयोग नहीं होता; तिलों के स्थान पर यवों का प्रयोग होता है; कर्ता ब्राह्मणों को 'नान्दीश्राद्ध में आने का समय निकालिए' कहकर आमन्त्रित करता है। ब्राह्मण 'ऐसा ही हो' कहते हैं। कर्ता कहता है—'आप दोनों (मेरे घर) आयें' और वे कहते हैं—'हम दोनों अवश्य आयेंगे।' कर्ता पूर्व या उत्तर की ओर मुख करता है (दक्षिण की ओर कभी नहीं)। यवों के लिए 'यवोसि' मन्त्र कहा जाता है। कर्ता कहता है—'मैं नान्दीमुख पितरों का आवाहन करूँगा।'[11] 'अवश्य बुलाइए' की अनुमति पाकर वह कहता है—'नान्दीमुख पितर प्रसन्न हों'; वह एक बार 'हे नान्दीमुख पितरो, यह आप के लिए अर्घ्य है' कहकर अर्घ्य देता है। चन्दनलेप, धूप, दीप दो बार दिये जाते हैं; होम ब्राह्मण के हाथ पर होता है; दो मन्त्र ये हैं—'कव्यवाह अग्नि के लिए स्वाहा' एवं 'पितरों के साथ संयुक्त सोम को स्वाहा।' ब्राह्मणों के भोजन करते समय 'रक्षोघ्न' मन्त्रों, इन्द्र को सम्बोधित मन्त्रों एवं शान्ति वाले मन्त्रों का पाठ होता रहता है, किन्तु पितरों को सम्बोधित मन्त्रों (ऋ० १०।१५।१-१३) का नहीं; जब कर्ता देखता है कि ब्राह्मण लोग भोजन कर सन्तुष्ट हो चुके हैं तो वह 'उपास्मै गायता नरः' (ऋ० ९।११।१-५) से आरम्भ होनेवाले पाँच मन्त्रों का पाठ करता है किंतु मधुमती (ऋ० १।९०।६-८) मन्त्रों का नहीं और अन्त में वह ब्राह्मणों को 'पितर (भोजन का) भाग ले चुके हैं, वे आनन्द ले चुके हैं' मन्त्र सुनाता है। कर्ता को इस समय (जब कि पार्वण में 'अक्षय्योदक' माँगा जाता है) यह कहना चाहिए 'मैं नान्दीमुख पितरों से आशीर्वचन कहने की प्रार्थना करूँगा' और ब्राह्मणों को प्रत्युत्तर देना चाहिए—'अवश्य प्रार्थना कीजिए।' कर्ता 'सम्पन्नम्?' (क्या पूर्ण था?) शब्द का प्रयोग करता है और ब्राह्मण 'सुसम्पन्नम्' (यह पर्याप्त पूर्ण था) कहते हैं। ब्राह्मण-भोजन के उपरान्त आचमन-कृत्य जब हो जाता है तो कर्ता भोजनस्थान को गोबर से लीपता है, दर्भों के अग्र-भागों को पूर्व दिशा में करके उन्हें बिछाता है और उन पर दो पिण्ड (प्रत्येक पितर के लिए) रख देता है। ये पिण्ड ब्राह्मण-भोजन के उपरान्त बचे हुए भोजन में दही, बदरीफल एवं पृषदाज्य (दही एवं घृत से बना हुआ) मिलाकर बनाये जाते हैं। पिण्डों का अर्पण माता, तीन अपने पितरों, तीन मातृवर्ग के पितरों (नाना, परनाना एवं बड़े परनाना) को होता है। कुछ लोगों के मत से इस श्राद्ध में पिण्डार्पण नहीं होता (आश्व० गृ० परि० २।१९)। पितृदयिता एवं श्राद्धतत्त्व का कथन है कि सामवेद के अनुयायियों द्वारा आभ्युदयिक श्राद्ध में

11. संकल्प कुछ इस प्रकार का होगा—'ओम् अमुकगोत्राणां मातृपितामहीप्रपितामहीनाममुकामुकामुकदेवीनां नान्दीमुखीनां तथामुकगोत्राणां पितृपितामहप्रपितामहानाममुकामुकामुकशर्मणां नान्दीमुखानां तथामुकगोत्राणां मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहानाममुकामुकामुकशर्मणां नान्दीमुखानाममुकगोत्रस्य कर्तव्यामुककर्मनिमित्तकमाभ्युदयिकश्राद्धमहं करिष्ये।' श्राद्धविवेक (रुद्रधरकृत, पृ० १४९)। 'देवीनां' के लिए 'दानां' ही बहुधा रखा जाता है।

मातृश्राद्ध नहीं सम्पादित होता। यह सम्भव है कि अन्वष्टक्य श्राद्ध से ही प्रभावित होकर माता, पितामह एवं प्रपितामह के लिए श्राद्ध किया जाने लगा, जैसा कि आश्व० गृ० (२।५।१।३-५) से प्रकट होता है।[12]

'नान्दीश्राद्ध' एवं 'वृद्धिश्राद्ध' शब्द पर्यायवाची हैं। जब याज्ञ० (१।२५०) में ऐसा कथन है कि वृद्धि (शुभावसर, यथा पुत्रोत्पत्ति) के अवसर पर नान्दीमुख पितरों को पिण्डों से पूजित करना चाहिए, तो इसका संकेत है कि नान्दीश्राद्ध एवं वृद्धिश्राद्ध दोनों समान ही हैं। मिता० (याज्ञ० १।२५०) ने शातातप को उद्धृत करते हुए इस श्राद्ध के तीन भाग किये हैं, यथा—मातृश्राद्ध, पितृश्राद्ध एवं मातामहश्राद्ध। दूसरी ओर भविष्यपुराण (१।१८५।१५) ने कहा है कि इसमें दो श्राद्ध होते हैं, यथा—मातृश्राद्ध एवं नान्दीमुख पितृश्राद्ध। पद्म० (सृष्टि० ९।१९४) आदि ग्रन्थों में आभ्युदयिक श्राद्ध एवं वृद्धिश्राद्ध को समान माना गया है, किन्तु प्रथम दूसरे से अधिक विस्तृत है, क्योंकि इसका सम्पादन पूर्त-कर्म के आरम्भ में भी होता है।

विष्णुपुराण (३।१३।२-७), मार्कण्डेय० (२८।४-७), पद्म० (सृष्टिखंड, ९।१९४-१९९), भविष्य० (१।-१८५।५-१३), विष्णुधर्मोत्तर० (१।१४२।१३-१८) ने नान्दीश्राद्ध की पद्धति एवं उसके किये जाने योग्य अवसरों का संक्षेप में उल्लेख किया है। अवसर ये हैं—कन्या एवं पुत्र के विवाहोत्सव पर, नये गृह-प्रवेश पर, नामकरण-संस्कार पर, चूडाकरण पर, सीमन्तोन्नयन में, पुत्रोत्पत्ति पर, पुत्रादि के मुख-दर्शन पर गृहस्थ को नान्दीमुख पितरों का सम्मान करना चाहिए।[13] मार्कण्डेय० (२८।६) ने टिप्पणी की है कि कुछ लोगों के मत से इस श्राद्ध में वैश्वदेव ब्राह्मण नहीं होने चाहिए, किन्तु पद्म० (सृष्टि० ९।१९५) का कथन है कि इस वृद्धिश्राद्ध में सर्वप्रथम माताओं का सम्मान होना चाहिए, तब पिताओं, मातामहों एवं विश्वेदेवों का। हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १०७) ने ब्रह्मपुराण के दो श्लोक उद्धृत करते हुए कहा है कि पिता, पितामह एवं प्रपितामह अश्रुमुख पितर कहे जाते हैं, और प्रपितामह से पूर्व के तीन पितर लोग नान्दीमुख कहे जाते हैं।[14] कल्पतरु (श्रा०, पृ० २७०) ने इन श्लोकों से अर्थ निकाला है कि जब कर्ता के तीनों पूर्वज जीवित हों और कोई शुभ अवसर हो तो प्रपितामह से पूर्व के तीन पूर्वज नान्दीश्राद्ध के लिए देवता होंगे। भविष्य० ने टिप्पणी की है कि कुलाचार के अनुसार कुछ लोग वृद्धिश्राद्ध में पिण्ड नहीं देते।[15]

'मातरः' शब्द के दो अर्थ हैं। गोभिलस्मृति (१।१३) ने व्यवस्था दी है कि सभी कृत्यों के आरम्भ में गणेश के साथ माताओं की पूजा होती है और १४ माताओं में कुछ हैं गौरी, पद्मा, शची (१।११-१२)।[16] इस विषय में

१२. अपरेद्युरन्वष्टक्यम्।....पिण्डपितृयज्ञे कल्पेन। हुत्वा मधुमन्थवर्जं पितृभ्यो दद्यात्। स्त्रीभ्यश्च सुरा चाचामंमित्यधिकम्। आश्व० गृ० (२।५।१, ३-५)।

१३. कन्यापुत्रविवाहेषु प्रवेशे नववेश्मनि। नामकर्मणि बालानां चूडाकर्मादिके तथा ॥ सीमन्तोन्नयने चैव पुत्रादि-मुखदर्शने ॥ नान्दीमुखं पितृगणं पूजयेत् प्रयतो गृही। पितृपूजाविधिः प्रोक्तो वृद्धावेष समासतः ॥ विष्णुपुराण (३।१३।५-७)। इसे अपरार्क (पृ० ५१५) ने उद्धृत किया है (अन्तिम पाद छोड़कर)।

१४. पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः। त्रयो ह्यश्रुमुखा ह्येते पितरः संप्रकीर्तिताः ॥ तेभ्यः पूर्वे त्रयो ये तु ते तु नान्दीमुखा इति ॥ ब्रह्मपुराण (हेमाद्रि, श्रा०, पृ० १०७; कल्पतरु, श्रा०, पृ० २७०)। 'नान्दी' का अर्थ है 'समृद्धि' (ब्रह्मपुराण, कल्पतरु, श्रा०, पृ० २६८)।

१५. पिण्डनिर्वपणं कुर्यान्न वा कुर्याद्विचक्षणः। वृद्धिश्राद्धे महाबाहो कुलधर्मानवेक्ष्य तु ॥ भविष्यपुराण। इस पर पृथ्वीचन्द्रोदय की टिप्पणी यह है—'अतश्चाग्नौकरणादीनामपि निषेधः। तथा—अग्नौकरणमर्घं चावाहनं चावनेजनम्। पिण्डश्राद्धे प्रकुर्वीत पिण्डहीने निवर्तते ॥'

१६. ब्रह्माण्याद्यास्तथा सप्त दुर्गाक्षेत्रगणाधिपान्। वृद्ध्यादौ पूजयित्वा तु पश्चान्नान्दीमुखान् पितृन् ॥ मातृपूर्वान्

देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय ६, जहाँ मातृकाओं एवं उनकी पूजा का वर्णन किया गया है।[१७] अपरार्क (पृ० ५१७) ने उद्धरण दिया है कि ब्रह्माणी आदि सात माताओं की पूजा होनी चाहिए और इसके उपरान्त अपनी माता, पितामही एवं प्रपितामही की पूजा होनी चाहिए, तब नान्दीमुख पितरों, मातामहों एवं पितरों की पत्नियों की पूजा होनी चाहिए। वीरमित्रोदय के श्राद्ध-प्रकाश ने वृद्ध वसिष्ठ को इस विषय में उद्धृत कर कहा है कि यदि मातृश्राद्ध (वृद्धिश्राद्ध के एक भाग) में ब्राह्मणों की पर्याप्त संख्या न प्राप्त हो सके तो माताओं एवं मातामहियों के वर्गों के लिए (प्रत्येक वर्ग के लिए) सधवा एवं पुत्र या पुत्रों वाली चार नारियों को भोजन के लिए आमन्त्रित करना चाहिए और उनका सम्मान करना चाहिए।[१८]

प्रतिसांवत्सरिक या **प्रत्याब्दिक** श्राद्ध पर हमने ऊपर विस्तार से पढ़ लिया है। इसका सम्पादन मृत्यु-तिथि पर प्रति वर्ष होता है (गोभिलस्मृति ३।६६)। ऐसी व्यवस्था दी गयी है कि माता-पिता के विषय में यह श्राद्ध पार्वण की विधि ग्रहण करता है (श्राद्धतत्त्व, पृ० ३०४)। भविष्य० एवं स्कन्द० का कथन है कि सांवत्सरिक श्राद्ध का अन्य श्राद्धों में सबसे अधिक महत्त्व है और यदि कोई पुत्र माता-पिता के मृत्यु-दिन पर वार्षिक श्राद्ध नहीं करता तो वह तामिस्र नामक भयानक नरक में जाता है और फिर जन्म लेकर नगर-सूकर होता है।[१९] इस विषय में तिथि, मास या दोनों की जानकारी न हो तो तदर्थ बृहस्पति, स्कन्द०, पद्म० एवं भविष्य० ने कुछ नियम दिये हैं—(१) यदि तिथि ज्ञात हो किन्तु मास नहीं तो मार्गशीर्ष या माघ मास में उस तिथि पर श्राद्ध करना चाहिए; (२) यदि मास ज्ञात हो किन्तु तिथि नहीं तो उस मास की अमावास्या को श्राद्ध करना चाहिए; (३) यदि तिथि एवं मास दोनों न ज्ञात हों तो तिथि एवं मास की गणना व्यक्ति के घर से प्रस्थान करने से होनी चाहिए; (४) यदि प्रस्थान-काल भी न ज्ञात हो सके तो जब सम्बन्धी की मृत्यु का सन्देश मिले तभी से तिथि एवं मास की गणना करनी चाहिए। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पित्र्य कृत्यों के लिए मास चान्द्र (प्रस्तुत उद्धरणों में अमान्त मास लिया गया है—सं०) होता है और 'दिन',

पितृन् पूज्य ततो मातामहानपि। मातामहीस्ततः केचिद्युग्मा भोज्या द्विजातयः ।। (अपरार्क, पृ० ५१७)। गोभिलस्मृति (१।१११२) द्वारा उपस्थापित १४ मातृका ये हैं—गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, धृति, पुष्टि, तुष्टि एवं अपनी कुलदेवी (अभीष्टदेवता)। मार्कण्डेय० में सात ये हैं—ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वाराही, नारसिंही, वैष्णवी एवं ऐन्द्री।

१७. धर्म के विभिन्न स्वरूपों में अत्यन्त प्राचीन एवं बहुत विस्तृत पूजाओं के अन्तर्गत माता-देवी या मातादेवियों की पूजा भी है। मातृ-पूजा मेसोपोटामिया एवं सीरिया-जैसे प्राचीन सभ्यताकालों तथा आदिकालीन यूरोप एवं पश्चिमी अफ्रीका में भी प्रचलित थी। आदिकालीन अथवा प्रागैतिहासिक संस्कृतियों से सम्बन्धित कुछ ऐसी भोंडी आकृतियाँ या प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जो नारियों की हैं और कहा जाता है कि ये मातृ-देवियों की प्रतिमाएँ हैं। देखिए श्री एस० के० दीक्षित कृत 'मदर गॉडेसेज' (पूना)।

१८. मातृवर्गे मातामहीवर्गे वा ब्राह्मणालाभे पतिपुत्रान्विताश्चतस्रश्चतस्रः सुवासिन्यो भोजनीया इत्युक्तं वृद्धवसिष्ठेन। मातृश्राद्धे तु विप्राणामलाभे पूजयेदपि। पतिपुत्रान्विता भव्या योषितोऽष्टौ मुदान्विताः ।। श्राद्धप्रकाश (पृ० २९८)।

१९. सर्वेषामेव श्राद्धानां श्रेष्ठं सांवत्सरं स्मृतम्। क्रियते यत्खगश्रेष्ठ मृतेऽहनि बुधैः सह ।।...स याति नरकं घोरं तामिस्रं नाम नामतः। ततो भवति दुष्टात्मा नगरे सूकरः खग ।। भविष्य० (१।१८३।२० एवं २५)। प्रथम श्लोक स्कन्द० (७।१।२०५।४३) में भी आया है।

'अह:' एवं 'वासर' का तात्पर्य 'तिथि' से है (अपरार्क, पृ० ५४५)। स्कन्द० (७।१।२०६।५९) के अनुसार अधिक मास (मलमास) में प्रत्याब्दिक श्राद्ध नहीं किया जाना चाहिए।

कुछ अन्य श्राद्धों के विषय में भी कुछ कह देना आवश्यक है।

महालयश्राद्ध एक अति प्रसिद्ध श्राद्ध है। कुछ पुराणों में इसकी चर्चा है। पद्म० (सृष्टिखण्ड, ४७।२२५-२२८) का कथन है कि आषाढ़ मास की पूर्णिमा से आगे के पाँचवें पक्ष में श्राद्ध करना चाहिए, चाहे उस समय सूर्य कन्या राशि में हो या न हो। कन्या राशि वाले सूर्य के १६ दिन सर्वोत्तम दक्षिणाओं से सम्पादित पवित्र श्राद्ध दिनों के समान ही हैं। यदि कृष्ण पक्ष (जब कि सूर्य कन्या राशि में हो) में श्राद्ध करना सम्भव न हो तो तुलार्क में किया जा सकता है। जब यह श्राद्ध न किया जाय और सूर्य वृश्चिक राशि में चला जाय तो पितर लोग सारी आशाएँ छोड़कर और वंशजों को घोर शाप देकर अपने निवास को लौट जाते हैं। आषाढ़ की पूर्णिमा के पश्चात् पाँचवाँ पक्ष भाद्रपद (आश्विन) का कृष्ण पक्ष होता है। पितृकार्यों के लिए कृष्ण पक्ष सुरक्षित-सा है। भाद्रपद (आश्विन) में सूर्य दक्षिणायन के मध्य में रहता है। अतः पितरों के श्राद्ध के लिए अर्थात् महालय के लिए भाद्रपद (आश्विन) का कृष्ण पक्ष विशेष रूप से चुना गया है। इसे महालय इसलिए कहा गया है कि इस मास का कृष्णपक्ष पितरों का **आलय** है, मानो यह उनके **मह** (उत्सव दिन) का **आलय** (निवास) है। और देखिए स्कन्द० (६।२१६।९६-९७; श्राद्धकल्पलता, पृ० ९८)। कल्पतरु ने भविष्यपुराण को उद्धृत कर कहा है कि यदि किसी ने महालय में (भाद्रपद (आश्विन) के कृष्णपक्ष में, जब कि सूर्य कन्या राशि में रहता है) श्राद्ध नहीं किया तो उसे आश्विन (कार्तिक) कृष्णपक्ष की अमावस्या को करना चाहिए, जिसमें दीप जलाये जाते हैं। श्राद्धसार (पृ० ११३) एवं स्मृतिमुक्ताफल (श्रा०, पृ० ७४५) ने वृद्ध-मनु को उद्धृत किया है कि भाद्रपद (अमान्त) का अन्तिम पक्ष, जब कि सूर्य कन्या राशि में रहता है, महालय या गजच्छाया कहलाता है। महालय श्राद्ध सम्पादन की ठीक तिथि के विषय में कई मत हैं, यथा इसका सम्पादन भाद्रपद (आश्विन) के कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि से लेकर अमावस्या तक की किसी भी तिथि में हो सकता है, या अष्टमी, दशमी तिथि से अमावस्या तक की किसी तिथि में, या इस मास की पंचमी तिथि से लेकर आगे के पक्ष की पंचमी तिथि तक, या किसी भी दिन जब कि सूर्य कन्या राशि में रहता है, या किसी भी दिन जब तक कि सूर्य वृश्चिक राशि में प्रवेश नहीं करता। प्रजापति (३७) ने कहा है कि पुराणों में बहुत-से फलदायक श्राद्ध वर्णित हैं किन्तु महालय श्राद्ध सर्वश्रेष्ठ है।

मार्कण्डेयपुराण (स्मृतिमु०, पृ० ७४५) के मत से महालय श्राद्ध का सम्पादन पार्वण श्राद्ध की पद्धति से होता है। स्मृत्यर्थसार का कथन है कि पार्वणश्राद्ध की पद्धति के अनुसार सभी श्राद्ध (सपिण्डीकरण के अतिरिक्त) सम्पादित न हो सकें तो उनका सम्पादन **संकल्पविधि** से हो सकता है, जिसमें **आवाहन, अर्घ्य, होम** एवं **पिण्डदान** को छोड़कर पार्वण श्राद्ध की सारी बातें यथासम्भव सम्पादित होती हैं। मदनपारिजात (पृ० ६०९-६१०) का कथन है कि संकल्पश्राद्ध में **अर्घ्यदान, विकिर** के विस्तार, **आवाहन, अग्नौकरण,** पिण्डदान आदि नहीं किये जाते, किन्तु कर्ता को एक या कई ब्राह्मणों को खिलाना अवश्य चाहिए।

महालय श्राद्ध के विश्वेदेव हैं **धुरि** एवं **लोचन**। यह श्राद्ध न केवल पितृवर्ग एवं मातृवर्ग के पितरों एवं उनकी पत्नियों के लिए होता है, बल्कि अन्य सम्बन्धियों एवं लोगों के (उनकी पत्नियों, पुत्रों एवं मृत पतियों के) लिए भी होता है, यथा—विमाता, पत्नी, पुत्र, पुत्री, चाचा, मामा, भ्राता, मौसी, फूफी, बहिन, भतीजा, दामाद, भानजा, श्वशुर, सास, आचार्य, उपाध्याय, गुरु, मित्र, शिष्य एवं अन्य कोई सम्बन्धी। कुछ लोग केवल पितृवर्ग एवं मातृवर्ग के पितरों एवं उनकी पत्नियों के लिए ही इसे करते हैं। जिस दिन भाद्रपद (आश्विन) के कृष्णपक्ष में चन्द्र भरणी नक्षत्र में रहता है वह महाभरणी कहलाती है और उस दिन का सम्पादित श्राद्ध गया-श्राद्ध के बराबर माना जाता है (मत्स्यपुराण, श्राद्धकल्पलता, पृ० ९९)। संन्यासी का महालयश्राद्ध इस पक्ष की द्वादशी को होता है, अन्य तिथि को नहीं, और

उसका वार्षिक श्राद्ध गृहस्थों के समान उसके पुत्र द्वारा पार्वण पद्धति से होना चाहिए। द्वादशी विष्णु के लिए पवित्र तिथि है और यति (संन्यासी) 'नमो नारायणाय' का जप करते हैं, अतः यतियों के लिए महालयश्राद्ध की विशिष्ट तिथि द्वादशी है। महालय श्राद्ध मलमास में नहीं किया जाता।

दो अन्य श्राद्धों का, जो आज भी सम्पादित होते हैं, वर्णन किया जा रहा है। एक है **मातामहश्राद्ध** या **दौहित्र-प्रतिपदा-श्राद्ध**। केवल दौहित्र (कन्या का पुत्र), जिसके माता-पिता जीवित हों, अपने नाना (नानी के साथ, यदि वह जीवित न हो) का श्राद्ध आश्विन के शुक्ल पक्ष की प्रथम तिथि पर कर सकता है। दौहित्र ऐसा कर सकता है भले ही उसके नाना के पुत्र जीवित हों। इस श्राद्ध का सम्पादन पिण्डदान के बिना या उसके साथ (बहुधा बिना पिण्डदान के) किया जाता है। बिना उपनयन सम्पादित हुए भी दौहित्र यह श्राद्ध कर सकता है। श्राद्धसार (पृ० २४) का कथन है कि मातामहश्राद्ध केवल शिष्टाचार पर ही आधारित है।

दूसरा श्राद्ध है **अविधवानवमी श्राद्ध**, जो अपनी माता या कुल की अन्य सधवा रूप में मृत नारियों के लिए किया जाता है। इसका सम्पादन भाद्रपद (आश्विन) के कृष्णपक्ष की नवमी को होता है। किन्तु जब नारी की मृत्यु के उपरान्त उसका पति मर जाता है तो इसका सम्पादन समाप्त हो जाता है। निर्णयसिन्धु (२, पृ० १५४) ने इस विषय में कई मत दिये हैं और कहा है कि इस विषय में देशाचार का पालन करना चाहिए। मार्कण्डेयपुराण के मत से इस श्राद्ध में न-केवल एक ब्राह्मण को प्रत्युत एक सधवा नारी को भी खिलाना चाहिए और उसे मेखला (कर्धनी), माला एवं कंगन का दान करना चाहिए।

आश्व० गृ०, याज्ञ० एवं पद्म० के कथनों से प्रकट हो चुका है कि प्रत्येक श्राद्ध में कृत्य के उपरान्त अपनी सामर्थ्य के अनुसार दक्षिणा देनी चाहिए। स्कन्दपुराण (६।२१८।१२-१४) ने व्यवस्था दी है कि मन्त्रों, उचित काल या विधि में जो कमी होती है वह दक्षिणा से पूरी की जाती है। बिना दक्षिणा के श्राद्ध मरुस्थल में वर्षा, अँधेरे में नृत्य, बहरे के समक्ष संगीत के समान है, जो अपने पितरों की सन्तुष्टि की अभिलाषा रखता है उसे बिना दक्षिणा के श्राद्ध नहीं करना चाहिए। रामायण (अयोध्याकाण्ड ७७।१-३) में आया है कि दशरथ की मृत्यु के उपरान्त १२वें दिन ब्राह्मणों को रत्नों, सैकड़ों गायों, धन, प्रभूत अन्नों, यानों, गृहों, दासों एवं दासियों की दक्षिणा दी गयी। आश्रमवासिकपर्व (१४-३-४) ने भीष्म, द्रोण, दुर्योधन एवं अन्य वीरगति-प्राप्त योद्धाओं के सम्मान में दिये गये दानों का उल्लेख किया है और कहा है कि सभी वर्णों को अन्न-पान (भोजन एवं पेय) से सन्तुष्ट किया गया। वायुपुराण (अध्याय ८०) ने श्राद्धों में दिये जानेवाले दानों का विशद वर्णन किया है। हम स्थानाभाव से सबकी चर्चा नहीं कर सकेंगे। टिप्पणी में पके हुए भोजन के दान की एक प्रशस्ति दे दी जा रही है।[२०] शान्तिपर्व (४२।७) में आया है कि योद्धाओं के अन्त्येष्टि-कृत्य के अवसर पर युधिष्ठिर ने प्रत्येक के लिए सभा, प्रपा, जलाशय आदि बनवाये। देवल ने कहा है कि भोजन के उपरान्त आचमन करने पर ब्राह्मणों को दक्षिणा देनी चाहिए और बृहस्पति का कथन है कि ब्राह्मणों को उनकी विद्या एवं ज्ञान के अनुसार गौएँ, भूमि, सोना, वस्त्र आदि की दक्षिणा देनी चाहिए, और कर्ता द्वारा दक्षिणा इस प्रकार देनी चाहिए कि वे सन्तुष्ट हो जायँ, कम-से-कम जो धनी हैं उन्हें विशेष रूप से ऐसा करना चाहिए (पृथ्वी-

२०. अन्नदो लभते तिस्रः कन्याकोटीस्तथैव च। अन्नदानात्परं दानं विद्यते नेह किंचन। अन्नाद् भूतानि जायन्ते जीवन्ति च न संशयः॥ जीवदानात्परं दानं न किंचिदिह विद्यते। अन्नेर्जीवति त्रैलोक्यमन्नस्यैव हि तत्फलम्॥ अन्ने लोकाः प्रतिष्ठन्ति लोकदानस्य तत्फलम्। अन्नं प्रजापतिः साक्षात्तेन सर्वमिदं ततम्॥ वायु० (८०।५४-५७)। और देखिए ऐ० ब्रा० (३३।१)—'अन्नं ह प्राणः।

चन्द्रोदय; मार्कण्डेय० ३२।९१; वामनपुराण १४।१०६)। आश्वमेधिकपर्व (६२।२-५) में आया है कि वासुदेव ने अपनी बहिन के पुत्र अभिमन्यु का श्राद्ध किया और सहस्रों ब्राह्मणों को सोना, गौएँ, शय्याएँ, वस्त्र आदि दिये और उन्हें खिलाया। बृहस्पति ने एक विशिष्ट नियम यह दिया है कि पिता के प्रयोग में आये हुए वस्त्र, अलंकार, शय्या आदि एवं वाहन (घोड़ा आदि) आमन्त्रित ब्राह्मणों को चन्दन एवं पुष्पों से सम्मानित कर दान रूप में दे देने चाहिए। और देखिए अनुशासनपर्व (अध्याय ९६), जहाँ श्राद्ध-समाप्ति पर दिये जानेवाले छातों एवं जूतों आदि के दान पर प्रकाश डाला गया है।

मृत द्वारा प्रयुक्त शय्या के दान के विषय में, जो मृत्यु के ११वें या १२वें दिन किया जाता है, कुछ लिखना आवश्यक है। गरुड़० (प्रेतखण्ड, ३४।६९-८९), पद्म० (सृष्टिखण्ड, १०।१२) एवं मत्स्य० (१८।१२-१४) ने किसी ब्राह्मण एवं उसकी पत्नी को दिये जानेवाले शय्या-दान की बड़ी प्रशंसा की है। मत्स्य० में आया है कि मरणाशौच की परिसमाप्ति के दूसरे दिन श्राद्धकर्ता को चाहिए कि वह विशिष्ट लक्षणों से युक्त शय्या का दान करे; उस पर मृत की स्वर्णिम प्रतिमा, फल एवं वस्त्र होने चाहिए; इसका सम्प्रदान ब्राह्मण-दम्पति को अलंकारों से सम्मानित करके करना चाहिए; तब मृत के कल्याण के लिए एक बैल छोड़ना (वृषोत्सर्ग करना) चाहिए और कपिला गाय का दान करना चाहिए। गरुड़० (प्रेत०, ३४।७३-८२) ने लम्बा उल्लेख किया है जो भविष्य० (हेमाद्रि द्वारा उद्धृत) के श्लोकों के समान है। भविष्य० (हेमाद्रि एवं निर्णयसिन्धु, पृ० ५९६) ने इस दान के समय पढ़ने के निमित्त यह मन्त्र लिखा है— 'जिस प्रकार विष्णु की शय्या सागरपुत्री लक्ष्मी से शून्य नहीं होती, उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर में मेरी शय्या भी शून्य (सूनी) न हो।' प्राचीन काल में शय्या-दान लेना अच्छा नहीं माना जाता था और आजकल भी केवल दरिद्र ब्राह्मण (जो साधारणतः विद्वान् नहीं होते) या महापात्र ही यह दान ग्रहण करते हैं। पद्मपुराण ने शय्यादान अंगीकार करनेवाले की बड़ी भर्त्सना की है। इसमें आया है—जो ब्राह्मण शय्या का दान लेता है उसे उपनयन-संस्कार पुनः करना चाहिए। वेद एवं पुराणों में शय्या-दान गर्हित माना गया है और जो लोग इसे ग्रहण करते हैं, वे नरकगामी होते हैं (सृष्टिखण्ड १०।१७-१८)।

अब हम श्राद्ध-सम्बन्धित अन्य बातों की चर्चा करेंगे। अति प्राचीन काल में बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता दी गयी थी, जिनमें क्षेत्रज, पुत्रिकापुत्र एवं दत्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे।[२१] इन सभी पुत्रों के दो पिता होते थे। प्रश्न था; वे किनको पिण्डार्पण करें? मदनपारिजात (पृ० ६०७-६०८) ने हारीतधर्मसूत्र का उद्धरण देकर व्याख्या की है। हारीत का कथन है—बिना क्षेत्र (खेत) के बीज नहीं जमता। जब दोनों आवश्यक हैं तो उत्पन्न पुत्र दोनों का है। इन दोनों (पिताओं) में उत्पन्न करने वाले (बीजदाता) का आवाहन पहले होता है और तब क्षेत्री का, वह (पुत्र) दोनों को पिण्ड (एक-एक) दे सकता है या वह केवल एक पिण्ड (पिता को) दे सकता है और उसी पिण्ड के लिए

२१. पुत्रहीन व्यक्ति की पत्नी या विधवा से किसी सगोत्र (भाई या किसी अन्य सम्बन्धी) द्वारा या किसी अन्य असगोत्र द्वारा उत्पन्न पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है। यह नियोग प्रथा से उत्पन्न पुत्र है। इसे उत्पन्न करनेवाला 'बीजी' कहलाता था और पत्नी के वास्तविक पति को 'क्षेत्री' कहा जाता था। 'पुत्रिकापुत्र' के दो प्रकार हैं—(१) पुत्रहीन पिता अपनी पुत्री को किसी अन्य से इस शर्त पर विवाहित करे कि उससे उत्पन्न पुत्र उसका (पिता का) पुत्र कहलाएगा (वसिष्ठ० १७।१७ एवं मनु ९।१२७); (२) कन्या को ही पुत्र मान लिया जाय (वसिष्ठ० १७।१६)। 'दत्तक' वह पुत्र है जिसे माता या पिता जल के साथ किसी अन्य को उसके पुत्र के रूप में दे देता है (मनु ९।१६८)। इन पुत्रों एवं अन्य पुत्रों के विशद विवेचन के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय २७।

दोनों के नाम ले सकता है। (दोनों पिताओं के पुत्र का) पुत्र दूसरे पिंड के लिए (अर्थात् पितामह वाले पिण्ड के लिए) दो नाम ले सकता है; प्रपौत्र (दोनों पिताओं के पुत्र का पौत्र) यही बात तीसरे पिण्ड (प्रपितामह वाले पिण्ड) के विषय में कर सकता है। मनु (४।१४०) एवं गोभिलस्मृति (२।१०५) ने पुत्रिकापुत्र के विषय में लिखा है कि वह प्रथम पिण्ड अपनी माता (क्योंकि वह पुत्र के रूप में नियुक्त हुई रहती है) को, दूसरा अपने पिता को और तीसरा अपने पितामह को देता है। यह पुत्रिकापुत्र द्वारा दिये जानेवाले पिण्डों की प्रथम विधि है। किन्तु मनु (९। १३२) की दूसरी विधि है जिसके अनुसार पुत्रहीन पिता की सम्पूर्ण सम्पत्ति लेनेवाला पुत्रिकापुत्र दो पिण्ड अपने पिता एवं नाना को देता है (अर्थात् दो श्राद्ध करता है)। शांखा० श्रौ० (४।३।१०-११) ने कहा है कि यदि दो पिता हों तो एक ही पिण्ड होता है, और पुत्र बीजी एवं क्षेत्री दोनों के नाम लेता है। याज्ञ० (२।१२७) ने भी कहा है—नियोग प्रथा द्वारा उत्पन्न पुत्र, जो किसी पुत्रहीन व्यक्ति द्वारा किसी अन्य की पत्नी से उत्पन्न किया जाता है, दोनों की सम्पत्ति पाता है और दोनों को पिण्ड देता है।[22] मिता० का कथन है कि किसी अन्य की पत्नी से कोई पुत्रवान् व्यक्ति पुत्र उत्पन्न करे तो वह पुत्र केवल क्षेत्री का होगा बीजी का नहीं। अब क्षेत्रज एवं पुत्रिकापुत्र शताब्दियों से पुराने पड़ गये हैं, अतः यह विषय अब केवल विद्वत्समाज तक ही सीमित है, अर्थात् अब केवल उसकी चर्चा मात्र होती है, कार्यान्वय नहीं। किन्तु 'दत्तक' की परम्परा अब भी है, अतः वह किसे पिण्ड दे, इसकी चर्चा अपेक्षित है। कल्पतरु (श्रा०, पृ० २४१) ने प्रवराध्याय से निम्न उद्धरण दिया है—यदि इन्हें (अर्थात् जो बीजी हैं) अपनी पत्नियों से पुत्र नहीं है, तो वे पुत्र (जो नियोग से उत्पादित हैं किन्तु गोद रूप में दूसरे को दे दिये गये हैं) उनकी सम्पत्ति पाते हैं और उनके लिए तीन पितरों तक पिण्ड देते हैं; यदि दोनों (बीजी एवं क्षेत्री या दत्तक देनेवाले एवं दत्तक लेनेवाले) को अन्य पुत्र न हो तो वे पुत्र (उत्पादित या दत्तक) दोनों को पिण्ड देते हैं; एक ही श्राद्ध में तीन पितरों तक दोनों के पूर्वजों के निमित्त पृथक्-पृथक् रूप से इच्छित एक ही पिण्ड के अर्पण में दोनों (ग्राहक एवं उत्पन्न करने वाले) के नाम लिये जाने चाहिए।[23] बौ० ध० सू० (२।२।२२-२३) ने एक श्लोक उद्धृत किया है—'दोनों पिताओं का पुत्र (दोनों को) पिण्ड देगा और प्रत्येक पिण्ड के साथ (दोनों के) नाम लेगा; इस प्रकार तीन पिण्ड छः पूर्वजों के लिए होंगे।' उपर्युक्त हारीत-वचन से प्रकट होता है कि कुछ लोगों के मत से यदि एक ही वर्ग में दो हों तो प्रत्येक वर्ग के लिए पृथक् रूप से पिण्ड होने चाहिए। मनु (९।१४२) ने व्यवस्था दी है कि दत्तक पुत्र को अपने वास्तविक पिता का गोत्र नहीं ग्रहण करना चाहिए; पिण्ड गोत्र एवं सम्पत्ति का अनुसरण करता है; जो अपना पुत्र दे देता है उसकी 'स्वधा' की (जहाँ तक उस पुत्र से सम्बन्ध है) परिसमाप्ति हो जाती है। यह श्लोक कुछ उच्च न्यायालयों एवं प्रिवी कौंसिल द्वारा व्याख्यायित हुआ है और निर्णय दिया गया है कि दत्तक पुत्र का जन्म से सम्बन्ध पूर्णतया टूट जाता है। इस विषय पर हमने इस ग्रन्थ के खण्ड ३, अध्याय २८ में विस्तार के साथ लिख दिया है। वहाँ यह कहा गया है कि दत्तक पुत्र का कुल-सम्बन्ध

२२. अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः। उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः॥ याज्ञ० (२।१२७); यदा तु नियुक्तः पुत्रवान् केवलं क्षेत्रिणः पुत्रार्थं प्रयतते तदा तदुत्पन्नः क्षेत्रिण एव पुत्रो भवति न बीजिनः। स च न नियमेन बीजिनो रिक्थहारी पिण्डदो वेति (मिता०)।

२३. अथ यद्येषां स्वभार्यास्वपत्यं न स्याद्रिक्थं हरेयुः पिण्डं चैभ्यस्त्रिपुरुषं दद्युरथ यद्युभयोर्न स्यादुभाभ्यां दद्युरेकस्मिञ्छ्राद्धे पृथगुद्दिश्यैकपिण्डे द्वावनुकीर्तयेत् प्रतिग्रहीतारं चोत्पादयितारं चा तृतीयात्पुरुषात्। कल्पतरु (श्रा०, पृ० २४१) ने कुछ भाषान्तरों के साथ इसे उद्धृत किया है। और देखिए कात्यायन (व्य० म०, पृ० ११५); कात्यायन एवं लौगाक्षि (प्रवरमंजरी में उद्धृत), जो निर्णयसिन्धु (३, पृ० ३८९) द्वारा उद्धृत हैं।

से हटना केवल आंशिक है, विवाह एवं आशौच के लिए दत्तक हो जाने के उपरान्त भी पिता का गोत्र चलता रहता है। निर्णयसिन्धु (३, पृ० ३८९), धर्मसिन्धु (३, उत्तरार्ध, पृ० ३७१) एवं दत्तकचन्द्रिका में यह उद्घोषित है कि दत्तक रूप में दिया गया पुत्र अपने पुत्रहीन वास्तविक पिता की मृत्यु पर उसका श्राद्ध कर सकता है और उसकी सम्पत्ति भी ले सकता है।

वृषोत्सर्ग (साँड या बैल छोड़ना) के विषय में कतिपय सूत्रों ने वर्णन उपस्थित किया है, यथा शांखा० गृ० (३।२), कौषीतकि गृ० (३।२ या ३।६ मद्रास यूनि० माला), काठक गृ० (५९।१), पारस्कर गृ० (३।९), विष्णुधर्मसूत्र (८६।१-२०) आदि। कुछ ग्रन्थों में पितरों की गाथाओं में कुछ ऐसी बातें हैं, जिनमें पितरों की अभिलाषा व्यक्त की गयी है[24]—'बहुत से पुत्रों की अभिलाषा करनी चाहिए, क्योंकि यदि एक भी पुत्र गया जाता है (और पिता की मृत्यु पर श्राद्धार्पण करता है) या वह अश्वमेध यज्ञ करता है या नील (काले रंग का) बैल छोड़ता है तो ऐसे पुत्र वाला व्यक्ति संसार से मुक्ति पा जाता है।' विष्णुधर्मसूत्र (८६।१-२०) का वर्णन यथासम्भव पूर्ण है और हम उसे ही उद्धृत करते हैं—"(यह कृत्य) कार्तिक या आश्विन मास की पूर्णिमा को किया जाता है। इसके लिए सर्वप्रथम वृषभ की परीक्षा करनी चाहिए। वृषभ को पयस्विनी (दुधारू) एवं बहुत-से जीवित बछड़ों वाली गाय का बच्चा होना चाहिए, उसे सर्वलक्षण युक्त (अर्थात् किसी अंग से भंग नहीं) होना चाहिए, उसे नील या लोहित रंग का होना चाहिए, उसके मुख, पूँछ, पैर एवं सींग श्वेत होने चाहिए और उसे यूथ (झुण्ड) को आच्छादित करनेवाला होना चाहिए (अर्थात् जो अपनी ऊँचाई से अन्य पशुओं को निम्नश्रेणी में रख सके)। इसके उपरान्त उसे (कर्ता को) गायों के बीच (गोशाला में) अग्नि जलाकर और उसके चतुर्दिक् कुश बिछाकर पूषा के लिए दूध से पायस तैयार करना चाहिए और 'पूषा हमारी गायों के पीछे-पीछे चले' (ऋ० ६।५४।५) एवं 'यहाँ आनन्द है' (वाज० सं० ८।५१) मन्त्रों का पाठ करके (दो) आहुतियाँ देनी चाहिए; किसी लोहार (अयस्कार) को उसे दागना चाहिए; एक पुट्ठे पर 'चक्र' और दूसरे पर 'त्रिशूल' का चिह्न लगाना चाहिए। इस प्रकार के अंकन के उपरान्त उसे (कर्ता को) दो मन्त्रों (तै० सं० ५।६।१।१-२) एवं पाँच मन्त्रों (ऋ० १०।९।४-८) के साथ वृष को नहलाना चाहिए। उसको पोंछकर एवं अलंकृत कर इसी तरह अलंकृत चार गायों के साथ लाना चाहिए, और रुद्रों (तै० सं० ४।५।१-११), पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१-१६) एवं कूष्माण्डीय (वाज० सं० २०।१४-१६ एवं तै० आ० १०।३-५) मन्त्रों का पाठ करना चाहिए। इसके उपरान्त कर्ता को वृषभ के दाहिने कान में 'बछड़ों के पिता' तथा निम्न मन्त्र कहना चाहिए—'पवित्र धर्म वृषभ है और उसके चार पैर हैं, मैं उसे भक्ति के साथ चुनता हूँ, वह मेरी चारों ओर से रक्षा करे। (हे युवा गौओ) मैं तुम्हें इस वृष को पति के रूप में देता हूँ, इसके साथ इसे प्रेमी मानकर मस्ती से घूमो। हे सोम राजन्, हमें सन्तति का अभाव न हो और न शारीरिक सामर्थ्य की कमी हो और न हम शत्रु से पछाड़ खायें।' तब उत्तर-पूर्व दिशा में गायों के साथ वृषभ को हाँकना चाहिए और वस्त्रों का जोड़ा, सोना एवं काँसे का पात्र पुरोहित को देना चाहिए। अयस्कार (लोहार) को मुँहमाँगा पुरस्कार देना चाहिए और कम-से-कम तीन ब्राह्मणों को घृत से बना पक्वान्न खिलाना चाहिए। उस जलाशय

२४. एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोपि गयां व्रजेत्। यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥ विष्णुधर्म० (८५।६७), बृहस्पतिस्मृति (श्लोक २१), लघुशंख (१०), मत्स्य० (२२।६), ब्रह्म० (२२०।३२-३३), वायु० (८३।११-१२), पद्म० (सृष्टिखण्ड, ११।६८), ब्रह्माण्ड० (उपोद्घातपाद १९।११), विष्णुधर्मोत्तर० (१।१४६।५८ एवं १।१४४।३)। मत्स्य० (२०७।४०) ने कहा है कि यह प्राचीन गाथा है और तीसरे पाद को यों पढ़ा है—'गौरीं वाप्युद्वहेत्कन्याम्।' मिलाइए कूर्म० (२।२०।३०-३१)।

से, जिसमें पुत्र या किसी अन्य सम्बन्धी द्वारा छोड़ा गया साँड पानी पीता है, पितरों को तृप्ति मिलती है। जब भी कभी छोड़ा गया साँड मस्ती में आकर अपने खुरों से मिट्टी झाड़ता है वह मिट्टी पर्याप्त भोजन के रूप में एवं साँड द्वारा ग्रहण किया गया जल पितरों के पास पहुँचता है।[२५] अनुशासनपर्व (१२५।७३-७४) में आया है कि वृषभ छोड़ने (नीले रंग के वृषभ के उत्सर्ग) से, तिल-जल के अर्पण से एवं (वर्षा ऋतु में) दीप जलाने से व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है।"

गरुड़पुराण (२।५।४० एवं ४४-४५) में ऐसा आया है कि जिस मृत व्यक्ति के लिए ११वें दिन वृषोत्सर्ग नहीं होता वह सदा के लिए प्रेतावस्था में रहता है, भले ही उसके लिए सैकड़ों श्राद्ध किये जायँ। इस पुराण ने यह भी कहा है कि यदि ११वें दिन वृषभ न प्राप्त हो सके तो दर्भ, आटे या मिट्टी के बैल को प्रतीकात्मक रूप में छोड़ना चाहिए। भविष्य० (निर्णयसिन्धु ३, पृ० ५०५) ने मृत्यु के १२वें दिन साँड़ छोड़ने की व्यवस्था दी है। निर्णयसिन्धु ने कहा है कि दर्भ, पिष्ट एवं मिट्टी से बनी वृषभाकृति के विषय में कोई प्रमाण नहीं है। आजकल भी साँड़ छोड़े जाते हैं, किन्तु उनका मूल्य बढ़ जाने से परम्परा में कमी पड़ती जा रही है। कतिपय मध्यकाल के निबन्धों, यथा—पितृदयिता (पृ० ८४-९४) रुद्रधरकृत श्राद्धविवेक (पृ० ६९-७७), निर्णयसिन्धु (३, पृ० ५९५-५९६), शुद्धिप्रकाश (पृ० २२५-२३०), नारायण भट्ट-कृत अन्त्येष्टिपद्धति आदि ने विशद वर्णन उपस्थित किया है, जिसे हम स्थानाभाव से यहाँ नहीं दे रहे हैं। निबन्धों में ऐसा आया है कि दागे हुए साँड़ (उत्सर्ग किये गये बैल) को बैलगाड़ी में नहीं जोतना चाहिए और न उसे पकड़ना चाहिए तथा उसके साथ छोड़ी गयी गायों को भी न तो दुहना चाहिए और न गोशाला में रखना चाहिए। मृत स्त्री के लिए वृषोत्सर्ग नहीं होना चाहिए, प्रत्युत बिना अंकित किये बछड़े-सहित एक गाय को माला आदि से अलंकृत कर दान दे देना चाहिए।

वृषोत्सर्ग क्यों होता है? कल्पना का सहारा लिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि यदि कोई बैल श्रम से (जो कि सभी बैलों को करना पड़ता है) मुक्त किया जाता है तो मृत व्यक्ति के सम्बन्धी ऐसा करके मृत को परलोक में आनन्दित करते हैं। बेचारे बैल को श्रम से छुटकारा मिलता है और वह उन्मुक्त हो सुशान्त वातावरण में विचरण करता है, इस प्रकार उसकी इस मुक्ति से मृत व्यक्ति को परलोक में शान्ति मिलती है!

श्राद्धों के विषय में चर्चा करते हुए एक अन्य श्राद्ध का उल्लेख करना आवश्यक है और वह है जीवश्राद्ध या जीवच्छ्राद्ध जिसके विषय में बौ० गृह्यशेषसूत्र (३।१९), लिंगपुराण (२।४५।८-९०=श्रा०प्र०, पृ० ३६३-३६४), कल्पतरु (श्रा०, पृ० २७७-२७९), हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १७०४-१७१७), श्रा० प्र० (पृ० ३६१-३७१) आदि में वर्णन आया है। यह श्राद्ध व्यक्ति अपनी जीवितावस्था में अपने आत्मा के कल्याण के लिए करता है। इस विषय में बौधायन का उल्लेख सबसे प्राचीन है और हम उसे संक्षेप में दे रहे हैं—"वह जो अपने लिए सर्वोच्च आनन्द चाहता है, कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को उपवास करता है, और उसी दिन मृत व्यक्तियों की अन्त्येष्टि-क्रियाओं में प्रयुक्त होनेवाले सम्भारों (सामग्रियों) को एकत्र करता है, यथा छः वस्त्र, सोने की एक सुई, एक अंकुश, रुई के सूत्र से बना एक लच्छा

२५. नील वृष का अर्थ कई ढंग से लगाया गया है। मत्स्य० (२०७।३८) एवं विष्णुधर्मोत्तर० (१।१४६।५६) में आया है—'चरणानि मुखं पुच्छं यस्य श्वेतानि गोपतेः। लाक्षारससवर्णश्च तं नीलमिति निर्दिशेत् ॥' इन ग्रन्थों में साँड़ के शुभ एवं अशुभ लक्षणों का वर्णन दिया हुआ है। श्रा० क० ल० (पृ० २१४) ने शौनक को उद्धृत किया है—'लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥' श्रा० प्र० एवं शु० प्र० (पृ० २२६) ने इसे ब्रह्माण्ड० (रेवाखण्ड) का माना है।

(पाश), एक फटा-पुराना वस्त्र, पत्तों से युक्त पलाश की एक टहनी, उदुम्बर की एक कुर्सी, घड़े एवं अन्य सामग्रियाँ। दूसरे दिन वह स्नान करता है। जल के मध्य में खड़ा रहने के उपरान्त वह बाहर आकर ब्राह्मणों से निम्न बात कहलाता है—'यह शुभ दिन है, (तुम्हारे लिए) सुख एवं समृद्धि बढ़े।' वह वस्त्रों, एक मुद्रिका एवं दक्षिणा का दान करता है और दक्षिणाभिमुख हो घृतमिश्रित खीर (दूध में पकाया हुआ चावल) खाता है। वह होम की पद्धति से अग्नि प्रज्वलित करता है, उसके चतुर्दिक् दर्भ बिछाता है, उस पर भोजन पकाकर उसकी चार आहुतियाँ अग्नि में डालता है; प्रथम आहुति प्रथम पुरोनुवाक्या (आमन्त्रित करने वाली प्रार्थना) 'चत्वारि श्रृंगा' (ऋ० ४।५८।३; तै० आ० १०।१०।२) के पाठ के उपरान्त दी जाती है; वह इसको याज्या (अर्पण के समय की प्रार्थना) 'त्रिधा हितम्' (ऋ० ४।५८।४) कहकर देता है।[२६] भात की दूसरी आहुति की 'पुरोनुवाक्या' एवं 'याज्या' हैं 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' (ऋ०३।६२।१०, तै० सं० १।५।६।४) एवं 'योजयित्री सूनृतानाम्।' तीसरी आहुति की हैं क्रम से 'ये चत्वारः' (तै० सं० ५।७।२।३) एवं 'द्वे श्रुती' (ऋ० १०।८८।१५ एवं तै० ब्रा० १।४।२।३); और चौथी की हैं क्रम से 'अग्ने नय' (ऋ० १।१८९।१ एवं तै० सं० १।१।१४।३) एवं 'या तिरश्ची' (बृ० उ० ६।३।१)। उसके उपरान्त कर्ता पुरुषसूक्त के १८ मन्त्रों (वाज० सं० ३१।१-१८; तै० आ० ३।१२) के साथ घृताहुतियाँ देता है और गायत्री मन्त्र के साथ १००८ या १०८ या २८ घृताहुतियाँ देता है। तब वह किसी चौराहे पर जाकर सुई, अंकुश, कटे परिधान एवं फंदे वाली डोरी किसी कम ऊँचाई वाले ब्राह्मण को देता है, उससे 'यम के दूत प्रसन्न हों' कहलाता है और घड़ों को चावलों पर रखता है। जलपूर्ण घड़ों के चारों ओर सूत बाँधने के उपरान्त वह मानव की आकृति बनाता है, यथा ३ सूतों से सिर, ३ से मुख, २१ से गरदन, ४ से धड़, दो-दो से प्रत्येक बाहु, एक से जननेन्द्रिय, ५-५ से प्रत्येक पैर, और ऐसा करते हुए वह 'श्रद्धास्पद यम प्रसन्न हों' ऐसा कहता है। इसके उपरान्त कुर्सी को पंचगव्य से धोते हुए एक मानव-आकृति कृष्ण मृगचर्म पर पलाश-दलों (टहनियों) से बनाता है, तब वह घड़े पर बनी आकृति में प्राणों की प्रतिष्ठा करता है तथा अपने शरीर को टहनियों से बने शरीर पर रखकर सो जाता है। जब वह उठता है तो स्वयं अपने शरीर को घड़ों के जल से नहलाता है और पुरुषसूक्त का पाठ करता है, पुनः पंचगव्य से स्नान कर स्वच्छ जल से अपने को धोता है। इसके उपरान्त सायंकाल तिल एवं घृतमिश्रित भोजन करता है। यम के दूतों को प्रसन्न करने के लिए वह ब्रह्मभोज देता है। चौथे दिन वह मन्त्रों के साथ आकृति को जलाता है। इसके उपरान्त वह 'अमुक नाम एवं गोत्र वाले मुझे परलोक में कल्याण के लिए पिण्ड; स्वधा नमः' ऐसा कहकर जल एवं पिण्ड देता है। इस प्रकार उस श्राद्ध-कृत्य का अन्त होता है। उसे अपने लिए दस दिनों तक आशौच करना पड़ता है, किन्तु अन्य सम्बन्धी लोग ऐसा नहीं करते। ११वें दिन वह एकोद्दिष्ट करता है। इस विषय में लोग निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं—'जो कष्ट में है उसे तथा स्त्री एवं शूद्र को मन्त्रों से अपने शरीर की आकृति जलाकर उसी दिन सारे कृत्य करने चाहिए। यही श्रुति-आज्ञा है।' स्त्रियों के लिए कृत्य मौन रूप से या वैदिक मन्त्रों के साथ (?) किये जाने चाहिए। इसी प्रकार एक वर्ष तक प्रति मास उसे अपना श्राद्ध करना चाहिए और १२ वर्षों तक प्रत्येक वर्ष के अन्त में करना चाहिए।

२६. 'पुरोनुवाक्या' (या केवल 'अनुवाक्या') इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह यज्ञ के पूर्व देवता को अनुकूल बनाने के लिए पढ़ी जाती है (पुरः पूर्वं यागाद्देवतामनुकूलयितुं या ऋगुच्यते इति व्युत्पत्त्या)। इसी प्रकार 'याज्या' अर्पण की स्तुति है। इसके पूर्व 'ये यजामहे' कहा जाता है और इसके पश्चात् 'वषट्' (उच्चारण ऐसा है—वौ ३ षट्)। दोनों का पाठ होता द्वारा उच्च स्वर से होता है। 'याज्या' का पाठ खड़े होकर किया जाता है किन्तु 'पुरोनुवाक्या' का बैठकर। 'योजयित्री सूनृतानाम्' 'चोदयित्री सुनृतानाम्' (ऋ० १।३।११) का पाठान्तर है।

इसके उपरान्त बन्द कर देना चाहिए। यदि वह स्वयं ऐसा न कर सके तो उसका पुत्र या अन्य कोई सम्बन्धी ऐसा कर सकता है। इस संबन्ध में निम्न वाक्य भी उद्‌धृत किया जाता है--उत्तराधिकारियों के रहते हुए भी जीवितावस्था में कोई अपना श्राद्ध कर सकता है और ऐसा वह नियमों के अनुसार तुरंत सब कुछ उपस्थित करके कर सकता है। किन्तु सपिण्डन नहीं कर सकता। जैसा कि ऊपर तिथि के विषय में दिया हुआ है, किसी को देरी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जीवन क्षणभंगुर होता है।"

यह ज्ञातव्य है कि बौ० गृह्यशेषसूत्र (३।२२) में **जीव-श्राद्ध** की विधि बहुत ही संक्षिप्त है, किन्तु उसमें कण्व के दो श्लोक एवं विष्णु का एक श्लोक उद्‌धृत है। लगता है, ये क्षेपक हैं, अर्थात् आगे चलकर जोड़े गये हैं। श्रा० प्र० (पृ० ३६१-३६३) ने बौ० गृह्यशेषसूत्र (३।१९) उद्धृत किया है। इसने लिंगपुराण को भी उद्धृत कर व्याख्यात किया है (पृ० ३६३-३६८)। लिंगपुराण की विधि बौधायन की विधि से सर्वथा भिन्न है, किन्तु स्थानाभाव से हम इसका उल्लेख नहीं करेंगे। श्राद्धमयूख ने भी विशद वर्णन उपस्थित किया है। इसकी दो-एक बातें दे दी जा रही हैं। 'जीव-श्राद्ध में प्रेत शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं होना चाहिए। व्यक्ति की आकृति ५० कुशों से निर्मित होती है और दूसरे व्यक्ति द्वारा 'क्रव्यादमग्निम्' (ऋ०१०।१६।९) मन्त्र के साथ जलायी जाती है। व्यक्ति को अपनी गृह्य अग्नि या लौकिक अग्नि से दक्षिणाभिमुख हो किसी नदी के तट पर अग्नि जलानी चाहिए, वहाँ कोई गड्ढा खोदना चाहिए और पृथिवी से प्रार्थना करनी चाहिए; यह सब उसी प्रकार किया जाना चाहिए जैसा कि वास्तविक मृत्यु पर किया जाता है।' बम्बई विश्वविद्यालय के मंडकमकर संग्रह में एक शौनककृत पाण्डुलिपि है जिसमें गद्य में जो जीवश्राद्ध का वर्णन है वह बौधायन से भी विशद है। इसमें बौधायन की बहुत-सी व्यवस्थाएँ उल्लिखित हैं। अन्य विस्तार यहाँ छोड़ दिये जा रहे हैं।

जीवितावस्था में श्राद्ध की व्यवस्था श्राद्ध-सम्बन्धी प्राचीन विचारधारा का विलोमत्व मात्र है। मौलिक एवं तात्विक श्राद्ध-सम्बन्धी धारणा मृत पूर्वपुरुषों की आत्मा को सन्तोष देना था। आगे चलकर लोग हतज्ञान एवं भ्रान्त-चित्त हो गये और इस श्राद्ध को भी मान्यता दे बैठे! आजकल भी कुछ लोगों ने यह श्राद्ध किया है, यद्यपि उनके पुत्र, भाई एवं भतीजे आदि जीवित रहे हैं और उन्होंने उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके श्राद्ध भी किये हैं।

आशौचावधि के उपरान्त दूसरे दिन किसी ब्राह्मण को बछड़े के साथ गाय का, और वह भी यथासम्भव कपिला गाय का दान करना एक परम्परा-सी रही है। बहुधा केवल यही गाय दी जाती है, और **वैतरणी गाय** किसी प्रिय या सन्निकट के सम्बन्धी की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् दुःख एवं रुदन के बीच बहुत कम दी जाती है। पहले गोदान करने की घोषणा कर दी जाती है और तब किसी ब्राह्मण के हाथ पर जल ढारा जाता है। तब हाथ में कुश लेकर दाता नीचे पाद-टिप्पणी में लिखित वचन के साथ गोदान करता है।[२७] दान लेनेवाला 'ओं स्वस्ति' (हाँ, यह अच्छा हो) द्वारा उत्तर देता है। तब सोने या चाँदी के सिक्कों में दक्षिणा दी जाती है और ब्राह्मण कहता है 'ओं स्वस्ति', गाय की पूँछ पकड़ता है और अपने अधीत वेद की शाखा के अनुरूप कामस्तुति करता है (अथर्ववेद ३।२९।७; तै० ब्रा० २।२।५।९ एवं तै० आ० ३।१०)। अनुशासनपर्व (५७।२८-२९) उस गोदान की प्रशंसा करता है, जिसमें बछड़े के सहित कपिला गाय दी जाती है, जिसके सींगों के ऊपरी भाग सोने से अलंकृत रहते हैं और जिसके साथ काँसे का बना दुग्ध-

२७. ओम्। अद्याशौचान्ते द्वितीयेऽह्नि अमुकगोत्रस्य पितुरमुकप्रेतस्य स्वर्गप्राप्तिकामः इमां कपिलां गां हेमशृंगीं रौप्यखुरां वस्त्रयुगच्छन्नां कांस्योपदोहां मुक्तालांगूलभूषितां सवत्सां रुद्रदैवत्याममुकगोत्रायामुकशर्मणे ब्राह्मणाय तुभ्यमहं संप्रददे। रघुवर का श्राद्धविवेक (पृ० ७७)।

पात्र भी दिया जाता है। उसने यह भी कहा है कि ऐसे दान से न केवल दाता को परलोक में रक्षा मिलती है, प्रत्युत उसके पुत्रों, प्रपौत्रों एवं कुल की सात पीढ़ियों तक की रक्षा होती है। और देखिए अनुशासनपर्व (७७।१०) जहाँ सभी गायों में सर्वश्रेष्ठ कपिला गाय के विषय में एक जनश्रुति कही गयी है।

पुराणों एवं निबन्धों ने तीर्थों एवं गया में किये जानेवाले श्राद्धों के विषय में विस्तार के साथ लिखा है। देखिए अत्रि (५५-५८), वायु० (८३।१६-४२), हेमाद्रि (श्रा०, पृ० १५६८ एवं १५७५)। इस विषय में हम आगे तीर्थों के प्रकरणों में लिखेंगे।

अधिक मास या मलमास में श्राद्धों का सम्पादन होना चाहिए या नहीं, इस विषय में बहुत कुछ कहा गया है। यह मास कई नामों से प्रसिद्ध है, यथा—**मलिम्लुच** (काठकसंहिता ३८।१४), **संसर्प** या **अंहसस्पति** (वाज० सं० ७।३० एवं २२।३१), **मलमास, अधिमास**। ऋ० (१।२५।८) में भी यह विदित था। ऐतरेय ब्राह्मण (३।१) में सोम-विक्रेता एवं तेरहवें मास को पाप के समान गर्हित माना गया है। पुराणों ने इस मास को **पुरुषोत्तम मास** (विष्णु का मास) कहकर इसे मान्यता देनी चाही, किन्तु तेरहवें मास के साथ जो भावना थी वह चलती आयी है। गृह्यपरिशिष्ट (श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ३८) ने तेरहवें मास के विषय में एक सामान्य नियम यह दिया है—'मलिम्लुच नामक मास मलिन है और इसकी उत्पत्ति पाप से हुई है; सभी कार्यों के लिए यह गर्हित है, देवों एवं पितरों के कृत्यों के लिए यह त्याज्य है।'[२८] किन्तु इस मत के विरोध में भी बातें आती हैं। हारीत (स्मृति० च०, श्रा० ३७४; श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ३२३ एवं श्राद्धतत्त्व, पृ० २५२) ने व्यवस्था दी है कि सपिण्डन के उपरान्त जितने श्राद्ध आते हैं, उनका सम्पादन मलिम्लुच में नहीं होना चाहिए। व्यास ने कहा है कि जातकर्म, अन्नप्राशन, नवश्राद्ध, त्रयोदशी एवं मघा के श्राद्ध, षोडश श्राद्ध, स्नान, दान, जप, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण के समय के कृत्य मलमास में भी किये जाने चाहिए।[२९] स्मृतिमुक्ताफल (पृ० ७२८) ने निष्कर्ष निकाला है कि यदि मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष व्यतीत होने के पूर्व ही कोई श्राद्ध किया जाय तो उसका मलमास में होना दोष नही है। भृगु (स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ३७५) का कथन है कि जो लोग मलमास में मरते हैं उनका सांवत्सरिक श्राद्ध मलमास में ही करना चाहिए, किन्तु यदि कोई ऐसा न हो (अर्थात् मलमास में न मरे) तो उसी नाम वाले साधारण मास में श्राद्ध करना चाहिए।[३०] वृद्ध-वसिष्ठ का कथन है कि यदि श्राद्ध की तिथि मलमास में पड़ जाय तो उसका सम्पादन दोनों मासों में करना चाहिए।[३१]

मलमास में क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इस पर विचार हम काल के प्रकरण में

२८. **मलिम्लुचस्तु मासो वै मलिनः पापसम्भवः। गर्हितः पितृदेवेभ्यः सर्वकर्मसु तं त्यजेत्॥** गृह्यपरिशिष्ट (श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ३८)।

२९. **जातकर्मान्त्यकर्माणि नवश्राद्धं तथैव च। मघात्रयोदशीश्राद्धं श्राद्धान्यपि च षोडश॥ चन्द्रसूर्यग्रहे स्नानं श्राद्धं दानं तथा जपः। कार्याणि मलमासेऽपि नित्यं नैमित्तकं तथा॥** व्यास (श्राद्धतत्त्व, पृ० २८३; स्मृतिच०, श्रा० ३७३)।

३०. **मलमासे मृतानां तु श्राद्धं यत्परिवत्सरम्। मलमासेऽपि तत्कार्यं नान्येषां तु कथंचन॥** भृगु (स्मृतिच०, श्रा० ३७५)। निर्णयसिन्धु (३, पृ० ४७५) का कथन है—'मलमासमृतानां तु यदा स एवाधिकः स्यात्तदा तत्रैव कार्य-मन्यथा शुद्ध एव।'

३१. **श्राद्धीयाहनि सम्प्राप्ते अधिमासो भवेद्यदि। मासद्वयेऽपि कुर्वीत श्राद्धमेवं न मुह्यति॥** वृद्धवसिष्ठ (स्मृतिच०, श्रा०, पृ० ३७५); निर्णयसिन्धु (पृ० १३)।

करेंगे। यदि तिथि दो दिनों तक चली जाय या जब कभी तिथि का क्षय हो जाय तो क्या करना चाहिए, इस विषय में भी हम वहीं पढ़ेंगे।

पृथ्वीचन्द्रोदय जैसे कुछ श्राद्ध-सम्बन्धी ग्रन्थों में संघातश्राद्ध नामक श्राद्ध का वर्णन आया है। यदि एक ही दिन विभिन्न कालों में कई लोग मृत हो जायँ तो, ऋष्यशृंग के मत से, उनका श्राद्ध-सम्पादन उसी कालक्रम से होना चाहिए, किन्तु यदि एक ही काल में पाँच या छः व्यक्ति मृत हो जायँ (यथा नाव डूबने पर या हाट-बाजार में आग लग जाने पर) तो श्राद्ध-सम्पादन के कालों का क्रम मृत-सम्बन्धियों की सन्निकटता पर (अर्थात् कर्ता से जो अति निकट होता है उसका पहले और अन्यों का उसी क्रम से) निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी की पत्नी, पुत्र, भाई एवं चाचा एक ही समय मृत हो जायँ तो सर्वप्रथम पत्नी का, तब पुत्र का और तब भाई एवं चाचा का श्राद्ध क्रम से करना चाहिए। यदि किसी दुर्घटना से पिता एवं माता साथ ही मृत हो जायँ तो पिता का पहले और माता का (शवदाह आदि) बाद को करना चाहिए।[32]

यदि किसी विघ्न-बाधा से श्राद्ध करना असम्भव हो, तो इसके लिए भी व्यवस्था दी हुई है। ऋष्यशृंग ने इस विषय में कहा है—यदि पितृश्राद्ध के समय मरणाशौच हो जाय तो आशौचावधि के उपरान्त ही श्राद्ध करना चाहिए। यदि एकोद्दिष्ट के सम्पादन के समय कोई विघ्न उपस्थित हो जाय तो उसे दूसरे मास में उसी तिथि पर करना चाहिए।[33] यह अन्तिम वाक्य मासिक श्राद्ध की ओर भी संकेत करता है। यदि किसी बाधा से षोडश श्राद्धों में कोई स्थगित हो जाय तो उसे अमावस्या को या उससे भी अच्छा कृष्णपक्ष की एकादशी को करना चाहिए। यदि मरणाशौच से मासिक श्राद्ध या सांवत्सरिक श्राद्ध में बाधा उपस्थित हो जाय तो उसका सम्पादन आशौचावधि के उपरान्त या अमावस्या को किया जाना चाहिए। यही बात पद्म० में भी आयी है।[34] यदि विघ्न कर्ता की रोगग्रस्तता, सामग्रियों के एकत्रीकरण की असमर्थता या पत्नी की रजस्वला-अवस्था से सम्बन्धित हो तो आमश्राद्ध किया जा सकता है।

यह ज्ञातव्य है कि जहाँ श्राद्ध में विद्वान् ब्राह्मण को आमन्त्रित करने पर बल दिया गया है वहीं कुछ स्मृतियों द्वारा उसे व्यवहृत करने में बाधा भी उपस्थित कर दी गयी है। यथा सपिण्डन (जो बहुधा मृत्यु के उपरान्त एक वर्ष में किया जाता है) के उपरान्त तीन वर्षों तक शुद्धताकांक्षी व्यक्ति को किसी श्राद्ध में भोजन नहीं करना चाहिए, प्रथम वर्ष में श्राद्ध-भोजन खाने से व्यक्ति मृत की अस्थियाँ एवं मज्जा खाता है, दूसरे वर्ष में उसका मांस, तीसरे वर्ष में रक्त;

३२. तत्रैकस्मिन्नहनि क्रमेण मृतानां मरणक्रमेणैकेन कर्त्रा श्राद्धं कर्तव्यम्। तदाह ऋष्यशृंगः। कृत्वा पूर्वमृतस्यादौ द्वितीयस्य ततः पुनः। तृतीयस्य ततः कुर्यात्संनिपाते त्वयं क्रमः॥.....भवेद्यदि सपिण्डानां युगपन्मरणं तदा। सम्बन्धासत्तिमालोच्य तत्क्रमाच्छ्राद्धमाचरेत्॥ पृथ्वीचन्द्रोदय, पांडुलिपि २६५; जाबालिः—पित्रोस्तु मरणं चेत्स्यादेकदैव यद तदा। पितुर्दाहादिकं कृत्वा पश्चान्मातुः समाचरेत्॥ वही (पांडुलिपि २६६)।

३३. देये पितॄणां श्राद्धे तु आशौचं जायते यदि। आशौचे तु व्यतिक्रान्ते तेभ्यः श्राद्धं प्रदीयते॥ एकोद्दिष्टे तु सम्प्राप्ते यदि विघ्नः प्रजायते। मासेऽन्यस्मिंस्तिथौ तस्यां श्राद्धं कुर्यात्प्रयत्नतः॥ ऋष्यशृंग (अपरार्क, पृ० ५६१; श्रा० क्रि० कौ०, पृ० ४८०; मदन पारिजात पृ० ६१८)। और देखिए स्कन्द० (७।१।२०६) एवं गरुड़० ४५।९)।

३४. मासिकाब्दे तु सम्प्राप्ते त्वन्तरा मृतसूतके। वदन्ति शुद्धौ तत्कार्यं दर्शे वापि विचक्षणाः॥ षट्त्रिंशन्मत (अपरार्क, पृ० ५६१); मासिकान्युदकुम्भानि श्राद्धानि प्रसवेषु च। प्रतिसंवत्सरं श्राद्धं सूतकानन्तरं विदुः॥... एकादश्यां कृष्णपक्षे कर्तव्यं शुभमिच्छता। तत्र व्यतिक्रमे हेतावमायां क्रियते तु तत्॥ पद्म० (पातालखण्ड १०१।६८ एवं ७१)।

कहीं चौथे वर्ष में वह (कुछ) पवित्र होता है।[35] देखिए परा० मा० (जिल्द २, भाग १, पृ० ४२३) जहाँ सांवत्सरिक श्राद्ध के साथ अन्य श्राद्धों में भोजन करने पर प्रायश्चित्तों का उल्लेख किया गया है। हारीत का कथन है—'नव श्राद्ध-भोजन करने पर चान्द्रायण व्रत करना चाहिए। मासिकश्राद्ध-भोजन करने से प्राजापत्य व्रत एवं प्रात्यब्दिक श्राद्ध में खाने से एक दिन का उपवास करना चाहिए।' यह उसी प्रकार है जैसा कि दान लेने पर होता है। दाता को दान देने पर कल्याण मिलता है, किन्तु दान लेनेवाले को दान लेना चाहिए कि नहीं; यह उसे ही तय करना होता है। ब्राह्मणों के समक्ष यह आदर्श उपस्थित किया गया है कि वैदिक विद्या एवं ज्ञान प्राप्त करने पर एवं तप-साधन करने पर वे दान-ग्रहण के अधिकारी तो हो जाते हैं, किन्तु यदि वे सर्वोच्च लोक की प्राप्ति चाहते हैं तो उन्हें दान नहीं लेना चाहिए (याज्ञ० १।२१३)। मनु (४।१८६) का भी कथन है कि दान लेने का अधिकारी होने पर भी ब्राह्मण को बार-बार वैसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि वैदिक अध्ययन से उसे जो अलौकिक गुण प्राप्त हो जाते हैं वे दानग्रहण से नष्ट हो जाते हैं।[36] मनु (४।८५-८६=पद्म० ५।१९।२३६-२३७) का कथन है कि राजा का दान लेना घोर (अर्थात् प्रतिफल में भयानक) है और पद्म० (५।१९।२३५) ने सावधान किया है कि ग्रहण करने में दान मधु के समान मीठा लगता है किन्तु (फल में) यह विष के समान है। यह तर्क पौरोहित्य-कार्य एवं श्राद्ध-भोजन करने के संबंध में अधिक बल से प्रयुक्त किया जाता है, जहाँ न केवल दान मिलते हैं प्रत्युत छककर खाने के लिए स्वादिष्ठ भोजन भी मिलता है।

हमने ऊपर देख लिया है कि अत्यन्त प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थ ऋग्वेद में आया है कि मृत्यु हो जाने के तुरन्त बाद ही की जानेवाली अन्त्येष्टि-क्रियाएँ मृत व्यक्ति के प्रति व्यक्त श्रद्धा एवं कुछ सीमा तक भय की द्योतक हैं। इन क्रियाओं के अन्तर्गत मृत व्यक्ति के लिए व्यवस्था होती है और पितर हो जाने के पूर्व उसे एक बीच (मध्य) का शरीर दिया जाता है। हमने यह भी देख लिया है कि अत्यन्त प्राचीन काल में, जहाँ तक हमें साहित्यिक प्रमाण मिल पाते हैं, पूर्वपुरुषों की पूजा के लिए कई कृत्य होते थे, यथा—प्रत्येक मास की अमावास्या को किया जानेवाला **पिण्डपितृयज्ञ** तथा **शाकमेध** एवं अष्टकाश्राद्धों में किया जानेवाला **महापितृयज्ञ**। क्रमशः पितरों के कृत्य अधिक विस्तार के साथ किये जाने लगे और श्राद्ध-भावना के प्रति अतिशय महत्त्व दिखाया जाने लगा एवं अधिक समय, प्रयत्न एवं धन का व्यय होने लग गया।

अब प्रश्न यह है कि बीसवीं शताब्दी में श्राद्धों के विषय में क्या किया जाना चाहिए। यह देखने में आता है कि आजकल बहुत से ब्राह्मण पञ्चमहायज्ञ (जो प्रति दिन किये जाने चाहिए) भी नहीं करते, किंतु वे अपने पितरों के लिए कम-से-कम प्रति वर्ष श्राद्ध करते हैं। निम्न बात सभी प्रकार के लोगों के लिए कही जा सकती है, और यह मध्यम

३५. अथ शुद्धश्राद्धं दिवोदासीये। सपिण्डीकरणादूर्ध्वं यावदब्दत्रयं भवेत्। तावदेव न भोक्तव्यं क्षयेऽहनि कदाचन॥...प्रथमेस्थीनि मज्जा च द्वितीये मांसभक्षणम्। तृतीये रुधिरं प्रोक्तं श्राद्धं शुद्धं चतुर्थकमिति श्राद्धकारिकोक्तेः॥ निर्णयसिन्धु (३, पृ० ४७५)। चान्द्रायणं नवश्राद्धे प्राजापत्यं तु मिश्रके। एकाहं तु पुराणेषु प्रायश्चित्तं विधीयते॥ हारीत (परा० मा०, २, १, पृ० ४२३)। स्मृतियों के अन्य नियमों के लिए देखिए रुद्रधरकृत श्राद्धविवेक (पृ० ११३) एवं श्रा० क्रि० कौ० (पृ० ३४५)। पद्म० (५।१०।१९) का कथन है—'नवश्राद्धे न भोक्तव्यं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत्'।

३६. प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत्। प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति॥ मनु (४।१८६)। और देखिए इसी प्रकार के श्लोक के लिए पद्म० (४।१९।२६८)। राजन् प्रतिग्रहो घोरो मध्वास्वादो विषोपमः। तद् ज्ञायमानः कस्मात्त्वं कुरुषेऽस्मत्प्रलोभनम्॥ दशसूनासमश्चक्री... तेन तुल्यस्ततो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः॥ पद्म० (५।१९।२३५)।

मार्ग का द्योतक है। जो लोग श्राद्ध-कर्म में विश्वास रखते हैं और यह समझते हैं कि ऐसा करने से मृत को शान्ति मिलती है, उन्हें कम विस्तार के साथ इसका सम्पादन करना चाहिए और मनु (३।१२५-१२६), कूर्म० (२।२२।-२७) एवं पद्म० (५।९।९८) के शब्द स्मरण रखने चाहिए, जो इस प्रकार हैं—श्राद्ध में अधिक व्यय नहीं करना चाहिए, विशेषतः आमन्त्रित होनेवाले ब्राह्मणों की संख्या में।[३७] जिन लोगों का विश्वास आधुनिक भावनाओं एवं अंग्रेजी शिक्षा के कारण हिल उठा है या टूट चुका है, या जिन लोगों का **कर्म** एवं **पुनर्जन्म** में अटल विश्वास है उन्हें एक बात स्मरण रखनी है। श्राद्ध के विषय में एक धारणा प्रमुख है और वह प्रशंसा के योग्य भी है, वह है अपने प्रिय एवं सन्निकट सम्बन्धियों के प्रति स्नेह एवं श्रद्धा की भावना। वर्ष में एक दिन अपने प्रिय एवं निकट के सम्बन्धियों को स्मरण करना, मृत की स्मृति में सम्बन्धियों, मित्रों एवं विद्वान् लोगों को भोजन के लिए आमन्त्रित करना, विद्वान् किन्तु धनहीन, सच्चरित्र तथा सादे जीवन एवं उच्च विचार वाले व्यक्तियों को दान देना एक अति सुन्दर आचरण है। ऐसा करना अतीत की परम्पराओं के अनुकूल होगा और उन आचरणों एवं व्यवहारों को, जो आज निर्जीव एवं निरर्थक-से लगते हैं, पुनर्जीवित एवं अनुप्राणित करने के समान होगा। बहुत प्राचीन काल से हमारे विश्वास के तात्त्विक दृष्टिकोणों एवं धारणाओं के अन्तर्गत ऋषियों, देवों एवं पितरों से सम्बन्धित तीन ऋणों की एक मोहक धारणा भी रही है। पितृ-ऋण पुत्रोत्पत्ति से चुकता है, क्योंकि पुत्र पितरों को पिण्ड देता है। यह एक अति व्यापक एवं विशाल धारणा है। गया में तिलयुक्त जल के तर्पण एवं पिण्डदान के समय जो कहा जाता है उससे बढ़कर कौन-सी अन्य उच्चतर भावना होगी ? कहा गया है—'मेरे वे पितर लोग, जो प्रेतरूप में हैं, तिलयुक्त यव (जौ) के पिण्डों से तृप्त हों, और प्रत्येक वस्तु, जो ब्रह्मा से लेकर तिनके तक चर हो या अचर, हमारे द्वारा दिये गये जल से तृप्त हो।' यदि हम इस महान् उक्ति के तात्पर्य को अपने वास्तविक आचरण में उतारें तो यह सारा विश्व एक कुटुम्ब हो जाय। अतः युगों से संचित जटिल बातों को त्यागते जाते हुए आज के हिन्दुओं को चाहिए कि वे धार्मिक कृत्यों एवं उन उत्सवों के, जिन्हें लोग भ्रामक ढंग से समझते आ रहे हैं, भीतर पड़े हुए सोने को न ठुकरायें। आज भी बहुत-से विद्वान् महानुभाव लोग अपनी माता एवं पिता के प्रति श्रद्धा-भावना को अभिव्यक्त करते हुए श्राद्ध-कर्म करते हैं।

३७. द्वौ दैवे पितृकृत्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा। भोजयेदीश्वरोपीह न कुर्याद्विस्तरं बुधः॥ पद्म० (५।९।९८)। जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी। तै० सं० (६।३।१०।५); ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥ ऐ० ब्रा० (३३।१)। इस विषय में इस ग्रन्थ के खण्ड ३, अध्याय— में लिखा जा चुका है और हम पुनः गयाश्राद्ध में इस पर विचार करेंगे। ये केचित्प्रेतरूपेण वर्तन्ते पितरो मम। ते सर्वे तृप्तिमायान्तु सक्तुभिस्तिलमिश्रितैः॥ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यत्किंचित्सचराचरम्। मया दत्तेन तोयेन तृप्तिमायातु सर्वशः॥ वायु० (११०।६३-६४)। मिलाइए वायु० (११०।२१-२२) एवं मेत्तसुत्त (सुत्तनिपात)।

अध्याय ११

तीर्थयात्रा

सभी धर्मों में कुछ विशिष्ट स्थलों की पवित्रता पर बल दिया गया है और वहाँ जाने के लिए धार्मिक व्यवस्था बतलायी गयी है या उनकी तीर्थयात्रा करने के विषय में प्रशंसा के वचन कहे गये हैं। मुसलमानों के पाँच व्यावहारिक धार्मिक कर्तव्यों में एक है जीवन में कम-से-कम एक बार हज करना, यानी मक्का एवं मदीना जाना जो क्रम से मुहम्मद साहब के जन्म एवं मृत्यु के स्थल हैं।[1] बौद्धों के चार तीर्थ-स्थल हैं; लुम्बिनी (रुम्मिनदेई), बोध-गया, सारनाथ एवं कुशीनारा, जो क्रम से भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान, सम्बोधि-स्थल (जहाँ उन्हें सम्बोधि या ज्ञान प्राप्त हुआ था), धर्मचक्र-प्रवर्तन-स्थल (जहाँ उन्होंने पहला धार्मिक उपदेश दिया था) एवं निर्वाणस्थल (जहाँ उनकी मृत्यु हुई थी) के नाम से प्रसिद्ध हैं (देखिए महापरिनिब्बानसुत्त)। ईसाइयों के लिए जेरुसलेम सर्वोच्च पवित्र स्थल है, जहाँ ऐतिहासिक कालों में बड़ी-से बड़ी सैनिक तीर्थयात्राएँ की गयी थीं। सैनिक तीर्थयात्रियों ने अपने इस पुनीत स्थल को मुसलमानों के अधिकार से छीनना चाहा था। ऐसी भयानक सैनिक तीर्थयात्राएँ किसी अन्य धार्मिक जाति में नहीं पायी गयी हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार गिब्बन ने निन्दात्मक ढंग से इन सैनिक तीर्थयात्राओं का वर्णन किया है।[2] किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन सैनिक धर्मयात्रियों में सहस्रों ऐसे थे, जिन्होंने अपने आदर्श के परिपालन में अपना जीवन एवं सर्वस्व त्याग कर दिया था।

भारतवर्ष में पवित्र स्थानों ने अति महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। विशाल एवं लम्बी नदियाँ, पर्वत एवं वन सदैव पुण्यप्रद एवं दिव्य स्थल कहे गये हैं।[3] प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में तीर्थयात्राओं से समाज एवं

१. देखिए सेक्रेड बुक आव दि ईस्ट (जिल्द ६, भूमिका) जहाँ पाँच कर्तव्यों का उल्लेख है। मक्का एवं मदीना की तीर्थयात्रा को हज कहा जाता है और जो मुसलमान हज करता है उसे हाजी कहलाने का अधिकार है।

२. गिब्बन ने लिखा है—'अपने पादरी की पुकार पर सहस्रों की संख्या में डाकू, गृहदाही एवं नर-घाती लोग अपनी आत्माओं को पापमुक्त करने के लिए उठ खड़े हुए और अधार्मिकों पर वही अत्याचार ढाहने लगे जिसे वे स्वयं अपने ईसाई भाइयों पर करते थे, और पापमुक्ति के ये साधन सभी प्रकार के अपराधियों द्वारा अपनाये गये।' देखिए डेक्लाइन एण्ड फाल आव दि रोमन एम्पायर, जिल्द ७ (सन् १८६२ का संस्करण), पृ० १८८।

३. महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'साधना' में कहा है—'भारतवर्ष ने तीर्थयात्रा के स्थलों को वहाँ चुना, जहाँ प्रकृति में कुछ विशिष्ट रमणीयता या सुन्दरता थी, जिससे कि उसका मन संकीर्ण आवश्यकताओं के ऊपर उठ सके और अनन्त में अपनी स्थिति का परिज्ञान कर सके। यही कारण था कि भारत में जहाँ एक समय सभी लोग मांसभक्षी थे, उन्होंने जीवन के प्रति सार्वभौम सहानुभूति की भावना के संवर्धन के लिए पशु-भोजन का परित्याग कर दिया—यह मानवजाति के इतिहास में एक विलक्षण घटना है।' आधुनिक पाश्चात्य लोगों तथा प्राचीन एवं मध्य काल के भारतीयों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद है (जो आज भी अत्यधिक मात्रा में विराजमान है)। यदि

स्वयं तीर्थयात्रियों को बहुत लाभ होते थे। यद्यपि भारतवर्ष कई राज्यों में विभाजित था और लोग भाँति-भाँत के सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों के अनुयायी थे, किन्तु तीर्थयात्राओं ने भारतीय संस्कृति एवं देश की महत्त्वपूर्ण मौलिक एकता की भावना को संवर्धित किया। वाराणसी एवं रामेश्वर को सभी हिन्दुओं ने, चाहे वे उत्तर-भारत के हों या दक्षिण भारत के, समान रूप से पवित्र माना है। यद्यपि हिन्दू समाज बहुत-सी जातियों में विभक्त था और जाति-संकीर्णता में फँसा था, किन्तु तीर्थयात्राओं ने सभी को पवित्र नदियों एवं स्थलों में एक स्थान पर बिठला दिया। पवित्र स्थानों से सम्बन्धित परम्पराओं, तीर्थयात्रियों की संयमशीलता, पवित्र एवं दार्शनिक लोगों के समागम एवं तीर्थों के वातावरण ने यात्रियों को एक उच्च आध्यात्मिक स्तर पर अवस्थित कर रखा था और उनके मन में एक ऐसी श्रद्धा-भक्ति की भावना भर उठती थी जो तीर्थयात्रा से लौटने के उपरान्त भी दीर्घ काल तक उन्हें अनुप्राणित किये रहती थी। तीर्थयात्रा करना एक ऐसा साधन था जो साधारण लोगों को स्वार्थमय जीवन-कर्मों से दूर रखने में सहायक होता था और उन्हें उच्चतर एवं दीर्घकालीन महान् नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों के विषय में सोचने को उत्तेजित करता रहता था।

पवित्र अथवा तीर्थ के स्थलों पर देवों का निवास रहता है, अतः इस भावना से उत्पन्न स्पष्ट लाभ एवं विश्वास के कारण प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने तीर्थों की यात्राओं पर बल दिया। विष्णुधर्मसूत्र (२।१६-१७) के अनुसार सामान्य धर्म में निम्न बातें आती हैं—क्षमा, सत्य, दम (मानस संयम), शौच, दान, इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, गुरुशुश्रूषा, तीर्थयात्रा, दया, आर्जव (ऋजुता), लोभशून्यता, देवब्राह्मणपूजन एवं अनभ्यसूया (ईर्ष्या से मुक्ति)।[४] उन आधुनिक लोगों को, जिन्हें पूर्वपुरुषों के धार्मिक विश्वासों के कुछ स्वरूपों पर आस्था नहीं रह गयी है या जिनके विश्वास तीर्थों के पण्डों की लोभान्धता, अज्ञानता एवं बोझिल क्रिया-कलापों के कारण निस्सार एवं निरर्थक से लगते हैं या सर्वथा हिल-से उठे हैं, तीर्थों से सम्बन्ध रखनेवाली प्राचीन रुचि अथवा प्रवृत्ति को यों ही अनर्गल नहीं समझना चाहिए।

ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक संहिताओं में 'तीर्थ' शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद की कतिपय उक्तियों में 'तीर्थ' शब्द, ऐसा लगता है, मार्ग या सड़क के अर्थ में आया है, यथा—'तीर्थे नार्यः पौंस्यानि तस्थुः' (ऋ० १।१६९।६), 'तीर्थे नाच्छा तातृषाणमोको' (ऋ० १।१७३।११), 'करन्न इन्द्रः सुतीर्थाभयं च' (ऋ० ४।२९।३)। कुछ स्थानों पर इसका तात्पर्य नदी का सुतार (उथला स्थान) है, यथा—'सुतीर्थमर्वतो यथानु नो नेषथा सुगम्' (ऋ० ८।४७।११), 'अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः' (१।४६।८)। ऋ० (१०।३१।३) की उक्ति 'तीर्थे न दस्ममुप यन्त्यूमाः' में 'तीर्थ' शब्द का सम्भवतः अर्थ है 'एक पवित्र स्थान'। ऋ० (८।१९।३७) की 'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि' की व्याख्या में निरुक्त (४।१५) ने कहा है कि 'सुवास्तु' एक नदी है और 'तुग्वन' का अर्थ है 'तीर्थ' (तरण-स्थान या पवित्र-स्थल)। तै० सं० (६।१।१।१२) में आया है कि यजमान को तीर्थ (सम्भवतः पवित्र स्थल)

कहीं कोई सुन्दर स्थल है तो पश्चिम के अधिकांश लोग वहाँ यात्रियों के लिए होटल-निर्माण की बात सोचेंगे, किन्तु वहीं प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय लोग किसी पवित्र स्थल के निर्माण की बात सोचते थे।

४. क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया॥ आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्। अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥ विष्णुधर्मसूत्र (२।१६-१७)। देखिए विष्णुधर्मोत्तर (२।८०।१-४) जहाँ अहिंसा, सत्यवचन, तीर्थानुसरण जैसे अन्य सामान्य धर्मों की सूची दी हुई है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १, जहाँ शान्तिपर्व, वामनपुराण, ब्रह्मपुराण आदि के उद्धरण दिये हुए हैं।

पर स्नान करना चाहिए।[5] तै० सं० (४।५।११।१-२) एवं वाज० सं० (१६।१६) में रुद्रों को तीर्थों में विचरण करते हुए लिखा गया है। शांखायन ब्राह्मण में आया है कि रात एवं दिन समुद्र हैं जो सबको समाहित कर लेते हैं और संध्याएँ (समुद्र के) अगाध तीर्थ हैं।[6] तीर्थ उस मार्ग को भी कहते हैं जो यज्ञिय स्थल (विहार) से आने-जाने के लिए 'उत्कर' एवं 'चात्वाल' (गड्ढा) के बीच पड़ता है।[7] और देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय २९।

ऐसा कहा गया है कि जिस प्रकार मानवशरीर के कुछ अंग, यथा दाहिना हाथ या कर्ण, अन्य अंगों से अपेक्षाकृत पवित्र माने जाते हैं, उसी प्रकार पृथिवी के कुछ स्थल पवित्र माने जाते हैं। तीर्थ तीन कारणों से पवित्र माने जाते हैं, यथा—स्थल की कुछ आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषताओं के कारण, या किसी जलीय स्थल की अनोखी रमणीयता के कारण, या किसी तपःपूत ऋषि या मुनि के वहाँ (स्नान करने, तपःसाधना करने आदि के लिए) रहने के कारण। अतः तीर्थ का अर्थ है वह स्थान या स्थल या जलयुक्त स्थान (नदी, प्रपात, जलाशय आदि) जो अपने विलक्षण स्वरूप के कारण पुण्यार्जन की भावना को जाग्रत करे। इसके लिए किसी आकस्मिक परिस्थिति (यथा सन्निकट में शालग्राम आदि) का होना आवश्यक नहीं है।[8] ऐसा भी कहा जा सकता है कि वे स्थल जिन्हें बुध लोगों एवं मुनियों ने तीर्थों की संज्ञा दी, तीर्थ हैं, जैसा कि अपने व्याकरण में पाणिनि ने 'नदी' एवं 'वृद्धि' जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। स्कन्द० (१।२।१३।१०) ने कहा है कि जहाँ प्राचीन काल के सत् पुरुष पुण्यार्जन के लिए रहते थे, वे स्थल तीर्थ हैं। मुख्य बात महान् पुरुषों के समीप जाना है, तीर्थयात्रा करना तो गौण है।[9]

ऋग्वेद में जलों, सामान्य रूप से सभी नदियों तथा कुछ विख्यात नदियों की ओर श्रद्धा के साथ संकेत किया गया है और उन्हें दैविक शक्ति-पूर्ण होने से पूजार्ह माना गया है।[10] ऋग्वेद (७।४९) के चार मन्त्रों में ऐसा आया है—'ता आपो देवीरिह मामवन्तु', अर्थात् 'दैवी जल हमारी रक्षा करें।' ऋ० (७।४९।१) में जलों को 'पुनानाः' (पवित्र करने वाले) कहा गया है। ऋ० (७।४७, १०।९ एवं १०।३०) में कुछ ऐसी स्तुतियाँ हैं जो देवतास्वरूप जलों को सम्बोधित हैं।[11] वे मानव को न केवल शरीर रूप से पवित्र करने वाले कहे गये हैं, प्रत्युत सम्यक् मार्ग से हटने के फल-

५. अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी अवरुन्धे तीर्थे स्नाति। तै० सं० (६।१।१।१-२)। इस उक्ति के विवेचन के लिए देखिए जैमिनि० (३।४।१४-१६)।

६. समुद्रो वा एष सर्वंहरो यदहोरात्रे तस्य हैते अगाधे तीर्थे यत्सन्ध्ये तद्यथा अगाधाभ्यां तीर्थाभ्यां समुद्रमतीयात्तादृक् तत्। शां० ब्रा० (२।९)।

७. ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्क्रामन्ति तद्धि यज्ञस्य तीर्थमाप्नानं नाम। शां० ब्रा० (१८।९)।

८. यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः। तथा पृथिव्या उद्देशाः केचित् पुण्यतमाः स्मृताः॥ प्रभावादद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा। परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥ पद्म० (उत्तरखण्ड, २३७।२५-२७); स्कन्द० (काशीखण्ड, ६।४३-४४); नारदीयपुराण (२।६२।४६-४७)। ये श्लोक कल्पतरु (तीर्थ, पृ० ७-८) द्वारा महाभारत के कहे गये हैं; इन्हें तीर्थप्रकाश (पृ० १०) ने भी उद्धृत किया है। और देखिए अनुशासनपर्व (१०८।१६-१८)।

९. मुख्या पुरुषयात्रा हि तीर्थयात्रानुषंगतः। सद्भिः समाश्रितो भूप भूमिभागस्तथोच्यते॥ स्कन्द० (१।२।१३।१०); यद्धि पूर्वतमैः सद्भिः सेवितं धर्मसिद्धये। तद्धि पुण्यतमं लोके सन्तस्तीर्थं प्रचक्षते॥ स्कन्द० (पृथ्वीच०, पाण्डुलिपि १३५)।

१०. ऋग्वेद में उल्लिखित नदियों के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १।

११. इदमापः प्रवहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ ऋ० (१०।९।८)।

स्वरूप संचित दोषों एवं पापों से छुटकारा देने के लिए भी उनका आह्वान किया गया है। तै० सं० (२।६।८।३) ने उद्घोष किया है कि सभी देवता जलों में केन्द्रित हैं (आपो वै सर्वा देवताः)। अथर्ववेद (१।३३।१) में जलों को शुद्ध एवं पवित्र करनेवाले कहा गया है और सुख देने के लिए उनका आह्वान किया गया है।[१२] ऋग्वेद (५।५३।९, १०।६४।९ एवं १०।७५।५-६) में लगभग २० नदियों का आह्वान किया गया है।[१३] ऋ० (१०।१०४।८) में इन्द्र को देवों एवं मनुष्यों के लिए ९९ बहती हुई नदियों को लानेवाला कहा गया है। ९९ नदियों के लिए देखिए ऋ० (१।३२।१४)। ऋ० (१०।६४।८) में सात की तिगुनी (अर्थात् २१) नदियों की चर्चा है और उसके आगे वाली ऋचा में सरस्वती, सरयू एवं सिन्धु नामक तीन नदियों को दैवी एवं माताओं के रूप में उल्लिखित किया गया है। सायण के मत से वे तीनों नदियाँ सात-सात के तीनों दलों में पृथक् रूप से (एक-एक दल के लिए) मुख्य हैं। ऋ० (१।३२।१२, १।३४।८, १।३५।८, २।१२।१२, ४।२८।१, ८।२४।२७ एवं १०।४३।३) में सप्त सिन्धुओं का उल्लेख है। अथर्ववेद, (६।२।१) में भी ऐसा आया है—'अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन।' सरस्वती के लिए तीन स्तुतियाँ कही गयी हैं (ऋ० ६।६१ तथा ७।९५ एवं ९६) और अन्य ऋचाओं में भी इसका उल्लेख हुआ है। ऋ० (७।९२।२) में आया है कि केवल सरस्वती ही, जो पर्वतों से बहती हुई समुद्र की ओर जाती है, अन्य नदियों में ऐसी है जिसने नाहुष की प्रार्थना सुनी और उसे स्वीकार किया। सरस्वती के तटों पर एक राजा एवं कुछ लोग रहते थे (ऋ० ८।२१।१८)।[१४]

१२. हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ अथर्व० (१।३३।१)।

१३. इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥ तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूःसुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥ ऋ० (१०।७५।५-६)।

१४. देखिए जर्नल आव दि डिपार्टमेण्ट आव लेटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, जिल्द १५, पृ० १-६३, जहाँ यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सरस्वती वास्तव में सिन्धु नदी ही है। किन्तु यह कथन अंगीकार नहीं किया जा सकता। सरस्वती, सरयू एवं सिन्धु का वर्णन ऋ० (१०।६४।९) में नदियों के तीन दलों की प्रमुख नदियों के रूप में हुआ है। प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने विद्वानों के मत-मतान्तरों की ओर संकेत करते हुए स्वीकार किया है (पृ० २२) कि ऋग्वेद के १०वें मण्डल में सरस्वती को हम सिन्धु नहीं कह सकते एवं ऋ० (३।२३।४) में सरस्वती को सिन्धु नहीं कहा जा सकता, फिर निश्चयपूर्वक कहा है कि ६ठे एवं ७वें मण्डलों में सरस्वती सिन्धु ही है किन्तु १०वें मण्डल में नहीं। सारा का सारा तर्क कतिपय अप्रामाणिक धारणाओं के प्रयोग से दूषित कर दिया गया है। उन्होंने आधुनिक सरस्वती की स्थितियों को आरम्भिक वैदिक काल में भी ज्यों का त्यों माना है। इस कथन के विरोध में कि प्राचीन काल में सरस्वती उतनी ही विशाल एवं विशद थी जितनी कि आधुनिक सिन्धु है और भूचाल या ज्वालामुखी उपद्रवों के कारण वह अतीत काल में अपना स्वरूप खो बैठी, कौन से तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं? आगे यह भी पूछा जा सकता है कि ६ठे एवं ७वें मण्डलों के प्रणयन में तथा ऋ० (३।२३।४) एवं ऋ० (१०।७५।५) के प्रणयन में कितनी शताब्दियों का अन्तर उन्होंने व्यक्त किया है। यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि ऋग्वेदीय काल में सिन्धु एवं सरस्वती नामक दो विशाल नदियाँ थीं। इस विषय में विस्तार के साथ यहाँ वर्णन उपस्थित करना कठिन है। पुराणों में सरस्वती को एक प्लक्ष वृक्ष से निकली हुई माना गया है, कुरुक्षेत्र से गुजरती हुई कहा गया है और सहस्रों पहाड़ियों को तोड़ती-फोड़ती द्वैत वन में प्रवेश करती हुई दर्शाया गया है। देखिए वामनपुराण (३२।१-४)—'सैषा शैलसहस्राणि विदार्य च महानदी। प्रविष्टा पुण्यतोयैषा वनं द्वैतमिति श्रुतम्॥'

प्रचण्ड एवं गर्जनयुक्त सरस्वती की बाढ़ों और शक्तिशाली उत्ताल तरंगों से पहाड़ियों के शिखर तोड़ती हुई इस नदी का उल्लेख ऋ० (६।६१।२ एवं ८) में हुआ है।[15] ऋ० (७।९६।१) में सरस्वती को नदियों में **असुर्या** (दैवी उत्पत्ति वाली) कहा गया है। दृषद्वती, आपया एवं सरस्वती के किनारे यज्ञों का सम्पादन भी हुआ था (ऋ० ३।२३।४)। ऋ० (२।४१।१६) में सरस्वती को नदियों एवं देवियों में श्रेष्ठ कहा गया है (अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति)। ऋ० (१।३।११-१२) ने सरस्वती की प्रशंसा नदी एवं देवी के रूप में, पावक (पवित्र करनेवाली), मधुर एवं सत्यपूर्ण शब्दों को कहलानेवाली, सद्विचारों को जगानेवाली और अपनी बाढ़ों की ओर ध्यान जगानेवाली कहते हुए की है।[16] ऋ० (७।९५।२, ७।४९।२ एवं १।७१।७) से यह स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय ऋषिगण को यह बात ज्ञात थी कि सात नदियाँ समुद्र में गिरती हैं। यह कहना उचित ही है कि सात नदियाँ निम्न थीं—सिन्धु, पंजाब की पाँच नदियाँ एवं सरस्वती। इन उक्तियों से यह प्रकट होता है कि उन दिनों ऋग्वेद के काल में सरस्वती एक विशाल जल-पूर्ण नदी थी, वह यमुना एवं शुतुद्रि (१०।७५।५) के बीच से बहती थी और फिर ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में रेतीले स्थलों में अन्तर्हित हो गयी। बहुधा आज उसे **सरसुती** नाम से पुकारते हैं जो भटनेर के पास मरुभूमि में समा जाती है। वाज० सं० (३४।११) का कहना है कि पाँच नदियाँ अपनी सहायक नदियों के साथ सरस्वती में मिलती हैं।[17] प्राचीन काल में **सारस्वत** नामक तीन **सत्र** होते थे, यथा—(१) मित्र एवं वरुण के सम्मान में, (२) इन्द्र एवं मित्र के लिए तथा (३) अर्यमा के लिए। जहाँ सरस्वती पृथिवी में समा गयी उसके दक्षिणी सूखे तट पर **दीक्षा** (किसी यज्ञ या कृत्य के लिए नियम ग्रहण) का सम्पादन होता था।[18] प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय सारस्वत-सत्रों के लिए देखिए ताण्ड्य

१५. इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः। ऋ० (६।६१।२); यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः। अमश्चरति रोरुवत्॥ ऋ० (६।६१।८)। निरुक्त (२।२३) में आया है—'तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवत् देवतावच्च निगमा भवन्ति', और इसने यह भी कहा है कि ऋ० (६।६१।२) में सरस्वती नदी के रूप में वर्णित है।

१६. चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती॥ महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। ऋ० (१।३।११-१२)। देखिए निरुक्त (११।२७)।

१७. पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्॥ वाज० सं० (३४।११)।

१८. सरस्वत्या विनशने दीक्षन्ते। .....दृषद्वत्या अप्ययेऽपोनप्त्रीयं चरुं निरूप्याथातियन्ति। चतुश्चत्वारिंशदाश्वीनानि सरस्वत्या विनशनात् प्लक्षः प्रास्रवणस्तावदितः स्वर्गो लोकः सरस्वतीसंमितेनाध्वना स्वर्गलोकं यन्ति।... यदा प्लक्षं प्रास्रवणमागच्छन्त्यथोत्थानम्। .....कारपचवं प्रति यमुनामवभृथमभ्यवयन्ति। ताण्ड्य० (२५।१०।१, १५, १६, २१ एवं २३)। मनु (२।१७) ने ब्रह्मावर्त को सरस्वती एवं दृषद्वती के बीच की भूमि माना है और मध्यदेश (२।२१) को हिमालय एवं विन्ध्य पर्वतों के बीच माना है, जो विनशन के पूर्व एवं प्रयाग के पश्चिम है। विनशन के लिए देखिए बौ० ध० सू०, वनपर्व एवं शल्यपर्व (इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १)। डा० डी० आर० पाटिल ने अपने ग्रन्थ 'कल्चरल हिस्ट्री आव वायुपुराण' (पृ० ३३४) में कहा है कि तीर्थयात्रा की प्रथा का आरम्भ बौद्धों एवं जैनों द्वारा किया गया और यह आगे चलकर भारत के सभी धर्मों में प्रचलित हो गयी। किंतु यह सर्वथा भ्रामक बात है। ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों से स्पष्ट होता है कि भारत के अपेक्षाकृत छोटे भूमि-भाग में यमुना तक तीर्थस्थान थे जहाँ सारस्वत सत्रों का प्रचलन था। तीर्थस्थानों की महत्ता, उनकी यात्रा करना और वहाँ धार्मिक कृत्यों का सम्पादन ब्राह्मण-काल में विदित था जो बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के प्रचलन से कम-से-कम एक सहस्र वर्ष पहले की बात है।

ब्राह्मण (के क्रमशः २५।१०, २५।११ एवं २५।१२ अंश)। विनशन एवं प्लक्ष-प्रास्रवण (जो सरस्वती का उद्गम-स्थल है) के बीच की भूमि सारस्वत सत्र के लिए सर्वोत्तम भूमि थी। सरस्वती एवं दृषद्वती के संगम (पश्चिम प्रयाग) पर 'अपां नपात्' इष्टि का सम्पादन होता था, जिसमें पक्व चावल (चरु) की आहुति दी जाती थी। सरस्वती के अन्त-र्हित हो जानेवाले स्थल से लेकर प्लक्ष-प्रास्रवण की दूरी इतनी थी जिसे घोड़े पर बैठकर ४० दिनों में तय किया जाता था। जब सत्र के सम्पादन-कर्ता प्लक्ष-प्रास्रवण तक पहुँचें तब उन्हें सत्र के कृत्यों का सम्पादन बन्द कर देना चाहिए और यमुना नदी में, जो कारपचव देश से होकर बहती है, अवभृथ स्नान करना चाहिए (न कि सरस्वती में, चाहे उसमें जल हो तब भी नहीं)। विस्तार के लिए देखिए कात्यायनश्रौतसूत्र (१०।१५-१९), जिसने कुरुक्षेत्र में 'परीणः' नामक स्थल का उल्लेख किया है (१०।१९।१), जहाँ वैदिक अग्नियाँ स्थापित होती थीं (अर्थात् जहाँ श्रौत यज्ञ किये जाते थे); आश्व० श्रौ० सू० (१२।६।१-२८), जिसने इतना जोड़ दिया है कि विनशन से फेंकी गयी एक शम्या की दूरी पर यजमानों द्वारा एक दिन बिताया जाता था; कात्यायनश्रौ० सू० (२४।५-६), जिसमें आया है कि दृषद्वती एवं सरस्वती के संगम पर अग्नि काम की इष्टि की जाती है; आप० श्रौ० सू० (२३।१२-१३), जिसमें पहले के उल्लिखित तीन सूत्रों से अधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१) में एक गाथा आयी है—"ऋषियों ने सरस्वती के तट पर एक सत्र किया, उनके बीच में बैठा हुआ कवष निकाल बाहर किया गया, क्योंकि वह ब्राह्मण नहीं था वल्कि दासीपुत्र था। उसे बाहर निकालकर मरुभूमि में इसलिए डाल दिया गया कि वह प्यास से तड़प-तड़पकर मर जाय। किन्तु उसने ऋ० (१०।३०'प्र देवत्रा ब्रह्मणे') के सूक्त-पाठ के रूप में जल या 'अपां नपात्' की स्तुति गायी (ऋ० के इस मन्त्र को 'अपोनप्त्रीय' कहा जाता है) जिससे सरस्वती वहाँ दौड़कर आ गयी जहाँ कवष खड़ा था और उस स्थान को घेर लिया। उस स्थान को उसके पश्चात् 'परिसरक' कहा गया।"[१९] इससे प्रकट होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के काल में तथा उसके बहुत पहले ही सरस्वती सूख गयी थी। देवल ने कई स्थानों को सारस्वत तीर्थों के नाम से पुकारा है।[२०]

ऋ० (८।६।२८) में सम्भवतः कहा गया है कि पर्वतों की घाटियाँ एवं नदियों के संगम पवित्र हैं।[२१] प्राचीन लोगों ने पर्वतों को देव-निवास माना है। यूनान में डेल्फी के उत्तर के पर्नसिस को पवित्र पर्वतों में गिना जाता था और ओलिम्पस को देवों का घर माना जाता था। ऋग्वेद में पर्वत को इन्द्र का संयुक्त देवता कहा गया है—'हे इन्द्र एवं पर्वत, आप लोग हमें (हमारी बुद्धि को) पवित्र कर दें' (ऋ० १।१२२।३); 'हे इन्द्र एवं पर्वत, आप दोनों युद्ध में आगे होकर अपने वज्र से सेना लेकर आक्रमण करनेवालों को मार डालें' (ऋ० १।१३२।६)। ऋग्वेद (६।४९।१४) में एक स्तुति पृथक् रूप से पर्वत को भी सम्बोधित है—'देवता अहिर्बुध्न्य, पर्वत एवं सविता हमारी स्तुतियों के कारण जलों के साथ भोजन दें।' ऋ० (३।३३।१) में विपाशा (आधुनिक व्यास) एवं शुतुद्री को

१९. यह ज्ञातव्य है कि वनपर्व (अध्याय ८३) ने कुरुक्षेत्र में अवस्थित सरस्वती के कतिपय तीर्थों का उल्लेख करते हुए सरक नामक प्रसिद्ध तीर्थ की चर्चा की है जो तीन करोड़ तीर्थों की पवित्रता को अपने में समाहित करता था (श्लोक ७५-७६)। यह सरक, लगता है, सरस्वती का परिसरक तीर्थ ही है।

२०. प्लक्षप्रस्रवणं वृद्धकन्याकं सारस्वतमादित्यतीर्थं कौबेरं वैजयन्तं पृथूदकं नैमिशं विनशनं वंशोद्भेदं प्रभासमिति सारस्वतानि। देवल (तीर्थकल्पतरु, पृ० २५०)।

२१. उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ ऋ० (८।६।२८)। वाज० सं० (२६।१५) ने 'संगमे' पढ़ा है।

पर्वतों की गोद से निकलते हुए कहा गया है। यहाँ 'पर्वत' शब्द साधारण अर्थ में आया है। अथर्ववेद (४।९।९) ने हिमालय की त्रैककुद नामक चोटियों से निकले हुए अञ्जन का उल्लेख किया है—'वह अञ्जन, जो हिमालय की त्रैककुद नामक चोटियों से निकलता है, सभी मायाकारों एवं मायाविनियों (डाकिनियों) को नष्ट कर दे।' हिरण्यकेशि गृह्य० (१।३।११।५) ने भी इस अञ्जन की ओर संकेत किया है। गौतम, बौ० ध० सू० एवं वसिष्ठधर्मसूत्र में भी वही सूत्र आया है कि वे स्थान (देश) जो पुनीत हैं और पाप के नाशक हैं, वे हैं पर्वत, नदियाँ, पवित्र सरोवर, तीर्थ-स्थल, ऋषि-निवास, गोशाला एवं देवों के मंदिर।[२२] वायु० (७७।११७) एवं कूर्मपुराण (२।३७।४९-५०) का कथन है कि हिमालय के सभी भाग पुनीत हैं, गंगा सभी स्थानों में पुण्य (पवित्र) है, समुद्र में गिरनेवाली सभी नदियाँ पुण्य हैं और समुद्र सर्वात्रिक पवित्र है।[२३] पद्म० (भूमिखण्ड ३९।४६-४७) का कथन है कि सभी नदियाँ, चाहे वे ग्रामों से या वनों से होकर जाती हैं, पुनीत हैं और जहाँ नदियों के तट का कोई तीर्थनाम न हो उसे विष्णुतीर्थ कहना चाहिए। कालिदास ने कुमारसम्भव (१।१)

२२. सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः पुण्या ह्रदास्तीर्थान्यृषिनिवासा गोष्ठपरिस्कन्दा इति देशाः। गौ० (१९।१४), वसिष्ठ० (२२।१२) एवं बौ० ध० सू० (३।१०।१२, जिसमें 'ऋषिनिकेतनानि गोष्ठपरिष्कन्दा इति०' पाठान्तर आया है)।

२३. सर्वं पुण्यं हिमवतो गंगा पुण्या च सर्वतः। समुद्रगाः समुद्राश्च सर्वे पुण्याः समन्ततः॥ वायु० (७७।११७); सर्वत्र हिमवान् पुण्यो गंगा....न्ततः। नद्यः समुद्रगाः पुण्याः समुद्रश्च विशेषतः॥ कूर्म० (२।३७।४९-५०)। 'राजा समस्ततीर्थानां सागरः सरितां पतिः।' नारदीय० (उत्तर ५८।१९)। सर्वे प्रस्रवणाः पुण्याः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः। नद्यः पुण्याः सदा सर्वा जाह्नवी तु विशेषतः॥ शंख (८।१४ जिसमें 'सरांसि च शिलोच्चयाः' पाठ आया है); तीर्थप्रकाश (पृ० १४)। सर्वाः समुद्रगाः पुण्याः सर्वे पुण्या नगोत्तमाः। सर्वमायतनं पुण्यं सर्वे पुण्या वनाश्रमाः॥ (तीर्थकल्प०, पृ० २५०); पद्म० (४।९३-४६) में भी ये ही शब्द आये हैं, केवल 'वराश्रयाः' पाठ-भेद है। बड़े-बड़े पर्वत, जिन्हें कुलपर्वत कहा जाता है, सामान्यतः ये हैं—महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः॥ कूर्म० (१।४७।२३।२४), वामन० (१३।१४-१५); किन्तु वायु० (१।८५), मत्स्य० (११३।१०-१) एवं ब्रह्म० (१८।१६) ने उन्हें भिन्न रूप से परिगणित किया है। बार्हस्पत्यसूत्र (३।८१) में आया है—'तत्रापि रैवतकविन्ध्यसह्यकुमारमलयश्रीपर्वतपारियात्राः सप्त कुलाचलाः।' नीलमतपुराण (५७) में ऐसा आया है—'महेन्द्रो ....ऋक्षवानपि। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च न विनश्यन्ति पर्वताः॥' विष्णुधर्मोत्तर० (३।१७४) ने ९ पर्वतों के नाम लिये हैं—हिमवान्हेमकूटश्च निषधो नीलएव च। श्वेतश्च शृंगवान् मेरुर्माल्यवान्गन्धमादनः। नवैतान् शैलनृपतीन्नवम्यां पूजयेन्नरः॥' (पर्वताष्टमीव्रत)। ब्रह्माण्ड० (२।१६-३९) एवं वायु० (४५।१०८) ने समुद्र में गिरनेवाली नदियों के विषय में यों लिखा है—'तास्तु नद्यः सरस्वत्यः सर्वा गंगाः समुद्रगाः। विश्वस्य मातरः सर्वा जगत्पापहराः स्मृताः॥' कुछ पुराणों में कुछ विशाल नदियाँ कुछ कालों में विशेष रूप से पवित्र कही गयी हैं, यथा—देवीपुराण (कल्प०, तीर्थ, पृ० २४२) में आया है—'कार्तिके ग्रहणं श्रेष्ठं गंगायमुनसंगमे। मार्गे तु ग्रहणं पुण्यं देविकायां महामुने॥ पौषे तु नर्मदा पुण्या माघे सन्निहिता शुभा। फाल्गुने वरणा ख्याता चैत्रे पुण्या सरस्वती॥ वैशाखे तु महापुण्या चन्द्रभागा सरिद्वरा। ज्येष्ठे तु कौशिकी पुण्या आषाढे तापिका नदी॥ श्रावणे सिन्धुनामा च भाद्रमासे च गण्डकी। आश्विने सरयूश्चैव भूयः पुण्या तु नर्मदा॥ गोदावरी महापुण्या चन्द्रे राहुसमन्विते॥' विष्णुधर्मसूत्र (८५) में आया है—'एवमादिष्वथान्येषु तीर्थेषु सरिद्वरासु सर्वेष्वपि स्वभावेषु पुलिनेषु प्रस्रवणेषु पर्वतेषु निकुञ्जेषु वनेषूपवनेषु गोमयलिप्तेषु मनोज्ञेषु।'

में हिमालय को **देवतात्मा** (देवों के निवास से सजीव) कहा है। भागवत (५।१९-१६) ने पुनीत पर्वतों के २७ एवं ब्रह्माण्ड (२।१६।२०-२३) ने ३० नाम दिये हैं।

हिमाच्छादित पर्वतों, प्राणदायिनी विशाल नदियों एवं बड़े वनों की सौन्दर्यशोभा एवं गरिमा सभी लोगों के मन को मुग्ध कर लेती है और यह सोचने को प्रेरित करती है कि उनमें कोई दैवी सत्ता है और ऐसे परिवेश में परम ब्रह्म आंशिक रूप में अभिव्यंजित रहता है। आधुनिक काल में प्रोटेस्टेंट यूरोप एवं अमेरिका में कदाचित् ही कोई व्यक्ति तीर्थयात्रा करता हो। हाँ, इसके स्थान पर वहाँ के लोग विश्राम करने, स्वास्थ्य-लाभ के लिए, प्राकृतिक शोभा के दर्शनार्थ एवं संकुल जीवन से हटकर खुले वातावरण में भ्रमणार्थ आते-जाते हैं। किन्तु आज भी तीर्थस्थान में रोग-निवारणार्थ जाना देखने में आता है। डा० अलेक्सिस कैरेल, जो एक प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक एवं नोबेल पुरस्कार-विजेता हैं, के ग्रन्थ 'ए जर्नी टू लौर्डेस' में फ्रांस में स्थित लौर्डेस में प्रकट हुए चमत्कारों के वर्णन से पश्चिम के लोगों में तीर्थयात्रा के विषय में एक नयी मनोवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ है। इसी प्रकार गत दो महायुद्धों में मारे गये अज्ञात शहीदों की समाधियों की तीर्थयात्रा भी इन दिनों आरम्भ हो गयी है।

ऋ० (१०।१४६।१) में विशाल वन (अरण्यानी) को देवता के रूप में सम्बोधित किया गया है। वामन-पुराण (३४।३-५) ने कुरुक्षेत्र के सात वनों को पुण्यप्रद एवं पापहारी कहा है, जो ये हैं—काम्यकवन, अदितिवन, व्यासवन, फलकीवन, सूर्यवन, मधुवन एवं पुण्यशीतवन।[२४]

सूत्रों एवं मनुस्मृति तथा याज्ञ० जैसी प्राचीन स्मृतियों में तीर्थों को कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति नहीं दर्शायी गयी है। किन्तु महाभारत एवं पुराणों में उनकी महिमा गायी गयी है और उन्हें यज्ञों से बढ़कर माना गया है। वनपर्व (८२।१३-१७) में देवयज्ञों एवं तीर्थयात्राओं की तुलना की गयी है; यज्ञों में बहुत-से पात्रों, यन्त्रों, संभार-संचयन, पुरोहितों का सहयोग, पत्नी की उपस्थिति आदि की आवश्यकता होती है, अतः उनका सम्पादन केवल राजकुमारों या धनिक लोगों द्वारा ही सम्भव है। निर्धनों द्वारा, विधुरों, असहायों, मित्रविहीनों द्वारा उनका सम्पादन सम्भव नहीं। तीर्थयात्रा द्वारा जो पुण्य प्राप्त होते हैं वे अग्निष्टोम जैसे यज्ञों द्वारा, जिनमें पुरोहितों को अधिक दक्षिणा देनी पड़ती है, प्राप्त नहीं हो सकते; अतः तीर्थयात्रा यज्ञों से उत्तम है।[२५] किन्तु वनपर्व (८२।९-१२) एवं अनुशासनपर्व (१०८।-३-४) ने तीर्थयात्रा से पूर्ण पुण्य प्राप्त करने के लिए **उच्च नैतिक** एवं **आध्यात्मिक** गुणों पर बहुत बल दिया है। ऐसा कहा गया है—जिसके हाथ, पाँव, मन सुसंयत हैं, जिसे विद्या, तप एवं कीर्ति प्राप्त हैं वही तीर्थयात्रा से (पूर्ण) फल प्राप्त

२४. शृणु सप्त वनानीह कुरुक्षेत्रस्य मध्यतः। येषां नामानि पुण्यानि सर्वपापहराणि च।। काम्यकं च वनं पुण्यम्०। वामनपुराण (३४।३-५)।

२५. ऋषिभिः क्रतवः प्रोक्ता देवेष्विव यथाक्रमम्। फलं चैव यथातथ्यं प्रेत्य चेह च सर्वशः।। न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञाः प्राप्तुं महीपते। बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भारविस्तराः।। प्राप्यन्ते पार्थिवैरेतैः समृद्धैर्वा नरैः क्वचित्। नार्थन्यूनैर्नावगणैरेकात्मभिरसाधनैः।। यो दरिद्रैरपि विधिः शक्यः प्राप्तुं नरेश्वर। तुल्यो यज्ञफलैः पुण्यैस्तं निबोध युधां वर।। ऋषीणां परमं गुह्यमिदं भरतसत्तम। तीर्थाभिगमनं पुण्यं यज्ञैरपि विशिष्यते।। महाभारत। (वनपर्व ८२।१३-१७); तीर्थकल्पतरु (पृ० ३७); तीर्थप्र० (पृ० १२) ने व्याख्या की है—अवगणैः तक्षादिसहायरहितैः, यज्ञस्य कुण्डमण्डपादि-साध्यत्वात्, एकात्मभिः पत्नीरहितैः, असंहतैः ऋत्विगादिसंघातरहितैः। और देखिए अनुशासनपर्व (१०७।२-४), मत्स्यपुराण (११२।१२-१५), पद्मपुराण (आदिखंड, ११।१४-१७ एवं ४९।१२-१५) एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२७३।४-५)।

कर सकता है। जो प्रतिग्रह (दान ग्रहण आदि) से दूर रहता है, जो कुछ मिल जाय उससे सन्तुष्ट रहता है एवं अहंकार से रहित है, वह तीर्थ फल प्राप्त करता है। जो अकल्कक (प्रवञ्चना या कपटाचरण से दूर) है, निरारम्भ है (अर्थात् धन कमाने के लिए भाँति-भाँति के उद्योगों से निवृत्त है), लघ्वाहारी (कम खानेवाला) है, जितेन्द्रिय है अर्थात् जो अपनी इन्द्रियों के संयम द्वारा पापकर्मों से दूर रहता है, और वह भी जो अक्रोधी है, सत्यशील है, दृढव्रती है, अपने समान ही अन्यों को जानने-मानने वाला है, वह तीर्थयात्राओं से पूर्ण फल प्राप्त करता है।[२६] इसका तात्पर्य यह है कि जिन्हें ये विशेषताएँ नहीं प्राप्त हैं वे तीर्थयात्रा द्वारा पापों का नाश कर सकते हैं किन्तु जो इन गुणों से युक्त हैं वे और भी अधिक पुण्यफल प्राप्त करते हैं। स्कन्द० (काशीखण्ड ६।३) ने दृढतापूर्वक कहा है—'जिसका शरीर जल से सिक्त है उसे केवल इतने से ही स्नान किया हुआ नहीं कह सकते; जो इन्द्रियसंयम से सिक्त है (अर्थात् उसमें डूबा हुआ है), जो पुनीत है, सभी प्रकार के दोषों से मुक्त एवं कलंकरहित है, केवल वही स्नात (स्नान किया हुआ) कहा जा सकता है।' यही बात अनुशासनपर्व (१०८।९) में भी कही गयी है।[२७] वायुपुराण में आया है—'पापकर्म कर लेने पर यदि धीर (दृढसंकल्प या बुद्धिमान्), श्रद्धावान् एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति तीर्थयात्रा करने से शुद्ध हो जाता है, तो उसके विषय में क्या कहना जिसके कर्म शुद्ध हैं? किंतु जो अश्रद्धावान् है, पापी है, नास्तिक है, संशयात्मा है (अर्थात् तीर्थयात्रा के फलों एवं वहाँ के कृत्यों के प्रति संशय रखता है) और जो हेतुद्रष्टा (व्यर्थ के तर्कों में लगा हुआ) है—ये पाँचों तीर्थफलभागी नहीं होते।[२८] स्कन्द० (१।१।३१।३७) का कथन है कि पुनीत स्थान (तीर्थ), यज्ञ एवं भाँति-भाँति के दान मन की शुद्धि के साधन हैं (अर्थात् इनसे पाप कटते हैं)। पद्म० (४।८०।९) में आया है—'यज्ञ, व्रत,

२६. यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥ परिग्रहादुपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित्। अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥ अकल्कको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः। विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमश्नुते॥ अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढव्रतः। आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥ वनपर्व (८२।९-१२); तीर्थकल्पतरु (पृ० ४-५); तीर्थप्रकाश (पृ० १३)। हस्तयोः संयमः परपीडा चौर्यादिनिवृत्त्या, पादयोः संयमः अगम्यदेशगमनपरताडनादिनिवृत्त्या, मनसः संयमः कुत्सितसंकल्पादिनिवृत्त्या। विद्या अत्र तत्तत्तीर्थगुणज्ञानम्, तपः तीर्थोपवासादि, कीर्तिः सच्चरितत्वेन प्रसिद्धिः। तीर्थप्रकाश (पृ० १३)। अकल्ककः दम्भरहितः, निरारम्भोऽत्रार्थार्जनादिव्यापाररहितः। तीर्थकल्पतरु (पृ० ५)। और देखिए वनपर्व (९२।११ एवं ९३।२०-२३)। ये वनपर्व के श्लोक पद्म० (आदिखण्ड, ११।९-१२) में पाये जाते हैं; प्रथम दो पद्म० (उत्तरखण्ड, २३७।३०-३२) में आये हैं; सभी स्कन्द० (काशीखण्ड, ६।४८-५१) में उद्धृत हैं; वायु० (११०-४-५) के दो पद्य प्रथम दो के समान हैं। 'यस्य हस्तौ च' नामक श्लोक शंखस्मृति (८।१५), ब्रह्म० (२५।२) एवं अग्नि० (१०९।१-२) में भी पाया जाता है। स्कन्द० (१।२।२।५-६) के मत से 'यस्य....संयतम्। निर्विकाराः क्रियाः सर्वाः स....श्नुते' वाली गाथा अंगिरा ने गायी है।

२७. नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते। स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥ अनुशासन० (१०८।९)।

२८. तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्दधानो जितेन्द्रियः। कृतपापो विशुध्येत किं पुनः शुभकर्मकृत्॥ अश्रद्दधानाः पाप्मानो नास्तिकाः स्थितसंशयाः। हेतुद्रष्टा च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥ वायु० (७७।१२५ एवं १२७); तीर्थकल्प० (पृ० ५-६); वाचस्पतिकृत तीर्थचिन्तामणि (पृ० ४), जिसमें आया है—पापात्मा बहुपापग्रस्तस्तस्य पापशमनं तीर्थं भवति न तु यथोक्तफलम्। ये श्लोक स्कन्द० (काशीखण्ड, ५६।५२-५३) में भी आये हैं।

तप एवं दान कलियुग में भले प्रकार से सम्पादित नहीं हो सकते; किन्तु गंगा-स्नान एवं हरिनाम-स्मरण सभी प्रकार के दोषों से मुक्त हैं।' विष्णुधर्मोत्तर० (३।२७३।७ एवं ९) ने बहुत ही स्पष्ट कहा है—'जब तीर्थयात्रा की जाती है तो पापी के पाप कटते हैं, सज्जन की धर्मवृद्धि होती है; सभी वर्णों एवं आश्रमों के लोगों को तीर्थ फल देता है।'[२९]

कुछ पुराणों (यथा—स्कन्द०, काशीखण्ड ६; पद्म०, उत्तरखण्ड २३७) का कथन है कि भूमि के तीर्थों (भौम तीर्थों) के अतिरिक्त कुछ ऐसे सदाचार एवं सुन्दर शील-आचार भी हैं जिन्हें (आलंकारिक रूप से) मानस तीर्थ कहा जाता है। उनके अनुसार 'सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, दया (सभी प्राणियों के प्रति), ऋजुता, दान, आत्मनिग्रह, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, मृदुवाणी, ज्ञान, धैर्य और तप तीर्थ हैं और सर्वोच्च तीर्थ मनःशुद्धि है।' उनमें यह भी आया है कि जो लोभी, दुष्ट, क्रूर, प्रवञ्चक, कपटाचारी, विषयासक्त हैं, वे सभी तीर्थों में स्नान करने के उपरान्त भी पापी एवं अपवित्र रहते हैं। क्योंकि मछलियाँ जल में जन्म लेती हैं, वहीं मर जाती हैं और स्वर्ग को नहीं जातीं, क्योंकि उनके मन पवित्र नहीं होते—यदि मन शुद्ध नहीं है तो दान, यज्ञ, तप, स्वच्छता, तीर्थयात्रा एवं विद्या को तीर्थ का पद नहीं प्राप्त हो सकता।[३०] ब्रह्मपुराण (२५।४-६) का कथन है कि जो दुष्टहृदय है वह तीर्थों में स्नान करने से शुद्ध नहीं हो सकता; जिस प्रकार वह पात्र जिसमें सुरा रखी गयी थी, सैकड़ों बार धोने से भी अपवित्र रहता है, उसी प्रकार तीर्थ, दान, व्रत, आश्रम (में निवास) उस व्यक्ति को पवित्र नहीं करते, जिसका हृदय दुष्ट रहता है, जो कपटी होता है और जिसकी इन्द्रियाँ असंयमित रहती हैं। जितेन्द्रिय जहाँ भी कहीं रहे, वहीं कुरुक्षेत्र, प्रयाग एवं पुष्कर हैं। वामनपुराण (४३।२५) में एक सुन्दर रूपक आया है—आत्मा संयमरूपी जल से पूर्ण नदी है, जो सत्य से प्रवहमान है, जिसका शील ही तट है और जिसकी लहरें दया है; उसी में गोता लगाना चाहिए, अन्तःकरण जल से स्वच्छ नहीं होता।[३१] पद्म० (२।३९।-५६-६१) ने तीर्थों के अर्थ एवं परिधि को विस्तृत कर दिया है—जहाँ अग्निहोत्र एवं श्राद्ध होता है, मन्दिर, वह घर जहाँ वैदिक अध्ययन होता है, गोशाला, वह स्थान जहाँ सोम पीनेवाला रहता है, वाटिकाएँ, जहाँ अश्वत्थ वृक्ष रहता है, जहाँ पुराण-पाठ होता है या जहाँ किसी का गुरु रहता है या पतिव्रता स्त्री रहती है या जहाँ पिता एवं योग्य पुत्र का निवास होता है—वे सभी स्थान (तीर्थ जैसे) पवित्र हैं।

अति प्राचीन काल से बहुत-से तीर्थों एवं पुनीत धार्मिक स्थलों का उल्लेख होता आया है। मत्स्य० (११०।-७), नारदीय० (उत्तर, ६३।५३-५४) एवं पद्म० (४।८९।१६-१७ एवं ५।२०।१५०), वराह० (१५९।६-७), ब्रह्म० (२५।७-८ एवं १७५।८३) आदि में तीर्थों की संख्याएँ दी गयी हैं। मत्स्य० का कथन है कि वायु ने घोषित किया है कि ३५ कोटि तीर्थ हैं जो आकाश, अन्तरिक्ष एवं भूमि में पाये जाते हैं और सभी गंगा में अवस्थित माने जाते हैं। वामन० (४६।५३) का कथन है कि ३५ करोड़ लिंग हैं। ब्रह्म० (२५।७-८) का कहना है कि तीर्थों एवं पुनीत धार्मिक

२९. पापानां पापशमनं धर्मवृद्धिस्तथा सताम्। विज्ञेयं सेवितं तीर्थं तस्मात्तीर्थपरो भवेत्॥ सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम्। तीर्थं फलप्रदं ज्ञेयं नात्र कार्या विचारणा॥ विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२७३।७ एवं ९)।

३०. सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं ...तीर्थानामुत्तमं तीर्थं विशुद्धिर्मनसः पुनः॥... जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः। न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥....दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा। सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥ स्कन्द० (काशीखण्ड, ६।२८-४५); पद्म० (उत्तरखंड, २३७।११-२८)। मिलाइए मत्स्य० (२२।८०—सत्यं तीर्थं दया तीर्थम्....)।

३१. आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः। तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा॥ वामनपुराण (४३।२५)।

स्थलों की इतनी बड़ी संख्या है कि उन्हें सैकड़ों वर्षों में भी नहीं गिना जा सकता। वनपर्व (८३।२०२) का कथन है कि पृथिवी पर नैमिष एवं अन्तरिक्ष में पुष्कर सर्वश्रेष्ठ तीर्थ हैं, कुरुक्षेत्र तीनों लोकों में विशिष्ट तीर्थ है और दस सहस्र कोटि तीर्थ पुष्कर में पाये जाते हैं (८२।२१)। अस्तु, समय-समय पर नये तीर्थ भी जोड़े गये तथा तीर्थों में स्थायी रूप से रहनेवाले, विशेषतः तीर्थ-पुरोहितों (पण्डों) ने धन-लाभ से उत्तेजित होकर संदिग्ध प्रमाणों से युक्त बहुत से माहात्म्यों का निर्माण कर दिया और उन पर महाभारत एवं पुराणों के प्रसिद्ध रचयिता व्यास का नाम जोड़ दिया। तीर्थों पर लिखने वाले अधिकांश निबन्धकारों ने स्वरुचि अनुसार चुनाव की प्रक्रिया अपनायी है। प्रारम्भिक निबन्धकारों में लक्ष्मीधर (लगभग १११०-११२० ई०) ने अपने तीर्थकल्पतरु के आधे से अधिक भाग में वाराणसी एवं प्रयाग पर ही लिखा है और पुष्कर, पृथूदक, कोकामुख, बदरिकाश्रम, केदार जैसे प्रसिद्ध तीर्थों पर २ या ३ पृष्ठ ही लिखे हैं। नृसिंहप्रसाद ने अपने तीर्थसार में अधिकांश दक्षिण के तीर्थों पर ही लिखा है, यथा—सेतुबन्ध, पुण्डरीक (आधुनिक पण्ढरपुर), गोदावरी, कृष्णा-वेण्या, नर्मदा। नारायण भट्ट के त्रिस्थलीसेतु का दो-तिहाई भाग वाराणसी एवं इसके उप-तीर्थों के विषय में है और शेष प्रयाग एवं गया के विषय में। इस असमान विवेचन के कई कारण हैं; लेखकों के देश या उनके निवास-स्थान, तीर्थस्थानों से उनका सुपरिचय और उनका पक्षपात एवं विशेष अनुराग। पुराणों, माहात्म्यों एवं निबन्धों के लेखकों में एक मनोवृत्ति यह भी रही है कि वे बहुत चढ़ा-बढ़ाकर अतिशयोक्तिपूर्ण विस्तार करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी एक तीर्थ के ही विषय में पढ़े और उसके विषय में उल्लिखित प्रशस्तियों पर ध्यान न दे तो वह ऐसा अनुभव कर सकता है कि एक ही तीर्थ की यात्रा से इस जीवन एवं परलोक में उसकी सारी अभिलाषाएँ पूर्ण हो सकती हैं और काशी-प्रयाग जैसे तीर्थों में जाने के उपरान्त उसे न तो यज्ञ करने चाहिए, और न दान आदि अन्य कर्म करने चाहिए। कुछ अनोखे उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। वनपर्व (८२।२६-२७) में यहाँ तक आया है कि देव लोगों एवं ऋषि लोगों ने पुष्कर में सिद्धि प्राप्त की और जो भी कोई वहाँ स्नान करता है एवं श्रद्धापूर्वक देवों एवं अपने पितरों की पूजा करता है वह अश्वमेध करने का दसगुना फल पाता है। पद्मपुराण (५वाँ खण्ड, २७।७८) ने पुष्कर के विषय में लिखा है कि इससे बढ़कर संसार में कोई अन्य तीर्थ नहीं है। वनपर्व (८३।१४५) ने पृथूदक की प्रशस्ति करते हुए कहा है कि कुरुक्षेत्र पुनीत है, सरस्वती कुरुक्षेत्र से अधिक पुनीत है और पृथूदक सभी तीर्थों में उच्च एवं पुनीत है। मत्स्य० (१८६।११) ने कतिपय तीर्थों की तुलनात्मक पुनीतता का उल्लेख यों किया है—'सरस्वती का जल तीन दिनों के स्नान से पवित्र करता है, यमुना का सात दिनों में, गंगा का जल तत्क्षण, किन्तु नर्मदा का जल केवल दर्शन से ही पवित्र करता है।'[३२] वाराणसी की प्रशस्ति में कूर्म० (१।३१।६४) में आया है—'वाराणसी से बढ़कर कोई अन्य स्थल नहीं है और न कोई ऐसा होगा ही।' अतिशयोक्ति करने की बद्धमूलता इतनी आगे बढ़ गयी कि लोगों ने कह दिया कि आमरण काशी में निवास कर लेने से न केवल व्यक्ति ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है, प्रत्युत वह जन्म-मरण के न समाप्त होनेवाले चक्र से भी बच जाता है और पुनः जन्म नहीं लेता।[३३] यही बात लिंगपुराण (१।९२।६३ एवं ९४) ने भी कही है। वामनपुराण में आया है—'चार प्रकार से मुक्ति प्राप्त

३२. त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन तु यामुनम्। सद्यः पुनाति गांगेयं दर्शनादेव नार्मदम्॥ पद्म० (आदिखण्ड १३।७); मत्स्य० (१८६।११)। अभिलषितार्थचिन्तामणि (१।१।१३०) में भी समान बात पायी जाती है—'सरस्वती त्रिभिः स्नानैः पञ्चभिर्यमुनाघहृत्। जाह्नवी स्नानमात्रेण दर्शनेनैव नर्मदा॥'

३३. आ देहपतनाद्यावत्तत्क्षेत्रं यो न मुञ्चति। न केवलं ब्रह्महत्या प्राकृतं च निवर्तते॥ प्राप्य विश्वेश्वरं देवं न स भूयोऽभिजायते। मत्स्य० (१८२।१६-१७); तीर्थकल्प० (पृ० १७ ने 'प्राकृतञ्च' पाठान्तर दिया है, जिसका

हो सकती है; ब्रह्मज्ञान, गयाश्राद्ध, छीनकर या भगाकर ले जायी जाती गायों को बचाने में मरण, कुरुक्षेत्र में निवास। जो कुरुक्षेत्र में मर जाते हैं वे पुनः पृथिवी पर लौटकर नहीं आते हैं।'[३४] काशी में निवास मात्र की इतनी प्रशंसा के विषय में मत्स्य० (१८१।२३), अग्नि० (११२।३) एवं अन्य पुराणों ने इतना कह डाला है कि काशी में जाने के उपरान्त व्यक्ति को अपने पैरों को पत्थर से कुचल डालना चाहिए (जिससे कि वह अन्य तीर्थों में न जा सके) और सदा के लिए काशी में ही रह जाना चाहिए।[३५]

ब्रह्मपुराण ने तीर्थों को चार कोटियों में बाँटा है—दैव (देवों द्वारा उत्पन्न), आसुर (जो गय, बलि जैसे असुरों से संबंधित हैं), आर्ष (ऋषियों द्वारा संस्थापित, यथा—प्रभास, नरनारायण) एवं मानुष (अम्बरीष, मनु, कुरु आदि राजाओं द्वारा निर्मित), जिनमें प्रत्येक पूर्ववर्ती अपने अनुवर्ती से उत्तम है।[३६] ब्रह्मपुराण ने विन्ध्य के दक्षिण की छः नदियों और हिमालय से निर्गत छः नदियों को देवतीर्थों में सबसे अधिक पुनीत माना है, यथा—गोदावरी, भीमरथी, तुंगभद्रा, वेणिका, तापी, पयोष्णी; भागीरथी, नर्मदा, यमुना, सरस्वती, विशोका एवं वितस्ता। इसी प्रकार काशी, पुष्कर एवं प्रभास देवतीर्थ हैं (तीर्थप्रकाश, पृ० १८)। ब्रह्म० (१७५।३१।३२) ने दैव, आसुर, आर्ष एवं मानुष तीर्थों को क्रम से कृत (सत्य), त्रेता, द्वापर एवं कलि नामक युगों से सम्बन्धित माना है।

उन लोगों के विषय में, जो तीर्थयात्रा के अधिकारी हैं या इसके योग्य हैं, पुराणों एवं निबन्धों ने विशद विवेचन उपस्थित किया है। वनपर्व (८२।३०-३१ एवं तीर्थप्र०, पृ० १९) में आया है कि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, जो तीर्थों में स्नान कर लेते हैं, पुनः जन्म नहीं लेते। वहीं (८२।३३-३४) यह भी कहा गया है कि जो स्त्री या पुरुष एक बार भी पवित्र पुष्कर में स्नान करता है वह जन्म से किये गये पापों से मुक्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों को भी तीर्थयात्रा करने का अधिकार था। मत्स्य० (१८४।६६-६७) ने आगे कहा है कि नाना प्रकार के वर्णों, विवर्णों (जिनकी कोई जाति या वर्ण न हो, अर्थात् जो अज्ञातवर्ण हैं), चाण्डालों (जिन्हें सब लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं) और भाँति-भाँति के रोगों एवं बढ़े हुए पापों से युक्त व्यक्तियों के लिए अविमुक्त (वाराणसी) सबसे बड़ी औषध है। और देखिए कूर्म० (१।३१।४२-४३), तीर्थकल्प० (पृ० २६), तीर्थप्रकाश (पृ० १४०) एवं तीर्थचिन्तामणि (पृ० १४०)। वामन० (३६।७८-७९) में आया है—सभी आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-

अर्थ 'संसारबन्ध' किया गया है); तीर्थचिन्तामणि (पृ० ३४५); लिंगपुराण (१।९२।६३ एवं ९४) और स्कन्द० (काशीखण्ड, २५।६७)।

३४. ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोग्रहे मरणं ध्रुवम्। वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरुक्ता चतुर्विधा।। ग्रहनक्षत्रताराणां कालेन पतनाद् भयम्। कुरुक्षेत्रमृतानां च पतनं नैव विद्यते।। वामन० (३३।८ एवं १६)। प्रथम श्लोक वायु० (१०५। १६) एवं अग्नि० (११५।५-६) में भी आया है।

३५. अश्मना चरणौ हत्वा वसेत्काशीं न हि त्यजेत्। अग्नि० (११२।३); अविमुक्तं यदा गच्छेत् कदाचित्कालपर्ययात्। अश्मना चरणौ भित्वा तत्रैव निधनं व्रजेत्।। मत्स्य० (१८१।२३); तीर्थकल्प० (पृ० १६); अश्मना चरणौ हत्वा वाराणस्यां वसेन्नरः। कूर्म० (१।३१।३५); तीर्थप्र० (पृ० १४०)।

३६. चतुर्विधानि तीर्थानि स्वर्गे मर्त्ये रसातले। दैवानि मुनिशार्दूल आसुराण्यारुषाणि च।। मानुषाणि त्रिलोकेषु विख्यातानि सुरादिभिः।....ब्रह्मविष्णुशिवैर्देवैर्निर्मितं दैवमुच्यते।। ब्रह्म० (७०।१६-१९); तीर्थप्रकाश (पृ० १८, जिसमें ब्रह्म० ७०।२०-५५ में उल्लिखित १२ नदियों अर्थात् देवतीर्थों के नाम दिये गये हैं)। 'आरुष' का अर्थ है आर्ष। तीर्थों की व्याख्या के लिए देखिए ब्रह्म० (७०।३३-४०)।

प्रस्थ एवं संन्यास) के लोग तीर्थ में स्नान कर कुल की सात पीढ़ियों की रक्षा करते हैं; चारों वर्णों के लोग एवं स्त्रियाँ भक्तिपूर्वक स्नान करने से परमोच्च ध्येय का दर्शन करती हैं। ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा या सहमति से तीर्थयात्रा कर सकते हैं, गृहस्थ को अपनी पतिव्रता स्त्री के साथ (यदि वह जीवित हो) तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए, नहीं तो उसे तीर्थयात्रा का फल नहीं प्राप्त हो सकता। देखिए, पद्मपुराण (भूमिखण्ड, अध्याय ५९-६०), जहाँ कृकल की गाथा कही गयी है। कृकल ने अपनी पतिव्रता पत्नी के बिना तीर्थयात्रा की थी इसी से उसे लम्बी तीर्थयात्रा का भी फल नहीं मिला (भार्यां विना हि यो धर्मः स एव विफलो भवेत्, ५९।३३)। तीर्थचिन्तामणि एवं तीर्थप्रकाश ने कूर्मपुराण का उद्धरण देकर वाराणसी (अविमुक्त) की महत्ता निम्न रूप से प्रकट की है[३७]—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, स्त्रियाँ, म्लेच्छ और वे लोग जो संकीर्ण रूप में पापयोनियों में उत्पन्न हुए हैं, कीट, चींटियाँ, पक्षि-पशु आदि जब अविमुक्त (वाराणसी) में मरते हैं तो वहाँ वे मानव रूप में जन्म लेते हैं तथा अविमुक्त में जो पापी मनुष्य मरते हैं वे नरक में नहीं जाते हैं।' स्त्रियों एवं शूद्रों के विषय में एक स्मृति-वचन है—'जप, तप, तीर्थयात्रा, प्रव्रज्या (संन्यास-ग्रहण), मन्त्रसाधन एवं देवताराधन (पुरोहित रूप में)—ये छः स्त्रियों एवं शूद्रों को पाप की ओर ले जाते हैं (अर्थात् ये उनके लिए वर्जित हैं)।'[३८] इस कथन की व्याख्या की गयी है और कहा गया है कि यहाँ जो स्त्रियों को तीर्थयात्रा के लिए मना किया गया है वह केवल पति की आज्ञा बिना जाने की ओर संकेत करता है, और शूद्रों के विषय में यह बात है, जैसा कि मनु (१०।१२३) ने कहा है, विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा करना ही उनका प्रमुख कर्तव्य है। यदि वे तीर्थयात्रा करते हैं तो यह उनके कर्तव्य के विरुद्ध पड़ता है। कात्यायन (व्यवहारमयूख, पृ० ११३) ने व्यवस्था दी है—'नारी जो कुछ करती है वह उसके भविष्य (के पुण्यफल) से संबंधित है, जो बिना पिता (श्वशुर), पति या पुत्र की अनुमति के विफल होता है।'[३९] इससे स्पष्ट होता है कि आरम्भिक काल में सभी वर्णों के पुरुषों एवं नारियों का तीर्थयात्रा करना पापों से छुटकारा पाने के लिए अच्छा समझा जाता था। यद्यपि पति की सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर नारी का स्वामित्व सीमित होता है, किन्तु न्यायालय के निर्णयों से स्पष्ट है कि वह पति की सम्पत्ति का एक अल्प अंश पति के गयाश्राद्ध में या पण्ढरपुर की तीर्थयात्रा में खर्च कर सकती है। पवित्र तीर्थों में स्नान करते समय छूआछूत का विचार नहीं किया जाता।[४०]

३७. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये वर्णसंकराः। स्त्रियो म्लेच्छाश्च ये चान्ये संकीर्णाः पापयोनयः ।। कीटाः पिपीलिकाश्चैव ये चान्ये मृगपक्षिणः। कालेन निधनं प्राप्ता अविमुक्ते वरानने ।।... शिवे मम पुरे देवि जायन्ते तत्र मानवाः। नाविमुक्ते मृतः कश्चिन्नरकं याति किल्विषी।। कूर्म० (१।३१।३२-३४); मत्स्य० (१८१।१९-२१); तीर्थचि० (पृ० ३४६)। तीर्थप्र० (पृ० १३९) ने कूर्म० को उद्धृत किया है और जोड़ा है—'नाविमुक्तमृतः कश्चिन्नरकं याति किल्विषी।' कूर्म० (१।३१।३१-३४); तीर्थचि० (पृ० ३४६) एवं तीर्थप्र० (पृ० १३९)। यही श्लोक पद्म० (१।३३।१८-२१) में भी है।

३८. जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम्। देवताराधनं चेति स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ।। तीर्थप्रकाश (पृ० २१); त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह (पृ० २) में भट्टोजि ने इसे मनु की उक्ति कहा है।

३९. नारी खल्वननुज्ञाता पित्रा भर्त्रा सुतेन वा। विफलं तद् भवेत्तस्या यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।। कात्या० (व्य० मयूख, पृ० ११३)। हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि (व्रत, १, पृ० ३२७) ने इसे आदित्यपुराण का श्लोक माना है और 'और्ध्वदेहिकम्' को 'व्रतानि' के अर्थ में लिया है।

४०. तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे। नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टिर्न दुष्यति ।। बृहस्पति (कल्पतरु, शुद्धि, पृ० १६९; स्मृतिच० १, पृ० १२२)।

केवल तीर्थयात्रा एवं तीर्थस्नान से कुछ नहीं होता, हृदय-परिवर्तन एवं पापकर्म का त्याग परमावश्यक है। इस विषय में महाभारत एवं पुराणों में दो उक्तियाँ हैं; एक उक्ति यह है (जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है) कि पवित्र मन ही वास्तविक तीर्थ है और दूसरी यह है कि घर पर रहकर गृहस्थधर्म का पालन करते जाना तथा वैदिक यज्ञादि का सम्पादन करते रहना तीर्थयात्रा से कहीं अच्छा है। शान्तिपर्व (२६३।४०-४२) ने तुलाधार एवं जाजलि (एक ब्राह्मण, जिसे अपने तपों पर गर्व था) के कथनोपकथन का उल्लेख करते हुए कहा है कि पुरोडाश सभी आहुतियों एवं बलियों में पवित्रतम है, सभी नदियाँ सरस्वती के समान पवित्र हैं, सभी पर्वतमालाएँ (न-केवल हिमालय आदि) पवित्र हैं और आत्मा ही तीर्थ है। शान्तिपर्व में जाजलि को समझाया गया है कि वह देश-विदेशों का अतिथि न बने (अर्थात् तीर्थों की खोज में देश-देशान्तर में न घूमे)। तीर्थचिन्तामणि एवं तीर्थप्रकाश ने ब्रह्मपुराण के कथन को उद्धृत कर कहा है कि ब्राह्मण को तभी तीर्थयात्रा करनी चाहिए जब कि वह यज्ञ करने में असमर्थ हो जाय, जब तक इष्टियों एवं यज्ञ करने की सामर्थ्य एवं अधिकार हो तब तक घर में रहकर गृहस्थधर्म का पालन करते रहना चाहिए। अग्निहोत्र के सम्पादन से उत्पन्न फलों के बराबर तीर्थयात्रा-फल कभी नहीं है। कूर्म० (२।४४।२०-२३) ने इस विषय में ऐसा कहा है—'जो व्यक्ति अपने धर्मों (कर्तव्यों) को छोड़कर तीर्थ सेवन करता है वह तीर्थयात्रा का फल न तो इस लोक में पाता है और न उस लोक में। प्रायश्चित्ती, विधुर या यायावर लोग तीर्थयात्रा कर सकते हैं। वैदिक अग्नियों या पत्नी के साथ जो व्यक्ति तीर्थयात्रा कर सकता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है और सर्वोत्तम लक्ष्य पा सकता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। जो तीर्थयात्रा करना चाहता है उसे तीनों ऋण चुका देने चाहिए, उसे पुत्रों की जीविका के लिए प्रबन्ध कर देना चाहिए और पत्नी को उनकी रखवाली में रख देना चाहिए।'[४१]

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने तीर्थयात्रा का अनुमोदन किया है। विष्णुधर्मसूत्र (५।१३२-१३३) में आया है कि वैदिक विद्यार्थियों, वानप्रस्थों, संन्यासियों, गर्भवती नारियों एवं यात्रियों से नाविक या शौल्किक को शुल्क नहीं लेना चाहिए; यदि वे इनसे शुल्क लेते थे तो उन्हें लौटाना पड़ता था।[४२] किन्तु इस व्यवस्था का पालन हिन्दू राजाओं द्वारा भी नहीं किया गया। राजतरंगिणी (६।२५४-२५५ एवं ७।१००८) में उल्लेख है कि गया श्राद्ध करने वाले कश्मीरियों पर कर लगता था।[४३] अनहिल्लवाड़ के राजा सिद्धराज (१०९५-११४३ ई०) द्वारा सोमनाथ के यात्रियों पर बाहुलोद नामक नगर की सीमा पर कर लगाया जाता था, जिसे उसकी माता ने बन्द करा दिया। मुसलमान राजाओं द्वारा भी ऐसा कर लगाया जाता था। ऐसा लगता है कि कवीन्द्राचार्य नामक एक बड़े विद्वान् ने शाहजहाँ के समक्ष प्रयाग एवं काशी के यात्रियों के पक्ष में ऐसी सुन्दर उक्तियाँ कहीं कि उसने उन्हें कर-मुक्त कर दिया और

४१. गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं—शालीन एवं यायावर। यायावर गृही वह है जो खेतों से अनाज कट जाने के उपरान्त गिरे हुए अनाज को चुनकर जीविका चलाता है, या जो धन एकत्र नहीं करता, या जो पौरोहित्य कार्य, अध्यापन या दान ग्रहण से अपनी जीविका नहीं चलाता। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १७। तीन ऋणों (देवऋण, पितृऋण एवं ऋषिऋण) के लिए देखिए यही, खण्ड २, अध्याय ७ एवं ८।

४२. ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुगुर्विणीतीर्थानुसारिणां नाविकः शौल्किकः शुल्कमाददानश्च। तच्च तेषां दद्यात्। विष्णुधर्मसूत्र (५।१३२-१३३)।

४३. काश्मीरिकाणां यः श्राद्धशुल्कोच्छेत्ता गयान्तरे। सोप्येरमन्तकः शूरः परिहासपुराश्रयः॥ बद्ध्वा महाशिलां कण्ठे वितस्ताम्भसि पातितः। राजत० (६।२५४-५५)। परिहासपुर के शूर एरमन्तक को, जिसने गयाश्राद्ध करनेवाले कश्मीरियों को कर-मुक्त कर दिया था, रानी दिद्दा ने गले में पत्थर बंधवाकर वितस्ता नदी में डुबा दिया।

उनको 'सर्वविद्या-निधान' की पदवी दी।[44] भारत भर के लोगों को इस कर-मुक्ति पर अतिशय सन्तोष हुआ और कवीन्द्राचार्य को लोगों ने धन्यवाद के शब्द भेजे और कवित्वमय अभिनन्दनों से उनका सम्मान किया। इन पत्रों एवं अभिनन्दन-पत्रों को डा० हरदत्त शर्मा एवं श्री पत्कर ने 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया है।[45] होयसल-राज नरसिंह तृतीय ने सन् १२७९ ई० में संस्कृत एवं कन्नड़ में एक ताम्रपत्र खुदवाया, जिसमें यह व्यक्त है कि राजा ने हेब्बाले नामक ग्राम का कर-दान (जो प्रति वर्ष ६४५ निष्कों के बराबर होता था) काशी एवं श्री विश्वेश्वर देवता के यात्रियों (जिनमें तैलंग, तुलु, तिरहुत, गौड़ आदि देशों के लोग सम्मिलित हैं) को दिया जाता था, जिससे वे तुरुष्कों (मुसलमान बादशाहों) द्वारा लगाये गये करों को दे सकें (देखिए एपिग्रैफिया कर्नाटिका, जिल्द १५, संख्या २९८, पृ० ७१-७३)।

तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान करने के निमित्त किये जानेवाले कृत्यों के विषय में निबन्धों ने ब्रह्मपुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं। ब्रह्म० ने व्यवस्था दी है कि तीर्थयात्रा के इच्छुक व्यक्ति को एक दिन पूर्व से ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिए और उपवास करना चाहिए; दूसरे दिन उसे गणेश, देवों, पितरों की पूजा करनी चाहिए और अपनी सामर्थ्य के अनुसार अच्छे ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए तथा लौटने पर भी वैसा ही करना चाहिए।[46] निबन्धों ने व्याख्या की है कि लौटने पर उपवास एवं गणेश-पूजा नहीं की जाती। व्यक्ति को श्राद्ध करना चाहिए, जिसमें पर्याप्त घृत का उपयोग होना चाहिए, चन्दन, धूप आदि से कम-से-कम तीन ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए और उन्हें भी तीर्थयात्रा करने के लिए उद्वेलित करना चाहिए। वायु० (११०।२-३) में आया है कि गणेश, ग्रहों एवं नक्षत्रों की पूजा के उपरान्त व्यक्ति को कार्पटी का वेष धारण करना चाहिए, अर्थात् उसे ताम्र की अँगूठी तथा कंगन एवं काषाय रंग के परिधान धारण करने चाहिए। भट्टोजि (पृ० ५) का कथन है कि कुछ लोगों के मत से कार्पटिक परिधान गया के यात्री को धारण करना चाहिए। पद्मपुराण (४।१९।२२) ने अन्य तीर्थों के यात्रियों के लिए भी विशिष्ट परिधानों की व्यवस्था दी है। तीर्थचिन्तामणि ने लिखा है कि ऐसा परिधान तीर्थयात्रा के समय एवं तीर्थों में ही धारण करना चाहिए न कि दैनिक कृत्यों, यथा—भोजन आदि के समय में (पृ० ९)।[47]

४४. देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ४१ (१९१२ ई०) पृ० ७ एवं पृ० ११, जहाँ महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने शाहजहाँ द्वारा दी गयी यात्रा-कर की छूट का उल्लेख किया है।

४५. येन श्रीशाहिजाहाँ नरपतितिलकः स्वस्य वश्यः कृतोऽभूत्
किंचावश्यं प्रपन्नः पुनरपि विहितः शाहिदाराशिकोहः।
काशीतीर्थप्रयागप्रतिजनितकरग्राहमोक्षैकहेतुः
सोयं श्रीमान्कवीन्द्रो जयति कविगुरुस्तीर्थराजाधिराजः॥ कवीन्द्रचन्द्रोदय (पृ० २३, संख्या १६९)।

४६. यो यः कश्चित्तीर्थयात्रां तु गच्छेत्सुसंयतः स च पूर्वं गृहे स्वे। कृतोपवासः शुचिरप्रमत्तः सम्पूजयेद् भक्तिनम्रो गणेशम्॥ देवान् पितॄन् ब्राह्मणांश्चैव साधून् धीमान् पितॄन् ब्राह्मणान् पूजयेच्च। प्रत्यागतश्चापि पुनस्तथैव देवान् पितॄन् ब्राह्मणान् पूजयेच्च॥ ब्रह्मपुराण (तीर्थकल्प० पृ० ९); तीर्थचिन्तामणि (पृ० ६, 'सुसंयत इति पूर्वदिने कृतैकभक्तादिनियमः'); तीर्थप्र० (पृ० २३ 'सुसंयतः पूर्वदिने कृतैकभक्तादिनियम इति केचित्, ब्रह्मचर्यादियुक्त इति तु युक्तम्')। ये श्लोक नारदीयपुराण (उत्तर, ६२।२४-२५) में भी आये हैं। और देखिए स्कन्द० (काशीखण्ड, ६।५६-५७), पद्म० (उत्तर०, २३७।३६-३८), ब्रह्म० (७६।१८-१९)।

४७. उद्यतश्चेद् गयां गन्तुं श्राद्धं कृत्वा विधानतः। विधाय कार्पटीवेषं कृत्वा ग्रामं प्रदक्षिणम्। ततो ग्रामान्तरं गत्वा श्राद्धशेषस्य भोजनम्॥ वायु० (११०।२-३), तीर्थचि० (पृ० ७)। तीर्थप्रकाश (पृ० २९) ने व्याख्या की है—

तीर्थयात्रा करते समय मुण्डन कराने के विषय में निबन्धकारों में ऐकमत्य नहीं है। पद्म० एवं स्कन्द० ने इसे अनिवार्य माना है।[४८] तीर्थकल्प० (पृ० ११) ने शिरमुण्डन की चर्चा ही नहीं की है और उपवास को वैकल्पिक ठहराया है। पश्चात्कालीन निबन्धों ने सामान्यतः धार्मिक कृत्यों को अति विस्तृत एवं दुष्कर बना डाला है। चातुर्मास्य एवं अग्निष्टोम जैसे वैदिक यज्ञों के लिए यजमान को दाढ़ी-मूँछ बनवा लेने की व्यवस्था दी गयी है (शतपथ ब्राह्मण, २।६।३।१४)। समावर्तन के समय भी मुण्डन की व्यवस्था थी।[४९] पापों से मुक्ति पाने के लिए किये जाने वाले प्रायश्चित्तों में भी मुण्डन किया जाता था (देखिए इस खण्ड का अध्याय ४)। तीर्थचिन्तामणि एवं तीर्थप्रकाश ने स्मृतिसमुच्चय से विष्णु का एक श्लोक उद्धृत किया है—प्रयाग में, तीर्थयात्रा पर, माता या पिता की मृत्यु पर बाल कटाने चाहिए, किन्तु अकारण नहीं।[५०] मिता० (याज्ञ० ३।१७) ने एक श्लोक उद्धृत किया है—'गंगा पर, भास्कर-क्षेत्र में, माता, पिता या गुरु की मृत्यु पर, वैदिक अग्निहोत्र प्रारम्भ करते समय एवं सोमयज्ञ में—इन सात अवसरों या स्थानों में मुण्डन करना चाहिए।' तीर्थचि० एवं तीर्थप्र० ने एक श्लोक उद्धृत किया है—कुरुक्षेत्र, विशाला (उज्जयिनी या बदरिका), विरजा (उड़ीसा की एक नदी) एवं गया को छोड़कर सभी तीर्थों में मुण्डन एवं उपवास के कृत्य अवश्य करने चाहिए।[५१] इस विषय में स्नातक को शिखा छोड़कर सारे केश कटाने चाहिए और सधवा नारी को केवल दो अंगुल की लंबाई में केशों का अग्रभाग कटाना चाहिए। वृद्ध हारीत (९।३८६-३८७) ने व्यवस्था दी है कि सधवा नारियों को केश नहीं कटाने चाहिए, केवल सभी बालों को उठाकर उनका तीन अंगुल लंबा अग्रभाग कटा लेना चाहिए।

'कार्पटीवेषः ताम्रमुद्राताम्रकंकणकाषायवस्त्रधारणम्।' तीर्थचिन्तामणि में आया है कि यद्यपि ये आवश्यकताएँ गयायात्रा के विषय में वर्णित हैं, किन्तु ये सभी तीर्थों के लिए उपयुक्त हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि कार्पटिक का धारण यात्रा में ही होता है न कि उस समय जब कि व्यक्ति अपने दैनिक कृत्य करता रहता है या खाता रहता है या श्राद्ध का सम्पादन करता रहता है।

४८. तीर्थोपवासः कर्तव्यः शिरसो मुण्डनं तथा। शिरोगतानि पापानि यान्ति मुण्डनतो यतः॥ पद्म० (उत्तर०, २३७।४५) एवं स्कन्द० (काशीखण्ड, ६।६५)।

४९. पारस्करगृ० (२।६।१७), खादिरगृ० (३।१।२।२३), शांखायनगृ० (३।१।१-२)। खादिरगृ० में आया है—'प्राश्य वापयेत् शिखावर्जं केशश्मश्रुलोमनखानि।'

५०. मनुष्याणां तु पापानि तीर्थानि प्रतिगच्छताम्। केशानाश्रित्य तिष्ठन्ति तस्मात्तद्वपनं चरेत्॥ पद्म० (पाताल०, १९।२१)। उपवासदिने मुण्डनमपि। प्रयागे तीर्थयात्रायां पितृमातृवियोगतः। कचानां वपनं कुर्याद वृथा न विकचो भवेत्॥ इति स्मृतिसमुच्चय धृतविष्णुलिखितवचनात्। तीर्थचि० (पृ० ७) एवं तीर्थप्र० (पृ० २८)। यह श्लोक नारदीय० (उत्तर, ६२।२८) का है। मिता० (याज्ञ० ३।१७) ने उद्धृत किया है—'गंगायां भास्करक्षेत्रे मातापित्रोर्गुरोर्मृतौ। आधानकाले सोमे च वपनं सप्तसु स्मृतम्॥' कुछ लोगों के मत से भास्करक्षेत्र प्रयाग है और कुछ लोगों के मत से वह कोणार्क है। धर्मशास्त्रग्रन्थों में आधान सामान्यतः अग्न्याधान है। गर्भाधान को निषेक या गर्भाधान ही कहा जाता है, अतः आधान को अग्न्याधान ही कहना चाहिए। भास्करक्षेत्र कोणार्क है न कि प्रयाग। मत्स्य० (१०४।५ एवं १११।१४) ने प्रयाग को प्रजापतिक्षेत्र कहा है।

५१. मुण्डनं चोपवासश्च सर्वतीर्थेष्वयं विधिः। वर्जयित्वा कुरुक्षेत्रं विशालां विरजां गयाम्॥ वायु० (१०५।२५)। इसे तीर्थचि० (पृ० १४) ने स्कन्दपुराण का माना है और तीर्थप्र० (पृ० ५०) ने देवल एवं स्कन्द० का। और देखिए तीर्थचि० (पृ० ३२), बालम्भट्टी (याज्ञ० ३।१७), अग्नि० (११५।७) एवं नारदीय० (उत्तर ६२।४५)।

आपस्तम्ब (श्लोक १।३३-३४), अंगिरा (१६३), यम (५४-५५), पराशर (मिता०, याज्ञ० ३।२६३-२६४) आदि स्मृतियों ने व्यवस्था दी है कि नारी का मुण्डन-कृत्य केशों की केवल दो अंगुल लंबाई में होता है। परा० मा० (२,१, पृ० २९१) ने 'एवं नारीकुमारीणाम्' पढ़ा है और कहा है कि 'नारी' का तात्पर्य है 'वह स्त्री जो सधवा है'।[५२] यद्यपि स्मृति-वचन प्रायश्चित्त-सम्बन्धी हैं, तथापि ये वचन तीर्थस्थानों की ओर भी संकेत करते हैं। विधवाओं, संन्यासियों एवं शूद्रों का सम्पूर्ण मुण्डन होता है। वाचस्पति मिश्र के इस कथन में कि गंगा के तट पर मुण्डन नहीं होता, तीर्थ-प्रकाश (पृ० ५१) ने दोष देखा है। जब मत-मतान्तर देखने में आते हैं तो देशाचार एवं व्यक्ति की अभिलाषा का सहारा लेना होता है। तीर्थकल्पतरु (पृ० १०) का कथन है कि तीर्थयात्रा के समय पितृ-पूजा उस व्यक्ति के लिए आवश्यक है जो धनवान् होता है। **क्षौर** एवं **मुण्डन** में भेद बताया गया है। प्रथम का अर्थ है केवल सिर के केशों को बनवाना और दूसरे का अर्थ है दाढ़ी-मूँछ के साथ सिर के केशों को बनवाना। इसी से नारदीय का कथन है कि सभी ऋषियों ने गया में भी क्षौर वर्जित नहीं माना, केवल वहाँ मुण्डन वर्जित है, गंगा पर, प्रयाग को छोड़कर, कहीं भी मुण्डन नहीं होता।[५३] तीर्थेन्दुशेखर (पृ० ७) ने अपनी सम्मति दी है कि मुण्डन एवं उपवास आवश्यक न होकर **काम्य** है (अर्थात् किसी विशिष्ट फल की प्राप्ति के लिए है) और शिष्ट लोग बहुत-से तीर्थों पर ऐसा नहीं करते।

पुराणों एवं निबन्धों ने यात्रा करने की विधि पर भी ध्यान दिया है। मत्स्य० (१०६।४-६) का कथन है कि यदि कोई प्रयाग की तीर्थयात्रा बैलगाड़ी में बैठकर करता है तो वह नरक में गिरता है और उसके पितर तीर्थ पर दिये गये जल-तर्पण को ग्रहण नहीं करते, और यदि कोई व्यक्ति ऐश्वर्य या मोह या मूर्खतावश वाहन (बैलों वाला नहीं) पर यात्रा करता है तो उसके सारे प्रयत्न वृथा जाते हैं, अतः तीर्थयात्री को वाहन आदि पर नहीं जाना चाहिए।[५४] कल्पतरु (तीर्थ पृ० ११) के मत से केवल प्रयाग-यात्रा में वाहन वर्जित है, किन्तु तीर्थचि० (पृ० ८) एवं तीर्थप्र० (पृ० ४५) ने एक श्लोक उद्धृत कर कहा है कि बैलगाड़ी पर जाने से गोवध का अपराध लगता है, घोड़े पर (या घोड़े द्वारा खींचे जानेवाले वाहन से) जाने पर तीर्थयात्रा का फल नहीं मिलता, मनुष्य द्वारा ढोये जाने पर (पालकी

५२. स्त्रीणां पराशरेण विशेषोऽभिहितः। वपनं नैव नारीणां... सर्वान्केशान्समुद्धृत्य छेदयेदंगुलिद्वयम्। सर्वत्रैवं हि नारीणां शिरसो मुण्डनं स्मृतम्॥ मिता० (याज्ञ० ३।२६३-२६४)। सर्वान् केशान्... मुण्डनं भवेत्। इत्यस्य प्रायश्चित्तप्रकरणे श्रुतस्याकांक्षातौल्येनात्राप्यन्वयात्। प्रयागादावपि तासां द्व्यंगुलकेशाग्रकर्तनमात्रं वपनम्। तीर्थप्रकाश (पृ० ५०-५१)।

५३. गयादावपि देवेशि श्मश्रूणां वपनं विना। न क्षौरं मुनिभिः सर्वैर्निषिद्धं चेति कीर्तितम्॥ सश्मश्रुकेशवपनं मुण्डनं तद्विदुर्बुधाः। न क्षौरं मुण्डनं सुभ्रु कीर्तितं वेदवेदिभिः॥ नारदीय० (उत्तर, ६२।५४-५५)। प्रयागव्यतिरेके तु गङ्गायां मुण्डनं नहि। वही (६।५२)।

५४. प्रयागतीर्थयात्रार्थी यः प्रयाति नरः क्वचित्। बलीवर्दसमारूढः शृणु तस्यापि यत्फलम्॥ नरके वसते घोरे गवां क्रोधो हि दारुणः। सलिलं न च गृह्णन्ति पितरस्तस्य देहिनः॥ ऐश्वर्यलाभमोहाद्वा गच्छेद्यानेन यो नरः। निष्फलं तस्य तत्सर्वं तस्माद्यानं विवर्जयेत्॥ मत्स्य० (१०६।४-५ एवं ७)। और देखिए तीर्थचि० (पृ० ८, 'ऐश्वर्य-लाभमाहात्म्यम्'); तीर्थप्र० (पृ० ३३-३४); प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ४९२); कूर्म० (१।३७-४-५)। गंगावाक्यावली (पृ० १३) ने 'ऐश्वर्यमदमोहेन' पाठ दिया है और उसमें आया है—'मत्स्यपुराणीयवचनस्य प्रयागयात्राप्रकरण-स्थत्वाद् ऐश्वर्यमदशून्यस्यैव प्रयागगमनेपि दोषाभावः।'

आदि द्वारा) आधा फल मिलता है, किन्तु पैदल जाने पर पूर्ण फल की प्राप्ति होती है।[55] और देखिए पद्म० (४।१९।२७)। कूर्म० में आया है कि जो लोग असमर्थता के कारण नर-यान या घोड़ों या खच्चरों से खींचे जानेवाले रथों का प्रयोग करते हैं वे पाप या अपराध के भागी नहीं होते (तीर्थप्र०, पृ० ३४)। इसी प्रकार विष्णुपुराण (३।१२।३८) में आया है कि यात्रा में जूता पहनकर, वर्षा एवं आतप में छाता का प्रयोग करके, रात में या वन में दण्ड लेकर चलना चाहिए।[56] विष्णुधर्मोत्तर० (३।२७३।११-१२) ने अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक मत दिया है कि पैदल तीर्थयात्रा करने से सर्वोच्च तप का फल मिलता है, यदि यान पर यात्रा की जाती है तो केवल स्नान का फल मिलता है। तीर्थप्र० (पृ० ३५) ने गंगासागर जैसे तीर्थों में नौका-प्रयोग की अनुमति दी है, क्योंकि वहाँ जाने का कोई अन्य साधन नहीं होता।

तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान करते समय के संकल्प के लिए त्रिस्थलीसेतु (पृ० १-३) में विशद विवेचन उपस्थित किया गया है।[57] निष्कर्ष ये हैं—संकल्प में सभी आकांक्षित तीर्थों के नाम नहीं आने चाहिए, किन्तु अन्तिम तीर्थ का नाम स्पष्ट रूप से आना चाहिए; दक्षिण एवं पश्चिम भारत के लोगों को गया के विषय (जिसमें प्रयाग एवं काशी के नाम प्रच्छन्न रहते हैं) में; पूर्वी भारत के लोगों को प्रयाग के विषय (यहाँ गया एवं काशी के नाम अन्तर्हित रहते हैं) में संकल्प करना चाहिए; दूसरे रूप में, दक्षिण एवं पश्चिम के लोगों को सर्वप्रथम प्रयागतीर्थ का संकल्प करना चाहिए, प्रयाग में काशी का एवं काशी में गया का संकल्प करना चाहिए और इसी प्रकार पूर्व के लोगों को सर्वप्रथम गया का, तब गया में काशी का संकल्प करना चाहिए, और यही विधि आगे चलती जाती है। तीर्थप्रकाश (पृ० ३२६) ने प्रथम विधि की आलोचना की है और कहा है कि जो लोग बहुत-से तीर्थों की यात्रा करना चाहते हैं उन्हें केवल 'तीर्थयात्रामहं करिष्ये' कहना चाहिए। किन्तु इसने दूसरी विधि का अनुमोदन किया है।

स्मृतियों एवं पुराणों ने व्यवस्था दी है कि तीर्थयात्राफल प्रतिनिधि रूप से भी प्राप्त किया जा सकता है। अत्रि (५०-५१) ने कहा है—वह, जिसके लिए कुश की आकृति तीर्थजल में डुबोयी जाती है, स्वयं जाकर स्नान करने के फल का अष्टभाग पाता है। जो व्यक्ति माता, पिता, मित्र या गुरु को उद्देश्य करके (तीर्थजल में) स्नान करता है, उससे वे लोग द्वादशांश फल पाते हैं। पैठीनसि (तीर्थकल्प०, पृ० ११) का कथन है कि जो दूसरे के लिए (पारिश्रमिक पर) तीर्थयात्रा करता है उसे षोडशांश फल प्राप्त होता है और जो अन्य प्रसंग से (अध्ययन, व्यापार, गुरुदर्शन आदि के लिए) तीर्थ को जाता है वह अर्धांश फल पाता है। देखिए प्राय० तत्त्व (पृ० ४९२), तीर्थप्र० (पृष्ठ ३६), स्कन्द० (काशी०, ६।६३), पद्म० (६।२३७।४३) एवं विष्णुधर्मोत्तर० (३।२७३।१०)। इसी लिए परमात्मा की कृपा की प्राप्ति के लिए धनिक लोगों ने (यात्रियों की सुख-सुविधा के लिए) धर्मशालाओं, जलाशयों, अन्नसत्रों, कूपों का

५५. गोयाने गोवधः प्रोक्तो हययाने तु निष्फलम्। नरयाने तदर्धं स्यात् पद्भ्यां तच्च चतुर्गुणम्॥ गंगाभक्तितरंगिणी (पृ० १३); तीर्थचि० एवं तीर्थप्र०। 'उपानद्भ्यां चतुर्थांशं गोयाने गोवधादिकम्।' पद्म० (४।१९-२७)।

५६. वर्षातपादिके छत्री दण्डी राज्यटवीषु च। शरीरत्राणकामो वै सोपानत्कः सदा व्रजेत्॥ इति विष्णुपुराणीयवचनेन निष्प्रतिपक्षसदाशब्दस्वरसात् तीर्थयात्रायामपि उपानत्परिधानमावश्यकमिति। तीर्थचि० (पृ० ८-९)। देखिए विष्णुपुराण (३।१२।३८) एवं नारदीयपुराण (उत्तर, ६२।३५)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२७३।११-१२) में आया है—तीर्थानुसरणं पद्भ्यां तपः परमिहोच्यते। तदेव कृत्वा यानेन स्नानमात्रफलं लभेत्॥

५७. संकल्प इस प्रकार का हो सकता है—'ओं तत्सदद्य प्रतिपदमश्वमेधयज्ञजन्यफलसमफलप्राप्तिकामोऽमुकतीर्थयात्रामहं करिष्ये।'

निर्माण किया है और यात्रियों एवं जन-साधारण के सुविधार्थ उन्होंने मार्गों के किनारों पर वृक्ष लगाये हैं। प्रभास-खण्ड में आया है कि जो धनिक व्यक्ति अन्य को धन या यान द्वारा तीर्थयात्रा की सुविधा देता है वह तीर्थयात्राफल का चौथाई भाग पाता है।[५८]

रघुनन्दनकृत प्रायश्चित्ततत्त्व ने ब्रह्माण्डपुराण से उद्धरण देकर उन १४ कर्मों का उल्लेख किया है जिन्हें गंगा के तट पर त्याग दिया जाता है, जो निम्न हैं--**शौच** (शरीर-शुद्धि के लिए अति सूक्ष्मता पर ध्यान देना, अर्थात् शरीर को रगड़-रगड़कर स्वच्छ करना या तेल-साबुन लगाना आदि), **आचमन** (दिन में कई अवसरों पर ऐसा करना), **केश-शृंगार, निर्माल्य** धारण (देवपूजा के उपरान्त पुष्पों का प्रयोग), **अघमर्षण सूक्त-पाठ** (ऋ० १९०।१-३), **देह मलवाना, क्रीडा-कौतुक, दानग्रहण, संभोग-कृत्य, अन्य तीर्थ की भक्ति, अन्य तीर्थ की प्रशंसा,** अपने पहने हुए **वस्त्रों का दान,** किसी को **मारना-पीटना एवं तीर्थजल को तैरकर पार करना।**

एक बात ज्ञातव्य है कि यद्यपि मनु (३।१४९) ने श्राद्ध में आमन्त्रित होनेवाले ब्राह्मणों के कुल एवं विद्या-ज्ञान के सूक्ष्म परीक्षण की बात उठायी है, किन्तु कुछ पुराणों ने ऐसी व्यवस्था दी है कि तीर्थों में ब्राह्मणों की योग्यता की परीक्षा की बात नहीं उठानी चाहिए। इस पौराणिक उक्ति का समर्थन कल्पतरु (तीर्थ, पृ० १०), तीर्थचि० (पृ० १०), तीर्थप्र० (पृ० ७३) आदि निबन्धों ने भी किया है। तीर्थप्र० ने इतना कह दिया है कि उन ब्राह्मणों को त्याग देना चाहिए जिनके दोष ज्ञात हों और जो घृणा के पात्र हों। वराह० (१६५।५७-५८) ने कहा है कि मथुरा के यात्री को चाहिए कि वह मथुरा में उत्पन्न एवं पालित-पोषित ब्राह्मणों को चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की अपेक्षा वरीयता दे।[५९] और देखिए वायु० (८२।२६-२८), स्कन्द० (६।२२२।२३)। वायु० (८२।२५-२७) में आया है कि जब पुत्र गया जाय तो उसे ब्रह्मा द्वारा प्रकल्पित ब्राह्मणों को ही आमन्त्रित करना चाहिए, ये ब्राह्मण साधारण लोगों से ऊपर (अमानुष) होते हैं, जब वे सन्तुष्ट हो जाते हैं, तो देवों के साथ पितर लोग भी सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनके कुल, चरित्र, ज्ञान, तप आदि पर ध्यान नहीं देना चाहिए और जब वे (गया के ब्राह्मण अर्थात् गयावाल) सम्मानित होते हैं तो कृत्यकर्ता (सम्मान देनेवाला) संसार से मुक्ति पाता है।[६०] वायु० (१०६।७३-८४), अग्नि० (११४।३३-३९) एवं गरुड़० में ऐसा वर्णित है कि जब गयासुर गिर पड़ा और जब उसे विष्णु द्वारा वरदान प्राप्त हो चुके तो उसके उपरान्त ब्रह्मा ने गया के ब्राह्मणों को ५५ ग्राम दिये और पाँच कोसों तक विस्तृत गयातीर्थ दिया, उन्हें सुनियुक्त घर, कामधेनु गौएँ, कल्पतरु दिये, 'किन्तु यह भी आज्ञापित किया कि वे न तो भिक्षा माँगें और न किसी से दान ग्रहण करें। किन्तु लोभवश ब्राह्मणों ने धर्म (यम) द्वारा सम्पादित यज्ञ में पौरोहित्य किया, यम से दक्षिणायाचना की और उसे ग्रहण कर लिया। इस पर ब्रह्मा ने उन्हें शाप दिया कि वे सदा ऋण में रहेंगे और उनसे कामधेनु, कल्पवृक्ष एवं अन्य उपहार छीन

५८. यश्चान्यं कारयेत् शक्त्या तीर्थयात्रां तथेश्वरः। स्वकीयद्रव्ययानाभ्यां तस्य पुण्यं चतुर्गुणम ॥ प्रभासखण्ड (तीर्थप्र०, पृ० ३६)। तीर्थं प्राप्यानुषंगेण स्नानं तीर्थे समाचरेत्। स्नानजं फलमाप्नोति तीर्थयात्राफलं न तु ॥ शंख (८।१२); स्मृतिच० (१, पृ० १३२) एवं कल्पतरु (तीर्थ, पृ० ११)। और देखिए पद्म० (६।२३७।४१-४२) एवं विष्णुधर्मोत्तर० (३।२७१।१०)।

५९. चतुर्वेदं परित्यज्य माथुरं पूजयेत्सदा। मथुरायां ये वसन्ति विष्णुरूपा हि ते नराः ॥ ज्ञानिनस्तान् हि पश्यन्ति अज्ञाः पश्यन्ति तान्न हि। वराहपुराण (१६५।५७-५८)।

६०. यदि पुत्रो गयां गच्छेत्कदाचित्कालपर्ययात्। तानेव भोजयेद्विप्रान् ब्रह्मणा ये प्रकल्पिताः ॥ अमानुषतया विप्रा ब्राह्मणा (ब्रह्मणा ?) ये प्रकल्पिताः। वायु० (८२।२५-२७)।

लिये। अग्निपुराण (११४।३७) ने इतना जोड़ दिया है कि ब्रह्मा ने उन्हें शाप दिया कि वे विद्याशून्य होंगे और लालची हो जायेंगे।[६१] इस पर ब्राह्मणों ने ब्रह्मा से प्रार्थना की और अपनी जीविका के लिए किसी साधन की माँग की। ब्रह्मा द्रवीभूत हुए और कहा कि उनकी जीविका का साधन गयातीर्थ होगा जो इस लोक के अन्त तक चलेगा और जो लोग गया में श्राद्ध करगे और उनकी पूजा करेंगे (अर्थात् उन्हें पुरोहित बनायेंगे और दक्षिणा देंगे) वे ब्रह्मा की पूजा का फल पायेंगे। इससे स्पष्ट है कि वायुपुराण के इस प्रकार के लेखन के समय गया के ब्राह्मणों (गयावालों) की वे ही विशेषताएँ थीं जो आज हैं और उन्होंने गया की तीर्थयात्रा को अपना व्यापार समझ लिया था। गयावाल ब्राह्मणों का एक प्रारम्भिक ऐतिहासिक उल्लेख बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (लगभग ११८३ ई०) के शक्तिपुर ताम्रपत्र में पाया जाता है।[६२]

पुराणों की वाणी का यह परिणाम हुआ कि गया के ब्राह्मणों ने एक अपना समुदाय बना लिया, जिसमें किसी अन्य के प्रवेश की गुंजायश नहीं है। गयावालों के आपसी झगड़े एवं अन्य पुरोहितों से उनके झगड़े इंग्लैंड की प्रिवी कौंसिल तक गये हैं। कट्टर हिन्दू यात्रियों में ऐसा आचरण पाया जाता है कि जब वे गया जाते हैं तो वे सर्वप्रथम पुन-पुना नदी के तट पर मुण्डन कराते हैं और गया पहुँचने पर किसी गयावाल ब्राह्मण के चरण पूजते हैं।[६३] स्वयं गयावाल या उनके प्रतिनिधि यात्रियों को गया की और उसके आसपास की वेदियों के पास ले जाते हैं। पुरोहित को अक्षयवट के पास पर्याप्त दक्षिणा मिलती है और गयावाल पुष्प की माला यात्री की अंजलि पर रखता है, 'सुफल' घोषित करता है और उच्चरित करता है कि यात्री के गया आने से पितर लोग स्वर्ग जायँगे। अपने ही कुलों में इस धर्म-व्यापार को सीमित रखने के लिए गयावालों ने विलक्षण परम्पराएँ स्थापित कर रखी हैं। पुत्रहीन गयावाल अपनी गद्दी का उत्तरा-धिकारी किसी गयावाल को ही बना देता है, जो अपने को उसका दत्तक पुत्र मानता है। यहाँ पर यह दत्तकप्रथा वास्तविक दत्तकप्रथा नहीं है। अतः दत्तक पुत्र अपने जन्म-कुल में ही अपने अधिकार रख लेता है और उसका सम्बन्ध अपने वास्तविक कुल से नहीं टूटता। इसी से कभी-कभी एक ही गयावाल चार-चार गद्दियों का अधिकार पा लेता है (अर्थात् एक साथ कई लोगों द्वारा दत्तक बना लिया जाता है)। प्रत्येक गयावाल के पास बही होती है जिसमें उसके यजमानों के नाम एवं पते रहते हैं, जिसमें वे अपने हस्ताक्षर कर देते हैं और ऐसा निर्देश कर देते हैं कि उनके वंशज उसी गयावाल-कुल के लोगों को अपना पुरोहित मानें। इस प्रकार गयावालों के पास प्रचुर धन एवं सम्पत्ति आ जाती है। गयावाल अपने प्रतिनिधियों को सम्पूर्ण देश में भेजते हैं, जो अधिक से अधिक संख्या में यात्रियों को लाते हैं।

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में तीर्थ पर जो साहित्य है वह अपेक्षाकृत सबसे अधिक विशद है। वैदिक साहित्य को छोड़कर, महाभारत एवं पुराणों में कम से कम ४०,००० श्लोक तीर्थों, उपतीर्थों एवं उनसे सम्बन्धित किंवदन्तियों के विषय में ही प्रणीत हैं। वनपर्व (अध्याय ८२-१५६) एवं शल्यपर्व (अध्याय ३५-५४) में ही ३९०० के लगभग केवल तीर्थयात्रा-सम्बन्धी श्लोक हैं। यदि कुछ ही पुराणों का हवाला दिया जाय तो ब्रह्मपुराण में ६७०० श्लोक (इसके सम्पूर्ण अर्थात् १३७८३ श्लोकों का लगभग अर्धांश) तीर्थों के विषय में हैं; पद्म० के प्रथम पाँच खण्डों के

६१. स्थिता यदि गयायां ते शप्तास्ते ब्रह्मणा तदा। विद्याविवर्जिता यूयं तृष्णायुक्ता भविष्यथ॥ अग्निपुराण (११४।३६-३७)।

६२. 'श्रीबल्लालसेनदेवप्रदत्त-गयाल-ब्राह्मणहरिदासेन प्रतिगृहीतपञ्चशतोत्पत्तिकक्षेत्रपांटकाभिधान-शासनविनिमयेन।' देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द—२१, पृ० २११ एवं २१९।

६३. गरुडपुराण में आया है—वाराणस्यां कृतश्राद्धस्तीर्थे शोणनदे तथा। पुनःपुनामहानद्यां श्राद्धं स्वर्गं पितॄन्नयेत्॥

३१००० श्लोकों में ४००० श्लोक तीर्थ-सम्बन्धी हैं; वराह० में कुल ९६१४ श्लोक हैं जिनमें ३१८२ श्लोक तीर्थ के विषय में हैं (जिनमें १४०० श्लोक केवल मथुरा के विषय में हैं) और मत्स्य० के १४००२ श्लोकों में १२०० श्लोक तीर्थ-सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त निम्न निबन्ध एवं तीर्थ-सम्बन्धी ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मीधर के कल्पतरु का तीर्थविवेचन काण्ड; हेमाद्रि की चतुर्वर्ग-चिन्तामणि का तीर्थखण्ड (जो अभी उपलब्ध नहीं हुआ है); वाचस्पति (१४५०-१४८० ई०) की तीर्थचिन्तामणि; नृसिंहप्रसाद (लगभग १५००ई०) का तीर्थसार; नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु (१५५०-१५८० ई०); टोडरानन्द (१५६५-१५८९ ई०) का तीर्थसौख्य; रघुनन्दन (१५२०-१५७०ई०) का तीर्थतत्त्व या तीर्थयात्रा-विधितत्त्व; मित्र मिश्र (१६१०-१६४० ई०) का तीर्थप्रकाश; भट्टोजि (लगभग १६२५ ई०) का त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह; नागेश का त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह; नागेश या नागोजि का तीर्थेन्दुशेखर। बहुत-से तीर्थ-सम्बन्धी ग्रन्थ अभी प्रकाशित नहीं हैं जिनमें अनूपसिंह (बीकानेर) की आज्ञा से प्रणीत अनन्त भट्ट का तीर्थ-रत्नाकर सम्भवतः सबसे बड़ा है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट तीर्थों पर भी पृथक्-पृथक् ग्रन्थ हैं, यथा—विद्यापति (१४००-१४५० ई०) का गंगावाक्यावली नामक ग्रन्थ; सुरेश्वराचार्य का काशीमृतिमोक्ष-विचार; रघुनन्दन की गयाश्राद्धपद्धति एवं पुरुषोत्तमक्षेत्रतत्त्व। इस स्थल पर हमने प्रकाशित ग्रन्थों का ही विशेष उल्लेख किया है।

तीर्थयात्रा के पूर्व के कृत्यों का लेखा जो पुराणों एवं निबन्धों में दिया हुआ है, हम एक ही स्थान पर दे रहे हैं। तीर्थयात्रा करने की भावना के परिपक्व हो जाने के उपरान्त किसी एक निश्चित दिन व्यक्ति को केवल एक बार भोजन करना चाहिए; दूसरे दिन उसे वपन कराकर (जैसा कि अधिकांश निबन्धों में आया है) उपवास करना चाहिए; उपवास के दूसरे दिन उसे दैनिक धर्मों का पालन करना चाहिए; 'अमुक-अमुक स्थान की मैं तीर्थयात्रा करूँगा एवं तीर्थ-यात्रा की निर्विघ्न समाप्ति के लिए गणेश एवं अपने अधिष्ठाता देवों की पूजा करूँगा' की घोषणा या संकल्प करना चाहिए तथा पाँच या सोलह उपचारों के साथ गणेश, नवग्रहों एवं अपने प्रिय देवों की पूजा करनी चाहिए;[64] तब अपने गृह्यसूत्र के अनुसार पर्याप्त घृत के साथ पार्वणश्राद्ध करना चाहिए, कम-से-कम तीन ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए तथा उन्हें धनदान करना चाहिए। इसके उपरान्त, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसे यात्री का परिधान धारण करना चाहिए। तब ग्राम की प्रदक्षिणा (कम-से-कम अपने घर की अवश्य) करनी चाहिए, तब दूसरे ग्राम में, जो एक कोश (दो या ढाई मील) से अधिक दूर न हो, पहुँचना चाहिए और तब श्राद्ध से बचे हुए भोजन एवं घृत से उपवास तोड़ना चाहिए (यह केवल गया की यात्रा में होता है)। अन्य तीर्थों की यात्रा में वह अपने घर में भी उपवास तोड़ सकता है। इसके उपरान्त उसे प्रस्थान कर देना चाहिए। दूसरे दिन उसे नये वस्त्र के सहित स्नान करके यात्री-परिधान पहनना चाहिए और पूर्वाभिमुख हो, अपराह्ण में, यथासम्भव नंगे पैर प्रस्थान करना चाहिए। यहाँ पर दो मत हैं। एक मत यह है कि जिस दिन व्यक्ति किसी तीर्थ में पहुँचता है उस दिन उसे उपवास करना चाहिए, दूसरा मत यह है कि तीर्थ में पहुँचने के एक दिन पूर्व ही उपवास करना चाहिए। पहले मत के अनुसार उसे उपवास के दिन श्राद्ध करना चाहिए और उस स्थिति में वह भोजन नहीं कर सकता, केवल पके भोजन को सूँघ सकता है। कल्पतरु (तीर्थ, पृ० ११) एवं तीर्थचि० (पृ० १४) ने देवल को उद्धृत कर कहा है कि तीर्थ में पहुँचने पर उपवास आवश्यक नहीं है, किन्तु यदि किया जाय तो विशेष फल की प्राप्ति होती है।

६४. सोलह एवं पाँच उपचारों के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १९। ब्रह्मवैवर्तपुराण (ब्रह्मखण्ड, २६।९०-९२) ने १६, १२ या ५ उपचारों का वर्णन यों किया है—आसनं वसनं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। पुष्पं चन्दनधूपं च दीपं नैवेद्यमुत्तमम्।। गन्धं माल्यं च शय्यां च ललितां सुविलक्षणाम्। जलमन्नं च ताम्बूलं साधारं देयमेव च।। गन्धान्नतल्पताम्बूलं विना द्रव्याणि द्वादश। पाद्यार्घ्यजलनैवेद्यपुष्पाण्येतानि पंच च।।

अध्याय १२

गङ्गा

गङ्गा पुनीततम नदी है और इसके तटों पर हरिद्वार, कनखल, प्रयाग एवं काशी जैसे परम प्रसिद्ध तीर्थ अवस्थित हैं, अतः गंगा से ही आरम्भ करके विभिन्न तीर्थों का पृथक्-पृथक् वर्णन उपस्थित किया जा रहा है।

हमने यह देख लिया है (गत अध्याय में) कि प्रसिद्ध नदीसूक्त (ऋ० १०।७५।५-६) में सर्वप्रथम गंगा का ही आह्वान किया गया है। ऋ० (६।४५।३१) में 'गाङ्ग्य' शब्द आया है जिसका सम्भवतः अर्थ है 'गंगा पर वृद्धि प्राप्त करता हुआ।'[1] शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।११ एवं १३) एवं ऐतरेय ब्राह्मण (३९।९) में गंगा एवं यमुना के किनारे पर भरत दौष्यन्ति की विजयों एवं यज्ञों का उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।११ एवं १३) में एक प्राचीन गाथा का उल्लेख है—'नाडपित् पर अप्सरा शकुन्तला ने भरत को गर्भ में धारण किया, जिसने सम्पूर्ण पृथिवी को जीतने के उपरान्त इन्द्र के पास यज्ञ के लिए एक सहस्र से अधिक अश्व भेजे।' महाभारत (अनुशासन० २६।२६-१०३) एवं पुराणों (नारदीय, उत्तरार्ध, अध्याय ३८-४५ एवं ५१।१-४८; पद्म० ५।६०।१-१२७; अग्नि० अध्याय ११०; मत्स्य०, अध्याय १८०-१८५; पद्म०, आदिखण्ड, अध्याय ३३-३७) में गंगा की महत्ता एवं पवित्रीकरण के विषय में सैकड़ों प्रशस्तिजनक श्लोक हैं। स्कन्द० (काशीखण्ड, अध्याय २९।१७-१६८) में गंगा के एक सहस्र नामों का उल्लेख है। यहाँ पर उपर्युक्त ग्रन्थों में दिये गये वर्णनों का थोड़ा अंश भी देना संभव नहीं है। अधिकांश भारतीयों के मन में गंगा जैसी नदियों एवं हिमालय जैसे पर्वतों के दो स्वरूप घर कर बैठे हैं—भौतिक एवं आध्यात्मिक। विशाल नदियों के साथ दैवी जीवन की प्रगाढ़ता संलग्न हो ही जाती है। टेलर ने अपने ग्रन्थ 'प्रिमिटिव कल्चर' (द्वितीय संस्करण, पृ० ४७७) में लिखा है—'जिन्हें हम निर्जीव पदार्थ कहते हैं, यथा नदियाँ, पत्थर, वृक्ष, अस्त्र-शस्त्र आदि, वे जीवित, बुद्धिशाली हो उठते हैं, उनसे बातें की जाती हैं, उन्हें प्रसन्न किया जाता है और यदि वे हानि पहुँचाते हैं तो उन्हें दण्डित भी किया जाता है।' गंगा के माहात्म्य एवं उसकी तीर्थयात्रा के विषय में पृथक्-पृथक् ग्रन्थ प्रणीत हुए हैं। यथा गणेश्वर (१३५० ई०) का **गंगापत्तलक**, मिथिला के राजा पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी की **गंगावाक्यावली**, गणपति की **गंगाभक्ति-तरंगिणी** एवं वर्धमान का **गंगाकृत्यविवेक**। इन ग्रन्थों की तिथियाँ इस महाग्रन्थ के अन्त में दी हुई हैं।

वनपर्व (अध्याय ८५) ने गंगा की प्रशस्ति में कई श्लोक (८८-९७) दिये हैं, जिनमें कुछ का अनुवाद यों है—"जहाँ भी कहीं स्नान किया जाय, गंगा कुरुक्षेत्र के बराबर है। किन्तु कनखल की अपनी विशेषता है और प्रयाग में इसकी परम महत्ता है। यदि कोई सैकड़ों पापकर्म करके गंगा-जल का अवसिंचन करता है तो गंगा-जल उन दुष्कृत्यों को उसी प्रकार जला देता है, जिस प्रकार अग्नि ईंधन को। कृत युग में सभी स्थल पवित्र थे, त्रेता में पुष्कर सबसे अधिक पवित्र था, द्वापर में कुरुक्षेत्र एवं कलियुग में गंगा। नाम लेने पर गंगा पापी को पवित्र कर देती है, इसे देखने

१. अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्। उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः॥ ऋ० (६।४५।३१)। अन्तिम पाद का अर्थ है 'गंगा के तटों पर उगी हुई घास या झाड़ी के समान।'

से सौभाग्य प्राप्त होता है, जब इसमें स्नान किया जाता है या इसका जल ग्रहण किया जाता है तो सात पीढ़ियों तक कुल पवित्र हो जाता है। जब तक किसी मनुष्य की अस्थि गंगा-जल को स्पर्श करती रहती है तब तक वह स्वर्गलोक में प्रसन्न रहता है। गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं है और न केशव के सदृश कोई देव। वह देश, जहाँ गंगा बहती है और वह तपोवन जहाँ गंगा पायी जाती है, उसे सिद्धिक्षेत्र कहना चाहिए, क्योंकि वह गंगातीर को छूता रहता है।" अनुशासनपर्व (३६।२६,३०-३१) में आया है कि वे जनपद एवं देश, वे पर्वत एवं आश्रम, जिनसे होकर गंगा बहती है, पुण्य का फल देने में महान् हैं। वे लोग, जो जीवन के प्रथम भाग में पापकर्म करते हैं, यदि गंगा की ओर जाते हैं तो परम पद प्राप्त करते हैं। जो लोग गंगा में स्नान करते हैं उनका फल बढ़ता जाता है, वे पवित्रात्मा हो जाते हैं और ऐसा पुण्यफल पाते हैं जो सैकड़ों वैदिक यज्ञों के सम्पादन से भी नहीं प्राप्त होता। और देखिए नारदीय० (३९।३०-३१ एवं ४०।६४)।

भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि धाराओं में मैं गंगा हूँ (स्रोतसामस्मि जाह्नवी, १०।३१)। मनु (८।९२) ने साक्षी को सत्योच्चारण के लिए जो कहा है उससे प्रकट होता है कि मनुस्मृति के काल में गंगा एवं कुरुक्षेत्र सर्वोच्च पुनीत स्थल थे।[2] कुछ पुराणों ने गंगा को **मन्दाकिनी** के रूप में स्वर्ग में, **गंगा** के रूप में पृथिवी पर और **भोगवती** के रूप में पाताल में प्रवाहित होते हुए वर्णित किया है (पद्म० ६।२६७।४७)। विष्णु आदि पुराणों ने गंगा को विष्णु के बायें पैर के अँगूठे के नख से प्रवाहित माना है।[3] कुछ पुराणों में ऐसा आया है कि शिव ने अपनी जटा से गंगा को सात धाराओं में परिवर्तित कर दिया, जिनमें तीन (नलिनी, ह्लादिनी एवं पावनी) पूर्व की ओर, तीन (सीता, चक्षुस् एवं सिन्धु) पश्चिम की ओर प्रवाहित हुई और सातवीं धारा भागीरथी हुई (मत्स्य० १२१।३८-४१; ब्रह्माण्ड० २।१८।३९-४१ एवं पद्म० १।३।६५-६६)। कूर्म० (१।४६।३०-३१) एवं वराह० (अध्याय ८२, गद्य में) का कथन है कि गंगा सर्वप्रथम सीता, अलकनंदा, सुचक्षु एवं भद्रा नामक चार विभिन्न धाराओं में बहती है; अलकनन्दा दक्षिण की ओर बहती है, भारतवर्ष की ओर आती है और सप्त मुखों में होकर समुद्र में गिरती है।[4] ब्रह्म० (७३।६८-६९) में गंगा को विष्णु के पाँव से प्रवाहित एवं शिव के जटाजूट में स्थापित माना गया है।

विष्णुपुराण (२।८।१२०-१२१) ने गंगा की प्रशस्ति यों की है--जब इसका नाम श्रवण किया जाता है, जब कोई इसके दर्शन की अभिलाषा करता है, जब यह देखी जाती है या इसका स्पर्श किया जाता है या जब इसका जल ग्रहण किया जाता है या जब कोई इसमें डुबकी लगाता है या जब इसका नाम लिया जाता है (या इसकी स्तुति की जाती है) तो गंगा दिन-प्रति-दिन प्राणियों को पवित्र करती है; जब सहस्रों योजन दूर रहनेवाले लोग 'गंगा' नाम का उच्चारण करते हैं तो तीन जन्मों के एकत्र पाप नष्ट हो जाते हैं।[5] भविष्य पुराण में भी ऐसा ही आया

२. यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गंगां मा कुरून्गमः।। मनु (८।९२)।

३. वामपादाम्बुजांगुष्ठनखस्रोतोविनिर्गताम्। विष्णोर्बिभर्ति यां भक्त्या शिरसाहर्निशं ध्रुवः।। विष्णुपुराण (२।८।१०९); कल्पतरु (तीर्थ, पृ० १६१) ने 'शिवः' पाठान्तर दिया है। 'नदी सा वैष्णवी प्रोक्ता विष्णुपादसमुद्भवा।' पद्म० (५।२५।१८८)।

४. तथैवालकनन्दा च दक्षिणादेत्य भारतम्। प्रयाति सागरं भित्त्वा सप्तभेदा द्विजोत्तमाः।। कूर्म० (१।४६। ३१)।

५. श्रुताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीतावगाहिता। या पावयति भूतानि कीर्तिता च दिने दिने।। गंगा गंगेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि। स्थितैरुच्चारितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम्।। विष्णुपु० (२।८।१२०-१२१); गंगा-

है।[६] मत्स्य०, कूर्म०, गरुड़० एवं पद्म० का कहना है कि गंगा में पहुँचना सब स्थानों में सरल है, केवल गंगाद्वार (हरिद्वार), प्रयाग एवं वहाँ जहाँ यह समुद्र में मिलती है, पहुँचना कठिन है, जो लोग यहाँ स्नान करते हैं, स्वर्ग जाते हैं और जो लोग यहाँ मर जाते हैं वे पुनः जन्म नहीं पाते।[७] नारदीयपुराण का कथन है कि गंगा सभी स्थानों में दुर्लभ है, किन्तु तीन स्थानों पर अत्यधिक दुर्लभ है। वह व्यक्ति, जो चाहे या अनचाहे गंगा के पास पहुँच जाता है और मर जाता है, स्वर्ग जाता है और नरक नहीं देखता (मत्स्य० १०७।४)। कूर्म० का कथन है कि गंगा वायुपुराण द्वारा घोषित स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी में स्थित ३५ करोड़ पवित्र स्थलों के बराबर है और वह उनका प्रतिनिधित्व करती है।[८] पद्मपुराण ने प्रश्न किया है—'बहुत धन के व्यय वाले यज्ञों एवं कठिन तपों से क्या लाभ, जब कि सुलभ रूप से प्राप्त होनेवाली एवं स्वर्ग-मोक्ष देनेवाली गंगा उपस्थित है! नारदीय पुराण में भी आया है—आठ अंगों वाले योग, तपों एवं यज्ञों से क्या लाभ? गंगा का निवास इन सभी से उत्तम है।[९] मत्स्य० (१०४।१४-१५) के दो श्लोक यहाँ वर्णन के योग्य हैं—'पाप करनेवाला व्यक्ति भी सहस्रों योजन दूर रहता हुआ गंगा-स्मरण से परम पद प्राप्त कर लेता है। गंगा के नाम-स्मरण एवं उसके दर्शन से व्यक्ति क्रम से पापमुक्त हो जाता है एवं सुख पाता है, उसमें स्नान करने एवं जल के पान से वह सात पीढ़ियों तक अपने कुल को पवित्र कर देता है।' काशीखण्ड (२७।६९) में ऐसा आया है कि गंगा के तट पर सभी काल शुभ हैं, सभी देश शुभ हैं और सभी लोग दान ग्रहण के योग्य हैं।

वराहपुराण (अध्याय ८२) में गंगा की व्युत्पत्ति 'गां गता' (जो पृथिवी की ओर गयी हो) है। पद्म० (सृष्टि खंड, ६०।६४-६५) ने गंगा के विषय में निम्न मूलमन्त्र दिया है—'ओं नमो गंगायै विश्वरूपिण्यै नारायण्यै नमो नमः।'

वाक्यावली (पृ० ११०), तीर्थचि० (पृ० २०२), गंगाभक्ति० (पृ० ९)। दूसरा श्लोक पद्म० (६।२१।८ एवं २३।१२) एवं ब्रह्म० (१७५।८२) में कई प्रकार से पढ़ा गया है, यथा—गंगा....यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥ पद्म० (१।३१।७७) में आया है...शतैरपि। नरो न नरकं याति किं तया सदृशं भवेत्॥

६. दर्शनात्स्पर्शनात्पानात् तथा गंगेति कीर्तनात्। स्मरणादेव गंगायाः सद्यः पापैः प्रमुच्यते॥ भविष्य० (तीर्थचि० पृ० १९८; गंगावा०, पृ० १२ एवं गंगाभक्ति०, पृ० ९)। प्रथम पाद अनुशासन० (२६।६४) एवं अग्नि० (११०।६) में आया है। गच्छंस्तिष्ठञ् जपन्ध्यायन् भुञ्जञ् जाग्रत् स्वपन् वदन्। यः स्मरेत् सततं गंगां सोऽपि मुच्येत बन्धनात्॥ स्कन्द० (काशीखण्ड, पूर्वार्ध २७।३७) एवं नारदीय० (उत्तर, ३९।१६-१७)।

७. सर्वत्र सुलभा गंगा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा। गंगाद्वारे प्रयागे च गंगासागरसंगमे॥ तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः॥ मत्स्य० (१०६।५४); कूर्म० (१।३७।३४); गरुड़० (पूर्वार्ध, ८१।१-२); पद्म० (५।६०।१२०)। नारदीय० (४०।२६-२७) में ऐसा पाठान्तर है—'सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रिषु स्थानेषु चाधिका। गंगाद्वारे... संगमे॥ एषु स्नाता दिवं....भवाः॥

८. तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत्। दिवि भुव्यन्तरिक्षे च तत्सर्वं जाह्नवी स्मृता॥ कूर्म० (१।३९।८); पद्म० (१।४७।७ एवं ५।६०।५९); मत्स्य० (१०२।५, तानि ते सन्ति जाह्नवि)।

९. किं यज्ञैर्बहुवित्ताढ्यैः किं तपोभिः सुदुष्करैः। स्वर्गमोक्षप्रदा गंगा सुखसौभाग्यपूजिता॥ पद्म० (५।६०।३९); किमष्टांगेन योगेन किं तपोभिः किमध्वरैः। वास एव हि गंगायां सर्वतोपि विशिष्यते॥ नारदीय० (उत्तर, ३८।३८); तीर्थचि० (पृ० १९४, गंगायां ब्रह्मज्ञानस्य कारणम्); प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ४९४)।

पद्म० (सृष्टि० ६०।३५) में आया है कि विष्णु सभी देवों का प्रतिनिधित्व करते हैं और गंगा विष्णु का। इसमें गंगा की प्रशस्ति इस प्रकार की गयी है—पिताओं, पतियों, मित्रों एवं सम्बन्धियों के व्यभिचारी, पतित, दुष्ट, चाण्डाल एवं गुरुघाती हो जाने पर या सभी प्रकार के पापों एवं द्रोहों से संयुक्त होने पर क्रम से पुत्र, पत्नियाँ, मित्र एवं सम्बन्धी उनका त्याग कर देते हैं, किन्तु गंगा उन्हें नहीं परित्यक्त करती (पद्म पुराण, सृष्टिखण्ड, ६०।२५-२६)।

कुछ पुराणों में गंगा के पुनीत स्थल के विस्तार के विषय में व्यवस्था दी हुई है। नारदीय० (उत्तर, ४३।११९-१२०) में आया है—गंगा के तीर से एक गव्यूति तक क्षेत्र कहलाता है, इसी क्षेत्र-सीमा के भीतर रहना चाहिए, किन्तु तीर पर नहीं, गंगातीर का वास ठीक नहीं है। क्षेत्र-सीमा दोनों तीरों से एक योजन की होती है अर्थात् प्रत्येक तीर से दो कोस तक क्षेत्र का विस्तार होता है।[10] यम ने एक सामान्य नियम यह दिया है कि वनों, पर्वतों, पवित्र नदियों एवं तीर्थों के स्वामी नहीं होते, इन पर किसी का प्रभुत्व (स्वामी रूप से) नहीं हो सकता। ब्रह्मपुराण का कथन है कि नदियों से चार-हाथ की दूरी तक नारायण का स्वामित्व होता है और मरते समय भी (कण्ठगत प्राण होने पर भी) किसी को उस क्षेत्र में दान नहीं लेना चाहिए। गंगाक्षेत्र के गर्भ (अन्तर्वृत्त), तीर एवं क्षेत्र में अन्तर प्रकट किया गया है। गर्भ वहाँ तक विस्तृत हो जाता है जहाँ तक भाद्रपद के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तक धारा पहुँच जाती है और उसके आगे तीर होता है, जो गर्भ से १५० हाथ तक फैला हुआ रहता है तथा प्रत्येक तीर से दो कोस तक क्षेत्र विस्तृत रहता है।

अब गंगा के पास पहुँचने पर स्नान करने की पद्धति पर विचार किया जायगा। गंगा-स्नान के लिए संकल्प करने के विषय में निबन्धों ने कई विकल्प दिये हैं। प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ४९७-४९८) में विस्तृत संकल्प दिया हुआ है। गंगावाक्यावली के संकल्प के लिए देखिए नीचे की टिप्पणी।[11] मत्स्य० (१०२) में जो स्नान-विधि दी हुई है वह सभी वर्णों एवं वेद के विभिन्न शाखानुयायियों के लिए समान है। मत्स्यपुराण (अध्याय १०२) के वर्णन का निष्कर्ष यों है—बिना स्नान के शरीर की शुद्धि एवं शुद्ध विचारों का अस्तित्व नहीं होता, इसी से मन को शुद्ध करने के लिए सर्वप्रथम

१०. तीराद् गव्यूतिमात्रं तु परितः क्षेत्रमुच्यते। तीरं त्यक्त्वा वसेत्क्षेत्रे तीरे वासो न चेष्यते॥ एकयोजनविस्तीर्णा क्षेत्रसीमा तटद्वयात्। नारदीय० (उत्तर, ४३।११९-१२०)। प्रथम को तीर्थचि० (पृ० २६६) ने स्कन्दपुराण से उद्धृत किया है और व्याख्या की है—'उभयतटे प्रत्येकं क्रोशद्वयं क्षेत्रम्।' अन्तिम पाद को तीर्थचि० (पृ० २६७) एवं गंगावा० (पृ० १३६) ने भविष्य० से उद्धृत किया है। 'गव्यूति' दूरी या लम्बाई का माप है जो सामान्यतः दो क्रोश (कोस) के बराबर है। लम्बाई के मापों के विषय में कुछ अन्तर है। अमरकोश के अनुसार 'गव्यूति' दो क्रोश के बराबर है, यथा—'गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्।' वायु० (८।१०५ एवं १०१।१२२-१२६) एवं ब्रह्माण्ड० (२।७।९६-१०१) के अनुसार २४ अंगुल=एक हस्त, ९६ अंगुल=एक धनु (अर्थात् 'दण्ड', 'युग' या 'नाली'); २००० धनु (या दण्ड या युग या नालिका)=गव्यूति एवं ८००० धनु=योजन। मार्कण्डेय० (४६।३७-४०) के अनुसार ४ हस्त=धनु या दण्ड या युग या नालिका; २००० धनु=क्रोश, ४ क्रोश=गव्यूति (जो योजन के बराबर है)। और देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ५।

११. अद्यामुके मासि अमुकपक्षे अमुकतिथौ सद्यःपापप्रणाशपूर्वकं सर्वपुण्यप्राप्तिकामो गंगायां स्नानमहं करिष्ये। गंगावा० (पृ० १४१)। और देखिए तीर्थचि० (पृ० २०६-२०७), जहाँ गंगास्नान के पूर्वक लिंक संकल्पों के कई विकल्प दिये हुए हैं।

स्नान की व्यवस्था होती है। कोई किसी कूप या धारा से पात्र में जल लेकर स्नान कर सकता है या बिना इस विधि से भी स्नान कर सकता है। 'नमो नारायणाय' मन्त्र के साथ बुद्धिमान् लोगों को तीर्थस्थल का ध्यान करना चाहिए। हाथ में दर्भ (कुश) लेकर, पवित्र एवं शुद्ध होकर आचमन करना चाहिए। चार वर्गहस्त स्थल को चुनना चाहिए और निम्न मन्त्र के साथ गंगा का आवाहन करना चाहिए; 'तुम विष्णु के चरण से उत्पन्न हुई हो, तुम विष्णु से भक्ति रखती हो, तुम विष्णु की पूजा करती हो, अतः जन्म से मरण तक किये गये पापों से मेरी रक्षा करो। स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी में ३५ करोड़ तीर्थ हैं; हे जाह्नवी गंगा, ये सभी देव तुम्हारे हैं। देवों में तुम्हारा नाम **नन्दिनी** (आनन्द देनेवाली) और **नलिनी** भी है तथा तुम्हारे अन्य नाम भी हैं, यथा **दक्षा, पृथ्वी, विहगा, विश्वकाया, अमृता, शिवा, विद्याधरी, सुप्रशान्ता, शान्तिप्रदायिनी**।'[12] स्नान करते समय इन नामों का उच्चारण करना चाहिए, तब तीनों लोकों में बहनेवाली गंगा पास में चली आयेगी (भले ही व्यक्ति घर पर ही स्नान कर रहा हो)। व्यक्ति को उस जल को, जिस पर सात बार मन्त्र पढ़ा गया हो, तीन या चार या पाँच या सात बार सिर पर छिड़कना चाहिए। नदी के नीचे की मिट्टी का मन्त्र-पाठ के साथ लेप करना चाहिए। इस प्रकार स्नान एवं आचमन करके व्यक्ति को बाहर आना चाहिए और दो श्वेत एवं पवित्र वस्त्र धारण करने चाहिए। इसके उपरान्त उसे तीन लोकों के सन्तोष के लिए देवों, ऋषियों एवं पितरों का यथाविधि **तर्पण** करना चाहिए।[13] पश्चात् सूर्य को नमस्कार एवं तीन बार प्रदक्षिणा कर तथा किसी ब्राह्मण, सोना एवं गाय का स्पर्श कर स्नानकर्ता को विष्णु मन्दिर (या अपने घर, पाठान्तर के अनुसार) में जाना चाहिए।[14]

१२. स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १८२) ने मत्स्य० (१०२) के श्लोक (१-८) उद्धृत किये हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने वहाँ गंगा के १२ विभिन्न नाम दिये हैं। पद्म० '(४।८१।१७-१९) में मत्स्य० के नाम पाये जाते हैं। इस अध्याय के आरम्भ में गंगा के सहस्र नामों की ओर संकेत किया जा चुका है।

१३. तर्पण के दो प्रकार हैं—प्रधान एवं गौण। प्रथम विद्याध्ययन समाप्त किये हुए द्विजों द्वारा देवों, ऋषियों एवं पितरों के लिए प्रति दिन किया जाता है। दूसरा स्नान के अंग के रूप में किया जाता है। नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते। तर्पणं तु भवेत्तस्य अङ्गत्वेन प्रकीर्तितम्॥ ब्रह्म० (गंगाभक्ति०, पृ० १६२)। तर्पण स्नान एवं ब्रह्मयज्ञ दोनों का अंग है। इस विषय में देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अध्याय १७। तर्पण अपनी वेद-शाखा के अनुसार होता है। दूसरा नियम यह है कि तर्पण तिलयुक्त जल से किसी तीर्थ-स्थल, गया में, पितृपक्ष (आश्विन के कृष्णपक्ष) में किया जाता है। विधवा भी किसी तीर्थ में अपने पति या सम्बन्धी के लिए तर्पण कर सकती है। संन्यासी ऐसा नहीं करता। पिता वाला व्यक्ति भी तर्पण नहीं करता, किन्तु विष्णुपुराण के मत से वह तीन अंजलि देवों, तीन ऋषियों को एवं एक प्रजापति ('देवास्तृप्यन्ताम्' के रूप में) को देता है। एक अन्य नियम यह है कि एक हाथ (दाहिने) से श्राद्ध में या अग्नि में आहुति दी जाती है, किन्तु तर्पण में जल दोनों हाथों से स्नान करने वाली नदी में डाला जाता है या भूमि पर छोड़ा जाता है—श्राद्धे हवनकाले च पाणिनैकेन दीयते। तर्पणे तूभयं कुर्यादेष एव विधिः स्मृतः॥ नारदीय० (उत्तर, ५७।६२-६३)। यदि कोई विस्तृत विधि से तर्पण न कर सके तो वह निम्न मन्त्रों के साथ (जो वायुपुराण, ११०।२१-२२ में दिये हुए हैं) तिल एवं कुश से मिश्रित जल की तीन अंजलियाँ दे सकता है—'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः। तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः॥ अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्। आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥'

१४. तर्पण के लिए देखिए 'आह्निकसूत्रावली' या नित्यकर्म विधि संबन्धी कोई भी पुस्तक। 'धर्मराज', 'चित्रगुप्त' के लिए देखिए वराहपुराण (अध्याय २०३-२०५)।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि मत्स्य० (१०२।२-३१) के श्लोक, जिनका निष्कर्ष ऊपर दिया गया है, कुछ अन्तरों के साथ पद्म० (पातालखण्ड ८९।१२-४२ एवं सृष्टिखण्ड २०।१४५-१७६) में भी पाये जाते हैं। प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ५०२) में गंगा-स्नान के समय के मन्त्र दिये हुए हैं।[१५]

हमने इस ग्रन्थ के इस खण्ड के अध्याय ७ में देख लिया है कि विष्णुधर्मसूत्र आदि ग्रन्थों ने अस्थि-भस्म या जली हुई अस्थियों का प्रयाग या काशी या अन्य तीर्थों में प्रवाह करने की व्यवस्था दी है। हमने अस्थि-प्रवाह की विधि का वर्णन वहाँ कर दिया है, दो-एक बातें यहाँ जोड़ दी जा रही हैं। इस विषय में एक ही श्लोक कुछ अन्तरों के साथ कई ग्रन्थों में आया है।[१६] अग्निपुराण में आया है—'मृत व्यक्ति का कल्याण होता है जब कि उसकी अस्थियाँ गंगा में डाली जाती हैं; जब तक गंगा के जल में अस्थियों का एक टुकड़ा भी रहता है तब तक व्यक्ति स्वर्ग में निवास करता है।' आत्म-घातियों एवं पतितों की अन्त्येष्टि-क्रिया नहीं की जाती, किन्तु यदि उनकी अस्थियाँ भी गंगा में रहती हैं तो उनका कल्याण होता है। तीर्थचि० एवं तीर्थप्र० ने ब्रह्म० के ढाई श्लोक उद्धृत किये हैं जो अस्थि-प्रवाह के कृत्य को निर्णय-सिन्धु की अपेक्षा संक्षेप में देते हैं।[१७] श्लोकों का अर्थ यह है—'अस्थियाँ ले जानेवाले को स्नान करना चाहिए; अस्थियों पर पंचगव्य छिड़कना चाहिए, उन पर सोने का एक टुकड़ा, मधु एवं तिल रखना चाहिए, उन्हें किसी मिट्टी के पात्र में रखना चाहिए और इसके उपरान्त दक्षिण दिशा में देखना चाहिए तथा यह कहना चाहिए कि 'धर्म को नमस्कार।' इसके उपरान्त गंगा में प्रवेश कर यह कहना चाहिए 'धर्म (या विष्णु) मुझसे प्रसन्न हों' और अस्थियों को जल में बहा देना चाहिए। इसके उपरान्त उसे स्नान करना चाहिए; बाहर निकलकर सूर्य को देखना चाहिए और किसी ब्राह्मण को दक्षिणा देनी चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो मृत की स्थिति इन्द्र के समान हो जाती है।' और देखिए स्कन्द० (काशीखण्ड, ३०।४२-४६) जहाँ यह विधि कुछ विशद रूप में वर्णित है। गंगा में अस्थि-प्रवाह की

१५. विष्णुपादाब्जसम्भूते गंगे त्रिपथगामिनि। धर्मव्रतेति विख्याते पापं मे हर जाह्नवि॥ श्रद्धया भक्तिसम्पन्ने (न्नं ?) श्रीमातर्देवि जाह्नवि। अमृतेनाम्बुना देवि भागीरथि पुनीहि माम्॥ स्मृतिच० (१।१३१); प्राय० तत्त्व० (५०२); त्वं देव सरितां नाथ त्वं देवि सरितां वरे। उभयोः संगमे स्नात्वा मुञ्चामि दुरितानि वै॥ वही। और देखिए पद्म० (सृष्टिखण्ड, ६०।६०)।

१६. यावदस्थि मनुष्यस्य गंगायाः स्पृशते जलम्। तावत्स पुरुषो राजन् स्वर्गलोके महीयते॥ वनपर्व (८५।९४= पद्म० १।३९।८७); अनुशासनपर्व (३६।३२) में आया है—'यावदस्थीनि गंगायां तिष्ठन्ति हि शरीरिणः। तावद्वर्ष-सहस्राणि....महीयते॥' यही बात मत्स्य० (१०६।५२) में भी है। कूर्म० (१।३७।३२) ने 'पुरुषस्य तु' पढ़ा है। नारद० (उत्तर, ४३।१०९) में आया है—'यावन्त्यस्थीनि गंगायां तिष्ठन्ति पुरुषस्य वै। तावद्वर्ष...महीयते।' पुनः नारद० (उत्तर, ६२।५१) में आया है—यावन्ति नखलोमानि गंगातोये पतन्ति वै। तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते॥ नारदीय० (पूर्वार्ध, १५।१६३)—केशास्थिनखदन्ताश्च भस्मापि नृपसत्तम। नयन्ति विष्णुसदनं स्पृष्टा गांगेन वारिणा॥

१७. स्नात्वा ततः पंचगव्येन सिक्त्वा हिरण्यमध्वाज्यतिलेन योज्यम्। ततस्तु मृत्पिण्डपुटे निधाय पश्यन् दिशं प्रेतगणोपगूढाम्॥ नमोऽस्तु धर्माय वदन् प्रविश्य जलं स मे प्रीत इति क्षिपेच्च। स्नात्वा तथोत्तीर्य च भास्करं च दृष्ट्वा प्रदद्याच्च दक्षिणां तु॥ एवं कृते प्रेतपुरस्थितस्य स्वर्गे गतिः स्यात्तु महेन्द्रतुल्या। ब्रह्म० (तीर्थचि०, पृ० २६५-२६६ एवं तीर्थप्र०, पृ० ३७४)। गंगावा० (पृ० २७२) ने कुछ अन्तर के साथ इसे ब्रह्माण्ड० से उद्धृत किया है, यथा—'यस्तु सर्वहितो विष्णुः स मे प्रीत इति क्षिपेत्।' और देखिए नारद० (उत्तर, ४३।११३-११५)।

परम्परा सम्भवतः सगर के पुत्रों की गाथा से उत्पन्न हुई है। सगर के पुत्र कपिल ऋषि के क्रोध से भस्म हो गये थे और भगीरथ के प्रयत्न से स्वर्ग से नीचे लायी गयी गंगा के जल से उनकी भस्म बहा दी गयी तब उन्हें रक्षा मिली। इस कथा के लिए देखिए वनपर्व (अध्याय १०७-१०९) एवं विष्णुपुराण (२।८-१०)। नारदीय० के मत से न केवल भस्म हुई अस्थियों को गंगा में प्रवाहित करने से मृत को कल्याण प्राप्त होता है, प्रत्युत नख एवं केश डाल देने से भी कल्याण होता है। स्कन्द० (काशीखण्ड, २७।८०) में आया है कि जो लोग गंगा के तटों पर खड़े होकर दूसरे तीर्थ की प्रशंसा करते हैं या गंगा की प्रशंसा करने या महत्ता गाने में नहीं संलग्न रहते वे नरक में जाते हैं।[१८] काशीखण्ड ने आगे व्यवस्था दी है कि विशिष्ट दिनों में गंगास्नान से विशिष्ट एवं अधिक पुण्यफल प्राप्त होते हैं, यथा—साधारण दिनों की अपेक्षा अमावस पर स्नान करने से सौ गुना फल प्राप्त होता है, संक्रांति पर स्नान करने से सहस्र गुना, सूर्य या चन्द्र के ग्रहण पर स्नान करने से सौ लाख गुना और सोमवार के दिन चन्द्रग्रहण पर या रविवार के दिन सूर्य-ग्रहण पर स्नान करने से असंख्य फल प्राप्त होता है।[१९]

त्रिस्थली

प्रयाग, काशी एवं **गया** को त्रिस्थली कहा जाता है। प्रसिद्ध विद्वान् पं० नारायण भट्ट (जन्मकाल १५१३ ई०) ने वाराणसी में **त्रिस्थलीसेतु** नामक ग्रन्थ (लगभग सन् १५८० में) लिखा, जिसमें केवल तीन तीर्थों का वर्णन उपस्थित किया गया है।[२०] प्रयाग के विषय में १-७२ पृष्ठ, काशी के विषय में ७२-३१६ पृष्ठ और गया के विषय में ३१६-३७९ पृष्ठ लिखे गये हैं। हम नीचे इन तीनों तीर्थों का वर्णन उपस्थित करेंगे।

प्रयाग

गंगा-यमुना के संगम से सम्बन्धित अत्यन्त प्राचीन निर्देशों में एक खिल मन्त्र है, जो बहुधा ऋग्वेद (१०।७५) में पढ़ा जाता है और उसका अनुवाद यों है—"जो लोग श्वेत (सित) या कृष्ण (नील या असित) दो नदियों के मिलन-स्थल पर स्नान करते हैं, वे स्वर्ग को उठते (उड़ते) हैं; जो धीर लोग वहाँ अपना शरीर त्याग करते हैं (डूब कर मर जाते हैं), वे मोक्ष पाते हैं।"[२१] सम्भवतः यह अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन मन्त्र है। स्कन्दपुराण ने इसे श्रुति

१८. तीर्थमन्यत्प्रशंसन्ति गङ्गातीरे स्थिताश्च ये। गंगां न बहु मन्यन्ते ते स्युर्निरयगामिनः।। स्कन्द० (काशीखण्ड, २७।८०)।

१९. दर्शे शतगुणं पुण्यं संक्रान्तौ च सहस्रकम्। चन्द्रसूर्यग्रहे लक्षं व्यतीपाते त्वनन्तकम्।।...सोमग्रहः सोमदिने रविवारे रवेर्ग्रहः। तच्चूडामणिपर्वाख्यं तत्र स्नानमसंख्यकम्।। स्कन्द० (काशीखण्ड, २७।१२९-१३१)।

२०. त्रयाणां स्थलानां समाहारः त्रिस्थली।

२१. सितासिते सरिते यत्र सङ्गते तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते।। त्रिस्थली० (पृ० ३) के मत से यह आश्वलायन शाखा का पूरक श्रुति-वचन है। किन्तु तीर्थचिन्तामणि (पृ० ४७) ने इसे ऋग्वेद का मन्त्र माना है। यह सम्भव है कि इस मन्त्र से आत्महत्या को बढ़ावा नहीं मिलता, प्रत्युत इससे यही भाव प्रकट होता है कि केवल एक बार के स्नान से व्यक्ति स्वर्ग जाता है, और यदि व्यक्ति प्रयाग में मर जाता है तो वह सम्यक् ब्रह्मज्ञान के बिना भी मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। देखिए रघुवंश (१३।५८), 'तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः' (तीर्थप्र०, पृ० ३१३)। स्कन्द० (काशीखण्ड, ७।५४) का कथन है—'श्रुतिभिः

कहा है। महाभारत ने प्रयाग की महत्ता का वर्णन किया है (वन० ८५।६९-९७, ८७। १८-२०; अनुशासन० २५।३६-३८)। पुराणों में भी इसकी प्रशस्ति गायी गयी है (मत्स्य०, अध्याय १०३-११२; कूर्म० १।३६-३९; पद्म० १, अध्याय ४०-४९; स्कन्द०, काशीखण्ड, अध्याय ७।४५-६५)। हम केवल कुछ ही श्लोकों की ओर संकेत कर सकेंगे। यह ज्ञातव्य है कि रामायण ने प्रयाग के विषय में कुछ विशेष नहीं कहा है। संगम का वर्णन आया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों वहाँ वन था (रामायण, २।५४-६)। प्रयाग को **तीर्थराज** कहा गया है (मत्स्य० १०९।१५; स्कन्द० काशीखण्ड, ७।४५ एवं पद्म०, ६।२३।२७-३५, जहाँ प्रत्येक श्लोक के अन्त में "स तीर्थराजो जयति प्रयागः" आया है)।[22] गाथा यों है कि प्रजापति या पितामह (ब्रह्मा) ने यहाँ यज्ञ किया था प्रयाग ब्रह्मा की वेदियों में बीच वाली वेदी है, अन्य वेदियाँ हैं उत्तर में कुरुक्षेत्र (जिसे **उत्तरवेदी** कहा जाता है) एवं पूर्व में गया। ऐसा विश्वास है कि प्रयाग में तीन नदियाँ मिलती हैं, यथा गंगा, यमुना एवं सरस्वती (जो दोनों के बीच में अन्तर्भूमि में है)। मत्स्य, कूर्म आदि पुराणों में ऐसा कहा गया है कि प्रयाग के दर्शन, नाम लेने या इसकी मिट्टी लगाने मात्र से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। कूर्म० ने घोषणा की है– 'यह प्रजापति का पवित्र स्थल है, जो यहाँ स्नान करते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं और जो यहाँ मर जाते हैं वे पुनः जन्म नहीं लेते।' यही पुनीत स्थल तीर्थराज है; यह केशव को प्रिय है। इसी को त्रिवेणी की संज्ञा मिली है।'

'प्रयाग' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गयी है। वनपर्व में आया है कि सभी जीवों के अधीश ब्रह्मा ने यहाँ प्राचीन काल में यज्ञ किया था और इसी से 'यज्' धातु से 'प्रयाग' बना है।[23] स्कन्द० ने इसे 'प्र' एवं 'याग' से युक्त माना है[24]—'इसलिए कहा जाता है कि यह सभी यज्ञों से उत्तम है, हरि, हर आदि देवों ने इसे 'प्रयाग' नाम दिया है।' मत्स्य० ने 'प्र' उपसर्ग पर बल दिया है और कहा है कि अन्य तीर्थों की तुलना में यह अधिक प्रभावशाली है।

परिपठ्येते सितासिते सरिद्वरे। तत्राप्लुतांगा ह्यमृतं भवन्तीति विनिश्चितम्'।। (त्रिस्थलीसेतु, पृ० ११)। और देखिए काशीखण्ड (७।४६)। इसमें सन्देह नहीं कि इस श्लोक में वैदिक रंग है। त्रिस्थली० (पृ० ४) में एक अन्य पाठान्तर की ओर संकेत है। गंगा का जल श्वेत (सित) एवं यमुना का नील होता है। संस्कृत के कवियों ने बहुधा जलरंगों की ओर संकेत किया है। देखिए रघुवंश (१३।५४-५७)।

२२. दश तीर्थसहस्राणि तिस्रः कोट्यस्तथापराः। समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ।। माघमासं प्रयागे तु नियतः संशितव्रतः। स्नात्वा तु भरतश्रेष्ठ निर्मलः स्वर्गमाप्नुयात्।। अनुशासन० (२५।३६-३८)। दर्शनात्तस्य तीर्थस्य नामसंकीर्तनादपि। मृत्तिकालम्भनाद्वापि नरः पापात् प्रमुच्यते।। मत्स्य० (१०४।१२), कूर्म० (१।३६।२७)। और देखिए अग्नि० (१११।६-७) एवं वनपर्व (८५।८०)। एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। अत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवाः।। कूर्म० (१।३६।२०)। मत्स्य० (१०४।५ एवं १११।१४) एवं नारद० (उत्तर, ६३। १२७-१२८) ने भी इसे 'प्रजापतिक्षेत्र' की संज्ञा दी है।

२३. गंगायमुनयोर्वीर संगमं लोकविश्रुतम्। यत्रायजत भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः। प्रयागमिति विख्यातं तस्माद् भरतसत्तम।। वनपर्व (८७।१८-१९); तथा सर्वेषु लोकेषु प्रयागं पूजयेद् बुधः। पूज्यते तीर्थराजस्तु सत्यमेव युधिष्ठिर।। मत्स्य० (१०९।१५)।

२४. प्रकृष्टं सर्वयागेभ्यः प्रयागमिति गीयते। दृष्ट्वा प्रकृष्टयागेभ्यः पुष्टेभ्यो दक्षिणादिभिः। प्रयागमिति तन्नाम कृतं हरिहरादिभिः।। (त्रिस्थलीसेतु, पृ० १३)। प्रथम अंश स्कन्द० (काशी० ७।४९) में भी आया है। अतः 'प्रयाग' का अर्थ है 'यागेभ्यः प्रकृष्टः', 'यज्ञों से बढ़कर जो है' या 'प्रकृष्टो यागो यत्र', 'जहाँ उत्कृष्ट यज्ञ है।'

ब्रह्म० का कथन है—प्रकृष्टता के कारण यह प्रयाग है और प्रधानता के कारण यह 'राज' शब्द (तीर्थराज) से युक्त है।[२५]

'प्रयागमण्डल', 'प्रयाग' एवं 'वेणी' (या 'त्रिवेणी') के अन्तर को प्रकट करना चाहिए, जिनमें आगे का प्रत्येक पूर्व वाले से अपेक्षाकृत छोटा किन्तु अधिक पवित्र है। मत्स्य०[२६] का कथन है कि प्रयाग का विस्तार परिधि में पाँच योजन है और ज्यों ही कोई उस भूमिखण्ड में प्रविष्ट होता है, उसके प्रत्येक पद पर अश्वमेध का फल होता है। त्रिस्थलीसेतु (पृ० १५) में इसकी व्याख्या यों की गयी है--यदि ब्रह्मयूप (ब्रह्मा के यज्ञस्तम्भ) को खूँटी मानकर कोई डेढ़ योजन रस्सी से चारों ओर मापे तो वह पाँच योजन की परिधि वाला स्थल **प्रयागमण्डल** होगा। वनपर्व, मत्स्य० (१०४।५ एवं १०६।३०) आदि ने प्रयाग के क्षेत्रफल की परिभाषा दी है[२७]—'प्रयाग का विस्तार प्रतिष्ठान से वासुकि के जलाशय तक है और कम्बल नाग एवं अश्वतर नाग तथा बहुमूलक तक है; यह तीन लोकों में प्रजापति के पवित्र स्थल के रूप में विख्यात है।' मत्स्य० (१०६।३०) ने कहा है कि गंगा के पूर्व में समुद्रकूप है, जो प्रतिष्ठान ही है। त्रिस्थलीसेतु ने इसे यों व्याख्यात किया है—पूर्व सीमा प्रतिष्ठान का कूप है, उत्तर में वासुकिह्रद है, पश्चिम में कम्बल एवं अश्वतर हैं और दक्षिण में बहुमूलक है। इन सीमाओं के भीतर प्रयाग तीर्थ है। मत्स्य० (कल्पतरु, तीर्थ, पृ० १४३) के मत से दोनों नाग यमुना के दक्षिणी किनारे पर हैं, किन्तु मुद्रित ग्रन्थ में 'विपुले यमुनातटे' पाठ है। किन्तु प्रकाशित पद्म० (१।४३।२७) से पता चलता है कि कल्पतरु का पाठान्तर (यमुना-दक्षिणे तटे) ठीक है। **वेणी-क्षेत्र प्रयाग** के अन्तर्गत है और विस्तार में २० धनु है, जैसा कि पद्म० में आया है।[२८] यहाँ तीन पवित्र कूप हैं, यथा प्रयाग, प्रतिष्ठानपुर एवं अलर्कपुर में। मत्स्य० एवं अग्नि० का कथन है कि यहाँ तीन अग्निकुण्ड हैं और गंगा उनके मध्य से बहती है। जहाँ भी कहीं पुराणों में स्नान-स्थल का वर्णन (विशिष्ट संकेतों को छोड़कर) आया है, उसका तात्पर्य है वेणी-स्थल-स्नान और वेणी का तात्पर्य है दोनों (गंगा एवं यमुना) का संगम।[२९] वनपर्व एवं कुछ पुराणों के मत

२५. प्रभावात्सर्वतीर्थेभ्यः प्रभवत्यधिकं विभो। मत्स्य० (११०।११)। प्रकृष्टत्वात्प्रयागोसौ प्राधान्याद्राजशब्दवान्। ब्रह्मपुराण (त्रिस्थलीसेतु, पृ० १३)।

२६. पञ्चयोजनविस्तीर्णं प्रयागस्य तु मण्डलम्। प्रविष्टमात्रे तद्भूमावश्वमेधः पदे पदे॥ मत्स्य० (१०८।९-१०, १११।८); पद्म० (१।४५।८)। कूर्म० (२।३५।४) में आया है—पंचयोजनविस्तीर्णं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। प्रयागं प्रथितं तीर्थं यस्य माहात्म्यमीरितम्॥

२७. आ प्रयागं प्रतिष्ठानाद्यत्पुरा वासुकेर्ह्रदात्। कम्बलाश्वतरौ नागौ नागश्च बहुमूलकः। एतत् प्रजापतेः क्षेत्रं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। मत्स्य० (१०४।५); पद्म० (१।३९।६९-७०, ४१।४-५) में भी वही बात कही गयी है। वनपर्व (८५।७६-७७) में आया है—'प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरावुभौ। तीर्थं भोगवती चैव वेदिरेषा प्रजापतेः॥ तत्र वेदाश्च यज्ञाश्च मूर्तिमन्तो युधिष्ठिर।' अग्नि० (१११।५) में भी आया है—'प्रयागं ... प्रजापतेः' (यहाँ 'वेदी प्रोक्ता' पढ़ा गया है)।

२८. माघः सितासिते विप्र राजसूयैः समो भवेत्। धनुर्विंशतिविस्तीर्णे सितनीलाम्बुसंगमे॥ इति पाद्मोक्तेः। त्रिस्थलीसेतु (पृ० ७५)। सितासित (श्वेत एवं नील) का अर्थ है 'वेणी'। 'धनु' का माप बराबर होता है चार हाथों या ९६ अंगुलों के।

२९. तत्र त्रीण्यग्निकुण्डानि येषां मध्येन जाह्नवी। वनपर्व (८५।७३); त्रीणि चाप्यग्निकुण्डानि येषां मध्ये तु जाह्नवी। मत्स्य० (११०।४), अग्नि० (१११।१२) एवं पद्म० (१।३९।६७ एवं १।४९।४)। मत्स्य० (१०४।१३) एवं कूर्म० (१।३६।२८-२९) ने 'पञ्च कुण्डानि' पढ़ा है।

से गंगा एवं यमुना के बीच की भूमि पृथिवी की जाँघ है (अर्थात् यह पृथिवी की अत्यन्त संमृद्धिशाली भूमि है) और प्रयाग जघनों की उपस्थ-भूमि है।[३०]

नरसिंह० (६३।१७) का कथन है कि प्रयाग में विष्णु योगमूर्ति के रूप में हैं। मत्स्य० (१११।४-१०) में आया है कि कल्प के अन्त में जब रुद्र विश्व का नाश कर देते हैं उस समय भी प्रयोग का नाश नहीं होता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर (शिव) प्रयाग में रहते हैं; प्रतिष्ठान के उत्तर में ब्रह्मा गुप्त रूप में रहते हैं, विष्णु वहाँ वेणीमाधव के रूप में रहते हैं और शिव वहाँ अक्षयवट के रूप में रहते हैं। इसी लिए गन्धर्वों के साथ देवगण, सिद्ध लोग एवं बड़े-बड़े ऋषिगण प्रयाग के मण्डल को दुष्ट कर्मों से बचाते रहते है।[३१] इसी से मत्स्य० (१०४।१८) में आया है कि यात्री को देवरक्षित प्रयाग में जाना चाहिए, वहाँ एक मास ठहरना चाहिए, वहाँ सम्भोग नहीं करना चाहिए, देवों एवं पितरों की पूजा करनी चाहिए और वांछित फल प्राप्त करने चाहिए। इसी पुराण (१०५।१६-२२) ने यह भी कहा है कि वहाँ दान करना चाहिए, और इसने वस्त्रों, आभूषणों एवं रत्नों से सुशोभित कपिला गाय के दान की प्रशस्ति गायी है। और देखिए पद्म० (आदि, ४२।१७-२४)। मत्स्य० (१०६।८-९) ने प्रयाग में कन्या के आर्ष विवाह की बड़ी प्रशंसा की है। मत्स्य० (१०५।१३-१४) ने सामान्य रूप से कहा है कि यदि कोई गाय, सोना, रत्न, मोती आदि का दान करता है तो उसकी यात्रा सुफल होती है और उसे पुण्य प्राप्त होता है, तथा जब कोई अपनी समर्थता एवं धन के अनुसार दान करता है तो तीर्थयात्रा की फल-वृद्धि होती है, और वह कल्पान्त तक स्वर्ग में रहता है। ब्रह्माण्ड० ने आश्वासन दिया है कि यात्री जो कुछ अपनी योग्यता के अनुसार कुरुक्षेत्र, प्रयाग, गंगा-सागर के संगम, गंगा, पुष्कर, सेतुबन्ध, गंगाद्वार एवं नैमिष में देता है उससे अनन्त फल मिलता है।[३२] वनपर्व (८५।८२=८३।७७) में आया है कि यह ब्रह्मा की यज्ञ-भूमि देवों द्वारा पूजित है और यहाँ पर थोड़ा भी दिया गया दान महान् होता है।

तीनों नदियों का संगम 'ओंकार' से सम्बन्धित माना गया है (ओंकार शब्द ब्रह्म का द्योतक है)। पुराण-वचन ऐसा है कि 'ओम्' के तीन भाग, अर्थात् अ, उ एवं म् क्रम से सरस्वती, यमुना एवं गंगा के द्योतक हैं और तीनों के जल क्रम से प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं संकर्षण हरि के प्रतीक हैं।[३३]

यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि मत्स्य०, कूर्म० (१।३७।३९), पद्म० (आदि, अध्याय ४१-४९), अग्नि० (१११)

३०. गंगायमुनयोर्मध्यं पृथिव्या जघनं स्मृतम्। प्रयागं जघनस्थानमुपस्थमृषयो विदुः ॥ वनपर्व (८५।७५ पद्म० १।३९।६९ एवं १।४३।११); अग्नि० (१११।४); कूर्म० (१।३७।१२) एवं मत्स्य० (१०६।१९)। भावना यह है कि तीर्थ-स्थल पृथिवी के बच्चों के समान है।

३१. प्रयागं निवसन्त्येते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। उत्तरेण प्रतिष्ठानाच्छद्मना ब्रह्म तिष्ठति ॥ वेणीमाधवरूपी तु भगवांस्तत्र तिष्ठति। महेश्वरो वटो भूत्वा तिष्ठते परमेश्वरः ॥ ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः। रक्षन्ति मण्डलं नित्यं पापकर्मनिवारणात् ॥ मत्स्य० (१११।४-१०)। और देखिए कूर्म० (१।३६।२३-२६), पद्म० (आदिखण्ड ४१।६-१०)।

३२. कुरुक्षेत्रे प्रयागे च गंगासागरसंगमे। गंगायां पुष्करे सेतौ गंगाद्वारे च नैमिषे। यद्दानं दीयते शक्त्या तदानन्त्याय कल्पते ॥ ब्रह्माण्ड० (त्रिस्थलीसेतु, पृ० २४)।

३३. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म परब्रह्माभिधायकम्। तदेव वेणी विज्ञेया सर्वसौख्यप्रदायिनी ॥ अकारः शारदा प्रोक्ता प्रद्युम्नस्तत्र जायते। उकारो यमुना प्रोक्तानिरुद्धस्तज्जलात्मकः ॥ मकारो जाह्नवी गंगा तत्र संकर्षणो हरिः। एवं त्रिवेणी विख्याता वेदबीजं प्रकीर्तिता ॥ त्रिस्थलीसेतु (पृ० ८) द्वारा उद्धृत।

आदि पुराणों में प्रयाग के विषय में सैकड़ों श्लोक हैं, किन्तु कल्पतरु (तीर्थ) ने, जो तीर्थ-सम्बन्धी सबसे प्राचीन निबन्ध हैं, केवल मत्स्य० (१०४।१-१३ एवं १६-२०; १०५।१-२२; १०६।१-४८; १०७।२-२१; १०८।३-५, ८-१७ एवं २३-२४; १०९।१०-१२; ११०।११; १११।८-१०; कुल मिलाकर लगभग १५१ श्लोक एवं वनपर्व अध्याय ८५।-७९-८७ एवं ९७) को उद्धृत किया है और कहीं भी व्याख्या या विवेचन के रूप कुछ भी नहीं जोड़ा है। किन्तु अन्य निबन्धों ने पुराणों से खुलकर उद्धरण दिये हैं और कई विषयों पर विशद विवेचन उपस्थित किया है। हम कुछेक बातों की चर्चा यहाँ करेंगे।

एक प्रसंग है **प्रयाग में वपन** या मुण्डन का। गंगावाक्यावली (पृ० २९८) एवं तीर्थप्रकाश (पृ० ३३५) का कथन है कि यद्यपि कल्पतरु के लेखक ने प्रयाग में वपन के विषय में कुछ नहीं लिखा है, किन्तु शिष्टों एवं निबन्धकारों ने इसे अनिवार्य ठहराया है। अधिकांश लेखकों ने दो श्लोकों का हवाला दिया है—प्रयाग में वपन कराना चाहिए, गया में पिण्डदान, कुरुक्षेत्र में दान और वाराणसी में (धार्मिक) आत्महत्या करनी चाहिए। यदि किसी ने प्रयाग में वपन करा लिया है तो उस व्यक्ति के लिए गया में पिण्डदान, काशी में मृत्यु या कुरुक्षेत्र में दान करना अधिक महत्व नहीं रखता।[34] इन श्लोकों के अर्थ, **रात्रिसत्र** न्याय (निर्णय) के प्रयोग एवं वपन के फल के विषय में विशद विवेचन उपस्थित किया गया है। हम स्थानाभाव से यह सब नहीं लिखेंगे। त्रिस्थलीसेतु (पृ० १७) के मत से श्लोक केवल प्रयाग में वपन की प्रशंसा मात्र करता है और इससे जो फल प्राप्त होता है वह है पापमुक्ति। इसने इन श्लोकों के विषय में **रात्रिसत्र-न्याय** के प्रयोग का खण्डन किया है। किन्तु तीर्थचि० (पृ० ३२) ने इस न्याय का प्रयोग किया है।[35] त्रिस्थलीसेतु द्वारा उपस्थापित कुछ निष्कर्ष ये हैं कि प्रयाग की एक ही यात्रा में (भले ही व्यक्ति वहाँ कुछ दिन ठहरे) धार्मिक मुण्डन केवल एक बार होता है, विधवाओं को भी मुण्डन कराना होता है, सधवाएँ केवल अपने जूड़े से दो या तीन अंगुल बाल कटाकर त्रिवेणी में छोड़ देती हैं और उपनयन संस्कार-विहीन किन्तु चौल-कर्मयुक्त बच्चे भी मुण्डन कराते हैं (पृ० २३-२४)। त्रिस्थली-सेतु (पृ० २२) का कथन है कि कुछ सम्प्रदायी गण, कुछ वचनों पर विश्वास करके कि व्यक्ति के केशों में पाप लगे रहते हैं, कहते हैं कि दो तीन बाल-गुच्छों का वपन केवल कर्तन मात्र होगा न कि मुण्डन; सधवाओं को भी प्रयाग में

३४. प्रयागे वपनं कुर्याद् गयायां पिण्डपातनम्। दानं दद्यात् कुरुक्षेत्रे वाराणस्यां तनुं त्यजेत्॥ किं गयापिण्डदानेन काश्यां वा मरणेन किम्। किं कुरुक्षेत्रदानेन प्रयागे वपनं यदि॥ गंगावा० (पृ० २९८); तीर्थचि० (पृ० ३२); त्रिस्थली० (पृ० १७); तीर्थप्र० (पृ० ३३५)। ये दोनों श्लोक नारदीय० (उत्तर, ६३।१०३-१०४) के हैं।

३५. रात्रिसत्रन्याय की चर्चा जैमिनि० (४।३।१७-१९) में हुई है। पंचविंश ब्राह्मण (२३।२।४) में आया है—'प्रतितिष्ठन्ति य एता रात्रीरुपयन्ति' यहाँ पंचविंश में रात्रिसत्र की व्यवस्था तो है, किन्तु स्पष्ट रूप से किसी फल की चर्चा नहीं की गयी है। प्रश्न उठता है; क्या किसी स्पष्ट फल के उद्घोष के अभाव में स्वर्गप्राप्ति के फल को समझ लिया जाय। क्योंकि जैमिनि० ४।३।१५-१६ ने व्याख्या की है कि जहाँ किसी फल की स्पष्ट उक्ति न हुई हो, उस यज्ञ-सम्पादन का फल स्वर्ग-प्राप्ति समझना चाहिए? या प्रतिष्ठा (स्थिर स्थिति) को, जो उपर्युक्त अर्थवाद में आया है, रात्रि-सत्र का फल माना जाय? उत्तर यह है कि यहाँ फल प्रतिष्ठा है न कि स्वर्ग, अर्थात् यद्यपि रात्रिसत्र के विषय में किसी स्पष्ट फल का उल्लेख नहीं है, किन्तु अर्थवाद-वचन को फल-व्यवस्था का द्योतक समझना चाहिए। दोनों श्लोकों में 'प्रयागे वपनं कुर्यात्' के शब्दों में विधि है और दूसरा श्लोक अर्थवाद है। प्रश्न यह है कि कौन-सा फल मिलता है। यदि रात्रिसत्रन्याय का प्रयोग किया जाय तो मुण्डन से गयापिण्डदान, कुरुक्षेत्रदान एवं काशीतनुत्याग के फल प्राप्त होते हैं। किन्तु यदि इसका प्रयोग न किया जाय तो पापाभाव ही फल है।

मुण्डन कराना चाहिए। ऐसी नारियों को अपने केशों की वेणी बनाकर उसे कुंकुम एवं अन्य शुभ पदार्थों से सुशोभित कर अपने पति के समक्ष झुककर अनुमति माँगनी चाहिए और अनुमति पाकर मुण्डन करना चाहिए, फिर सिर पर सोने या चाँदी की वेणी एवं मोती तथा सीपी रखकर सबको गंगा-यमुना के संगम (वेणी) में निम्न मन्त्र पढ़कर बहा देना चाहिए--'वेणी में इस वेणी को फेंकने से मेरे सारे पाप नष्ट हो जायँ, और आनेवाले जीवन में मेरा सधवापन वृद्धि को प्राप्त हो।' त्रिस्थलीसेतु का कथन है कि प्रयाग को छोड़कर अन्य तीर्थों में नारियाँ मुण्डन नहीं करातीं, इसका एक मात्र कारण है शिष्टाचार (विद्वान् लोगों का आचरण या व्यवहार)। नारदीय० (उत्तर, ६३।१०६) ने स्त्रियों के विषय में पराशर के नियमों को मान्यता दी है। प्रायश्चित्ततत्त्व (रघुनन्दनकृत) ने प्रयाग में स्त्रियों के लिए पूर्ण मुण्डन की व्यवस्था दी है।

ऐसा सम्भव है कि सधवा स्त्रियों की वेणी को काटकर फेंकना 'वेणी' (दोनों नदियों के संगम) शब्द से निर्देशित हो गया है, क्योंकि संगम-स्थल पर गंगा कुछ दूर तक टेढ़ी होकर बहती है (त्रिस्थली०, पृ० ८)।

प्राचीन एवं मध्य काल के लेखकों ने इस बात पर विचार किया है कि संगम या अक्षयवट के तले आत्महत्या करने से पाप लगता है कि नहीं और नहीं लगता तो कब ऐसा करना चाहिए। इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के खण्ड ३, अध्याय ३४ में विचार कर लिया है। दो-एक बातें यहाँ भी दे दी जा रही हैं। सामान्यतः धर्मशास्त्रीय वचन यह है कि आत्महत्या करना पाप है। आप० ध० सू० (१।१०।२८।१५-१७) ने हारीत का वचन उद्धृत करके कहा है कि महापातक करने के उपरान्त भी प्रायश्चित-स्वरूप आत्महत्या करना अच्छा नहीं है। इसने हत्या करना एवं आत्महत्या करना दोनों को समान माना है। मनु (५।८९) एवं याज्ञ० (३।१५४) ने आत्महत्या को गर्हित ठहराया है और आत्महत्यारे की अन्त्येष्टि का निषेध किया है, किन्तु मनु महापातकों के लिए प्रायश्चित्तस्वरूप आत्महत्या की व्यवस्था देते हैं (११।७३, ९०-९१ एवं १०३-१०४)। किन्तु स्मृतियों, महाकाव्यों एवं पुराणों ने आत्महत्या को अपवाद रूप में माना है। इसे हम कई कोटियों में रख सकते हैं--(१) महापातकों (ब्रह्महत्या, सुरापान, ब्राह्मण के सोने की चोरी, गुरुतल्पगमन) के अपराध में कई विधियों से आत्महत्या करना; (२) असाध्य रोगों से पीड़ित होने एवं अपने आश्रम के धर्मों के पालन में असमर्थ होने पर वानप्रस्थ का महाप्रस्थानगमन या महापथयात्रा (मनु ६।३१ एवं याज्ञ० ३।५५); (३) बूढ़े व्यक्ति द्वारा, जब वह शरीर-शुद्धि के नियमों का पालन नहीं कर सकता या जब वह असाध्य रोग से पीड़ित है, प्रपात से गिरकर, अग्नि में जलकर, जल में डूबकर, उपवास कर, हिमालय में महाप्रयाण कर या प्रयाग में वट-वृक्ष की शाखा से नीचे गिरकर आत्महत्या करना (अपरार्क, पृ० ८७७, आदिपुराण, अत्रिस्मृति २१८-२१९ के उद्धरण; मेधातिथि, मनु ५।८८; मिता०, याज्ञ० ३।६); (४) गृहस्थ भी स्वस्थ रहने पर भी, उपर्युक्त सं० ३ के अनुसार आत्महत्या कर सकता है, यदि उसके जीवन का कार्य समाप्त हो चुका हो, यदि उसे संसार के सुख-भोग की इच्छा न हो और जीने की इच्छा न हो या यदि वह वेदान्ती हो और जीवन के क्षण-भंगुर स्वभाव से अवगत हो तो हिमालय में उपवास करके प्राण त्याग सकता है; (५) धार्मिक आत्महत्या गंगा एवं यमुना के संगम पर एवं वहीं वट के पास और कुछ अन्य तीर्थों में व्यवस्थित है; (६) **सहगमन** या **अनुमरण** द्वारा पत्नी मर सकती है। **सती** के विषय में नारदीय० (पूर्वार्ध, ७।५२-५३) ने व्यवस्था दी है कि उस नारी को अपने पति की चिता पर नहीं जल मरना चाहिए जिसका बच्चा छोटा हो या जिसके छोटे-छोटे बच्चे हों, जो गर्भवती हो या जो अभी युवा न हुई हो या उस समय वह रजस्वला हो। पुराणों के इस कथन में लोगों का अटूट विश्वास था कि प्रयाग में (संगम या वट के पास) मर जाने से मोक्ष प्राप्त होता है (मोक्ष मानव-जीवन के चार पुरुषार्थों में सर्वोच्च माना जाता था), यहाँ तक कि कालिदास जैसे महान् कवियों ने कहा है कि यद्यपि **मोक्ष** या **कैवल्य** या **अपवर्ग** के लिए वेदान्त, सांख्य एवं न्याय के अनुसार परब्रह्म की अनुभूति एवं सम्यक् ज्ञान आवश्यक है किन्तु पवित्र संगम पर की मृत्यु तत्त्वज्ञान के बिना भी मोक्ष दे सकती है। यथा:-

कर्णदेव, चन्देल धंगदेव एवं चालुक्य सोमेश्वर ने प्रयाग या तुंगभद्रा पर आत्महत्या की थी। मगध के राजा कुमारगुप्त ने गोबर के उपलों की अग्नि में प्रवेश किया था। मत्स्य० (१०७।९-१०=पद्म०, आदि, ४४।२) में आया है—'वह व्यक्ति, जो रोगग्रस्त न रहने पर भी, शरीर का ह्रास न होने पर भी और पाँचों इन्द्रियों को वश में रखने पर भी कर्षाग्नि वा करीषाग्नि (गोबर के उपलों की अग्नि) में जलकर मर जाता है वह स्वर्ग में उतने ही वर्षों तक रहता है जितने उसके शरीर में छिद्र होते हैं।' राजतरंगिणी (६।१४) में ऐसे राजकर्मचारियों का उल्लेख है जो उपवास से आत्महत्या (प्रायोपवेश) करनेवालों का निरीक्षण करते थे।[३६]

उस महत्त्वपूर्ण श्लोक का अनुवाद, जिसके आधार पर प्रयाग में आत्महत्या की अनुमति मिली है, निम्न है—'तुम्हें वेदवचन एवं लोकवचन के निषेध करने पर भी प्रयाग में प्राण-त्याग की भावना से दूर नहीं रहना चाहिए।'[३७] वेदवचन निम्न है (वाज० सं० ४०।३) जिसका शाब्दिक अर्थ है 'असुरों के लोक अन्ध हैं, जो लोग आत्महत्या करते हैं वे इन लोकों में जाते हैं।' यह मन्त्र आत्महत्या करने के विषय में नहीं है, प्रत्युत उसके लिए है जो सत्य आत्मा के अज्ञान में रहकर मानो अपनी आत्मा का हनन करता है। किन्तु विद्वान् लेखकों एवं कवियों ने भी इसे आत्महत्या-सम्बन्धी मान लिया (उत्तर-रामचरित, अंक ४।३)। दूसरा वैदिक वचन शतपथब्राह्मण (१०।२।६।७) का है—'पूर्ण जीवन के पूर्व मर जाने की अभिलाषा को जीतना चाहिए, क्योंकि इससे (पूरी आयु के पूर्व मर जाने से) स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।' **लोकवचन** का तात्पर्य है वे स्मृति-वचन जो आत्महत्या को वर्जित मानते हैं। यथा गौतम (१४।१२), वसिष्ठ० (२३।१४-१५), मनु (५।८८) एवं विष्णुधर्मसूत्र (२२।५६)।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ स्मृतियों एवं महाभारत ने स्वयं तथा पुराणों ने कुछ परिस्थितियों में आत्महत्या को गर्हित नहीं माना है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। कूर्म० के दो श्लोक ये हैं—'वह लक्ष्य, जो योगी मनुष्य या संन्यासी को प्राप्त होता है, उसे भी मिलता है जो गंगा-यमुना के संगम पर प्राण त्यागता है। जो भी कोई जानकर या अनजान में गंगा में मरता है वह स्वर्ग में जन्म लेता है और नरक नहीं देखता।' कूर्म० (१।३२।२२) ने स्पष्ट कहा है; 'सहस्रों जन्मों के उपरान्त मोक्ष मिल सकता है या नहीं भी मिल सकता, किन्तु एक ही जन्म से काशी में मोक्ष मिल सकता है।' पद्म० (सृष्टि ६०।६५) में आया है—'जाने या अनजाने, चाहे या अनचाहे यदि कोई गंगा में मरता है तो वह मरने पर स्वर्ग एवं मोक्ष पाता है।' स्कन्द० (काशी० २२।७६) में आया है—'जो इस पवित्र स्थल में किसी प्रकार प्राण त्याग करता है, उसे आत्महत्या का पाप नहीं लगता और वह वांछित फल पाता है।' कूर्म० (१।३८।३-१२) ने चार प्रकार की आत्महत्या का उल्लेख किया है और उससे सहस्रों वर्षों तक स्वर्ग लोक का आश्वासन एवं उत्तम फलों की प्राप्ति की ओर संकेत किया है, यथा (१) सूखे उपलों की धीमी अग्नि में अपने को जलाना, (२) गंगा-यमुना के संगम में डूब मरना, (३) गंगा की धारा में सिर नीचे कर जल पीते हुए पड़े रहकर मर जाना तथा (४) अपने शरीर के मांस

३६. आइन-ए-अकबरी (ग्लैडविन द्वारा अनूदित एवं प्रकाशित, १८०० ई०) में पाँच प्रकार की धार्मिक पुण्यदायिनी आत्महत्याओं का वर्णन है, यथा (१) उपवास करके मर जाना, (२) अपने को करीषों में ढँककर आग लगा कर मर जाना, (३) हिम में गड़कर मर जाना, (४) गंगासागर-संगम में डूबे रह कर अपने पापों को गिनते रहना जब तक कि ग्राह (मगर) आकर निगल न जाय एवं (५) गंगा-यमुना के संगम पर प्रयाग में अपना गला काटकर मर जाना।

३७. न वेदवचनात्तात न लोकवचनादपि। मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति॥ वनपर्व (८५।८३); नारदीय० (उत्तर, ६३।१२९); पद्म० (आदि, ३९।७६); अग्नि० (१११।८); मत्स्य० (१०६।२२); कूर्म० (१।३७।१४); पद्म० (३३।६४)।

को काट-काटकर पक्षियों को देना। ह्वेनःॉंग (६२९-६४५ ई०) ने इस धार्मिक आत्महत्या का उल्लेख किया है। कल्पतरु (तीर्थ, सन् १११०-११२० ई०) ने महापथयात्रा का विशेष वर्णन किया है (पृ० २५८-२६५)। क्रमशः प्रयाग या काशी में आत्महत्या करके मर जाने की भावना अन्य तीर्थों तक फैलती गयी। वनपर्व (८३।१४६, १४७) ने पृथूदक (पंजाब के कर्नाल जिले में पहोवा) में आत्महत्या की बात चलायी है। ब्रह्मपुराण (१७७।२५) ने मोक्ष की आकांक्षा रखनेवाले द्विजों को पुरुषोत्तमक्षेत्र में आत्महत्या करने को कहा है। लिंग० (पूर्वार्ध, ९२।१६८-१६९) का कथन है--'यदि कोई ब्राह्मण श्रीशैल पर अपने को मार डालता है तो वह अपने पापों को काट डालता है और मोक्ष पाता है, जैसा कि अविमुक्त (वाराणसी) में ऐसा करने से होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।' पद्म० (आदि, १६। १४-१५) ने नर्मदा एवं कावेरी (एक छोटी नदी, दक्षिण वाली बड़ी नदी नहीं) के संगम पर अग्नि या उपवास से मर जाने पर इसी प्रकार के फल की घोषणा की है।

कालान्तर में प्रयाग या काशी में आत्महत्या करने या महाप्रस्थान के विषय में विरक्ति उत्पन्न हो गयी। कलि-वर्ज्यों में महाप्रस्थान, बूढ़ों द्वारा प्रपात से गिरकर या अग्नि में जलकर मर जाना सम्मिलित कर लिया गया (देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ३, अध्याय ३४)। मध्यकाल के कुछ पश्चाद्भावी लेखकों ने आत्महत्या-सम्बन्धी अनुमति का खण्डन किया है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने कहा है कि वनपर्व (८५।८३) का कथन प्रयाग में स्वाभा-विक मृत्यु की ओर संकेत करता है न कि जान-बूझकर मरने की ओर। यही बात खिल मन्त्र ('सितासित' आदि) के विषय में भी है। उन्होंने वनपर्व के श्लोक की दो वैकल्पिक व्याख्याएँ की हैं; यह वचन उनको अनुमति देता है जो असाध्य रोग से पीड़ित हैं, वे प्रपात से गिरकर मर जाने की अपेक्षा प्रयाग में आत्महत्या कर सकते हैं; दूसरा विकल्प यह है कि यह श्लोक ब्राह्मणों के लिए नहीं प्रत्युत अन्य तीन वर्णों के लिए व्यवहृत होता है।

गंगावाक्यावली (पृ० ३०४-३१०) एवं तीर्थचिन्तामणि (पृ० ४७-५२) दोनों ने सभी वर्णों को प्रयाग में आत्महत्या करने की अनुमति दी है। प्रयाग में आत्महत्या करने के विषय में तीर्थप्रकाश (पृ० ३४६-३५५) ने एक लम्बा, विद्वत्तापूर्ण तथा विवादात्मक विवेचन उपस्थित किया है। इसका अपना मत, लगता है, ऐसा है कि प्रयाग में ब्राह्मण को धार्मिक आत्महत्या नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह कलिवर्ज्य है, किन्तु अन्य वर्णों के लोग ऐसा कर सकते हैं। त्रिस्थलीसेतु ने भी लम्बा विवेचन उपस्थित किया है (पृ० ३७-५५) और इसका निष्कर्ष है कि मोक्ष एवं अन्य फलों (स्वर्ग आदि) की प्राप्ति के लिए प्रयाग में आत्महत्या करना पाप नहीं है, ब्राह्मणों के लिए भी, जैसा कि कुछ लोगों का कथन है, ऐसा करना कलिवर्ज्य नहीं है, असाध्य रोगी या अच्छे स्वास्थ्य वाले सभी प्रयाग में आत्महत्या कर सकते हैं, किन्तु अपने बूढ़े माता-पिता को परित्यक्त कर तथा युवा पत्नी, बच्चों को उनके भाग्य पर छोड़कर किसी को आत्महत्या करने का अधिकार नहीं है और गर्भवती नारी, छोटे-छोटे बच्चों वाली नारी तथा बिना पति से अनुमति लिये कोई भी नारी प्रयाग में आत्महत्या नहीं कर सकती। यह जानकर प्रसन्नता का अनुभव होता है कि नारायण भट्ट जैसे व्यक्ति ने, जो अपने काल के सबसे बड़े एवं प्रकाण्ड विद्वान् थे और जो प्रयाग में आत्महत्या करने के विषय में शास्त्रीय व्यवस्थाओं को जानते थे, अपवाद दिये हैं जो तर्क, मत-भावना एवं सामान्य ज्ञान को जँचते हैं। नारायण भट्ट अपने समय से सैकड़ों वर्ष-प्राचीन परम्पराओं को भी जानते थे और सम्भवतः उन्हीं का उन्होंने अनुसरण किया है। अलबेरूनी ने अपने ग्रन्थ (१०३० ई० में प्रणीत) में लिखा है कि 'धार्मिक आत्महत्या तभी की जाती है जब कि व्यक्ति जीवन से थक गया रहता है, जब कि वह असाध्य रोग से पीड़ित रहता है या वह बूढ़ा हो गया है, अत्यधिक दुर्बल या अपरिहार्य शरीरदोष से पीड़ित है। ऐसी आत्महत्या शिष्ट लोग नहीं करते, केवल वैश्य या शूद्र करते हैं। विशिष्ट व्यवस्थाओं के अनुसार ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को जलकर मर जाना मना है। इसी से ऐसे लोग (ब्राह्मण एवं क्षत्रिय) यदि मरना चाहते हैं तो ग्रहण के समय या अन्य विधियों से मरते हैं या अन्य लोगों द्वारा (जिन्हें वे पारि-

श्रमिक देते हैं) अपने को गंगा में फेंकवा देते हैं।' त्रिस्थलीसेतु ने व्यवस्था दी है कि प्रयाग में आत्महत्या करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम प्रायश्चित्त करना चाहिए, यदि अपना कोई सम्बन्धी न हो जो साधिकार उसका श्राद्ध कर सके, तो उसे अपना श्राद्ध भी पिण्डदान तक करना चाहिए। उस दिन उसे उपवास करना चाहिए, दूसरे दिन लिखित रूप में उसे संकल्प करना चाहिए कि वह इस विधि से मरना चाहता है और विष्णु का ध्यान करते हुए उसे जल में प्रवेश करना चाहिए। उसकी मृत्यु पर उसके सम्बन्धियों को केवल तीन दिनों का आशौच लगना चाहिए (दस दिनों का नहीं) और चौथे दिन ११वें दिन के श्राद्ध कर्म उसके लिए करने चाहिए।

प्रयाग में धार्मिक आत्महत्या करने की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझना कठिन नहीं है। शताब्दियों से यह दार्शनिक भावना घर कर गयी थी कि आत्मा जनन-मरण के असंख्य चक्रों में घूमती रहती है। प्राचीन शास्त्रों ने इसकी मुक्ति के लिए दो साधन उपस्थित किये थे; **तत्त्वज्ञान** एवं तीर्थ पर **आत्महत्या**। उस यात्री के लिए मृत्यु कोई भयंकर भावना नहीं थी जो जान-बूझकर अपार कष्टों एवं असुविधाओं को सहता है। यदि कोई मृत्यु द्वारा जीवन को समाप्त करने के लिए दृढसंकल्प है तो उसके लिए उन गंगा एवं यमुना के संगम, प्रयाग में आत्महत्या करने से बढ़कर कौन-सा अधिक भद्रमय वातावरण प्राप्त हो सकता है, जो हिमालय से निकलकर प्रयाग में मिलती हैं और विशाल होकर आगे बढ़ती हैं और कोटि-कोटि लोगों को उर्वर भूमि देती हुई उन्हें समृद्ध बनाती हैं।

'जो लोग प्रयाग में मरते हैं वे पुनः जन्म नहीं लेते', ऐसा पुराणों में आया है। निबन्धों ने इस कथन पर विवेचन उपस्थित किया है (मत्स्य० १८०।७१ एवं ७४)। मत्स्य० (१८२।२२-२५) में आया है[३८]—'मृत्यु के समय, जब कि शरीर के मर्म भाग छिन्न भिन्न हो जाते हैं; उस समय जब कि व्यक्ति वायु द्वारा दूसरे शरीर में फेंका जाता है, स्मृति अवश्य दुर्बल हो जाती है। किन्तु अविमुक्त (वाराणसी) में मरते समय कर्मों के कारण दूसरे शरीर में जाने वाले भक्तों के कान में स्वयं शिव उच्च ज्ञान देते हैं। मणिकर्णिका के पास मरने वाला व्यक्ति वांछित फल पाता है; वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त उस फल को पाता है जो अपवित्र लोगों को मिलना कठिन है।' काशीखण्ड में स्पष्ट उल्लिखित है कि इन नगरों (काशी आदि) में मोक्ष सीधे रूप में नहीं प्रतिफलित होता। तथापि ऐसी उक्ति के रहते हुए भी पुराणों के कथनों के शाब्दिक अर्थ को लेकर सामान्य लोगों के मन में ऐसा विश्वास घर कर गया कि प्रयाग या काशीक्षेत्र में मरने से मोक्ष-फल की प्राप्ति होती है।

धार्मिक आत्महत्या का इतिहास बहुत पुराना है। ई० पू० चौथी शताब्दी में तक्षशिला से कलनॉस नामक व्यक्ति सिकन्दर के साथ भारत से बाहर गया और उसने ७० वर्ष की अवस्था में शरीर-व्याधि से तंग आकर सौसा नामक स्थान में अपने को चिता में भस्म कर दिया (देखिए जे० डब्लू० मैक् क्रिण्डल का 'इन्वेज़न आव इण्डिया बाई अलेक्जैण्डर दि ग्रेट', नवीन संस्करण, १८९६ ई०, पृ० ४६, ३०१ एवं ३८६-३९२)। स्ट्रैबो ने झर्मनोचेगस नामक भड़ोच के भारतीय

३८. स्कन्द० (काशीखण्ड) में निम्न श्लोक आये हैं, जो मत्स्य० (१८२।२२-२५) को दुहराते हैं; शिव काशी में मरते हुए व्यक्ति के दाहिने कान में ब्रह्मज्ञान का मन्त्र फूंकते हैं जो उसकी आत्मा की रक्षा करता है। ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते नान्यथा जन्तवः क्वचित्। ब्रह्मज्ञानमये क्षेत्रे प्रयागे वा तनुत्यजः।। ब्रह्मज्ञानं तदेवाहं काशीसंस्थितिभागिनाम्। दिशामि तारकं प्रान्ते मुच्यन्ते ते तु तत्क्षणात्।। (३२।११५-११६); साक्षान्मोक्षो न चैतासु पुरीषु प्रियभाषिणि। स्कन्द० (काशी० ८।३, यहाँ अगस्त्य ने लोपामुद्रा से कहा है)। मत्स्य० के श्लोक हैं; अन्तकाले मनुष्याणां छिद्यमानेषु मर्मसु। वायुना प्रेर्यमाणानां स्मृतिर्नैवोपजायते।। अविमुक्ते ह्यन्तकाले भक्तानामीश्वरः स्वयम्। कर्मभिः प्रेर्यमाणानां कर्णजापं प्रयच्छति।। मणिकर्ण्यां त्यजन्देहं गतिमिष्टां व्रजेन्नरः। ईश्वरप्रेरितो याति दुष्प्रापामकृतात्मभिः।। (१८२।२२-२५)।

को अग्नि में जलकर आत्महत्या करके मरते हुए वर्णित किया है, जो एथेंस के ऑगस्टस सीज़र के यहाँ दूत होकर गया था ('इन्वेज़न आव इण्डिया बाई अलेक्जैण्डर', पृ० ३८९)। ह्वेनसांग ने भी प्रयाग में आत्महत्या की चर्चा की है (बील का 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आव दि वेस्टर्न वर्ल्ड' जिल्द १, पृ० २३२-२३४)। जैनों ने जहाँ एक ओर अहिंसा पर बड़ा बल दिया है, वहीं उन्होंने दूसरी ओर कुछ विषयों में 'सल्लेखना' नामक धार्मिक आत्महत्या को भी मान्यता दी है।[३९]

काशीमृति-मोक्षविचार (सुरेश्वरकृत, पृ० २–९), त्रिस्थलीसेतु (पृ० ५०-५५), तीर्थप्रकाश (पृ० ३१३-३१८) आदि ग्रन्थों ने विस्तार के साथ विवेचन उपस्थित किया है कि किस प्रकार वाराणसी या प्रयाग में जाने या अनजाने मर जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। स्थानाभाव से हम इस विषय के विस्तार में नहीं जायँगे। उनके तर्क संक्षेप में यों हैं--कर्म तीन प्रकार के होते हैं; **संचित** (पूर्व जन्मों से एकत्र), **प्रारब्ध** (जो वर्तमान शरीर में आने पर आत्मा के साथ कार्यशील हो जाते हैं) एवं **क्रियमाण** (इस शरीर एवं भविष्य में किये जाने वाले)। उपनिषदों एवं गीता ने उद्घोष किया है[४०] कि जिस प्रकार कमल-दल से जल नहीं लिपटता उसी प्रकार उस व्यक्ति से, जो ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है, पापकर्म नहीं लगे रहते, ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है और मोक्ष की प्राप्ति परब्रह्म के ज्ञान से होती है (वेदान्तसूत्र ४।१।१३)। इससे यह प्रकट होता है कि वह व्यक्ति जिसने परम सत्ता की अनुभूति कर ली है, अपने क्रियमाण कर्मों से प्रभावित नहीं होता और उसके संचित कर्म उस अनुभूति से नष्ट हो जाते हैं। वर्तमान शरीर, जिसमें व्यक्ति का आत्मा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, उसी कर्म का एक भाग है जो क्रियाशील हुआ रहता है। ब्रह्मज्ञानी का शरीर जब नष्ट हो जाता है तब उसे अन्तिम पद मोक्ष प्राप्त हो जाता है, क्योंकि तब प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कोई कर्म नहीं रह जाते। जो व्यक्ति वाराणसी में स्वाभाविक मृत्यु पाता है उसे मरते समय तारक (तारने वाला) मन्त्र दिया जाता है। मत्स्य० (१८३।७७-७८) का कथन है--'जो अविमुक्त (वाराणसी) के विधानों के अनुसार अग्निप्रवेश करते हैं, वे शिव के मुख में प्रविष्ट होते हैं और जो शिव के दृढप्रतिज्ञ भक्त वाराणसी में उपवास करके मरते हैं वे कोटि कल्पों के उपरान्त भी इस विश्व में जन्म नहीं लेते। अतः वे सभी जो वाराणसी में किसी ढंग से मरते हैं, मृत्यु के उपरान्त शिव का अनुग्रह पाते हैं, उससे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है जो अन्ततोगत्वा मोक्ष का कारण होती है। कतिपय उक्तियाँ ऐसी हैं जिनसे प्रकट होता है कि इन नगरों में मरने के तुरत बाद ही मोक्ष नहीं प्राप्त होता।[४१] तारक मन्त्र की व्याख्या कई प्रकार से की गयी है। सुरेश्वर के मतानुसार तारक मन्त्र 'ओम्' है जो 'ब्रह्म' का प्रतीक है, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् (१।१।८, ओमिति ब्रह्म) में आया है, और गीता (८।१३, ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म) ने भी कहा

३९. देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वरी, जिल्द २, पृ० ३२२ 'जैन इंस्क्रिप्संस ऐट श्रवण बेलगोला,' जहाँ रत्नकरण्ड के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनमें एक निम्न है; उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥'

४०. यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति। छा० उप० (४।१४।३); भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्डकोपनिषद् (२।२।८); यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ भगवद्गीता (४।३७)।

४१. साक्षान्मोक्षो न चैतासु पुरीषु प्रियभाषिणि। स्कन्द० (काशी०, ८।२, यहाँ अगस्त्य ने लोपामुद्रा से बात की है)। तारकः प्रणवः तारयतीति तारः, स्वार्थे कप्रत्ययः। संसारसागरादुत्तारकं तारकं च तद् ब्रह्म इति तारकं ब्रह्म उच्यते। काशीमृतिमोक्षविचार (पृ० ३)।

है। त्रिस्थलीसेतु ने इसकी एक अन्य व्याख्या भी की है। रामतापनीयोपनिषद् एवं पद्म० में मन्त्र यह है--"श्रीराम-रामरामेति" (त्रिस्थलीसेतु, पृ० २९१)।[४२]

प्रयाग के अन्तर्गत बहुत-से उपतीर्थ आते हैं, जिनमें वट (अक्षय वट) सर्वोच्च है। अग्नि० (१११।१३) में आया है—'जो व्यक्ति वट के मूल में या संगम में मरता है वह विष्णु के नगर में पहुँचता है।' वट के मूल में मरने के विषय में विशिष्ट संकेत मिलता है। कूर्म० (१।३७।८-९; पद्म०, आदि, ४३।११; तीर्थचिन्तामणि) में आया है--'जो वटमूल में मरता है वह सभी स्वर्ग लोकों का अतिक्रमण करके रुद्रलोक में जाता है।' प्रयाग के उपतीर्थ निम्न हैं--(१) कम्बल एवं अश्वतर नामक दो नाग, जो एक मत से यमुना के विपुल (विस्तृत) तट पर हैं और दूसरे मत से यमुना के दक्षिणी तट पर हैं (वनपर्व ८५।७७; मत्स्य०१०६।२७; पद्म०, आदि० ३९।६९; अग्नि० १११।५ एवं कूर्म० १।३७।१९); (२) गंगा के पूर्वीय तट पर प्रतिष्ठान, जो वनपर्व ८५।७७ का समुद्र-कूप है (मत्स्य० १०६।३०; कूर्म० १।३७।२२; पद्म०, आदि, ४३।३०)। वनपर्व (८५।११८) से प्रकट होता है कि प्रतिष्ठान प्रयाग का ही दूसरा नाम है; (३) सन्ध्यावट (मत्स्य० १०६।४३; कूर्म० १।३७।२८ एवं अग्नि० १११।१३); (४) हंसप्रपतन जो प्रतिष्ठान के उत्तर एवं गंगा के पूर्व है (मत्स्य० १०६।३२; कूर्म० १।३७।२४; अग्नि०१११।१०; पद्म०, आदि, ३९।८० एवं ४३।३२); (५) कोटितीर्थ (मत्स्य० १०६।४४; कूर्म० १।३७।२९; अग्नि० १११।१४; पद्म०, आदि, ४३।४४); (६) भोगवती जो वासुकि के उत्तर प्रजापति की वेदी है (वनपर्व ८५।७७; मत्स्य० १०६।४६; अग्नि० १११।५; पद्म०, आदि, ३९।७९ एवं ४३।४६; (७) दशाश्वमेधक (मत्स्य० १०६।४६ एवं पद्म०, आदि, ३९।८०); (८) उर्वशीपुलिन, जहाँ पर आत्म-त्याग करने से विभिन्न फल प्राप्त होते हैं (मत्स्य० १०६।३४-४२; पद्म० आदि, ४३।३४-४३; अग्नि० १११।१३; कूर्म० १।३७।२६-२७); (९) ऋणप्रमोचन, यमुना के उत्तरी तट पर तथा प्रयाग के दक्षिण (कूर्म० १।३८।१४; पद्म०, आदि, ४४।२०); (१०) मानस, गंगा के उत्तरी तट पर (मत्स्य० १०७।९; पद्म०, आदि, ४४।२ एवं अग्नि० १११।१४); (११) अग्नितीर्थ, यमुना के दक्षिणी तट पर (मत्स्य० १०८।२७; कूर्म० १।३९।४; पद्म०, आदि, ४५।२७); (१२) विरज, यमुना के उत्तरी तट पर (पद्म०, आदि, ४५।२९) (१३) अनरक, जो धर्मराज के पश्चिम है (कूर्म० १।३९।५)।

पुराणों में आया है कि यदि व्यक्ति तीर्थयात्रा में ही मर जाता है, किन्तु मरते समय प्रयाग का स्मरण करता रहता है तो वह प्रयाग में न पहुँचने पर भी महान् फल पाता है। मत्स्य० (१०५।८-१२) में आया है कि जो व्यक्ति अपने देश में या घर में या तीर्थयात्रा के क्रम में किसी वन में प्रयाग का स्मरण करता हुआ मर जाता है तो वह तब भी ब्रह्मलोक पाता है। वह वहाँ पहुँचता है जहाँ के वृक्ष सभी कामफल देनेवाले होते हैं, जहाँ की पृथिवी हिरण्यमयी होती है और जहाँ ऋषि, मुनि एवं सिद्ध रहते हैं। वह मन्दाकिनी के तट पर सहस्रों स्त्रियों से आवृत रहता है और ऋषियों की संगति का आनन्द लेता है; जब वह लौटकर इस पृथिवी पर आता है तो जम्बूद्वीप का राजा होता है।

अधिकांश तीर्थों में यात्री को श्राद्ध करना पड़ता है। विष्णुधर्मसूत्र (अध्याय ८५) ने ऐसे ५५ तीर्थों का उल्लेख किया है। कल्पतरु (तीर्थ), गंगावाक्यावली, तीर्थचिन्तामणि एवं अन्य निबन्धों ने इस विषय में देवीपुराण

४२. रामतापनीये तु श्रीराममन्त्र एव तारकशब्दार्थ उक्तः। मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव॥ पद्मे तु श्रीशब्दपूर्वकस्त्रिरावृत्तो रामशब्द एव तारकतयोक्तः। मुमूर्षोर्मणि-कर्ण्यन्तरर्धोदकनिवासिनः। अहं दिशामि ते मन्त्रं तारकं ब्रह्मवाचकम्। श्रीरामरामरामेति एतत्तारकमुच्यते॥ त्रिस्थलीसेतु (पृ० २९१)।

से कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनका सारांश निम्न है—तीर्थों पर श्राद्ध करना चाहिए, किन्तु वहाँ **अर्घ्य** एवं **आवाहन** (क्योंकि वहाँ पितर लोग रहते ही हैं, जैसा कि काशीखण्ड में कहा है) नहीं किये जाते, आमन्त्रित ब्राह्मण के अँगूठे को परोसे हुए भोजन से छुवाया नहीं जाता और न वहाँ ब्राह्मणों की **सन्तुष्टि** एवं **विकिर** का ही प्रश्न उठता है। यदि वहाँ श्राद्ध की विधि का भली भाँति पालन न किया जा सके तो केवल यव-अन्न का पिण्डदान पर्याप्त है या केवल **संयाव** (घृत एवं दूध में बनो हुई गेहूँ की लपसी), खीर (चरु, दूध में उबाला हुआ चावल), तिल की खली या गुड़ का अर्पण किया जा सकता है।[43] इसे कुत्तों, कौओं, गृद्धों की दृष्टि से बचाना चाहिए। तीर्थ पर पहुँचने के उपरान्त यह कभी भी किया जा सकता है। तीर्थ पर सम्पादित श्राद्ध से पितरों को बहुत तृप्ति मिलती है। त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह के लेखक भट्टोजि और अन्य लेखकों ने कहा है कि तीर्थ पर पितरों के लिए पार्वणश्राद्ध करने एवं पिण्डदान करने के पश्चात् व्यक्ति को अपने अन्य सम्बन्धियों के लिए निम्न मंत्र के साथ केवल एक पिण्ड देना चाहिए—'यहाँ मैं अपने पिता के कुल के मृत सदस्यों को पिण्ड दे रहा हूँ, अपनी माता के कुल के एवं गुरु के मृत सम्बन्धियों को भी पिण्ड दे रहा हूँ और अपने कुल के उन लोगों को भी जो पुत्रों एवं पत्नियों से विहीन हैं, उनको भी जिन्हें पिण्ड नहीं मिलने वाला है, उनको भी जिनकी मृत्यु के उपरान्त सभी कृत्य बन्द हो गये हैं, उनको जो जन्मान्ध एवं लूले-लँगड़े रहे हैं, उनको जो अष्टावक्र थे या गर्भ में ही मर गये, उनको भी जो मेरे लिए ज्ञात या अज्ञात हैं, यह पिण्ड दे रहा हूँ, यह पिण्ड उन्हें बिना समाप्त हुए प्राप्त हो!' (वायु० ११०।५१-५२)। इसके उपरान्त व्यक्ति को अपने नौकरों, दासों, मित्रों, आश्रितों, शिष्यों, जिनके प्रति वह कृतज्ञ हो उन्हें, पशुओं, वृक्षों और उन्हें, जिनके सम्पर्क में वह अन्य जीवनों में आया है, एक अन्य पिण्ड देना चाहिए (वायु० ११०।५४-५५)। यदि व्यक्ति रुग्ण हो और विशद विधि का पालन न कर सके तो उसे संकल्प करना चाहिए कि वह श्राद्ध करेगा और उसे केवल एक पिण्ड निम्न मन्त्र के साथ देना चाहिए; 'मैं यह पिण्ड अपने पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, पिता की माता, प्रपितामही, नाना, नाना के पिता एवं प्रपिता को दे रहा हूँ। यह उन्हें अक्षय होकर प्राप्त हो।' (वायु० ११०।२३-२४)।

अनुशासनपर्व, कूर्मपुराण, नारदीयपुराण (उत्तर, ६३।१९-२० एवं ३६-३८) आदि ने माघ मास में संगम-स्नान की महत्ता गायी है।[44] सभी वर्णों के लोग, स्त्रियाँ, वर्णसंकर आदि यह स्नान कर सकते हैं; शूद्र, स्त्रियाँ एवं वर्णसंकर लोगों को मन्त्रोच्चारण नहीं करना चाहिए, वे लोग मौन होकर स्नान कर सकते हैं या 'नमः' शब्द का उच्चा-

४३. अर्घ्यमावाहनं चैव द्विजांगुष्ठनिवेशनम्। तृप्तिप्रश्नं च विकिरं तीर्थश्राद्धे विवर्जयेत्।। त्रिस्थलीसेतुसार-संग्रह (पृ० १८) द्वारा उद्धृत; देवाश्च पितरो यस्माद् गंगायां सर्वदा स्थिताः। आवाहनं विसर्गं (विसर्गश्च ?) तेषां तत्र ततो न हि।। काशीखण्ड (२८।९); तीर्थे श्राद्धं प्रकुर्वीत पक्वान्नेन विशेषतः। आमान्नेन हिरण्येन कन्दमूलफलैरपि। सुमन्तु (त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह, पृ० २०)। सक्तुभिः पिण्डदानं तु संयावैः पायसेन तु। कर्तव्यमृषिभिर्दृष्टं पिण्याकेन गुडेन च।। श्राद्धं तत्र तु कर्तव्यमर्घ्यावाहनवर्जितम्। श्वध्वांक्षगृध्रकाकानां नैव दृष्टिहतं च यत्।। श्राद्धं तत्तैर्थिकं प्रोक्तं पितृणां प्रीतिकारकम्।... काले वाप्यथवाऽकाले तीर्थे श्राद्धं तथा नरैः। प्राप्तैरेव सदा कार्यं कर्तव्यं पितृतर्पणम्।। पिण्डदानं च तच्छस्तं पितृणामतिवल्लभम्। विलम्बो नैव कर्तव्यो न च विघ्नं समाचरेत्।। पद्म० (५।२९।२१२-२१८, पृथ्वीचन्द्रोदय द्वारा उद्धृत)। इन्हीं श्लोकों को कल्पतरु (तीर्थ, पृ० १०), तीर्थचिन्तामणि (पृ० १०-११), गंगा-वाक्यावली (पृ० १२९) ने देवीपुराण से उद्धृत किया है। इनमें कुछ श्लोकों के लिए देखिए स्कन्द० (काशीखण्ड, ६।५८-६०) एवं नारदीय० (उत्तर, ६२।४१-४२, अन्तिम दो श्लोकों के लिए)।

४४. दश तीर्थसहस्राणि षष्टिकोट्यस्तथापराः। समागच्छन्ति माघ्यां तु प्रयागे भरतर्षभ।। अनुशासन० (२५।

रण कर सकते हैं (त्रिस्थलीसेतु, पृ० ३९)। इसी प्रकार पद्म०, कूर्म०, अग्नि० आदि पुराणों ने यह कहकर कि यह तीन करोड़ गौओं के दान के बराबर है, माघ मास में तीन दिनों तक स्नान करने का गुणगान किया है।[45] इन तीन दिनों के अर्थ के विषय में कई मत-मतान्तर हैं, जैसा कि त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३२) में आया है। कुछ मत ये हैं--वे तीनों दिन माघ की मकर-संक्रांति, रथसप्तमी एवं अमावस्या हैं; माघ के शुक्लपक्ष की दशमी के साथ लगातार तीन दिन; माघ के प्रथम तीन दिन; माघ के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी के उपरान्त लगातार तीन दिन; तथा माघ के कोई तीन दिन।

३६-३७); षष्टिस्तीर्थसहस्राणि षष्टिस्तीर्थशतानि च। माघमासे गमिष्यन्ति गंगायमुनसंगमे॥ कूर्म० (१।३८।१); मत्स्य० (१०७।७) में भी लगभग ऐसा ही आया है।

४५. गवां कोटिप्रदानाद्यत् त्र्यहं स्नानस्य तत्फलम्। प्रयागे माघमासे तु एवमाहुर्मनीषिणः॥ अग्नि० (१११। १०-११); गवां शतसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम्। प्रयागे माघमासे तु त्र्यहं स्नातस्य तत्फलम्॥ पद्म० (आदि, ४४।८) एवं कूर्म० (१।३८।२)।

अध्याय १३

काशी

विश्व में कोई ऐसा नगर नहीं है जो बनारस (वाराणसी) से बढ़कर प्राचीनता, निरन्तरता एवं मोहक आदर का पात्र हो। लगभग तीन सहस्राब्दियों से यह पुनीतता ग्रहण करता आ रहा है। इस नगर के कई नाम प्रचलित रहे हैं, यथा वाराणसी, अविमुक्त एवं काशी। काशी से बढ़कर हिन्दू मात्र की धार्मिक भावनाओं को जगानेवाला कोई अन्य नगर नहीं है। हिन्दुओं के लिए यह नगर अटूट धार्मिक पवित्रता, पुण्य एवं विद्या का प्रतीक रहा है। अपनी महान् जटिलताओं एवं विरोधों के कारण यह नगर सभी युगों में भारतीय जीवन का एक सूक्ष्म स्वरूप रहता आया है। न-केवल हिन्दू धर्म अपने कतिपय सम्प्रदायों के साथ यहाँ फूलता-फलता आया है, प्रत्युत संसार के बहुत बड़े धर्म बौद्ध धर्म के सिद्धान्त यहाँ उद्घोषित हुए हैं। वाराणसी या काशी के विषय में महाकाव्यों एवं पुराणों में सहस्रों श्लोक कहे गये हैं। गत सैकड़ों वर्षों के भीतर इसके विषय में कतिपय ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है। यहाँ पर हम केवल संक्षेप में ही कुछ कह सकेंगे।

सर्वप्रथम हम इसके प्राचीन इतिहास का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। शतपथब्राह्मण[1] (१३।५।४।२१) ने एक गाथा उद्धृत की है, जिसमें यह वर्णन है कि जिस प्रकार भरत ने सत्वत् लोगों के साथ व्यवहार किया था, उसी प्रकार सत्राजित् के पुत्र शतानीक ने काशि लोगों के पुनीत यज्ञिय अश्व को भगाकर किया था। शतपथब्राह्मण (१४।३।१।२२) में धृतराष्ट्र विचित्रवीर्य को काश्य कहा गया है। गोपथ (पूर्वभाग, २।९) में 'काशी-कोशला:' का समास आया है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया' (जिल्द १, पृ० ११७) में ऐसा संकेत दिया हुआ है कि काशियों की राजधानी वरणावती पर स्थित थी। बृहदारण्यकोपनिषद् (२।१।१) एवं कौषीतकि उप० (४।१) में ऐसा आया है कि अहंकारी बालाकि गार्ग्य काशी के राजा अजातशत्रु के पास इसलिए गया कि वह उसे (राजा को) ब्रह्मज्ञान सिखाएगा। पाणिनि (४।२।११६) में काशी शब्द को गण के आदि में दर्शाया गया है (काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ)। पाणिनि (४।२।११३) में 'काशीय:' रूप भी आया है। यह ज्ञातव्य है कि ऋ० (१०।१७९।२) के सर्वानुक्रम में ऋषि प्रतर्दन को काशिराज कहा गया है। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र (२।८।१९।६) ने तर्पण में काशीश्वर को विष्णु एवं रुद्रस्कन्द के साथ उल्लिखित किया है। ऋग्वेद में दिवोदास का बहुधा वर्णन आया है। ऋ० (१।१३०।७) में आया है कि इन्द्र ने दिवोदास की ९० नगरियाँ जीत ली थीं और ऋ० (४।३०।२०) में ऐसा आया है कि इन्द्र ने दिवोदास को पत्थर के १०० नगर प्रदान किये। इन संकेतों से यह कल्पना की जा सकती है कि महाकाव्यों एवं पुराणों में स्वभावत: दिवोदास को भारत के अत्यन्त पुनीत नगर का प्रतिष्ठाता कहा गया है। पाणिनि (४।१।५४) के वार्तिक (४) के महाभाष्य में हमें 'काशि-कोसलीया:' का उदाहरण मिलता है (जिल्द २, पृ० २२३)। महाभाष्य (जिल्द २, पृ० ४१३) में मथुरा एवं काशी के समान लम्बाई-

१. तदेतद् गाथयाभिगीतम्। शतानीक: समन्तासु मेध्यं सात्राजितो हयम्। आदत्त यज्ञं काशीनां भरत: सत्वतामिवेति।। शतपथब्राह्मण (१३।५।४।२१)।

चौड़ाई वाले वस्त्र के मूल्य में अन्तर बताया गया है। इससे प्रकट होता है कि आधुनिक काल के समान ही ई० पू० दूसरी शताब्दी में काशी अपने बारीक वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध थी। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होता है कि शतपथ० के प्रणयन के बहुत पहले से काशी (काशि) एक देश का नाम था और वही नाम पतञ्जलि (ई० पू० दूसरी शताब्दी) के समय तक चला आया। एक अन्य समान उदाहरण भी है। अवन्ति एक देश का नाम था (पाणिनि ४।१।१७९, स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च; मेघदूत, प्राप्यावन्तीनुदयन—), किन्तु अवन्ती या अवन्तिका उज्जयिनी का भी नाम था ('अयोध्या मथुरा ... अवन्तिका')। फाहियान (३९९-४१३ ई०) काशी राज्य के वाराणसी नगर में आया था। इससे प्रकट होता है कि लगभग चौथी शताब्दी में भी काशी जनपद का नाम था और वाराणसी उसकी राजधानी थी। किन्तु महाभाष्य के निर्देशों से प्रकट होता है कि काशी नगर एवं देश दोनों का नाम था। अनुशासनपर्व (अध्याय ३०) में दिवोदास के पितामह हर्यश्व काशि लोगों के राजा कहे गये हैं जो गंगा एवं यमुना के दुआबे में वीतहव्यों द्वारा तंग किये गये एवं मारे गये थे। हर्यश्व का पुत्र सुदेव था, जो काशि का राजा बना और वह भी अन्त में अपने पिता की गति को प्राप्त हुआ। इसके उपरान्त उसका पुत्र दिवोदास काशियों का राजा बना और उसने गोमती के उत्तरी तट पर सभी वर्णों से संकुल वाराणसी नगर बसाया। इस गाथा से पता चलता है कि काशी एक राज्य का प्राचीन नाम था और प्राचीन विश्वास था कि दिवोदास द्वारा काशियों की राजधानी वाराणसी की प्रतिष्ठापना हुई थी।

हरिवंश (१, अध्याय २९) ने दिवोदास एवं वाराणसी के विषय में एक लम्बी किन्तु अस्पष्ट गाथा दी है।[२] इसने ऐल के एक पुत्र आयु के वंश का वर्णन किया है। आयु के एक वंशज का नाम था शुनहोत्र, जिसके काश, शल एवं गृत्समद नामक तीन पुत्र थे। काश से 'काशि' नामक शाखा का प्रादुर्भाव हुआ। काश का एक वंशज धन्वन्तरि काशि लोगों का राजा हुआ (श्लोक २२)। दिवोदास धन्वन्तरि का पौत्र हुआ। उसने भद्रश्रेण्य के, जो सर्वप्रथम वाराणसी का राजा था, १०० पुत्रों को मार डाला। तब शिव ने अपने गण निकुम्भ को दिवोदास द्वारा अधिकृत वाराणसी का नाश करने के लिए भेजा। निकुम्भ ने उसे एक सहस्र वर्ष तक नष्ट-भ्रष्ट होने का शाप दिया। जब वह नष्ट हो गयी तो वह अविमुक्त कहलायी और शिव वहाँ रहने लगे। इसकी पुनः स्थापना (श्लोक ६८) भद्रश्रेण्य के पुत्र दुर्दम द्वारा, जिसे (क्योंकि वह अभी बच्चा था) दिवोदास ने नहीं मारा था, हुई। इसके उपरान्त दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने उसे दुर्दम से छीन लिया। दिवोदास के पौत्र अलर्क ने, जो काशियों का राजा था, वाराणसी को पुनः बसाया। इस गाथा में सत्य की कुछ रेखा पायी जाती है, अर्थात् वाराणसी का कई बार नाश हुआ और इस पर कई कुलों का राज्य स्थापित हुआ। वायु० (अध्याय ९२) एवं ब्रह्म० (अध्याय ११) में भी धन्वन्तरि, दिवोदास एवं अलर्क तथा वाराणसी के विपर्ययों का उल्लेख मिलता है।

महाभाष्य (जिल्द १, पृ० ३८०) में पतञ्जलि ने वाराणसी को गंगा के किनारे अवस्थित कहा है, और पाणिनि (४।३।८४) के भाष्य में इन्होंने (जिल्द २, पृ० ३१३) कहा है कि व्यापारी गण वाराणसी को 'जित्वरी' कहते थे।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि वाराणसी बुद्ध-काल (कम-से-कम पाँचवीं ई० पू० शताब्दी) में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत एवं कौशाम्बी (देखिए महापरिनिब्बानसुत्त एवं महासुदस्सनसुत्त, सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ११, पृ० ९९ एवं २४७) जैसे महान् एवं प्रसिद्ध नगरों में परिगणित होती थी। गौतम बुद्ध ने गया में सम्बोधि प्राप्त करने के उपरान्त वाराणसी के मृगदाव अर्थात् सारनाथ में आकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया। इससे प्रकट होता

२. काशिष्वपि नृपो राजन दिवोदासपितामहः। हर्यश्व इति विख्यातो बभूव जयतां वरः।। अनुशासनपर्व (३०।१०)।

है कि उस समय यह नगर आर्यों की संस्कृति की लीलाओं का केन्द्र बन चुका था। कतिपय जातक गाथाओं में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का उल्लेख हुआ है। जातक की गाथाएँ ई० पू० तीसरी शताब्दी के पूर्व नहीं रखी जा सकतीं, किन्तु इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि ईसा की कई शताब्दियों पूर्व वाराणसी ब्रह्मदत्त राजाओं की राजधानी थी ही। मत्स्य० (२७३।७२-७३) ने एक ही प्रकार की उपाधियों वाले सैकड़ों राजाओं का उल्लेख किया है और कहा है कि १०० ब्रह्मदत्त और १०० काशि एवं कुश थे।[3] किन्तु यहाँ ब्रह्मदत्तों को काशियों से पृथक् कहा गया है, अतः इस गाथा का महत्व कम हो गया है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में भी वाराणसी एवं काशी का उल्लेख हुआ है। कल्पसूत्र में ऐसा आया है कि अर्हन् पार्श्वनाथ का जन्म चैत्र के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को वाराणसी में हुआ था और जब महावीर की मृत्यु हुई तो काशि एवं कोसल के १८ संयुक्त राजाओं ने लिच्छवियों एवं मल्लकों के अन्य राजाओं के साथ अमावासी के दिन प्रकाश किया था (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द २२, पृ० २७१ एवं २६६)। अश्वघोष ने अपने बुद्धचरित (१५।१०१) में वाराणसी एवं काशी को एक-सा कहा है--'जिन (बुद्ध) ने वाराणसी में प्रवेश करके और अपने प्रकाश से नगर को देदीप्यमान करते हुए काशी के निवासियों के मन में कौतुक भर दिया।'[4] बुद्धचरित में आगे कहा है कि बुद्ध वणारा के पास एक वृक्ष की छाया में पहुँचे (वही, जिल्द ४९, भाग १, पृ० १६९)। सम्भवतः वणारा वरणा ही है। इससे प्रकट होता है कि कम-से-कम पहली शताब्दी में वाराणसी एवं काशी समानार्थक थीं। वायु० (४५। ११०) में काशि-कोशल मध्यदेश के प्रदेशों में परिगणित है।

विष्णुपुराण में पौण्ड्रक वासुदेव की गाथा आयी है, जिसने कृष्ण को ललकारा था और उनसे चक्र एवं अन्य चिह्नों को समर्पित करने को कहा था। उसे काशी के राजा ने सहायता दी थी। पौण्ड्रक एवं काशिराज की सम्मिलित सेना ने कृष्ण पर आक्रमण किया। कृष्ण ने पौण्ड्रक को मार डाला और काशिराज का सिर अपने चक्र से काट डाला जो काशी नगर में जाकर गिरा। उसके पुत्र ने तप किया और शंकर को प्रसन्न करके उनसे 'कृत्या' प्राप्त की जो वाराणसी में प्रविष्ट हुई। कृष्ण के चक्र ने उसकी खोज में सम्पूर्ण वाराणसी को उसके राजा, नौकरों एवं निवासियों के साथ जला डाला। विष्णुपुराण (५।३४) के इस वर्णन में काशी, वाराणसी एवं अविमुक्त एक-दूसरे के पर्याय हैं (श्लोक १४, २१, २५, ३० एवं ३९)। ये ही श्लोक उन्हीं शब्दों में ब्रह्म० (अध्याय २०७) में आये हैं। यही गाथा संक्षेप में सभापर्व (१४।१८-२० एवं ३४।११) में भी वर्णित है।

उपर्युक्त गाथाओं मे, जो महाभारत एवं पुराणों में काशी एवं महादेव के विषय में दी गयी है, विद्वानों ने कतिपय निष्कर्ष निकाले हैं, यथा---महादेव अनार्यों के देवता थे, आर्यों के आगमन के उपरान्त बहुत काल तक वाराणसी अनार्यों का पूजा-केन्द्र थी, और वाराणसी के लोग, जो अन्ततोगत्वा आर्यधर्मावलम्वी हो गये, उपनिषत्-काल की दार्शनिक विचारधाराओं से विशेष अभिरुचि रखते थे।[5] इन निष्कर्षों में अधिकांश संशयात्मक हैं, क्योंकि इनके लिए

३. शतमेकं धार्तराष्ट्रा ह्यशीतिर्जनमेजयाः। शतं वै ब्रह्मदत्तानां वीराणां कुरवः शतम्। ततः शतं च पञ्चालाः शतं काशिकुशादयः॥ मत्स्य० (२७३।७२-७३)।

४. वाराणसीं प्रविश्याथ भासा सम्भासयञ्जिनः। चकार काशीदेशीयान् कौतुकाक्रान्तचेतसः॥ बुद्धचरित (१५।१०१)।

५. देखिए स्व० डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर कृत 'हिस्ट्री आव बनारस' (पृ० २-७)। नारदीयपुराण (उत्तर, अध्याय २९) में आया है कि सर्वप्रथम काशी माधव (विष्णु) का नगर था, किन्तु आगे चलकर वह शैव क्षेत्र हो गया। क्या इस कथन के लिए कोई ऐतिहासिक आधार है? डा० अलतेकर ने निष्कर्ष निकाला है कि अनार्यों ने

पुष्ट आधार नहीं मिल पाते। आज जितने पुराण हमें मिलते हैं वे तीसरी या चौथी शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। अधिकांश भारतीय शान्तिमय एवं अनाकर्षक जीवन बिताते रहे हैं अथवा आज भी वैसा ही जीवन बिता रहे हैं। साधारण मनुष्य की रहस्यात्मक, असामान्य एवं भयाकुल स्थित्यात्मक भूख की सन्तुष्टि के लिए इस जीवन में कुछ भी नहीं है। पुराणों में ऐसी गाथाएँ हैं जो कई कोटियों में बाँटी जा सकती हैं, और वे सामान्य लोगों की उपर्युक्त भूख को मिटाती-सी रही हैं। पुराणों की कतिपय गाथाएँ सामान्य जनों के मनोरंजन के लिए हैं। यही बात आज के पश्चिमी देशों की कोटि-कोटि जनता के विषय में भी लागू होती है जो बड़े आनन्द के साथ जासूसी एवं अपराध-सम्बन्धी गाथाओं को पढ़ती है। पुराणों की कुछ गाथाएँ गम्भीर निर्देश भी देती रही हैं। वे धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तों या नैतिक मूल्यों या जीवन-माप-दण्डों को इस प्रकार अलौकिक रंग में रँग देती हैं कि वे स्वयं आकर्षक एवं प्रभावशाली हो उठती हैं। केवल कुछ ही गाथाएँ ऐतिहासिक आधार रखती हैं। किन्तु वे भी किसी व्यक्ति-विशेष, जाति-वर्ग, कुल के पक्ष में या विपक्ष में अतिशयोक्तिपूर्ण बातें करती हैं। सहस्रों वर्षों की बातों के विषय में जो कुछ पौराणिक उक्तियाँ एवं निष्कर्ष हैं उनसे ऐतिहासिक तथ्य निकालना उचित नहीं है। पुराणों में देवों एवं ऋषियों के पारस्परिक झगड़ों एवं ईर्ष्याकुल सम्बन्धों की ओर बहुधा संकेत मिलते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण (५।३०।६५) में इन्द्र एवं कृष्ण के पारस्परिक युद्ध का वर्णन है। क्या कृष्ण प्रारम्भिक रूप में अनार्य देवता थे? जब राम से युद्ध करने के लिए परशुराम आये तो परशुराम ने गणेश का दाहिना दाँत तोड़ दिया। राम एवं परशुराम दोनों विष्णु के अवतार कहे गये हैं। ऋषि भृगु ने विष्णु को, गौतम ने इन्द्र को, माण्डव्य ने धर्म को शाप दिया है (ब्रह्माण्ड०, २।२७।२१-२५)।

कई पुराणों में काशी या वाराणसी की विशद प्रशस्ति गायी गयी है। देखिए मत्स्य० (अध्याय १८०-१८५, कुल ४११ श्लोक), कूर्म० (१।३१-३५, कुल २२६ श्लोक), लिंग० (पूर्वार्ध, अध्याय ९२, कुल १९० श्लोक), पद्म० (आदि, ३३-३७, कुल १७० श्लोक), अग्नि० (११२), स्कन्द० (काशी०, अध्याय ६), नारदीय० (उत्तर, अध्याय ४८-५१)। केवल काशीखण्ड में काशी एवं इसके उपतीर्थों के विषय में लगभग १५००० श्लोक हैं। पद्मपुराण में आया है कि ऋषियों ने भृगु से पाँच प्रश्न पूछे थे, यथा—काशी की महत्ता क्या है? इसे कैसे समझा जाय? कौन लोग यहाँ जायँ? इसका विस्तार या क्षेत्र क्या है? तथा इस (काशी) को कैसे प्राप्त किया जाय? स्कन्द० (काशीखण्ड, अध्याय २६।२-५) में भी ऐसे प्रश्नों की चर्चा है; कब से यह अविमुक्त अति प्रसिद्ध हुआ? इसका नाम अविमुक्त क्यों पड़ा? यह मोक्ष का साधन कैसे बना? किस प्रकार मणिकर्णिका का कुण्ड तीनों लोकों का पूज्य बना? जब गंगा वहाँ नहीं थी तो वहाँ पहले क्या था? इसका नाम वाराणसी कैसे पड़ा? यह नगर काशी एवं रुद्रावास क्यों कहलाया? यह आनन्दकानन कैसे हुआ? तथा आगे चलकर अविमुक्त एवं महाश्मशान क्यों हुआ?[६]

शताब्दियों से काशी के पाँच विभिन्न नाम रहे हैं; वाराणसी, काशी, अविमुक्त, आनन्दकानन, श्मशान

बनारस में आर्यों के ऊपर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। किन्तु यह निष्कर्ष नारदीय पुराण के कथन के विरोध में ही पड़ता है।

६. किं माहात्म्यं कथं वेद्यं सेव्या कैश्च द्विजोत्तम। परिमाणं च तस्याः किं केनोपायेन लभ्यते ॥ पद्म० (पाताल-खण्ड, त्रिस्थलीसेतु, पृ० ७२); अविमुक्तमिदं क्षेत्रं कदारभ्य भुवस्तले। परां प्रथितिमापन्नं मोक्षदं चाभवत्कथम् ॥ कथमेषा त्रिलोकीड्या गीयते मणिकर्णिका। तत्रासीत्किं पुरः स्वामिन् यदा नामरनिम्नगा ॥ वाराणसीति काशीति रुद्रावास इति प्रभो। अवाप नामधेयानि कथमेतानि सा पुरी ॥ आनन्दकाननं रम्यमविमुक्तमनन्तरम्। महाश्मशानमिति च कथं ख्यातं शिखिध्वज ॥ स्कन्द० (काशी० २६।२-५)।

या महाश्मशान। काशीखण्ड (२६।३४) के मत से शंकर ने इसे सर्वप्रथम आनन्दकानन कहा और तब इसे अविमुक्त कहा। इन विभिन्न नामों के विषय में पुराणों एवं अन्य ग्रन्थों में संकेत आये हैं। **काशी** शब्द 'काश्' (अर्थात् चमकना) से बना है। स्कन्द० में आया है कि **काशी** इसलिए प्रसिद्ध हुई कि यह निर्वाण के मार्ग में प्रकाश फेंकती है या इसलिए कि यहाँ अनिर्वचनीय ज्योति अर्थात् देव शिव भासमान हैं (काशी०, २६।६७)। **वाराणसी** की व्युत्पत्ति कुछ पुराणों ने इस प्रकार की है कि यह **वरणा** एवं **असि** नामक दो धाराओं के बीच में है जो क्रम से इसकी उत्तरी एवं दक्षिणी सीमाएँ बनाती हैं (पद्म०, आदि, ३३।४९; मत्स्य० १८३।६२; स्कन्द०, काशी० ३०।६९-७०; अग्नि० ११२।६; वामन०, श्लोक ३८)। पुराणों में बहुधा **वाराणसी** एवं **अविमुक्त** नाम आते हैं। जाबालोपनिषद् में गूढ़ार्थ के रूप में 'अविमुक्त', 'वरणा' एवं 'नासी' शब्द आये हैं—"अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—कोई अनभिव्यक्त आत्मा को कैसे जाने? याज्ञवल्क्य ने व्याख्या की कि उसकी पूजा अविमुक्त में होती है, क्योंकि आत्मा अविमुक्त में केन्द्रित है। तब एक प्रश्न पूछा गया—अविमुक्त किसमें केन्द्रित है या स्थापित है? तो उत्तर है कि अविमुक्त वरणा एवं नासी के मध्य में अवस्थित है। 'वरणा' नाम इसलिए पड़ा कि यह इन्द्रियजन्य दोषों को दूर करती है और 'नासी' इन्द्रियजन्य पापों को नष्ट करती है। तब एक प्रश्न पूछा गया; इसका स्थान क्या है? उत्तर यह है कि यह भौंहों एवं नासिका का संयोग है, अर्थात् अविमुक्त की उपासना का स्थान भौंहों (भ्रू-युग्म) एवं नासिका की जड़ के बीच है।" इससे प्रकट होता है कि 'वरणा' एवं 'नासी' नाम है (न कि 'वरणा' एवं 'असि')। वामनपुराण ने 'असी' शब्द का प्रयोग किया है। यही बात पद्म० में भी है। **अविमुक्त** को निषेधात्मक 'न' (जिसके लिए यहाँ 'अ' रखा गया है) लगाकर समझाया गया है, और विमुक्त (त्यक्त) के साथ 'न' ('अ') को जोड़कर उसकी व्याख्या की गयी है। बहुत-से पुराणों के मतानुसार इस पवित्र स्थल का नाम अविमुक्त इसलिए पड़ा कि शिव (कभी-कभी शिव एवं शिवा) ने इसे कभी नहीं त्यक्त किया या छोड़ा।[७] लिंग० में एक अन्य व्युत्पत्ति दी हुई है; 'अवि' का अर्थ है 'पाप', अतः यह पाप से मुक्त अर्थात् रहित है।[८] काशीखण्ड (३९।७४) का कथन है कि आरम्भ में यह पवित्र स्थल आनन्दकानन था और आगे चलकर यह अविमुक्त बना, क्यों कि यद्यपि शिव मन्दर पर्वत पर चले तो गये, किन्तु उन्होंने इसे पूर्णतया छोड़ा नहीं बल्कि यहाँ अपना लिंग छोड़ गये।

शिव को वाराणसी बड़ी प्यारी है, यह उन्हें आनन्द देती है अतः यह **आनन्दकानन** या **आनन्दवन** है।[९] कुछ कारणों से यह **श्मशान** या **महाश्मशान** भी कही जाती है। ऐसा लोगों का विश्वास रहा है कि काशी लोगों को संसार से मुक्ति देती है और सभी धार्मिक हिन्दुओं के विचार एवं आकांक्षाएँ काशी की पवित्र मिट्टी में ही मरने के लिए उन्हें प्रेरित करते रहे हैं तथा इसी से बूढ़े एवं जीर्ण-शीर्ण लोग यहाँ जुटते रहे हैं, असाध्य रोगग्रस्त मानवों को लोग

७. **मुने प्रलयकालेपि न तत्क्षेत्रं कदाचन। विमुक्तं हि शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः॥ स्कन्द० (काशी० २६।२७; त्रिस्थली०, पृ० ८९)**; लिंगपुराण (पूर्वार्ध, ९२।४५—४६) में आया है—**विमुक्तं न मया यस्मान्मोक्ष्यते वा कदाचन। मम क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिति स्मृतम्॥** और देखिए यही श्लोक नारदीय० (उत्तर, ४८।२४) में; मत्स्य० (१८०।५४ एवं १८१।१५); अग्नि० (११२।२) एवं लिंग० (१।९२।१०४)।

८. **अविशब्देन पापस्तु वेदोक्तः कथ्यते द्विजैः। तेन मुक्तं मया जुष्टमविमुक्तमतोच्यते॥** लिंग० (पूर्वार्ध, ९२।१४३)।

९. **यथा प्रियतमा देवि मम त्वं सर्वसुन्दरि। तथा प्रियतरं चैतन् मे सदानन्दकाननम्॥** काशी० (३२।१११); **अविमुक्तं परं क्षेत्रं जन्तूनां मुक्तिदं सदा। सेवेत सततं धीमान विशेषान्मरणान्तिके॥** लिंग० (१।९१।७६)।

यहाँ उठा लाते हैं, जिससे कि वे गंगा के तटों पर ही मृत्यु को प्राप्त हों और वहीं जलाये जायँ। गंगा के तट पर मणिकर्णिका घाट पर सदा शव जलाये जाते देखे जाते हैं। श्मशान को अपवित्र माना जाता है, किन्तु सहस्रों वर्षों से श्मशान घाट होने पर भी यह गंगा का परम पवित्र तट माना जाता रहा है। स्कन्द० में आया है कि 'श्म' का अर्थ है 'शव' और 'शान' का सोना (शयन) या पृथिवी पर पड़ जाना; जब प्रलय (विश्व का अन्त) आता है तो महान् तत्त्व शवों के समान यहाँ पड़ जाते हैं, अतः यह स्थान **महाश्मशान** कहलाता है। पद्म० (१।३३।१४) में आया है कि शिव कहते हैं—'अविमुक्त एक विख्यात श्मशान है, मैं काल (नाशक या काल देवता) होकर, यहाँ रहकर विश्व का नाश करता हूँ।' मत्स्य० ने बहुधा वाराणसी को श्मशान कहा है। काशीखण्ड (३१।३१०) में आया है—यदि कोई महाश्मशान में पहुँचकर वहाँ मर जाता है तो भाग्य से उसे पुनः श्मशान में नहीं सोना पड़ता (अर्थात् उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता)।

यद्यपि सामान्यतः काशी, वाराणसी एवं अविमुक्त पुराणों में समानार्थक रूप में आये हैं, तथापि कुछ वचनों द्वारा उनके सीमाविस्तारों में अन्तर प्रकट किया गया है। पद्म० (पाताल, त्रिस्थली०, पृ० १०० एवं तीर्थ प्र०, पृ० १७५ द्वारा उद्धृत) में आया है कि उत्तर एवं दक्षिण में क्रम से वरणा एव असि, पूर्व में गंगा एवं पश्चिम में पाशपाणि विनायक से वाराणसी सीमित है।[10] आइने-अकबरी (जिल्द २, पृ० १५८) में कहा गया है कि वरणा एवं असी के मध्य में बनारस एक विशाल नगर है और यह एक धनुष के रूप में बना है जिसकी प्रत्यञ्चा गंगा है। मत्स्य० (१८४।५०-५२) में आया है—'वह क्षेत्र २½ योजन पूर्व एवं पश्चिम में है और १½ योजन उत्तर-दक्षिण है; इसके आगे वाराणसी शुष्क नदी (असि) तक विस्तृत है।' प्रथम अंश का सम्बन्ध सम्पूर्ण काशी क्षेत्र से है, जो पद्म० के मत से, उस भाग को समेटता है जो वृत्ताकार है, जिसका व्यास वह रेखा है जो मध्यमेश्वर-लिंग को देहली-गणेश से मिलती है। मत्स्य० (१८३।६१-६२) ने इसे दो योजन विस्तार में माना है। यही बात अग्नि० (११२।६) में भी है। किन्तु यह सब लगभग विशालता का द्योतक है। योजन से मापी गयी दूरी विभिन्न रूपों वाली है। राइस डेविड्स ने अपने ग्रन्थ 'न्यूमिस्मैटा ओरिएण्टैलिया' (लन्दन, १८७७) में पालि ग्रन्थों से ३० पद्यों की व्याख्या एवं परीक्षा करके दर्शाया है कि एक योजन ७ या ८ मील के बराबर होता है। अविमुक्त को विश्वेश्वर से चारों दिशाओं में २०० धनुओं (अर्थात् ८०० हाथ या लगभग १२०० फुट) के व्यास में विस्तृत प्रकट किया गया है। अविमुक्त के विस्तार के विषय में मतैक्य नहीं है। काशीखण्ड (२६।३१) में अविमुक्त का विस्तार पाँच योजन कहा गया है। किन्तु वहाँ अविमुक्त काशी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। काशीक्षेत्र का अन्तःवृत्त यों कहा गया है—पश्चिम में गोकर्णेश्वर, पूर्व में गंगा की मध्यधारा, उत्तर में भारभूत एवं दक्षिण में ब्रह्मेश्वर के बीच यह स्थित है। लिंग० (पूर्वार्ध, ९२।९९-१००; तीर्थचि०, पृ० ३४० एवं त्रिस्थली०, पृ० १०३) में आया है; कि यह क्षेत्र चारों दिशाओं में चार योजन है और एक योजन मध्य है। नारदीय० (उत्तर, ४८।१८-१९) ने इसकी सीमा यों दी है—(यह क्षेत्र) पूर्व एवं पश्चिम में ढाई योजन तक फैला हुआ है और उत्तर से दक्षिण तक आधा योजन चौड़ा है, देवता शम्भु ने वरुणा एवं एक सूखी धारा असि के मध्य में इसका विस्तार बतलाया है। पद्म० (सृष्टि, १४।१९४-१९६) में ब्रह्मा ने रुद्र से यों कहा है—मैंने तुम्हें पंच क्रोशों में विस्तृत एक क्षेत्र दिया है, जब सभी नदियों में श्रेष्ठ गंगा इस क्षेत्र से बहेगी, तब यह नगर महान एवं पवित्र होगा; गंगा, जो (बनारस में) दो योजन तक

१०. दक्षिणोत्तरयोर्नद्यौ वरणासिश्च पूर्वतः। जाह्नवी पश्चिमे चापि पाशपाणिर्गणेश्वरः।। पद्म० (पातालखण्ड, त्रिस्थली०, पृ० १०० एवं तीर्थप्रकाश, पृ० १७२)।

उत्तरवाहिनी है, पवित्र होगी। जब ग्रन्थों में अविमुक्त के विस्तार के विषय में अन्तर पाया जाय तो ऐसा समझना चाहिए कि वहाँ विकल्प है (जैसा कि तीर्थचि० में आया है कि अन्तर विभिन्न कल्पों या युगों के द्योतक हैं)। यह स्पष्ट है कि वाराणसी वह क्षेत्र है जिसके पूर्व में गंगा, दक्षिण में असि, पश्चिम में देहली-विनायक एवं उत्तर में वरणा है। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसाँग ने लिखा है कि बनारस लम्बाई में १८ ली (लगभग ३¹/₂ मील) एवं चौड़ाई में ५ या ६ ली (एक मील से कुछ अधिक) है। इससे प्रकट होता है कि उन दिनों भी बनारस वरणा एवं असि के मध्य में था।

वाराणसी की महत्ता एवं विलक्षणता के विषय में सहस्रों श्लोक मिलते हैं। यहाँ हम केवल कुछ ही विशिष्ट श्लोकों की चर्चा कर सकेंगे। वनपर्व (८४।७९-८०) में आया है—अविमुक्त में आनेवाला एवं रहनेवाला (तीर्थसेवी) व्यक्ति विश्वेश्वर का दर्शन करते ही ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है, यदि वह यहाँ मर जाता है तो वह मोक्ष पा जाता है। मत्स्य० (१८०।४७) ने कहा है—'वाराणसी मेरा सर्वोत्तम तीर्थ-स्थल है, सभी प्राणियों के लिए यह मोक्ष का कारण है। प्रयाग या इस नगर में मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि इसकी रक्षा का भार मेरे ऊपर है, यह तीर्थराज प्रयाग से भी महान् है। ज्यों ही व्यक्ति अविमुक्त में प्रवेश करता है, सहस्रों अतीत जीवनों में किये गये एकत्र पाप नष्ट हो जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्णसंकर, कृमि (कीड़े-मकोड़े), म्लेच्छ, अन्य पापयोनियों से उत्पन्न लोग, कीट-पतंग, चींटियाँ, पक्षी एवं पशु जब काल के मुख में पहुँच जाते हैं, तो वे सभी मेरे शुभ नगर में सुख पाते हैं, वे सभी अपने सिरों पर चन्द्रार्ध ग्रहण कर लेते हैं, ललाट पर (तीसरा) नेत्र पा जाते हैं और वाहन रूप में वृष (बैल) पा लेते हैं।' मत्स्य० (१८०।७१ एवं ७४) में पुनः आया है—विषयासक्त-चित्त लोग, धर्म-भक्ति को त्यक्त कर देनेवाले लोग भी यदि काशी में मर जाते हैं, तो वे पुनः जन्म नहीं लेते; सहस्रों जन्मों के योग-साधन के उपरान्त योग-प्राप्ति होती है, किन्तु काशी में मृत्यु होने से इसी जीवन में परम मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पापी, शठ एवं अधार्मिक व्यक्ति भी पापमुक्त हो जाता है, यदि वह अविमुक्त में प्रवेश करता है (मत्स्य० १८३।११; पद्म० १।३३।३८)। भोगपरायण एवं कामचारिणी स्त्रियाँ भी यहाँ पर काल में मृत्यु पाने पर मोक्ष पाती हैं (मत्स्य० १८४।३६)। इस विश्व में बिना योग के मानव मोक्ष नहीं पाते, किन्तु अविमुक्त में निवास करने से योग एवं मोक्ष दोनों प्राप्त हो जाते हैं (मत्स्य० १८५।१५।१६)। समय से ग्रह एवं नक्षत्र गिर सकते हैं, किन्तु अविमुक्त में मरने से कभी भी पतन नहीं हो सकता (मत्स्य० १८५-६१=काशीखण्ड ६४।९६) दुष्ट प्रकृति वाले पुरुषों या स्त्रियों द्वारा जो भी दुष्ट कर्म जान या अनजान में किये जायँ, किन्तु जब वे अविमुक्त में प्रवेश करते हैं तो वे (दुष्ट कर्म) भस्म हो जाते हैं (नारदीय०, उत्तर, ४८। ३३-३४; काशी० ८५।१५)। काशी में रहने वाला म्लेच्छ भी भाग्यशाली है, बाहर रहने वाला, चाहे वह दीक्षित (यज्ञ करने वाला) ही क्यों न हो, मुक्ति का भाजन नहीं हो सकता।

कुछ पुराणों में वाराणसी एवं नदियों का रहस्यात्मक रूप भी दिखाया गया है। उदाहरणार्थ, काशीखण्ड में आया है कि **असि** इडा नाड़ी है, **वरणा** पिंगला है, **अविमुक्त** सुषुम्ना है और वाराणसी तीनों है (५।२५)। लिंग० (तीर्थचि०, पृ० ३४१; त्रिस्थली०, पृ० ७८-७९) ने यही बात दूसरे ढंग से कही है। इसमें आया है कि असि (शुष्क नदी), वरणा एवं मत्स्योदरी (गंगा) क्रम से पिंगला, इडा एवं सुषुम्ना हैं।[११]

११. स होवाचेति जाबालिरारुणेऽसिरिडा मता। वरणा पिंगला नाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम्॥ सा सुषुम्ना परा नाडी त्रयं वाराणसी त्वसौ॥ स्कन्द० (काशी० ५।२५; मिलाइए नारदीय० (उत्तर, ४७।२२-२३;) पिंगला नाम या नाडी आग्नेयी सा प्रकीर्तिता। शुष्का सरिच्च सा ज्ञेया लोलार्को यत्र तिष्ठति॥ इडानाम्नी च या नाडी सा सौम्या

अब हम वाराणसी के पुनीत स्थलों की चर्चा करेंगे। पुराणों में ऐसा आया है कि काशीक्षेत्र में पद-पद पर तीर्थ हैं, एक तिल भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ लिंग (शिव का प्रतीक) न हो।[१२] केवल अध्याय १० में ही काशीखण्ड ने ६४ लिंगों का उल्लेख किया है। किन्तु हम विशिष्ट रूप से उल्लिखित तीर्थों का ही वर्णन करेंगे। ह्वेनसाँग का कथन है कि उसके काल में बनारस में एक सौ मन्दिर थे। उसने एक ऐसे मन्दिर का उल्लेख किया है जिसमें देव महेश्वर की ताम्र-प्रतिमा १०० फुट से कम ऊँची नहीं थी। अभाग्यवश सन् ११९४ से लेकर १६७० ई० तक मुसलमानी राजाओं ने विभिन्न कालों में अधिकांश में सभी हिन्दू मन्दिरों को तोड़-फोड़ दिया। इन मन्दिरों के स्थान पर मसजिद एवं मकबरे खड़े कर दिये गये। मन्दिरों की सामग्रियाँ मसजिदों आदि के निर्माण में लग गयीं। कुतुबुद्दीन ऐबक ने सन् ११९४ ई० में एक सहस्र मन्दिर तुड़वा दिये (इलिएट एवं डाउसन की 'हिस्ट्री आव इण्डिया', जिल्द २, पृ० २२२)। अलाउद्दीन खिलजी ने गर्व के साथ कहा है कि उसने केवल बनारस में ही एक सहस्र मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करा दिया (शेरिंग, पृ० ३१ एवं हैवेल, पृ० ७६)। राजा टोडरमल की सहायता से सन् १५८५ ई० में नारायण भट्ट ने विश्वनाथ के मन्दिर को पुनः बनवाया। किन्तु यह मन्दिर भी कालान्तर में ध्वस्त कर दिया गया। म-आसिर-ए-आलमगीरी का निम्न अंश (इलिएट एवं डाउसन, 'हिस्ट्री आव इण्डिया', जिल्द ७, पृ० १८४) पढ़ने योग्य है—"धर्म के रक्षक शाहंशाह के कानों में यह पहुँचा कि थट्ट, मुल्तान एवं बनारस के प्रान्तों में, विशेषतः अन्तिम (बनारस) में मूर्ख ब्राह्मण लोग अपनी पाठशालाओं में तुच्छ पुस्तकों की व्याख्या में संलग्न हैं और उनकी दुष्ट विद्या की जानकारी प्राप्त करने के लिए दूर-दूर से हिन्दू एवं मुसलमान वहाँ जाते हैं। धर्म के संचालक ने फलतः सभी सूबों के सूबेदारों को यह फ़रमान (आदेश) भेजा कि काफिरों के सारे मन्दिर एवं पाठशालाएँ नष्ट कर दी जायँ; उन्हें आज्ञा दी गयी कि मूर्ति पूजा के आचरण एवं शिक्षा को वे बड़ी कठोरता से बन्द कर दें। १५वीं रबिउ-लाखिर (दिसम्बर, १६६९) को यह सूचना धार्मिक शाहंशाह को, जो एक खुदा के मानने वालों के नेता थे, दी गयी कि उनकी आज्ञा के पालनार्थ राजकर्मचारियों ने बनारस के विश्वनाथ-मन्दिर को तोड़ दिया है।"

विश्वेश्वर-मन्दिर के स्थल पर औरंगजेब ने एक मसजिद बनवायी, जो आज भी अवस्थित है। औरंगजेब ने बनारस का नाम मुहम्मदाबाद रख दिया। शेरिंग (पृ० ३२) का कथन है कि इसका परिणाम यह हुआ कि औरंग-जेब के काल (सन् १६५८-१७०७) के बीस मन्दिरों को भी बनारस में पाना कठिन है। बाद में मराठे सरदारों ने बहुत-से मन्दिर बनवाये और अंग्रेजी शासन-काल में बहुत-से अन्य मन्दिर भी बने। प्रिंसेप ने सन् १८२८ में गणना करायी जिससे पता चला कि बनारस नगर में १००० मन्दिर एवं ३३३ मसजिदें हैं। आगे की गणना से पता चला कि कुल मिलाकर १४५४ मन्दिर एवं २७२ मसजिदें हैं (शेरिंग, पृ० ४१-४२)। हैवेल (पृ० ७६) का कथन है कि १५०० मन्दिर हैं और दीवारों में लगी हुई प्रतिमाएँ असंख्य हैं।

विश्वेश्वर या विश्वनाथ वाराणसी के रक्षक देव हैं और इनका मन्दिर सर्वोच्च एवं परम पवित्र है। ऐसी व्यवस्था दी गयी है प्रत्येक काशीवासी को प्रति दिन गंगा में स्नान करना चाहिए और विश्वनाथ-मन्दिर में जाना चाहिए (देखिए त्रिस्थलीसेतु, पृ० २१४)। विश्वनाथ-मन्दिर जब औरंगजेब द्वारा नष्ट करा दिया गया तो एक सौ वर्षों से

संप्रकीर्तिता। वरणा नाम सा ज्ञेया केशवो यत्र संस्थितः ॥ आभ्यां मध्ये तु या नाडी सुषुम्ना सा प्रकीर्तिता ॥ मत्स्योदरी च सा ज्ञेया विषुवं तत्प्रकीर्तितम् ॥ लिंग० (तीर्थचि०, पृ० ३४१, त्रिस्थली०, पृ० ७८-७९)।

१२. तीर्थानि सन्ति भूयांसि काश्यामत्र पदे पदे। न पञ्चनदतीर्थस्य कोट्यंशेन समान्यपि ॥ स्कन्द० (काशी०, ५९।११८); तिलान्तरापि नो काश्यां भूमिर्लिङ्गं विना क्वचित्। काशी० (१०।१०३)।

ऊपर तक बनारस में विश्वनाथ का कोई मन्दिर नहीं रहा। सम्भवतः लिंग समय-स्थिति के फलस्वरूप एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखा जाता रहा और यात्री लोग पूजा के कुछ अंग (नमस्कार एवं प्रदक्षिणा) प्रतिमा-स्थल पर ही करते रहे, किन्तु वे पूजा के अन्य अंग, यथा गंगा-जल से प्रतिमा-स्नान आदि नहीं कर सकते थे। आधुनिक विश्वनाथ-मंदिर अहल्याबाई होल्कर द्वारा १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बनवाया गया। त्रिस्थलीसेतु (पृ० १८३) ने विश्वेश्वर के प्रादुर्भाव के प्रश्न पर विचार करते हुए यह लिखा है कि अस्पृश्यों द्वारा छूने से विश्वेश्वरलिंग दूषित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक दिन प्रातःकाल मणिकर्णिका में स्नान एवं पूजा करने से विश्वेश्वर उस दोष को दूर कर लेते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामान्य लिंगों के विषय में बड़ी सावधानी प्रदर्शित की जाती है। लिंगों को सभी लोग नहीं छू सकते, किन्तु विश्वेश्वरलिंग को पापी भी छू सकता है, उसकी पूजा कर सकता है और उस पर गंगाजल चढ़ा सकता है। किन्तु नारायण भट्ट के इस कथन से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अस्पृश्य भी इसे छू सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि वाचस्पति के मत से अविमुक्तेश्वर लिंग विश्वनाथ ही हैं, किन्तु त्रिस्थलीसेतु (पृ० २९६) एवं तीर्थप्रकाश (पृ० १८७) ने यह मत अमान्य ठहराया है। स्कन्द० (काशी०, १०।९।९३) ने विश्वेश्वर एवं अविमुक्तेश्वर को पृथक्-पृथक् लिंग माना है। विश्वनाथ के अतिरिक्त यात्री-गण बनारस में पाँच तीर्थों (पंचतीर्थी) की यात्रा करते हैं। मत्स्य० (१८५।६८-६९) के अनुसार विश्वेश्वर के आनन्दकानन में पाँच प्रमुख तीर्थ हैं; दशाश्वमेध, लोलार्क,[१३] केशव, बिन्दुमाधव एवं मणिकर्णिका।[१४] आधुनिक काल के प्रमुख पंचतीर्थ हैं असि एवं गंगा का संगम, दशाश्वमेध घाट, मणिकर्णिका, पंचगंगा घाट तथा वरणा एवं गंगा का संगम। यह काशीखण्ड (१०६।११० एवं ११४) पर आधारित है। लोलार्क तीर्थ असि (वाराणसी की दक्षिणी सीमा) एवं गंगा के संगम पर अवस्थित माना जाता है। काशीखण्ड (४६।४८-४९) ने लोलार्क नाम की व्याख्या की है कि 'काशी को देखने पर सूर्य का मन लोल (चंचल) हो गया।' वर्षा ऋतु में असि लगभग ४० फुट चौड़ी धारा हो जाती है, किन्तु अन्य कालों में यह सूखी रहती है। काशी के कतिपय घाट मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं। बनारस में पहुँचकर गंगा उत्तर की ओर घूम जाती है (अर्थात् हिमालय की दिशा में प्रवाहित हो जाती है, अतः यह यहाँ विशिष्ट रूप से पूज्य एवं पवित्र है। दशाश्वमेध घाट शताब्दियों से विख्यात रहा है। डा० जायसवाल ने जो व्याख्या उपस्थित की है, वह ठीक ही है; भारशिव लोग सम्राट् थे, वे गंगा के जल से अभिषिक्त हुए थे और दश अश्वमेध यज्ञों के उपरान्त उन्होंने यहाँ अभिषेक किया था और इसी कारण इस घाट का नाम दशाश्वमेध पड़ा (डा० जायसवाल का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव इण्डिया', सन् १५० ई० से ३५० ई० तक, पृ० ५)। प्रातःकाल दशाश्वमेध घाट पर गंगा की शोभा अति रमणीय हो उठती है (इस घाट की प्रशस्ति के लिए देखिए काशीखण्ड (५२।८३) एवं त्रिस्थलीसेतु (पृ० १५९)। काशीखण्ड का कथन है कि इस तीर्थ का प्रारम्भिक नाम था रुद्रसर, किन्तु जब ब्रह्मा ने यहाँ दश अश्वमेध किये तो यह दशाश्वमेध हो गया (५२।६६-६८)। मणिकर्णिका, जिसे मुक्तिक्षेत्र भी कहा जाता है, बनारस के धार्मिक जीवन का केन्द्र है और बनारस के सभी तीर्थों में सर्वोच्च माना जाता है। काशीखण्ड में एक विचित्र गाथा है (२६।५१-६३ एवं त्रिस्थली०, पृ० १४५-१४६) — विष्णु ने अपने चक्र से एक पुष्करिणी खोदी, उसे अपने स्वेद (पसीने) से भर दिया और १०५० (या ५००००) वर्षों

१३. काशी में कई सूर्य-तीर्थ हैं, जिनमें लोलार्क भी एक है (काशीखण्ड, १०।८३), अन्य १२ अर्क हैं उत्तरार्क, साम्बादित्य आदि (४६।४५-४६)।

१४. तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने। दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः ।। पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका। एभिस्तु तीर्थवर्यैश्च वर्ण्यते ह्यविमुक्तकम् ।। मत्स्य० (१८५।६८-६९)।

तक इसके तट पर तप किया। शिव यहाँ आ ि और उन्होंने प्रसन्न होकर अपना सिर हिलाया जिसके फलस्वरूप मणियों (रत्नों) से जड़ा हुआ उनका कर्णाभूषण पुष्करिणी में गिर पड़ा और इसी से इसका नाम मणिकर्णिका पड़ा। काशी-खण्ड (२६।६६) में यह नाम एक अन्य प्रकार से भी समझाया गया है; शिव, जो कांक्षापूर्ति करने वाली मणि के समान हैं, अच्छे लोगों के मरते समय उनके कर्ण में यहाँ तारक मन्त्र कहते हैं। उत्तर से दक्षिण १०५ हाथ (१६० फुट) यह विस्तृत है (९९।५४)। आजकल मणिकर्णिका का जल गंदा हो गया है और महँकता है, क्योंकि यह छिछला हो गया है (केवल दो या तीन फुट गहरा), क्योंकि यहाँ सैकड़ों यात्री पुष्प फेंकते हैं और पैसे डालते हैं जिन्हें खोजने के लिए पुरोहित लोग हाथों एवं पैरों से टटोलते हैं। हम को पूजा का ढंग बदलना चाहिए। पुष्प एवं पैसे किनारे पर रखे जाने चाहिए। मणिकर्णिका का ध्यान करने के लिए त्रिस्थलीसेतु (पृ० १५७) ने कई मन्त्र लिखे हैं। मणिकर्णिका के पास तारकेश्वर का मन्दिर है जिनका यह नाम इसलिए पड़ा है कि यहाँ मरते समय व्यक्ति के कान में शिव तारक मन्त्र कहते हैं (काशीखण्ड, ७।७८, २५।७२-७३ एवं ३२।११५-११६)। पंचगंगा घाट का नाम इसलिए विख्यात हुआ कि यहाँ पाँच नदियों के मिलने की कल्पना की गयी है यथा किरणा, धूतपापा, गंगा, यमुना एवं सरस्वती, जिनमें चार गुप्त हैं। इसकी बड़ी महत्ता गायी गयी है। नारदीय पुराण एवं काशी० (५९।११८-११३) में ऐसा कहा गया है कि जब व्यक्ति पंचगंगा में स्नान करता है तो पंचतत्त्वों से रचित शरीर में पुनः जन्म नहीं लेता। उक्त पाँच नदियों का यह संगम विभिन्न नामों वाला है, यथा—धर्मनद, धूतपातक, बिन्दुतीर्थ एवं पंचनद जो क्रम से कृत (सत्य), त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में प्रसिद्ध हैं। काशी० (अध्याय ५९) में पंचगंगा के संगम के विषय में चित्र-विचित्र किंवदन्तियाँ की हुई हैं (५९।१०८-११३ एवं ५९।१०१।१०६)। वरणा नदी वाराणसी की उत्तरी सीमा है और उत्तर के घाट वरणा एवं गंगा के संगम तक पहुँचते हैं। ताम्रपत्रों एवं शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि वहाँ घाट लगभग एक सहस्र वर्षों से रहे हैं। कनोज के गहडवार राजा लोग (जिनके समय के कम-से-कम ५५ ताम्रपत्र एवं ३ शिलालेख सन् १०९७ से ११८७ ई० तक तक्षित प्राप्त हुए हैं) विष्णु के भक्त थे, और उन्होंने आदि-केशव घाट पर कतिपय दानपत्र दिये। देखिए जे० आर० ए० एस० (१८९६, पृ० ७८७, जहाँ वर्णित है कि महाराज्ञी पृथ्वीश्रीका ने सूर्यग्रहण के समय स्नान किया था और मदनपाल ने दान दिया था), इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १९, पृ० २४९, जहाँ संवत् ११८८, अर्थात् सन् ११३१ ई० में गोविन्दचन्द्र के दान का उल्लेख है, एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द १४, पृ० १९७, जहाँ इसका वर्णन है कि चन्द्रादित्यदेव ने आदिकेशव घाट पर गंगा-वरणा के संगम घाट पर स्नान करके संवत् ११५६ की अक्षय-तृतीया को ३० गाँव ५०० ब्राह्मणों को दिये। इन राजाओं ने अन्य पवित्र स्थलों एवं घाटों पर भी दान दिये। उदाहरणार्थ एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द ४, पृ० ९७ एवं ८।१४१)। काशी० (१२।५९) में आया है कि जो पवित्र नदियों पर पत्थर के घट्ट (घाट) बनवाते हैं वे वरुणलोक को जाते हैं (घट्टान् पुण्यतटिन्यादेर्बन्धयन्ति शिलादिभिः। तोयार्थिसुखसिद्ध्यर्थं ये नरास्तेत्र भोगिनः॥)।

पञ्चक्रोशी की यात्रा अत्यन्त पुण्यकर्मों में परिगणित है। अपने कृत्यकल्पतरु ग्रन्थ के तीर्थ-प्रकरण में लक्ष्मीधर ने इसका उल्लेख नहीं किया है। पञ्चक्रोशी का विस्तार लगभग ५० मील है और इस पर सैकड़ों तीर्थ हैं। सम्पूर्ण मार्ग के लिए मणिकर्णिका को केन्द्र माना जाय तो यह मार्ग पाँच कोसों के व्यास से वाराणसी के चारों ओर टेढ़ा-मेढ़ा अर्धवृत्त बनाता है और इसी से इसे पञ्चक्रोशी कहा जाता है। काशीखण्ड (२६।८० एवं ११४ तथा ५५।-४४) में 'पञ्चक्रोशी' नाम आया है। संक्षेप में यह यात्रा यों है—यात्री मणिकर्णिका से प्रस्थान करता है, गंगा के तट से होता हुआ असि एवं गंगा के संगम पर पहुँचता है और मणिकर्णिका से लगभग ६ मील की दूरी पर जाकर खाण्डव नामक गाँव में एक दिन के लिए रुकता है। दूसरे दिन की यात्रा धूपचण्डी नामक ग्राम (लगभग ८ या १० मील) तक होती है, जहाँ उस नाम की देवी की पूजा होती है। तीसरे दिन यात्री १४ मील चलकर रामेश्वर ग्राम में पहुँचता है।

चौथे दिन यात्री ८ मील चलकर शिवपुर पहुँचता है। पाँचवें दिन ६ मील चलकर वह कपिलधारा पहुँचता है और वहाँ पितरों का श्राद्ध करता है। छठे दिन वह कपिलधारा से वरणासंगम पहुँचकर उसके आगे ६ मील मणिकर्णिका पहुँचता है। कपिलधारा से मणिकर्णिका जाते समय यात्री यव (जौ) छींटता जाता है। तब यात्री स्नान करता है, पुरोहित को दक्षिणा देता है और साक्षी-विनायक के मन्दिर में जाता है। ऐसी कल्पना की गयी है कि साक्षी-विनायक पञ्चक्रोशी-यात्रा के साक्षी होते हैं।

वाराणसी में बहुत-से उपतीर्थ हैं, जिनमें कुछ का वर्णन संक्षेप में किया जा सकता है। ज्ञानवापी की गाथा काशी-खण्ड (अ० ३३) में आयी है। त्रिस्थलीसेतु (पृ० १४८-१५०) ने इसकी ओर संकेत किया है। ऐसा कहा गया है कि जब शिव (ईशान) ने विश्वेश्वरलिंग को देखा तो उन्हें इसको शीतल जल से स्नान कराने की इच्छा हुई। उन्होंने विश्वेश्वर के मन्दिर के दक्षिण में अपने त्रिशूल से एक कुण्ड खोद डाला तथा उसके जल से विश्वेश्वरलिंग को स्नान कराया। तब विश्वेश्वर ने वरदान दिया कि यह तीर्थ सर्वोत्तम होगा; क्योंकि 'शिव' ज्ञान है (श्लोक ३२) अतः तीर्थ ज्ञानोद या ज्ञानवापी होगा। एक अन्य महत्वपूर्ण तीर्थ है दुर्गा-मन्दिर। काशी० (७२।३७-६५) में दुर्गास्तोत्र है जिसे वज्र-पञ्जर कहा जाता है (त्रिस्थली०, पृ० १६१)। विश्वेश्वर के मन्दिर से एक मील की दूरी पर भैरवनाथ का मन्दिर है। भैरवनाथ काशी के कोतवाल हैं और बड़ी मोटी पत्थर की लाठी (दण्ड) रखते हैं। इनका वाहन कुत्ता है (काशी०, अध्याय ३०)। गणेश के बहुत-से मन्दिर हैं। त्रिस्थलीसेतु (पृ० १९८-१९९) ने काशी० (५७।५९-११५, षट्-पंचाशद् गजमुखानेतान्यः संस्मरिष्यति) के आधार पर ५६ गणेशों के नाम दिये हैं और उनके स्थानों का उल्लेख किया है। काशी० (५७।३३) में 'ढुण्ढि' नाम गणेश का है और इसे 'ढुण्ढि' अर्थात् अन्वेषण के अर्थ में लिया गया है (अन्वेषणे ढुण्ढिरयं प्रथितोस्ति धातुः)।

त्रिस्थलीसेतु (पृ० ९८-१००) ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या काशी में प्रवेश करने से गत जीवनों के भी पाप नष्ट हो जाते हैं या केवल वर्तमान जीवन के ही। कुछ लोगों का मत है कि काशी-यात्रा से इस जीवन के ही पाप मिटते हैं, किन्तु अन्य पवित्र स्थलों में स्नान करने से पूर्व जीवनों के पाप भी कट जाते हैं। अन्य लोगों का मत यह है कि काशी-प्रवेश से सभी पूर्व जीवनों के पाप मिट जाते हैं। किन्तु अन्य स्थलों के स्नान से विभिन्न जीवनों में पाप कर्म करने की भावना मिट जाती है। नारायण भट्ट ने कई मतों की चर्चा की है और अन्त में यही कहा है कि शिष्टों को वही मत मानना चाहिए जो उचित लगे।

काशी के निवास-आचरण के विषय में बहुत-से पुराणों ने नियम बतलाये हैं। ऐसा कहा गया है कि काशी में रहते हुए हलका पाप भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि दण्ड उससे कहीं अधिक मिलता है। मत्स्य० (१८५।१७-४५) एवं काशी० (अध्याय ९७) में ऐसी कथा आयी है कि व्यास को जब काशी में भिक्षा नहीं मिली तो वे भूख से कुपित हो उठे और काशी को शाप देने को उद्यत हो गये। शिव ने उनके मन की बात समझकर गृहस्थ का रूप धरकर सर्वोत्तम भोजन दिया और व्यास को आज्ञा दी कि वे काशी में न आयें, क्योंकि वे क्रोधी व्यक्ति हैं। किन्तु उन्हें अष्टमी एवं चतुर्दशी को प्रवेश करने की आज्ञा दे दी। काशी० (९६।१२-८० एवं ११९-१८०) ने काशी-निवास के आचरण के विषय में विस्तार से लिखा है।

काशी के विषय में कुछ अन्य बातें भी दी जा रही हैं। काशी एक बड़ा तीर्थ है, अतः यहाँ पितृश्राद्ध करना चाहिए, किन्तु यदि श्राद्ध कर्म विशद रूप से न किया जा सके तो पिण्डदान कर देना चाहिए (त्रिस्थली०, पृ० १२९)। जो लोग यहाँ तप करते हैं उनके लिए मठों के निर्माण एवं उनके भरण-पोषण की प्रशस्ति गायी गयी है (त्रिस्थलीसेतु, पृ० १३३)।

१२वीं शताब्दी की काशी में गंगा के तट पर कपालमोचन घाट भी था। सन् ११२० ई० में सम्राट गोविन्द-

चन्द्र ने बनारस में कपालमोचन घाट पर (जहाँ गंगा उत्तर की ओर वहती हैं) स्नान करके व्यास नामक ब्राह्मण को एक ग्राम दान के रूप में दिया था। इस घाट के विपय में मत्स्य० (१८३।८४-१०३) एवं काशीखण्ड (३३।११६) में गाथा आयी है।

यह ज्ञातव्य है कि लिंग० (पूर्वार्ध, ९२।६७-१००), पद्म० (आदि. अध्याय ३४-३७), कूर्म० (१।३२। १-१२ एवं १।३५।१-१५, तीर्थ) एवं काशी० (१०।८६-९७, अध्याय ३३, ५३।२७ एवं अध्याय ५५, ५८ तथा ६१) में काशी के बहुत-से लिंगों एवं तीर्थों का उल्लेख हुआ है। काशी० (७३।३२-३६) में निम्न १४ नाम हैं, जो महा-लिंग के नाम से प्रसिद्ध थे—ओंकार, त्रिलोचन, महादेव, कृत्तिवास, रत्नेश्वर, चन्द्रेश्वर, केदार, धर्मेश्वर, वीरेश्वर, कामेश्वर, विश्वकर्मेश्वर, मणिकर्णीश, अविमुक्त एवं विश्वेश्वर। काशी० (७३।३९) में ऐसा आया है कि इन महालिंगों की यात्रा मास की प्रतिपदा से आरम्भ की जानी चाहिए। काशी० (७३।४५-४८) में पुनः १४ लिंगों के नाम आये हैं जो विभिन्न हैं। काशी० (७३।६०-६२) में १४ आयतनों का वर्णन आया है। इनमें १२ को लिंग० (१।९२।६७-१०७) ने लिंगों के रूप में परिगणित किया है। काशी० (अध्याय ८३ एवं ८४) ने काशी के १२५ तीर्थों का उल्लेख किया है। इसके अध्याय ९४ (श्लोक ३६) में ३६ मौलिक लिंगों (१४ ओंकारादि, ८ देवेश्वरादि एवं १४ शैलेशादि) की ओर संकेत हुआ है। किन्तु इनमें विश्वेश्वर तुरत फल देनेवाले कहे गये हैं।

ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि काशी में रहते हुए प्रति दिन गंगा की ओर जाना चाहिए, मणिकर्णिका में स्नान करना चाहिए और विश्वेश्वर का दर्शन करना चाहिए।

जब कोई काशी के बाहर पाप करके काशी आता है और यहाँ मर जाता है या कोई काशीवासी काशी में पाप करता है और यहीं या अन्यत्र मर जाता है तो क्या होता है? त्रिस्थलीसेतु (पृ० २६८) ने काशीखण्ड (७५।२२), पद्म० एवं ब्रह्मवैवर्त से उद्धरण देकर निम्न निष्कर्ष निकाले हैं। जो काशी में रहकर पापकर्मी होते हैं, वे ४० सहस्र वर्षों तक पिशाच रहते हैं, पुनः काशी में रहते हुए परम ज्ञान प्राप्त करते हैं और तब मोक्ष पाते हैं। जो काशी में रहकर पाप करते हैं, वे यम की यातनाएँ नहीं सहते, चाहे वे काशी में मरें या अन्यत्र। जो काशी में पाप कर यहीं मर जाते हैं वे कालभैरव द्वारा दण्डित होते हैं। जो काशी में पाप करके अन्यत्र मरते हैं वे यम नामक शिव के गणों द्वारा पीड़ित होते हैं, उसके उपरान्त ३० सहस्र वर्षों तक कालभैरव द्वारा पीड़ित होते हैं, पुनः मनुष्य रूप में जन्म लेते हैं तब काशी में मरते हैं और अन्त में संसार से मुक्ति पाते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि काशीखण्ड (५८।७१-७२) के मत से काशी से कुछ दूर उत्तर विष्णु ने धर्मक्षेत्र नामक स्थान में अपना निवास बनाया और वहाँ सौगत (बुद्ध) का अवतार लिया। यह सारनाथ नामक स्थान की ओर संकेत है जो काशी से पाँच मील की दूरी पर है और जहाँ बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश किया था। सामान्य नियम यह है कि संन्यासी लोग ८ मासों तक इधर-उधर घूमते हैं और वर्षा के चार या दो मास एक स्थान पर व्यतीत कर सकते हैं, किन्तु जब वे काशी में प्रवेश करते हैं तो यह नियम टूट जाता है। यह भी कहा गया है कि उन्हें काशी का सर्वथा त्याग नहीं करना चाहिए (मत्स्य० १८४।३२-३४; कल्पतरु, तीर्थ, पृ० २४)।

काशी के नाम के साथ विद्या की महान् परम्पराएँ लगी हुई हैं, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ के क्षेत्र के बाहर है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि बनारस एवं कश्मीर अलबरूनी के काल में हिन्दू विज्ञानों की उत्तम पाठशालाओं के लिए प्रसिद्ध थे (जिल्द १, पृ० १७३)। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० १५८) में आया है कि बनारस पुरातन काल से हिन्दुस्तान में विद्या का प्रथम पीठ रहा है। काशीखण्ड (९६।१२१) में आया है कि यह विद्या का सदन है (विद्यानां सदनं काशी)। बनारस के ज्ञानसंपन्न कुलों की जानकारी के लिए देखिए डा० अलतेकर की हिस्ट्री आव बनारस (पृ० २३-२४) एवं इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ४१, पृ० ७-१३ एवं २४५-२५३)।

अध्याय १४

गया

आधुनिक काल में भी सभी धार्मिक हिन्दुओं की दृष्टि में गया का विलक्षण महत्त्व है। इसके इतिहास, प्राचीनता, पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों, इसके चतुर्दिक् के पवित्र स्थलों, इसमें किये जानेवाले श्राद्ध-कर्मों तथा गयावालों के विषय में सैकड़ों पृष्ठ लिखे जा चुके हैं। यहाँ हम इन सभी बातों पर प्रकाश नहीं डाल सकते। लगभग सौ वर्षों के भीतर बहुत-सी बातें लिखी गयी हैं और कई मतों का उद्घोष किया गया है। जो लोग गया की प्राचीनता एवं इसके इतिहास की जानकारी करना चाहते हैं उन्हें निम्न ग्रन्थ एवं लेख पढ़ने चाहिए--डा० राजेन्द्रलाल मित्र का ग्रन्थ 'बुद्ध गया' (१८७८ ई०); जनरल कनिंघम का 'महाबोधि' (१८९२); ओ' मैली के गया गजेटियर के गया-श्राद्ध एवं गयावाल नामक अध्याय; पी० सी० राय चौधरी द्वारा सम्पादित गया गजेटियर का नवीन संस्करण (१९५७ ई०); इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १०, पृ० ३३९-३४०, जिसमें बुद्धगया के चीनी अभिलेख, सन् १०३३ ई० का तथा गया के अन्य अभिलेखों का, जिनमें बुद्ध-परिनिर्वाण के १८१३ वर्षों के उपरान्त का एक अभिलेख भी है जो विष्णुपद के पास 'दक्षिण मानस' कुण्ड के सूर्यमन्दिर में उत्कीर्ण है, वर्णन है); इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १६, पृ० ६३), जहाँ विश्वादित्य के पुत्र यक्षपाल के उस लेख का वर्णन है जिसमें पालराज नयपाल देव (मृत्यु, सन् १०४५ ई०) द्वारा निर्माण किये गये मन्दिर में प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं का उल्लेख है; डा० वेणीमाधव बरुआ का दो भागों में 'गया एवं बुद्धगया' ग्रन्थ; जे० बी० ओ० आर० एस० (जिल्द २४, १९३८ ई०, पृ० ८९-१११)। मध्य काल के निबन्धों के लिए देखिए कल्पतरु (तीर्थ, पृ० १६३-१७४), तीर्थ-चिन्तामणि (पृ० २६८-३२८), त्रिस्थली-सेतु (पृ० ३१६-३७९), तीर्थप्रकाश (पृ० ३८४-४५२), तीर्थेन्दुशेखर (पृ० ५४-५९) तथा त्रिस्थलीसेतु-सार-संग्रह (पृ० ३६-३८)।

गया के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है गया-माहात्म्य (वायुपुराण, अध्याय १०५-११२)। विद्वानों ने गया-माहात्म्य के अध्यायों की प्राचीनता पर सन्देह प्रकट किया है। राजेन्द्रलाल मित्र ने इसे तीसरी या चौथी शताब्दी में प्रणीत माना है। ओ' मैली ने गयासुर की गाथा का आविष्कार १४वीं या १५वीं शताब्दी का माना है, क्योंकि उनके मत से गयावाल वैष्णव हैं, जो मध्वाचार्य द्वारा स्थापित सम्प्रदाय के समर्थक हैं और हरि नरसिंहपुर के महन्त को अपना गुरु मानते हैं (जे० ए० एस्० बी०, १९०३)।[1] किन्तु यह मत असंगत है। वास्तव में गयावाल लोग आलसी, भोगासक्त एवं अज्ञानी हैं और उनकी जाति अब मरणोन्मुख है। ओ' मैली ने लिखा है कि प्रारम्भ में गयावालों के

१. मध्वाचार्य के जन्म-मरण की तिथियों के विषय में मतैक्य नहीं है। जन्म एवं मरण के विषय में 'उत्तरादि-मठ' ने क्रम से शक संवत् १०४० (सन् १११८ ई०) एवं ११२० (११९८ ई०) की तिथियाँ दी हैं। किन्तु इन तिथियों द्वारा मध्व के ग्रन्थ महाभारततात्पर्यनिर्णय की तिथि से मतभेद पड़ता है, क्योंकि वहाँ जन्मतिथि गतकलि ४३०० है। अन्नमलाई विश्वविद्यालय की पत्रिका (जिल्द ३, १९३४ ई०) के प्रकाशित लेख में ठीक तिथि सन् १२३८-१३१७ ई० है।

१४८४ कुल थे, बुचनन हैमिल्टन के काल में वे लगभग १००० थे, सन् १८९३ में उनकी संख्या १२८ रह गयी, १९०१ की जनगणना में शुद्ध गयावालों की संख्या १६८ और स्त्रियों की १५३ थी। गया वैष्णव तीर्थ है, यदि गयावाल मध्य काल के किसी आचार्य को अपना गुरु मानें तो वे आचार्य, स्वभावतः, वैष्णव आचार्य मध्व होंगे न कि शंकर। डा० बरुआ ने व्याख्या करके यह प्रतिष्ठापित किया है कि गया-माहात्म्य १३वीं या १४वीं शताब्दी के पूर्व का लिखा हुआ नहीं हो सकता। यहाँ हम सभी तर्कों पर प्रकाश नहीं डाल सकते। डा० बरुआ का निष्कर्ष दो कारणों से असंगत ठहर जाता है। वे सन्देहात्मक एवं अप्रामाणिक तर्क पर अपना मत आधारित करते हैं। वे वनपर्व में पाये जानेवाले वृत्तान्त की जाँच करते हैं और उसकी तुलना गयामाहात्म्य के अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण वृतान्त से करके निम्न निष्कर्ष निकालते हैं—'महाभारत में वर्णित गया प्रमुखतः धर्मराज यम, ब्रह्मा एवं शिव शूली का तीर्थस्थल है, और विष्णु एवं वैष्णववाद नाम या भावना के रूप में इससे सम्बन्धित नहीं हो सकते। ब्रह्मयूप, शिवलिंग एवं वृषभ के अतिरिक्त यहाँ किसी अन्य मूर्ति या मन्दिर के निर्माण की ओर संकेत नहीं मिलता।' इस निष्कर्ष के लिए हमें महाभारत एवं अन्य संस्कृत ग्रन्थों का अवगाहन करके गयामाहात्म्य से तुलना करनी होगी। दूसरी बात जो डा० बरुआ के मत की असंगति प्रकट करती है, यह है कि उन्होंने कीलहार्न द्वारा सम्पादित अभिलेख के १२वें श्लोक की व्याख्या भ्रामक रूप में की है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १६ में वह अभिलेख वर्णित है)।

अब हम 'गया' नाम एवं उसके या अन्य समान नामों के लिए अन्य संकेतों की, जो ऋग्वेद से आगे के ग्रन्थों में आये हैं, चर्चा करेंगे। ऋ० (१०।६३ एवं १०।६४) के दो सूक्तों के रचयिता थे प्लति के पुत्र गय। ऋ० (१०।६३।१७ एवं १०।६४।१७) में आया है 'अस्तावि जनो दिव्यो गयेन' (दैवी पुरोहित गय द्वारा प्रशंसित हुए)। स्पष्ट है, ये ऋग्वेद के एक ऋषि हैं। ऋग्वेद में 'गय' शब्द अन्य अर्थों में भी आया है जिनका यहाँ उल्लेख असंगत है। अथर्ववेद (१।१४।४) में असित एवं कश्यप के साथ गय नामक एक व्यक्ति जादूगर या ऐन्द्रजालिक के रूप में वर्णित है। वैदिक संहिताओं में असुरों, दासों एवं राक्षसों को जादू एवं इन्द्रजाल में पारंगत कहा गया है (ऋ० ७।९९।४, ७।१०४।२४-२५ एवं अथर्ववेद ४।२३।५)। ऐसी कल्पना कठिन नहीं है कि 'गय' आगे चलकर 'गयासुर' में परिवर्तित हो गया हो। निरुक्त (१२।१९) ने 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्' (ऋ० १।२२।१७) की व्याख्या करते हुए दो विश्लेषण दिये हैं, जिनमें एक प्राकृतिक रूप की ओर तथा दूसरा भौगोलिक या किंवदन्तीपूर्ण मतों की ओर संकेत करता है—'वह (विष्णु) अपने पदों को तीन ढंगों से रखता है।' शाकपूणि के मत से विष्णु अपने पद को पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग में रखते हैं, और्णवाभ के मत से समारोहण, विष्णुपद एवं गय-शीर्ष पर रखते हैं।[2] वैदिक उक्ति का तात्पर्य चाहे जो हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि ईसा की कई शताब्दियों पूर्व इसके दो विश्लेषण उपस्थित हो चुके थे, और यदि बुद्ध के निर्वाण की तिथियाँ ठीक मान ली जायँ तो यह कहना युक्तिसंगत है कि और्णवाभ एवं यास्क बुद्ध के पूर्व हुए थे। देखिए सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (जिल्द १३, पृ० २२-२३, जहाँ सिंहली गाथा के अनुसार बुद्ध की निर्वाणतिथि ई० पू० ४८३ मानी गयी है और पश्चिमी लेखकों के मत से ई० पू० ४२९-४००)।[3] गयशीर्ष का नाम वनपर्व (८७।

२. त्रेधा निधत्ते पदम्। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि—इति और्णवाभः। निरुक्त (१२।१९)।

३. अधिकांश संस्कृत-विद्वान् निरुक्त को कम-से-कम ई० पू० पाँचवीं शताब्दी का मानते हैं। और्णवाभ निरुक्त के पूर्वकालीन हैं। (विंटरनित्ज का हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, भाग १, पृ० ६९, अंग्रेजी संस्करण)। गयाशीर्ष के वास्तविक स्थल एवं विस्तार के विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। देखिए डा० राजेन्द्रलाल मित्र कृत 'बुद्ध-गया'

११ एवं ९५।९), विष्णुधर्मसूत्र (८५।४, यहाँ 'गयाशीर्ष' शब्द आया है), विष्णुपुराण (२२।२०, जहाँ इसे ब्रह्मा की पूर्व वेदी कहा गया है), महावग्ग (१।२१।१, जहाँ यह आया है कि उरवेला में रहकर बुद्ध सहस्रों भिक्षुओं के साथ गयासीस अर्थात् गयाशीर्ष में गये) में आया है। जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में ऐसा आया है कि राजा गय का राज्य गया के चारों ओर था। उत्तराध्ययनसूत्र में आया है कि वह राजगृह के राजा समुद्रविजय का पुत्र था और ग्यारहवाँ चक्रवर्ती हुआ। अश्वघोष के बुद्धचरित में आया है कि ऋषि गय के आश्रम में बुद्ध आये, उस सन्त (भविष्य के बुद्ध) ने नैरञ्जना नदी के पुनीत तट पर अपना निवास बनाया और पुनः वे गया के काश्यप के आश्रम में, जो उरुबिल्व कहलाता था, गये। इस ग्रन्थ में यह भी आया है कि वहाँ घ टवी थी, जहाँ वे ७०० जटिल रहते थे, जिन्हें बुद्ध ने निर्वाण-प्राप्ति में सहायता दी थी। विष्णुधर्मसूत्र (८५।४०) में श्राद्ध के लिए विष्णुपद पवित्र स्थल कहा गया है। ऐसा कहा जा सकता है कि और्णवाभ ने किसी क्षेत्र में किन्हीं ऐसे तीन स्थलों की ओर संकेत किया है जहाँ किंवदन्ती के आधार पर, विष्णुपद के चिह्न दिखाई पड़ते थे।[४] इनमें दो अर्थात् विष्णुपद एवं गयशीर्ष विख्यात हैं; अतः ऐसा कहना तर्कहीन नहीं हो सकता कि 'समारोहण' कोई स्थल है जो इन दोनों के कहीं पास में ही है। समारोहण का अर्थ है 'ऊपर चढ़ना', ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द फल्गु नदी से ऊपर उठने वाली पहाड़ी की चढ़ाई की ओर संकेत करता है। ऐसा सम्भव है कि यह गीतनादित (पक्षियों के स्वर से गुंजित) उद्यन्त पहाड़ी ही है। 'उद्यन्त' का अर्थ है 'सूर्योदय की पहाड़ी'; यह सम्पूर्ण आर्यावर्त का द्योतक है, ऐसा कहना आवश्यक नहीं है; यह उस स्थान का द्योतक है जहाँ विष्णुपद एवं गय-शीर्ष अवस्थित हैं। इससे ऐसा कहा जा सकता है कि ईसा के ६०० वर्ष पूर्व अर्थात् बुद्ध के पूर्व कम-से-कम (गया में) विष्णुपद एवं गय-शीर्ष के विषय में कोई परम्परा स्थिर हो चुकी थी। यदि किसी ग्रन्थ में इनमें से किसी एक का नाम उल्लिखित नहीं है तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं था और न उसका वह नाम था।

अब हम वनपर्व की बात पर आयें। डा० बरुआ इसके कुछ श्लोकों पर निर्भर रह रहे हैं (८४।८२-१०३ एवं ९५।९-२९)। हम कुछ बातों की चर्चा करके इन श्लोकों की व्याख्या उपस्थित करेंगे।

नारदीय० (उत्तर, ४६।१६) का कथन है कि गयशीर्ष क्रौंचपद से फल्गुतीर्थ तक विस्तृत है। वनपर्व (अध्याय ८२) ने भीष्म के तीर्थ-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर पुलस्त्य द्वारा दिलाया है। सर्वप्रथम पुष्कर (श्लोक २०-४०) का वर्णन आया है और तब बिना क्रम के जम्बूमार्ग, तन्दुलिकाश्रम, अगस्त्यसर, महाकाल, कोटितीर्थ, भद्रवट

(पृ० १९), डा० बरुआ (भाग १, पृ० २४६) एवं सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (जिल्द १३, पृ० १३४, जहाँ कनिंघम ने 'गयासीस' को ब्रह्मयोनि माना है)।

४. मेहरौली (देहली से ९ मील उत्तर) के लौह-स्तम्भ के लेख का अन्तिम श्लोक यों है—'तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना.... प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः' (गुप्ताभिलेख, सं० ३२, पृ० १४१)। यह स्तम्भाभिलेख किसी चन्द्र नामक राजा का है। इससे प्रकट होता है कि 'विष्णुपद' नामक कोई पर्वत था। किन्तु यह नहीं प्रकट होता कि इसके पास कोई 'गयशिरस्' नामक स्थल था। अतः 'विष्णुपद' एवं 'गयशिरस्' साथ-साथ गया की ओर संकेत करते हैं। अभिलेख में कोई तिथि नहीं है, किन्तु इसके अक्षरों से प्रकट होता है कि यह समुद्रगुप्त के काल के आस-पास का है। अतः विष्णुपद चौथी शताब्दी में देहली के पास के किसी पर्वत पर रहा होगा। उसी समय या उसके पूर्व यह विष्णुपद गया में नहीं रहा होगा, इसके विरुद्ध कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त, रामायण (२।६८।१९) में यह वर्णन आया है कि विपाशा नदी के दक्षिण में एक विष्णुपद था।

(स्थाणुतीर्थ), नर्मदा, प्रभास एवं अन्य तीर्थों का विवेचन हुआ है। अगले अध्याय ८३ में कुरुक्षेत्र का विस्तृत वर्णन है।

वनपर्व (८४।८२-१०३) के महत्त्वपूर्ण श्लोकों की व्याख्या के पूर्व गया के विषय में कहे जानेवाले श्लोकों में जो कुछ आया है उसका वर्णन अनिवार्य है। डा० बरुआ तथा अन्य लोगों ने अध्याय ८४ तथा आगे के अध्यायों के श्लोकों की व्याख्या सावधानी से नहीं की है। वनपर्व (८४।१'८१) में धौम्य द्वारा ५७ तीर्थों (यथा नैमिष, शाकम्भरी, गंगाद्वार, कनखल, गंगा-यमुना-संगम, कुब्जाम्रक आदि) के नाम गिनाकर गया के तीर्थों के विषय में विवेचन उपस्थित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रस्तुतलेखक को अन्य तीर्थों के विषय में अधिक वर्णन करना अभीष्ट नहीं था, इसी से उसने कुछ तीर्थों का वर्णन आगे दो बार किया है। पद्मपुराण (आदि, ३८।२-१९) ने वनपर्व को ज्यों-का-त्यों उतारा है, लगता है, एक-दूसरे ने दोनों को उद्धृत किया है। वनपर्व में नैमिष का वर्णन दो स्थानों पर (यथा ८४।५९-६४ एवं ८७।६-७) हुआ है और गया का भी (यथा ८५।८२-१०३ एवं ८७।८-१२) दो बार हुआ है। गया के तीर्थों के नाम जिस ढंग से लिये गये हैं और उनका वर्णन जिस ढंग से किया गया है उससे यह नहीं कहा जा सकता कि वनपर्व गया और उससे सम्बन्धित किंवदन्तियों के विषय में विशद वर्णन करना चाहता था। यह निष्कर्ष इस बात से और शक्तिशाली हो उठता है कि अनुशासनपर्व में तीन तीर्थों का जो उल्लेख हुआ है वह वनपर्व (८४।८२-१०३) में नहीं पाया जाता, यथा—ब्रह्महत्या करने वाला व्यक्ति गया में **अश्मप्रस्थ** (प्रेतशिला), **निरविन्द** की पहाड़ी एवं **क्रौंचपदी** पर विशुद्ध हो जाता है (अनुशासन० २५।४२)। ये तीनों तीर्थ वनपर्व में नहीं आते। वायु० (१०९।१५) में अरविन्दक को शिलापर्वत का शिखर कहा गया है, और नारदीय० ने क्रौंचपद (मुण्ड-पृष्ठ) की चर्चा की है। स्पष्ट है कि गयामाहात्म्य में उल्लिखित इन तीन तीर्थों का नाम अनुशासनपर्व में भी आया है।

यह चिन्ता की बात है कि डा० बरुआ ने गया की प्राचीनता के विषय में केवल वनपर्व (अध्याय ८४ एवं ९५), अग्निपुराण (अध्याय ११४-११६) एवं वायुपुराण (अध्याय १०५-१११) का ही सहारा लिया, उन्होंने अन्य पुराणों को नहीं देखा और उन्होंने यह भी नहीं देखा कि औणंवाभ द्वारा व्याख्यात विष्णु के तीन पद संभवतः गया के तीर्थों की ओर संकेत करते हैं। पद्म० (आदि, ३८।२-२१), गरुड़ (१, अध्याय ८२-८६), नारदीय० (उत्तर, अध्याय ४४-४७) आदि में गया के विषय में बहुत-कुछ कहा गया है और उनके बहुत से श्लोक एक-से हैं। महाभारत (वन० ८२।८१) का 'साविश्यास्तु पदं' पद्म० (आदि, ३८।१३) में 'सावित्रं पदं' आया है जिसका अर्थ विष्णु (सवितृ) का पद हो सकता है। तो ऐसा कहना कि वनपर्व में प्रतिमा-संकेत नहीं मिलता, डा० बरुआ के भ्रामक विवेचन का द्योतक है। गया में धर्म की प्रतिमा भी थी, क्योंकि वनपर्व में आया है कि यात्री धर्म का स्पर्श करते थे (धर्मं तत्राभिसंस्पृश्य)। इसके अतिरिक्त बछड़े के साथ 'गोपद' एवं 'सावित्र पद' की ओर भी संकेत मिलता है। इन उदाहरणों से सूचित होता है कि वनपर्व में प्रतिमा-पूजन की ओर संकेत विद्यमान हैं। फाहियान (३९९-४१३ ई०) ने लिखा है कि उसके समय में हिन्दू धर्म का नगर गया समाप्त प्राय था। यह सम्भव है कि चौथी शताब्दी के पूर्व भूकम्प के कारण गया नगर के मन्दिर आदि नष्ट-भ्रष्ट हो चुके होंगे। प्राचीन पालि ग्रन्थों एवं ललितविस्तर में गया के मन्दिरों का उल्लेख है। गया कई अवस्थाओं से गुजरा है। ईसा की कई शताब्दियों पूर्व यह एक समृद्धिशाली नगर था। ईसा के उपरान्त चौथी शताब्दी में यह नष्ट प्राय था। किन्तु सातवीं शताब्दी में ह्वेनसाँग ने इसे भरा-पूरा लिखा है जहाँ ब्राह्मणों के १००० कुल थे। आगे चलकर जब बौद्ध धर्म की अवनति हो गयी तो इसके अन्तर्गत बौद्ध अवशेषों की भी परिगणना होने लगी। वायुपुराण में वर्णन आया है कि गया प्रेतशिला से महाबोधि वृक्ष तक विस्तृत है (लगभग १३ मील)।

डॉ० बरुआ ने डॉ० कीलहार्न द्वारा सम्पादित शिलालेख के १२वें श्लोक का अर्थ ठीक से नहीं किया है (इण्डि-

यन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १६, पृ० ६३)। श्लोक का अनुवाद यों है'--'उस बुद्धिमान् (राजकुमार यक्षपाल) ने मौनादित्य एवं अन्य देवों (इसमें उल्लिखित) की प्रतिमाओं के लिए एक मन्दिर बनवाया, उसने उत्तर मानससर बनवाया और अक्षय (वट) के पास एक सत्र (भोजन-व्यवस्था के दान) की योजना की।' नयपाल के राज्यकाल का यह शिलालेख लगभग १०४० ई० में उत्कीर्ण हुआ। डा० बरुआ का कथन है कि उत्तरमानस तालाब उसी समय खोदा गया, और वह १०४० ई० से प्राचीन नहीं हो सकता, अतः यह तथा अन्य तीर्थ पश्चात्कालीन हैं तथा गयामाहात्म्य, जिसमें उत्तर मानस की चर्चा है, ११वीं शताब्दी के पश्चात् लिखित हुआ है। किन्तु डा० बरुआ का यह निष्कर्ष अति दोषपूर्ण है। यदि तालाब शिलालेख के समय **पहली बार** खोदा गया था तो इसे **ख्यात** (प्रसिद्ध) कहना असम्भव है। खोदे जाने की कई शताब्दियों के उपरान्त ही तालाब प्रसिद्ध हो सकता है। उत्तरमानस तालाब वायु० (७७।१०८, और यह श्लोक कल्पतरु द्वारा १११० ई० में उद्धृत किया गया है), पुनः वायु० (८२।२१) एवं अग्नि० (११५।१०) में वर्णित है। इससे स्पष्ट है कि उत्तर मानस ८वीं या ९वीं शताब्दी में प्रख्यात था। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह तालाब मिट्टी से भर गया था अतः यह पुनः सन् १०४० के लगभग खोदा गया या लम्बा-चौड़ा बनाया गया। इसका कोई अन्य तात्पर्य नहीं है।

ऐसा कहा जा सकता है कि गयामाहात्म्य (वायु०, अध्याय १०५-११२) जो सम्भवतः वायुपुराण के बाद का है, १३वीं या १४वीं शताब्दी का नहीं है अर्थात् कुछ पुराना है। कई पुराणों एवं ग्रन्थों से सामग्रियाँ इसमें संगृहीत की गयी हैं, यथा वनपर्व, अनुशासनपर्व, पद्म० (१।३८), नारदीय० (उत्तर, अध्याय ४४-४७) आदि। इसके बहुत-से श्लोक बार-बार दुहराये गये हैं। डा० बरुआ ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया है कि वायु० (८२।२०-२४) में गया के बहुत-से उपतीर्थों का उल्लेख हुआ है। यथा--ब्रह्मकूप, प्रभास, प्रेतपर्वत, उत्तर मानस, उदीची, कनखल, दक्षिण मानस, धर्मारण्य, गदाधर, मतंग। अध्याय ७०।९७-१०८ में ये नाम आये हैं--गृध्रकूट, भरत का आश्रम, मतंगपद, मुण्डपृष्ठ एवं उत्तर मानस। गयामाहात्म्य के बहुत से श्लोक स्मृतिचन्द्रिका (लगभग ११५०-१२२५) द्वारा श्राद्ध एवं आशौच के विषय में उद्धृत हैं। बहुत-सी बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गयामाहात्म्य ७वीं एवं १०वीं शताब्दी के बीच कभी प्रणीत हुआ होगा।

अब हमें यह देखना है कि महाभारत के अन्य भागों एवं स्मृतियों में गया का वर्णन किस प्रकार हुआ है। वनपर्व के अध्याय ८७ एवं ९५ में इसकी ओर संकेत है। ऐसा आया है कि पूर्व की ओर (काम्यक वन से, जहाँ पर पाण्डव लोग कुछ समय तक रहे थे) बढ़ते हुए यात्री नैमिष वन एवं गोमती के पास पहुँचेंगे। तब कहा गया है कि गया नामक पवित्र पर्वत है, ब्रह्मकूप नामक तालाब है। इसके उपरान्त वह प्रसिद्ध श्लोक है, जिसका अर्थ है कि 'व्यक्ति को बहुत-से पुत्रों की अभिलाषा करनी चाहिए और यदि उनमें एक भी गया जाता है या अश्वमेध करता है या नील वृष छोड़ता है तो पितर लोग तृप्त हो जाते हैं (वनपर्व ८७।१०-१२)।[6] इसके उपरान्त वनपर्व (अ० ८७) ने पवित्र

५. मौनादित्यसहस्रलिंगकमलार्धाङ्गीणनारायण,--द्विसोमेश्वरफल्गुनाथविजयादित्याह्वयानां कृती। स प्रासादमचीकरद् दिविषदां केदारदेवस्य च, ख्यातस्योत्तरमानसस्य खननं सत्रं तथा चाक्षये॥

६. एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोपि गयां व्रजेत्। यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥ महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप। यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः॥ यत्र दत्तं पितृभ्योन्नमक्षय्यं भवति प्रभो। सा च पुण्यजला तत्र फल्गुनामा महानदी॥ वनपर्व (८७।१०-१२); राजर्षिणा पुण्यकृता गयेनानुपमद्युते। नगो गयशिरो यत्र पुण्या चैव महानदी॥... ऋषियज्ञेन महता यत्राक्षयवटो महान्। अक्षये देवयजने अक्षयं यत्र वै फलम्॥ वनपर्व (९५।९-१४)।

नदी फल्गु (महानदी), गयशिरस्, अक्षयवट का उल्लेख किया है, जहाँ पितरों को दिया गया भोजन अक्षय हो जाता है। वनपर्व (अध्याय ९५) में ब्रह्मसर (जहाँ अगस्त्य धर्मराज अर्थात् यम के पास गये थे, श्लोक १२), और अक्षयवट (श्लोक १४) का उल्लेख है। इसमें आया है कि अमूर्तरय के पुत्र राजा गय ने एक यज्ञ किया था, जिसमें भोजन एवं दक्षिणा पर्याप्त रूप में दी गयी थी।[७] वसिष्ठधर्मसूत्र (११।४२) में आया है कि जब व्यक्ति गया जाता है और पितरों को भोजन देता है तो वे उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जिस प्रकार अच्छी वर्षा होने से कृषकगण प्रसन्न होते हैं, और ऐसे पुत्र से पितृगण, सचमुच, पुत्रवान् हो जाते हैं। विष्णुधर्मसूत्र (८५।६५-६७) ने श्राद्ध योग्य जिन ५५ तीर्थों के नाम दिये हैं, उनमें गया-सम्बन्धी तीर्थ हैं—गयाशीर्ष, अक्षयवट, फल्गु, उत्तर मानस, मतंग-वापी, विष्णुपद। याज्ञ० (१।२६१) में आया है कि गया में व्यक्ति जो कुछ दान करता है उससे अक्षय फल मिलता है। अत्रि-स्मृति (५५-५८) में पितरों के लिए गया जाना, फल्गु-स्नान करना, पितृतर्पण करना, गया में गदाधर (विष्णु) एवं गयाशीर्ष का दर्शन करना वर्णित है। शंख (१४।२७-२८) ने भी गयातीर्थ में किये गये श्राद्ध से उत्पन्न अक्षय फल का उल्लेख किया है।[८] लिखितस्मृति (१२-१३) ने गया की महत्ता के विषय में यह लिखा है—चाहे जिसके नाम से, चाहे अपने लिए या किसी के लिए गया-शीर्ष में पिण्डदान किया जाय तब व्यक्ति नरक में रहता हो तो स्वर्ग जाता है और स्वर्ग वाला मोक्ष पाता है। और देखिए अग्निपुराण (११५।४६-४७)। कूर्म० में आया है कि कई पुत्रों की अभिलाषा करनी चाहिए जिससे कि यदि उनमें कोई किसी कार्यवश गया जाय और श्राद्ध करे तो वह अपने पितरों की रक्षा करता है और स्वयं परमपद पाता है। कल्पतरु (तीर्थ, पृ० १६३) द्वारा उद्धृत मत्स्य० (२२।४-६) में आया है कि गया पितृतीर्थ है, सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है और वहाँ ब्रह्मा रहते हैं। मत्स्य० में 'एष्टव्या बहवः पुत्राः' नामक श्लोक आया है।

गयामाहात्म्य (वायुपुराण, अध्याय १०५-११२) में लगभग ५६० श्लोक हैं। यहाँ हम संक्षेप में उसका निष्कर्ष देंगे और कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकों को उद्धृत भी करेंगे। अध्याय १०५ में सामान्य बातें हैं और उसमें आगे के अध्यायों के मुख्य विषयों की ओर संकेत है। इसमें आया है कि श्वेतवाराहकल्प में गय ने यज्ञ किया और उसी के नाम पर गया का नामकरण हुआ।[९] पितर लोग पुत्रों की अभिलाषा रखते हैं, क्योंकि वह पुत्र जो गया जाता है वह पितरों को नरक जाने से बचाता है।[१०] गया में व्यक्ति को अपने पिता तथा अन्यों को पिण्ड देना चाहिए, वह अपने को भी बिना

और देखिए एष्टव्या....नामक श्लोक के लिए विष्णुधर्मसूत्र (८५। अन्तिम श्लोक), मत्स्य० (२२।६), वायु० (१०५।१०), कूर्म० (२।३५।१२), पद्म० (१।३८।१७ एवं ५।११।६२) तथा नारदीय० (उत्तर ४४।५-६)।

७. यह ज्ञातव्य है कि रामायण (१।३२।७) के अनुसार धर्मारण्य की संस्थापना ब्रह्मा के पौत्र, कुश के पुत्र असूर्तरय (या अमूर्तरय) द्वारा हुई थी।

८. यह कुछ आश्चर्यजनक है कि डॉ० बरुआ (गया एवं बुद्धगया, जिल्द १, पृ० ६६) ने शंख के श्लोक 'तीर्थे वामरकण्टके' में 'वामरकण्टक' तीर्थ पढ़ा है न कि 'वा' को पृथक् कर 'अमरकण्टक'!

९. वायु० (१०५।७-८) एवं अग्नि० (११४।४१)—'गयोपि चाकरोद्यागं बह्वन्नं बहुदक्षिणम्। गयापुरी तेन नाम्ना०, त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३४०-३४१) में यह पद्य उद्धृत है।

१०. यहीं पर "एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोपि गयां व्रजेत्।... उत्सृजेत्" (वायु० १०५।१०) नामक श्लोक आया है। त्रिस्थली० (पृ० ३१९) ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें योग्य पुत्र की परिभाषा दी हुई है—'जीवतो वाक्यकरणात्.... त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥'

तिल का पिण्ड दे सकता है। गया में श्राद्ध करने से सभी महापातक नष्ट हो जाते हैं। गया में पुत्र या किसी अन्य द्वारा नाम एवं गोत्र के साथ पिण्ड पाने से शाश्वत ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[११] मोक्ष चार प्रकार का होता है (अर्थात् मोक्ष की उत्पत्ति चार प्रकार से होती है)--ब्रह्मज्ञान से, गयाश्राद्ध मे, गाओं को भगाये जाने पर उन्हें बचाने में मरण से तथा कुरुक्षेत्र में निवास करने से, किन्तु गयाश्राद्ध का प्रकार सबसे श्रेष्ठ है।[१२] गया में श्राद्ध किसी समय भी किया जा सकता है। अधिक मास में भी, अपनी जन्म-तिथि पर भी, जब बृहस्पति एवं शुक्र न दिखाई पड़ें तब भी या जब बृहस्पति सिंह राशि में हों तब भी ब्रह्मा द्वारा प्रतिष्ठापित ब्राह्मणों को गया में सम्मान देना चाहिए। कुरुक्षेत्र, विशाला, विरजा एवं गया को छोड़कर सभी तीर्थों में मुण्डन एवं उपवास करना चाहिए।[१३] संन्यासी को गया में पिण्डदान नहीं करना चाहिए। उसे केवल अपने दण्ड का प्रदर्शन करना चाहिए और उसे विष्णुपद पर रखना चाहिए।[१४] सम्पूर्ण गया क्षेत्र पाँच कोसों में है। गयाशिर एक कोस में है और तीनों लोकों के सभी तीर्थ इन दोनों में केन्द्रित हैं।[१५] गया में पितृ-पिण्ड निम्न वस्तुओं से दिया जा सकता है; पायस (दूध में पकाया हुआ चावल), पका चावल, जौ का आटा, फल, कन्दमूल, तिल की खली, मिठाई, घृत या दही या मधु से मिश्रित गुड़। गयाश्राद्ध में जो विधि है वह है पिण्डासन बनाना, पिण्डदान करना, कुश पर पुनः जल छिड़कना, (ब्राह्मणों को) दक्षिणा देना एवं भोजन देने की घोषणा या संकल्प करना; किन्तु पितरों का आवाहन नहीं होता, दिग्बन्ध (आँखों से कृत्य छिपाना) नहीं होता और न (अयोग्य व्यक्तियों एवं पशुओं से) देखे जाने पर दोष ही लगता है।[१६] जो लोग (गया जैसे) तीर्थ पर किये गये श्राद्ध से उत्पन्न पूर्ण फल भोगना चाहते हैं उन्हें विषयाभिलाषा, क्रोध, लोभ छोड़ देना चाहिए, ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, केवल एक बार खाना चाहिए, पृथिवी पर सोना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, शुद्ध रहना चाहिए और सभी जीवों के कल्याण के लिए तत्पर रहना चाहिए। प्रसिद्ध नदी वैतरणी गया में आयी है, जो व्यक्ति इसमें स्नान करता है और गोदान करता है वह अपने

११. आत्मजो वान्यजो वापि गयाभूमौ यदा यदा। यन्नाम्ना पातयत्पिण्डं तन्नयेद् ब्रह्म शाश्वतम्॥ नामगोत्रे समुच्चार्य पिण्डपातनमिष्यते। (वायु० १०५।१४-१५); आधा पाद 'यन्नाम्ना... शाश्वतम्' अग्नि० (११६।२९) में भी आया है।

१२. ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोग्रहे मरणं तथा। वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेषा चतुर्विधा॥ ब्रह्मज्ञानेन किं कार्यं ... यदि पुत्रो गयां व्रजेत्॥ गयायां सर्वकालेषु पिण्डं दद्याद्विचक्षणः। वायु० (१०५।१६-१८)। मिलाइए अग्नि० (११५।८) 'न कालादि गयातीर्थे दद्यात्पिण्डांश्च नित्यशः।' और देखिए नारदीय० (उत्तर, ४४।२०), अग्नि० (११५।३-४ एवं ५-६) एवं वामनपुराण (३३।८)।

१३. मुण्डनं चोपवासश्च ... विरजां गयाम्॥ वायु० (१०५।२५)।

१४. दण्डं प्रदर्शयेद् भिक्षुर्गयां गत्वा न पिण्डदः। दण्डं न्यस्य विष्णुपदे पितृभिः सह मुच्यते॥ वायु० (१०५।२६), नारदीय० (२।४५।३१) एवं तीर्थप्रकाश (पृ० ३९०)।

१५. पंचक्रोशं गयाक्षेत्रं क्रोशमेकं गयाशिरः। तन्मध्ये सर्वतीर्थानि त्रैलोक्ये यानि सन्ति वै॥ वायु० (१०५।२९-३० एवं १०६।६५३; त्रिस्थली०, पृ० ३३५; तीर्थप्र०, पृ० ३९१)। और देखिए अग्नि० (११५।४२) एवं नारदीय० (उत्तर, ४४।१६)। प्रसिद्ध तीर्थों के लिए पाँच कोसों का विस्तार मानना एक नियम-सा हो गया है।

१६. पिण्डासनं पिण्डदानं पुनः प्रत्यवनेजनम्। दक्षिणा चान्नसंकल्पस्तीर्थश्राद्धेष्वयं विधिः॥ नावाहनं न दिग्बन्धो न दोषो दृष्टिसम्भवः।... अन्यत्रावाहिताः काले पितरो यान्त्यमुं प्रति। तीर्थे सदा वसन्त्येते तस्मादावहनं न हि॥ वायु (१०५।३७-३९)। 'नावाहनं ... विधिः' फिर से दुहराया गया है (वायु० ११०।२८-२९)।

कुल की २१ पीढ़ियों की रक्षा करता है। अक्षयवट के नीचे जाना चाहिए और वहाँ (गया के) ब्राह्मणों को संतुष्ट करना चाहिए। गया में कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जो पवित्र न हो।[17]

१०६वें अध्याय में **गयासुर** की गाथा आयी है। गयासुर ने, जो १२५ योजन लम्बा एवं ६० योजन चौड़ा था, कोलाहल नामक पर्वत पर सहस्रों वर्षों तक तप किया। उसके तप से पीड़ित एवं चिन्तित देवगण रक्षा के लिए ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा उन्हें लेकर शिव के पास गये जिन्होंने विष्णु के पास जाने का प्रस्ताव किया। ब्रह्मा, शिव एवं देवों ने विष्णु की स्तुति की और उन्होंने प्रकट होकर कहा कि वे लोग अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर गयासुर के पास चलें। विष्णु ने उससे कठिन तप का कारण पूछा और कहा कि वह जो वरदान चाहे माँग ले। उसने वर माँगा कि वह देवों, ऋषियों, मन्त्रों, संन्यासियों आदि से अधिक पवित्र हो जाय। देवों ने 'तथास्तु' अर्थात् 'ऐसा ही हो' कहा और स्वर्ग चले गये। जो भी लोग गयासुर को देखते थे या उसके पवित्र शरीर का स्पर्श करते थे, वे स्वर्ग चले जाते थे। यम की राजधानी खाली पड़ गयी और वे ब्रह्मा के पास चले गये। ब्रह्मा उन्हें लेकर विष्णु के पास गये। विष्णु ने ब्रह्मा से उससे प्रार्थना करने को कहा कि वह यज्ञ के लिए अपने शरीर को दे दे। गयासुर सन्नद्ध हो गया और वह दक्षिण-पश्चिम होकर पृथिवी पर इस प्रकार गिर पड़ा कि उसका सिर कोलाहल पर्वत पर उत्तर की ओर और पैर दक्षिण की ओर हो गये। ब्रह्मा ने सामग्रियाँ एकत्र कीं और अपने मन से उत्पन्न ऋत्विजों (जिनमें ४० के नाम आये हैं) को भी बुलाया और गयासुर के शरीर पर यज्ञ किया। उसका शरीर स्थिर नहीं था, हिल रहा था, अतः ब्रह्मा ने यम से गयासुर के सिर पर अपने घर की शिला को रखने को कहा। यम ने वैसा ही किया। किन्तु तब भी गयासुर का शरीर शिला के साथ हिलता रहा। ब्रह्मा ने शिव एवं अन्य देवों को शिला पर स्थिर खड़े होने को कहा। उन्होंने वैसा किया, किन्तु तब भी शरीर हिलता-डोलता रहा। तब ब्रह्मा विष्णु के पास गये और उनसे शरीर एवं शिला को अडिग करने को कहा। इस पर विष्णु ने स्वयं अपनी मूर्ति दी जो शिला पर रखी गयी, किन्तु तब भी वह हिलती रही। विष्णु उस शिला पर जनार्दन, पुण्डरीक एवं आदि-गदाधर के तीन रूपों में बैठ गये, ब्रह्मा पाँच रूपों (प्रपितामह, पितामह, फल्वीश, केदार एवं कनकेश्वर) में बैठ गये, विनायक हाथी के रूप में और सूर्य तीन रूपों में, लक्ष्मी (सीता के रूप में), गौरी (मंगला के रूप में), गायत्री एवं सरस्वती भी बैठ गयीं। हरि ने प्रथम गदा द्वारा गयासुर को स्थिर कर दिया, अतः हरि को आदि गदाधर कहा गया। गयासुर ने पूछा—'मैं प्रवंचित क्यों किया गया हूँ? मैं ब्रह्मा के यज्ञ के लिए उन्हें अपना शरीर दे चुका हूँ। क्या मैं विष्णु के शब्द पर ही स्थिर नहीं हो सकता था (गदा से मुझे क्यों पीड़ा दी जा रही है)?' तब देवों ने उससे वरदान माँगने को कहा। उसने वर माँगा; 'जब तक पृथिवी, पर्वत, सूर्य, चन्द्र एवं तारे रहें, तब तक ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव एवं अन्य देव शिला पर रहें। यह तीर्थ मेरे नाम पर रहे, सभी तीर्थ गया के मध्य में केन्द्रित हों, जो पाँच कोसों तक विस्तृत है और सभी तीर्थ गयाशिर में भी रहें जो एक कोस विस्तृत है और सभी लोगों का कल्याण करें। सभी देव यहाँ व्यक्त रूपों (मूर्तियों) में एवं अव्यक्त रूपों (पदचिह्न आदि) में रहें। वे सभी, जिन्हें पिण्ड के साथ श्राद्ध दिया जाय, ब्रह्मलोक को जायँ और सभी महापातक (ब्रह्महत्या आदि) अचानक नष्ट हो जायँ।' देवों ने 'तथास्तु' कहा। इसके उपरान्त ब्रह्मा ने ऋत्विजों को पाँच कोसों वाला गया-नगर, ५५ गाँव, सुसज्जित घर, कल्पवृक्ष एवं कामधेनु, दुग्ध की एक नदी, सोने के कूप, पर्याप्त भोजन आदि सामान दिये, किन्तु ऐसी व्यवस्था कर दी कि वे किसी से कुछ माँगें नहीं। किन्तु लोभी ब्राह्मणों ने धर्मारण्य में धर्म के लिए यज्ञ किया और उसकी दक्षिणा माँगी। ब्रह्मा ने वहाँ आकर उन्हें शाप दिया और उनसे सब कुछ छीन लिया। जब ब्राह्मणों ने विलाप किया कि उनसे सब कुछ छीन लिया गया और अब

१७. **गयायां न हि तत्स्थानं यत्र तीर्थं न विद्यते। वायु० (१०५।४६, अग्नि० ११६।२८)।**

उन्हें जीविका के लिए कुछ चाहिए तब ब्रह्मा ने कहा कि वे गया-यात्रियों के दान पर जीएँगे और जो लोग उन्हें सम्मानित करेंगे वे मानो उन्हें (ब्रह्मा को) ही सम्मानित करेंगे।

१०७वें अध्याय में उस शिला की गाथा है जो गयासुर के सिर पर उसे स्थिर करने के लिए रखी गयी थी। धर्म की धर्मव्रता नामक कन्या थी। उसके गुणों के अनुरूप धर्म को कोई वर नहीं मिल रहा था, अतः उन्होंने उसे तप करने को कहा। धर्मव्रता ने सहस्रों वर्षों तक केवल वायु पीकर कठिन तप किया। मरीचि ने, जो ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, उसे देखा और अपनी पत्नी बनाने की इच्छा प्रकट की। धर्मव्रता ने इसके लिए उन्हें पिता धर्म से प्रार्थना करने को कहा। मरीचि ने वैसा ही किया और धर्म ने अपनी कन्या मरीचि को दे दी। मरीचि उसे लेकर अपने आश्रम में गये और उससे एक सौ पुत्र उत्पन्न किये। एक बार मरीचि श्रमित होकर सो गये और धर्मव्रता से पैर दबाने को कहा। जब वह पैर दबा रही थी तो उसके श्वशुर ब्रह्मा वहाँ आये। वह अपने पति का पैर दबाना छोड़कर उनके पिता की आवभगत में उठ पड़ी। इसी बीच में मरीचि उठ पड़े और अपनी पत्नी को वहाँ न देखकर उसे शिला बन जाने का शाप दे दिया। क्योंकि पैर दबाना छोड़कर उसने उनकी आज्ञा का उल्लंघन जो कर दिया था। वह निर्दोष थी अतः क्रोधित होकर शाप देना चाहा, किन्तु रुककर उसने कहा—'महादेव तुम्हें शाप देंगे।' उसने गार्हपत्य अग्नि में खड़े होकर तप किया और मरीचि ने भी वैसा ही किया। इन्द्र के साथ सदा की भाँति देवगण विचलित हो गये और वे विष्णु के पास गये। विष्णु ने धर्मव्रता से वर माँगने को कहा। उसने पति के शाप को मिटाने का वर माँगा। देवों ने कहा कि मरीचि ऐसे महान् ऋषि का शाप नहीं टूट सकता अतः वह कोई दूसरा वर माँगे। इस पर उसने कहा कि वह सभी नदियों, ऋषियों, देवों से अधिक पवित्र हो जाय, सभी तीर्थ उस शिला पर स्थिर हो जायँ, सभी व्यक्ति जो उस शिला के तीर्थों में स्नान करें या पिण्डदान एवं श्राद्ध करें, ब्रह्मलोक चले जायँ और गंगा के समान सभी पवित्र नदियाँ उसमें अवस्थित हों। देवों ने उसकी बात मान ली और कहा कि वह गयासुर के सिर पर स्थिर होगी और हम सभी उस पर खड़े होंगे।[१८]

१०८वें अध्याय में पाठान्तर-सम्बन्धी कई विभिन्नताएँ हैं। 'आनन्दाश्रम' के संस्करण में इसका विषय संक्षेप में यों है। शिला गयासुर के सिर पर रखी गयी और इस प्रकार दो अति पुनीत वस्तुओं का संयोग हुआ, जिस पर ब्रह्मा ने अश्वमेध किया और जब देव लोग यज्ञिय आहुतियों का अपना भाग लेने के लिए आये तो शिला ने विष्णु एवं अन्य लोगों से कहा—प्रण कीजिए कि आप लोग शिला पर अवस्थित रहेंगे और पितरों को मुक्ति देंगे। देव मान गये और आकृतियों एवं पदचिह्नों के रूप में शिला पर अवस्थित हो गये। शिला असुर के सिर के पृष्ठ भाग में रखी गयी थी अतः उस पर्वत को **मुण्डपृष्ठ** कहा गया, जिसने पितरों को ब्रह्मलोक दिया। इसके उपरान्त अध्याय में **प्रभास** नामक पर्वत का, प्रभास पर्वत एवं फल्गु के मिलन-स्थल के समीप **रामतीर्थ, भरत के आश्रम** का, यमराज एवं धर्मराज तथा श्याम एवं शबल नामक यम के कुत्तों को दी जाने वाली **बलि** का, शिला की वाम दिशा के पास अवस्थित **उद्यन्त** पर्वत का, **अगस्त्य कुण्ड** का तथा **गृध्रकूट** पर्वत, **च्यवन के आश्रम, पुनपुना नदी, क्रौञ्चपद** एवं भस्मकूट पर स्थित जनार्दन का वर्णन आया है।

गयासुर की गाथा से डा० मित्र एवं पश्चात्कालीन लेखकों के मन में दुविधाएँ उत्पन्न हो गयी हैं। डा० राजेन्द्रलाल मित्र ने गयासुर की गाथा को चित्र-विचित्र एवं मूर्खतापूर्ण माना है। उनका कहना है कि वह राक्षस या दुष्ट

१८. अग्नि० (११४।८-२२) में भी शिला की गाथा संक्षेप में कही गयी है। बहुत-से शब्द वे ही हैं जो वायुपुराण में पाये जाते हैं।

पिशाच नहीं है, प्रत्युत एक भक्त वैष्णव है (बोधगया, पृ० १५-१६)। गयासुर की गाथा विलक्षण नहीं है। पुराणों में ऐसी गाथाएँ हैं जो आधुनिक लोगों को व्यर्थ एवं कल्पित लगेंगी। प्रह्लाद, बाण (शिव का भक्त) एवं बलि (जो श्रेष्ठ राजा एवं विष्णु-भक्त था) ऐसे असुर थे, जो राक्षस या पिशाच के व्यवहार से दूर भक्त व्यक्ति थे, किन्तु उन्होंने देवों से युद्ध अवश्य किया था। उदाहरणार्थ, कूर्म० (१।१६।५९-६० एवं ९१-९२) में वर्णन आया है कि प्रह्लाद ने नृसिंह से युद्ध किया था; पद्म० (भूमिखण्ड, १।८) में आया है कि उसने सर्वप्रथम विष्णु से युद्ध किया और वैष्णवी तनु में प्रवेश किया (इस पुराण ने उसे महाभागवत कहा है); वामन० (अध्याय ७-८) ने उसके नर-नारायण के साथ हुए युद्ध का उल्लेख किया है। पालि ग्रन्थों (अंगुत्तरनिकाय, भाग ४, पृ० १९७-२०४) में वह पहाराद एवं असुरिन्द (असुरेन्द्र) कहा गया है। बलि के विषय में, जो प्रह्लाद का पौत्र था, अच्छा राजा एवं विष्णुभक्त था, देखिए ब्रह्मपुराण (अध्याय ७३), कूर्म० (१।१७), वामन० (अध्याय ७७ एवं ९२)। बलि के पुत्र बाण द्वारा शिव की सहायता से कृष्ण के साथ युद्ध किये जाने के लिए देखिए ब्रह्म० (अध्याय २०५-२०६) एवं विष्णुपुराण (५।३३।३७-३८)।

डा० राजेन्द्रलाल मित्र (बोधगया, पृ० १४-१८) का कथन है कि गयासुर की गाथा बौद्धधर्म के ऊपर ब्राह्मण-वाद की विजय का रूपक है। ओ' मैली (जे० ए० एस० बी०, १९०४ ई०, भाग ३, पृ० ७) के मत से गयासुर की गाथा ब्राह्मणवाद के पूर्व के उस समझौते की सूचक है जो ब्राह्मणवाद एवं भूतपिशाच-पूजावाद के बीच हुआ था। डा० बरुआ ने इन दोनों मतों का खण्डन किया है। उनका कथन है (भाग १, पृ० ४०-४१) कि इस गाथा का अन्तर्हित भाव यह है कि लोग फल्गु के पश्चिमी तट के पर्वतों को पवित्र समझें। उन्होंने मत प्रकाशित किया है कि बौद्धधर्म में गया की चर्चा नहीं होती, गय या नमुचि या वृत्र अन्धकार का राक्षस एवं इन्द्र का शत्रु कहा गया है और **त्रिविक्रम** नामक वैदिक शब्द की और्णवाभ कृत व्याख्या में गयासुर की गाथा का मूल पाया जाता है।[19] स्थानाभाव से हम इन सिद्धांतों की चर्चा नहीं करेंगे। ऐसा कहा जा सकता है कि ईसा की कई शताब्दियों पूर्व गया एक प्रसिद्ध पितृ-तीर्थ हो चुका था और गयासुर की गाथा केवल गया एवं उसके आस-पास के कालान्तर में उत्पन्न पवित्र स्थलों की पुनीतता को प्रकट करने का उत्तरकालीन प्रयास मात्र है।

१०९वें अध्याय में इसका वर्णन हुआ है कि किस प्रकार **आदि-गदाधर** व्यक्त एवं अव्यक्त रूप में प्रकट हुए। उनकी **गदा** कैसे उत्पन्न हुई और किस प्रकार **गदालोल** तीर्थ सभी पापों को नाश करने वाला हुआ। **गद** नामक एक शक्तिशाली असुर था, जिसने ब्रह्मा की प्रार्थना पर अपनी अस्थियाँ उन्हें दे दीं। ब्रह्मा की इच्छा से विश्वकर्मा ने उन अस्थियों से एक अलौकिक गदा बना दी। स्वायंभुव मनु के समय में ब्रह्मा के पुत्र हेति नामक असुर ने सहस्रों दैवी वर्षों तक कठिन तप किया। उसे ब्रह्मा एवं अन्य देवों द्वारा ऐसा वर प्राप्त हुआ कि वह देवों, दैत्यों मनुष्यों या कृष्ण के चक्र आदि शस्त्रों द्वारा मारा नहीं जा सकता। हेति ने देवों को जीत लिया और इन्द्र हो गया। हेति दैत्य की गाथा अग्नि० (११४।२६-२७) एवं नारदीय० (उत्तर, ४७।९-११) में भी आयी है। हरि को आदि गदाधर इसलिए कहा जाता है कि उन्होंने उस गदा को सर्वप्रथम धारण किया, गदा के सहारे गयासुर के सिर पर रखी हुई शिला पर खड़े हुए और गयासुर के सिर को स्थिर कर दिया।[20] वे अपने को मुण्डपृष्ठ, प्रभास एवं अन्य पर्वतों के रूप में प्रकट करते

१९. यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि डा० बरुआ को यह सूचना कहाँ से मिली कि गय वेद में वृत्र-जैसे राक्षस के समान है। ऋग्वेद में कम-से-कम वृत्र के समान गय कोई राक्षस नहीं है।

२०. वायुपुराण (१०५।६०) में आदि-गदाधर के नाम के विषय में कहा गया है—'आद्यया गदया भीतो यस्माद् दैत्यः स्थिरीकृतः। स्थित इत्येष हरिणा तस्मादादिगदाधरः॥' देखिए त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३३८)। ऐसी ही व्युत्पत्ति वायु० (१०९।१३) में पुनः आयी है।

हैं। ये पर्वत एवं अक्षयवट, फल्गु एवं अन्य नदियाँ आदि-गदाधर के अव्यक्त रूप हैं। विष्णुपद, रुद्रपद, ब्रह्मपद एवं अन्य पद गदाधर के अव्यक्त एवं व्यक्त रूप हैं।[21] गदाधर की मूर्ति विशुद्ध व्यक्त रूप है। असुर हेति विष्णु द्वारा मारा गया और विष्णुलोक चला गया। जब गयासुर का शरीर स्थिर हो गया तो ब्रह्मा ने विष्णु की स्तुति की और विष्णु ने उनसे वर माँगने को कहा। ब्रह्मा ने कहा--'हम (देवगण) लोग आपके बिना शिला में नहीं रहेंगे, यदि आप व्यक्त रूप में रहें तो हम उसमें आप के साथ रहेंगे।' विष्णु ने 'तथास्तु' कहा और वे गयाशिर में आदि-गदाधर के रूप में और जनार्दन एवं पुण्डरीकाक्ष के रूप में खड़े हो गये। शिव ने भी विष्णु की स्तुति की (वायु० १०९।४३-५०)। वायु० (१०९।२० एवं ४३-४५) ने कई स्थानों पर देवता के व्यक्ताव्यक्त प्रतीकों का उल्लेख किया है। इसका तात्पर्य यह

२१. हम यहाँ पर प्रमुख नदियों, पर्वतों एवं पदों का उल्लेख करते हैं। जब तक विशिष्ट निर्देश न किया जाय तब तक यहाँ पर कोष्ठ में दिये गये अध्यायों एवं श्लोकों को वायुपुराण का समझना चाहिए। पुनीत नदियाँ ये हैं--फल्गु (जिसे महानदी भी कहा गया है, अग्नि० ११५।२५), घृतकुल्या, मधुकुल्या (ये दोनों वायु० १०९।१७ में हैं), मधुस्रवा (१०६।७५), अग्निधारा (उद्यन्त पर्वत से, १०८।५९), कपिला (१०८।५८), वैतरणी (१०५।४४ एवं १०९।१७), देविका (११२।३०), आकाशगंगा (अग्नि० ११६।५)। इनमें कुछ केवल नाले या धाराएँ मात्र हैं। पुनीत पर्वत एवं शिखर ये हैं--गयाशिर (१०९।३६, अग्नि० ११५।२६ एवं ४४), मुण्डपृष्ठ (१०८।१२, १०९।१४), प्रभास (१०८।१३ एवं १६, १०९।१४), उद्यन्त (वनपर्व ८४।९३, वायु० १०८।५९, १०९।१५), भस्मकूट (१०९।१५), अरविन्दक (१०९।१५), नागकूट (१११।२२, अग्नि० ११५।२५), गृध्रकूट (१०९।१५), प्रेतकूट (१०९।१५), आदिपाल (१०९।१५), क्रौञ्चपाद (१०९।१६), रामशिला, प्रेतशिला (११०।१५, १०८।६७), नग (१०८।२८), ब्रह्मयोनि (नारदीय० २।४७।५४)। प्रमुख स्नान-स्थल ये हैं--फल्गुतीर्थ, (१११।१३, अग्नि० ११५।२५-२६ एवं ४४), रामतीर्थ (१०८।१६।१८), शिलातीर्थ (१०८।२), गदालोल (१११।७५-७६, अग्नि० ११५।६९), वैतरणी (१०५।४४), ब्रह्मसर (वनपर्व, ८४।८५, वायु० १११।३०), ब्रह्मकुण्ड (११०।८), उत्तर मानस (१११।२ एवं २२), दक्षिण मानस (१११।६ एवं ८), रुक्मिणीकुण्ड, प्रेतकुण्ड, निःक्षारा (नि.क्षीरा) पुष्करिणी (१०८।८४), मतंगवापी (१११।२४)। पुनीत स्थल ये हैं--पञ्चलोक, सप्तलोक, वैकुण्ठ, लोहदण्डक (सभी चार १०९।१६), गोप्रचार (१११।३५-३७, जहाँ ब्रह्मा द्वारा स्थापित आमों के वृक्ष हैं), धर्मारण्य (१११।२३), ब्रह्मयूप (अग्नि० ११५।३९ एवं वनपर्व ८४।८६)। पुनीत वृक्ष ये हैं--अक्षयवट (वनपर्व ८४।८३, ९५।१४, वायु० १०५।४५, १११।७९-८१३, अग्नि० ११५।७०-७३), गोप्रचार के पास आम्र (१११।३५-३७), गृध्रकूटवट (१०८।६३), महाबोधितरु (१११।२६-२७, अग्नि० ११५।३७)। आम्र वृक्ष के विषय में यह श्लोक विख्यात है--'एको मुनिः कुम्भकुशाग्रहस्त आम्रस्य मूले सलिलं ददानः। आम्रश्च सिक्तः पितरश्च तृप्ता एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा॥' (वायु० १११।३७, अग्नि० ११५।४०, नारदीय०, उत्तर, ४६।७, पद्म० सृष्टिखण्ड, ११।७७)। बहुत-से अन्य तीर्थ भी हैं, यथा--फल्वीश, फल्गुचण्डी, अंगारकेश्वर (सभी अग्नि० ११६।२९) जो यहाँ वर्णित नहीं हैं। पद (ऐसी शिलाएँ जिन पर पदचिह्न हैं) ये हैं--वायु० (१११।४६-५८) ने १६ के नाम लिये हैं और अन्यों की ओर सामान्यतः संकेत किया है। अग्नि० (११५।४८-५३) ने कम-से-कम १३ के नाम लिये हैं। वायु० द्वारा उल्लिखित नाम ये हैं--विष्णु, रुद्र, ब्रह्म, कश्यप, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य, शक्र, अगस्त्य, क्रौञ्च, मातंग, सूर्य, कार्तिकेय एवं गणेश। इनमें चार अति महान् हैं--काश्यप, विष्णु, रुद्र एवं ब्रह्म (वायु० १११।५६)। नारदीय० (उत्तर, ४६।२७) का कथन है कि विष्णुपद एवं रुद्रपद उत्तम हैं, किन्तु ब्रह्मपद सर्वोत्तम है।

है कि विष्णु फल्गु में अव्यक्त रूप में, विष्णुपद में व्यक्ताव्यक्त रूप में एवं मूर्तियों में व्यक्त रूप में स्थित है (देखिए त्रिस्थलीसेतु, पृ० ३६५, प्रतिमास्वरूपी व्यक्तः)।

११०वें अध्याय में गयायात्रा का वर्णन है। गया के पूर्व में महानदी (फल्गु) है। यदि वह सूखी हो, तो गड्ढा खोदकर (काण्ड बनाकर) स्नान करना चाहिए और अपनी वेद-शाखा के अनुसार तर्पण एवं श्राद्ध करना चाहिए, किन्तु अर्घ्य (सम्मान के लिए जल देना) एवं आवाहन नहीं करना चाहिए। अपराह्न में यात्री को प्रेतशिला को जाना चाहिए और ब्रह्मकुण्ड में स्नान करना चाहिए, देवों का तर्पण करना चाहिए, वायु० (११०।१०-१२) के मन्त्रों के साथ प्रेतशिला पर अपने सपिण्डों का श्राद्ध करना चाहिए तथा अपने पितरों को पिण्ड देने चाहिए। अष्टकाओं एवं वृद्धिश्राद्ध में, गया में एवं मृत्यु के वार्षिक श्राद्ध में अपनी माता के लिए पृथक् श्राद्ध करना चाहिए किन्तु अन्य अवसरों पर अपने पिता के साथ श्राद्ध करना चाहिए।[22] अपने पितरों के अतिरिक्त अन्य सपिण्डों को उस स्थान से जहाँ अपने पिता आदि का श्राद्ध किया जाता है, दक्षिण में श्राद्ध करना चाहिए, अर्थात् कुश फैलाने चाहिए, एक बार तिलयुक्त जल देना चाहिए, जौ के आटे का एक पिण्ड देना चाहिए और मन्त्रोचारण (वायु० ११०।२१-२२) करना चाहिए। गयाशिर में दिये जानेवाले पिण्ड का आकार मुष्टिका या आर्द्रामलक (हरे आमले) या शमी पेड़ के पत्र के बराबर होना चाहिए।[23] इस प्रकार व्यक्ति सात गोत्रों की रक्षा करता है, अर्थात् अपने पिता, माता, पत्नी, बहन, पुत्री, फूफी (पिता की बहिन) एवं मौसी के गोत्रों की रक्षा करता है। तिलयुक्त जल एवं पिण्ड नाना के पक्ष के सभी लोगों को, सभी बन्धुओं, सभी शिशुओं, जो जलाये गये हों या न जलाये गये हों, जो बिजली या डाकुओं से मारे गये हों, या जिन्होंने आत्महत्या कर ली हो, या जो भाँति-भाँति के नरकों की यातनाएँ सह रहे हों या जो दुष्कर्मों के फलस्वरूप पशु, पक्षी, कीट, पतंग या वृक्ष हो गये हों, उन सभी को देने चाहिए (वायु०११०।३०-३५)। इस विषय में देखिए इस खंड के अध्याय ११ एवं १२।

१११वें अध्याय में कतिपय तीर्थों की यात्रा करने का क्रम उपस्थित किया गया है। पूरी यात्रा सात दिनों में समाप्त होती है। ११०वें अध्याय में कहा गया है कि गया में प्रवेश करने पर यात्री फल्गु के जल में स्नान करता है, तर्पण एवं श्राद्ध करता है और उसी दिन वह प्रेतशिला (जो वायु० १०८।१५ के अनुसार शिला का एक भाग है) पर जाता है और श्राद्ध करता है तथा पके हुए भात एवं घी के पिण्ड देता है (वायु० ११०।१५)। ऐसा करने से जिसके लिए श्राद्ध किया जाता है वह प्रेत-स्थिति से छुटकारा पा जाता है। वायु० (१०८।१७-२२) में ऐसा कहा गया है कि रामतीर्थ में, जो उस स्थान पर है जहाँ फल्गु प्रभास पर्वत से मिलती हैं, स्नान करना चाहिए। रामतीर्थ में स्नान करने श्राद्ध करने एवं पिण्ड देने से वे व्यक्ति जिनके लिए ऐसा किया जाता है, पितर लोगों (प्रेतशिला पर श्राद्ध करने से जो प्रेतत्व की स्थिति से मुक्त हो गये रहते हैं) की श्रेणी में आ जाते हैं। प्रेतशिला के दक्षिण एक पर्वत पर यमराज, धर्मराज एवं श्याम तथा शबल नामक दो कुत्तों को बलि (कुश, तिल एवं जल के साथ भोजन की) देनी चाहिए। गया में प्रवेश करने के दूसरे दिन यात्री को प्रेतपर्वत पर जाना चाहिए, ब्रह्मकुण्ड में स्नान एवं तर्पण करके श्राद्ध में तिल, घृत, दही

२२. अष्टकासु च वृद्धौ च गयायां च मृतेहनि। मातुः श्राद्धं पृथक् कुर्यादन्यत्र पतिना सह॥ वायु० (११०।१७; तीर्थप्र०, प० ३८९ एवं तीर्थचि०, पृ० ३९८)।

२३. मुष्टिमात्रप्रमाणं च आर्द्रामलकमात्रकम्। शमीपत्रप्रमाणं वा पिण्डं दद्याद् गयाशिरे॥ उद्धरेत्सप्त गोत्राणि कुलानि शतमुद्धरेत्॥ पितुर्मातुः स्वभार्याया भगिन्या दुहितुस्तथा। पितृष्वसुर्मातृष्वसुः सप्त गोत्राः प्रकीर्तिताः॥ वायु० (११०।२५-२६)। और देखिए त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३२७)।

एवं मधु से मिश्रित पिण्ड पितरों (पिता, पितामह आदि) को देना चाहिए (वायु० ११०।२३-२४)।[२४] इसके उपरान्त यात्री को विविध रूपों से संबंधित लोगों के लिए कुशों पर जल, तिल एवं पिण्ड देना चाहिए (वायु० ११०।३४-३५)। तब उसे गया आने की साक्षी के लिए देवों का आह्वान करना चाहिए और पितृ-ऋण से मुक्त होना चाहिए (वायु० ११०।५९-६०)। वायुपुराण (११०।६१) में ऐसा आया है कि गया के सभी पवित्र स्थलों पर प्रेतपर्वत पर किये गये पिण्डकर्म के समान ही कृत्य करने चाहिए (सर्वस्थानेषु चैवं स्यात् पिण्डदानं तु नारद। प्रेतपर्वतमारभ्य कुर्यात्तीर्थेषु च क्रमात्।।)।

तीसरे दिन पञ्चतीर्थी कृत्य करना चाहिए (वायु० १११।१)।[२५] सर्वप्रथम यात्री उत्तर मानस में स्नान करता है, देवों का तर्पण करता है और पितरों को मन्त्रों के साथ (वायु० ११०।२१-२४) जल एवं श्राद्ध के पिण्ड देता है। इसका फल पितरों के लिए अक्षय होता है। इसके उपरान्त यात्री दक्षिण मानस की ओर तीन तीर्थों में जाता है, यथा उदीचीतीर्थ (उत्तर में), कनखल (मध्य में) एवं दक्षिण मानस (दक्षिण में)। इन तीनों तीर्थों में श्राद्ध किया जाता है। इसके उपरान्त यात्री फल्गुतीर्थ को जाता है जो गयातीर्थों में सर्वोत्तम है। यात्री फल्गु में पिण्डों के साथ श्राद्ध एवं तर्पण करता है। फल्गु-श्राद्ध से कर्ता एवं वे लोग, जिनके लिए कर्ता श्राद्ध करता है, मुक्ति पा जाते हैं (मुक्तिर्भवति कर्तॄणां पितॄणां श्राद्धतः सदा, वायु० ११०।१३)। ऐसा कहा गया है कि फल्गु जलधारा के रूप में आदिगदाधर है।[२६] फल्गु-स्नान से व्यक्ति अपनी, दस पितरों एवं दस वंशजों की रक्षा करता है। इसके उपरान्त यात्री वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, विष्णु एवं श्रीधर को प्रणाम करके गदाधर को पंचामृत से स्नान कराता है।[२७] पंचतीर्थी कृत्य के दूसरे दिन (अर्थात् गयाप्रवेश के चौथे दिन) यात्री को धर्मारण्य जाना चाहिए, जहाँ पर धर्म ने यज्ञ किया था। वहाँ उसे मतंग-वापी में (जो धर्मारण्य में ही अवस्थित है) स्नान करना चाहिए। इसके उपरान्त उसे ब्रह्मतीर्थ नामक कूप पर तर्पण, श्राद्ध एवं पिण्डदान करना चाहिए। ऐसा ही ब्रह्मतीर्थ एवं ब्रह्मयूप के बीच भी करना चाहिए और तब ब्रह्मा एवं धर्मेश्वर को नमस्कार करना चाहिए।[२८] यात्री को महाबोधि वृक्ष (पवित्र पीपल वृक्ष) को प्रणाम कर उसके नीचे श्राद्ध

२४. प्रेतपर्वत एवं ब्रह्मकुण्ड के विषय में त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३५५) यों कहता है--'प्रेतपर्वतो गयावायव्यदिशि गयातो गव्यूत्यधिकदूरस्थः। ब्रह्मकुण्डे प्रेतपर्वतमूल ईशानभागे।'

२५. पाँच तीर्थ ये हैं—उत्तर मानस, उदीचीतीर्थ, कनखल, दक्षिण मानस एवं फल्गु। त्रिस्थली० (पृ० ३६०) का कथन है कि एक ही दिन इन सभी तीर्थों में स्थान नहीं करना चाहिए। वायु० (१११।१२) में आया है कि फल्गुतीर्थ गयाशिर ही है--'नागकूटाद् गृध्रकूटाद्यूपादुत्तरमानसात्। एतद् गयाशिरः प्रोक्तं फल्गुतीर्थं तदुच्यते।। किन्तु अग्नि० (११५।२५-२६) में अन्तर है--'नागाज्जनार्दनात्कूपाद्वटाच्चोत्तरमानसात्। एत...च्यते।।' गरुड़पुराण (१।८३।४) में ऐसा है--'नागाज्जना०...तदुच्यते।।' त्रिस्थली० (पृ० ३५९) ने यों पढ़ा है--'मुण्डपृष्ठान्नगाधस्तात्फल्गुतीर्थमनुत्तमम्।'

२६. गंगा पादोदकं विष्णोः फल्गुर्ह्यादिगदाधरः। स्वयं हि द्रवरूपेण तस्माद् गंगाधिकं विदुः।। वायु० (१११।१६)।

२७. पञ्चामृत में दुग्ध, दधि, घृत, मधु एवं शक्कर होते हैं और इन्हीं से गदाधर को स्नान कराया जाता है। देखिए नारदीय० (उत्तर, ४३।५३)—'पञ्चामृतेन च स्नानमर्चायां तु विशिष्यते।'

२८. डा० बरुआ (गया एवं बुद्ध-गया, भाग १, पृ० २२) का कथन है कि 'धर्म' एवं 'धर्मेश्वर' बुद्ध के द्योतक हैं, किन्तु ओ' मैली का कहना है कि 'धर्म' का संकेत 'यम' की ओर है। सम्भवतः ओ' मैली की बात ठीक है। पद्म० (सृष्टि-खण्ड, ११।७३) का कथन है कि पिण्डदान के लिए तीन अरण्य (वन) हैं—पुष्करारण्य, नैमिषारण्य एवं धर्मारण्य।

करना चाहिए। अग्नि० (११५-३४-३७) एवं नारदीय० (उत्तर, ४५।१०५) ने इन तीर्थों का उल्लेख किया है। पंच-तीर्थी कृत्य के तीसरे दिन (अर्थात् गया प्रवेश के पाँचवें दिन) यात्री को ब्रह्मसर में स्नान करना चाहिए और ब्रह्मकूप एवं ब्रह्मयूप (ब्रह्मा द्वारा यज्ञ करने के लिए स्थापित यज्ञिय स्तम्भ) के मध्य में पिण्डों के साथ श्राद्ध करना चाहिए। इस श्राद्ध से यात्री अपने पितरों की रक्षा करता है। यात्री को ब्रह्मयूप की प्रदक्षिणा करनी चाहिए और ब्रह्मा को प्रणाम करना चाहिए। गोप्रचार के पास ब्रह्मा द्वारा लगाये गये आम्र वृक्ष हैं। ब्रह्मसर से जल लेकर किसी आम्र वृक्ष में देने से पितर लोग मोक्ष पाते हैं। इसके उपरान्त यम एवं धर्मराज को, यम के दो कुत्तों को तथा कौओं को बलि देनी चाहिए और तब ब्रह्मसर में स्नान करना चाहिए। यह वायु० (१११।३०-४०) का निष्कर्ष है। इनमें कुछ बातें अग्नि० (११५। ३४-४०) एवं नारदीय० (उत्तर, ४६) में भी पायी जाती हैं। इसके उपरान्त पंचतीर्थी कृत्यों के चौथे दिन (गया प्रवेश के छठे दिन) यात्री को फल्गु में साधारण स्नान करना चाहिए और गयाशिर के कतिपय पदों पर श्राद्ध करना चाहिए। गयाशिर क्रौञ्चपद से फल्गुतीर्थ तक विस्तृत है। गयाशिर पर किया गया श्राद्ध अक्षय फल देता है।[२९] यहाँ पर आदि-गदाधर विष्णुपद के रूप में रहते हैं। विष्णुपद पर पिण्डदान करने से यात्री एक सहस्र कुलों की रक्षा करता है और अपने को कल्याणमय, अक्षय एवं अनन्त विष्णुलोक में ले जाता है। इसके उपरान्त वायु० (१११।४७-५६ ने रुद्रपद, ब्रह्मपद एवं अन्य १४ पदों पर किये गये श्राद्धों के फलों की चर्चा की है।[३०] 'गयाशिर पर यात्री जिसका नाम लेकर पिण्ड देता है, वह व्यक्ति यदि नरक में रहता है तो स्वर्ग जाता है और यदि वह स्वर्ग में रहता है तो मोक्ष प्राप्त करता है।'

पञ्चतीर्थी कृत्यों के पाँचवें दिन (गया-प्रवेश के सातवें दिन) यात्री को गदालोल नामक तीर्थ में स्नान करना चाहिए।[३१] गदालोल में पिण्डों के साथ श्राद्ध करने से यात्री अपने एवं अपने पितरों को ब्रह्मलोक में ले जाता है। इसके उपरान्त उसे अक्षयवट पर श्राद्ध करना चाहिए और ब्रह्मा द्वारा प्रतिष्ठापित गया के ब्राह्मणों को दानों एवं भोजन से सम्मानित करना चाहिए। जब वे परितृप्त हो जाते हैं तो पितरों के साथ देव भी तृप्त हो जाते हैं।[३२] इसके उपरान्त यात्री को अक्षयवट को प्रणाम कर मन्त्र के साथ उसकी पूजा करनी चाहिए और प्रपितामह की पूजा के लिए प्रणाम करना चाहिए। और देखिए अग्नि० (११५।६९-७३) एवं नारदीय० (उत्तर, अध्याय ४७)।

त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३६८) में आया है कि उपर्युक्त कृत्य गया में किये जाने वाले सात दिनों के कृत्य हैं और

२९. क्रौञ्चपादात्फल्गुतीर्थं यावत्साक्षाद् गयाशिरः। वायु० (१११।४४)। क्रौञ्चपाद को वायु० (१०८।७५) ने मुण्डपृष्ठ कहा है—"क्रौञ्चरूपेण हि मुनिर्मुण्डपृष्ठे तपोऽकरोत्। तस्य पादांकितो यस्मात्क्रौञ्चपादस्ततः स्मृतः॥

३०. त्रिस्थली० (पृ० ३६६) में आया है कि विष्णुपद एवं अन्य पदों पर किये गये श्राद्धों के अतिरिक्त गयाशिर पर पृथक् रूप से श्राद्ध नहीं होता। गयाशिरसि यः पिण्डान्येषां नाम्ना तु निर्वपेत्। नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयुः॥ देखिए वायु० (१११।७३) एवं अग्नि० (११५।४७)। गयाशिर गया का केन्द्र है और यह अत्यन्त पवित्र स्थल है।

३१. इस तीर्थ का नाम गदालोल इसलिए पड़ा कि यहाँ पर आदि-गदाधर ने अपनी गदा से असुर हेति के सिर को कुचलने के उपरान्त उसे (गदा को) धोया था। हेत्यसुरस्य यच्छीर्षं गदया तद् द्विधा कृतम्। ततः प्रक्षालिता यस्मात्तीर्थं तच्च विमुक्तये। गदालोलमिति ख्यातं सर्वेषामुत्तमोत्तमम्॥ वायु० (१११।७५)। गदालोल फल्गु की धारा में ही है।

३२. मिलाइए—'ये युष्मान्पूजयिष्यन्ति गयायामागता नराः। हव्यकव्यैर्धनैः श्राद्धैस्तेषां कुलशतं व्रजेत्। नरकात स्वर्गलोकाय स्वर्गलोकात्परां गतिम्॥' अग्नि० (११४।३९-४०)।

यदि यात्री गया में आधे मास या पूर्ण मास तक रहे तो वह अपनी सुविधा के अनुसार अन्य तीर्थों की यात्रा कर सकता है, किन्तु सर्वप्रथम प्रेतशिला पर श्राद्ध करना चाहिए और सबसे अन्त में अक्षयवट पर। त्रिस्थली० में यह आया है कि यद्यपि वायु०, अग्नि० एवं अन्य पुराणों में तीर्थों की यात्रा के क्रम में भिन्नता पायी जाती है, किन्तु वायु० में उपस्थापित क्रम को मान्यता दी जानी चाहिए, क्योंकि उसने सब कुछ विस्तार के साथ वर्णित किया है, यदि कोई इन क्रमों को नहीं जानता है तो वह किसी भी क्रम का अनुसरण कर सकता है, किन्तु प्रेतशिला एवं अक्षयवट का क्रम नहीं परिवर्तित हो सकता।[33] गयायात्रा (वायु०, अध्याय ११२) में आया है कि राजा गय ने यज्ञ किया और दो वर पाये, जिनमें एक था गया के ब्राह्मणों को फिर से संमान्य पद देना और दूसरा था गया पुरी को उसके नाम पर प्रसिद्ध करना। गया-यात्रा में विशाल नामक राजा की भी गाथा आयी है जिसने पुत्रहीन होने पर गयाशीर्ष में पिण्डदान किया, जिसके द्वारा उसने अपने तीन पूर्वपुरुषों को बचाया, पुत्र पाया और स्वयं स्वर्ग चला गया। इसमें एक अन्य गाथा भी आयी है (श्लोक १६-२०)--एक रोगी व्यक्ति प्रेत की स्थिति में था, उसने अपनी सम्पत्ति का छठा भाग एक व्यापारी को दिया और शेष को गयाश्राद्ध करने के लिए दिया और इस प्रकार वह प्रेत-स्थिति से मुक्ति पा गया। यह कथा अग्नि० (११५।५४-६३), नारदीय० (उत्तर, ४४।२६-५०), गरुड़० (१।८४।३४-४३), वराह० (७।१२) में भी पायी जाती है। इसके उपरान्त श्लोक २०-६० में गया के कई तीर्थों के नाम आये हैं, यथा--गायत्रीतीर्थ, प्राची-सरस्वतीतीर्थ, विशाला, लेलिहान, भरत का आश्रम, मुण्डपृष्ठ, आकाशगंगा, वैतरणी एवं अन्य नदियाँ तथा पवित्र स्थल। अन्त में इसने निष्कर्ष निकाला है कि पूजा एवं पिण्डदान से छः गयाएँ मुक्ति देती हैं, यथा--गयागज, गयादित्य, गायत्री (तीर्थ), गदाधर, गया एवं गयाशिर।[34]

अग्नि० (अध्याय ११६।१-३४) में गया के तीर्थों की एक लम्बी तालिका दी हुई है और उसे त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३७६-३७८) ने उद्धृत किया है। किन्तु हम उसे यहाँ नहीं दे रहे हैं।

गया के तीर्थों की संख्या बड़ी लम्बी-चौड़ी है, किन्तु अधिकांश यात्री सभी की यात्रा नहीं करते। गया के यात्री को तीन स्थानों की यात्रा करना अनिवार्य है, यथा--फल्गु नदी, विष्णुपद एवं अक्षयवट। यहाँ दुग्ध, जल, पुष्पों, चन्दन, ताम्बूल, दीप से पूजा की जाती है और पितरों को पिण्ड दिये जाते हैं। किन्तु फल्गु के पश्चिम एक चट्टान पर विष्णुचरणों के ऊपर विष्णु-पद का मन्दिर निर्मित हुआ है। गया का प्राचीन नगर विष्णु-पद के चारों ओर बसा हुआ था, यह मन्दिर गया का सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण स्थल है। पद-चिह्न (लगभग १६ इंच लम्बे) विष्णु भगवान् के ही कहे जाते हैं और वे अष्ट कोण वाले रजत-घेरे के अन्दर हैं। सभी जाति-वाले यात्री (अछूतों को छोड़कर) चारों ओर खड़े होकर उन पर भेंट चढ़ाते हैं, किन्तु कभी-कभी लम्बी रकम पाने की लालसा से पुरोहित लोग अन्य यात्रियों को हटाकर द्वार बन्द कर एक-दो मिनटों के लिए किसी कट्टर या धनी व्यक्ति को पूजा करने की व्यवस्था कर देते हैं। कुल ४५ वेदियाँ हैं जहाँ अवकाश पाने पर यात्री सुविधानुसार जा सकते हैं और ये वेदियाँ गया (प्राचीन नगर) के पाँच मील उत्तर-पूर्व और सात मील दक्षिण के विस्तार में फैली हुई हैं। यद्यपि प्राचीन बौद्धग्रन्थों, फाहियान एवं ह्वेन

३३. **क्रमतोऽक्रमतो वापि गयायात्रा महाफला। अग्नि० (११५।७४) एवं त्रिस्थली० (पृ० ३६८)।**

३४. **गयागजो गयादित्यो गायत्री च गदाधरः। गया गयाशिरश्चैव षड् गया मुक्तिदायिकाः॥ वायु० (११२। ६०), तीर्थचि० (पृ० ३२८, 'षड् गयं मुक्तिदायकं' पाठ आया है) एवं त्रिस्थली० (पृ० ३७२)। यह नारदीय० (उत्तर, ४७।३९-४०) में आया है। लगता है, गया के गदाधर-मन्दिर के निकट हाथी की आकृति से युक्त स्तम्भ को गयागज कहा गया है।**

साँग ने गया एवं उरुबिल्ला या उरुवेला (जहाँ बुद्ध ने छः वर्षों तक कठिन तप किये थे और उनको सम्बोधि प्राप्त हुई थी) में अन्तर बताया है, तथापि गयामाहात्म्य ने महाबोधितरु को तीर्थस्थलों में गिना है और कहा है कि हिन्दू यात्री को उसकी यात्रा करनी चाहिए और यह बात आज तक ज्यों-की-त्यों मानी जाती रही है। हिन्दुओं ने बौद्ध स्थलों पर कब अधिकार कर लिया यह कहना कठिन है। बोधि-वृक्ष इस विश्व का सबसे प्राचीन ऐतिहासिक वृक्ष है। इसकी एक शाखा महान् अशोक (लगभग ई० पू० २५० वर्ष) द्वारा लंका में भेजी गयी थी और लंका के कण्डी नामक स्थान का पीपल वृक्ष वही शाखा है या उसका वंशज है। गयाशीर्ष पथरीली पर्वतमालाओं का एक विस्तार है, यथा गयाशिर, मुण्डपृष्ठ, प्रभास, गृध्रकूट, नागकूट, जो लगभग दो मील तक फैला हुआ है।[३५]

हमने पहले देख लिया है कि गयायात्रा में अक्षयवट-सम्बन्धी कृत्य अन्तिम कृत्य हैं। गयावाल पुरोहित फूलों की माला से यात्री के अँगूठे या हाथों को बाँध देते हैं और दक्षिणा लेते हैं। वे यात्री को प्रसाद रूप में मिठाई देते हैं, मस्तक पर तिलक लगाते हैं, उसकी पीठ थपथपाते हैं, 'सुफल' शब्द का उच्चारण करते हैं, घोषणा करते हैं कि यात्री के पितर स्वर्ग चले गये हैं और यात्री को आशीर्वाद देते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'धामी' नामक कुछ विशिष्ट पुरोहित होते हैं, जो पाँच वेदियों पर पौरोहित्य का अधिकार रखते हैं, यथा प्रेतशिला, रामशिला, रामकुण्ड, ब्रह्मकुण्ड एवं काकबलि, जो रामशिला एवं प्रेतशिला पर अवस्थित हैं। ये धामी पुरोहित गयावाल ब्राह्मणों से मध्यम पड़ते हैं।

गया में किन पितरों का श्राद्ध करना चाहिए, इस विषय में मध्य काल के निबन्धों में मतैक्य नहीं है। वायु० एवं अन्य पुराणों में ऐसा आया है कि जो गया में श्राद्ध करता है वह पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है, या जो कुछ गया, धर्मपृष्ठ, ब्रह्मसर, गयाशीर्ष एवं अक्षयवट में पितरों को अर्पित होता है वह अक्षय हो जाता है। इन सभी स्थानों अथवा उक्तियों में 'पितृ' शब्द बहुवचन में आया है। इससे प्रकट होता है कि गया में श्राद्ध तीन पूर्व पुरुषों का किया जाता है।[३६] गौतम के एक श्लोक के अनुसार माता के तीन पूर्व-पुरुषों का भी श्राद्ध किया जाता है।[३६] पिता एवं माता के पक्ष के छः पूर्व पुरुषों की पत्नियों के विषय में ही मत-मतान्तर पाये जाते हैं। अग्नि० (११५।१०) ने एक विकल्प दिया है कि गयाश्राद्ध के देवता ९ या १२ हैं। जब वे ९ होते हैं तो तीन पितृ-पक्ष के पितरों, तीन मातृ-पक्ष के पुरुष पितरों और अन्तिम की (अर्थात् मातृ-वर्ग के तीन पुरुष पितरों की) पत्नियों का श्राद्ध किया जाता है, किन्तु माता, पितामही एवं प्रपितामही के लिए पृथक् रूप से श्राद्ध किया जाता है। जब गया-श्राद्ध में १२ देवता होते हैं तो एक ही श्राद्ध में पितृ एवं मातृ वर्गों के सभी पितरों की पत्नियों को सम्मिलित कर लिया जाता है। अपरार्क (पृ० ४३२) ने भी गयाश्राद्ध में अग्नि० के समान विकल्प दिया है।[३७] स्मृत्यर्थसार एवं हेमाद्रि के मत से पितृ वर्ग के पितरों और उनकी पत्नियों (माता, मातामही आदि) के लिए अन्वष्टका-श्राद्ध एवं गयाश्राद्ध पृथक् होता है, किन्तु मातृ वर्ग के पितरों एवं उनकी पत्नियों का श्राद्ध एक ही में होता है (अतः देवता

३५. गयाशिर एवं गया बौद्धकाल में अति विख्यात स्थल थे, ऐसा बौद्ध ग्रन्थों से प्रकट होता है। देखिए महावग्ग (१।२१।१) एवं अंगुत्तर निकाय (जिल्द ४, पृ० ३०२)--'एकं समयं भगवा गयायां विहरति गयासीसे।'

३६. पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहा अपि। अविशेषेण कर्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत्॥ इति गौतमोक्तेः। त्रिस्थली० (पृ० ३४९), स्मृत्यर्थसार (पृ० ५६)।

३७. ततश्चान्वष्टकादित्रये स्त्रीणां श्राद्धं पृथगेव। गयामहालयादौ तु पृथक् सह वा भर्तृभिरिति सिद्धम्। अपरार्क (पृ० ४३२); गरुड़० (१।८४।२४) में आया है—'श्राद्धं तु नवदेवत्यं कुर्याद् द्वादशदैवतम्। अन्वष्टकासु वृद्धौ च गयायां मृतवासरे॥'

केवल ९ ही होंगे,)।[३८] यम (श्लोक ८०) के मत से माता, पितामही एवं प्रपितामही अपने पतियों के साथ श्राद्ध में सम्मिलित होती हैं। कुछ लोगों के मत से गयाश्राद्ध के देवता केवल छः होते हैं, यथा—पितृवर्ग के तीन पुरुष पितर एवं मातृवर्ग के तीन पुरुष पितर (त्रिस्थलीसेतु, पृ० ३४९)। रघुनन्दन ने अपने तीर्थयात्रातत्त्व में कहा है कि यह गौडीय मत है। अन्त में त्रिस्थलीसेतु (पृ० ३४९) ने टिप्पणी की है कि मत-मतान्तरों में देशाचार का पालन करना चाहिए। प्रजापति-स्मृति (१८३-१८४) ने विरोधी मत दिये हैं कि श्राद्ध में कब-कब १२ या ६ देवता होने चाहिए। जब १२ देवता होते हैं तो प्रेतशिला-श्राद्ध में जो संकल्प किया जाता है वह गया के सभी तीर्थों में प्रयुक्त होता है।[३९]

यह ज्ञातव्य है कि गयाश्राद्ध की अपनी विशिष्टताएँ हैं, उसमें मुण्डन नहीं होता (वायु०८३।१८) तथा केवल गयावाल ब्राह्मणों को ही पूजना पड़ता है, अन्य ब्राह्मणों को नहीं, चाहे वे बड़े विद्वान् ही क्यों न हों। गयावाल ब्राह्मणों के कुल, चरित्र या विद्या पर विचार नहीं किया जाता। इन सब बातों पर हमने अध्याय ११ में विचार कर लिया है। किन्तु यह स्मरणीय है कि नारायण भट्ट (त्रिस्थली०, पृ० ३५२) ने इसको गया के सभी श्राद्धों में स्वीकृत नहीं किया है, केवल अक्षयवट में ही ऐसा माना है। गया में व्यक्ति अपना भी श्राद्ध कर सकता है, किन्तु तिल के साथ नहीं।[४०] त्रिस्थली० (पृ० ३५०) में आया है कि जब कोई अपना श्राद्ध करे तो पिण्डदान भस्मकूट पर जनार्दन की प्रतिमा के हाथ में होना चाहिए और यह तभी किया जाना चाहिए जब कि यह निश्चित हो कि वह पुत्रहीन है या कोई अन्य अधिकारी व्यक्ति श्राद्ध करने के लिए न हो (वायु० १०८।८५; गरुड०; नारदीय०, उत्तर, ४७।६२-६५)। गया में कोई भी सम्बन्धी या असम्बन्धी पिण्डदान कर सकता है (वायुपुराण, १०५।१४-१५) और देखिए वायु० (८३।३८)।[४१]

गयाश्राद्ध-पद्धति के विषय में कई प्रकाशित एवं अप्रकाशित ग्रन्थ मिलते हैं, यथा—वाचस्पतिकृत गयाश्राद्ध-पद्धति, रघुनन्दनकृत तीर्थयात्रातत्त्व (बंगला लिपि में), माधव के पुत्र रघुनाथ की गयाश्राद्धपद्धति, वाचस्पति की गयाश्राद्धविधि। हम यहाँ रघुनन्दन के तीर्थयात्रातत्त्व की विधि का संक्षेप में वर्णन करेंगे। रघुनन्दन ने तीर्थचिन्तामणि का अनुसरण किया है। गया-प्रवेश करने के उपरान्त यात्री को फल्गु-स्नान के लिए उचित संकल्प करना चाहिए, नदी से मिट्टी लेकर शरीर में लगाना चाहिए और स्नान करना चाहिए। इसके पश्चात् उसे १२ पुरुष एवं स्त्री पितरों का तर्पण करना चाहिए। तब उसे संकल्प करना चाहिए कि मैं 'ओम् अद्येत्यादि अश्वमेध-सहस्रजन्य-फलविलक्षणफल-

३८. तत्र मातृश्राद्धं पृथक् प्रशस्तम्। मातामहानां सपत्नीकमेव। स्मृत्यर्थसार (पृ० ५९-६०); देखिए त्रिस्थली० (पृ० ३४९), जहाँ हेमाद्रि का मत दिया गया है।

३९. ओम्। अद्यामुकगोत्राणां पितृ-पितामहप्रपितामहानाममुकदेवशर्मणाम्, अमुकगोत्राणां मातृ-पितामही-प्रपितामहीनाममुकामुकदेवीनाम्, अमुकगोत्राणां मातामह-प्रमातामह-वृद्धप्रमातामहानाममुकामुकदेवशर्मणाम्, अमुकगोत्राणां मातामही-प्रमातामही-वृद्धप्रमातामहीनाममुकामुकदेवीनां प्रेतत्वविमुक्तिकामः प्रेतशिलायां श्राद्धमहं करिष्ये। तीर्थचि० (पृ० २८७)। और देखिए गरुड़० (१।८४।४५-४७)।

४०. आत्मनस्तु महाबुद्धे गयायां तु तिलैर्विना। पिण्डनिर्वपणं कुर्यात्तथा चान्यत्र गोत्रजाः॥ वायु० (८३।३४), त्रिस्थली० (पृ० ३५०)। और देखिए वायु० (१०५।१२); अग्नि० (११५।६८)—'पिण्डो देयस्तु सर्वेभ्यः सर्वैश्च कुलतारकैः। आत्मनस्तु तथा देयो ह्यक्षयं लोकमिच्छता॥'

४१. आत्मजोऽप्यन्यजो वापि गयाभूमौ यदा तदा। यन्नाम्ना पातयेत्पिण्डं तं नयेद् ब्रह्म शाश्वतम्॥ नामगोत्रे समुच्चार्य पिण्डपातनमिष्यते। येन केनापि कस्मैचित्स याति परमां गतिम्॥ वायु० (१०५।१४-१५)। और देखिए वायु० (८३।३८)।

प्राप्तिकामः फल्गुतीर्थस्नानमहं करिष्ये' शब्दों के साथ गया-श्रद्ध करूँगा। इसके उपरान्त उसे आवाहन एवं अर्घ्य कृत्यों को छोड़कर पार्वण श्राद्ध करना चाहिए। यदि यात्री श्राद्ध की सभी क्रियाएँ न कर सके तो वह केवल पिण्डदान कर सकता है। उसी दिन उसे प्रेतशिला जाना चाहिए और वहाँ निम्न रूप से श्राद्ध करना चाहिए--भूमि की शुद्धि करनी चाहिए, उस पर बैठना चाहिए, आचमन करना चाहिए, दक्षिणाभिमुख होना चाहिए, अपसव्य रूप से जनेऊ धारण करना चाहिए, श्लोकोच्चारण (वायु० ११०।१०-१२ 'कव्यवालो...श्राद्धेनानेन शाश्वतीम्') करना चाहिए। पितरों का ध्यान करना चाहिए, प्राणायाम करना चाहिए, पुण्डरीकाक्ष का स्मरण कर श्राद्ध-सामग्री पर जल छिड़कना चाहिए और संकल्प करना चाहिए। तब ब्राह्मणों को दक्षिणा देने तक के सारे श्राद्ध-कृत्य करने चाहिए; श्राद्ध-वेदी के दक्षिण बैठना चाहिए, अपसव्य रूप में जनेऊ धारण करना चाहिए, दक्षिणाभिमुख होना चाहिए, भूमि पर तीन कुशों को रखना चाहिए, मन्त्रोच्चारण (वायु० ११०।१०-१२) करके तिलयुक्त अंजलि-जल से एक बार आवाहन करना चाहिए, तब पिता को पाद्य (पैर धोने के जल) से सम्मानित करना चाहिए और दो श्लोकों (वायु० ११०।२०, २१ 'ओम्' के साथ 'आ ब्रह्म..तिलोदकम्') का उच्चारण करना चाहिए, अंजलि में जल लेकर पिता आदि का आवाहन करना चाहिए और 'ओम् अद्य अमुकगोत्र पितरमुकदेवशर्मन् एष ते पिण्डः स्वधा' के साथ पायस या तिल, जल, मधु से मिश्रित किसी अन्य पदार्थ का पिंण्ड अपने पिता को देना चाहिए। इसी प्रकार उसे शेष ११ देवताओं (पितामह आदि ८ या ५ जैसा कि लोकाचार हो) को पिण्ड देना चाहिए। उसे अपनी योग्यता के अनुसार दक्षिणा देनी चाहिए। तब उसे जहाँ वह अब तक बैठा था, उसके दक्षिण बैठना चाहिए, भूमि पर जड़सहित कुश (जिनके अग्र भाग दक्षिण रहते हैं) रखने चाहिए, मन्त्रोच्चारण (वायु० ११०।१०-१२) करना चाहिए, तिलांजलि से आवाहन करना चाहिए, दो श्लोकों (वायु० ११०।२२-२३) का पाठ करना चाहिए, तिल, कुशों, घृत, दधि, जल एवं मधु से युक्त जौ के आटे का एक पिण्ड सभी १२ देवताओं (पितरों) को देना चाहिए। इसके उपरान्त षोडशीकर्म किया जाता है, जो निम्न है। एक-दूसरे के दक्षिण १९ स्थल (पिण्डों के लिए) बनाये जाते हैं और एक के पश्चात् एक पर पञ्चगव्य छिड़का जाता है, इसके पश्चात् प्रत्येक स्थल पर अग्र भाग को दक्षिण करके कुश रखे जाते हैं और कुशों पर इच्छित व्यक्तियों का मन्त्रों (वायु० ११०।३०-३२) के साथ आवाहन किया जाता है और उनकी पूजा चन्दनादि से की जाती है। जब षोडषीकर्म किसी देव-स्थल पर किया जाता है तो देव-पूजा भी होती है, तिलयुक्त अंजलि-जल दिया जाता है और प्रथम स्थल से आरम्भ कर पिण्ड रखे जाते हैं। यह पिण्डदान अपसव्य रूप में किया जाता है। रघुनन्दन का कथन है कि यद्यपि १९ पिण्ड दिये जाते हैं तब भी पारिभाषिक रूप में इसे श्राद्धषोडशी कहा जाता है।[४२] यह ज्ञातव्य है कि पुरुषों के लिए मन्त्रों में 'ये', 'ते' एवं 'तेभ्यः' का प्रयोग होता है, अतः यह 'पुं-षोडशी' है। स्त्रीलिंग शब्दों का प्रयोग करके यह स्त्री-षोडशी' भी हो जाती है (वायु० ११०।५६; त्रिस्थली०, पृ० ३५७; तीर्थचि०, पृ० २९२)।

तिलयुक्त जल से पूर्ण पात्र द्वारा तीन बार पिण्डों पर जल छिड़का जाता है। मन्त्रपाठ (तीर्थचि० पृ० २९३ एवं तीर्थयात्रातत्त्व पृ० १०-११) भी किया जाता है। इसके उपरान्त कर्ता को पृथिवी पर झुककर बुलाये गये देवों (पितरों) को चले जाने के लिए कहना चाहिए; "हे पिता एवं अन्य लोगों, आप मुझे क्षमा करें" कहना चाहिए। इसके उपरान्त उसे जनेऊ को सव्य रूप में धारण करके आचमन करना चाहिए और पूर्वाभिमुख हो दो मन्त्रों (वायु० ११०। ५९-६०, 'साक्षिणः सन्तु' एवं 'आगतोस्मि गयाम') का उच्चारण करना चाहिए। यदि व्यक्ति इस विस्तृत पद्धति को

४२. ऊनविंशतौ षोडशत्वं पारिभाषिकं पञ्चाम्रवत्। तीर्थयात्रातत्त्व (पृ० ८)। जब कोई किसी से पूछता है कि उसके पास कितने आम्र-वृक्ष या फल हैं तो उत्तर यह दिया जा सकता है कि 'पाँच', भले ही ६ या ७ की संख्या हो।

निवाहने में असमर्थ हो तो उसे कम-से-कम संकल्प करके पिण्डदान करना चाहिए। उसे अपसव्य रूप में जनेऊ धारण कर वायु० के श्लोकों (११०।१०-१२ एवं ११०।५९-६०) का पाठ करना चाहिए और अपने सूत्र के अनुसार अन्य कृत्य करने चाहिए, यथा-पिण्ड रखे जाने वाले स्थान पर रेखा खींचना, कुश बिछाना, पिण्डों पर जल छिड़कना, पिण्डदान करना, पुनर्जलसिंचन, श्वासावरोध, परिधान की गाँठ खोलना, एक सूत का अर्पण करना एवं चन्दन लगाना।

इसके उपरान्त यात्री प्रेतशिला से नीचे उतरकर रामतीर्थ में स्नान करता है, जो प्रभासह्लद के समान है। इसके उपरान्त उसे तर्पण एवं श्राद्ध अपने गृह्यसूत्र के अनुसार करना चाहिए। उसे पिता आदि को १२ पिण्ड, एक अक्षय पिण्ड एवं षोडशीपिण्ड देने चाहिए। यदि ये सभी कर्म न किये जा सकें तो एक का सम्पादन पर्याप्त है। इसके उपरान्त 'राम-राम' मन्त्र (वायु० १०८।२०) के साथ संकल्प करके राम को प्रणाम करना चाहिए। जब यात्री यह स्नान, श्राद्ध एवं पिण्डदान करता है तो उसके पितर प्रेत-स्थिति से मुक्ति पा जाते हैं (वायु० १०८।२१)। इसके उपरान्त उसे ज्योतिर्मान् प्रभासेश (शिव) की पूजा करनी चाहिए। राम एवं शिव (प्रभासेश) की पूजा 'आपस्त्वमसि' (वायु० १०८।२२) मन्त्र के साथ की जानी चाहिए। इसके उपरान्त भात की बलि ('यह बलि है, ओम् यम आपको नमन है' कहकर) यम को देनी चाहिए। इसके पश्चात् प्रभास पर्वत के दक्षिण नग पर्वत पर 'द्वौ श्वानौ' (वायु० १०८।३०) श्लोक का पाठ करके बलि देनी चाहिए और कहना चाहिए--'यह यमराज एवं धर्मराज को बलि है; नमस्कार'। यह बलि सभी यात्रियों के लिए आवश्यक है; शेष योग्यता के अनुसार किये जा सकते हैं। इस प्रकार गया-प्रवेश के प्रथम दिन के कृत्य समाप्त होते हैं।

गया-प्रवेश के दूसरे दिन यात्री को फल्गु में स्नान करना चाहिए, आह्निक तर्पण एवं देवपूजा करनी चाहिए और तब अपराह्न में ब्रह्मकुण्ड (प्रेतपर्वत के मूल के उत्तर-पश्चिम में अवस्थित) में स्नान करना चाहिए।[४३] यहाँ पर किया गया श्राद्ध ब्रह्मवेदी पर सम्पादित समझा जाता है (अर्थात् जहाँ ब्रह्मा ने अश्वमेध यज्ञ किया था)। इसके उपरान्त यात्री को दक्षिणाभिमुख होकर 'ये केचित्' (वायु० ११०।६३; तीर्थचि०, पृ० २९७) मन्त्रपाठ के साथ तिलयुक्त यवों को प्रेतपर्वत पर फेंकना चाहिए तथा 'आब्रह्म' (वायु० ११०।६४) के साथ तिलयुक्त जलांजलि देनी चाहिए।[४४]

गयाप्रवेश के तीसरे दिन पंचतीर्थी कृत्य किये जाते हैं, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। यात्री 'उत्तरे मानसे स्नानम्' (वायु० ११०।२-३) मन्त्रपाठ के साथ उत्तर मानस में स्नान करता है।[४५] उसे एक अंजलि जल देकर श्राद्ध करना चाहिए (वायु० ११०।२०-२१)। इसके उपरान्त उसे उत्तर मानस में दक्षिण बैठकर, कुशों को (अग्रभाग को दक्षिण करके) बिछाकर, तिल युक्त जल देकर, तिल, कुशों, मधु, दधि एवं जल में यव के आटे को मिलाकर उसका एक पिण्ड देना चाहिए। तब उसे 'नमोस्तु मानवे' (वायु० १११।५) मन्त्र के साथ उत्तर मानस में सूर्य की प्रतिमा की पूजा करनी चाहिए। इसके उपरान्त यात्री को मौन रूप से दक्षिण मानस को जाना चाहिए और वहाँ उदीचीतीर्थ में स्नान

४३. ब्रह्मकुण्डस्नान का संकल्प यों है--"ओम् अद्येत्यादि पित्रादीनां पुनरावृत्तिरहितब्रह्मलोकप्राप्तिकामः प्रेतपर्वते श्राद्धमहं करिष्ये।' तीर्थयात्रातत्त्व (पृ० १३)।

४४. यहाँ यह एक ही बार कह दिया जाता है कि प्रत्येक स्नान के लिए उपयुक्त संकल्प होता है, प्रत्येक स्नान के उपरान्त तर्पण होता है, जिस प्रकार प्रेतशिला पर आवाहन से लेकर देवों को साक्षी बनाने तक श्राद्ध के सभी कृत्य किये जाते हैं, उसी प्रकार सब स्थलों पर श्राद्ध कर्म किये जाते हैं। अतः अब हम इस बात को बार-बार नहीं दुहरायेंगे, केवल विशिष्ट स्थलों की विशिष्ट व्यवस्थाओं की ओर ही निर्देश किया जायगा।

४५. संकल्प यों है--'ओम् अद्येत्यादि पापक्षयपूर्वक-सूर्यलोकादिसंसिद्धिपितृमुक्तिकाम उत्तरमानसे स्नानमहं करिष्ये।'

करना चाहिए, इसी प्रकार उसे कनखल एवं दक्षिण मानस में स्नान करना चाहिए (वायु० १.१।९-१०), दक्षिणार्क को प्रणाम करना चाहिए एवं उनकी पूजा करनी चाहिए, मौनार्क को प्रणाम करना चाहिए और तब गदाधर के दक्षिण में स्थित फल्गु में स्नान करके वहाँ तर्पण एवं श्राद्ध करना चाहिए। इसके उपरान्त यात्री को पितामह की पूजा करनी चाहिए (वायु० १११।१९), गदाधर को जाना चाहिए और उनकी पूजा करनी चाहिए (वायु० १११।२१)। तब यात्री पंच तीर्थों को जाता है और स्नान करके तर्पण करता है। इसके उपरान्त वह गदाधर की प्रतिमा को पंचामृत से नहलाता है। रघुनन्दन का कथन है कि गदाधर को पंचामृत से नहलाना अनिवार्य है। अन्य कार्य अपनी योग्यता के अनुसार किया जा सकता है। इस प्रकार पंचतीर्थी के कृत्य समाप्त हो जाते हैं।

पंचतीर्थी के पश्चात् अन्य तीर्थों की यात्रा का वर्णन है जिसे हम यहाँ नहीं दुहराएँगे। केवल वायु० के विशिष्ट मन्त्रों की ओर निर्देश मात्र किया जायगा। मतंगवापी में स्नान एवं श्राद्ध करके यात्री को इस से उत्तर मतंगेश को जाना चाहिए और मन्त्रोच्चारण (वायु० १११।२५ 'प्रमाणं देवताः सन्तु') करना चाहिए। ब्रह्मा द्वारा लगाये गये आम्र-वृक्ष की जड़ में जल ढारते हुए 'आम्र ब्रह्म-सरोद्भूत....' का पाठ करना चाहिए (वायु० १११।३६)। ब्रह्मा को प्रणाम करने का मन्त्र 'नमो ब्रह्मणे....' (वायु० १११।३४६) है। यम को बलि 'यमराज धर्मराज..' (वायु० १११।३८) के साथ देनी चाहिए। कुत्तों को वायु० के १११।३९ एवं कौओं को वायु० १११।४० के मन्त्र के साथ बलि दी जानी चाहिए। पदों के कृत्य के लिए यात्री को रुद्रपद से आरम्भ करना चाहिए और श्राद्ध करके विष्णुपद को जाना चाहिए और वहां पाँच उपचारों से 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) मन्त्र के साथ पूजन करना चाहिए, विष्णुपद की वेदी के दक्षिण उसे श्राद्धषोडशी करनी चाहिए (वायु० ११०।६०)।

रघुनन्दन ने विभिन्न पदों के श्राद्धों पर संक्षेप में लिखा है और कहा है कि पदों का अन्तिम श्राद्ध काश्यपपद पर होता है। गदालोल-तीर्थस्नान के लिए उन्होंने वायु० (१११।७६) का मन्त्र दिया है। इसके उपरान्त उन्होंने कहा है कि अक्षयवट पर श्राद्ध वट के उत्तर उसके मूल के पास करना चाहिए। अक्षयवट को नमस्कार करने के लिए वायु० के (१११।८२-८३) मन्त्र दिये गये हैं। इसके उपरान्त रघुनन्दन ने गायत्री, सरस्वती, विशाला, भरताश्रम एवं मुण्ड-पृष्ठ नामक उपतीर्थों के श्राद्धों का उल्लेख किया है। तब उन्होंने व्यवस्था दी है कि यात्री को वायु० (१०५।५४ 'यासौ वैतरणी नाम...') के मन्त्र को कहकर वैतरणी नदी (भस्मकूट और देवनदी के पास स्थित) को पार करना चाहिए। रघुनन्दन ने गोप्रचार, घृतकुल्या, मधुकुल्या आदि तीर्थों की ओर निर्देश करके कहा है कि यात्री को पाण्डुशिला (जो पितामह के पास चम्पकवन में है) जाकर श्राद्ध करना चाहिए। रघुनन्दन ने टिप्पणी की है कि घृतकुल्या, मधुकुल्या, देविका एवं महानदी नामक नदियाँ एवं धाराएँ (जब वे शिला से मिलती हैं तो) मधुस्रवा कही जाती हैं (वायु० ११२।३०) और वहाँ के तर्पण एवं श्राद्ध से अधिक फल की प्राप्ति होती है। इसके उपरान्त दशाश्वमेध, मतंगपद, मखकुण्ड (उद्यन्त पर्वत के पास), गयाकूट आदि का उल्लेख हुआ है। रघुनन्दन ने अन्त में व्यवस्था दी है कि यात्री को भस्मकूट पर अपने दाहिने हाथ से जनार्दन के हाथ में दधि से मिश्रित (किन्तु तिल के साथ नहीं) एक पिण्ड रखना चाहिए और ऐसा करते हुए पाँच श्लोकों (वायु० १०८।८६-९०) का पाठ करना चाहिए। इसके उपरान्त रघुनन्दन ने मातृषोडशी के लिए १६ श्लोक उद्धृत किये हैं, जो वायुपुराण में नहीं पाये जाते।

अब हमें गयाक्षेत्र, गया एवं गयाशिर या गयाशीर्ष के अन्तरों को समझना चाहिए। वायु०, अग्नि० एवं नारदीय० के अनुसार गयाक्षेत्र पाँच कोसों एवं गयाशिर एक कोस तक विस्तृत है।[४६] काशी, प्रयाग आदि जैसे तीर्थों को पंचक्रोश

४६. 'पञ्चक्रोशं गयाक्षेत्रं क्रोशमेकं गयाशिरः।' वायु० (१०६।६५); अग्नि० (११५।४२) एवं नारदीय० (उत्तर, ४४।१६)।

कहना एक सामान्य रीति हो गयी है। किन्तु वायु० के मतानुसार **गयाक्षेत्र** लम्बाई में प्रेतशिला से लेकर **महाबोधि-वृक्ष** तक लगभग १३ मील है। **गया** को मुण्डपृष्ठ की चारों दिशाओं में ढाई क्रोश विस्तृत माना गया है।[४७] **गयाशिर** गया से छोटा है और उसे फल्गुतीर्थ माना गया है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में **गया** एवं **गयासीस** (गयाशीर्ष का पालि रूप) अति प्रसिद्ध कहे गये हैं (महावग्ग १।२१।१ एवं अंगुत्तरनिकाय, जिल्द ४, पृ० ३०२)।

हमने अति प्रसिद्ध एवं पवित्र तीर्थों में चार का वर्णन विस्तार से किया है। अन्य तीर्थों के विषय में विस्तार से लिखना स्थानाभाव से यहाँ सम्भव नहीं है। लगभग आधे दर्जन तीर्थों के विषय में, संक्षेप में हम कुछ लिखेंगे। आगे हम कुछ विशिष्ट बातों के साथ अन्य तीर्थों की सूची देंगे। किन्तु यहाँ कुछ कहने के पूर्व कुछ प्रसिद्ध तीर्थ-कोटियों की चर्चा कर देना आवश्यक है।

सात नगरियों का एक वर्ग प्रसिद्ध है, जिसमें प्रत्येक तीर्थ अति पवित्र एवं मोक्षदायक माना जाता है और ये सात तीर्थ हैं—अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्तिका (उज्जयिनी) एवं द्वारका।[४८] बदरीनाथ, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर एवं द्वारका को **चार धाम** कहा जाता है। शिवपुराण (४।१।१८३। २१-२४) में १२ ज्योतिर्लिंगों के नाम आये हैं—सौराष्ट्र में **सोमनाथ,** श्रीशैल पर्वत (कर्नूल जिले में कृष्ण नामक स्टेशन से ५० मील दूर) पर **मल्लिकार्जुन,** उज्जयिनी में **महाकाल,** ओंकार-क्षेत्र (एक नर्मदा द्वीप) में **परमेश्वर,** हिमालय में **केदार,** डाकिनी में **भीमाशंकर** (पूना के उत्तर-पश्चिम भीमा नदी के निकास-स्थल पर), काशी में **विश्वेश्वर,** गौतमी (गोदावरी, नासिक के पास) के तट पर **त्र्यम्बकेश्वर,** चिताभूमि में **वैद्यनाथ,** दारुकावन में **नागेश,** सेतुबन्ध में **रामेश्वर** एवं शिवालय (देवगिरि या दौलताबाद से ७ मील की दूरी पर एलूर नामक ग्राम का आधुनिक स्थल) में **घृष्णेश**। शिवपुराण (कोटिद्रुम-संहिता, अध्याय १) ने १२ ज्योतिर्लिंगों के नाम दिये हैं और इनके विषय की आख्यायिकाएँ अध्याय १४-३३ में दी हुई हैं। स्कन्द० (केदारखण्ड, ७।३०-३५) ने १२ ज्योतिर्लिंगों के साथ अन्य लिंगों का भी वर्णन दिया है। बार्हस्पत्यसूत्र (डा० एफ़० डब्लू० टामस द्वारा सम्पादित) ने विष्णु, शिव एवं शक्ति के आठ-आठ बड़े तीर्थों का उल्लेख किया है, जो सिद्धियाँ देते हैं।[४९]

४७. मुण्डपृष्ठाच्च पूर्वस्मिन् दक्षिणे पश्चिमोत्तरे। सार्धं क्रोशद्वयं मानं गयेति परिकीर्तितम्॥ वायु० (त्रिस्थलीसेतु, पृ० ३४२)।

४८. अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमोत्तमाः॥ ब्रह्माण्ड० (४।४०।९१); काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि। मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदाः॥ स्कन्द० (काशीखण्ड, ६।६८); काञ्च्यवन्ती द्वारवती काश्ययोध्या च पञ्चमी। मायापुरी च मथुरा पुर्यः सप्त विमुक्तिदाः॥ काशीखण्ड (२३।७); अयोध्या...वन्तिका। पुरी द्वारवती ज्ञेया सप्तैता मोक्षदायिकाः॥ गरुड़० (प्रेतखण्ड, ३४।५-६)। स्कन्द० (नागरखण्ड, ४७।४) में कान्ती को शूरसेन की राजधानी कहा गया है, किन्तु ब्रह्माण्ड० (३।१३।९४-९७) में कान्तीपुरी को व्यास के ध्यान का स्थल, कुमारधारा एवं पुष्करिणी कहा गया है। कान्ती को कुछ लोग नेपाल की राजधानी काठमाण्डू का प्राचीन नाम कहते हैं, किन्तु एंश्येण्ट जियाग्रफी में इसे ग्वालियर के उत्तर २० मील दूर पर स्थित कोटिवल कहा गया है।

४९. अष्ट वैष्णवक्षेत्राः। बदरिका-सालग्राम-पुरुषोत्तम-द्वारका-बिल्वाचल-अनन्त-सिंह-श्रीरंगाः। अष्टौ शैवाः। अविमुक्त-गंगाद्वार-शिवक्षेत्र-रामेयमुना(?)-शिवसरस्वती-मध्य-शार्दूल-गजक्षेत्राः। शाक्ता अष्टौ च। ओग्घीण-जाल-पूर्ण-काम-कोल्ल-श्रीशैल-काञ्ची-महेन्द्राः। एते महाक्षेत्राः सर्वसिद्धिकराश्च। बार्हस्पत्यसूत्र (३।११९-१२६)।

अध्याय १५

कुरुक्षेत्र एवं कुछ अन्य प्रसिद्ध तीर्थ

कुरुक्षेत्र

कुरुक्षेत्र अम्बाला से २५ मील पूर्व में है। यह एक अति पुनीत स्थल है। इसका इतिहास पुरातन गाथाओं में समा-सा गया है। ऋग्वेद (१०।३३।४) में त्रसदस्यु के पुत्र कुरुश्रवण का उल्लेख हुआ है। 'कुरुश्रवण' का शाब्दिक अर्थ है 'कुरु की भूमि में सुना गया या प्रसिद्ध।' अथर्ववेद (२०।१२७।८) में एक कौरव्य पति (सम्भवतः राजा) की चर्चा हुई है, जिसने अपनी पत्नी से बातचीत की है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के काल में कुरुक्षेत्र अति प्रसिद्ध तीर्थ-स्थल कहा गया है। शतपथब्राह्मण (४।१।५।१३) में उल्लिखित एक गाथा से पता चलता है कि देवों ने कुरुक्षेत्र में एक यज्ञ किया था जिसमें उन्होंने दोनों अश्विनो को पहले यज्ञ-भाग से वञ्चित कर दिया था। मैत्रायणी संहिता (२।१।४, 'देवा वै सत्रमासत कुरुक्षेत्रे) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (५।१।१, 'देवा वै सत्रमासत तेषां कुरुक्षेत्रं वेदिरासीत्') का कथन है कि देवों ने कुरुक्षेत्र में सत्र का सम्पादन किया था। इन उक्तियों में अन्तर्हित भावना यह है कि ब्राह्मण-काल में वैदिक लोग यज्ञ-सम्पादन को अति महत्त्व देते थे, जैसा कि ऋ० (१०।९०।१६) में आया है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' कुरुक्षेत्र ब्राह्मणकाल में वैदिक संस्कृति का केन्द्र था और वहाँ विस्तार के साथ यज्ञ अवश्य सम्पादित होते रहे होंगे। इसी से इसे धर्मक्षेत्र कहा गया ओर देवों को देवकीर्ति इसी से प्राप्त हुई कि उन्होंने धर्म (यज्ञ, तप आदि) का पालन किया था और कुरुक्षेत्र में सत्रों का सम्पादन किया था। कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों में आया है कि बह्लिक प्रातिपीय नामक एक कौरव्य राजा था। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।८।४।१) में आया है कि कुरु-पञ्चाल शिशिर-काल में पूर्व की ओर गये, पश्चिम में वे ग्रीष्म ऋतु में गये जो सबसे बुरी ऋतु है। ऐतरेय ब्राह्मण का उल्लेख अति महत्वपूर्ण है। सरस्वती ने कवष मुनि की रक्षा की थी और जहाँ वह दौड़ती हुई गयी उसे परिसरक कहा गया (ऐ० ब्रा० ८।१ या २।१९)। एक अन्य स्थान पर ऐ० ब्रा० (३५।४=७।३०) में आया है कि उसके काल में कुरुक्षेत्र में 'न्यग्रोध' को 'न्युब्ज' कहा जाता था। ऐ० ब्रा० ने कुरुओं एवं पंचालों के देशों का उल्लेख वश-उशीनरों के देशों के साथ किया है (३८।३=८।१४)। तै० आ० (५।१।१) में गाथा आयी है कि देवों ने एक सत्र किया और उसके लिए कुरुक्षेत्र वेदी के रूप में था।[1] उस वेदी के दक्षिण ओर खाण्डव था, उत्तरी भाग तूर्घ्न था, पृष्ठ भाग परीण था और मरु (रेगिस्तान) उत्कर (कूड़ा वाला गड्ढा) था। इससे प्रकट होता है कि खाण्डव, तूर्घ्न एवं परीण कुरुक्षेत्र के सीमा-भाग थे और मरु जनपद कुरुक्षेत्र से कुछ दूर था। आश्वलायन (१२।६), लाट्यायन (१०।१५) एवं कात्यायन (२४।६।५) के श्रौतसूत्र ताण्ड्य एवं अन्य ब्राह्मणों का अनुसरण करते हैं और कई ऐसे तीर्थों का वर्णन करते हैं जहाँ सारस्वत सत्रों का सम्पादन हुआ था, यथा प्लक्ष प्रस्रवण (जहाँ से सरस्वती निकलती है), सरस्वती का वैतन्धव-ह्रद, कुरुक्षेत्र में परीण का स्थल, कारपचव देश में बहती यमुना एवं त्रिप्लक्षावहरण का देश।

१. देवा वै सत्रमासत।...तेषां कुरुक्षेत्रं वेदिरासीत्। तस्यै खाण्डवो दक्षिणार्ध आसीत्। तूर्घ्नमुत्तरार्धः।

छान्दोग्योपनिषद् (१।१०।१) में उस उषस्ति चाक्रायण की गाथा आयी है जो कुरु देश में तुषारपात होने से अपनी युवा पत्नी के साथ इभ्य-ग्राम में रहने लगा था और भिक्षाटन करके जीविका चलाता था।

निरुक्त (२।१०) ने व्याख्या उपस्थित की है कि ऋ० (१०।९८।५ एवं ७) में उल्लिखित देवापि एवं शन्तनु ऐतिहासिक व्यक्ति थे और कुरु के राजा ऋष्टिषेण के पुत्र थे। पाणिनि (४।१।१५१ एवं ४।१।१७२) ने व्युत्पत्ति की है कि 'कुरु' से 'कौरव्य' बना है; पहले का अर्थ है 'राजा' और दूसरे का 'अपत्य'।

महाभारत ने कुरुक्षेत्र की महत्ता के विषय में बहुधा उल्लेख किया है। इसमें आया है कि सरस्वती के दक्षिण एवं दृषद्वती के उत्तर की भूमि कुरुक्षेत्र में थी और जो लोग उसमें निवास करते थे मानो स्वर्ग में रहते थे।[२] वामनपुराण (८६।६) में कुरुक्षेत्र को ब्रह्मावर्त कहा गया है। वामनपुराण के अनुसार सरस्वती एवं दृषद्वती के बीच का देश कुरु-जागल था। किन्तु मनु (२।१७।१८) ने ब्रह्मावर्त को वह देश कहा है जिसे ब्रह्मदेव ने सरस्वती एवं दृषद्वती नामक पवित्र नदियों के मध्य में बनाया था। ब्रह्मर्षिदेश वह था जो पवित्रता में थोड़ा कम और कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल एवं शूरसेन से मिलकर बना था। इन वचनों से प्रकट होता है कि आर्यावर्त में ब्रह्मावर्त सर्वोत्तम देश था और कुरुक्षेत्र भी बहुत अंशों में इसके समान ही था।[३] हमने यह भी देख लिया है कि ब्राह्मण-काल में अत्यन्त पुनीत नदी सरस्वती कुरुक्षेत्र से होकर बहती थी और जहाँ यह मरुभूमि में अन्तर्हित हो गयी थी उसे 'विनशन' कहा जाता था और वह भी एक तीर्थ-स्थल था।

आरम्भिक रूप में कुरुक्षेत्र ब्रह्मा की यज्ञिय वेदी कहा जाता था, आगे चलकर इसे समन्तपञ्चक कहा गया, जब कि परशुराम ने अपने पिता की हत्या के प्रतिशोध में क्षत्रियों के रक्त से पाँच कुण्ड बना डाले, जो पितरों के आशीर्वचनों से कालान्तर में पाँच पवित्र जलाशयों में परिवर्तित हो गये। आगे चलकर यह भूमि कुरुक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुई जब कि संवरण के पुत्र राजा कुरु ने सोने के हल से सात कोस की भूमि जोत डाली।[४] कुरु नामक राजा के नाम पर ही 'कुरुक्षेत्र' नाम पड़ा है। कुरु ने इन्द्र से वर माँगा था कि वह भूमि, जिसे उसने जोता था, धर्मक्षेत्र कह-

परीणज्जघनार्धः। मरव उत्करः॥ तै० आ० (५।१।१)। क्या 'तूर्घ्नं' 'स्रुघ्न' का प्राचीन रूप है? 'स्रुघ्न' या आधुनिक 'सुघ' जो प्राचीन यमुना पर है, थानेश्वर से ४० मील एवं सहारनपुर से उत्तर-पश्चिम १० मील पर है।

२. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥ वनपर्व (८३।३, २०४-२०५)।

३. सरस्वतीदृषद्वत्योरन्तरं कुरुजांगलम्। वामन० (२२।४७); सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः॥ एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥ मनु (२।१७ एवं १९)। युग-युग में देशों के विस्तार में अन्तर पड़ता रहा है। पंचाल दक्षिण एवं उत्तर में विभाजित था। बुद्ध-काल में पंचाल की राजधानी कन्नौज थी। शूरसेन देश की राजधानी थी मथुरा। 'अनन्तर' का अर्थ है 'थोड़ा कम' या 'किसी से न तो मध्यम या न भिन्न'। और देखिए नारदीय० (उत्तर, ६४।६)।

४. आद्यैषा ब्रह्मणो वेदिस्ततो रामह्रदाः स्मृताः। कुरुणा च यतः कृष्टं कुरुक्षेत्रं ततः स्मृतम्॥ वामन० (२२।५९-६०)। वामन० (२२।१८-२०) के अनुसार ब्रह्मा की पाँच वेदियाँ ये हैं—समन्तपञ्चक (उत्तरा), प्रयाग (मध्यमा), गयाशिर (पूर्वा), विरजा (दक्षिणा) एवं पुष्कर (प्रतीची)। 'स्यमन्तपंचक' शब्द भी आया है (वामन० २२।२० एवं पद्म० ४।१७।७)। विष्णुपुराण (४।१९।७४-७७) के मत से कुरु की वंशावली यों है—'अजमीढ-ऋक्ष-संवरण-कुरु' एवं 'य इदं धर्मक्षेत्रं कुरुक्षेत्रं चकार'।

लाये और जो लोग वहाँ स्नान करें या मरें वे महापुण्यफल पायें।[5] कौरवों एवं पाण्डवों का युद्ध यहीं हुआ था। भगवद्-गीता के प्रथम श्लोक में 'धर्मक्षेत्र' शब्द आया है। वायु० (७७।९३) एवं कूर्म० (२।२०।३३ एवं ३७।३६-३७) में आया है कि श्राद्ध के लिए कुरुजांगल एक योग्य देश है। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने इस देश की चर्चा की है जिसकी राजधानी स्थाण्वीश्वर (आधुनिक थानेसर, जो कुरुक्षेत्र का केन्द्र है) थी और जो धार्मिक पुण्य की भूमि के लिए प्रसिद्ध था।

वनपर्व (१२९।२२) एवं वामनपुराण (२२।१५-१६) में कुरुक्षेत्र का विस्तार पाँच योजन व्यास में कहा गया है।[6] महाभारत एवं कुछ पुराणों में कुरुक्षेत्र की सीमाओं के विषय में एक कुछ अशुद्ध श्लोक आया है, यथा—तरन्तु एवं कारन्तुक तथा मचक्रुक (यक्ष की प्रतिमा) एवं रामह्रदों (परशुराम द्वारा बनाये गये तालाबों) के बीच की भूमि कुरुक्षेत्र, समन्तपञ्चक एवं ब्रह्मा की उत्तरी वेदी है।[7] इसका फल यह है कि कुरुक्षेत्र कई नामों से व्यक्त हुआ है, यथा—ब्रह्मसर, रामह्रद, समन्तपञ्चक, विनशन, सन्निहती (तीर्थप्रकाश, पृ० ४६३)। कुरुक्षेत्र की सीमा के लिए देखिए कनिंघम (आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, जिल्द १४, पृ० ८६-१०६), जिन्होंने टिप्पणी की है कि कुरुक्षेत्र अम्बाला के दक्षिण ३० मीलों तक तथा पानीपत के उत्तर ४० मीलों तक विस्तृत है। प्राचीन काल में वैदिक लोगों की संस्कृति एवं कार्य-कलापों का केन्द्र कुरुक्षेत्र था। क्रमशः वैदिक लोग पूर्व एवं दक्षिण की ओर बढ़े और गंगा-यमुना के देश में फैल गये तथा आगे चलकर विदेह (या मिथिला) भारतीय संस्कृति का केन्द्र हो गया।

महाभारत एवं पुराणों में वर्णित कुरुक्षेत्र की महत्ता के विषय में हम यहाँ सविस्तर नहीं लिख सकते। वन० (८३।१-२) में आया है कि कुरुक्षेत्र के सभी लोग पापमुक्त हो जाते हैं और वह भी जो सदा ऐसा कहता है—'मैं कुरुक्षेत्र को जाऊँगा और वहाँ रहूँगा।'[8] 'इस विश्व में इससे बढ़कर कोई अन्य पुनीत स्थल नहीं है। यहाँ तक कि यहाँ की उड़ी हुई धूलि के कण पापी को परम पद देते हैं।' यहाँ तक कि गंगा की भी तुलना कुरुक्षेत्र से की गयी है (कुरुक्षेत्रसमा गंगा, वनपर्व ८५।८८)। नारदीय० (२।६४।२३-२४) में आया है कि ग्रहों, नक्षत्रों एवं तारागणों को कालगति से (आकाश

५. यावदेतन्मया कृष्टं धर्मक्षेत्रं तदस्तु वः। स्नातानां च मृतानां च महापुण्यफलं त्विह॥ वामन० (२२।३३-३४)। मिलाइए शल्यपर्व (५३।१३-१४)।

६. वेदी प्रजापतेरेषा समन्तात्पञ्चयोजना। कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः॥ वनपर्व (१२९।२२); समाजगाम च पुनर्ब्रह्मणो वेदिमुत्तराम्। समन्तपंचकं नाम धर्मस्थानमनुत्तमम्॥ आ समन्ताद्योजनानि पञ्च पञ्च च सर्वतः॥ वामन० (२२।१५-१६)। नारदीय० (उत्तर, ६४।२०) में आया है—'पञ्चयोजनविस्तारं दयासत्यक्षमोद्गमम्। स्यमन्तपञ्चकं तावत्कुरुक्षेत्रमुदाहृतम्॥'

७. तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य। एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते॥ वनपर्व (८३।२०८), शल्यपर्व (५३।२४)। पद्म० (१।२७।९२) ने 'तरण्डकारण्डकयोः' पाठ दिया है (कल्पतरु, तीर्थ, पृ० १७९)। वनपर्व (८३।९-१५ एवं २००) में आया है कि भगवान् विष्णु द्वारा नियुक्त कुरुक्षेत्र के द्वारपालों में एक द्वारपाल था मचक्रुक नामक यक्ष। क्या हम प्रथम शब्द को 'तरन्तुक' एवं 'अरन्तुक' में नहीं विभाजित कर सकते? नारदीय० (उत्तर, ६५।२४) में कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत 'रन्तुक' नामक उपतीर्थ का उल्लेख है (तीर्थप्र०, पृ० ४६४-४६५)। कनिंघम के मत से 'रत्नुक' थानेसर के पूर्व ४ मील की दूरी पर कुरुक्षेत्र के घेरे के उत्तर-पूर्व में स्थित रतन यक्ष है।

८. ततो गच्छेत राजेन्द्र कुरुक्षेत्रमभिष्टुतम्। पापेभ्यो विप्रमुच्यन्ते तद्गताः सर्वजन्तवः॥ कुरुक्षेत्रं गमिष्यामि कुरुक्षेत्रे वसाम्यहम्। य एवं सततं ब्रूयात् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ वनपर्व (८३।१-२)। टीकाकार नीलकण्ठ ने एक विचित्र

से) नीचे गिर पड़ने का भय है, किन्तु वे, जो कुरुक्षेत्र में मरते हैं पुनः पृथिवी पर नहीं गिरते, अर्थात् वे पुनः जन्म नहीं लेते।[९]

यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि वनपर्व ने ८३वें अध्याय में सरस्वतीतट पर एवं कुरुक्षेत्र में कतिपय तीर्थों का उल्लेख किया है, किन्तु ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों में उल्लिखित तीर्थों से उनका मेल नहीं खाता, केवल 'विनशन' (वनपर्व ८३।११) एवं 'सरक' (जो ऐतरेय ब्राह्मण का सम्भवतः परिसरक है) के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इससे यह प्रकट होता है कि वनपर्व का सरस्वती एवं कुरुक्षेत्र से संबन्धित उल्लेख श्रौतसूत्रों के उल्लेख से कई शताब्दियों के पश्चात् का है। नारदीय० (उत्तर, अध्याय ६५) ने कुरुक्षेत्र के लगभग १०० तीर्थों के नाम दिये हैं। इनका विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है, किन्तु कुछ के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। पहला तीर्थ है **ब्रह्मसर** जहाँ राजा कुरु संन्यासी के रूप में रहते थे (वन० ८३।८५, वामन० ४९।३८-४१, नारदीय०, उत्तर ६५।९५)। ऐंश्येण्ट जियाग्राफी आव इण्डिया (पृ० ३३४-३३५) में आया है कि यह सर ३५४६ फुट (पूर्व से पश्चिम) लम्बा एवं उत्तर से दक्षिण १९०० फुट चौड़ा था। वामन० (२५।५०-५५) ने सविस्तर वर्णन किया है और उसका कथन है कि यह आधा योजन विस्तृत था। **चक्रतीर्थ** सम्भवतः वह स्थान है जहाँ कृष्ण ने भीष्म पर आक्रमण करने के लिए चक्र उठाया था (वामन० ४२।५, ५७।८९ एवं ८१।३)। **व्यासस्थली** थानेसर के दक्षिण-पश्चिम १७ मील दूर आधुनिक बस्थली है जहाँ व्यास ने पुत्र की हानि पर मर जाने का प्रण किया था (वन० ८४।९६; नारदीय०, उत्तरार्ध ६५।८३ एवं पद्म० १।२६।९०-९१)। **अस्थिपुर** (पद्म०, आदि, २७।६२) थानेसर के पश्चिम और औजसघाट के दक्षिण है, जहाँ पर महाभारत में मारे गये योद्धा जलाये गये थे। कनिंघम (आर्क्यालॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स ऑव इण्डिया, जिल्द २, पृ० २१९) के मत से चक्रतीर्थ अस्थिपुर ही है और अलबरूनी के काल में यह कुरुक्षेत्र में एक प्रसिद्ध तीर्थ था। **पृथूदक**, जो सरस्वती पर था, वनपर्व (८३। १४२-१४९) द्वारा प्रशंसित है—'लोगों का कथन है कि कुरुक्षेत्र पुनीत है, सरस्वती कुरुक्षेत्र से पुनीततर है, सरस्वती नदी से उसके (सरस्वती के) तीर्थ-स्थल अधिक पुनीत हैं और पृथूदक इन सभी सरस्वती के तीर्थों से उत्तम है। पृथूदक से बढ़कर कोई अन्य तीर्थ नहीं है' (वन० ८३।१४७; शान्ति० १५२।११; पद्म०, आदि २७।३३, ३४, ३६ एवं कल्प० तीर्थ, पृ० १८०-१८१)।[१०] शल्यपर्व (३९।३३-३४) में आया है कि जो भी कोई पुनीत वचनों का पाठ करता हुआ सरस्वती के उत्तरी तट पर पृथूदक में प्राण छोड़ता है, दूसरे दिन से मृत्यु द्वारा कष्ट नहीं पाता (अर्थात् वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है)। वामन० (३९।२० एवं २३) ने इसे ब्रह्मयोनितीर्थ कहा है। पृथूदक आज का पेहोवा है जो थानेसर से १४ मील पश्चिम करनाल जिले में है (देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० १८४)।

व्युत्पत्ति दी है (वनपर्व ८३।६)—'कुत्सितं रौतीति कुरु पापं तस्य क्षेपणात् त्रायते इति कुरुक्षेत्रं पापनिवर्तकं ब्रह्मोपलब्धि-स्थानत्वाद् ब्रह्मसदनम्।' 'सम्यक् अन्तो येषु क्षत्रियाणां ते समन्ता रामकृतरुधिरोदह्रदाः, तेषां पञ्चकं समन्तपञ्चकम्।' देखिए तीर्थप्र० (पृ० ४६३)।

९. ग्रहनक्षत्रताराणां कालेन पतनाद् भयम्। कुरुक्षेत्रमृतानां तु न भूयः पतनं भवेत्।। नारदीय (उत्तर, २।६४। २३-२४), वामन० (३३।१६)।

१०. पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात्सरस्वती। सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम्।। पृथूदकात्तीर्थतमं नान्यत्तीर्थं कुरूद्वह।। (वन० ८३।१४७)। वामन० (२२।४४) का कथन है—'तस्यैव मध्ये बहुपुण्ययुक्तं पृथूदकं पापहरं शिवं च। पुण्या नदी प्राङ्मुखतां प्रयाता जलौघयुक्तस्य सुता जलाढ्या।।'

वामन० (३४।३) एवं नारदीय० (उत्तर, ६५।४-७) में कुरुक्षेत्र के सात वनों का उल्लेख है, यथा—काम्यक, अदितिवन, व्यासवन, फलकीवन, सूर्यवन, मधुवन एवं सीतावन (देखिए आर्क्यालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स फार इण्डिया, जिल्द १४, पृ० ९०-९१)। शल्यपर्व (अध्याय ३८) में कहा गया है कि संसार सात सरस्वतियों द्वारा घिरा हुआ है, यथा—सुप्रभा (पुष्कर में, जहाँ ब्रह्मा ने एक महान् यज्ञ करते समय उसका स्मरण किया था), कांचनाक्षी (नैमिष वन में), विशाला (गया देश में गय द्वारा आवाहित की हुई), मनोरमा (उत्तर कोसल में औद्दालक के यज्ञ में), सुरेणु (ऋषभ द्वीप में कुरु के यज्ञ में), ओघवती (कुरुक्षेत्र में वसिष्ठ द्वारा कही गयी) एवं विमलोदा (जब ब्रह्मा ने हिमालय में पुनः यज्ञ किया)। वामन० (३४।६८) में सरस्वती के सम्बन्ध में सात नदियाँ अति पवित्र कही गयी हैं (यद्यपि ९ के नाम आये हैं) यथा—सरस्वती, वैतरणी, आपगा, गंगा-मन्दाकिनी, मधुस्रवा, अम्बुनदी, कौशिकी, दृषद्वती एवं हिरण्वती।

कुरुक्षेत्र को सन्निहती या सन्निहत्या भी कहा गया है (देखिए तीर्थों की सूची)। वामन० (३२।३-४) का कथन है कि सरस्वती प्लक्ष वृक्ष से निकलती है और कई पर्वतों को छेदती हुई द्वैतवन में प्रवेश करती है। इस पुराण में मार्कण्डेय द्वारा की गयी सरस्वती की प्रशस्ति भी दी हुई है। अलबरूनी (सचौ, जिल्द १, पृ० २६१) का कथन है कि सोमनाथ से एक बाण-निक्षेप की दूरी पर सरस्वती समुद्र में मिल जाती है। एक छोटी, किन्तु पुनीत नदी सरस्वती महीकण्ठ नाम की पहाड़ियों से निकलती है और पालनपुर के उत्तर-पूर्व होती हुई सिद्धपुर एवं पाटन को पार करती कई मीलों तक पृथिवी के अन्दर बहती है और कच्छ के रन में प्रवेश कर जाती है (बम्बई गजेटियर, जिल्द ५, पृ० २८३)।[११]

मथुरा

शूरसेन देश की मुख्य नगरी मथुरा के विषय में आज तक कोई वैदिक संकेत नहीं प्राप्त हो सका है। किन्तु ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से इसका अस्तित्व सिद्ध हो चुका है। अंगुत्तरनिकाय (१।१६७, एकं समयं आयस्मा महाकच्छानो मधुरायं विहरति गुन्दावने) एवं मज्झिम० (२।८४) में आया है कि बुद्ध के एक महान् शिष्य महाकच्छायन ने मथुरा में अपने गुरु के सिद्धान्तों की शिक्षा दी। मेगस्थनीज सम्भवतः मथुरा को जानता था और इसके साथ हरेक्लीज (हरि-कृष्ण ?) के सम्बन्ध से भी परिचित था। 'माथुर' (मथुरा का निवासी, या वहाँ उत्पन्न हुआ या मथुरा से आया हुआ) शब्द जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र में भी आया है। यद्यपि पाणिनि के सूत्रों में स्पष्ट रूप से 'मथुरा' शब्द नहीं आया है, किन्तु वरणादि-गण (पाणिनि, ४।२।८२) में इसका प्रयोग मिलता है। किन्तु पाणिनि को वासुदेव, अर्जुन (४।३। ९८), यादवों के अन्धक-वृष्णि लोग, सम्भवतः गोविन्द भी (३।१।१३८ एवं वार्तिक 'गवि च विन्देः संज्ञायाम्') ज्ञात थे। पतञ्जलि के महाभाष्य में मथुरा शब्द कई बार आया है (जिल्द १, पृ० १८, १९ एवं १९२, २४४, जिल्द ३, पृ० २९९ आदि)। कई स्थानों पर वासुदेव द्वारा कंस के नाश का उल्लेख नाटकीय संकेतों, चित्रों एवं गाथाओं के रूप में आया है। उत्तराध्ययनसूत्र में मथुरा को सौर्यपुर कहा गया है, किन्तु महाभाष्य में उल्लिखित सौर्य नगर मथुरा ही है, ऐसा कहना सन्देहात्मक है। आदिपर्व (२२१।४६) में आया है कि मथुरा अति सुन्दर गायों के लिए उन दिनों प्रसिद्ध थी। जब जरासन्ध के वीर सेनापति हंस एवं डिम्मक यमुना में डूब गये, और जब जरासन्ध दुःखित होकर मगध चला गया तो कृष्ण कहते हैं; 'अब हम पुनः प्रसन्न होकर मथुरा में रह सकेंगे' (सभापर्व १४।४१-४५)। अन्त में जरासन्ध के लगातार आक्रमणों से तंग आकर कृष्ण ने यादवों को द्वारका में ले जाकर बसाया (सभापर्व १४।४९-५० एवं ६७)।

११. कुरुक्षेत्र के तीर्थों की सूची के लिए देखिए ए० एस० आर० आव इण्डिया (जिल्द १४, पृ० ९७-१०६)।

ब्रह्मपुराण (१४।५४-५६) में आया है कि कृष्ण की सम्मति से वृष्णियों एवं अन्धकों ने कालयवन के भय से मथुरा का त्याग कर दिया। वायु० (८८।१८५) का कथन है कि राम के भाई शत्रुघ्न ने मधु के पुत्र लवण को मार डाला और मधुवन में मथुरा को प्रतिष्ठापित किया, किन्तु रामायण (उत्तरकाण्ड, ७०।६-९) में आया है कि शत्रुघ्न ने १२ वर्षों में मथुरा को सुन्दर एवं समृद्धिशाली नगर बनाया। घट-जातक (फॉस्बॉल, जिल्द ४, पृ० ७९-८९, संख्या ४५४) में मथुरा को **उत्तर मथुरा** कहा गया है (दक्षिण के पाण्डयों की नगरी भी मधुरा के नाम से प्रसिद्ध थी), वहाँ कंस एवं वासुदेव की गाथा भी आयी है जो महाभारत एवं पुराणों की गाथा से भिन्न है। रघुवंश (१५।२८) में इसे मधुरा नाम से शत्रुघ्न द्वारा स्थापित कहा गया है। ह्वेनसाँग के अनुसार मथुरा में अशोकराज द्वारा तीन स्तूप बनवाये गये थे, पाँच देवमन्दिर थे और बीस संघाराम थे, जिनमें २००० बौद्ध रहते थे (बुद्धिस्ट रिकर्ड्स आव वेस्टर्न वर्ल्ड, बील, जिल्द १, पृ० १७९)। जेम्स ऐलन (कैटलॉग आव क्वाएंस आव ऐंश्येण्ट इण्डिया, १९३६) का कथन है कि मथुरा के हिन्दू राजाओं के सिक्के ई० पू० द्वितीय शताब्दी के आरम्भ से प्रथम शताब्दी के मध्य भाग तक के हैं (और देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जिल्द १, पृ० ५३८)। एफ्० एस्० ग्राउस की पुस्तक 'मथुरा' (सन् १८८० द्वितीय संस्करण) भी दृष्टव्य है। मथुरा के इतिहास एवं प्राचीनता के विषय में शिलालेख भी प्रकाश डालते हैं।[१२] खारवेल के प्रसिद्ध अभिलेख में कलिंगराज (खारवेल) की उस विजय का वर्णन है, जिसमें मधुरा (मथुरा) की ओर यवनराज दिमित का भाग जाना उल्लिखित है। कनिष्क, हुविष्क एवं अन्य कुषाण राजाओं के शिलालेख भी पाये जाते हैं, यथा—महाराज राजाधिराज कनिक्ख (संवत् ८, एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १७, पृ० १०) का नाग-प्रतिमा का शिलालेख; सं० १४ का स्तम्भतल लेख;[१३] हुविष्क (सं० ३३) के राज्यकाल का बोधिसत्व की प्रतिमा के आधार वाला शिलालेख (एपिग्रै० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० १८१-१८२); वासु (सं० ७४, वही, जिल्द ९, पृ० २४१) का शिलालेख; शोण्डास (वही, पृ० २४६) के काल का शिलालेख एवं मथुरा तथा उसके आस-पास के सात ब्राह्मी लेख (वही, जिल्द २४, पृ० १९४-२१०)। एक अन्य मनोरंजक शिलालेख भी है, जिसमें नन्दिबल एवं मथुरा के अभिनेता (शैलालक) के पुत्रों द्वारा नागेन्द्र दधिकर्ण के मन्दिर में प्रदत्त एक प्रस्तर-खण्ड का उल्लेख है (वही, जिल्द १, पृ० ३९०)। विष्णुपुराण (६।८।३१) से प्रकट होता है कि इसके प्रणयन के पूर्व मथुरा में हरि की एक प्रतिमा प्रतिष्ठापित हुई थी। वायु० (९९।३८२-८३) ने भविष्यवाणी के रूप में कहा है कि मथुरा, प्रयाग, साकेत एवं मगध में गुप्तों के पूर्व सात नाग राजा राज्य करेंगे।[१४] अलबरूनी के भारत (जिल्द २, पृ० १४७) में आया है कि माहुरा (मथुरा) में ब्राह्मणों की भीड़ है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन से प्रकट होता है कि ईसा के ५ या ६ शताब्दियों पूर्व मथुरा एक समृद्धिशाली पुरी थी, जहाँ महाकाव्य-कालीन हिन्दू धर्म प्रचलित था, जहाँ आगे चलकर बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का प्राधान्य हुआ, जहाँ

१२. देखिए डा० बी० सी० लॉ का लेख 'मथुरा इन ऐंश्येण्ट इण्डिया', जे० ए० एस्० आव बंगाल (जिल्द १३, १९४७, पृ० २१-३०)।

१३. सामान्य रूप से कनिष्क की तिथि ७८ ई० मानी गयी है। देखिए जे० बी० ओ० आर० एस्० (जिल्द २३, १९३७, पृ० ११३-११७, डा० ए० बनर्जी-शास्त्री)।

१४. नव नाकास्तु (नागास्तु ?) भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः। मथुरां च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै॥ अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा। एतान् जनपदान्सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥ वायु० (९९।३८२-८३); ब्रह्मा० (३।७४।१९४)। देखिए डा० जायसवाल कृत 'हिस्ट्री आव इण्डिया (१५०-३५० ई०),' पृ० ३-१५, जहाँ नाग-वंश के विषय में चर्चा है।

पुनः नागों एवं गुप्तों में हिन्दू धर्म जागरित हुआ, सातवीं शताब्दी में (जब ह्वेनसाँग यहाँ आया था) जहाँ बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म एक-समान पूजित थे और जहाँ पुनः ११वीं शताब्दी में ब्राह्मणवाद प्रधानता को प्राप्त हो गया।

अग्नि० (११।८-९) में एक विचित्र बात यह लिखी है कि राम की आज्ञा से भरत ने मथुरा पुरी में शैलूष के तीन कोटि पुत्रों को मार डाला।[15] लगभग दो सहस्राब्दियों से अधिक काल तक मथुरा कृष्ण-पूजा एवं भागवत धर्म का केन्द्र रहा है। वराहपुराण में मथुरा की महत्ता एवं इसके उपतीर्थों के विषय में लगभग एक सहस्र श्लोक पाये जाते हैं (अध्याय १५२-१७८)। बृहन्नारदीय० (अध्याय ७९-८०), भागवत० (१०) एवं विष्णुपुराण (५-६) में कृष्ण, राधा, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन एवं कृष्णलीला के विषय में बहुत-कुछ लिखा गया है।

स्थानाभाव से मथुरा-सम्बन्धी थोड़े ही श्लोकों की चर्चा की जायगी। पद्म० (आदिखण्ड, २९।४६-४७) का कथन है कि यमुना जब मथुरा से मिल जाती है तो मोक्ष देती है; यमुना मथुरा में पुण्यफल उत्पन्न करती है और जब यह मथुरा से मिल जाती है तो विष्णु की भक्ति देती है। वराह० (१५२।८ एवं ११) में आया है—विष्णु कहते हैं कि इस पृथिवी या अन्तरिक्ष या पाताल लोक में कोई ऐसा स्थान नहीं है जो मथुरा के समान मुझे प्यारा हो—मथुरा मेरा प्रसिद्ध क्षेत्र है और मुक्तिदायक है, इससे बढ़कर मुझे कोई अन्य स्थल नहीं लगता। पद्म० में आया है—'माथुरक नाम विष्णु को अत्यन्त प्रिय है' (४।६९।१२)। हरिवंश (विष्णुपर्व, ५७।२-३) ने मथुरा का सुन्दर वर्णन किया है, एक श्लोक यों है—'मथुरा मध्य-देश का ककुद (अर्थात् अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थल) है, यह लक्ष्मी का निवास-स्थल है, या पृथिवी का शृंग है। इसके समान कोई अन्य नहीं है और यह प्रभूत धन-धान्य से पूर्ण है।'[16]

मथुरा का मण्डल २० योजनों तक विस्तृत था और इसमें मथुरा पुरी बीच में स्थित थी।[17] वराह० एवं नारदीय० (उत्तरार्ध, अध्याय ७९-८०) ने मथुरा एवं इसके आसपास के तीर्थों का उल्लेख किया है। हम इनका यहाँ वर्णन उपस्थित नहीं कर सकेंगे। कुछ महत्वपूर्ण तीर्थों पर संक्षेप में लिखा जायगा। वराह० (अध्याय १५३ एवं १६१। ६-१०) एवं नारदीय० (उत्तरार्ध, ७९।१०-१८) ने मथुरा के पास के १२ वनों की चर्चा की है, यथा—मधु, ताल, कुमुद, काम्य, बहुल, भद्र, खादिर, महावन, लोहजंघ, बिल्व, भाण्डीर एवं वृन्दावन। २४ उपवन भी (ग्राउसकृत मथुरा, पृ० ७६) थे जिन्हें पुराणों ने नहीं, प्रत्युत पश्चात्कालीन ग्रन्थों ने वर्णित किया है। **वृन्दावन** यमुना के किनारे मथुरा के उत्तर-पश्चिम में था और विस्तार में पाँच योजन था (विष्णुपुराण ५।६।२८-४०, नारदीय०, उत्तरार्ध ८०।६,८

१५. अभूत्पूर्वं मथुरा काचिद्रामोक्तो भरतोऽवधीत्। कोटित्रयं च शैलूषपुत्राणां निशितैः शरैः॥ शैलूषं दृप्तगन्धर्वं सिन्धुतीरनिवासिनम्। अग्नि० (२।८-९)। विष्णुधर्मोत्तर० (१, अध्याय २०१-२०२) में आया है कि शैलूष के पुत्र गन्धर्वों ने सिन्धु के दोनों तटों की भूमि को तहस-नहस किया और राम ने अपने भाई भरत को उन्हें नष्ट करने को भेजा—'जहि शैलूषतनयान् गन्धर्वान् पापनिश्चयान्' (१।२०२-१०)। शैलूष का अर्थ अभिनेता भी होता है। क्या यह भरत-नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत के अनुयायियों एवं अन्य अभिनेताओं के झगड़े की ओर संकेत करता है? नाट्यशास्त्र (१७।४७) ने नाटक के लिए शूरसेन की भाषा को अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त माना है। देखिए काणेकृत 'हिस्ट्री आव संस्कृत पोइटिक्स' (पृ० ४०, सन् १९५१)।

१६. तस्मान्माथुरकं नाम विष्णोरेकान्तवल्लभम्। पद्म० (४।६९।१२); मध्यदेशस्य ककुदं धाम लक्ष्म्याश्च केवलम्। शृंगं पृथिव्याः स्वालक्ष्यं प्रभूतधनधान्यवत्॥ हरिवंश (विष्णुपर्व, ५७।२-३)।

१७. विंशतिर्योजनानां तु माथुरं परिमण्डलम्। तन्मध्ये मथुरा नाम पुरी सर्वोत्तमोत्तमा॥ नारदीय० (उत्तर, ७९।२०-२१)।

एवं ७७)।[१८] यही कृष्ण की लीला-भूमि थी। पद्म० (४।६९।९) ने इसे पृथिवी पर वैकुण्ठ माना है। मत्स्य० (१३।३८) ने राधा को वृन्दावन में देवी दाक्षायणी माना है। कालिदास के काल में यह प्रसिद्ध था। रघुवंश (६) में नीप कुल के एवं शूरसेन के राजा सुषेण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वृन्दावन कुबेर की वाटिका चित्ररथ से किसी प्रकार सुन्दरता में कम नहीं है। इसके उपरान्त **गोवर्धन** की महत्ता है, जिसे कृष्ण ने अपनी कनिष्ठा अंगुली पर इन्द्र द्वारा भेजी गयी वर्षा से गोप-गोपियों एवं उनके पशुओं को बचाने के लिए उठाया था (विष्णुपुराण ५।११।१५-२५)। वराहपुराण (१६४।१) में आया है कि **गोवर्धन** मथुरा से पश्चिम लगभग दो योजन है। यह कुछ सीमा तक ठीक है, क्योंकि आजकल वृन्दावन से यह १८ मील है। कूर्म० (१।१४।१८) का कथन है कि प्राचीन राजा पृथु ने यहाँ तप किया था। हरिवंश एवं पुराणों की चर्चाएँ कभी-कभी ऊटपटाँग एवं एक-दूसरे के विरोध में पड़ जाती हैं। उदाहरणार्थ, हरिवंश (विष्णुपर्व १३।३) में तालवन गोवर्धन से उत्तर यमुना पर कहा गया है, किन्तु वास्तव में यह गोवर्धन से दक्षिण-पूर्व में है। कालिदास (रघुवंश ६।५१) ने गोवर्धन की गुफाओं (या गुहाओं-कन्दराओं) का उल्लेख किया है। **गोकुल** व्रज या महावन है जहाँ कृष्ण बचपन में नन्द-गोप द्वारा पालित-पोषित हुए थे। कंस के भय से नन्द गोप गोकुल से वृन्दावन चले आये थे। चैतन्य महाप्रभु वृन्दावन आये थे (देखिए चैतन्यचरितामृत; सर्ग १९ एवं कवि कर्णपूर या परमानन्द दास कृत नाटक चैतन्यचन्द्रोदय, अंक ९)। १६वीं शताब्दी में वृन्दावन के गोस्वामियों, विशेषतः सनातन, रूप एवं जीव के ग्रन्थों के कारण वृन्दावन चैतन्य-भक्ति-सम्प्रदाय का केन्द्र था (देखिए प्रो० एस्० के० दे कृत 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल, १९४२, पृ० ८३-१२२)। चैतन्य के समकालीन वल्लभाचार्य ने प्राचीन गोकुल की अनुकृति पर महावन से एक मील पश्चिम में नया गोकुल बसाया है। चैतन्य एवं वल्लभाचार्य एक दूसरे से वृन्दावन में मिले थे (देखिए मणिलाल सी० पारिख का वल्लभाचार्य पर ग्रन्थ, पृ० १६१)। मथुरा के प्राचीन मन्दिरों को औरंगजेब ने बनारस के मन्दिरों की भाँति नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था।[१९]

सभापर्व (३१९।२३-२५) में ऐसा आया है कि जरासंघ ने गिरिव्रज (मगध की प्राचीन राजधानी, राजगिर) से अपनी गदा फेंकी और वह ९९ योजन की दूरी पर कृष्ण के समक्ष मथुरा में गिरी; जहाँ वह गिरी वह स्थान 'गदावसान' के नाम से विश्रुत हुआ। वह नाम कहीं और नहीं मिलता।

ग्राउस ने 'मथुरा' नामक पुस्तक में (अध्याय ९, पृ० २२२) वृन्दावन के मन्दिरों एवं (अध्याय ११) गोवर्धन, बरसाना, राधा के जन्म-स्थान एवं नन्दगाँव का उल्लेख किया है। और देखिए मथुरा एवं उसके आसपास के तीर्थ-स्थलों के लिए डब्लू० एस्० कैने कृत 'चित्रमय भारत' (पृ० २५३)।

पुरुषोत्तमतीर्थ (जगन्नाथ)

पुरुषोत्तमतीर्थ या जगन्नाथ के विषय में संस्कृत एवं अंग्रेजी में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। जो लोग इसके

१८. पद्म० (पाताल, ७५।८-१४) ने कृष्ण, गोपियों एवं कालिन्दी की गूढ़ व्याख्या उपस्थित की है। गोप-पत्नियाँ योगिनी हैं, कालिन्दी सुषुम्ना है, कृष्ण सर्वव्यापक हैं, आदि आदि।

१९. देखिए इलिएट एवं डाउसन कृत 'हिस्ट्री आव इण्डिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरिएन', जिल्द ७, पृ० १८४, जहाँ 'म-असिर-ए-आलमगीरी' की एक उक्ति इस विषय में इस प्रकार अनूदित हुई है,—"औरंगजेब ने मथुरा के 'देहरा केसु राय' नामक मन्दिर (जो, जैसा कि उस ग्रन्थ में आया है, ३३ लाख रुपयों से निर्मित हुआ था) को नष्ट करने की आज्ञा दी, और शीघ्र ही वह असत्यता का शक्तिशाली गढ़ पृथिवी में मिला दिया गया और उसी स्थान पर एक बृहत् मसजिद की नींव डाल दी गयी।"

विषय में पूर्ण अध्ययन करना चाहते हैं उन्हें निम्न पुस्तकें देखनी चाहिए---डब्लू० डब्लू० हण्टरकृत 'उड़ीसा' (जिल्द १, पृ० ८१-१६७), राजेन्द्रलाल मित्र कृत 'एण्टीक्विटीज़ ऑव उड़ीसा' (जिल्द २, पृ० ९९-१४४), आर० डी० बनर्जी कृत 'हिस्ट्री आव उड़ीसा' (दो जिल्दों में, १९१०), गज़ेटियर ऑन पुरी (जिल्द २०, पृ० ४०९-४१२)।

उड़ीसा में चार अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थ हैं, यथा---**भुवनेश्वर** (या **चक्रतीर्थ**), **जगन्नाथ** (या **शंख-क्षेत्र**), **कोणार्क** (या **पद्म-क्षेत्र**) तथा **याजपुर** या जाजपुर (**गदा-क्षेत्र**)। प्रथम दो आज भी ऊँची दृष्टि से देखे जाते हैं और अन्तिम दो सर्वथा उपेक्षित-से हैं।

पुराणों में पुरुषोत्तमतीर्थ का सविस्तर वर्णन ब्रह्म० (अध्याय ४१-७०, लगभग १६०० श्लोक) एवं बृहन्नारदीय० (उत्तरार्ध, अध्याय ५२-६१, ८२५ श्लोक) में हुआ है। निबन्धों में वाचस्पति कृत तीर्थचिन्तामणि (जिसमें लगभग एक-तिहाई भाग पुरुषोत्तमतीर्थ के विषय में है, पृ० ५३-१७५, और जिसने पुरुषोत्तम-सम्बन्धी ८०० श्लोक ब्रह्मपुराण से उद्धृत किये हैं), रघुनन्दनकृत पुरुषोत्तमतत्त्व (जो संक्षिप्त है और ब्रह्मपुराण पर आधारित है) एवं तीर्थप्रकाश (पृ० ५६१-५९४) विशेष उल्लेखनीय हैं। यह ज्ञातव्य है कि कल्पतरु (लगभग सन् १११०-११२० ई० में प्रणीत) के तीर्थकाण्ड में पुरुषोत्तमतीर्थ का उल्लेख नहीं है, यद्यपि इसने लोहार्गल, स्तुतस्वामी एवं कोकामुख जैसे कम प्रसिद्ध तीर्थों का वर्णन किया है।

रघुनन्दन ने अपने पुरुषोत्तम-तत्त्व में एक मन्त्र (जो अशुद्ध छपा है) ऋग्वेद से उद्धृत किया है जिसके संदर्भ से प्रकट होता है कि यह किसी दुष्टात्मा (अलक्ष्मी) को सम्बोधित है, इसका अर्थ यों है---हे दुष्ट रूप चिबुक (ठुड्डी) वाले दुष्टात्मा (या जिसे कठिनाई से मारा जा सके), उस समुद्र वाले दूर के वन में चले जाओ, जिसका मानवों से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसके साथ दूर स्थानों को चले जाओ।[20] रघुनन्दन का कथन है कि अथर्ववेद में भी ऐसा ही मन्त्र है। सम्भवतः सायण का अनुसरण करके रघुनन्दन ने इस ऋग्वेदीय मन्त्र को पुरुषोत्तम से सम्बन्धित कर दिया है। क्योंकि पुरुषोत्तम की प्रतिमा काष्ठ की होती है।

ब्रह्मपुराण में वर्णित जगन्नाथ की कथा को संक्षेप में कह देना आवश्यक है। भारतवर्ष में दक्षिणी समुद्र के किनारे ओण्ड्र नामक एक देश है जो समुद्र से उत्तर की ओर विरज-मण्डल तक विस्तृत है (२८।१-२)। उस देश में एक तीर्थ है जो पापनाशक एवं मुक्तिदाता है, चारों ओर से बालू से आच्छादित है और है विस्तार में दस योजन (४२।१३-

२०. यथा 'आदौ यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्। तदालभस्व दुर्दूनो तेन याहि परं स्थलम्॥' अस्य व्याख्या सांख्यायनभाष्ये। आदौ विप्रकृष्टदेशे वर्तमानं ... अपूरुषं निर्मातृरहितत्वेन तदालभस्व दुर्दूनो हे होतः....। अथर्ववेदेपि। आदौ... सिन्धोर्मध्ये अपूरुषम्। तदा....स्थलम्। अत्रापि तथैवार्थः। मध्ये तीरे॥ पुरुषोत्तमतत्त्व (जिल्द २, पृ० ५६३)। प्रथम मन्त्र वास्तव में ऋ० (१०।१५५।३ का है---'अदो... अपूरुषम्। तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥' सायण ने इस मन्त्र को पुरुषोत्तम-सम्बन्धी माना है---'यद्दारु दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवताशरीरं ... हे दुर्हणो दुःखेन हननीय केनापि हन्तुमशक्य हे स्तोतः आरभस्व अवलम्बस्व उपास्स्वेत्यर्थः।' सायण ने इस के विषय में अपने किसी पूर्ववर्ती व्यक्ति की व्याख्या दी है, यथा---यह एक दुष्टात्मा (अलक्ष्मी) के प्रति सम्बोधित है और उससे कहा गया है कि वह किसी नाव या लकड़ी के कुन्दे (बलि के रूप में) की ओर चला जाय और उस सुदूर स्थल को चला जाय जहाँ मानव न हों। यह व्याख्या स्वाभाविक-सी है और संदर्भ में बैठ जाती है। अथर्ववेद में यह मन्त्र नहीं मिल सका है।

१४)।[21] उत्कल देश में पुरुषोत्तमतीर्थ नाम से एक तीर्थ अति विख्यात है क्योंकि इस पर विभु जगन्नाथ का अनुग्रह है (४२।३५-३७)। पुरुषोत्तम का वहाँ निवास है अतः उत्कल में जो लोग निवास करते हैं वे देवों की भाँति पूजित होते हैं। अध्याय ४३ एवं ४४ में इन्द्रद्युम्न की गाथा है, जिसने मालवा में अवन्ती (उज्जयिनी) पर राज्य किया था। वह अति पुनीत (धार्मिक), विद्वान् एवं अच्छा राजा था और सभी वेदों, शास्त्रों, महाकाव्यों, पुराणों एवं धर्मशास्त्रों के अध्ययन के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचा था कि वासुदेव सबसे बड़े देव हैं। वह अपनी राजधानी उज्जयिनी से एक विशाल सेना, भृत्यों, पुरोहितों एवं शिल्पकारों को लेकर दक्षिणी समुद्र के किनारे पर आया, वासुदेव क्षेत्र को, जो १० योजन लंबा एवं ५ योजन चौड़ा था, देखा और वहीं शिविर डाल दिया। पुराने समय में उस समुद्र तट पर एक वटवृक्ष था, जिसके पास पुरुषोत्तम या जगन्नाथ की एक इन्द्रनीलमयी प्रतिमा थी जो बालुकावृत हो गयी थी और लता-गुल्मों से घिरी हुई थी। राजा इन्द्रद्युम्न ने वहाँ अश्वमेध यज्ञ किया, एक बड़ा मन्दिर (प्रासाद) बनवाया और उसमें एक उपयुक्त प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने की इच्छा की। राजा ने स्वप्न में वासुदेव को देखा, जिन्होंने उससे प्रातःकाल समुद्र-तट जाने को तथा उसके पास खड़े वटवृक्ष को कुल्हाड़ी से काटने को कहा। राजा ने प्रातःकाल वैसा ही किया और तब दो ब्राह्मण (जो वास्तव में विष्णु एवं विश्वकर्मा थे) प्रकट हुए। विष्णु ने राजा से कहा कि उनके साथी (विश्वकर्मा) देव प्रतिमा बनायेंगे। कृष्ण, बलराम एवं सुभद्रा की तीन प्रतिमाएँ बनायी गयीं और राजा को दी गयीं। विष्णु ने वरदान दिया कि इन्द्रद्युम्न नामक ह्रद (सर या तालाब) जहाँ राजा ने अश्वमेध के उपरान्त स्नान किया था, राजा के नाम से विख्यात होगा, जो लोग उसमें स्नान करेंगे वे इन्द्रलोक जायँगे और जो लोग उस तालाब के किनारे पिण्डदान करेंगे वे अपने कुल के २१ पूर्वपुरुषों को तारेंगे। इसके उपरान्त राजा ने अपने बनवाये हुए मन्दिर में तीनों प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित कर दीं।[22] स्कन्दपुराण ने उत्कलखण्ड नामक उपप्रकरण एवं वैष्णवखण्ड नामक प्रकरण में पुरुषोत्तम-माहात्म्य दिया है, जिसमें इन्द्रद्युम्न की गाथा कुछ भिन्न अन्तरों के साथ दी हुई है।

उपर्युक्त गाथा से यदि अलौकिकता को हटाकर देखा जाय तो यह कहना सम्भव हो जाता है कि पुरुषोत्तम-तीर्थ प्राचीन काल में नीलाचल कहा जाता था, कृष्ण-पूजा यहाँ पर उत्तर भारत से लायी गयी थी और लकड़ी की तीन प्रतिमाएँ कालान्तर में प्रतिष्ठापित हुई थीं। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मैत्रायण्युपनिषद् (१।४) में

२१. विरजाक्षेत्र उड़ीसा में वैतरणी नदी पर स्थित जाजपुर से थोड़ी दूर आगे तक फैला हुआ है। कलिंग, ओड्र एवं उत्कल के लिए देखिए आर० डी० बनर्जीकृत 'हिस्ट्री आव उड़ीसा' (जिल्द १, पृ० ४२-५८)।

२२. देखिए हण्टर कृत 'उड़ीसा' (जिल्द १, पृ० ८९-९४), जहाँ उपर्युक्त गाथा से कुछ भिन्न बातें, जो कपिल-संहिता पर आधारित हैं, कही गयी हैं, जिनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ये हैं कि विष्णु ने इन्द्रद्युम्न को अपनी उस लकड़ी की प्रतिमा दिखलायी जो समुद्र द्वारा प्रकट की गयी थी, प्रतिमाएँ दैवी बढ़ई द्वारा गढ़ी गयी थीं और ऐसी आज्ञा दी गयी थी कि जब तक वे गढ़ न दी जायँ उन्हें कोई न देखे, किन्तु रानी ने उन्हें उस अवस्था में देख लिया जब कि वे केवल कमर तक छीली जा चुकी थीं और कृष्ण एवं बलराम की प्रतिमाओं की भुजाएँ अभी गढ़ी नहीं गयी थीं, अर्थात् अभी वे कुन्दों के तनों के रूप में ही थीं और सुभद्रा की प्रतिमा को अभी भुजाओं का रूप नहीं मिला था। आज की प्रतिमाओं का स्वरूप ऐसा ही है। राजेन्द्रलाल मित्र ने अपनी पुस्तक 'एण्टीक्विटीज़ आव उड़ीसा' (२, पृ० १२२-१२३) में इन प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। इन्द्रद्युम्न की गाथा नारदीयपुराण (उत्तरार्ध, ५२।४१-९३, ५३-५७, ५८।१-२१, ६०-६१) में आयी है। नारदीय० ने ब्रह्मपुराण के समान ही बातें लिखी हैं और ऐसा लगता है कि इसने दूसरे से बहुत कुछ बातें ज्यों-की-त्यों ले ली हैं।

इन्द्रद्युम्न का नाम बहुत-से चक्रवर्ती राजाओं में आया है।[२३] कूर्म० (२।३५।२७) ने भी पुरुषोत्तम की संक्षेप में किन्तु रंगहीन चर्चा की है (तीर्थं नारायणस्यान्यन्नाम्ना तु पुरुषोत्तमम्)। राजेन्द्रलाल मित्र ने कल्पना की है कि पुरुषोत्तम क्षेत्र के इतिहास के तीन काल हैं--आरम्भिक हिन्दू काल, बौद्ध काल एवं वैष्णव काल (पाँचवी शताब्दी के उपरान्त जब कि बौद्ध धर्म पतनोन्मुख हो चला था)। उनका कथन है कि लगभग ७वीं शताब्दी के उपरान्त के ताड़पत्रों पर मन्दिर वृत्तान्त पर्याप्त संख्या में प्राप्त होते हैं किन्तु बौद्धकालीन वृत्तान्त अविश्वसनीय हैं (पृ० १०४)और सम्भवतः पुरी बौद्ध धार्मिक स्थल था (ऐण्टीक्विटीज़ आव उड़ीसा पृ० १०७)। उड़ीसा में ये बौद्ध संकेत मिलते हैं- धौली पहाड़ी के अशोक प्रस्तर-लेख (कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम, जिल्द १, पृ० ८४-१००), भुवनेश्वर के पश्चिम लगभग पाँच मील की दूरी पर खण्डगिरि पहाड़ी पर बौद्धकालीन गुफाएँ, फाहियान द्वारा वर्णित बुद्ध के दन्तावशेष के जुलूस के समान जगन्नाथ-रथ की यात्रा तथा कृष्ण, सुभद्रा एवं बलराम की भद्दी तीन काष्ठ-प्रतिमाएँ, जो कहीं और नहीं पायी जातीं और जो बौद्ध धर्म की बुद्ध, धर्म एवं संघ की तीन विशिष्टताओं की ओर संकेत करती हैं। देखिए मित्र का ग्रन्थ 'ऐण्टीक्विटीज़ आव उड़ीसा' (जिल्द २, पृ० १२२-१२६) जहाँ उन्होंने काष्ठ-खण्ड दिखाये हैं जिन पर प्रतिमाओं के चिह्न अंकित हैं और जो बौद्ध प्रतीकों के समानुरूप ही उनके (डा० मित्र के) द्वारा सिद्ध किये गये हैं; और देखिए कनिंघम की पुस्तक 'ऐंश्येण्ट जियॉग्रफी आव इण्डिया' (पृ० ५१०-५११)। सेवेल का कथन है कि जगन्नाथ की प्रतिमा प्रारम्भिक रूप में त्रिशूलों में से एक ही थी (जे० आर० ए० एस्०, जिल्द १८, पृ० ४०२, नयी प्रति)।

आधुनिक काल में जगन्नाथ-धाम का घेरा वर्गाकार है जो २० फुट ऊँची एवं ६५२ फुट लंबी प्रस्तर-भित्तियों से बना है, जिसमें १२० मंदिर हैं, जिनमें १३ शिव के, कुछ पार्वती के, एक सूर्य का तथा अन्य विभिन्न देव-रूपों के मन्दिर हैं। यह जगन्नाथ-धाम की धार्मिक सहिष्णुता का परिचायक है। ब्रह्मपुराण (५६।६०-६४ एवं ६९-७०) ने भी इस सहिष्णुता की ओर संकेत किया है। पुरुषोत्तमक्षेत्र ने शैवों एवं वैष्णवों के पारस्परिक मतभेदों का समन्वय कर दिया है।[२४] यहाँ पर हिन्दू धर्म के अधिकांशतः सभी स्वरूपों का प्रतिनिधित्व हुआ है। जगन्नाथ के महामन्दिर के चार प्रकोष्ठ हैं--भोग-मन्दिर (जहाँ भोग चढ़ाये जाते हैं), नटमन्दिर (संगीत एवं नृत्य का स्तम्भाकार भवन), जगन्नाथ-मन्दिर (जहाँ यात्री एकत्र होते हैं) और चौथा है अन्तःप्रकोष्ठ जहाँ प्रतिमाएँ हैं। जगन्नाथ के बृहदाकार मन्दिर का उत्तुंग शिखर सूच्याकार है और १९२ फुट ऊँचा है जिसके ऊपर चक्र एवं पताका है।[२५] जगन्नाथ का मन्दिर (प्रासाद) समुद्र-तट से लगभग सात फर्लांग की दूरी पर अवस्थित है और आस-पास की भूमि से लगभग बीस फुट ऊँची भूमि पर खड़ा है, उस ऊँची भूमि (टीले या ढूह) को नीलगिरि कहा जाता है। मन्दिर के चतुर्दिक् घेरे की चारों दिशाओं में चार विशाल द्वार हैं,

२३. परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्ववध्र्यश्वाश्वपतिशशबिन्दुहरिश्चन्द्राम्बरीषननक्तुसर्यातिययात्यनरण्योक्षसेनादयः। मैत्रायणी उपनिषद् (१।४)।

२४. शैवभागवतानां च वादार्थप्रतिषेधकम्। अस्मिन्क्षेत्रवरे पुण्ये निर्मले पुरुषोत्तमे।। शिवस्यायतनं देव करोमि परमं महत्। प्रतिष्ठेयं तथा तत्र तव स्थाने च शंकरम्।। ततो ज्ञास्यन्ति लोके ऽस्मिन्नेकमूर्तो हरीश्वरौ। प्रत्युवाच जगन्नाथः स पुनस्तं महामुनिम्।।...नावयोरन्तरं किञ्चिदेकभावो द्विधा कृतौ।। यो रुद्रः स स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स महेश्वरः।। ब्रह्मपुराण (५६।६०-६६ एवं ६९-७०)।

२५. मन्दिर के ऊपर के चक्र का वर्णन ब्रह्मपुराण में इस प्रकार आया है—'यात्रां करोति कृष्णस्य श्रद्धया यः समाहितः। सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं व्रजेन्नरः।। चक्रं दृष्ट्वा हरेर्दूरात् प्रासादोपरि संस्थितम्। सहसा मुच्यते पापान्नरो भक्त्या प्रणम्य तत्।। (५१।७०-७१, नारदीय०, उत्तर, ५५।१०-११)।

जिनमें पूर्व वाला अधिक सुन्दर है। द्वार के दोनों पार्श्वों में एक-एक विशाल, घुटने टेककर बैठे हुए सिंह की प्रतिमाएँ हैं और इसी से इस द्वार को सिंह-द्वार कहा जाता है।

जगन्नाथ के महामन्दिर की कुछ विशिष्ट परिपाटियाँ भी हैं। प्रथम जगन्नाथ के प्रांगण एवं सिंहद्वार के बाहर कोई जाति-निषेध नहीं है। जगन्नाथ सभी लोगों के देवता हैं।[२६] दूसरी विशेषता यह है कि जगन्नाथ के भोग के रूप में पका हुआ पुनीत चावल इतना पवित्र माना जाता है कि उसे प्रसाद रूप में ग्रहण करने में जाति-बन्धन टूट जाते हैं। यहाँ तक कि नीच जाति के लोगों से भी पुरी के पुरोहित पवित्र भात ग्रहण कर लेते हैं। भावना यह है कि पका हुआ चावल एक बार जगन्नाथ के समक्ष रखे जाने पर अपनी पुनीतता कभी भी नहीं त्यागता। इसी से यह महाप्रसाद सुखाकर भारत के सभी भागों में ले जाया जाता है और वैष्णवों के आवधिक श्राद्धों में पितरों को दिये जानेवाले भोग में इसका प्रयुक्त एक कण महापुण्यकारक माना जाता है (देखिए डा० मित्र को 'ऐण्टीक्विटीज आव उड़ीसा,' जिल्द १, पृ० १३१-१३४)। तीसरी विशेषता है आषाढ़ के शुक्लपक्ष की द्वितीया की रथयात्रा का उत्सव, जो पुरी के २४ महोत्सवों में एक है।[२७] रथयात्रा के मार्मिक उत्सव का वर्णन हण्टर ('उड़ीसा', जिल्द १, पृ० १३१-१३४) ने विस्तार के साथ किया है। यह आषाढ़ शुक्ल पक्ष के दूसरे दिन सम्पादित होता है। जगन्नाथ का रथ ४५ फुट ऊँचा तथा ३५ फुट वर्गाकार है; इसमें १६ तीलियों वाले ७ फुट व्यास के १६ पहिये हैं और कलँगी के रूप में गरुड़ बैठे हैं। दूसरा रथ सुभद्रा का है, जो जगन्नाथ-रथ से थोड़ा छोटा है और इसमें १२ तीलियों वाले १२ पहिये लगे हैं और शिखर पर पद्म है। तीसरा रथ बलराम का है, जिसमें १४ तीलियों वाले १४ पहिये हैं और कलँगी के रूप में हनुमान हैं। ये रथ यात्रियों एवं श्रमिकों द्वारा मन्दिर से लगभग दो मील दूर जगन्नाथ के ग्रामीण भवन तक खींचकर ले जाये जाते हैं। खींचते समय सहस्रों यात्री भावाकुल हो संगीत एवं जयकारों का प्रदर्शन करते हैं। अंग्रेजी साहित्य में ऐसे भ्रामक संकेत कर दिये गये हैं कि बहुत-से यात्री धार्मिक उन्माद में आकर अपने को रथ के चक्कों के समक्ष फेंक देते थे और मर जाते थे। किन्तु ऐसी धारणाएँ सर्वथा निर्मूल हैं। ऐसी घटनाओं का हो जाना सम्भव भी है, क्योंकि जहाँ सहस्रों यात्री हों वहाँ दबकर मर जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु अंग्रेजी साहित्य में जो भ्रामक संकेत कर दिये गये हैं वे भारतीय मोहक धार्मिकता के विरोध में पड़ते हैं। हण्टर ('उड़ीसा', जिल्द १, पृ० १३३-१३४) ने इस गलत धारणा का निराकरण किया है और डा० राजेन्द्रलाल मित्र (ऐण्टीक्विटीज आव उड़ीसा, जिल्द २, पृ० ९९) ने कहा है—'जगन्नाथ से अधिक कोई अन्य भारतीय देव इतना बदनाम नहीं किया गया है। यह निश्चित है कि जगन्नाथ से बढ़कर कोई अन्य देवता इतना कोमल एवं सौम्य नहीं है और उनके भक्तों के सिद्धान्त रक्तपात के सर्वथा विरुद्ध हैं। जो निन्दाजनक बात अन्यायपूर्ण ढंग से इस निर्दोष विषय में कही गयी है वह कहीं और नहीं पायी जाती।' शुक्ल पक्ष की दशमी को रथ पुनः लौट आता है।

डा० मित्र (जिल्द २, पृ० ११२) के मतानुसार पुरी का प्राचीनतम मन्दिर है अलाबुकेश्वर, जिसे भुवनेश्वर शिखर के निर्माता ललाटेन्दु केसरी (६२३-६७७ ई०) ने बनवाया था; इसके पश्चात् मार्कण्डेश्वर का और तब जगन्नाथ-मन्दिर का प्राचीनता में स्थान है (जिल्द २, पृ० ११२)। मनमोहन चक्रवर्ती ने जगन्नाथ-मन्दिर के निर्माण की तिथि

२६. हण्टर ने अपने ग्रन्थ 'उड़ीसा' (पृ० १३५-१३६, जिल्द १) में लिखा है कि २१ जातियों एवं वर्गों (जिनमें ईसाई एवं मुस्लिम भी सम्मिलित हैं) का प्रवेश निषिद्ध है, क्योंकि वे मांसाहारी एवं जीवहत्या करनेवाले होते हैं। मछली मारने वालों एवं कुम्हारों को, जिन्हें हण्टर ने अपनी सूची में रखा है, बाहरी प्रांगण में प्रवेश करने का अधिकार है।

२७. विद्यानिवास (बंगाल के लेखक, १५वीं शताब्दी के लगभग मध्य भाग में) ने जगन्नाथ-सम्बन्धी १२ मासों में किये जानेवाले १२ उत्सवों पर 'द्वादशयात्राप्रयोगप्रमाण' नामक पुस्तक लिखी है।

के विषय में (जे० ए० एस० बी०, १८९८ की जिल्द ६७, भाग १, पृ० ३२८-३३१) चर्चा करते हुए गंग-वंश के ताम्रपत्रों से दो श्लोकों को उद्धृत करके कहा है कि गंगेश्वर ने, जिसका दूसरा नाम चोडगंग था, पुरुषोत्तम के महामन्दिर का निर्माण कराया था।[२८] चोडगंग का राज्याभिषेक शक संवत् ९९९ (सन् १०७८ ई०) में हुआ था अतः एम० एम० चक्रवर्ती ने मत प्रकाशित किया है कि जगन्नाथ का प्रासाद लगभग १०८५-१०९० ई० में निर्मित हुआ। डा० डी० सी० सरकार ('गॉड पुरुषोत्तम एट पुरी', जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द १७, पृ० २०९-२१५) का कथन है कि उड़िया इतिहास 'मादला-पञ्जी' के अनुसार पुरुषोत्तम जगन्नाथ का निर्माण चोडगंग ने नहीं प्रत्युत उसके प्रपौत्र अनंग-भीम तृतीय ने कराया, जिसने वाराणसी (कटक) के मन्दिर में पुरुषोत्तम की प्रतिमा स्थापित करायी थी, जिसे सुलतान फ़ीरोज शाह ने भ्रष्ट कर दिया (इलियट एवं डाउसन, हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द ३, पृ० ३१२-३१५)। इन गंग राजाओं ने भुवनेश्वर, कोणार्क एवं पुरी के भव्य एवं विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया जो उत्तर भारत की वास्तुकला के उच्चतम जीते-जागते उदाहरण हैं। डा० मित्र (ऐण्टीक्विटीज आव उड़ीसा, जिल्द २, पृ० १०९-११०) एवं हण्टर (उड़ीसा, जिल्द १, पृ० १००-१०२) का कथन है कि अनंग-भीम ने भुवनेश्वर के शिखर से बढ़कर अति सुन्दर जगन्नाथ-शिखर बनवाया था (शक संवत् १११९ अर्थात् सन् ११९८ ई० में)।[२९]

जगन्नाथ-मन्दिर भृत्यों (सेवकों) की सेना से सुशोभित है। ये भृत्य या सेवक या चाकर ३६ क्रमों एवं ९७ वर्गों में विभाजित हैं। सबके नेता हैं राजा खुर्धा, जो अपने को जगन्नाथजी का 'झाड़ू देने वाला' कहते हैं (देखिए हण्टर का ग्रन्थ 'उड़ीसा', जिल्द १, पृ० १२८)। यहाँ प्रति वर्ष लाखों-लाख यात्री आते हैं। मुख्य मन्दिर, तीर्थों तथा महामन्दिर के आसपास के मन्दिरों के अग्रहार-दान आदि लाखों रुपयों तक पहुँच जाते हैं। जो कुछ दानादि से सम्पत्ति प्राप्त होती है और पुरी में जो कुछ धार्मिक कृत्य किये जाते हैं, इन सभी बातों के प्रबन्ध आदि के विषय में महान् असंतोष प्रकट किया जाता है। उड़ीसा राज्य ने सन् १९५२ में एक कानून बनाया है (पुरी, श्री जगन्नाथ मन्दिर प्रबन्ध कानून् संख्या १४) जो सेवकों, पुजारियों तथा उन लोगों के, जो सेवा-पूजा एवं देवस्थान के प्रबन्ध से सम्बन्धित हैं, कर्तव्यों एवं अधिकारों पर प्रकाश डालता है। किन्तु यह केवल कुछ निरीक्षण-मात्र की व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता—जैसा कि भक्त लोगों का कथन है।

बनारस की भाँति यहाँ पाँच महत्त्वपूर्ण तीर्थ हैं, यथा—मार्कण्डेय का सरोवर, वट-कृष्ण, बलराम, महोदधि (समुद्र) एवं इन्द्रद्युम्न-सर।[३०] मार्कण्डेय की गाथा ब्रह्मपुराण (अध्याय ५२-५६) एवं नृसिंहपुराण (१०।२१, संक्षेप) में आयी है। ब्रह्म० (५६।७२-७३) में आया है कि विष्णु ने मार्कण्डेय से जगन्नाथ के उत्तर शिव के एक मन्दिर एवं एक सर

२८. प्रासादं पुरुषोत्तमस्य नृपतिः को नाम कर्तुं क्षमस्तस्येत्याद्यनृपैरुपेक्षितमयं चक्रेऽथ गंगेश्वरः॥ इन श्लोकों से पता चलता है कि शिलालेख की तिथि के बहुत पहले से पुरुषोत्तम का मन्दिर अवस्थित था और चोडगंग के पूर्ववर्ती राजाओं ने किसी सुन्दर मन्दिर के निर्माण की चिन्ता नहीं की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि चोडगंग ने केवल भीतरी प्रकोष्ठ का और जगमोहन अर्थात् प्रथम मण्डप का ही निर्माण कराया था (देखिए राखालदास बनर्जी, हिस्ट्री आव उड़ीसा, जिल्द १, पृ० २५१)।

२९. 'शकाब्दे रन्ध्रशुभ्रांशुरूपनक्षत्रनायके। प्रासादं कारयामासानंगभीमेन धीमता॥ देखिए डा० मित्र का ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० ११०, एवं राखालदास बनर्जी का ग्रंथ, जिल्द १, पृ० २४८, जहाँ चोडगंग के राज्याभिषेक की तिथि उसके शकसंवत् १००३ वाले शिलालेख से सिद्ध की गयी है।

३०. मार्कण्डेयं वटं कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम्। इन्द्रद्युम्नसरश्चैव पञ्चतीर्थीविधिः स्मृतः॥ ब्रह्मपुराण (६०।११)।

के निर्माण के लिए कहा और वही सर मार्कण्डेय-सर घोषित हुआ। ब्रह्म० (५७-३-४) के मत से यात्री को मार्कण्डेय-सर में स्नान करना चाहिए, सिर को तीन बार डुबोना चाहिए, तर्पण करके शिव-मन्दिर में जाना चाहिए और 'ओं नमः शिवाय' के मूलमन्त्र से पूजन करना चाहिए; पुनः अघोर एवं पौराणिक मन्त्रों से पूजा करनी चाहिए।[31] तब यात्री को मार्कण्डेय-सर में स्नान करके शिव-मन्दिर में जाना चाहिए, वट के पास जाकर उसकी प्रदक्षिणा तीन बार करनी चाहिए, और टिप्पणी में दिये हुए मन्त्र[32] से पूजा करनी चाहिए। यह ज्ञातव्य है कि कृष्ण वट के रूप में हैं (न्यग्रोधाकृतिकं विष्णुं प्रणिपत्य)। वट को कल्पवृक्ष भी कहा गया है (ब्रह्म० ५७।१२, ६०।१८)। यात्री को कृष्ण के सम्मुख खड़े हुए गरुड़ को प्रणाम करना चाहिए और तब मन्त्रों के साथ कृष्ण, संकर्षण एवं सुभद्रा की पूजा करनी चाहिए। संकर्षण एवं सुभद्रा के मन्त्र हैं क्रम से ब्रह्म० में (५७।२२–२३) एवं (५७।५८)। कृष्ण की पूजा १२ अक्षरों (ओं नमो भगवते वासुदेवाय) या ८ अक्षरों (ओं नमो नारायणाय) वाले मन्त्र से की जाती है। ब्रह्म० (५७। ४२-५१) ने भक्तिपूर्वक कृष्ण के दर्शन करने से उत्पन्न फलों एवं मोक्ष-फलप्राप्ति की चर्चा की है। पुरी में सागर-स्नान कभी भी किया जा सकता है। किन्तु पूर्णिमा के दिन का स्नान अति महत्त्वपूर्ण कहा जाता है (ब्रह्म० ६०।१०)। सागर-स्नान का विस्तृत वर्णन ब्रह्म० के अध्याय ६२ में है। यात्री को इन्द्रद्युम्न-सर में स्नान, देवों, ऋषियों एवं पितरों को तर्पण एवं पितृ-पिण्डदान करना होता है (ब्रह्म० ६३।२-५)।

कवि गंगाधर के गोविन्दपुर वाले प्रस्तरलेख (एपि० इण्डि०, जिल्द २, पृ० ३३०, शक संवत् १०५९ अर्थात् सन् ११३७-३८ ई०) में पुरुषोत्तम की ओर संकेत मिलता है।

ब्रह्म० के अध्याय ६६ में इन्द्रद्युम्न-सर के तट पर जहाँ एक मण्डप में कृष्ण, संकर्षण एवं सुभद्रा का कुछ काल तक निवास हुआ था, सात दिनों की गुण्डिवायात्रा की चर्चा हुई है। तीर्थचि० (पृ० १५७-१५९) ने इस अध्याय को उद्धृत किया है और इसे **गुण्डिका** की संज्ञा दी है, किन्तु 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक नाटक के आरम्भ में इसे **गुण्डिचा** कहा गया है। ऐसा कहा जाता है कि गुण्डिचा महामन्दिर से लगभग दो मील की दूरी पर जगन्नाथ का ग्रीष्म-निवास-स्थल है। यह शब्द सम्भवतः 'गुण्डि' से निकला है जिसका बंगला एवं उड़िया (देखिए डा० मित्र, 'ऐण्टीक्विटीज आव उड़ीसा', जिल्द २, पृ० १३८-१३९) में अर्थ होता है लकड़ी का कुन्दा; यह उस काष्ठ की ओर संकेत करता है जिसे इन्द्रद्युम्न ने सागर में तैरता हुआ पाया था। और देखिए महताब कृत 'हिस्ट्री आव उड़ीसा' (पृ० १६१)।

यह ज्ञातव्य है कि ब्रह्मपुराण में पुरुषोत्तमतीर्थ में धार्मिक आत्महत्या की ओर संकेत मिलता है, यथा—'जो लोग पुरुषोत्तमक्षेत्र में वटवृक्ष पर चढ़कर या वटवृक्ष एवं सागर के मध्य में प्राण छोड़ते हैं वे बिना किसी संशय के मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। जो व्यक्ति जान या अनजान में पुरुषोत्तम यात्रा के मार्ग में या श्मशान में या जगन्नाथ के गृहमंडल में या रथ के मार्ग में या कहीं भी प्राण-त्याग करते हैं वे मोक्ष पाते हैं। अतः मोक्षाभिकांक्षी को इस तीर्थ पर सर्वप्रयत्न से प्राण-त्याग करना चाहिए' (१७७।१६, १७, २४ एवं २५)।

३१. मूलमन्त्रेण सम्पूज्य मार्कण्डेयस्य चेश्वरम्। अघोरेण च भो विप्राः प्रणिपत्य प्रसादयेत्॥ त्रिलोचन नमस्तेऽस्तु नमस्ते शशिभूषण। त्राहि मां त्वं विरूपाक्ष महादेव नमोऽस्तु ते॥ ब्रह्म० (५७।७-८=नारदीय०, उत्तर ५५।१८-१९)। तीर्थचिन्तामणि (पृ० ८८) के अनुसार अघोरमन्त्र यह है—'ओम अघोरेभ्योथघोरेभ्यो घोरतरेभ्यः, सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः।' यह मन्त्र मैत्रायणी-संहिता (२।९।१०) एवं तै० आ० (१०।४५।१) में आया है।

३२. ओं नमोऽव्यक्तरूपाय महाप्रलयकारिणे। महद्रसोपविष्टाय न्यग्रोधाय नमोऽस्तु ते॥ अमरस्त्वं सदा कल्पे हरेश्चायतनं वट। न्यग्रोध हर मे पापं कल्पवृक्ष नमोऽस्तु ते॥ ब्रह्म० (५७।१३-१४=नारदीय०, उत्तर ५५।२४-२५)।

ब्रह्म० (७०।३-४ = नारदीय०, उत्तर, ५२।२५-२६) ने अन्त में कहा है—'यह तिगुना सत्य है कि यह (पुरुषोत्तम) क्षेत्र परम महान् है और सर्वोच्च तीर्थ है। एक बार सागर के जल से आप्लुत पुरुषोत्तम में आने पर व्यक्ति को पुनः गर्भवास नहीं करना पड़ता और ऐसा ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने पर भी होता है।

महान् वैष्णव सन्त चैतन्य ३० वर्ष की अवस्था में सन् १५१५ ई० में पुरी में ही सदा के लिए रहने लगे और १८ वर्षों के उपरान्त सन् १५३३ में उन्होंने अपना शरीर-त्याग किया। उन्होंने गजपति राजा प्रतापरुद्रदेव पर, जिसने उड़ीसा पर सन् १४९७-१५४० ई० तक राज्य किया, बहुत ही बड़ा प्रभाव डाला था। कवि कर्णपूर के नाटक चैतन्यचन्द्रोदय में ऐसा व्यक्त किया गया है कि राजा ने सन्त से मिलने की प्रबल उत्कण्ठा प्रकट की और कहा कि यदि सन्त की कृपादृष्टि उस पर नहीं पड़ेगी तो वह अपने प्राण त्याग देगा। यह भक्तों की अतिशयोक्तिपूर्ण विधि का परिचायक मात्र है। आगे चलकर चैतन्य महाप्रभु पुरी एवं उड़ीसा में विष्णु के साथ देव के रूप में पूजित होने लगे (हण्टर, 'उड़ीसा', जिल्द १, पृ० १०९)। कवि कर्णपूर ने अपने नाटक के आठवें अंक में सार्वभौम नामक पात्र द्वारा कहलाया है कि जगन्नाथ एवं चैतन्य में कोई अन्तर नहीं है; अंतर केवल इतना ही है कि जहाँ जगन्नाथ 'दारुब्रह्म' (काष्ठ की प्रतिमा में अभिव्यंजित दैवी शक्ति) हैं, वहाँ चैतन्य 'नरब्रह्म' हैं (पृ० १६७)। कवि कर्णपूर की संस्कृत-रचना 'चैतन्यचरितामृत' (सर्ग १४-१८) में पुरी में चैतन्य की भक्ति-प्रवणता एवं अलौकिक आनन्दानुभूतिमय जीवन का प्रदर्शन किया गया है और उसमें रथ एवं जगन्नाथ सम्बन्धी अन्य उत्सवों में चैतन्य द्वारा लिये गये प्रमुख भाग का चित्रवत् वर्णन पाया जाता है। डा० एस्० के० दे ने मत प्रकाशित किया है कि प्रतापरुद्र द्वारा चैतन्य के नवीन धर्म में प्रविष्ट होने के विषय में हमें पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते (वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बेंगाल, पृ० ६७)।

जगन्नाथ के विशाल मन्दिर की दीवारों पर जो अश्लील एवं कामुक हाव भावपूर्ण शिल्प है उसने इस उज्ज्वल मन्दिर की विशेषता पर एक काला चिह्न-सा फेर दिया है, और यही बात वहाँ की नर्तकियों के विषय में भी है जो अपनी चक्रित आँखों से कामुकता का भद्दा प्रदर्शन करती रहती हैं। पश्चिमी लेखकों ने इस ओर प्रबल संकेत किया है (यथा—इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १, पृ० ३२२, हण्टर का ग्रन्थ 'उड़ीसा', जिल्द १, पृ० १११ एवं १३५)। नर्तकियों की उपस्थिति अतीत इतिहास की वसीयत-सी है। ब्रह्मपुराण (६५।१५, १७ एवं १८) ने ज्येष्ठ की पूर्णिमा पर जगन्नाथ के उत्सव के समय स्नान की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस समय दुन्दुभि-वादन होता था, बाँसुरी का स्वर गुंजार होता था, वैदिक मन्त्रों का पाठ होता था और बलराम एवं कृष्ण की प्रतिमाओं के समक्ष चामरधारिणी एवं कुचभार से नम्र सुन्दर वेश्याओं का नर्तन आदि होता था।[33]

नर्मदा

गंगा के उपरान्त भारत की अत्यन्त पुनीत नदियों में नर्मदा एवं गोदावरी के नाम आते हैं। इन दोनों के विषय में भी संक्षेप में कुछ लिख देना आवश्यक है।

वैदिक साहित्य में नर्मदा के विषय में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। शतपथब्राह्मण (१२।९।३।१) ने रेवोत्तरस की चर्चा की है, जो पाटव चाक्र एवं स्थपति (मुख्य) था, जिसे सृञ्जयों ने निकाल बाहर किया था।[34] रेवा नर्मदा का

३३. मुनीनां वेदशब्देन मन्त्रशब्दैस्तथापरैः। नानास्तोत्ररवैः पुण्यैः सामशब्दोपबृंहितैः।। श्यामैर्वेश्याजनैश्चैव कुचभारावनामिभिः। पीतरक्ताम्बराभिश्च माल्यदामावनामिभिः।।.....चामरं रत्नदण्डैश्च वीज्येते रामकेशवौ।। ब्रह्म० (६५।१५, १७ एवं १८)।

३४. रेवोत्तरसमु ह पाटवं चाक्रं स्थपतिं सृञ्जया अपरुरुधुः। शतपथब्रा० (१२।९।३।१)।

दूसरा नाम है और यह सम्भव है कि 'रेवा' से ही 'रेवोत्तरस' नाम पड़ा हो। पाणिनि (४।२।८७) के एक वार्तिक ने 'महिष्मत्' की व्युत्पत्ति 'महिष' से की है, इसे सामान्यतः नर्मदा पर स्थित माहिष्मती का ही रूपान्तर माना गया है। इससे प्रकट होता है कि सम्भवतः वार्तिककार को (लगभग ई० पू० चौथी शताब्दी में) नर्मदा का परिचय था। रघुवंश (६।४३) में रेवा (अर्थात् नर्मदा) के तट पर स्थित माहिष्मती को अनूप की राजधानी कहा गया है।

महाभारत एवं कतिपय पुराणों में नर्मदा की चर्चा बहुधा हुई है। मत्स्य० (अध्याय १८६-१९४, ५५४ श्लोक), पद्म० (आदिखण्ड, अध्याय १३-२३, ७३९ श्लोक, जिनमें बहुत से मत्स्य० के ही श्लोक हैं), कूर्म० (उत्तरार्ध, अध्याय ४०-४२, १८९ श्लोक) ने नर्मदा की महत्ता एवं उसके तीर्थों का वर्णन किया है। मत्स्य० (१९४।४५) एवं पद्म० (आदि, २१।४४) में ऐसा आया है कि उस स्थान से जहाँ नर्मदा सागर में मिलती है, अमरकण्टक पर्वत तक, जहाँ से वह निकलती है, १० करोड़ तीर्थ हैं। अग्नि० (११३।२) एवं कूर्म० (२।४०।१३) के मत से क्रम से ६० करोड़ एवं ६० सहस्र तीर्थ हैं। नारदीय० (उत्तरार्ध, अध्याय ७७) का कथन है कि नर्मदा के दोनों तटों पर ४०० मुख्य तीर्थ हैं (श्लोक १), किन्तु अमरकण्टक से लेकर साढ़े तीन करोड़ हैं (श्लोक ४ एवं २७-२८)।[35] वनपर्व (१८८।१०३ एवं २२२।२४) ने नर्मदा का उल्लेख गोदावरी एवं दक्षिण की अन्य नदियों के साथ किया है। उसी पर्व (८९।१-३) में यह भी आया है कि नर्मदा आनर्त देश में है, यह प्रियंगु एवं आम्र-कुञ्जों से परिपूर्ण है, इसमें वेत्र लता के वितान पाये जाते हैं, यह पश्चिम की ओर बहती है और तीनों लोकों के सभी तीर्थ यहाँ (नर्मदा में) स्नान करने को आते हैं।[36] मत्स्य० एवं पद्म० ने उद्घोष किया है कि गंगा कनखल में एवं सरस्वती कुरुक्षेत्र में पवित्र है, किन्तु नर्मदा सभी स्थानों में, चाहे ग्राम हो या वन। नर्मदा केवल दर्शन-मात्र से पापी को पवित्र कर देती है; सरस्वती (तीन दिनों में) तीन स्नानों से, यमुना सात दिनों के स्नानों से और गंगा केवल एक स्नान से (मत्स्य० १८६।१०-११=पद्म०, आदि, १३।६-७=कूर्म० २।४०।७-८)। विष्णुधर्मसूत्र (८५।८) ने श्राद्ध के योग्य तीर्थों की सूची दी है, जिनमें नर्मदा के सभी स्थलों को श्राद्ध के योग्य ठहराया है। नर्मदा को रुद्र के शरीर से निकली हुई कहा गया है, जो इस बात का कवित्वमय प्रकटीकरण मात्र है कि यह अमरकण्टक से निकली है जो महेश्वर एवं उनकी पत्नी का निवास-स्थल कहा जाता है (मत्स्य० १८८।९१)।[37] वायु० (७७।३२) में ऐसा उद्घोषित है कि नदियों में श्रेष्ठ पुनीत नर्मदा पितरों की पुत्री है और इस पर किया गया श्राद्ध अक्षय होता है।[38] मत्स्य० एवं कूर्म० का कथन है कि यह १०० योजन लम्बी एवं दो योजन चौड़ी

३५. यद्यपि रेवा एवं नर्मदा सामान्यतः समानार्थक कही जाती हैं, किन्तु भागवतपुराण (५।१९।१८) ने इन्हें पृथक्-पृथक् (तापी-रेवा-सुरसा-नर्मदा) कहा है, और वामनपुराण (१३।२५ एवं २९-३०) का कथन है कि रेवा विन्ध्य से तथा नर्मदा ऋक्षपाद से निकली है। सार्धत्रिकोटितीर्थानि गदितानीह वायुना। दिवि भुव्यन्तरिक्षे च रेवायां तानि सन्ति च ॥ नारदीय० (उत्तर, ७७।२७-२८)।

३६. ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में गुजरात एवं काठियावाड़ को आनर्त कहा जाता था। उद्योगपर्व (७-६) में द्वारका को आनर्त-नगरी कहा गया है। नर्मदा आनर्त में होकर बहती मानी गयी है अतः ऐसी कल्पना की जाती है कि महाभारत के काल में आनर्त के अन्तर्गत गुजरात का दक्षिणी भाग एवं काठियावाड़ दोनों सम्मिलित थे।

३७. नर्मदा सरितां श्रेष्ठा रुद्रदेहाद्विनिःसृता। तारयेत्सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ मत्स्य० (१९०। १७=कूर्म० २।४०।५=पद्म०, आदिखण्ड १७।१३)।

३८. पितॄणां दुहिता पुण्या नर्मदा सरितां वरा। तत्र श्राद्धानि दत्तानि अक्षयाणि भवन्त्युत ॥ वायुपुराण (७७।३२)।

है।[३९] प्रो० के० वी० रंगस्वामी आयंगर ने कहा है कि मत्स्य० की बात ठीक है, क्योंकि नर्मदा वास्तव में लगभग ८०० मील लम्बी है (उनके द्वारा सम्पादित कल्पतरु, पृ० १९९)। किन्तु दो योजन (अर्थात् उनके मतानुसार १६ मील) की चौड़ाई भ्रामक है। मत्स्य० एवं कूर्म० का कथन है कि नर्मदा अमरकण्टक से निकली हैं, जो कलिंग देश का पश्चिमी भाग है।[४०]

विष्णुपुराण ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई रात एवं दिन में और जब अन्धकारपूर्ण स्थान में उसे जाना हो तब 'प्रातःकाल नर्मदा को नमस्कार, रात्रि में नर्मदा को नमस्कार! हे नर्मदा, तुम्हें नमस्कार; मुझे विषधर साँपों से बचाओ' इस मन्त्र का जप करके चलता है तो उसे साँपों का भय नहीं होता।[४१]

कूर्म० एवं मत्स्य० में ऐसा कहा गया है कि जो अग्नि या जल में प्रवेश करके या उपवास करके (नर्मदा के किसी तीर्थ पर या अमरकण्टक पर) प्राण त्यागता है वह पुनः (इस संसार में) नहीं आता।[४२]

टॉलेमी ने नर्मदा को 'नमडोज' कहा है (पृ० १०२)। नर्मदा की चर्चा करनेवाले शिलालेखों में एक अति प्राचीन लेख है एरन प्रस्तरस्तम्भाभिलेख, जो बुधगुप्त के काल (गुप्त संवत् १६५=४८४-८५ ई०) का है। देखिए कार्पस इंस्क्रिप्शनम इण्डिकेरम (जिल्द ३, पृ० ८९)।

नर्मदा में मिलने वाली कतिपय नदियों के नाम मिलते हैं, यथा **कपिला** (दक्षिणी तट पर, मत्स्य० १८६।४० एवं पद्म० १।१३।३५), **विशल्या** (मत्स्य० १८६।४६=पद्म०२।३५-३९), **एरण्डी** (मत्स्य० १९१।४२-४३ एवं पद्म० १।१८।४४), **इक्षु-नादी** (मत्स्य० १९१।४९ एवं पद्म० १।१८।४७), **कावेरी** (मत्स्य० १८९।१२-१३ एवं पद्म० १।१६।६)।[४३] बहुत-से उपतीर्थों के नाम आते हैं जिनमें दो या तीन का यहाँ उल्लेख किया जाएगा। एक है **महेश्वरतीर्थ** (अर्थात् ओंकार), जहाँ से एक तीर द्वारा रुद्र ने बाणासुर की तीन नगरियाँ जला डालीं (मत्स्य० १८८।२ एवं पद्म० १।१५।२), **शुक्ल-तीर्थ** (मत्स्य० १९२।३ द्वारा अति प्रशंसित और जिसके बारे में यह कहा जाता है कि राजर्षि चाणक्य ने यहाँ सिद्धि प्राप्त की थी), **भृगुतीर्थ** (जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य पाप-मुक्त हो जाता है, जिसमें स्नान करने से स्वर्ग मिलता है और जहाँ मरने से संसार में पुनः लौटना नहीं पड़ता), **जामदग्न्य-तीर्थ** (जहाँ नर्मदा समुद्र में गिरती है और जहाँ भगवान् जनार्दन ने पूर्णता प्राप्त की)। **अमरकण्टक पर्वत** एक तीर्थ है जो ब्रह्महत्या के साथ अन्य पापों का मोचन करता है और यह विस्तार में एक योजन है (मत्स्य० १८९।८९ एवं ९८)। नर्मदा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीर्थ है **माहिष्मती**, जिसके स्थल के विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है। अधिकांश लेखक यही कहते हैं कि यह **ओंकार मान्धाता** है जो इन्दौर से लगभग ४० मील दक्षिण नर्मदा में एक द्वीप है। इसका इतिहास पुराना है। बौद्ध ग्रन्थों में ऐसा आया

३९. योजनानां शतं साग्रं श्रूयते सरिदुत्तमा। विस्तारेण तु राजेन्द्र योजनद्वयमायता॥ कूर्म० (२।४०।१२ =मत्स्य० १८६।२४-२५)। और देखिए अग्नि० (११३।२)।

४०. कलिंगदेशपश्चार्धे पर्वतेऽमरकण्टके। पुण्या च त्रिषु लोकेषु रमणीया मनोरमा॥ कूर्म० (२।४०।९) एवं मत्स्य० (१८६।१२)।

४१. नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि। नमोस्तु नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः॥ विष्णुपुराण (४।३। १२-१३)।

४२. अनाशकं तु यः कुर्यात्तस्मिंस्तीर्थे नराधिप। गर्भवासे तु राजेन्द्र न पुनर्जायते पुमान्॥ मत्स्य० (१९४।२९-३०); परित्यजति यः प्राणान् पर्वतेऽमरकण्टके। वर्षकोटिशतं साग्रं रुद्रलोके महीयते॥ मत्स्य० (१८६।५३-५४)।

४३. नर्मदा की उत्तरी शाखा जहाँ 'ओंकार' नामक द्वीप अवस्थित है 'कावेरी' नाम से प्रसिद्ध है।

है कि अशोक महान् के राज्यकाल (लगभग २७४ ई० पू०) में मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कई देशों में धार्मिक दूत-मण्डल भेजे थे, जिनमें एक दूतमण्डल **महिषमण्डल** को भी भेजा गया था। डा० फ्लीट ने महिश्मण्डल को माहिष्मती कहा है (जे० आर० ए० एस०, पृ० ४२५-४७७, सन् १९१०)। महाभाष्यकार को माहिष्मती का ज्ञान था (पाणिनि ३।१।२६, वार्तिक १०)। कालिदास ने इसे रेवा से घिरी हुई कहा है (रघुवंश ६।४३)। उद्योगपर्व (१९।२३-२४ एवं १६६।४), अनुशासन पर्व (१६६।४), भागवतपुराण (१०।७९।२१) एवं पद्म० (२।९२।३२) में माहिष्मती को नर्मदा या रेवा पर स्थित माना गया है। एक अन्य प्राचीन नगर है मरुकच्छ या भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ोच), जिसके विषय में तीर्थों की तालिका को देखिए।

गोदावरी

वैदिक साहित्य में अभी तक गोदावरी की कहीं भी चर्चा नहीं प्राप्त हो सकी है। बौद्ध ग्रन्थों में **बावरी** के विषय में कई दन्तकथाएँ मिलती हैं। वह पहले महाकोसल का पुरोहित था और पश्चात् पसनेदि का, वह गोदावरी पर अलक के पार्श्व में अस्सक की भूमि में निवास करता था और ऐसा कहा जाता है कि उसने श्रावस्ती में बुद्ध के पास कतिपय शिष्य भेजे थे (सुत्तनिपात, सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द १०, भाग २, पृ० १८४ एवं १८७)। पाणिनि (५।४।७५) के 'संख्याया नदी-गोदावरीभ्यां च' वार्तिक में 'गोदावरी' नाम आया है और इससे 'सप्तगोदावर' भी परिलक्षित होता है। रामायण, महाभारत एवं पुराणों में इसकी चर्चा हुई है। वनपर्व (८८।२) ने इसे दक्षिण में पायी जाने वाली एक पुनीत नदी की संज्ञा दी है और कहा है कि यह निर्झरपूर्ण एवं वाटिकाओं से आच्छादित तटवाली थी और यहाँ मुनिगण तपस्या किया करते थे। रामायण के अरण्यकाण्ड (१३।१३ एवं २१) ने गोदावरी के पास के **पंचवटी** नामक स्थल का वर्णन किया है, जहाँ मृगों के झुण्ड रहा करते थे और जो अगस्त्य के आश्रम से दो योजन की दूरी पर था। ब्रह्म० (अध्याय ७०-१७५) में गोदावरी एवं इसके उपतीर्थों का सविस्तर वर्णन हुआ है। तीर्थसार (नृसिंहपुराण का एक भाग) ने ब्रह्मपुराण के कतिपय अध्यायों (यथा—८९, ९१, १०६, १०७, ११६-११८, १२१, १२२, १३१, १४४, १५४, १५९, १७२) से लगभग ६० श्लोक उद्धृत किये हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि आज के ब्रह्मपुराण के गौतमी वाले अध्याय १५०० ई० के पूर्व उपस्थित थे। देखिए काणे का लेख (जर्नल आव दी बाम्बे ब्रांच आव दी एशियाटिक सोसाइटी, सन् १९१७, पृ० २७-२८)। ब्रह्म० ने गोदावरी को सामान्य रूप में गौतमी कहा है।[४४] ब्रह्मपुराण (७८।७७) में आया है कि विन्ध्य के दक्षिण में गंगा को गौतमी और उत्तर में भागीरथी कहा जाता है। गोदावरी की २०० योजन की लम्बाई कही गयी है और कहा गया है कि इस पर साढ़े तीन करोड़ तीर्थ पाये जाते हैं (ब्रह्म० ७७।८-९)। दण्डकारण्य को धर्म एवं मुक्ति का बीज एवं उसकी भूमि को (उसके द्वारा आश्लिष्ट स्थल को) पुण्यतम कहा गया है।[४५] बहुत-से पुराणों में एक श्लोक आया है—'(मध्य देश के) देश सह्य पर्वत के अनन्तर में हैं, वहीं पर गोदावरी है और वह भूमि तीनों लोकों में सबसे सुन्दर है। वहाँ गोवर्धन है, जो मन्दर एवं गन्धमादन के समान है।'[४६] ब्रह्म० (अध्याय

४४. विन्ध्यस्य दक्षिणे गंगा गौतमी सा निगद्यते। उत्तरे सापि विन्ध्यस्य भागीरथ्यभिधीयते ॥ ब्रह्म० (७८।७७) एवं तीर्थसार (पृ० ४५)।

४५. तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च योजनानां शतद्वये। तीर्थानि मुनिशार्दूल सम्भविष्यन्ति गौतम ॥ ब्रह्म० (७७। ८-९)। धर्मबीजं मुक्तिबीजं दण्डकारण्यमुच्यते। विशेषाद् गौतमीश्लिष्टो देशः पुण्यतमोऽभवत् ॥ ब्रह्म० (१६१।७३)।

४६. सह्यस्यानन्तरे चैते तत्र गोदावरी नदी। पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः। यत्र गोवर्धनो नाम

७४-७६) में वर्णन आया है कि किस प्रकार गौतम ने शिव की जटा से गंगा को ब्रह्मगिरि पर उतारा, जहाँ उनका आश्रम था और किस प्रकार इस कार्य में गणेश ने सहायता दी। नारदपुराण (उत्तरार्ध, ७२) में आया है कि जब गौतम तप कर रहे थे तो बारह वर्षों तक पानी नहीं बरसा और दुर्भिक्ष पड़ गया, इस पर सभी मुनिगण उनके पास गये और उन्होंने गंगा को अपने आश्रम में उतारा। वे प्रातःकाल शालि के अन्न बोते थे और मध्याह्न में काट लेते थे और यह कार्य वे तब तक करते चले गये जब तक पर्याप्त रूप में अन्न एकत्र नहीं हो गया। शिवजी प्रकट हुए और ऋषि ने प्रार्थना की कि वे (शिवजी) उनके आश्रम के पास रहें और इसी से वह पर्वत जहाँ गौतम का आश्रम अवस्थित था, **त्र्यम्बक** नाम से विख्यात हुआ (श्लोक २४)। वराह० (७१।३७-४४) ने भी कहा है कि गौतम ही जाह्नवी को दण्डक वन में ले आये और वह गोदावरी के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। कूर्म० (२।२०।२९-३५) ने नदियों की एक लम्बी सूची देकर अन्त में कहा है कि श्राद्ध करने के लिए गोदावरी की विशेष महत्ता है। ब्रह्म० (१२४।९३) में ऐसा आया है कि 'सभी प्रकार के कष्टों को दूर करने के लिए केवल दो (उपाय) घोषित हैं---पुनीत नदी गौतमी एवं शिव जो करुणाकर हैं। ब्रह्म० ने यहाँ के लगभग १०० तीर्थों का वर्णन किया है, यथा---त्र्यम्बक (७९।६), कुशावर्त (८०।१-३), जनस्थान (८८।१), गोवर्धन (अध्याय ९१), प्रवरा-संगम (१०६), निवासपुर (१०६।५५), वञ्जरा-संगम (१५९) आदि, किन्तु स्थानाभाव से हम इनकी चर्चा नहीं करेंगे। किन्तु नासिक, गोवर्धन, पंचवटी एवं जनस्थान के विषय में कुछ लिख देना आवश्यक है। भरहुत स्तूप के घेरे के एक स्तम्भ पर एक लेख है जिसमें नासिक के वसुक की पत्नी गोरक्षिता के दान का वर्णन है। यह लेख ई० पू० २०० ई० का है और अब तक के पाये गये नासिक-सम्बन्धी लेखों में सब से पुराना है। महाभाष्य (६।१।६३) में नासिक्य पुरी का उल्लेख हुआ है। वायु० (४५।१३०) ने नासिक्य को एक देश के रूप में कहा है। पाण्डुलेणा की गुफाओं के नासिक लेखों से पता चलता है कि ईसा के कई शताब्दियों पूर्व से नासिक एक समृद्धिशाली स्थल था (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ५९-९६)। टॉलेमी (लगभग १५० ई०) ने भी नासिक का उल्लेख किया है (टॉलेमी, पृ० १५६)।

नासिक के इतिहास इसके स्नान-स्थलों, मन्दिरों, जलाशयों, तीर्थयात्रा एवं पूजा-कृत्यों के विषय में स्थानाभाव से अधिक नहीं लिखा जा सकता। इस विषय में देखिए बम्बई का गजेटियर (जिल्द १६, नासिक जिला) जहाँ यह वर्णित है कि नासिक में ६० मन्दिर एवं गोदावरी के वाम तट पर पंचवटी में १६ मन्दिर हैं। किन्तु आज प्राचीन मन्दिरों में कदाचित् ही कोई खड़ा हो। सन् १६८० ई० में दक्षिण की सूबेदारी में औरंगजेब ने नासिक के २५ मन्दिर तुड़वा डाले। आज के सभी मन्दिर पूना के पेशवाओं द्वारा निर्मित कराये गये हैं (सन् १७५० एवं १८१८ के भीतर)। इनमें तीन उल्लेखनीय हैं---पंचवटी में रामजी का मन्दिर, गोदावरी के बायें तट पर पहले मोड़ के पास नारो-शंकर का मन्दिर (या घण्टा-मन्दिर) एवं नासिक के आदित्यवार पेठ में सुन्दर-नारायण का मन्दिर। पंचवटी में सीता-गुफा का दर्शन किया जाता है, इसके पास बरगद के प्राचीन पेड़ हैं जिनके विषय में ऐसा विश्वास है कि ये पाँच वटों से उत्पन्न हुए हैं जिनसे इस स्थान को **पंचवटी** की संज्ञा मिली है। सीता-गुफा से थोड़ी दूर पर काले राम का मन्दिर है जो पश्चिम भारत के सुन्दर मन्दिरों में परिगणित होता है। गोवर्धन (नासिक से ६ मील पश्चिम) एवं तपोवन (नासिक से १॥ मील दक्षिण-पूर्व) के बीच में बहुत-से स्नान-स्थल एवं पवित्र कुण्ड हैं। गोदावरी की बायीं ओर जहाँ इसका दक्षिण की ओर प्रथम घुमाव है, नासिक का रामकुण्ड नामक पवित्रतम स्थल है। कालाराम-मन्दिर के प्रति दिन के धार्मिक कृत्य एवं पूजा यात्री

मन्दरो गन्धमादनः॥ मत्स्य० (११४।३७-३८=वायु० ४५।११२-११३=मार्कण्डेय० ५४।३४-३५=ब्रह्माण्ड० २।१६।४३)। और देखिए ब्रह्म० (२७।४३-४४)।

लोग नासिक में ही करते हैं। नासिक के उत्सवों में रामनवमी एक बहुत बड़ा पर्व है (देखिए बम्बई गजेटियर, जिल्द ६, पृ० ५१७-५१८, ५२९-५३१ एवं ५२२-५२६)।[४७]

उषवदात के नासिक-शिलालेख में, जो बहुत लम्बा एवं प्रसिद्ध है, 'गोवर्धन' शब्द आया है। देखिए बम्बई गजेटियर, जिल्द १६, पृ० ५६९-५७०। पंचवटी नाम ज्यों-का-त्यों चला आया है। यह ज्ञातव्य है कि रामायण (३।१३। १३) में पंचवटी को देश कहा गया है। शल्यपर्व (३९।९-१०), रामायण (३।२१।१९-२०), नारदीय० (२।७५। ३०) एवं अग्नि० (७।२-३) के मत से जनस्थान दण्डकारण्य में था और पंचवटी उसका (अर्थात् जनस्थान का) एक भाग था। जनस्थान विस्तार में ४ योजन था और यह नाम इसलिए पड़ा कि यहाँ जनक-कुल के राजाओं ने गोदावरी की कृपा से मुक्ति पायी थी (ब्रह्म० ८८।२२-२४)।

जब वृहस्पति ग्रह सिंह राशि में प्रवेश करता है उस समय का गोदावरी-स्नान आज भी महापुण्य-कारक माना जाता है (धर्मसिन्धु, पृ० ७)। ब्रह्म० (१५२।३८-३९) में ऐसा आया है कि तीनों लोकों के साढ़े तीन करोड़ देवता इस समय यहाँ स्नानार्थ आते हैं और इस समय का केवल एक गोदावरी-स्नान भागीरथी में प्रति दिन किये जाने वाले ६० सहस्र वर्षों तक के स्नान के बराबर है। वराह० (७१।४५-४६) में ऐसा आया है कि जब कोई सिंहस्थ वर्ष में गोदावरी जाता है, वहाँ स्नान करता है और पितरों का तर्पण एवं श्राद्ध करता है तो उसके वे पितर, जो नरक में रहते हैं, स्वर्ग चले जाते हैं, और जो स्वर्ग के वासी होते हैं, वे मुक्ति पा जाते हैं। १२ वर्षों के उपरान्त, एक बार वृहस्पति सिंह राशि में आता है। इस सिंहस्थ वर्ष में भारत के सभी भागों से सहस्रों की संख्या में यात्रीगण नासिक आते हैं।

काञ्ची (आधुनिक काञ्जीवरम्)

काञ्ची भारत की सात पुनीत नगरियों में एक है और दक्षिण भारत के अति प्राचीन नगरों में मुख्य है।[४८] यदि ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित जनश्रुतियों पर विश्वास किया जाय तो यह पता चलता है कि गौतम बुद्ध काञ्चीपुर में आये थे और अशोकराज ने यहाँ पर एक स्तूप बनवाया था। ह्वेनसांग (लगभग ६४० ई० सन्) के अनुसार काञ्ची ३० ली (लगभग ५।। मील) विस्तार में थी और उसके समय में वहाँ आठ देव-मन्दिर थे और बहुत-से निर्ग्रन्थ लोग वहाँ रहते थे। महाभाष्य (वार्तिक २६, पाणिनि ४।२।१०४) ने भी 'काञ्चीपुरक' (काञ्ची का निवासी) का प्रयोग किया है। पल्लवों के बहुत-से अभिलेख काञ्ची के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, यथा—युवमहाराज शिव-स्कन्दवर्मा के मयिदवोलु दानपत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द ६, पृ० ८४), ८वें वर्ष का हिरहड़गल्ली लेख (वही, जिल्द १, पृ० २) एवं कदम्ब काकुस्थवर्मा का तालगुंड स्तम्भ-लेख (वही, जिल्द ८, पृ० २४)। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, फ्लीट द्वारा सम्पादित, पृ० ७) में आया है कि समुद्रगुप्त ने चौथी शताब्दी के प्रथम चरण में काञ्ची के विष्णु गोप को पराजित किया था। 'मणिमेखलै' में काञ्ची का विशद वर्णन है, जहाँ मणिमेखलै ने अन्त में प्रकाश पाया था (एम्० कृष्णस्वामी आयंगरकृत 'मणिमेखलै इन इट्स हिस्टॉरिकल सेटिंग', पृ० २०)। यहाँ पर पल्लवों, काञ्ची

४७. 'नासिक' शब्द 'नासिका' से बना है और इसी से 'नासिक्य' शब्द भी बना है। सम्भवतः यह नाम इसलिए पड़ा है कि यहीं पर लक्ष्मण ने शूर्पणखा की नाक (नासिका) काटी थी।

४८. अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। एताः पुण्यतमाः प्रोक्ताः पुरीणामुत्तमोत्तमाः ।। ब्रह्माण्ड० (४।४०।९१); काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि। मथुरावन्तिका चैताः सप्त पुर्योऽत्र मोक्षदा ।। स्कन्द० (काशीखण्ड ६।६८) आदि।

आदि के शिलालेखों तथा बहुत-से आधुनिक लेखों की चर्चा करना आवश्यक नहीं है। इस विषय में देखिए आर० गोपालन कृत 'हिस्ट्री आव दि पल्लवज़ आव काञ्ची' (सन् १९२८) जहाँ अद्यतन सामग्री के आधार पर काञ्ची का इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

अब हम काञ्ची के विषय में कुछ पौराणिक वचनों का उल्लेख करेंगे। ब्रह्माण्डपुराण में आया है कि काशी एवं काञ्ची दोनों भगवान् शिव की दो आँखें हैं, काञ्ची प्रसिद्ध वैष्णव क्षेत्र है, किन्तु यहाँ शिव का सान्निध्य भी है।[49] बार्हस्पत्य-सूत्र (३।१२४) में ऐसा उल्लेख है कि काञ्ची एक विख्यात शाक्त क्षेत्र है, और देवीभागवत (७।३८।८) में आया है कि यह अन्नपूर्णा नामक देवीस्थान है। वामन० (१२।५०) में लिखा हुआ है—पुष्पों में जाती, नगरों में काञ्ची, नारियों में रम्भा, चार आश्रमों के व्यक्तियों में गृहस्थ, पुरों में कुशस्थली एवं देशों में मध्यदेश सर्वश्रेष्ठ हैं।[50]

काञ्ची मन्दिरों एवं तीर्थों से परिपूर्ण है, जिनमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं पल्लव राजसिंह द्वारा निर्मित कैलासनाथ का शिव-मन्दिर एवं विष्णु का वैकुण्ठ पेरुमल मन्दिर। प्रथम मन्दिर में कहा जाता है कि १००० स्तम्भ हैं।[51] एक प्राचीन जैन मन्दिर भी है।

पंढरपुर

बम्बई प्रदेश में एक अति प्रसिद्ध तीर्थयात्रा-स्थल है पंढरपुर। प्रति वर्ष सैकड़ों-सहस्रों यात्री यहाँ पधारते हैं। बम्बई गजेटियर (शोलापुर जिला) ने पंढरपुर के विषय में बहुत कुछ लिखा है (जिल्द २०, पृ० ४१५-४८२)। यह तीर्थ बहुत पुराना नहीं है। विठोबा का तीर्थ कब अवस्थित हुआ, यह कहना कठिन है, किन्तु १३वीं शताब्दी के मध्य भाग में इसका अस्तित्व था। पद्म० (उत्तरखण्ड, १७६।५६-५८) ने भीमरथी के तट पर विट्ठल विष्णु की मूर्ति का उल्लेख किया है। इस मूर्ति के केवल दो ही हाथ थे और यह बिन्दुमाधव के नाम से विख्यात थी। पद्म० के इस भाग के प्रणयन-काल के विषय में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह पश्चात्कालीन क्षेपक है जो लगभग १००० ई० सन् से आगे का नहीं हो सकता। आधुनिक पण्ढरपुर का नगर भीमा नदी के दाहिने तट पर अवस्थित है। नगर के मध्य में विठोबा का मन्दिर है, जो पवित्र कहा जाता है। इस मन्दिर के पीछे रखुमाई का मन्दिर है। रखुमाई विठोबा की धर्मपत्नी थीं। विठोबा के मन्दिर में पुरोहितों एवं नौकर-चाकरों की एक लम्बी जमात है, जिनके मुख्य पुरोहितों को 'बढ्वे' कहा जाता है। बढ्वे लोगों की संख्या अधिक है और वे लोग एक समय अपने को मन्दिर के स्वामी कहने लगे थे। किन्तु बम्बई के उच्च न्यायालय ने उन्हें मन्दिर का रखवाला घोषित किया और एक प्रबन्धकारिणी समिति बना दी जो मन्दिर की सम्पत्ति की रखवाली करती है। बढ्वे लोगों को छोड़कर अन्य सेवक लोग **सेवाधारी** कहलाते हैं, जिनकी कई श्रेणियाँ हैं, यथा—**पुजारी** (जो देव-पूजा में प्रधान स्थान रखते हैं), **बेनारी** (जो

४९. नेत्रद्वयं महेशस्य काशीकाञ्चीपुरद्वयम्। विख्यातं वैष्णवक्षेत्रं शिवसांनिध्यकारकम्॥ ब्रह्मांड० (४।१९-१५)।

५०. पुष्पेषु जाती नगरेषु काञ्ची नारीषु रम्भाश्रमिणां गृहस्थः। कुशस्थली श्रेष्ठतमा पुरेषु देशेषु सर्वेषु च मध्यदेशः॥ वामन० (१२।५०)। देखिए 'साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस', जिल्द १, पृ० ८-२४, जहाँ काञ्ची के कैलासनाथ के मन्दिर में ६ठीं शताब्दी की पल्लव-लिपि के लेखों का वर्णन है।

५१. डब्लू० एस० केने ने अपनी पुस्तक 'पिक्चरेस्क इण्डिया' में लिखा है कि गिनने पर केवल ५४० स्तम्भ मिलते हैं।

कृत्यों में मन्त्रों एवं स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं), **परिचारक** (जो एक लम्बी रजत-स्थाली में जल लाते हैं जिससे पुजारी देवता की मूर्ति को स्नान कराते हैं, और प्रातः एवं सायं की आरती के लिए दीप भी वे ही लाते हैं), **हरिदास** (जो प्रातः-सायं एवं रात्रि में देव-पूजन के समय पाँच श्लोक पढ़ते हैं), **दिवे** (जो प्रातःकाल, शृंगार के उपरान्त एवं आरती के पूर्व मूर्ति के समक्ष दर्पण दिखाते हैं), **दिव्ले** (प्रकाश-वाहक, जो उस समय मशाल दिखाते हैं जब कि रात्रि के अन्तिम कृत्य समाप्त हो जाते हैं, और वर्ष में तीन बार अर्थात् आषाढ़ एवं कार्तिक की पूर्णिमा को एवं दशा रात्रि को, प्रकाश-जुलूस में देवता की चट्टियों को ढोते हैं), **दांगे** (जो प्रातः-सायं एवं रात्रि के कृत्यों में पार्श्व-कोष्ठ के बाहर चाँदी या सोने की गदा पकड़े खड़ा रहता है)। रखुमाई देवी के पुजारी उत्पात के नाम से प्रसिद्ध हैं और इनके कुलों की संख्या सौ से ऊपर है।

बम्बई गजेटियर (पृ० ४२७-४३०) ने विठोबा मन्दिर की पूजा का सविस्तर वर्णन किया है, किन्तु स्थानाभाव से हम ऐसा नहीं कर सकेंगे। सारतत्त्व यह है कि देवता को सर्वथा मानव की भाँति समझा गया है—उन्हें स्नान कराना चाहिए, उनका शृंगार होना चाहिए, उनके लिए संगीत होना चाहिए। इतना ही नहीं, उन्हें थकावट को दूर करने के लिए सोना चाहिए आदि। एक बात ज्ञातव्य है कि दक्षिण भारत के अन्य मन्दिरों की भाँति यहाँ गायिकाएँ एवं नर्तकियाँ, जो देवदासी कहलाती हैं, नहीं पायी जातीं।

विट्ठल या विठोबा की प्रतिमा पौने चार फुट लम्बी है और आधार के साथ यह एक ही शिला से निर्मित हुई है। कालावधि के कारण यह खुरदरी हो गयी है। प्रतिमा खड़ी है जिसके हाथ कटि पर आश्रित हैं; बायें हाथ में शंख है और दाहिने में चक्र। प्रतिमा की मेखला पर हलके रूप में वस्त्राकृति है और वस्त्र का एक छोर दाहिनी जाँघ पर लटका हुआ है। गले में हार है और कानों में लम्बे-लम्बे कुण्डल जो गरदन को छूते हैं। सिर पर गोलाकार टोपी है। यात्री लोग पहले प्रतिमा का आलिगन करते थे और उसके पैरों का स्पर्श करते थे, किन्तु सन् १८७३ के उपरान्त अब केवल चरणस्पर्श मात्र होता है।

बम्बई गजेटियर (जिल्द २०, पृ० ४३१) में ऐसा लिखित है कि मुसलमान आक्रामकों एवं बादशाहों से रक्षा करने के लिए प्रतिमा विभिन्न समयों में कई स्थानों पर ले जायी गयी थी। विठोबा के मन्दिर से लगभग ५०० गज पूर्व पुण्डलीक का मन्दिर है, जो पंढरपुर के पूजा-मन्दिरों में एक है। इस मन्दिर में कोई देव-प्रतिमा नहीं है। यहाँ विट्ठल के महान् भक्त पुण्डलीक ने अपने अन्तिम दिन बिताये थे और यहीं मृत्यु को प्राप्त भी हुआ। पुण्डलीक सम्भवतः पण्ढरपुर का कोई ब्राह्मण था, जो आरम्भिक अवस्था में अकर्तव्यशील था। उसने अपने माता-पिता के साथ दुर्व्यवहार किया। उसने रोहिदास नामक मोची की कर्तव्यशीलता देखकर पश्चात्ताप किया और एक महान् कर्तव्यशील पुत्र बन गया। ऐसी जनश्रुति है कि स्वयं विट्ठल देव उसके यहाँ आये। विठोबा एवं पुण्डलीक एक-दूसरे के साथ इस प्रकार संयोजित हो गये हैं कि सभी यात्री भोजन करने के पूर्व या अन्य अवसरों पर 'पुण्डलीक वरदे हरि विट्ठल' कहकर जयघोष करते हैं। पुण्डलीक की कथा के लिए देखिए बम्बई गजेटियर (जिल्द २०, पृ० ४३२-४३३)।

पण्ढरपुर में कई एक प्रसिद्ध मन्दिर हैं, यथा—विष्णुपद, त्रियम्बकेश्वर, चन्द्रभागा, जनाबाई की कोठरी आदि, जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया जायगा। भीमा नदी पण्ढरपुर की सीमा के भीतर चन्द्रभागा कहलाती है और इसमें स्नान करने से पाप कट जाते हैं।

विठोबा-मन्दिर के विषय में कई एक प्रश्न उठाये गये हैं, यथा—विठोबा की प्रतिमा कब बनी, वर्तमान प्रतिमा प्राचीन ही है या दूसरी, पण्ढरपुर का प्राचीन नाम क्या है और विट्ठल की व्युत्पत्ति क्या है?[५२] प्रतिमा के प्रति-

५२. इस विषय में देखिए शोलापुर गजेटियर (बम्बई गजेटियर, जिल्द २०); इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली

ष्ठापन काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बेण्डिगेर के ताम्रपत्र (सन् १२४९ ई०) में पण्ढरपुर को भीमरथी नदी पर स्थित पौण्डरीकक्षेत्र कहा गया है (इण्डियन एंटीक्वेरी, जिल्द १४, पृ० ६८-७५) एवं विठोबा को विष्णु कहा गया है। और देखिए डा० आर० जी० भण्डारकर कृत 'वैष्णविज्म, शैविज्म आदि' (पृ० ८८) एवं 'हिस्ट्री आव दि डकन' (द्वितीय संस्करण, पृ० ११५-११६), बम्बई गजेटियर (जिल्द २०, पृ० ४१९-४२०)। विवेचनों से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पण्ढरपुर को कन्नड़ लोग 'पण्डरागे' के नाम से पुकारते थे और इसका एक नाम 'पाण्डरंगपल्ली' भी था। राष्ट्रकूट राजा अविधेय ने जयद्विट्ठ नामक ब्राह्मण को दान किया था, सम्भवतः इसी 'विट्ठ' से आगे 'विट्ठल' नाम पड़ा।

गोपालाचार्यकृत 'विट्ठलभूषण' नामक ग्रन्थ में हेमाद्रि (तीर्थ) से ग्यारह श्लोक उद्धृत हैं, जिनका सारांश यों है—भैमी नदी के दक्षिण तट पर सर्वोत्कृष्ट तीर्थ उपस्थित है और वहाँ एक भव्य प्रतिमा है, इस स्थल को पौण्डरीक क्षेत्र कहा जाता है और इस क्षेत्र में पाण्डुरंग नामक सर्वश्रेष्ठ देव की पूजा होती है। यह पुष्कर से तिगुना, केदार से छःगुना एवं वाराणसी से दसगुना पवित्र है। द्वापरयुग के अन्त में २८वें कल्प में पुण्डरीक ने यहाँ कठिन तप किया और वह अपने माता-पिता के प्रति अति भक्तिप्रवण था। गोवर्धन पर्वत पर गायों को चराने वाले कृष्ण उसकी पितृभक्ति से अति प्रसन्न हो गये। हेमाद्रि के ग्रन्थ की रचना लगभग सन् १२६०-१२७० ई० में हुई थी और इसके श्लोक स्कन्दपुराण से उद्धृत हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि पण्ढरपुर उन दिनों एक तीर्थ था, पुण्डरीक ('पुण्डलीक' जो मराठी रूप है) भी तब प्रसिद्ध हो चुका था और विठोबा की प्रतिमा भी उस समय उपस्थित थी। १५वीं शताब्दी में पण्ढरपुर अति पवित्र माना जाता था, क्योंकि चैतन्य एवं वल्लभ नामक वैष्णव आचार्य यहाँ पधारे थे (देखिए प्रो० एस्० के० दे कृत 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बेंगाल,' पृ० ७१, एवं मणिलाल सी० परिख कृत 'श्री वल्लभाचार्य' पृ० ५६-५९)।

जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, प्रतिमा कई बार यहाँ से अन्यत्र ले जायी गयी और पुनः यहीं लायी गयी। श्री खरे महोदय ने मध्य काल के संस्कृत, मराठी एवं कन्नड़ लेखकों के वचनों को उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रतिमा प्राचीन नहीं है और १७वीं शताब्दी में भी यह नहीं थी, क्योंकि सन्त तुकाराम की कविता में वर्णित प्रतिमा-विशेषताओं से आज की प्रतिमा-विशेषताएँ मेल नहीं खातीं। किन्तु यह निष्कर्ष शुद्ध नहीं है, क्योंकि इसका आधार संकेत मात्र है और प्रतिमा इतनी ऊबड़-खाबड़ एवं घिस गयी है कि इस पर वे वस्त्र-चिह्न आदि स्पष्ट नहीं हो पाते और उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्ष सन्देह उत्पन्न कर देते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि प्रतिमा का स्थानान्तरण कई बार हुआ था, तो भी यह कहना कठिन है कि यह तेरहवीं शताब्दी या उसके पहले की नहीं है।

प्रतिमा को कई नामों से पुकारा जाता है, यथा—पाण्डुरंग, पंढरी, विट्ठल, विट्ठलनाथ एवं विठोबा। प्राकृत में विष्णु को विण्हु, विण्णु, वेण्हु, वेठ आदि कहा जाता है। कन्नड़ में विष्णु के कई रूप हैं, यथा—विट्टो, विट्टीग, विट्ट आदि। नामों के परिवर्तन प्राकृत एवं कन्नड़ के व्याकरणों के नियमों का पालन नहीं करते। श्री ए० के० प्रियोल्कर ने 'भगत नामदेव आव दि सिक्ख्स' नामक अपने विद्वत्तापूर्ण लेख (बम्बई विश्वविद्यालय का जर्नल, १९३८, पृ० २४) में बताया है कि सिक्खों के आदि-ग्रन्थस्थ, नामदेव के भजनों में भगवान् को 'बीठल' या 'बिठलु' कहा गया है, नरसिंह मेहता

(जिल्द ११, पृ० ७७१-७७८); डा० कृष्ण का आक्यॉलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स आव मैसूर (सन् १९२९, पृ० १९७-२१०)।

की गुजराती कविताओं एवं मीरा की कविताओं या भजनों में भगवान् को 'विट्ठल' कहा गया है और सन्तों द्वारा सम्बोधित 'विट्ठल' विष्णु हैं, पण्ढरपुर के देवता नहीं हैं। विट्ठल-ऋङ्मन्त्रसारभाष्य के लेखक विद्वान् काशीनाथ उपाध्याय ने 'विट्ठल' शब्द की व्युत्पत्ति यों की है—वित्+ठ+ल—'वित् वेदनं ज्ञानं तेन ठाः शून्यास्तान् लाति स्वीकरोति।'

क्षेत्र के नाम के विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि आरम्भिक रूप में यह कन्नड़ में 'पण्डरगे' कहा जाता था जो संस्कृत में 'पाण्डुरंग' हो गया। जब विट्ठल के भक्त पुण्डलीक प्रसिद्ध हो गये तो यह तीर्थस्थल पुण्डरीकपुर (कूर्मपुराण) एवं पौण्डरीकपुर (स्कन्दपुराण) के नाम से विख्यात हो गया।

पण्ढरपुर के यात्रियों को दो कोटियों में बाँटा जा सकता है; सदा आनेवाले तथा अवसर-विशेष पर आनेवाले। प्रथम प्रकार या कोटि के लोगों को 'वारकरी' (जो निश्चित समय से आते हैं) कहा जाता है। ये वारकरी लोग दो प्रकार के होते हैं; प्रति मास आनेवाले तथा वर्ष में दो बार (आषाढ़ शुक्ल एवं कार्तिक शुक्ल की एकादशी को) आनेवाले। वारकरी लोगों ने जाति-संकीर्णता का एक प्रकार से त्याग कर दिया है। ब्राह्मण वारकरी शूद्र वारकरी के चरणों पर गिरता है। सभी वारकरियों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है (देखिए बम्बई गजेटियर, जिल्द २०, पृ० ४७१)। उन्हें तुलसी की माला पहननी पड़ती है, मांस-भक्षण छोड़ देना पड़ता है, एकादशी को उपवास करना होता है, गेरुवे रंग की पताका ढोनी पड़ती है और दैनिक व्यवसायों में सत्य बोलना एवं प्रवञ्चनारहित होना पड़ता है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विठोबा की प्रतिमा बौद्ध या जैन है। किन्तु इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है। जब एकनाथ एवं तुकाराम जैसे कवि एवं सन्त विठोबा को बौद्धावतार कहते हैं तो वे अपने मन में विष्णु ही रखते हैं, क्योंकि पुराणों एवं मध्य काल के लेखकों ने बुद्ध को नवाँ अवतार माना है।

आज के हिन्दुओं को तीर्थों एवं तीर्थ-यात्रा के विषय में कैसी भावना रखनी चाहिए, इस विषय में हम संक्षेप में अगले अध्याय के अन्त में कहेंगे।

अध्याय १६

तीर्थों की सूची

जो तीर्थ-तालिका हम उपस्थित करने जा रहे हैं वह धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण के अनुसार है, न कि वह भारत के प्राचीन भूगोल पर कोई निबन्ध है। हम उन देशों एवं नगरियों का वर्णन नहीं करेंगे जिनकी तीर्थ रूप में कोई महत्ता नहीं है। यहाँ तीर्थ-सम्बन्धी बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों की ओर कोई विशिष्ट संकेत नहीं किया गया है। बहुत-से पुराणों ने जम्बू द्वीप एवं भारतवर्ष के अतिरिक्त बहुत-से द्वीपों एवं वर्षों के पर्वतों, नदियों आदि के नाम दिये हैं, यथा—हरिवर्ष, रम्यक वर्ष, सुमेरु, क्रौंचद्वीप, शाल्मली द्वीप, किन्तु सूची से इन्हें निकाल दिया गया है। ब्रह्मपुराण (२६।८-८३) ने लगभग ५२० तीर्थों का संकलन किया है, किन्तु उनके स्थानों की ओर बहुत कम संकेत किया है और यही बात भीष्मपर्व (अध्याय ९) में उल्लिखित लगभग १६० नदियों के विषय में भी देखी जाती है। इसी प्रकार गरुड़० (१।८१।१-३१) एवं पद्म० (६।१२९) ने क्रम से लगभग २०० एवं १०८ तीर्थों के नाम दिये हैं। केवल वाराणसी के लगभग ३५० उपतीर्थों के नाम यहाँ उपस्थित किये गये हैं। किन्तु केवल वाराणसी में लगभग १५०० तीर्थ एवं मन्दिर हैं। प्रत्येक बड़े तीर्थ में कई उपतीर्थ पाये जाते हैं, यथा मथुरा (वराहपुराण), गौतमी (ब्रह्मपुराण) एवं गया (वायुपुराण) में। बहुत-से तीर्थ असावधानी के कारण या अनजान में छूट भी गये होंगे और बहुतों को जान-बूझकर छोड़ दिया गया है। बहुत-से तीर्थ ऐसे हैं जो आज पवित्र माने जाते हैं, किन्तु रामायण-महाभारत एवं पुराणों में उनकी चर्चा नहीं हुई है, उन्हें भी हमने इस सूची में नहीं रखा है।

तीर्थों के स्थान एवं विस्तार के विषय में हमारे ग्रन्थ बहुधा अस्पष्ट रहे हैं। बहुत-से तीर्थ ऐसे हैं जो एक ही नाम के रूप में भारत के विभिन्न भागों में बिखरे पड़े हैं (देखिए अग्नितीर्थ, कोटितीर्थ, चक्रतीर्थ, वराहतीर्थ, सोम-तीर्थ के अन्तर्गत)। तीर्थों की सूची के लेखन में हमें कनिंघम कृत 'ऐंश्येण्ट जियॉग्रफी आव इण्डिया' एवं नन्दलाल दे कृत 'दि ज्यिॉग्रैफिकल डिक्शनरी आव ऐंश्येंट एण्ड मेडिएवेल इण्डिया' (१९२७) से प्रभूत सहायता मिली है। हमें इन ग्रन्थों, विशेषतः अन्तिम ग्रन्थ से भिन्नता भी प्रकट करनी पड़ी है। किन्तु स्थानाभाव के कारण वर्णन में विस्तार नहीं किया जा सका है। श्री दे ने बहुत बड़ा कार्य किया है, किन्तु इन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का विशेष सहारा लिया है और विस्तृत क्षेत्र पर दृष्टि नहीं डाली है। कहीं-कहीं तो इन्होंने प्रमाण भी नहीं दिये हैं, यथा चक्रतीर्थ के विषय में (पृ० ४३)। संकेतों के विषय में ये अस्पष्ट हैं एवं श्लोकों का उद्धरण भी नहीं देते और न ग्रन्थों की ओर विशिष्ट संकेत ही करते। इन्होंने बहुत-से तीर्थ छोड़ भी दिये हैं, यथा—दशाश्वमेधिक। कहीं-कहीं ये त्रुटिपूर्ण भी हैं। जो लोग उक्त ग्रन्थ की सूची पढ़ेंगे उन्हें श्री दे की असावधानी अपने-आप स्पष्ट हो जायगी।

रामायण-महाभारत एवं पुराणों के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त यह सूची उपस्थित की गयी है। किन्तु तीर्थ-सम्बन्धी सभी संकेत नहीं दिये गये हैं, क्योंकि ऐसा न करने से यह ग्रन्थ आकार में बहुत बढ़ जाता। किन्तु इतना कहना उचित ही है कि जो कुछ यहाँ कहा गया है वह पर्याप्त है और अभी तक अन्य किसी लेखक ने ऐसा नहीं किया है। आगे के लेखक इस सूची को और बढ़ा सकते हैं। कश्मीर के तीर्थ भी यहाँ सम्मिलित किये गये हैं और नीलमतपुराण, राजतरंगिणी एवं हरचरितचिन्तामणि की ओर संकेत किये गये हैं। देखिए डा० बुहलर कृत कश्मीर

रिपोर्ट (१८७७), स्टीन द्वारा अनूदित राजतरंगिणी की टिप्पणी और उनका 'ऐंश्येण्ट जियॉग्रफी आव कश्मीर' वाला अभिलेख, जो पृथक् रूप से छपा है और कल्हण के ग्रन्थ के अनुवाद के दूसरे भाग के साथ भी छपा है। सभी तीर्थ संस्कृत (देवनागरी) वर्णमाला के अनुक्रम के साथ उल्लिखित किये गये हैं। महाभारत के संकेत बम्बई वाले संस्करण के अनुसार दिये गये हैं। रामायण के संकेतांक १ से ७ तक क्रम से बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, युद्ध एवं उत्तर नामक काण्डों के लिए आये हैं। इसके संकेत मद्रास ला जर्नल प्रेस (१९३३) वाले संस्करण के अनुसार दिये गये हैं। पुराणों में अग्नि०, ब्रह्म०, ब्रह्मवैवर्त०, मत्स्य०, वायु० एवं पद्म० के आनन्दाश्रम संस्करणों का संकेत दिया गया है किन्तु अन्य महापुराणों के संकेत वेंकटेश्वर प्रेस वाले संस्करणों के अनुसार हैं, केवल नृसिंहपुराण एवं भागवतपुराण के संकेत क्रम से गोपाल नारायण एण्ड कम्पनी एवं निर्णयसागर प्रेस के संस्करणों से रखे गये हैं। स्कन्दपुराण ने कुछ कठिनाई उत्पन्न कर दी है। इसके लगभग ९० सहस्र श्लोकों का अवगाहन नहीं किया जा सका है, किन्तु काशीखण्ड एवं कुछ अन्य खण्डों के संकेत भली भाँति उपस्थित किये जा सके हैं। स्कन्द० की दो पृथक्-पृथक् शाखाएँ हैं और इसके अधिकतर अंश पश्चात्कालीन एवं संदिग्ध प्रमाण वाले हैं। माहेश्वर खण्ड एवं वैष्णव, ब्राह्म, काशी, आवन्त्य, नागर, प्रभास नामक खण्ड १ से ७ की संख्या में व्यक्त हैं और उप-विभाग दूसरे रूप में। उपविभाग के भी कई प्रकार हैं, यथा पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध।

जहाँ तक सम्भव हो सका है तीर्थों के स्थल बता दिये गये हैं। प्राचीनता एवं इतिहास के लिए शिलालेखों एवं अन्य उत्कीर्ण लेखों का भी हवाला दे दिया गया है। कल्हण को छोड़कर अन्य मुख्य संस्कृत ग्रन्थ ह्वेनसाँग, अल-बरूनी एवं अबुल फज़ल की भाँति उतने स्पष्ट नहीं हैं। जहाँ ठीक से पता नहीं चल सका है वहाँ केवल ग्रन्थों के वचनों की ओर संकेत कर दिया गया है और कहीं-कहीं कनिंघम, दे, पार्जिटर आदि के मत दे दिये गये हैं। सोरेंसन की 'इण्डेक्स आव दि महाभारत', मेकडोनेल एवं कीथ की वेदिक इण्डेक्स का हवाला कतिपय स्थलों पर दिया गया है। इम्पीरियल गज़ेटियर एवं बम्बई गजेटियर से भी सहायता ली गयी है। मार्कण्डेयपुराण का पार्जिटर वाला अनुवाद, विष्णुपुराण का विलसन वाला अनुवाद, डा० बी० सी० ला का 'माउण्टेन एवं रीवर्स आव इण्डिया' नामक लेख (जर्नल आव दि डिपार्टमेण्ट आव लेटर्स, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, जिल्द २८), डा० हेमचन्द्र रायचौधरी का 'स्टडीज़ इन इण्डियन एण्टीक्विटीज़' (१९३२) आदि भली भाँति उद्धृत किये गये हैं। प्रो० वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार ने 'दि पुराण इण्डेक्स' नामक एक उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित किया है, जिसमें भागवत०, ब्रह्माण्ड०, मत्स्य०, वायु० एवं विष्णु० से सामग्रियाँ ली गयी हैं। किन्तु इसमें भी कतिपय स्थलों पर त्रुटिपूर्ण बातें दी गयी हैं।

इस तीर्थ-सूची से पुराणों की पारस्परिक प्राचीनता, कई संस्कृत-ग्रन्थों के काल-निर्धारण एवं पुराणों द्वारा एक-दूसरे एवं महाभारत से उद्धरण देने के प्रश्नों पर प्रकाश पड़ेगा।

तीर्थ-सूची में प्रयुक्त संक्षिप्त संकेत

अ० चि०—हेमचन्द्र की अभिधानचिन्तामणि (बोह्‌र्त्‌लिंग के द्वारा सम्पादित, १८४७)।
अनु०—महाभारत का अनुशासनपर्व।
अल्ब०—डा० ई० सी० सचौ द्वारा अनूदित अलबरूनी का भारत, दो जिल्द (१८८६, लंदन)।
आ० अक०—अबुल फज़ल कृत आईने अकबरी, तीन जिल्दों में ब्लोचमैन एवं जरेंट द्वारा अनूदित।
आदि०—महाभारत का आदिपर्व।
आ० स० इण्डि०—आर्क्यालाजिकल सर्वे आव इण्डिया रिपोर्ट।
इ० गजे० इ०—इम्पीरियल गज़ेटियर आव इण्डिया।
उ० या उद्योग—उद्योगपर्व।
ऐं० इ०—मेगस्थनीज़ एवं एरिअन द्वारा वर्णित ऐंश्येण्ट इण्डिया (मैक् क्रिण्डिल)।
ऐं० जि०—कनिंघम की ऐंश्येण्ट जियाग्रफी आव इण्डिया (१८७१)।
का० इं० इं०—कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्; जिल्द १, इंस्क्रिप्शंस आव अशोक, जिल्द ३।
क० रि०—बुह्लर की कश्मीर रिपोर्ट।
कालि०—कालिकापुराण।
कू० या कूर्म०—कूर्मपुराण।
ग० या गरुड०—गरुडपुराण।
गो० या गोदा०—गोदावरी नदी।
ज० उ० प्र० हि० सो०—जर्नल आव दि यूनाइटेड प्राविंसेज़ हिस्टारिकल सोसाइटी।
तीर्थप्र०—मित्र मिश्र का तीर्थप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक भाग)।
ती० क०—तीर्थों पर कल्पतरु।
तीर्थसा०—तीर्थसार (सरस्वतीभवन प्रकाशन, बनारस)।
दे—नन्दलाल दे कृत जियाग्रैफिकल डिक्शनरी ऑव इण्डिया (१९२७)।
ना० या नारदीय०—नारदीयपुराण या बृहन्नारदीय।
नी० म० या नीलमत०—प्रो० भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित नीलमतपुराण।
नृ० या नृसिंह०—नृसिंह या नरसिंहपुराण।
प० या पद्म०—पद्मपुराण।
पहा०—पहाड़ी।
पा०—पार्जिटर द्वारा टिप्पणी के साथ अनूदित मार्कण्डेयपुराण।
ब० ग० या बम्बई गजे०—बाम्बे गज़ेटियर।
बार्ह० सू०—बार्हस्पत्यसूत्र, डा० एफ्० डब्लू० टॉमस द्वारा सम्पादित।
बृहत्संहिता या बृ० सं०—उत्पल की टीका के साथ बृहत्संहिता, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित।

ब्रह्म०—ब्रह्मपुराण।
ब्रह्मवै०—ब्रह्मवैवर्तपुराण।
ब्रह्माण्ड०—ब्रह्माण्डपुराण।
भवि०—भविष्यपुराण।
भा० या भाग०—भागवतपुराण।
भी० या भीष्म०—महाभारत का भीष्मपर्व।
मत्स्य०—मत्स्यपुराण।
म० भा०—महाभारत।
महाभा०—पतञ्जलि का महाभाष्य (कीलहार्न द्वारा सम्पादित, तीन जिल्दों में)।
मार्क०—मार्कण्डेयपुराण।
रा० या राज०—राजतरंगिणी (डा० स्टीन द्वारा सम्पादित एवं अनूदित)।
रामा०—रामायण।
लिंग०—लिंगपुराण।
वन०—वनपर्व।
वराह०—वराहपुराण।
वाम० या वामन०—वामनपुराण।
वायु०—वायुपुराण।
वारा०—वाराणसी।
विक्र० या विक्रमांक०—विल्हण का विक्रमांकदेवचरित (बुहलर द्वारा सम्पादित)।
वि० ध० पु०—विष्णुधर्मोत्तर पुराण।
वि० ध० सू०—विष्णुधर्मसूत्र (जॉली द्वारा सम्पादित)।
विलसन—विष्णुपुराण का अनुवाद (डा० हाल द्वारा सम्पादित, १८६४-१८७७)।
विष्णु०—विष्णुपुराण।
शल्य०—शल्यपर्व।
शान्ति०—शान्तिपर्व।
सभा०—सभापर्व।
स्कन्द०—स्कन्दपुराण।
स्टीन० या स्टीन-स्मृति—स्टीन्स मेमायर, कश्मीर के प्राचीन भौगोलिक मानचित्र पर।
ह० चि०—जयरथ की हरचरितचिन्तामणि (काव्यमाला संस्करण)।

तीर्थसूची

अ

अंशुमती—(नदी) ऋ० ८।९६।१३-१५ (जिस पर कृष्ण नामक असुर रहता था)। बृहद्देवता (६।११०) के अनुसार यह कुरु देश में थी; रामा० २।५५।६ (यमुना के निकट)।

अक्रूर—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५५।४-५ (मथुरा एवं वृन्दावन के बीच में एक तीर्थ)।

अक्षय्यकरण वट—(प्रयाग में) कनिंघम कृत ऐं० जि० पृष्ठ ३८९। वन० ८७।११, पद्म० ६।२५।७-८ (ऐसा कहा गया है कि कल्प के अन्त में विष्णु इसके पत्र पर सोते हैं)।

अक्षय्यवट—(१) (गया में विष्णुपद से लगभग आधे मील की दूरी पर) वन० ८४।८३, ८५।१४; वायु० १०५।४५, १०९।१६, १११।७९-८२ (जब सम्पूर्ण विश्व जलमग्न हो जाता है उस समय विष्णु शिशु के रूप में इसके अन्त भाग पर सोते रहते हैं)। अग्नि० ११५।७०, पद्म० १।३८।२; (२) (विन्ध्य की ओर गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६१।६६-६७; (३) (नर्मदा पर) ब्रह्मवैवर्त० ३, अ० ३३, ३०-३२। यहाँ पुलस्त्य ने तप किया था।

अक्षवाल—(कश्मीर के कुटहर नामक परगने की सीमा पर स्थित सेतु के पश्चिमी भाग का आधुनिक अछबल नामक एक विशाल ग्राम) राजतरंगिणी १।३३८, स्टीन का स्मृतिग्रन्थ (पृ० १८०)। इसमें पाँच झरने हैं। नीलमतपुराण में 'अक्षिपाल' नाम आया है।

अगस्त्यकुण्ड—(वाराणसी में)।

अगस्त्यतीर्थ—(पाण्ड्य देश में) वन० ८८।१३।

अगस्त्यपद—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।३, वायु० १११।५३।

अगस्त्यवट—आदि० २१५।२।

अगस्त्यसर—वन० ८२।४४। यह ज्ञातव्य है कि अगस्त्य तमिल भाषा के विख्यात लेखक तथा तमिल भाषा के सबसे प्राचीन व्याकरण-ग्रन्थ 'तोल्काप्पियम्' के कर्ता हैं। देखिए जर्नल आव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जिल्द १९, पृ० ५५८-५५९ (नयी माला)।

अगस्त्याश्रम—देखिए दे का ग्रन्थ (पृ० २) जहाँ ऐसे ८ स्थानों का उल्लेख है किन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया हुआ है; (१) (दुर्जया नदी पर) वन० ९६।१ (जहाँ वातापि राक्षस अगस्त्य द्वारा मारा गया था); (२) वि० ध० सू० ८५।२९, पद्म० १।१२।४, वन० १९।१९८ (पुष्कर के पास); (३) (प्रयाग के पास) वन० ८७।२०; (४) (गोकर्ण के पास) वन० ८८।१८; (५) (सुतीक्ष्णाश्रम से लगभग ५ योजन पर जनस्थान एवं पंचवटी के पास) रामायण ३।२।३९-४२, रघुवंश १३।३६। नगर ज़िले में प्रवरा नदी के आगे अकोला ग्राम में कोई प्राचीन अगस्त्य-स्थल नहीं है; (६) (पाण्ड्य देश में समुद्र के पास) आदि० २१६।३, ८८।१३, ११८।४, १३०।६—यह पाँच नारीतीर्थों में एक है; (७-८) रामा० ४।४१।१६ (मलय पर) एवं भागवत० १०।७९।१६७।

अगस्त्येश्वर—(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।५; (२) (वाराणसी में लिंग) लिंग० (तीर्थ-कल्पतरु, पृ० ११६)।

अग्निकुण्ड—(सरस्वती पर) वाम० ५१।५२, वराह० (ती० कल्प०, पृ० २१५)।

अग्नितीर्थ—(१) (यमुना के दक्षिणी तट पर) मत्स्य० १०८।२७, पद्म० १।४५।२७; (२) (वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।७, पद्म० १।३७।७; (३) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ९८।१; (४) (सर-

स्वती पर) शल्य० ४७।१३-१४, पद्म० १।२७।२७; (५) (साभ्रमती के उत्तरी तट पर) पद्म० ६।१३४।१; (६) (कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।६३।

अग्निधारा—(गया के अन्तर्गत) वन० ८४।१४६, अग्नि० ११६।३१।

अग्निपुर—अनु० ३५।४३। दे (पृ० २) के मत से यह माहिष्मती है। देखिए रघुवंश ६।४२।

अग्निप्रभ—(गण्डकी के अन्तर्गत) वराह० १४५।५२-५५ (इसका जल जाड़े में गर्म और ग्रीष्म में ठण्डा रहता है)।

अग्निशिर—(यमुना पर) वन० ९०।५-७।

अग्निसत्यपद—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।७।

अग्निसर—(१) (कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।३४-३६; (२) (लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।५२।

अग्नीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थ-कल्प०, पृ० ६६, ७१)।

अघोरेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थ-कल्पतरु, पृ० ६०)।

अङ्कुशेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।१।

अङ्कोला—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० (१९१।११८-१२२) द्वारा अति प्रशंसित। सम्भवतः भड़ोच जिले का आधुनिक नगर अंकलेश्वर। ऐं० जि० (पृ० ३२२) ने नर्मदा के बायें तट पर अंकलेसर को अक्रूरेश्वर कहा है। देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० ५४, पृ० ११-१२।

अङ्गभूत—(पितरों का एक तीर्थ) मत्स्य० २२।५१।

अङ्गारकुण्ड—(वाराणसी के अन्तर्गत) ती० क०, पृ० ५६।

अङ्गारवाहिक—मत्स्य० २२।३५।

अङ्गारकेश्वर—(१) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।२९; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।६।

अङ्गारेश्वर—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०) पृ० ५५ एवं ९८; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९०।९, पद्म० १।१७।६।

अङ्गारेश—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।१ (सम्भवतः ऊपर वाला)।

अचला—(कश्मीर में नदी) ह० चि० १०।२५६ (अनन्तह्रद एवं कर्कोटह्रद के पास)।

अचलेश्वर—लिंग० १।९२।१६५।

अचिरवती—(सरयू में मिलने वाली नदी) मिलिन्दप्रश्न में वर्णित दस महान् नदियों में एक (सै० बु० ई०, जि० ३५, पृ० १७१)। अवध में यह राप्ती के नाम से विख्यात है और इस पर श्रावस्ती अवस्थित थी, वराह० २१४।४७।

अच्छोदक—(चन्द्रप्रभा पहाड़ी की उपत्यका में एक झील) वायु० ४७।५-६ एवं ७७-७६, मत्स्य० १४।३ एवं १२१।७, ब्रह्माण्ड० ३।१३।७७।

अच्छोदा—(अच्छोदक झील से निकली हुई नदी) मत्स्य० १२१।७, वायु० ४७।६, ब्रह्माण्ड० २।१८।६ एवं ३।१३।८०।

अच्युतस्थल—वाम० ३४।४७। देखिए युगन्धर।

अजतुङ्ग—वायु० ७७।४८ (यहाँ श्राद्ध अति पुण्यकारी माना जाता है और यहाँ पर्व के दिनों में देवों की छाया देखी जाती है)।

अजबिल—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५३।

अजिरवती—(एक नदी), पाणिनि ६।३।११९। सम्भवतः यह अचिरवती नदी है।

अजेश्वर—(वाराणसी में एक लिंग) लिंग० १।९२।१३६।

अञ्जलिकाश्रम—अनु० २५।५२।

अञ्जन—(ब्रह्मगिरि के पास एक पर्वत, गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८४।२। देखिए पैशाच तीर्थ के अन्तर्गत; बृहत्संहिता (१४।५) का कथन है कि अञ्जन पूर्व में एक पर्वत है।

अञ्जसी—(नदी) ऋ० १।१०४।४।

अट्टहास—(१) (हिमालय में) वायु० २३।१९२; (२) (पितरों का तीर्थ) मत्स्य० २२।६८; (३) (वाराणसी में एक लिंग) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० १४७)।

अतिबल—(सतारा जिले में महाबलेश्वर) पद्म० ६।११३।२९।

अत्रीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) ती० कल्प०, पृ० ४३।

अदितितीर्थ—(गया के अन्तर्गत) नारदीयपुराण २।४०।९०।

अनन्त—बार्हस्पत्य सूत्र (३।१२०) के मत से यह वैष्णव क्षेत्र है। ब्रह्माण्ड० ३।१३।५८।

अनन्ततीर्थ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५५।१।

अनन्तनाग—(पुण्योदा से दूर नहीं) नीलमत० १४०१-२। आजकल यह इस्लामाबाद के नाम से प्रसिद्ध है और कश्मीर में मार्तण्ड पठार के पश्चिमी भाग पर स्थित है। स्टीन की स्मृति, पृ० १७८।

अनन्तशयन—(त्रावणकोर में पद्मनाभ) पद्म० ६। ११०।८, ६।२८०।१९।

अनन्तभवन—इसे अनन्तह्रद भी कहा जाता है। हरचरित-चिन्तामणि १०।२५३ एवं २५६। अब यह कश्मीर में वितस्ता के मध्य में माण्डवावर्तनाग से एक कोस पर अनन्तनाग के नाम से विख्यात है।

अनरक—(१) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० ४१। २२-२४; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।१-३, कूर्म० २।४१।९१-९२; (३) (यमुना के पश्चिम) धर्मराजतीर्थ भी इसका नाम है। कूर्म० ३९।५, पद्म० १।२७।५६।

अनरकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ११३)।

अनसूयालिङ्ग—(गोप्रेक्ष के उत्तर, वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४२)।

अनाशक—वराह० २१५।८९।

अनितभा—(नदी) ऋ० ५।५३।९।

अनूपा—(ऋक्षवान् पहाड़ से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।२८।

अन्तकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ७५)।

अन्तर्वेदि—(गंगा और यमुना के मध्य की पवित्र भूमि) स्कन्द० १।१।१७।२७४-२७५ (जहाँ वृत्र को मारने के कारण ब्रह्महत्या गिरी)।

अन्तशिला—(विन्ध्य से निकली हुई नदी) वायु० ४५।२०३।

अन्तिकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) नारदीय० २।४९।६-९।

अन्ध—(एक नद) भागवत० ५।१९।१८, देवीभागवत ८।११।१६ (अन्धशोणी महानदी)। दे० (पृ० ७ एवं ४७) का कहना है कि यह चान्दन या अन्धेला नदी है जो भागलपुर में गंगा में मिलती है।

अन्धकेश—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंगपुराण (ती० कल्प०)।

अन्धोन—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१९।११०-११३।

अन्नकूट—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६४।१० एवं २२-३२ (गोवर्धन को अन्नकूट कहा जाता था)।

अन्यतः-प्लक्ष—(कुरुक्षेत्र में एक कमल की झील का नाम) शतपथ ब्रा०, सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ४४, पृ० ७०।

अपरनन्दा—(हेमकूट के पास) आदि० २१५।७, ११०।१, अनु० १६६।२८। दे (पृ० ९) का कथन है कि यह अलकनन्दा ही है।

अपांप्रपतन—अनु० २५।२८।

अप्सरस्-कुण्ड—(मथुरा एवं गोवर्धन के अन्तर्गत) वराह० १६४।१९।

अप्सरेश—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।१६, पद्म० १।२१।१६, कूर्म० २।४२।२४।

अप्सरोयुगसंगम—(गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १४७।१।

अब्जक—(गोदा० में) ब्रह्म० १२९।१३७ (यह गोदावरी का हृदय या मध्य है)।

अमरक ह्रद—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५३)।

अमरकण्टक—(मध्यप्रदेश के बिलासपुर जिले में पर्वत) देखिए पूर्व अध्याय, नर्मदा तीर्थ। वायु० ७७।१०-१६ एवं १५-१६, वि० ध० सू० ८५।६ ने इस पर्वत पर श्राद्ध की बड़ी प्रशंसा की है। मत्स्य० १८८।७९, पद्म० १।१५।६८-६९ का कथन है कि शिव द्वारा जलाये गये बाण के तीन पुरों में दूसरा इसी पर्वत पर गिरा था। कूर्म० २।४०।३६ (सूर्य और चन्द्र के ग्रहणों के समय यहाँ की यात्रा पुण्यदायिनी समझी जाती है)।

अमरकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५३)।

अमरेश—(१) (नर्मदा पर) मत्स्य० १८६।२; (२) (वाराणसी में एक लिंग) लिंग० १।९२।३७।

अमरेश्वर—(१) (निषध पर्वत पर) वाम० (ती० कल्प० पृ० २३६); (२) (श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५१; (३) नीलमत० १५३५; राज० १।२६७ (अमरनाथ की प्रसिद्ध गुफा की यात्रा, जहाँ शिव हिमखण्ड के लिंग के रूप में पूजित होते हैं), यह यात्रा कश्मीर में अत्यन्त प्रचलित है। आईने अकबरी, जिल्द २ पृ० ३६० ने इसका वर्णन किया है और कहा है कि अमावस के बाद १५ दिनों तक प्रतिमा बढ़ती जाती है और क्षीयमाण चन्द्र के साथ घटती जाती है।

अमोहक—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।१०५, पद्म० १।१८।९६-९९ (तपेश्वर इसी नाम से पुकारे गये थे और वहाँ के प्रस्तरखण्ड हाथियों के बराबर होते थे।

अम्बरीषेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ११८)।

अम्बाजन्म—(सरक के पूर्व में) वन० ८३।८१ (यह नारदतीर्थ है)।

अम्बिकातीर्थ—लिंग० १।९२।१६६।

अम्बिकावन—(सरस्वती नदी पर) भागवत० १०।-३४।१२।

अम्ल—(कुरुक्षेत्र की एक पवित्र नदी) वाम० ३४।७।

अयोध्या—(उ० प्र० के फैजाबाद ज़िले में) घाघरा नदी पर, सात पवित्र नगरियों में एक। यहाँ कुछ जैन सन्त उत्पन्न हुए थे, अतः यह जैनों का तीर्थस्थल भी है। अथर्ववेद १०।२।३१ एवं तै० आ० १।२७।२, वन० ६०।२४-२५ एवं ७०।२ (ऋतुपर्ण एवं राम की राजधानी), ब्रह्माण्ड० ४।४०।९१, अग्नि० १०९।२४। रामायण (१।५।५-७) के अनुसार कोसल देश में सरयू बहती थी; अयोध्या जो १२ योजन लम्बी एवं ३ योजन चौड़ी नगरी थी, मनु द्वारा स्थापित कोसल-राजधानी थी। प्राचीन काल में कोसल सोलह महाजनपदों में एक था (अंगुत्तरनिकाय, जिल्द ४, पृ० २५२)। आगे चलकर कोसल दो भागों में बँट गया; उत्तर कोसल एवं दक्षिण कोसल, जिन्हें सरयू या घाघरा विभाजित करती थी। रघुवंश ६।७१ एवं ९।१ के अनुसार अयोध्या उत्तर कोसल की राजधानी थी। और देखिए वायु० ८८।२०, जहाँ इक्ष्वाकु से लेकर बहुत-से राजाओं की सूची दी हुई है, एवं पद्म० ६।२०८।४६-४७ (दक्षिण कोसल एवं उत्तर कोसल के लिए)। साकेत को सामान्यतः अयोध्या कहा जाता है। देखिए तीर्थप्रकाश, पृ० ४९६ और 'साकेत' के अन्तर्गत। डा० बी० सी० ला ने एक बहुत ही प्रामाणिक एवं विद्वत्तापूर्ण लेख अयोध्या पर लिखा है (गंगानाथ झा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द १, पृ० ४२३-४४३)।

अयोगसिद्धि—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९८)।

अयोनिसंगम—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।५८।

अरन्तुक—एक द्वारपाल। वन० ८३।५२।

अरविन्द—(गया के अन्तर्गत एक पहाड़ी) वायु० १०९।१५, नारदीय० २।४७।८३।

अरिष्टकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६४।३० (जहाँ पर अरिष्ट मारा गया था)।

अरुण—(कैलास के पश्चिम का पर्वत जहाँ शिव रहते हैं) वायु० ४७।१७-१८, ब्रह्माण्ड० २।१८।१८।

अरुणा—(१) (पृथूदक के पास सरस्वती एवं दृषद्वती के बीच की नदी) शल्य० ४३।३०-३५। सरस्वती ने राक्षसों को पापों से मुक्त करने के लिए एवं इन्द्र को ब्रह्महत्या से पवित्र करने के लिए अरुणा से संगम किया; (२) (कौशिकी की एक शाखा) वन० ८४।१५६। देखिए जे० ए० एस० बी०, जिल्द १७, पृ० ६४६-६४९ जहाँ नेपाल में सात कोसियों का वर्णन है, जिनमें अरुणा सर्वोत्तम कही गयी है; (३) (गोदावरी के निकट) ब्रह्म० ८९।१, पद्म० ६।१७६।५९। देखिए बम्बई गजेटियर, जिल्द १६, पृ० ४६८।

अरुणा-वरुणासंगम—(गौतमी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८९।१ एवं पद्म० ६।१७६।५९।

अरुणीश—(वाराणसी के अन्तर्गत) ती० कल्प०, पृ० ६०।

अरुन्धतीवट—वन० ५।८४।४१, पद्म० १।३२।६।

अरुणा-सरस्वतीसंगम—(पृथूदक के उत्तर-पूर्व तीन मील की दूरी पर स्थित) पद्म० १।२७।३९, शल्य० ४३। ३०-३१ एवं ४२, वाम० ४०।४३।

अर्कक्षेत्र—यह कोणार्क है।

अर्कस्थलकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।११ एवं १६०।२०।

अर्घ्यतीर्थ—गरुड़० १।८१।७।

अर्जुन—(पितरों का तीर्थ) मत्स्य० २२।४३।

अर्जुनीया—(नदी) देवल (ती० कल्प०, पृ० २४९)। प्रो० के० वी० आर० आयंगर (ती० कल्प०, पृ० २८३) ने दे (पृ० ११) का अनुसरण करते हुए इसे बाहुदा कहा है, किन्तु ये दोनों नाम पृथक् रूप से वर्णित हैं।

अर्धचन्द्र—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६९।३।

अर्वकोल—(सरस्वती-अरुणा-संगम के निकट दर्भी द्वारा बसाया गया) वन० ८३।१५३-१५७।

अर्बुद—(अरवली श्रेणी में आबू पर्वत) वन० ८२। ५५-५६ (यहाँ वसिष्ठ का आश्रम था)। मत्स्य० २२।३८, पद्म० १।२४।४, नारद० २।६०।२७, अग्नि० १०९।१०। यह जैनों की पाँच पवित्र पहाड़ियों में एक है, अन्य चार हैं शत्रुञ्जय, समेत शिखर, गिरनार एवं चन्द्रगिरि। यह टालमी का अपोकोपा (पृ० ७६) है। यहाँ पर एक अग्निकुण्ड था जिससे मालवा के परमार वंश के प्रतिष्ठापक योद्धा परमार निकले थे। देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द ९, पृ० १० एवं जिल्द १९, अनुक्रमणिका पृ० २२।

अर्बुदसरस्वती—(पितरों की पवित्र नदी) मत्स्य० २२।३८।

अलकनन्दा—आदि० १७०।२२ (देवों के बीच गंगा का यही नाम है)। वायु० ४१।१८, कूर्म० १।४६।३१, विष्णु० २।२।३६ एवं २।८।११४ के मत से यह गंगा की चार धाराओं में एक है और समुद्र में सात मुख होकर मिल जाती है। आदि० १७०।१९ ने सात मुखों का उल्लेख किया है। नारदीय० (२६६।४) का कथन है कि जब गंगा पृथ्वी पर उतर आती है और भगीरथ के रथ का अनुसरण करने लगती है तो यह अलकनन्दा कहलाती है। भागवत० ४।६।२४ एवं ५।१७।५। भागीरथी देवप्रयाग में अलकनन्दा से मिल जाती है और दोनों के संयोग से गंगा नामक धारा बन जाती है। नारदीय० २।६७।७२-७३ में आया है कि भागीरथी एवं अलकनन्दा बदरिकाश्रम में मिलती हैं। इम्पीरियल गजेटियर आव इण्डिया, जिल्द १५, पृ० ६० के मत से अलकनन्दा के साथ अन्य नदियों के पाँच पुनीत संगम हैं, यथा—भागीरथी के साथ (देवप्रयाग), नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग (पिण्डर नदी का संगम), रुद्रप्रयाग (मन्दाकिनी का संगम) एवं विष्णुप्रयाग। देखिए उ० प्र० गजेटियर (गढ़वाल), जिल्द ३६, पृ० २ एवं १४०।

अलितीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत)

अलाबुतीर्थ—(विरज के अन्तर्गत) ब्रह्म० ४२।६। कूर्म० २।४२।३७।

अलेश्वर—देखिए ब्रह्मेश्वर।

अवकीर्ण—(कुरुक्षेत्र एवं सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ३९।२४-३५ (बक दाल्भ्य की गाथा, उसने धृतराष्ट्र से भिक्षा माँगी किन्तु धृतराष्ट्र द्वारा भर्त्सना पाये जाने पर सम्पूर्ण धृतराष्ट्र-देश को पृथूदक की आहुति बना डाला। शल्य० ४१।१, पद्म० १।२७।४१-४५। वहाँ दर्भी को चार समुद्रों को लाते हुए वर्णित किया गया है।

अवधूत—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थकल्प०, पृ० ९३)।

अवटोदा—(नदी) भागवत० ५।१९।१८।

अवन्ति—(१) (वह देश जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी) पाणिनि ४।१।१७६, रघुवंश ६।३२, सभापर्व ३१।१०, उद्योग० १६६।६; (२) अवन्ती (पारियात्र पर्वत से निकली हुई नदी), वायु० ४५।९८, मत्स्य० ११४।२४, ब्रह्माण्ड० २।१६।२९; (३) (मालवा की राजधानी उज्जयिनी) ब्रह्म० ४३।२४, अग्नि० १०९।२४, नारदीय० २।७८।३५-३६। कतिपय नाम—विशाला, अमरावती, कुशस्थली, कनक-

शृंगा, पद्मावती, कुमुद्वती, उज्जयिनी। और देखिए लिंग० १।९२।७-८ एवं ब्रह्म० १९४।१९ (कृष्ण के गुरु सान्दीपनि अवन्तिपुर में रहते थे)। मेघदूत (१।३०) ने उज्जयिनी को विशाला कहा है, काशीखण्ड ७।९२। और देखिए 'महाकाल' के अन्तर्गत।

अविघ्नतीर्थ—(गोदावरी के उत्तरी तट पर) ब्रह्म० ११४।२५।

अविमुक्त—(काशी) वन० ८४।७८-८०, विष्णु० ५। ३४।३० एवं ४३।

अविमुक्तेश्वर—(वाराणसी में एक लिंग) लिंग० १।९२।६ एवं १०५, नारदीय० २।४९।५३-५५, (जहाँ मुर्गों को सम्मान दिया जाता है)।

अशोकतीर्थ—(सूर्पारक) वनपर्व ८८।१३।

अश्वतीर्थ—(१) (कान्यकुब्ज से बहुत दूर नहीं) वन० ९५।३, अनु० ४।१७, विष्णु० ४।७।१५ (जहाँ ऋचीक ने गाधि को उसकी कन्या सत्यवती को प्राप्त करने के लिए दहेज के रूप में १००० घोड़े दिये थे)। कालिका० ८५।५१-५७; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।३, पद्म० २।१।३; (३) (गोदावरी पर) ब्रह्म० ८९।४३ (जहाँ पर अश्विनी-कुमार उत्पन्न हुए थे)।

अश्वत्थतीर्थ—कूर्म० २।३५।३८ (जहाँ नारायण हयशिरा के रूप में निवास करते हैं) (स्थान स्पष्ट नहीं है)।

अश्वमेध—(प्रयाग के अन्तर्गत) अग्नि० १११।१४।

अश्वशिर—(नल की गाथा में) वन० ७९।२१।

अश्विनी—अनु० २५।२१ (देविका नदी पर)।

अश्विनोस्तीर्थ—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८३।१७, पद्म० १।२६।१५।

अश्वीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थ-कल्प०, पृ० ५२)।

अश्वीतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२१।३०।

अष्टवक्र—(हरिद्वार से चार मील दूर) अनु० २५।४१, देखिए दे, पृ० १२।

असि—(वाराणसी के अन्तर्गत एक नाला। इसे शुष्क नदी भी कहते हैं)।

असिकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६३।१३; वराह० के अध्याय १६६ में असिकुण्ड की विशेषता का वर्णन किया गया है।

असिक्नी—(एक नदी, आधुनिक चिनाव) ऋ० ८।२०।-२५, १०।७५।५। निरुक्त (९।२६) का कथन है कि इसका नाम काले रंग के पानी के कारण पड़ा, आगे चल कर इसका नाम चन्द्रभागा हुआ। यूनानियों ने इसे असेकिनिज कहा है। देखिए भागवत० ५।१९।१८।

असित—(पश्चिम में एक पर्वत) वन० ८९।११-१२ (इस पर्वत पर च्यवन और कक्षसेन के आश्रम थे)।

असिता—(एक नदी जहाँ योगाचार्य असित निवास करते थे, श्राद्ध के लिए एक उपयुक्त स्थल) वायु० ७७।३८, ब्रह्माण्ड० ३।१३।३९।

असित गिरि—(जहाँ योगाचार्य असित रहते थे) ब्रह्माण्ड० ३।१३।३९।

अस्तमन—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (तीर्थकल्प० पृ० १९१)।

अस्थिपुर—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२७।६२, यह थानेश्वर के पश्चिम और औजस घाट के दक्षिण है। यहीं महाभारत में मारे गये योद्धाओं के शरीर एकत्र करके जलाये गये थे। देखिए ए० एस० आर०, जिल्द १४, पृ० ८६-१०६ एवं ऐं० जि०, पृ० ३३६, जहाँ यह वर्णित है कि ह्वेनसांग के समक्ष बहुत सी हड्डियाँ प्रदर्शित की गयी थीं।

अश्मन्वती—(नदी) ऋ० १०।५३।८। आश्व० गृ० सू० (१।८।२-३) ने व्यवस्था दी है कि इस मंत्र का पूर्वार्ध तब प्रयुक्त होता है जब नवविवाहिता कन्या नाव पर चढ़ती है और उत्तरार्ध तब प्रयुक्त होता है जब वह नदी पार कर चुकती है और उतर जाती है। दे ने इसे आक्सस नदी माना है किन्तु ऐसा मानने के लिए कोई उपयुक्त तर्क नहीं है।

अश्मपृष्ठ—(गया का एक पवित्र प्रस्तरखण्ड जिसे अब प्रेतशिला कहते हैं) अनु० २५।४२।

अहः—वनपर्व ८३।१००।

अहल्यातीर्थ—(१) (गो० के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८७।१; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।८४, मत्स्य० १९१।९०-९२, कूर्म० २।४१-४३।

अहल्याह्रद—(गौतम के आश्रम के पास) वन० ८४। १०९, पद्म० १।३८।२६।

आ

आकाश—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।३, पद्म० १।३७।३।

आकाशगङ्गा—(१) (गया के अन्तर्गत) वायु० ११२।२५, अग्नि० ११६।५; (२) (सह्य पर्वत पर) नरसिंह० ६६।३५ (आमलक का एक उपतीर्थ)।

आकाशलिंग—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थ-कल्प०, पृ० ५१)।

आङ्गिरसतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।३१-३३, पद्म० १।१८।५०।

आङ्गिरसेश—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थ-कल्प०, पृ० ११७)।

आत्मतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ११७।१।

आत्रेयतीर्थ—(गोदावरी के उत्तरी तट पर) ब्रह्म० १४०।१, (अत्रि का आश्रम) चित्रकूट के पश्चात्, रामायण० २।११७।१०५।

आदर्श—बहुत से विद्वान् इसे विनशन कहते हैं। देखिए 'विनशन'। काशिका (पाणिनि ४।२।१२४) ने इसे जनपद कहा है और यही बात बृहत्संहिता (१४।२५) में भी कही गयी है।

आदित्यस्य आश्रम—वनपर्व० ८३।१८४, पद्म० १।२७। ७०।

आदित्यतीर्थ—(१) (सरस्वती पर) शल्य० ४९।१७, देवल० (तीर्थ कल्पतरु, पृ० २५०); (२) (साभ्रमती नदी पर) पद्म० ६।१६७।१ (जहाँ समुद्र से इसका संगम है)।

आदित्यायतन—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१। ७७, कूर्म० २।४१।३७-३८, पद्म० १।१८।५ एवं ७२।

आदित्येश—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।५।

आदिपाल—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०८।६५, (मुण्डपृष्ठ के आगे हाथी के रूप में गणेश) १०९।१५।

आनन्द—देखिए 'नन्दीतट' के अन्तर्गत।

आनन्दपुर—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१५, पद्म० १।३७।१८।

आपगा—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत पवित्र सात या नौ नदियों में एक का नाम) वन० ८३।६८, वाम० ३४।७, पद्म० १।३६।१-६ एवं वाम० ३६।१-४, (मानुष के पूर्व एक कोस की दूरी पर) नीलमत० १५८। देखिए ऐं० जि०, पृ० १८५ जहाँ यह स्यालकोट के उत्तर-पूर्व जम्बू पहाड़ियों से निकलती हुई अयक् नदी के समान कही गयी है। कनिंघम (आर्क्या० स० इं०, जिल्द १४, पृ० ८८-८९) का कथन है कि आपगा या ओघवती चितांग की शाखा है।

आपया—(एक नदी, सम्भवतः सरस्वती एवं दृषद्वती के मध्य प्रथम की एक सहायक नदी) ऋ० ३।२३।४। टामस के मत से यह ओघवती ही है, जे० आर० ए० एस०, जिल्द १५, पृ० ३६२।

आपस्तम्बतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३०।१।

आमलक—(१) (उ० प्र० में स्तुतस्वामी के अन्तर्गत) वराह० १४८।६७; (२) (सह्य पर्वत की ब्रह्मगिरि एवं वेदगिरि नामक चोटियों के मध्य में) तीर्थसार पृ० ७८।

आमलक ग्राम—(सह्य पर्वत पर) नारदीय० ६६।७, (तीर्थकल्प०, पृ० २५४)। दे (पृ० ४) के अनुसार यह ताम्रपर्णी के उत्तरी तट पर स्थित है।

आमर्दक—देखिए स्कन्द० (तीर्थसार, पृ० २१-३०)। यह शिव-क्षेत्र है और १२ ज्योतिर्लिंगों में एक है। इस का नाम इसलिए पड़ा है कि यहाँ पापों का मर्दन हो जाता है (आमर्दयानि पापानि तस्मादामर्दकं मतम्)। तीर्थकल्प० (पृ० २२) में स्कन्द० का ऐसा हवाला आया है कि चार युगों में यह क्रम से ज्योतिर्मय, मुक्ति, स्पर्श एवं नागेश्वर कहा गया है। देखिए विक्टर कजिन्स कृत 'मेडिएवल टेम्पुल्स आव दि डक्कन', पृ० ७७-७८, जहाँ नागनाथ के मन्दिर का वर्णन है। सम्भवतः यह

आवण्ढ्या नागनाथ ही है जो संप्रति आन्ध्र प्रदेश के परभणी नामक स्थान के उत्तर-पूर्व लगभग २५ मील की दूरी पर है।

आम्रातकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) मत्स्य० २२।५१, १८१।२८, अग्नि० ११२।३।

आर्चिक पर्वत—वन० १२५।१६ (जहाँ च्यवन और सुकन्या रहते थे)।

आर्जीकीया—(नदी) ऋ० १०।७५ सू०, ५ ऋचा। निरुक्त (९।२६) का कथन है कि नदी का नाम विपाश् (आधुनिक व्यास) था और विपाश् का प्रारम्भिक नाम उरुंजिरा था।

आर्यावर्त—अमरकोश ने इसे हिमवान् एवं विन्ध्य पर्वतों के बीच की पुण्यभूमि कहा है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २, अ० १, जहाँ आर्यावर्त के विस्तार के विषय में विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

आर्षभ—देखिए 'ऋषभ' के अन्तर्गत।

आर्ष्टिषेणाश्रम—अनु० २५।५५।

आलम्बलिङ्ग—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१४८।

आश्वाल—यह एक लिंग है (वाराणसी के अन्तर्गत), तीर्थकल्प०, पृ० ९३।

आश्वाही तीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।३०।

आसुरीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थकल्प०, पृ० ६७)।

इ

इक्षु—(१) (हिमालय से निकलनेवाली एक नदी) वायु० ४५।९६। दे (पृ० ७७) ने इसे ऑक्सस माना है। उन्होंने अश्मन्वती एवं वक्षुस् (पृ० १३ एवं ४३) को ऑक्सस ही कहा है। अतः उनकी पहचान को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया जाना चाहिए; (२) (नर्मदा से मिलनेवाली एक नदी) मत्स्य० १९१।४९।

इक्षुदा—(महेन्द्र पर्वत से निकलनेवाली नदी) मत्स्य० ११४।३१, वायु० ४५।१०६ ('इक्षुला' पाठ आया है)।

इक्षु-नर्मदा-संगम—मत्स्य० १९१।४९, कूर्म० २।४१।२८, पद्म० १।१८।४७।

इक्षुमती—(१) (कुमायूँ एवं कन्नौज से बहती हुई एक नदी) पाणिनि (४।२।८५-८६) को यह नदी ज्ञात थी। रामा० (२।६८।१७) में आया है कि अयोध्या से जाते समय पहले मालिनी मिलती है, तब हस्तिनापुर के पास गंगा, इसके उपरान्त कुरुक्षेत्र और तब इक्षुमती। मत्स्य० २२।१७ (पितृप्रिय एवं गंगा में मिलने वाली), पद्म० ५।११।१३; (२) (सिंधु-सौवीर देश की नदी) विष्णु० २।१३, ५३-५४ (यहाँ कपिल का आश्रम था, जहाँ सौवीर का राजा आया था, और उसने पूछा था कि दुःख एवं पीड़ा से भरे इस संसार में क्या अत्यन्त लाभप्रद है) भाग० ५।१०।१।

इन्द्रकील—(पर्वत, गन्धमादन के आगे) वन० ३७।४१-४२, मत्स्य० २२।५३, (पितरों के लिए पवित्र) नीलमत० १४४३, भाग० ५।१९।१६।

इन्द्रग्रामतीर्थ—(साभ्रमती के उत्तरी तट पर) पद्म० ६।१४४।१।

इन्द्रतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ९६।१।

इन्द्रतोया—(गंधमादन पर एक नदी) अनु० २५।११।

इन्द्रद्युम्नसर—(१) (पुरुषोत्तम-पुरी के अन्तर्गत)। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५। ब्रह्म० ५१।२९-३०; (२) वन० १९९।९-११, आदि० ११९।५० (गन्धमादन के आगे, जहाँ पाण्डु ने तप किया था)।

इन्द्रद्युम्नेश्वर—(महाकाल का लिंग) स्कन्द० ५।१।३।२०९।

इन्द्रध्वज—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६४।३६।

इन्द्रावती—(नदी) वायु० ४३।२६।

इन्द्रप्रस्थ—(यमुना के तट पर दिल्ली जिले में आधुनिक इन्द्रपत नामक ग्राम) आदि० २१७।२७, मौसल०

७।७२, विष्णु० ३८।३४ (कृष्ण के देहावसान के उपरान्त अर्जुन ने यहाँ यादव वज्र को राजमुकुट दिया), पद्म० ६।१९६।५, ६०।७५-७६, (यह यमुना के दक्षिण विस्तार में चार योजन था) २००।५, (यह खाण्डववन में था) भाग० १०।५८।१, ११।३०।४८, ११।३१।२५। इन्द्रप्रस्थ पाँच प्रस्थों में एक है, अन्य हैं सोनपत, पानीपत, पिलपत एवं बाघपत।

इन्द्रमार्ग—अनु० २५।९ एवं १६, पद्म० १।२७।६८।

इन्द्रलोक—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।१०-१३।

इन्द्राणीतीर्थ—नारदीय० २।४०।९३।

इन्दिरा—(नदी) वायु० १०८।७९।

इन्द्रेश्वर—(१) (श्रीपर्वत पर) लिंग० १।९२।१५२, (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थकं०, पृ० ७१)।

इरावती—(पंजाब की आधुनिक नदी, रावी, जिसे यूनानी लेखकों ने हाइड्रोएट्स कहा है) निरुक्त (९।२६) में आया है कि ऋ० (१०।७५।५) वाली परुष्णी का नाम इरावती भी था। वि० ध० सू० ८५।४९, मत्स्य० २२।१९ (श्राद्ध-तीर्थ), वायु० ४५।९५ (हिमालय से निकली), वाम० ७९।७, ८१।१, नीलमत० १४९। लाहौर नगर इसके तट पर अवस्थित है। महाभाष्य (जिल्द १, पृ० ३८२, पाणिनि २।१।२०)। और देखिए 'चन्द्रभागा'।

इरावती-नड्वला-संगम—वाम० ७९।५१।

इलातीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १०८।१।

इलास्पद—पद्म० १।२६।७३।

इल्वलपुर—(यह मणिमती पुरी है) वन० ९६।४।

ई

ईशतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२०।६९।

ईशान-लिंग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० १।९२-१०६ एवं १३७ (तीर्थक०, पृ० १०५)।

ईशान-शिखर—(केदार के अन्तर्गत) देवीपुराण (ती० क०, पृ० २३०)।

ईशानाध्युषित—वाम० ८४।८।

उ

उग्र—(वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।१५। इसे केदार भी कहते हैं।

उग्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृष्ठ ७०)।

उज्जयन्त—(सौराष्ट्र में द्वारका के पास) वन० ८८।२१-२४, वायु० ४५।९२ एवं ७७।५२, वाम० १३।१८, स्कन्द० ८।२।११।११ एवं १५ (वस्त्रापथ क्षेत्र की दक्षिणी सीमा)। देखिए ऐं० जि०, पृ० ३२५।

उज्जयिनी—(मध्य प्रदेश में आधुनिक उज्जैन) ब्रह्म० ४३।२४ (अवन्ती), ४४।१६ (मालवा की राजधानी)। देखिए 'अवन्ती' एवं 'माहिष्मती'। अशोक के धौली प्रस्तराभिलेख (सी० आई० आई०, जिल्द १, पृ० ९३) में 'उजेनी' का उल्लेख है। महाभाष्य (जिल्द २, पृ० ३५, पाणिनि ३।१।२६, वार्तिक १०) में इसका उल्लेख है। यहाँ १२ ज्योतिर्लिङ्गों में एक, महाकाल का मन्दिर है जो शिप्रा नदी पर अवस्थित है। कालिदास ने मेघदूत एवं रघुवंश (६।३२-३५) में इसे अमर कर दिया है। ऐं० जि० (पृ० ४८९-४९०) ने सातवीं शताब्दी की उज्जयिनी की सीमाएँ दी हैं। अभिधानचिन्तामणि (पृ० १८२) ने विशाला, अवन्ती एवं पुष्पकरंडिनी को उज्जयिनी का पर्याय कहा है। मृच्छकटिक में भी पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यान का उल्लेख हुआ है। पेरिप्लस एवं टॉलेमी ने इसे 'आज्नेने' कहा है। देखिए टॉलेमी (पृ० १५४-१५५)। देखिए जे० ए० ओ० एस० (जिल्द ६६, १९४६, पृ० २९३), जहाँ उदयन एवं वासवदत्ता के विषय में चर्चा है। इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ३, पृ० १५३) में श्रवण वेलगोला का विवरण है, जिसमें

उज्जयिनी से भद्रबाहु की संरक्षकता में जैनों का बाहर जाना वर्णित है, देखिए एस० बी० ई० (जिल्द १०, भाग २, पृ० १८८)।

उज्जानक--(जहाँ स्कन्द एवं वसिष्ठ को मन की शान्ति प्राप्त हुई) वन० १३०।१७, अनु० २५।५५। सम्भवतः यह 'उद्यन्तक' या 'उद्यानक' का अशुद्ध रूप है।

उड्डियान--कालिका० १८।४२ (जहाँ पर सती की दोनों जाँघें गिरी थीं)।

उत्कोचक तीर्थ--वन० १८३।२।

उत्तमेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०२)।

उत्तर--(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१४, पद्म० १।३७।१७।

उत्तर-गंगा--(कश्मीर में, लार परगने में गंगबल) ह० चि० ४।५४। इसे हरमुकुट गंगा एवं मानसोत्तर गंगा भी कहते हैं।

उत्तर-गोकर्ण--वराह० २१६।२२, कूर्म० २।३५।३१।

उत्तर-जाह्नवी--ह० चि० १२।४९। जब वितस्ता उत्तर को ओर घूम जाती है तो उसे इसी नाम से पुकारा जाता है।

उत्तर-मानस--(१) (कश्मीर में) अनु० २५।६०, नीलमत० १११८; (कश्मीर के उत्तर का रक्षक नाग) यह गंगबल नामक सर द्वारा विख्यात है। स्टीन (राज० ३।४४८) एवं ह० च० ४।८७; (२) (गया के अन्तर्गत) वायु० ७७।१०८, १११।२, वि० ध० सू० ८५।३६, शान्ति० १५२।-१३, मत्स्य० १२१।६९, कूर्म० २।३७।४४, राज० ११५।१०। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १४।

उत्पलावती--(मलय पर्वत से निकलनेवाली एक नदी) वायु० ४५।१०५, मत्स्य० ११४।३०।

उत्पलावन--वन० ८७।१५ (पंचाल देश में) अनु० २५।३४। दे (पृ० २१३) के मत से यह बिठूर है, जो उ० प्र० में कानपुर से १४ मील दूर है।

उत्पलावर्तक--(एक वन) नारदीय० २।६०।२५, वनपर्व (ती० क०, पृ० २४४)।

उत्पलिनी--(नदी, नैमिषवन में) आदि० २१५।६।

उत्पातक--अनु० २५।४१।

उदपान--वन० ८४।११०, पद्म० १।३८।२७।

उदभाण्ड--यहाँ साही राजाओं का निवास था। स्टीन ने इसे गन्धार की राजधानी कहा है; राज० ५।-१५१-१५५, ६।१७५। यह अलबरूनी का वेहण्ड एवं आज का ओहिन्द या उण्ड है। अटक के ऊपर १८ मील पर सिन्धु के दाहिने तट पर।

उदीचीतीर्थ--(गया के अन्तर्गत) वायु० १११।६। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १४।

उद्दालकेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५९)।

उद्यन्त--(पर्वत, काठियावाड़ में सोमनाथ के पास) स्कन्द० ६।२।११।११।

उद्यन्त पर्वत--(ब्रह्मयोनि पहाड़ी, गया में, शिला के बायें) वन० ८४।९३, वायु० १०८।४३-४४, नारदीय० २।४७।५१, पद्म० १।३८।१३। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १४।

उपजला--(यमुना के पास एक नदी) वन० १३०।-२१।

उपमन्युलिंग--(वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १।३७-१७, लिंग० १।९२।१०७।

उपवेणा--(अग्नि की माताओं के नाम से प्रसिद्ध नदियों में एक) वन० २२२।२४।

उमाकुण्ड--(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।-६४।

उमातुंग--कूर्म० २।३७।३२-३३, वायु० ७७।८१-८२ (श्राद्ध, जप, होम के लिए सर्वोत्तम स्थल)।

उमावन--(जहाँ शंकर ने अर्धनारीश्वर का रूप धारण किया था) वायु० ४१।३६, दे (पृ० २११) के मत से यह कुमायूँ में कोटलगढ़ है। अभिधानचिन्तामणि (पृ० १८२) का कथन है कि यह देवीकोट भी कहा जाता है।

उमाहक---(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।५७।

उर्जन्त---(अपरान्त में) ब्रह्माण्ड० ३।१३।५३ (यहाँ योगेश्वरालय एवं वसिष्ठाश्रम हैं)।

उर्वशीकुण्ड---(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।-५१-६४, नारदीय० २।६७।६५।

उर्वशीतीर्थ---(१) (प्रयाग के अन्तर्गत) वन० ८४।१५७, मत्स्य० १०६।३४, पद्म० १।३८।६४; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १७१।१।

उर्वशी-पुलिन---(प्रयाग के अन्तर्गत) मत्स्य० २२।६६ एवं १०६, ४३४।३५, अनु० २५।४०। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १३।

उर्वशी-लिंग---(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६६)।

उर्वशीश्वर---(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७२)।

उष्णतीर्थ---मत्स्य० १३।४२ (देवी को गर्म जल के तीर्थों में अभया कहा जाता है)।

उष्णीगंगा---(एक स्नान-तीर्थ) वन० १३५।७।

ऊर्जयत्---(पर्वत) रुद्रदामन् के जूनागढ़ शिलालेख (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६ एवं ४२) तथा गुप्त इंस्क्रिप्शन्स (पृ० ४५) में इसका नाम आया है।

ऋ

ऋक्ष या ऋक्षवान्---(ऋक्षों अर्थात् भालुओं से परिपूर्ण, भारतवर्ष को सात मुख्य पर्वत-श्रेणियों में एक) वायु० ४५।९९-१०१ एवं ९५।३१, मत्स्य० ११४।१७, ब्रह्म० २७।३२, वराह० ८५ (पद्य)। शोण, नर्मदा, महानदी आदि नदियाँ इसी से निकली हैं। अतः यह विन्ध्य का पूर्वी भाग है जो बंगाल से नर्मदा और शोण के उद्गम-स्थलों तक फैला हुआ है। ऋक्षवान् नासिक गुफा के दूसरे शिलालेख में उल्लिखित है (बम्बई गजेटियर, जिल्द १६, पृ० ५०५; विच्छछवत अर्थात् विन्ध्य ऋक्षवान्), यह टालेमी का औक्षेन्सन है (पृ० ७६)। विल्सन (जिल्द २, पृ० १२८) के अनुसार ऋक्ष गोंडवाना का पर्वत है। इसकी पहचान कठिन है क्योंकि वे नदियाँ जो मत्स्यपुराण एवं वन० में ऋक्ष से निकली हुई कही गयी हैं, वे मार्कण्डेयपुराण (५४।२४-२५) में विन्ध्य से निकली हुई उल्लिखित हैं।

ऋण-तीर्थ---(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।२७, कूर्म० २।४१।१९ एवं २९।

ऋणमोक्ष---(गया के अन्तर्गत) नारद० २।४७।७९, अग्नि० ११६।८।

ऋणमोचन या ऋणप्रमोचन---(१) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० ४१।६, देखिए ए० एस० आर० (जिल्द १४, पृष्ठ ७६) जिसके अनुसार यह सरस्वती के तट पर कपालमोचन तीर्थ पर स्थित है; (२) (प्रयाग के निकट) मत्स्य० २२।६७, (यहाँ का श्राद्ध अक्षय फल देता है) १०७।२०; (३) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ९९।१; (४) (आमलक ग्राम के अन्तर्गत एक उपतीर्थ) नृसिंह० ६६।२८ (तीर्थकल्प०, पृ० २५५), (५) (वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।११७।

ऋणान्तकूप---पद्म० १।२६।९२।

ऋषभ---(पाण्ड्य देश में पर्वत) वन० ८५।२१, भाग० ५।१९।१६, १०।७९।१५, मत्स्य० १२१।७२ एवं १६३।७८। दे (पृष्ठ ११९) का कथन है कि यह मदुरा में पलनी पहाड़ी है।

ऋषभतीर्थ---(१) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।३, पद्म० १।३७।३; (२) (कोशला अर्थात् दक्षिण कोशला में) देखिए कुमारवरदत्त का गुंजी प्रस्तराभिलेख (एपि० इण्डि०, जिल्द २७, पृष्ठ ४८, जहाँ महामहोपाध्याय प्रो० मीराशी ने इस पर विवेचन उपस्थित किया है। एक अमात्य ने ब्राह्मणों को दो हजार गौएँ दी थीं। प्रो० मीराशी ने इस शिलालेख को प्रथम शताब्दी का कहा है। वन० ८५।१० का कथन है कि जो यात्री यहाँ पर तीन दिनों का उपवास करता है, उसे वाजपेय यज्ञ का फल मिलता है। देखिए पद्म० १।३९।१०।

ऋषभद्वीप---वन० ८४।१६०, पद्म० १।३८।६७।

ऋषभा--(विन्ध्य से निकलती हुई नदी) मत्स्य० ११४।२७।

ऋषभंजनकतीर्थ या उषातीर्थ--(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १९१)।

ऋषिकन्या--(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।१४।

ऋषिका--(शुक्तिमान् पर्वत से निकली हुई एक नदी) वायु० ४५।१०७।

ऋषिकुल्या--(नदी) वन० ८४।४९, पद्म० १।३२।-१२, मत्स्य० १।१४।३१, ब्रह्म० २७।३७, नारद० २।६०।३०। (महेन्द्र पर्वत से निकली हुई) वायु० ४५।१६० (ऋतुकुल्या)। ऐं० जि० (पृ० ५१६) के मत से यह जाम की एक नदी है। प्रसिद्ध जौगढ़ किला, जिसके मध्य के एक विशाल पर्वत पर अशोक के १३ अनुशासन उत्कीर्ण हैं, इसी नदी पर है।

ऋषिसंघेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५४)।

ऋषिसत्र--(गो० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १७३।१।

ऋषितीर्थ--(१) (नर्मदा पर) मत्स्य० १९१।२२ एवं १९३।१३। (यहाँ मुनि तृणबिन्दु शाप से मुक्त हुए थे) कूर्म० २।४१।१५, पद्म० १।१८।२२, (२) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५२।६०।

ऋष्यमूक या ऋष्यमूके--(पर्वत) रामा० ३।७२।-१२, ३।७५।७ एवं २५। (पम्पासर की सीमा पर) भाग० ५।१९।१६, वन० २८०।९, वन० १४७।३० (यहाँ सुग्रीव रहते थे), २७९।४४ (पम्पासर के पास)। देखिए पार्जिटर (पृ० २८९) जिनकी टिप्पणी सन्देहात्मक है।

ऋष्यवन्त या ऋष्य--(पर्वत) मत्स्य० ११४।२६, वायुर० ४५।१०१, ब्रह्म० २७।३२।

ऋष्यशृंगेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ११५)।

ए

एकधार--(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३६।-१२।

एकवीरा--(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६१।३।

एकहंस--वन० ८३।२०।

एकाम्रक--(उत्कल या उड़ीसा में, कटक से लगभग २० मील दूर) यह रुद्रतीर्थ है। एकाम्रक प्राचीन है, इसे अब भुवनेश्वर कहा जाता है। इसे कृत्तिवास भी कहा जाता रहा है। ब्रह्म० (४१।१०-९३) ने इसकी प्रशस्ति गायी है (तीर्थ चिन्तामणि, पृ० १७६-१८०)। इसे पापनाशक, वाराणसी के सदृश और आठ उपतीर्थों वाला कहा जाता है। प्राचीन काल में यहाँ एक आम का पेड़ था, इसी से इसका यह नाम पड़ा (ब्रह्म० ३४।६ एवं ४१।१०-९३)। देखिए हण्टर कृत 'उड़ीसा' (जिल्द १, पृ० २३१-२४१) एवं डा० मित्र कृत 'ऐण्टीक्विटीज आव उड़ीसा' (जिल्द २, पृ० ३६-९८) जहाँ इसके इतिहास, विवरण, उत्सव आदि का उल्लेख है। मुख्य मंदिर १६० फुट ऊँचा है। भुवनेश्वर के शिलालेख (डा० एल० डी० बार्नेट द्वारा सम्पादित, एपि० इण्डि० १३, पृ० १५०) में ऐसा आया है कि एकाम्रक में गंगराज अनंगभीम की पुत्री एवं हैहय राजकुमार परमर्दी की विधवा रानी ने विष्णु का मन्दिर बनवाया। इस शिलालेख में उत्कल की प्रशंसा, एकाम्रक के मन्दिर एवं बिन्दुसर का वर्णन है। इस शिलालेख की तिथि अज्ञात है। किन्तु यह शक संवत् ११०१-१२०० के बीच कहीं है। यहाँ बहुत-सी मूर्तियाँ एवं मन्दिर हैं। देखिए ए० एस० इण्डिया रिपोर्ट (१९०२, पृ० ४३-४४) एवं पुरुषोत्तमतत्त्व (जहाँ रघुनन्दन ने ब्रह्मपुराण के अध्याय ४१ से कई श्लोक उद्धृत किये हैं)। पाँच भागों एवं ७० अध्यायों में एकाम्रपुराण भी है। एकाम्र-चन्द्रिका में (जो यात्रियों की जानकारी के लिए लिखित है) कपिलसंहिता, शिवपुराण एवं अन्य ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं। देखिए मित्र की 'नोटिसेज' (जिल्द ४, पृ० १३६-१३७, नं० १५६०)।

एरण्डीतीर्थ--(बड़ोदा जिले में नर्मदा की एक सहायक

नदी, जिसे 'उर्री' या 'ओर' कहा जाता है) मत्स्य० १९१।४२, १९३।६५ एवं पद्म० १।१८।४१।

एरण्डीनर्मदासंगम—मत्स्य० १९४।३२, कूर्म० २।४१।-८५ एवं २।४२।३१, पद्म० १।१८।४१।

एलापुर—(सम्भवतः आधुनिक एलोरा) मत्स्य० २२।-५० (श्राद्ध के लिए उपयुक्त स्थल)। ऐं० जि० (पृ० ३१९) ने इसे काठियावाड़ का वेरावल कहा है। राष्ट्रकूट कृष्णराज प्रथम के तलेगाँव ताम्रपत्र (७६८-७६९ ई०) से पता चलता है कि काञ्ची स्थित कैलासनाथ मन्दिर की अनुकृति पर कैलासनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर उस राजा ने बनवाया (एपि० इण्डि०, जिल्द १३, पृ० २७५), और देखिए एपि० इण्डि० (जिल्द २५, पृ० २५)।

ऐ

ऐरावती—(एरियन की हाइड्राओटस, ऐं० इण्डि०, पृ० १९०, रावी नदी?) (हिमालय से निकली हुई एवं मद्र देश की सीमा की एक नदी) मत्स्य० ११५।१८-१९, ११६।१ एवं ६ तथा देवल (ती० क०, पृ० २४९)।

ऐलापत्र—(पश्चिमी दिशा का दिक्पाल जो कश्मीर में दिक्पाल नाग के नाम से प्रसिद्ध है) नीलमत० ११९८ (आधुनिक ऐलपतुर)।

ओ

ओंकार—(१) (वारा० के पाँच गुह्य लिंगों में एक) कूर्म० १।३२।१-११, लिंग० १।९२।१३७, पद्म० १।३४।१-४; (२) (ओंकार मान्धाता, खण्डवा से उत्तर-पश्चिम ३२ मील पर नर्मदा के एक द्वीप पर १२ ज्योतिर्लिंगों में एक लिंग) मत्स्य० २२।२७, १८६।२, पद्म० २।९२।३२, ६।१३१।६७, स्कन्द० १।१।१७।२०९। नर्मदा के बायें तट पर मान्धाता के अमरेश्वर मन्दिर में उत्कीर्ण हलायुध-स्तोत्र (१०६३ ई०) में ऐसा आया है कि ओंकार नर्मदा एवं कावेरी के संगम पर मान्धातृपुर में रहते हैं (एपि० इण्डि०, जिल्द २५, पृ० १७३)। देखिए 'माहिष्मती' के अन्तर्गत।

ओंकारेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३५।११८।

ओघवती—(पंजाब में एक नदी) भीष्म० ९।२२, मत्स्य० २२।७१ (यहाँ श्राद्ध एवं दान अत्यन्त पुण्यकारक हैं), वाम० ४६।५०, ५७।८३, ५८।११५। पृथूदक (आधुनिक पेहोवा) इस पर स्थित था। शल्य० (३८।४ एवं २७) से प्रकट होता है कि यह सरस्वती का एक नाम था। देखिए दे (पृ० १४२) विभिन्न पहचानों के लिए।

ओजस—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत, सम्भवतः यह 'औजस' है) वाम० ४१।६, ९०।१७।

औ

औजस—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वि० ध० सू० ८५।५२, वाम० २२।५१ एवं ५७।५१।

औद्दालक तीर्थ—वन० ८४।१६१।

औधानक तीर्थ—पद्म० १।३८।६८।

औपमन्यव—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ९७)।

औशनस—(सरस्वती-तट पर एक महान् तीर्थ) यह कपालमोचन ही है। वन० ८३।१३५, मत्स्य० २२।३१, शल्य० ३९।४ एवं १६-२२, पद्म० १।२७।-२४-२६, वाम० ३९।१ एवं १४ (जहाँ उशना को सिद्धि प्राप्त हुई और वे शुक्र नामक ग्रह हो गये)।

औशीर पर्वत—वायु० ७७।२९।

औसज—(१) वि० ध० सू० ८५।५२ (सूर्पारक, वैजयन्ती टीका के अनुसार)। जाली (एस्० बी० ई०, जिल्द ७, पृ० २५९) ने भिन्न पाठ दिया है और कहा है कि यह 'औजस' है, जो उनके मत से 'औशिज' है; (२) (समन्तपंचक की सीमा) वाम० २२।५१।

क

ककुद्मती—(सह्य से निकलनेवाली एक नदी) पद्म० ६।११३।२५ (सतारा जिले में कोयना)। देखिए 'कृष्णा' के अन्तर्गत एवं तीर्थसार, पृ० ७९। कोयना सतारा में करद के पास कृष्णा से मिलती है।

ककुभ—(एक पर्वत) भाग० ५।१९।१६।

कचलिंग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११२)।

कठेश्वर—(चन्द्रभागा के पास) मत्स्य० १९१।-६३-६४।

कणादेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९२)।

कण्वाश्रम—(१) (सहारनपुर जिले में मालिनी नामक नदी पर) वन० ८२।४५, ८८।११, वि० ध० सू० ८५।३०, अग्नि० १०९।१०। अभि० शाकुंतल (अंक १) में कण्वाश्रम मालिनी के तट पर कहा गया है। शतपथब्राह्मण (१३।५।४।१३) में प्रयुक्त 'नाड्पित्' शब्द को टीकाकार हरिस्वामी ने कण्वाश्रम माना है; (२) (राजस्थान में कोटा से चार मील दक्षिण-पूर्व चर्मण्वती पर) देखिए दे (पृ० ८९)।

कदम्ब—(द्वारका के अन्तर्गत) वराह० १४९।५२ (जहाँ पर वृष्णि लोग पवित्र हुए थे)।

कदम्बखण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत एक कुण्ड) वराह० १६४।२६।

कदम्बेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।-१६१ (यहाँ स्कन्द ने लिंग स्थापित किया था)।

कदलीनदी—(जहाँ का दान पुण्यकारक है) मत्स्य० २२।५२।

कनक—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १८९)।

कनकनन्दा—(गया में मुण्डपृष्ठ से उत्तर एक नदी) नारदीय० २।४४।६२, वायु० ७७।१०५ (कनकनन्दी), कूर्म० २।३७।४१-४३ (यहाँ ब्रह्मपृष्ठ आया है)।

कनकवाहिनी—(कश्मीर में एक नदी, जो अब कंकनाई कही जाती है, और भूतेश्वर अर्थात् बूथसेर से बहती है) नीलमत० १५४५, राज० १।१४९-१५० (सिन्धु में मिलती है)। देखिए स्टीन-स्मृति, पृ० २११। नीलमत० (१५३९-४२) का कथन है कि सिन्धु एवं कनकवाहिनी का संगम वाराणसी के बराबर है।

कनका—(गया के अन्तर्गत एक नदी) वायु० १०८।-८०।

कनकेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ०-१०४)।

कनखल—(१) (हरिद्वार से लगभग दो मील दूर गंगा पर) वन० ८४।३०, अनु० २५।१३, वि० ध० सू० ८५।१४, कूर्म० २।३७।१०-११, स्कन्द० १।१।२।११ (जहाँ रुद्र ने दक्षयज्ञ को नष्ट किया था)। वायु० ८३।२१, वाम० ४।५७, देखिए तीर्थप्रकाश (पृ० ४३७); (२) (गया में उत्तर एवं दक्षिण मानस के बीच) वायु० १११।७, अग्नि० ११५।२३, नारदीय० २।४६।४६; (३) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १८३।६९, पद्म० १।२०।६७ (जहाँ गरुड़ ने तप किया था) (४) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५२।४०-४९, (जहाँ पंचाल देश के काम्पिल्य नामक नापित ने यमुना में स्नान किया और ब्राह्मण होकर जन्म लिया।

कन्या—(दक्षिण समुद्र पर, कुमारी या केप कामोरिन्) भाग० १०।७९।१७। देखिए 'कुमारी' के अन्तर्गत।

कन्याकूप—अनु० २५।१९।

कन्यातीर्थ—(१) (समुद्र के पास) वन० ८३।-११२, ८५।२३, कूर्म० २।४४।९, पद्म० १।३९।२१, (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।७६,

कूर्म० २।४२।२१; (३) (नैमिषवन में) वन० ९५।३, पद्म० १।२७।१।

कन्याश्रम—वन० ८३।१८९, पद्म० १।१२।५, २७।-७५, ३९।३५।

कन्या-संवेद्य—वन० ८४।१३६, पद्म० १।३८।५२।

कन्याह्रद—अनु० २५।५३।

कपटेश्वर—(कोठेर के पास कश्मीर घाटी के दक्षिण ओर) राज० १।३२, ह० चि० १४।३४ एवं १३५, नीलमत० ११७८, १२०२, १३२९-१३५७ (यहाँ पर शिव लकड़ी के एक कुन्दे के रूप में प्रकट हुए थे); स्टीन-स्मृति (पृ० १७८-१७९)। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० ३५८) में आया है—'कोटिहर की घाटी में एक गहरी धारा है, जब इसका पानी कम हो जाता है तो महादेव की एक चन्दन-प्रतिमा उभर आती है।'

कपर्दीश्वर—(वाराणसी में गुह्य लिंगों में एक) कूर्म० १।३२।१२, १।३३।४-११ एवं २८-४९, पद्म० १।३५।१।

कपालमोचनतीर्थ—(१) (वारा० में) वन० ८३।-१३७, स्कन्द० ४।३३।११६, नारदीय० २।२९।-३८-६० (शिव ने अपने हाथ में आये हुए ब्रह्मा के एक सिर को काट डाला और इस तीर्थ पर पापमुक्त हो गये)। शल्य० ३९।८, मत्स्य० १८३।८४-१०३, वाम० ३।४८-५१, वराह० ९७।२४-२६, पद्म० ५।१४।१८५-१८९, कूर्म० १।३५।१५ (इन पाँचों पुराणों में एक ही गाथा है); (२) (सरस्वती पर, जो औशनस नाम से भी विख्यात है) वाम० ३९।५-१४ (राम द्वारा मारे गये एक राक्षस का सिर मुनि रहोदर की गर्दन से सट गया था और मुनि को उससे छुटकारा यहीं मिला था)। शल्य० ३९।९-२२ (रहोदर की वही गाथा); देखिए ए० एस० आर० (जिल्द १४, पृ० ७५-७६) जहाँ इसकी स्थिति (सधोरा से १० मील दक्षिण-पूर्व) तथा शिव को ब्रह्मा के सिर काटने के कारण लगे पाप से छुटकारा मिलने की गाथा आदि का वर्णन है; (३) (अवन्ती के अन्तर्गत) नारदीय० २।७८।-६; (४) (कश्मीर में, शूपियन परगने में आधुनिक देगाम स्थान) देखिए राज० ७।२६६, ह० चि० १०।२४९, १४।१११; (५) (मायापुर अर्थात् हरिद्वार में) पद्म० ६।१२९।२८।

कपालेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५८)।

कपिलतीर्थ—(१) (उड़ीसा में विरज के अन्तर्गत) ब्रह्म० ४२।६; (२) (नर्मदा के उत्तरी तट पर) मत्स्य० १९३।४, कूर्म० २।४१।९३-१००, पद्म० १।१७।७, वन० ८३।४७, तीर्थसार, पृ० १००; (३) (गोदावरी के दक्षिण तट पर) ब्रह्म० १५५।१-२ (यह यहाँ पर आंगिरस, आदित्य एवं सैंहिकेय भी कहा गया है)।

कपिलधारा—वाम० ८४।२४। दे (पृ० ४) का कथन है कि नर्मदा का अमरकण्टक से प्रथम पतन स्कन्द० में कपिलधारा के नाम से उल्लिखित है।

कपिलनागराज—वन० ८४।३२, पद्म० १।२८।३२।

कपिलह्रद—(वारा० के अन्तर्गत) वन ८४।७८, नारदीय० २।५०।४६, पद्म० १।३२।४१, लिंग० १।९२।६९-७०, नारदीय० (२।६६।३५) में इसी नाम का एक तीर्थ हरिद्वार में कहा गया है।

कपिला—(१) (गया के अन्तर्गत एक धारा) वायु० १०८।५७-५८, अग्नि० ११६।५; (२) (नर्मदा के दक्षिण एक नदी) मत्स्य० १८६।४०, १९०।-१०, कूर्म० २।४०।२४, पद्म० १।१३।३५। मध्य-प्रदेश में बरवानी में यह नर्मदा से मिल जाती है।

कपिलातीर्थ—(कश्मीर में कपटेश्वर के अन्तर्गत) ह० चि० १४।११३।

कपिलावट—(नागतीर्थ एवं कनखल के पास) वन० ८४।३१, पद्म० १।२८।३१।

कपिलासंगम—(१) (नर्मदा के साथ) मत्स्य० १८६।४०, पद्म० २।१८।१, ६।२४२।४२; (२)

(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १४१।१ एवं २८-२९।

कपिलेश लिंग—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१५८।

कपिलेश्वर लिंग—(१) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५७ एवं १०७); (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० २।८५।२६।

कपिशा—(उत्कल, अर्थात् उड़ीसा की एक नदी) रघुवंश ४।३८। मेदिनीपुर में बहनेवाली कसाई से इसकी पहचान की जा सकती है।

कपोतेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १९२।१५६।

कमलालय—मत्स्य० १३।३२ (यहाँ देवी का नाम कामला है)।

कमलाक्ष—(यहाँ देवी 'महोत्पला' के नाम से विख्यात हैं) मत्स्य० १३।३४।

कम्पना—(नदी) वन० ८४। ११५-११६, भीष्म० ९।२५।

कम्बलाश्वतर नाग—(१) (प्रयाग के अन्तर्गत) मत्स्य० १०६।२७, ११०।८, कूर्म० १।३७।१९ (यमुना के दक्षिण तट पर), अग्नि० १११।५; (२) दो नाग (अर्थात् धाराएँ या कुण्ड) ये कश्मीर में हैं, नीलमत० १०५२।

कम्बलाश्वतराक्ष—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०२)।

कम्बूतीर्थ—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६। १३६।१।

कम्बोतिकेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३६।११।

करतोया—(बंगाल के रंगपुर, दिनाजपुर एवं बोग्रा जिलों से बहती हुई नदी, यह कामरूप की पश्चिमी सीमा है) वन० ८५।३, सभा० ९।२२, अनु० २५।१२। अमरकोश के अनुसार करतोया एवं सदानीरा एक ही हैं। मार्क० (५४।२५) के मत से यह विन्ध्य से, किन्तु वायु० (४५।१००) के मत से ऋक्षपाद से निकलती है। और देखिए स्मृति-च० (१, पृ० १३२)।

करपाद—(शिव का तीर्थ) वाम० (ती० क०, पृ० २३५)।

करवीर—(१) (आधुनिक कोल्हापुर) मत्स्य० १३।४१ (करवीरे महालक्ष्मीम्), पद्म० ५।१७।-२०३, मत्स्य० २२।७६, अनु० २५।४४, पद्म० ६।१०८।३; एपि० इण्डि०, जिल्द ३, पृ० २०७, २१०, वही, जिल्द २९, पृ० २८०; (२) (दृष-द्वती पर ब्रह्मावर्त की राजधानी) कालिका० ४९।७१, नीलमत० १४७; (३) (गोमन्त पहाड़ी के पास सह्य पर एक नगरी) हरिवंश (विष्णुपर्व) ३९।५०-६५।

करवीरकतीर्थ—(१) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७०); (२) (कुब्जाम्रक के अन्त-र्गत) वराह० १२६।४८-५१।

करञ्जतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १०९। ११।

करहाटक—कृष्णा एवं कोयना के संगम पर सतारा जिले में आधुनिक करद) सभा० ३१।७०, विक्र-मांकदेवचरित ८।२। ई० पू० दूसरी शताब्दी से इसका नाम शिलालेखों में आया है। दे० कनिंघम का लेख 'भरहुतस्तूप', क्षत्रपों के सिक्के यहाँ मिले हैं। बम्बई गजे०, जिल्द १, भाग १, पृ० ५८ एवं एपि० इण्डि०, जिल्द १३, पृ० २७५।

कर्कोटकेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१। ३६।

कर्कन्ध—वाम० ५१।५२।

कर्णप्रयाग—देखिए अलकनन्दा के अन्तर्गत। यू० पी० गजे० (जिल्द ३६, गढ़वाल, पृ० १७२।

कर्णह्रद—(गंगा-सरस्वती के संगम के पास) पद्म० १।३२।४।

कर्दमिल—वाम० १३५।१ (जहाँ पर भरत को राज-मुकुट पहनाया गया था)।

कर्दमाश्रम—(बिन्दुसर के पास) भाग० ३।२१। ३५-३७।

कर्दनाल—(१) (गया के अन्तर्गत) मत्स्य० २२।७७,

अग्नि० ११६।१३, नारदीय० २।६०।२४; (२) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१६५।७ एवं १०।

कर्मावरोहण—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १९०)।

कर्मेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १९२। १५२।

कलविंक—अनु० २५।४३।

कलशाख्यतीर्थ—(जहाँ अगस्त्य एक कुम्भ से निकले थे) नारदीय० २।४०।८७।

कलशेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९९), पद्म० १।३७।७।

कलापक—(केदार से एक सौ योजन के लगभग) स्कन्द० १।२।६।३३-३४।

कलापग्राम—(सम्भवतः बदरिका के पास) वायु० ९१।७, ९९।४३७, (यहाँ देवापि का निवास है और कलियुग के अन्त में यह कृतयुग-प्रवर्तक हो जायगा) भाग० १०।८७।७।

कलापवन—पद्म० १।२८।३।

कल्पग्राम—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६६। १२ (उ० प्र० में, वहाँ पर वराह का मन्दिर है)। सम्भवतः यह आधुनिक काल्पी है।

कल्माषी—(यमुना) सभा० ७८।१६।

कल्लोलकेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१। ८८।

कश्मीर-मण्डल—प्राचीन नाम कश्मीर ही था, ऐसा लगता है। महाभाष्य (जिल्द २, पृष्ठ ११९, पाणिनि ३।२।११४) में आया है—'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः।' 'सिन्ध्वादिगण' (पाणिनि, ४।३।९३) में 'कश्मीर' शब्द देश के लिए आया है। नीलमत० में कई स्थानों में 'कश्मीर' शब्द आया है, (यथा श्लोक ५, ११, ४३, ५०) किन्तु आगे 'काश्मीर' भी आया है। ह० चि० में 'कश्मीर' आया है। विक्रमांकदेवचरित (१८।१ एवं १८) में 'काश्मीर' आया है। नीलमत० (२९२-९३) में व्युत्पत्ति है—'क' का अर्थ है जल (कं वारि हरिणा यस्माद्देशादस्मादपाकृतम्। कश्मीराख्यं ततो ह्यस्य नाम लोके भविष्यति॥)। टॉलेमी ने इसे कस्पेइरिया कहा है और उसका कथन है कि वह बिदस्पेस (वितस्ता), सन्दबल (चन्द्रभागा) एवं अद्रिस (इरावती) के उद्गम-स्थलों से नीचे की भूमि में अवस्थित है। देखिए टॉलेमी (पृ० १०८।१०९) एवं नीलमत० (४०)। वन० (१३०-१०) ने कश्मीर के सम्पूर्ण देश को पवित्र कहा है। आइने-अकबरी (जिल्द २, पृ० ३५४) में आया है कि सम्पूर्ण कश्मीर पवित्र-स्थल है। और देखिए वन० ८२।९०, सभा० २७।१७, अनु० २५।८। कश्मीर एवं जम्मू के महाराज के साथ सन् १८४६ की जो सन्धि हुई थी, उसके अनुसार महाराज की राज्य-भूमि सिन्धु के पूर्व एवं रावी के पश्चिम तक थी, इम्पि० गजे० इण्डि० (जिल्द १५, पृ० ७२)। कश्मीर की घाटी लगभग ८० मील लम्बी एवं २० या २५ मील चौड़ी है (वही, जिल्द १५, पृष्ठ ७४)। और देखिए स्टीन-स्मृति (पृ० ६३) एवं ह्वेनसांग (बील का अनुवाद, जिल्द १, पृ० १४८)। ह्वेनसांग के मत से कश्मीर आरम्भिक रूप में, जैसा कि प्राचीन जनश्रुति से उसे पता चला था, एक झील थी और उसका नाम था सती-सर और वही आगे चलकर सती-देश (नीलमत० ६४-६६) हो गया। उमा स्वयं कश्मीर की भूमि या देश रूप में हैं और स्वर्गिक वितस्ता, जो हिमालय से निकलती है, सीमन्त (सिर की माँग) है (बालमत० पृ० ४५)। दन्तकथा यों है—जब गरुड़ ने सभी नागों को खा डालना चाहा तो वासुकि नाग की प्रार्थना पर विष्णु ने वरदान दिया और वासुकि नाग अन्य नागों के साथ उस देश में अवस्थित हो गया। वरदान यह मिला था कि सतीदेश में कोई शत्रु नागों को नहीं मारेगा (नीलमत० १०५-१०७) और नील सतीदेश में नागों का राजा हो गया (नीलमत० ११०)। नील का निवास शाहाबाद परगने के वेरना ग्राम में था। जलोद्भव नामक एक राक्षस

सती-सर में उत्पन्न हुआ और मनुष्यों को मारने लगा (नीलमत० १११-१२३ एवं वाम० ८१।३०-३३)। नील सभी नागों के पिता मुनि कश्यप के पास गया जिसकी प्रार्थना पर विष्णु ने अनन्तनाग को आज्ञा दी कि वह सभी पहाड़ियों को फाड़ डाले, सर को सुखा दे और जलोद्भव राक्षस को मार डाले (राज० १।२५)। इसके उपरान्त विष्णु ने नागों को आज्ञा दी कि वे मनुष्यों के साथ शान्ति से रहें। सती वितस्ता नदी हो गयी। देखिए कूर्म० २।४३४। कश्मीर में नागों को इष्ट देवता कहते हैं जो सभी पुनीत धाराओं, कुण्डों एवं सरों की रक्षा करते हैं, जो कि सब कश्मीर की रचना हैं। नीलमत० (११३०-११३१) एवं राज० (१।३८) का कथन है कि कश्मीर का तिल-तिल पवित्र तीर्थ है और सभी स्थानों में नाग ही कुल-देवता हैं। अबुल फ़जल ने आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० ३५४) में लिखा है कि उसके काल में महादेव के ४५, विष्णु के ६४, ब्रह्मा के ३ एवं दुर्गा के २२ मन्दिर थे और ७०० स्थानों में सर्पों की मूर्तियाँ थीं, जिनकी पूजा होती थी और जिनके विषय में आश्चर्यजनक कहानियाँ कही जाती थीं। राज० (१।७२) एवं नीलमत० (३१३-३१४) का कथन है कि कश्मीर का देश पार्वतीरूप है, अतः वहाँ के राजा को शिव का अंश समझना चाहिए और जो लोग समृद्धि चाहते हैं उन्हें राजा की आज्ञा की अवहेलना या असम्मान नहीं करना चाहिए। राज० (१।४२) ने एक श्लोक में कश्मीर की विलक्षणता का वर्णन किया है—'विद्या, उच्च निवास-स्थल, कुंकुम, हिम एवं अंगूरों से युक्त जल; ये सब यहाँ सर्वसाधारण रूप में पाये जाते हैं यद्यपि ये तीनों लोकों में दुर्लभ हैं।'

कश्यपेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १७५)।

कश्यपपद—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०९।१८, १११।४९ एवं ५८।

काकशिला—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०८।७६, अग्नि० ११६।४।

काकह्रद—(श्राद्ध के लिए महत्त्वपूर्ण) ब्रह्माण्ड० ३।१३।८५।

काञ्चनाक्षी—(नैमिष वन में एक नदी) वाम० ८३।२।

काञ्ची या काञ्चीपुरी—देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५। (१) सात पवित्र नगरियों में एक, चोलों की राजधानी एवं अन्नपूर्णा देवी का स्थान। पद्म० ६।११०।५, देवीभाग० ७।३८।८, ब्रह्माण्ड० ४।५।६-१० एवं ४।३९।१५, भाग० १०।७९।१४, वायु० १०४।७६, पद्म० ४।१७।६७, बार्ह० सू० ३।१२४ (एक शाक्त क्षेत्र)। कम्बोडिया के एक नये शिलालेख से, जो जयवर्मा प्रथम का है, काञ्ची के एक राजा की ओर संकेत मिलता है (इंस्क्रिप्शन डु कम्बोड्ज़े, जी० कोइडेस द्वारा सम्पादित, भाग १, पृ० ८); (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१७।८।

कान्तीपुरी—देखिए इस ग्रन्थ के खण्ड ४, अध्याय १५ का अन्तिम भाग। आइने अकबरी (जिल्द ३, पृ० ३०५), स्कन्द० ४।७।१००-१०२, माहेश्वरखण्ड, उप-प्रकरण केदार, २७।३३ (यहाँ अल्लालनाथ का एक लिंग है)। मिर्ज़ापुर जिले में कान्तीपुरी भारशिवों की राजधानी थी। देखिए जायसवाल कृत 'हिस्ट्री आव इण्डिया' (१५०-३५० ई०) पृ० १२३। कान्तीपुरी ब्रह्माण्ड० (३।१३।९४-९५) में उल्लिखित है।

कात्यायनेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० १२०)।

कादम्बती—(श्राद्ध, जप, होम आदि के लिए एक तीर्थ) वायु० ७७।८२।

कान्यकुब्ज—(ललिता देवी के ५० पीठों में एक) ब्रह्माण्ड० ४।४४।९४, वन० ८७।१७ (जहाँ विश्वामित्र ने इन्द्र के साथ सोम का पान किया); मत्स्य० १३।२९ (कान्यकुब्ज या कन्नौज में देवी को गौरी कहा गया है), अनु० ४।१७, पद्म० ५।२५ (गंगा में मिलने वाली कालिन्दी के दक्षिण तट पर राम ने वामन की मूर्ति स्थापित की), पद्म० ६।१२९।९। महाभाष्य

(जिल्द २, पृ० २३३, पाणिनि ४।१।७९) ने 'कान्य-कुब्जी' का उल्लेख किया है। रामा० (१।३२।६) में आया है कि ब्रह्मा के पौत्र एवं कुश के पुत्र कुशनाभ ने महोदया को बसाया था। अभिधानचिन्तामणि (पृ० १८२) के मत से कान्यकुब्ज, महोदय, गाधिपुर, कन्याकुब्ज एक-दूसरे के पर्याय हैं। देखिए 'महोदय' के अन्तर्गत एवं ऐं० जि० (पृ० ३७६-३८२)। टालेमी (पृ० १३४) ने इसे 'कनगोरा' एवं 'कनोगिज़ा' कहा है।

कापिल—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।९।

कापिलद्वीप—(यहाँ पर विष्णु का गुह्य नाम अनन्त है) नृसिंह० ६५।७ (ती० कल्प०, पृ० २५१)।

कापिशी—(नदी) पाणिनि (४।२।९९) में यह नाम आया है। यह यूनानी लेखकों की 'कपिसेने' है।

कापोत—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८०।५ एवं ९२।

कापोतकतीर्थ—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५५।-१ (यहाँ यह नदी पूर्व की ओर हो जाती है)।

कामकोष्ठक (कामकोटि)—(त्रिपुरसुन्दरी का पीठ—कामाक्षी) ब्रह्माण्ड० ४।५।६-१०, ४।४०।१६ (काञ्ची में), ४।४४।९४ (ललिता के ५० पीठों में एक), भाग० १०।७९।१४ (कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीम्)।

काम—बार्हस्पत्य सूत्र (३।२४) के अनुसार यह एक शिवक्षेत्र है।

कामगिरि—(पर्वत) ब्रह्माण्ड० ४।३९।१०५, भाग० ५।१९।१६, देवीभाग० ८।११।११।

कामतीर्थ—(नर्मदा के दक्षिण तट पर) कूर्म० २।४१।५, गरुड़० १।८१।९।

कामधेनु-पद—(गया के अन्तर्गत) वायु० ११२।५६।

कामाक्षा—(अहिच्छत्र में) (सुमद द्वारा स्थापित एक देवीस्थान) पद्म० ४।१२।५४-६०।

कामाक्षी—(पूर्व में) नारदीय० २।६९ (माहात्म्य के लिए)।

कामाख्य—(१) (देविका नदी पर एक रुद्रतीर्थ) वन० ८५।१०५, पद्म० १।२५।१२; (२) (ब्रह्मपुत्र नदी की सुन्दर नीलाचल पहाड़ी पर देवीस्थान या त्रिपुरभैरवी का मन्दिर) देवीभागवत० ७।३८।१५, कालिका० ६४।२ (नाम की व्याख्या की गयी है, सम्पूर्ण अध्याय में इसका माहात्म्य है)। यह गोहाटी से दो मील दूर है और प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। देखिए तीर्थप्रकाश (पृ० ५९९।६०१)। देखिए श्री बी० ककती का लेख (सिद्धभारती, भाग २ पृ० ४४)। कालिका० (१८।४२ एवं ५०) में ऐसा आया है कि जब शिव सती के शव को लिये चले जा रहे थे तो उनके गुप्तांग वहाँ गिर पड़े थे। यहाँ देवी 'कामाख्या' के नाम से प्रसिद्ध है।

कामेश्वर-लिंग—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१२२।

कामेश्वरीपीठ—कालिका० (अध्याय ८४) में इसकी यात्रा का वर्णन है।

कामोदापुर—(गंगा पर) नारदीय० २।६८ (इसमें कामोदामाहात्म्य है)। समुद्र-मंथन से चार कुमारियाँ निकलीं—रमा, वारुणी, कामोदा एवं वरा, जिनमें से विष्णु ने तीन को ग्रहण किया और वारुणी को असुरों ने ग्रहण किया; अध्याय ६८।१८। यह गंगाद्वार से १० योजन ऊपर है।

काम्यक-आश्रम—(पाण्डवों का) वन० १४६।६।

काम्यक-सर—सभा० ५२।२८।

काम्यकवन—(१) (सरस्वती के तटों पर) वन० ३६।४ (जहाँ पाण्डव द्वैतवन से आये), वाम० ४१।३०।३१; (२) (मथुरा के अन्तर्गत) १२ वनों में चौथा।

कामिक—(जहाँ गण्डकी देविका से मिलती है) वराह० १४४।८४-८५।

कायशोधन—वन० ८३।४२-४३।

कायावरोहण—(१) (डभोई तालुका में बड़ोदा से १५ मील दक्षिण आधुनिक कार्वान) वायु० २३।२२१-२२२ (यहाँ 'पाशुपत' सिद्धान्त के प्रवर्तक नकुली या लकुली का आविर्भाव हुआ था), मत्स्य० २२।३० कूर्म० २।४४।७-८ (इसका कथन है कि यहाँ महादेव का मन्दिर था और माहेश्वर-मत के

सिद्धान्तों की घोषणा यहीं हुई थी)। एपि० इण्डि० (जिल्द २१, पृ० १-७) में चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा शिलालेख (ई० ३८०) का वर्णन है जिससे प्रकट होता है कि पाशुपत सम्प्रदाय के प्रवर्तक लकुली दूसरी शताब्दी में हुए थे। (२) (वाराणसी में एक शिवतीर्थ) मत्स्य० १८१।२६। मत्स्य० (१३-४८) में देवी (कायावरोहण में) माता कही गयी है।

कारन्तुक—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० २२।६०।

कारन्धम—(दक्षिणी समुद्र पर) आदि० २१६।३।

कारपचव—(यमुना पर) पंचविंश ब्राह्मण २५।१०।२३, आश्व० श्रौ० सू० १३।६, कात्या० श्रौ० सू० २४।६।१०।

कारप वन—(सरस्वती के उद्गम-स्थल पर) शल्य० ५४।१२ एवं १५।

कारवती—(श्राद्ध-तीर्थ) ब्रह्माण्ड० ३।१३।९२।

कार्तिकेय—(१) (देवी यशस्करी के नाम से विख्यात है) मत्स्य० १३।४५; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८१।१७, गरुड़० १।८१।९।

कार्तिकेय-कुण्ड—(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।६१।

कार्तिकेय-पद—(गया में) वायु० १०९।१९, १११।५४।

कालकवन—महाभाष्य (जिल्द १, पृ० ४७५, पाणिनि २।४।१०, जिल्द ३, पृ० १७४, पाणिनि ६।३।१०९) के अनुसार यह आर्यावर्त की पश्चिमी सीमा है। डा० अग्रवाल (जे० यू० पी० एच० एस०, जिल्द १४, भाग १, पृ० १५) के मत से यह साकेत का एक भाग था।

कालकेशव—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।७।

कालकोटि—(नैमिष वन में) वन० ९५।३, बृहत्संहिता १४।४।

कालञ्जर—(या कालिंजर)—(१) (बुन्देलखण्ड में एक पहाड़ी एवं दुर्ग) वन० ८५।५६, ८७।११, वायु० ७७।९३, वाम० ८४ (इस पर नीलकण्ठ का मन्दिर है)। कालञ्जर बुन्देलों की राजधानी थी, एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० २१७; जिल्द ४३, पृ० १५३। कालञ्जरमण्डल के लिए देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द १९, पृ० १८। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० १६९) ने इसे गगन-चुम्बी पहाड़ी पर एक प्रस्तर-दुर्ग कहा है। यहाँ कई मन्दिर हैं और उनमें एक प्रतिमा कालभैरव कही जाती है, जिसके विषय में अलौकिक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। दुर्ग के भीतर झरने हैं और बहुत से कुण्ड हैं। देखिए इम्पि० गजे० इण्डि०, जिल्द ६, पृ० ३४९; (२) (एक आयतन के रूप में) देवल (ती० क०, पृ० २४०); (३) (वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० २।३६।११-३८ (राजर्षि श्वेत की गाथा, श्वेत लगातार 'शतरुद्रिय' का पाठ करता रहता था, पद्म० १।३७।१५; (४) (गोदावरी के अन्तर्गत एक शिव-तीर्थ) ब्रह्म० १४६।१ एवं ४३ (इसे 'यायात' भी कहा जाता था); (५) (कालिञ्जरी नाम से नर्मदा का उद्गम-स्थल, यहाँ शिवमन्दिर था) स्कन्द०, कालिकाखण्ड (ती० क०, पृ० ९८); (६) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७६।१८; (७) राज० ७।१२५६ (यहाँ पर यह कश्मीर का कोई पर्वतीय ज़िला प्रतीत होता है)।

कालञ्जर वन—मत्स्य० १८१।२७ (कालञ्जर, एक शिवतीर्थ), ती० क०, पृ० २४।

कालतीर्थ—(१) (कोशला में) वन० ८५।११-१२, पद्म० १।३९।११; (२) (वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।२।

कालभैरव—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१३२।

कालविमल—(कश्मीर के पाँच तीर्थों में एक) ह० चि० ४।८३।

कालसर्पिस्—(काश्यप का महातीर्थ) कूर्म० २।३७।३४, वायु० ७७।८७ (श्राद्ध के लिए एक उपयुक्त स्थल), ब्रह्माण्ड० ३।११।९८।

कालिका—(पितृ-तीर्थ) मत्स्य० २२।३६।

कालिकाशिखर—देवीपुराण (ती० क०, पृ० २४४)।

कालिकाश्रम—अनु० २५।२४, (विपाशा पर) नीलमत० १४८।

कालिका-संगम—वन० ८४।१५६, पद्म० १।३८।६३, अग्नि० १०९।२०।

कालिन्दी—(यमुना के अन्तर्गत देखिए) पद्म० १।२९।१।

कालिह्रद—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५।४५।

कालियह्रद—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १९२), तीर्थप्रकाश, पृ० ५१५।

काली—(१) (उ० प्र०, सहारनपुर से बहने वाली नदी) मत्स्य० २२।२०, वाम० ५७।७९; यह नेपाल एवं सहारनपुर की विभाजक रेखा थी (इम्पि० गजे० इण्डि०, जिल्द २२, पृ० १०२); (२) (काली सिन्धु, जो चम्बल में मिलती है)।

कालेश—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।२३।

कालेश्वर—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४५ एवं ७२), १।९२।१३६; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।८५। ब्रह्माण्ड० (४।४४।९७) में आया है कि यह ललिता के ५० पीठों में एक है।

कालोदक—(झील) (१) वि० ध० सू० ८५।३५ (वैजयन्ती टीका के अनुसार), अनु० २५।६०; (२) (समुद्र से १३००० फुट ऊँचे हरमुकुट पर्वत के पूर्व भाग में एक झील) नीलमत० १२३१-१२३३।

कालोदका—(कश्मीर में एक नदी) अनु० २५।६०, नीलमत० १५४५।

कावेरी-संगम—(नर्मदा के साथ) अग्नि० ११३।३ एवं निम्नोक्त (२)।

कावेरी—(१) (सह्य पर्वत से निकनेवाली दक्षिण भारत की एक नदी) वन० ८५।२२, अनु० १६६।२०, वायु० ४५।१०४, ७७।२८, मत्स्य० २२।६४, कूर्म० २।३७।१६-१९, पद्म० १।३९।२०, पद्म० ६।२२४।३, ४ एवं १९ (मरुद्वृधा कही गयी है)। नृसिंह० (६६। ७) का कथन है कि कावेरी दक्षिण-गंगा है, तमिल महाकाव्य 'शिलप्पदिकारम्' (१०।१०२, पृ० १६०, प्रो० दीक्षितार के अनुवाद) में इसका सुन्दर वर्णन है; (२) (राजपीपला पहाड़ियों से निकलनेवाली एक नदी, जो शुक्ल-तीर्थ के सम्मुख नर्मदा में इसके उत्तरी तट पर मिल जाती है) मत्स्य० १८९।१२-१४, कूर्म० २।४०।४०, पद्म० १।१६।६-११ (यहाँ कुबेर को यक्षाधिपत्य प्राप्त हुआ); अग्नि० ११३।३।

काशी—देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १३। यह सम्भवतः टॉलेमी (पृ० २२८) का 'कस्सिद' है। अभिधानचिन्तामणि (श्लोक ९७४) में आया है कि काशी, वराणसी, वाराणसी एवं शिवपुरी पर्याय हैं।

काश्यपतीर्थ—(१) (कालसर्पिः नामक) वायु० ७७। ८७, ब्रह्माण्ड० ३।१३।९८; (२) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५७।१।

किंकिणीकाश्रम—अनु० २५।२३।

किन्दान—पद्म० १।२६।७४, वन० ८३।७९।

किंयज्ञ—पद्म० १।२६।७४।

किंदसकूप—वन० ८४।९८।

किरणा—(नदी) वाम० ८४।५, देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १३।

किरणेश्वर लिंग—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१५५।

किलिकिलेश—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।३१।

किंशुकवन—वायु० ३८।२७-३२ (वसुधारा एवं रत्नधारा के बीच में)।

किंशुलुक—(पाणिनि ६।३।११७ के अनुसार एक पर्वत) काशिका ने कोटरावन आदि पाँच वनों एवं किंशुलुक आदि गिरियों का उल्लेख किया है, जिन्हें निश्चितता के साथ पहचाना नहीं जा सकता।

किष्किन्धा—(पम्पासर के उत्तर-पूर्व दो मील) वन० २८०।१६, रामा० ४।९।४, ४।१४।१ आदि। महाभाष्य (जिल्द ३, पृ० ९६, पाणिनि ६।१।१५७) ने किष्किन्धा-गुहा का उल्लेख किया है। 'सिन्ध्वादिगण' (पाणिनि ४।३।९३) में भी यह शब्द आया है। यह आधुनिक विजयनगर एवं अनेगुण्डि कहा गया है। देखिए इम्पी० गजे० (जिल्द १३, पृ० २३५)। बृहत्संहिता (१४।१०) ने उत्तर-पूर्व में किष्किन्धा को एक देश कहा है।

किष्किन्धा-गुहा—वायु० ५४।११६ (सम्भवतः यह किष्किन्धा ही है)।

किष्किन्धपर्वत—मत्स्य० १३।४६ (इस पर्वत पर देवी को तारा कहा गया है)।

कुक्कुटेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७८)।

कुब्जतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।९।

कुण्डिन—नृसिंह० ६५।१९, वाम० (ती० क०, पृ० २३९), इसे विदर्भा भी कहते हैं (अभिधान-चिन्तामणि, पृ० १८२, श्लोक ९७९)।

कुण्डिप्रभ—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१४८।

कुण्डेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६८)।

कुण्डोद—(काशी के पास एक पहाड़ी) वन० ८७।२५-२६।

कुण्डलेश्वर—(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० ९०।-१२; (२) (श्रीपर्वत के दक्षिण द्वार पर) लिंग० १।९२।१४९।

कुड्मला—(एक नदी) मत्स्य० २२।४६ (यहाँ का श्राद्ध अधिक पुण्यदायक होता है)।

कुन्दवन—(मथुरा के १२ वनों में तीसरा वन) वराह० १५३।३२।

कुबेर—सारस्वत तीर्थों में एक, देवल० (ती० क०, पृ० २५०)।

कुब्जक—नारदीय० २।६०।२५, गरुड़ १।८१।१० (कुब्जके श्रीधरो हरिः)।

कुब्जाम्रक—(यहाँ गंगाद्वार के पास रैभ्य का आश्रम था) वन० ८४।४०, मत्स्य० २२।६६, पद्म० १।३२।५। वि० ध० सू० ८५।१५, कूर्म० २।२०।३३, गरुड़ (१।८१।१०) का कथन है कि यह एक महान् श्राद्ध-तीर्थ है। वराह० १२५।१०१ एवं १३२ एवं १२६।३-३ (यह मायातीर्थ अर्थात् हरिद्वार है)। वराह० (अध्याय १२६) में इसका माहात्म्य है। और देखिए कल्पतरु (तीर्थ पर, पृ० २०६-२०८)। वराह० (१२६।१०-१२) में नाम की व्याख्या है। भगवान् द्वारा सूचित होने पर मुनि रैभ्य ने एक आम्र का वृक्ष देखा और वे श्रद्धावश झुक गये। इसके स्थान के विषय में अभी निश्चिततापूर्वक नहीं कहा जा सकता। वराह० (१७-९।२६-३१) में आया है कि मथुरा सौकरतीर्थ से उत्तम है और सौकरतीर्थ कुब्जाम्रक से उत्तम है। वराह० (१४०।६०-६४) ने व्याख्या की है कि किस प्रकार पवित्र स्थल हृषीकेश का यह नाम पड़ा। ऐसा लगता है कि यह हरिद्वार में कोई तीर्थ था।

कुब्जासंगम—(नर्मदा के साथ) पद्म० २।९२।३२।

कुब्जाश्रम—(एक योजन विस्तार वाला एक विष्णु-स्थान) कूर्म० २।३५।३३-३५।

कुब्जावन—पद्म० १।३९।३४।

कुब्जिकापीठ—(यहाँ पर शिव द्वारा ले जाते हुए सती-शव से सती का गुप्तांग गिर पड़ा था) कालिका० ६४।५३-५४ एवं ७१-७२।

कुभा—(सम्भवतः आधुनिक काबुल नदी) ऋ० ५।५३।९ एवं १०।७५।६। यह टॉलेमी की कोफेस एवं एरियन की कोफेन है (ऐं० इ०, पृ० ७९)। काबुल नदी ओहिन्द के पास अटक से कुछ मील उत्तर सिन्धु में मिल जाती है। पाणिनि (५।१।७७) ने उत्तरापथ का उल्लेख किया है (उत्तर-पथेनाहृतं च)। उत्तरापथ उत्तर में एक मार्ग है जो अटक के पास सिन्धु के पार जाता है।

कुमार—पद्म० १।३८।६१।

कुमार-कोशला-तीर्थ—वायु० ७७।३७।

कुमारकोटी—वन० ८२।११७, पद्म० १।२५।२३, अग्नि० १०९।१३।

कुमारतीर्थ—नृसिंह० ६५।१७ (ती० क०, पृ० २५२)।

कुमार-धारा—वि० ध० सू० ८५।२५, वायु० ७७।८५, वन० ८४।१४९ (जो पितामह-कुण्ड से निकलती है), वाम० ८४।२३, कूर्म० २।३७।२० (स्वामितीर्थ के पास), ब्रह्माण्ड० ३।१३।९४-९५ (ध्यान के लिए व्यास का आसन एवं कान्तिपुरी)।

कुमारी—(केप कामोरिन, जहाँ कुमारी देवी का एक

मन्दिर है, जिसमें देवी की, सुन्दरी कन्या के रूप में प्रतिमा है। टालेमी ने इसे 'कोउमारिया' एवं पेरिप्लस ने इसे कोमर या 'कोमारेई' कहा है। वन० ८८।१४ (पाण्ड्य देश में), वायु० ७७।२८, ब्रह्माण्ड० ३।१३।२८। ब्रह्माण्ड० (२।१६।११) एवं मत्स्य० (११४।१०) का कथन है कि भारतवर्ष का नवाँ द्वीप कुमारी से गंगा के उद्गम-स्थल तक विस्तृत है। शवर (जैमिनि० १०।१।३५) ने कहा है कि 'चरु' शब्द हिमालय से कुमारी देश तक 'स्थाली' के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

कुमारिल—(कश्मीर में वितस्ता पर) वाम० ८१।११।

कुमारेश्वर लिंग—स्कन्द० १।२।१४।६, वाम० ४६।२३।

कुमुदाकर—(कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।२५-२६।

कुमुद्वती—(विन्ध्य से निकली हुई एक नदी) वायु० ४५।१०२, ब्रह्म० २७।३३।

कुम्भ—(श्राद्ध के लिए उपयुक्त स्थल) वायु० ७७।४७।

कुम्भकर्णाश्रम—वन० ८४।१५७, पद्म० १।३८।६४।

कुम्भकोण—(आधुनिक कुम्भकोणम्, तंजौर जिले में) स्कन्द० ३, ब्रह्मखण्ड ५२।१०१।

कुम्भीश्वर—(वरणा के पूर्वी तट पर, वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४५)।

कुरङ्ग—अनु० २५।१२।

कुरुजांगल—(पंजाब में सरहिन्द, श्राद्धतीर्थ) मत्स्य० २२।९ एवं २८, वायु० ७७।८३, वाम० २२।४७ (यह सरस्वती एवं दृषद्वती के बीच में है), ८४।३ एवं १७, कूर्म० २।३७।३६, भाग० ३।१।२४, १०।८६।२०। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५।

कुरुजांगलारण्य—देवीपुराण (ती० क०, पृ० २४४)।

कुरुक्षेत्र—देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५। कुरुक्षेत्र-माहात्म्य में १८० तीर्थों का वर्णन है, किन्तु ऐसा विश्वास है कि यहाँ ३६० तीर्थ हैं। देखिए ऐं० जि०, पृ० ३३२।

कुलम्पुन—वन० ८३।१०४, पद्म० १।२६।९७।

कुलिशी—(नदी) ऋ० १।१०४।४।

कुलेश्वर—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७७।५५।

कुल्या—(नदी) अनु० २५।५६ (ती० क०, पृ० २४७)।

कुशतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।३३।

कुशस्तम्भ—अनु० २५।२८ (ती० क०, पृ० २४६)।

कुशस्थल—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।१६।

कुशस्थली—(१) (यह द्वारका ही है, आनर्त की राजधानी) विष्णु० ४।१।६४ एवं ९१, मत्स्य० १२।२२, ६९।९, वायु० ८६।२४ एवं ८८।९, भाग० ७।१४।३१, ९।३।२८ (आनर्त के पुत्र रेवत ने समुद्र के भीतर इस नगर को बसाया और आनर्त पर राज्य किया), १२।१२।३६ (कृष्ण ने इस नगर को बसाया था)। (२) (कोसल की राजधानी, जहाँ राम के पुत्र कुश ने राज्य करना आरम्भ किया था) रामा० ७।१०।१७, वायु० ८८।१९९; (३) (कुशावती, जिसका पहले का नाम कुसीनारा था, जहाँ बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ था) एस्० बी० ई०, जिल्द ११, पृ० २४८।

कुशतर्पण—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६१।१ (इसे परिणीतासंगम भी कहा जाता है)।

कुशप्लवन—वन० ८५।३६।

कुशावर्त—(१) (नासिक के पास त्र्यम्बकेश्वर) वि० ध० सू० ८५।११, ब्रह्म० ८०।२, मत्स्य० २२।६९। देखिए बम्बई गजे० (जिल्द १६, पृ० ६५१; (२) (हरिद्वार के पास) अनु० २५।१३, नारदीय० २।४०।७९, भाग० ३।२०।४।

कुशेशय—(कुशेश्वर) मत्स्य० २२।७६।

कुशिकस्याश्रम—(कौशिकी नदी पर) वन० ८४।१३१-१३२।

कुशीवट—नृसिंह० (ती० क०, पृ० २५२)।

कुसुमेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।११२-११७ एवं १२५।

कूष्माण्डेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०३)।

कूटक—(पर्वत) भाग० ५।६।७ (कुटक), वन० १९। १६ (कूटक)।

कूटशैल—(पर्वत) वायु० ४५।९२, ब्रह्माण्ड० २।१६। २३ (सम्भवतः यह उपर्युक्त कूटक ही है)।

कुशावती—(विन्ध्य के ढाल पर कोसल की राजधानी जहाँ कुश ने राज्य किया) वायु० ८८।१९९, रामा० ७।१०७।७। महासुदस्सन सुत्त (एस० बी० ई० ११, पृ० २४८) में ऐसा आया है कि कुसीनारा कुशावती के नाम से महासुदस्सन राजा की नगरी थी।

कुहू—(हिमालय से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४। २१, वायु० ४५।९५, ब्रह्माण्ड० २।१६। २५, वाम० ५७।८०, ब्रह्म० २७।२६। मत्स्य० (१२१।४६) में 'कुहून्' नाम एक देश का है, या यह गन्धारों एवं औरसों के नाम पर पड़ा, ऐसा कहा गया है। इसकी पहचान ठीक से नहीं हो सकी है।

कृकलासतीर्थ—(इसे नृगतीर्थ भी कहा जाता है) तीर्थ-प्रकाश (पृ० ५४२), अनु० ६।३८ एवं अध्याय ७०; रामा० (७।५३) में वर्णन आया है कि राजा नृग किस प्रकार गिरगिट हो गया।

कृतमाला—(मलय से निर्गत नदी) वायु० ४५।१०५, ब्रह्म० २७।३६, मत्स्य० ११४।३०, ब्रह्माण्ड० ३। ३५।१७, भाग० ८।२४।१२, १०।७९।१६, ११। ५।३९, विष्णु० २।३।१३,। दे (पृ० १०४) ने कहा है कि यह वैगा नदी है जिस पर मदुरा स्थित है। देखिए 'पयस्विनी' के अन्तर्गत। भागवत में आया है कि मनु ने इस नदी पर तप किया और मत्स्य को अवतार रूप में प्रकट होने में सहायता की।

कृतशौच—मत्स्य० १३।४५, १७९।८७, वाम० ९०।५ (यहाँ नृसिंह की प्रतिमा है), पद्म० ६।२८०।१८।

कृत्तिकांगारक—अनु० २५।२२।

कृत्तिकाश्रम—अनु० २५।२५।

कृत्तिकातीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८१।१।

कृत्तिवास—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४०)।

कृत्तिवासेश्वर लिंग—(वारा० के अन्तर्गत)। कूर्म० १।३२।१२ (श्लोक १६-१८ में नाम की व्याख्या की गयी है), पद्म० १।३४।१०, नारदीय० २।४९।६-९ (विभिन्न युगों में विभिन्न नाम थे, यह त्रेता युग का नाम है)।

कृपा—(शुक्तिमान् पर्वत से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।३२, ब्रह्माण्ड० २।१६।३८।

कृपाणीतीर्थ—(कश्मीर में मुण्डपृष्ठ पहाड़ी पर) नीलमत० १२५३, १४६०।

कृमिचण्डेश्वर—(वाराणसी के आठ शिवस्थानों में एक) मत्स्य० १८१।२९।

कृष्ण-गंगा—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७५।३।

कृष्णगंगोद्भव-तीर्थ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७६।४३ (सम्पूर्ण अध्याय में इसका माहात्म्य वर्णित है)।

कृष्णगिरि—(पर्वत) वायु० ४५।९१, ब्रह्माण्ड० २। १६।२२।

कृष्णतीर्थ—(कुरुक्षेत्र के पास) वाम० ८१।९।

कृष्ण-वेणा—भीष्म० ९।१६, मत्स्य० २२।४५, अग्नि० ११८।७, ब्रह्म० २७।३५, वायु० ४५।१-४। सम्राट खारवेल के शिलालेख (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ७७) में 'कन्हबेमना' नाम आया है। अनु० (१६६। २२) में वेण्या एवं कृष्ण-वेणा पृथक्-पृथक् नाम आये हैं। राष्ट्रकूट गोविन्द द्वितीय के अलस दान-पत्र में (७६९ ई०) कृष्णवेणा एवं मुसी के संगम का उल्लेख है (एपि० इण्डि०, जिल्द ६, पृ० २०८)।

कृष्णा-वेण्या—(उपर्युक्त एक नदी) पद्म० (६।१०८। २७) में कृष्णा एवं वेण्या के संगम का उल्लेख है, ६।११३।३ एवं २५ (कृष्णा कृष्ण का शरीर है), स्मृतिच० (१, पृ० १३२) ने कृष्णा-वेण्या में स्नान का मन्त्र लिखा है। देखिए तीर्थसार (पृ० ६७-८३) जहाँ पृ० ७० में आया है कि सह्य से निर्गत सभी नदियाँ स्मरण-मात्र से पापों को काट देती हैं और कृष्णा-वेण्या सर्वोत्तम है। मोहुली, जो सतारा से ४ मील पर है, कृष्णा एवं येन्ना के संगम पर है।

कृष्ण-वेणी—(उपर्युक्त नदी) मत्स्य० ११४।२९, रामा० ५।४१।९। तीर्थसार (पृ० ६७-८२) में स्कन्द० से कृष्णवेणी का माहात्म्य उद्धृत है।

कृष्णा—(१) (महाबलेश्वर में सह्य पर्वत से निकलनेवाली नदी) ब्रह्म० ७७।५, पद्म० ६।११३।२५, वाम० १३।३०; (२) वाम० ७८।७, ९०।२ (इस नदी पर हयशिर के रूप में विष्णु)। इसे बहुधा कृष्ण-वेण्या या कृष्ण-वेणा कहा गया है। यह दक्षिण की तीन विशाल नदियों में एक है, अन्य दो हैं गोदावरी एवं कावेरी। 'महाबलेश्वर माहात्म्य' (जे० बी० बी० आर० ए० एस्, जिल्द १०, पृ० १६) में महाबलेश्वर के पास सह्य से निकली हुई गंगा नामक पाँच नदियों का उल्लेख है—कृष्णा, वेणी, ककुद्मती (कोयना), सावित्री (जो बाणकोट के पास अरबसागर में गिरती है) एवं गायत्री (जो सावित्री से मिली कही गयी है)।

केतकीवन—'वैद्यनाथ' के अन्तर्गत देखिए।

केतुमाला—(पश्चिम में एक नदी) वन० ८९।१५।

केदार—(१) (वाराणसी के आठ शिवतीर्थों में एक) वन० ८७।२५, मत्स्य० १८१।२९, कूर्म० १।३५।१२ एवं २।२०।३४ (श्राद्ध-तीर्थ), अग्नि० ११२।५, लिंग० १।९२।७ एवं १३४; (२) (गढ़वाल में केदार नाथ) वि० ध० सू० ८५।१७। यह समुद्र से ११७५० फुट ऊँचा है। पाँच केदार विख्यात हैं—केदारनाथ, तुंगनाथ, रुद्रनाथ, मध्यमेश्वर एवं कल्पेश्वर। देखिए उ० प्र० गजे०, जिल्द ३६, पृ० १७३ (गढ़वाल); (३) (कश्मीर में) ह० चि० ८।६९ (विजयेश्वर से एक कोस नीचे); (४) (गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४६।४६; (५) (कपिष्ठल का) पद्म० १।२६।६९।

केशव—(१) (वाराणसी में) मत्स्य० १८५।६८; (२) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६३।६३।

केशितीर्थ—(गंगा के अन्तर्गत) तीर्थप्रकाश, पृ० ५१५।

केशिनीतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२१।४०।

कैलापुर—(ललिता के पचास पीठों में एक) ब्रह्माण्ड० ४।४४।९७।

कैलास शिखर—(हिमालय का एक शिखर, समुद्र से २२००० फुट ऊँचा, मानसरोवर से २५ मील उत्तर) वन० १३९।४१ (६ योजन ऊँचा), १५३।१, १५८।१५-१८, मत्स्य० १२१।२-३; ब्रह्माण्ड० ४।४४।९५ (ललितादेवी के ५० पीठों में एक); देखिए स्वामी प्रणवानन्द का लेख (जे० यू० पी० एच० एस०, जिल्द १९, पृ० १६८-१८०) और उनकी पुस्तक 'कैलास मानसरोवर' एवं स्वेन हेडिन का 'ट्रांस-हिमालय' (सन् १९०९)। देखिए दे (पृ० ८२-८३)। सतलज, सिंधु, ब्रह्मपुत्र एवं कर्णाली का उद्गम-स्थल कैलास है या मानस, अभी तक यह बात विवादग्रस्त है।

कोका—(नदी) वराह० २१४।४५, ब्रह्म० २१९।२०।

कोकामुख—(या वराहक्षेत्र, जो पूर्णिया ज़िले में नाथपुर के ऊपर त्रिवेणी पर है) वन० ८४।१५८, अनु० २५।५२, वराह० १२२ (यहाँ कोकामुख-माहात्म्य है), १२३।२, १४०।१०-१३। (ती० क०, पृ० २१३-२१४), ब्रह्म० २१९।८-१० (देवों ने एक सुन्दरी से पूछा—'कासि भद्रे प्रभुः को वा भवत्याः'), कूर्म० १।३१।४७, २।३५।३६ (यह विष्णुतीर्थ है), पद्म० १।३८।६५। वराह० (१४०।६०-८३) में आया है कि यह क्षेत्र विस्तार में पाँच योजन है और वराहावतार के विष्णु की एक मूर्ति है। देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० १३८-१३९ (जहाँ बुधगुप्त का एक शिलालेख है, जिसमें कोकामुख-स्वामी के प्रतिष्ठापन का उल्लेख है)। और देखिए डा० बी० सी० लॉ भेट-ग्रन्थ (भाग १, पृ० १८९-१९१), इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (जिल्द २१, पृ० ५६)।

कोकिल—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।१६ एवं ५।११।१०।

कोटरा-तीर्थ—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५२।२ एवं १३ (अनिरुद्ध से सम्बन्धित, जिसके लिए कृष्ण ने बाणासुर से युद्ध किया था)।

कोटरा-वन—पाणिनि (६।३।११७ एवं ८।४।४) ने इसका नाम लिया है। देखिए 'किंशुलुक' एवं पाणिनि (८।४।४), जहाँ पाँच वनों के नाम आये हैं।

कोटिकेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।३६।

कोटीश्वर—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५४); (२) (श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५७; (३) (पंचनद के अन्तर्गत) वाम० ३४।२९; क्या यह सिन्धु एवं समुद्र के पास कच्छ के पश्चिम तट का कोटीश्वर है, जो तीर्थयात्रा का प्रसिद्ध स्थल है? ऐं० जि०, पृ० ३०३-४ एवं बम्बई गजे० (जिल्द ५, पृ० २२९-२३१)।

कोटितीर्थ—(१) (पृथूदक के पास) वाम० ५१।५३, ८४।११-१५ (जहाँ करोड़ों मुनियों के दर्शन हेतु शिव ने एक करोड़ रूप धारण किये थे); (२) (भर्तृ-स्थान के पास) वन० ५५।६१; (३) (प्रयाग के अन्तर्गत) मत्स्य० १०६।४४; (४) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५२।६२, १५४।२९; (५) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।७, कूर्म० २।४१।३४, पद्म० १।१३।३३ एवं १८।८ (यहाँ एक करोड़ असुर मारे गये); (६) (गोदावरी के दक्षिणी तट पर) ब्रह्म० १४८।१; (७) (गंगाद्वार के पास) वन० ८२।४९; वन० ८४।७७, नारदीय० २।६६।२९; (८) (पंचनद में) पद्म० १।२६।१४, वाम० ३४।२८ (यहाँ हर ने करोड़ों तीर्थों से जल एकत्र किया था); (९) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।६; (१०) (कश्मीर में आधुनिक कोटिसर, बारामूला के पास) कश्मीर रिपोर्ट (पृ० १२)।

कोटिवट—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०। ४७-५०, १४७।४०।

कोणार्क (या कोणादित्य)—(ओड्र या उड़ीसा में; जगन्नाथपुरी के पश्चिम लगभग २४ मील की दूरी पर) इसका अर्थ है 'कोण का सूर्य'। 'कोनाकोन' सम्भवतः प्राचीन नाम है। यह सूर्य-पूजा का एक ज्वलन्त स्मृति-चिह्न है। यहाँ नरसिंहदेव (१२३८-१२६४ ई०) द्वारा, जो एक गंग राजा थे, निर्मित भव्य मन्दिर के भग्नावशेष हैं। उत्तर भारत के भास्कर-शिल्प का यह अद्वितीय नमूना है। इसका शिखर १८० फुट और मण्डप १४० फुट ऊँचा था। देखिए डा० मित्र कृत 'ऐण्टिक्विटीज आव उड़ीसा' (जिल्द २, पृ० १४५-१५६), हण्टर कृत 'उड़ीसा' (जिल्द १, पृ० २८८) एवं माडर्न रिव्यू (१९४५, पृ० ६७-७२) का लेख 'सन गॉड आव कोणार्क अनअर्थड।' ब्रह्म० २८।२, ९, ११, ४७, ६५ एवं २९।१, तीर्थचि० (पृ० १८०)। यह सम्भवतः टॉलेमी (पृ० ७०) का 'कन्नगर' है।

कोलापुर—(यह आधुनिक कोल्हापुर है, जो देवीस्थानों में एक है) देवीभाग० ७।३८।५, पद्म० ६।१७६।४२ (यहाँ लक्ष्मी का एक मन्दिर है), १८२।१ (अस्ति कोल्हापुरं नाम नगरं दक्षिणापथे) एवं ११। ब्रह्माण्ड० ४।४४।९७ (यह ललितातीर्थ है)। शिलाहार विजयादित्य के दान-पत्र (सन् ११४३ ई०) में 'क्षुल्लकापुर' नाम आया है, जो कोल्हापुर का एक अन्य नाम है (एपि० इण्डि०, जिल्द ३, पृ० २०७ एवं २०९-२१०)। अमोघवर्ष प्रथम के संजन दान-पत्र (८७१ ई०) में आया है कि राजा ने किसी जन-विपत्ति को दूर करने के लिए अपना बायाँ अँगूठा काटकर महालक्ष्मी देवी को चढ़ा दिया (एपि० इण्डि०, जिल्द १८, पृ० २३५ एवं २४१)। यह कोल्हापुर वाली महालक्ष्मी ही हैं। देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द २९, पृ० २८०।

कोल्ल—बार्हस्पत्य सूत्र (३।१२४) के अनुसार यह शाक्त क्षेत्र है।

कोल्लगिरि—अग्नि० ११०।२१, भाग० ५।१९।१६।

कोलाहल—(एक पर्वत) वायु० ४५।९०, १०६।४५, ब्रह्माण्ड० २।१६।२१, मार्क० ५४।१२, विष्णु० ३।१८।७३। डा० मित्र के अनुसार यह ब्रह्मयोनि पहाड़ी है। आदि० (६३।३४५) के मत से यह चेदिदेश में है, जिसने शुक्तिमती के प्रवाह को रोक दिया है।

कोशला—(नदी, अयोध्या के पास) पद्म० १।३९। ११, ६।२०६।१३, २०७।३५-३६, २०८।२७। वाकाटक राजा नरेन्द्रसेन के दान-पत्र में उसको कोसला (कोसल), मेकल एवं मालवा के राजाओं द्वारा सम्मानित कहा गया है। देखिए एपि० इण्डि० (जिल्द ९, पृ० २७१)।

कौनट—वाम० ५१।५३।

कौबेरतीर्थ—शल्य० ४७।२५ (जहाँ कुबेर को धन का स्वामित्व प्राप्त हुआ)।

कौमारतीर्थ—(एक सर) ब्रह्माण्ड० ३।१३।८६।

कौशाम्बी—प्रयाग से पश्चिम ३० मील दूर आधुनिक कोसम) रामा० (१।३२।६) में आया है कि यह ब्रह्मा के पौत्र एवं कुश के पुत्र कुशाम्ब द्वारा स्थापित हुई थी; ती० क०, पृ० २४६। महाभाष्य (जिल्द ३, पृ० ५०, १३४, पाणिनि ६।१।३१) में यह कई बार उल्लिखित हुई है। अभिधानचिन्तामणि (पृ० १८) में आया है कि यह वत्स देश की राजधानी थी। देखिए ऐं० जि० (पृ० ३९१-३९८) एवं 'हस्तिनापुर' के अन्तर्गत। देखिए नगेन्द्रनाथ घोष कृत 'अर्ली हिस्ट्री आव कौशाम्बी'। अशोक के कौशाम्बी स्तम्भाभिलेख (सी० आई० आई०, जिल्द १, पृ० १५९) ने इस आधुनिक नगर के महामात्रों का उल्लेख किया है। डा० स्मिथ ने 'कोसम' नहीं माना है (जे० आर० ए० एस०, १८९८, पृ० ५०३-५१९)। कौशाम्बी के विभिन्न स्थानों के विषय में देखिए एपि० इण्डि० (जिल्द ११, पृ० १४१)।

कौशिकी—(१) (हिमालय से निकलनेवाली, आधुनिक कोसी) आदि० २१५।७, वन० ८४।१३२, मत्स्य० २२।६३, ११४।२२, रामायण १।३४।७-९, भाग० ९।१५।५-१२ (गाधि की पुत्री सत्यवती कौशिकी नदी हो गयी), वाम० ५४।२२-२४ (इसका नाम इसलिए पड़ा कि काली ने गौर वर्ण धारण करने के उपरान्त अपना काला कोश यहाँ छोड़ दिया था), ७८।५, ९०।२, वायु० ४५।९४, ९१।८५-८८। विश्वामित्र (आदि० ७१।३०-३१) ने इस नदी को पारा कहा है। (२) (गया के अन्तर्गत) वन० ८७।१३, वायु० १०८।८१ (कौशिकी ब्रह्मदा ज्येष्ठा)। जैसा कि प्रो० दीक्षितार (पुराण इण्डेक्स, जिल्द २, पृ० ५०७) ने कहा है, यहाँ 'ब्रह्मदा' कौशिकी का विशेषण है न कि किसी अन्य नदी का नाम।

कौशिकी-कोका-संगम—वराह० १४०।७५-७८।

कौशिकीमहाह्रद—वायु० ७७।१०१, ब्रह्माण्ड० ३।१३।१०९।

कौशिकी-संगम—(दृषद्वती के साथ) पद्म० १।२६।८९, वाम० ३४।१८। उपर्युक्त दो अन्य नदियों से यह पृथक् लगती है।

कौशिकी-तीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।-४०।

कौशिक्यरुणासंगम—वन० ८४।१५६, पद्म० १।३८।-६३।

कौस्तुभेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६०)।

कौशिकह्रद—(कौशिकी नदी पर) वन० ८४।१४२-१४३, पद्म० १।३८।५८ (जहाँ विश्वामित्र को अत्युत्तम सिद्धि प्राप्त हुई)।

क्रमसार—(कश्मीर में एक सर, इसे विष्णुपद भी कहा जाता है) नीलमत० १४८१-१४८२।

क्रतुतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२१।९।

क्रिया—(ऋक्षवान् से निकली हुई एक नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।२९।

क्रुमु—(नदी) ऋ० ५।५३।९ एवं १०।७५।६। सामान्यतः इसे आधुनिक कुर्रम कहा जाता है जो इसाखेल के पास सिन्धु के पश्चिम तट में मिल जाती है। देखिए दे (पृ० १०५)।

क्रोशोदक—वराह० २१५।८७-८८।

क्रौञ्चपदी—अनु० २५।४२।

क्रौञ्च पर्वत—(कैलास का वह भाग, जहाँ मानसरोवर अवस्थित है) तैत्तिरीयारण्यक (१।३१।२) ने इसका उल्लेख किया है। रामा० ४।४३।२६-३१, भीष्म० १११।५७ (स्कन्द के चक्र द्वारा भेदित), शल्य० १७।५१ एवं ४६।८३-८४।

क्रौञ्चपद—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०८।७५-७७ (एक मुनि ने क्रौंच पक्षी के रूप में यहाँ तप किया था)। नारदीय० २।४६।५२, अग्नि० ११६।७।

क्रौञ्चारण्य—(जनस्थान से तीन कोस दूर) रामा० ३।६९।५-८।

क्षमा---(ऋष्यवान् से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४। २५।

क्षिप्रा--(विन्ध्य से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४। २७, वाम० ८३।१८-१९। कुछ मुद्रित ग्रन्थों में 'शिप्रा' या 'सिप्रा' शब्द आया है (वायु० ४५।९८)। मत्स्य० में आया है कि क्षिप्रा विन्ध्य से निकलती है, किन्तु ११४-२४ में आया है कि यह पारियात्र से निकली है। मुद्रित ब्रह्म० (अध्याय २७) में 'सिप्रा' दो बार आया है, जिसमें एक पारियात्र (श्लोक २९) से और दूसरी विन्ध्य (श्लोक ३३) से निकली हुई कही गयी है। ब्रह्माण्ड० (२।१६।२९, ३०) में यह ब्रह्म० के समान कही गयी है।

क्षीरवती--(नदी) वन० ८४।६८ (सरस्वती एवं बाहुदा के पश्चात् विस्तृत हुई)।

क्षीरिका---(जहाँ नीलकण्ठ हैं) वाम० (ती० क०, पृ० २३८)।

क्षुधातीर्थ--(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८५।१।

क्षेमेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११७)।

ख

खट्वांगेश्वर---(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५६)।

खड्गतीर्थ---(१) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१४०।१; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३९।१ (उत्तरी तट पर)।

खड्गधारातीर्थ (या खड्गधारेश्वर)---पद्म० ६।१४७।१ एवं ६७। देखिए बम्बई गजे० (जिल्द ४, पृ० ६)।

खड्गपुच्छ नाग---(कश्मीर में) ह० चि० १०।२५१ (विजयेश्वर क्षेत्र खन से तीन मील ऊपर, इसे आजकल अनन्तनाग परगने में खंबल कहा जाता है)।

खण्डतीर्थ---(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३७।१२ (इसे वृषतीर्थ भी कहा जाता है)।

खदिरवन---(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५३।३९ (बारह वनों में सातवाँ वन)।

खाण्डव (वन)---कुरुक्षेत्र की सीमा (तै० आ० ५।१।१)। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५। ताण्ड्य ब्राह्मण २५।३।६ (यहाँ नाम आया है), आदि० २२३-२२५, भाग० १।१५।८, १०।५८।२५-२७, १०।७१। ४५-४६, पद्म० ६।२००।५।

खाण्डवप्रस्थ---(एक नगर) आदि० ६१।३५, २२१। १५, भाग० १०।७३।३२ (जहाँ जरासन्ध को मारकर कृष्ण, भीम एवं अर्जुन लौटे थे)।

खोनमुष---(कश्मीर में) बिल्हण कवि की जन्म-भूमि और कुंकुम-उत्पादन के लिए प्रसिद्ध। विक्रमांकदेव-चरित १।७२, १८।७१ ('खोनमुख' पाठान्तर आया है), स्टीन-स्मृति, पृ० १६६ (आधुनिक खुनमोह, जिसमें दो गाँव हैं)।

ग

गंगा---देखिए इस ग्रन्थ के खण्ड ४ का अध्याय १३।

गंगा-कौशिकी-संगम---ती० क०, पृ० ३५७-३५८।

गंगा-गण्डकी-संगम---ती० क०, पृ० ३५७।

गंगा-गोमती-संगम---ती० क०, पृ० ३५८।

गंगाद्वार---(यह हरिद्वार का एक नाम है) वन० ८२।१४, ९०।२१, १४२।९-१०, अनु० २५।१३, कूर्म० १।१५।४१ एवं ४७ (यहाँ दक्ष का यज्ञ वीरभद्र द्वारा नष्ट कर दिया गया था), २।२०।३३ (श्राद्ध के अत्यन्त प्रसिद्ध स्थलों में एक), वि० ध० सू० ८५।३८, अग्नि० ४।७ (यहाँ वामन बलि के पास आये हैं), पद्म० ५।५।३ एवं ५।२६।१०३। बार्ह० सू० (३।१२९) के अनुसार यह शैवक्षेत्र है। मत्स्य० (२२।१०) ने एक ही श्लोक में गंगाद्वार एवं मायापुरी को अलग-अलग वर्णित किया है।

गंगा-मानुष-संगम--(कश्मीर के पास) नीलमत० १४५७।

गंगा-यमुना-संगम---(अर्थात् प्रयाग, वहीं देखिए) वन० ८४।३५।

गंगावत्---(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२०।१६ (गणेश्वर के पास)।

गंगा-वरणा-संगम—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४५)।

गंगा-वदव-संगम—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।२०।

गंगा-सरयू-संगम—रघुवंश ८।९५, तीर्थप्रकाश, पृ० ३५७।

गंगा-सरस्वती-संगम—वन० ८४।३८, पद्म० १।३२।३।

गंगा-सागर-संगम—वि० ध० सू० ८५।२८, मत्स्य० २२।११ (यह 'सर्वतीर्थमय' है) पद्म० १।३९।४, तीर्थप्रकाश (पृ० ३५५-३५६) में माहात्म्य दिया हुआ है।

गंगा-ह्रद—पद्म० १।२२।६३ (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८३।२०१, अनु० २५।३४।

गंगेश्वर—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) नारदीय० २।४९।४६; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।१४।

गंगोद्भेद—वन० ८४।६५, मत्स्य० २२।२५, पद्म० १।३२।२९, अग्नि० १०९।१८।

गजकर्ण—(पितृ-तीर्थों में एक) मत्स्य० २२।३८।

गजक्षेत्र—(शिवक्षेत्र) बार्हस्पत्य सूत्र ३।१२२।

गजशैल—(मानसरोवर के दक्षिण एक पर्वत) वायु० ३६।२४।

गजसाह्वयो—(या नागसाह्वय) (यह हस्तिनापुर ही है) विष्णु० ५।३५।८, १९, ३०-३२, वाम० ७८।८, भाग० १।४।६, टीका का कथन है—'गजेन सहित आह्वयो नाम यस्य'); बृहत्संहिता १४।४ (गजाह्वय)।

गजाह्वय—(यह हस्तिनापुर ही है) स्वर्गारोहण पर्व ५।३४।

गजेश्वर—(श्रीशैल के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१३६।

गणतीर्थ—(१) (उन तीर्थों में एक, जहाँ के श्राद्ध से परम पद मिलता है) मत्स्य० २२।७३; (२) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३३।२४।

गण्डकी—(हिमालय से निकलकर बिहार में सोनपुर के पास गंगा में मिल जाती है) यह एरियन की 'कोण्डोछटेस' है (ऐं० इण्डि०, पृ० १८८)। आदि० १७०।२०-२१ (उन सात महान् नदियों में एक, जो पाप नष्ट करती हैं), सभा० २०।२७, वन० ८४।१३, वन० २२२।२२ ('गण्डसाह्वया' सम्भवतः गण्डकी ही है), पद्म० १।३८।३०, ४।२०।१२ (इसमें पाये जानेवाले प्रस्तर-खण्डों पर चक्र-चिह्न होते हैं)। वराह० (१४४-१४६) एवं ब्रह्माण्ड० (२।१६।२६) में आया है कि यह नदी विष्णु के कपोल के पसीने से निकली है। विष्णु ने इसे वरदान दिया कि मैं शालग्राम प्रस्तर-खण्डों के रूप में तुममें सदैव विराजमान रहूँगा (वराह० १४४।३५-५८)। गण्डकी, देविका एवं पुलस्त्याश्रम से निकली हुई नदियाँ त्रिवेणी बनाती हैं (वराह० १४४।८४)। यह नेपाल में 'शालग्रामी' एवं उ० प्र० में 'नारायणी' कहलाती है।

गदाकुण्ड—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५।४९।

गदालोल—(गया में ब्रह्मयोनि के दोनों ओर एक-एक कुण्ड) वायु० १०९।१.१-१३, १११।७५-७६, अग्नि० ११५।६९; और देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १४।

गन्धकाली—(नदी) वायु० ७७।४४, ब्रह्माण्ड० ३।१३।७६।

गन्धमादन—(वह पर्वत, जिस पर बद्रीनाथ अवस्थित है) नृसिंह० ६५।१० (ती० क०, पृ० २५२), विष्णु० २।२।१८ (मेरु के दक्षिण), मार्क० ५१।५ (नर-नारायणाश्रम का स्थल), मत्स्य० १३।२६।

गन्धवती—(१) (एकाम्रक के पास उदयगिरि की पहाड़ियों से निर्गत एक पुनीत नदी, यद्यपि शिवपुराण ने इसे विन्ध्य से निर्गत कहा है) देखिए डा० मित्र कृत 'ऐण्टीक्विटीज आव उड़ीसा' (जिल्द २, पृ० ९८)। (२) (शिप्रा की एक छोटी सहायक नदी) मेघदूत १।३३।

गन्धर्वकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६३।१३।

गन्धर्वनगर—ती० क०, पृ० २४७।

गन्धर्वतीर्थ—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३६।१३, शल्य० ३७।१० (सरस्वती के गर्गस्रोत पर)।

गभस्तीश—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ६।३३। १५४।

गभीरक—(मन्दार के दक्षिण भाग के अन्तर्गत) वराह० १४३।४२।

गम्भीरा—(१) (एक नदी जो विजयेश्वर के नीचे वितस्ता से मिल जाती है) ह० चि० १०।१९२, स्टीन-स्मृति (पृ० १७०)। स्टीन ने राज० (८।१०६३) की टिप्पणी में कहा है कि यह वितस्ता से मिलने के पूर्व विशोका के निम्नतम भाग का नाम है; (२) (मध्य प्रदेश में) मेघदूत १।४०; बृहत्संहिता (१६।१५) ने 'गाम्भीरिका' नदी का नाम लिया है, जो क्षिप्रा से मिलती है।

गया—(१) देखिए, इस ग्रन्थ का खण्ड ४ अध्याय १४; (२) (बदरिकाश्रम पर पाँच धाराओं में एक) नारदीय० २।६७।५७-५८।

गयाकेदारक—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११५।५३।

गया-निष्क्रमण—नृसिंह० (ती० क०, पृ० २५२), यहाँ विष्णु का गुह्य नाम हरि है।

गयाशिर—(राजर्षि गय के नाम से प्रसिद्ध पहाड़ी) वन० ९५।९, ८७।११, वायु० १०५।२९ (यह विस्तार में एक कोस है), वाम० २२।२० (यह ब्रह्मा की पूर्व वेदी है) अग्नि० ११५।२५-२६ (यह फल्गुतीर्थ है)। डा० बरुआ ('गया एण्ड बुद्धगया', जिल्द १, पृ० ७) के मत से यह आधुनिक ब्रह्मयोनि पहाड़ी है।

गयातीर्थ—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।५।

गयाशीर्ष—(गया नगर के पास एक पर्वतश्रेणी) वि० ध० सू० ८५।४। बुद्ध १००० भिक्षुओं के साथ गया के पास गयाशीस पर गये; देखिए महावग्ग १।२१।१ (एस० बी० ई०, जिल्द १३, पृ० १३४)। देखिए इस ग्रन्थ के खण्ड ४ का अध्याय १४।

गर्वा-भवन—पद्म० १।२६।४६।

गरुडकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६७)।

गर्गस्रोत—(सरस्वती पर) शल्य० ३७।१४।

गर्गेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।८२।

गर्तेश्वर—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६९।१७, १७६।६।

गल्लिका—(गण्डकी नदी का एक अन्य नाम) पद्म० ६।७६।२, (जहाँ शालग्राम पाषाण पाये जाते हैं) ६।१२९।१४।

गायत्रीस्थान—वन० ८५।२८।

गायत्रीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७९)।

गायत्रीतीर्थ—(गया के अन्तर्गत) वायु० ११२।२१।

गाणपत्यतीर्थ—(विष्णु नामक पहाड़ी पर, साभ्रमती के पास) पद्म० ६।१२९।२६, ६।१६३।१।

गालव—देखिए 'पापप्रणाशन'।

गालवेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९८)।

गार्हपत्यपद—(गया के अन्तर्गत) वायु० १११।५०।

गारुड—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ९०।१।

गिरिकर्णिका—मत्स्य० २२।३९। दे (पृ० ६५) ने इसे साभ्रमती कहा है।

गिरिकुञ्ज—पद्म० १।२४।३४ (जहाँ ब्रह्मा निवास करते हैं)।

गिरिकूट—(गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४७।७५।

गिरिनगर—(काठियावाड़ में आधुनिक जूनागढ़) इसके पास की पहाड़ी प्राचीन काल में उज्जयन्त या ऊर्जयन्त कहलाती थी, किन्तु अब गिरनार कही जाती है। दे (पृ० ६५-६६) ने इस पर लम्बी टिप्पणी की है। एक पहाड़ी के ऊपर दत्तात्रेय की पादुकाओं (पद-चिह्नों के साथ पत्थर) के चिह्न यहाँ अंकित हैं। यहाँ अशोक का शिलालेख है, अतः ई० पू० तीसरी शताब्दी में यह स्थान प्रसिद्ध रहा होगा। जूनागढ़ के शिलालेख में यह प्रथम पंक्ति में वर्णित है (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६, ४२)। देखिए 'वस्त्रापथ' के अन्तर्गत।

गिरिव्रज—(जरासन्ध एवं उसके पुत्र सहदेव से लेकर मगध के राजाओं की राजधानी) इसे बौद्ध काल में राजगृह कहा जाता था। यह पटना से लगभग ६२ मील पर है। दे (पृ० ६६-६९) ने इस पर लम्बी

टिप्पणी की है। सभा० २१।२-३ (यह वैहार, विपुल, वराह, वृषभ एवं ऋषिगिरि नामक पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ एवं रक्षित है)। देखिए 'राजगृह' के अन्तर्गत। रामा० (१।३२।७) में आया है कि यह ब्रह्मा के पौत्र एवं कुश के पुत्र वसु द्वारा स्थापित हुआ था।

गुरुकुल्यतीर्थ—(नर्मदा पर) स्कन्द० १।१।१८।-१५३ (जहाँ पर बलि ने अश्वमेधयज्ञ किया)।

गुहेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०२)।

गृध्रकूट—(१) (गया के अन्तर्गत एक पहाड़ी) वायु० ७७।९७, १०८।६१, १११।२२, अग्नि० ११६।१२, नारदीय० २।४५।९५ एवं ४७।७८; (२) (सरस्वती और शुद्धा के संगम पर, जहाँ परशुराम के रक्तरंजित हाथ स्वच्छ हुए थे) नीलमत० १३९४-१३९५।

गृध्रवन—कूर्म० २।३७।३८।

गृध्रवट—(१) (गया में गृध्रकूट पर) वन० ८४।-९१, अग्नि० ११६।१२, पद्म० १।३८।११ (यहाँ भस्म से स्नान होता है), नारदीय० २।४४।७२, वायु० १०८।६३; अब वृक्ष नहीं है; (२) (सूकर-क्षेत्र में, जहाँ गृध्र मानव हो गया था) वराह० १३७।५६।

गृध्रेश्वर-लिंग—(गृध्रकूट पर गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।११, नारदीय० २।४७।७८।

गोकर्ण—(१) (उत्तरी कनारा जिले के कुमटा तालुका में गोआ से ३० मील दक्षिण, समुद्र के पश्चिमी तट पर शिव का पवित्र स्थल) वन० ८५।२४, ८८।१५, २७७।५५; आदि० २१७।३४-३५ ('आद्यं पशुपतेः स्थानं दर्शनादेव मुक्तिदम्'), वायु० ७७।१९, मत्स्य० २२।३८, कूर्म० २।३५।२९-३२, ब्रह्माण्ड० ३।५६।-७-२१ (श्लोक ७ में इसका विस्तार डेढ़ योजन है), वाम० ४६।१३ (रावण ने यह लिंग स्थापित किया था)। ब्रह्माण्ड० (३।५७-५८) एवं नारदीय० (२।७४) ने वर्णन किया है कि यह समुद्र की बाढ़ में डूब गया था और यहाँ के लोग परशुराम के पास सहायतार्थ गये थे। देखिए एपि० कर्नाटिका, जिल्द ७, शिकारपुर, संख्या ९९ (१११३ ई०), जहाँ चालुक्य त्रिभुवनमल्ल के राज्य को 'गोकर्णपुर के स्वामी' का करद कहा गया है। कूर्म० (२।३५।-३१) ने उत्तर-गोकर्ण एवं वराहपुराण (२१३।-७) ने दक्षिणी एवं उत्तरी गोकर्ण का उल्लेख किया है। (२) (सरस्वती तट पर) वराह० १७०।११; (३) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७१-१७३; (४) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११३)। मत्स्य० (१३।३०) ने गोकर्ण में देवी को भद्रकर्णिका कहा है।

गोकर्ण-ह्रद—वन० ८८।१५-१६।

गोकर्णेश्वर—(हिमालय की एक चोटी पर) वराह० २१५।११८।

गोकामुख—(पर्वत) भाग० ५।१९।१६।

गोकुल—(एक महारण्य) देखिए 'व्रज', पद्म० ४।-६९।१८, भाग० २।७।३१।

गोग्रह—(उड़ीसा में, विरज के अन्तर्गत) ब्रह्म० ४२।६।

गोधन—(पर्वत) ब्रह्माण्ड० २।१६।२२।

गोतीर्थ—(१) (नैमिष वन में) वन० ९५।३; (२) (प्रयाग में) मत्स्य० ११०।१; (३) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३३।१३; (४) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।३, पद्म० १।२०।३; (५) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५६।१।

गोचरमेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५२।

गोदावरी—देखिए इस ग्रन्थ के खण्ड ४ का अध्याय १५।

गोनिष्क्रमण—(इसे गोस्थलक भी कहते हैं) वराह० १४७।३-४ एवं ५२।

गोपाद्रि—(कश्मीर में श्रीनगर से दक्षिण में स्थित एक पहाड़, जिसे अब तख्तए सुलेमान कहते हैं) स्टीन-स्मृति (पृ० १५७); राज० (१।३४१) ने गोपाद्रि का उल्लेख किया है, जो डाल झील के पास आज का गोपकार है। देखिए काश्मीर रिपोर्ट, १७।

गोपीश्वर—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।१८ (जहाँ कृष्ण ने गोपियों के साथ लीलाएँ कीं)।

गोप्रचार—(गया के अन्तर्गत) वायु० १११।३५-३७ (जहाँ आमों की एक कुञ्ज है), अग्नि० ११६।६।

गोप्रतार—(अवध के फैजाबाद में गुप्तार) जहाँ राम ने अपनी सेना एवं भृत्यों के साथ अपना शरीर छोड़ा। वाम० ८३।८, नारदीय० २।७५।७१, रघुवंश १५-१०१।

गोप्रेक्ष—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४२), पद्म० १।३७।१६, नारदीय० २।५०।४३ (गोप्रेक्षक)।

गोप्रेक्षक—(वारा० के अन्तर्गत एक लिंग) लिंग० १।९२।६७-६८।

गोप्रेक्षेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० (ती० क०, पृ० १३१)।

गोभिलेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९४)।

गोमण्डलेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१६२ (नन्द आदि द्वारा स्थापित)।

गोमन्त—(१) (एक पहाड़ी) मत्स्य० १३।२८ (गोमन्त पर सती को गोमती कहते हैं); (२) (करवीरपुर, क्रौञ्चपुर एवं वेणा नदी के पास सह्य की एक पहाड़ी) हरिवंश (विष्णुपर्व ३९।११ एवं १९-२०); (३) (द्वारका के पास एक पहाड़ी, जहाँ जरासंध के आक्रमणों से तंग आकर कृष्ण एवं वृष्णि लोग मथुरा से आकर बस गये थे) सभा० १४।५४, वन० ८८।-१५-१७, नारदीय० २।६०।२७। पार्जिटर ने जो पहचान बतलायी हैं, वे असंतोषप्रद हैं (पृ० २८९)।

गोमती—(१) (एक नदी) ऋ० (८।२८।३० एवं १०।७५।६) यह कुभा एवं क्रुमु के बीच में रखी गयी है (ऋ० १०।७५।६); अतः सम्भवतः यह आज की गोमल है जो सिन्धु की एक पश्चिमी सहायक नदी है; (२) (सरस्वती के पास की एक नदी) वन० ५।८७।७, पद्म० १।३२।३७, वाम० ६३।६१ एवं ८३।२; (३) (द्वारका के पास) स्कन्द० ७।४।४।९७-९८ एवं ५।३२, पद्म० ४।-१७।६९-७० एवं ६।१७६।३५-३६; (४) (अवध में, हिमालय से निकलकर वाराणसी के पास गंगा में मिलने वाली नदी) मत्स्य० ११४।२२, ब्रह्माण्ड० २।१६।२५, रामा० २।४९।११।

गोमती-गंगा-संगम—पद्म० १।३२।४२, भाग० ५।-१९।१८, अग्नि० १०९।१९।

गोरक्षक—वराह० २१५।९३।

गोरथगिरि—(मगधक्षेत्र में) सभा० २०।३०।

गोवर्धन—(१) (मथुरा के पास एक पहाड़ी) मत्स्य० २२।५२, कूर्म० १।१४।१८ (जहाँ पर पृथु ने तप किया था)। पद्म० ५।६९।३९, वराह० १६३।-१८, १६४।१ एवं २२-२३, विष्णु० ५।११।१६। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५; (२) (राम द्वारा गौतमी के अन्तर्गत स्थापित एक नगर) ब्रह्म० ९१।१, ब्रह्माण्ड० २।१६।४४। नासिक के पास प्राप्त उषवदात के शिलालेख में गोवर्धन कई बार उल्लिखित हुआ है (बम्बई गजे०, जिल्द १६, पृ० ५६९)।

गोविन्दतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२२।१००, पद्म० १।३८।५० (चम्पकारण्य के पास है, ऐसा लगता है)।

गौतम—(मन्दर पर्वत पर) पद्म० ६।१२९।८।

गौतम नाग—(कश्मीर में, अनन्तनाग के दक्षिण एवं बवन के मार्ग में) स्टीन-स्मृति, पृ० १७८।

गौतम-वन—वन० ८४।१०८-११०।

गौतमाश्रम—(त्र्यम्बकेश्वर के पास) पद्म० ६।१७६।-५८-५९।

गौतमी—(गोदावरी) देखिए इस ग्रन्थ के खण्ड ४ का अध्याय १५।

गौतमेश्वर—(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० २२।६८, १९३।६०, कूर्म० २।४२।६-८, पद्म० १।२०।५८; (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११५)।

गौरी—(नदी) भीष्म० ९।२५। सम्भवतः यह यूनानी लेखकों की 'गौरयिऑस' है (टॉलेमी, पृ० १११)।

गौरीश—(ललिता-तीर्थ) ब्रह्माण्ड० ४।४४।९८।

गौरीशिखर—(१) वन० ८४।१५१, मत्स्य० २२।-७६ (श्राद्ध के लिए योग्य); (२) (कश्मीर के पास एक तीर्थ) नीलमत० १४४८-१४४९ (जहाँ नील-कमल के रंग वाली उमा ने तप किया और गौर वर्ण वाली हो गयी)।

गौरीतीर्थ—(वारा० के अन्तर्गत) मत्स्य० २२।३१, कूर्म० १।३५।२, पद्म० १।३७।३।

घ

घटेश्वर—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५९।३।

घटोत्कच—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।८, पद्म० १।३७।८।

घण्टाभरणक—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५४।-१५।

घण्टाकर्णह्रद—(वारा० के अन्तर्गत व्यासेश्वर के पश्चिम) नारदीय० २।४९।२८-२९, लिंग० (ती० क०, पृ० ८६)।

घण्टेश्वर—मत्स्य० २२।७०।

घर्घर—(या घर्घरा या घागरा) (एक पवित्र नदी, जो कुमायूँ से निकलती है और अवध की एक बड़ी नदी है) पद्म० २।३९।४३, मत्स्य० २२।३५, पद्म० ५।११।२९ (दोनों में समान शब्द हैं)। देखिए तीर्थप्रकाश (पृ० ५०२), जहाँ सरयू-घर्घर-संगम का उल्लेख है। घर्घरा, सरयू आदि नदियों का सम्मिलित जल घागरा या सरजू के नाम से प्रसिद्ध है, विशेषतः बहरामघाट से) देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द १२, पृ० ३०२-३०३।

घृतकुल्या—(गया के अन्तर्गत एक नदी) वन० १०५।७४; ११२।३०।

च

चक्र—(सरस्वती के पास) भाग० १०।७८।१९।

चक्रतीर्थ—(१) (सौकरतीर्थ के अन्तर्गत) वराह० १३७।१९; (२) (आमलक ग्राम के अन्तर्गत) नृसिंह० ६६।२२; (३) (सेतु के अन्तर्गत) स्कन्द० २०३, ब्रह्मखण्ड, अध्याय ३-५; (४) (कश्मीर में) चक्रधर के नाम से भी विख्यात है; (५) (गोदावरी पर) ब्रह्म० ६८।१, १०९।-१, १२४।१ (त्र्यम्बक से ६ मील) यद्यपि तीन बार उल्लिखित है, तथापि एक ही तीर्थ; (६) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६२।४३; (७) (सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ४२।५, ५७।८९, ८१।३; देखिए ऐं० जि० (पृ० ३३६) एवं 'अस्थि-पुर' के अन्तर्गत; (८) (द्वारका के अन्तर्गत) तीर्थ प्र०, पृ० ५३६-५३७, वराह० १५९।५८।

चक्रधर—(कश्मीर में विष्णुस्थान, आज यह अपभ्रंश रूप में 'त्सकदर' या 'छाकधर' है) राज० १।३८। अब यह विजब्रोर (प्राचीन विजयेश्वर) से लगभग एक मील पश्चिम प्रसिद्ध तीर्थ है। देखिए कश्मीर रिपोर्ट (पृ० १८) एवं स्टीन-स्मृति (पृ० १७१)। चक्रधर एवं विजयेश-शिव एक-दूसरे के पास स्थित दो प्रतिमाएँ हैं। ह० चि० (७।६१) इसे चक्रतीर्थ एवं चक्रधर (७।६४) कहता है।

चक्रवाक—(पितरों के लिए एक तीर्थ) मत्स्य० २२।४२।

चक्रस्थित—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६९।१।

चक्रस्वामी—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५।-३८ (चक्रांकितशिलास्तत्र दृश्यन्ते)।

चक्रावर्त—(मन्दार के अन्तर्गत)। वराह० १४३।-३६-३८ (एक गहरी झील)।

चक्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५२)।

चक्षुस्—(हिमालय से निकलनेवाली एक नदी, गंगा की एक शाखा) मत्स्य० १२१।२३, वायु० ४७।-२१ एवं ३९, ब्रह्माण्ड० २।१६।२०, भाग० ५।१७।-५। दे (पृ० ४३) के मत से चक्षुस् 'आक्सस' या 'आमू दरिया' है; वे मत्स्य० (१२०।१२१) पर

निर्भर हैं, जो ठीक नहीं जँचता। आश्चर्य है, दे (पृ० १३) अश्मन्वती को भी 'आक्सस' कहते हैं!

चक्षुस्तीर्थ—(गोदावरी के दक्षिणी तट पर) ब्रह्म० १७०।१।

चण्डला—(ऋक्षवान् पर्वत से निकलनेवाली एक नदी) मत्स्य० ११४।२६।

चण्डवेगा—(पितरों के लिए पुनीत एक नदी) मत्स्य० २२।२८।

चण्डवेगासम्भेद—मत्स्य० २२।२८, कूर्म० २।४४।१६, पद्म० ६।१३१।६७।

चण्डेश—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१६२।-१।

चण्डिकेश्वर—लिंग० १।९२।१६६, वाम० ५१।५०।

चतुःसमुद्र—(वारा० के अन्तर्गत एक कूप) लिंग० (ती० क०, पृ० ८९)।

चतुःसामुद्रिक—(मथुरा के अन्तर्गत एक कूप) वराह० १५८।४१।

चतुःस्रोत—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।१७।

चतुर्मुख—(सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ४२।२८।

चतुर्येश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) नारदीय० २।-४९।६५।

चतुर्वेदेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द०, काशीखण्ड ३३।१३०।

चन्द्रतीर्थ—(१) (कावेरी के उद्गम स्थल पर) कूर्म० २।३७।२३; (२) (वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।१७, कूर्म० १।३५।११; (३) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १८३।७५, कूर्म० २।४२।१५, ब्रह्माण्ड० ३।१३।२८।

चन्द्रवर्षा—(नदी) वन० १९।१८।

चन्द्रवती—(नदी, कश्मीर में) नीलमत० ३१० (दिति यह नदी हुई थी जैसे कि यमुना वितस्ता हो गयी थी)।

चन्द्रभागा—(१) हिमालय से यह दो धाराओं में निकलती है, एक को 'चन्द्रा' (जो १६००० फुट ऊँचाई पर बार लाछ के दक्षिण-पूर्व हिम-स्थल से निकलती है) और दूसरी को 'भागा' (जो दर्रे के उत्तर-पश्चिम भाग से निकलती है) कहते हैं। दोनों तण्डी के पास संयुक्त हो जाती हैं और मिलित धारा चन्द्रभागा या चिनाब कहलाती है। पंजाब की पाँच नदियाँ हैं—**वितस्ता** (झेलम या यूनानी लेखकों की हाइडस्पीस), **विपाशा** (ब्यास, यूनानी लेखकों की हाइपसिस), **शतद्रु** (सतलज), **चन्द्रभागा** (चिनाब) एवं **इरावती**। मिलिन्द-प्रश्न (एस० बी० ई०, जिल्द ३५, पृ० १७१) में चन्द्रभागा भारत की दस बड़ी नदियों में एक कही गयी है। वि०-ध० सू० ८५।४९, सभा० ९।१९, मत्स्य० १३।४९, अनु० २५।७, नारदीय० २।६०।३०, नीलमत० १५९ एवं १६२, ह० चि० १२।४४। देखिए 'असिक्नी'; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।६४, कूर्म० २।४१।३५, पद्म० १।१८।६१; (३) (ताप्ती से मिल जाती है) पद्म० ६।७०।४४; (४) (जो साभ्रमती से मिलती है) पद्म० ६।१४८।१२, १४९।१; (५) (भीमा, जो कृष्णा की एक सहायक नदी है)।

चन्द्रमस्तीर्थ—(आर्चीक पर्वत पर) वन० १२५।१७।

चन्द्रपद—(गया के अन्तर्गत) ब्रह्माण्ड० ३।४७।-१८-१९।

चन्द्रपुर—(कश्मीर का एक नगर) नीलमत० ११३८ एवं ११५६-११५७ (महापद्म नाग ने इसे डुबो दिया और उसके स्थान पर एक योजन लम्बी-चौड़ी झील बन गयी)।

चन्द्रेश्वर—(१) (चन्द्रभागा नदी पर एवं दूधेश्वर के पूर्व में, साभ्रमती पर) पद्म० ६।१३९।१; (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४९)।

चन्द्रिका—(चन्द्रभागा नदी, आधुनिक चिनाब) मत्स्य० २२।६३।

चमत्कारपुर—(आधुनिक अहमदाबाद जिले का आनन्दपुर) स्कन्द० ६, अध्याय १-१३।

चमस या चमसोद्भेद—(१) (जहाँ मरुभूमि में विलुप्त हो जाने के पश्चात् सरस्वती पुनः प्रकट होती है) वन० ८२।११२, १३०।५ (एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती), पद्म० १।२५।१८; (२) (प्रभास के अन्तर्गत) शल्य० ३५।८७, वन० ८८।२०।

चम्पकतीर्थ—(जहाँ गंगा उत्तर की ओर बहती हैं) नारदीय० २।३४०।८६।

चम्पकवन—(गया के अन्तर्गत) वायु० ३७।१८-२२।

चम्पा—(१) (भागलपुर से ४ मील पश्चिम भागीरथी पर एक नगरी और बुद्ध-काल की छः बड़ी पुरियों में एक) वन० ८४।१६३, ८५।१४, ३०८।२६, पद्म० १।३८।७०; मत्स्य० ४८।९१ (आरम्भ में यह मालिनी कहलाती थी और आगे चलकर राजा चम्प के नाम पर 'चम्पा' कहलाने लगी। महापरिनिब्बान सुत्त के मत से छः बड़ी नगरी हैं—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी एवं वाराणसी (एस्० बी० ई०, जिल्द ११, पृ० ९९ एवं २४७)। वाम० (८४।१२) ने चाम्पेय ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। चम्पा वर्णादि-गण (पाणिनि ४।२।८२) में पठित है; (२) (पितरों के लिए पुनीत नदी) मत्स्य० २२।४१, पद्म० ५।११।३५ (अंग एवं मगध, देखिए दे, पृ० ४३) यह लोमपाद एवं कर्ण की राजधानी थी।

चम्पकारण्य—(बिहार का आधुनिक चम्पारन) वन० ८४।१३३, पद्म० १।३८।४९ (चम्पारन जिले में संग्रामपुर के पास वाल्मीकि का आश्रम था)।

चर्माख्य—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।४।

चर्मण्वती—(नदी, आधुनिक चम्बल जो मऊ (मालवा) के दक्षिण-पश्चिम लगभग ९ मील दूर से निकली है और इटावा नगर के दक्षिण-पूर्व २५ मील पर यमुना में मिल जाती है) आदि० १३८।७४ (द्रुपद दक्षिण पंचाल से चर्मण्वती तक राज्य करता था), वन० ८२।५४, द्रोण० ६७।५, (चर्मण्वती नाम इसलिए पड़ा है कि यहाँ पर रन्तिदेव के यज्ञों में बलि दिये हुए पशुओं की खालों के समूह रखे हुए थे) पद्म० १।२४।३, मेघदूत १।४५ (रन्तिदेव की ओर संकेत करता है); चर्मण्वती नाम पाणिनि (८।२।१२) में आया है।

चर्मकोट—मत्स्य० २२।४२।

चिच्चिक तीर्थ—(गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६४।१।

चिताभूमि—(वैद्यनाथ या सन्थाल परगने में देवघर जहाँ वैद्यनाथ का मन्दिर है, जो १२ ज्योतिर्लिङ्गों में परिगणित हैं) शिवपुराण १।३८।३५, देखिए दे, पृ० ५०।

चित्रकूट—(पहाड़ी, बाँदा जिले में, प्रयाग से दक्षिण-पश्चिम ६५ मील की दूरी पर) वन० ८५।५८, रामा० २।५४।२८-२९ एवं ९३।८, (भारद्वाजाश्रम से दस कोस दूर) रामा० २।५५।९, (यह पितृ-तीर्थ है) २।५६।१०-१२, मत्स्य० २२।६५ एवं अनु० १।२५।२९, नारदीय० २।६०।२३ एवं ७५।-२६, अग्नि० ६।३५-३६, (मन्दाकिनी नदी के पास) १०९।२३, पद्म० १३९।५४, रघुवंश १३।४७; मेघदूत (टीका) ने इसे रामगिरि कहा है।

चित्रकूटा—(ऋक्ष पर्वत से निकली हुई एक नदी) वायु० ४५।९९, मत्स्य० ११४।२५ (जहाँ मन्दाकिनी एवं यह नदी ऋक्षवान् से निकली हुई कही गयी है।

चित्राङ्गदतीर्थ—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।-११, वाम० ४६।३९ (चित्रांगदेश्वर लिंग)।

चित्रांगवदन—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१४१।-१।

चित्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृष्ठ ९७)।

चित्रोपला—(नदी) ब्रह्म० ४६।४-५ (विन्ध्य से निकली हुई एवं महानदी नाम वाली)।

चित्रोत्पला—(सम्भवतः ऊपर वाली ही) भीष्म० ९।३५, मत्स्य० ११४।२५ (ऋक्षवान् से निकली हुई), ब्रह्म० २७।३१।३२ (ऋक्षपाद से निकली हुई)।

चित्रगुप्तेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०२)।

चिदम्बर--(देखिए 'मीनाक्षी' के अन्तर्गत) देवीभाग० ७।३८।११, यह महान् शिव-मन्दिर के लिए विख्यात है, परन्तु यहाँ कोई वास्तविक लिंग नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि दीवार पर एक आवरण पड़ा रहता है और जब दर्शनार्थी प्रवेश करते हैं तो आवरण हटा दिया जाता है तथा दीवार दिखा दी जाती है। मन्दिर के बाहरी कक्ष में एक हजार से अधिक पाषाण-स्तम्भ हैं।

चिन्ताङ्गदेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।-१४।

चीरमोचन-तीर्थ--(कश्मीर में) राज० १।१४९-१५० (कनकवाहिनी, नन्दीश एवं यह तीर्थ एक साथ वर्णित हैं), यह कनकवाहिनी एवं सिन्धु का संगम है, नीलमत० १५३८-१५४५ (इसका नाम इसलिए पड़ा है कि सप्तर्षि गण यहाँ अपने वल्कल वस्त्रों को त्याग कर स्वर्ग को चले गये थे), स्टीनस्मृति, पृ० २११।

चैत्रक--मत्स्य० ११०।२।

चैत्ररथ--(एक वन) वायु० ४७।६ (अच्छोदा नदी के तट पर), ब्रह्माण्ड० २।१८।७ (यहाँ देवी महोत्कटा हैं), मत्स्य० १३।२८।

च्यवनस्याश्रम--(१) (गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४७।७५, वायु० १०८।७३। ऋ० (१।११६।-१०) में कहा गया है कि अश्विनौ ने च्यवन का कायाकल्प किया था और उन्हें पुनः युवा बना दिया था। शतपथ ब्रा० ११५।१-१६ (एस० बी० ई०, जिल्द २६, पृ० २७२-२७६), उन्होंने शर्याति की कन्या सुकन्या से विवाह किया और इस ह्रद या कुण्ड में स्नान करके युवा हो गये; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) वन० ८९।१२, १२१।१९-२२; वन० (अ० १२२-१२४) में च्यवन, सुकन्या एवं अश्विनौ की गाथा है। वन० (१०२।४) ने वर्णन किया है कि कालेयों ने यहाँ १०० मुनियों का भक्षण किया। दे (पृ० ५१) ने ४ च्यवनाश्रमों का उल्लेख किया है। च्यवन भृगु के पुत्र थे और भृगु लोग नर्मदा के मुख के पास की भूमि से बहुधा सम्बन्धित किये जाते हैं।

च्यवनेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६६)।

छ

छागलाण्ड--(श्राद्धतीर्थ) मत्स्य० १३।४३ (यहाँ देवी को प्रचण्डा कहा गया है), २२।७२।

छागलेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११९)।

छायाक्षेत्र--(ललिता का तीर्थ) ब्रह्माण्ड० ४।१४।१०० (महालक्ष्मीपुर की नगरवाटिका इसी नाम से प्रसिद्ध है)।

छिन्नपापक्षेत्र--(गोदा० पर) पद्म० ६।१७५।१५।

ज

जगन्नाथ--देखिए गत अध्याय का प्रकरण पुरुषोत्तम-तीर्थ।

जटाकुण्ड--(सानन्दूर के अन्तर्गत) वराह० १५०।-४७ (मलय पर्वत के दक्षिण एवं समुद्र से उत्तर)।

जनककूप--(गया के अन्तर्गत) पद्म० १।३८।२८, वन० ८४।१११।

जनकेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११९)।

जनस्थान--देखिए गत अध्याय का प्रकरण गोदावरी, वन० १४७।३३, २७७।४२, शल्य० ३९।९ (दण्डकारण्य), वायु० ८८।१९४, ब्रह्म० ८८।१ (विस्तार में चार योजन), रामा० ६।१२६।३७-३९, ३।२१।-२०, ३।३०।५-६।

जनेश्वर--(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१३।११ (पितृतीर्थ)।

जन्मेश्वर--मत्स्य० २२।४२।

जामदग्न्य-तीर्थ--(१) (जहाँ नर्मदा समुद्र में गिरती

है) मत्स्य० १९४।३४-३५, पद्म० १।२१।३४-३५ (जमदग्नितीर्थ); (२) मत्स्य० २२।५७-५८ (गोदावरी पर, श्राद्ध के लिए अति उपयोगी)।

जम्बीरचम्पक—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १९०)।

जम्बुकेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।४, पद्म० १।३७।४, लिंग० १।९२।१०७, नारदीय० २।५०।६७ (जहाँ जम्बुक राक्षस शिव द्वारा मारा गया था)।

जम्बुला—(ऋक्षपाद से निकली हुई नदी) वायु० ४५।१००।

जम्बूमार्ग—(१) (एक आयतन) देवल (ती० क०, २५०), विष्णु० २।१३।३३ (गंगा पर); देवल (ती० क०, पृ० २५०) ने जम्बूमार्ग एवं कालंजर को आयतनों के रूप में पृथक्-पृथक् वर्णित किया है; (२) (कुरुक्षेत्र के पास) वन० ८२।४१-४२, ८९।१३ (असित पर्वत पर), अनु० २५।५१, १६६।२४, मत्स्य० २२।२१, ब्रह्माण्ड० ३।१३-३८; (३) (पुष्कर के पास) पद्म० १।१२।१-२, अग्नि० १०९।९, वायु० ७७।२८।

जम्बूनदी—(मेरु-मन्दर शिखर के ढाल पर स्थित चन्द्रप्रभा झील से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१८।६८-६९, भाग० ५।१६।१९।

जपेश्वर—(या जाप्येश्वर) कूर्म० २।४३।१७-४२ (समुद्र के पास नन्दी ने रुद्र के तीन करोड़ नामों का जप किया)। अग्नि० ११२।४ (वारा० के अन्तर्गत)।

जरासंधेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११५)।

जयन्त—मत्स्य० २२।७३, वाम० ५१।५१।

जयन्तिका—ब्रह्माण्ड० ४।४४।९७ (५० ललितापीठों में से एक)।

जयपुर—(कश्मीर में, जयापीड की राजधानी, जल से घिरी हुई। श्री कृष्ण की द्वारवती की अनुकृति में यह यहाँ रवती कही गयी है) राज० ४।५०१-५११, काश्मीर रिपोर्ट, पृ० १३-१६, स्टीन-स्मृति (पृ० १९७-१९८)। अब यहाँ अन्दरकोट नामक ग्राम है।

जयातीर्थ—मत्स्य० २२।४९।

जयवन—(कश्मीर में आधुनिक ज़ेवन) राज० १।२२०, विक्रमांकदेवचरित १८।७० (प्रवरपुर से डेढ़ गव्यूति)। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० ३५८) में ज़ेवन का उल्लेख है। यह एक पवित्र धारा एवं कुण्ड है। ज़ेवन ग्राम के पास एक स्वच्छ कुण्ड में आज भी तक्षक नाग की पूजा होती है। देखिए ऐं० जि० (पृ० १०१-१०२)।

जयनी—पद्म० १।२६।१६ (जहाँ सोमतीर्थ है)।

जल्पीश—ती० प्र० (६०२-६०३) ने कालिकापुराण का उद्धरण दिया है।

जह्नुह्रद—नारदीय० २।४०।९०।

जाल—बार्ह० सूत्र (३।१२४) के अनुसार शाक्त क्षेत्र।

जालबिन्दु—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।१६।

जालन्धर—(१) (पहाड़ी) मत्स्य० १३।४६ (इस पर देवी विश्वमुखी कही जाती है), २२।६४ (पितृतीर्थ); कालिका० (१८।५१) के मत से देवी जालन्धर पहाड़ पर चण्डी कही जाती हैं जहाँ पर उनके स्तन गिर पड़े थे जब कि शिव उनके शव को ले जा रहे थे; (२) (पंजाब में सतलज पर एक नगर) वायु० १०४।८० (वेदपुरुष की छाती पर जालन्धर एक पीठ है), संभवतः जालन्धर ललिता के पीठों में एक है; पद्म० ६।४।१९-२०, ब्रह्माण्ड० ४।९४।९५ (जालन्ध्र), देखिए ऐं० जि० (पृ० १३६-१३९)।

जालेश्वर—(१) (एक शिवतीर्थ, आठ स्थानों में एक) मत्स्य० १८१।२८ एवं ३०, कूर्म० २।४०।-३५; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १८६।-१५ एवं ३८, (जालेश्वर नामक एक ह्रद) कूर्म० २।४०।२२, पद्म० १।१४।१३, मत्स्य० (अ० १८७, इसकी उत्पत्ति); (३) (शालग्राम के पास जलेश्वर) वराह० १४४।१३९-१४०।

जैगीषव्य-गुहा—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (१।-९२।५३)।

जैगीषव्येश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९१)।

जाह्नवी—(गंगा का नाम) वायु० ९१।५४-५८ (मुनि जह्नु की गाथा), नारदीय० २।४१।३५-३६ (जह्नु ने इसे पी लिया था और अपने दाहिने कान से बाहर निकाल दिया था), ब्रह्माण्ड० ३।५६।४८, (जह्नु ने इसे अपने पेट से बाहर निकाला था) ३।६६।२८।

जातिस्मरह्रद—(१) (कृष्ण-वेणा के पास) वन० ८५।३८; (२) (स्थल अज्ञात है) वन० ८४।-१२८, पद्म० १।३८।४५।

जेष्ठिल—(चम्पकारण्य के पास) वन० ८४।१३४।

ज्ञानतीर्थ—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।६, पद्म० १।३७।६।

ज्ञानवापी—स्कन्द० ४।३३ (जहाँ इसके मूल एवं माहात्म्य का वर्णन है)। देखिए इस ग्रन्थ के खण्ड ४ का अध्याय १३।

ज्येष्ठेश्वर—(कश्मीर में श्रीनगर के पास डल झील पर आधुनिक ज्येठिर स्थल) राज० १।११३, नीलमत० १३२३-१३२४। कश्मीर के राजा गोपादित्य द्वारा निर्मित यहाँ शिवमन्दिर था। स्टीन (राज० १।११३) के अनुसार कश्मीर में ज्येष्ठेश्वर नाम के तीन स्थल हैं। राज० (१।१२४) में आया है कि अशोक के पुत्र जालौक ने ही ज्येष्ठेश्वर का मन्दिर बनवाया था, अतः यह कश्मीर का प्राचीन-तम मन्दिर है।

ज्येष्ठ पुष्कर—(सरस्वती पर) वन० २००।६६, पद्म० ५।१९।१२, १८।२० (कहा जाता है कि यह ढाई योजन लम्बा एवं आधा योजन चौड़ा है)।

ज्येष्ठस्थान—(कोटितीर्थ के पास) वन० ८५।६२।

ज्योतिरथा—(या रथ्या) (यह शोण की एक सहायक नदी है) वन० ८५।८, पद्म० १।३९।८।

ज्योतिष्मती—(हिमालय की एक झील से निकली हुई एवं सरस्वती की एक सहायक नदी) वायु० ४७।-६३, मत्स्य० १२१।६५, ब्रह्माण्ड० २।१८।६६।

ज्योत्स्ना—(मानसरोवर से निकलनेवाली एक नदी) ब्रह्माण्ड० २।१८।७१।

ज्वालामुखी—(एक देवीस्थान, जि० काँगड़ा)। देवी-भागवत० ७।३८।६।

ज्वालासर—(अमरकण्टक पर्वत पर) ब्रह्माण्ड० ३।-१३।१२।

ज्वालेश्वर—(अमरकण्टक के पास) मत्स्य० १८८।-८० एवं ९४।९५, पद्म० १।१५।६९, ७७, ७८ (शिव द्वारा जलाया गया एक पुर यहाँ गिरा था)। यहाँ पर स्वाभाविक रूप से गैस निकलती है जो घर्षण से जल उठती है, सम्भवतः इसी से यह नाम पड़ा है।

त

तक्षशिला—(आधुनिक टैक्सिला) स्वर्गारोहण पर्व ५।३४, वायु० ८८।१८९-९०, ब्रह्माण्ड० ३।६३।-१९०-९१ (गन्धार में दाशरथि भरत के पुत्र तक्ष द्वारा संस्थापित); जातक में 'तक्कसिला' विद्या-केन्द्र के रूप में वर्णित है (यथा—भीमसेन जातक, फॉसबॉल द्वारा सम्पादित, जिल्द १, पृ० ३५६)। देखिए टालेमी (पृ० ११८-१२१) जहाँ सिकन्दर के काल के आगे का इसका इतिहास दिया हुआ है। यह अशोक के प्रथम पृथक्-प्रस्तराभिलेख में उल्लि-खित है (सी० आई० आई०, जिल्द १, पृ० ९३) और पाणिनि (४।३।९३) में भी यह शब्द आया है। इसके ध्वंसावशेष का वर्णन देखिए ऐं० जि० (पृ० १०४-११३), मार्शल के 'गाइड् टू टैक्सिला' आदि में।

तक्षक नाग—(कश्मीर के जयवन में अर्थात् आधुनिक जेवन के पास एक पुनीत धारा) वन० ८२।-९०, राज० १।२२०, पद्म० १।२५।२ (वितस्ता तक्षकनाग का निवास-स्थल है। जेवन ग्राम के पास एक कुण्ड में यह आज भी पूजित है)। देखिए स्टीन-स्मृति, पृ० १६६, काश्मीर रिपोर्ट, पृ० ५।

तपोवन—(१) (गोदावरी के दक्षिण तट पर) ब्रह्म० १२८।१; (२) (वंग देश में) वन० ८४।११५, पद्म० १।३८।३१। 'ततो वनम्' वनपर्व में अशुद्ध छपा है।

तमसा—(१) (सरयू के पश्चिम बहती हुई, गंगा से मिलनेवाली आधुनिक टौंस) रामा० १।२।३, २।४५।३२, रघुवंश ९।२०, १४।७६। देखिए सी० आई० आई०, जिल्द ३, पृ० १२८, जहाँ तमसा पर स्थित आश्रमक नामक ग्राम के दान (सन् ५१२-१३ ई०) का उल्लेख है; (२) वायु० ४५।१००; (३) (यमुना से मिलने वाली नदी) देवीभाग० ६।१८।१२।

तण्डुलकाश्रम—(पुष्कर एवं जम्बूमार्ग के पास) वन० ८२।४३, अग्नि० १०९।९, पद्म० १।१२।२।

तपस्तीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२६।१ एवं ३७ (इसे सत्रतीर्थ भी कहा जाता है)।

तपती—(नदी) मत्स्य० २२।३२-३३ (यह यहाँ तापी है और मूल तापी से भिन्न है)। आदि० (अध्याय १७१-१७३) में तपती सूर्य की कन्या कही गयी है, जिससे राजा संवरण ने विवाह किया और उससे कुरु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ; मार्क० १०५।६ (सूर्य की छोटी पुत्री नदी हो गयी)।

तरण्ड या तरन्तुक—(कुरुक्षेत्र का एक द्वारपाल) वन० ८३।१५, पद्म० १।२७।९२ ('तरण्ड' शब्द आया है), वामन पुराण २०।६०।

तापिका—यह तापी ही है। देवीपुराण (ती० क०, पृ० २४२)।

तापी—(नदी, विन्ध्य से निकलकर सूरत के पास अरब सागर में गिरती है) इसे 'ताप्ती' भी कहा जाता है। मत्स्य० ११४।२७, ब्रह्म० २७।३३, वायु० ४५।१०२, अग्नि० १०९।२२। तापी का उल्लेख उषवदात के शिलालेख (सं० १०, बम्बई गजे०, जिल्द १६, पृ० ५६९) में हुआ है। देखिए पयोष्णी के अन्तर्गत एवं तीर्थ प्र० (पृ० ५४४-५४७), जहाँ इसके माहात्म्य एवं उपतीर्थों का उल्लेख है।

तापी-समुद्र-संगम—तीर्थप्रकाश, पृ० ५४७।

तापसेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।६६, पद्म० १।१८।९६।

तापेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।१०४।

ताम्रपर्णी—(पाण्ड्य देश में मलय से निकलकर समुद्र में गिरने वाली नदी) ब्रह्म० २७।३६, मत्स्य० ११४।३०, वायु० ४५।१०५ एवं ७७, २४।२७, वन० ८८।१४, रामा० ४।४१।१७-१८, कूर्म० २।३७। २१-२२, ब्रह्माण्ड० ३।१३।२४, भाग० १०।७९।१६ एवं ११।५।३९। दे० मेगस्थनीज (ऐं०इण्डि०,पृ०६२) के टैम्पोबेन एवं अशोक के गिरनार वाले लेख (सं० २) का 'तम्बपन्नी' नाम। यह श्रीलंका (सीलोन) भी है, किन्तु नदी की ओर भी संकेत कर सकता है; एपि० इण्डि० (२०, पृ० २३, नागार्जुनीकोण्ड लेख); ब्रह्माण्ड० ३।१३।२४ एवं २५, रघुवंश (४।४९-५०) से प्रकट होता है कि यहाँ मोती पाये जाते थे।

ताम्रप्रभ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १९१)।

ताम्रारुण—वन० ८५।१५४।

ताम्रवती—(अग्नि की मातृरूप नदियों में एक) वन० २२२।२३।

तालकर्णेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७२)।

तालतीर्थ—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।२।

तालवन—(मथुरा के पश्चिम) वराह० १५७।३५।

तारकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०४)। यह बंगाल के हुगली ज़िले में एक ग्राम के नाम से शिव का प्रसिद्ध तीर्थ भी है। देखिए इम्पि० गजे० इण्डि०, जिल्द २३, पृ० २४९।

तिमि—(शंकुकर्णेश्वर की दाहिनी ओर) पद्म० १।२४। २०-२३।

तीर्थकोटि—वन० ८४।१२१, पद्म० १।३८।३८।

तुलजापुर—(एक देवीस्थान) देवीभाग० ७।३८।६।

तुङ्गा—(कृष्णा में मिलने वाली एक नदी) नृसिंह० ६६।७ (पाठान्तर पाया जाता है), तीर्थकल्प०

(पृ० २५४) द्वारा उद्धृत—'तुंगा च दक्षिणे गंगा कावेरी च विशेषतः।'

तुङ्गभद्रा—(तुंगा एवं भद्रा दो बड़ी नदियाँ मैसूर देश से निकल कर कुंडळी के पास मिलने पर तुंगभद्रा हो जाती हैं। यह नदी रायचूर ज़िले में अलम्पुर के पास कृष्णा में मिल जाती है) मत्स्य० २२।४५, नृसिंह० ६६।६ (ती० क०, पृ० २५४), भाग० ५।१९।१८, मत्स्य० ११४।२९, ब्रह्म० २७।३५, वायु० ४५।१०४ (अन्तिम तीन का कथन है कि यह सह्य से निकलती है)। एपि० इण्डि० (जिल्द १२, पृ० २९४) एवं विक्रमांकदेवचरित (४।४४-६८) से प्रकट होता है कि चालुक्य राजा सोमेश्वर ने असाध्य ज्वर से पीड़ित होने पर तुंगभद्रा में जलप्रवेश कर लिया था (सन् १०६८ ई० में)।

तुङ्गकूट—(कोकामुखकेअन्तर्गत) वराह० १४०।२९-३०।

तुङ्गारण्य—वन० ८५।४६-५४, पद्म० १।३९।४३ (जहाँ पर सारस्वत ने मुनियों को उपदेश दिया)।

तुङ्गवेणा—(उन नदियों में एक, जो अग्नि की उद्गम-स्थल हैं) वन० २२२।२५।

तुङ्गेश्वर—(वाराणसी में) लिंग० १।९२।७।

तुरासंग—(नर्मदा के अन्तर्गत एक तीर्थ) मत्स्य० १९१।१९।

तृणबिन्दु-वन—ना० (ती० क०, पृ० २५२)।

तृणबिन्दु-सर—(काम्यक वन में) वायु० २५८।१३।

तैजस—(कुरुक्षेत्र के पश्चिम, जहाँ स्कन्द देवों के सेनापति बनाये गये थे) पद्म० १।२७।५३।

तोया—(विन्ध्य से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।२८, वायु० ४५।१०३।

तोषलक—(यहाँ विष्णु का गुह्य नाम 'गरुड़ध्वज' है) नृसिंह० (ती० क०, पृ० २५२)। क्या यह टॉलेमी का 'तोसलेई', अशोक के धौली लेख (सी० आई० आई०, पृ० ९२ एवं ९७) एवं नागार्जुनीकोण्ड लेख (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० २३) का 'तोसलि' है? मौर्यों के काल में उत्तरी कलिंग की राजधानी तोसलि (पुरी ज़िले में आधुनिक धौली) प्रमुख नगरी थी।

त्वाष्ट्रेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९६)।

त्रस्तावतार—(एक आयतन) देवल० (ती० क०, पृ० २५०)।

त्रिककुद्—(हिमवान् का एक भाग) अथर्ववेद ४।९।८ एवं ९ (एक प्रकार के अंजन के लिए प्रसिद्ध), मैत्रायणी-संहिता ३।६।३, शतपथ ब्राह्मण ३।१।३।१२ (इन सब में त्रैककुद या त्रैककुभ आंजन का उल्लेख है), पाणिनि (५।४।१४७, त्रिककुत् पर्वते)। देखिए ब्रह्माण्ड० ३।१३।५८ (त्रिककुद् गिरि, श्राद्ध के लिए अति विख्यात), वायु० ७७।५७-६३।

त्रिकूट—(पर्वत) वाम० ८५।४ (सुमेरु का पुत्र), नृसिंह० ६५।२१, पद्म० ६।१२९।१६। भाग० (८।२।१) में यह दन्तकथात्मक प्रतीत होता है। रघुवंश (४।५८-५९) से प्रकट होता है कि त्रिकूट अपरान्त में था। कालिदास का त्रिकूट नासिक में तिरह्णु या त्रिरश्मि पहाड़ी प्रतीत होता है। देखिए बम्बई का गजे०, जिल्द १६, पृ० ६३३ एवं एपि० इण्डि०, जिल्द २५, पृ० २२५ एवं २३२। माधववर्मा (लगभग ५१०-५६० ई०) के खानपुर-दानपत्र उसे त्रिकूट एवं मलय का स्वामी कहते हैं (एपि० इण्डि०, जिल्द २७, पृ० ३१२, ३१५)।

त्रिकोटि—(कश्मीर में एक नदी) नीलमत० २८८, ३८६-३८७। कश्यप की प्रार्थना पर अदिति त्रिकोटि हो गयी। यह वितस्ता में मिलती है।

त्रिगंग—वन० ८४।२९, अनु० २५।१६, पद्म० १।२८।२९।

त्रिजलेश्वर-लिंग—(जहाँ गण्डकी एवं देविका मिलती हैं) वराह० १४४।८३।

त्रिगर्तेश्वर—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७६।१६।

त्रितकूप—(एक तीर्थ जहाँ बलराम दर्शनार्थ गये थे) भाग० १०।७८।१९ (पृथूदक एवं बिन्दुसर के पश्चात्)। ऋ० (१।१०५।१७) ने त्रित का उल्लेख किया है, जो कूप में फेंक दिया गया था और जिसे बृहस्पति ने बचाया था। देखिए निरुक्त (४।६)।

त्रिदशज्योति—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।११।

त्रिदिवा--(१) (हिमवान् से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।२६; (२) (महेन्द्र से निकली) मत्स्य० ११४।३१, वायु० ४५।१०६, ब्रह्म० २७।३७; (३) (ऋक्षवान् से निकली) ब्रह्माण्ड० २।१६।३१।

त्रिदिवाबला--(महेन्द्र से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।३७। सम्भवतः त्रिदिवा एवं बला।

त्रिपदी (तिरुपति)--रेणीगुण्ट नामक स्टेशन से कुछ दूर उत्तर अर्काट जिले में। यह वेंकटगिरि है, जिसके ऊपर वेंकटेश्वर या बालाजी का प्रसिद्ध मन्दिर है।

त्रिपलक्ष--(यहाँ श्राद्ध अत्यन्त फलदायक होता है) ब्रह्माण्ड० ३।१३।६९।

त्रिपुर--(१) (श्राद्ध के लिए अति उपयोगी स्थल) मत्स्य० २२।४३; (२) (बाणासुर की राजधानी) पद्म०, १, अध्याय १४-१५, कर्णपर्व ३३।१७ एवं ३४।११३-११४। मत्स्य० (अध्याय १२९-१४०) ने त्रिपुरदाह का सविस्तर वर्णन उपस्थित किया है। और देखिए अनु० १६०। २५-३१ एवं कुमारी भक्तिसुधा मुखोपाध्याय द्वारा प्रस्तुत एक लेख 'दि त्रिपुर एपिसीड इन संस्कृत लिटरेचर' (जर्नल, गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द ८, पृ० ३७१-३९५)।

त्रिपुरान्तक--(श्रीपर्वत के पूर्वी द्वार पर) लिंग० १।९२।१५०।

त्रिपुरी--(नर्मदा पर) तीर्थसार (पृ० १००) ने इसके विषय में तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। यह जबलपुर के पश्चिम ६ मील दूर आधुनिक तेवर है। यह कलचुरियों एवं चेदियों की राजधानी थी। देखिए यशःकर्णदेव का जबलपुर दान-पत्र (११२२ ई०), एपि० इण्डि० (जिल्द २, पृ० १, ३, वही, जिल्द १९, पृ० ७५, जहाँ महाकोशल का विस्तार दिया हुआ है)। मत्स्य० (११४।५३), सभा० (२१।६०) एवं बृहत्संहिता (१४।९) ने त्रिपुर देश को विन्ध्य के पृष्ठ भाग में अवस्थित माना है। ई० पू० दूसरी शताब्दी की ताम्रमुद्राओं से भी त्रिपुरी का पता चलता है। संक्षोभ के बेतूल दानपत्र से पता चलता है कि त्रिपुरी-विषय दभाल देश में अवस्थित था। देखिए आर० डी० बनर्जी कृत 'हैहयज आव त्रिपुरी' (पृ० १३७)।

त्रिपुरेश्वर--(डल झील से तीन मील दूर आधुनिक ग्राम त्रिफर जो कश्मीर में है) राज० ५।४६, ह० चि० १३।२००। कुछ लोगों ने इसकी पहचान ज्येष्ठेश्वर से की है।

त्रिपुष्कर--देखिए 'पुष्कर'।

त्रिभागा--(महेन्द्र से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।३१, वायु० ४५।१०४।

त्रिलिंग--वह देश, जहाँ कालहस्ती, श्रीशैल एवं द्राक्षाराम नामक तीन विख्यात लिंग हैं।

त्रिलोचन लिंग--(वाराणसी में) स्कन्द० ४।३३।१२०, कूर्म० १।३५।१४-१५, पद्म० १।३७।१७।

त्रिविष्टप--पद्म० १।२६।७९ (जहाँ वैतरणी नदी है)।

त्रिवेणी--(१) (प्रयाग में) वराह० १४४।८६-८७; (२) (गण्डकी, देविका एवं ब्रह्मपुत्रा नामक नदियों का संगम) वराह० १४४।८३ एवं ११२-११५। यहीं पर गजेन्द्र को ग्राह ने पानी में खींच लिया था। वराह० १४४।११६-१३४।

त्रिशूलगंगा--वन० ८४।११। सम्भवतः यह 'शूलघात' नामक कश्मीर का तीर्थ है।

त्रिशूलपात--(सरस्वती के अन्तर्गत) पद्म० १।२८।१२ (सम्भवतः यह ऊपर वाला तीर्थ है)।

त्रिशिखर--(पर्वत) वायु० ४२।२८, मत्स्य० १८३।२।

त्रिसन्ध्या या त्रिसंध्यम्--(१) मत्स्य० २२।४६ (पितृतीर्थ); (२) (संध्या देवी का झरना) कश्मीर के पवित्रतम तीर्थों में एक। अब यह ब्रिंग परगने में सुन्दब्रार नामक स्थान है, नीलमत० १४७१, राज० १।३३, स्टीन-स्मृति, पृ० १८१।

त्रिसामा--(महेन्द्र से निकली हुई एक नदी) वायु० ४५।१०६, विष्णु० २।३।१३, भाग० ५।१९।१८ (जहाँ उद्गम-स्थल का वर्णन नहीं है)।

त्रिस्थान--(सम्भवतः यह वाराणसी है) अनु० २५।१६।

त्रिहलिकाग्राम—(श्राद्ध यहाँ अति फलदायक होता है) वि०ध० सू० ८५।२४ (टीका के अनुसार यह शालग्राम है)।

त्र्यम्बक तीर्थ—(१) (गोदावरी के अन्तर्गत पितृ-तीर्थ) मत्स्य० २२।४७, कूर्म० २।३५।१८; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।११२।

त्र्यम्बकेश्वर—(नासिक में, जहाँ से गोदावरी निकलती है) नारदीय० २।७३।१-१५२ (यहाँ इसका माहात्म्य वर्णित है), स्कन्द० ४।६।२२, पद्म० ६।१७६।५८-५९, ब्रह्म० ७९।६।

द

दंष्ट्रांकुर—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०। ६८-७०।

दक्षकन्यातीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२१।१४।

दक्षतीर्थ—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० ४६।२ (स्थाणुवट के दक्षिण), वाम० ३४।२० (दक्षाश्रम एवं दक्षेश्वर)।

दक्षप्रयाग—नारदीय० २।४०।९६-९७।

दक्षिण-गंगा—(१) (गोदावरी) ब्रह्म० ७७।९-१०, ७८।७७; (२) (कावेरी) नृसिंह० ६६।७; (३) (नर्मदा) स्कन्द०, रेवाखण्ड, ४।२४; (४) (तुंगभद्रा) विक्रमांकदेवचरित, ४।६२।

दक्षिण-गोकर्ण—वराह० २१६।२२-२३।

दक्षिण-पंचनद—वि० ध० सू० ८५।५१ (वैजयन्ती टीका के अनुसार पाँच नदियाँ ये हैं—कृष्णा, कावेरी, तुंगा, भद्रा एवं कोणा)।

दक्षिण-प्रयाग—(बंगाल के सप्तग्राम में यह मोक्षवेणी के नाम से विख्यात है) गंगावाक्यावली, पृ० २९६ एवं तीर्थप्रकाश, पृ० ३५५। दे (पृ० ५२) के मत से यह त्रिवेणी बंगाल में हुगली के उत्तर में है।

दक्षिण-मथुरा—(मद्रास प्रान्त में मदुरा) भाग० १०।७९।१५।

दक्षिण-मानस—(गया में एक तालाब या कुण्ड) नारदीय० २।४५।७४, अग्नि० ११५।१७।

दक्षिण-सिन्धु—(चम्बल की एक सहायक नदी) वन० ८२।५३, पद्म० १।२४।१, मेघदूत १।३०।

दक्षेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७५)।

दण्ड—वन० ८५।१५।

दण्डक—(एक भूमि-भाग का नाम, स्थान का परिज्ञान धूमिल, सम्भवतः यह दण्डकारण्य ही है) रामा० २।९।१२ (दिशमास्थाय कैकेयी दक्षिणां दण्डकान्प्रति)।

दण्डकारण्य—(या दण्डकवन) वन० ८५।१४, १४७। ३२, वराह० ७१।१० (जहाँ गौतम ने यज्ञ किया था), ब्रह्म० ८८।१८।११०, ९६ (गौतमी दण्डक में है), १२३।११७-१२० (यहाँ से आरम्भ होकर गौतमी पाँच योजन थी), १२९।६५ (संसार का सारतत्व), १६१। ७३ (यह धर्म एवं मुक्ति का बीज है), शल्य० ३९।९-१० (यहाँ जनस्थान भी है), रामा० २।१८।३३ एवं ३७, ३।१।१, वाम० ८४।१२ (यहाँ दण्डकारण्य के ब्राह्मणों का उल्लेख है) एवं ४३, पद्म० ३४।५८-५९ (नाम का मूल)। देखिए जे० बी० आर० ए० एस० (१९१७, पृ० १४-१५, ऐं० जि० आव महाराष्ट्र), पार्जिटर की टिप्पणी (जे० आर० ए० एस०, १८९४, गोदावरी के वनवास की जियाग्रॉफी, पृ० २४२)। सम्भवतः दण्डकारण्य में बुन्देलखण्ड या भूपाल से लेकर गोदावरी या कृष्णा तक के सारे वन सम्मिलित थे। बार्ह० सू० (११।५६) का कथन है कि हस्त नक्षत्र में दुष्ट धूमकेतु दण्डकारण्य के प्रमुख को मार डालता है।

दण्डखात—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९०)।

दत्तात्रेय-लिंग—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११३)।

दधिकर्णेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९४)।

दधीचतीर्थ—वन० ८३।१८६, पद्म० १।२७।७३-७४ (जहाँ सारस्वत ठहर गये और सिद्धराट् अर्थात सिद्ध लोगों के कुमार अथवा राजा हो गये)।

दधीचेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४३)।

दर्दुर या दुर्दुर--(नीलगिरि पहाड़ी) वन० २८२।४३, मार्क० ५४।१२, वराह० २१४।५२, रघुवंश ४।५१, ताम्रपर्णी नदी के पास; बार्ह० सू० १४।११।

दर्वीसंक्रमण--वन० ८४।४५, पद्म० १।३२।९।

दशार्णा--(ऋक्ष पर्वत से निकली हुई नदी, जहाँ के श्राद्ध, जप, दान अति पुण्यकारक होते हैं) मत्स्य० २२।३४, कूर्म० २।३७।३५-३६, वायु० ४५।९९, ७७।९३। विल्सन (जिल्द २, पृ० १५५) का कथन है कि अब इसे दसान कहा जाता है, जो भूपाल से निकल कर बेतवा में मिलती है। महाभाष्य (वार्तिक ७ एवं ८, पाणिनि ६।१।८९) ने इसकी व्युत्पत्ति की है (जिल्द ३, पृ० ६९)। दशार्ण का अर्थ वह देश है, जिसमें दस दुर्ग हों या वह नदी (दशार्णा) हो जिसके दस जल हों। मेघदूत (१।२३-२४) से प्रकट होता है कि दशार्ण देश की राजधानी विदिशा थी और वेत्रवती (बेतवा) इसके पास थी। टॉलेमी ने इसे दोसरोन कहा है (पृ० ७१)। बार्ह० सू० (१०।१५) का कथन है कि उत्तराषाढ़ में शनैश्चर (शनि) दशार्णों को नष्ट कर देता है।

दशाश्वमेधिक--(या मेधक, या मेध) (१) (गंगा पर एक तीर्थ) वन० ८३। १४, ८५।८७, वायु० ७७। ४५, ब्रह्माण्ड० ३।१३।४५, कूर्म० २।३७।२६, मत्स्य० १८५।६८ (वाराणसी में); (२) (प्रयाग के अन्तर्गत) मत्स्य० १०६।४६; (३) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११५।४५, नारदीय० २।४७।३०; (४) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।२१, कूर्म० २।४१, १०४ पद्म० १।२०।२०; देखिए बम्बई गजे० (जिल्द २, पृ० ३४८); (५) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५४।२३; (६) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२६।१२; (७) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८३।१; (८) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११६)।

दाकिनी (डाकिनी)--(भीमशंकर) शिवपुराण ४।१। १८।

दामी--(पुंल्लिंग संज्ञा) वन० ८२।७१-७५।

दामोदरनाग--कश्मीर की एक धारा, जो खुनमोह ग्राम का ऊपरी शिखर है, जहाँ कवि बिल्हण का जन्म हुआ था। देखिए स्टीन-स्मृति, पृ० १६६।

दाल्भ्याश्रम--(बक दाल्भ्य का आश्रम, जहाँ राम एवं लक्ष्मण सुग्रीव एवं उसके अनुचरों के साथ रहते थे) पद्म० ६।४६।१४-१५।

दारुवन--कूर्म० २।३९।६६, यह देवदारुवन है।

दिण्डीपुण्यकर--(श्राद्ध के योग्य, सम्भवतः दक्षिण में) मत्स्य० २२।७७।

दिवाकर-लिंग--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६५)।

दिवौकः-पुष्करिणी--वन० ८४।११८, पद्म० १।३८।३५।

दीपेश्वर--(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।३८, कूर्म० २।४१।२५-२७ (यह व्यास-तीर्थ-तपोवन है)।

दीप्तोद--(यह सम्भवतः भृगुतीर्थ है) वन० ९९।६९ (जहाँ पर परशुराम के प्रपितामह भृगु एवं पिता ने कठिन तप किया था)।

दीर्घसत्र--वन० ८२।१०७-११०, पद्म० १।२५।१५-१६।

दीर्घविष्णु--(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६३।६३।

दुग्धेश्वर--(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१४८।१ (खण्डधर के दक्षिण), देखिए बम्बई गजे०, जिल्द १६, पृ० ६।

दुर्गा--बार्ह० सू० (३।१२८), दुर्गा विन्ध्य पर रहती हैं।

दुर्गा--(विन्ध्य से निकलनेवाली एक नदी) वायु० ४५।१०३ एवं ब्रह्माण्ड० २।१६।३३।

दुर्गातीर्थ--(१) (सरस्वती के अन्तर्गत) वामन० २५।१०३, ब्रह्माण्ड० २।१६।३३; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३२।८।

दुर्गा-साभ्रमतीसंगम--पद्म० ६।१६९।१।

दुर्धर्षेश्वर--(साभ्रमती पर) पद्म० ६।१४६।१।

दृषद्वती--(नदी) (देखिए अध्याय १५ के आरम्भ में) ऋ० (३।२३।४) में यह 'आपया' एवं 'सरस्वती' के साथ अग्नि-पूजा के लिए पवित्र मानी गयी है। वन० ९०।११, मनु० २।१७ ने इसे देवनदी कहा है, नार-

दीय० २।६०।३०, भाग० ५।१९।१८। कुछ लोगों ने इसे घग्गर एवं कुछ लोगों ने चित्तांग माना है (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द १, पृ० ८०)। वर्तमान नामों में यह नदी नहीं पहचानी जा सकी है। कनिंघम (ए० एस० आई०, जिल्द १४, पृ० ८८) ने इसे थानेसर के दक्षिण १७ मील पर रावशी नदी कहा है, जिसे स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि यह मत अभी सन्देहात्मक ही है।

देवगिरि—(मथुरा के अन्तर्गत एक पहाड़ी) वराह० १६४।२७, भाग० ५।१९।१६।

देवतीर्थ—(१) (गोदावरी के उत्तरी तट पर) ब्रह्म० १२७।१; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।२५, १९३।८१; कूर्म० २।४२।१६, पद्म० १।१८।२५; (३) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१६१।१।

देवपथ—वन० ८५।४५, पद्म० १।३९।४२।

देवपर्वत—(सम्भवतः अरावली पहाड़ी) देवल० (ती० क०, पृ० २५०)

देवप्रभ—(गण्डकी के अन्तर्गत) वराह० १४५।५९।

देवप्रयाग—देखिए अलकनन्दा। यह भागीरथी एवं अलकनन्दा संगम-स्थल है। देखिए यू० पी० गजे०, जिल्द ३६, पृ० २१४।

देवदारुवन—(१) (बद्रीनाथ के पास हिमालय में) अनु० २५।२७, कूर्म० २।३६।५३-६०, २।३९।१८ एवं ६६, मत्स्य० १३।४७ (यहाँ पर देवी का नाम पुष्टि है); (२) (मराठवाड़ा के पास औंध) पद्म० ६।१२९।२७; (३) (कश्मीर में विजयेश्वर) ह० चि० १०।३।

देवलेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९२)।

देवशाला—यहाँ विष्णु त्रिविक्रम के नाम से पूजित होते हैं। नृसिंह० ६५।१५ (ती० क०, पृ० २५२)।

देवह्रद—(१) (गण्डकी के अन्तर्गत) वराह० १४५। ७१, अनु० २५।४४; (२) (कृष्ण-वेणा के अन्तर्गत) वन० ८५।४३।

देवह्रदा—(कश्मीर में एक नदी) वन० ८४।१४१, पद्म० १।३८।५७।

देवागम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६०।१।

देवारण्य—(लौहित्य या ब्रह्मपुत्र नदी पर एक वन) वायु० ४७।११।

देविका—(१) (हिमालय से निकलनेवाली नदी सिन्धु एवं पंचनद तथा सरस्वती के बीच में) वन० ८२।१०२-१०७, २२२।२२ (चार योजन लम्बी एवं आधा योजन चौड़ी), ब्रह्म० २७।२७, वायु० ४५।९५, अनु० १६६।१९, वाम० ८१।५। विष्णु० (४।२४।६९) में आया है कि व्रात्य, म्लेच्छ एवं शूद्र सिन्धु के तटों एवं दाविकोर्वी, चन्द्रभागा एवं कश्मीर पर राज्य करेंगे। यहाँ 'दाविकोर्वी', जैसा कि श्रीधर का कथन है, देविका की भूमि है। (२) (गण्डकी से मिलने वाली एक नदी) वराह० १४४।८३, ११२-१३, २१४।५४; (३) (गया के अन्तर्गत) वायु० ११२।३०, ७७। ४१, ब्रह्माण्ड० ३।१३।४१। अनु० २५।१२ एवं १६५।१९, कूर्म० २।३७।२५, पद्म० १।२५।१९-१४, नारदीय० २।४७।२७, विष्णु० २।१५।६, वामन० ७८।३७—सभी ने देविका की प्रशस्ति गायी है, किन्तु यह कौन-सी नदी है, नहीं ज्ञात हो पाता। नीलमत० (१५२-१५३) के मत से यह इरावती के समान पुनीत है, उमा स्वरूप है और रावी एवं चिनाब के मध्य में मद्र देश में है। देखिए पाणिनि (७।३।१)। दे (पृ० ५५) का कथन है कि यह सरयू का दक्षिणी भाग है जो देविका या देवा के नाम से विख्यात है। वाम० (८४। १२) ने देविकातीर्थ के ब्राह्मणों का उल्लेख किया है। स्कन्द० (७, प्रभास-माहात्म्य, अध्याय २७८।६६-६७) ने मूलस्थान (मुलतान) को देविका पर स्थित माना है। पद्म० १।२५।९-१४ (पाँच योजन लम्बी एवं आधा योजन चौड़ी)। विष्णु० (२।१५।६) ने वीरनगर को देविका पर स्थित एवं पुलस्त्य द्वारा स्थापित माना है। देविका, जैसा कि अनु० (१६५।१९ एवं २१) में आया है, सरयू नहीं है, इन दोनों के नाम पृथक्-पृथक् आये हैं। बार्ह० सू० (२।३५) में आया

है कि एक दुष्ट केतु उत्तर में देविका को भी मार डालेगा। पार्जिटर (मार्क० का अनुवाद, पृ० २९२) ने इसे पंजाब की दीग या देघ नदी माना है और डा० वी० एस्० अग्रवाल ने इसे कश्मीर में वुलर झील माना है (जे० यू० पी० एच्० एस्०, जिल्द १६, पृ० २१-२२)। जगन्नाथ (वही, जिल्द १७, भाग २, पृ० ७८) ने पार्जिटर का मत मान लिया है, जो ठीक जँचता है।

देविकातट—(यहाँ देवी नन्दिनी कही गयी है) मत्स्य० १३।२८।

देवीपीठ—कालिकापुराण (६४।८९-९१) में आठ पीठों की गणना हुई है।

देवीकूट—कालिका० १८।४१, जहाँ पर सती के शव के चरण गिर पड़े थे।

देवीस्थान—देवीभागवत (७।३८।५-३०) में देवी-स्थान के ये नाम हैं, यथा—कोलापुर, तुलजापुर, सप्त शृंग आदि। मत्स्य० (१३।२६।५४) ने १०८ देवी-स्थानों के नाम लिखे हैं।

देवेश—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।९।

देवेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६५)।

द्रुमक्षत्र—लिंग० १।९२।१२९ (सम्भवतः कुरुक्षेत्र के पास)।

द्रुमचण्डेश्वर—(वाराणसी में एक लिंग) लिंग० १।९२।१३६।

द्रोण—(भारतवर्ष में एक पर्वत) मत्स्य० १२१।१३, भाग० ५।१९।१६, पद्म० ६।८।४५-४६।

द्रोणाश्रमपद—अनु० २५।२८ (ती० क०, पृ० २५६; 'द्रोणवर्म' पाठ आया है)।

द्रोणेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६६)।

द्रोणी—(नदी) मत्स्य० २२।३७ (यहाँ श्राद्ध अनन्त होता है)।

द्वादशादित्यकुण्ड—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१। २४।

द्वारका—(१) वैदिक साहित्य में इस तीर्थ का नाम नहीं आता, किन्तु इसके विषय में महाभारत एवं पुराणों में बहुत कुछ कहा गया है। यह सात पुनीत नगरियों में है। ऐसा प्रतीत होता है कि दो द्वारकाएँ थीं, जिनमें एक अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। प्राचीन द्वारका कोडिनर के पास थी। सोमात एवं सिंगाव्र नदियों के मुखों के बीच समुद्र-तट पर जो छोटा ढूह है और जो कोडिनर से लगभग तीन मील दूर है, वह एक मन्दिर के भग्नावशेष से घिरा हुआ है। इसे हिन्दू लोग मूल द्वारका कहते हैं जहाँ पर कृष्ण रहते थे, और यहीं से वे ओखामण्डल की द्वारका में गये। देखिए बम्बई गजे० (जिल्द ८, पृ० ५१८-५२०)। जरासन्ध के लगातार आक्रमणों से विवश होकर कृष्ण ने इसे बसाया था। इसका उद्यान रैवतक एवं पहाड़ी गोमन्त थी। यह लम्बाई में दो योजन एवं चौड़ाई में एक योजन थी। देखिए सभा० (१४।४९-५५)। वराह० (१४९।७-८) ने इसे १० योजन लम्बी एवं ५ योजन चौड़ी नगरी कहा है। ब्रह्म० (१४।५४-५६) में आया है कि वृष्णियों एवं अन्धकों ने कालयवन के डर से मथुरा छोड़ दी और कृष्ण की सहमति लेकर कुशस्थली चले गये और द्वारका का निर्माण किया (विष्णु० ५।२३।१३-१५)। ब्रह्म० (१९६।१३-१५) में आया है कि कृष्ण ने समुद्र से १२ योजन भूमि माँगी, वाटिकाओं, भवनों एवं दृढ़ दीवारों के साथ द्वारका का निर्माण किया और वहाँ मथुरावासियों को बसाया। जब कृष्ण का देहावसान हो गया तो नगर को समुद्र ने डुबा दिया और उसे बहा डाला, जिसका उल्लेख भविष्यवाणी के रूप में मौसलपर्व (६।२३-२४, ७।४१-४२), ब्रह्म० (२१०। ५५ एवं २१२।९) में हुआ है। देखिए विष्णु० ५।३८।९ (कृष्ण के प्रासाद को छोड़कर सम्पूर्ण द्वारका बह गयी) एवं भविष्य० ४।१२९।४४ (रुक्मिणी के भवन को छोड़कर)। यह आनर्त की राजधानी कही गयी है (उद्योग० ७।६) और सर्वप्रथम यह कुशस्थली के नाम से विख्यात थी (सभा० १४।५०)। देखिए मत्स्य० ६९।९, पद्म० ५।२३।१०, ब्रह्म० ७।२९-३२ एवं

अग्नि० २७३।१२ (राजधानी का आरम्भिक नाम कुशस्थली था)। आधुनिक द्वारका काठियावाड़ में ओखा के पास है। हरिवंश (२, विष्णुपर्व, अध्याय ५८ एवं ९८) ने द्वारका के निर्माण की गाथा दी है। कुछ प्राचीन जैन ग्रन्थों (यथा—उत्तराध्ययनसूत्र, एस० बी० ई०, जिल्द ४५, पृ० ११५) ने द्वारका एवं रैवतक शिखर (गिरनार) का उल्लेख किया है। जातकों ने भी इसका उल्लेख किया है। देखिए डा० बी० सी० ला का ग्रन्थ 'इण्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आव बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म' (पृ० १०२, २३९)। प्रभासखण्ड (स्कन्दपुराण) में द्वारका के विषय में ४४ अध्यायों एवं २००० श्लोकों का एक प्रकरण आया है। इसमें कहा गया है—'जो पुण्य वाराणसी, कुरुक्षेत्र एवं नर्मदा की यात्रा करने से प्राप्त होता है, वह द्वारका में निमिष मात्र में प्राप्त हो जाता है' (४।५२)। 'द्वारका की तीर्थयात्रा मुक्ति का चौथा साधन है। व्यक्ति सम्यक् ज्ञान (ब्रह्मज्ञान), प्रयाग-मरण या केवल कृष्ण के पास गोमती-स्नान से मुक्ति प्राप्त करता है' (स्कन्द० ७।४।४।९७-९८)। भविष्य० (कृष्णजन्मखण्ड, उत्तरार्ध, अध्याय १०३) में द्वारका की उत्पत्ति के विषय में अतिशयोक्ति की गयी है। वहाँ द्वारका १०० योजन वाली कही गयी है। बीनाबायी द्वारा संकलित द्वारका-पत्तलक नामक ग्रन्थ है जिसमें स्कन्द० में उपस्थित द्वारका का वर्णन थोड़े में दिया गया है। यात्री सर्वप्रथम गणेश की पूजा करता है, तब बलराम एवं कृष्ण की, वह अष्टमी, नवमी या चतुर्दशी को रुक्मिणी के मन्दिर में जाता है, इसके उपरान्त वह चक्रतीर्थ, तब द्वारका-गंगा तथा शंखोद्धार में जाता है और गोमती में स्नान करता है। द्वारकानाथ का मन्दिर गोमती के उत्तरी तट पर स्थित है। प्रमुख मन्दिर की पाँच मञ्जिल हैं, वह १०० फुट ऊँचा और १५० फुट ऊँचे शिखर वाला है। देखिए डा० ए० डी० पुसल्कर का लेख (डा० बी० सी० ला भेंट-ग्रन्थ, जिल्द १, पृ० २१८) जहाँ द्वारका के विषय में अन्य सूचनाएँ भी दी हुई हैं। (२) (इन्द्रप्रस्थ में भी द्वारका है) पद्म० ६।२०२।४ एवं ६२।

द्वारका—(कृष्णतीर्थ) मत्स्य० २२।३९।

द्वारवती—यह द्वारका ही है। यहाँ ज्योतिर्लिंगों में एक नागेश का मन्दिर है। काशीखण्ड (७।१०१-१०५) में आया है—'यहाँ सभी वर्णों के लिए द्वार हैं, अतः विद्वानों ने इसे द्वारवती कहा है। यहाँ जीवों की अस्थियों पर चक्रचिह्न है, क्या आश्चर्य है जब मनुष्यों के हाथों में चक्र या शंख की आकृतियाँ हों?' द्वारका-माहात्म्य में ऐसा आया है कि मथुरा, काशी एवं अवन्ती में पहुँचना सरल है, किन्तु अयोध्या, माया एवं द्वारका में पहुँचना कलियुग में बहुत कठिन है। इसे द्वारवती इसलिए कहा जाता है कि यह मोक्ष का मार्ग है। यूल आदि ने पेरिप्लस के 'बारके' से इसकी पहचान की है (टॉलेमी, पृ० १८७-१८८)।

द्विदेवकुल—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० (१।९२। १५८)।

द्वीप—(सम्भवतः गंगा के मुख पर का द्वीप) नृसिंह० ६५।७ (ती० क०, पृ० २५१)। यहाँ विष्णु की पूजा अनन्त कपिल के रूप में होती है।

द्वीपेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।८०, पद्म० १।१८।३८ एवं २३।७६।

द्वैतवन—(शतपथ ब्राह्मण १३।५।४।९ में आया है कि मत्स्य देश के राजा द्वैतवन के नाम पर द्वैत सर का यह नाम पड़ा) वन० ११।६८, २४।१०, २३७।१२ (इसमें एक सर था)। शल्य० ३७।२७ (सरस्वती पर बलराम आये थे), वाम० २२।१२।४७।५६। यह सान्निहत्य कुण्ड के पास था।

ध

धनदेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७०)।

धन्वतीरूपा—(पारियात्र पर्वत से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।२४।

धनुःपात—(आमलक ग्राम के अन्तर्गत) नृसिंह० ६६।३३।

धरणीतीर्थ—(यहाँ पर श्राद्ध अत्यन्त पुण्यकारक है) मत्स्य० २२।७०।

धर्महृद—(वाराणसी के अन्तर्गत) नारदीय० २।५१।१४।

धर्मनद—यह पञ्चनद है। देखिए 'पंचनद'।

धर्मप्रस्थ—(गया के अन्तर्गत) वन० ८४।९९।

धर्मपृष्ठ—(बोधगया से चार मील पर) पद्म० ५।११। ७४, नारदीय० २।४४।५४-५५ एवं ७८, कूर्म० २।३७। ३८।

धर्मराजतीर्थ—(प्रयाग के पास यमुना के पश्चिमी तट पर) मत्स्य० १०८।२७, पद्म० १।४५।२७।

धर्मारण्य—(१) (गया के अन्तर्गत) वन० ८२।४६, अनु० १६६।२८-२९। वायु० १११।२३, वाम० ८४।१२ (धर्मारण्य के ब्राह्मण), अग्नि० ११५।३४, नारदीय० २।४५।१००; देखिए डा० बरुआ का 'गया एवं बुद्ध-गया', जिल्द १, पृ० १६-१७ (जहाँ यह मत प्रकाशित है कि यह बोधगया के मन्दिर के आसपास की भूमि से सम्बन्धित है और यह बौद्ध साहित्य के उरुवेला या उरुविल्वा के जंगल की ओर निर्देश करता है। रामा० (१।३२।७) में आया है कि धर्मारण्य ब्रह्मा के पौत्र एवं कुश के पुत्र असूर्तरजा द्वारा स्थापित किया गया था। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १४। (२) (महाकाल के पास) पद्म० १।१२।६-८; बृहत्संहिता १४।२ (किन्तु स्थान अनिश्चित है)।

धर्मशास्त्रेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१३३।

धर्मशिला—(गया के अन्तर्गत) वायु० (अध्याय १०७) एवं अग्नि० ११४।८-२८। गाथा के लिए देखिए गत अध्याय १४।

धर्मतीर्थ—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।४, अग्नि० १०९।१६, कूर्म० १।३५।१०, पद्म० ६।१३५।१७।

धर्मावती—(साभ्रमती से मिलने वाली नदी) पद्म० ६।१३५।१६।

धर्मेश्वर—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५३); (२) (गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४५।१०३, वायु० १११।२६।

धर्मोद्भव—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०। ४४-४६।

धवलेश्वर—(साभ्रमती के उत्तरी तट पर) पद्म० ६।१४४।७ (इसे इन्द्र द्वारा प्रतिष्ठापित समझा जाता है)।

धारा—(नदी) पद्म० १।२८।२६, मत्स्य० २२।३८।

धारातीर्थ—(नर्मदा के उत्तरी तट पर) मत्स्य० १९०।६।

धारापतनकतीर्थ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५४।८।

धुण्ढिविनायक—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १२६)। स्कन्द० ४।५७।३३ (यहाँ 'धुण्ढि' की व्युत्पत्ति की गयी है); ५६ गणेशों के लिए देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १३।

धूतपाप—(या धौतपाप या धौतपुर) (१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० २२।३९, १९३।६२, कूर्म० २।४२।९-१०; (२) (गोकर्ण पर) ब्रह्माण्ड० ३।१३।२० (रुद्र ने यहाँ तप किया); (३) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।१२, नारदीय० २।४७।३५, (४) (स्तुतस्वामी के अन्तर्गत) वराह० १४८। ५८ (स्तुतस्वामी से ५ कोस से कम की दूरी पर), ती० क०, पृ० २२३। ऐं० जि० (पृ० ४०१) में आया है कि धोपापपुर गोमती के दाहिने तट पर है, और सुल्तानपुर से दक्षिण-पूर्व १८ मील है। (५) (रत्नगिरि ज़िले में संगमेश्वर के पास) देखिए इम्पि० गजे० इण्डि०, जिल्द २२, पृ० ५०।

धूतपापा—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत एक नदी) देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १३। (२) (हिमालय से निकली हुई नदी) वाम० ५७।८०, ब्रह्माण्ड० २।१६।२६।

धूमावती—वन० ८४।२२, पद्म० १।२८।२३ (धूमवन्ती)।

घृतवाहिनी—(ऋष्यवन्त से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।२६।

धेनुक—(गया के अन्तर्गत) वन० ८४।८७-८९, पद्म० १।३८।७-१०, नारदीय० २।४४।६८।

धेनुकारण्य—(गया के अन्तर्गत) वायु० ११२।५६, अग्नि० ११६।३२।

धेनुवट—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।४०-४३।

धौतपाप—देखिए 'पापप्रणाशन'।

धौतपापा—(हिमालय से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।२२।

धौतपापेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१५६।

ध्रुवतपोवन—पद्म० १।३८।३१।

ध्रुवतीर्थ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५२।५८ एवं १८०।१।

न

नकुलगण—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० ४६।२। सम्भवतः यह लकुलीश (यह बहुधा 'नकुलीश' कहा गया है) के अनुयायियों की ओर संकेत करता है। देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द २१, पृ० १, जहाँ चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा शिलालेख, सन् ३८० ई० का उल्लेख है, जिसमें यह उल्लिखित है कि पाशुपत सम्प्रदाय के प्रवर्तक लकुली प्रथम शताब्दी के प्रथम चरण में हुए थे। मिलाइए वायु० २३।२२-२५ (कायावरोहण नकुली का सिद्धिक्षेत्र कहा गया है)।

नकुली—(विष्णुपद से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१८।६८।

नकुलीश—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०७)।

नकुलीश्वर—कूर्म० २।४४।१२।

नग—(गया के अन्तर्गत एक पहाड़ी) वायु० १०८।२८।

नदन्तिका—वि० ध० सू० ८५।१९ (श्राद्ध का तीर्थ)।

नदीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०३)।

नन्दनवन—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १८७)।

नन्दना—(ऋक्षवान् पर्वत से निकली हुई नदी) मत्स्य० १४४।२५, वायु० ४५।९७, ब्रह्म० २७।२८ (दोनों में 'चन्दना' पाठ आया है, जो अशुद्ध है)।

नन्दा—वन० ८७।७७, वायु० ७७।७९, आदि० २१५।७, वन० ११०।१ (हेमकूट के पास), अनु० १६६।२८, भाग० ७।१४।३२, वराह० २१४।४७। ये सभी ग्रन्थ इसके स्थान के विषय में कुछ नहीं कहते। भाग० (४।६।२४) से प्रकट होता है कि यह कैलास एवं सौगन्धिक वन के पास था। भाग० (४।६।२३-२४) ने इसे एवं अलकनन्दा को सौगन्धिक वन के पास रखा हैं।

नन्दावरी—(नदी) देवल (ती० क०, पृ० २४९) ने इसे कौशिकी के पश्चात् वर्णित किया है। प्रो० आयंगर ने इसे कोसी नदी के पूर्व में उत्तर प्रदेश में महानदी माना है।

नन्दासरस्वती—(सरस्वती का यह नाम पड़ गया) देखिए पद्म० ५।१८।४५६।

नन्दिकेश—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।६।

नन्दिकुण्ड—(१) (कश्मीर में) अनु० २५।६०, नीलमत० १४५९, अग्नि० २१९।६४; (२) (जहाँ से साभ्रमती निकलती है) पद्म० ६।१३२।१ एवं १३।

नन्दिकूट—अनु० २३।६० (ती० क०, पृ० २४८)।

नन्दिक्षेत्र—(कश्मीर में) राज० १।३६, नीलमत० १२०४-१३२८ (यहाँ शिलाद के पुत्र के रूप में उत्पन्न नन्दी की गाथा है), हरमुख चोटी के, जहाँ कालोदक सर है, पूर्वी हिम-खण्डों की उपत्यका है।

नन्दिगुहा—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० १९३)।

नन्दिग्राम—(जहाँ पर राम के वनवास के उपरान्त उनके प्रतिनिधि रूप में रहकर भरत राज्य की रक्षा करते थे) वन० २७७।३९, २९१।६२, रामा० २।११५।२२,

७।६२।१३, भाग० ९।१०।३६। यह फैजाबाद से ८ मील दक्षिण अवध में नन्दगाँव है।

नन्दिनी--(नदी) वन० ८४।१५५, पद्म० १।३८।६२।

नन्दिनी-संगम--(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२८।१ एवं ७३-७४।

नन्दिपर्वत--(कश्मीर में) ह० चि० ४।३० एवं ३२ (हेमकूट-गंगा के पास)।

नन्दीश--(कश्मीर में शिव नन्दिकोल में पूजित होते हैं, किन्तु विस्तृत अर्थ में यह हरमुकुट की झीलों से नीचे भूतेश्वर तक की भूमि का द्योतक है) राजतरंगिणी १।१२४।

नन्दीतट--(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १५२।१ एवं ४० (इसे आनन्द भी कहा जाता है)।

नन्दितीर्थ--(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।३७, कूर्म० २।४१।९०, पद्म० १।१८।३७।

नन्दीशेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५७)।

नरक--(१) वन० ८३।१६८ (कुछ पाण्डुलिपियों में 'अनरक' और कुछ में 'नरक' आया है); (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।३६, २०।१-२।

नरसिंहाश्रम--(कश्मीर में) नीलमत० १५२०।

नलिनी--(१) (पूर्व की ओर बहती हुई गंगा की तीन धाराएँ) वायु० ४७।३८ एवं ५६, मत्स्य० १२१।४०, रामा० १।४३।१३; (२) (कश्मीर की एक नदी) ह० चि० १४।१०१।

नर्मदा--देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५।

नर्मदा-एरण्डीसंगम--तीर्थप्रकाश (पृ० ३८३)।

नर्मदाप्रभव--तीर्थप्रकाश, पृ० ३८३, पद्म० १।३९।९; वन० (८५।९) में आया है--'शोणस्य नर्मदायाश्च प्रभेदे।'

नर्मदेश--(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।७३, पद्म० १।१८।६९।

नर्मदेश्वर--(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।२।

नलकूबरेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०३)।

नहुषेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११५)।

नाकुलेश्वर तीर्थ--(लकुलीशतीर्थ ?) मत्स्य० २२।७७, वाम० ७।२६ (नर्मदा पर नाकुलेश्वर, जहाँ च्यवन ने स्नान किया था)।

नागधन्वा--(सरस्वती के अनतिदूर दक्षिण) शल्य० ३७।३० (यहाँ वासुकि की प्रतिमा स्थापित है)।

नागकूट--(गयाशिर के अन्तर्गत सम्मिलित) वायु० १११।२२, नारदीय० २।४५।९५।

नागपुर--(हस्तिनापुर) वन० १८३।३६।

नागसाह्व--(गंगा के दाहिने किनारे पर हस्तिनापुर, जो मेरठ से २२ मील उत्तर-पूर्व है) वायु० ७७।२७१, मत्स्य० ५०।७८, नृसिंह० ६५।११ (ती० क०, पृ० २५२, यहाँ विष्णु का गुह्य नाम गोविन्द है)। और देखिए 'हस्तिनापुर'।

नागतीर्थ--(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) मत्स्य० २२।२३, कूर्म० १।३५।७, पद्म० १।२८।३३; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १११।१; (३) (त्रिपुष्कर के अन्तर्गत) पद्म० ५।२६।५१; (४) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५४।१४; (५) (इसका स्थान अनिश्चित है) वन० ८४।३३।

नागभेद--(अन्य स्थानों पर अन्तर्हित किन्तु यहाँ पर सरस्वती प्रकट हुई है) वन० ८२।११२, अग्नि० १०९।१३।

नागेश्वर--(नर्मदा पर एक तपोवन) मत्स्य० १९१। ८३।

नादेश्वर--(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १२७)। (२) (सम्भवतः यह बिन्दुसर है) नारदीय० १।१६।४६ (हिमवान् पर जहाँ भगीरथ ने तप किया था)।

नाभि--(गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४७।८२।

नारदकुण्ड--(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१। ३७।

नारदतीर्थ--(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।१६-१७, पद्म० १।१८।२३।

नारदेश्वर--(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१। ५; (२) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५३)।

नारायणसर--(सिन्ध की पूर्वी शाखा के मुख पर, जिसे कोरी कहा जाता है) भाग० ६।५।३ एवं २५, शिवपुराण २२।१३।१३। यह सिन्धु-समुद्र संगम है। यह कच्छ के मुख्य नगर भुज से ८१ मील दूर एवं कोटीश्वर तथा समुद्र के बीच में है। प्राचीन काल में यहाँ एक झील एवं आदि-नारायण का मन्दिर था। देखिए बम्बई गजे०, जिल्द ५, पृ० २४५-२४८।

नारायणाश्रम--(बदरी के पास) वन० १४५।२६-३४, १५६।१४। भाग० ७।१४।३२, ९।३।३६, १०।८७।४-७)।

नारायणस्थान--वन० ८४।१२, पद्म० १।३८।३९।

नारायणतीर्थ--(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।५; (२) ब्रह्म १७६।१ एवं ३३ (गोदाव ी के अन्तर्गत, इसे विप्रतीर्थ भी कहा जाता है)।

नारीतीर्थानि--(द्रविड़ देश में समुद्र पर) वन० ११८।४, आदि० २१७।१७--'दक्षिणे सागरानूपे पञ्च तीर्थानि सन्ति वै।' देखिए 'पञ्चाप्सरस्'।

नारसिंह--(गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४६।४६।

नारसिंहतीर्थ--(१) (गोदावरी के उत्तरी तट पर) ब्रह्म० १४९।१; (२) (दर्शन मात्र से पाप कटता है) मत्स्य० २२।४३।

नासिक्य--(आधुनिक नासिक) देखिए इस ग्रन्थ का भाग ४, अध्याय १५ एवं वायु० ४६।१३०।

निःक्षीरा--(गया में क्रौंचपद पर एक कमलकुण्ड है) वायु० १०८।८४, नारदीय० २।४४।६४, ७।३५, अग्नि० ११६।८ (निश्चीरा)।

निःक्षीरा-संगम--नारदीय० २।४७।३५।

निगमोद्बोधक--(प्रयाग से एक गव्यूति पश्चिम) पद्म० ६।१९६।७३-७४; २००।६ (इन्द्रप्रस्थ में)। दे (पृ० १४०) का कथन है कि यह यमुना पर पुरानी दिल्ली में निगमबंध घाट है।

निम्बार्कतीर्थ--(साभ्रमती पर) पद्म० ६।१५१।१ एवं १४ (पिप्पलादतीर्थ के पास)।

निम्नभेद--(गोदावरी के उत्तरी तट पर) ब्रह्म० १५१।१।

निरञ्जन--(आदित्यतीर्थ, प्रयाग में यमुना के उत्तर तट पर) मत्स्य० १०८।२९। ती० क० पृ० १४९ में 'निरूजक' आया है।

निरञ्जना--वह नदी जिसमें मोहना मिलती है और जिसके संगम से फल्गु नामक नदी गया में आती है। यह बौद्ध ग्रन्थों में विख्यात है। एरियन ने मोहना को 'मगोन' एवं निरञ्जना को 'एर्रेन्यसिस' कहा है (टॉलेमी, पृ० ९७)।

निरविन्दपर्वत--अनु० २५।४२।

निर्जरेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०३)।

निर्विन्ध्या--(विन्ध्य से निकलकर चंबल में मिलनेवाली नदी) ब्रह्म० २७।३३, मत्स्य० ११४।२७, मार्क० ११३।३३, ब्रह्माण्ड० २।१६।३२, मेघदूत १।१८। भाग० (४।१।१७-१९ एवं विष्णु० २।३।११) के अनुसार यह ऋक्ष से निकलती है और मुनि अत्रि का इस पर आश्रम है। मार्क० (अध्याय ११३) में विदूरथ (जिसकी राजधानी निर्विन्ध्या के पास थी) एवं भलन्दन के पुत्र वत्सप्री की गाथा आयी है।

निर्वीरा--(नदी) वन० ८४।१३८-१३९ (इसके तट पर वसिष्ठाश्रम था)।

निवासलिंग--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ८९)।

निशाकर-लिंग--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६५)।

निश्चीरा--यह निर्वीरा का एक भिन्न पाठ-सा है। मत्स्य० ११४।२२ ('निश्चला' पाठ आया है)।

निष्फलेश--कूर्म० २।४१।८।

निषध--(पर्वत) वन० १८८।११२; अलबरूनी (जिल्द २, पृ० १४२) का कथन है कि निषध पर्वत के पास विष्णुपद एक सर है, जहाँ से सरस्वती आती है।

इससे प्रकट होता है कि निषध हिमालय-श्रेणी का एक भाग है। वायु० ४७।६४।

निषधा--(विन्ध्य से निकली हुई एक नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।३२, वायु० ४५।१०२।

निष्ठासंगम--(जहाँ वसिष्ठाश्रम था) पद्म० १।३८। ५६।

निष्ठावास--पद्म० १।३८।५४।

निष्ठीवी--(हिमवान् से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।२६।

नीलकण्ठ-लिंग--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११८)।

नीलकण्ठतीर्थ--(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१६८।१।

नीलकुण्ड--(१) (एक पितृतीर्थ) मत्स्य० २२।२२; (२) नीलकुण्ड, वितस्ता एवं शूलघात एक ही तीर्थ के तीन नाम हैं या कश्मीर में एक धारा है। नीलमत० १५००, ह० चि० १२।१७।

नीलनाग--(नागों के राजा एवं कश्मीर के रक्षक) नीलमत० २९५-३०१, राज० १।२८, ह० चि० १२।१७, स्टीन-स्मृति, पृ० १८२। शाहाबाद परगने में यह ब्रिंग के दक्षिण है; यह वेरीनाग के नाम से विख्यात है जो वितस्ता का दन्त-कथात्मक उद्गम-स्थल माना जाता है। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० ३६१) ने इसे विहत (वितस्ता) का उद्गम-स्थल कहा है और उसमें निम्न बात आयी है--'नीलनाग, जिसकी भूमि ४० बीघा है, इसका जल स्वच्छ है और यह पुनीत स्थल है; बहुत से लोग इसके तट पर जान-बूझकर अग्नि-प्रवेश करके प्राण गँवाते हैं।'

नीलतीर्थ--वाम० (ती० क०, पृ० २३८)।

नीलपर्वत--(१) (हरिद्वार के पास) अनु० २५।१३ 'गंगाद्वारे कुशावर्ते बिल्वके नीलपर्वते। तथा कनखले स्नात्वा धूतपाप्मा दिवं व्रजेत्॥' लिंग० (ती० क० पृ० २५४), वि० ध० सू० ८५।१३, मत्स्य० २२।७०, भाग० ५।१९।१६, कूर्म० २।२०।३३, देवीभाग० ७।३८ (देवीस्थान, नीलाम्बा); (२) (वह टीला जिस पर जगन्नाथ का महामन्दिर स्थित है) पद्म० ४।१७।२३ एवं ३५, ४।१८।२, स्कन्द० (तीर्थप्रकाश, पृ० ५६२)।

नीलगंगा--(गोदावरी के अन्तर्गत, और नीलपर्वत से निकलने वाली) ब्रह्म० ८०।४।

नीलवन--रामा० २।५५।८ (चित्रकूट से एक कोस पर)।

नीलाचल--(१) (उड़ीसा में, पुरी का एक छोटा पर्वत या टीला, जिस पर जगन्नाथ का महामन्दिर अवस्थित माना जाता है) देखिए 'नीलपर्वत'; (२) (गौहाटी के पास एक पहाड़ी, जिस पर सती का मन्दिर बना हुआ है)।

नीलोत्पला--(ऋक्ष पर्वत से निकली हुई नदी) वायु० ४५।१००।

नीरजेश्वर--(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।६।

नूपा--(पारियात्र से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २। १६।२८, मार्क० ५४।२३ (यहाँ 'नूपी' पाठ आया है)।

नेपाल--(आधुनिक नेपाल) वराह० २१५।२८, वायु० १०४।७९, देवीभाग० ७।३८।११ (यहाँ गुह्यकाली एक महास्थान है) समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में यह नाम आया है (सी० आई० आई० जिल्द ३, पृ० १४)।

नैमिष या नैमिश--(एक वन) (१) (गोमती पर नीमसार नामक जनपद या भूमि-खण्ड, जो लखनऊ से ४५ मील दूर है)। काठकसंहिता (१०।६) में आया है--'नैमिष्या वैसत्रमासत'; पंचविंशब्राह्मण (२५।६।४) में 'नैमिशोय' एवं कौषीतकी ब्राह्मण (२६।५) में 'नैमिषीयाणाम्' आया है, (२८।४) में भी ऐसा ही है। महाभारत एवं पुराणों में इसका बहुधा उल्लेख हुआ है। देखिए वन० ८४।५९-६४ (संसार के सभी तीर्थ यहाँ केन्द्रित हैं), वन ८७।५-७ (पूर्व में गोमती पर), मत्स्य० १०९।३ (पृथ्वी पर अत्यन्त पवित्र), कूर्म० २।२०।३४, कूर्म० २।४३।१-१६ (महादेव को अति प्रिय), वायु० २।८, ब्रह्माण्ड० १।२।८, दोनों ने इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति की है--'ब्रह्मणो धर्मचक्रस्य यत्र नेमिरशीर्यत', 'नेमि' चक्र का

हाल (रिम.) है, और 'शृ' धातु का अर्थ है तितर-बितर कर देना या तोड़-फोड़ देना; ब्रह्म० (१।३-१०) में इसका सुन्दर वर्णन है; वायु० (१।१४-१२) ने स्पष्ट किया है कि नैमिषारण्य के मुनियों का महान् सत्र कुरुक्षेत्र में दृषद्वती के तट पर था। किन्तु वायु० (२।९) एवं ब्रह्माण्ड० (१।२।९) के अनुसार यह गोमती पर था। यह संभव है कि गोमती केवल विशेषण हो। यहीं पर वसिष्ठ एवं विश्वामित्र में कलह हुआ था। यहीं पर कल्माषपाद राजा को शक्ति ऋषि ने शाप दिया था और यहीं पर पराशर का जन्म हुआ था। विष्णु० (३।१४।१८) में आया है कि गंगा, यमुना, नैमिश-गोमती तथा अन्य नदियों में स्नान करने एवं पितरों को सम्मान देने से पाप कट जाते हैं। (२) बृहत्संहिता (११।६०) का कथन है कि उत्तराभाद्रपदा में दुष्ट केतु नैमिष के अधिपति को नष्ट कर देता है।

नैमिष-कुञ्ज—(सरस्वती पर) वन० ८३।१०९, पद्म० १।२६।१०२।

नैर्ऋतेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११७)।

नौबन्धन—(कश्मीर के पश्चिम में पर्वत-शिखर) नीलमत० ६२-६३।

नौबन्धनसर—(कश्मीर एवं पंजाब की सीमा पर) नीलमत० ६४-६६, १६५-१६६। (विष्णुपद एवं क्रमसार नाम भी है) ह० चि० ४।२७।

प

पञ्चकुण्ड—(१) (द्वारका के अन्तर्गत) वराह० (ती०क०, पृ० २२६); (२) (लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।४३ (जहाँ हिमकूट से पाँच धाराएँ गिरती हैं)।

पञ्चनद—(पंजाब की पाँच नदियाँ) वन० ८२।८३, मौसलपर्व ७।४५, वायु० ७७।५६, कूर्म० २।४४।१-२, लिंग० १।४३।४७-४८ (जप्येश्वर के पास), वाम० ३४।२६, पद्म० १।२४।३१। महाभाष्य (जिल्द २, पृ० २३९. पाणिनि ४।१।८) ने व्युत्पत्ति की है—'पंचनदे भवः' और इसे 'पंचनदम्' से 'पांचनदः' माना है। वैदिक काल में पाँच नदियाँ ये थीं—शुतुद्री, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी एवं वितस्ता और आजकल इन्हें क्रम से सतलज, ब्यास, रावी, चिनाब एवं झेलम कहा जाता है। इन पाँचों के सम्मिलन को आज पंजनद कहा जाता है, और सम्मिलित धारा मिठानकोट से कुछ मील ऊपर सिन्धु में मिल जाती है। बृहत्संहिता (११।६०) का कथन है कि यह पश्चिम में एक देश है। वन० (२२२।२२) ने सिन्धु एवं पंचनद को पृथक्-पृथक् कहा है। और देखिए सभापर्व (३२। ११)।

पञ्चनदतीर्थ—(गंगा के अन्तर्गत) ब्रह्माण्ड० ४।१३। ५७, नारदीय० २।५१।१६-३६। देखिए गत अध्याय १३।

पंचनदी—(कोल्हापुर के पास) पद्म० ६।१७६।४३ (इसके पास महालक्ष्मी की प्रतिमा है)।

पञ्चनदीश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९६)।

पञ्चपिण्ड—(द्वारका के अन्तर्गत) वराह० १४९। ३६-४० (जहाँ पर अच्छे कर्म करने वाले चाँदी एवं सोने के कमलों का दर्शन करते हैं, दुष्कर्मी नहीं)। तीर्थकल्पतरु (पृ० ३२६) में 'पंचकुण्ड' पाठ आया है।

पञ्चप्रयाग—दे (पृ० १४६) ने (१) देवप्रयाग (भागीरथी एवं अलकनन्दा का संगम), (२) कर्णप्रयाग (अलकनन्दा एवं पिन्दरा का संगम), (३) रुद्रप्रयाग (अलकनन्दा एवं मन्दाकिनी), गढ़वाल जिले के श्रीनगर से १८ मील, (४) नन्दप्रयाग (अलकनन्दा एवं नन्दा), (५) विष्णुप्रयाग, जोशीमठ के पास (अलकनन्दा एवं विष्णुगंगा) का उल्लेख किया है।

पञ्चतप—(एक शिवतीर्थ जहाँ का पिण्डदान अनन्त होता है) कूर्म० २।४४।५-६।

पञ्चतीर्थ—(काञ्ची में) ब्रह्माण्ड० ४।४०।५९-६१।

पञ्चतीर्थकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६४। ३७।

पञ्चब्रह्म—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६५)।

पञ्चवट—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० ४१।११, पद्म० ११२७।५० (सम्भवतः यह पंचवटी है, वन० ८३।१६२)।

पञ्चवटी—(१) (उत्तर में) वन० ८३।१६२; (२) (गोदावरी पर) रामा० ३।१३।१३ (इसे 'देश' कहा गया है), ३।१३।१९ (अगस्त्याश्रम से दो योजन दूर), नारदीय० २।७५।३०, अग्नि० ७।३। देखिए गत अध्याय १५।

पञ्चयक्षा—(स्थान अनिश्चित) वन० ८४।१०।

पञ्चवन—(गया के अन्तर्गत) वायु० ७७।९९।

पंकजवन—(गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४४।५८, वायु० ११२।४३ (इस वन में पाण्डुशिला थी)।

पञ्चायतन—(नर्मदा पर पाँच तीर्थ) मत्स्य० १९१। ६१-६२।

पञ्चसर—(१) (लोहार्गल के अन्तर्गत एक कुण्ड) वराह० १५१। ३४; (२) द्वारका के अन्तर्गत एक कुण्ड) वराह० १४९।२३।

पञ्चशिखा—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१। १४-१६।

पञ्चशिखेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६७)।

पञ्चशिर—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।३९-४४।

पञ्चाश्वमेधिक—वायु० ७७।४५, ब्रह्माण्ड० ३।१३।४५।

पञ्चाप्सरस्तीर्थ—(दक्षिणी समुद्र पर) भाग० १०।७९। १८ (श्रीधर स्वामी ने, जो भागवत के टीकाकार हैं, लिखा है कि यह तीर्थ फाल्गुन में है जो मद्रास राज्य में अनन्तपुर है)। आदि० (२१६।१-४) ने इनके अगस्त्यतीर्थ, सौभद्र, पौलोम, कारन्धम एवं भारद्वाज नाम बतलाये हैं। इनको सभी ने त्याग दिया था, किन्तु अर्जुन इनमें कूद पड़े और अप्सराओं का, जो शापवश कुण्ड हो गयी थीं, उद्धार किया। स्कन्द० (माहेश्वरखण्ड, कौमारिका प्रकरण, अध्याय १) के मत से यह 'पंचाप्सरः समुद्धरण' (अर्जुन द्वारा) है।

पञ्चार्जुन क्षेत्र—(स्तुतस्वामी के उत्तर में) वराह० १४८।४५।

पण्डारक-वन—(श्राद्ध के लिए उत्तम) वायु० ७७।३७।

पतत्रितीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६६।१।

पथीश्वर—(भरतगिरि एवं वितस्ता के आगे कश्मीर में) नीलमत० १२४५ (मन्दिर), १३९८।

पत्रेश्वर—(नर्मदा के उत्तरी तट पर) पद्म० १।१७।१।

पद्मावती—शल्य० ४६।९ (मातृकाओं में एक); यह नरवर नगर है। देखिए ऐं० जि० (पृ० २५०) एवं खजुराहो लेख (संवत् १०५८, १००१-२ ई०), जिसमें स्थान का वर्णन है, यहाँ भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक का दृश्य है (एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० १४७ एवं १५१)। यहाँ निषध के राजा नल का घर था।

पम्पा—(१) (तुंगभद्रा की एक सहायक नदी) भाग० १०।७९।१२, वाम० ९०।१६; (२) (जपा या जया) पद्म० १।२६।२०-२१ (कुरुक्षेत्र का द्वार कहा गया है)।

पम्पासर—(बेलारी ज़िले में ऋष्यमूक के पास) वन० २७९।४४, २८०।१, रामा० ३।७२।१२, ७३।११ एवं ३२, ६।१२६।३५, वन० २८०।१, भाग० ७।१४।३१, १०।७९।१२ (सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः)।

पम्पातीर्थ—मत्स्य० २२।५०, भाग० ७।१४।३१।

पलाशक—(जहाँ पर जमदग्नि ने यज्ञ किया था) वन० ९०।१६ (पलाशकेषु पुण्येषु)।

पलाशिनी—(नदी) (१) (काठियावाड़ में गिरनार के पास) देखिए रैवतक के अन्तर्गत एवं रुद्रदामन का जूनागढ़ शिलालेख (एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६ एवं ४३) एवं स्कन्दगुप्त का शिलालेख (४५७ ई०, सी० आई० आई०, ३, पृ० ६४)। (२) (पद्दैर नामक नदी, जो गंजाम ज़िले के कलिंगपत्तन के पास समुद्र में गिरती है) मार्क० ५४।३० (शुक्तिमान् से निकली हुई), वायु० ४५।१०७।

परिहासपुर—(कश्मीर में आधुनिक परस्पोर) ललिता-

दित्य ने इसे निर्मित कराया। राज० (४।१९४-१९५) ने विष्णु की चाँदी एवं सोने की प्रतिमाओं का उल्लेख किया है।

पर्जन्येश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११५)।

पर्णाशा—(या वर्णाशा) (१) (राजस्थान में बनास नदी, जो उदयपुर राज्य से निकलकर चम्बल में मिलती है) सभा० ६५।६। पर्णाशा का अर्थ है 'पर्ण अर्थात् पत्तों की आशा', वायु० ४५।९७, वराह० २१४।४८, मत्स्य० ११४।२३, सभा० ९।२१; (२) पश्चिमी भारत की एक नदी, जो कच्छ के रन में जाती है। प्रथम नाम उषवदात के नासिक शिलालेख (सं० १०) में उल्लिखित है। संख्या १४ में 'बनासा' शब्द आया है। देखिए इन उल्लेखों के लिए बम्बई गजे०, जिल्द १६, पृ० ५७७, जिल्द ७, पृ० ५७ तथा जिल्द ५, पृ० २८३।

परुष्णी—(१) (पंजाब की आधुनिक रावी) ऋ० ५।५२।९, ७।८८।८-९ (सुदास अपने शत्रु कुत्स एवं उसके मित्रों से इसी नदी पर मिला था), ८।७४।१५, १०।७५।५। निरुक्त (९।२६) का कथन है कि इरावती का नाम परुष्णी है। (२) (गोदावरी की सहायक नदी) ब्रह्म० १४४।१ एवं २३।

परुष्णी-संगम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १४४। १।

पर्वताख्य—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।८, पद्म० १।३७।८।

पशुपतीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९३)।

पयोदा—(नदी) ब्रह्माण्ड० २।१८।७०, वायु० ४७।६७ (पयोद सर से निकली हुई)।

पयोष्णी—(ऋक्ष या विन्ध्य से निकली हुई नदी) विलसन (विष्णुपुराण के अनुवाद में, जिल्द २, पृ० १४७) ने कहा है कि यह पैन-गंगा है, जो विदर्भ में वरदा या वर्धा से मिलती है। वन० ८५।४०, ८८।४, ७-९ (यह गंगा सहित सभी नदियों से उत्तम है और राजा नृग की नदी है), १२१।१६, विष्णु० २।३।११। अधिकांश पुराणों में 'तापी' एवं 'पयोष्णी' अलग-अलग उल्लिखित हैं, यथा—विष्णु० २।३।११, मत्स्य० ११४।२७, ब्रह्म० २७।३३, वायु० ४५।१०२, वामन० १३।२८, नारदीय० २।६०।२९, भाग० १०।७९।२०, पद्म० ४।१४।१२ एवं ४।१६।३ (यहाँ मुनि च्यवन का आश्रम था)। देखिए 'मूलतापी'। वन० (१२१। १६) में आया है कि पयोष्णी के उपरान्त पाण्डव लोग वैदूर्य पर्वत एवं नर्मदा पहुँचे। हण्टर ने (इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ४१२) कहा है कि पयोष्णी बरार की पूर्णा नदी है जो गविलगढ़ की पहाड़ियों से निकलकर तापी में मिलती है। नल-चम्पू (६।२९) में आया है—'पर्वतभेदि पवित्रं... हरिमिव... वहति पयः पश्यत पयोष्णी।'

पयोष्णी-संगम—(यहाँ श्राद्ध अनन्त फल देता है) मत्स्य० २२।२३।

पयस्विनी—(नदी) भाग० ७।१९।१८, ११।५।३९ (जो लोग इस पर एवं अन्य दक्षिणी नदियों पर रहते हैं वे वासुदेव के बड़े भक्त होते हैं)।

पवनस्य-ह्रद—वन० ८३।१०५।

पाण्डवेश्वरक—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।५८, मत्स्य० १९१, ६१।

पाण्डुकूप—ब्रह्माण्ड० ३।१३।३७ (समुद्र के पास), श्राद्ध के लिए उपयुक्त।

पाण्डुपुर—देखिए पौण्डरीकपुर।

पाण्डुर—वायु० ४५।९१ (एक छोटा पर्वत)।

पाण्डुसह्य—(विष्णु के गुह्य क्षेत्रों में एक) नृसिंह० ६५।९ (ती० क०, पृ० २५१)।

पाण्डुविशालातीर्थ—(गया के अन्तर्गत) वायु० ७७।९९, ११२।४४-४८ (यहाँ 'पाण्डुशिला' पाठ आया है); ती० क० (पृ० १६८) ने वायु को उद्धृत करते हुए इसे 'पाण्डुविशाल्या' पढ़ा है।

पाणिख्यात—पद्म० १।२६।८४, वन० ८३।८९ (पाणि-खात)।

पाटला—(पितरों के लिए अति पवित्र) मत्स्य० २२।२३।

पातन्धम—(पर्वत) वायु० ४५।९१।

पापमोक्ष—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।८, नारदीय० २।४७।७९।

पापप्रमोचन—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।५१-५४।

पापप्रणाशन—(१) (यमुना पर) पद्म० १।३१।१५; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ९२।१ एवं ४८-४९। इसे 'धौतपाप' एवं 'गालव' भी कहा गया है।

पापसूदनतीर्थ—(कश्मीर में एक धारा) राज० १।३२, ह० चि० १४।३६। कपटेश्वर, संकर्षण नाग एवं पापसूदन एक ही हैं। इस पवित्र धारा पर शिव की पूजा कपटेश्वर के रूप में होती है।

पारा—(१) (विश्वामित्र ने यह नाम कौशिकी को दिया) आदि० ७१।३०-३२; (२) (पारिया से निकल कर मालवा में सिन्धु से मिलने वाली नदी) वायु० ४५।९८, मत्स्य० १३।४४ एवं ११४।२४, मार्क० ५४।२०। मत्स्य० (१३।४४) में पारा के तट पर देवी को पारा कहा गया है। देखिए मालतीमाधव (अंक ४ एवं ९) एवं बृहत्संहिता (१४।१०)।

पाराशर्येश्वरलिंग—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५९)।

पारिप्लव—(सरस्वती के अन्तर्गत) वन० ८३।१२, पद्म० १।२६।१०, वाम० ३४।१७।

पारियात्र—(या पारिपात्र) (सात मुख्य पर्वत-श्रेणियों में एक) इसे विन्ध्य का पश्चिमी भाग समझना चाहिए, क्योंकि चम्बल, बेतवा एवं सिप्रा नदियाँ इससे निर्गत कही गयी हैं। देखिए कूर्म० १।४७।२४, भाग० ५।१९।१६, वायु० ४५।८८ एवं ९८, ब्रह्म० २७।२९। यह गोतमीपुत्र शातकर्णि के नासिक शिलालेख (सं० २) में उल्लिखित है (बम्बई गजे०, जिल्द १६, पृ० ५५०)। नासिक शिलालेख (संख्या १०) में इसे 'पारिचात' कहा गया है (वही, ५६९)। महाभाष्य (जिल्द १, पृ० ४७५, पाणिनि २।४।१०) एवं बौधायनधर्मसूत्र (१।१।२७) में इसे आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा कहा गया है।

पार्वतिका—(इस नदी पर श्राद्ध अत्यन्त फलदायक होता है) मत्स्य० २२।५६। यह विन्ध्य से निकल कर चम्बल में मिलती है।

पावनी—(नदी) (कुरुक्षेत्र में घग्गर, अम्बाला जनपद या जिला) रामा० १।४३।१३। देखिए दे (पृ० १५५)।

पालमञ्जर—(सूर्पारक के पास) ब्रह्माण्ड० ३।१३।३७।

पालपञ्जर—(पर्वत) वायु० ७७।३७ (श्राद्धतीर्थ), ब्रह्माण्ड० ३।१३।३७ ('पालमंजर' पाठ आया है)।

पालेश्वर—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१२४।२ (जहाँ चण्डी की प्रतिमा है)।

पाशिनी—(शुक्तिमान् से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।३२।

पाशुपततीर्थ—मत्स्य० २२।५६ (यहाँ श्राद्ध बड़ा फलदायक है)।

पाशुपतेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० १। ९२।१३५।

पाशा—(पारियात्र से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।२८। क्या यह 'पारा' का पाठान्तर है?

पाषाणतीर्थ—(नदी) देवल० (ती० क०, पृ० २४९)।

पिण्डारक—(काठियावाड़ के सम्भालिया विभाग में) वन० ८२।६५-६७ (जहाँ कमल-चिह्नित मुद्राएँ पायी गयी हैं), ८८।२१, मत्स्य० १३।४८, २२।६९, अनु० २५।५७, विष्णु० ५।३७।६, भाग० ११।१।११ (कृष्ण के पुत्र साम्ब ने यहाँ गर्भवती स्त्री के रूप में वस्त्र धारण किया था और मुनियों ने उसे शाप दिया था), वराह० १४४।१० (विष्णुस्थान), पद्म० १।२४।१४-१५। दे (पृ० १५७) का कथन है कि यह आधुनिक द्वारका से १६ मील पूर्व है। देखिए बम्बई गजे० (जिल्द ८, काठियावाड़, पृ० ६१३), जहाँ पिण्डारक से सम्बन्धित दन्तकथा दी हुई है।

पिंगाया आश्रम—अनु० २५।५५।

पिंगातीर्थ—वन० ८२।५७ (पिंगतीर्थ), पद्म० १।२४।६।

पिंगलेश्वर——(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।३२, कूर्म० २।४१।२१, पद्म० १।१८।३२।

पिप्पला——(ऋक्षवान् से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।३०।

पिप्पलाद-तीर्थ——(दुग्धेश्वर के पास साभ्रमती पर) पद्म० ६।१५०।१।

पिप्पलतीर्थ——(चक्रतीर्थ के पास गोदावरी पर) ब्रह्म० ११०।१ एवं २२६ (यहाँ 'पिप्पलेश्वर' आया है)।

पिप्पलेश——(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० ११४।२५। सम्भवतः यह पिप्पला ही है।

पितामहसर——(यह पुष्कर ही है) (१) वन० ८९।१६; (२) शल्य० ४२।३० (सरस्वती का उद्गम-स्थल), वन० ८४।१४९।

पितामहतीर्थ——(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।४, पद्म० १।२१।४।

पिशाचेश्वर——(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११४)।

पिशाचमोचन कुण्ड——(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३३।२ एवं १३-१४, पद्म० १।३५।२।

पिशाचमोचन तीर्थ——(प्रयाग में) पद्म० ६।२५०।६२-६३।

पिशाचिका——(ऋक्षवान् से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१३।३०।

पीठ——ब्रह्माण्ड० (४।४४।९३-१००) में ५० पीठों का वर्णन है, यथा——नेपाल, एकवीरा, एकाम्र आदि।

पुण्डरीक——(१) (कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।५७, पद्म० १।२६।७८; (२) (कुरुक्षेत्र के पास) वाम० ८१।७-८।

पुण्डरीका——(पयोद नामक सर से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१८।६९-७०।

पुण्डरीकक्षेत्र——(आधुनिक पण्ढरपुर) तीर्थसार (पृ० ७-२१)।

पुण्डरीकमहातीर्थ——(यहाँ श्राद्ध अत्यन्त पुण्यदायक होता है) ब्रह्माण्ड० ३।१३।५६, वायु० ७७।५५।

पुण्डरीकपुर——मत्स्य० २२।७७, नारदीय० २।७३।४५।

पुण्यस्थल——(मथुरा के पाँच स्थलों में एक) वराह० १६०।२१।

पुनःपुना——(गया के अन्तर्गत एक नदी, आधुनिक पुनपुना) वायु० १०८।७३, नारदीय० २।४७।७५।

पुनरावर्तनन्दा——(नदी) अनु० २५।४५।

पुत्रतीर्थ——(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२४।१ एवं १३७।

पुराणेश्वर——(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१३२।

पुरु——(पर्वत) वन० ९०।२२ (जहाँ पुरूरवा गया था)।

पुरूरवस्तीर्थ——(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १०१।१ एवं १९-२० (इसे सरस्वती-संगम एवं ब्रह्मतीर्थ भी कहते हैं)।

पुरुषोत्तम——(उड़ीसा में जगन्नाथ या पुरी) ब्रह्म० (अध्याय ४२, ४८, ६८, १७७ एवं १७८); मत्स्य० १३।३५, कूर्म० २।३५।२७, नारदीय० २ (अध्याय ५२-६१, जहाँ माहात्म्य वर्णित है)। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५।

पुलस्त्य-पुलहाश्रम——(गण्डकी के उद्गम-स्थल पर) वराह० १४४।११३, भाग० ५।८।३० (शालग्राम के पास)।

पुलहाश्रम——भाग० ७।१४।३०, १०।७९।१० (गोमती एवं गण्डकी के पास, इसे शालग्राम भी कहा जाता है)।

पुलस्त्येश्वर——(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११६)।

पुष्कर——(१) अजमेर से ६ मील दूर एक नगर, झील एवं तीर्थयात्रा का स्थल) बहुत कम पाये जाने वाले ब्रह्मा के मन्दिरों में एक मन्दिर यहाँ पर है। ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ नामक तीन कुण्ड यहाँ हैं (नारदीय० २।७१।१२, पद्म० ५।२८।५३)। उषवदात के नासिक शिलालेख (संख्या १०) में इन कुण्डों पर उसके द्वारा दिये गये दानों का उल्लेख है (बम्बई गजे०, जिल्द १६, पृष्ठ ५७०)। वायु० ७७।४०, कूर्म० २।२०।३४। वि० ध० सू० (८५।१-३) में

आया है कि पुष्कर में श्राद्ध करने से अनन्त फल प्राप्त होता है। यह ब्रह्मा की पाँच वेदियों में एक है (पद्म० ५।१५।१५०, वाम० २२।१९)। ब्रह्माण्ड० (३।३४। ११) एवं वाम० (६५।३१) ने मध्यम पुष्कर का उल्लेख किया है एवं ब्रह्माण्ड० (३।३५।३०) ने कनिष्ठ पुष्कर को मध्यम पुष्कर से एक कोस पश्चिम कहा है। ऐसा कहा गया है कि पुनीत सरस्वती यहीं से समुद्र की ओर गयी है (पद्म० ५।१९।३७)। पद्म० (५।१५।६३ एवं ८२) ने 'पुष्कर' नाम की व्याख्या की है (ब्रह्मा ने यहाँ पुष्कर अर्थात् कमल गिराया था)। ब्रह्माण्ड० (३।३४।७) में आया है कि परशुराम ने यहाँ अपने शिष्य अकृतव्रण के साथ सौ वर्षों तक तपस्या की। कल्पतरु (तीर्थ, पृ० १८२-१८५) ने वन० (अध्याय ८२) एवं पद्म० (५।२७) से क्रम से २०-३९ श्लोक एवं १२ श्लोक उद्धृत किये हैं। अलबरूनी (जिल्द २, पृ० १४७) का कथन है कि 'नगर के बाहर तीन कुण्ड बने ए हैं, जो पवित्र एवं पूजार्ह हैं।' प्रमुख मन्दिर पाँच हैं, किन्तु ये सभी आधुनिक हैं, प्राचीन मन्दिर औरंगज़ेब द्वारा नष्ट कर दिये गये थे। इसके अन्तर्गत कई उपतीर्थ हैं (वन०, अध्याय ८२)। पुष्कर शब्द वर्णादिगण (पाणिनि ४।२।८२) में आया है। (२) (पुष्कर, सरस्वती के तट पर, इसे सुप्रभ नामक पर्वत कहा जाता है) आदि० २२१।१५, शल्य० ३८।१३-१५; (३) ह० चि० १४।१११ (कश्मीर में, कपटेश्वर में कई तीर्थों की श्रेणी में एक); (४) (बदरिकाश्रम की पाँच धाराओं में एक) नारदीय० २।६७।५७-५८।

पुष्करारण्य—पद्म० ५।१८।२१७, सभा० ३२।८ (यहाँ से प्राची सरस्वती बहती थी) बृहत्संहिता ११।३५।

पुष्करावती—यह नदी सम्भवतः पाणिनि (४।२।८५) को ज्ञात थी। काशिका टीका आदि ने इसका उल्लेख किया है।

पुष्करिणी—(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९०।१६, कूर्म० २।४१।१०-११, पद्म० १।१७।१२; (२) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।१३।

पुष्पभद्रा—(१) (हिमालय के उत्तरी ढाल पर एक नदी) वराह० ५१।२, ९८।५, भाग० १२।८।१७, १२।९।१०, नृसिंह० (ती० क०, पृ० २५३); (२) (नदी) भाग० १२।९।१०।

पुष्पगिरि—(भारतवर्ष के छोटे पर्वतों में एक) वायु० ४५।९२, ब्रह्माण्ड० २।१६।२२। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि० (जिल्द २३, पृ० ११४-११५)।

पुष्पजा—(मलय से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।३०, वायु० ४५।१०५ (यहाँ 'पुष्पजाति' पाठान्तर आया है)।

पुष्पदन्तेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११७)।

पुष्पस्थल—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।१७ (एक शिवक्षेत्र)।

पुष्पवहा—(नदी) भाग० १२।९।३० (हिमालय के पास)।

पुष्पवती—(नदी) वन० ८५।१२, पद्म० १।३९।१२।

पूर्णा—(१) (विदर्भ की एक नदी) यह तापी से मिल जाती है; देखिए आइने-अकबरी (जिल्द २, पृ० २२४); इस संगम पर चंगद्वेव नामक ग्राम है और चक्रतीर्थ नामक एक तीर्थ है; (२) सूरत ज़िले में यह समुद्र में गिरती है (बम्बई गजे०, जिल्द २, पृ०२६); (३) (पूर्णा, जो पर्भणी ज़िले में गोदावरी में मिलती है) देखिए इम्पी० गजे० इण्डि० (जिल्द १२, पृ० २९७)। क्या यह ब्रह्मपुराण (१०५।२२) में उल्लिखित पूर्णातीर्थ है?

पूर्णतीर्थ—(गोदावरी के उत्तरी तट पर) ब्रह्म० १२२।१।

पूर्णमुख—(कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।४०-४१।

पूर्वामुख—(पूर्णमुख का एक अन्य पाठान्तर) वराह० १२६।४०।

पृथिवीतीर्थ—पद्म० १।२६।११ (पारिप्लव के पास)।

पृथुतुंग—नारदीय० २।६०।२५।

पृथूदक—(सरस्वती के दक्षिण तट पर स्थित आधुनिक पेहोवा) देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५। इसे वाम० (१९।१६-१७ एवं २३) में ब्रह्मयोनि कहा गया है। देखिए ऐ० जि० (पृ० ३३६-३३७)।

पैतामहतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४। ४-५, कूर्म० २।४२।१८।

पैशाचतीर्थ—(गोदावरी के दक्षिण तट पर) ब्रह्म० ८४।१-२ एवं १८ (इसे आंजन भी कहते हैं)। ब्रह्म० (१५०।१) ने इसे गोदावरी के उत्तरी तट पर कहा है। सम्भवतः ये दोनों भिन्न स्थल हैं।

पौण्डरीक—(एक विष्णुतीर्थ, लगता है यह पंढरपुर है) पद्म० ६।२८०।१८-१९ (कृतशौचे हरेत्पापं पौण्डरीके च दण्डके। माथुरे वेंकटाद्रौ च)।

पौण्ड्र—(देवदारुवने पौण्ड्रम्) पद्म० ६।१२९।२७।

पौण्ड्रवर्धन—वायु० १०४।७९ (पवित्र पीठ, ब्रह्माण्ड० ४।४४।९३)।

पौलस्त्यतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म०९७।१।

पौलोम—(देखिए 'पंचाप्सरस्तीर्थ') आदि० २१६।३।

पौष्क—(कश्मीर-मण्डल में) पद्म० ६।१२९।२७।

प्रजापतिक्षेत्र—मत्स्य० १०४।५ (यहाँ सीमा बतायी गयी है) यह प्रयाग है; देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १२।

प्रजामुख—(यहाँ वासुदेव के रूप में विष्णु की पूजा होती है) वाम० ९०।२८।

प्रणीता—(गोदावरी में मिलने वाली नदी) ब्रह्म० १६१।१, पद्म० ६।१८१।५ (गोदावरी के तट पर मेधंकर नामक नगर था)। यह प्रणहिता है।

प्रद्युम्नतीर्थ—नारदीय० २।४०।९६। दे (पृ०१५८) का कथन है कि यह बंगाल के हुगली जिले का पण्डुआ है।

प्रद्युम्नगिरि—(या पीठ) (यह श्रीनगर में हरिपर्वत है) राज० ३।४६०, ७।१६१६, विक्रमांकदेवचरित १८।१५, स्टीन-स्मृति, पृ० १४८ एवं कश्मीर रिपोर्ट पृ० १७।

प्रतिष्ठान—(१) (प्रयाग के पास) वन० ८५।७६, ११४।१, वायु० ९१।१८ (पुरूरवा की राजधानी), ९१।५० (यमुना के उत्तरी तट पर), मत्स्य० १२।१८, १०६।३० (गंगा के पूर्वी तट पर), मार्क० १०८।१८ (वसिष्ठ की प्रार्थना पर ऐल पुरूरवा को प्रदत्त), विष्णु० ४।१।१६, ब्रह्म० २२७।१५१, भाग० ९।१। ४२; (२) (गोदावरी के बायें तट पर आधुनिक पैठन) ब्रह्म० ११२।२३, वराह० १६५।१, पद्म० ६।१७२।२०, ६।१७६।२ एवं ६ (जहाँ पर महाराष्ट्र की नारियों की क्रीड़ा का उल्लेख है)। पीतलखोरा बौद्ध स्तम्भाभिलेख में पतिठान के मितदेव नामक गन्धी के कुल द्वारा स्थापित स्तम्भ का उल्लेख है (देखिए ए० एस० डब्लू० आई० ४।८३)। देखिए ऐं० जि० (पृ० ५५३-५५४), जहाँ ह्वेनसांग के समय में महाराष्ट्र की राजधानी प्रतिष्ठान का उल्लेख है। टॉलेमी ने इसे 'बैठन' एवं पेरिप्लस ने 'प्लिथान' कहा है। अशोक के शहबाजगढ़ी एवं अन्य स्थान वाले १३वें अनुशासन में 'भोज-पितिनिकेशु' का प्रयोग मिलता है, जिसमें अन्तिम शब्द 'प्रतिष्ठानक' का द्योतक है (सी० आई० आई०, जिल्द १, पृ० ६७)।

प्रतीची—(एक बड़ी नदी) भाग० ११।५।४० (यहां पर निवास करने वाले वासुदेव के भक्त होते हैं)।

प्रभास—(१) (सौराष्ट्र में, समुद्र के पास, जहाँ १२ ज्योतिर्लिङ्गों में एक सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसे महमूद गज़नवी ने तोड़ डाला था) इसे सोमनाथपट्टन भी कहा जाता है, स्कन्द० ७।१।२।४४-५३ (इस नाम के कई मूलों का उल्लेख है)। वन० ८२।५८, १३०।७, वन० ८८।२०, ११८।१५, ११९। ३, आदि० २१८।२-८, शल्य० ३५।४२ (यहाँ पर चन्द्र का क्षयरोग अच्छा हो गया था), कूर्म० २। ३५।१५-१७, नारदीय० २।७०।१-९५ (माहात्म्य), गरुड़ १।४।८१, वाम० ८४।२९ (यहाँ सरस्वती समुद्र में गिरती है)। उषवदात के नासिक शिलालेख में इस तीर्थ का नाम आया है (बम्बई गजे०, जिल्द १६,

पृ० ६६९ एवं सारंगदेव की चित्र-प्रशस्ति, सन् १२८७ ई०)। प्रभास को देवपत्तन कहा गया है और यह सरस्वती एवं समुद्र के संगम पर अवस्थित है (एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० २७१ एवं २८३ एवं श्रीधर की प्रशस्ति, सन् १२१६ ई०)। (२) (सरस्वती पर) शल्य० ३५।७८, स्कन्द० ७।१।११-१४; (३) (गया के पास एक पहाड़ी) वायु० १०८। १६, १०९।१४, अग्नि० ११६।१५; (४) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१६, पद्म० १।३७।१५; (५) (द्वारका के अन्तर्गत) मौसलपर्व ८।९, वराह० १४९।२९-३३ (सरस्वती एवं प्रभास का माहात्म्य), भाग० ११।३०।६ (यहाँ प्रत्यक्-सरस्वती है, अर्थात् सरस्वती पश्चिमवाहिनी है, किन्तु कुरुक्षेत्र में प्राची सरस्वती है)। उषवदात के शिलालेख में आया है कि राजकुमार ने प्रभास में (प्रभासे पुण्यतीर्थे) विवाह-व्यय किया और आठ ब्राह्मणों के लिए दुलहनें प्राप्त कीं। यहीं पर भगवान् कृष्ण ने अपना मर्त्य-शरीर छोड़ा। सोमनाथ के आरम्भ, अनुश्रुतियों एवं पुनीतता तथा महमूद गजनवी के आक्रमण की तिथि के लिए देखिए डा० एम्० नाज़िम कृत 'दि लाइफ़ एण्ड टाइम्स आव सुल्तान महमूद आव गजनी' (पृ० २०९-२१४); सोमनाथ के प्रत्याक्रमण आदि के लिए देखिए वही (पृ० २१९-२२४, ११७ आदि); ५०००० ब्राह्मणों ने मन्दिर के रक्षार्थ अपने प्राण गँवाये, कुल्हाड़ियों एवं अग्नि से मूर्ति तोड़ी गयी, २० करोड दीनार (१०,५००,००० पौण्ड, आधुनिक मूल्य) लूट में सुलतान को मिले। (६) (कश्मीर में) ह० चि० १४।१११; (७) (बदरिकाश्रम की पाँच धाराओं में एक) नारदीय० २।६७।५७-५८।

प्रयाग—(१) (आधुनिक इलाहाबाद) देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १२ एवं ऐं० जि० (पृ० ३८८-३९१) जहाँ ह्वेनसांग का उद्धरण है; (२) (सिन्धु एवं वितस्ता अर्थात् झेलम का संगम) नीलमत० ३९४-३९५ (यहाँ सिंधु को गंगा एवं वितस्ता को यमुना समझा जाता है)।

प्रयागेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४५)।

प्रवरा—(गोदावरी में मिलने वाली नदी) ब्रह्म० १०६। ४६-५४ (जिस पर आधुनिक नगर नेवासे या नेवास, जो निवासपुर का द्योतक है, स्थित है)। यह अहमद-नगर में टोका के पास गोदावरी में मिलती है (देखिए बम्बई गजे०, जिल्द १७, पृ० ६)।

प्रवरपुर—(देखिए श्रीनगर के अन्तर्गत) राज० ३।३३६-३४९।

प्रवरा-संगम—(गोदावरी के साथ) ब्रह्म० १०६।१, देखिए बम्बई गजे० (जिल्द १६, पृ० ७४०) जहाँ टोका एवं प्रवरासंगम का उल्लेख है, जहाँ, गोदावरी के संगम पर प्रवरा के बायें एवं दाहिने तटों पर, दो पवित्र नगर हैं। यह संगम नेवास के उत्तर-पूर्व ७ मील की दूरी पर है।

प्रस्रवणगिरि—(१) (जनस्थान में) रामा० ३। ४९।३१; (२) (तुंगभद्रा पर) रामा० ४।२७। १-४ (जिसकी एक गुफा में राम ने कुछ मास बिताये थे)।

प्रहसितेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ८९)।

प्रह्लादेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४८)।

प्राजापत्य—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।४, पद्म० १।३७।४।

प्रान्तकपानीय—(पंचनद के पास) वराह० १४३।१७।

प्राची-सरस्वती—(यह सरस्वती ही है) (१) भाग० ६।८।४०, वाम० ४२।२०-२३; (२) (गया के अन्तर्गत) वायु० ११२।२३।

प्रियमेलक—(श्राद्ध के लिए अति महत्त्वपूर्ण) मत्स्य० २२।५३।

प्रियव्रतेश्वर-लिंग—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१५९।

प्रीतिकेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १११)।

प्रेतकुण्ड—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०८।६८-६९, अग्नि० ११६।१५। यह प्रेतशिला के चरण में ब्रह्मयोनि के नाम से विख्यात है।

प्रेतकूट—(गया के अन्तर्गत एक पहाड़ी) वायु० १०९।१५।

प्रेतपर्वत—(गया के अन्तर्गत) वायु० ८३।२०।

प्रेतशिला—(गया के अन्तर्गत) वायु० ११०।१५, १०८।१५। यह ५८० फुट ऊँची है और गया से उत्तर-पश्चिम ५ मील दूर है। देखिए गया गजेटियर (प्राचीन संस्करण, पृ० २३५)।

प्लक्षतीर्थ—(एक पवित्र तालाब, सम्भवतः कुरुक्षेत्र में, जहाँ पुरूरवा ने उर्वशी को प्राप्त किया) वायु० ९१।३२।

प्लक्षप्रस्रवण—(या प्रश्र) (यहाँ से सरस्वती निकली है) शल्य० ५४।११, कूर्म० २।३७।२९, ब्रह्माण्ड० ३।१३।६९, वायु० ७७।६७ (श्राद्ध के लिए अति उत्तम)।

प्लक्षावतार—वन० ९०।४, यहाँ पर याज्ञिकों (यज्ञ करने वालों) ने सारस्वत-सत्र सम्पादित किये; वन० १२९।१३-१४ (यमुनातीर्थ, जहाँ सारस्वत यज्ञ करने वाले 'अवभृथ' नामक अन्तिम स्नान के लिए आये), कूर्म० २।३७।१८ (विष्णुतीर्थ), मार्क० २१।२९-३० (हिमवान् में)।

प्लक्षा—(नदी) वाम० (ती० क०, पृ० २३९)। यहाँ से यात्री पहले कुण्डिन जाता है, तब शूर्पारक।

फ

फलकीवन—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत, संभवतः आधुनिक 'फरल', जो थानेसर के दक्षिण-पूर्व १७ मील पर है) वन० ८३।८६।

फल्गु—(जो गया के किनारे बहती हुई अन्त में पुनपुना की एक शाखा में मिल जाती है) अग्नि० ११५।२७, व्युत्पत्ति—'फल' एवं 'गो' (यस्मिन् फलति श्रीर्गौर्वा कामधेनुर्जलं मही। दृष्टिरम्यादिकं यस्मात् फल्गुतीर्थं न फल्गुवत्॥)। वायु० (१११।१६) का कथन है कि यह गंगा से उत्तम है, क्योंकि गंगा केवल विष्णु के पद से निकली है और यह स्वयं आदि-गदाधर रूप है। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १४।

फाल्गुन—भाग० ७।१४।३१, १०।७९।१८ (श्रीधर का कथन है कि यह अनन्तपुर है)।

फाल्गुनक—(मथुरा के दक्षिण) वराह० १५७।३२।

फाल्गुनेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०५)।

फेना—(गोदावरी में मिलने वाली नदी) ब्रह्म० १२९।७।

फेना-संगम—(गोदावरी के साथ) ब्रह्म० १२९।१ एवं ७-८।

ब

बकुलवन—(या बहुलाओ) (मथुरा के अन्तर्गत १२ वनों में पाँचवाँ वन) वराह० १५३।३६।

बकुलासंगम—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३३।२७।

बगला—(एक देवी का स्थान) देखिए 'वैद्यनाथ' के अन्तर्गत।

बञ्जुला—(सम्भवतः वाञ्जुला) (नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।३१ (ऋक्ष से निर्गत), ब्रह्माण्ड० २।१६।३४ (सह्य से, ब्रह्म०), ब्रह्माण्ड० २।१६।३७ (महेन्द्र से, ब्रह्म०)।

बदरिका—(१) वाम० २।४२-४३; (२) (महेन्द्र पर्वत के निकट) पद्म० १।३९।१३, वन० ८५।१३; (३) (दक्षिणी गुजरात में कहीं) देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द २५, दन्तिदुर्ग के एलोरा दानपत्र में (पृ० २५ एवं २९)।

बदरिकाश्रम—(१) (उ० प्र० के गढ़वाल संभाग में बद्रीनाथ) वराह० १४१ (ती० कल्प०, पृ० २१५-२१६); पराशरस्मृति (१।५) का कथन है कि व्यास के पिता पराशर इस आश्रम में रहते थे; मत्स्य० (२०१।२४) में आया है कि मित्र एवं वरुण ने यहाँ पर तप

किया था, विष्णु० ५।३७।३४ (यह आश्रम गन्धमादन पर था जहाँ नर-नारायण रहते हैं), ब्रह्माण्ड० ३।२५-६७, नारदीय० २।६७ (विस्तार के साथ वर्णन किया है और उपतीर्थों की सूची भी दी है); वही २।६७।२६ (यह विशाला नदी पर था), भागवत० ७।११।६; (२) (यमुना पर मधुवन से थोड़ी दूर पर स्थित) पद्म० ६।२१२।१ एवं ४३।

बदरी—(गन्धमादन पर एक तीर्थ जहाँ नर और नारायण का आश्रम है) वन० ९०।२५-३२, १४१।-२३, १७७।८, शान्ति० १२७।२-३, भागवत० ९।-३।३६ एवं ११।२९।४१ (नारायणाश्रम), मत्स्य० २२।७३ (श्राद्ध के लिए अति उपयुक्त), पद्म० ६।२।-१-७ (दक्षिणायन में यहाँ पूजा नहीं होती क्योंकि उस समय पर्वत हिमाच्छादित रहता है), विशाला भी नाम है। देखिए इ० जा० आव इण्डिया, जिल्द ६, पृ० १७९-१८०)। बद्रीनाथ का मन्दिर अलकनन्दा के दाहिने तट पर है।

बदरीवन—पद्म० १।२७।६६।

बदरीपाचन तीर्थ—वन० ८३।१७९, शल्य० ४७।२३ तथा ४८।१ एवं ५१ (वसिष्ठ का आश्रम यहीं था)।

बभ्रुतीर्थ—(जहाँ मही नदी समुद्र में गिरती है) स्कन्द० १।२।१३।१०७।

बलभद्र-लिङ्ग—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ४६)।

बलाका—अनु० २५।१९।

बलाकेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।११।

बलिकुण्ड—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ७६)

बलेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।-१४८।

बहुनेत्र—(नर्मदा पर एक तीर्थ जहाँ त्रयोदशी को यात्रा की जाती है) मत्स्य० १९१।१४।

बहुलवन—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।८।

बाणगंगा—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४४।-६३ (रावण ने सोमेश्वर के दक्षिण एक बाण मारकर इसे निकाला था)।

बाणतीर्थ—(१) (गो० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२२।-२१४; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।-९-१०।

बाणेश्वर लिङ्ग—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द०, काशीखण्ड ३३।१३९, लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४८)।

बालकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४३)।

बालप—या बालपेन्द्र (साभ्रमती के तट पर) पद्म० ६।१४५।१, २४ एवं ३७ (एक सूर्य-क्षेत्र)।

बार्हस्पत्यतीर्थ—(गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२२।-१०१।

बाहुदा—(सरस्वती के निकट एक नदी) अनु० १६५।-२७, पद्म० १।३२।३१, नारदीय० २।६०।३०, ब्रह्म० २७।३६, मत्स्य० ११४।२२ एवं वायु० ४५।९५ (इसका कहना है कि यह हिमवान् से निकली है), वन० ८४।६७ एवं ८७।२७। देखिए दे (पृ० १६) एवं पार्जिटर (पृ० २९१-२९२)। वायु० (८८।-६६) का कथन है कि युवनाश्व ने अपनी पत्नी गौरी को शाप दे दिया और वह बाहुदा हो गयी। अमरकोश ने इसका पर्याय सैतवाहिनी बतलाया है और क्षीरस्वामी ने टिप्पणी की है कि यह कार्तवीर्य द्वारा नीचे उतारी गयी (कार्तवीर्य को बहुद अर्थात् अधिक दान करने वाला कहा गया है)।

बाह्या—(सह्य से निकलनेवाली नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।३५।

बिन्दुक—वि० ध० सू० ८५।१२ (कुछ संस्करणों में 'बिल्वक' पाठ आया है)।

बिन्दुमाधव—(वारा० के अन्तर्गत) मत्स्य० १८५।-६८, स्कन्द० २।३३।१४८, नारदीय० २।२९।६१, पद्म० ६।१३१।४८।

बिन्दुसर—(१) (बदरी के पास मैनाक पर्वत पर) वन० १४५।४४, भीष्म० ६।४३-४६, ब्रह्माण्ड० २।१८।३१, मत्स्य० १२१।२६ एवं ३१-३२ (जहाँ

भगीरथ, इन्द्र एवं नर-नारायण ने तप किया था), भागवत० ३।२१।३३ एवं ३९-४४; (२) (वारा० के अन्तर्गत) शिव ने इसमें स्नान किया था और ब्रह्मा का कपाल जो उनके हाथ से लग गया था छूटकर गिर पड़ा और यह कपालमोचन तीर्थ बन गया, नारदीय० २।२९।५९-६०; (३) (एकाम्रक के अन्तर्गत) ब्रह्म० ४१।१२-५४ (इसका नाम इसलिए पड़ा कि रुद्र ने सभी पवित्र स्थलों से जलबूँदें एकत्र कर इसे भरा था); (४) (कश्मीर में) नीलमत० (१११६-१११७) के मत से यह देश के पूर्व में एक दिक्पाल है।

बिन्दुतीर्थ—यह पंचनद है। देखिए 'पंचनद' के अन्तर्गत।

बिल्वक—(श्राद्ध के लिए एक अति उपयुक्त स्थल) वि० ध० सू० ८५।५२, मत्स्य० २२।७०, कूर्म० २।२०।३३, अनु० २५।१३, नारदीय० २।४०।७९।

बिलपथ—(जहाँ से वितस्ता या झेलम निकलती है) ह० चि० १२।१५-१७। देखिए 'नीलकुण्ड' के अन्तर्गत।

बिल्वपत्रक—पद्म० ६।१२९।११ (शिव के बारह तीर्थों में एक)।

बिल्वाचल—बार्हस्पत्य सूत्र (३।१२०) के अनुसार यह वैष्णव क्षेत्र है।

बिल्ववन—(मथुरा के बारह वनों में दसवाँ) वराह० १५३।४२।

बुद्बुदा—(नदी, हिमालय से निकली हुई) ब्रह्माण्ड० २।१६।२५-२७।

बुधेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५५ एवं ९७)।

बृहद्वन—(गोकुल के पास, जहाँ नंद गोप अपनी गायें रखते थे) भागवत० १०।५।२६ एवं १०।७।३३।

बृहस्पतिकुण्ड—(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।५५।

बोधितरु—(बोध गया में पीपल या बोधिद्रुम) पद्म० ६।११७।३०; देखिए 'महाबोधि तरु' के अन्तर्गत। भरहुत स्तूप (लगभग २०० ई० पूर्व) पर खुदे हुए वज्रासन पर बोधि-तरु पर एक उत्कीर्ण लेख है—भगवतो सकमुनिनो बोधि; देखिए कनिंघम का 'महाबोधि' ग्रन्थ, पृष्ठ ३। ऐसा कहा जाता है कि सन् ६०० ई० में बंगाल के राजा शशांक ने बोधित को काट डाला था जिसे राजा पूर्ण वर्मा ने ६२० ई० में फिर से लगाया। देखिए ऐ० जि० पृ० ४५३-४५९ जहाँ बोधि-गया एवं बोधि-तरु के विषय में लिखा गया है।

ब्रह्मकुण्ड—(१) (बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१। ४-६; (२) (लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१। ७१ (जहाँ चार वेद-धारा नामक झरने हिमालय से निकलते हैं); (३) (गया के अन्तर्गत) वायु० ११०। ८।

ब्रह्मकूप—(गया के अन्तर्गत) वायु० १११।२५ तथा ३१, अग्नि० ११५।३७।

ब्रह्मक्षेत्र—(कुरुक्षेत्र) वन० ६३।४-६, वायु० ५९। १०६-१०७ तथा ९५।५।

ब्रह्मतीर्थ—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।९, २।३७।२८, पद्म० १।३७।९-१२ (विष्णु ने ब्रह्मा के नाम से इसे स्थापित किया); (२) (गया के अन्तर्गत) पद्म० १।३८।७९, नारद० २।४५।१०२, अग्नि० ११५।३६; (३) (गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० ११३।१ एवं २३, ब्रह्माण्ड० ३।१३।५६; (४) (सरस्वती पर) भागवत० १०।७८।१९।

ब्रह्मतुङ्ग—अग्नि० १०९।१२, पद्म० १।२४।२८।

ब्रह्मतुण्डह्रद—या ब्रह्मतुङ्गह्रद। ब्रह्माण्ड० ३।१२।७३, वायु० ७७।७१-७२ (यहाँ श्राद्ध, जप, होम करने से अक्षय फल मिलता है)।

ब्रह्मतारेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० २८)।

ब्रह्मगिरि—(१) (एक पर्वत, जहाँ से गोदावरी निकलती है और जहाँ गौतम का आश्रम था) ब्रह्म० ७४।२५-२६, ८४।२, पद्म० ७।१७६।५८; (२) (सह्य की सबसे बड़ी चोटी और कृष्णवेण्या के अन्तर्गत एक तीर्थ) तीर्थसार, पृष्ठ ७८।

ब्रह्मनदी—(यह सरस्वती का नाम है) भागवत० ९।१९।२३।

ब्रह्मणस्तीर्थ—वन० ८३।११३; पद्म० १।२७।२ (ब्रह्मणः स्थानम्), पद्म० १।३८।२०।

ब्रह्मपद—(गोनिष्क्रमण के अन्तर्गत) वराह० १४७।३६।

ब्रह्मपुत्र—देखिए 'लौहित्य', जो इसका एक अन्य नाम है।

ब्रह्मबालुका—वन० ८२।१०६, पद्म० १।२५।१३।

ब्रह्मसर—(१) (थानेश्वर के पास) वायु० ७७।५१, मत्स्य० २२।१२, वाम० २२।५५-६० एवं ४९।३८-३९। यह सर कई नामों से विख्यात है, यथा ब्रह्मसर, रामह्रद या पवनसर इत्यादि; (२) (गया के अन्तर्गत) वन० ४४।८५ (धर्मारण्योपशोभित) एवं ९५।११, अनु० २५।५८, अग्नि० ११५।३८, वायु० १११।३०; (३) (कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।३७-३९; (४) (सानन्दूर के अन्तर्गत) वराह० १५८।२०।

ब्रह्मशिर—(गया के अन्तर्गत) कूर्म० २।३।३८, नारद० २।४४।४६ (यहाँ ब्रह्मयूप है)।

ब्रह्मस्थान—वन० ८३।७१, ८५।३५, पद्म० १।२७।२।

ब्रह्मस्थूणा—पद्म० १।३९।३३।

ब्रह्मवल्लीतीर्थ— (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३७।१।

ब्रह्मयोनि—(१) (सरस्वती पर) इसे पृथूदक भी कहते हैं, वाम० ३९।२० एवं २३; (२) (गया के अन्तर्गत) वन० ८३।१४० एवं ८४।९५, पद्म० १।२७।२९, नारदीय० २।४७।५४, वायु० १०८।८३ (ब्रह्मयोनिं प्रविश्याथो निर्गच्छेद् यस्तु मानवः। परं ब्रह्म स यातीह विमुक्तो योनिसंकटात्।।) देखिए ऐं० जि० (पृष्ठ ४५८) जिसका कहना है कि अब अशोक-स्तूप के पास एक छोटा-सा मंदिर खड़ा है।

ब्रह्मयूप—(गया के अन्तर्गत) वायु० १११।३१-३३, अग्नि० ११५।३९।

ब्रह्मह्रद—भागवत० १०।२८।१६-१७ (सम्भवतः यह गौणरूप में प्रयुक्त है), ब्रह्माण्ड० ३।१३।५३।

ब्रह्मानुस्वर—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२६।६७।

ब्रह्मावर्त—(१) (सरस्वती एवं दृषद्वती के मध्य की पवित्र भूमि) मनु० २।१७, कालिका० ४९।७१। मेघदूत (१।४८) के अनुसार कुरुक्षेत्र ब्रह्मावर्त के अन्तर्गत था। यह एक पवित्र तीर्थ है। वन० ८३।५३-५४, ८४।४३, मत्स्य० २२।६९, अग्नि० १०९।१७; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९०।७, १९१।७०, पद्म० १।१७।५।

ब्रह्मेश्वर लिंग—(१) (श्रीपर्वत के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।१८, लिंग० १।९२।१५८-१६० (इसे अलेश्वर भी कहा जाता है); (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ११५)।

ब्रह्मोदर—वाम० ३६।७-८।

ब्रह्मोदय—(वाग्मती के दक्षिण) वराह० २१५।१०२।

ब्रह्मोद्भेद—वराह० २१५।९१।

ब्रह्मोदुम्बर—वन० ८३।७१।

ब्राह्मणकुण्डिका—(कश्मीर में एक तीर्थ) नीलमत० १४९९, १५०१।

ब्राह्मणिका—(नैमिष वन के पास) पद्म० १।३२।२२।

ब्राह्मणी—(सम्भवतः वह बामनी जो चम्बल में मिलती है) वन० ८४।५८।

भ

भगवत्पदी—(गंगा) भागवत० ५।१७।१-९।

भङ्गतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।५२।

भद्रतीर्थ—(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।५४; (२) (गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६५।१, मत्स्य० २२।५०।

भद्रतुङ्ग—वन० ८२।८०।

भद्रकालेश्वर—(यहाँ श्राद्ध करने से परमपद की प्राप्ति होती है) मत्स्य० २२।७४।

भद्रकाली—बार्ह० सूत्र ३।१२८। यह विन्ध्याचल पर निवास करती हैं।

भद्रदोह—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५२)।

भद्रकाली-ह्रद—अग्नि० १०९।१७।

भद्रकर्णेश्वर—(श्राद्ध के लिए एक उपयुक्त स्थान) वन० ८४।३९, कूर्म० २।२०।३५, स्कन्द० ७।१। अर्बुद खण्ड ८।१-२ (इसी नाम के एक ह्रद पर लिंग जो अर्बुद पर्वत पर है)।

भद्रवट—वन० ८२।५०, पद्म० १।१२।१०, वराह० ५१।२ (हिमालय के उत्तर की ओर) एवं ९८।६।

भद्रवन—(मथुरा के बारह वनों में छठा) वराह० १५३।३७ एवं १६१।७।

भद्रा—(१) (गंगा की शाखाओं में एक) विष्णु० २।२।३४, भागवत० ५।१७।५, वामन० ५१।५२, (२) वह नदी जिस पर हरि-हर अवस्थित हैं) नृसिंह० ६५।१८।

भद्रावती—(गंगा की मौलिक चार धाराओं में एक, अन्य तीन धाराएँ हैं सीता, अलकनन्दा एवं सुचक्षु) ब्रह्माण्ड० ३।५६।५२।

भद्रेश्वर—(१) (नर्मदा के उत्तरी तट पर) मत्स्य० २२।२५, कूर्म० २।४१।४; (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१३६ (ती० कल्प०, पृ० ५२ एवं ६८)।

भरद्वाजाश्रम—रामायण (२।५४।९-१०, ६।१२७।१ एवं १७ तथा ५।१०२।५-६)। देखिए 'चित्रकूट गिरि'। आश्रम के वास्तविक स्थल के विवेचन के विषय में देखिए गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीच्यूट का जर्नल, जिल्द ३, पृष्ठ १८९-२०४ एवं ४३३-४७४ (श्री आर० एम० शास्त्री)।

भरद्वाजतीर्थ—(देखिए 'अगस्त्यतीर्थ') आदि० २१६।४।

भरतस्याश्रम—(१) (गया के अन्तर्गत) ब्रह्माण्ड० ३।१३।१०५, मत्स्य० १३।४६ (यहाँ पर देवी को लक्ष्मी-अंगना कहा गया है), वायु० ७७-९८, १०८।३५, ११२।२४; (२) (कौशिकी के अन्तर्गत) कूर्म० २।३७।३८, पद्म० १।३८।४८।

भरतेश—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६६)।

भरुकच्छ—(आधुनिक भड़ोच) सभा० ५१।१० (भरुकच्छ के निवासी गन्धार से पाण्डवों के पास घोड़े भेंट रूप में लाये थे), टालेमी एवं पेरिप्लस ने इसे बरिगज कहा है। इसे भृगुपुर एवं भृगुकच्छ भी कहा जाता है (दूसरा नाम स्कन्द०, काशी० ६।२५ में पाया जाता है)। सन् ६४८-९ ई० में वलभी-नरेश धरसेन चतुर्थ ने भरुकच्छ पड़ाव से ताम्रपत्र दिया था। सुप्पारक जातक (सं० ४६३) में भरुकच्छ बन्दरगाह रूप में उल्लिखित है।

भर्तृस्थान—वन० ८५।६०, पद्म० १।३९।५६ (जहाँ देवता नित्य सन्निहित रहते हैं)।

भस्मगात्रक—लिंग० १।९२।१३७।

भस्मकूटाद्रि—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०९।१५।

भागीरथी—मत्स्य० १२१।४१ (यह उन सात धाराओं में से एक है जो बिन्दुसर से निकलीं और जो भगीरथ के रथ का अनुसरण करती हुई समुद्र में पहुँची)।

भाण्डह्रद—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।१०।

भाण्डीर—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५३।४३, (बारह वनों में ग्यारहवाँ) १५६।३।

भाण्डीरक वट—(वृन्दावन के पास) भागवत० १०।१८।२२, १०।१९।१३।

भानुतीर्थ—(गो० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३८।१, १६८।१।

भावतीर्थ—(गो० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १५३।१।

भारभूतेश—(नर्म० के अन्तर्गत) मत्स्य० १९२।१, पद्म० १।१९।१।

भारभूतेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ९३)।

भारभूति—(नर्म० के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।१८, कूर्म० २।४२।२५, पद्म० १।२१।१८।

भारुण्डवन—(मत्स्य देश में) रामायण २।७१।५।

भास्करक्षेत्र—(कोणार्क) मिता० (याज्ञ० ३।१७) ने उद्धृत किया है—'गंगायां भास्करक्षेत्रे'... आदि, तीर्थ चि० (पृष्ठ १६) एवं प्रायश्चित्ततत्त्व

(पृ० ४९३) के मत से प्रयाग भास्करक्षेत्र है, किन्तु तीर्थसार (पृ० २०) ने इसे कोणादित्य या कोणार्क कहा है; जो उपयुक्त है। मत्स्य० (१११।१३) एवं कूर्म० (१।३६।२०) के मत से प्रयाग प्रजापति-क्षेत्र है। देखिए दे, पृ० ३२।

भिल्लतीर्थ—(गोदा० के दक्षिण तट पर) ब्रह्म० १६९।१।

भीमा—(नदी, भीमरथी जो सह्य पर्वत से निकली है और कृष्णा की सहायक है) देवल (तीर्थकल्प०, पृ० २५०)। इसके निकास-स्थल पर भीमाशंकर का मंदिर है, जो बारह ज्योतिर्लिंगों में एक है, यह रायचूर से सोलह मील उत्तर कृष्णा नदी में मिलती है।

भीमरथी—(भीमा नदी) मत्स्य० २२।४५, ११४।२९, ब्रह्म० २७।३५, पद्म० १।२४।३२, भीष्मपर्व ९।२०, वन० ८७।३, वामन० १३।३०। और देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द ५, पृ० २०० तथा २०४ जहाँ कीर्तिवर्मा द्वितीय के वक्कलेरि दानपत्र (७५७ ई०) में भीमरथी नाम के विषय में उल्लेख है।

भीमादेवी—(कश्मीर में डल झील के पूर्व तट पर फाक परगने में ब्रान नामक आधुनिक ग्राम) राज० २।१३५ और ह० चि० ४।४७।

भीमस्वामी—(कश्मीर में एक शिला जो गणेश के रूप में पूजी जाती है) स्टीनस्मृति, पृ० १४८।

भीमतीर्थ—अग्नि० १०९।१२।

भीमायाः स्थानम्—वन० ८२।८४, दे (पृ० ४३) ने इसे पेशावर के उत्तर-पूर्व २८ मील की दूरी पर तख्त-ए-बहाई माना है।

भीमेश्वर—(नर्म० के अन्तर्गत, पितरों के लिए पवित्र) मत्स्य० २२।४६ एवं ७५, १८१।५, कूर्म० २।४१।२० एवं २।४५।१५, पद्म० १।१८।५।

भीम-चण्डिक—(वारा० के अन्तर्गत) मत्स्य० १८३।६२।

भीमेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६६)।

भुवनेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प० पृ० ५६)।

भूतालयतीर्थ—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५८।१ (जहाँ चन्दना नदी प्राची हो जाती है), वाम० ३४।४७।

भूतेश्वर—(१) (कश्मीर में भूथीसर) नीलमत० १३०९, १३२४, १३२७, राज० १।१०७, २।१४८, ह० चि० ४।८५। यह नन्दि-क्षेत्र के अन्तर्गत है। हरमुख की चोटी से दक्षिण-पूर्व फैले हुए पर्वत पर भूतेश शिव का निवास है। आइने अकबरी, जिल्द २, पृष्ठ ३६४; (२) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१०, पद्म० १।३७।१३; (३) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६८।१९।

भूमिचण्डेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) अग्नि० ११२।४।

भूमितीर्थ—अग्नि० १०९।१२।

भृगु-आश्रम—(नर्मदा के उत्तरी तट पर) स्कन्द० १।२।३।२-६।

भृगुकच्छ—(नर्मदा के उत्तरी तट पर) देखिए 'भरुकच्छ' के अन्तर्गत। यहाँ बलि ने अश्वमेधयज्ञ किया था (भागवत० ८।१२।२)।

भृगुकुण्ड—(स्तुतस्वामी के अन्तर्गत) वराह० १४८।४८।

भृगुतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।२३-६०, कूर्म० २।४२।१-६, पद्म० १।२०।२३-५७। दे (पृ० ३४) के मत से यह जबलपुर से पश्चिम बारह मील की दूरी पर भेड़ाघाट पर है, जिसके मन्दिर में ६४ योगिनियाँ हैं। वन० ९९।३४-३५ (इसी स्थान पर परशुराम ने राम द्वारा ले ली गयी शक्ति को पुनः प्राप्त किया था)।

भृगुतुङ्ग—(१) (एक पर्वत पर वह आश्रम जहाँ भृगु ने तप किया था) वायु० २३।१४८ एवं ७७।८३, वन० ८४।५०, ९०।२३, १३०।१९; (२) वि० ध० सू० ८५।१६, कूर्म० २।२०।२३, मत्स्य० २२।३१ (श्राद्ध के लिए उत्तम), जो नन्द पण्डित के मत से अमरकण्टक के पास है तथा अन्य लोगों के मत से हिमालय में; (३) (गण्डकी के पूर्वी तट पर)

वराह० १४६।४५-४६; (४) (गुर्जर देश में) स्कन्द०, काशी० ६।२५; (५) (वितस्ता एवं हिमवान् के पास) वाम० ८१।३३।

भृंगीश्वर लिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द०, काशी० ३३।१२९ एवं लिंग० (तीर्थकल्प० पृ० ८४)।

भेदगिरि—(गंगोद्भेद नामक धारा से पवित्र) राज० १।३५, स्टीनस्मृति, पृ० १८६-१८७।

भेदादेवी—(गंगोद्भेद के पास कश्मीर में श्रीनगर के पश्चिम आधुनिक बुदब्रोर) नीलमत० १५२२।

भैरव—(एक तीर्थ) मत्स्य० २२।३१।

भैरवेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० ११९२। १३७।

भोगवती या वासुकितीर्थ—(१) (प्रयाग के अन्तर्गत) यह प्रजापति की वेदी कही जाती है; वन० ८५।७७, मत्स्य० १०६।४३ एवं ११०।८, अग्नि० १११।५, नारदीय० २।६३।९५; (२) (इक्ष्वाकु कुल के ककुत्स्थ की राजधानी) कालिकापुराण ५०।४।

म

मकुणा—(ऋक्ष से निकली हुई नदी) वायु० ४५।१०१।

मंगला—(गया में देवीस्थान) देवीभागवत ७।३८।२४।

मंगलप्रस्थ—(पहाड़ी) भाग० ५।१९।१६।

मंगलासंगम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२२। ९४ एवं १०० (इसे गोविन्द भी कहा जाता है)।

मंगलेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० २।९२।३३।

मंकुटी—(ऋक्षवान् से निकली ई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।३१।

मञ्जुला—(एक नदी) भीष्म० ९।३४।

मणिकर्णी—(या मणिकर्णिका) (वाराणसी के अन्तर्गत) मत्स्य० १८२।२४, १८५।६९, नारदीय० २।४०।८७ एवं ४९।४४, पद्म० ६।२३।४४।

मणिकर्णीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) नारद० २।४९।४५, लिंग० (ती० कल्प०, पृ० १०३)।

मणिकुण्ड—(स्तुतस्वामी के अन्तर्गत) वराह० १४८। ५२।

मणिमान्—या मणिमन्त (देविका नदी के पास) वन० ८२।१०१, पद्म० १।२५।८, वाम० ८१।१४।

मणिमती—(नदी) मत्स्य० २२।३९ (श्राद्ध के लिए अति उपयोगी)। बार्ह० सू० (१४।२०) का कथन है कि यह एक पर्वत है।

मणिमतीभद्र—वाम० ९०।६ (यहाँ शिव को शम्भु कहा जाता है)।

मणिमतीपुरी—(यह वातापीपुरी एवं दुर्जया के नाम से भी प्रसिद्ध थी) वन० ९६।१ एवं ९९।३०-३१।

मणिनाग—वन० ८४।१०६, पद्म० १।३८।२४।

मणिपूरगिरि—(स्तुतस्वामी के अन्तर्गत) वराह० १४८।६३।

मण्डवा—वायु० ७७।५६ (श्राद्ध के लिए अति उपयुक्त पहाड़ी)।

मण्डलेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६६)।

मतङ्गपद—(गया के अन्तर्गत) नारद० २।४४।५७, वायु० १०८।२५।

मतङ्गस्याश्रम—(१) (गया के अन्तर्गत) वन० ८४। १०१, अग्नि० ११५।३४; (२) (वाराणसी में) वन० ८७।२५।

मतङ्गस्य केदार—वन० ८८।१७, पद्म० १।३९।१५।

मतङ्गवापी—(१) (गया के अन्तर्गत) वायु० १११। २३-२४, अग्नि० ११५।३४, नारद० २।४५।१००, वि० ध० सू० ८५।३८; (२) (कोशला में) वायु० ७७।३६; (३) (कैलास पर) ब्रह्माण्ड० ३।१३। ३६।

मतङ्गेश—(१) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० १११।३५।

मतङ्गेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ८७)।

मथुरा—देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड ४, अध्याय १५ एवं ऐं० जि० (पृष्ठ ३७३-३७५ मथुरा एवं वृन्दावन के लिए)।

मत्स्यनदी—(पवित्र नदी) मत्स्य० २२।४९।

मत्स्यशिला--(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।७९-८३।

मत्स्योदपान—नृसिंह० (ती० कल्प०, पृष्ठ २५१)।

मत्स्योदरी—(वाराणसी में कपिलेश्वर के दक्षिण एवं ओंकारेश्वर के पास) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५८-५९), स्कन्द० ४।२३।१२० एवं ४।७३।१५५। त्रिस्थलीसेतु (पृ० १४०) का कथन है—'मत्स्याकारं काशीक्षेत्रम् उदरे अस्या इति व्युत्पत्त्या गंगैव मत्स्योदरी ज्ञेया।'

मदोत्कट—पद्म० ६।१२९।९ (जम्बू द्वीप के १०८ तीर्थों में ९वाँ)।

मद्रवा—(एक पहाड़ी) ब्रह्माण्ड० ३।१३।५२ एवं ५७। सम्भवतः यह मण्डवा ही है।

मद्रा--(नदी, विन्ध्य से निकली हुई) वायु० ४५।१०२।

मधुकुल्या—(नदी, गया में) वायु० १०६।७५, ११२।३०।

मधुकैटभलिङ्ग—(वाराणसी में) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४३)।

मधुनन्दिनी—(नदी) वाम० ८१।१६।

मधुपुर—(पृथूदक के अन्तर्गत) पद्म० १।२७।३८।

मधुपुरी—(मथुरा) भाग० ७।१४।३१, विष्णु० १।१२।२-४।

मधुमती—(१) (कश्मीर में एक नदी) नीलमत० १४४ (वितस्ता में मिलती है), १४४४ (इस पर दुर्गा नामक तीर्थ है जो शाण्डिल्य द्वारा स्थापित हुआ था), विक्रमांकदेवचरित १८।५; (२) (एक नदी जो बंगाल के नदिया और बाकरगंज जिलों से होकर बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिर जाती है; (३) (वह नदी जो मध्यप्रदेश में सिन्धु से मिलती है); देखिए मालती-माधव (९वाँ अंक, श्लोक २ के पश्चात् गद्यांश)।

मधुरा—(१) (मथुरा, शूरसेन देश की राजधानी) ब्रह्माण्ड० ३।४९।६, विष्णु० १।१२।४ एवं रामा० ७।७०।५; (२) (आधुनिक मदुरा, पाण्ड्य लोगों की प्राचीन राजधानी जिसे दक्षिण मथुरा कहा जाता था, देखिए डा० एस० कृष्णस्वामी आयंगर द्वारा लिखित 'मणिमेखलई इन इट्स हिस्टारिक सेटिंग', पृ० २०। मधुरा मथुरा का ही तमिल ढंग का उच्चारण है। देखिए मीथिक सोसाइटी का जर्नल, सन् १९४२, जिल्द ३२, पृ० २७०-२७५ (तमिल साहित्यिक परम्परा एवं मदुरा के लिए) एवं प्रो० दीक्षितार का 'सिलप्पदिकारम्' (पृष्ठ २०१-८) जहाँ इसका वर्णन है और पृ० २५५ जहाँ कन्नकी के शाप से मदुरा के विनाश का वर्णन है।

मधुरातीर्थ—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३५।१८।

मधुवन—(१) (मथुरा में) वन० १।१२ एवं ३१ (यहाँ मधु नामक राक्षस रहता था) कूर्म० २।३६।९, वराह० १५३।३०, वाम० ८३।३१, ९०।१४, भाग० ४।८।४२ (यमुना के तटों पर), ९।११।१४ (शत्रुघ्न ने मधुवन में मथुरा बसायी), ग्राउस ने 'मथुरा' नामक पुस्तक में इसे महोली कहा है जो मथुरा से दक्षिण-पश्चिम पाँच मील दूर है (पृष्ठ ३२, ५४); (२) (कुरुक्षेत्र के सात वनों में एक) वाम० ३४।५।

मधुवती—(एक देवीस्थान) पद्म० १।२६।८८।

मधुस्रवा—(नदी) (१) (गया में) वायु० १०६।७५, ११२।३०।३४, नारदीय० २।४७।२७; (२) (सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ३४।७, ३९।३६-३८, वन० ८३।१५०।

मधुविला—(नदी) समंगा। वन० १३५।१।

मधूकवन--(अगस्त्याश्रम एवं पंचवटी के मध्य) रामा० ३।१३।२३।

मधूवका—(नदी) वाम० ५७।८०।

मध्यम पुष्कर—(देखिए पुष्कर) पद्म० ५।१९।३८, वाम० २२।१९।

मध्यमेश्वर लिङ्ग—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३२।१२, १।३४।१-२, लिंग० १।९२।९१ तथा १३५, पद्म० १।३४।१० (वाराणसी के पाँच मुख्य लिंगों में एक); (२) (श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५१।

मध्यन्दिनीयक तीर्थ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७७।४६ (वैकुण्ठ तीर्थ के पश्चिम में)।

मध्वतीर्थ—गरुड़० उत्तर खण्ड, ब्रह्मकाण्ड २६।४६-४७ (यह कुछ संदेहात्मक है)।

मडवावर्त नाग—(कश्मीर में वितस्ता पर) ह० चि० १०।१५२।

मनुजेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० १०४)।

मनोजव—पद्म० १।२६।८७, वन० ८३।९३।

मनोहर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।७, कूर्म० २।४२।२०, पद्म० १।२१।७।

मन्दगा—(शुक्तिमान् से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।३२, वायु० ४५।१०७।

मन्दाकिनी—(१) (चित्रकूट पर्वत के पास एवं ऋक्षवान् से निकली हुई नदी) वन० ८५।५८, अनु० २५।२९, रामा० २।९३।८ एवं ३।५।३७, वायु० ४५।९९, अग्नि० १०९।२३, ब्रह्माण्ड० २।१६।३०, मत्स्य० ११४।२५; (२) (वारा० के अन्तर्गत एक उपतीर्थ) ती० कल्प०, पृष्ठ ८६; (३) (कैलास के चरण में मन्दोदक झील से निकली हुई नदी) मत्स्य० १२१।४, ब्रह्माण्ड० २।१८।१; (४) (किष्किन्धा के पास) रामा० ४।१।९५।

मन्दवाहिनी—(शुक्तिमान् पर्वत से निर्गत नदी) मत्स्य० ११४।३२, वायु० ४५।१०७।

मन्दर—(पर्वत) विष्णु० २।२।१८ (यह मेरु के पूर्व में है), मार्कण्डेय० ५१।१९; वन० १३९।५, १४२।२, १६३।४ (पूर्व में समुद्र तक फैला हुआ) एवं ३१।३३, उद्योग० ११।१२, लिंग० २।९२।१८७ एवं १८८, ६-१२ (देवतागण अन्धक से डरकर मन्दर में छिप गये थे), नारदीय० २।६०।२२, वाम० ५१।७४ (पृथूदक से शिव मन्दर पर आये और तप किया), मत्स्य० १८४।१८।१३।२८ (मन्दर पर्वत पर देवी का नाम कामचारिणी है), भाग० ७।३।२ एवं ७।७।२ (हिरण्यकशिपु यहाँ रहता था)।

मन्दार—वराह० १४३।१-५१ (मन्दार-माहात्म्य), वराह० (१४३।२) का कथन है कि यह गंगा के दक्षिणी तट पर एक तीर्थ है, विन्ध्य पर अवस्थित है और सभी भागवतों का प्यारा है। यह केवल द्वादशी तथा चतुर्दशी को फूल देता है (श्लोक १३) ती० कल्प० पृष्ठ (२१७-२१८)। ऐं० जि० (पृष्ठ ५०८) का कहना है कि यह बिहार में भागलपुर के दक्षिण में है।

मन्दोदरीतीर्थ—मत्स्य० २२।४१ (दर्शन मात्र से पाप कटते हैं और श्राद्ध अत्यन्त पुण्यदायक होता है)।

मन्त्रेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३। १३७।

मन्युतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६२।१, भाग० १०।७९।२१ (माहिष्मती एवं प्रभास के मध्य में कहीं)।

मरुद्गण—अनु० २५।३८।

मरुद्वृधा—(१) (नदी) ऋ० १०।७५।५। निरुक्त (९।२६) ने इसे ऋ० (१०।७५।५) में उल्लिखित सभी नदियों की उपाधि माना है और अर्थ लगाया है कि 'जो वायु या मरुतों द्वारा बाढ़ में लायी गयी हो।' जैसा कि स्टीन ने कहा है, यह नदी मरुवर्द्धन नाम से विख्यात है तथा चिनाब की सहायक है (जे० आर० ए० एस०, १९१७, पृष्ठ ९३-९६), भाग० ५।१९।१८; (२) पद्म० (६।२२४।४ एवं १९) में कावेरी को म द्वृधा कहा है।

मरुस्थल—(पुरुषोत्तम के अन्तर्गत) नारद० २।६०।२२।

मर्करीतीर्थ—(त्रिपुरी, अर्थात् आधुनिक तेवर, नर्मदा के तट पर, जबलपुर से सात मील पश्चिम) तीर्थसार (पृष्ठ १०१) द्वारा उल्लिखित।

मलद—(कश्मीर में) पद्म० १।२५।४।

मलन्दरा—(नदी) मत्स्य० २२।४१ (यहाँ का श्राद्ध अक्षय होता है)।

मलप्रहारिणी—या मलापहारिणी (बेलगाँव के दक्षिण-पश्चिम लगभग २२ मील सह्य से निकली हुई नदी) आधुनिक मलप्रभा, स्कन्द० (तीर्थसार पृष्ठ ८० एवं १०१), देखिए बम्बई का गजेटियर, जिल्द २१, पृष्ठ

१२ जहाँ दन्तकथा दी हुई है। अय्या वोल या अँवल्ली या ऐहोल नाम का प्रसिद्ध गाँव इस नदी पर है जो बदामी के पूर्व है। देखिए इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द ८, पृष्ठ २४३, जिसमें ऐहोल शिलालेख ६३४ ई० का उल्लेख है। परशुराम ने अपनी रक्तरंजित कुल्हाड़ी मलप्रभा में धोयी थी। देखिए बम्बई का गजेटियर, जिल्द २३, पृष्ठ ५४५।

मलय—(भारत के सात प्रसिद्ध पर्वतों में एक) वन० २८२।४३, ३१३।३२, भीष्म० ९।११, कूर्म० १।४७।२३ (इसके शिखर से समुद्र देखा जा सकता है), वायु० ४५।८८, ब्रह्म० २७।१९। रघुवंश (४।४५-५१) में आया है कि मलय कावेरी के तट पर है जहाँ यह समुद्र में गिरती है और यहाँ एला एवं चन्दन के वृक्ष उगते हैं, इसे ताम्रपर्णी भी कहा गया है। यह पाण्ड्य देश का पर्वत है (रघुवंश ४।४९-५१), अगस्त्य का यहाँ पर आश्रम था।

मलयज—पद्म० ६।१२९।१२ (विष्णु एवं शिव के तीर्थों में एक)।

मलयार्जुनक—(यमुना के तट पर मथुरा के अन्तर्गत एक तीर्थ) वराह० १५७।१।

मल्लक—(गंगा के पश्चिमी तट पर) पद्म० ५।५।७४ (जहाँ सती ने अपने को जलाया था)।

मलापहा—(दक्षिण में एक नदी) इसके तट पर मुनिपर्णा नामक नगरी है जहाँ 'पंचलिंग महेश्वर' हैं।

मल्लिकाख्य—(एक बड़ा पर्वत) पद्म० ४।१७।६८।

मल्लिकार्जुन—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५५।

मल्लिकेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।६।

महत्कुण्ड—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ७०)।

महती—(पारियात्र से निर्गत नदी) मत्स्य० ११४।२३, वायु० ४५।९७।

महाकाल—(१) (उज्जयिनी में शिव, १२ ज्योतिर्लिंगों में एक) वन० ८२।४९, मत्स्य० १३।४१, २२।२४, १७९।५ (अवन्ति देश में महाकालवन में शिव एवं अन्धकासुर में युद्ध हुआ था), ब्रह्म० ४३।६६, स्कन्द० ४।१।९१; (२) (वारा० में एक लिंग) लिंग० १।९२।१३७।

महाकालवन—(अवन्ति देश में) मत्स्य० १७९।५।

महाकाशी—वामन० (ती० कल्प० पृ० २३९)।

महाकूट—(श्राद्ध के लिए उपयुक्त एक पहाड़ी) वायु० ७७।५७, ब्रह्माण्ड० ३।१३।५८। यह संदेहात्मक है कि यह वही है जो बदामी के पूर्व की पहाड़ियों पर मन्दिरों का समूह है, जिसे आज भी महाकूट कहा जाता है। स्थानीय परम्परा के अनुसार यह वह स्थल है जहाँ वातापी एवं इल्वल नामक दो राक्षस भाई मारे गये थे। देखिए इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द १०, पृष्ठ १०२-१०३, जहाँ ६९६-७३४ ई० के लगभग के एक शिलालेख का उल्लेख है।

महागङ्गा—अनु० २५।२२ (ती० कल्प० पृ० २४६), वि० ध० सू० ८५।२३ (इसकी टीका ने उसे अलकनन्दा माना है।

महागौरी—(विन्ध्य से निर्गत एक नदी) मत्स्य० ११४।२८, वायु० ४५।१०३।

महातीर्थ—कूर्म० २।३७।१२।

महानदी—(१) (वह नदी जो विन्ध्य से निकलकर उड़ीसा में कटक के पास बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है) ब्रह्माण्ड० ४६।४५, कूर्म० २।३५।२५। ब्रह्माण्ड० (२।१६।२८) के अनुसार यह पारियात्र से निकलती है; (२) (गया के अन्तर्गत नदी, सम्भवतः फल्गु) पद्म० १।३८।४, वायु० १०८।१६-७, ११०।६, अग्नि० ११५।२५, वन० अध्याय ८४; (३) (द्रविड़ देश में) भाग० ११।५।४०।

महानन्दा—(बंगाल के उत्तर पूर्व में दार्जिलिंग के पास हिमालय से निकली हुई और मालदा जिले में गंगा से मिलनेवाली एक नदी) देखिए इम्पीरियल गजेटियर, जिल्द २० पृष्ठ ४१३-४१४। (पूर्णियाँ जिले के अन्तर्गत)

महानल—(मृत्यु द्वारा स्थापित एक लिंग, गो० के अन्तर्गत) ब्रह्म० ११६।१।

महानाद--मत्स्य० २२।५३, यहाँ का दान अत्यन्त फलदायक है।

महापद्मनाग--(कश्मीर में एक झील) नीलमत० ११२०-११२२, ११५७ (एक योजन लम्बी और चौड़ी)। यह उल्लोल एवं आधुनिक उल्लूर झील है। देखिए राज० ४।५९१, नीलमत० ११२३-११५९ जहाँ दुष्ट षड्गुल नाग की गाथा है। बुहलर कृत 'कश्मीर रिपोर्ट' पृष्ठ ९-१०।

महापाशुपतेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ १०५)।

महापुर--(एक तीर्थ) अनु० २५-२६।

महाबल--(१) (सतारा जिले में महाबलेश्वर) पद्म० ६।११३।२९। देखिए जे० बी० आर० ए० एस०, जिल्द १०, पृष्ठ १-१८ जहाँ महाबलेश्वर माहात्म्य का वर्णन है; (२) (गोकर्ण का महाबलेश्वर) देखिए कदम्बराज कामदेव का गोकर्ण दानपत्र (१२३६ ई०, एपि० इण्डि० जिल्द २७, पृष्ठ १५७)।

महाबोधि तरु--(बोध गया का पीपल वृक्ष जिसके नीचे बुद्ध को सम्बोधि प्राप्त हुई) अग्नि० ११५।३७, मत्स्य० २२।३३, नारद० २।४५।१०३, वायु० १११। २६, वायु० अ० १११ के श्लोक २८-२९ इस तरु को सम्बोधित हैं। पद्म० (६।११७।२६-३०) ने बतलाया है कि बोधि तरु किस प्रकार शनिवार को स्पर्श के योग्य एवं अन्य दिनों स्पर्श के अयोग्य है। देखिए डा० बरुआ ('गया ऐण्ड बुद्ध गया', जिल्द १, पृष्ठ २३४), वायु० १११।२७-२९ की स्तुतियाँ यहाँ उद्धृत हैं, और देखिए वही, जिल्द २, पृ० २-९, जहाँ इस वृक्ष के इतिहास का उल्लेख है। और देखिए कनिंघम का 'महाबोधि' नामक विख्यात ग्रन्थ जहाँ धर्मपाल के शिलालेख (८५० ई०) में उल्लिखित महाबोधि की चर्चा पृष्ठ ३ में की गयी है।

महाभैरव--(आठ शिवतीर्थों में एक) मत्स्य० १८१। २९, कूर्म० २।४४।३, देवल० (ती० कल्प०, पृ० २५०)।

महामुण्डा--(वाराणसी के अन्तर्गत)। लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५६)।

महामुण्डेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५६)।

महारुद्र--मत्स्य० २२।३४।

महालक्ष्मेश्वर--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६९)।

महालय--वन० ८५।९२ (दानं दद्याद् महालये), वि० ध० सू० ८५।१८, मत्स्य० १८१।२५, कूर्म० २।२०।३३ (श्राद्ध के लिए अति उपयुक्त), २।३७।१-४ (जहाँ पाशुपतों ने महादेव की पूजा की), पद्म० ५।११।१७, ब्रह्माण्ड० ३।१३।८२-८४, वामन० ९०।२२, पद्म० १।३७।१६।

महालयकूप--(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६३)।

महालय लिंग--(पितरों का तीर्थ) मत्स्य० १३।३३, २२।३४ (यहाँ पर देवी को कपिला कहा जाता है और यहाँ का श्राद्ध अत्यन्त फलदायक होता है)।

महावन--(मथुरा के १२ वनों में ८वाँ वन, व्रज) वराह० १५३।४०, १६१।८। आधुनिक महावन बस्ती यमुना के बायें किनारे के सन्निकट है। कृष्ण ने अपना बचपन यहीं बिताया था।

महावेणा--पद्म० ५।११।२७।

महाशाल--मत्स्य० २२।३४, पद्म० ५।११।२७।

महाशालनदी--मत्स्य० २२।४२।

महाश्रम--वन० ८४।५३, पद्म० १।३२।१७।

महाशोण--(शोण भद्र) सभापर्व २०।२७।

महासर--महाभारत (ती० कल्प०, पृ० २४६)।

महास्थल--(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १४०।२२। पाँच स्थलों में एक; अन्य हैं अर्कस्थल, वीरस्थल, कुशस्थल तथा पुण्यस्थल।

महीसागरसंगम--स्कन्द० १।२।३।२६।

माहिष्मती--(नर्मदा पर) पार्जिटर ने इसे ओंकार मान्धाता (नदी द्वीप) तथा हाल्दार आदि ने महेश्वर कहा है। मान्धाता द्वीप मध्य प्रदेश के नेमाड़ जिले से

सम्बन्धित है। उद्योग० १९।२३-२४, १६६।४, अनु० २१६, पद्म० २।९२।३२, ६।११५।४, भाग०९।१५।२२ (सहस्रार्जुन ने रावण को बन्दी बनाया था)। महाभाष्य (जिल्द २, पृष्ठ ३५, उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं सम्भावयते), पाणिनि (३।१।२६) के वार्तिक १० पर। सुत्तनिपात (एस०बी०ई०, जिल्द १०, भाग २, पृष्ठ १८८) में आया है कि बावरी के शिष्य बुद्ध से मिलने के लिए उत्तर जाते हुए सर्वप्रथम अटक के पतिट्ठाण को जाते हैं और उसके उपरान्त माहस्सती को। देखिए डा० फ्लीट का 'महिसमण्डल ऐण्ड माहिष्मती' (जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृष्ठ ४२५-४४७) एवं सुबन्धु का बर्वानी दानपत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द १९, पृष्ठ २६१, दानपत्र ५वीं शताब्दी का है।

महाह्रद—(बदरीनाथ के पास) कूर्म० २।३७।३९, अनु० २५।१८ (तीर्थकल्प०, पृष्ठ २४५-२४६)।

मही—(१) (हिमालय से निकली हुई दस महान् नदियों में एक) 'मिलिन्द प्रश्न' (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृष्ठ १७१ में चर्चित); मही पाणिनि (४।२।८७) के नद्यादिगण में उल्लिखित है, (२) (ग्वालियर रियासत से निकली हुई और खंभात के पास दक्षिणाभिमुख समुद्र में गिरनेवाली एक नदी) स्कन्द० १।२।३।२३, १।२।१३।४३-४५ एवं १२५-१२७, वन० २२२।२३, मार्कण्डेय० ५४।१९ (पारियात्र से निकली हुई) यह 'टालेमी' पृष्ठ १०३ की मोफिस एवं 'पेरिप्लस' की मईज है।

महेन्द्र—(यह एक पर्वत है जो गंगा या उड़ीसा के मुखों से लेकर मदुरा तक फैला हुआ है) भीष्म० ९।११, उद्योग० ११।१२, मत्स्य० २२।४४, पद्म० १।३९।१४ (इस पर परशुराम का निवास था), वन० ८५।१६, भाग० ५।१९।१६, वाम० १३।१४-१५, ८३।१०-११, कूर्म० १।४७।२३-२४ (बार्हस्पत्य सूत्र ३।१२४ के मत से यह शाक्त क्षेत्र है)। गंजाम जिले में लगभग ५००० फुट ऊँचा महेन्द्रगिरि का एक शिखर है। रामा० (४।६७।३७) में आया है कि यहीं से हनुमान् कूदकर लंका में पहुँचे थे। पार्जिटर (पृ० २८४) का कथन है कि यह गोदावरी एवं महानदी के मध्य में पूर्वी घाट का एक भाग और बरार की पहाड़ियों के रूप में है। किन्तु यह कथन संदेहात्मक है। रामा० (४।४१।१९-२१) ने पाण्ड्यकवाट के पश्चात् महेन्द्र का उल्लेख करके इसे समुद्र में प्रवेश करते ए व्यंजित किया है, किन्तु भाग० १०।७९।११-१२ ने इसे गया के पश्चात् और सप्तगोदावरी, वेणा एवं पम्पा के पहले लिखा है। समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भाभिलेख में इसका उल्लेख है (कार्पस इन्सक्रप्सनम् इण्डिकेरम्, जिल्द ३, पृ० ७)।

महेश्वरधारा—वन० ८४।११७, पद्म० १।३८।३४।

महेश्वरकुण्ड—(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।६७।

महेश्वरपद—पद्म० १।३८।३६, वन० ८४।११९।

महोदय—(सामान्यतः इसे कन्नौज कहा जाता है) वाम० ८३।२५, ९०।१३ (यहाँ हयग्रीव रहते थे), देखिए भोजदेव प्रथम का दौलतपुर दानपत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द ५, पृष्ठ २०८ एवं २११)। इसे कुशस्थल भी कहा जाता था; एपि० इण्डि० (जिल्द ७, पृष्ठ २८ एवं ३०) जहाँ यह व्यक्त है कि राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय ने महोदय का नाश किया था, किन्तु गुर्जर प्रतीहार भोजदेव के बरा ताम्रपत्र में (८३६-७ ई०) महोदय को स्कन्धावार (युद्धशिबिर) कहा गया है और वहीं कान्यकुब्ज को पृथक् रूप से व्यक्त किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि दोनों एक नहीं हैं (एपि० इण्डि०, जिल्द १९, पृष्ठ १७)।

मांकुणिका—(मलय के पास) वाम० ८३।१६।

मागधारण्य—कूर्म० २।३७।९, वाम० ११।७, ८४।३५।

माठरवन—(पयोष्णी के पास) वन० ८८।१०, वायु० ७७।३३, ब्रह्माण्ड० ३।१३।३३।

माणिक्येश्वर—(कश्मीर में) पद्म० ६।१७६।८०।

माण्डव्य—(एक तीर्थ जहाँ देवी को माण्डव्या कहा गया है) मत्स्य० १३।४२।

माण्डव्येश—(वाराणसी के अन्तर्गत) ती० कल्प०, पृ० ११९।

मातलीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ७६)।

मातंगक्षेत्र—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०। ५८-५९ (कौशिकी में मिलने वाली एक धारा)।

माता—शल्य० अ० ४६, जहाँ बहुत-सी माताओं का वर्णन है।

मातृगृह—(जहाँ श्राद्ध से आनन्त्य प्राप्त होता है) मत्स्य० २२।७६।

मातृतीर्थ—(१) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८३।५८, पद्म० १।२६।५४; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४१।४०; (३) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ११२।१।

माधवतीर्थ—(श्रीशैल पर) पद्म० ६।१२९।१२।

माधववन—मत्स्य० १३।३७ (यहाँ पर देवी सुगन्धा कही जाती है)।

मानस—(१) (हिमालय में एक झील जो कैलास के उत्तर एवं गुरला मान्धाता के दक्षिण, बीच में अवस्थित है) वन० १३०।१२, ब्रह्माण्ड० २।१८।१५ एवं मत्स्य० १२२।१६।१७ (जिससे सरयू निकलती है), वाम० ७८।३, ९०।१ (जहाँ विष्णु मत्स्य रूप में प्रकट हुए थे)। देखिए 'कैलास' के अन्तर्गत। स्वेन हेडिन ने 'ट्रांस-हिमालय' (१९१३, जिल्द ३, पृष्ठ १९८) में लिखा है—'पृथ्वी पर उस क्षेत्र से बढ़कर कोई अन्य स्थान नहीं है जो मानसरोवर, कैलास एवं गुरला मान्धाता के नामों से व्यक्त है, जो हीरों के बीच वैदूर्यों (हरे रत्नों) का गुम्फन है।' मानस झील समुद्र से १४,९५० फुट ऊँची है, (२) (कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।२९; (३) (मथुरा के पश्चिम) वराह० १५४।२५; (४) (गंगा के उत्तर प्रयाग के पास) मत्स्य० १०७।२; (५) (कश्मीर में आधुनिक मानसबल) विक्रमाङ्कदेवचरित १८।५५, कश्मीर रिपोर्ट, पृष्ठ ९; (६) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।८, पद्म० १।२१।८; (७) (गया के अन्तर्गत उत्तर मानस एवं दक्षिण मानस कुण्ड) वायु० १११। २, ६, ८ एवं २२।

मनुलिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० कल्प० पृ० ११४)।

मानुष—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२६।६०-६३, वाम० ३५।५०-५७।

मायापुरी—(गंगाद्वार या हरिद्वार) मत्स्य० १३।३४ (यहाँ देवी को कुमारी कहा जाता है), २२।१०, वायु० १०४।७५, गरुड़० १।८१।७, स्कन्द० ४।७।११४ (केचिद्वदुर्हरिद्वारं मोक्षद्वारं ततः परे। गंगाद्वार च केप्याहुः केचिन्मायापुरं पुनः ॥)। माया नन्द्यादिगण में आया है (पाणिनि ४।२।९७), यह भारत की सात तीर्थ-नगरियों में एक है। ह्वेनसांग ने इसे मोयुलो (मायुर) कहा है। अब गंगा नहर के तट पर मायापुर का अवशेष रह गया है। देखिए ऐं० जि०, पृष्ठ ३५१-३५४।

मायातीर्थ—(कुब्जाम्रक के अन्तर्गत एवं गंगा पर) वराह० १२५।११०, १२६।३३।

मारुतालय—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।८६, कूर्म० २।४१।४१ (मातृतीर्थ के पश्चिम), पद्म० १।१८।८१।

मार्कण्डेयतीर्थ—(१) (गोमती एवं गंगा के संगम पर वाराणसी जिले में) वन० ८४।८१, पद्म० १।३२।४१-४२। प्रो० आयंगर (ती० कल्प०, पृ० २९१) का यह कथन कि यह सरयू-गंगा के संगम पर है, ठीक नहीं है; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १४५।१।

मार्कण्डेयह्रद—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६७); (२) (पुरुषोत्तमतीर्थ के पास) ब्रह्म० ५६।७३, ७३।२, ६०।९ (विशेषतः चतुर्दशी पर स्नान करने से सब पाप कट जाते हैं), नारद० २।५५।२०-२२।

मार्कण्डेयेश्वर—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१५४-१५५; (२) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।११; (३) (पुरुषोत्तम के अन्तर्गत) नारद० २।५५।१८-१९।

मारीचेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) ती० कल्प०, पृ० ७१।

मार्जार—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ८४।१९।

मार्तण्ड—(कश्मीर में सूर्य का मन्दिर) इस्लामाबाद के उत्तर-पूर्व पाँच मील दूर आधुनिक मार्तन या मटन। इसका विख्यात नाम 'बवन' (भवन) है। यहाँ से कश्मीर की अत्यन्त सुन्दर शोभा दृष्टिगत होती है। ८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राजा ललितादित्य द्वारा निर्मित मन्दिर आज भग्नावशेष है। इस मन्दिर की अनुकथा के अनुसार विमला एवं कमला नामक दो धाराएँ एक मील ऊपर से निकलती हैं। देखिए राज० ४।१९२, नीलमत० १०७३ (विमल नाग), स्टीन द्वारा अनूदित राजतरंगिणी, जिल्द १, पृ० १४१ एवं जिल्द २, पृष्ठ ४६५-४६६। आइने अकबरी (जिल्द २, पृष्ठ ३५८-३५९) ने मटन का उल्लेख किया है। यह तीर्थ अब तक कश्मीर के सर्वोत्कृष्ट तीर्थों में गिना जाता रहा है।

मार्तण्डपादमूल—(गया के अन्तर्गत) ब्रह्म० (तीर्थ-कल्प०, पृष्ठ १६६)।

माला—(नदी) सभापर्व २०।२८।

मालार्क—(साभ्रमती के अन्तर्गत सूर्य का तीर्थस्थल) पद्म० ६।१४१।१ एवं १४२।१।

मालिनी—(नदी, जिस पर कण्वाश्रम था) आदि० ७०।२१ एवं ७२।१०। ह्वेनसाँग के मत से इसी नदी पर रोहिलखण्ड के पश्चिम में मड़ावर नामक जिला अवस्थित था। देखिए ऐं० जि०, पृष्ठ० ३४९-३५०।

माल्यवान्—(तुंगभद्रा पर अनेगुण्डी नामक पहाड़ी) रामा० ३।४९।३१, ४।२७।१-४ (इसके उत्तर प्रस्रवण नामक गहरी गुफा में राम ने वर्षा ऋतु में चार मासों तक निवास किया था), वन० २८०।२६, २८२।१ (किष्किन्धा से बहुत दूर नहीं)।

माल्यवती—(चित्रकूट के पास) रामा० २।५६।३८।

मासेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।७७।

माहेश्वर—(नर्मदा के उत्तरी तट पर इन्दौर के पास आज का नगर) मत्स्य० १८८।२, पद्म० १।१५।२। इम्पी० गजे० (जिल्द १७, पृष्ठ ७) के अनुसार यह प्राचीन माहिष्मती है।

माहेश्वरपुर—(जहाँ वृषभध्वज अर्थात् शिव की पूजा होती थी) वन० ८४।१२९-१३०।

मित्रपद—(गंगा पर एक तीर्थ) मत्स्य० २२।११।

मित्रवन—(उड़ीसा में कोणार्क या साम्बपुर) स्कन्द०, प्रभासखण्ड १।१०।३ (आदित्य के स्थान तीन हैं—मित्रवन, मुण्डीर एवं साम्बादित्य)।

मित्रावरुण—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४७)।

मित्रावरुणयोराश्रम—(कारपवन के पास यमुना पर एक नदी) शल्य० ५४।१४-१५।

मिरिकावन—(मेकल के पास) ब्रह्माण्ड० ३।७०।३२।

मिश्रक—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२६।८५-८६, (व्यास ने यहाँ सभी तीर्थों को मिला दिया) वन० ८३।९१-९२, सम्भवतः पाणिनि (६।३।११७) का कोटरादिगण मिश्रक वन की ओर संकेत करता है।

मीनाक्षी—(मदुरा में मुख्य मन्दिर की देवी) देवीभागवत० ७।३८।११।

मुकुटा—(ऋष्यवन्त से निर्गत नदी) मत्स्य० ११४।२६, १३।५०, (यहाँ देवी 'सत्यवादिनी' के रूप में पूजित होती है)।

मुक्तिक्षेत्र—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५।१०५।

मुक्तिमान्—(एक पर्वत) ब्रह्माण्ड० ३।७०।३२ (क्या यह शुक्तिमान् का नामान्तर है?)।

मुक्तिस्थान—(यथा—प्रयाग, नैमिष, कुरुक्षेत्र, गंगाद्वार, कान्ती, त्रियम्बक, सप्त-गोदावर आदि २६ हैं) स्कन्द० (काशीखण्ड ६।२१-२५)।

मुचुकुन्द—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५८।२८।

मुचुकुन्देश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ११४)।

मुंजवान्—(हिमालय की श्रेणी में एक पर्वत) आश्वमेधिक पर्व ८।१ (जहाँ शिव तपस्या करते हैं), ब्रह्माण्ड० २।१८।२०-२१ (जहाँ शिव रहते हैं और जहाँ से शैलोद झील एवं शैलोदा नदी निकलती है), वराह० २१३।१३ (मन्दर के उत्तर में)।

मुंजवट—(गंगा पर, जो एक शिवस्थान है) वन० ८५।६७, पद्म० १।३९।६३।

मुण्डपृष्ठ—(१) (गया में फल्गु के पश्चिमी तट पर स्थित एक पहाड़ी) कूर्म० २।३७।३९-४०, नारद० २।४५।९६, अग्नि० ११५।२२ एवं ४३-४४, वायु० ७७।१०२-१०३, १०८।१२ एवं १११।१५, ब्रह्माण्ड० ३।१३।११०-१११। महादेव ने यहाँ कठिन तप किया था। यह विष्णुपद की पहाड़ी के अतिरिक्त कोई अन्य स्थल नहीं है। यह गयायात्रा का केन्द्र है। गयासुर की अनुकथा के अनुसार इस पहाड़ी पर उसके सिर का पृष्ठभाग स्थित था। (२) (कश्मीर में एक पहाड़ी) नीलमत० १२४७-१२५४।

मुण्डेश—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ११६)।

मुर्मुरा—(अग्नि की माताओं के रूप में सात नदियों में एक) वन० २२२।२५।

मूजवान्—(१) (एक पर्वत) ऋ० (१०।३४।१) में सोम के पौधे को मौजवत कहा गया है और निरुक्त (९।८) ने व्याख्या की है कि मूजवान् एक पर्वत है जिस पर सोम के पौधे उत्पन्न होते हैं। अथर्ववेद में मूजवत् आया है और तक्मा (रोग के एक दुष्टात्मा) से मूजवान् एवं बाल्हिक के आगे चले जाने को कहा गया है। अथर्ववेद (५।२२।५) में 'मूजवंतः' आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के उत्तर-पश्चिम में यह कोई पर्वत है।

मूलतापी—(तापी नदी, जिसका नाम इसके उद्गमस्थल मुल्ताई से, जो मूलतापी का अशुद्ध रूप है, पड़ा है) मत्स्य० २२।३३ (मूलतापी पयोष्णी च)। मुल्ताई मध्य प्रदेश के बैतूल ज़िले में एक ग्राम है और इसमें एक पवित्र तालाब है जिससे तापी निकली है। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द १८, पृष्ठ २१।

मूलस्थान—(आधुनिक मुलतान) मल्लों की प्राचीन राजधानी। ऐं० ज़ि०, पृष्ठ २२०-२२४ एवं २३०-२३६। इसके कई नाम थे, यथा—काश्यपपुर, साम्बपुर, प्रह्लादपुर, आद्यस्थान (अलबरूनी—सचौ १।२९८)।

मूली—(महेन्द्र से निकली हुई नदी) मत्स्य० ११४।३१।

मृगकामा—(मानस झील से निकली हुई नदी) ब्रह्माण्ड० २।१८।७१।

मृगधूम—(यहाँ रुद्रपद है) पद्म० १।२६।९४, वन० ८३।१०१ (यह गंगा पर है)।

मृगशृंगोदक—(वाग्मती नदी पर) वराह० २१५।६४।

मृत्युञ्जय (विरज के अन्तर्गत) ब्रह्म० ४२।६।

मेकल—(मध्य प्रदेश की एक पर्वतश्रेणी) नर्मदा को मेकलकन्यका कहा जाता है।

मेकला—पद्म० ५।११।३४ (क्या यह नदी है?)।

मेकला—रामायण ४।४१।९, बार्ह० सू० १४।७ एवं १६।२ में यह एक देश कहा गया है।

मेघकर—मत्स्य० २२।४०, पद्म० ५।११।३४।

मेघनाद—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० २।९२।३१।

मेघङ्कर—(प्रणीता नदी पर एक नगर) पद्म० ६।१८१।५।

मेघराव—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१७।४।

मेखला—(मेघंकर नगर का एक तीर्थ) पद्म० ६।१८१।१६, मत्स्य० २२।४०-४१ (इससे प्रकट होता है कि मेखला मेघकर नगर का मध्य भाग मात्र है)।

मेधातिथि—(एक पवित्र नदी) वन० २२२।२३।

मेधावन—पद्म० १।३९।५२ (श्राद्धस्थल)।

मेधाविक—वन० ८५।५५।

मेरुकूट—नृसिंह० ६५ (तीर्थकल्प०, पृष्ठ २६५)।

मेरुवर—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।३२-३५।

मेहत्नु—(नदी) ऋ० १०।७५।६ (क्रुमु की एक सहायक)।

मैत्रेयीलिङ्ग—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ५७)।

मैनाक—(१) (बदरी के पास एक पर्वत) वन० १३९।१७, १४५।४४, अनु० २५।५९, ब्रह्माण्ड० ३।१३।७०, भाग० ५।१९।१६; (२) (गुजरात के पास पश्चिम का पर्वत) वन० ८९।११; (३) (सर-

स्वती के पास पर्वत) कूर्म० २।३७।२९। दे (पृष्ठ १२१) एवं प्रो० आयंगर (ती० कल्प०, पृष्ठ २९) के अनुसार यह शिवालिक की श्रेणी है। देखिए पार्जिटर (पृष्ठ २८७-२८८) जिन्होंने मैनाक नामक तीन पर्वतों की चर्चा की है जो उपर्युक्त से भिन्न हैं।

मोक्षकेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ११२)।

मोक्षराज—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६४।२५।

मोक्षतीर्थ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५२।६१ (ऋषितीर्थ के दक्षिण में), त्रिस्थलीसेतु (पृष्ठ १०१)।

मोक्षेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४८)।

मोदागिरि—(पर्वत) सभापर्व ३०।२१।

य

यक्षतीर्थ—आगे चलकर इसका नाम हंसतीर्थ हो गया। वराह० १४४।१५५-१५६।

यक्षिणी-संगम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३२।१।

यजन—वन० ८२।१०६।

यज्ञवराह—याज्ञपुर या जाजपुर में, जो उड़ीसा में वैतरणी पर है, वराहदेव का विख्यात मन्दिर है।

यन्त्रेश्वर—(नर्मदा के उत्तरी तट पर) मत्स्य० १९०।१।

यमतीर्थ—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।६, २।४१।८३; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२५।१ एवं १३१।१; (३) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।६।

यमलार्जुनकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० (ती० कल्प०, पृ० १८७)।

यमव्यसनक—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०। ५५।

यमुना—(नदी) ऋ० ५।५२।१७, ७।१८।१९, १०।७५। ५। यमुना-माहात्म्य के लिए देखिए पद्म० ६, अ० १९५-१९७। प्लिनी ने इसे जोमनस कहा है।

यमुनाप्रभव—(यमुनोत्तरी) कूर्म० २।३७।३०, ब्रह्माण्ड० ३।३१।७१ (जहाँ गर्म एवं शीत जल की धाराएँ हैं)।

यमुनातीर्थ—शल्य० ४९।११-१६ (जहाँ वरुण ने राजसूय यज्ञ किया था), मत्स्य० १०७।२३-२४। (सूर्य की पुत्री के रूप में) पद्म० १।२९।६।

यमुनासंगम—वराह० अ० १७४ ने इसकी महिमा का पूरा वर्णन किया है।

यमुनेश्वर—(१) (वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० क०, पृ० ६६); (२), वराह० (मथुरा के अन्तर्गत) १५४।१२।

ययातिपुर—(आधुनिक याजपुर) उड़ीसा में वैतरणी नदी पर। ऐं० जि०, पृ० ५१२, और देखिए एपि० इण्डि०, पृष्ठ १८९, जहाँ ययातिनगर को जाजपुर कहा गया है जो सन्देहात्मक है।

ययातिपतन—वन० ८२।४८, पद्म० १।१२।८।

ययातीश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० क०, पृ० ११५)।

यवतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।८८।

यष्टि—(गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४७।८२। दे (पृष्ठ २१५) का कथन है कि यह जेठिया है जो गया के तपोवन से उत्तर लगभग दो मील की दूरी पर है।

याज्ञवल्क्यलिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४७ एवं ८८)।

यायाततीर्थ—(१) (सरस्वती के अन्तर्गत) वामन० ३९।३६; (२) (वारा० के अन्तर्गत) शल्य० ४१। ३२, पद्म० १।३७।९।

युगन्धर—(१) पाणिनि (४।२।१३०) के अनुसार यह एक देश है और काशिका ने इसे शाल्वावयवों में एक माना है, , (२) (पर्वत) पाणिनि (३।२।४६) के मत से, वाम० ३४।४७। बार्ह० सू० (३२।१९) ने सम्भवतः इसे किसी देश या जन-समुदाय के नाम से वर्णित किया है।

योगितीर्थ—(सूकर के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० २१०)।

योनिद्वार—(गया में ब्रह्मयोनि पहाड़ी पर) वन० ८४। ९४-९५, पद्म० १।३८।१५, नारदीय० २।४४।७६-७७।

र

रथचैत्रक—(एक तीर्थ) पद्म० ६।१२९।९।

रथस्पा—(एक नदी) यह पाणिनि के पारस्करादिगण (६।१।१५७) में उल्लिखित है। महाभाष्य, जिल्द ३, पृ० ९६ ने रथस्पा नदी का उल्लेख किया है। वन० (१७०।२०) ने रथस्था को गंगा, यमुना एवं सरस्वती के बीच में तथा सरयू एवं गोमती के पहले वर्णित किया है। रथाख्या नदी बार्ह० सूत्र (१६।१५) में उल्लिखित है। देखिए आदि० १७०।२०।

रत्नेश्वर लिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३। १६५।

रन्तुक—(कुरुक्षेत्र की एक सीमा) वाम० २२।५१ एवं ३३।२।

रन्तुकाश्रम—(सरस्वती पर) वाम० ४२।५।

रम्भालिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० क०, पृ० १९५)।

रम्भेश्वरलिङ्ग—(सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ४६।३९।

रविस्तव—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।१९।

रसा—(एक नदी) ऋ० ५।५३।९, १०।७५।६। इसका पता चलना कठिन है। सम्भवतः यह सिन्धु में मिलती है। ऋ० १०।१०८।१ से प्रकट होता है कि यह अन्तःकथा सम्बन्धी नदी है। टामस महोदय ने इसे पंजकोरा कहा है (जे० आर० ए० एस०, जिल्द १५, पृष्ठ १६१)।

राघवेश्वर—मत्स्य० २२।६० (यहाँ के श्राद्ध से अक्षय फल प्राप्त होते हैं)।

राजखड्ग—(साभ्रमती पर) पद्म० ६।१३१।११६ एवं १२४।

राजगृह—(१) (राजगिर, मगध की प्राचीन राजधानी) वन० ८४।१०४, वायु० १०८।७३ (पुण्यं राजगृहं वनम्), अग्नि० १०९।२०, नारद० २।४७।७४, पद्म० १।३८।२२। देखिए ऐं० जि० (पृष्ठ ४६७-४६८) एवं इम्पी० गजे० इण्डि० (जिल्द २१ पृष्ठ ७२) जहाँ इसके चतुर्दिक् की पाँच पहाड़ियों का उल्लेख है। यह गिरिव्रज के नाम से भी विख्यात थी और इसी नाम से जरासंध की राजधानी थी। (२) (पंजाब में) पद्म० १।२८।१३ (यह एक देवीस्थान है)।

राजावास—(कश्मीर में परशुराम द्वारा स्थापित विष्णुतीर्थ) नीलमत० १३८४ एवं १४४७।

राजेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिङ्ग० १।९२।१५६।

राधाकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६४।३४।

रामगिर्याश्रम—गरुड़० १।८१, मेघदूत १ एवं १२ (रामगिरि रामटेक है जो नागपुर के उत्तर पूर्व २८ मील और नन्दिवर्धन नामक वाकाटक राजधानी से दो मील दूर है)।

रामगुहा—(सानन्दूर के अन्तर्गत) वराह० १५०।१०।

रामजन्म—(सरक के पूर्व में) पद्म० १।२६।७६।

रामतीर्थ—(१) (गया के अन्तर्गत) वायु० १०८।१६-१८, मत्स्य० २२।७०, अग्नि० ११६।१३; (२) (शूर्पारक में) वन० ८५।४३, शल्य० ४९।७ (जहाँ पर भार्गव राम ने वाजपेय एवं अश्वमेध यज्ञों में कश्यप को पृथिवी दक्षिणा के रूप में दे डाली थी) देखिए उषवदात का नासिक अभिलेख (बम्बई गजे०, जिल्द १६, पृ० ५७०); (३) गंगा के अन्तर्गत) नारद० २।४०।८५; (४) (गोमती पर) वन० ८४।७३-७४, पद्म० १।३२।३७; (५) (गोदावरी में) ब्रह्म० १२३।१; (६) (महेन्द्र पर) पद्म० १।३९।१४।

रामलिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० कल्प०, पृ० ११३)।

रामसर—(सानन्दूर के अन्तर्गत) वराह० १५०।१४-१८ (एक कोस के विस्तार में)।

रामह्रद—(थानेश्वर के उत्तर में पाँच झीलें) वन० ८३।२६-४०, अनु० २५।४७, भाग० १०।८४।५३, पद्म० १।२७।२३-३७ (जहाँ परशुराम ने अपने द्वारा मारे गये क्षत्रियों के रक्त से पाँच झीलें भर दी थीं और उनके पितरों ने जिन्हें उनकी प्रार्थना पर पाँच तीर्थों में परिवर्तित कर दिया था)। नीलमत० १३८७। १३९९ (यह ब्रह्मसर है, जहाँ भार्गव राम ने अपने रक्तरंजित हाथों को धोकर कठिन तपस्या

की थी) भाग० १०।८४।५३। इसे चक्रतीर्थ भी कहा जाता है।

रामाधिवास—(यहाँ का श्राद्ध एवं दान अनंत फलदायक होता है) मत्स्य० २२।५३।

रामेश्वर—(१) (ज्योतिर्लिङ्गों में एक जिसे स्वयं राम ने स्थापित किया था) मत्स्य० २२।५०, कूर्म० २।३०। २३ (रामेश्वर में स्नान करने से ब्रह्महत्या का पाप धुल जाता है), गरुड़० १।८१।९। देखिए तीर्थसार, पृष्ठ ४७, जिसने विष्णु०, कूर्म० एवं अग्नि० से वचन उद्धृत किये हैं। यह पामबन द्वीप में स्थित है। सम्पूर्ण भारत में यह प्रतिष्ठित तीर्थस्थलों में है। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २१, पृ० १७३-१७५, जहाँ इसके महामन्दिर का संक्षिप्त वर्णन है; (२) (श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिङ्ग० १९२।१४९ (स्वयं विष्णु ने इसे स्थापित किया था)।

रावणेश्वरतीर्थ—(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।२६; (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० क०, पृ० ९८)।

रुक्मिणीकुण्ड या रुक्मिकुण्ड—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०८।५७, अग्नि० ११६।५।

रुचिकेश्वरक—लिङ्ग० १।९२।१६७।

रुद्रकन्या—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२०।७६।

रुद्रकर—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० ४६।११।

रुद्रकर्ण—(वाराणसी के अन्तर्गत) मत्स्य० १८१।२५।

रुद्रकर्णह्रद—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।१५।

रुद्रकोटि—(१) (कुरुक्षेत्र एवं सरस्वती के अन्त ेत) वन० ८२।१११-१२४, वाम० ४६।५१, पद्म० १।२५। २५-३०, कूर्म० २।३६।१-८ (जहाँ हर ने मुनियों की पराजय के लिए एक करोड़ रुद्राकृतियाँ धारण कीं), (२) (वाराणसी के अन्तर्गत) मत्स्य० १८१।२५,, (३) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१३।१२, वन० १७।१०३, मत्स्य० १८६।१६-१७।

रुद्रगया—(कोल्हापुर के पास) पद्म० ६।१७६।४१।

रुद्रपद—(१) (गया के अन्तर्गत) वायु० १११।६४-६७, अग्नि० ११५।४८; (२) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२६।९४।

रुद्रप्रयाग—(गढ़वाल ज़िले में मन्दाकिनी एवं अलकनन्दा के संगम पर) इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २१, पृष्ठ ३३८।

रुद्रमहालय—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ६८), देवल० (ती० कल्प०, पृ० २५०)।

रुद्रमहालयतीर्थ—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६। १३९।१।

रुद्रवास—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ६२)।

रुद्रावर्त—(सुगन्धा के पश्चात्) वन० ८४।३७।

रुरुखण्ड—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५। १०५; अध्याय १४६ में इसके नाम की व्याख्या की गयी है।

रूपधारा—(इरावती पर विष्णु की आकृति) वाम० ९०।५।

रेणुकातीर्थ—वन० ८२।८२, पद्म० १।२४।३० एवं २७।४७। दे (पृ० १६८) का कथन है कि यह पंजाब में नाहन से उत्तर लगभग १६ मील दूर है। नाहन सिरमूर रियासत की राजधानी था।

रेणुकाष्टक—(सरस्वती पर) वाम० ४१।५।

रेणुकास्थान—(देवी के स्थानों में एक) देवीभागवत ७।३८।५ (सम्भवतः रत्नगिरि ज़िले में परशुराम पर)।

रेतोदक—(केदार के अन्तर्गत) देवीपुराण (तीर्थ-कल्प०, पृ० २३०)।

रेवतीसंगम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२१।१ एवं २२।

रेवन्तेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ९६)।

रेवा—(नर्मदा) देखिए इसके पूर्व का अध्याय।

रैवतक—(गिरनार के सम्मुख जूनागढ़ की पहाड़ी) आदि० २१८।८ (प्रभास के पास) एवं अध्याय २१९ (वृष्ण्यन्धकों द्वारा उत्सव मनाये जाते थे), सभा-

पर्व १४।५०, वराह० १४९।६६, स्कन्द० ७।२।१।६८ (वस्त्रापथ में सोमनाथ के पास उदयन्त पहाड़ी का पश्चिमी भाग), मत्स्य० २२।७४। रैवतक अर्थात् आधुनिक गिरनार, जैनों का एक अति पवित्र स्थल है। किन्तु आधुनिक द्वारका इससे लगभग ११० मील दूर है। मूल द्वारका, जो समुद्र द्वारा बहा दी गयी, अपेक्षाकृत समीप में थी। पार्जिटर महोदय (पृष्ठ २८९) को दो द्वारकाओं का पता नहीं था, अतः उन्होंने काठियावाड़ के पश्चिम कोण में हालार में बरदा पहाड़ी को रैवतक कहा है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ शिलालेख (४५५-४५८ ई०) में पलाशिनी नदी को वटक के सामने ऊर्जयत् से निर्गत कहा गया है (सी० आई० आई०, जिल्द ३, पृष्ठ ६४)।

रोधस्वती—(नदी) भाग० ५।१९।१८।

रोहीतक—(पर्वत) सभापर्व ३२।४।

ल

लक्ष्मणतीर्थ—(१) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२३।२१५; (२) (सेतु के अन्तर्गत) स्कन्द० ३, ब्रह्मखण्ड ५२।१०६-७ (इस तीर्थ पर केवल मुण्डन होता है)। यह तीर्थ एक नदी पर है, जो कुर्ग की दक्षिणी सीमा पर स्थित ब्रह्मगिरि से निकलती है और कावेरी में मिलती है; इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द १६, पृष्ठ १३१।

लक्ष्मणाचल—नारद० २।७५।७४।

लक्षणेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) नारद० २।४९।६४।

लक्ष्मी-तीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३।६७।१।

लपेटिका—(नदी) वन० ८५।१५।

लवणा—(नदी, जो पारा और सिन्धु के संगम पर स्थित पद्मावती नगर से होकर बहती है) देखिए मालती-माधव, अंक ९, श्लोक २।

लवणकतीर्थ—(सरस्वती पर) पद्म० १।२६।४८।

लाविलिका—(चम्पा के पास) पद्म० १।३८।७१।

ललितक—(सन्तनु का तीर्थ) वन० ८४।३४, पद्म० १।२८।३४, नारद० २।६६।३७।

ललिता—(वारा० में) नारद० २।४९।४१, लिङ्ग० (ती० कल्प०, पृ० ९६), मत्स्य० २२।११ ने उल्लेख किया है, किन्तु लगता है यह कहीं गंगा पर था।

लांगलिनी—(नदी) सभा० ९।२२, मार्कण्डेय ५४।२९ (लांगुलिनी, जो महेन्द्र से निकली है), वाम० ८३।१४ (ती० कल्प०, पृ० २३५)। गंजाम जिले का चिकाकोल कसबा, लांगुल्य के बायें तट पर इसके मुख से चार मील की दूरी पर है। इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द १०, पृष्ठ २१७।

लांगली-लिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ १०५)।

लांगलतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।५१।

लिङ्गसार—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।५१।

लिङ्गी जनार्दन—(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४०।६१।

लोकोद्धार—वन० ८३।४५, पद्म० १।२६।४१।

लोकपाल—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।२८-३१।

लोकपालेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० १०५)।

लोणारकुण्ड—(विष्णुगया में) पद्म० ६।१७६।४१। लोणार बरार के बुलढाना जिले में नमक की झील है। यहाँ दन्तकथा के अनुसार उस लोणासुर नामक राक्षस का निवास था जिसे विष्णु ने हराया। यह बहुत प्राचीन स्थल है और बड़ी श्रद्धा का पात्र है। आइने अकबरी (जिल्द २, २३०-२३१) ने इसका वर्णन किया है और कहा है कि ब्राह्मण लोग इसे विष्णु-गया कहते हैं। यह बरार के मध्यकालीन प्रसिद्ध मन्दिरों में गिना जाता है जिसे दैत्यसूदन कहते हैं। यह वैष्णव तीर्थ है। देखिए विक्टर कज़िन्स की पुस्तक 'मिडिएवल टेम्पुल्स ऑव दि डक्कन्स' (१९३१, पृष्ठ ६८-७२) जहाँ इस महामन्दिर का वर्णन है और साथ ही साथ एक झील के चारों

ओर बहुत-से मन्दिरों का उल्लेख है जो किसी ज्वालामुखी के अवशेष पर स्थित है।

लोलार्क—(वारा० के अन्तर्गत) मत्स्य० १८५।६८ (बनारस के पाँच मुख्य तीर्थों में एक), कूर्म० १।३५।१४, पद्म० १।३७।१७ (यहाँ लोकार्क पाठ आया है), वाम० १५।५८-५९।

लोहकूट—नारद० २।६०।२४।

लोहजंघवन—(मथुरा के १२ वनों में ९वाँ) वराह० १५३।४१।

लोहदण्ड—मत्स्य० २२।६५, वाम० ९०।२९ (यहाँ विष्णु हृषीकेश के रूप में हैं। यहाँ पर श्राद्ध अत्यंत फलदायक होता है)।

लोहार्गल—(हिमालय में एक विष्णुस्थान) वराह० १४०।५ (यहाँ म्लेच्छ राजा रहते हैं), १४४।१०, १५१।१-८३। श्लोक ७-८ में आया है कि सिद्धवट से तीस योजन म्लेच्छों के बीच लोहार्गल है। वराह० १५१।१३-१४ में इसके नाम की व्याख्या की गयी है और १५१।७९ में कहा गया है कि उसका विस्तार २५ योजन है। देखिए तीर्थकल्प०, पृष्ठ २२८-२२९। दे (पृष्ठ ११५) ने कल्पना की है कि यह कुमायूँ का लोहाघाट है।

लोहित—(शोण) अनु० १६६।२३; ब्रह्माण्ड० (२।१६-२७) में लोहित को सम्भवतः ब्रह्मपुत्र कहा गया है।

लोहित-गंगक—(लौहित्य) कालिका० ८६।३२-३४।

लौकिक—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१३।

लौहित्य—(ब्रह्मपुत्र नदी) वन० ८५।२, वायु० ४७।११, ७७।९५, मत्स्य० १२१।११-१२ (यह वह नद है जो हेमशृंग पर्वत के चरण स्थित लोहित झील से निकला है) अनु० २५।४६, पद्म० १।३९।२, वन० ५२।५४, कालिका० ८६।२६-३४। रघुवंश (४।८१) से प्रकट होता है कि लौहित्य प्राग्ज्योतिष की पश्चिमी सीमा पर थी। देखिए तीर्थप्रकाश, पृष्ठ ६०१-६०२, जहाँ माहात्म्य वर्णित है। लौहित्य नाम यशोधर्मन के शिलालेख (लगभग ५३२-३३ ई०) में पाया जाता है, देखिए गुप्तों के अभिलेख (पृष्ठ १४२ एवं १४६)।

व

वंशगुल्म—(नर्मदा एवं शोण के उद्गम पर) वन० ८५।९।

वंशधरा—(महेन्द्र से निकली हुई एक नदी) वायु० ४५।१०६, मार्कण्डेय० ५४।२९ (वंशकरा नाम आया है) एवं वराह० ८५ (पद्म) ने 'वंशवरा' पढ़ा है। पार्जिटर (पृ० ३०५) ने कहा है कि यह आधुनिक बंशधरा है, जहाँ चिकाकोल से १७ मील दूर कलिंगपत्तनम् अवस्थित है। देखिए संत-बोम्मली नामक इन्द्रवर्मा का दानपत्र जो कलिंगनगर में लिखा गया था (एपि० इण्डि०, जिल्द २५, पृ० १९४)।

वंशमूलक—पद्म० १।२६।३८।

वंशोद्भेद—मत्स्य० २४।२५।

वंक्षु—(आधुनिक आक्सस) सभा० ५१।२० (यहाँ भेंट के रूप में रासभ लाये गये थे)।

वञ्जरा—(नदी, गोदावरी के दक्षिणी तट पर) ब्रह्म० १५९।४५। यह सम्भवतः आधुनिक मञ्जरा नदी है, जो नान्देड़ ज़िले में गोदावरी में मिलती है।

वञ्जरासंगम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १५९।१।

वञ्जुला—(१) (नदी, जो सह्य से निकलकर गोदावरी में मिलती है) मत्स्य० ११४।२९, वायु० ४५।१०३, वामन० ५७।७६; (२) (महेन्द्र से निर्गत) ब्रह्म० २७।३७।

वट—(१) (प्रयाग में) मत्स्य० १०४।१०, १११।१०; (२) (गया में) वि० ध० सू० ८५।५।

वटेश्वर—(१) (नर्मदा पर) मत्स्य० १९१।२७, कूर्म २। ४१।१९, पद्म० १।२८।२७, अग्नि० १०९।२०; (२) (गया में) अग्नि० ११५।७३, पद्म० १।३८।४६, नारद० २।४७।५९; (३) (प्रयाग में) मत्स्य० २२।९; (४) (पुरी में) नारद० ११।५६।२८।

वडवा—(इसे सप्तचरु भी कहा जाता है) वन० ८२।८९२-९९, २२२।२४, वि० ध० सू० ८५।३७। 'वैजयन्ती' नामक टीका के मत से यह दक्षिण भारत का तीर्थ है, किन्तु वन० ने इसे उत्तर-पूर्व में कहा

है। दे (पृ० २२०) ने इसे कैस्पियन समुद्र के पश्चिमी तट पर 'बाकू' माना है।

वत्सक्रीडनक—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५६।१।

वज्रभव—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।६१ (जल कौशिकी में जाता है)।

वज्रेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थकल्प०, पृ० १०४)।

वधूसरा—(नदी, जिसमें स्नान करके परशुराम ने राम द्वारा छीन ली गयी शक्ति पुनः प्राप्त की थी) वन० ९९।६८।

वन्दना—(नदी) भीष्म० ९।१८।

वरणा—(वाराणसी की उत्तरी सीमा की नदी) मत्स्य० २२।३१, १८३।६२ देखिए गत अध्याय १३—काशी, लिंग० (१।९२।८७), जहाँ 'वरुणा' शब्द आया है।

वरणावती—(नदी) अथर्ववेद ४।७।७।

वरदा—(विदर्भ प्रदेश की वर्धा नदी) रामा० ४।४।१९, अग्नि० १०९।२२, नलचम्पू ६।६६। देखिए 'वरदा-संगम' के अन्तर्गत।

वरदान—वन० ८२।६३-६४, पद्म० १।२४।१२ (दोनों में दुर्वासा द्वारा विष्णु को दिये गये वर की गाथा का उल्लेख है)।

वरदासंगम—वन० ८५।३५, पद्म० १।३९।३२।

वराहतीर्थ—(१) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वाम० ३४। ३२, पद्म० १।२६।१५; (२) (वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १। ३७। ६, कूर्म० १।३५।५; (३) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६६।२३ (वराह की चार सुवर्णाकृतियाँ या सोने की प्रतिमाएँ यहाँ थीं—नारायण, वामन, राघव एवं वराह); (४) कश्मीर में वितस्ता पर) नीलमत० १५५९; (५) (सह्यामलक का एक उपतीर्थ) नृसिंह० ६६।३४; (६) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१६५। १०; (७) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।७४, कूर्म० २।४२।१४, पद्म० १।२०।७१; (८) (पयोष्णी पर) वन० ८८।७ एवं ९ (यहाँ पर राजा नृग ने यज्ञ किया था और यह तीर्थ सभी नदियों में श्रेष्ठ था)। कूर्म० २।२०।३२, वाम० ९०।४; (९) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ७९।६।

वराहपर्वत—(सम्भवतः कश्मीर का बारामला) विष्णुधर्मसूत्र ८५।६।

वराहमूलक्षेत्र या वराहेश्वर—(कश्मीर में आधुनिक बारामूला) यह कश्मीर की घाटी के ऊपर वितस्ता के दाहिने तट पर स्थित है और आदिवराह का तीर्थस्थल है। राज० ६।१८६, ह० चि० १२।४३, कश्मीर रिपोर्ट (पृ० ११-१२) एवं स्टीन-स्मृति (पृ० २०१।२०२)।

वराहस्थान—(विष्णु के वराहावतार के लिए तीन स्थल प्रसिद्ध हैं, यथा—कोकामुख, बदरी एवं लोहार्गल) वराह० १४०।४-५।

वराहेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती०कल्प०, पृ० ९८)।

वरुणस्रोतस—(पर्वत) वन० ८८।१०।

वरुणा—(गोदावरी की एक सहायक नदी) पद्म० ६।१७६।५९।

वर्णाशा—(बनास नदी, राजस्थान में, जो पारियात्र से निकल कर चम्बल में मिलती है) ब्रह्माण्ड० २।१६।२८। देखिए 'पर्णाशा'।

वर्णु—(नदी) पाणिनि (४।२।१०३)। काशिका में व्याख्या है कि 'वर्णु' पर स्थित देश भी 'वर्णु' है। 'वर्णु' सुवास्त्वादि-गण में आया है (पाणिनि ४।२।७७)।

वरुणेश—(१) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६६); (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।६।

वसिष्ठतीर्थ—मत्स्य० २२।६८ (यहाँ श्राद्ध एवं दान अत्यन्त फलदायक होता है)।

वसिष्ठाश्रम—(१) (कश्मीर में ज्येष्ठेश्वर के पास) राज० १।१०७ (स्टीन की टिप्पणी, जिल्द १, पृ० २०-२१), नीलमत० १३२३; (२) (अर्बुद पर्वत पर) वन १०२।३; (३) (बदरीपाचन पर)

वन० (१०२।३), जहाँ आया है कि वसिष्ठाश्रम में कालेयों ने १८८ ब्राह्मणों एवं ९ तापसों को खा डाला। इस स्थान के विषय में सन्देह है।

वसिष्ठेश—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४७)।

वसिष्ठापवाह—(सरस्वती पर) शल्य० ४२।४१।

वर्धनद्रुम—(कश्मीर में, विनायक गांगेय का एक आयतन) नीलमत० ११६।

वसोर्धारा—वन० ८२।७६, पद्म० १।२४।२४ (इसने 'वसुधारा' पढ़ा है)

वस्त्रापथक्षेत्र—(काठियावाड़ में गिरनार के आस-पास की भूमि) स्कन्द० ७।२।२।१-३ (यह प्रभास का सार-तत्त्व है, इसे रैवतक क्षेत्र कहा जाता है), ७।२-११।१६ (यह विस्तार में चार योजन है)। यहाँ सुवर्णरेखा नदी है।

वसुतुंग—(यहाँ विष्णु की गुप्त उपाधि 'जगत्पति' है) नृसिंह० (ती० क०, पृ० २५१)।

वागीश्वरी—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३५।२६।

वाग्मती—(नदी, हिमालय से निकली हुई नेपाल की वाग्मती नदी) वराह० (२१५।४९) का कथन है कि यह भागीरथी से १०० गुनी पवित्र है।

वाग्मती-मणिवती-संगम—वराह० २१५।१०६ एवं ११०।

वाटिका—(कश्मीर में) नीलमत० १४५९।

वाटोदका—(पाण्ड्य देश में नदी) भाग० ४।२८।-३५।

वाटनदी—मत्स्य० २२।३७ (यहाँ के श्राद्ध से अक्षय फल मिलता है)।

वाणी-संगम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३५।१ एवं २३।

वातेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प० पृ० ६६)।

वातेश्वरपुर—पद्म० १।३८।४६।

वातिक—(कश्मीर में) नीलमत० १४५९।

वातोदका—(नदी, पाण्डय देश में) भाग० ४।२८।३५।

वामन या वामनक—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८४।१३०, वन० ८३।१०३, अग्नि १०९।२०, पद्म० १।२६।९६ (वामनक), १।३८।४७; (२) (गया के अन्तर्गत) नारदीय० २।४६।४६; (३) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५३।२ (जहाँ सात नदियाँ बहती हैं)। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५४ (अन्त में) पृ० ४१, जहाँ यह कहा गया है कि जूनागढ़ के दक्षिण-पश्चिम ८ मील दूर वंथली महाभारत का वामन-तीर्थ है।

वामनेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।२६।

वालखिल्येश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६६)।

वायव्यतीर्थ—(कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।७५।

वायुतीर्थ—(१) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।५, पद्म० १।३७।५; (२) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५२।६५; (३) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।५।

वालीश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५१)।

वाल्मीकेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प० पृ० ६६)।

वाल्मीकि-आश्रम—(गंगा पर) रामा० ७।४७।१५, ७७। देखिए 'स्थाणुतीर्थ' एवं 'तमसा' के अन्तर्गत।

वानरक—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।६। यह 'चानरक' का अशुद्ध रूप हो सकता है।

वारणेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।२९।

वाराणसी—देखिए पिछला अध्याय १३। यद्यपि वाराणसी एवं काशी दोनों समानार्थक कहे जाते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि काशी गंगा के पूर्व भाग में एवं वाराणसी पश्चिम भाग में है।

वारिधार—(पर्वत) भागवत० ५।१९।१६।

वारुणतीर्थ—वन० ८३।१६४, ८८। १३ (पाण्ड्य देश में) बार्ह० ३।८८ (पूर्वी समुद्र के किनारों पर)।

वारुणेश्वर—(१) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०३); (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।६।

वार्त्रघ्नी—(नदी, जो पारियात्र से निकलकर समुद्र में गिरती है) पद्म० ६।१३१।५६, ६८, ६।१६४।१ एवं ७१, मार्क० ५७।१९; वायु० (४५।९७) ने इसे 'वृत्रघ्नी' पढ़ा है और ब्रह्म० (२७।२८) ने 'वातघ्नी'।

वासुक—(उड़ीसा में विरज के अन्तर्गत) ब्रह्म० ४२।६।

वासुकितीर्थ—(१) (वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १। ३९।७९. लिंग० (ती० क०, पृ० ४८); (२) (प्रयाग के अन्तर्गत) वन० ८५।८६ (इसे भोगवती भी कहा जाता है)।

वासुकीश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४८)।

वासुप्रद—मत्स्य० २२।७२ (यहाँ के श्राद्ध से परम पद मिलता है)।

वासिष्ठी—वन० ८४।४८, पद्म० १।३२।१२ (दोनों में एक ही श्लोक, किन्तु पद्म० में 'वासिष्ठम्' पाठ आया है)।

वाहा—वामन० ५७।७८।

वाहिनी—भीष्म० ९।३४।

वासिष्ठ-कुण्ड—(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१। ४०। देवप्रयाग में अलकनन्दा पर एक वसिष्ठकुण्ड है। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० २७४।

विकीर्ण तीर्थ—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३३।७।

विजय—(एक लिङ्ग) मत्स्य० २२।७३, कूर्म० २।३५।२१।

विजयेश्वर—(कश्मीर के परगने वुलर में आधुनिक विजब्रोर) ह० चि० १०।१९१-१९५ (इसे यहाँ महाक्षेत्र कहा गया है) आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० ३५६) ने इसकी ओर संकेत किया है। वितस्ता इसके पूर्व और उत्तर है, गम्भीरा इसके पश्चिम और विश्ववती दक्षिण की ओर।

विजयलिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ११२)।

विजयेश—(कश्मीर में) नीलमत० १२४०, राज० १।३८, स्टीनस्मृति पृ० १७३—कश्मीर के अन्तर्गत प्रसिद्ध तीर्थों में एक। यह चक्रधर के ऊपर दो मील से कम ही दूर है।

विजयेश्वर—(१) (कश्मीर में) राज० १।१०५ एवं ११३; (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७६)।

विज्वरेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ४३)।

विटङ्का—(नर्मदा के साथ संगम) पद्म० २।९२। २३।

वितंसा—(हिमालय से निकलने वाली दस महान् नदियों में एक) मिलिन्द-प्रश्न में उल्लिखित (एस० बी० ई०, जिल्द ३५, पृ० १७१)। दे (पृ० ४२) ने बिना किसी तर्क के इसे वितस्ता कह दिया है।

वितस्ता—(कश्मीर में एक नदी जो अब झेलम के नाम से प्रसिद्ध है) ऋ० १०।७५।५, देखिए 'कश्मीर' एवं 'तक्षक नाग' के अन्तर्गत, वन० ८२।८८-९० (वितस्ता तक्षक नाग का घर है), १३९।२०, कूर्म० २।४४।४, वामन० ९०।७, नीलमत० ४५।३०५-३०६ (उमा वितस्ता हो गयीं), ३०६-३४१। शंकर ने अपने त्रिशूल से एक वितस्ति अर्थात् बारह अंगुल का छेद कर दिया और सती नदी के समान बुलबुला छोड़ती हुई निकल आयी। इसी लिए वितस्ति शब्द से वितस्ता नाम पड़ा। राज० (५।९७-१००) में आया है कि स्वयं ज्ञान ग्रहण करने वाले एवं महान् अभियन्ता (इन्जीनियर) सूर्य ने कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में वितस्ता का बहाव एवं सिन्धु से इसके मिलन का स्थल परिवर्तित कर दिया। देखिए स्टीन द्वारा अनूदित राज० (जिल्द २, पृ० ३२९-३३६) एवं जे० सी० चटर्जी की टिप्पणी 'कान्फ्लुएन्स आव दि वितस्ता ऐण्ड दि सिन्धु' (१९०६ ई०) जिसमें स्टीन का मत खण्डित किया गया है।

वितस्ता-गम्भीरा-संगम—स्टीन-स्मृति, पृ० १०१ एवं ११०।

वितस्ता-मधुमती संगम—नीलमत० १४४२।

वितस्ता-सिन्धु-संगम—(मतभेद के रूप से अत्यंत पुनीत) राज० ४।३९१, वन० ८२।९७-१००, नीलमत० ३९४-३९५। इन दोनों नदियों का संगम कश्मीर के लोगों के लिए उतना ही पुनीत है जितना प्रयाग का संगम।

वितस्तात्र—(कश्मीर में वेरीनाग धारा के उत्तर-पश्चिम में एक मील दूर वियवुतुर नामक धारा) राज० १।१०२-१०३। ऐसा कहा जाता है कि अशोक ने यहाँ बहुत-से स्तूप बनवाये थे। जनश्रुति है कि इस धारा से वितस्ता की मुख्य धारा निकली है। देखिए स्टीन-स्मृति, पृ० १८२।

विदर्भासंगम—(गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १२१।१ एवं २२, हेमचन्द्र की अभिधानचिन्तामणि (पृष्ठ १८२) के अनुसार विदर्भा कुण्डिनपुर का एक नाम है।

विदिशा—(१) (पारियात्र से निकली हुई नदी) ब्रह्म० २७।२९, ब्रह्माण्ड० २।१६।२८, मार्क० ५४।२०। देखिए 'वेत्रवती' आगे, (२) रघुवंश (१५।३६) में वर्णित एक नगर (राम ने शत्रुघ्न के पुत्रों, शत्रुघाती एवं सुबाहु को मथुरा एवं विदिशा की नगरियाँ दीं), मेघदूत (१।२४) के अनुसार विदिशा दशार्ण देश की राजधानी थी। मालविकाग्निमित्र (५।१) में आया है कि अग्निमित्र विदिशा नदी पर आनन्द का उपभोग कर रहा था और आगे चलकर कहा गया है कि वैदिशस्य (वैदिश का अर्थ है विदिशा पर स्थित एक नगर) अग्निमित्र को पुष्पमित्र ने पत्र भेजा था। देखिए लगभग ६०९ ई० के कटच्छूरि बुद्धराज द्वारा दिये गये वड़नेर के दानपत्र (वैदिशवासकाद् विजय-स्कन्धावारात्, एपि० इण्डि०, जिल्द १२, पृ० ३०)।

विद्याधर—(गण्डकी एवं शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५। ६२।

विद्यातीर्थ—(इसे सन्ध्या भी कहते हैं) वन० ८४।५२, पद्म० १।३२।१६।

विद्याधरेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५। ११, पद्म० १।३०।१४।

विदूर—(पर्वत) देवल (ती० क०, पृ० २५०)। क्या यह विदूर है?

विघ्नेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४९)।

विधीश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ११६)।

विनशन—(जहाँ अम्बाला एवं सरहिन्द की विशाल मरुभूमि में सरस्वती अन्तर्हित हो जाती है) यह नाम ब्राह्मण युग में विख्यात था; वन० ८२।१११, १३०।३-४, शल्य० ३७।१ (शूद्राभीरान् प्रति द्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती), कूर्म० २।३७।२९, ब्रह्माण्ड० ३।१३।६९। मनु० (२।२१) ने इसे मध्य देश की पूर्वी सीमा माना है। देवल (ती० कल्प०, पृ० २५०) ने इसे सारस्वत तीर्थों में परिगणित किया है। महाभाष्य (जिल्द १, पृ० ४७५, पाणिनि २।४।१० पर एवं जिल्द ३, पृ० १७४, पाणिनि ६।३।१०९ पर) ने इसे 'आदर्श' कहा है और आर्यावर्त की पूर्वी सीमा माना है। काशिका (पाणिनि ४।२।१२४) ने आदर्श को एक जनपद कहा है। विनशन की वास्तविक पहचान अज्ञात है, जैसा कि ओल्ढम ने कहा है, किन्तु ओल्ढम ने कल्पना की है कि यह सिरसा से बहुत दूर नहीं है (जे० आर० ए० एस०, १८९३, पृ० ५२)।

विनायक-कुण्ड—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५३)।

विनायकेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३। १२६।

विन्ध्य—(भारतवर्ष की सात महान् पर्वत श्रेणियों में एक) वन० ३१३।२, भीष्म० ९।११, वायु० ७७।३४, मत्स्य० १३।३९, भाग० ५।१९।१६। यह टॉलेमी (पृ० ७७) का ओइण्डियन है।

विन्ध्यवासिनी—(देवीस्थान) मत्स्य० १३।३९, देवी-भाग० ८।३८।८।

विप्रतीर्थ—(गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १६७।१ एवं ३३ (नारायण भी कहा गया है)।

विपाशा—(पञ्जाब में विपाट् या व्यास नदी, यूनानी लेखकों की हैफ़सिस या हिफिसस) ऋ० ३।३३।१।१३, ४।३०।११। निरुक्त ९।२६) ने ऋ० १०।७५।५ की व्याख्या में कहा है कि विपाशा आरम्भिक रूप में उरुञ्जिरा कहलाती थी, फिर आर्जीकीया कहलायी और जब वसिष्ठ अपने को रस्सियों से बाँधकर इसमें गिर पड़े जब कि वे बहुत दुखी थे, तो वे नदी के ऊपर रस्सियों से विहीन होकर निकले। पाणिनि (४।२।१४) ने इसके उत्तर के पहाड़ों के साथ इसका उल्लेख किया है; आदि० (१७७।१-५) ने भी वसिष्ठ द्वारा आत्महत्या करने के प्रयत्न की ओर संकेत किया है। वन० १३०।८-९ (यहाँ विपाशा शब्द आया है)। (अनु० (३।१२-१३) ने भी इस कथानक की ओर संकेत किया है। देखिए रामायण २।६८।१९, वायु० ७९।६, नारदीय० २।६०।३०।

विमल—(कश्मीर में मार्तण्ड मन्दिर के पास प्रसिद्ध धारा) देखिए मार्तण्ड, ऊपर।

विमल—वन० ८२।८७ (जहाँ चाँदी और सोने के रंगों वाली मछलियाँ पायी जाती हैं), पद्म० १।२४। ३५ (दोनों में एक ही श्लोक है)।

विमला—(एक नगरी) पद्म० ४।१७।६७ (अवन्ती एवं कांची के समान यह बहुत-सी हत्याओं के पापों को नष्ट करती है)।

विमलाशोक—वन० ६४।६९-७०, पद्म० १।२२।२३ (दोनों में एक ही श्लोक है)।

विमलेश—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ५६)।

विमलेश्वर—(१) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९०। १४, १९४।३८-३९, २२।८, कूर्म० २।४१।५ एवं २।४२।२६, पद्म० १।१७।११; (२) (सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ३४।१५, पद्म० ६।१३३।५०।

विमोचन—वन० ८३।१६१, पद्म० १।२७।४९।

विभाण्डेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११५)।

विरज—(१) (उड़ीसा में जाजपुर के चतुर्दिक् की भूमि) वन० ८५।६; (२) तीर्थेन्दु शेखर (पृष्ठ ६) के अनुसार यह लोणार देश एवं झील है जो बरार में बुलडाना जिले में है; (३) (गोदा० एवं भीमा के पास सह्य पर्वत पर) ब्रह्म० १६१।३।

विरजमण्डल—(ओड्र देश की उत्तरी सीमा) ब्रह्म० २८।१-२।

विरजतीर्थ—(उड़ीसा में वैतरणी नदी पर) वन० ८५।६, पद्म० १।३९।६, १।४५।२८-२९ (यह आदित्यतीर्थ है), ब्रह्म० ४२।१ (विरजे विरजा माता ब्रह्माणी सम्प्रतिष्ठिता), वाम० २२।१९ (ब्रह्मा की दक्षिण वेदी) ब्रह्माण्ड० ३।१३।५७। देखिए ती० प्र० (पृ० ५९८-५९९) विरज क्षेत्र के लिए, जो उड़ीसा में जाजपुर के नाम से विख्यात है।

विरजा—(उड़ीसा में नदी) कूर्म० २।३५।२५-२६, वाम० (ती० क०, पृ० २३५)।

विरजाद्रि—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०६।८५ (इसी पर गयासुर की नाभि स्थिर थी)।

विरूपाक्ष—(१) (हम्पी) पद्म० ५।१७।१०३, स्कन्द० ब्रह्मखण्ड ६२।१०२; (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ १०२)।

विशल्या—(१) (नदी) वन० ८४।१४; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १८६।४३ एवं ४६-४८ (विशल्य-करणी भी कही जाती है), कूर्म० २।४०।२७, पद्म० १।१३।३९, ब्रह्माण्ड० ३।१३।१२।

विशाखयूप—(कुरुक्षेत्र के पास) वन० ९०।१५; १७७।१६, वाम० ८१।९, नृसिंह० ६५।१४ (विष्णु का गुह्य नाम यहाँ विश्वेश है)।

विशाला—(१) (उज्जयिनी) मेघदूत १।३०; देखिए अवन्ती एवं उज्जयिनी के अन्तर्गत। अभिधानचिन्तामणि में आया है—'उज्जयिनी स्याद् विशालावन्ती पुष्पकरण्डिनी'; (२) (बदरी के पास आश्रम)

वन० १९।२५, १३९।११, अनु० २५।४४, भाग० ५।४।५, ११।२९।४७; (३) (गया के अन्तर्गत) वाम० ८१।२६-३२ (नदी), अग्नि० ११५।५४, पद्म० १।३८।३३।

विशालाख्य वन—मार्क० १०६।५७ (कामरूप के एक पर्वत पर)।

विशालाक्षी—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ११५)।

विशोका—(कश्मीर में एक नदी) आधुनिक वेशन, नीलमत० ३०७-३७३, १४९३, ह० चि० १२।३५। नीलमत० (३०७) का कथन है कि मुनि कश्यप की प्रार्थना पर लक्ष्मी विशोका बन गयी; नीलमत० (३८१) का कथन है कि यह विजाब्रोर के नीचे वितस्ता बन गयी है, वहीं (१४९१-१४९३) पुनः कहता है कि क्रमसार नामक झील से निकली कौण्डिनी नदी का संगम विशोका से हुआ है।

विश्रान्तितीर्थ—(१) (मथुरा का पवित्र स्थल, घाट) वराह० १६३।१६२, १६७।१, पद्म० ६।२०९।५ यमुना के तट पर जहाँ कृष्ण द्वारा कंस मारा गया था; (२) (मधुवन में एक अन्य क्षेत्र जहाँ विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था)। पद्म० ६।२०९।१-३ एवं ५।

विश्वकाय—पद्म० ६।१२९।८।

विहंगेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२१।११।

विहार तीर्थ—(मदन का)। (सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ४२।१०।

विश्वकर्मेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ५५)।

विश्वपद—(एक पितृतीर्थ) मत्स्य० २२।३५।

विश्वमुख—(जालन्धर पर तीर्थ) देखिए 'जालन्धर' के अन्तर्गत एवं पद्म० ६।१२९।२६।

विश्वरूपक—पद्म० ६।१२९।१४ (संभवतः मायापुरी में)।

विश्वरूप—(वाराणसी के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।२।

विश्ववती—(यह विशोका ही है) ह० चि० १०।१९२ (यह विजयेश्वर की दक्षिणी सीमा है)।

विश्वा नदी—भाग० ५।१९।१८।

विश्वावस्वीश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ११६)।

विश्वामित्रतीर्थ—(१) वन० ८३।१३९; (२) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ९३।४ एवं २७ (जहाँ राम ने विश्वामित्र का सम्मान किया), पद्म० १।२७।२८।

विश्वामित्रा नदी—वन० ८९।९, भीष्म० ९।२६।

विश्वामित्र महानद—(पंजाब में) नीलमत० १५१।

विश्वामित्राश्रम—रामा० १।२६।३४।

विश्वेदेवेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ८७)।

विश्वेश्वर—(१) (वाराणसी के पाँच लिंगों में एक) कूर्म० १।३२।१२ एवं २।४१।५९, पद्म० १।३४।१०, नारद० २।५१।४; (२) (गिरिकर्ण में) पद्म० ६।१२९।१०।

विषप्रस्थ—(पहाड़ी) वन० ९५।३ (सम्भवतः गोमती के पास)।

विष्णुगया—पद्म० ६।१७६।४१ (जहाँ लोणार कुण्ड है)।

विष्णुकांची—पद्म० ६।२०४।३०।

विष्णुचंक्रमण—(द्वारका) वराह० १४९।८० (ती० कल्प०, पृष्ठ २२७)।

विष्णुतीर्थ—(१) (कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।७१-७४; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।९९, कूर्म० २।४१।५२ (यह योधीपुर विष्णुस्थानम् है), पद्म० १।१८।९४ (योधनीपुर); (३) (गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १३६।१ एवं ४१ (मौद्गल्य नाम भी है)।

विष्णुधारा—(कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।१७।

विष्णुतीर्थ—(बहुवचन, कुल १०८) पद्म० ६।१२९।५-३६।

विष्णुपद—(१) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८३।१०३, १३०।८, नीलमत० १२३।८; (२) (निषध पर्वत पर एक झील) ब्रह्माण्ड० २।१८।६७, वायु० ४७।६४; (३) (गया के अन्तर्गत) देखिए आर० डी० बनर्जी का ग्रन्थ पाल्स आव बंगाल (मेमायर्स आव ए०

या प्रमति के भावी कार्यकलापों का वर्णन किया है किन्तु किसी ने सम्भल ग्राम का उल्लेख नहीं किया है। इम्पी० गजे० ऑव इण्डिया (जिल्द २२, पृ० १८) ने इस स्थान को उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले का सम्भल कसवा कहा है; इसके आस-पास बहुत-से प्राचीन ढूह, मन्दिर एवं पवित्र स्थल पाये जाते हैं।

शरबिन्दु--(आमलक ग्राम के अन्तर्गत) नृसिंह० ६६।-३४।

शरभंगकुण्ड--(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।-४९।

शरभंगाश्रम--वन० ८५।४२ एवं ९०।९, रामा० ३।५।३, पद्म० १।३९।३९, रघुवंश १३।१४५ (सुतीक्ष्णाश्रम के पास)।

शरावती--(सम्भवतः अवध में राप्ती) भीष्म० ९।२०। पाणिनि (४।३।१२०, शरादीनां च) को यह नदी ज्ञात थी; क्षीरस्वामी (अमरकोश के टीकाकार) ने 'शरावत्यास्तु योऽवधेः' की टीका में उद्धृत किया है--'प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा। विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥' डा० अग्रवाल ने (जर्नल आव उत्तर प्रदेश हिस्टारिकल रायल सोसाइटी, जिल्द १६ पृ० १५ में) कल्पना की है कि यह अम्बाला जिले से होकर बहती है (घग्वर), किन्तु यह संदेहात्मक है। सम्भव है कि जब सरस्वती सूख गयी और केवल इस पर दलदल रह गया तो यह शरावती कहलायी। किन्तु अमरकोश के काल में शरावती सम्भवतः वह शरावती है जो समुद्र में होनावर (उत्तरी कनारा जिले) के पास गिरती है, जिस पर गेरस्पा के प्रसिद्ध प्रपात हैं। रघुवंश (१५।९७) में शरावती राम के पुत्र लव की राजधानी कही गयी है।

शशयान--(सरस्वती के अन्तर्गत) वन० ८२।११४-११६, पद्म० १।२५।२०-२३। कुछ पाण्डुलिपियों में 'शशपान' पाठ आया है।

शशांकेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९७)।

शाकम्भरी--(१) (नमक की साँभर झील जो जयपुर और जोधपुर रियासतों की सीमा पर पश्चिमी राजस्थान में है) वि० ध० सू० ८५।२१; विग्रहराज चाहमान के शिलालेख (९७३-७४ ई०) में शाकम्भरी की चर्चा है (एपि० इण्डि०, जिल्द २, पृष्ठ ११६ एवं १२४), देखिए इम्पी० गजे० इण्डि० (जिल्द २२, पृ० १९-२०) जहाँ इसकी अनुकथा दी गयी है। झील की दक्षिण-पूर्व सीमा पर साँभर नाम का कसबा है जो प्राचीन है और चौहान राजपूतों की राजधानी था; (२) (हिमालय के समीप हरिद्वार से केदार के मार्ग में) वन० ८४।१३, पद्म० १।२८।१४-१६ (एक देवीस्थान जहाँ देवी ने एक सहस्र वर्षों तक केवल शाक-भाजी पर भक्तों का जीवन व्यतीत कराया था)।

शाण्डिली--(कश्मीर में नदी) नीलमत० १४४५।

शाण्डिली-मधुमती-संगम--नीलमत० १४४६।

शाण्डिल्येश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६८)।

शातातपेश्वर--(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९२)।

शारदातीर्थ--(कश्मीर में) मत्स्य० २२।७४, राज० १।३७। कश्मीर के प्रमुख तीर्थों में यह है और किसनगंगा नदी के दाहिने तट पर आधुनिक 'शर्दी' इसका द्योतक है। मधुमती के मन्दिर के सामने किसनगंगा में यह मिल जाती है। देखिए स्टीनस्मृति पृ० २०६। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० ३६५-३६६) में आया है कि शारदा का मन्दिर दुर्गा का है और पदमती नदी के किनारे है जो दार्दू देश से आती है, और यह मन्दिर प्रति मास शुक्ल पक्ष की प्रत्येक अष्टमी पर हिलने लगता है।

शार्दूल--बार्ह० सू० (३।१२२) के अनुसार यह शैव क्षेत्र है।

शालग्राम--(गण्डकी नदी के उद्गमस्थल पर एक पवित्र स्थान) वन० ८४।१२३-१२८, विष्णु० २।१।२४, २।१३।४ (राजर्षि भरत जो एक योगी एवं वासुदेव

के भक्त थे, यहाँ रहते थे)। मत्स्य० १३।३३, (शालग्राम में उमा महादेवी कही गयी) २२।६२, पद्म० १।३८।४८, वराह० १४४।३ एवं १४ (यहाँ के सभी पाषाण पूज्य हैं, विशेषतः जिन पर चक्र का चिह्न रहता है); श्लोक २९ में आया है—'शालग्राम पर्वत विष्णु है'; श्लोक १४५ में आया है—'यह देववाट भी कहा जाता है,' यह विस्तार में १२ योजन है (श्लोक १५९)। शालग्राम के प्रस्तर खण्ड जो विष्णु के रूप में पूजित होते हैं, गण्डकी के उद्गमस्थल में पाये जाते हैं। यह पुलहाश्रम (विष्णु० २।१।२९) भी कहा जाता था। वन० ५।८४।१२८-१२८, वराह० (ती० क०, पृ० २१९-२२१)।

शालकटङ्कटेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४८)।

शालग्रामगिरि—वराह० १४४।१३ एवं २९।

शालिग्राम—(वही जो ऊपर है) कूर्म० २।३५।३७, नृसिंह० ६४।२२-२६ (पुण्डरीक इस महाक्षेत्र में आये थे)।

शालिसूर्य—वन० ८३।१०७, पद्म० १।२६।१०० (एक तीर्थ जो सम्भवतः शालिहोत्र द्वारा स्थापित था)।

शालूकिनी—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८३।१३, महाभाष्य. (जिल्द १. पृ० ४७४ वार्तिक २. पाणिनि २।४।७) ने शालूकिनी को एक गाँव कहा है।

शाल्विकिनी—(सम्भवतः ऊपर वाला तीर्थ) पद्म० १।२६।११।

शिखितीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।८२, पद्म० १।२०।७८।

शिप्रा—(नदी, जो पारियात्र से निकलकर उज्जयिनी में बहती चली जाती है) मत्स्य० २२।२४, ११४।२४, वायु० ४५।९८। इस नदी के प्रत्येक मील पर तीर्थस्थल हैं, वहाँ ऋषियों के विख्यात निवासस्थल हैं और अलौकिक घटनाओं के दृश्य वर्णित हैं। यह नदी विष्णु के रक्त से निकली हुई कही गयी है और ऐसा विश्वास है कि कुछ निश्चित कालों में यह दूध के साथ बहती है। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० १९६) ने भी इसका उल्लेख किया है।

शिफा—(नदी) ऋ० १।१०४।३ (जिसमें कुयब की दोनों पत्नियाँ मृत्यु को प्राप्त हुई थीं)।

शिलाक्षेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४६)।

शिलातीर्थ—(गया के अन्तर्गत) वायु० १०८।२।

शिवकांची—(दक्षिण भारत के कांजीवरम् में) पद्म० ६।२०४।३०।

शिवधार—मत्स्य० २२।४९।

शिवनदी—नृसिंह० ६५।२३ (ती० क०, पृ० २५३)।

शिवसरस्वती—बार्ह० सूत्र (३।१२२) के अनुसार यह एक शैव क्षेत्र है।

शिवह्रद—ब्रह्माण्ड० ३।१३।५२।

शिवोद्भेद—(जहाँ अन्तर्धान होने के उपरान्त सरस्वती पुनः प्रकट होती है) वन० ८२।११२, पद्म० १।२५।१९।

शुकस्याश्रम—वन० ८५।४२, पद्म० १।३९।३९ (दोनों में एक ही श्लोक है)।

शुकेश्वर—(गोकर्ण के उत्तर) वराह० १७३।९।

शुक्तिमती—(नदी, चेदि में कोलाहल पर्वत द्वारा अवरुद्ध) भीष्म० ९।३५। देखिए दे (पृ० १९६) जहाँ विभिन्न पहचानें दी गयी हैं। ब्रह्म० (२७।३२) एवं मत्स्य० (११४।१०१) का कथन है कि यह ऋक्ष पर्वत से निकलती है, किन्तु मार्क० (५७।२३) के अनुसार यह विन्ध्य से निकलती है।

शुक्तिमान्—(भारत के सात महान् पर्वतों में एक, यह विन्ध्य का एक भाग है) कूर्म० १।४७।३९, वायु० ४५।८८।१०७, नारद० २।६०।२७, भाग० ५।१९।१६। देखिए डॉ० बी० सी० ला कृत 'माउण्टेन्स ऐण्ड रीवर्स ऑव इण्डिया' (डिपार्टमेण्ट ऑव लेटर्स कलकत्ता यूनिवर्सिटी, जिल्द २८, पृ० २०-२१) जहाँ विभिन्न पहचानें उपस्थित की गयी हैं। यह पर्वत प्रमुख सात पर्वतों में सबसे कम प्रसिद्ध

है और इससे निकली हुई नदियाँ बहुत कम हैं तथा उनके नाम पुराणों आदि में कई प्रकार से आये हैं। देखिए डा० राय चौधरी का 'स्टडीज' आदि, पृ० ११३-१२०।

शुक्रतीर्थ—(गोदावरी के उत्तरी तट पर) ब्रह्म० ९५।-१, मत्स्य० २२।२९।

शुक्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१५, लिंग० १।९२-९३, नारद० २।५०।६३।

शुक्लतीर्थ—(भड़ोच से १० मील उत्तर-पूर्व नर्मदा के उत्तरी तट पर) कूर्म० २।४१।६७-८२, मत्स्य० १९२।१४, स्कन्द० १।२।३।५। देखिए गत अध्याय का प्रकरण नर्मदा, जहाँ शुक्ल तीर्थ में राजर्षि चाणक्य का उल्लेख हुआ है; चाणक्य एवं शुक्लतीर्थ के सम्बन्ध के विषय में देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २३, पृ० १२८ एवं बम्बई गजे०, जिल्द ११, पृ० ५६८-५६९; पद्म० १।१९।२-१५ (यहाँ राजर्षि चाणक्य द्वारा प्राप्त सिद्धि का उल्लेख है)।

शुण्डिक—(कश्मीर में तीर्थ) नीलमत० १४५९।

शुद्धेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १२२)।

शुतुद्री—(पंजाब की सतलज, संस्कृत ग्रंथों की शतद्रु) ऋ० ३।३३।१, १०।७५।५। यह यूनानी हुपनिश या हुफसिस (ऐं० इण्डि०, पृ० ६५) है जो कि भारत में सिकन्दर के बढ़ने की अन्तिम सीमा थी। यह कैलास की दक्षिणी उपत्यका से निकलती है और कभी मानसरोवर से निकलती थी। पार्जिटर (पृ० २९१) का कथन है कि प्राचीन काल में यह आज की भाँति व्यास से नहीं मिली थी, प्रत्युत स्वतन्त्र रूप से बहती थी, और उन दिनों यह सूखी भूमि से बहती थी जो आजकल हक्र या 'घग्गर' नाम से प्रसिद्ध है, जो इसके आधुनिक बहाव से ३० से ५० मील दक्षिण है।

शुष्कनदी—(वारा० के अन्तर्गत असि नामक नदी) मत्स्य० १८२।६२, लिंग० (ती० क०, पृ० ११८)।

शुष्केश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११८)।

शूर्पारकतीर्थ—(बेसइन के पास आधुनिक सुपारा) वन० ८५।४३ (जहाँ परशुराम रहते थे), ८८।१२ (यहाँ जमदग्नि की नदी थी), ११८।८-१०, शान्ति० ४९।६७ (जमदग्नि के पुत्र परशुराम द्वारा समुद्र से पुनः निकाला गया स्थान), अनु० २५।५०, हरिवंश, विष्णु पर्व० ३९।२९-३१ (अपरान्त में शूर्पारक नगर ५०० धनुष लम्बा एवं ५०० इषु चौड़ा था और परशुराम ने इसे एक बाण छोड़कर स्थापित किया था), ब्रह्माण्ड० ३।५८।१७-१८ तथा ३२-३३, भाग० १०।७९।२०, ब्रह्म० २७।५८ (अपरान्त देशों में शूर्पारक का नाम सर्वप्रथम आया है)। नासिक अभिलेख, संख्या १० में 'शोर्पारग' शब्द आया है (बम्बई गजे०, पृ० ५६९ जि० १६); नानाघाट अभिलेख सं० ९ (ए० एस० डब्लू० आई०, जिल्द ५, पृ० ६४) में गोविन्ददास सोपारयक नाम आया है। सुप्पारक जातक (सं० ४६३, जिल्द ४, पृ० ८६, सम्पादक कॉवेल) में आया है कि भरुकच्छ एक बन्दरगाह था और उस देश का नाम भरु था। यह सम्भव है कि ओल्ड टेस्टामेण्ट का 'ओफिर' शब्द शूर्पारक है, यद्यपि यह मत विवादास्पद है। ऐं० जि० (पृ० ४९७-४९९ एवं ५६१-५६२) में तर्क उपस्थित किया गया है कि ओफिर या सोफिर (बाइबिल के सेप्टुजिण्ट अनुवाद में) सौवीर का देश है न कि शूर्पारक का, जैसा कि बहुत से विद्वान् कहते हैं। टालेमी ने इसे 'सौपारा' कहा है। कुछ प्रसिद्ध विद्वान् कहते हैं कि ओफिर टालेमी का ऐबीरिया अर्थात् आभीर है (पृ० १४०)। देखिए जे० आर० ए० एस०, १८९८, पृ० २५३ एवं जे० बी० बी० आर० ए० एस०, (जिल्द १५, पृ० २७३) जहाँ क्रम से विवेचन एवं शूर्पारक पर लम्बी टिप्पणी दी हुई है।

शूलघात—(कश्मीर में) देखिए नीलकुण्ड के अन्तर्गत।

शूलभेद—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।३, कूर्म० २।४१।१२-१४, पद्म० १।१८।३।

शूलेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५२)।

शृंगतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२१।३१।

शृंगवेरपुर—या (शृंगिबेर) वन० ५०।६५, पद्म० १।३९।६१; रामा० २।११३।२२, ६।१२६।४९, अग्नि० १०९।२३। यहीं पर अयोध्या से वन को जाते समय राम ने गंगा पार की। यह आज का सिंगरौर या सिंगोर है जो प्रयाग से उत्तर-पश्चिम २२ मील दूर गंगा के बायें किनारे है।

शृंगाटकेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५५।

शृंपा—(नदी, विन्ध्याचल से निकली हुई) ब्रह्माण्ड० २।१६।३२।

शेषतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ११५।१।

शैलेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।८६, वराह० २१६।२३, नारदीय० २।५०।५७, स्कन्द० ४।३।१३५।

शैलेश्वराश्रम—वराह० २१५।५७ एवं ८३-८४।

शैलोदा—(नदी, जो अरुण पर्वत की शैलोद झील से निकलती है) वायु० ४७।२१, ब्रह्माण्ड० २।१८।२२। देखिए दे, पृष्ठ १७२।

शोण—(एक नद, जिसका नाम हिरण्यवाह भी है, जो पुराणों के अनुसार गोण्डवाना में ऋक्ष पर्वत से निकलता है और बाँकीपुर से कुछ मील दूर गंगा से मिल जाता है) मत्स्य० ३२२।३५ (एक नद), ११४।२५, ब्रह्म० २७।३०, वायु० ४५।९९, ब्रह्माण्ड० २।१६।२९। यह टालेमी (पृ० ९९) का 'सोवा' एवं एरियन का 'सोनस' है। यह वहीं से, जहाँ से नर्मदा अमरकण्टक पहाड़ी से निकलती है, निकली है। देखिए ऐं० जि० (पृ० ४५३-४५४) जहाँ इसके और गंगा के संगम का वर्णन है, और देवल—नि० सि० ११०—'शोण-सिन्धु-हिरण्याख्याः कोक-लोहित-घर्घराः। शतद्रुश्च नदाः सप्त पावनाः परिकीर्तिताः॥' यहाँ हिरण्य एवं कोक अनिश्चित हैं, लोहित ब्रह्मपुत्र है।

शोण-ज्योतीरथ्या-संगम—वन० ८५।८, पद्म० १।३९।८। वि० ध० सू० (८५।३३) शोण-ज्योतिषासंगम में आया है किन्तु इसकी टीका वैजयन्ती ने टिप्पणी की है कि यह शोणज्योतीरथा है।

शोणप्रभद—(प्रभव ?) वन० ८५।९, पद्म० १।३९।९।

शोणितपुर—(बाणासुर की राजधानी, जहाँ उषा के साथ कपटाचार करने के कारण अनिरुद्ध को बन्दी बनाया गया था) ब्रह्म० २०६।१, हरिवंश, विष्णुपर्व १२१।९२-९३। दे (पृ० १८९) का कथन है कि यह कुमायूँ में आज भी इसी नाम से है, और भी बहुत से स्थल बाणासुर के शोणितपुर के समान कहे गये हैं। हरिवंश में आया है कि शोणितपुर द्वारका से ११,००० योजन दूर है। भविष्य० (कृष्णजन्मखण्ड, उत्तरार्ध ११४।८४७) ने शोणितपुर को बाणासुर की राजधानी कहा है। अभिधानचिन्तामणि (पृ० १८२) ने कहा है कि इसे कोटीवर्ष भी कहा जाता था।

शौनकेश्वरकुण्ड—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १२२)।

शौर्पारक—ब्रह्माण्ड० ३।१३।३७। देखिए सूर्पारक।

श्मशान—(दे० 'अविमुक्त') मत्स्य० १८४।१९।

श्मशानस्तम्भ—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५४)।

श्यामाया आश्रम—अनु० २५।३०।

श्येनी—(ऋक्ष पर्वत से निकलने वाली नदी) मत्स्य० ११४।२५। दे (पृ० २००) ने इसे बुन्देलखण्ड की केन नदी कहा है।

श्रावस्ती—(अवध में राप्ती के किनारे सहेत महेत) कहा जाता है कि उत्तर कोसल में यह लव की राजधानी थी। अयोध्या से यह ५८ मील उत्तर है, रामा० ७।१०७।४-७, वायु० ८८।२०० एवं ऐं० जि० पृ० ४०९। रघुवंश (१५।९७) में श्रावस्ती

एस० बी०, जिल्द ५, पृष्ठ ६०-६१, जहाँ नारायण पाल के सातवें वर्ष का शिलालेख विष्णुपद मन्दिर के पास है); (४) (शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५।४२।

विष्णुपदी—(गंगा का नाम, ऐसा कहा जाता है कि यह विष्णु के बायें अँगूठे से निकली है) भाग० ५।१७।१। अमरकोश ने यह गंगा का पर्याय माना है।

विष्णुसर—(१) (कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।२४; (२) (गोनिष्क्रमण के अन्तर्गत) वराह० १४७।४३।

वीरपत्नी—(नदी) ऋ० १।१०४।४।

वीरप्रमोक्ष—वन० ८४।५१, पद्म० १।३२।१४ (सम्भवतः भृगुलिंग के पास)।

वीरभद्रेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ८७)।

वीरस्थल—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।१४ एवं १६०।२०।

वीराश्रम—वन० ८४।१४५ (जहाँ कार्तिकेय रहते हैं)।

वृत्रघ्नी—(पारियात्र से निकलनेवाली एक नदी) ब्रह्माण्ड० २।१६।२७, मार्क० ५४।१९। दे (पृष्ठ ४२) के मत से यह साभ्रमती की एक सहायक नदी है।

वृत्रेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (तीर्थ-कल्प०, पृष्ठ ९६)।

वृद्धकन्यातीर्थ—(मुनि गालव के पुत्र ने एक बूढ़ी कुमारी से जिसने अपने योग्य वर के लिए तपस्या की थी, यहाँ विवाह किया) शल्य० ५१।१-२५, देवल० (ती० कल्प०, पृष्ठ २५०) (सारस्वत तीर्थों में एक)।

वृद्धपुर—(जहाँ शनैश्चर की एक झील है) पद्म० ६।३४।५३-५४।

वृद्धासंगम—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १०७।१।

वृद्धिविनायक—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।३१।

वृन्दावन—(मथुरा के बारह वनों में अन्तिम) मत्स्य० १३।३८ (यहाँ की देवी राधा है), वराह० १५३।४५, १५६।६ (यहाँ पर केशी राक्षस मारा गया था), भाग० १०।११।२८ एवं ३६, १०।२०, १०।२१।५ एवं १०, पद्म० ४।६९।९, ४।७५।८-१४ (अलौकिक व्याख्या), ४।८१।६० (मथुरा का सर्वोत्तम स्थल), ६।१६।७२ (जहाँ पर वृन्दा ने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया), ब्रह्मवैवर्त (कृष्णजन्मखण्ड १७।२०४-२२) में बताया गया है कि वृन्दा ने किस प्रकार तप किया और किस प्रकार राधा के सोलह नामों में वृन्दा एक है)। ऐं० जि० ने एरियन के क्लिशोबोरस की पहचान इससे की है।

वृषध्वज—(वाराणसी के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१३, लिंग० १।९२।१०६, नारद० २।५०।४८।

वृषभेश्वर—(वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ४३)।

वृषभञ्जक—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।३३।

वृषाकप—(गोदावरी के अन्तर्गत) कूर्म० २।४२।८।

वेगवती—(आधुनिक वैग या वैग, जिसके तट पर दक्षिण में मदुरा स्थित है) वराह० २१५।५८, वाम० ८४।६, पद्म० ६।२३७।९। देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द १३, पृष्ठ १९४ (जहाँ वेगवती के उत्तरी तट पर स्थित अम्बिकापुर के दान का वर्णन है, जो कामकोटि पीठ के शंकराचार्य को दिया गया था। इसका 'वैगाई' रूप शिलप्पदि कारम् (प्रो० दीक्षितार सम्पा०, पृष्ठ २७०) में मिलता है।

वेङ्कट—(द्रविड़ देश में तिरुपति के पास आर्काट जिले का एक पर्वत) गरुड़, ब्रह्मखण्ड (अध्याय २६) में 'वेंकटगिरिमाहात्म्य' है, भाग० ५।१९।१६, १०।७९। १३ (द्रविड़ में)। रामा० ६।२८०।१८, स्कन्द० ३, ब्रह्मखण्ड ५२।१०२, स्कन्द० १, वैष्णवखण्ड (वेंकटाचल माहात्म्य)। यह तीर्थ इतना पवित्र माना जाता है कि १८७० ई० तक तिरुमल पहाड़ी पर किसी ईसाई या मुसलमान को चढ़ने की अनुमति नहीं थी।

वेणा—(१) (विन्ध्य से निकली हुई नदी) ब्रह्म० २७।-३३, मत्स्य० ११४।२७। यह मध्य प्रदेश की वैन-गंगा है, जो गोदावरी में मिलती है; (२) (महा-

बलेश्वर के पास सह्य पर्वत से निकली हुई नदी) इम्पी० गजे० इण्डि० (जिल्द ५, पृष्ठ २२, जिल्द १३, पृष्ठ २२९, जिल्द २०, पृष्ठ २) के मत से पेनगंगा वर्धा में मिलती है और वैनगंगा एवं वर्धा की सम्मिलित धारा प्राणहिता के नाम से विख्यात है, जो अन्त में गोदावरी में मिल जाती है। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २४, पृष्ठ ३४९, भीष्म० ९।२०।२८, वन० ८५।३२, ८८।३, २२४।२४, अनु० १६।५२०, भाग० १०।७९।१२। वेणा अधिकतर कृष्णवेणा या वेण्या या वेणी के नाम से उल्लिखित है, जैसा कि मत्स्य० (११४।२९) में। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा (पृष्ठ ९४) में वेणा एवं कृष्णा-वेणा को अलग-अलग उल्लिखित किया है (दसवीं शताब्दी)। देखिए पार्जिटर (पृष्ठ ३०३), जिन्होंने इस नाम के विभिन्न रूपों का उल्लेख किया है।

वेणासंगम—वन० ८५।३४, पद्म० १।३९।३२।

वेणी—(१) (गंगा-यमुना का संगम) देखिए कर्णदेव का बनारस अभिलेख (१०४२ ई०, एपि० इण्डि०, जिल्द २, पृष्ठ २९७ एवं ३१०), जयचन्द्र का कमौली का दानपत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द ४, पृष्ठ १२३; लेख की तिथि ११७३ ई०); (२) (सह्य पर्वत में एक आमलक वृक्ष के चरण से निकली हुई एवं कृष्णा में मिलने वाली एक नदी) तीर्थसार, पृष्ठ ७८।

वेण्या—(सह्य पर्वत से निकली हुई एवं कृष्णा में मिलनेवाली एक नदी) वाम० १३।३०, अनु० १६५।२२ (गोदावरी च वेण्या च कृष्णवेणा तथापि च), भाग० ५।१९।१८, पद्म० ६।११३।२५ (महादेव वेण्या हो गये)।

वेणुमतो—यहाँ का श्राद्ध अत्यंत फलदायक होता है। मत्स्य० २२।२०।

वेतसिका—(नदी) वन० ८५।५६, पद्म० १।३२।-२०,४।२९।२० (इसने वेतसी-वेत्रवती-संगम कहा है)।

वेत्रवती—(१) (आधुनिक बेतवा नदी जो भूपाल की तरफ से निकलती और यमुना में मिल जाती है) मत्स्य० २२।२०, ११४।२३ (पारियात्र से निर्गत), ब्रह्माण्ड० २।१६।२८ (ऋक्षवान् से निकलती है), कूर्म० २।२०।३५; मेघदूत (१।२४) का कथन है कि विदिशा (आधुनिक भेलसा) जो दशार्ण की राजधानी थी, वेत्रवती पर स्थित है; (२) (साभ्रमती की सहायक नदी) पद्म० ६।१३० एवं १३३।४-५। मिलिन्द-प्रश्न (एस० बी० ई०, जिल्द ३५, पृ० १७१) में हिमालय से निर्गत जिन दस नदियों का नाम है, उनमें वेत्रवती भी एक है। यह उपर्युक्त दोनों से भिन्न कोई नदी रही होगी।

वेदगिरि—(ब्रह्मगिरि के दक्षिण सह्य श्रेणी की पहाड़ी एवं कृष्ण-वेण्या के अन्तर्गत एक उपतीर्थ) तीर्थसार पृष्ठ ७८।

वेदधार—(बदरी के अन्तर्गत) वराह० १४१।२०।

वेदशिरा—(श्राद्ध के लिए अत्यंत उपयोगी) मत्स्य० २२।७१।

वेदवती—(पारियात्र से निकली हुई एक नदी) मत्स्य० ११४।२३; ब्रह्माण्ड० २।१६।२७, ब्रह्म० २७।२९, अनु० १६५।२६। इस और निम्नोक्त नदियों की पहचान नहीं हो सकी है। वेदवती या हगरी नामक नदी मैसूर से निकलती और तुंगभद्रा में मिल जाती है। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द १३, पृ० ५।

वेदश्रुति—(कोसल के पश्चात् दक्षिण में एक नदी) रामा० २।४९।१०।

वेदस्मृति—(पारियात्र से निकली हुई नदी) अनु० १६५।२५, मत्स्य० ११४।२३, वायु० ४५।९७, ब्रह्माण्ड० २।१६।२७। दे (पृष्ठ २२३) के मतानुसार यह मालवा में बोसुली नदी है और सिंध की सहायक है, बार्ह० सू० (१६।३२) ने इसका उल्लेख किया है।

वेदीतीर्थ—(श्लोक १ में देवीतीर्थ) पद्म० १।२६।९२।

वेदेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४४)।

वैकुण्ठ-कारण—(मन्दार के अन्तर्गत) वराह० १४३।-२१-२३।

वैकुण्ठ-तीर्थ—(१) (गया के अन्तर्गत) मत्स्य०

३२।७५; नारदीय० २।४७।७५; (२) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६३।१-४ एवं १०।१२।

वैजयन्त—(एक सारस्वत-तीर्थ) देवल (तीर्थकल्प०, पृ० २५०)।

वैतरणी—(१) (उड़ीसा में बहनेवाली एवं विन्ध्य से निर्गत नदी) वन० ८५।६, ११४।४, वायु० ७७।९५, कूर्म० २।३७।३७, पद्म० १।३९।६, अग्नि० ११६।७, मत्स्य० ११४।२७, ब्रह्म० २७।३३। जाजपुर (ययातिपुर) इस नदी पर है जो बालासोर एवं कटक की सीमा है (इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द ६, पृ० २२३)। कहीं-कहीं उत्कल एवं कलिंग को पृथक्-पृथक् माना गया है (ब्रह्म० ४७।७ एवं रघुवंश ४।३८)। 'उत्कल' को 'उत्कलिंग' (जो कलिंग के बाहर हो) से निकला हुआ माना गया है; (२) (गया में) (वायु० १०५।४५, १०९।१७, अग्नि० ११६।७; (३) (फलकीवन में) वामन० ३६।४३-४४, पद्म० १।२६।७९; (४) (वाराणसी में एक कूप) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६३)।

वैदर्भा—मत्स्य० २२।६४, नलचम्पू ६।६६ (दक्षिण-सरस्वती)। सम्भवतः यह वरदा नदी है।

वैदूर्य—(आनर्त में एक पहाड़ी) वन० ८९।६, १२१।१६ एवं १९ (जहाँ पाण्डव लोग पयोष्णी को पार कर आये थे)। पाणिनि (४।३।८४) ने 'वैदूर्य' नामक मणि (रत्न) का 'विदूर' से निकलना माना है (तस्मात् प्रभवति)। महाभाष्य (जिल्द २, पृ० ३१३) ने एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें आया है कि वैयाकरण लोगों ने 'वालवाय' नामक पर्वत को 'विदूर' नाम दिया है। लगता है, यह सतपुड़ा श्रेणी, है जिसमें वैदूर्य की खान थी। देखिए पार्जिटर पृ० २८७ एवं ३६५। हो सकता है कि यह टॉलेमी का 'ओरोदियन' पर्वत हो।

वैद्यनाथ—(१) मत्स्य० १३।४१, २२।२४, पद्म० ५।१७।२०५; (२) (वाराणसी के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ८४ एवं ११४); (३) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१६०।१; (४) (यहाँ पर देवी बगला कही जाती है) देवीभाग० ७।३८।१४; (५) (वैद्यनाथ का मंदिर, जो संथाल परगने के देवघर नामक स्थान में १२ ज्योतिर्लिङ्गों में एक है) देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० २४४, जहाँ वैद्यनाथ के विशाल मन्दिर का उल्लेख है। यह देवघर के २२ शिव-मन्दिरों में सबसे प्राचीन है।

वैनायकतीर्थ—मत्स्य० २२।३२, गरुड़० १।८१।८।

वैमानिक—अनु० २५।२३।

वैरा—(नदी) मत्स्य० २२।६४।

वैरोचनेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।

वैवस्वततीर्थ—(सूकर के अन्तर्गत) वराह० १३७।२४० (जहाँ सूर्य ने एक पुत्र के लिए तप किया), अनु० २५।३९।

वैवस्वतेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० १०४)।

वैशाख—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५६ (जिसे विशाख अर्थात् स्कन्द ने स्थापित किया)।

वैश्रवणेश्वर—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१४८।

वैश्वानर-कुण्ड—(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।५८।

वैहायसी—(नदी) वन० १९।१८।

वैहार—(गिरिव्रज को घेरनेवाली एवं रक्षा करनेवाली पाँच पहाड़ियों में एक) सभा० २१।२।

व्याघ्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।१४, पद्म० १।३७।१७, लिंग० १।९२।१०९, नारद० २।५०।५६।

व्यासकुण्ड—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृष्ठ ८६)

व्यासतीर्थ—(१) (कुरुक्षेत्र में) कूर्म० २।३७।२९, ब्रह्माण्ड० ३।१३।६९; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) वायु० ७७।६७, पद्म० १।१८।३७; (गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १५८।१।

व्यासवन—(मिश्रक के पास) पद्म० १।२६।८७।

व्याससर—वायु० ७७।५१, ब्रह्माण्ड० ३।१३।५२।

व्यासस्थली—(जहाँ पर पुत्र के खो जाने से व्यास ने मरने का प्रण किया था) नारदीय० २।६५।८३-८४, पद्म० १।२६।९०-९१।

व्योमगङ्गा—(गया के अन्तर्गत) नारद० २।४७।५७।

व्योमतीर्थ—(वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।१४।

व्योमलिङ्ग—(श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।५२।-१६१।

व्रज—(नन्द-गोप का गाँव) भाग० १०।१।१०, देखिए 'गोकुल' ऊपर।

श

शंकुकर्ण—(वारा० के अन्तर्गत) मत्स्य० १८१।२७; कूर्म० १।३१।४८, पद्म० १।२४।१८।

शंकुकर्णेश्वर—(वाराणसी की दक्षिणी सीमा पर एक लिंग) कूर्म० १।३३।४८, लिंग० १।९२।१३५, नारद० २।४८।१९-२०।

शक्रतीर्थ—(१) (नर्मदा के दक्षिणी तट पर) मत्स्य० २२।७३, कूर्म० १।४१।११-१२, पद्म० १।२४।-२९; (२) (कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।-८१।

शक्ररुद्र—(कोकामुख से तीन कोस दूर) वराह० १४०।६५।

शक्रसर—(सानन्दूर के अन्तर्गत) वराह० १५०।३३।

शक्रावर्त—वन० ८४।२९, पद्म० १।२८।२९।

शक्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७४)

शंखतीर्थ—(१) (सरस्वती पर) शल्य० ३५।८७; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४२।१७ (शंखितीर्थ); (३) (आमलक ग्राम के अन्तर्गत) नृसिंह० ६०।२३।

शंखप्रभ—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५।४८।

शंखलिखितेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९३)।

शंखह्रद—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १५६।१।

शंखिनीतीर्थ—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८३।५१।

शंखोद्धार—(कच्छ की खाड़ी के अन्त में दक्षिण-पश्चिमी भाग में स्थित एक द्वीप) भागवत० ११।३०।६ (कृष्ण ने ऐसा निर्देश किया था कि जब द्वारका में भयंकर लक्षण दृष्टिगोचर हों तो स्त्रियाँ, बच्चे एवं वृद्ध लोग वहाँ चले जायँ), मत्स्य० १३।४८, २२।-६९ (यहाँ का श्राद्ध अनन्त है)। यह अति प्रसिद्ध स्थल है, विशेषतः वैष्णवों के लिए। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० १८।

शचीश्वरलिंग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १०५)।

शतकुम्भ—(सरस्वती के अन्तर्गत) वन० ८४।-१०, पद्म० १।२८।११ (दोनों में एक ही श्लोक है)।

शतद्रु—(सतलज) इसे 'शुतुद्री' भी कहा जाता है। आदि० १७७।८-९ (व्युत्पत्ति दी हुई है), मत्स्य० २२।१२, भाग० ५।१९।१८। अमरकोश ने 'शुतुद्री' एवं 'शतद्रु' को पर्यायवाची कहा है।

शतरुद्रा—मत्स्य० २२।३५ (यहाँ का श्राद्ध अनन्त होता है)।

शतशृंग—(पर्वत) देवल (ती० क०, पृ० २५०)।

शतसहस्रक—(सरस्वती के अन्तर्गत) पद्म० १।२७।-४५, वाम० ४१।३, वायु० ८३।१५७ एवं ८४।७४ (शतसाहस्रक)।

शनैश्चरेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६७)।

शबरीतीर्थ—(गोदावरी पर) पद्म० ६।२६९।२७७-२७८।

शम्भलग्राम—ब्रह्म० २१३।१६४ (कल्की विष्णुयशा यहाँ जन्म लेंगे और म्लेच्छों का नाश करेंगे), पद्म० ६।२६९। १०-१२ (शम्भल ग्राम का उल्लेख है), गरुड़० १।८१।६, भाग० १२।२।१८, वायु० ७८।१०४-१०९, मत्स्य० १४४।५१, ब्रह्माण्ड० २।३१।७६, विष्णु० ४।२४।९८; इन सभी ने कल्की

में मिलित कही गयी है। यह टालेमी (पृ० ९९) की 'सरबोज' है। इसे घाघरा या घर्घर भी कहा जाता है।

सरस्वती—(आधुनिक सरसुति) वह नदी जो ब्रह्मसर से निकलती है (शल्य० ५१।१९ के मत से), बदरिकाश्रम से (वाम० २।४२-४३), प्लक्ष वृक्ष से (वाम० ३२।३-४ के मत से)। पद्म० ५।१८।१५९-१६० (सरस्वती से कहा गया है कि वह वाड़व अग्नि को पश्चिम के समुद्र में फेंक दे। सम्भवतः यह उस ज्वालामुखीय विप्लव की ओर संकेत है जिसके फलस्वरूप सरस्वती अन्तर्हित हो गयी)। वाम० (३।८) का कथन है कि शंकर ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होने पर इसमें कूद पड़े थे, इससे यह अन्तर्हित हो गयी। वन० (१३०।३-४) के अनुसार यह शूद्रों, निषादों एवं आभीरों के स्पर्श के भय से लुप्त हो गयी। अनु० (१५५।२५-२७) का कथन है कि सरस्वती उतथ्य के शाप से मरुदेश में चली गयी और सूखकर अपवित्र हो गयी। अन्तर्धान होने के उपरान्त यह चमसोद्भेद, शिवोद्भेद एवं नागोद्भेद पर दिखाई पड़ती है। सरस्वती कुरुक्षेत्र में 'प्राची सरस्वती' कहलाती है (पद्म० ५।१८।१८१-१८२)। देखिए विभिन्न सरस्वतियों के लिए दे(पृष्ठ १८०-१८१)। वन० (१३०।१-२) का कथन है कि जो सरस्वती पर मरते हैं वे स्वर्ग जाते हैं और यह दक्ष की कृपा का फल है जिन्होंने यहाँ पर एक यज्ञ किया था। देखिए ओल्डम का लेख, जे० आर० ए० एस०, १८९३, पृ० ४९-७६; (२) इसी नाम की एक अन्य पवित्र नदी जो अरावली पर्वतमाला के अन्त में दक्षिण-पश्चिम से निकलती है और दक्षिण-पश्चिम में बहती हुई पालनपुर, महीकण्ठ आदि जिलों को पार करती तथा अन्हिलवाड़ एवं सिद्धपुर की प्राचीन नगरियों से बहती हुई कच्छ के रन में समा जाती है। देखिए 'प्रभास' के अन्तर्गत।

सरस्वती-अरुणा-सङ्गम—वन० ८३।१५१, कूर्म० २।३०।२२, शल्य० ४३।३१ एवं अ० ४४।

सरस्वतीपतन—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५४।२०।

सरस्वती-सागर-संगम—वन० ८२।६०, पद्म० १।२४।९, वाम० ८४।२९।

सर्करावर्ता—(नदी) भाग० ५।१९।१८।

सर्गबिन्दु—(नर्मदा के अन्तर्गत) कूर्म० २।४२।२३।

सर्वतीर्थ—पद्म० २।९२।४ एवं ७ (प्रयाग, पुष्कर, सर्वतीर्थ एवं वाराणसी ऐसे तीर्थ हैं जो ब्रह्महत्या के पाप को भी दूर करते हैं।

सर्वतीर्थेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१३४।

सर्वह्रद—वन० ८५।३९ (स्थान अनिश्चित है)।

सर्वात्मक—(कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।३७।

सर्वायुध—(शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४५।५६।

सह्य या सह्याद्रि—(भारत के सात प्रमुख पर्वतों में एक) ब्रह्म० १६।१२, मत्स्य० १३।४०, ब्रह्माण्ड० ३।५६।२२, अग्नि ०१०९।२१।

सहस्रकुण्ड—(गोदा० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १५४।१, (तीर्थसार, पृ० ५९)।

सह्यामलक—देखिए 'आमलक'।

सह्यारण्य—देवीपुराण (ती० क०, पृ० २४४)।

सहस्राक्ष—मत्स्य० २२।५२, यहाँ का दान अत्यंत फलदायक होता है।

साकेत—(अयोध्या) यह टालेमी की 'सागेद' है। देखिए ब्रह्माण्ड० ३।५४।५४; महाभाष्य (जिल्द १, पृष्ठ २८१, पाणिनि० १।३।२५) में आया है—'यह मार्ग साकेत को जाता है', पुनः आया है—'यवन ने साकेत पर घेरा डाल दिया' (जिल्द २, पृ० ११९, पाणिनि ३।२।१११; 'अरुणद् यवनः साकेतम्'), यहाँ यवन का संकेत मिनेण्डर की ओर है। सुत्तनिपात (एस० बी० ई०, जिल्द १०, भाग २, पृ० १८८) ने बुद्ध के काल में इसकी चर्चा की है। फाहियान ने इसे 'शा-ची' एवं ह्वेनसाँग ने 'बिसाख' कहा है। देखिए ऐं० जि०, पृ० ४०१-४०७। रघुवंश (१३।७९, १४।१३२, १५।३८) ने

साकेत एवं अयोध्या को एक ही माना है। काशिका (पाणिनि ५।१।११६) ने लिखा है—'पाटलिपुत्रवत् साकेते परिखा', जिससे प्रकट होता है कि ७वीं शताब्दी में साकेत का नगर चौड़ी खाई के साथ विद्यमान था। अभिधानचिन्तामणि (पृ० १८२) के मत से साकेत, कोसला एवं अयोध्या पर्याय हैं।

सामलनाथ—(श्यामलनाथ) मत्स्य० २२।४२, पद्म० ५।११।३५। दे (पृष्ठ २००) ने इसे महीकण्ठ एजेन्सी के सामलाजी कहा है।

सानन्दूर—वराह० १५०।५। इसका वास्तविक स्थान नहीं बताया जा सकता। यह दक्षिणी समुद्र एवं मलय के मध्य में है। यहाँ पर विष्णु की प्रतिमा स्थापित हुई थी जो कुछ लोगों के कथनानुसार लोहे की और कुछ के कथनानुसार ताम्र या सीसा या पत्थर आदि की थी। दे ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है।

सान्तेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६६)।

सामुद्रक—(ब्रह्मावर्त के पास) वन० १८४।४१।

साम्बपुर—(१) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० ३७७।-५५ (कुलेश्वर नाम भी आया है); (२) (चन्द्र-भागा के किनारों पर) भविष्यपुराण, ब्रह्म० १४०।-३। यह आज का मुल्तान है।

सामुद्रतीर्थ—(गोदा के अन्तर्गत) ब्रह्म० १७२।१-२०, जिसके लगभग १० श्लोक तीर्थसार (पृ० ६३-६४) द्वारा कुछ पाठान्तरों के साथ उद्धृत हैं।

साभ्रमती-सागर-संगम—पद्म० ६।१६६।१।

साभ्रमती—(आधुनिक साबरमती नदी, जो मेवाड़ की पहाड़ियों से निकलकर खम्भात की खाड़ी में गिरती है) साबरमती का मौलिक नाम 'श्वभ्रवती' है, इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २१, पृ० ३४४। पद्म० ६।१३१ से अध्याय १७० तक इस नदी के उपतीर्थों का सविस्तर वर्णन है। अध्याय १३३ के २—६ तक के श्लोकों में इसकी सात धाराओं का उल्लेख है, यथा साभ्रमती, सेटीका (श्वेतका), बकुला, हिरण्मयी, हस्तिमती (आधुनिक हाथीमती), वेत्रवती (आधुनिक वात्रक) एवं भद्रमुखी।

सारस्वत—(१) यहाँ श्राद्ध अति पुण्यकारी है, मत्स्य० २२।६३; (२) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।-१२, पद्म० १।३७।१५।

सारस्वत-तीर्थ—शल्य० ५० (असित, देवल एवं जैगी-षव्य की गाथा); ५१ (सरस्वती से सारस्वत का जन्म, जिन्होंने ऋषियों को १२ वर्ष के दुर्भिक्ष में वेद पढ़ाये थे)।

सारस्वत-लिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।-१३४।

सावर्णीश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६०)।

सावित्री—(नदी, जो आधुनिक रत्नगिरि एवं कोलाबा जिलों की सीमा बनाती है) पद्म० ६।११३।२८।

सावित्रीतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।-६, कूर्म० २।४२।१९, पद्म० १।२१।६।

सावित्रीपद—(गया के अन्तर्गत) वन० ८४।९३।

सावित्रीश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७०)।

साहस्रकतीर्थ—वन० ८३।१५८, पद्म० १।२७।४६।

सिंह—बार्ह० सू० (३।१२०) के अनुसार यह एक वैष्णव क्षेत्र है। सम्भवतः यह विजगापट्टम (आधु-निक विशाखापत्तन) के उत्तर-पश्चिम नृसिंहावतार का सिंहाचलम् मन्दिर है। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द १२, पृ० ३७५।

सिद्धकेश्वर—(विरज तीर्थ के अन्तर्गत आठ तीर्थों में एक) ब्रह्म० ४२।६।

सिद्धतीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० १४३।१।

सिद्धपद—(सरस्वती पर एक तीर्थ) भाग० ३।-३३।३१।

सिद्धपुर—(अहमदाबाद से ६० मील उत्तर) मत्स्य० १३।४६ (यहाँ देवी माता कही जाती है)। पितरों के लिए जो गया है वही माता के लिए सिद्धपुर है। यह सरस्वती नदी पर है।

सिद्धवन—मत्स्य० २२।३३। यहाँ पर श्राद्ध अत्यन्त फलदायक होता है।

सिद्धवट—(१) (लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।७; (२) (श्रीपर्वत के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।१५३।

सिद्धिकूट—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ८८)।

सिद्धेश्वर—(१) (वारा० के अन्तर्गत) मत्स्य० ३२।४३ एवं १८१।२५ (ती० क०, पृ० ८८, ११७ एवं २४१); (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।१००, (नर्मदा के दक्षिणी तट पर एक लिंग) वाम० ४६।३४, पद्म० ।२०।३४। (३) (गोदावरी के दक्षिणी तट पर) ब्रह्म० १२८।१।

सिन्धु—(१) (आधुनिक सिन्ध नदी, यूनानी 'सिण्ठोस') ऋ० २।१५।६ (यहाँ सिन्धु को उत्तर की ओर बताया गया है) ५।५३।९, ८।२०।२५ (ओषधि जो सिन्धु, असिक्नी एवं समुद्रों में है), १०।७५।६। सप्त सिन्धु (पंजाब की पाँच नदियाँ, सिन्धु एवं सरस्वती) ऋ० २।१२।१२, ४।२८।१, ८।२४।२७, अथर्व० ६।३।१ में वर्णित है। द्रोणपर्व १०१।२८ (सिन्धुषष्ठाः समुद्रगाः), राज० १।५७ (स्टीन की टिप्पणी), नोलमत० ३९४ (सिन्धु गंगा है और वितस्ता यमुना है)। देखिए वर्णन के लिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द १, पृ० २९-३०। यह कैलास के उत्तर तिब्बत से निकलती है। सिन्धु उस जनपद का भी नाम है जिसमें यह नदी बहती है (पाणिनि ४।३।९३), काशिका (पाणिनि ४।३।८३, 'प्रभवति') ने उदाहरण दिया है—'दारादी सिन्धुः' (सिन्धु नदी दरद से निकलती है)। सिन्धु नदी रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले अभिलेख में भी उल्लिखित है; (२) (एक नदी जो पारियात्र से निकलकर यमुना में मिलती है) वायु० ४५।९८, मत्स्य० ११४।२३, ब्रह्म० २७।२८। यह वही काली सिन्धु है जो चम्बल एवं बेतवा के मध्य बहती है। मालतीमाधव ने इसके और 'पारा' के संगम (अंक ४, अन्त में) तथा इसके और 'मधुमती' (अंक ९, तीसरे श्लोक के पश्चात् गद्य) के संगम का उल्लेख किया है। नाटक के दृश्य में पद्मावती को पारा एवं सिन्धु के संगम पर रखा गया है।

सिन्धुप्रभव—(सिन्धु का उद्गम) वन० ८४।४६, पद्म० १।३२।१०।

सिन्धुसागर—नृसिंह० ६५।१३ (ती० क०, पृ० २५२)।

सिन्धु-सागरसंगम—वन० ८२।६८, वायु० ७७।५६, पद्म० १।२४।१६।

सिन्धूत्तम—(झील) वन० ८२।७९।

सीतवन—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२६।५५।

सीततीर्थ—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १७९।२८।

सीता—(गंगा की एक मूल शाखा) वायु० ४७।२१ एवं ३९, भाग० ५।१७।५।

सुकुमारी—(शुक्तिमान् पहाड़ से निकली हुई नदी) वायु० ४५।१०७।

सुगन्ध—(सरस्वती के अन्तर्गत) पद्म० १।३२।१।

सुगन्धा—वन० ८४।१०, वि० ध० सू० २०।१० (टीका के अनुसार यह सौगन्धिक पर्वत के पास है), पद्म० १।२८।१ (सरस्वती के अन्तर्गत), पद्म० और वन० में एक ही श्लोक है।

सुग्रीवेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ५१)।

सुचक्र—(सरस्वती के अन्तर्गत) वाम० ५७।७९।

सुतीर्थक—वन० ८३।५६।

सुदिन—वन० ८३।१००।

सुनन्दा—(नदी) भाग० ८।१।८।

सुनील—(वारा० के अन्तर्गत) पद्म० १।३७।३।

सुन्दरिकातीर्थ—वन० ८४।५७, अनु० २५।२१ (देविका के नाम पर) वराह० २१५।१०४।

सुन्दरिकाह्रद—अनु० २५।२१।

सुन्दरिका—(नदी) पद्म० १।३२।२१। यह एक पालि दोहे में उद्धृत सात पवित्र नदियों में एक है। (एस्० बी० ई०, जिल्द १०, भाग २, पृ० ७४)।

सुपर्णा—(गोदा० की एक सहायक नदी) ब्रह्म० १००।१।

सुपार्श्व—पद्म० ६।१२९।१६।

सुप्रयोगा—(उन नदियों में एक जो अग्नि की माताएँ हैं) वन० २२२।२५३, मार्क० ५४।२६, वायु० ४५।१०४। इसकी पहचान नहीं हो सकती, यद्यपि यह कहा गया है कि यह सह्य से निकली है (ब्रह्माण्ड० २।१६।३५), कुछ लोग इसकी पहचान पेन्नार से करते हैं। देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द २७, पृ० २७३।

सुभद्र-सिन्धु-संगम—पद्म० ६।१२९।२५।

सुभूमिक—(सरस्वती पर एक तीर्थ) शल्य० ३७।-२३ (यहाँ बलराम आये थे)।

सुमन्तुलिंग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९७)।

सुरभिवन—(हिमालय में शिलोदा नदी पर) ब्रह्माण्ड० २।१८।२३।

सुरभिकेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।-३६।

सुरसा—(नदी) विष्णु० २।३।११ (विन्ध्य से निकलती है), ब्रह्माण्ड० २।१६।२९ (ऋक्षवान् से निकलती है), भाग० ५।१९।१८।

सुरेश्वरी क्षेत्र—(कश्मीर में इशाबर नामक आधुनिक ग्राम जो डल झील के उत्तर दो मील की दूरी पर है) राज० ५।३७, नीलमत० १५३५, स्टीन-स्मृति पृ० १६१, यहाँ का मुख्य आकर्षण है गुप्तगंगा नामक एक पवित्र धारा।

सुवर्ण—वन० ८४।१८, अग्नि० १०९।१६, पद्म० १।२८।१९ (जहाँ पर विष्णु ने रुद्र की प्रसन्नता चाही थी)।

सुवर्णतिलक—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।४६।

सुवर्णाक्ष—(वारा० के अन्तर्गत) मत्स्य० १८१।२५, कूर्म० २।३५।१९।

सुवर्णरेखा—(रैवतक के पास एक पवित्र नदी) स्कन्द० ७।२।११-३ (सम्भवतः यह आगे वाली नदी भी है। बंगाल में भी इसी नाम की एक नदी है)। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि, जिल्द २३, पृ० ११४।

सुवर्णसिकता—(नदी) इसका नाम जूनागढ़ वाले शिलालेख (रुद्रदामन, १५५ ई०, एपि० इण्डि०, जिल्द ८, पृ० ३६ एवं ४२) में आया है। आजकल यह काठियावाड़ में सोनरेखा के नाम से विख्यात है।

सुवास्तु—(नदी, काबुल नदी में मिलनेवाली आधुनिक स्वात) ऋ० ८।१९।३७। यह एरियन (ऐं० इण्डिया, पृ० १९१) की सोआस्टोस है। पाणिनि (४।२।७७) को सुवास्तु ज्ञात थी। स्वात के पास प्रसिद्ध बौद्धगाथाओं वाले संस्कृत के शिलालेख पाये गये हैं (एपि० इण्डि०, जिल्द २, पृ० १३३)।

सुव्रतस्य आश्रम—(दृषद्वती पर) वन० ९०।१२-१३।

सुषुम्ना—(१) (गया के अन्तर्गत नदी) नारद० २।-४७।३६; (२) (वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ३५) (इसे मत्स्योदरी भी कहते हैं)।

सुषोमा—(नदी) ऋ० ८।६४।११। ऋ० (१०।७५।५) में यह शब्द किसी नदी का द्योतक है किन्तु निरुक्त (९।२६) ने इसे सिन्धु माना है; भाग० ५।१९।१८। स्टीन (डा० आर० जी० भण्डारकर अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० २१-२८, 'रिवर नेम्स इन ऋग्वेद') का कथन है (पृ० २६) कि सुषोमा सोहन (सुअन) है जो रावलपिण्डी जिले में बहती हुई नमक की श्रेणी के उत्तर सिन्धु तक पहुँचती है।

सुसर्तु—नदी, सिन्धु के पश्चिम उसकी सहायक नदी। ऋ० १०।७५।६। कीथ को यह नहीं मालूम हो सका कि सिन्धु की यह कौन-सी सहायक नदी थी।

सुतीक्ष्णाश्रम—रामा० ३।७, रघुवंश १३।४१ (अगस्त्याश्रम से कुछ दूर पर)।

सूकरतीर्थ—(बरेली और मथुरा के बीच में गंगा के पश्चिम तट पर सोरों) ऐं० जि०, पृ० ३४६-३६५ के मत से। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २३, पृ० ८८-८९। वराह० अ० १३७-१३९; ती० क० (पृ० २०९-२१२) ने केवल वराह० के १३७वें अध्याय से ३७ श्लोक उद्धृत किये हैं। नारदीय० २।४०।३१ एवं ६०।२२ (यहाँ पर अच्युत वराह के

लत्र की राजधानी कही गयी है। देखिए मार्शल का लेख, जे० आर० ए० एस्०, १९०९, पृ० १०६६-१०६८ एवं एपि० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० २०। डॉ० स्मिथ (जे० आर० ए० एस्०, १८९८, पृ० ५२०-५३१) ने श्रावस्ती को सहेत महेत न मानकर नेपाल की भूमि में उसे नेपालगंज के पास माना है। ब्रह्म० (७।५३) में आया है कि इसका नाम इक्ष्वाकु कुल के श्रावस्त के नाम पर पड़ा है।

श्रीकुञ्ज--(सरस्वती के अन्तर्गत) पद्म० ११२६।१९, वन० ८३।१०८।

श्रीकुण्ड--वन० ८२।८६. (अब इसका नाम लक्ष्मी-कुण्ड है जो वाराणसी में है) लिंग० (ती० क०, पृ० ६२)।

श्रीक्षेत्र--(जगन्नाथपुरी) इसके विषय में गत अध्याय में सविस्तर लिखा गया है।

श्रीनगर--(१) (कश्मीर की राजधानी है) इसका इतिहास बहुत लम्बा है। राज० (१।१०४) के अनुसार अशोक ने ९६ लाख घरों के साथ श्रीनगरी का निर्माण किया। स्टीन ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि कनिंघम (ऐं० जि० पृ० ९३) ने अशोक की श्रीनगरी को आधुनिक श्रीनगर से तीन मील ऊपर वितस्ता के दाहिने तट पर स्थित आधुनिक पन्द्रेथान नामक गाँव के पास माना है। पन्द्रेथान (कल्हण का पुराणाधिष्ठान) तख्त-ए-सुलेमान पहाड़ी के चरण में है। प्रवरसेन प्रथम ने प्रवरेश्वर मन्दिर स्थापित किया और प्रवरसेन द्वितीय ने छठी शताब्दी के आरम्भ में नयी राजधानी का निर्माण कराया। ह्वेनसाँग ने इस नयी नगरी (प्रवरपुर) का उल्लेख किया है। देखिए 'बील' का लेख, बी० आर० डब्लू० डब्लू०, जिल्द १, पृ० ९६, १४८ एवं १५८ तथा ऐं० जि०, पृ० ९५-९६। आइने अकबरी (जिल्द २, पृ० ३५५) का कथन है कि कोह-ए-सुलेमान श्रीनगर के पूरब है। अल-बरूनी (जिल्द १, पृ० २०७) का कथन है कि अद्दिष्ठन (कश्मीर की राजधानी अधिष्ठान) झेलम के दोनों किनारों पर निर्मित है। डल झील का, जो श्रीनगर के पास है और संसार के रम्यतम स्थानों में एक है, वर्णन इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० १२४-१२५ में है; (२) (अलकनन्दा के बायें किनारे पर गढ़वाल जिले में यह एक बस्ती है) यू० पी० गजेटियर, जिल्द ३६, पृ० २००।

श्रीपर्णी--(यहाँ दान अत्यंत फलदायक होता है) मत्स्य० २२।४९।

श्रीपर्वत--(या श्रीशैल) (१) (कुर्नूल जिले में कृष्णा स्टेशन से ५० मील दूर कृष्णा नदी की दक्षिण दिशा में एक पहाड़ी) यहाँ पर बहुत-से लिंग हैं जिनमें प्रसिद्ध मल्लिकार्जुन (लिंग० ११९२।१५५) भी है जिसकी गणना १२ ज्योतिर्लिङ्गों में होती है। लिंग० (१।९२।१४७-१६६) में कुछ ज्योतिर्लिङ्गों का उल्लेख है। देखिए वन० ८५।१८-२० (यहाँ महादेव उमा के साथ बिराजते हैं), वायु० ७७।२८, मत्स्य० १३।३१ (यहाँ देवी 'माधवी' कही गयी है), १८१।२८ (आठ प्रमुख शिवस्थानों में एक), १८८।७९ (रुद्र द्वारा जलाया गया बाणासुर का एक पुर यहाँ गिर पड़ा था), पद्म० १।१५।६८-६९ (मत्स्य० अ० १८८ की कथा यहाँ भी है), अग्नि० १३३।४ (गौरी ने यहाँ लक्ष्मी का रूप धारण करके तप किया था)। पार्जिटर (पृ० २९०) ने अग्नि की व्याख्या ठीक से नहीं की है। कूर्म० २।२०।३५ (यहाँ श्राद्ध अत्यन्त फलदायक होता है), २।३७।१३-१४ (यहाँ पर धार्मिक आत्मघात की अनुमति है), पद्म० १।३९।१७, ४।२०।१५ (योगियों एवं तपस्वियों का यह एक बड़ा स्थल है)। बार्ह०सू० (३।१२४) के अनुसार यह शाक्त क्षेत्र है। मालतीमाधव ने इसकी कई बार चर्चा की है। देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ९, जिल्द ४, पृ० १९३ (जहाँ विष्णुकुण्डिन विक्रमेन्द्र वर्मा का चिक्कुल्ल दानपत्र है)। नागार्जुन कोण्डा के तीसरी शताब्दी के शिलालेख में श्रीपर्वत का उल्लेख है (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० १ एवं २३); (२)

(वारा० में एक लिंग) अग्नि० ११२।४; (३) (नर्मदा के अन्तर्गत) अग्नि० ११३।३।

श्रीपतितीर्थ—(यहाँ श्राद्ध करने से परमपद प्राप्त होता है) मत्स्य० २२।७४।

श्रीतीर्थ—(वारा० के अन्तर्गत) वन० ८३।४६, कूर्म० १।३५।८, पद्म० १।३७।८।

श्रीमादक—(कश्मीर के दक्षिण में एक अभिभावक अथवा रक्षक नाग) नीलमत० १११७।

श्रीमुख—(गुहा) लिंग० (ती० कल्प०, पृ० ६०) (वाराणसी के अन्तर्गत)।

श्रीरंग—(आधुनिक श्रीरंगम् जो त्रिचिनापल्ली से दो मील उत्तर कावेरी एवं कोलरून के मध्य में एक द्वीप है) मत्स्य० २२।४४, (यहाँ का श्राद्ध अनन्त है) भाग० १०।७९।१४, पद्म० ६।२८०।१९, बार्ह० सूत्र ३।१२० (वैष्णव क्षेत्र)। यह 'शिलप्पदिकारम्' (अ० १०, प्रो० दीक्षितार द्वारा अनूदित, पृ० १६३) में वर्णित है। विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक रामानुजाचार्य का यहाँ देहावसान हुआ था। देखिए इम्पी० गजे० इण्डि०, जिल्द २३, पृ० १०७-१०८ जहाँ विष्णु (जिन्हें यहाँ रंगनाथ स्वामी कहा जाता है) के मन्दिर का वर्णन किया गया है।

श्लेष्मातकवन—(हिमालय पर) वराह० २१४।२४-२६, २१५।१२-१३ एवं ११५। दे (पृ० १८८) का कथन है कि यह उत्तर गोकर्ण है जो नेपाल में पशुपतिनाथ के उत्तर-पूर्व दो मील की दूरी पर है। दो गोकर्णों के लिए देखिए 'गोकर्ण'।

श्वाविल्लोमापह—वन० ८३।६१।

श्वेततीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) ब्रह्म० ९४।१।

श्वेती—(सिन्धु नदी के पश्चिम उसकी सहायक नदी) ऋ० १०।७५।६। इसे सुवास्तु कहना कठिन है।

श्वेतेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९९)।

श्वेतयावरी—(नदी) ऋ० ८।२६।१८।

श्वेता—(नदी जो साभ्रमती से मिलती है) पद्म० ६।१३३।१९-२०।

श्वेताद्रि—(पर्वत) पद्म० ६।२८०।१९, मत्स्य० ११३।३८ (यह मेरु का पूर्वी भाग है)।

श्वेत द्वीप—गरुड० १।८१।७, कूर्म० १।१।४९, १।४९।४०-४७, वाम० २५।१६ एवं ६०।५६, शान्ति० ३३६।८, ३३७।२७। बहुत-से ग्रंथों में क्षीरोदधि के उत्तर में यह एक अनुकथात्मक देश है।

श्वेतमाधव—नारदीय० २।५५।३०।

श्वेतोद्भव—(साभ्रमती पर) पद्म० ६।१३३।१५।

षडंगुल—(कश्मीर में एक नाग का स्थान) नीलमत० ११३३-११४०।

षष्टि-ह्रद—अनु० २५।३६।

स

संयमन—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५३।३।

संसारमोचन—(यहाँ के श्राद्ध से अक्षय फल मिलता है) मत्स्य० २२।६७।

संकुणिका—वाम० (ती० क०, पृ० २३६)।

संगमन—(द्वारका के अन्तर्गत) वराह० १४९।४१।

संगमनगर—(द्वारका के अन्तर्गत) वराह० (ती० क०, पृ० २२६)।

संगमेश्वर—(१) (वारा० के अन्तर्गत) नारदीय० २।५०।६३-६४; (२) (साभ्रमती एवं हस्तिमती के संगम पर) पद्म० ६।१३८।१; (३) (नर्मदा के दक्षिणी तट पर) मत्स्य० १९१।७४, कूर्म० २।४१।३६, पद्म० १।१८।५३; (४) (गंगा और यमुना के संगम पर) लिङ्ग० १।९२।८८।

सगरेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० कल्प०, पृ० ५१)।

सत्यवती—(यह कौशिकी नदी हो गयी) वायु० ९१।८८।

सदानीरा—(नदी) शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१७) का कथन है—'आज भी यह नदी कोसलों और विदेहों की सीमा है। यह नदी उत्तरी पर्वत से उमड़ती-घुमड़ती चल पड़ी और अन्य नदियों के सूख जाने पर

भी यह सदानीर बनी रही।' सायण ने सदानीरा को करतोया कहा है। भीष्म० (९।२४ एवं ३५) ने दोनों को भिन्न माना है। सभा० (२०।२७) ने संकेत किया है कि यह गण्डकी एवं सरयू के बीच में है किन्तु ब्रह्म० (२७।२८-२९) का कथन है कि यह पारियात्र पर्वत से निकलती है। वायु० (४५।१००) में आया है कि करतोया ऋक्ष श्रेणी से निकलती है। पार्जिटर (मार्क० अ० ५७, पृष्ठ २९४) के अनुसार यह राप्ती है। अमरकोश ने सदानीरा एवं करतोया को एक दूसरी का पर्याय माना है।

सनकेश्वर---(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६७)।

सनक---यम० (ती० क०, पृ० २४८)।

सनत्कुमारेश्वर---(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ६७)।

सनन्दनेश्वर---(वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० क०, पृ० ६७)।

सन्ध्या---(१) (कश्मीर में नदी) नीलमत० १४७१, राज० १०३, देखिए 'त्रिसंध्या'; (२) (मालवा की सिन्ध नदी जो यमुना में मिलती है) सभा० ९।२३, पद्म० १।३९।१; (३) (एक नदी जिसका स्थान अनिश्चित है) वन० ८४।५२, पद्म० १।३२।१६।

सन्ध्यावट---(प्रयाग के अन्तर्गत) मत्स्य० १०६।४३।

सन्निहिता---(वह भूमि जो कुरुक्षेत्र से अधिक विस्तृत है और जिसमें कु क्षेत्र भी सम्मिलित है) ब्रह्माण्ड० ३।१३।६८। ती० प्र० (पृ० ४६६) ने 'सन्निहत' पढ़ा है और कहा है कि यह एक आठ कोस विस्तृत झील है और ये चार झीलें हैं; सन्निहत, सन्निहत्या, सान्निहत्य एवं सन्निहता।

सन्निहती---(कुछ ग्रंथों के अनुसार यह कुरुक्षेत्र का दूसरा नाम है) वन० ८३।१९०-१९५। नीलकण्ठ ने व्याख्या की है कि सन्निहती कुरुक्षेत्र का एक अन्य नाम है। श्लोक १९५ में आया है कि सभी तीर्थ यहाँ पर प्रति मास अमावास्या के दिन एकत्र होते हैं। पद्म०/१।२७।७७-७८, वाम० ४१।९ एवं ४५।२९, अग्नि० १०९।१५।

सन्निहत्यसर---(कुरुक्षेत्र में) वाम० ४७।५६, ४८।२३, ४९।६ (सरस्वती के उत्तरी तट पर एवं द्वैतवन के पास)।

सन्नीति---(कुरुक्षेत्र में) नीलमत० १६८-१६९ (लगता है यह सन्निहती ही है)।

सप्तकोटीश्वर---ती० प्र०, पृ० ५५७ जिसने स्कन्द० अध्याय ७ को उद्धृत किया है।

सप्तगंग---वन० ८४।२९, अनु० २५।१६, पद्म० १।२८-२९। सात गंगाएँ ये हैं---गंगा, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णी, सिन्धु, सरयू एवं नर्मदा। नीलमत० (७२०) के मत से सात गंगाएँ हैं---भागीरथी, पावनी, ह्लादिनी, ह्लादिनी, सीता, सिन्धु एवं वंक्षु।

सप्तगोदावर---वन० ८५।४४, वायु० ७७।१९, मत्स्य० २२।७८, भाग० १०।७९।१२, पद्म० १।३९।४१, ४।१०८।३९, ब्रह्माण्ड० ३।१३।१९, स्कन्द० ४।६।२३। देखिए राजा यशःकर्ण का खैरहा दानपत्र (१०७१ ई०; एपि० इण्डि०, जिल्द १२, पृ० २०५) जहाँ सातों धाराएँ परिगणित हैं; गोदावरी जिले के गजेटियर (पृ० ६) में गोदावरी के सात मुख (प्रवाह) सात ऋषियों के नाम पर पवित्र कहे गये हैं---कश्यप, अत्रि, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि एवं वसिष्ठ। राज० (८।३४४९) में आया है कि गोदावरी समुद्र में सात मुखों के साथ मिलती है।

सप्तचरुतीर्थ---देखिए 'वडवा'।

सप्तधार---(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१३६।१६ ('सप्तसारस्वत' के समान)।

सप्तनद---ब्रह्माण्ड० ३।१३।३८ (देयं सप्तनदे श्राद्धं मानसे वा विशेषतः)।

सप्तपुष्करिणी---(कश्मीर में थिद पर सात धाराएँ) स्टीन०, पृष्ठ १६०। ह० चि० (४।४५) ने इसे 'सप्तकुण्ड' कहा है। आइने अकबरी (जिल्द २,

पृ० ३६१) ने इसका उल्लेख किया है—'थिद के गाँव में एक रम्य स्थल है जहाँ सात धाराएँ मिलती हैं।'

सप्तर्षि—वि० ध० सू० ८५।३९ (यहाँ का श्राद्ध अत्यंत पुण्यदायक है) डा० जाली ने इसे सतारा माना है।

सप्तर्षिकुण्ड—(लोहार्गल के अन्तर्गत) वराह० १५१।४६ (जहाँ हिमालय से सात धाराएँ गिरती हैं)।

सप्तसागर लिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) स्कन्द० ४।३३।१३६।

सप्तसामुद्रक—(कुब्जाम्रक के अन्तर्गत) वराह० १२६।९१।

सप्तसामुद्रक कूप—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।१२।

सप्तसारस्वत—(कुरुक्षेत्र में) जहाँ मुनि मंकणक ने अपने हाथ को कुश की नोकों से छेद डाला था और जब उससे वनस्पतीय तरल पदार्थ बहने लगा तो वे हर्षोत्फुल्ल हो नाचते लगे थे। वन० ८३।११५, शल्य० ३८।४-३१ (जहाँ सातों नाम वर्णित हैं), कूर्म० २।३५।४४-७६ (मंकणक की गाथा), पद्म० १।२७।४, वाम० ३८।२२-२३ (मंकणक की गाथा), नारद० २।६५।१०१-१०४ (सातों नदियों के नाम दिये गये हैं)।

सप्तवती—(नदी) भाग० ५।१९।१८।

समङ्गा—(मधुविला नामक नदी) वन० १३४।३९-४०, १३५।२ (जहाँ इन्द्र वृत्रवध के पाप से मुक्त हुए थे)। समङ्गा नाम इसलिए पड़ा क्योंकि यह टेढ़े अंगों को समान बनाती है। अष्टावक्र के अङ्ग इसमें स्नान करने से सीधे हुए थे।

समन्तपंचक—(यह कुरुक्षेत्र है) आदि० २।१-५ (क्षत्रियों के रक्त से बने पाँच कुण्ड जो पाँच पवित्र सरोवरों में परिवर्तित हो गये थे) शल्य० ३७।४५, ४४।५२, ५३।१-२ (ब्रह्मा की उत्तर वेदी), पद्म० ४।७।७४ ('स्यमन्त' पाठ आया है), ब्रह्माण्ड० ३।४७।११ एवं १४, वाम० २२।२० ('स्यमन्त'), ५१-५५ (सर को सन्निहित कहा गया है जो चारों ओर से आधा योजन है) किन्तु वाम० (२२।१६) के अनुसार यह पाँच योजन है।

समुद्रकूप—(प्रयाग के अन्तर्गत) मत्स्य० १०६।३०।

समुद्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिङ्ग० (ती० क०, पृ० १०५)।

समस्रोत—(मन्दार के अन्तर्गत) वराह० १४३।२४-२६।

सम्मूर्तिक—(वारा० में एक तीर्थ) पद्म० १।३७।६।

सम्पीठक—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५७।३७।

संवर्तक—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।६।

संवर्तवापी—वन० ८५।३१, पद्म० १।३९।२९।

संवर्तेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९९)।

संविद्यतीर्थ—वन० ८५।१, पद्म० १।३९।१।

सरक—(कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) वन० ८३।७५-७६, पद्म० १।२६।७६, नारदीय० २।६५।६२-६३।

सरस्तम्भ—(देवदारु वन के पास) अनु० २५।२८।

सरयू—(नदी) ऋ० ४।३०।१८, ५।३३।९, १०।६४।९ (सरस्वती, सरयु एवं सिन्धु एक साथ वर्णित हैं)। इन ऋचाओं में 'सरयु' शब्द आया है, किन्तु संस्कृत साहित्य में 'शरयू' या 'सरयू' आया है (मत्स्य० २२।१९, वायु० ४५।९४, नारदीय० २।७५।७१, रघुवंश १३।९५ एवं १००)। मत्स्य० (१२१।१६-१७) एवं ब्रह्माण्ड० २।१८।७०) में आया है कि सरयू वैद्युतगिरि के चरण में स्थित मानस सरोवर से निकली है। अयोध्या सरयू पर स्थित है (रामा० २।४९।१५)। सरयू हिमालय से निकली है (वायु० ४५।९४)। इसका जल 'सारव' कहलाता था (काशिका, पाणिनि ६।४।१७४ में आया है—'सरय्वां भवं सारवम् उदकम्')। चुल्लवग्ग (एस० बी० ई०, जिल्द २०, पृ० ३०२) में यह भारत की पाँच बड़ी नदियों में व्यक्त है, किन्तु मिलिन्द-प्रश्न में यह दस बड़ी नदियों में एक कही गयी है (किन्तु दोनों स्थानों पर इसका नाम 'सरभू' है)। देखिए तीर्थप्र० (पृ० ५००-५०१) जहाँ यह विष्णु के बायें अँगूठे से निकली हुई है और घर्घर

रूप में प्रकट हुए थे), पद्म० ६।१२११६-७ (४ योजन का विस्तार है)। कुछ ग्रंथों में 'शूकरतीर्थ' नाम आया है।

सूर्यतीर्थ—(१) (वारा० के अन्तर्गत) वन० ८३।४८, कूर्म० १।३५।७, पद्म० १।३७।७; (२) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५२।५०, १५६।१२ जहाँ विरोचन के पुत्र बलि ने सूर्य को प्रसन्न किया था।

सेतु—(रामेश्वर एवं श्रीलंका के बीच का कल्पित पुल, जिसे राम ने सुग्रीव एवं उसके वानरों की सहायता से निर्मित कराया) भाग० ७।१४।३१, १०।७९।१५ (सामुद्रसेतु), गरुड़ १।८१।८, नारद० २।७६ (सेतु-माहात्म्य पाया जाता है)। इसे 'आदम का ब्रिज' (पुल) भी कहा जाता है। सीलोन (श्रीलंका का अपभ्रंश-सा लगता है) की आदम नामक चोटी पर एक पद-चिह्न है, जिसे हिन्दू, बौद्ध, ईसाई एवं मुसलमान सभी सम्मान से देखते हैं। तीर्थप्र० पृ० ५५७-५६०, जहाँ इसका माहात्म्य वर्णित है।

सेतुबन्ध—वही जो उपर्युक्त है। देखिए तीर्थसार, पृ० १-४ एवं तीर्थप्र० पृ० ५५७-५६०, रामा० ६।२२। ४५-५३, ६।१२६।१५। पद्म० (५।३५।६२) का कथन है कि सेतु तीन दिनों में निर्मित हुआ था। स्कन्द० ३, ब्रह्मखण्ड, अध्याय १-५२ में सेतु-माहात्म्य, इसके सहायक या गौण तीर्थ या सेतुयात्राक्रम है। यहाँ प्रायश्चित्त के लिए भी लोग जाते हैं।

सैलोद—(अरुण पर्वत के चरण की एक झील) वायु० ४७।२०, ब्रह्माण्ड० २।१८।२१-२३।

सैन्धवारण्य—(जहाँ च्यवन ऋषि सुकन्या के साथ रहते थे) वन० १२५।१३, वाम० (ती० क०, पृ० २३९)। वन० (८९।५९) ने इसे पश्चिम में कहा है।

सोदरनाग—(कश्मीर में) नीलमत० १३-१४, यह डल झील में आनेवाले (अन्तर्मुखी) गहरे नाले के ऊपर स्थित आधुनिक सुदर्बल गाँव है। देखिए राज० १।१२३-१२६ एवं २।१६९ तथा स्टीनस्मृति, पृ० १६४। स्टीन ने टिप्पणी की है कि भूतेश्वर के मन्दिर के भग्नावशेष के पास स्थित आज के नाराव नाग का पुराना नाम सोदर है। नीलमत० ने इसे भूतेश एवं कनकवाहिनी के साथ उल्लिखित किया है। भूतेश्वर से श्रीनगर लगभग ३२ मील है।

सोमकुण्ड—(गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।४।

सोमतीर्थ—(१) (सरस्वती के किनारे) वामन० ४१।४, वन० ८३।११४, मत्स्य० १०९।२; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।३०, पद्म० १।१८।३० एवं २७।३, कूर्म० २।४१।४७; (३) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।७, पद्म० १।३७।७; (४) (गो० के अन्तर्गत) ब्रह्म० १०५।१, ११९।१; (५) (मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १५४।१८; (६) (कोकामुख के अन्तर्गत) वराह० १४०।२६-२८; (७) (विरज के अन्तर्गत) ब्रह्म० ४२।६; (८) (सूकर के अन्तर्गत) वराह० १३७।४३ (जहाँ सोम ने सर्वोत्तम सिद्धि प्राप्त की थी); (९) (साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६।१५४।१।

सोमनाथ—(१) (सौराष्ट्र में वेरावल के पास) अग्नि० १०९।१० (सोमनाथं प्रभासकं), पद्म० ६।१७६।३७; देखिए ऐं० जि० पृ० ३१९ और 'प्रभास' के अन्तर्गत; (२) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।२३। एक प्रसिद्ध श्लोक है—'सरस्वती समुद्रश्च सोमः सोमग्रहस्तथा। दर्शनं सोमनाथस्य सकाराः पंच दुर्लभाः॥

सोमपद—वन० ८४।११९।

सोमपान—मत्स्य० २२।६२।

सोमाश्रम—वन० ८४।१५७।

सोमेश—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।९।

सोमेश्वर—(१) (सभी रोगों को दूर करता है) मत्स्य० २२।२९, कूर्म० २।३५।२०; (२) (शालग्राम के अन्तर्गत) वराह० १४४।१६-२९।

सौकरव—(जैसा कि वेंकटेश्वर प्रेस में मुद्रित वराह० १३७।७ में पाया जाता है), संभवतः सौकरक शुद्ध है। देखिए सूकरतीर्थ के अन्तर्गत।

सौगन्धिकगिरि—मत्स्य० १२१।५ (कैलास के उत्तर-पूर्व)।

सौगन्धिकवन—वन० ८४।४, पद्म० १।२८।५-६ (दोनों में एक ही श्लोक है)।

सौभद्र—आदि० २१६।३ (दक्षिणी समुद्र पर पाँच नारी-तीर्थों में एक)।

सौमित्रिसंगम—(श्राद्ध के लिए अति उत्तम) मत्स्य० २२।५३।

स्कन्दतीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।१८।१९, मत्स्य० १९१।५०।

स्कन्देश्वर—(वारा० में) स्कन्द० ४।३३।१२५, लिंग० (ती० क०, पृ० ६८)।

स्नानकुण्ड—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १४३। १८-२०।

स्तनकुण्ड—वन० ८४।१५२, वराह० २१५।९७ (स्तनकुण्डे उमायास्तु)।

स्तम्भतीर्थ—(खम्भात की खाड़ी पर स्थित आधुनिक खम्भायत) कूर्म० २।४१।५१, पद्म० १।१८।९३ (दोनों इसे नर्मदा के अन्तर्गत कहते हैं)। स्तम्भतीर्थ तीर्थसार (पृ० १०१) में उल्लिखित है। देखिए इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द ५४ पृ० ४७।

स्तम्भाख्य-तीर्थ—(मही-सागर संगम के पास) स्कन्द० १।२।३।२७। सम्भवतः यह उपर्युक्त तीर्थ ही है।

स्तम्भेश्वर—स्कन्द० १।२।३।४०।

स्थलेश्वर—(एक शिवतीर्थ) मत्स्य० १८१।२७।

स्तुतस्वामी—(मणिपूर गिरि पर एक विष्णुक्षेत्र) वराह० १४८।८-८१। तीर्थकल्प० (२२२-२२४) ने वराह० के १४८ वें अध्याय से बिना किसी टीका टिप्पणी के २० श्लोक उद्धृत कर लिये हैं। श्लोक ७५-७६ में नाम की व्याख्या हुई है (यह देवता अन्य देवताओं एवं नारद, असित तथा देवल ऋषियों द्वारा 'स्तुत' थे)। दे ने इसकी चर्चा नहीं की है और प्रो० आयंगर ने भी इसकी पहचान नहीं की है।

स्त्री-तीर्थ—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९४।३१।

स्थाणुतीर्थ—(सरस्वती के अन्तर्गत, जहाँ वसिष्ठ का आश्रम था) शल्य० ४२।४, (वसिष्ठ का आश्रम इस तीर्थ के पूर्व में है और विश्वामित्र का पश्चिम में), वाम० ४०।३ (सरस्वती के उत्तरी तट पर), ४२।३० (यहाँ १००० लिंग थे), ४९।६-७ (यह सान्निहत्य झील पर था)। वाम० (अ० ४७-४९) ने इस तीर्थ के माहात्म्य के विषय में लिखा है। दे (पृ० १९४) के अनुसार यह थानेश्वर ही है।

स्थानेश्वर—(आधुनिक थानेश्वर, जो अम्बाला से २५ मील दक्षिण है) मत्स्य० १३।३ (यहाँ की देवी भवानी हैं)। देखिए ऐं० जि०, पृ० ३२९-३३२। महमूद गजनवी ने इसे १०१४ ई० में लूटा। हर्षचरित में बाण ने इसे स्थाण्वीश्वर देश कहा है।

स्थानेश्वर—(एक लिङ्ग, वारा० में) लिङ्ग० १।९२। १३६।

स्वच्छोद—(यह झील है) देखिए 'अच्छोद।'

स्वच्छोदा—(नदी) ब्रह्माण्ड० २।१८।६, (चन्द्रप्रभ नामक पर्वत पर स्वच्छोद झील से निकली हुई)।

स्वतंत्रेश्वर—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९१।६।

स्वयम्भूतीर्थ—(कश्मीर के मच्छीपुर परगने में आधुनिक सुयम) राज० १।३४, ह० चि० १४।८०। यहाँ पर ज्वालामुखी के रूप दिखाई पड़ते हैं और कभी-कभी यात्रियों द्वारा अर्पित श्राद्ध-आहुतियाँ पृथ्वी से निकलती हुई वाष्पों द्वारा जल उठती हैं।

स्वर्गतीर्थ—अनु० २५।३३।

स्वर्गद्वार—(१) (कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत) पद्म० १।२७।५५; (२) (वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।४, पद्म० १।३७।४; (३) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६।४ (यहाँ 'स्वर्गद्वारी' शब्द आया है; (४) (पुरुषोत्तम के अन्तर्गत) नारदीय० २।५६।३१।

स्वर्गबिन्दु—(नर्मदा के अन्तर्गत) पद्म० १।२१।१५।

स्वर्गमार्गह्लद—वि० ध० सू० ६५।४१।

स्वर्गेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४८)।

स्वर्णबिन्दु—(नर्मदा के अन्तर्गत) अनु० २५।९, मत्स्य० १९४।१५।

स्वर्णरेखा—(नदी, वस्त्रापथ क्षेत्र में, अर्थात् आधुनिक

गिरनार एवं इसके आस-पास की भूमि पर) स्कन्द० ७।२।३।२ एवं ७।२।१०।२०९।

स्वर्णलोमापनयन—पद्म० १।२६।५८।

स्वामितीर्थ—मत्स्य० २२।६३, कूर्म० २।३७।१९-२१ (यहाँ स्कन्द सदैव उपस्थित रहते हैं)। दे (पृ० १०७) ने इसे क्रौंच पर्वत पर स्थित तिरुत्तनी से एक मील दूर स्थित कुमारस्वामी का मन्दिर कहा है।

स्वर्णबिन्दु—(नदी) वायु० ७७।९५, कूर्म० २।३७।३७।

स्वर्लिङ्गेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० १।९२।७८, स्कन्द० ४।३३।१२३ (इसके नाम की व्याख्या की गयी है)।

स्वस्तिपुर—(गंगाह्रद एवं गंगाकूप के पास) वन० ८३।१७४।

ह

हंसकुण्ड—(द्वारका के अन्तर्गत) वराह० १४९।४६।

हंसतीर्थ—(१) (गया के अन्तर्गत) अग्नि० ११६। ३०, नारद० २।४७।३०; (२) (नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।७२; (३) (शालग्राम के अन्तर्गत उसके पूर्व) वराह० १४४।१५२-१५५ (नाम की व्याख्या की गयी है), देखिए 'यज्ञतीर्थ'।

हंसद्वार—(कश्मीर के पास) नीलमत० १४६४।

हंसपद—(विशाखयूप के पास) वाम० ८१।१०।

हंसप्रपतन—(प्रयाग के अन्तर्गत) वन० ८५।८७, मत्स्य० १०६।३२ (गंगा के पूर्व एवं प्रतिष्ठान के उत्तर), कूर्म० १।३७।२४, पद्म० १।३९।४०, अग्नि० १११।१०।

हनुमत्तीर्थ—(गोदावरी के अन्तर्गत) इसके उत्तरी तट पर) ब्रह्म० १२९।१।

हयतीर्थ—मत्स्य० २२।६९।

हयमुक्ति—(मथुरा के अन्तर्गत) वराह० १६०।२३।

हयसिर—(श्राद्ध के योग्य स्थल) ब्रह्माण्ड० ३।१३।४६, वायु० ७७।४६।

हरमुकुट—(कश्मीर की प्रचलित भाषा में हरमुख) नीलमत० १३२०, १३२२, १३३१; हिमालय का शिखर जिसके पूर्व ओर कालोदक झील है और जो स्वयं उत्तर मानस के पास है। देखिए ह० चि० ४।८७-८८ एवं विक्रमांकदेवचरित १८।५५। अलबरूनी (जिल्द १, पृ० २०७) का कहना है कि झेलम हरमकोट पर्वत से निकलती है जहाँ से गंगा भी निकलती है। देखिए राज० (३।४४८) पर स्टीन की टिप्पणी।

हरमुण्ड—(कश्मीर के पास एक तीर्थ) नीलमत० १४५५।

हरिद्वार—(इसे गंगाद्वार एवं मायापुरी भी कहते हैं) यह उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में गंगा के दाहिने किनारे है। यह सात पवित्र नगरियों में परिगणित होता है। पद्म० ४।१७।६६, ६।२१।१, ६।२२।१८, ६।१३५।३७ (माण्डव्य ने यहाँ तप किया)। देखिए 'बील' का लेख, बी० आर० डब्लू० डब्लू०, जिल्द १, पृ० १९७, जहाँ ह्वेनसांग का वचन है कि पाँच भारतों के लोग इसे गंगा का द्वार कहते हैं और सहस्रों व्यक्ति स्नान करने के लिए एकत्र होते हैं। कनिंघम (एँ० जि०, पृ० ३५२) का यह कथन कि हरिद्वार तुलनात्मक दृष्टि से आधुनिक नाम है, क्योंकि अलबरूनी ने इसे केवल गंगाद्वार कहा है, युक्तिसंगत नहीं जँचता, क्योंकि स्कन्द० (४) एवं पद्म० (४) ने 'हरिद्वार' शब्द का उल्लेख किया है और यह नहीं कहा जा सकता कि ये अलबरूनी (१०३० ई०) के पश्चात् लिखे गये हैं। सम्भवतः ११वीं शताब्दी में हरिद्वार की अपेक्षा गंगाद्वार अधिक प्रचलित था। अलबरूनी (जिल्द १, पृ० १९९) का कहना है कि गंगा का उद्गम गंगाद्वार कहा जाता है।

हरिकेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११३)।

हरिकेशेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) ती० क०, पृ० ८४ (सम्भवतः यह ऊपर वाला ही है)।

हरिश्चन्द्र—(१) (वारा० के अन्तर्गत एक तीर्थ) मत्स्य० २२।५२ (श्राद्ध के लिए उपयुक्त स्थान)

१८१।२८, अग्नि० ११२।३; (२) (गोदा० के दक्षिणी तट पर) ब्रह्म० १०४।८६ एवं ८८; (३) (एक पर्वत) देवल (ती० क०, २५०)।

हरिश्चन्द्रेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ११७)।

हरितेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० १२०)।

हरिपर्वत—(श्रीनगर की एक पहाड़ी, सारिका पर्वत या प्रद्युम्नपीठ) कश्मीर रिपोर्ट पृ० १७, विक्रमाङ्कदेवचरित १८।१५।

हरियूपीया—(एक नदी) ऋ० ६।२७।५ (सम्भवतः कुरुक्षेत्र में)।

हरीतकीवन—देखिए गत अध्याय १४ 'वैद्यनाथ'।

हरिहरक्षेत्र—(१) (तुंगभद्रा पर) नृसिंह० ६५।१८ (ती० क०, पृ० २५३), पद्म० ६।१७६।४६ एवं ६।१८३।३, वराह० १४४।१४५ (देवाट भी कहा गया है); (२), गण्डकी और गंगा का संगम स्थल सोनपुर जहाँ पर गजेन्द्र-मोक्ष हुआ था) वराह० १४४।११६-१३५। वाम० (८५।४-७६) ने गजेन्द्रमोक्ष की कथा को त्रिकूट पर्वत पर व्यक्त किया है।

हरोद्भेद—(श्राद्ध के लिए उपयुक्त स्थल) मत्स्य० २२।२५।

हर्षपथा—(कश्मीर में, शची कश्यप की प्रार्थना के फलस्वरूप यह धारा हो गयी) नीलमत० ३०९।

हस्ततीर्थ—(हंसतीर्थ) कूर्म० २।४२।१३ (नर्मदा पर)।

हास्तिनपुर या हस्तिनापुर—(कुरुओं की राजधानी जो भरत दौष्यन्ति के प्रपौत्र राजा हस्तिन के नाम पर पड़ी) यह दिल्ली के उत्तर-पूर्व में है। आदि० ९५।३४, रामा० २।६८।१३ (हास्तिनपुर), विष्णु० ४।२१।८, भाग० ९।२२।४०। जब यह गंगा द्वारा बहा दिया गया तो जनमेजय के पौत्र निचक्नु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया। पाणिनि (६।२।१०१) को हास्तिनपुर ज्ञात था। और देखिए महाभाष्य, जिल्द १, पृ० ३८०, पाणिनि २।१।१६।

हस्तिपादेश्वर—(स्थाणुवट के पूर्व में एक शिवलिंग) वाम० ४६।५९।

हस्तिपालेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ७६)।

हाटक—(करोड़ों हत्याओं के पापों का निवारक) पद्म० ४।१७।६७।

हाटकेश्वर—वाम० ६३।७८ (सप्त-गोदावर पर)।

हारकुण्ड—(हारपुर के पास) लिंग० १।९२।१६४।

हारीततीर्थ—(श्राद्ध के लिए प्रसिद्ध स्थल) मत्स्य० २२।६२ (वसिष्ठतीर्थ के बाहर)।

हिमवान्—ऋ० (१०।१२१।४) एवं अथर्ववेद (४।२।५) में बहुवचन का प्रयोग है (विश्वे हिमवन्तः)। किन्तु अथर्ववेद (५।४।२ एवं ८, ४।२४।१) में एकवचन का प्रयोग है। केनोपनिषद् (३।२५) में उमा हैमवती का उल्लेख है। वन० (१५८।१९), उद्योग० (१११२) एवं पाणिनि (४।४।११२) में हिमवान् का उल्लेख है तथा कूर्म० (२।३७।४६-४९) में इसकी लम्बाई १०८० योजन है। यह भारतवर्ष का वर्ष-पर्वत है तथा अन्य प्रमुख सात पर्वतों को कुल-पर्वत कहा गया है। मत्स्य० (११७-११८) में इसके वृक्षों, पुष्पों एवं पशुओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। हिमालय शब्द वेद-भिन्न ग्रंथों में भी आया है, यथा गीता (१०।२५)। हिमवान् का अर्थ है पूर्व में आसाम से लेकर पंजाब के पश्चिम तक सम्पूर्ण पर्वत श्रेणी। मार्क० (५१।२४) का कथन है कि कैलास एवं हिमवान् पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं और दो समुद्रों के बीच में स्थित हैं तथा हिमवान् भारत (जिसके दक्षिण, पश्चिम एवं पूर्व समुद्र हैं) के उत्तर में धनुष की प्रत्यंचा के समान है (मार्क० ५४।५९)।

हिमवत्-अरण्य—देवीपुराण (ती० क०, पृ० २४४)।

हिमालय—देखिए 'हिमवान्' ऊपर।

हिरण्यकशिपु-लिङ्ग—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४३)।

हिरण्याक्षेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ४७)।

हिरण्यगर्भ—(वारा० के अन्तर्गत एक लिङ्ग) कूर्म० १।३५।१३, लिंग० १।९२।७६, पद्म० १।३५।१६, लिंग० (ती० क०, पृ० ४८)।

हिरण्यद्वीप—(नर्मदा के अन्तर्गत) मत्स्य० १९३।६८, पद्म० १।२०।६६।

हिरण्यबाहु—(यूनानी लेखकों की एरन्नोबोअस, शोण नदी) देखिए ऐं० इण्डिया, पृ० ६८। यह बाँकीपुर के पास गंगा में मिल जाती है। एरियन (ऐं० इण्डि०, पृ० १८६) ने एरन्न बोअस एवं सोनोस को पृथक्-पृथक् माना है। यह सुनहले हाथों वाली सम्भवतः इसलिए कही गयी है कि इसकी बालू सुनहरे रंग की है और इसमें सोने के कण भी पाये जाते हैं।

हिरण्यबिन्दु—(कालिंजर में एक पर्वत) वन० ८७।२१, अनु० २५।१०।

हिरण्यवती—(नदी, जिस पर मल्लों का शालकुञ्ज एवं कुशीनारा का उपवत्तन उपस्थित था) एस० बी० ई०, जिल्द ११, पृ० ८५। यह गण्डकी नदी है। देखिए ऐं० जि०, पृ० ४५३।

हिरण्यवाह—वही शोण एवं एरियन की एरन्नबोअस, जो तीसरी बड़ी नदी थी और अन्य दो सिन्धु एवं गंगा थीं। (ऐं० जि०, पृ० ४५२)।

हिरण्याक्ष—मत्स्य० २२।५२ (यहाँ दान कर्म अत्यंत फलदायक होता है)।

हिरण्यासंगम—(साभ्रमती के अन्तर्गत) पद्म० ६। १३५।१।

हिरण्वती—(एक लड़की इसे कोसल ले गयी) वाम० ३४।८ (सात या नौ पवित्र नदियों में), ६४।११ एवं १९, ९०।३२, अनु० १६६।२५, उद्योग० १५२।७ (कुरुक्षेत्र में जहाँ पाण्डवों ने अपने शिबिर खड़े किये थे), १६०।१, भीष्म० ९।२५।

हेतुकेश्वर—(वारा० के अन्तर्गत) लिंग० (ती० क०, पृ० ९२)।

हेमकूट—(कैलास का दूसरा नाम) भीष्म० ६।४, ब्रह्माण्ड० २।१४।४८ एवं १५।१५ (यहाँ हिमवान् एवं हेमकूट भिन्न-भिन्न वर्णित हैं)।

हृषीकेश—(हरिद्वार के उत्तर में लगभग १४ मील दूर गंगा पर) वराह० १४६।६३-६४ (कहा जाता है कि यहाँ विष्णु का निवास है)।

होमतीर्थ—(वारा० के अन्तर्गत) कूर्म० १।३५।११।

ह्लादिनी—(नदी) रामा० २।७१।२ (केकय देश से आते हुए भरत ने पहले इसको पार किया तब शतद्रु पर आये)।

तीर्थ-सम्बन्धी निष्कर्षात्मक वक्तव्य

हमने आरम्भ में ही २०वीं शताब्दी के भारतीयों की पर्वतों, नदियों एवं पुनीत स्थलों से सम्बन्धित मनोवृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ शब्द लिख देने की ओर संकेत कर दिया था। आधुनिक धर्म-निरपेक्ष शिक्षा तथा वर्तमान आर्थिक दशाओं एवं विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों ने नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के लिए न कुछ-सा छोड़ रखा है। हम लोग चिन्ता, अभाव, दारिद्र्य, निर्ममता एवं अपराध-वृत्तियों से आबद्ध-से हो उठे हैं। अतः इन परिस्थितियों में उन लोगों का, जो देश का कल्याण चाहते हैं, यह कर्तव्य हो जाता है कि उन आचरणों को वे अवश्य महत्त्व दें, अथवा उन्हें तदनुकूल महत्ता दें जो हम सभी को संकीर्णता से दूर कर कुछ क्षणों के लिए उच्च आशयों एवं अभिकांक्षाओं के प्रति मननशील बनाते हैं और भौतिकवाद के व्यापक स्वरूप से तटस्थ रहने की प्रेरणा देते हैं। तीर्थ-यात्रा इन्हीं समुदायों अथवा संस्थाओं में एक है। उन लोगों को, जिन्हें यह विश्वास है कि तीर्थयात्रा से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, पुण्य प्राप्त होते हैं तथा इस संसार से छुटकारा मिलता है, तीर्थयात्रा को नये रंग में ढालना होगा और देखना होगा कि उनकी दान-दक्षिणा ऐसे भ्रष्ट पुरोहितों को न प्राप्त हो जो प्रमादी एवं ज्ञानरहित हैं, और उन्हें तीर्थस्थलों पर प्रयुक्त पूजा-पद्धतियों में सुधार करना होगा जिससे स्वास्थ्य-सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

पुरोहित वर्ग के लोगों को अब यह स्मरण रखना चाहिए कि आनेवाली पीढ़ियों में अब उनकी तीर्थ-सम्बन्धी वृत्ति समाप्त-सी हो जानेवाली है; प्राचीन परम्पराएँ उन्हें तभी सुदृढ़ रख सकती हैं जब कि वे अपने तथाकथित धार्मिक कार्यकलापों में परिवर्तन करें, प्रमाद एवं अज्ञानता से दूर हों और वास्तविक अर्थ में वे यात्रियों के पथप्रदर्शक सिद्ध हों। यह बात बहुत सीमा तक ठीक जँचती है कि अब तीर्थयात्री अपेक्षाकृत कम संख्या में तीर्थों में एकत्र होंगे, क्योंकि धर्म-निरपेक्ष शिक्षा का अन्ततोगत्वा यही परिणाम होता है। यदि पुनीत पर्वतों एवं नदियों की तीर्थयात्रा सर्वथा समाप्त हो गयी तो सचमुच, भारत की नैतिक एवं आध्यात्मिक महत्ता विपत्तिग्रस्त हो जायगी। ऐसी परिस्थिति में उच्च-शिक्षा प्राप्त भारतीयों से यही अनुरोध है कि कुछ पवित्र अथवा दिव्य स्थलों की यात्रा कभी-कभी वे अवश्य करें। अब हम स्वतंत्र हो चुके हैं, अपनी मातृभूमि के कोटि-कोटि नागरिकों के चरित्र को उठाना अथवा गिराना हम लोगों के उचित कर्तव्य पर ही निर्भर है।

भारतीयों की यह भावना कि भौतिक स्वरूपों, खाद्य पदार्थों, वस्त्रों एवं आचरणों की विभिन्नता के रहते भी हम सभी एक हैं, यह कि इस विशाल जनभूमि का कोई भी जनपद या भाग ऐसा नहीं है जिसने धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों में वृद्धि न की हो, यह कि साहित्य, कला एवं तीर्थों से उत्पन्न नव-नव अभिचेतनाएँ समृद्धि को प्राप्त होती रही हैं और भारत के किसी एक कोने के निवासियों के भाग्य अन्य भागों के निवासियों से जुड़े हैं—इस बात की ओर प्रबल संकेत करते हैं कि हम सभी एक हैं। यदि हमें अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनी है तो यह अनिवार्य-सा है कि हम भारत के दूर-दूर स्थलों की यात्रा करें, अन्य भागों के लोगों से मिलें, उनके विलक्षण तौर-तरीकों से परिचित हों, उनकी आवश्यकताएँ एवं दुर्बलताएँ जानें। हिमालय की पर्वत-श्रेणियों से भारत को प्रमुख तीन लाभ हैं—इसमें विश्व के सर्वोच्च शिखर पाये जाते हैं,

इससे विशाल एवं जीवन-प्रदायिनी नदियाँ फूटी हैं और अति प्राचीन काल से इसमें बहुत-से मन्दिर एवं तीर्थ-स्थल विद्यमान हैं, जो महर्षियों, मुनियों एवं वीरों की जीवन-गाथाओं से संयुक्त हैं। प्रत्येक भारतीय को, जिसे अपने धर्म एवं आध्यात्मिकता का अभिमान है, अपने जीवन के कुछ दिन पर्वतों, नदियों एवं तीर्थ-स्थलों की यात्रा में बिताने चाहिए।

जब हम दूर से हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों की पवित्र श्वेतता एवं शान्तता परखते हैं और यह देखते हैं कि सूर्य की किरणों के साथ वे किस प्रकार, नील, गुलाबी आदि विभिन्न रंगों में चमक उठती हैं, तो हमारा मन आश्चर्य, हर्ष, उल्लास आदि के साथ ऊपर उठाने वाली भावनाओं से भर उठता है। कंचनजंघा के सदृश शिखरों को आह्लादित करनेवाली दृश्यावलियाँ एक अविस्मरणीय अनुभूति उद्भासित करती हैं और हम विशालता की ओर हठात् उन्मुख हो जाते हैं। जब हम हरिद्वार में प्रातः, रात्रि या संध्याकाल में पुनीत गंगा की छबि देखते हैं एवं वाराणसी के विशाल घाटों की सरणियाँ निरखते हैं तो हमारे मन की संकीर्णता विलुप्त हो जाती है और उसमें प्रकृति-सौन्दर्य एवं शुचिता भर उठती है तथा हम हठात् अनन्त के साथ एकरस एकभाव एवं एकरंग हो जाते हैं। आज हमारे हिमालय पर अन्यों के अभियान हो रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शेरपा तेनसिंह आदि एवं हिलारी ने सागरमाथा के महानतम शिखर पर पहुँचकर अपने धैर्य एवं अमोघ शक्ति का परिचय दे दिया है, किन्तु इससे हिमालय की दुर्दमनीय शक्ति, विशालता, महान् गौरव, अद्भुत प्रकृति-सौन्दर्य आदि पर कोई आँच नहीं आयी। हमें अपने ऐतिहासिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक हिमालय की श्री-रक्षा करनी ही है, क्योंकि इसी में हमारी भौतिक उन्नति की शक्तियाँ भी छिपी हुई हैं। हमें पंचनद, सरस्वतीक्षेत्र, ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, बिहार, लौहित्य आदि की जीवन-दायिनी नदियों को उनके धार्मिक, आध्यात्मिक एवं संस्कृति-गर्भित अर्थ में सदैव मानना है, क्योंकि वे हमारी सभी प्रकार की समृद्धि के साथ आदि काल से जुड़ी हुई हैं।

परिशिष्ट

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों की तालिका

धर्मशास्त्र के ग्रन्थों की तालिका उपस्थित करने की विधि के विषय में कुछ शब्द लिख देना आवश्यक है। श्रौत ग्रन्थों में केवल उन्हीं का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है जिन्हें धर्मशास्त्र-लेखकों ने उद्धृत किया है या जिन पर वे निर्भर रहते हैं। तन्त्र के ग्रन्थों एवं पुराणों को छोड़ दिया गया है, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में उनकी पृथक् व्यवस्था है और उनके लिए विशद व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है तथा ऐसा करना स्थानाभाव से यहाँ सम्भव नहीं है। सभी 'प्रयोगों', 'माहात्म्यों', 'विधियों', 'व्रतों', 'शान्तियों' एवं 'स्तोत्रों' को छोड़ दिया गया है, किन्तु जहाँ उनके लेखकों के नाम अति विख्यात हैं या उनकी विशेष महत्ता है, उन्हें सम्मिलित कर लिया गया है। जातक-विषयक ज्योतिष-सम्बन्धी ग्रन्थ एवं ताजिक-ग्रन्थ सम्मिलित नहीं किये गये हैं, किन्तु मुहूर्त-वर्ग के ग्रन्थ, जो आह्निक धार्मिक कृत्यों से अभिन्न रूप से सम्बन्धित हैं, सम्मिलित कर लिये गये हैं। यद्यपि गृह्यसूत्रों एवं उनकी टीकाओं को इस ग्रन्थ के खण्ड १ में नहीं सम्मिलित किया गया, किन्तु उन्हें इस तालिका में सम्मिलित कर लिया गया है, क्योंकि उनके विषय धर्मशास्त्र से गहरा सम्बन्ध रखते हैं। इसमें सन् १८२० तक के ही ग्रन्थों का उद्धरण दिया जा सका है। यहाँ राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ भी सम्मिलित कर लिये गये हैं। किन्तु उपर्युक्त बन्धनों का निर्वाह भी भली भाँति नहीं किया जा सका है।

इस सूची को उपस्थित करने में डा० ऑफ़ेक्ट के बहुमूल्य ग्रन्थ 'कैटलागस कैटलागोरम्' से प्रभूत सहायता मिली है। किन्तु यह ग्रन्थ कई स्थानों पर सन्देहात्मक एवं अपेक्षाकृत बहुत कम सूचना देता है, तथापि हम सभी डा० ऑफ़ेक्ट के अत्यन्त ऋणी हैं। सन्देहों को मिटाने के लिए संस्कृत ग्रन्थों की मूल पाण्डुलिपियों को, यथा—इण्डिया आफिस में रक्षित पाण्डुलिपियों, डा० मित्र के 'नोटिसेज़ आव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स' एवं म० म० हरप्रसाद शास्त्री के ग्रन्थों को पढ़कर उनकी तुलनात्मक व्यवस्था उपस्थित करनी पड़ी है। डा० ऑफ़ेक्ट का तीसरा भाग सन् १९०३ में प्रकाशित हुआ था और उसके उपरान्त कतिपय कैटलॉग (ग्रन्थ-सूचियाँ) प्रकाशित हो चुके हैं, यथा—मद्रास गवर्नमेण्ट मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी के डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग एवं ट्राइनीएल कैटलॉग्स, म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा उपस्थापित 'नोटिसेज़ आव मैनुस्क्रिप्ट्स (न्यू सीरीज़, भाग ३), म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्रस्तुत नेपाल दरबार लाइब्रेरी का 'कैटलाग् आव पामलीफ़ एवं पेपर', हुल्श की रिपोर्ट (भाग ३), रायबहादुर हीरालाल द्वारा उपस्थापित 'कैटलाग आव सेण्ट्रल प्राविंसेज़ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स' एवं बिहार-उड़ीसा सरकार द्वारा संगृहीत 'कैटलॉग आव दि मैनुस्क्रिप्ट्स' (जिल्द १)। इन कैटलॉगों के अतिरिक्त अन्य संग्रह भी पढ़े गये हैं, यथा—डेकन कालेज का संग्रह (जो अब भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना में रखा गया है), आनन्दाश्रम इंस्टीट्यूशन (पूना), प्रो० एच० डी० वेलणकर द्वारा संस्थापित विलसन कॉलेज का 'भण्डारकर मेमोरिएल कलेक्शन' एवं बड़ोदा ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट का कलेक्शन (संग्रह)।

इस तालिका में यथासम्भव एवं आवश्यकतानुकूल ग्रन्थों, उनके लेखकों, लेखकों के पूर्वजों, लेखकों के उद्धृत ग्रन्थों, उन ग्रन्थों को उद्धृत करने वाले ग्रन्थों के नाम, ग्रन्थों के काल एवं विषयों के नाम आदि दे दिये गये हैं। इतने पर भी बहुत से सन्देह रह गये हैं। कहीं-कहीं तत्तद् ग्रन्थों के नाम विषय को भी बता देते हैं। कहीं-कहीं तालिका उपस्थित करने में कतिपय कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। कहीं-कहीं एक ही ग्रन्थ एक ही पाण्डुलिपि

या कैटलॉग में दो, तीन या अधिक नाम रखता है। कतिपय ग्रन्थों के रचयिताओं और उनके पिताओं के नाम समान ही हैं, यथा—महादेव के पुत्र दिवाकर एवं नीलकण्ठ के पुत्र शंकर के विषय में। कहीं-कहीं कुछ विशाल ग्रन्थों के कतिपय भाग कैटलॉगों में पृथक् नामों से व्यञ्जित पाये गये हैं। कुछ लेखकों के कई नाम भी पाये गये हैं, यथा—नरसिंह, नृसिंह; नागेश एवं नागोजि। यथासंभव ऐसे भ्रमों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक विषय में कैटलॉगों (संग्रहों) की ओर संकेत नहीं किया गया है, केवल अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के विषय में ही कैटलागों की ओर संकेत किया गया है। यथासम्भव कालों की ओर भी संकेत कर दिये गये हैं। डा० ऑफ्रेक्ट की कृति से यह तालिका कई अंशों में उत्तम है, यह बात तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त ही समझी जा सकती है।

यथासम्भव मुद्रित ग्रन्थों की ओर भी संकेत कर दिया गया है। ऐसा करने में बाम्बे संस्कृत सीरीज, बनारस संस्कृत सीरीज आदि के संस्करणों का उल्लेख किया गया है, उन संस्करणों की ओर, जिन्हें बहुत ही कम लोग देख सकते हैं, संकेत नहीं किया गया है। जो लोग इस विषय में विशद सूचना चाहते हैं, वे सन् १९२८ तक के कैटलाग (ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी द्वारा प्रकाशित) देख सकते हैं।

निर्देश

आरम्भ में जो संकेत दिये जा चुके हैं, उनके अतिरिक्त निम्न संकेत भी अवलोकनीय हैं—

अलवर=डा० पेटर्सन द्वारा प्रस्तुत महाराज अलवर की लाइब्रेरी का कैटलॉग आव मैनुस्क्रिप्ट्स।

अज्ञात=जिनके नाम ज्ञात नहीं हैं।

आनन्द०=आनन्दाश्रम प्रेस (पूना) द्वारा प्रकाशित स्मृतियों का संग्रह।

ऑफ्रेक्ट या ऑफ्रे०=डा० ऑफ्रेक्ट द्वारा उपस्थापित कैटलॉग आव संस्कृत पाण्डुलिपीज, आक्सफोर्ड की बॉड्लीन लाइब्रेरी (१८६४ ई०)।

उ०=उद्धृत।

कै० सं० प्रा०=कैटलॉग आव संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि सेण्ट्रल प्रॉविंसेज एण्ड बरार। रायबहादुर हीरालाल (१९२६), नागपुर।

गाय० या गायकवाड़=गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज, बड़ोदा।

गवर्नमेंट ओ० सी० या ग० ओ० सी०=गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सीरीज, पूना।

चौ० या चौखम्भा=चौखम्भा संस्कृत सीरीज।

जी० स्मृ० या जीवा०=जीवानन्द द्वारा सम्पादित एवं दो भागों में प्रकाशित स्मृतियों का संग्रह।

टी० या टीका=उस ग्रन्थ की टीका।

टी० टी०=टीका की टीका।

दे०=देखिए (इसके आगे 'प्रकरण संख्या अमुक' का निर्देश है, उसे प्रथम खण्ड-वर्णित प्रकरण-संख्या में देखना चाहिए)।

नोटिसेज या नो०=डा० राजेन्द्रलाल मित्र (जिल्द १-९) एवं म० म० हरप्रसाद शास्त्री (जिल्द १०-११) द्वारा उपस्थापित नोटिसेज आव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स् इन बेंगाल, (जिल्द १-११)।

नो० न्यू०=म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा, नोटिसेज आव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स्, न्यू सीरीज (जिल्द १-३)।

निर्णय० या नि०=निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

प्रक०=प्रकरण।

प्र०=प्रकाशित ।

ब० या बड़ोदा=बड़ोदा ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट का 'कलेक्शन आव मैनुस्क्रिप्ट्स्' ।

बना०=बनारस संस्कृत सीरीज ।

बि० या बिहार=बिहार एवं उड़ीसा सरकार के लिए संगृहीत, कैटलॉग आव मैनुस्क्रिप्ट्स् (जिल्द १) ।

बीका० या बीकानेर=महाराज बीकानेर की लाइब्रेरी से डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा (१८८० ई०) प्रस्तुत 'कैटलॉग आव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स्' ।

बु० या बुर्नेल०=डा० ए० सी० बुर्नेल द्वारा प्रस्तुत 'क्लैसीफाएड इण्डैक्स टू दी संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स, तंजौर के राजप्रासाद से (१८८०) ।

भण्डा०=बम्बई, विलसन कालेज के प्रो० एच० डी० वेलणकर द्वारा प्रस्तुत भण्डारकर मेमोरियल कलेक्शन ।

मै० या मैसूर=मैसूर गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल लाइब्रेरी सीरीज ।

स्टी० या स्टीन=डा० एम० ए० स्टीन (१८९४) द्वारा प्रस्तुत जम्मू एवं कश्मीर के महाराज की रघुनाथ मन्दिर लाइब्रेरी का 'कैटलॉग आव दि संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स' ।

ले०=लेखक ।

व० या वर्णित=द्वारा या उसमें वर्णित ।

वेंकट० या वेंकटेश्वर०=वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।

विन्ट० एवं कीथ=डा० विन्टर्निट्ज एवं डा० ए० बी० कीथ द्वारा प्रस्तुत बॉडलीन लाइब्रेरी (जिल्द २, १९०५) में 'कैटलॉग आव संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स' ।

हुल्श=डा० हुल्श द्वारा प्रस्तुत 'रिपोर्ट्स ऑन संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन सॉदर्न इण्डिया' (जिल्द १-३) ।

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ-सूची

अंशबलि—व्यक्ति की जन्मराशि के किसी अंश की शान्ति करने वाले कृत्यों का ग्रन्थ।

अकालभास्कर—शम्भुनाथ सिद्धान्तवागीश द्वारा शकाब्द १६३६ में प्रणीत। मलमासों पर, उनकी गणना एवं उनमें किये जाने वाले विशिष्ट कर्मों पर।

अक्षमालाप्रतिष्ठा।

अखण्डादर्श—ले० अखण्ड (?), वेंकटनाथ के स्मृति-रत्नाकर में वर्णित। धर्म एवं व्यवहार के खण्डों में विभाजित।

अगस्त्य या अगस्तिसंहिता—जीमूतवाहन के काल-विवेक में तथा अपरार्क में व०।

अग्निकार्य।

अग्निकार्यपद्धति।

अग्निनिर्णय—ले० कमलाकर।

अग्निसंधानवचन—औपासन के आह्निक सम्पादन के छूट जाने पर किये जाने वाले कृत्यों पर।

अग्निस्थापन।

अग्निहोत्रकर्म।

अग्निहोत्रमन्त्रार्थचन्द्रिका—ले० वैद्यनाथ (विट्ठलात्मज रामचन्द्र का पुत्र, लगभग १६८३ ई०)।

अग्निहोत्रिदाहविधि।

अघदीपिका।

अघनिर्णय—सरस्वतीवल्लभात्मज रंगनाथ के पुत्र वेंकटेश द्वारा लिखित; अन्य नाम—विज्ञानेश्वर, अखण्ड, स्मृत्यर्थसार, वरदराज। ले० द्वारा टीका, रामानुज यज्वा की टी० दीपिका। वैदिकसार्वभौम द्वारा टीका (सम्भवतः यह लेखक की टीका है)।

अघनिर्णय—वसिष्ठ गोत्र के वीरराघव द्वारा रचित।

अघपञ्चविवेचन—मथुरानाथ द्वारा रचित।

अघपञ्चषष्टि—मथुरानाथ द्वारा (६५ श्लोकों में)।

अघपञ्चषष्टि—कौशिक गोत्र के बीथि (पि-या-जि-नाथ) द्वारा। रामचन्द्र बुध द्वारा स्मृतिसिद्धान्त-सुधा टीका।

अघप्रकाशिका—(दो खण्डों में)।

अघप्रदीप।

अघप्रदीपिका—याज्ञवल्क्य द्वारा रचित कही जाती है।

अघवाडव या दानसार—विश्वेश्वर भट्ट द्वारा (बड़ोदा, संख्या ७१२९, टी०)।

अघविमोचन।

अघविवेक—भारद्वाज गोत्र के अप्पयदीक्षित अद्वैताचार्य के पुत्र नीलकण्ठ दीक्षित द्वारा (छः प्रकरणों में)।

अघविवेचन—भारद्वाज कुल के अनन्त-पुत्र रामचन्द्र द्वारा (दो परिच्छेदों में)। टी० मुक्ताफल की ओर संकेत करती है। रुचिदत्त द्वारा टी०।

अघशतक।

अघषट्क।

अघसंशयतिमिरादित्यसूत्र।

अघसंग्रह।

अघसंग्रहदीपिका—(हुल्श, संख्या २७०)।

अंकुरार्पणप्रयोग—(नारायण भट्ट के प्रयोगरत्न से)।

अंकुरार्पणविधि—(पंचरात्रागम से)।

अंकुरार्पणविधि—(शारदातिलक से)।

अंगिरा—कुलमणि शुक्ल द्वारा टी०। दे० प्रक० ३९।

अचलनिबन्ध।

अणुछलारीय—शेषाचार्य द्वारा।

अण्णादीक्षितीय—अण्णादीक्षित द्वारा।

अतिक्रान्तप्रायश्चित्त।

अतिरुद्रशान्ति।

अतीचारनिर्णय—महेश द्वारा (बिहार, पृ० २ संख्या ३)।

अतीचारनिर्णय—भुजबल भीम द्वारा (बिहार, पृ० ३, संख्या ४)।

अत्रि—दे० प्रक० १९। टी० कृष्णनाथ द्वारा। टी० तकनलाल द्वारा, १६८६ ई० के पश्चात्। टी० हरिराम द्वारा।

अद्भुतदर्पण या अद्भुतसंग्रह—ध्रुव-बाण कुलजात रघुनाथ के पुत्र एवं गोविन्द के ज्येष्ठ भ्राता माधव-शर्मा। बल्लालसेन के अद्भुतसागर पर आधारित। दिव्य, नाभस एवं भौम पर। मयूरचित्र को उ० करता है। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० २-४)।

अद्भुतविवेक—महीधर द्वारा।

अद्भुतसागर—विजयसेन के पुत्र बल्लालसेन द्वारा (प्रभाकरी एण्ड कं०, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित); रघुनन्दन, कमलाकर, नीलकण्ठ एवं अनन्तदेव द्वारा वर्णित। सन् १०६८ ई० में प्रारम्भित एवं लक्ष्मण-सेन द्वारा समाप्त।

अद्भुतसागरसार—चतुर्भुज द्वारा।

अद्भुतसागरसार—श्रीपति द्वारा।

अद्भुतसिन्धु—शान्तितत्त्वामृत में नारायण द्वारा उ०।

अद्भुतामृत—उत्पातों पर, दिव्य, आन्तरिक्ष एवं भौम नामक तीन प्रकारों पर।

अद्भुतोत्पातशान्ति—शौनक द्वारा।

अधिकमासप्रकरण।

अधिकमासनिर्णय—देखिए मलमासनिर्णय।

अधिकमासफल।

अधोमुखजननशान्ति—शौनक द्वारा रचित।

अध्यायोपाकर्मप्रयोग।

अनन्तभाष्य—समयमयूख में वर्णित।

अनन्तव्रतपूजापद्धति—(शंकर के व्रतार्क से)।

अनन्तव्रतोद्यापन।

अनन्तभट्टी या स्मार्तानुष्ठानपद्धति—विश्वनाथ के पुत्र अनन्त भट्ट दीक्षित द्वारा, यज्ञोपवीत की उपाधि। देखिए 'प्रयोगरत्न'।

अनन्ताह्निक।

अनाकुला—आपस्तम्बगृह्यसूत्र पर हरदत्त की टी०। देखिए प्रकरण ८६।

अनाचारनिर्णय।

अनावृष्टिशान्ति—शौनक कृत।

अनुभोगकल्पतरु—जगन्नाथ द्वारा।

अनुमरणप्रदीप—गौरीश भट्ट।

अनुमरणविवेक—शुद्धितत्त्व में रघुनन्दन द्वारा उ०।

अनुयागपद्धति—जनार्दन के पुत्र आनन्दतीर्थ द्वारा।

अनुयागपद्धति—कृष्णानन्द सरस्वती द्वारा। आर्याध्व-रीन्द्र द्वारा टी० (बड़ोदा, सं० १२५३७)।

अनुष्ठानपद्धति—रघुनाथ ने इस पर टी० लिखी है।

अनूपविलास या **धर्माम्भोधि**—शिवदत्तात्मज गंगा-राम के पुत्र मणिराम दीक्षित द्वारा महाराज अनूप-सिंह के संरक्षण में लिखित; आचाररत्न, समयरत्न, संस्कार-रत्न, वत्सररत्न, दानरत्न एवं शुद्धिरत्न नामक ६ भागों में विभाजित। दिल्ली के शाहंशाह आलमगीर (शाहजहाँ) के राज्यकाल में अनूपसिंह वर्तमान थे। लगभग १६६० ई०।

अनूपविवेक—बीकानेर के अनूपसिंहदेव का कहा गया है। पाँच उल्लासों में शालग्राम-परीक्षण लिखा गया है। अनूपसिंह १६७३ में राजा थे, जो कर्णसिंह (१६३४) के पुत्र थे। देखिए डकन कालेज मेनु-स्क्रिप्ट्स, सन् १९०२-१९०७ की, सं० २२। और देखिए दानरत्नाकर।

अन्तरिक्षवायुवीर्यप्रकाश।

अन्त्यकर्मदीपिका—हरिभट्ट दीक्षित द्वारा।

अन्त्यकर्मपद्धति।

अन्त्यक्रियापद्धति—मणिराम द्वारा। शुद्धिमयूख द्वारा उ०। लग० १६४० ई०।

अन्त्येष्टिक्रियापद्धति—आपदेव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। दे० प्रक० १०९।

अन्त्येष्टिपद्धति—गोदावरी-तटीय (पुणताम्बे पर स्थित)

पुण्यस्तम्भ के अनन्त भट्टात्मज केशव द्वारा। लग० १४५० ई०।

अन्त्येष्टिपद्धति—महेश्वर भट्ट द्वारा।

अन्त्येष्टिपद्धति—रामाचार्य द्वारा।

अन्त्येष्टिपद्धति—भानुदत्त उपनामक भास्कर के पुत्र हरिहर द्वारा। भारद्वाजसूत्र एवं उसकी टीका का अनुसरण करते हुए। इसका कथन है कि भारद्वाज के आधार पर १०० पद्धतियाँ हैं, किन्तु वे विभिन्न हैं।

अन्त्येष्टिपद्धति या **और्ध्वदेहिकपद्धति**—रामेश्वर के पुत्र भट्टनारायण द्वारा। दे० प्रक० १०३।

अन्त्येष्टिपद्धति या **और्ध्वदेहिकपद्धति**—गोपाल के पुत्र विश्वनाथ द्वारा।

अन्त्येष्टिप्रकाश—भारद्वाज गोत्र के दिवाकर द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० ३)।

अन्त्येष्टिप्रयोग—(आपस्तम्बीय)।

अन्त्येष्टिप्रयोग—(हिरण्यकेशी) केशव भट्ट द्वारा; उनकी 'प्रयोगमणि' से।

अन्त्येष्टिप्रयोग—नारायण भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०३।

अन्त्येष्टिप्रयोग—विश्वनाथ द्वारा। आश्वलायन पर आधारित।

अन्त्येष्टिविधि—जिकन द्वारा। शुद्धितत्त्व में रघुनन्दन द्वारा उ०।

अन्त्येष्टिप्रायश्चित्त।

अन्त्येष्टिसामग्री।

अन्त्येष्टधर्क—सन् १८९० ई० में बम्बई से प्रकाशित।

अन्नदान।

अन्नप्राशन।

अन्नप्राशनप्रयोग।

अन्वष्टका।

अन्वष्टकानवमीश्राद्धपद्धति।

अपमृत्युञ्जयशान्ति—शौनक की कही गयी है।

अपिपालपद्धति (या शूद्रपद्धति)—अपिपाल द्वारा; रघुनन्दन के श्राद्धतत्त्व एवं गोविन्दानन्द की श्राद्धक्रियाकौमुदी द्वारा वर्णित। १५०० ई० के पूर्व।

अपिपालकारिका—रघुनन्दन के मलमासतत्त्व में व०।

अपेक्षितार्थद्योतिनी—नारायण द्वारा टी०, मदनरत्न (शान्त्युद्योत) में व०।

अब्दपूर्तिप्रयोग या वर्षवृद्धि।

अब्दपूर्तिपूजा।

अब्धि—(केदार द्वारा ?) स्मृत्यर्थसार में श्रीधर द्वारा उ०।

अभक्ष्यभक्ष्यप्रकरण।

अभिनवप्रायश्चित्त।

अभिनवमाधवीय—माधवाचार्य द्वारा।

अभिनवषडशीति—(अशौच पर) पोंद्रिवंश के वेंकटेशपुत्र सुब्रह्मण्यम् द्वारा तेलुगु लिपि में मुद्रित, मद्रास, १८७४ ई०। हुल्श (जिल्द २, पृ० ११३, भूमिका, पृ० ६)। लेखक की धर्मप्रदीपिका टी०; चन्द्रिका, माधवीय, कौशिकादित्य की षडशीति की ओर संकेत। १४०० ई० के पश्चात् रचित।

अभिलषितार्थचिन्तामणि (मानसोल्लास)—राजा सोमेश्वर चालुक्य द्वारा। ११२९ ई०; पाँच विंशतियों में विभाजित एवं १०० अध्यायों में।

अभ्युदयश्राद्ध।

अमृतव्याख्या—नन्द पण्डित की शुद्धिचन्द्रिका में व०। १५७५ ई० के पूर्व।

अम्बिकार्चनचन्द्रिका—अहल्याकामधेनु में वर्णित।

अयननिर्णय—नारायण भट्ट द्वारा।

अयाचितकालनिर्णय।

अयुतहोम-लक्षहोम-कोटिहोमाः—बीकानेर के राजा अनूपसिंह के संरक्षण में रहने वाले राम द्वारा। लग० १६५० ई०।

अयुतहोमविधि—नारायण भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०३।

अरुणस्मृति—दानचन्द्रिका एवं निर्णयसिन्धु में व०। अलवर, संख्या १२५३, जिसमें दानग्रहण एवं उसके लिए प्रायश्चित्तों के शामक १४९ श्लोक लिखित हैं।

अर्कविवाहपद्धति—शौनक द्वारा।

अर्कविवाह—प्रथम दो की मृत्यु के उपरान्त तृतीय पत्नी से विवाह करने के पूर्व अर्क नामक पौधे से विवाह करने की विधि। बी० बी० आर० ए० एस०, पृ० २४०।

अर्घ्यदान।

अर्घ्यप्रदानकारिका।

अर्घ्यानुष्ठान।

अर्जुनार्चन-कल्पलता—रामचन्द्र द्वारा (कार्तवीर्य की पूजा पर)।

अर्जुनार्चापारिजात—रामचन्द्र द्वारा।

अर्थकौमुदी—गोविन्दानन्द द्वारा, शुद्धिदीपिका पर टी०। दे० प्र० १०१।

अर्थशास्त्र—कौटिल्य द्वारा। देखिए प्रक० १४। टी० भट्टस्वामी की प्रतिपदपंचिका (द्वितीय अधिकरण के अध्याय ८-३६ पर)। माधवयज्वमिश्र की नयचन्द्रिका टी०। गणपतिशास्त्री (त्रि० सं० सी०) द्वारा श्रीमूल टी०।

अर्थप्रदीप—चण्डेश्वर के राजनीतिरत्नाकर में वर्णित।

अर्धोदयपर्वपूजन—बड़ोदा (संख्या ३७४२)।

अर्हन्नीति—हेमाचार्य (१०८८-११७२ ई०) कृत (अहमदाबाद में मुद्रित, १९०६)।

अलङ्कारदान।

अलसकाजीर्णप्रकाश।

अल्पयम—हरिनाथ के स्मृतिसार में वर्णित।

अवधूताश्रम—अज्ञात। इस प्रकार के संन्यासियों एवं उनके कर्तव्यों का वर्णन है। नो० न्यू० (जिल्द ३, भूमिका ९, पृ० ८)।

अवसानकालप्रायश्चित्त।

अशुद्धिचन्द्रिका या **(शुद्धिचन्द्रिका)**—नन्द पण्डित द्वारा। दे० प्र० १०५।

अशौचनिर्णय—उमानाथ द्वारा (बिहार, संख्या १०, पृ० ७)।

अशौचप्रकाश—देखिए 'आशौचप्रकाश' के अंतर्गत। 'अशौच' पर लिखित ग्रंथों में 'अशौच' एवं 'आशौच' दोनों शब्द प्रचलित रहे हैं।

अशौचसार—सत्पण्डित श्री बलभद्र द्वारा; (इसमें कुबेर पण्डित, भीमोपाध्याय, भवदेव भट्ट एवं स्मृतिसमुच्चय के उल्लेख आये हैं)।

अश्वत्थपूजा।

अश्वत्थप्रतिष्ठा।

अश्वत्थोद्यापन—(शौनकस्मृति से) बी० बी० आर० ए० एस्० (जिल्द २, पृ० २४०)।

अश्वत्थोपनयनपद्धति—(शौनक के अनुसार) बी० बी० आर० ए० एस्० (जिल्द २, पृ० २४०);

अश्वदान।

अष्टकाकर्म।

अष्टकाकर्मपद्धति।

अष्टकाशौचभाष्य—देखिए सूतकनिर्णय।

अष्टमहाद्वादशीनिर्णय—माधव के पुत्र रघुनाथ द्वारा (बड़ोदा, संख्या १२५८६ ए)। लगभग १५५०-१६२५ ई०।

अष्टमहामन्त्र-पद्धति—स्मृत्यर्थसागर में उ०।

अष्टविंशतिमुनिमत—बड़ोदा, संख्या १२७४३।

अष्टश्राद्धविधानविधि।

अष्टादश गोत्र—बड़ोदा, संख्या ३८५४।

अष्टादशजातिनिर्णय—स्टीन, पृ० ८२।

अष्टादशविवादसंक्षेप—स्टीन, पृ० ८२।

अष्टादश संस्काराः—चतुर्भुज द्वारा।

अष्टादशस्मृतिसार।

अष्टादशस्मृतिसारसंग्रह—बड़ोदा, संख्या १०२१४।

असगोत्रपुत्रपरिग्रहपरीक्षा—अहोबल द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० ११)।

असपिण्डासगोत्रपरीक्षा—सम्भवतः यह उपर्युक्त ग्रन्थ ही है।

असपिण्डासगोत्रपरिग्रहविधि—अहोबल शास्त्री द्वारा।

अस्थिप्रक्षेप—चन्द्रप्रकाश द्वारा (बड़ोदा, सं० १५४७८)।

अस्थिशुद्धि।

अस्थिशुद्धिप्रयोग।

अस्थ्युद्धरण।

अर्हविधि।

अहल्याकामधेनु—(बनारस संस्कृत कालेज में एक पाण्डुलिपि) केशव द्वारा, जिन्होंने मल्लारिराव के पुत्र खंडेराव की पत्नी अहल्या के नाम पर यह ग्रन्थ रचा है। लगता है, इन्दौर की अहल्या (१८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में) की ओर संकेत है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता—श्रैडर द्वारा अडयार से प्रकाशित।

अर्हन्नीति—हेमाचार्य द्वारा, दायभाग वाला भाग, लखनऊ से सन् १८९१ ई० में प्रकाशित।

आग्रयणपद्धति—विट्ठल दीक्षित द्वारा। यजुर्वल्लभा का भाग।

आङ्गिरसस्मृति—बारह अध्यायों में 'प्रायश्चित्त' पर (इण्डिया आफिस कैटलॉग, जिल्द ३, पृ० २८०, संख्या १३०४)।

आचारकाण्ड।

आचारकौमुदी—गोपाल द्वारा (बड़ोदा, संख्या १११-३३)।

आचारकौमुदी—सोमेश्वर के पुत्र राजाराम द्वारा; सच्चरित्र एवं विष्णु-पूजा पर एक ग्रन्थ। संवत् १७८२ (१७२५-२६ ई०)।

आचारखण्ड—बड़ोदा, संख्या १२७९६।

आचारचन्द्रिका—त्रिविक्रम सूरि द्वारा।

आचारचन्द्रिका—पद्मनाभकृत। इन्होंने १३६७ ई० में सुपद्म व्याकरण एवं १३७५ ई० में पृषोदरादि-वृत्ति की रचना की।

आचारचन्द्रिका—रत्नेश्वर मिश्र रचित।

आचारचन्द्रिका—रमापति द्वारा रचित।

आचारचन्द्रिका—श्रीकराचार्य के पुत्र श्रीनाथाचार्य चूडामणि द्वारा शूद्रों एवं द्विजों के कर्तव्यों पर। रघुनन्दन द्वारा पाण्डुलिपि संवत् १४८८-८९ में उतारी गयी। ये १४७५ ई० में भी थे। दे० इण्डि० आ०, पृ० ५२४।

आचारचन्द्रोदय—(माधवप्रकाश) सारस्वत दुर्ग के पुत्र एवं मिथिला के विट्ठल पुरुषोत्तम कविवर के शिष्य महेश्वर द्वारा; वाजसनेयों के लिए दिन के आठ भागों के कर्मों को आठ परिच्छेदों में बाँटा गया है। पश्चिमी घाट पर इरावती नदी के तटवर्ती लावपुर के राजा नातू के कनिष्ठतम पुत्र माधव के संरक्षण में प्रणीत। १५०० ई० के उपरान्त। देखिए मित्र, नो० ५, पृ० ९७ एवं इण्डि० आ० पृ० ५०६।

आचारचन्द्रोदय—सदाराम द्वारा।

आचारचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र कृत; रघुनन्दन एवं श्रीदत्त की पाण्डु०। दे० प्र० ९८।

आचारतरंगिणी—रविनाथ मिश्र।

आचारतत्त्व—मकरन्द के पुत्र हरिप्रसाद द्वारा। स्टीन, पृ० ८३ एवं ३०१।

आचारतिलक—द्रव्यशुद्धिदीपिका एवं निर्णयदीपक द्वारा उ०। १५०० ई० के पूर्व।

आचारतिलक—गंगाधर द्वारा; १०८ श्लोकों में। दे० ड० का० पाण्डु० सं० १३५ (१८८६-९२)।

आचारदर्पण—श्रीदत्त कृत; यही आचारादर्श भी है। दे० प्रक० ८९।

आचारदर्पण—बोपदेव कृत; पूर्तदिनकरोद्योत में व०।

आचारदर्शन।

आचारदीधिति—अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ का भाग।

आचारदीप या प्रदीप—गोदावरी पर कर्पूरग्राम के वासी कमलाकर द्वारा।

आचारदीप—नागदेव कृत; ८ अध्यायों में आह्निक पर आचारमयूख में नीलकण्ठ द्वारा, कात्यायन के स्नानविधिसूत्र पर अग्निहोत्री हरिहर द्वारा उ० (बिहार०, सं० २२)। १४३६ ई० में।

आचारदीपक—त्रिविक्रम के संरक्षण में गंगाविष्णु द्वारा सन् १७५२ ई० में प्रतिलिपि।

आचारदीपिका।

आचारदीपिका—कमलाकर कृत।

आचारदीपिका—श्रीदत्त के आचारादर्श पर हरिलाल की टीका।

आचारदीपिका—सारसमुच्चय द्वारा (बड़ोदा, सं० १०-९१०)।

आचारद्वैतविवेक—विभाकर कृत। मिथिला के राजा रामभद्र के शासन-काल में प्रणीत। श्राद्ध-सम्बन्धी सन्देह मिटाता है। लग० १५०० ई०।

आचारनवनीत—गौरीमायूर के वासी अप्पा दीक्षित कृत। शाहजी के काल (१६८४-१७११) में प्रणीत। आचार, श्राद्ध, द्रव्यशुद्धि एवं कालनिर्णय के खण्डों में विभाजित।

आचारनिर्णय—गोपाल कृत।

आचारनिर्णय—ब्राह्मणों के कर्तव्यों पर ६६ श्लोकों में; कायस्थ आदि की उत्पत्ति पर।

आचारपंचाशिका—महाशर्म-कृत।

आचारपद्धति—वासुदेवेंद्र कृत।

आचारपद्धति—विद्याकर कृत।

आचारपद्धति—श्रीधरसूरि कृत।

आचारप्रकाश—अप्पाजी के पुत्र भास्कर द्वारा (बड़ोदा, सं० १२७८९)।

आचारप्रकाशिका—अहल्याकामधेनु द्वारा उ०।

आचारप्रदीप—केशवभट्ट कृत; रघुनन्दन के श्राद्ध-तत्त्व में उ०।

आचारप्रदीप—नागदेव कृत। नागदेव ने निर्णयतत्त्व भी लिखा।

आचारप्रदीप—भट्टोजि कृत।

आचारप्रशंसा।

आचारभूषण—त्र्यम्बकराम ओक द्वारा; शक १७४१ में; ९ किरणों में; आनन्द० द्वारा मुद्रित।

आचारमंजरी—मथुरानाथ कृत।

आचारमयूख—नीलकण्ठ कृत। जे० आर० घरपुरे द्वारा सम्पादित (गुजराती प्रेस, बम्बई)। देखिए प्रक० १०७।

आचारमाधवीय—माधवाचार्य कृत; पराशरस्मृति पर उनकी टीका का प्रथम भाग।

आचारमाला—निधिराम कृत।

आचाररत्न—रघुनन्दन के आह्निकतत्त्व में वर्णित।

आचाररत्न—मणिराम कृत (अनूपविलास का प्रथम भाग)।

आचाररत्न—नारायण भट्ट के पुत्र लक्ष्मण भट्ट द्वारा। कमलाकर भट्ट के छोटे भाई थे, अतः सन् १५८०-१६४० में। निर्णय० प्रेस बम्बई में मुद्रित।

आचाररत्न—चन्द्रमौलि कृत।

आचाररत्नाकर—रघुनन्दन द्वारा आह्निकतत्त्व में उ०।

आचारवाक्यसुधा।

आचारवारिधि—रमापति उपाध्याय सन्मिश्र द्वारा। इन्होंने विवादवारिधि का भी प्रणयन किया।

आचारविधि।

आचारविवेक—मानसिंह कृत।

आचारविवेक—मदनसिंह कृत (मदनरत्न का एक भाग)।

आचारव्रतादिरहस्य।

आचारसंग्रह—गंगोली संजीवेश्वर शर्मा के पुत्र रत्न-पाणि शर्मा द्वारा।

आचारसंग्रह—नारायण के पुत्र हरिहर पण्डित द्वारा।

आचारसागर—बल्लालसेन द्वारा; मदनपारिजात (पृ० ५८), स्मृतिरत्नाकर (वेदाचार्यकृत) एवं लेखक की कृति दानसागर (लग० ११६८ ई०) में उ०।

आचारसार—हेमाद्रि (३।२।९००) द्वारा व०।

आचारसार—नारायणात्मज रामकृष्ण के पुत्र लक्ष्मण भट्ट द्वारा। लगता है, यह आचाररत्न ही है।

आचारस्मृतिचन्द्रिका—गदाधर के पुत्र सदाशिव द्वारा।

आचारादर्श—(मैथिल) श्रीदत्त कृत। लग० १३०० ई० (बनारस में सन् १९२० में एवं वेंक० प्रेस में मुद्रित); रुद्रधर के शुद्धिविवेक में व०; इसमें कामधेनु, कल्पतरु एवं हरिहर का भी उल्लेख है। दे० प्रक० ८९। दामोदर के पुत्र गौरीपति द्वारा टी० (बनारस में एवं वेंक० प्रेस में मुद्रित)। हरिलाल द्वारा आचारदीपिका नामक टी०।

आचारदीपिका—आचारादर्श का संक्षिप्त रूप।

आचारार्क—बालकृष्णात्मज महादेव के पुत्र दिवाकर के धर्मशास्त्रसुधानिधि का एक भाग; अपने नाना एवं मयूखों के प्रणेता नीलकण्ठ का उल्लेख किया है। सन् १६८६-८७ में प्रणीत। तकनलाल द्वारा टीका।

आचारार्कक्रम—आचारार्क की अनुक्रमणिका। लेखक के पुत्र वैद्यनाथ द्वारा, जिसने दानहारावलि एवं श्राद्धचन्द्रिका पर अनुक्रमणिका लिखी।

आचारार्क—मथुरानाथ कृत।

आचारार्क—रामचन्द्र भट्ट कृत।

आचारेन्दु—नारायण के पुत्र एवं 'माटे' उपाधि वाले त्र्यम्बक द्वारा। सप्तर्षि (आधुनिक सतारा) में सन् १८३८ में प्रणीत। आनन्द० प्रेस में मुद्रित।

आचारेन्दुशेखर—शिवभट्ट एवं सती के पुत्र नागेश भट्ट द्वारा। दे० प्रक० ११०।

आचारोद्द्योत—टोडरानन्द कृत।

आचारोद्द्योत—मदनसिंहदेव के मदनरत्नप्रदीप का एक भाग।

आचारोल्लास—बनारस में परशुराम मिश्र की आज्ञा से, (जो शाकद्वीपीय होलिल (र) मिश्र के पुत्र थे और जिन्हें बादशाह द्वारा वाणीरसालराय की पदवी मिली थी) नारायण पण्डित धर्माधिकारी के पुत्र खण्डेराव द्वारा कृत परशुरामप्रकाश का प्रथम भाग। १५वें मयूख में शाकद्वीपीय ब्राह्मणों की उत्पत्ति का उल्लेख है। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० १०-१२)।

आचारोल्लास—मथुरानाथ शुक्ल कृत।

आचार्यगुणादर्श—शतक्रतु ताताचार्य के पुत्र वेंकटाचार्य द्वारा (वैष्णव०)।

आचार्यचूडामणि—शूलपाणि के श्राद्धविवेक पर टीका; रघुनन्दन द्वारा एवं शूद्रकमलाकर में उ०।

अतिथ्येष्टि।

आतुरसंन्यास—देखिए बी० बी० आर० ए० एस० जिल्द २, पृ० २४१।

आतुरसंन्यासकारिका।

आतुरसंन्यासपद्धति—(बड़ोदा, सं० ५८०३)।

आतुरसंन्यासविधि।

आतुरसंन्यासविधि—आंगिरस द्वारा।

आतुरसंन्यासविधि—कात्यायन द्वारा।

आतुराविपद्धति—ड० का० पाण्डु०, सं० १८८८६-९२ की १३८।

आत्रेयधर्मशास्त्र—९ अध्यायों में (इण्डि० आ०, जिल्द ३, पृ० ३८०, सं० १३०५)। ६ अध्यायों में एक अन्य भी है (वही, जिल्द ३, पृ० ३८१, सं० १३०८)।

आत्रेयधर्मशास्त्र—(बम्बई विश्वविद्यालय पुस्तकालय में पाण्डुलिपि) १४ अध्यायों एवं १४१ खण्डों में; अनध्याय (पाठशाला की छुट्टी के दिन) के साथ अन्त। नीतिमयूख में व०।

आथर्वणगृह्यसूत्र—विश्वरूप एवं हेमाद्रि द्वारा व०।

आत्रेयस्मृति—(३६९ श्लोकों में) इण्डि० आ०, जिल्द ३, पृ० ३८१।

आथर्वणप्रमिताक्षरा—श्रीपति के पुत्र वासुदेव द्वारा (बड़ोदा, सं० ७६०३। हेमाद्रि एवं त्रैविक्रमी पद्धति की चर्चा की है।

आदिधर्मसारसंग्रह—तुलाजिराज (१७६५-८८ ई०) रचित कहा गया है।

आदिस्मृत्यर्थसार—दे० स्मृत्यर्थसार।

आनन्दकरनिबन्ध—विश्वम्भर के स्मृतिसारोद्धार में व०।

आपस्तम्ब-प्रायश्चित्तशतद्वयी—दे० प्रायश्चित्तशतद्वयी।

आपस्तम्बयल्लाजीय।

आपस्तम्बसूत्रध्वनितार्थकारिका या **त्रिकाण्डमण्डन**—कुमारस्वामी के पुत्र भास्कर मिश्र द्वारा। इसमें अधिकार, प्रतिनिधि, पुनराधान एवं आधान पर चार काण्ड हैं (बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज, कलकत्ता) टी०, दे० स्टीन (पृ० १२)। टी० पदप्रकाशिका या त्रिकाण्डमण्डनविवरण।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र—विण्टरनित्ज द्वारा सम्पादित एवं एस० बी० ई० (जिल्द ३०) में अनूदित।

टी० हरदत्त कृत अनाकुला (मैसूर); टी० कर्क द्वारा; टी० कपर्दिकारिका (कुम्भकोणम् में प्रकाशित, १९१६); टी० गृह्यतात्पर्यदर्शन, सुदर्शनाचार्य द्वारा (काशी संस्कृत सी० द्वारा प्रकाशित); टी० प्रयोगवृत्ति, तालवृन्तनिवासी द्वारा (कुम्भकोणम् में प्रकाशित, १९०२)।

आपस्तम्बगृह्यसूत्रदीपिका।

आपस्तम्बगृह्यप्रयोग।

आपस्तम्बगृह्यभाष्यार्थसंग्रह—हेमाद्रि द्वारा उ०।

आपस्तम्बगृह्यसार—महामहोपाध्याय योपनभट्ट (आंध्र) द्वारा।

आपस्तम्बगृह्यसूत्रकारिका—वाग्विजय के पुत्र सुदर्शन द्वारा।

आपस्तम्बगृह्यसूत्रकारिकावृत्ति—नरसिंह द्वारा (९६९ श्लोकों में शक सं० १५३६ में लिखित एवं १९२२ में तेलुगु में अनूदित)।

आपस्तम्बजातकर्म—बापण्णभट्ट द्वारा।

आपस्तम्बधर्मसूत्र—दे० प्रक० ७। टी० उज्ज्वला, जो हरदत्त कृत है (कुम्भकोणम् में मुद्रित एवं बम्बई संस्कृत सीरीज द्वारा प्रकाशित)।

आपस्तम्बपद्धति।

आपस्तम्बपद्धति—विश्वेश्वर भट्ट द्वारा।

आपस्तम्बपरिभाषासूत्र—मैसूर १८९४ एवं आनन्द० सं० ९३। टी० कपर्दिस्वामी द्वारा, टी० हरदत्त द्वारा।

आपस्तम्बपूर्वप्रयोग।

आपस्तम्बपूर्वप्रयोगकारिका।

आपस्तम्बपूर्वप्रयोगपद्धति—शिंगाभट्ट द्वारा (हुल्श), सं० ८७।

आपस्तम्बप्रयोगरत्न—नारायणयज्वा द्वारा।

आपस्तम्बप्रयोगसार।

आपस्तम्बप्रयोगसार—गंगाभट्ट द्वारा।

आपस्तम्बप्रायश्चित्तशतद्वयी—टी० वेंकटवाजपेयी द्वारा।

आपस्तम्बश्राद्धप्रयोग।

आपस्तम्बसूत्रकारिका।

आपस्तम्बसूत्रसंग्रह।

आपस्तम्बस्मृति—१० अध्यायों में, पद्य में; जीवानन्द द्वारा मुद्रित।

आपस्तम्बस्मृति—विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि, माधव एवं हरदत्त द्वारा उद्धृत।

आपस्तम्बाह्निक।

आपस्तम्बाह्निक—काशीनाथ भट्ट द्वारा।

आपस्तम्बाह्निक—गोवर्धन कविमण्डन द्वारा।

आपस्तम्बाह्निक—रुद्रदेव तोरो द्वारा।

आपस्तम्बीयद्वादशसंस्काराः।

आपस्तम्बीयमन्त्रपाठ—डा० विण्टरनित्ज द्वारा सम्पादित।

आपस्तम्बीयसंस्कारप्रयोग।

आब्दिकनिर्णय।

आभ्युदयिकश्राद्ध।

आभ्युदयिकश्राद्धपद्धति।

आरामादिप्रतिष्ठापद्धति—गंगाराम महाडकर द्वारा।

आरामोत्सर्गपद्धति—दे० जलाशयारामोत्सर्गपद्धति।

आरामोत्सर्गपद्धति—भट्टनारायण द्वारा।

आरामोत्सर्गपद्धति—शिवराम द्वारा।

आरामोत्सर्गपद्धति—(बड़ोदा, सं० ५४२४)।

आर्धचन्द्रिका।

आर्धचन्द्रिका—वैद्यनाथ द्वारा।

आर्ष्टिषेणस्मृति—निर्णयसिन्धु द्वारा वर्णित।

आवसथ्याधानपद्धति—श्रीदत्त कृत।

आशौच—वेंकटेश द्वारा।

आशौचकाण्ड—दिनकरोद्द्योत का एक भाग।

आशौचकाण्ड—वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा (स्मृतिमुक्ताफल का एक भाग)।

आशौचकारिका।

आशौचगंगाधरी—गंगाधर कृत।

आशौचचन्द्रिका।

आशौचचन्द्रिका—रत्नभट्ट के पुत्र त्यगलाभट्ट या तिगलाभट्ट के पुत्र वेदांतराय द्वारा (स्टीन, पृ० ८३)।

आशौचचन्द्रिका—राजकृष्ण तर्कवागीशभट्टाचार्य द्वारा।

आशौचतत्त्व—दे० 'शुद्धितत्त्व'।

आशौचतत्त्व—अगस्त्यगोत्र के विश्वनाथ के पुत्र महादेव द्वारा, ४८ श्लोकों में (हुल्श, पृ० १४३)। टी० त्र्यम्बक के पुत्र शिवसूरि (महाजन) द्वारा रचित।

आशौचतत्त्वविचार।

आशौचत्रिंशच्छ्लोकी—दे० त्रिंशच्छ्लोकी; अलीगढ़ में प्रकाशित। टी० मुकुन्द के शिष्य राघवभट्ट द्वारा। स्मृत्यर्थसार निर्णयामृत का इसमें उद्धरण है। टी० भट्टाचार्य द्वारा (बड़ोदा, सं० ३८८३, काल सं० १५७९, सन् १५२२-२३ ई०)। टी० भट्टोजि द्वारा।

आशौचदशक—या दशश्लोकी, विज्ञानेश्वर द्वारा; दे० 'दशश्लोकी'। टी० विवरण (भट्टोजि कृत); टी० रामेश्वरात्मज माधव के पुत्र रघुनाथ द्वारा (१५७८ ई०); टी० लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर द्वारा (विवृति)। विज्ञानेश्वर, वाचस्पति एवं भट्टोजि का उल्लेख है (स्टीन, पृ० ३०२); १६५० ई० के पश्चात्। टी० वेंकटाचार्य द्वारा। टी० श्रीधर द्वारा। टी० हरिहर द्वारा (इण्डि० आ० पाण्डु०, १५३२ ई०, पृ० ५६५)।

आशौचदीधिति—अनन्तदेव कृत स्मृतिकौस्तुभ का एक भाग।

आशौचदीपक—कोटिलिंगपुरी के राजकुमार द्वारा। टीका लेखक द्वारा।

आशौचदीपिका—अघोरशिवाचार्य द्वारा।

आशौचदीपिका—विश्वेश्वर भट्ट (उर्फ गागाभट्ट) द्वारा। दिनकरोद्योत कृत आशौच का एक अंश (नो०, पृ० १३६)।

आशौचदीपिका—श्यामसुन्दर भट्टाचार्य द्वारा।

आशौचदीपिका—कम्भालूर नृसिंह द्वारा, जिसने हेमाद्रि, माधवीय, षडशीति एवं पारिजात की ओर संकेत किया है।

आशौचनिर्णय या **षडशीति**—औफ्रेक्ट (२, पृ० ११) ने षडशीति को अभिनवषडशीति कहा है।

आशौचनिर्णय—आदित्याचार्य या कौशिकादित्य द्वारा; टी० नन्दपण्डित द्वारा शुद्धिचन्द्रिका (चौखम्भा सी०), १५९०-१६२५ ई० के बीच।

आशौचनिर्णय—कौशिकाचार्य कृत (भण्डारकर संग्रह से); १४६ श्लोकों में; कौशिकादित्य के ८६ श्लोकों की ओर संकेत है और गोभिल के वचन उ० हैं)।

आशौचनिर्णय—गोपाल द्वारा। शक सं० १५३५ (१६१३ ई०); अपने 'शुद्धिनिर्णय' में उ० है। नो० ९, पृ० २६७।

आशौचनिर्णय—मातामह उपाधि वाले नृहर्याचार्य के पुत्र गोविन्द द्वारा।

आशौचनिर्णय—आपदेव के पुत्र जीवदेव द्वारा; गोदावरी पर उत्पन्न; सम्भवतः अनन्तदेव के भाई।

आशौचनिर्णय—आंगिरस गोत्र के नारायणात्मज रघुनाथ के पुत्र त्र्यम्बक पण्डित द्वारा। अंशों में विभाजित। निर्णय० में मुद्रित। निर्णयसिन्धु एवं नागोजिभट्टीय को उ० करता है। सन् १७६० ई० के लगभग।

आशौचनिर्णय—शिवभट्ट के पुत्र नागोजि द्वारा।

आशौचनिर्णय—भट्टोजि (१५६०-१६२० ई०) द्वारा।

आशौचनिर्णय—रामेश्वर के पुत्र माधव द्वारा; लग० १५१५-१५७० ई०।

आशौचनिर्णय—रघुनन्दन द्वारा।

आशौचनिर्णय—रघुनाथ पण्डित द्वारा। देखिए 'त्रिंशच्छ्लोकी।'

आशौचनिर्णय—रामचन्द्र द्वारा।

आशौचनिर्णय—श्रीनिवास-पुत्र वरद द्वारा। आशौचदशक एवं आशौचशतक के प्रमाण देता है।

आशौचनिर्णय—वीरेश्वर द्वारा।

आशौचनिर्णय—वेंकटाचार्य द्वारा; दे० 'अघनिर्णय'।

आशौचनिर्णय—वेंकटेशवरद ताताचार्य के पुत्र वेदान्त-रामानुजताताचार्य द्वारा।

आशौचनिर्णय—वैदिक सार्वभौम द्वारा (क्या यह आशौचशतक ही है?)। टी० शठकोपदास (बड़ोदा, सं० ६३८०)।

आशौचनिर्णय—श्रीनिवास तर्कवागीश द्वारा।
आशौचनिर्णय—सोमव्यास द्वारा।
आशौचनिर्णय—हरि द्वारा।
आशौचनिर्णय या स्मृतिकौस्तुभ—रायस वेंकटाद्रि द्वारा।
आशौचनिर्णय या स्मृतिसंग्रह।
आशौचनिर्णय या **स्मृतिसार**—वेंकटेश के किसी ग्रन्थ पर टी०।
आशौचनिर्णयसंग्रह—बड़ोदा, सं० १२६००।
आशौचनिर्णयटीका—मथुरानाथ द्वारा।
आशौचपरिच्छेद।
आशौचप्रकाश—चतुर्भुज भट्टाचार्य द्वारा। सम्भवतः वही जो रघुनन्दन के शुद्धितत्त्व में व० है, अतः सन् १५०० ई० के पूर्व।
आशौचप्रकाश—(धर्मतत्त्वकलानिधि से), पृथ्वीचन्द्र द्वारा।
आशौचमंजरी।
आशौचमाला—गोपाल सिद्धान्त द्वारा।
आशौचविवेक।
आशौचव्यवस्था—राधानाथ शर्मा द्वारा।
आशौचशतक।
आशौचशतक—रामेश्वर द्वारा।
आशौचशतक—हारीत गोत्र के रंगनाथ के पुत्र वेंकटाचार्य या वेंकटनाथ द्वारा । देखिए 'अघनिर्णय'। हुल्श (२, संख्या १४९९)। टी० आशौचनिर्णय, जो रामानुज दीक्षित द्वारा लिखित है।
आशौचशतक—नीलकण्ठ द्वारा।
आशौचशतक—वैदिक सार्वभौम (ये सम्भवतः वेंकटाचार्य ही हैं) द्वारा।
आशौचषडशीति—देखिए आशौचनिर्णय।
आशौचसंक्षेप—मधुसूदन वाचस्पति द्वारा।
आशौचसंग्रह—सत्याधीशशिष्य द्वारा (बड़ोदा, ५८६२)।
आशौचसंग्रह—चतुर्भुज भट्टाचार्य द्वारा।
आशौचसंग्रहविवृति—भट्टाचार्य द्वारा।
आशौचसंग्रह—वेंकटेश द्वारा। इसने आचारनवनीत, अघनिर्णय, अघविवेक, अभिनवषडशीति को उ० किया है।
आशौचसंग्रह-त्रिंशच्छ्लोकी—दे० 'त्रिंशच्छ्लोकी'।
आशौचसागर—कुल्लूक कृत। उनके श्राद्धसागर में व० है।
आशौचसार—बलभद्र द्वारा।
आशौचसिद्धान्त।
आशौचस्मृतिचन्द्रिका।
आशौचस्मृतिचन्द्रिका—गदाधर के पुत्र एवं दशपुत्र नामधारी सदाशिव द्वारा। जयनगर के कुमार जयसिंह के लिए संगृहीत। लेखक ने लिंगार्चन-चन्द्रिका भी लिखी है।
आशौचादर्श—सारसंग्रह में उ०।
आशौचाष्टक—वररुचि द्वारा (त्रि० सं० सी० में मुद्रित) टी० अज्ञात; जिसमें निर्णयकार, गौतम-धर्मसूत्र के भाष्यकार मस्करी एवं सहस्रस्वामी के नाम आये हैं।
आशौचादिनिर्णय—राम दैवज्ञ द्वारा।
आशौचीयदशश्लोकीविवृति—लक्ष्मीधर के पुत्र विश्वेश्वर द्वारा। दे० 'आशौचदशक' (दशश्लोकी)।
आशौचेन्दुशेखर—राम दैवज्ञ द्वारा।
आशौचेन्दुशेखर—नागोजिभट्ट द्वारा।
आश्वलायनगृह्यसूत्र—निर्णय० प्रे० में मुद्रित, बिब्लियोथिका इण्डिका सीरीज़ एवं एस्० बी० ई०, जिल्द २९ में अनूदित। टी० अनाविला, हरदत्त द्वारा (ट्राएनिएल कैट०)। टी० तंजौर के राजा साहजी एवं सर्फोजी प्रथम के मन्त्री आनन्दराय वाजपेययज्वा द्वारा। टी० गदाधर द्वारा। टी० विमलोदयमाला, अभिनन्द के पिता एवं कल्याणस्वामी के आत्मज कान्त-पुत्र जयन्तस्वामी द्वारा। नो० जिल्द १५ पृ० १६३। लग० १८वीं शताब्दी के अन्त में। टी० देवस्वामी द्वारा; नारायण द्वारा व०। लग० १०००-१०५० ई०। नैध्रुवगोत्र के दिवाकर-पुत्र नारायण द्वारा (बिब्लियोथिका इण्डि० एवं निर्णय० प्रे० में मुद्रित), देवस्वामी के भाष्य की ओर संकेत। आश्वलायन श्रौत० के भाष्यकार नरसिंह के पुत्र नारायण की पहचान संदिग्ध है। दे० बी० बी० आर०

एस्० कैट०, जिल्द २, पृ० २०२। टी० विष्णुगूढ़-स्वामी द्वारा, देवस्वामी, नारायण आदि का अनुसरण हुआ है।

आश्वलायनगृह्यकारिका—२२ अध्यायों एवं १२९६ श्लोकों में। टी० विवरण, वृष्यदेव या उपदेवभट्ट के शिष्य द्वारा। टी० नारायण द्वारा।

आश्वलायनगृह्यकारिका—कुमारिलस्वामी (? कुमार-स्वामी) द्वारा। आश्वलायनगृह्य पर नारायणवृत्ति एवं जयन्तस्वामी की ओर संकेत। बी० बी० आर० ए० एस्०, जिल्द २, पृ० २०३ (बम्बई में मुद्रित, १८९४)।

आश्वलायनगृह्यकारिका—रघुनाथ दीक्षित द्वारा।

आश्वलायनगृह्यकारिकावली—गोपाल द्वारा।

आश्वलायनगृह्यपरिशिष्ट—(निर्णय० प्रे० एवं बिब्लि० इण्डि० द्वारा मुद्रित)।

आश्वलायनगृह्यपरिभाषा।

आश्वलायनगृह्यप्रयोग।

आश्वलायनगृह्योक्तवास्तुशान्ति—रामकृष्ण भट्ट द्वारा।

आश्वलायनधर्मशास्त्र—द्विजों के कर्मों, प्रायश्चित्त, जातिनिर्णय आदि पर २२ अध्याय (बड़ोदा, सं० ८७०८)।

आश्वलायनपूर्वप्रयोग—(हुल्श, सं० ४३१)।

आश्वलायनप्रयोग—टी० विष्णु द्वारा, वृत्ति।

आश्वलायनप्रयोगदीपिका—तिरुमलयज्वा के पुत्र तिरु-मल सोमयाजी द्वारा।

आश्वलायनयाज्ञिकपद्धति।

आश्वलायनशाखश्राद्धप्रयोग—रामकृष्णात्मज कमलाकर द्वारा।

आश्वलायनसूत्रपद्धति—नारायण द्वारा।

आश्वलायनसूत्रप्रयोग—त्रैविद्यवृद्ध द्वारा।

आश्वलायनसूत्रप्रयोगदीपिका—मञ्चनाचार्यभट्ट द्वारा (बनारस सं० सीरीज में मुद्रित)।

आश्वलायनस्मृति—११ अध्यायों एवं २००० श्लोकों में। आश्वलायनगृह्यसूत्र, उसकी वृत्ति एवं कारिका की ओर संकेत। हेमाद्रि एवं माधवाचार्य द्वारा उ०।

आहिताग्निमरणे दाहादि—रामेश्वरभट्ट के पुत्र भट्ट-नारायण द्वारा, दे० प्रक० १०२।

आहिताग्नेर्दाहादिनिर्णय—विश्वनाथ होसिंग के पुत्र रामभट्ट द्वारा।

आहिताग्न्यन्त्येष्टि प्रयोग।

आहृततीर्थकस्नान प्रयोग।

आह्निक—बहुत-से ग्रन्थ इस नाम के हैं। कतिपय नीचे दिये जाते हैं।

आह्निक—दशपुत्रकुल के प्रभाकर-पुत्र आनन्द द्वारा।

आह्निक—आपदेव द्वारा।

आह्निक—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा। दे० प्रक० १०६, यह 'बह्वृचाह्निक' ही है।

आह्निक—गंगाधर द्वारा।

आह्निक—गोपाल देशिकाचार्य द्वारा।

आह्निक—छल्लारि नृसिंह द्वारा, मध्वाचार्य के अनु-यायियों के लिए।

आह्निक—ज्ञानभास्कर द्वारा। इसने आह्निक-संक्षेप भी लिखा है।

आह्निक—दिवाकर भट्ट द्वारा।

आह्निक—बलभद्र द्वारा।

आह्निक—भट्टोजि द्वारा (चतुर्विंशतिमत-टीका से)।

आह्निक—माधवभट्ट के पुत्र रघुनाथ द्वारा।

आह्निक—विट्ठलाचार्य द्वारा।

आह्निक—(बौधायनीय) विश्वपतिभट्ट द्वारा।

आह्निक—वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा।

आह्निक—व्रजराज द्वारा (वल्लभाचार्य के अनुयायियों के लिए)।

आह्निककारिका।

आह्निककृत्य—विद्याकर कृत; रघुनन्दन के मलमासतत्त्व में व०, अतः १५०० ई० के पूर्व।

आह्निककौतुक—(हरिवंशविलास से)।

आह्निककौस्तुभ—यादवाचार्य के शिष्य श्रीनिवास द्वारा

(बड़ोदा, सं० ८८०९)। यह आनन्दतीर्थ की सदाचारस्मृति की टी० है।

आह्निकचन्द्रिका—काशीनाथ द्वारा।

आह्निकचन्द्रिका—कुलमणि शुक्ल द्वारा (यह चन्द्रिका है या चन्द्रिका टीका है ?)।

आह्निकचन्द्रिका—गोकुलचन्द्र वर्मा के अनुरोध पर लिखित।

आह्निकचन्द्रिका—गोपीनाथ द्वारा।

आह्निकचन्द्रिका—रामेशभट्टात्मज महादेव काल के पुत्र दिवाकर द्वारा। भट्टोजीय (सायण के वैदिक मन्त्रों के उद्धरण के साथ निर्णय० प्रे० में मुद्रित) का उल्लेख है। यह संक्षेपाह्निकचन्द्रिका ही है।

आह्निकचन्द्रिका—देवराम द्वारा।

आह्निकचिन्तामणि—आह्निकतत्त्व में रघुनन्दन द्वारा उ०, अतः यह १५०० ई० के पूर्व लिखित है।

आह्निकतत्त्व या आह्निकाचारतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा; जीवानन्द द्वारा मुद्रित। टी० मधुसूदन द्वारा।

आह्निकदर्पण—रामकृष्ण कृत (बम्बई में मराठी अनुवाद प्रकाशित, १८७६)।

आह्निकदीपक—अनन्त—लक्ष्मीधर—गोविन्द—वत्सराज के वंशज आनन्दपुरनिवासी अचल द्वारा। लग० १५१८ ई०। दे० अलवर, सं० २९१।

आह्निकदीपक—शिवराम द्वारा। दे० आह्निकसंक्षेप।

आह्निकपद्धति—विट्ठलदीक्षित द्वारा। देखिए 'यजुर्वल्लभा'।

आह्निकपारिजात—अनन्तभट्ट द्वारा।

आह्निकप्रकाश—वीरमित्रोदय से।

आह्निकप्रदीप—कमलाकर द्वारा उ०।

आह्निकप्रयोग—गोदावरी पर कूर्परग्राम के कमलाकर द्वारा। बड़ोदा की सं० २७७ में कुछ सन्देह है।

आह्निकप्रयोग—सदाशिव दीक्षित के पुत्र काशीदीक्षित द्वारा। रुद्रकल्पद्रुम में अनन्त ने उद्धरण दिया है।

आह्निकप्रयोग—गोवर्धन कविमण्डन द्वारा (आपस्तम्बियों के लिए)।

आह्निकप्रयोग—महादेव भट्ट के पुत्र मनोहर भट्ट द्वारा (हिरण्यकेशियों के लिए)।

आह्निकप्रयोग—रामेश्वर भट्ट के पुत्र माधवात्मज रघुनाथ द्वारा। इसके छोटे भाई प्रभाकर ने सन् १५८३ ई० में १९ वर्ष की अवस्था में रसप्रदीप का प्रणयन किया।

आह्निकप्रयोगरत्नमाला—वैराज (आधुनिक वाई, सतारा जिले) के निवासी मयूरेश्वरभट्ट के पुत्र विश्वम्भर दीक्षित थिटे ने इसे लिखा है। भट्टोजिदीक्षित एवं आचारार्क की चर्चा है।

आह्निकप्रायश्चित्त—इसमें कमलाकर वर्णित हैं; (इण्डि० आ०, ३, पृ० ५५५)।

आह्निकभास्कर—इन्द्रगण्टि सूर्यनारायण द्वारा।

आह्निकमंजरीटीका—गोदावरी पर पुण्यस्तम्भ (आधुनिक पुणताम्बे) के निवासी शिवपण्डितात्मज हरिपण्डित के पुत्र वीरेश्वर द्वारा। शके वियन्नरशरेन्दुमिते, अर्थात् सन् १५९८ ई० में रचित।

आह्निकरत्न—(प्रति दिन के कर्मों पर)।

आह्निकरत्न—दाक्षिणात्य शिरोमणिभट्ट द्वारा। तीन प्रकाशों में।

आह्निकरत्नचषक—गंगाधरसुत द्वारा (बड़ोदा, सं० १२३०६-७)।

आह्निकविधि—कमलाकर द्वारा।

आह्निकविधि—नारायण भट्ट द्वारा।

आह्निकसंक्षेप—कौथुमिशाखा का।

आह्निकसंक्षेप—ज्ञानभास्कर का।

आह्निकसंक्षेप—वामदेव द्वारा; लाला ठक्कुर के लिए लिखित।

आह्निकसंक्षेप—शिवराम द्वारा। वैद्यनाथ के आह्निक का संक्षेप।

आह्निकसंग्रह—यज्ञभट्टात्मज नागेशभट्ट के पुत्र अनन्तभट्ट द्वारा। शुक्लयजुर्वेदियों के लिए।

आह्निकसार—दलपतिराज द्वारा (द्वितीय अध्याय नृसिंहप्रसाद का है)।

आह्निकसार—बालंभट्ट द्वारा (सम्भवतः आह्निकसारमंजरी के लेखक)।

आह्निकसार—सुदर्शनाचार्य द्वारा।

आह्निकसार—हरिराम द्वारा।

आह्निकसारमञ्जरी—विश्वनाथभट्ट दातार के पुत्र बालम्भट्ट द्वारा।

आह्निकसूत्र—गौतम का, ब्राह्मणों के कर्तव्यों पर १७ खण्डों में। दे० बी० बी० आर० ए० एस्०, पृ० २०४, सं० ६५१।

आह्निकस्मृतिसंग्रह।

आह्निकाचारराज—सर्वानन्द-कुल के पुष्कराक्षप्रपौत्र रामानन्द वाचस्पति द्वारा। लग० १७५० ई० में नदिया के राजा कृष्णचन्द्रराय के संरक्षण में संगृहीत।

आह्निकामृत—रंगनाथ के सुत वासुदेव भट्टाचार्य द्वारा। वैष्णवों की वैखानस शाखा के कर्मों एवं धार्मिक कृत्यों पर।

आह्निकोद्धार—रघुनन्दन द्वारा आह्निकतत्त्व में उ०।

इन्द्रदत्तस्मृति।

इष्टिकाल—दामोदर द्वारा।

ईशानसंहिता—समयमयूख में वर्णित।

ईश्वरसंहिता—रघुनन्दन द्वारा तिथितत्त्व में उ०।

उज्ज्वला—हरदत्त द्वारा; आपस्तम्बधर्मसूत्र पर टी०। टी० कालामृत, वेङ्कटयज्वा द्वारा।

उत्तरकालामृत—कालिदास द्वारा (विवाह, विरुद्धसम्बन्ध आदि पर)।

उत्तरक्रियापद्धति—याज्ञिकदेव द्वारा।

उत्तरीयकर्म—(काण्वीय)।

उत्पातशान्ति—वृद्धगर्ग लिखित कही गयी है।

उत्सर्गकमलाकर—कमलाकर भट्ट का।

उत्सर्गकर्म।

उत्सर्गकौस्तुभ—अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ का अंश।

उत्सर्गनिर्णय—कृष्णराम द्वारा।

उत्सर्गपद्धति—अनन्तदेव द्वारा।

उत्सर्गपरिशिष्ट।

उत्सर्गप्रयोग—नारायण भट्ट द्वारा।

उत्सर्गमयूख—नीलकण्ठ द्वारा (जे० आर० घरपुरे द्वारा बम्बई में मुद्रित)।

उत्सर्गोपाकर्मप्रयोग—नारायण भट्ट के सुत रामकृष्ण द्वारा।

उत्सर्जनपद्धति।

उत्सर्जनोपाकर्मप्रयोग—महादेव के सुत बापूभट्ट द्वारा।

उत्सवनिर्णय—तुलजाराम द्वारा।

उत्सवनिर्णय—पुरुषोत्तम द्वारा।

उत्सवनिर्णयमंजरी—गंगाधर द्वारा। शक सं० १५५४ (१६३२ ई०) में प्रणीत (बड़ोदा, सं० २३७५)।

उत्सवप्रकाश।

उत्सवप्रतान—पुरुषोत्तम द्वारा।

उदक्याशुद्धिप्रकाश—ज्वालानाथ मिश्र द्वारा।

उदयाकरपद्धति—(तन्त्र) 'मालासंस्कार' में उ०।

उदीच्यप्रकाश—(बड़ोदा, सं० ८०१६)।

उद्यानप्रतिष्ठा।

उद्यापनकालनिर्णय।

उद्वाहकन्यास्वरूपनिर्णय।

उद्वाहचन्द्रिका—गोवर्धन उपाध्याय द्वारा।

उद्वाहतत्त्व—दे० विवाहतत्त्व। टी० काशीराम वाचस्पति भट्टाचार्य (सन् १८७७ एवं १९१६ में बँगला लिपि में कलकत्ता से मुद्रित)।

उद्वाहनिर्णय—गोपाल न्यायपंचानन द्वारा।

उद्वाहलक्षण।

उद्वाहविवेक—गणेशभट्ट द्वारा।

उद्वाहव्यवस्था—नो०, जिल्द २, पृ० ७७।

उद्वाहव्यवस्था—दे० सम्बन्धव्यवस्थाविकास।

उद्वाहव्यवस्थासंक्षेप।

उद्वाहादिकालनिर्णय—गोपीनाथ द्वारा (बड़ोदा, सं० १०२२६)।

उपकाश्यपस्मृति।

उपचारषोडशरत्नमाला—(महादेवपरिचर्यासूत्रव्याख्या) रघुरामतीर्थ के शिष्य सुरेश्वरस्वामी द्वारा।

उपनयनकर्मपद्धति।

उपनयनकारिका—अज्ञात।

उपनयनचिन्तामणि—शिवानन्द द्वारा।

उपनयनतन्त्र—गोभिल द्वारा।

उपनयनतन्त्र—रामदत्त द्वारा।

उपनयनतन्त्र—लौगाक्षि द्वारा।

उपनयनपद्धति—रामदत्त द्वारा (वाजसनेयियों के लिए)।

उपनयनपद्धति—विश्वनाथ दीक्षित द्वारा।

उपस्थान।

उपाकर्मनिर्णय।

उपाकर्मकारिका—(स्टीन, पृ० १२)।

उपाकर्मपद्धति—(कात्यायनीय) वैद्यनाथ द्वारा।

उपाकर्मप्रमाण—बालदीक्षित द्वारा।

उपाकर्मप्रयोग—(आपस्तम्बीय)।

उपाकर्मप्रयोग—(आश्वलायनीय)।

उपाकर्मप्रयोग—टीकाभट्ट के पुत्र द्वारकानाथ द्वारा।

उपाकर्मविधि।

उपाकृतितत्त्व—बालम्भट्ट, उर्फ बालकृष्ण पायगुण्डे द्वारा; प्रति० सं० १८४८ (१७९२ ई०); स्टीन, पृ० ३०२।

उपाकर्मविधि—दयाशंकर द्वारा।

उपांगिरःस्मृति।

ऊर्ध्वपुण्ड्रनिर्णय—पुरुषोत्तम द्वारा, काल १७६४ संवत्, बड़ोदा, सं० ३८६२।

ऊर्ध्वपुण्ड्रधारण।

ऊर्ध्वमूल।

ऋग्वेदाह्निक—काशीनाथ द्वारा। ऋग्वेदाह्निकचन्द्रिका नाम भी है।

ऋग्वेदाह्निक—शिरोमणि द्वारा।

ऋग्वेदाह्निकचन्द्रिका—काशीनाथ द्वारा।

ऋजुप्रयोग—विश्वनाथ होसिंग के पुत्र भट्ट राम द्वारा (तीर्थदर्पण के आधार पर)। बड़ोदा, सं० ८५१५, शक सं० १६७६।

ऋजुमिताक्षरा—यह मिताक्षरा ही है।

ऋणमोक्षण।

ऋतुलक्षण।

ऋतुशान्ति।

ऋत्विग्वरणनिर्णय—अनन्तदेव द्वारा।

ऋषितर्पण।

ऋषितर्पणकारिका।

ऋषिभट्टी—दे० संस्कारभास्कर।

ऋष्यशृंगविधान—(वर्षा के लिए कृत्य) बड़ोदा, सं० ११०४७।

ऋष्यशृंगस्मृति—दे० प्रक० ४०।

एकदण्डिसंन्यासविधि—शौनक द्वारा।

एकनक्षत्रजननशान्ति—गर्ग द्वारा (बड़ोदा, सं० ५६६१)।

एकवस्त्रस्नानविधि—शंकरभट्टात्मज नीलकण्ठ के पुत्र भानुभट्ट द्वारा। लग० १६४०-१६८० ई०।

एकाग्निकाण्ड—(यजुर्वेदीय) मन्त्रपाठ, मन्त्रप्रपाठक एवं मन्त्रप्रश्न भी नाम हैं (मैसूर, १९०२)। दे० आपस्तम्बीयमन्त्रपाठ।

एकाग्निकाण्डमन्त्रव्याख्या—हरदत्त द्वारा।

एकाग्निदानपद्धति—श्रीदत्त मिश्र द्वारा। ल० संवत् २९९=१४१८ ई० में मिथिला के देवसिंह के संरक्षण में पाण्डु० उतारी गयी।

एकादशाहकृत्य।

एकादशिनीप्रयोग—(११ बार रुद्राध्याय का पाठ)।

एकादशीतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। टी० काशीराम वाचस्पति द्वारा। टी० 'दीप', राधामोहन गोस्वामी द्वारा। शान्तिपुर के वासी एवं कोलब्रुक के मित्र। चैतन्यदेव के साथी अद्वैत के वंशज थे।

एकादशीनिर्णय—इस नाम के कई ग्रन्थ हैं और कैटलागों में लेखक के नाम नहीं दिये हुए हैं।

एकादशीनिर्णय—(या निर्णयसार) मुरारि के पुत्र धरणीधर द्वारा। श० सं० १४०८ (१४८६ ई०) में प्रणीत। महाराजाधिराज बीसलदेव का नाम उल्लिखित है। अनन्तभट्ट, वोपदेव पण्डित, विश्वरूप (शुद्धा एवं विद्धा एकादशी के प्रकारों पर श्लोक), विज्ञानेश्वर (एकादशी पर तीन स्रग्धरा श्लोकों) का

उल्लेख है। बड़ोदा, सं० १२०५२; काल संवत् १६२०।

एकादशीनिर्णय—कृष्णा नदी पर विराटनगर (वाई) में अष्टपुत्र कुल के नरसिंह-पुत्र हरि द्वारा।

एकादशीनिर्णय—नीलकण्ठ के पुत्र शंकर द्वारा (सदाचार-संग्रह का एक भाग)।

एकादशीनिर्णयव्याख्या—आनन्दगिरि के शिष्य अच्युतानन्द द्वारा।

एकादशीविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५।

एकादशीव्रतनिर्णय—देवकीनन्दन द्वारा।

एकादशीव्रतोद्यापनपद्धति।

एकादशीहोमनिर्णय—(बड़ोदा, संख्या ८३३२)।

एकादशीहोमनिर्णय—राम नवरत्न द्वारा (बड़ोदा, सं० ८५५६)।

एकोद्दिष्टश्राद्ध।

एकोद्दिष्टश्राद्धपद्धति।

एकोद्दिष्टश्राद्धप्रयोग।

एकोद्दिष्टसारिणी—गंगोली संजीवेश्वर के पुत्र रत्नपाणि मिश्र द्वारा। मिथिला के राजा के अनुग्रह के लिए प्रणीत।

ऐन्दवमासनिर्णय—गणेशदत्त द्वारा।

औदीच्यप्रकाश—वेणीदत्त द्वारा।

औपासनप्रायश्चित्त–(अनन्तदेव की संस्कारदीधिति से)।

और्ध्वदेहिककल्पवल्ली—विश्वनाथ द्वारा।

और्ध्वदेहिकक्रियापद्धति—ज्योतिर्विद् गोबाल के पुत्र विश्वनाथ द्वारा (शुक्लयजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा के अनुसार। ये गोमतीवालज्ञातीय थे।

और्ध्वदेहिकनिर्णय—वासुदेवाश्रम द्वारा।

और्ध्वदेहिकपद्धति—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०६।

और्ध्वदेहिकपद्धति—(या प्रयोग) यज्ञेश्वर के पुत्र कृष्ण दीक्षित द्वारा (सामवेद के अनुसार)।

और्ध्वदेहिकपद्धति—दयाशंकर द्वारा।

और्ध्वदेहिकपद्धति—(या अन्त्येष्टिपद्धति) रामेश्वर के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा।

और्ध्वदेहिकप्रकरण।

और्ध्वदेहिकाधिकारनिर्णय।

कठपरिशिष्ट—परिशेषखण्ड में हेमाद्रि द्वारा उ०।

कठसूत्र—हेमाद्रि द्वारा परिशेषखण्ड एवं संस्कारमयूख में उ०।

कण्ठभूषण—त्रैदिकसार्वभौम द्वारा। प्रयोगचन्द्रिका में व०। यह गृह्यरत्न की टीका है।

कण्वस्मृति—गौ० ध० सू०, आचारमयूख एवं श्राद्धमयूख में हरदत्त द्वारा व०।

कदलीव्रतोद्यापन।

कन्यागततीर्थविधि।

कन्यादानपद्धति।

कन्याविवाह।

कन्यासंस्कार।

कपर्दिकारिका—निर्णयसिन्धु एवं संस्कारमयूख (सिद्धेश्वरकृत) में व०।

कपालमोचनश्राद्ध।

कपिलगोदान।

कपिलसंहिता—संस्कारमयूख में व०।

कपिलस्मृति—१० अध्यायों में, प्रत्येक में १०० श्लोक, कलियुग में ब्राह्मणों की अवनति, श्राद्ध, शुद्धि, दत्तक पुत्र, विवाह, दान, प्रायश्चित्त पर।

कपिलादान।

कपिलादानपद्धति।

कर्णवेधविधान—(प्रयोगपारिजात से)।

कर्मकाण्डपद्धति।

कर्मकाण्डसारसमुच्चय—(बड़ोदा, सं० ९५०६, संवत् १६१८=१५६१-६२ ई०)।

कर्मकालप्रकाश—कृष्णराम द्वारा।

कर्मकौमुदी—आवसथिक ब्रह्मदत्त के सुत कृष्णदत्त द्वारा।

कर्मकौमुदी—मिश्र विष्णुशर्मा द्वारा।

कर्मक्रियाकाण्ड—(शैव) १०७३ ई० में सोमशम्भु द्वारा; १२०६ में पाण्डु० उतारी गयी। दे० हरप्रसाद शास्त्री (दरबार लाइब्रेरी, नेपाल), पृ० ९५।

कर्मतत्त्वप्रदीपिका—(उर्फ लघुपद्धति) रघुनाथात्मज

पुरुषोत्तम के पुत्र कृष्णभट्ट द्वारा; कलिवर्ज्य, आह्निक, संस्कार, श्राद्ध पर; माधवीय, वामनभाष्य, चन्द्रिका, जयन्त, कालादर्श, मदनपारिजात को उद्धृत किया गया है। लग० १४००-१५५० ई० (स्टीन, पृ० ३०४)।

कर्मदीप—त्रिकाण्डमण्डन में उ०।

कर्मदीपिका—रघुरामतीर्थ द्वारा। एक विशाल ग्रन्थ। वर्णाश्रमधर्म, व्यवहार, प्रायश्चित्त पर ७३ अध्यायों से अधिक। विज्ञानेश्वर का उल्लेख है। पाण्डु० अपूर्ण (बी० बी० आर० ए० एस्, पृ० २११-२१३)।

कर्मदीपिका—भूधर के पुत्र हरिदत्त द्वारा (बड़ोदा, सं० ६८९२)। कुण्ड, वेदि, मधुपर्क, कन्यादान, चतुर्थीकर्म पर।

कर्मनिर्णय—आनन्दतीर्थ द्वारा। टी० जयतीर्थ द्वारा। टी० पर टी०, राघवेन्द्र द्वारा।

कर्मपद्धति—चिद्घनानन्द द्वारा।

कर्मपीयूष—अहल्याकामधेनु में व०।

कर्मप्रकाश—कलायखञ्ज द्वारा।

कर्मप्रकाश—ज्योतिस्तत्त्व में रघुनन्दन द्वारा व०।

कर्मप्रकाशिका—पञ्चाक्षर गुरुनाथ द्वारा (पाकयज्ञ, कूष्माण्डहोम, पुत्रस्वीकारविधि, शूलगव पर)।

कर्मप्रदीप—कात्यायन या गोभिल का कहा गया है। 'छन्दोगपरिशिष्ट' नाम भी है। शूलपाणि, माधव, रघुनन्दन, कमलाकर द्वारा उ०। टी० चक्रधर के पुत्र आशादित्य या आशार्क द्वारा। टी० परिशिष्ट-प्रकाश, गोग के पुत्र नारायणोपाध्याय द्वारा (बिब्लि० इण्डि०, १९०९)। टी० विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा।

कर्मप्रदीपिका—कामदेव द्वारा पारस्करगृह्यसूत्र पर एक पद्धति।

कर्मप्रायश्चित्त—वेंकटविजयी द्वारा।

कर्ममञ्जरी—(अलवर कैटलाग, सं० १२७७)।

कर्मलोचन—गृहस्थों के कर्मों पर १०८ श्लोक।

कर्मविपाक।

कर्मविपाक—ब्रह्माजी द्वारा, जिन्होंने १२ अध्यायों में कर्मफलों पर नारद को शिक्षा दी है (अलवर, २९३)।

कर्मविपाक—भरत द्वारा, जिसमें भृगु ने शिक्षा दी है।

कर्मविपाक—भृगु द्वारा, जिसमें वसिष्ठ ने शिक्षा दी है।

कर्मविपाक—माधवाचार्य द्वारा।

कर्मविपाक—मान्धाता द्वारा। दे० महार्णवकर्मविपाक।

कर्मविपाक—मौलुगि भूपति द्वारा। कर्मविपाकसारसंग्रह एवं नृसिंहप्रसाद द्वारा व०। सन् १३८९ ई० के पूर्व।

कर्मविपाक—अरुण के प्रति रवि द्वारा (अलवर, सं० १२७८ एवं भाग २९३)।

कर्मविपाक—रामकृष्णाचार्य

कर्मविपाक—विश्वेश्वर भट्ट द्वारा। दे० महार्णवकर्मविपाक; शुद्धितत्त्व (पृ० २४२) द्वारा व०।

कर्मविपाक—नीलकण्ठ भट्ट के पुत्र शंकरभट्ट द्वारा (इण्डि० आ०, ३, पृ० ५७५)

कर्मविपाक—पद्मनाभात्मज कान्हडदेव के ज्येष्ठ पुत्र द्वारा। दे० 'सारग्राहकर्मविपाक।'

कर्मविपाक—ज्ञानभास्कर के प्रति।

कर्मविपाक—सूर्यार्णव के प्रति।

कर्मविपाक—शातातपस्मृति से (जीवानन्द २, पृ० ४३५)

कर्मविपाकचिकित्सामृतसागर—पण्डित देवीदास द्वारा।

कर्मविपाकपरिपाटी।

कर्मविपाकप्रायश्चित्त।

कर्मविपाकमहार्णव—दे० महार्णवकर्मविपाक।

कर्मविपाकरत्न—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा।

कर्मविपाकसंहिता—(वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा मुद्रित)। ब्रह्मपुराण का एक भाग।

कर्मविपाकसंग्रह—महार्णवकर्मविपाक से। कर्मविपाक में शंकर द्वारा एवं मदनरत्न में उ०।

कर्मविपाकसमुच्चय—मदनपाल के पुत्र मान्धाता कृत महार्णव में एवं नित्याचारप्रदीप में व०। सन् १३५० ई० के पूर्व।

कर्मविपाकसार—कर्मविपाक में शंकर द्वारा एवं नित्याचारप्रदीप (पृ० १४० एवं २०७) में उ०।

कर्मविपाकसार---दलपतिराज (लग० १५१० ई०) द्वारा।

कर्मविपाकसार---नारायणभट्टात्मज रामकृष्ण के पुत्र दिनकर द्वारा (इण्डि० आ०, पाण्डु० संवत् १६९६; पृ० ५७३)। लग० १५८५-१६२० ई०।

कर्मविपाकसार---सूर्यराम द्वारा।

कर्मविपाकसारसंग्रह---पद्मनाभात्मज कान्हड़ या कान्हड़ के ज्येष्ठ पुत्र द्वारा। दे० 'सारग्राहकर्मविपाक' एवं 'कर्मविपाक'।

कर्मविपाकार्क---शंकर द्वारा। दे० कर्मविपाक।

कर्मविपाकसारोद्धार।

कर्मसंग्रह---अहल्याकामधेनु में व०।

कर्मसरणि---विट्ठल दीक्षित द्वारा। दे० 'यजुर्वल्लभा'। जन्म १५१९ ई०।

कर्मसिद्धान्त---पुरुषोत्तम द्वारा (बड़ोदा, सं० ८३६१); श्राद्ध, स्वप्नाध्याय आदि पर।

कर्मानुष्ठानपद्धति---भवदेव द्वारा। दे० प्रक० ७३। टी० 'संसारपद्धतिरहस्य'।

कर्मोपदेशिनी---अनिरुद्ध द्वारा। रघुनन्दन एवं कमलाकर द्वारा उ०। दे० प्रक० ८२।

कर्मोपदेशिनी---हलायुध द्वारा। दे० प्रक० ७२।

कलानिधि---विश्वम्भर के स्मृतिसारोद्धार में व०।

कलिका---दे० 'दीपकलिका'। कमलाकर द्वारा उ०।

कलिधर्मनिर्णय।

कलिधर्मप्रकरण---कमलाकर भट्ट द्वारा।

कलिधर्मसारसंग्रह---विश्वेश्वर सरस्वती द्वारा।

कलियुगधर्मसार---विश्वेश्वर सरस्वती द्वारा। दो भागों में; प्रथम विष्णुपूजा पर और द्वितीय शिवपूजा, गंगास्नान-फल आदि पर।

कलियुगधर्माधर्म।

कलिवर्ज्यनिर्णय---नीलकण्ठ के ज्येष्ठ भाई दामोदर द्वारा। आचारमयूख में उ०। लग० १६१० ई०। इसमें नारायणभट्ट की मांसमीमांसा, लेखक के पिता की शास्त्रदीपिका टीका, रामचन्द्राचार्य, श्राद्धदीपकलिका आदि का उल्लेख है (बड़ोदा, सं० १०७९३)।

कल्पतरु---लक्ष्मीधर द्वारा। दे० प्रक० ७७।

कल्पद्रु---मदनपारिजात में एवं देवदास द्वारा उ०।

कल्पद्रुम---दे० दानकल्पद्रुम, रामकल्पद्रुम एवं श्राद्धकल्पद्रुम। चण्डेश्वर एवं मदनपारिजात (जिनमें दोनों का अर्थ है लक्ष्मीधर का कल्पद्रुम) द्वारा उद्धृत।

कल्पलता---दे० कृत्यकल्पलता।

कल्पलता---लोल्लट (?) द्वारा। श्रीधर, रामकृष्ण के श्राद्धसंग्रह एवं रघुनन्दन के मलमासतत्त्व द्वारा उद्धृत।

कल्पवृक्षदान।

कवषस्मृति---पराशरस्मृति-व्याख्या एवं गौ० ध० सू० के मस्करिभाष्य द्वारा उ०।

कविरहस्य---कृष्णभट्ट द्वारा।

कविराजकौतुक---कविराज गिरि द्वारा।

कश्यपस्मृति---हेमाद्रि, माधव, विज्ञानेश्वर एवं मदनपारिजात द्वारा उ०।

कश्यपोत्तरसंहिता।

कस्तूरीस्मृति---(या स्मृतिशेखर) कस्तूरी द्वारा।

कांस्यपात्रदान।

काकचण्डेश्वरी।

काठकगृह्य---हेमाद्रि एवं रघुनन्दन (मलमासतत्त्व एवं श्राद्धमयूख में) द्वारा उ०।

काठकगृह्यपंचिका।

काठकगृह्यपरिशिष्ट---हेमाद्रि एवं रघुनन्दन द्वारा व०।

काठकगृह्यसूत्र---लौगाक्षि द्वारा (डी० ए० वी० कालेज लाहौर, १९२५, डा० कैलेण्ड, जहाँ तीन टीकाओं से उद्धरण दिये गये हैं)। टी० (भाष्य) देवपाल (हरिपाल भट्ट के पुत्र) द्वारा। टी० (विवरण) आदित्यदर्शन द्वारा। टी० माधवाचार्य के पुत्र ब्राह्मणबल की 'पद्धति'।

काठकाह्निक---गंगाधर द्वारा।

काण्व---आप० ध० सू० (१।१९।६) में उद्धृत।

कातीयगृह्य---दे० पारस्करगृह्य; संस्कारमयूख में व०।

कात्यायनगृह्यकारिका।

कात्यायनगृह्यपरिशिष्ट।

कात्यायनस्मृति—याज्ञवल्क्य, विज्ञानेश्वर, हेमाद्रि, माधव द्वारा व०। दे० वृद्धकात्यायन, रघुनन्दन ने उल्लेख किया है (जीवानन्द द्वारा मुद्रित, भाग १, पृ० ६०४-६४४)। इसे आनन्द० (पृ० ४९-७१) में कर्मप्रदीप एवं गोभिलस्मृति कहा गया है।

कादम्बरी—गोकुलनाथ के द्वैतनिर्णय पर एक टीका।

कामधेनु—गोपाल द्वारा। दे० प्रक० ७१।

कामधेनु—टेकचन्द्र के पुत्र यतीश द्वारा। इसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—चार स्तनों का वर्णन है। अमृतपाल के पुत्र विजयपाल के संरक्षण में संगृहीत। स्टीन, पृ० ८४ एवं ३०१।

कामधेनुदीपिका—मनुस्मृति के टीकाकार नारायण द्वारा (दे० मनु ५।५६, ८० एवं १०४)।

कामन्दकीयनीतिसार—(बिब्लि०इण्डि० एवं ट्राएनीएल सीरीज़) महाभारत, वामन के काव्यालंकार में व०। १९ सर्गों एवं १०८७ श्लोकों में। कुछ पाण्डु० में २० सर्ग हैं। टी० आत्माराम द्वारा। टी० उपाध्याय निरपेक्षा (अलवर, २९)। यह काव्यादर्श के प्रथम श्लोक से आरम्भ होता है और 'कौटिल्य' शब्द की व्युत्पत्तियाँ उपस्थित करता है—'कुटिर्घट उच्यते तं लान्ति संगृह्णन्ति . . .नाधिक . . .इति कुटिलाः. . , कुटिलानामपत्यं कौटिल्यः विष्णुगुप्तः'। टी० जयराम द्वारा। टी० जयमंगला, शंकरार्य द्वारा (ट्राएनीएल सी०)। टी० नयप्रकाश, वरदराज द्वारा।

कामरूपनिबन्ध—रघुनन्दन की पुस्तक मलमासतत्त्व में एवं कमलाकर द्वारा उ०।

कामरूपयात्रापद्धति—हलिरामशर्मा द्वारा; १० पटलों में।

कामिक—हेमाद्रि, कालमाधव, नृसिंहप्रसाद, निर्णयसिन्धु द्वारा व०।

काम्यकर्मकमला।

काम्यसामान्यप्रयोगरत्न।

कायस्थक्षात्रियत्वद्रुमदलनकुठार—लक्ष्मीनारायण पण्डित द्वारा।

कायस्थतत्त्व।

कायस्थनिर्णय—(या प्रकाश) विश्वेश्वर उर्फ गागाभट्ट द्वारा। लगभग १६७४ ई० में प्रणीत।

कायस्थनिर्णय।

कायस्थपद्धति—विश्वेश्वर द्वारा। १८७४ ई० में बम्बई में मुद्रित। यह कायस्थप्रदीप ही है (बड़ोदा, सं० ९६७०, संवत् १७२७=१६७०-७१ ई०)।

कायस्थविचार।

कायस्थोत्पत्ति—गंगाधर द्वारा।

कारणप्रायश्चित्त।

कारिका—अनन्तदेव द्वारा।

कारिकाटीका—(लघु) माधव द्वारा।

कारिकामंजरी—मौद्गल गोत्र के वैद्यनाथ के पुत्र कनकसभापति द्वारा। टी० प्रयोगादर्श (लेखक द्वारा)।

कारिकासमुच्चय।

कार्तवीर्यार्जुनदीपदान—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा।

कार्तवीर्यार्जुनदीपदानपद्धति—विश्वामित्र के पुत्र रघुनाथ द्वारा।

कार्तवीर्यार्जुनदीपदानपद्धति—कृष्ण के पुत्र लक्ष्मणदेशिक द्वारा।

कार्यनिर्णयसंक्षेप—(श्राद्ध पर)।

कार्ष्णाजिनिस्मृति—हेमाद्रि, माधव, जीमूतवाहन, मिताक्षरा द्वारा व०।

कालकौमुदी—दुर्गोत्सवविवेक में व०।

कालकौमुदी—हरिवंशभट्ट (द्राविड़) के पुत्र गोपाल भट्ट द्वारा। रघुनन्दन, रायमुकुट, कमलाकर द्वारा व०। १४०० ई० के पूर्व।

कालकौमुदी—गदाधर के पुत्र नीलम्बर (कालसार के लेखक) द्वारा गोविन्दानन्द की शुद्धिकौमुदी में व०।

कालगुणोत्तर—शान्तिमयूख में व०।

कालचन्द्रिका—कृष्णभट्ट मौनी द्वारा।

कालचन्द्रिका—पाण्डुरंग मोरेश्वर भट्ट द्वारा।

कालचिन्तामणि—गोविन्दानन्द की शुद्धिकौमुदी में व० (अतः १५०० ई० के पूर्व)।

कालतत्त्वविवेचन—भट्ट रामेश्वरात्मज भट्ट माधव

(ललिता) के पुत्र सम्राट्स्थपति रघुनाथभट्ट द्वारा। संवत् १६७७=१६२० ई० में प्रणीत। तिथियों, मास एवं अधिकमास पर।

कालतत्त्वविवेचनसारसंग्रह—(या सारोद्धार) बालकृष्ण के पुत्र शम्भु भट्ट द्वारा (विवेचन पर आधारित)। ये मीमांसक खण्डदेव के शिष्य थे। लग० १७०० ई०।

कालतत्त्वार्णव—टीका, रामप्रकाश, रामदेव द्वारा।

कालतरंग—छलारि नृसिंह द्वारा। स्मृत्यर्थसार का प्रथम भाग।

कालदानपद्धति।

कालदिवाकर—चन्द्रचूड़ दीक्षित द्वारा।

कालदीप—संस्कारमयूख एवं नृसिंहप्रसाद (संस्कारसार) में वर्णित। १५०० ई० के पूर्व। टी० नृसिंह के प्रयोगपारिजात में व०।

कालदीप—दिव्यसिंह महापात्र द्वारा।

कालनिरूपण—वैद्यनाथ द्वारा।

कालनिर्णय—आदित्यभट्ट कविवल्लभ द्वारा।

कालनिर्णय—गोपाल न्यायपंचानन द्वारा।

कालनिर्णय—तोटकाचार्य द्वारा।

कालनिर्णय—(लघु) दामोदर द्वारा।

कालनिर्णय—नारायणभट्ट द्वारा (? सम्भवतः यह कालनिर्णयसंग्रहश्लोक ही है)।

कालनिर्णय—(संक्षिप्त) भट्टोजि द्वारा (बड़ोदा, सं० ५३७३)।

कालनिर्णय—माधव द्वारा (कालमाधवीय भी नाम है)। बिब्लि० इण्डि० एवं चौखम्भा द्वारा प्रकाशित। टी० मिश्र मोहन तर्कतिलक द्वारा; सं० १६७० (खमुनिरसेन्दुमितेब्दे)=सन् १६१४ ई० में लिखित (डकन कालेज, सं० २६४, १८८६-९२)। टी० कालनिर्णयसंग्रहश्लोकविवरण, रामेश्वर के पुत्र नारायणभट्ट द्वारा। टी० कालमाधवचन्द्रिका, मथुरानाथ शुक्ल द्वारा। टी० दीपिका, दे० कालनिर्णयदीपिका, रामचन्द्राचार्य द्वारा। टी० धरणीधर द्वारा। टी० लक्ष्मी, वैद्यनाथ पायगुण्डे की पत्नी लक्ष्मीदेवी द्वारा।

कालनिर्णय—हेमाद्रि के परिशेषखण्ड से।

कालनिर्णयकारिका—(कालमाधव से, माधवाचार्य की १३० कारिकाएँ)। टी० अज्ञात (नो० जिल्द १०, पृ० २३९-२४०)। टी० रामचन्द्र के पुत्र वैद्यनाथ द्वारा (स्टीन, पृ० ८५)।

कालनिर्णयकौतुक—नन्दपण्डित के हरिवंशविलास का एक भाग।

कालनिर्णयचन्द्रिका—(१) महादेव के पुत्र, काल उपाधिवाले दिवाकरभट्ट द्वारा। ये कमलाकर के पिता रामकृष्ण के दौहित्र थे। लग० १६६० ई०। (२) नृसिंह के पौत्र एवं श्रीधर्मभट्ट तथा कामक्का के पुत्र सीतारामचन्द्र (कौण्डिन्य गोत्र) द्वारा।

कालनिर्णयदीपिका—काशीनाथभट्ट द्वारा, जिनका दूसरा नाम था शिवानन्दनाथ, जो जयराम भट्ट के पुत्र, शिवरामभट्ट के पौत्र एवं अनन्त के शिष्य थे।

कालनिर्णयदीपिका—कृष्णभट्ट द्वारा।

कालनिर्णयदीपिका—कृष्णाचार्य के पुत्र, अनन्ताचार्य के पौत्र एवं परमहंस श्री गोपाल के शिष्य रामचन्द्राचार्य द्वारा माधवीयकालनिर्णय पर एक टीका। लग० १४०० ई०। इन्होंने प्रक्रियाकौमुदी भी लिखी। टी० विवरण, उनके पुत्र नृसिंह द्वारा; पाण्डु० की तिथि १५४८ ई०; नृसिंहप्रसाद में व०। इसमें शेष कुल की विस्तृत वंशावली दी हुई है (बड़ोदा, सं० १०४-१८, जिसमें शक सं० १३३१ है—'शशांककालानलविश्वसंमिते विरोधिवर्षे')। टी० रामप्रकाश, राघवेन्द्र द्वारा, कृपारामनृपति की आज्ञा से प्रणीत, टी० सूर्यपण्डित द्वारा।

कालनिर्णयप्रकाश—विट्ठल के पुत्र एवं बालकृष्ण तत्सत् के पौत्र रामचन्द्र द्वारा। उनकी माता कालतत्त्वविवेचन के लेखक रघुनाथभट्ट की पुत्री थीं (अतः लग० १६७० ई०)। बड़ोदा, सं० ८४५५ की तिथि शक १६०३ माघ (फरवरी, १६८२) है।

कालनिर्णयसंक्षेप—लक्ष्मीधर के पुत्र भट्टोजि द्वारा (हेमाद्रि के ग्रन्थ पर आधारित)।

कालनिर्णयसार—दलपतिराज द्वारा (नृसिंहप्रसाद का एक अंश)। दे० प्रक० ९९।

कालनिर्णयसिद्धान्त—कान्हजित् के पुत्र महादेवविद् द्वारा (११८ श्लोकों में); आधुनिक सिहोर के पास वेलावटपुर में जयराम के पुत्र रघुराम द्वारा संगृहीत गद्य सामग्री पर आधारित; भुज नगर में सन् १६५२-५३ (सं० १७०९) में प्रणीत। दे० ड० का० पाण्डु०, सं० २७५, १८८७-९ ई०। टी० लेखक द्वारा संवत् १७१० में लिखित।

कालनिर्णयसौख्य—(या समयनिर्णयसौख्य) टोडरानन्द का एक भाग।

कालनिर्णयावबोध—अनन्तदैवज्ञ द्वारा।

कालप्रदीप—नृसिंह के प्रयोगपारिजात में व०।

कालप्रदीप—दिव्यसिंह द्वारा।

कालभाष्यनिर्णय—गौरीनाथ चक्रवर्ती द्वारा (बड़ोदा, सं० १०२६०)।

कालभास्कर—शम्भुनाथ मिश्र द्वारा (बड़ोदा, सं० १०१५५)।

कालभेद।

कालमयूख—(या समयमयूख) नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०७।

कालमाधव—काशी सस्कृत सी० एवं बिब्लि० इण्डि०, दे० कालनिर्णय, ऊपर।

कालमाधवकारिका—(या लघुमाधव)। टी० विट्ठलात्मज रामचन्द्रतत्सत् के पुत्र वैद्यनाथसूरि द्वारा (अलवर, सं० १२९३)।

कालमार्तण्ड—कृष्णमित्राचार्य द्वारा, जो रामसेवक के पुत्र एवं देवीदत्त भट्ट के पौत्र थे।

कालविधान—नन्द पण्डित की श्राद्धकल्पलता में वर्णित।

कालविधान—श्रीधर का।

कालविधानपद्धति—श्रीधर कृत।

कालविवेक—जीमूतवाहन द्वारा (बिब्लि० इण्डि० सी०) दे० प्रक० ७८। नृसिंह, रघुनन्दन एवं कमलाकर द्वारा व०।

कालविवेचनसारसंग्रह—शम्भुभट्ट द्वारा।

कालसर्वस्व—कौत्स गोत्र के कृष्णमिश्र द्वारा।

कालसार—नीलाम्बर एवं जानकी के पुत्र, हरेकृष्ण भूपति की रानी के गुरु हलधर के भतीजे गदाधर द्वारा। बिब्लि० इण्डि० सी० द्वारा प्रकाशित। १४५०-१५०० के बीच। इसने कालमाधवीय, कालादर्श एवं रुद्रधर का उल्लेख किया है।

कालसिद्धान्त—(या सिद्धान्तनिर्णय) धर्मभट्टात्मज उमापति या उम्मणभट्ट के पुत्र चन्द्रचूड़ (पौराणिक उपाधिधारी) द्वारा। १५५० के उपरान्त।

कालादर्श—(या कालनिर्णय) विश्वेश्वराचार्य के शिष्य गर्गगोत्र के आदित्यभट्ट कविवल्लभ द्वारा। पाण्डु० सं० १५८१ में; नृसिंह, अल्लाडनाथ, रघुनन्दन, कालमाधव, दुर्गोत्सवविवेक द्वारा उ०; इसमें स्मृतिचन्द्रिका, स्मृतिमहार्णव, विश्वादर्श का उल्लेख है, अतः १२००-१३२५ ई० के बीच प्रणीत।

कालामृत—(एवं टी० उज्ज्वला) वेंकटयज्वा द्वारा, जिसके चार भाइयों में एक यल्लयज्वा भी था। (१) हुल्श (तेलुगु एवं ग्रन्थलिपियों में मद्रास में मुद्रित) पृ० ७२। (२) सुरुभट्ट लक्ष्मीनरसिंह द्वारा। लेखक की टी०, १८८० ई० में मद्रास में मुद्रित।

कालावलि—अद्भुतसागर में व०।

कालिकार्चनपद्धति।

कालिकार्चनप्रदीप—अहल्याकामधेनु में व०।

कालिकार्चनसंहिता—अहल्याकामधेनु में व०।

कालिकार्चादीपिका।

कालोत्तर—हेमाद्रि एवं रघुनन्दन के मलमासतत्त्व द्वारा व०। इसी नाम का एक तान्त्रिक ग्रन्थ-सा लगता है।

काल्यर्चनचन्द्रिका—नीलकमल लाहिडी द्वारा। बंगला लिपि में सन् १८७७-७९ में मुर्शिदाबाद से प्रकाशित।

काशीखण्डकथाकेलि—प्रभाकर द्वारा।

काशीतत्त्व—रघुनाथेन्द्रसरस्वती द्वारा।

काशीतत्त्वदीपिका—प्रभाकर द्वारा (क्या यह उपर्युक्त -केलि ही है?)।

काशीतत्त्वप्रकाशिका—(या काशीसारोद्धार) रघुनाथेन्द्रशिवयोगी द्वारा। (स्टीन, पृ० ८६ एवं ३०३)। उल्लासों में विभक्त। संभवतः यह काशीतत्त्व ही है।

काशीप्रकरण—(त्रिस्थलीसेतु से)।

काशीप्रकाश—नन्द पण्डित द्वारा। दे० प्रक० १०५।

काशीमरणमुक्तिविचार—नारायणभट्ट द्वारा।

काशीमाहात्म्यकौमुदी—रघुनाथदास द्वारा।

काशीमुक्तिप्रकाशिका।

काशीमृतिमोक्षनिर्णय—(या काशीमोक्षनिर्णय) सुरेश्वराचार्य द्वारा।

काशीमृतिमोक्षनिर्णय—विश्वनाथाचार्य द्वारा।

काशीरहस्यप्रकाश—नारायण के पुत्र राम भट्टात्मज नारायण द्वारा। कामदेव की आज्ञा से राजनगर में प्रणीत।

काश्यपधर्मशास्त्र—दे० प्रक० १९ (इण्डि० ऑ०, जिल्द ३, पृ० ३८४, सं० १३१७)।

कीर्तिचन्द्रोदय—अकबर के शासन-काल में (लग० १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में) चूहडमल्ल की संरक्षकता में दामोदरपण्डित द्वारा।

कीर्तितत्त्व।

कीर्तिप्रकाश—विष्णुशर्मा द्वारा। दे० 'समयप्रकाश' (इण्डि० ऑ, पृ० ५३८, सं० १६८२)।

कुण्डकल्पद्रुम—व्यास नारायणात्मज कूक के पुत्र माधवशुक्ल द्वारा। शक सं० १५७७ (१६५५-५६ ई०) में प्रणीत। काश्यपगोत्र के उदीच्यब्राह्मण। कुण्डतत्त्वप्रदीप, कुण्डशिरोमणि, कुण्डसिद्धि, विश्वनाथ का उल्लेख है। १८७९ ई० में बनारस में मुद्रित। टीका लेखक द्वारा।

कुण्डकल्पलता—रामकृष्णात्मज पुरुषोत्तम के पुत्र ढुण्ढिराज द्वारा। ये राम पण्डित के शिष्य एवं नन्द पण्डित के पिता थे। लग० १६०० ई०।

कुण्डकारिका—भट्ट लक्ष्मीधर द्वारा।

कुण्डकौमुदी—(या कुण्डमण्डपकौमुदी) शम्भु के पुत्र विश्वनाथ द्वारा (यह कुण्डरत्नाकर के लेखक विश्वनाथ से भिन्न हैं)। इसमें मदनरत्न एवं रूपनारायण का उल्लेख है और इसका मण्डपकुण्डसिद्धि में उल्लेख है, अतः इसकी तिथि १५२०-१६०० ई० के बीच में है। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डकौमुदी—त्र्यम्बक के पुत्र शिवसूरि द्वारा। टी० कुण्डालोक, लेखक द्वारा। दे० हुल्श (सं० ३, पृ० ५ एवं ८०); इसमें कौस्तुभ, मयूख, कुण्डसिद्धि एवं राम वाजपेयी का उल्लेख है, अतः तिथि १६८० ई० के पश्चात् है।

कुण्डगणपति।

कुण्डचमत्कृति—टी० त्र्यम्बक के पुत्र शिवसूरि-सुत एवं महाजन कुल के वासुदेव द्वारा।

कुण्डतत्त्वप्रकाश—(या प्रकाशिका) रामानन्दतीर्थ द्वारा।

कुण्डतत्त्वप्रदीप—वत्स गोत्रज स्थावर के पुत्र बलभद्रसूरि शुक्ल द्वारा; सन् १६२३ ई० में स्तम्भतीर्थ (खम्भात) में प्रणीत। इसमें १६४ श्लोक हैं। टी० लेखक द्वारा सन् १६३२ ई० में; दे० ड० का० (सं० २०४, १८८४-८७)।

कुण्डदिक्पाल—बाबाजी पाढे द्वारा। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डनिर्माणश्लोक—नैमिशारण्य के निवासी रामवाजपेयी द्वारा; सं० १५०६ (१४४९-५० ई०) में प्रणीत। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डनिर्माणश्लोकदीपिका—मणिरामदीक्षित द्वारा।

कुण्डपद्धति—नागोजिभट्ट द्वारा।

कुण्डपरिमाण—अज्ञात (बी० बी० आर० ए० एस्०, पृ० १३८)।

कुण्डप्रकाश—तोरो कुल (प्रतापनारसिंह द्वारा) जात नारायण के पुत्र रुद्रदेव द्वारा। दे० अलवर (२९९)। लग० १७१० ई०।

कुण्डप्रदीप—कान्हजिद्दाडव के पुत्र महादेव राजगुरु द्वारा २१ श्लोकों में। टी० लेखक द्वारा; कामिक उ० है।

कुण्डप्रदीप—कान्हजित् के पुत्र एवं हैवतराज के गुरु महादेव राजगुरु द्वारा। शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा एवं अनुष्टुप् छन्दों में २० सुन्दर श्लोक। टी० लेखक की।

कुण्डप्रबन्ध—बलभद्र के पुत्र कालिदास द्वारा; ७३ श्लोकों में। सन् १६३२ ई० (शक सं० १५४४) में प्रणीत। ड० का० (पाण्डु० सं० ४२, १८८२-८३ ई०)।

कुण्डभास्कर—दे० कुण्डोद्द्योतदर्शन।

कुण्डमण्डप—वाचस्पति द्वारा।

कुण्डमण्डपकौमुदी—दे० शिवसूरि की कुण्डकौमुदी।

कुण्डमण्डपचन्द्रिका—विश्वनाथ के पुत्र यज्ञसूरि द्वारा।

कुण्डमण्डपदर्पण—अनन्त के पुत्र नारायण द्वारा; शक सं० १५०० (१५७८ ई०) में प्रणीत; ४९ श्लोकों में; टापरग्राम में लिखित; पितामह मगौरग्राम वासी थे। टी० मनोरमा, लेखक के पुत्र गंगाधर द्वारा।

कुण्डमण्डपनिर्णय—परशुरामपद्धति से।

कुण्डमण्डपनिर्णय—शंकरभट्ट के पुत्र नीलकण्ठ द्वारा (स्टीन, पृ० ८६)।

कुण्डमण्डपपद्धति।

कुण्डमण्डपमण्डनप्रकाशिका—नरहरि भट्ट (सप्तर्षि-उपाधि) द्वारा। पीटर्सन (अलवर, सं० ३००) ने ग्रन्थ को ही सप्तर्षि कहा है, जो भ्रामक है। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डमण्डपलक्षण—(यह 'कुण्डनिर्माणश्लोक' ही है) राम वाजपेयी द्वारा; सं० १५०६ (१४४९-५० ई०) में रत्नपुर के राजा की आज्ञा से प्रणीत। ७४ श्लोकों में। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डमण्डपविधान—अनन्तभट्ट द्वारा।

कुण्डमण्डपविधान—नीलकण्ठ द्वारा।

कुण्डमण्डपविधि—गोपाल दीक्षित-पुत्र केशव भट्ट द्वारा।

कुण्डमण्डपविधि—बाबूदीक्षित जड़े द्वारा।

कुण्डमण्डपविधि—राम वाजपेयी द्वारा (सम्भवतः यह 'कुण्डमण्डपलक्षण' ही है)।

कुण्डमण्डपविधि—लक्ष्मण देशिकेन्द्र द्वारा।

कुण्डमण्डपसंग्रह—रामकृष्ण द्वारा।

कुण्डमण्डपसिद्धि—नीलकण्ठ द्वारा।

कुण्डमण्डपसिद्धि—(या कुण्डसिद्धि) संगमनेर (अहमदनगर जिले) के बूबशर्मा के पुत्र विट्ठलदीक्षित द्वारा। शक सं० १५४१ (शशियुगतिथिगण्ये) अर्थात् १६१९-२० ई० में प्रणीत। देखिए बी० बी० आर० ए० एस० (पृ० १४१)। टी० लेखक द्वारा; १८९२ में बम्बई में मुद्रित। टी० राम द्वारा।

कुण्डमण्डपहोमविधि।

कुण्डमरीचिमाला—विष्णु द्वारा। राम की कुण्डाकृति के आधार पर।

कुण्डमार्तण्ड—माध्यन्दिन शाखा एवं गौतमगोत्र के गदाधरपुत्र गोविन्ददैवज्ञ द्वारा। ७१ श्लोकों में, १६९१-९२ ई० में जुन्नार में प्रणीत। टी० 'प्रभा', पाली (पल्लीपत्तन प्राचीन नाम) में रहने वाले सिद्धेश्वर के पुत्र अनन्त द्वारा। ड० का० (पाण्डु० सं० ४३, १८८२-८३); १६९३ ई० में प्रणीत।

कुण्डमार्तण्ड—राम वाजपेयी कृत। सम्भवतः यह 'कुण्डमण्डपलक्षण' ही है।

कुण्डमृदङ्ग—गोपाल द्वारा (अलवर, सं० १३०३, उद्धरण ३०१)।

कुण्डरचना—टीका भी लिखित है।

कुण्डरचनारीति—शेषभट्ट के पुत्र बालसूरि द्वारा।

कुण्डरत्नाकर—जगन्नाथात्मज श्रीपति के पुत्र विश्वनाथ द्विवेदी द्वारा, इसमें राम वाजपेयी की 'कुण्डाकृति' का उल्लेख है और स्वयं विट्ठल की कुण्डमण्डपसिद्धि में व० है; ८४ श्लोकों में; तिथि १४५०-१६५१ ई० के मध्य में। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डरत्नावलि—कृष्ण (उर्फ बाबू) के पुत्र रामचन्द्र जडे द्वारा; शक सं० १७९० में प्रणीत। निर्णय० प्रेस में मुद्रित।

कुण्डलक्षण—राम (नैमिषारण्यवासी) द्वारा। सम्भवतः यह 'कुण्डनिर्माणश्लोक' ही है।

कुण्डलक्ष्मविवृति—सूर्यदास के पुत्र राम द्वारा (स्टीन, पृ० १८६ में रघुदेव); यह 'कुण्डनिर्माणश्लोकटीका' एवं 'कुण्डमण्डपलक्षणटीका' ही है; आचारमयूख में व०। लगभग १४४९ ई० में।

कुण्डविचार—तत्त्वसार से।

कुण्डविधान—विश्वनाथ द्वारा।

कुण्डशिरोमणि—कुण्डकल्पद्रुम में व०। १६४० ई० के पूर्व।

कुण्डश्लोकदीपिका—रामचन्द्र द्वारा। प्रतापनारसिंह (पूर्तप्रकाश) में व०।

कुण्डश्लोकप्रकाशिका—रामचरण द्वारा।

कुण्डसाधनविधि।

कुण्डसिद्धि—दे० 'कुण्डमण्डपसिद्धि'।

कुण्डसिद्धि—विश्वेश्वरभट्ट द्वारा।

कुण्डसिद्धि—रामभट्ट द्वारा।

कुण्डाकृति—सूर्यदास के पुत्र (नैमिषस्थ) राम वाजपेयी द्वारा; (रत्नपुर के राजकुमार रामचन्द्र की आज्ञा से) सन् १४४९ में प्रणीत। सम्भवतः यह उपर्युक्त कुण्डनिर्माणश्लोकविवृति ही है। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डार्क—कृष्णाचार्य द्वारा।

कुण्डार्क—कुण्डमण्डपसिद्धि के प्रणेता विट्ठल के पुत्र रघुवीर ने इस पर मरीचिमाला नामक टीका लिखी है, जो सन् १९०२ ई० में बम्बई में मुद्रित हुई। टीकाकार ने मुहूर्तसर्वस्व भी सन् १६३५-३६ ई० में लिखा। 'कुण्डार्क' के प्रणेता हैं चतुर्धर कुल के नीलकण्ठ-पुत्र शंकरभट्ट; इसका मुद्रण १८७३ ई० में रत्नगिरि में हुआ।

कुण्डार्कमणिदीपिका—बलभद्रसूरि द्वारा। टी० लेखक द्वारा।

कुण्डार्णव—नागेशात्मज श्रीसूर्य के पुत्र श्रीधर अग्निहोत्री द्वारा। पाण्डु० शक १६६१ (१७३९ ई०) में उतारी गयी।

कुण्डोवधि—रामचन्द्र द्वारा। ९ स्रग्धरा श्लोकों में।

कुण्डोद्योत—शंकरभट्ट के पुत्र नीलकण्ठ द्वारा। टी० लेखक के पुत्र शंकर द्वारा, नाम कुण्डभास्कर है।

कुण्डोद्योतदर्शन—अनन्तदेव द्वारा।

कुण्डोद्योतदर्शन—इसका दूसरा नाम कुण्डभास्कर है, जो नीलकण्ठ के पुत्र शंकरभट्ट द्वारा प्रणीत है। यह कुण्डोद्योत वाली टीका ही है। सन् १६७१ ई० में प्रणीत।

कुथुमिस्मृति—अपरार्क, जीमूतवाहन कृत कालविवेक एवं हेमाद्रि द्वारा वर्णित।

कुमारतन्त्र—रावण के पुत्र द्वारा, मदनरत्न (शान्त्युद्योत) में वर्णित।

कुमारस्मृति—मिताक्षरा, अपरार्क एवं प्रायश्चित्ततत्त्व में व०।

कुरुक्षेत्रतीर्थनिर्णय—रामचन्द्र द्वारा।

कुरुक्षेत्रप्रदीप—महेशमिश्र के पुत्र वनमालिमिश्र (उर्फ कृष्णदत्त मिश्र) द्वारा जो भट्टोजिदीक्षित के शिष्य थे. लगभग १६५० ई०।

कुरुक्षेत्रप्रदीप—(या क्षेत्रमाहात्म्य) माधवाचार्य द्वारा।

कुरुक्षेत्ररत्नाकर—शंकर द्वारा।

कुरुक्षेत्रानुक्रमणिका—हरिगिरि द्वारा।

कुशकण्डिका—वंशीधर द्वारा।

कूपप्रतिष्ठा।

कूष्माण्डहोम।

कूष्माण्डहोमप्रयोग।

कृच्छ्रचान्द्रायणलक्षण।

कृच्छ्रलक्षण।

कृच्छ्रादि-सुबोधिनीपद्धति—विष्णु के पुत्र रामचन्द्र द्वारा (बड़ोदा, सं० १०६२९)।

कृतिवत्सर—मणिरामदीक्षित द्वारा।

कृतिसारसमुच्चय—अमृतनाथ मिश्र द्वारा।

कृत्यकल्पतरु—(या कल्पतरु) लक्ष्मीधर द्वारा. दे० प्रक० ७७।

कृत्यकल्पद्रुम—गदाधर द्वारा; वाचस्पति मिश्र द्वारा व०। १५०० ई० के पूर्व।

कृत्यकल्पलता—वाचस्पति कृत; रघुनन्दन के मलमासतत्त्व में वर्णित।

कृत्यकालविनिर्णय—श्रीकराचार्य के पुत्र श्रीनाथ द्वारा। दे० 'कृत्यतत्त्वार्णव'।

कृत्यकौमुदी—दे० प्रकरण १०१ (गोविन्दानन्द)। रघु० के मलमासतत्त्व में वर्णित।

कृत्यकौमुदी—गोपीनाथ मिश्र द्वारा।

कृत्यकौमुदी—जगन्नाथ द्वारा। इसमें शुद्धिदीपिका का उल्लेख है।

कृत्यकौमुदी—सिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य द्वारा (बड़ोदा, सं० १०१५२, एकोद्दिष्ट श्राद्ध के एक अंश पर)।

कृत्यचन्द्रिका—रामचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा।

कृत्यचन्द्रिका—चण्डेश्वर-शिष्य रुद्रधर महामहोपाध्याय द्वारा। लगभग १३६०-१४०० ई०। स्मृतियों में

कथित उपवासों, भोजों एवं उनके सम्बन्ध के कृत्यों के विषय में एक तालिका।

कृत्यचिन्तामणि—चण्डेश्वर द्वारा; गृहस्थरत्नाकर में (लेखक की कृति) वर्णित; दे० प्रकरण ९०। इसमें तारादिशुद्धि, गोचर, वेधशुद्धि, संवत्सर, करण, नक्षत्र, मुहूर्त, अधिमास, गर्भाधान एवं अन्य संस्कारों, मूलशान्ति, षष्ठी की पूजा, शनैश्चरचार, संक्रान्ति, ग्रहणफल का विवरण उपस्थित किया गया है।

कृत्यचिन्तामणि—वाचस्पति द्वारा; दे० प्रकरण ९८।

कृत्यचिन्तामणि—विश्राम के पुत्र शिवराम शुक्ल द्वारा। सामवेद के अनुयायियों के लिए पाँच प्रकाशों में। गोभिलगृह्य पर आधारित; इसमें परिभाषा, वृद्धि-श्राद्ध, गणेशपूजा, पञ्चमहायज्ञ, अष्टका एवं संस्कारों का विवरण है। स्टीन, भूमिका, पृ० १५ एवं पृ० ८६ (जहाँ तिथि शक सं० १५६२ है, किन्तु बिहार०, जिल्द १, सं० ७२ एवं जे० बी० ओ० ए० एस०, १९२७, भाग ३-४, पृ० ९ में तिथि शक सं० १५०० है)।

कृत्यतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा।

कृत्यतत्त्व—(प्रयोगसार) कृष्णदेव स्मार्तवागीश द्वारा।

कृत्यतत्त्वार्णव—(कृत्यकालविनिर्णय) श्रीकराचार्य के पुत्र श्रीनाथ द्वारा। इसमें शुद्धितत्त्व, प्रायश्चित्ततत्त्व, निर्णयसिन्धु, रामप्रकाश का उल्लेख है और महार्णव के उद्धरण भी हैं। लगभग १४७५-१५२५ ई०।

कृत्यदर्पण—रामचन्द्र शर्मा के पुत्र आनन्द शर्मा द्वारा। लेखक के व्यवस्थादर्पण में वर्णित।

कृत्यदीप—देवदासप्रकाश में वर्णित।

कृत्यपूर्तिमञ्जरी—रामचन्द्र द्वारा। बम्बई में १८५५ ई० में मुद्रित।

कृत्यदीप—कृष्णमित्राचार्य द्वारा।

कृत्यप्रदीप—केशवभट्ट द्वारा। संभवतः यह वही है जिसे शुद्धितत्त्व, श्राद्धतत्त्व तथा अन्य तत्त्वों में उद्धृत किया गया है।

कृत्यमञ्जरी—महादेव केलकर के पुत्र बापूभट्ट द्वारा। तिथि शक सं० १६४०, पौषमास। वर्ष के १२ मासों के व्रतों, नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य, संक्रान्ति, ग्रहण आदि का विवरण है। सप्तर्षि (आधुनिक मतार) में लिखित। नो० (जिल्द १०, पृ० २१७-२१९)।

कृत्यमहार्णव—मिथिला के हरिनारायणदेव के संरक्षण में वाचस्पतिमिश्र द्वारा। व्रतों, भोजों आदि का विवरण। आचारमयूख में वर्णित। दे० प्रकरण ९८।

कृत्यमुक्तावली—दे० सत्कृत्यमुक्तावली।

कृत्यरत्न—निर्णयसिन्धु एवं श्राद्धमयूख में वर्णित।

कृत्यरत्न—विदर्भ के राजा द्वारा सम्मानित् नारायणभट्टात्मज हरिभट्ट के पुत्र खण्डेराय द्वारा। आठ प्रकाशों में। लेखक ने हेमाद्रि, माधवीय एवं अपने संस्कार-रत्न का उल्लेख किया है। बड़ोदा, सं० १९५३।

कृत्यरत्नाकर—चण्डेश्वर कृत। दे० प्रकरण ९० (बिब्लि० इण्डि०, १९२१)।

कृत्यरत्नाकर—मुदाकरसूरि द्वारा।

कृत्यरत्नावली—विट्ठल के पुत्र एवं बालकृष्ण तत्सत् के पौत्र रामचन्द्र द्वारा; ये कालतत्त्वविवेचन के लेखक रघुनाथ के दौहित्र थे। सं० १७०५ (१६४८-४९ ई०) में प्रणीत। प्रतिपदा आदि तिथियों के कृत्यों एवं चैत्र से फाल्गुन तक के कृत्यों का विवेचन है; हेमाद्रि, मदनरत्न एवं नारायणभट्ट के उद्धरण हैं।

कृत्यरत्नाकर—लक्ष्मीधर द्वारा।

कृत्यरत्नाकर—लोकनाथ द्वारा।

कृत्यराज—विभिन्न मासों में किये जाने वाले कृत्यों का संग्रह। लगभग १७५० ई० में नवद्वीप के राजकुमार कृष्णचन्द्र के आश्रय में संगृहीत।

कृत्यविलासमंजरी।

कृत्यसमुच्चय—भूपाल द्वारा। कृत्यरत्नाकर (पृ० ४९९) में वर्णित।

कृत्यसागर—वर्धमान में एवं वेदाचार्य के स्मृतिरत्नाकर में वर्णित। १४०० ई० के पूर्व।

कृत्यसार—मथुरानाथ शुक्ल द्वारा।

कृत्यसारसमुच्चय—अमृतनाथ ओझा द्वारा। बम्बई में मुद्रित।

कृत्यसारसमुच्चय—वाचस्पति द्वारा।

कृत्यापल्लवदीपिका—दे० 'शान्तिकल्पप्रदीप।

कृत्यार्णव—देवदासप्रकाश में वर्णित।

कृष्णपद्धति—चतुर्भुज द्वारा।

कृष्णभक्तिकल्पवल्ली—(या भक्तिमंजरी या हरिभक्तिमंजरी) चार भागों में।

कृष्णभट्टीय—यह कर्मतत्त्वप्रदीपिका ही है; यह नारायण भट्ट के प्रयोगरत्न में एवं आह्निकचन्द्रिका में व० है। १५०० ई० से पूर्व।

कृष्णार्चनचन्द्रिका—सञ्जीवेश्वर के पुत्र रत्नपाणि द्वारा।

कृष्णामृतमहार्णव—आनन्दतीर्थ द्वारा। नो० (न्यू०, जिल्द ३, भूमिका पृ० ६)।

केशवार्णव—केशव द्वारा।

कोटचक्र—चार प्रकार के दुर्गों पर।

कोटिहोमप्रयोग—नारायण भट्ट के पुत्र रामकृष्ण द्वारा।

कौतुकचिन्तामणि—प्रतापरुद्रदेव द्वारा। इन्द्रजाल, राजा के रक्षण-उपायों तथा स्त्रियों, पौधों, भोजन पर आश्चर्यजनक एवं रम्य प्रयोग चार दीप्तियों में। नो० ९, पृ० १८९-१९० एवं ड० का० (पांण्डु० सं० ९८१, १८८७-९१; १०३१, १८८४-८७)। लग० १५२० ई०।

कौमुदीनिर्णय।

कौशिकगृह्यसूत्र—१४ अध्यायों में (ब्लूमफील्ड द्वारा सम्पादित, १८८९ ई०), टी० भट्टारिभट्ट द्वारा। टी० दारिल द्वारा। टी० वासुदेव द्वारा।

कौशिकगृह्यसूत्रपद्धति—केशव द्वारा, जो सोमेश्वर के पुत्र एवं अनन्त के पौत्र थे। भोजपुर में प्रणीत (स्टीन, पृ० २४८)।

कौशिकसूत्रप्रयोगदीपिकावृत्ति।

कौशिकस्मृति—निर्णयदीपक, मस्करिभाष्य (गौतम पर), हेमाद्रि, माधव द्वारा व०।

कौषीतकिगृह्यकारिका।

कौषीतकिगृह्यसूत्र—(बनारस सं० सी० में प्रकाशित) दे० शांखायन गृह्यसूत्र।

क्रतुस्मृति—मिताक्षरा द्वारा व०।

क्रमदीपिका—वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० १२१) एवं देवप्रतिष्ठातत्त्व में वर्णित। १५०० ई० के पूर्व।

क्रमदीपिका—(कृष्ण-पूजा पर) केशवाचार्य द्वारा ८ पटलों में। लग० १५०० ई० में। टी० केशवभट्ट गोस्वामी द्वारा। टी० गोविन्दभट्ट द्वारा (चौखम्भा सं० सी०)।

क्रमदीपिका—नित्यानन्द द्वारा।

क्रियाकाण्डशेखर—हेमाद्रि में व०।

क्रियाकैरवचन्द्रिका।

क्रियाकौमुदी—गोविन्दानन्द द्वारा (बिब्लि० इण्डि०)। दे० प्रक० १०१।

क्रियाकौमुदी—मथुरानाथ द्वारा।

क्रियानिबन्ध—शूद्रकमलाकर में व०।

क्रियापद्धति—विश्वनाथ द्वारा। मृत्यु-दिन से सपिण्डीकरण तक के (माध्यन्दिनीयों के लिए) कृत्यों का विवरण है। ड० का० (पाण्डु०, सं० २०७, १८८४-८७)।

क्रियापद्धति—या षडब्दप्रायश्चित्तादिपद्धति। नो०, १०, पृ० २३७।

क्रियाप्रदीप।

क्रियाश्रय—(धर्मविषयक ज्योतिष ग्रन्थ) अपरार्क द्वारा व०।

क्रियासार—नि० सि० एवं कुण्डमण्डपसिद्धि द्वारा व०, १६०० ई० के पूर्व।

क्षत्रियसन्ध्या।

क्षयमासकृत्यनिर्णय।

क्षयमासनिर्णय।

क्षयमाससंसर्पकार्याकार्यनिर्णय—परशुराम द्वारा। स्टीन, पृ० ८७।

क्षयमाससंसर्पकार्याकार्यनिर्णयखण्डन—परशुराम द्वारा। स्टीन, पृ० ८७।

क्षयमासादिविवेक—गंगोली संजीवेश्वर के पुत्र रत्नपाणि शर्मा द्वारा; मिथिला के छत्रसिंह के राज्यकाल में प्रणीत। वाचस्पति, वर्धमान, अनन्तपण्डित,

महेश, स्मृतिविवेक आदि की चर्चा है। दे० नो०, जिल्द ६, पृ० ४४।

क्षयाधिकमासविवृति—गणेशदत्त द्वारा।

क्षेमप्रकाश—क्षेमवर्मा द्वारा; विक्रम १५६८ (१५१२ ई०) में वीरसिंहपुर में (जहाँ वह शासक था) प्रणीत। आचार, विष्णुपूजा, शिवपूजा, दान, उत्सर्ग, व्रत पर। पाण्डु० सं० १५८२ (१५२६ ई०) में वीरसिंहदेव के शासनकाल में उतारी गयी। दे० स्टीन, पृ० ३०५।

क्षौरनिर्णय—(या दर्पण) गंगाधर के पुत्र द्वारा।

खड्गविवाह—बडोदा, सं० ११४२।

खादिरगृह्य—(मैसूर में प्रकाशित, एस्० बी० ई०, जिल्द २९ द्वारा अनूदित) गोभिलगृह्य से बहुत मिलता है। टी० मखवाट के वासी नारायण के पुत्र रुद्रस्कन्द द्वारा।

खादिरगृह्यकारिका—वामन द्वारा।

खेटपीठमाला—आपदेव द्वारा।

गंगाकृत्यविवेक—मिथिला के राजा रामभद्रदेव के लिए वर्धमान द्वारा। सन् १४५०-१५०० ई० में।

गंगाधरपद्धति—गंगाधर द्वारा (स्टीन, पृ० ८७), रुद्रकल्पद्रुम में व० (बी० बी० आर० ए० एस्०, जिल्द २, पृ० २२६)।

गंगाभक्तितरंगिणी—धारेश्वर के पुत्र गणपति द्वारा। ३ अध्यायों में। इनका कथन है कि मिथिला के राजा नान्य ने इनके पितामह को वृत्ति दी थी। नो० (जिल्द ५, पृ० १८३)। पाण्डु० की तिथि सं० १७६६ (१७१० ई०)।

गंगाभक्तितरंगिणी—चतुर्भुजाचार्य द्वारा।

गंगाभक्तिप्रकाश—हरिनन्दन द्वारा। सं० १८५२ (१७९५-९६) में।

गंगाभक्तिरसोदय—शिवदत्त शर्मा द्वारा।

गंगामृत—रघुनन्दन एवं गंगाकृत्यविवेक में वर्धमान द्वारा व०।

गंगावाक्यावली—भवसिंह—देवसिंह—शिवसिंह के वंशज मिथिला के राजा पद्मसिंह की रानी महादेवी विश्वासदेवी के आश्रय में विद्यापति द्वारा। गोविन्दानन्द एवं रघुनन्दन (प्रायश्चित्ततत्त्व में) द्वारा व०। लग० १४००-१४५० ई०। गंगायात्रा, गंगापूजा एवं गंगास्नान के फल का वर्णन है।

गणपतितत्त्वविवेक।

गणेशपद्धति—सोमेश्वर के पुत्र द्वारा (अलवर, सं० १३०९)।

गणेशविमर्शिनी—कुण्डमण्डपसिद्धि में व०।

गणेशशान्ति।

गदाधरपद्धति—(आचारसार) बिब्लि० इण्डि० सीरीज़।

गर्गदेवल—प्रायश्चित्तमयूख में व०।

गर्गविष्णु—निर्णयसिन्धु में व०।

गर्गव्यास—जीमूतवाहन के कालविवेक में व०।

गन्धर्वप्रयोग—स्टीन, पृ० ८७।

गभस्तिस्मृति—अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि द्वारा व०।

गयादासनिबन्ध—भट्टोजि द्वारा व०। १६०० ई० के पूर्व।

गयानुष्ठानपद्धति—नारायण भट्ट के ग्रन्थ त्रिस्थलीसेतु का अंश।

गयानुष्ठानपद्धति—(गयापद्धति) रघुनन्दन द्वारा। दे० 'गयापद्धति'।

गयापद्धति—अनन्तदेव द्वारा।

गयापद्धति—रामेश्वरात्मज माधव के पुत्र रघुनाथ द्वारा। सन् १५५०-१६२५ ई० के बीच।

गयापद्धतिदीपिका—प्रभाकर द्वारा।

गयाप्रकरण—नारायण के 'त्रिस्थलीसेतु' से।

गयाप्रकाश—नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ८४)।

गयाप्रयोग—वाचस्पति मिश्र द्वारा।

गयायात्राप्रयोग—मणिराम दीक्षित द्वारा।

गयावाराणसीपद्धति।

गयाश्राद्धपद्धति।

गयाश्राद्धपद्धति—उद्धवद्विवेदी के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। वाजसनेयियों के लिए।

गयाश्राद्धपद्धति—रघुनन्दन द्वारा। दे० प्रक० १०२।

गयाश्राद्धप्रकरण---मलमासतत्त्व में व०।

गयाश्राद्धविधि---गोकुलदेव द्वारा (बड़ोदा, ८६८८)।

गयाश्राद्धविधिपद्धति---वाचस्पति द्वारा। प्रथम श्लोक में वायु०, गरुड़० एवं कल्पवृक्ष (अर्थात् कल्पतरु) का उल्लेख है।

गर्गपद्धति---(या गृह्यपद्धति) पारस्करगृह्य के लिए स्थालीपाकहोम, बलिदान, पिण्डपितृयज्ञ, श्रवणाकर्म, शूलगव, वैश्वदेव, मासश्राद्ध, चूडाकरण, उपनयन, ब्रह्मचारिव्रतानि, सीतायज्ञ, शालाकर्म पर स्थपति गर्ग द्वारा गृह्यकर्मों का एक संग्रह। यह भर्तृयज्ञमत पर आधारित है। पारस्कर गृह्य के गदाधर भाष्य में एवं श्राद्धतत्त्व में व०। इण्डि० आ०, पाण्डु० तिथि सं० १५७५ (१५१९ ई०), दे० पृ० ५१५, संख्या १७३३।

गर्गस्मृति---स्मृतिचन्द्रिका, नित्याचारप्रदीप में व०।

गर्भाधानादि दशसंस्कारपद्धति---शौनक का कहा गया है। जयन्त का उल्लेख है।

गागाभट्टपद्धति---गागाभट्ट द्वारा।

गायत्रीपद्धति---भूधरभट्ट द्वारा।

गायत्रीपुरश्चरण---(या पद्धति) बल्लाल के पुत्र शंकर द्वारा (घोरे की उपाधि)। इन्होंने शक सं० १६७५ (१७५३ ई०) में 'व्रतोद्यापनकौमुदी' लिखी।

गायत्रीपुरश्चरण---शिवराम द्वारा।

गायत्रीपुरश्चरण---साम्बभट्ट द्वारा।

गायत्रीपुरश्चरणचन्द्रिका---काशीनाथ द्वारा, जो जयराम एवं वाराणसी के पुत्र थे। उपाधि 'भट्ट' थी। गुरु का नाम अनन्त था। अलवर, उद्धरण ६१८।

गायत्रीपुरश्चरणप्रयोग---नारायण भट्ट के पुत्र कृष्णभट्ट द्वारा। सन् १७५७ ई० में प्रणीत।

गायत्रीपुरश्चरणविधि---अनन्तदेव द्वारा।

गायत्रीपुरश्चरणविधि---गीर्वाणेन्द्र सरस्वती द्वारा।

गायत्रीपुरश्चरणविधि---गायत्रीपुरश्चरणचन्द्रिका से। अलवर, उद्धरण ३०२।

गायत्रीपुरश्चरणविधि---शारदातिलक से।

गायत्रीभाष्यनिर्णय---अलवर, सं० १३१२, उद्धरण ३०४।

गार्गीयपद्धति---श्राद्धतत्त्व (जिल्द १, पृ० २१३) में व०।

गार्ग्यस्मृति---विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिच० द्वारा व०।

गार्हस्थ्यदीपिका---यज्ञेश के शिष्य त्र्यम्बक द्वारा।

गालवस्मृति---स्मृतिच०, कालमाधव द्वारा व०।

गुणमञ्जरी---महारंग कुल के काशीराम के पुत्र त्रिपाठी बालकृष्ण द्वारा। प्रायश्चित्त पर।

गुणिसर्वस्व---रुद्रधर के श्राद्धविवेक में एवं तिथितत्त्व तथा मलमास० में व०। १४०० ई० से पूर्व।

गूढदीपिका---श्रीनाथ आचार्य द्वारा। उनके कृत्यतत्त्वार्णव में व०।

गूढार्थदीपिका---वामदेव द्वारा। स्मृतिदीपिका भी देखिए। कृत्यों एवं रीतियों के सन्देहात्मक विषयों पर।

गृहपतिधर्म---विश्वेश्वर द्वारा।

गृहप्रतिष्ठातत्त्व।

गृहवास्तु---चन्द्रचूड़ द्वारा (संस्कारनिर्णय का अंश)।

गृहस्थमुक्ताफल।

गृहस्थरत्नाकर---चण्डेश्वर द्वारा। ५८९ पृ० में एक विशाल ग्रन्थ। बिब्लि० इण्डि० द्वारा सन् १९२८ में प्रकाशित। दे० प्रक० ९०।

गृहस्थकल्पतरु।

गृह्यकारिका---(१) आश्वलायनीय, जयन्त द्वारा। (२) बौधायनीय, कनकसभापति द्वारा। (३) सामवेदीय, विशाखभट्ट के पुत्र भूवाक द्वारा।

गृह्यकारिका---कर्क द्वारा।

गृह्यकारिका---रेणुक द्वारा। १२६६ ई० में प्रणीत।

गृह्यकौमुदी---गोविन्दार्णव में व०।

गृह्यतात्पर्यदर्शन---सुदर्शनाचार्य द्वारा आपस्तम्बगृह्यसूत्र पर टी०।

गृह्यपदार्थानुक्रम---मैत्रायणीय गृह्यसूत्र के अनुसार गृह्यकृत्यों से सम्बन्धित विषयों पर एक सारांश।

गृह्यपद्धति।

गृह्यपद्धति—वासुदेव दीक्षित द्वारा, संस्कारों, अष्टका आदि पर तीन खण्डों में; शक सं० १७२० में पाण्डु० उतारी गयी।

गृह्यपरिशिष्ट—बह्वृच गृह्य परिशिष्ट, छन्दोगगृह्य-परिशिष्ट के अन्तर्गत देखिए।

गृह्यपरिशिष्ट—अनन्त भट्ट द्वारा।

गृह्यपरिशिष्ट—वैकुण्ठनाथाचार्य द्वारा।

गृह्यप्रदीपकभाष्य—नारायण द्वारा शांखायनगृह्यसूत्र पर एक टीका।

गृह्यप्रयोग—(आपस्तम्बीय) ब्रह्मविद्यातीर्थ द्वारा। सुदर्शनाचार्य को उ० किया गया है। अलवर (उद्धरण १४)।

गृह्यप्रयोग—बौधायनीय। वाजसनेयीय।

गृह्यप्रायश्चित्तसूत्र—हुल्श, सं० ६३७।

गृह्यभाष्यसंग्रह—(या गृह्यभाष्यार्थसंग्रह) हेमाद्रि द्वारा व०।

गृह्यरत्न—वैदिकसार्वभौम (अर्थात् सम्भवतः वेंकटेश) द्वारा। २१ खण्डों में। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, चत्वारि वेदव्रतानि—ऐसे ब्राह्म संस्कारों एवं दैव संस्कारों (यथा पाकयज्ञ) का विवरण है। टी० विबुधकण्ठभूषण, जो हारीतगोत्रज रंगनाथ के पुत्र वेंकटनाथ वैदिकसार्वभौम द्वारा प्रणीत है (कण्ठभूषा नाम भी है)। हुल्श, सं० ६०३ एवं उद्धरण, पृ० ८८। इसमें उनके पितृमेधसार एवं उसकी टी० का तथा आशौचशतक और व्याख्या का उ० है।

गृह्यसंग्रह—पारस्करगृह्य (३।१।१) के अपने भाष्य में जयराम द्वारा व०।

गृह्यसूत्रपद्धति।

गृह्यसूत्रप्रकाशिका—(पारस्करगृह्य पर) नृसिंह के पुत्र विश्वनाथ द्वारा। लग० १६०० ई०।

गृह्याग्निसागर—(प्रयोगसार) लक्ष्मीधर के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा (उपाधि आरड या आरडे); आपस्तम्ब के धूर्तस्वामी भाष्य पर रामाण्डारव्याख्या, प्रयोगपारिजात, प्रयोगरत्न, निर्णयसिन्धु, भट्टोजिदीक्षित, परशुरामप्रताप एवं राम वाजपेयी तथा उनके श्राद्धसागर का उद्धरण है। १६५० ई० के उपरान्त।

गृह्यासंग्रह—गोभिलपुत्र द्वारा (बिब्लि० इण्डि० सी०, गोभिलगृह्य की अनुक्रमणिका के रूप में)। शिवराम की कृत्यचिन्तामणि एवं छन्दोगवृषोत्सर्गतत्त्व तथा मठप्रतिष्ठातत्त्व में व०। टी० दामोदर के पुत्र रामकृष्ण द्वारा।

गृह्यासंग्रहपरिशिष्ट—छन्दोगवृषोत्सर्गतत्त्व में व० एवं ब्लूमफील्ड (जेड० डी० एम० जी०, जिल्द ३५, पृ० ५३७-५४८, २०९ श्लोकों एवं दो प्रपाठकों में) द्वारा सम्पादित। आरम्भ है—'अथातः संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं पद्मयोनिना। ब्राह्मणानां हितार्थाय संस्कारार्थे तु भाषितम्॥' दे० बिब्लि० इण्डि० सी०।

गृह्योक्तकर्मपद्धति।

गोत्रनिर्णय—नन्दिपुर के केशवदैवज्ञ द्वारा, २७ श्लोकों में। टी० वाक्पुष्पमाला, प्रभाकर दैवज्ञ द्वारा; श्रीधरकृत प्रवरमञ्जरी का उद्धरण है।

गोत्रनिर्णय—बालम्भट्ट द्वारा।

गोत्रनिर्णय—महादेव दैवज्ञ द्वारा (संभवतः यह केशवकृत वाक्पुष्पमाला है, जो गोत्रप्रवरनिर्णय की टीका है)।

गोत्रप्रवरकारिका।

गोत्रप्रवरखण्ड—धर्मसिन्धु से। आपस्तंबीय भी।

गोत्रप्रवरदर्पण।

गोत्रप्रवरदीप—विष्णुपण्डित द्वारा।

गोत्रप्रवरनिर्णय—आपदेव द्वारा (संभवतः यह भ्रांति है, क्योंकि जीवदेव आपदेव का एक पुत्र था)। दे० बड़ोदा, सं० १८७०।

गोत्रप्रवरनिर्णय—(या गोत्रप्रवरदर्पण) रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा। मैसूर में मुद्रित, १९०० ई०। १७वीं शताब्दी काल।

गोत्रप्रवरनिर्णय—अनन्तदेव द्वारा (संस्कारकौस्तुभ में, जो उनके भाई के ग्रन्थ से लिया गया है)।

गोत्रप्रवरनिर्णय—नन्दिग्राम के केशवदैवज्ञ द्वारा। पाण्डु० बड़ोदा, सं० ८१३१, शक सं० १६००। प्रत्येक श्लोक का 'कुर्वन्तु वो मंगलम्' से अन्त होता है। टी० वाक्पुष्पमाला, प्रभाकर दैवज्ञ द्वारा।

गोत्रप्रवरनिर्णय—गोपीनाथ द्वारा (बड़ोदा, सं० ११०४१)।

गोत्रप्रवरनिर्णय—आपदेव के पुत्र एवं अनन्तदेव के छोटे भाई तथा संस्कारकौस्तुभ के लेखक जीवदेव द्वारा। प्रवरमंजरी, आश्वलायनसूत्रवृत्तिकार, नारायणवृत्ति के उद्धरण हैं। लग० १६६०-१६८०। कथन ऐसा है कि केवल माध्यन्दिनों को विवाह में मातृगोत्र वर्जित है; सत्याषाढ़ एवं शिष्टाचार ने भी ऐसा कहा है।

गोत्रप्रवरनिर्णय—नागेशभट्ट द्वारा।

गोत्रप्रवरनिर्णय—नारायण भट्ट द्वारा। भट्टोजि के गोत्रप्रवरनिर्णय में व०।

गोत्रप्रवरनिर्णय—पद्मनाभ द्वारा (बड़ोदा, सं० ८७८९)।

गोत्रप्रवरनिर्णय—भट्टोजिदीक्षित द्वारा। १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध। इसका दूसरा नाम गोत्रप्रवरभास्कर है।

गोत्रप्रवरनिर्णय—(अभिनव) माधवाचार्य द्वारा। टी० मण्डूरि रघुनाथाचार्य के पुत्र रघुनाथ द्वारा (मैसूर, १९०० में प्रकाशित)।

गोत्रप्रवरनिर्णय—रामेश्वरात्मज माधव के पुत्र रघुनाथ द्वारा। १५५०-१६२५ ई०।

गोत्रप्रवरनिर्णय—शम्भुदेव के पुत्र विश्वेश्वर या विश्वनाथ देव द्वारा, जो रामदेव के छोटे भाई थे। बनारस में समाप्त किया गया। इण्डि० आ०, जिल्द ३, पृ० ५८०। शक सं० १५०६ में प्रणीत। बड़ोदा (सं० ११०५५)। गद्य एवं पद्य दोनों में।

गोत्रप्रवरनिर्णय—सदाराम द्वारा।

गोत्रप्रवरनिर्णयवाक्यसुधार्णव—विश्वनाथ द्वारा। बड़ोदा (सं० ९३७५)। 'गोत्रप्रवरनिर्णय' से भिन्न।

गोत्रप्रवरभास्कर—भट्टोजि द्वारा। यह 'गोत्रप्रवरनिर्णय' ही है।

गोत्रप्रवरमञ्जरी—केशव द्वारा, जिन्होंने मुहूर्ततत्त्व भी लिखा है। टी० राम द्वारा; स्मृत्यर्थसार एवं प्रयोगपारिजात का उद्धरण है।

गोत्रप्रवरमञ्जरी—(प्रवरमञ्जरी) पुरुषोत्तम पण्डित द्वारा (इस विषय पर प्रामाणिक ग्रन्थ)। चेन्तसालराव द्वारा मुद्रित (मैसूर, १९००)। ८ मौलिक गोत्रों में प्रत्येक पर आपस्तम्ब, आश्वलायन, कात्यायन, बौधायन, मत्स्य०, लौगाक्षि, सत्याषाढ से उद्धरण दिये गये हैं। आपस्तम्बसूत्र के भाष्यकार के रूप में धूर्तस्वामी, कपर्दिस्वामी एवं ग्रहदेवस्वामी का उल्लेख है। निर्णयसिन्धु, नृसिंहप्रसाद, दत्तकमीमांसा में व० है। १४५० ई० से पूर्व।

गोत्रप्रवरमञ्जरी—शंकर तान्त्रिक द्वारा। गोत्रों के भागों एवं उपभागों पर विशद विवेचन है। ज्योतिर्निबन्ध, प्रवरदीपिका एवं बौधायन के व्याख्याकार द्वारा व०। बड़ोदा (सं० ७६५७)।

गोत्रप्रवरमञ्जरीसारोद्धार—शिव के पुत्र शंकर दैवज्ञ द्वारा।

गोत्रप्रवररत्न—रामकृष्ण भट्ट के पुत्र एवं कमलाकर भट्ट के छोटे भाई लक्ष्मण भट्ट द्वारा। लग० १५८५-१६३० ई०।

गोत्रप्रवरविवेक—धनञ्जय के धर्मप्रदीप से।

गोत्रप्रवराध्याय—दे० 'प्रवराध्याय'।

गोत्रप्रवरोच्चार—औदीच्यप्रकाश से।

गोत्रामृत—नृसिंहपण्डित द्वारा।

गोदानविधिसंग्रह—व्रजराज के पुत्र मधुसूदन गोस्वामी द्वारा।

गोपालकारिका—(बौधायनीय) वेदिकानिर्माण, वेदिकामापदण्ड जैसे धार्मिक कृत्यों पर ४२० श्लोक।

गोपालपद्धति—लेखक एवं नारायण द्वारा भी व०। १००० ई० के पूर्व। बी० बी० आर० ए० एस० (जिल्द २, पृ० १८३)।

गोपालपूजापद्धति—दशार्ण देश के नृसिंह—पुत्र दिनकर द्वारा (कृष्ण-पूजा पर)। इण्डि० आ० (पाण्डु०, पृ० ५८७)। संवत् १६६४।

गोपालरत्नाकर--गोपाल द्वारा।

गोपालसिद्धान्त--आचाररत्न में व०।

गोपालार्चनचन्द्रिका।

गोपालार्चनचन्द्रिका--लक्ष्मीनाथ द्वारा।

गोभिलगृह्यसूत्र--बिब्लि० इण्डि० सी० द्वारा प्रकाशित; डा० क्नौयेर द्वारा एवं एस० बी० ई० (जिल्द ३०) में अनूदित। टी० (भाष्य) महाबल के पुत्र भट्ट नारायण द्वारा; रघुनन्दन के श्राद्धतत्त्व में व०। ल० सं० ४३१ (१५४९-५० ई०) में प्रतिलिपि की गयी। टी० (भाष्य) यशोधर द्वारा, गोविन्दानन्द की दानक्रियाकौमुदी में एवं श्राद्धतत्त्व में व०; १५०० ई० के पूर्व। टी० 'सरला', तिथितत्त्व एवं श्राद्धतत्त्व में व०; १५०० के पूर्व। टी० सायण द्वारा। टी० सुबोधिनीपद्धति, विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा (लेखक की कारिकार्थबोधिनी से भिन्न); लग० १६४० ई० (स्टीन, पृ० ८६)। टी० पद्धति, मथुरा के अग्निहोत्री विष्णु द्वारा। टी० कारिकार्थबोधिनी, विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा (स्टीन, पृ० १५ एवं २५०)।

गोभिलपरिशिष्ट--(टीका के साथ बिब्लि० इण्डि० सी० में प्रकाशित) संध्यासूत्र, स्नानसूत्र एवं श्राद्धकल्प पर। टी० प्रकाश, नारायण द्वारा। रघुनन्दन द्वारा व०।

गोभिलश्राद्धसूत्रभाष्य--तिथितत्त्व एवं श्राद्धतत्त्व में रघुनन्दन द्वारा व०। सम्भवतः यह महायशा का भाष्य ही है।

गोभिलसंध्यासूत्र।

गोभिलस्मृति--कात्यायन का कर्मप्रदीप। आनन्दाश्रम प्रेस में मुद्रित, स्मृति०, पृ० ४९-७१)।

गोभिलीयपरिशिष्ट--(अनिष्टकारी ग्रहों की शान्ति, ग्रहयाग आदि पर) नो० (जिल्द १०, पृ० २०१-२०२)।

गोभिलीयश्राद्धकल्प--(भाष्य) महायशा द्वारा। रघु० के श्राद्धतत्त्व में व०। सम्भवतः यह महायशा उपर्युक्त यशोधर ही हैं। टी० समुद्रकर द्वारा; भवदेव के स्मृतिचन्द्र की श्राद्धकला में व०।

गोवधप्रायश्चित्त।

गोविन्दमानसोल्लास--एकादशीतत्त्व एवं मलमासतत्त्व में व०। अतः १५०० ई० के पूर्व।

गोविन्दार्चनचन्द्रिका--(बम्बई में प्रका०)।

गोविन्दार्णव--(या स्मृतिसागर या धर्मतत्त्वावलोक) रामचन्द्र के पुत्र शेष नृसिंह द्वारा। काशी के महाराजाधिराज गोविन्दचन्द्र की आज्ञा से संगृहीत। छः वीचियों (लहरों) यथा संस्कार, आह्निक, श्राद्ध, शुद्धि, काल एवं प्रायश्चित्त में विभाजित। कल्पतरु, अपरार्क, माधवाचार्य, विश्वेश्वर भट्ट के उद्धरण आये हैं और निर्णयसिन्धु, आचाररत्न (लक्ष्मणभट्ट कृत) द्वारा उ० है। १४०० एवं १४५० के बीच संगृहीत। दे० अलवर (उद्धरण ३०४), जहाँ बनारस के पास ताण्डेतिका नामक नगर का विशद वर्णन है, जिसे दिल्ली एवं काल्पी से बढ़कर कहा गया है। राजाओं के श्रीवास्तक कुल एवं शेष कुल का भी वर्णन है। अलवर (पाण्डु०, श्लोक ८५) में केवल पाँच वीचियों का उल्लेख है, 'प्रायश्चित्त' छोड़ दिया गया है। लगता है, शेष कृष्ण ने गोविन्दार्णव को अपने ग्रन्थ शूद्राचारशिरोमणि में अपना ग्रन्थ कहा है। दे० इण्डि० ऐण्टी० (१९१२, पृ० २४८)।

गौडनिबन्ध--श्रीदत्त की पितृभक्ति में व०।

गौडनिबन्धसार--नि० सि० में व० (संभवतः यह कुल्लूकभट्ट का श्राद्धसागर है)।

गौडश्राद्धकौमुदी--नि० सि० में व०। (सम्भवतः यह गोविन्दानन्द की श्राद्धकौमुदी है)।

गौडसंवत्सरप्रदीप--गदाधर के कालकार में व०।

गौडतिथिचिन्तामणि--गदाधर के कालसार में वर्णित।

गौतमधर्मसूत्र--दे० प्रक० ५, बनारस सं० सी० एवं जीवानन्द (भाग २, पृ० ४०३-४३४) द्वारा प्रका०। टी० कुलमणि शुक्ल द्वारा। टी० (भाष्य) मस्करी द्वारा (मैसूर में प्रका०)। टी० मिताक्षरा, हरदत्त द्वारा (आनन्दा० प्रे०)।

गौतमस्मृति।

ग्रन्थराज--(या स्मृतिग्रन्थराज)।

ग्रहणविधानधर्मकुसुम—शंकरशर्मा द्वारा।

ग्रहणक्रियाक्रम।

ग्रहणनिर्णय—नारायण भट्ट के प्रयोगरत्न से।

ग्रहणमासादिनिर्णय।

ग्रहदानप्रयोग—माधव का उल्लेख है।

ग्रहमखतिलक—भारद्वाज गोत्रीय कृष्णाचार्य के पुत्र माधव द्वारा। पीटर्सन की पाँचवीं रिपोर्ट (पृ० १७६)।

ग्रहमखप्रयोग—नो० (१०, पृ० २००)।

ग्रहमखकारिका।

ग्रहमखतत्त्व--रघुनन्दन द्वारा। दीपिका का उल्लेख है।

ग्रहयज्ञदीपिका--सदाशिव दीक्षित द्वारा।

ग्रहयज्ञपद्धति।

ग्रहयज्ञनिरूपण--अनन्तदेव कृत संस्कारकौस्तुभ से।

ग्रहयज्ञप्रयोग।

ग्रहयज्ञविधान—नागदेव भट्ट के पुत्र अनन्तदेव भट्ट द्वारा।

ग्रहयागकौमुदी—रामकृष्ण भट्टाचार्य द्वारा।

ग्रहयागप्रयोगतत्त्व—(या ग्रहयागतत्त्व) हरिभट्ट के पुत्र रघुनन्दन द्वारा। कलकत्ता से संस्कृत साहित्य परिषद् द्वारा बंगला लिपि में मुद्रित (नं० १०)। यह रघुनन्दन के २८ तत्त्वों से ऊपर एक तत्त्व है।

ग्रहयोगशान्ति।

ग्रहशान्ति—शांखायन एवं गोभिल के मतानुसार।

ग्रहशान्तिपद्धति—(या वासिष्ठीशान्ति) हरिशंकर के पुत्र गणपति रावल द्वारा। लग० १६८६ ई०।

ग्रहस्थापनपद्धति—पीटर्सन की पाँचवीं रिपोर्ट (पृ० ९८)।

ग्रामनिर्णय—(या पातित्यग्रामनिर्णय) स्कन्दपुराण के सह्याद्रिखण्ड से।

घृतप्रदानरत्न—प्रेमनिधि द्वारा।

चक्रनारायणीय—शूलपाणि के दुर्गोत्सवविवेक में व०। अतः १४०० ई० से पूर्व।

चक्रनारायणीय निबन्ध—(या स्मृतिसारोद्धार) विश्वम्भर त्रिवेदी द्वारा। १२ उद्धारों में, यथा—सामान्यनिर्णय, एकभक्तादिनिर्णय, तिथिसामान्यनिर्णय, प्रतिपदादि तिथिनिर्णय, व्रत, संक्रान्ति, श्राद्ध, आशौच, गर्भाधानादि-कालनिर्णय, आह्निक, व्यवहार, प्रायश्चित्त। भीम-मल्ल के पुत्र नारायण मल्ल की आज्ञा से लिखित। प्रतापमार्तण्ड, हौरिलस्मृति, रूपनारायणीय, अनन्तभट्टीय का उल्लेख है। १७वीं शताब्दी पूर्वार्ध, चौखम्बा सं० सी०।

चण्डिकार्चनदीपिका—काशीनाथ भट्ट द्वारा, जो भट्टकुल के शिवरामभट्ट के पुत्र जयरामभट्ट के पुत्र थे। अलवर (उद्धरण, ६२०)।

चण्डीप्रयोग—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा।

चण्डीप्रयोग—नागोजिभट्ट द्वारा।

चण्डूकनिबन्ध—(या स्मार्तकर्मानुष्ठानक्रमविवरण) महामात्य श्री सम्राट् चण्डूक द्वारा। श्राद्ध, मलमास, त्रयोदशीनिर्णय, आह्निक आदि पर। बड़ोदा (सं० २९६)। तिथि सं० १५९३।

चतुरशीतिज्ञातिप्रशस्ति—सदाशिव द्वारा।

चतुर्थीकर्म—(विवाह के उपरान्त चौथी रात्रि के कृत्यों पर)।

चतुर्दशश्लोकी—भट्टोजि द्वारा। बड़ोदा (सं० १४८८), श्राद्ध पर १४ श्लोक। टी० महेश्वर द्वारा।

चतुर्वर्गचिन्तामणि—हेमाद्रि कृत। दे० प्रक० ८७ (बिब्लि० इण्डि० सी०), हुल्श (सं० ६५८)। इसमें प्रायश्चित्त एवं व्यवहार है, किन्तु बहुत सम्भव है कि ये किसी अन्य लेखक के हैं।

चतुर्विंशतिमत—(या स्मृति)। दे० प्रक० ४२। टी० भट्टोजि द्वारा (बनारस सं० सी० में संस्कार एवं श्राद्ध भी है); इण्डि० आ० (पाण्डु०, पृ० ४७५) में केवल संस्कार काण्ड है, जहाँ यह नारायण भट्ट के पुत्र रामचन्द्र की कही गयी है। आह्निक, आचार एवं प्रायश्चित्त काण्ड की पाण्डुलिपियाँ भी प्राप्त हैं। टी० नारायण के पुत्र रामचन्द्र द्वारा।

चतुर्विंशतिमुनिमतसार—बड़ोदा (सं० २२४७ एवं १०५४०)।

चतुर्विंशतिस्मृतिधर्मसारसमुच्चय।

चतुश्चत्वारिंशत्संस्काराः।

चन्दनधेनुदानप्रमाण—(या तत्त्व) वाचस्पति द्वारा,

अपने पति एवं पुत्र से पूर्व मरनेवाली नारी के प्रथम श्राद्ध के कृत्यों पर। रत्नाकर पर आधारित। नो० न्यू० (१, पृ० १००)।

चन्दनधेनूत्सर्गपद्धति—नवद्वीप के रत्ननाथ भट्टाचार्य द्वारा। नो० न्यू० (१, पृ० १०१); पाण्डु० तिथि १७६५ ई०।

चन्द्रकमलाकर।

चन्द्रकलिका।

चन्द्रनिबन्ध—निर्णयदीपक में उ०।

चन्द्रप्रकाश—नि० सि०, नन्दपण्डित की श्राद्धकल्पलता, भट्टोजि द्वारा व०। १५७० ई० के पूर्व।

चन्द्रस्मृति—निर्णयदीपक में व०।

चन्द्रोदय—नि० सि० में व० (सम्भवतः पृथ्वीचन्द्रोदय या आचारचन्द्रोदय)।

चमत्कारचिन्तामणि—नारायण भट्ट द्वारा (बनारस से प्रका०, १८७०); आचारमयूख एवं समयमयूख द्वारा व०। टी० मिताक्षरा। टी० अन्वयार्थ-दीपिका, धर्मेश्वर द्वारा। टी० नारायण द्वारा।

चमत्कारचिन्तामणि—राजर्षिभट्ट द्वारा (जैसा कि नि० सि० का कथन है)। यह फलितज्योतिष पर है। १५५० ई० के पूर्व। पाण्डु० की तिथि सं० १६५७ (१६००-१६०१ ई०)।

चमत्कारचिन्तामणि—वैद्यनाथ द्वारा। ब्राह्म (गर्भाधान आदि) एवं दैव (पाकयज्ञ आदि) नामक दो प्रकार के संस्कारों पर; गर्भाधान एवं अन्य संस्कारों के मुहूर्तों एवं मलमासकृत्याकृत्य पर। ड० का० (सं० ११२, १८९५-१९०२, सं० १७१९ में प्रतिलिपि)।

चलाचलमूर्तिप्रतिष्ठा।

चलार्चा—(बौधायन के अनुसार)। दे० बी० बी० आर० ए० एस० (जिल्द २, पृ० २४३)।

चलार्चापद्धति—अनन्तदेव द्वारा।

चलार्चापद्धति—नारायणकृत; गृह्यपरिशिष्ट, त्रिविक्रमपद्धति, कालादर्श, पुरुषार्थबोध, शारदातिलक एवं बोपदेव पर आधृत। १४५० ई० के उपरान्त।

चाणक्यनीति—केस्लर द्वारा सम्पादित।

चाणक्यनीति—(या चाणक्यराजनीति या चाणक्य-शतक)। ६६० श्लोकों में एक वृद्ध-चाणक्य भी है, लघु-चाणक्य भी है।

चाणक्यनीतिदर्पण—गजानन कृत।

चाणक्यनीतिसारसंग्रह—१०८ श्लोकों में। इसमें आया है—'मूलमंत्र प्रवक्ष्यामि चाणक्येन यथोदितम्।'

चाणक्यराजनीतिशास्त्र—कलकत्ता ओ० सी० (सं० २, १९२१) में प्रका०।

चाणक्यसप्तति।

चाणक्यसारसंग्रह।

चाणक्यसूत्र—डा० शामशास्त्री के संस्करण में कौटिलीय के अन्त में मुद्रित।

चातुराश्रम्यधर्म—श्रीकण्ठायन द्वारा।

चातुर्मास्यकारिका—गोपाल द्वारा।

चातुर्वर्ण्यधर्मसंग्रह।

चातुर्वर्ण्यविचार—गंगादत्त द्वारा।

चातुर्वर्ण्यविवरण—गंगाधर द्वारा।

चातुर्वर्ण्यविवेचन—धरणीधर द्वारा।

चारायणीयगृह्यपरिशिष्ट—हेमाद्रि द्वारा व०।

चारुचर्या—क्षेमेन्द्र द्वारा (काव्यमाला सी० में प्रका०)।

चारुचर्या—भोजराज द्वारा।

चूडाकरणकेशान्तौ।

चूडाकर्म—दत्तपण्डित द्वारा।

चूडाकर्मप्रयोग।

चौलोपनयन—(विश्वनाथ की विश्वप्रकाशपद्धति से)।

चौलोपनयनप्रयोग।

छन्दोगकर्मानुष्ठानपद्धति—भवदेव भट्ट द्वारा। दे० 'छन्दोगपद्धति'।

छन्दोगगृह्य—दे० 'गोभिलगृह्य'। टी० (भाष्य) हरदत्त द्वारा अनाविला में व०।

छन्दोगपद्धति—भवदेव भट्ट द्वारा; दे० प्रक० ७३। टी० संस्कारपद्धतिरहस्य रामनाथ कृत, शक सं० १५४४।

छन्दोगपरिशिष्ट—हेमाद्रि द्वारा व०। टी० रुद्रधर के

श्राद्धविवेक में व०। टी० प्रकाश, गोण के पुत्र एवं उमापति (बड़े प्रभाकर एवं जयपाल राजा द्वारा संरक्षित) के पौत्र। दे० 'कर्मप्रदीप'। टीका की टीका सारमंजरी, श्रीनाथ (श्रीकराचार्य के पुत्र) द्वारा। टी० की टी० हरिराम द्वारा। टी० की टी० हरिहर द्वारा। टी० चक्रधर के पुत्र आशाधर या आशार्क द्वारा।

छन्दोगप्रायश्चित्त।

छन्दोगश्राद्ध।

छन्दोगश्राद्धतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। टी० रामकृष्णात्मज राधावल्लभ के पुत्र काशीराम द्वारा।

छन्दोगश्राद्धदीपिका—श्रीकर के पुत्र श्रीनाथ द्वारा।

छन्दोगानीयाह्निक—विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा। इण्डि० आ० (१, पृ० ९५, पाण्डु० सं० १८१०, १७५३-४ ई०)। लग० १६४० में प्रणीत।

छन्दोगाह्निक—सदानन्द द्वारा।

छन्दोगाह्निकपद्धति—रामकृष्ण त्रिपाठी द्वारा।

छन्दोगाह्निकोद्धार—भवनाथ मिश्र के पुत्र शंकरमिश्र द्वारा। दे० 'प्रायश्चित्तप्रदीप।'

छन्दोपहारावलि।

छागलेयस्मृति—मिताक्षरा, हेमाद्रि, माधवाचार्य में व०।

जगद्वल्लभा—भारद्वाजगोत्र के श्रीवल्लभाचार्य द्वारा। २४ से अधिक प्रकरणों में।

जगन्नाथप्रकाश—सूरमिश्र द्वारा। जगन्नाथ की आज्ञा से प्रणीत (जगन्नाथ काम्बोज कुल के थे)। दे० मित्र०, नो० (जिल्द ५, पृ० १०९)। पाण्डु० सं० १८३८ (१७८२-३ ई०) में उतारी गयी। दस प्रभाओं में लिखित है।

जटमल्लविलास—श्रीधर द्वारा जटमल्ल के आदेश से संगृहीत। जटमल्ल दिल्ली के राजा के एकमात्र मन्त्री ढील के पुत्र बालचन्द्र चायमल्ल के छोटे भाई थे। यह कुल कोसल देश के मन्दिर से निकला था और इसकी राजधानी स्वर्णपुरी थी। इस ग्रन्थ में आचार, काल, श्राद्ध, संक्रान्ति, मलमास, संस्कार, आशौच एवं शुद्धि का वर्णन है। इण्डि० आ० में तिथि ठीक नहीं है—'वानान्नबाणक्षिति (? रत्नाक्षबाणक्षिति, १५५९) विक्रम सं०। लग० १५०० ई०। इसमें कालनिर्णय, कालादर्श, प्रासाददीपिका का उल्लेख है।

जनिदोषप्रतिकार—पाण्डु० बड़ोदा (सं० २३६५), तिथि १५६५ सं० (१५०८-९ ई०)।

जन्मदिनकृत्यपद्धति।

जन्मदिवसपूजापद्धति।

जन्ममरणविवेक—वाचस्पति द्वारा (बड़ोदा, सं० १२७७४)। इसमें आशौच एवं श्राद्ध का वर्णन है।

जन्माष्टमीतत्त्व—(या जन्माष्टमीव्रततत्त्व) रघुनन्दन द्वारा।

जन्माष्टमीनिर्णय—विट्ठलेश्वर द्वारा।

जयतुंग—निर्णयसिन्धु में व०।

जयन्तकारिका।

जयन्तीनिर्णय—(कृष्णजन्माष्टमी पर) आनन्दतीर्थ द्वारा।

जयन्तीनिर्णय—रामानुज योगीन्द्र के शिष्य एवं आत्रेय कृष्णार्य के पुत्र गोपाल देशिक द्वारा।

जयमाधवमानसोल्लास—गोरक्षपुर (आधुनिक गोरखपुर) के जयसिंहदेव द्वारा। ये नारायण के भक्त थे। ग्रन्थ में सभी धार्मिक कृत्यों (नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य) का वर्णन है। ड० का० (सं० २४१, १८८१-८२) के अन्त में हरिदास राजपण्डित द्वारा प्रशस्ति है।

जयसिंहकल्पद्रुम—वाराणसी के पण्डित श्रीदेवभट्ट के पुत्र, शाण्डिल्यगोत्रीय रत्नाकर द्वारा (यह एक विशाल ग्रन्थ है, ९०० पृ० में, १९२५ ई० में लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस कल्याण में, मुद्रित)। काल, व्रत, श्राद्ध, दान आदि पर १९ स्तवकों में। काल-स्तवक की रचना जयसिंह के आश्रय में हुई, जिसने उज्जयिनी में ज्योतिष्टोम किया, पौण्डरीक भी। उसकी अम्बिका नगरी का भी वर्णन है। वि० सं० १७७० (१७१३ ई०)। इसमें जयसिंह (जो शिवाजी को दिल्ली ले गया था) की वंशावली दी हुई है—रामसिंह— कृष्णसिंह— विष्णुसिंह— जयसिंह।

इसे दुर्गोद्योत भी कहा जाता है। अलवर (उद्धरण ३०५); बम्बई में मुद्रित, १९०३।

जयानिर्बन्ध—(निबन्ध ?) चण्डेश्वर के कृत्यरत्नाकर (पृ० १६६) में व०।

जयाभिषेकप्रयोग—रघुनाथ द्वारा।

जयार्णव—नि० सि० एवं पारस्करगृह्यसूत्रभाष्य में गदाधर द्वारा व०। दे० युद्धजयार्णव।

जलयात्रा।

जलाशयप्रतिष्ठा—भागुणिमिश्र द्वारा।

जलाशयारामोत्सर्गविधि—(या पद्धति) (१) रामेश्वर के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा; रूपनारायण को उ० करता है; १५१३-१५७५ ई०; दे० प्रक० १०। (२) कमलाकर द्वारा; दे० प्रक० १०६।

जलाशयोत्सर्गतत्त्व—रघुनन्दन कृत (जीवानन्द द्वारा प्रका०) दे० प्रक० १०२।

जातकर्म—संस्कारभास्कर से।

जातकर्मपद्धति—केशवभट्ट द्वारा।

जातकर्मपद्धति—दामोदर द्वारा।

जातकर्मादिपालाशकर्मान्त—बापण्णभट्ट द्वारा।

जातरिष्टयादिनिर्णय—विद्यार्णव द्वारा; नो० न्यू० (२, पृ० ५५-५६)।

जातिनिर्णय—बड़ोदा (सं० ११००३) कायस्थ आदि पर।

जातिमाला—रुद्रयामलतन्त्र का एक अंश।

जातिमाला—विभिन्न हिन्दू जातियों की उत्पत्ति पर। दे० नो० (जिल्द २, पृ० १५१)।

जातिमाला—मुद्गल एवं ज्ञापाम्बिका के पुत्र सोमनाथ द्वारा, जिनकी उपाधि सकलकल थी और जो जलग्राम के निवासी थे। लक्ष्मीनिन्दा, वैराग्य एवं पार्वतीस्तुति नामक तीन भागों में, किन्तु धर्म एवं जातियों पर कुछ भी नहीं है। ड० का० (सं० ३०२, १८८४-८६)।

जातिमाला—पराशरपद्धति से। स्टीन (पृ० ९४)।

जातिविवेक—शेषकृष्णकृत। शूद्राचारशिरोमणि एवं नृसिंहप्रसाद में वर्णित।

जातिविवेक—कृष्णगोविन्द पण्डित द्वारा। वर्णाश्रमधर्मदीपिका नामक एक विशाल ग्रन्थ का अंश।

जातिविवेक—त्र्यम्बक द्वारा।

जातिविवेक—नारायण भट्ट द्वारा (बड़ोदा, सं० १११४७)।

जातिविवेक—पराशर द्वारा।

जातिविवेक—रघुनाथ द्वारा।

जातिविवेक—विश्वनाथ द्वारा (नो०, जिल्द ९, पृ० १७९)। स्टीन के कैटलाग में इसे 'विवेकसंग्रह' कहा गया है (पृ० ८९)।

जातिविवेक—विश्वेश्वरभट्ट द्वारा (सम्भवतः 'कायस्थ-धर्मप्रदीप' का प्रथम भाग)।

जातिविवेक—प्रत्यण्डपुर (महाराष्ट्र में पराण्ड ?) के विश्वनाथ-पौत्र, शार्ङ्गवर-पुत्र, वासिष्ठ गोत्र के व्यास गोपीनाथ कवि द्वारा। तीन उल्लासों में। पाण्डु० (इण्डि० आ०, जिल्द ३, पृ० ५१९, सं० १६३९) की तिथि शक सं० १५६४ (१६४२ ई०) है। पीटर्सन (अलवर, सं० १३२३) के मत से यह विश्वम्भरवास्तुशास्त्र का एक भाग है, जो हेमाद्रि द्वारा उ० है, पिता का नाम व्यासराज है; जो पहले विश्वनाथ कहा जाता था और पितामह का नाम समराज।

जातिविवेकशतप्रश्न—सायण कृत कहा गया है।

जातिविवेकसंग्रह—विश्वनाथ द्वारा।

जातिसांकर्य—शिवलाल सुकुल द्वारा।

जातिसांकर्यवाद—अनन्तात्वार द्वारा।

जातिसांकर्यवाद—वेणीराम शाकद्वीपी द्वारा।

जिकनीयनिबन्ध—शूलपाणि के दुर्गोत्सवविवेक में एवं कुल्लूक द्वारा व०।

जीर्णोद्धारविधि—(त्रिविक्रम के अनुसार) मन्दिर, देवप्रतिमा आदि के जीर्णोद्धार पर। नो० (जिल्द १०, पृ० २७१)।

जीवच्छ्राद्धप्रयोग—रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा।

जीवच्छ्राद्धप्रयोग—शौनक द्वारा।

जीवत्पितृककर्तव्यनिर्णय—रंगोजिभट्ट के पुत्र बालकृष्ण भट्ट द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० ६४), पाण्डु० की तिथि सं० १७८५ है।

जीवत्पितृककर्तव्यनिर्णय—बालकृष्ण पायगुण्डे द्वारा (बड़ोदा, सं० ३५८ एवं ५५४९)।

जीवत्पितृककर्तव्यनिर्णय—(या कर्मनिर्णय) रामेश्वरात्मज नारायण भट्ट के पुत्र रामकृष्ण भट्ट द्वारा। लग० १५७०-९० ई०।

जीवत्पितृककर्तव्यसंचय—कृष्णभट्ट द्वारा।

जीवत्पितृकविभागव्यवस्था—व्रजराज के पुत्र मधुसूदन गोस्वामी द्वारा।

जीवत्पितृकविभागसारसंग्रह—उपर्युक्त का संक्षिप्त रूप (अलवर, सं० १३२४)। संवत् १८१२ (१७५५-६ ई०) में प्रतिलिपि की गयी।

जीवश्राद्ध—ऑफ्रेक्ट०, सं० ६११।

जैमिनिगृह्य—डा० कैलैण्ड (पंजाब ओरिएण्टल सी०, १९२२) द्वारा सम्पादित। टी० सुबोधिनी, श्रीनिवास द्वारा।

जैमिनिगृह्यमन्त्रवृत्ति।

ज्ञातिभेदविवेक।

ज्ञानभास्कर—(सूर्य एवं अरुण के कथनोपकथन के रूप में) प्रायश्चित्त, कर्म आदि पर प्रकाशों में विभक्त। दे० बीकानेर, पृ० ३९८। बर्नेल (तंजौर, पृ० १३६ बी) के मत से लेखक का नाम दिङमणि है। बड़ोदा की सं० ११३६ इसका एक भाग है (रोगाविकार पर कर्मप्रकाश) एवं १०००० श्लोक तक चला जाता है तथा सं० १०५४६, १४००० श्लोक में एक अन्य है।

ज्ञानमाला—भट्टोत्पल द्वारा। भोज के धर्मप्रदीप, रघुनन्दन के आह्निकतत्त्व में तथा आचारमयूख में व०।

ज्ञानरत्नावलि—हेमाद्रि, नृसिंहप्रसाद (दानसार), कुण्डकौमुदी में व०। १२५० ई० के पूर्व।

ज्ञानांकुर—राघवेन्द्रचट्ट के पुत्र चूडामणि द्वारा। चार स्तवकों में।

ज्ञानानन्दतरंगिणी—कृष्णानन्द द्वारा (संस्कारों पर)।

ज्येष्ठाविधान।

ज्योतिःकालकौमुदी—रघुनन्दन द्वारा व०।

ज्योतिःसागर—गदाधर के कालसार एवं नि० सि० में व०।

ज्योतिःसागरसार—मथुरेश द्वारा।

ज्योतिःसागरसार—विद्यानिधि द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० १३४)। पाण्डु० तिथि शक सं० १६७० (१७४८ ई०)।

ज्योतिःसार—धर्मप्रवृत्ति एवं गोविन्दार्णव में व०।

ज्योतिःसारसंग्रह—रघुनन्दन द्वारा ज्योतिस्तत्त्व तथा मदनपारिजात में व०।

ज्योतिःसारसंग्रह—हृदयानन्द विद्यालंकार द्वारा।

ज्योतिःसारसमुच्चय—रघुनन्दन द्वारा।

ज्योतिःसारसमुच्चय—देवशर्मा के पुत्र नन्द द्वारा।

ज्योतिरर्णव—गोविन्दार्णव एवं सं० कौ० में व०।

ज्योतिर्निबन्ध—शूद्रकमलाकर, संस्कारमयूख एवं शुद्धिमयूख में व०।

ज्योतिर्नृसिंह—गोविन्दार्णव एवं भट्टोजि के चतुर्विंशतिमत व्याख्यान में व०।

ज्योतिषरत्न—सिद्धेश्वर के संस्कारभास्कर में व०।

ज्योतिषरत्न—केशव तर्कपंचानन द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० ५८)।

ज्योतिषार्णव—शूलपाणि के दुर्गोत्सवविवेक एवं रघुनन्दन द्वारा व०।

ज्योतिषप्रकाश—नारायणभट्ट के प्रयोगरत्न, नि० सि०, गोविन्दार्णव द्वारा व०।

ज्योतिस्तत्त्व—रघुनन्दन द्वारा।

टोडरप्रकाश—रघुनन्दन मिश्र द्वारा; राजा टोडरमल के आश्रय में।

टोडरानन्द—दे० प्रक० १०४।

ढुण्ढिप्रताप—महाराज ढुण्ढि के आश्रय में विश्वनाथ द्वारा। वर्ष के प्रत्येक दिन के कृत्यों पर। पाण्डु० शक १५८९ (१६६७-६८ ई०) में उतारी गयी (बर्नेल, तंजौर, पृ० १३६ बी)।

तत्त्वपद्धति—नारायणभट्ट की अन्त्येष्टिपद्धति में, रघुनन्दन के श्राद्धतत्त्व (१, पृ० २१३) एवं शूद्रकमलाकर में व०। १५२५ ई० के पूर्व।

तडागप्रतिष्ठा।

तडागादिपद्धति—टोडरमल्ल द्वारा (टोडरानन्द का एक भाग)।

तडागादिप्रतिष्ठापद्धति—धर्मकर उपाध्याय द्वारा।

तडागादिप्रतिष्ठाविधि—मधुसूदन गोस्वामी द्वारा।

तडागोत्सर्गतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा।

तत्त्वकौमुदी—गोविन्दानन्द कविकङ्कणाचार्य द्वारा। यह शूलपाणि के श्राद्धविवेक पर एक टीका है।

तत्त्वकौस्तुभ—भट्टोजिदीक्षित द्वारा (बड़ोदा, सं० ३७६) केलदी वेंकटेश के आदेश से लिखित। तन्त्राधिकार, तप्तमुद्राधारण एवं लिंगधारण के प्रश्नों पर एक निबन्ध।

तत्त्वदीप—त्र्यम्बक द्वारा।

तत्त्वनिर्णय—महामहोपाध्याय वटेश्वर के पुत्र पक्षधर द्वारा। दे० मित्र, नो० (जिल्द ५, पृ० १५५)। पाण्डु० शक १६६१ में उतारी गयी।

तत्त्वप्रकाश—दे० 'शिवतत्त्वप्रकाशिका।'

तत्त्वमुक्तावली—दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २१७, सं० ६८७)। सम्भवतः निम्नोक्त ग्रन्थ। टी०, दे० वही।

तत्त्वमुक्तावली—नन्दपण्डितकृत। दे० प्रक० १०५। इसमें उनके स्मृतिसिन्धु का सारांश है। टी० 'बालभूषा', बालकृष्ण द्वारा। टी० 'बालभूषा', वेणीदत्त द्वारा।

तत्त्वसंग्रह—कोनेरिभट्ट द्वारा।

तत्त्वसागर—हेमाद्रि द्वारा एवं एकादशीतत्त्व तथा तिथितत्त्व में रघुनन्दन द्वारा तथा आचारमयूख में व०।

तत्त्वसार—रघु० के मलमासतत्त्व में व०।

तत्त्वसारसंहिता—हेमाद्रि द्वारा व०।

तत्त्वामृतधर्मशास्त्र—दे० 'स्मृतितत्त्वामृत'।

तत्त्वामृतसारोद्धार—वर्धमान द्वारा। उनके स्मृतितत्त्व-विवेक या तत्त्वामृत का संक्षेप; आचार, श्राद्ध, शुद्धि एवं व्यवहार नामक चार कोशों में विभक्त। मिथिला के राजा राम के शासन काल में प्रणीत। १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में। व्यवहारकोश में उनके दण्डविवेक का उल्लेख है।

तत्त्वार्थकौमुदी—गोविन्दानन्द कविकंकणाचार्य द्वारा। शूलपाणि के प्रायश्चित्तविवेक की एक टीका (जीवानन्द द्वारा प्रका०)।

तत्त्वार्थदीप।

तन्त्रप्रकाश—आह्निकतत्त्व में रघु० द्वारा व०।

तन्त्रसारपंचरत्न—इसकी टी० का नाम तन्त्रसार-प्रकाशिका है।

तप्तमुद्राखण्डन—अप्पयदीक्षित द्वारा (शरीर पर चिह्नाङ्कन के विरोध में, जैसा कि वैष्णव करते हैं)।

तप्तमुद्राधारण—(या चक्रमीमांसा) स्मृतिकौस्तुभ से।

तप्तमुद्राविद्रावण—भास्करदीक्षित द्वारा।

तप्तमुद्राविवेक—हरिराय गोस्वामी द्वारा। बड़ोदा (सं० ११५७५)।

तर्पणचन्द्रिका—रामचरण द्वारा।

तारकोपदेशव्यवस्था—अमृतानन्द तीर्थ द्वारा।

तिथिकल्पद्रुम—कल्याण द्वारा।

तिथिकौस्तुभ—(या तिथिदीधितिकौस्तुभ) आपदेव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा।

तिथिचक्र—विश्वनाथ द्वारा। बड़ोदा (सं० ८३३६)।

तिथिचन्द्रिका—पक्षधर मिश्र द्वारा। बिहार, जिल्द १, सं० १४५; पाण्डु० ल० सं० ३४५ (१४६४ ई०) में उतारी गयी।

तिथिचन्द्रिका—हरिदत्त मिश्र द्वारा।

तिथिचन्द्रोदय—अहल्याकामधेनु में व०।

तिथितत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। टी० काशीराम तर्का-लंकार द्वारा; नो० न्यू० (१, पृ० १५५)। टी० काशीराम वाचस्पति द्वारा; नो० न्यू (२, पृ० ७१)। टी० रामचरण विद्यावाचस्पति द्वारा; नो० न्यू० (२, पृ० ७२)।

तिथितत्त्वचिन्तामणि—महेश ठक्कुर द्वारा (बनारस में मुद्रित, १८८७ ई०)।

तिथितत्त्वसार—आपदेव द्वारा।

तिथिदर्पण।

तिथिदीधिति---(अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ का एक अंश)।

तिथिदीपिका--जयराम भट्ट के पुत्र काशीनाथ द्वारा (बड़ोदा, सं० १०७२४)।

तिथिद्वैतनिर्णय--(या तिथिविवेक) शूलपाणि द्वारा।

तिथिद्वैतप्रकरण--(तिथिविवेक) शूलपाणि द्वारा। इसमें संवत्सरप्रदीप एवं स्मृतिसमुच्चय के नाम आये हैं। टी० श्रीकर के पुत्र श्रीनाथशर्मा द्वारा।

तिथिनिर्णय--कालमाधव से।

तिथिनिर्णय--अनन्तभट्ट द्वारा (बड़ोदा, सं० १०६११, तिथि सं० १५८३, अर्थात् १५२६-२७ ई०।

तिथिनिर्णय--कमलाकर द्वारा।

तिथिनिर्णय--गंगाधर द्वारा।

तिथिनिर्णय--गोपाल द्वारा।

तिथिनिर्णय--गोविन्दभट्ट बुद्धिल द्वारा। अलवर (सं० १३२६)। पोटर्सन का यह कहना कि वह कालरघूत्तम की प्रशंसा करता है भ्रामक है। यहाँ रघूत्तम विष्णु के अवतार हैं, जो 'काल' एवं 'ब्रह्म' के समान कहे गये हैं।

तिथिनिर्णय---दयाशंकर द्वारा।

तिथिनिर्णय---देवदास मिश्र द्वारा।

तिथिनिर्णय--शिव के पुत्र नागदेव द्वारा। नि० सि० पर आवृत।

तिथिनिर्णय--नागोजिभट्ट द्वारा।

तिथिनिर्णय--नारायण भट्ट द्वारा।

तिथिनिर्णय--पक्षधर मिश्र द्वारा।

तिथिनिर्णय--बालकृष्ण भारद्वाज द्वारा। हेमाद्रि पर निर्भर है।

तिथिनिर्णय---भट्टोजि द्वारा (बनारस एवं बम्बई से प्रका०)।

तिथिनिर्णय---मथुरानाथ शुक्ल द्वारा।

तिथिनिर्णय---महादेव द्वारा।

तिथिनिर्णय---माधव द्वारा (कालनिर्णय का एक अंश)।

तिथिनिर्णय--रघुनाथ द्वारा (सम्भवतः ये राघवभट्ट ही हैं)। विट० एवं कोथ (पृ० २८२) का कथन है कि राघव के तिथिनिर्णय के मुखपृष्ठ पर रघुनाथ लिखा हुआ है।

तिथिनिर्णय---रमापति सिद्धान्त द्वारा। नो० न्यू० (१, पृ० १५६); शक संवत् १६३३ में प्रणीत।

तिथिनिर्णय---राघवभट्ट द्वारा; नि० सि० एवं नीलकण्ठ के नाम आये हैं, अतः १६४० ई० के पूर्व; पाण्डु० १६८१ शक (अर्थात् १७६६ ई०) में उतारी गयी। बम्बई में मुद्रित, १८६४ ई०।

तिथिनिर्णय---गोपाल के शिष्य रामचन्द्र द्वारा। बड़ोदा (सं० १५२४), लग० १४०० ई०। टी० लेखक के पुत्र नृसिंह द्वारा। पाण्डु० सं० १६३८ (१५८२ ई०)।

तिथिनिर्णय---रामप्रसाद द्वारा।

तिथिनिर्णय---वाचस्पति द्वारा।

तिथिनिर्णय---विश्वेश द्वारा; हेमाद्रि, माधव, चमत्कारचिन्तामणि, पुराणसमुच्चय के नाम लिये गये हैं।

तिथिनिर्णय---वैद्यनाथ द्वारा (चमत्कारचिन्तामणि से)।

तिथिनिर्णय---शिवानन्द भट्ट गोस्वामी द्वारा (अलवर, सं० १३२९)।

तिथिनिर्णय---शुभङ्कर द्वारा।

तिथिनिर्णय---सिद्धलक्षण द्वारा।

तिथिनिर्णय---सुदर्शन द्वारा।

तिथिनिर्णय---माधवाचार्य के लघुमाधवीय से।

तिथिनिर्णय---स्मृत्यर्थसार से।

तिथिनिर्णयकारिका---कौशिक गोत्र के गोविन्दाचार्यपुत्र श्रीनिवासाचार्य द्वारा।

तिथिनिर्णयचक्र---विश्वनाथ द्वारा (बड़ोदा, सं० ८३३६)।

तिथिनिर्णयतत्त्व---शिवनन्दन नाग द्वारा।

तिथिनिर्णयदीपिका---शम्भु के पुत्र रामदेव द्वारा।

तिथिनिर्णयमार्तण्ड---कृष्णमित्राचार्य द्वारा।

तिथिनिर्णयसंक्षेप---(या तिथिनिर्णय) लक्ष्मीधर के पुत्र भट्टोजि द्वारा।

तिथिनिर्णयसंग्रह---रामचन्द्र द्वारा। अनन्तभट्ट के तिथिनिर्णय का संक्षेप। टी० नृसिंह द्वारा। बड़ोदा, सं०

१५२४, तिथि सं० १६८३, १४०० ई० के उपरान्त।

तिथिनिर्णयसर्वसमुच्चय।

तिथिनिर्णयसार—मदनपाल द्वारा। दे० प्रक० ९३।

तिथिनिर्णयेन्दुशेखर—नागोजिभट्ट द्वारा।

तिथिनिर्णयोद्धार—(या लघुतिथिनिर्णय या निर्णयोद्धार) राघवभट्ट द्वारा। दे० ऊपर तिथिनिर्णय। इसे तिथिसारसंग्रह भी कहा जाता है।

तिथिप्रकाश—गंगादास द्विवेदी द्वारा।

तिथिप्रकाशप्रकाशिका।

तिथिप्रदीप—भट्टोजि द्वारा।

तिथिप्रदीपिका—नृसिंह द्वारा। विद्यारण्य का उल्लेख है।

तिथिप्रदीपिका—रामसेवक द्वारा।

तिथिमञ्जरी—लालभट्ट-महादेव-ज्ञानेश्वर-गणेश द्वारा।

तिथिरत्न—महादेव द्वारा।

तिथिरत्नमाला—चिन्तामणि के पुत्र अनन्तात्मज नीलकण्ठ द्वारा।

तिथिवाक्यनिर्णय—दे० नारायण भट्ट का तिथिनिर्णय।

तिथिविवेक—शूलपाणि द्वारा; रघुनन्दन के तिथितत्त्व में व०। टी० तात्पर्यदीपिका, श्रीकर के पुत्र श्रीनाथ आचार्यचूड़ामणि द्वारा। लग० १४७५-१५२५ ई०। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० ७३-७४)। पाण्डु० १५१२-१३ ई० में उतारी गयी।

तिथिव्यवस्थासंक्षेप।

तिथिसंग्रह—(या सर्वतिथिस्वरूप) सुरेश्वर द्वारा।

तिथीन्दुशेखर—नागेशभट्ट द्वारा।

तिथ्यर्क—भारद्वाज गोत्र के बालकृष्णात्मज महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा; आचारार्क के लेखक (दोनों धर्मशास्त्रसुधानिधि के भाग हैं)। लग० १६८३ ई०। अनुक्रमणिका, उनके पुत्र वैद्यनाथ द्वारा।

तिथ्यर्कपर्वनिर्णय—(बड़ोदा, सं० ५९४७) लेखक का कथन है कि प्रयोगरत्न के लेखक नारायणभट्ट उसकी माता के प्रपितामह थे। अतः लेखक की तिथि लगभग १६५० ई० है।

तिथ्यर्कप्रकाश—दिवाकर द्वारा (क्या यह उपर्युक्त तिथ्यर्क ही है?)।

तिथ्यादितत्त्वनिर्णय—लौगाक्षि भास्कर द्वारा। बड़ोदा (सं० ५७७२, तिथि १६०५ सं०=१५४८-९ ई०)। दीपिका, कालादर्श, माधव एवं निर्णयामृत का उल्लेख है, अतः १४०० ई० के पश्चात्।

तिथ्यादिनिर्णय—गोपीनाथ द्वारा।

तिथ्यादिनिर्णय—पद्मनाभ कृत (योगीश्वरसंग्रह का भाग; पाण्डु० सन् १७०७ ई० में उतारी गयी)।

तिथ्यादिविधिसंग्रह—रघूत्तम तर्कशिरोमणि द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० ७५)।

तिथ्युक्तिरत्नावली—हरिलाल मिश्र द्वारा।

तीर्थकमलाकर—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०६। ग्रन्थ का एक नाम सर्वतीर्थविधि भी है।

तीर्थकल्पलता—अनन्तदेव के पुत्र गोकुलदेव द्वारा।

तीर्थकल्पलता—नन्दपण्डित द्वारा। दे० प्रक० १०५।

तीर्थकल्पलता—वाचस्पति द्वारा।

तीर्थकाशिका—गंगाधर द्वारा व०।

तीर्थकौमुदी—बल्लाल के पुत्र शंकर द्वारा। तीर्थचिन्तामणि का उल्लेख है। यह तीर्थोद्यापनकौमुदी ही है।

तीर्थकौमुदी—सिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य द्वारा।

तीर्थचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र द्वारा। पाँच प्रकाशों में बिब्लि० इण्डि० सी० द्वारा प्रका०, रघु० के शुद्धितत्त्व में एवं नि० सि० में व०। दे० प्रक० ९८।

तीर्थतत्त्व—(या तीर्थयात्राविधि) रघु० कृत। यह उनके स्मृतितत्त्वों के २८ तत्त्वों के अतिरिक्त है।

तीर्थदर्पण—(दे० 'ऋजुप्रयोग') विश्वनाथ के पुत्र भट्टराम (होसिङ्ग उपाधिधारी) द्वारा।

तीर्थनिर्णय—(या कुरुक्षेत्रतीर्थनिर्णय) रामचन्द्र द्वारा।

तीर्थपरिभाषा—व्यास की।

तीर्थमञ्जरी—मुकुन्दलाल द्वारा।

तीर्थयात्रातत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। यह तीर्थतत्त्व ही है। दे० प्रक० १०२।

तीर्थयात्रानिर्णय।

तीर्थरत्नाकर—(या रामप्रसाद) पराशर गोत्रीय माधव के पुत्र रामकृष्ण द्वारा। पाण्डु०, सं० १६९० (१६२४-२५ ई०)। लेखक ने सं० १६०० में काशी में शास्त्रदीपिका पर युक्तिस्नेहप्रपूरणी नामक टी० लिखी। ये प्रतापमार्तण्ड के भी लेखक हैं। लग० १५००-१५४५ ई०।

तीर्थसंग्रह—श्रीधर द्वारा स्मृत्यर्थसार में व०।

तीर्थसंग्रह—साहेबराम द्वारा।

तीर्थसार—नृसिंहप्रसाद का एक भाग।

तीर्थसेतु—वृन्दावन शुक्ल द्वारा।

तीर्थसौख्य—टोडरानन्द का एक अंश।

तीर्थेन्दुशेखर—शिवभट्ट के पुत्र नागोजिभट्ट द्वारा। दे० प्रक० ११०।

तीर्थोद्यापनकौमुदी—बल्लालसूरि के पुत्र शंकर द्वारा। दे० 'व्रतोद्यापनकौमुदी'। लग० १७५३ ई०।

तुलसीकाष्ठमालाधारणनिषेध—नरसिंह द्वारा (बड़ोदा, सं० ३८९४)।

तुलसीचन्द्रिका—राजनारायण मुखोपाध्याय द्वारा।

तुलसीविवाह—(प्रतापमार्तण्ड से लिया गया) अलवर (सं० १३३४, उद्धरण ३१३)।

तुलादान।

तुलादानपद्धति।

तुलादानपुरुषप्रयोग।

तुलादानप्रकरण—सिद्धनाथ द्वारा।

तुलादानप्रयोग—(माध्यन्दिनीय)।

तुलादानप्रयोग—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा। दे० प्रक० १०६।

तुलादानविधि।

तुलापद्धति—कमलाकर द्वारा।

तुलापुरुषदानपद्धति।

तुलापुरुषदानप्रयोग—विट्ठल द्वारा।

तुलापुरुषमहादानपद्धति— पीनाथ द्वारा।

तुलापुरुषमहादानप्रयोग—(या तुलादानविधि) रामेश्वर के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०३।

त्रिंशच्छ्लोकी—(या आशौचत्रिंशच्छ्लोकी) बोपदेव द्वारा। क्या यह निम्नोक्त ही है?

त्रिंशच्छ्लोकी—(या आशौचत्रिंशच्छ्लोकी या सूतककारिका) टीका के साथ सन् १८७६ में काशी से प्रका०। आशौच पर ३० स्रग्धरा छन्दों में। अलवर (सं० १३३९) में यह बोपदेव की कही गयी है। दे० बी० बी० आर० ए० एस० (जिल्द ३, पृ० २०९-२१०), जहाँ यह हेमाद्रि की कही गयी है। टी० विवरण, रामेश्वर-पुत्र माधव के पुत्र रघुनाथ भट्ट द्वारा; लग० १५६०-१६२५ में। टीका पर टीका विवरणसारोद्धार, बालकृष्ण के पुत्र शम्भुभट्ट कविमण्डन द्वारा; नि० सि०, मयूख, भट्टोजिदीक्षित के नाम आये हैं। १६६०-१७१० ई० के बीच। लेखक का कथन है कि उसने त्रिंशच्छ्लोकी पर रघुनाथ की टीका का अनुसरण किया है। टी० आशौचसंग्रह। टी० में भ्रामक ढंग से इसे विज्ञानेश्वर कृत माना गया है। दे० 'दशश्लोकी'। टी० भट्टाचार्य द्वारा (अलवर, सं० १३४१; पाण्डु०, बड़ोदा, सं० ३८८३, तिथि सं० १५७९=१५२२-२३ ई०)। टी० सुबोधिनी, रामकृष्ण के पुत्र कमलाकरभट्टात्मज अनन्त द्वारा। लग० १६१०-१६६० ई०। टी० कृष्णमित्र द्वारा। टी० राघव द्वारा। टी० रामभट्ट द्वारा। टी० विश्वनाथ द्वारा। टी०, दे० इण्डि० आ०, ३, पृ० ५६६, सं० १७५०-५१। टी० रामेश्वर भारती द्वारा। टी० लेखक द्वारा।

त्रिकाण्डमण्डन—(आपस्तम्बसूत्रध्वनितार्थकारिका) कुमारस्वामी के पुत्र भास्करमिश्र सोमयाजी द्वारा (बिब्लि० इण्डि० सी०)। प्रकाशित ग्रन्थ एवं पाण्डु० में अन्तर है। अधिकारिनिरूपण, प्रतिनिधि, पुनराधेय, निमित्त एवं प्रकीर्णक नामक चार प्रकरणों में विभक्त। ऋषिदेव, कर्क, केशवसिद्धान्त, दामोदर, नारायणवृत्ति (आश्वलायनश्रौतसूत्र पर), भवनाग, भरद्वाजसूत्रभाष्यकार, लौगाक्षिकारिका, भर्तृयज्ञ, शालिकनाथ (पूर्वमीमांसा पर), यज्ञपार्श्व, कर्मदीप, विधिरत्न के नाम आये हैं। इसकी बहुत-सी कारि-

काएँ (यद्यपि वे मुख्यतः श्रौतकृत्यों से सम्बन्धित हैं) धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में उद्धृत हैं। लेखक ने धर्म के कतिपय विषयों की चर्चा कर दी है, यथा मलमास (१।१६५-१७७), गौणकाल आदि। हेमाद्रि एवं मदनरत्न द्वारा व०, अतः तिथि १००० ई० के उपरान्त एवं १२०० ई० के पूर्व है। दे० डा० भण्डारकर की रिपोर्ट (१८८३-८४, पृ० ३०-३१)। टी० विवरण। टी० पदप्रकाशिका।

त्रिकालसंध्या।

त्रिपिण्डीश्राद्धप्रयोग—औफ्रेक्ट, ५९१।

त्रिपुष्करशान्तितत्त्व—रघुनन्दन कृत। दे० प्रक० १०२।

त्रिविक्रमपद्धति—नि० सि० में व०।

त्रिविक्रमी—(म्लेच्छों आदि के भय से स्थानान्तरण करने पर मूर्ति-प्रतिष्ठापन के नियम) नो० (जिल्द ९, पृ० २९५)।

त्रिवेणीपद्धति—दिवाकर भट्ट द्वारा (बड़ोदा, सं० ५८४०)।

त्रिस्थलीविधि—हेमाद्रि द्वारा।

त्रिस्थलीसेतु—जयराम भट्ट के पुत्र काशीनाथ भट्ट द्वारा।

त्रिस्थलीसेतु—रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा (आनन्दा०, पूना में प्रका०) प्रथम भाग में सभी तीर्थों से सम्बन्धित कृत्यों का विवेचन है और आगे प्रयाग, काशी एवं गया की तीर्थयात्रा पर विशेष रूप से वर्णन है। लग० १५५०-६० ई० में प्रणीत।

त्रिस्थलीसेतुप्रघट्टक—नागेश द्वारा।

त्रिस्थलीसेतुसार—(या सारसंग्रह या तीर्थयात्राविधि) भट्टोजि द्वारा।

त्रैलोक्यसागर—वाचस्पति मिश्र द्वारा अपने द्वैतनिर्णय में व०; अतः १४०० ई० से पूर्व।

त्रैलोक्यसार—हेमाद्रि, रघुनन्दन द्वारा एवं दानमयूख में व०।

त्रैवर्णिकसंन्यास—कैलास यति द्वारा।

त्रैविक्रमी—दे० 'त्रिविक्रमपद्धति'।

दक्षस्मृति—दे० प्रक० ४३। जीवा० (भाग २, पृ० ३८३-४०२) एवं आनन्दा० (पृ० ७२-८४) में प्रका०। टी० कृष्णनाथ द्वारा। टी० तकनलाल द्वारा।

दक्षिणद्वारनिर्णय—नारायण द्वारा (बड़ोदा, सं० ९१७५)।

दण्डकशान्ति।

दण्डनीतिप्रकरण—(शम्भुराज की नीतिमञ्जरी से उद्धरण)।

दण्डविवेक—गण्डक मिश्र के छोटे भाई एवं भवेश के पुत्र तथा बिल्वपंचग्रामनिवासी वर्धमान द्वारा। सात परिच्छेदों में; १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में; अपराधों, दण्डनिर्णयाधिकार, दण्ड के विभिन्न स्वरूपों पर। नो० (जिल्द ५, पृ० २२५, सं० १९१०; मिथिला के राजा के लिए लिखित। कल्पतरु, कामधेनु, हलायुध, धर्मकोश, स्मृतिसार, कृत्यसार, रत्नाकर, पारिजात, व्यवहारतिलक, प्रदीपिका एवं प्रदीप को अपने लिए प्रामाणिक माना है। यह उनके स्मृतितत्त्वविवेक का एक अंश है।

दत्तककुठार।

दत्तककौमुदी—रामजय तर्कालंकार द्वारा (बंगला लिपि में कलकत्ता से १८२७ ई० में प्रका०)। दत्तकशिरोमणि में संक्षेप; पी० सी० टैगोर के संरक्षण में प्रका०।

दत्तककौस्तुभ—केदारनाथ दत्त द्वारा। कलकत्ता में प्रका०।

दत्तकचन्द्रिका—कुबेर पण्डित द्वारा। कलकत्ता से १८५७ ई० में प्रका०, बड़ोदा में मराठी अनुवाद के साथ प्र०, १८९९। अन्तिम श्लोक की व्याख्या से पता चलता है कि यह रघुमणि द्वारा लिखित है। ऐसा कहा जाता है कि कोलब्रुक के एक पण्डित की यह कपट-रचना है। लेखक का कथन है कि उसने एक स्मृतिचन्द्रिका भी लिखी है। टी० रामेश्वर शुक्ल द्वारा।

दत्तकचन्द्रिका—कोलप्पाचार्य द्वारा।

दत्तकचन्द्रिका—श्रीनिवासाचार्य के पुत्र तोलप्पर द्वारा (बड़ोदा, सं० ६५७२ बी)।

दत्तकचन्द्रिकाटीका—तकनलाल द्वारा।

दत्तकतत्त्वनिर्णय—(या विनिर्णय) हरिनाथ मिश्र द्वारा। नो० (जिल्द ११, भूमिका पृ० ५)।

दत्तकतिलक—भवदेव द्वारा (लेखक के व्यवहारतिलक का एक अंश)। दत्तकशिरोमणि द्वारा संक्षेप।

दत्तकदर्पण—द्वैपायन द्वारा। नो० (१० पृ० ७१)।

दत्तकदीधिति—महामहोपाध्याय अनन्तभट्ट द्वारा। कलकत्ता एवं भवनगर में प्रका०। दत्तकशिरोमणि में सारांश।

दत्तकनिर्णय—तात्याशास्त्री द्वारा।

दत्तकनिर्णय—विश्वनाथ उपाध्याय द्वारा।

दत्तकनिर्णय—शूलपाणि द्वारा (उनके निबन्ध स्मृतिविवेक का एक अंश)। लगभग सम्पूर्ण अंश भरतचन्द्र शिरोमणि के दत्तकशिरोमणि में प्रका०। इसका एक नाम दत्तकविवेक भी है।

दत्तकनिर्णय—श्रीनाथ भट्ट द्वारा।

दत्तकपुत्रविधान—अनन्तदेव द्वारा (सम्भवतः यह दत्तकदीधिति ही है)।

दत्तकपुत्रविधान—नृसिंहभट्ट द्वारा।

दत्तकपुत्रविधि—शूलपाणि द्वारा। यह उपर्युक्त दत्तकनिर्णय ही है।

दत्तकमीमांसा—(या दत्तपुत्रनिर्णयमीमांसा) नन्दपण्डित (विनायक पण्डित) द्वारा (कलकत्ता में भरतचन्द्र शिरोमणि द्वारा प्रका०)। दे० प्रक० १०५। टी० वृन्दावन शुक्ल द्वारा।

दत्तकमीमांसा—माधवाचार्य द्वारा।

दत्तकविधि—नीलकण्ठ के व्यवहारमयूख का एक अंश।

दत्तकविधि—वाचस्पति द्वारा। दे० नो० न्यू० सी० (जिल्द ३, भूमिका, पृ० ७-८)।

दत्तकविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० दत्तकनिर्णय (ऊपर)।

दत्तकसपिण्डनिर्णय।

दत्तकोज्ज्वल—वर्धमान द्वारा, जिन्होंने काली की वन्दना की है। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० १६६)।

दत्तचिन्तामणि—नरसिंह के पुत्र वञ्चेश्वर द्वारा।

दत्तदायप्रकाश—व्रजनाथ विद्यारत्न द्वारा (कलकत्ता में १८७५ में प्रका०)।

दत्तपुत्रतत्त्वविवेक—वासुदेव भट्ट द्वारा (स्टीन, पृ० ३०७)।

दत्तपुत्रविचार—गोविन्द वासुदेव भट्ट द्वारा (बड़ोदा, सं० १०७०१ बी)।

दत्तपुत्रविधि।

दत्तमञ्जरी।

दत्तरत्नप्रदीपिका—श्रीनिवासाचार्य द्वारा।

दत्तरत्नाकर—धर्मराजाध्वरीन्द्र (माधवाध्वरीन्द्र के पुत्र) द्वारा। इसमें विज्ञानेश्वर, कालामृत, वरदराजीय, दत्तकसंग्रह, कालनिर्णय, दत्तमीमांसा का उल्लेख है। १६५० ई० के उपरान्त।

दत्तरत्नार्णव—सीतारामशास्त्री द्वारा (बड़ोदा, सं० ७२०४)।

दत्तविधि—वैद्यनाथ द्वारा।

दत्तसंग्रह—भीमसेन कवि द्वारा।

दत्तसिद्धान्तमंजरी—देवभद्र दीक्षित के पुत्र बालकृष्ण द्वारा। लेखक फलनितकर कुल का है और उसके गुरु अद्वैतानन्द थे।

दत्तसिद्धान्तमञ्जरी—भट्ट भास्करपण्डित द्वारा।

दत्तसिद्धान्तमन्दारमंजरी।

दत्तस्मृतिसार।

दत्तहोमानुक्रमणिका।

दत्तादर्श—माधव पण्डित द्वारा।

दत्तार्क—नृसिंहात्मज माधव के पुत्र दादा करजगि द्वारा। गोदावरीय नासिक में कृष्णाचार्य के शिष्य। लेखन-काल शक १६९१ (१७६९ ई०)। निर्णयसिन्धुकार एवं मयूखकार के नाम उल्लिखित हैं।

दत्तार्चनकौमुदी—(या दत्तात्रेयपद्धति) चैतन्यगिरि द्वारा।

दत्तार्चनविधिचन्द्रिका—रामानन्द यति द्वारा।

दत्ताशौचव्यवस्थापनवाद—रामशंकर के पुत्र रामसुब्रह्मण्यशास्त्री द्वारा। १८वीं शताब्दी के अन्त में।

दन्तधावनविधि।

दर्शनिर्णय—सरस्वतीवल्लभ के पुत्र रंगनाथात्मज वेंकटनाथ वैदिकसार्वभौम द्वारा। जयन्तीनिर्णय, एकादशीनिर्णय आदि विषयों पर। सम्भवतः यह लेखक के स्मृतिरत्नाकर का एक अंश है। नो० (जिल्द ८, पृ० १४)। स्मृतिचन्द्रिका, कालनिर्णय, अखण्डादर्श का उल्लेख है।

दर्शश्राद्ध—विश्वनाथ होसिंग के पुत्र रामभट्ट द्वारा।

दर्शश्राद्धपद्धति—रघुनाथ कृत। हेमाद्रि के ग्रन्थ पर आधृत।

दर्शश्राद्धप्रयोग—भट्ट गोविन्द द्वारा (बड़ोदा, सं० १६७७, तिथि शक १६८०)।

दर्शश्राद्धप्रयोग—शिवराम द्वारा।

दर्शसञ्चिका।

दशकर्मदीपिका—(या पद्धति) पशुपति द्वारा (काण्व यजुर्वेदियों के लिए)। लेखक हलायुध का ज्येष्ठ भाई एवं बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन का पण्डित था, अतः तिथि लग० ११६८-१२०० ई० है।

दशकर्मपद्धति—ऋग्वेदियों के लिए (गर्भाधान आदि पर) महामहोपाध्याय कालेसि द्वारा। नो० (जिल्द २, पृ० ६१)।

दशकर्मपद्धति—हरिशंकर के पुत्र गणपति द्वारा।

दशकर्मपद्धति—नारायण भट्ट द्वारा।

दशकर्मपद्धति—पृथ्वीधर द्वारा।

दशकर्मपद्धति—भवदेव भट्ट द्वारा। इसका नाम दशकर्मदीपिका या कर्मानुष्ठानपद्धति भी है। छन्दोगशाखा के अनुसार। दे० प्रक० ७३।

दशकर्मपद्धति—वाजसनेयियों के लिए रामदत्त मैथिल द्वारा। यह 'गर्भाधानादिदशसंस्कारपद्धति' ही है।

दशकर्मव्याख्या—हलायुध द्वारा (ब्राह्मणसर्वस्व का एक भाग)।

दशकालनिर्णय।

दशधेनुदानपद्धति—(या विधि) हेमाद्रि के दानखण्ड का एक भाग।

दशनिर्णय—रङ्गनाथ के पुत्र वेंकटनाथ वैदिकसार्वभौम द्वारा।

दशनिर्णय—(उपवास एवं उत्सवों पर) प्रयोगचन्द्रिका में व०।

दशपुत्राह्निक—दशपुत्र कुल के प्रभाकर-पुत्र आनन्द द्वारा।

दशमुखकोटिहोमप्रयोग—देवभद्र पाठक द्वारा (बड़ोदा, सं० १०९६३)।

दशविधविप्रपद्धति।

दशश्लोकी—(विज्ञानेश्वर की कही गयी है) अशौच पर। यह उपर्युक्त आशौचदशक ही है। टी० लक्ष्मीधर के पुत्र भट्टोजि द्वारा। हुल्श (३, पृ० १०१) में भट्टोजि का कथन वर्णित है 'विज्ञानेश्वर-मदनपारिजातकारत्रिंशच्छ्लोकीकारप्रभृतयस्तु ब्राह्मणस्यं वैश्यानुगमने पक्षिणीत्याहुः', जिससे प्रकट होता है कि उन्होंने त्रिंशच्छ्लोकी के लेखक को विज्ञानेश्वर से भिन्न माना है।

दशसंस्कारपद्धति—यह गर्भाधानादिदशसंस्कारपद्धति है।

दशसंस्कारप्रकरण।

दशाविकालनिर्णय।

दशाहकर्म।

दशाहविवाह—वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा।

दानकमलाकर—कमलाकर भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०६।

दानकल्प—अहल्याकामधेनु में उ०।

दानकल्पतरु—लक्ष्मीधर कृत (कल्पतरु का एक भाग)। दे० प्रक० ७७।

दानकाण्डपर्व—प्रतापराज साम्बाजी द्वारा ('परशुराम-प्रताप' से)।

दानकाण्डसंक्षेप।

दानकौतुक—'हरिवंशविलास' (नन्दपण्डित कृत) से उद्धृत।

दानकौमुदी—रामजय तर्कालंकार द्वारा।

दानकौमुदी—(या दानक्रियाकौमुदी) गोविन्दानन्द द्वारा (लग० १५००-१५४० ई०)। लेखक की श्राद्ध-क्रियाकौमुदी में व०। दे० प्रक० १०७; बिब्लि० इण्डि० सी० में प्रका०।

दानकौस्तुभ—अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ से।

दानचन्द्रिका—गौतम द्वारा।

दानचन्द्रिका—जयराम द्वारा (हेमाद्रि का उद्धरण)।

दानचन्द्रिका—महादेव के पुत्र एवं रामेश्वर के पौत्र दिवाकर द्वारा। उपाधि 'काल'। दानोद्द्योत, दानरत्न, दानमयूख एवं व्रतार्क के नाम आये हैं। दानसंक्षेपचन्द्रिका नाम भी है। १६६० ई० के उपरान्त। बनारस में १८६४ ई० एवं बम्बई में १८८० एवं १८८४ में प्रकाशित।

दानचन्द्रिका—नीलकण्ठ द्वारा।

दानचन्द्रिका—श्रीकर के पुत्र श्रीनाथ आचार्यचूड़ामणि द्वारा। लग० १४७५-१५२५ ई०।

दानचन्द्रिकावली—श्रीधरपति द्वारा।

दानतत्त्व।

दानदर्पण—रघुनन्दन के शुद्धितत्त्व (२, पृ० २५०) एवं तिथितत्त्व में व०।

दानदिनकर—दिनकर के पुत्र दिवाकर द्वारा।

दानदीधिति—भास्कर के पुत्र नीलकण्ठ द्वारा।

दानदीपवाक्यसमुच्चय।

दानधर्मप्रक्रिया—कृष्णदेव सन्मिश्र मैथिल के पुत्र भवदेव भट्ट द्वारा। भूपाल का नाम आया है। चार काण्डों में। पाण्डु०, मित्र, नो० (५, पृ० १४४)। तिथि शक १५५८ (१६३६-७ ई०)।

दानपञ्जी—(या पञ्जिका) द्रोणकुल के देवसिंह के पुत्र नवराज द्वारा। नो० (५, पृ० १५०)। पीटर्सन (५वीं रिपोर्ट, पृ० १७७) ने 'नरराज' पढ़ा है और कहा है कि नरराज के आदेश से सूर्यकर ने संगृहीत किया है।

दानपञ्जी—रत्नाकर ठक्कुर द्वारा। दानसागर का संक्षेप है।

दानपञ्जी—सूर्यकरशर्मा द्वारा। दे० 'नवराज' भी।

दानपद्धति—(षोडशमहादानपद्धति) मिथिला के कर्णाट राजा नृसिंह के मन्त्री रामदत्त द्वारा। लेखक चण्डेश्वर के चचेरे भाई थे। १४वीं शती के पूर्वार्ध में (इण्डि० आ०, ३, पृ० ५५०, सं० १७१४)। इसे भवशर्मा कृत कहा गया है, जो खौपालवंश में उत्पन्न हुए थे और अग्निहोत्री थे।

दानपरिभाषा—नीलकण्ठ द्वारा।

दानपरीक्षा—श्रीधर मिश्र द्वारा।

दानपारिजात—काण्व कुल के जन्हु के पुत्र नागदेव या नागेश के पुत्र अनन्तभट्ट द्वारा।

दानपारिजात—क्षेमेन्द्र द्वारा।

दानप्रकरण।

दानप्रकार।

दानप्रकाश—मित्र मिश्र का (वीरमित्रोदय का अंश)। दे० प्रक० १०८।

दानप्रदीप—दयाराम द्वारा।

दानप्रदीप—दयाशंकर द्वारा।

दानप्रदीप—गुर्जर देश के विष्णुशर्मा के पुत्र महामहोपाध्याय माधव द्वारा।

दानफलविवेक।

दानफलव्रत—पति से विरोध होने पर पत्नियों द्वारा या पुत्रों से विरोध होने की आशंका से स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले कृत्यों का वर्णन (इण्डि० आ०, जिल्द ३, पृ० ५७७)।

दानभागवत—वर्णी कुबेरानन्द द्वारा। संग्रामसिंह के काल में प्रणीत। यह एक विशद ग्रन्थ है और पुराणों एवं पौराणिक कृत्यों के विषय में बहुमूल्य है एवं पुराणों पर आधृत धर्म के विषयों पर प्रकाश डालता है। ड० का० (पाण्डु० सं० २६५, १८८७-९१)। इसमें 'नागरी' (अक्षरों के लिए प्रयुक्त) शब्द की व्युत्पत्ति है। बोपदेव के संकेत से तिथि १३०० के उपरान्त।

दानमञ्जरी—व्रजराज द्वारा।

दानमनोहर—त्रिपाठी परमानन्द के पुत्र सदाशिव द्वारा। गौड़ेश महाराज मनोहरदास की आज्ञा से सं० १७३५ (१६७८-७९ ई०) में प्रणीत।

दानमयूख—शंकरभट्ट के पुत्र नीलकण्ठ द्वारा। १७वीं शती के पूर्वार्ध में। काशी सं० सी० एवं घरपुरे द्वारा बम्बई से प्रका०।

दानमहिमा।

दानमुक्तावली।

दानरत्न—दानचन्द्रिका में व०।

दानरत्न—अनूपविलास का एक अंश।

दानरत्नाकर—चण्डेश्वर द्वारा। दे० प्रक० ९०।

दानरत्नाकर—होशिंग कुल के मुद्गल-पुत्र भट्टराम द्वारा। मरुदेशस्थ जोधपुर के राजा अनूपसिंह के आदेश से संगृहीत। अनूपसिंह की वंशावली दी हुई है; बीका ने बीकानेर बसाया। भट्टराम ने राजा की आज्ञा से निम्न पाँच ग्रन्थ रचे—अनूपविवेक (शालग्रामपरीक्षण), सन्तानकल्पलतिका, अनूपकुतुकार्णव, अमृतमंजरी (विषों के मार्जनों पर) एवं चिकित्सा-मालतीमाला। लग० १६०५ ई०।

दानवाक्य।

दानवाक्यसमुच्चय—योगीश्वर द्वारा (बड़ोदा, सं० १०५१३; संवत् १५८७ (१६३०-३१ ई०)। ड० का० (पाण्डु० ३३२), १८८०-८१।

दानवाक्यसमुच्चय—योगीश्वर द्वारा। भोजदेवसंग्रह में व०। पाण्डु० शक १२९७ (१३७५ ई०) में उतारी गयी।

दानवाक्यावलि—नरराज द्वारा।

दानवाक्यावलि—विद्यापति द्वारा। मिथिला के राजा नरसिंहदेव दर्पनारायण की रानी महादेवी धीरमति के संरक्षण में प्रणीत। पाण्डु० तिथि सं० १५३९ (१४८३ ई०); १५वीं शती का पूर्वार्ध। भण्डारकर रिपोर्ट (१८८३-८४, पृ० ३५२)।

दानवाक्यावलि—अज्ञात। ड० का० (सं० ३६७, १८९१-९५)।

दानविजय।

दानविवेक—हेमाद्रि, दानचन्द्रिका, दानमयूख (नीलकण्ठकृत) में व०।

दानविवेक—भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुदीक्षित द्वारा। लग० १६५० ई०।

दानविवेकोद्द्योत—(या दानोद्द्योत) मदनरत्न से।

दानसंक्षेपचन्द्रिका—महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा। दे० 'दानचन्द्रिका'।

दानसागर—अनन्तभट्ट द्वारा।

दानसागर—बल्लालसेन के ग्रन्थ के आधार पर कामदेव महाराज द्वारा।

दानसागर—बल्लालसेन द्वारा। दे० प्रक० ८३।

दानसार—नृसिंहप्रसाद का अंश। दे० प्रक० ९९।

दानसारसंग्रह—(केवल वास्तु-पूजा का प्रकरण) अलवर (१३५५, ३१९)।

दानसारावली—बीकानेर (पृ० ३७५)।

दानसौख्य—दानचन्द्रिका एवं दानमयूख (टोडरानन्द का भाग) में व०।

दानहीरावलिप्रकाश—भारद्वाज महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा। नीलकण्ठ के दौहित्र। उनके छोटे पुत्र वैद्यनाथ द्वारा पद्य में संक्षेप जोड़ा गया। धर्मशास्त्र-सुधानिधि ग्रन्थ का एक भाग (इण्डि० आ०, जिल्द ३, पृ० ५४७-४८)। अनुक्रमणिका, लेखक के पुत्र वैद्यनाथ द्वारा।

दानहेमाद्रि—चतुर्वर्गचिन्तामणि का एक अंश।

दानार्णव—मिथिला के वीरनारायण नरसिंहदेव (कामेश्वरराजपंडित) की पत्नी धीरमति के आदेश से विरचित। १५वीं शती का पूर्वार्ध।

दानोद्द्योत—(मदनरत्नप्रदीप का एक अंश)। यह दानविवेकोद्द्योत ही है।

दानोद्द्योत—कृष्णराम द्वारा।

दामोदरीय—निर्णयदीपक, शुद्धिमयूख एवं समयम में व०। १५०० ई० के पूर्व।

दायकौमुदी—पीताम्बर सिद्धान्तवागीश द्वारा। लग० १६०४ ई०। कलकत्ता में १९०४ ई० में प्रका०।

दायक्रमसंग्रह—श्रीकृष्ण तर्कालंकार कृत (कलकत्ता में १८२८ में मुद्रित एवं विच द्वारा अनूदित)। आचार्य चूड़ामणि का उल्लेख है।

दायतत्त्व—(या दायभागतत्त्व) रघुनन्दन कृत। जीवा० द्वारा प्रका०। दे० प्रक० १०२। टी० काशीराम वाचस्पति द्वारा। टी० राधामोहन द्वारा। टी० वृन्दावन शुक्ल द्वारा। टी० अज्ञात (नो० न्यू०, जिल्द २, पृ० ८०)।

दायदशश्लोकी—दाय पर दस शार्दूलविक्रीडित छन्दों में (बर्नेल द्वारा मंगलोर में प्रका०)। टी० वासुदेव के पुत्र दुर्जय द्वारा।

दायदीप—दायभाग की टीका। दे० 'दायभाग'।

दायनिर्णय—गोपाल पंचानन द्वारा। रघुनन्दन के दायतत्त्व का संक्षेप।

दायनिर्णय—विद्याधर द्वारा।

दायनिर्णय—श्रीकर शर्मा द्वारा। मदनपारिजात, दायभाग एवं वाचस्पति के उद्धरण हैं। इण्डि० आ०, ३, पृ० ४६२, सं० १५२३; किन्तु सं० १५२४ से प्रकट है कि गोपाल एवं श्रीकर शर्मा के मध्य शंका उत्पन्न हो गयी है।

दायभाग—जीमूतवाहन द्वारा। दे० प्रक० ७८। प्रसन्नकुमार ठाकुर के लिए भरतचन्द्र द्वारा ७ टीकाओं के साथ प्रका० (१८६३-६६)। टी० दायभागप्रबोधिनी (कलकत्ता में प्रका०, १८९३-१८९८)। टी० दायभागसिद्धान्तकुमुदचन्द्रिका, हरिदास तर्काचार्य के पुत्र अच्युत चक्रवर्ती द्वारा; श्रीनाथ की टीका की आलोचना है; महेश्वर एवं श्रीकृष्ण द्वारा उ०; १५००-१५५० ई०। टी० उमाशंकर द्वारा। टी० कृष्णकान्त शर्मा द्वारा। टी० गंगाधर द्वारा। टी० गंगाराम द्वारा। टी० दायदीप, श्रीकृष्ण तर्कालंकार द्वारा (१८६३ ई० में प्रका०)। टी० नीलकण्ठ द्वारा। टी० मणेश्वर द्वारा (आई० एल० आर०, ४८, कलकत्ता, ७०२)। टी० रघुनन्दन द्वारा (हरिहर के पुत्र) (१८६३ ई० में प्रका०)। टी० रामनाथ विद्यावाचस्पति द्वारा। टी० विवृति या दीपिका, श्रीनाथ आचार्यचूडामणि के पुत्र रामभद्र द्वारा; अच्युत की टीका (१८६३ ई० में प्रका०) में उ०। टी० श्रीकराचार्य के पुत्र श्रीनाथ द्वारा; अच्युत (१८६३ ई० में प्रका०) द्वारा आलोचित; १४७५-१५२५ ई०। टी० सदाशिव द्वारा। टी० हरिदीक्षित द्वारा।

दायभाग—वरदराज के व्यवहारनिर्णय का एक अंश।

दायभाग—जगन्नाथ के विवादभंगार्णव का एक अंश।

दायभाग—वैद्यनाथ द्वारा।

दायभागकारिका—मोहनचन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा। नो० न्यू० (१, १७२)।

दायभागनिर्णय—(या विनिर्णय) कामदेव द्वारा। इण्डि० आ० (पृ० ४६३)।

दायभागनिर्णय—भट्टोजि द्वारा (पीटर्सन, ६वीं रिपोर्ट, सं० ८४)।

दायभागनिर्णय—व्यासदेव द्वारा।

दायभागनिर्णय—श्रीकर द्वारा; दे० दायनिर्णय (ऊपर)।

दायभागविवेक—(दायरहस्य) रामनाथ विद्यावाचस्पति द्वारा। जीमूतवाहन के दायभाग पर एक टी०, १६५७ ई० में प्रणीत। स्मृतिरत्नावलि का एक अंश। नो० (जिल्द ५, पृ० १५४)।

दायभागव्यवस्था—सार्वभौम द्वारा। आठ तरंगों में। शक (शाकेग्निमङ्गलहरास्यकलानिधाने) १५८३ (१६६१-२ ई०) में राघव के लिए प्रणीत।

दायभागव्यवस्थासंक्षेप—गणेशभट्ट द्वारा (व्यवस्थासंक्षेप का भाग)।

दायभागसिद्धान्त—बलभद्र तर्कवागीश भट्टाचार्य द्वारा (इण्डि० आ०, पृ० ४६५)।

दायभागसिद्धान्तकुमुदचन्द्रिका—दायभाग की टी० (दे० ऊपर)।

दायभागार्थदीपिकापद्यावली—रघुमणि के शिष्य रघुराम द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० १७४)। १८वीं शती के अन्त में।

दायमुक्तावली—टीकाराम द्वारा।

दायरहस्य—दे० रामनाथकृत 'दायभागविवेक'।

दायविभाग—कमलाकर द्वारा।

दायसंक्षेप—गणेशभट्ट द्वारा।

दायसंग्रहश्लोकदशकव्याख्या—वासुदेव के पुत्र दुर्जय द्वारा। दे० 'दायदशश्लोकी'।

दायाधिकारक्रमसंग्रह—श्रीकृष्ण तर्कालङ्कार द्वारा।

दायाधिकारक्रमसंग्रह—कृष्ण या जयकृष्ण तर्कालंकार द्वारा। अलवर (सं० १३५६)। यह पूर्ववर्ती ही है, ऐसा प्रतीत होता है।

दायाधिकारक्रम—लक्ष्मीनारायण द्वारा।

दाल्भ्यकृत धर्मशास्त्र—(श्राद्ध पर) ड० का० (पाण्डु० सं० २६७, १८८७-९१) प्रयोग पर कुछ पद्य-वचन भी हैं।

दाल्भ्यपद्धति—बड़ोदा (सं० ८१५६) मृत्यु एवं मृत्यूपरान्त के कृत्यों पर।

दासीदान।

दाहादिकर्मपद्धति।

दिनकरोद्द्योत—(या शिवद्युमणिदीपिका) नारायणभट्टात्मज रामकृष्ण के पुत्र दिनकर (दिवाकर) द्वारा आरम्भित एवं उनके पुत्र विश्वेश्वर (गागाभट्ट) द्वारा समाप्त। आचार, आशौच, काल, दान, पूर्त प्रतिष्ठा, प्रायश्चित्त, व्यवहार, वर्षकृत्य, व्रत, शूद्र, श्राद्ध एवं संस्कार के प्रकरण हैं।

दिनत्रयनिर्णय—विद्याधीश मुनि कृत।

दिनत्रयमीमांसा—नारायण द्वारा (माध्व अनुयायियों के लिए)।

दिनदीपिका।

दिनभास्कर—शम्भुनाथ सिद्धान्तवागीश कृत। गृहस्थों के आह्निक कृत्यों का संग्रह। लग० १७१५ ई०।

दिवस्पतिसंग्रह—जीमूतवाहन के कालविवेक में व०।

दिवोदासप्रकाश—दिवाकर की कालनिर्णयचन्द्रिका में व०।

दिवोदासीय—नि० सि०, विधानपारिजात, शुद्धिचन्द्रिका द्वारा व०। १५०० ई० के पूर्व। सम्भवतः यह दिवोदासप्रकाश ही है।

दिव्यतत्त्व—रघुनन्दन कृत। दे० प्रक० १०२। टी० लघुटीका, मथुरानाथ शुक्ल द्वारा।

दिव्यतत्त्व—(या तन्त्रकौमुदी) देवनाथ द्वारा व०। केवल वैष्णवकृत्य वर्णित हैं। मित्र, नो० (जिल्द ६, पृ० ३२)। पाण्डु० शक सं० १५५१ (१६२९-३० ई०) में उतारी गयी।

दिव्यदीपिका—दामोदर ठक्कुर कृत, मुहम्मदशाह के शासन में संगृहीत। नो० (जिल्द ५, पृ० २८२)।

दिव्यनिर्णय—दामोदर ठक्कुर कृत, संग्रामशाह के राज्य में संगृहीत। नो० (जिल्द ६, पृ० ४०)। १५७५ ई० के पूर्व। दे० दामोदर कृत 'विवेकदीपक'।

दिव्यसंग्रह—सदानन्द द्वारा।

दिव्यसिंहकारिका—दिव्यसिंह द्वारा। उनके कालदीप एवं श्राद्धदीप का पद्य में संक्षेप।

दिव्यानुष्ठानपद्धति—रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०३। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० ९२)।

दीक्षातत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। दे० प्रक० १०२।

दीक्षातत्त्वप्रकाशिका—रामकिशोर कृत (कैटलॉग, सं० एवं प्राकृत सी०, सं० २२०२)।

दीक्षानिर्णय।

दीपकलिका—शूलपाणि कृत। याज्ञवल्क्यस्मृति के ऊपर टी०। दे० प्रक० ९५।

दीपदान।

दीपदानविधि या कारिका।

दीपमालिका।

दीपश्राद्ध।

दीपिका—कतिपय ग्रन्थों के साथ यह नाम संलग्न है, यथा—कालनिर्णयदीपिका, श्राद्धदीपिका आदि।

दीपोत्सवनिर्णय—बड़ोदा (सं० १०६२५, तिथि १७५७ संवत्)।

दुर्गभञ्जन—(या स्मृतिदुर्गभञ्जन) नवद्वीप के वारेन्द्र ब्राह्मण चन्द्रशेखर शर्मा द्वारा। चार अध्यायों में; तिथि, मास, धार्मिक कृत्यों के अधिकारी (यथा दुर्गापूजा, उपवास) एवं प्रायश्चित्त पर। धर्मसम्बन्धी सन्देहों को दूर करता है।

दुर्गातत्त्व—देखिए दुर्गोत्सवतत्त्व।

दुर्गातत्त्व—राघवभट्ट द्वारा।

दुर्गापुरश्चरणपद्धति।

दुर्गाभक्तितरंगिणी—(या दुर्गोत्सवपद्धति) मिथिला के नरसिंहदेव की कही गयी है; विद्यापति द्वारा प्रणीत। यह उनका अन्तिम ग्रन्थ है। नरसिंह के पुत्र धीरसिंह एवं उसके भाई भैरवेन्द्र (यहाँ रूपनारायण, यद्यपि

अन्यत्र हरिनारायण नाम आया है) की प्रशंसा है (दे० इण्डि० ऐण्टी०, जिल्द १४, पृ० १९३)। लग० १४३८; कलकत्ता में, सन् १९०९ में प्रका०। रत्नाकर का उल्लेख है।

दुर्गाभक्तितरंगिणी—माधव कृत।

दुर्गाभक्तिप्रकाश—दुर्गोत्सवतत्त्व में रघुनन्दन द्वारा व०।

दुर्गाभक्तिलहरी—रघूत्तम तीर्थ द्वारा।

दुर्गार्चनकल्पतरु।

दुर्गार्चनामृतरहस्य—मथुरानाथ शुक्ल द्वारा।

दुर्गार्चाकालनिष्कर्ष—मधुसूदन वाचस्पति द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ८१)।

दुर्गार्चाकौमुदी—परमानन्द शर्मा।

दुर्गार्चामुकुर—कालीचरण द्वारा। दो खण्डों में, प्रथम में जगद्धात्रीपूजा और द्वितीय में कालिका पूजा है। इसने दुर्गापूजा को कार्तिक शुक्ल नवमी के दिन माना है, किन्तु प्रसिद्ध दुर्गापूजा आश्विन में होती है।

दुर्गार्णव—धर्मप्रवृत्ति में व०।

दुर्गावतीप्रकाश—(समयालोक) बलभद्र के पुत्र पद्मनाभ द्वारा। सात आलोकों में। नर्मदा पर स्थित राज्य के शासक एवं वीरसाहि के पिता दलपति की रानी दुर्गावती के आश्रय में प्रणीत। दे० बीकानेर (पृ० ४५०) एवं इण्डि० आ० (पृ० ५३६, सं० १६८०)। द्वैतनिर्णय में शंकरभट्ट द्वारा व० एवं निर्णयामृत, मदनपारिजात एवं मदनरत्न का उल्लेख है। १४६०-१५५० ई० के बीच। तिथियों, संक्रान्ति, मलमास आदि पर निर्णयों में विवेचन है। क्या यह दलपति नृसिंहप्रसाद का लेखक है? सात प्रकरण हैं, यथा—समय, व्रत, आचार, व्यवहार, दान, शुद्धि, ईश्वराराधन (या पूजा)।

दुर्गोत्सवकृत्यकौमुदी—शम्भुनाथ सिद्धान्तवागीश द्वारा। संवत्सरप्रदीप एवं वर्षकृत्य का उल्लेख है। लेखक कामरूप के राजा की सभा का पण्डित था। लग० १७१५ ई०।

दुर्गोत्सवचन्द्रिका—उड़ीसा के राजकुमार रामचन्द्रदेव गजपति के आदेश पर भारतीभूषण वर्धमान द्वारा।

दुर्गोत्सवतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। दे० प्रक० १०२।

दुर्गोत्सवनिर्णय—गोपाल द्वारा। नो० (जिल्द ६, पृ० २१०)।

दुर्गोत्सवनिर्णय—न्यायपंचानन द्वारा (नाम नहीं दिया हुआ है)। मित्र ने इसे उपर्युक्त से भिन्न, किन्तु औफ्रेक्ट ने वही माना है। नो० (जिल्द ७, पृ० ७)।

दुर्गोत्सवपद्धति—दे० 'दुर्गाभक्तितरंगिणी'।

दुर्गोत्सवप्रमाण—रघुनन्दन द्वारा। कलकत्ता सं० का० पाण्डु० (जिल्द २, पृ० ३१०-३११ सं० ३३७)।

दुर्गोत्सवविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५।

दुर्गोत्सवविवेक—श्रीनाथ आचार्यचूड़ामणि द्वारा।

दुष्टरजोदर्शनशान्ति—(नारायण भट्ट के प्रयोगरत्न से)।

दूतयोगलक्षण।

दूतलक्षण।

दूलालीय—दूलाल द्वारा।

देवजानीय—नि० सि०, विधानपारिजात, आचाररत्न (लक्ष्मणकृत) में व०। १६०० ई० के पूर्व।

देवतावारिपूजा।

देवतिलकपद्धति—(लक्ष्मी के संग विष्णु की मूर्ति का विवाह)। नो० न्यू० (१, पृ० १७९)।

देवदासप्रकाश—(या सद्ग्रन्थचूड़ामणि) गौतमगोत्रीय अर्जुनात्मज नामदेव के पुत्र देवदास मिश्र द्वारा। श्राद्ध, आशौच, मलमास आदि पर विशद निबन्ध। लेखक के अनुसार कल्पतरु, कर्क, कृत्यदीप, स्मृतिसार, मिताक्षरा, कृत्यार्णव पर आधृत। १३५०-१५०० ई० के बीच। बड़ोदा (सं० ५५८)।

देवदासीय—नि० सि०, विधानपारिजात, श्राद्धमयूख में व० (सम्भवतः यह उपर्युक्त ही है)।

देवपद्धति—अनन्तदेव के रुद्रकल्पद्रुम में व०। सम्भवतः अनन्तदीक्षित की महारुद्रपद्धति।

देवप्रतिष्ठातत्त्व—(या प्रतिष्ठातत्त्व) रघुनन्दन कृत। दे० प्रक० १०२।

देवप्रतिष्ठापद्धति।

देवप्रतिष्ठाप्रयोग—गंगाधर दीक्षित के पुत्र श्यामसुन्दर द्वारा।

देवप्रतिष्ठाविधि—बीकानेर (पृ० ३८०)।

देवयाज्ञिकपद्धति—(यजुर्वेदीय) देवयाज्ञिक कृत (काशी सं० सी० में प्रका०)।

देवलस्मृति—दे० प्रक० २३; आनन्दाश्रम द्वारा प्रका० (पृ० ८५-८९)।

देवस्थापनकौमुदी—बल्लाल के पुत्र शंकर द्वारा (उपाधि घारे)। बड़ोदा (सं० १४६४)।

देवालयप्रतिष्ठाविधि—रमापति द्वारा।

देवीपरिचर्या—अहल्याकामधेनु में व०।

देवीपूजनभास्कर—शम्भुनाथ सिद्धान्तवागीश द्वारा। नो० (जिल्द १, पृ० १५४) ने समाप्तिकाल दिया है—'खयुगोर्मिशिवे शाके निशाचरतिथौ शुभे'।

देवीपूजापद्धति—चैतन्यगिरि द्वारा।

देशान्तरमृतक्रियानिरूपण।

देहशुद्धिप्रायश्चित्त—ऑफ्रेक्ट (६७३)।

दैवज्ञचिन्तामणि—टोडरानन्द में व०।

दैवज्ञमनोहर—लक्ष्मीवर द्वारा। रघु० के ज्योतिस्तत्त्व, मलमासतत्त्व में एवं टोडरानन्द तथा नि० सि० में व०। ज्योतिष-सम्बन्धी ग्रन्थ। १५०० ई० के पूर्व।

दैवज्ञवल्लभ—नीलकण्ठ या श्रीपति द्वारा; नि० सि० में व० (सम्भवतः केवल ज्योतिष-ग्रन्थ)।

दोलयात्रा।

दोलयात्रातत्त्व—(या दोलयात्राप्रमाणतत्त्व) रघु० द्वारा। दे० प्रक० १०३। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० १९१)।

दोलयात्रामृतविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५।

दोलायात्रामृत—नारायण तर्काचार्य द्वारा।

दोलारोहणपद्धति—विद्यानिवास द्वारा।

द्रव्यशुद्धि—रघुनाथ द्वारा।

द्रव्यशुद्धिदीपिका—पीताम्बर के पुत्र पुरुषोत्तम द्वारा। लेखक ने अपने को 'श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाब्जदासदास' कहा है। नि० सि०, शुद्धिमयूख, दिनकरोद्द्योत के उद्धरण हैं। जन्मतिथि सं० १७२४ (१६६८ ई०) एवं मृत्यु-तिथि सं० १७८१ है। सन १९०६ में प्रकाशित।

द्राह्यायणगृह्यपरिशिष्ट।

द्राह्यायणगृह्यपूर्वापरप्रयोग।

द्राह्यायणगृह्यसूत्र—देखिए खादिरगृह्यसूत्र। आनन्दाश्रम प्रेस (पूना) में मुद्रित, टीका के साथ। टी० रुद्रस्कन्द द्वारा। टी० सुबोधिनी, श्रीनिवास द्वारा।

द्राह्यायणगृह्यसूत्रकारिका—बालाग्निहोत्री द्वारा।

द्राह्यायणगृह्यसूत्रप्रयोग—विनतानन्दन द्वारा।

द्रोणचिन्तामणि।

द्वात्रिंशत्कर्मपद्धति।

द्वात्रिंशदपराध—बड़ोदा (सं० १२२२५)।

द्वादशमासदेयदानरत्नाकर।

द्वादशयात्रातत्त्व—(या द्वादशयात्राप्रमाणतत्त्व) रघुनन्दनकृत। जगन्नाथपुरी में विष्णु की १२ यात्राओं या उत्सवों पर।

द्वादशयात्राप्रयोग—विद्यानिवास द्वारा (जगन्नाथ के विषय में) नो० न्यू० (१, पृ० १९४)।

द्वादशविधपुत्रमीमांसा।

द्वादशाहकर्मविधि।

द्विजकल्पलता—छः उल्लासों में परशुराम द्वारा। हुल्श (३, पृ० ६०)।

द्विजराजोदय।

द्विजाह्निकपद्धति—हलायुध के ज्येष्ठभ्राता ईशान द्वारा। लग० ११७०-१२०० ई०।

द्विभार्याग्नि।

द्विविधजलाशयोत्सर्गप्रमाणदर्शन—बुद्धिकर शुक्ल द्वारा।

द्विसप्ततिश्राद्ध।

द्वैततत्त्व—सिद्धान्तपञ्चानन कृत।

द्वैतनिर्णय—चन्द्रशेखर वाचस्पति (विद्याभूषण के पुत्र) द्वारा। कलकत्ता संस्कृत कालेज पाण्डु० (जिल्द २, पृ० ७९)।

द्वैतनिर्णय—नरहरि द्वारा। क्षयमासादिविवेक में रत्नपाणि द्वारा उ०। रत्नाकर का उल्लेख है।

द्वैतनिर्णय—वाचस्पति मिश्र द्वारा। दे० प्रक० ९८।

टी० प्रकाश या जीर्णोद्धार, मधुसूदन मिश्र द्वारा। टी० प्रदीप या कादम्बरी, गोकुलनाथ द्वारा (इण्डि० आ०, जिल्द ३, पृ० ४८८)।

द्वैतनिर्णय—शंकरभट्ट द्वारा। लग० १५८०-१६००; धर्म-सम्बन्धी सन्देहात्मक बातों पर। (दे० एनल्स, भण्डारकर इन्स्टीच्यूट, जिल्द ३, भाग २, पृ० ६७-७२)।

द्वैतनिर्णय—विश्वनाथ ने व्रतराज में अपने पितामह द्वारा प्रणीत कहा है। १७वीं शती का उत्तरार्ध।

द्वैतनिर्णयपरिशिष्ट—(या द्वैतपरिशिष्ट) केशव मिश्र द्वारा; रत्नपाणि द्वारा व०। दो परिच्छेदों में। श्राद्धों पर। दे० मित्र, नो० (५, पृ० १८६)।

द्वैतनिर्णयपरिशिष्ट—शंकर भट्ट के पुत्र दामोदर द्वारा। लग० १६००-१६४० ई०।

द्वैतनिर्णयफक्किका—द्वैतनिर्णयपरिशिष्ट में व०।

द्वैतनिर्णयसंग्रह—विद्याभूषण के पुत्र चन्द्रशेखर वाचस्पति द्वारा।

द्वैतनिर्णयसिद्धान्तसंग्रह—शंकर भट्ट, (जिनके द्वैतनिर्णय का यहाँ सक्षेप दिया गया है) के पुत्र नीलकण्ठात्मज भानुभट्ट द्वारा। लग० १६४०-१६७० ई०।

द्वैतनिर्णयामृत—रघुनन्दन के दायभागतत्त्व में व०।

द्वैतविषयविवेक—भावेश के पुत्र वर्धमान द्वारा। लग० १५००।

द्व्यामुष्यायणनिर्णय—(या निर्णयेन्दु) नैध्रुव गोत्रज कृष्ण-गुर्जर के पुत्र विश्वनाथ द्वारा। बड़ोदा (सं० १२७०८)। दिनकरोद्द्योत, कौस्तुभ का वर्णन है। १६८० ई० के उपरान्त।

धनञ्जयसंग्रह—रघुनन्दन द्वारा तिथितत्त्व में व०।

धनभागविवेक—दे० 'भागविवेक'।

धनिष्ठापंचक।

धनुर्विद्यादीपिका—नि० सि० में कमलाकर द्वारा व०।

धनुर्वेदचिन्तामणि—नरसिंह भट्ट।

धनुर्वेदसंग्रह—(वीरचिन्तामणि) शार्ङ्गधर द्वारा।

धनुर्वेदसंहिता—वसिष्ठ द्वारा। महाराज कुमुदचन्द्र सी० में कलकत्ता से प्रका०।

धर्मकारिका—(लेखक अज्ञात) विभिन्न लेखकों की ५०८ कारिकाओं का संग्रह। नि० सि०, कौस्तुभ, कालतत्त्वविवेचन एवं मयूख का उल्लेख है, अतः १६८० ई० के उपरान्त (दे० बी० बी० आर० ए० एस०, पृ० २१९, सं० ६९१)।

धर्मकोश—त्रिलोचन मिश्र द्वारा। वर्धमान द्वारा एवं आह्निकतत्त्व में व०। व्यवहारपदों, दायभाग, ऋणादान आदि का वर्णन है।

धर्मचन्द्र—भारद्वाज गोत्र के रामरायात्मज गोविन्दराय के पुत्र केशवराय द्वारा। आश्वलायनगृह्य और इसके परिशिष्ट पर आधृत। आचार आदि पर कई किरणों में विभक्त। बड़ोदा (सं० ५८६०, तिथि संवत् १८१०)।

धर्मतत्त्वकमलाकर—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर भट्ट द्वारा। व्रत, दान, कर्मविपाक, शान्ति, पूर्त, आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, शूद्रधर्म एवं तीर्थ पर १० परिच्छेदों में विभक्त। बीकानेर (पृ० ९९)।

धर्मतत्त्वकलानिधि—नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र द्वारा। इनके विरुद्ध हैं कलिकालकर्णप्रताप, परमवैष्णव। १० प्रकाशों में विभक्त, सातवाँ आशौच पर है। बड़ोदा (सं० ४००६)।

धर्मतत्त्वप्रकाश—कर्पूरग्राम के गोविन्द दीक्षित के पुत्र शिव चतुर्धर द्वारा। १६९८ शक (नागांकरसभू) में प्रणीत (प्रयाग में गंगा पर प्रतिष्ठान में)। हुल्श (सं० ३, पृ० ५) ने गलत कहा है कि इसकी तिथि १७४६ ई० है, यद्यपि उद्धरण ८४ में उन्होंने 'नागाङ्करसभूशाके' दिया है।

धर्मतत्त्वसंग्रह—महादेव द्वारा।

धर्मतत्त्वार्थचिन्तामणि।

धर्मतत्त्वावलोक—दे० गोविन्दार्णव (अर्थात् स्मृतिसागर)।

धर्मदीप—दिवाकर की आह्निकचन्द्रिका में व०।

धर्मदीपिका—(या स्मृतिप्रदीपिका) चन्द्रशेखर वाचस्पति द्वारा। धर्म की विरोधी उक्तियों का समाधान पाया जाता है।

धर्मद्वैतनिर्णय—दे० शङ्करभट्टरचित 'द्वैतनिर्णय'।

धर्मनिबन्ध—रामकृष्ण पण्डित द्वारा।

धर्मनिबन्धन।

धर्मनिर्णय—कृष्णताताचार्य कृत।

धर्मपद्धति—नारायण भट्ट द्वारा।

धर्मपरीक्षा—मन्जरदास द्वारा।

धर्मप्रकाश—माधव द्वारा। ड० का० (सं० २२१, १८८६-९२)। समयालोक, अर्थात् चैत्र एवं अन्य मासों के व्रतों पर। माधवीय, वाचस्पति मिश्र, पुराणसमुच्चय का उल्लेख है। १५०० ई० के उपरान्त।

धर्मप्रकाश—(या सर्वधर्मप्रकाश) नारायण भट्ट एवं पार्वती के पुत्र शङ्करभट्ट द्वारा। १६वीं शती का उत्तरार्ध। मेधातिथि, अपरार्क, विज्ञानेश्वर, स्मृत्यर्थसार, कालादर्श, चन्द्रिका, हेमाद्रि, माधव, नृसिंह एवं त्रिस्थलीसेतु का अनुसरण है। लेखक की शास्त्रदीपिका का भी उल्लेख है। इसके संस्कार संबन्धी भाग के लिए दे० इण्डि० आ० (३, पृ० ४८२, सं० १५६४)।

धर्मप्रदीप—(या दीप) स्मृतिचन्द्रिका (आशौचखण्ड), शूलपाणि (प्रायश्चित्तविवेक), रघुनन्दन (शुद्धितत्त्व), कालादर्श आदि द्वारा व०।

धर्मप्रदीप—गंगाभट्ट द्वारा।

धर्मप्रदीप—धनञ्जय द्वारा। नो० न्यू० (२, पृ० ४६) (केवल गोत्र पर)।

धर्मप्रदीप—वर्धमान द्वारा।

धर्मप्रदीप—भोज द्वारा। दे० प्रक० ६४, १४००-१६०० ई० के मध्य में।

धर्मप्रदीपिका—अभिनवषडशीति पर। वेंकटेश के पुत्र सुब्रह्मण्य द्वारा।

धर्मप्रवृत्ति—नारायण भट्ट द्वारा। शंकरभट्ट (द्वैतनिर्णय), नन्दपण्डित (शुद्धिचन्द्रिका) एवं व्यवहारमयूख द्वारा वर्णित। आह्निक, शौच, गर्भाधान एवं अन्य संस्कारों, गोत्रनिर्णय, श्राद्ध, आशौच, दान, प्रायश्चित्त, तिथिनिर्णय, स्थालीपाक पर विवेचन है। माधवीय कालनिर्णय, मदनपारिजात, प्रयोगपारिजात, महार्णव, अनन्ताचार्य, कालादर्श, नारायणवृत्ति (आश्वलायन पर) का उल्लेख है। नन्दपण्डित (श्राद्धकल्पलता) द्वारा व०। इण्डि० आ० (पृ० ४८०, सं० १५६०); तिथि सं० १६५९ (१६०२-३) अतः १४००-१६०० के बीच। दे० प्रक० १०३।

धर्मप्रश्न—(आपस्तम्बीय) आपस्तम्बधर्मसूत्र का एक अंश।

धर्मबिन्दु।

धर्मबोधन।

धर्मभाष्य—स्मृतिचन्द्रिका एवं हेमाद्रि (३, २, ७४७) द्वारा व०।

धर्ममार्गनिर्णय—बड़ोदा (सं० ११८२१)।

धर्मरत्न—जीमूतवाहन द्वारा एक निबन्ध, जिसके कालविवेक एवं दायभाग अंश हैं।

धर्मरत्न—भट्टारकभट्ट के पुत्र भैयाभट्ट द्वारा। आह्निक और अन्य विषयों पर दीधितियों में विभक्त।

धर्मरत्नाकर—रामेश्वर भट्ट द्वारा। धर्मस्वरूप, तिथिमासलक्षण, प्रतिपदादिषु विहितकृत्य विधान, उपवास, युगादिनिरूपण, संक्रान्ति, अद्भुत, आशौच, श्राद्ध, वेदाध्ययन, अनध्याय आदि पर।

धर्मविवृत्ति—मदनपारि० (पृ० ७७२) द्वारा परिषद्-निर्माण, संस्कारमयूख, प्रायश्चित्तमयूख में व०। मदनपा० (पृ० ७५३) ने प्रायश्चित्त पर एक धर्मवृत्ति उ० की है। सम्भवतः दोनों एक ही हैं और उपर्युक्त 'धर्मभाष्य' ही है।

धर्मविवेक—चन्द्रशेखर द्वारा। मीमांसा के न्यायों की व्याख्या है।

धर्मविवेक—दामोदर एवं हीरा के पुत्र तथा भीम के पौत्र विश्वकर्मा द्वारा। आठ काण्डों में उपवास एवं उत्सवों पर। कालमाधव, मदनरत्न, हेमाद्रिसिद्धान्तसंग्रह के उद्धरण हैं। १४५०-१५२५ ई० के बीच। देखिए विस्तार के लिए अलवर (उद्धरण ३२०)। पाण्डु० की तिथि सं० १५८३ है।

धर्मविवेचन--रामशंकर के पुत्र रामसुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा।

धर्मशास्त्रकारिका।

धर्मशास्त्रनिबन्ध--फकीरचन्द्र द्वारा।

धर्मशास्त्रसंग्रह--श्राद्ध पर स्मृति-वचनों का संग्रह। बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २१९, सं० ६९२)।

धर्मशास्त्रसंग्रह--वैद्यनाथ एवं लक्ष्मी के पुत्र बालशर्म-पायगुण्डे द्वारा। इण्डि० आ० (पृ० ५४८)। दे० प्रक० १११। लग० १८०० ई०।

धर्मशास्त्रसर्वस्व--भट्टोजि। १६००-१६५० ई०।

धर्मशास्त्रसुधानिधि--दिवाकरकृत। १६८६ ई० में प्रणीत। दे० 'आचारार्क'।

धर्मसंहिता--(या धर्मस्मृति) जीमूत० के कालविवेक में व०।

धर्मसंग्रह--नारायणशर्मा द्वारा।

धर्मसंग्रह--हरिश्चन्द्र द्वारा।

धर्मसंप्रदायदीपिका--आनन्द द्वारा।

धर्मसार--पुरुषोत्तम द्वारा। पाण्डु० श० सं० १६०७ में उतारी गयी, ह० प्र०, पृ० १५।

धर्मसार--प्रभाकर द्वारा। आचारमयूख द्वारा व०। १६०० ई० के पूर्व।

धर्मसारसमुच्चय--यह 'चतुर्विंशतिस्मृतिधर्मसारसमुच्चय' ही है।

धर्मसारसुधानिधि--दिवाकर काल की आह्निकचन्द्रिका एवं भट्टोजि द्वारा चतुर्विंशतिमत की टी० में व०। दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २१६)।

धर्मसिन्धु--(या धर्मसिन्धुसार) काशीनाथ (उर्फ बाबा पाध्ये) द्वारा। दे० प्रक० ११२।

धर्मसिन्धु--मणिराम द्वारा।

धर्मसुबोधिनी--नारायण द्वारा। विज्ञानेश्वर, माधव एवं मदनरत्न द्वारा वर्णित।

धर्मसेतु--(व्यवहार पर) पराशर गोत्र के तिर्मल द्वारा। विज्ञानेश्वर उ० हैं।

धर्मसेतु--रघुनाथ द्वारा। एक विशद ग्रन्थ।

धर्मानुबन्धिश्लोक--कृष्णपण्डित द्वारा। टी० राम पण्डित द्वारा।

धर्माधर्मप्रबोधिनी--इन्द्रपति ठक्कुर के पुत्र प्रेमनिधि ठक्कुर द्वारा। लेखक निजामशाह के राज्य में माहिष्मती का वासी था, किन्तु उसने सं० १४१० (१३५३-५४ ई०) में मिथिला में अपना निबन्ध संगृहीत किया। आह्निक, पूजा, श्राद्ध, आशौच, शुद्धि, विवाह, धार्मिक दानों, आपद्धर्म, वैकल्पिक भोज, तीर्थयात्रा, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक, सर्वसाधारण के कर्त्तव्य पर १२ अध्यायों में। दे० नो० (जिल्द ६, पृ० १८-२०)। महामहोपाध्याय चक्रवर्ती (जे० ए० एस्० बी०, १९१५ ई०, पृ० ३९३-३९३) के मत से सं० १४१० शक है, क्योंकि मिथिला में विक्रम सं० प्रचलित नहीं था। किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है।

धर्माधर्मव्यवस्था।

धर्माध्वबोध--रामचन्द्र द्वारा।

धर्मामृत--तत्त्वामृतसारोद्धार में वर्धमान द्वारा व०। सम्भवतः यह कोई ग्रन्थ नहीं है। प्रतीत होता है कि यह धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर संकेत मात्र है।

धर्मामृतमहोदधि--अनन्तदेव के पुत्र रघुनाथ द्वारा।

धर्माम्भोधि--यह अनूपविलास ही है।

धर्मार्णव--काश्यपाचार्य के पुत्र पीताम्बर द्वारा। दे० बीकानेर, पृ० ३८३ (तिथिनिर्णय पर), पाण्डु० १६८१ ई० की है।

धवलनिबन्ध--नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति में, रघुनन्दन द्वारा तथा निर्णयामृत में व०।

धवलसंग्रह--जीमूत० के कालविवेक एवं गदाधर के कालसार में व०। संभवतः धवलनिबन्ध एवं धवलसंग्रह दोनों एक ही हैं।

धान्याचलादिदानतत्त्व--नो० न्यू० (२, पृ० ८८)।

ध्वजोच्छ्राय--पूर्तकमलाकर से।

नक्तकालनिर्णय।

नक्षत्रयोगदान।

नक्षत्रविधान।

नक्षत्रशान्ति—बौधायन द्वारा। ड० का० (सं० ९७, १८८२-८३)।

नयमणिमालिका।

नवकण्डिकाश्राद्धसूत्र—(या श्राद्धकल्पसूत्र, छठा कात्यायन परिशिष्ट) दे० 'श्राद्धकल्प'। टी० कर्क द्वारा। टी० श्राद्धकाशिका, विष्णुमिश्र के पुत्र कृष्णमिश्र द्वारा। सन् १४४८-४९ में प्रणीत। टी० श्राद्धकल्पसूत्रपद्धति, अनन्तदेवकृत।

नवग्रहदान।

नवग्रहमख—वसिष्ठ का कहा गया है।

नवग्रहयज्ञ—बड़ोदा (सं० २२७९)।

नवग्रहशान्ति—दे० 'वासिष्ठी'।

नवग्रहशान्तिपद्धति—सामवेदियों के लिए, विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा। इण्डि० आ० (पृ० ५७०) पाण्डु० सं० १८०६ (१७४९ ई०) में।

नवग्रहस्थापना—बी० बी० आर० ए० एस्० (जिल्द २, पृ० २४३)।

नवग्रहहोम।

नवनीतनिबन्ध—रामजी द्वारा। क्या यह निबन्धनवनीत ही है?

नवमूर्तिप्रतिष्ठाविधि।

नवरत्नदान।

नवरत्नमाला—प्रह्लादभट्ट द्वारा।

नवरात्रकृत्य।

नवरात्रनिर्णय—गोपाल व्यास द्वारा।

नवरात्रप्रदीप—नन्दपण्डित द्वारा। सरस्वतीभवन (सी० सं० २३) द्वारा प्रका०।

नवविवेकदीपिका—वरदराज द्वारा।

नवान्नाद्यनिर्णय—गौरीनाथचक्रवर्ती द्वारा। बड़ोदा (सं० १०२१९)।

नवान्नविधि।

नव्यधर्मप्रदीप—त्रिलोकचन्द्र एवं कृष्णचन्द्र के संरक्षण में जयराम के शिष्य कृपाराम द्वारा। आश्रयदाता १८वीं शती के उत्तरार्ध में बंगाल के जमीन्दार थे। नो० न्यू० (२, पृ० ९२)।

नागदेवाह्निक—शूद्रकमलाकर में व०। १६०० ई० के पूर्व।

नागदेवीय—आचारमयूख में व०। यह 'नागदेवाह्निक' ही है, ऐसा लगता है।

नागप्रतिष्ठा—बौधायन द्वारा।

नागप्रतिष्ठा—शौनक द्वारा।

नागबलि—शौनक द्वारा।

नागबलिसंस्कार।

नागार्जुनीयधर्मशास्त्र—आचार, विशेषतः स्त्री-धर्म पर।

नानाशास्त्रार्थनिर्णय—भवेश के पुत्र वर्धमान द्वारा। लग० १५०० ई०।

नान्दीमुखश्राद्धप्रयोग।

नान्दीश्राद्धपद्धति—गणेश्वर के पुत्र रामदत्त मन्त्री द्वारा। १४वीं शती का पूर्वार्ध।

नारदस्मृति—डा० जॉली द्वारा सम्पादित। टी० असहाय द्वारा; कल्याणभट्ट द्वारा संशोधित। टी० रमानाथ द्वारा।

नारदीय—समयमयूख एवं अन्य मयूखों में व०। सम्भवतः नारदपुराण।

नारायणधर्मसारसंग्रह।

नारायणपद्धति—रघु० के ज्योतिस्तत्त्व एवं मलमासतत्त्व में व०'

नारायणप्रबोधोत्सव।

नारायणबलिपद्धति—दाल्भ्य द्वारा। बड़ोदा (सं० ११४९७)।

नारायणबलिप्रयोग—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा।

नारायणभट्टी—यह नारायण भट्ट का प्रयोगरत्न एवं अन्त्येष्टिपद्धति है।

नारायणमिश्रीय।

नारायणवृत्ति—आचारमयूख में व०। सम्भवतः नारायण द्वारा आश्वलायनगृह्य पर टी०।

नारायणस्मृति—अपरार्क द्वारा उ०।

नित्यकर्मपद्धति—बड़ोदा (सं० ६०३), तिथि सं० १५४७ (१४९०-१ ई०)।

नित्यकर्मपद्धति—माध्यन्दिनशाखा के प्रभाकर नायक के

पुत्र श्रीधर द्वारा। कात्यायन पर आधृत। श्रीधर-पद्धति नाम भी है। ड० का० (सं० २२८, १८८६-९२; नं० ११९, १८८४-८५) तिथि सं० १४३४ (१३७७-७८ ई०)।

नित्यकर्मप्रकाशिका—कुलनिधि द्वारा।

नित्यकर्मलता—धर्मेश्वर के पुत्र धीरेन्द्र पंचीभूषण द्वारा।

नित्यदानादिपद्धति—शामजित् त्रिपाठी द्वारा। महार्णव उ० है।

नित्यस्नानपद्धति—कान्हदेव द्वारा (बड़ोदा, सं० ४०११)

नित्याचारपद्धति—गोपालानन्द द्वारा।

नित्याचारपद्धति—शम्भुकर के पुत्र विद्याकर वाजपेयी द्वारा (बिब्लि० इण्डि० द्वारा प्रका०)। वाजसनेय-शाखा के लिए। १३५०-१५०० ई० के बीच।

नित्याचारप्रदीप—मुरारि के पुत्र एवं धराधर के पौत्र एवं विघ्नेश्वर के शिष्य कौत्सवश के नरसिंह वाजपेयी द्वारा। काशी में आकर बसे थे, कुल उत्कल से आया था। कल्पतरु, प्रपंचसार, माधवीय को उ० करता है। १४०० ई० के उपरान्त (बिब्लि० इण्डि०, पृ० १-७२५ द्वारा प्रका०)। अलवर (उद्धरण ३२२)।

नित्यादर्श—कालादर्श (आदित्यभट्टकृत) में व०।

नित्यानुष्ठानपद्धति—बलभद्र द्वारा।

निबन्धचूडामणि—यशोधर द्वारा (बीकानेर, पृ० ३२२)। ६२ अध्यायों में। शान्तिकर्मों का विवरण है।

निबन्धन—सरस्वतीविलास में व०।

निबन्धनवनीत—रामजित् द्वारा। सामान्यतिथिनिर्णय, व्रतविशेषनिर्णय, उपाकर्मकाल एवं श्राद्धकाल नामक चार आस्वादों में विभक्त। अनन्तभट्ट, हेमाद्रि, माधव एवं निर्णयामृत प्रामाणिक रूप में उल्लिखित हैं। ड० का० (सं० १०२, १८८२-८३; पाण्डु० सं० १६७३ में)। लग० १४००-१६०० ई० के मध्य में।

निबन्धराज—दे० 'समयप्रकाश' के अन्तर्गत।

निबन्धशिरोमणि—नृसिंह द्वारा (बड़ोदा, सं० ४०१२ एवं ९२१२)। संस्कारों, वार, नक्षत्र आदि ज्योतिष के विषयों पर, अनुपनीतधर्म, कर्मविपाक पर एक विशाल ग्रन्थ।

निबन्धसर्वस्व—श्रीपति के पुत्र महादेव द्वारा। दे० प्रायश्चित्ताध्याय। इसी नाम का एक ग्रन्थ नृसिंह-प्रसाद में व० है।

निबन्धसार—श्रीनाथ के पुत्र वचिय द्वारा। आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त के तीन अध्यायों में एक विशाल ग्रन्थ। ड० का० (सं० १२३, १८८४-८६) तिथि सं० १६३२। धर्मप्रवृत्ति में व०।

निबन्धसिद्धान्तबोध—गंगाराम द्वारा।

निर्णयकौस्तुभ—विश्वेश्वर द्वारा। रघुनन्दन द्वारा एवं संस्कारभास्कर में शंकर द्वारा व०।

निर्णयचन्द्रिका—नारायण भट्ट के पुत्र शंकरभट्ट द्वारा।

निर्णयचिन्तामणि—विदुर के पुत्र, गोभिल गोत्र के वैश्य श्री राजजालमदास के कहने पर, विष्णुशर्मा, महायाज्ञिक द्वारा। स्टीन (पृ० ३०८, मलमास पर एक अंश है)।

निर्णयतत्त्व—शिव के पुत्र नागदैवज्ञ द्वारा। आचारमयूख में उद्धृत आचारप्रदीप के लेखक। १४५० ई० के पूर्व (अलवर, सं० १२५६)।

निर्णयतरणि।

निर्णयदर्पण—गणेशाचार्य द्वारा (सेन्ट्रल प्राविंसेज कैटलाग, सं० २५९९)।

निर्णयदर्पण—तारापति ठक्कुर के पुत्र शिवानन्द द्वारा। श्राद्ध एवं अन्य कृत्यों पर।

निर्णयदीप—नि० सि० एवं लक्ष्मण के आचाररत्न में व०।

निर्णयदीपक—वत्सराज के तीन पुत्रों में एक एवं भट्ट-विनायक के शिष्य अचल द्विवेदी द्वारा। ये वृद्धपुर के थे और नागर ब्राह्मणों की मडोड शाखा के थे। इनका विरुद था भागवतेय। इस ग्रन्थ के पूर्व इन्होंने ऋग्वेदोक्त महारुद्रविधान लिखा था। यह ग्रन्थ श्राद्ध, आशौच, ग्रहण, तिथिनिर्णय, उपनयन, विवाह, प्रतिष्ठा की विवेचना उपस्थित करता है। इसकी समाप्ति सं० १५७५ की ज्येष्ठ कृष्णद्वादशी (१५१८

ई०) को हुई। विश्वरूपनिबन्ध दीपिकाविवरण, निर्णयामृत, कालादर्श, पुराणसमुच्चय, आचारतिलक के उद्धरण हैं। अलवर (सं० ३२३)। इसमें मालती-माधव का श्लोक 'ये नाम केचिदिह' है। नडियाद में सन् १८९७ में प्रकाशित। टी० देवजानीय, नि० सि०, विधानपारिजात में व०। १५२०-१६०० ई० के बीच।

निर्णयदीपिका—वत्सराज द्वारा। निर्णयसिन्धु एवं श्राद्धमयूख में व०। सम्भवतः यह अचलकृत निर्णय-दीपक ही है।

निर्णयपीयूष—विश्वम्भर के स्मृतिसारोद्धार में व०।

निर्णयप्रकाश।

निर्णयप्रदीपिका—नन्दपण्डित की श्राद्धकल्पलता में व०।

निर्णयबिन्दु—महादेव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। तिथियों पर।

निर्णयबिन्दु—वक्कण द्वारा।

निर्णयभास्कर—नीलकण्ठ द्वारा (सेण्ट्रल प्राविंसेज़, सं० २६००)।

निर्णयभास्कर—पाण्डु० तिथि सं० १७२५, माघ (१६६९ ई०), पीटर्सन, छठी रिपोर्ट (पृ० १० में)।

निर्णयमंजरी—गंगाधर द्वारा।

निर्णयरत्नाकर—गोपीनाथ भट्ट द्वारा।

निर्णयशिरोमणि—निर्णयदीपक में एवं अनन्त द्वारा स्मृतिकौस्तुभ में व०। १५०० ई० के पूर्व।

निर्णयशैली—नि० सि० में व०।

निर्णयसंग्रह—प्रतापरुद्र द्वारा।

निर्णयसंग्रह—मधुसूदन द्वारा।

निर्णयसमुदाय।

निर्णयसार—क्षेमंकर द्वारा।

निर्णयसार—गोस्वामी द्वारा, सें० प्रा०, सं० २६०२।

निर्णयसार—दीपचन्द्र मिश्र के पुत्र नन्दराम मिश्र द्वारा। तिथि, श्राद्ध आदि छः परिच्छेदों में। विं० सं० १८३६ (१७८० ई०) में प्रणीत।

निर्णयसार—भट्टराघव द्वारा। बड़ोदा (सं० ८६७०)। १६१२ ई० के पश्चात् एवं १७०० के पूर्व।

निर्णयसार—रामभट्टाचार्य द्वारा।

निर्णयसार—लालमणि द्वारा।

निर्णयसारसंग्रह—बड़ोदा (सं० ४०५)।

निर्णयसिद्धान्त—महादेव (सम्भवतः कालनिर्णयसिद्धान्त के लेखक) द्वारा।

निर्णयसिद्धान्त—रघुराम द्वारा (यह सम्भवतः काल-निर्णयसिद्धान्त ही है)।

निर्णयसिन्धु—कमलाकर भट्ट द्वारा। सं० १६६८ (१६१२ ई०) में प्रणीत। दे० प्रक० १०६, चौ० सं० सी० एवं निर्णय० प्रेस द्वारा प्रका०। टी० रत्नमाला या दीपिका (कृष्णभट्ट आर्डे द्वारा रचित)।

निर्णयानन्द—अहल्याकामधेनु में व०।

निर्णयामृत—अल्लाड (या ट) नाथसूरि (सिद्ध लक्ष्मण के पुत्र) द्वारा यमुना पर एकचक्रपुर के राजकुमार सूर्यसेन की आज्ञा से विरचित। इसमें एकचक्रपुर के बाहुबाणों (चाहुवाणों?) के राजाओं की तालिका दी हुई है। आरम्भ में मिताक्षरा, अपरार्क, अर्णव, स्मृतिचन्द्रिका, धवल, पुराणसमुच्चय, अनन्तभट्टीय गृह्यपरिशिष्ट, रामकौतुक, संवत्सरप्रदीप, देवदासीय, रूपनारायणीय, विद्याभट्टपद्धति, विश्वरूपनिबन्ध पर ग्रन्थ की निर्भरता की घोषणा की गयी है। कुछ पाण्डु० के श्लोक में हेमाद्रि, कालादर्श, चिन्तामणि का उल्लेख है। किन्तु हेमाद्रि के कालनिर्णय (पृ० ३४) ने एक निर्णयामृत का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ निर्णयदीपक, श्राद्धक्रियाकौमुदी में व० है, अतः तिथि १५०० ई० के पूर्व किन्तु १२५० के पश्चात् की है। व्रत, तिथिनिर्णय, श्राद्ध, द्रव्यशुद्धि एवं आशौच पर चार प्रकरण हैं। वेंकटेश्वर प्रे० से प्रका०।

निर्णयामृत—गोपीनारायण (लक्ष्मण के पुत्र) द्वारा सूर्यसेन के अधीन प्रणीत (कलकत्ता सं० का० पाण्डु०, जिल्द २, पृ० ७८)। प्रतीत होता है यह अल्लाड़ का निर्णयामृत है, किन्तु गोपीनारायण कुछ सन्देह उत्पन्न करते हैं। बीकानेर (पृ० ४२६)।

निर्णयामृत—रामचन्द्र द्वारा। नो० (जिल्द ११, भूमिका, पृ० ४)।

निर्णयामृत—(पाश्चात्य) रघुनन्दन के शुद्धितत्त्व में व०।

निर्णयार्णव—बालकृष्ण दीक्षित द्वारा।

निर्णयार्थप्रदीप—अहल्याकामधेनु में व०।

निर्णयोद्धार—(तीर्थनिर्णयोद्धार) राघवभट्ट द्वारा। नि० सि० एवं स्मृतिदर्पण का उल्लेख है। अतः १६५० ई० के उपरान्त। अलवर (उद्धरण ३२६), दे० 'तिथिनिर्णय' (राघवकृत)।

निर्णयोद्धारखण्डनमण्डन—यज्ञेश द्वारा (बड़ोदा, सं० ५२४७)। राघवभट्ट द्वारा लिखित निर्णयोद्धार के विषय में उठाये गये सन्देहों का निवारण।

नीतिकमलाकर—कमलाकर द्वारा।

नीतिकल्पतरु—क्षेमेन्द्र द्वारा।

नीतिगर्भितशास्त्र—लक्ष्मीपति द्वारा।

नीतिचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र द्वारा।

नीतिदीपिका।

नीतिप्रकाश—कुलमुनि द्वारा।

नीतिप्रकाश—वैशम्पायन द्वारा (मद्रास में डा० आपर्ट द्वारा सम्पादित, १८८२)। नीतिप्रकाशिका नाम भी है। राजधर्मोपदेश, धनुर्वेदविवेक, खड्गोत्पत्ति, मुक्तायुधनिरूपण, सेनानयन, सैन्यप्रयोग एवं राजव्यापार पर आठ अध्यायों में तक्षशिला में वैशम्पायन द्वारा जनमेजय को दिया गया शिक्षण। राजशास्त्र के प्रवर्तकों का उल्लेख है। टी० तत्त्वविवृत्ति, कौडिन्यगोत्र के नञ्जुण्ड के पुत्र सीताराम द्वारा।

नीतिप्रदीप—वेतालभट्ट का कहा गया है।

नीतिभाजनभाजन—भोजराज को समर्पित (मित्र, नो०, जिल्द २, पृ० ३३)।

नीतिमंजरी—आनन्दपुर के मुकुन्दद्विवेदी के तनुज अत्रिपुत्र लक्ष्मीधरात्मज द्याद्विवेदी द्वारा। अष्टकों (अध्यायों) में (ऋग्वेद के आठ अष्टकों के अनुसार) २०० श्लोक, जिनमें वैदिक उदाहरणों के साथ नैतिक वचन कहे गये हैं। इण्डि० एण्टी० (जिल्द ५, पृ० ११६)। तिथि सं० १५५० (१४९४ ई०)। लेखन-काल में ये नवयुवक थे और वेद को ११ प्रकार से पढ़ते थे। टी० युवदीपिका, लेखक द्वारा। टी० वेदार्थप्रकाश, लेखक द्वारा। टी० देवराज द्वारा।

नीतिमंजरी—शम्भुराज द्वारा। दण्डप्रकरण का एक अंश (बर्नेल, तंजौर, पृ० १४१ बी)।

नीतिमयूख—नीलकण्ठ द्वारा (बनारस, जे० आर० घरपुरे एवं गुजराती प्रेस, बम्बई द्वारा प्रका०)।

नीतिमाला—नारायण द्वारा।

नीतिरत्न—वररुचि का कहा गया है।

नीतिरत्नाकर—गदाधर के पितामह एवं कालसागर के लेखक कृष्णबृहत्पण्डित महापात्र द्वारा। लग० १४५० ई०।

नीतिरत्नाकर—(या राजनीतिरत्नाकर) चण्डेश्वर द्वारा। दे० प्रक० ९०; डा० जायसवाल द्वारा प्रका०।

नीतिलता—क्षेमेन्द्र द्वारा। लेखक की औचित्यविचारचर्चा में व०। ११वीं शती के द्वितीय एवं तृतीय चरण में।

नीतिवाक्यामृत—महेन्द्रदेव के छोटे भाई एवं नेमिदेव के शिष्य सोमदेव सूरि द्वारा। बम्बई में मानिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला द्वारा टीका के साथ प्रका०। धर्म, अर्थ, काम, अरिषड्वर्ग, विद्यावृद्ध, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, दूत, चार, विचार, व्यसन, सप्तांग राज्य (स्वामी आदि), राजरक्षा, दिवसानुष्ठान, सदाचार, व्यवहार, विवाद, षाड्गुण्य, युद्ध, विवाह, प्रकीर्ण नामक ३२ प्रकरणों में है। औफ्रेक्ट का कथन है कि लेखक मल्लिनाथ द्वारा किरातार्जुनीय में व० है। टी० अज्ञात; बहुत ही महत्त्वपूर्ण, क्योंकि स्मृतियों एवं राजनीतिशास्त्र के उद्धरण दिये हुए हैं।

नीतिविलास—व्रजराज शुक्ल द्वारा।

नीतिविवेक—करुणाशंकर द्वारा।

नीतिशास्त्रसमुच्चय।
नीतिसमुच्चय।
नीतिसार--घटकर्पर का कहा गया है।
नीतिसार--शुक्राचार्य का कहा गया है।
नीतिसारसंग्रह--मधुसूदन द्वारा।
नीतिसुमावलि--अप्पा वाजपेयी द्वारा।
नीराजनप्रकाश--जयनारायण तर्कपञ्चानन द्वारा।
नीलवृषोत्सर्ग--अनन्तभट्ट द्वारा।
नीलोत्सर्गपद्धति।
नीलोद्वाहपद्धति--श्राद्ध में वृषोत्सर्ग के कृत्य पर। इण्डि० आ० (पृ० ५७८, सं० १६४८=१५९१-२ ई०)।
नूतनप्रतिष्ठाप्रयोग।
नूतनमूर्तिप्रतिष्ठा--नारायण भट्ट कृत (आश्वलायनगृह्य-परिशिष्ट पर आधारित)। बड़ोदा (सं० ८८७६)।
नृसिंहजयन्तीनिर्णय--गोपालदेशिक द्वारा।
नृसिंहपरिचर्या--नि० सि० एवं अनन्त के स्मृतिकौस्तुभ में व०।
नृसिंहपरिचर्या--रामाचार्य के पुत्र कृष्णदेव द्वारा (स्टीन, पृ० २२२)।
नृसिंहपूजापद्धति--वृन्दावन द्वारा।
नृसिंहप्रसाद--वल्लभ के पुत्र दलपतिराज द्वारा। दे० प्रक० ९९।
नृसिंहाब्धिमहोदधि--आचाररत्न में व०।
नृसिंहार्चनपद्धति--ब्रह्माण्डानन्दनाथ द्वारा।
नैमित्तिकप्रयोगरत्नाकर--प्रेमनिधि द्वारा।
नौकादान।
न्यायदीपिका--अभिनवधर्मभूषणाचार्य द्वारा।
न्यायरत्नमालिका--(या न्यायमातृका) दे० जीमूत० की व्यवहारमातृका।
न्यासपद्धति--त्रिविक्रम द्वारा।
पञ्चकविधान।
पञ्चकविधि--(जब चन्द्र धनिष्ठा से रेवती तक किसी नक्षत्र में रहता है उस समय मरने पर कृत्य)।
पंचकशान्तिविधि--मधुसूदन गोस्वामी द्वारा।
पंचकालक्रियादीप--वैष्णव आह्निक पर।
पञ्चक्रोशसंन्यासाचार।
पञ्चक्रोशयात्रा--शिवनारायणानन्द तीर्थ द्वारा।
पञ्चगव्यमेलनप्रकार।
पञ्चगौडब्राह्मणजाति।
पञ्चत्रिंशच्छ्लोकी--श्राद्धपद्धति।
पञ्चदशकर्म--(शौनककारिका के अनुसार) १५ मुख्य संस्कारों पर।
पञ्चद्राविडजाति।
पञ्चमहायज्ञप्रयोग।
पञ्चमाश्रमविधि--शंकराचार्य कृत कहा गया है। परमहंस नामक पाँचवें स्तर के विषय में, जब कि संन्यासी अपना दंड एवं कमण्डलु त्याग देता है और बालक या पागल की भाँति घूमता रहता है। नो० (जिल्द १०, पृ० ३२९)।
पञ्चमीव्रतोद्यापन।
पञ्चलक्षणविधि।
पञ्चविधान--संस्कार, अधिवास, उद्वासन, पंचाग्नि-साधन, जलवासविधि पर।
पंचसंस्कार--आठ अध्यायों में। बड़ोदा (सं० १२३५५)।
पंचसंस्कारदीपिका--सुरेन्द्र के शिष्य विजयीन्द्रभिक्षु द्वारा। मध्वाचार्य के सिद्धान्तानुसार वैष्णवपद्धति (तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः। अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्त्यहेतवः॥)।
पंचसंस्कारविधि--सभी श्रीवैष्णवों के लिए।
पंचसूत्रीविधान--जयसिंहकल्पद्रुम से।
पंचाग्निकारिका--प्रयोगचन्द्रिका में व०।
पंचायतनपद्धति--भारद्वाज महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा (सूर्य, शिव, गणेश, दुर्गा एवं विष्णु के पंचायतन पर)। दे० सूर्यादिपंचायतनप्रतिष्ठापद्धति।
पंचायतनपूजा।
पंचायतनप्रतिष्ठापद्धति--महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा। सम्भवतः यह पंचायतनपद्धति है।
पंचायतनसार--पूर्तदिनकरोद्योत में व०।

पण्डितपरितोष——चतुर्वर्गचिन्तामणि में गोविन्दराज का खण्डन करते हुए हेमाद्रि द्वारा व०। दे० प्रक० ७६।

पण्डितसर्वस्व——हलायुध कृत। ब्राह्मणसर्वस्व एवं प्रायश्चित्ततत्त्व में व०। जीवानन्द (जिल्द १, पृ० ५३१)।

पतितत्यागविधि——दिवाकर द्वारा।

पतितसंसर्गप्रायश्चित्त——तंजौर के राजा सर्फोजी के तत्त्वावधान में पण्डितों की परिषद् द्वारा प्रणीत। हुल्श (रिपोर्ट ३, पृ० १२ एवं १२०)।

पतितसहगमननिषेधनिरासप्रकाश।

पदचन्द्रिका——दयाराम द्वारा।

पदार्थादर्श——रामेश्वर भट्ट कृत। निर्णयसिन्धु एवं शूद्रकमलाकर में व०।

पद्धतिरत्न——रूपनारायण द्वारा (बड़ोदा, सं० २३९३)।

पद्मनाभनिबन्ध।

पक्षव्यास——जीमूत० के कालविवेक द्वारा व०।

परभूजातिनिर्णय।

परभूप्रकरण——नीलकण्ठ सूरि द्वारा।

परभूप्रकरण——बाबदेव आटले द्वारा।

परभूप्रकरण——गोविन्दराय द्वारा (मित्र, नो० १०, पृ० २९६)। लग० १७४०-४९ ई०, शिवाजी के पौत्र शाहूजी के राज्यकाल में जब बालाजी बाजीराव पेशवा थे। गोविन्दराय राजलेखक एवं शाहू के प्रियपात्र थे। इसमें बाबदेव आटले को कपटी एवं करहाड ब्राह्मण कहा गया है।

परमहंसपरिव्राजकधर्मसंग्रह——विश्वेश्वर सरस्वती द्वारा। यह यतिधर्मसंग्रह है (आनन्दाश्रम प्रेस में प्रका०)।

परमहंससंन्यासपद्धति।

परमहंससंध्योपासन——शंकराचार्य द्वारा। बी० बी० आर० ए० एस० (जिल्द २, पृ० २४६)।

परमहंससंन्यासविधि।

परमेश्वरीदासाब्धि——(या स्मृतिसंग्रह) होरिलमिश्र द्वारा (बीकानेर, पृ० ४३१)।

परशुरामकारिका——अनन्तदेव के रुद्रकल्पद्रुम में व०।

परशुरामप्रकाश——(या निबन्ध) वाराणसी में धर्माधिकारी नारायणपण्डित के पुत्र खण्डेराय द्वारा। यह दो उल्लासों में आचार एवं श्राद्ध पर है। गोमती पर यमुनापुरी में संगृहीत। शाकद्वीपीय कुलावतंस होरिलमिश्र के पुत्र परशुराम की आज्ञा से प्रणीत। आचारार्क एवं स्मृत्यर्थसागर में व०। माधवीय एवं मदनपाल का इसमें उल्लेख है। १४००-१६०० के बीच।

परशुरामप्रताप——जामदग्न्य वत्सगोत्र के पण्डित पद्मनाभ के पुत्र साम्बाजी प्रतापराज (साबाजी) द्वारा। ये भट्ट कूर्म के शिष्य एवं निजामशाह के आश्रित थे। इसमें कम-से-कम आह्निक, जातिविवेक, दान, प्रायश्चित्त, संस्कार, राजनीति एवं श्राद्ध का विवेचन है। दे० विश्रामबाग-संग्रह (डे० का०) २, सं० २४३-२४६ एवं बर्नेल (तंजौर, पृ० १३१ ए)। एक विशद ग्रन्थ। बड़ोदा (सं० ५८८७) का राजवल्लभकाण्ड विषय में मानसोल्लास के समान है। टी० श्राद्धकाण्डदीपिका या श्राद्धदीपकलिका (बोपदेवपण्डित)। हेमाद्रि, कालादर्श उ० है।

पराशरस्मृति——भार्गवराय द्वारा (दे० 'वर्णजातिसंकरमाला')।

पराशरस्मृति——दे० प्रक० ३५ (सात बार प्रका०, बनारस सं० सी० का सम्पादन अत्युत्तम; जीवा०, भाग २, पृ० १-५२)। टी० माधवाचार्य द्वारा, दे० प्रक० ९२ (बनारस सं० सी०)। टी० गोविन्दभट्ट, रघुनन्दन के मलमासतत्त्व में व० (जीवा०, पृ० ७८७), १५०० ई० के पूर्व। टी० विद्वन्मनोहरा (नन्दपण्डितकृत), दे० प्रक० १०५ (इण्डि० आ०, ३, पृ० ३७७, सं० १३०१, जहाँ कुछ सारांश है); बनारस के 'दी पण्डितपत्र' में प्रका०; नो० न्यू०, जिल्द २९-३२। टी० महादेव एवं वेणी के पुत्र वैद्यनाथ पायगुण्डे द्वारा, जो नागोजि के शिष्य थे। टी० कामेश्वरयज्वा कृत हितधर्म; माधवीय का उल्लेख है। ताड़पत्र पाण्डु० सं० ६९५६ (बड़ोदा)।

परिभाषाविवेक——बिल्वपंचक कुल के भवेश के पुत्र वर्धमान द्वारा। लग० १४६०-१५०० ई०। नित्य,

त्तक एवं काम्यकर्म, कर्माधिकारी, प्रवृत्त एवं निवृत्त कर्म, आचमन, स्नान, पूजा, श्राद्ध, मधुपर्क, दान, युग आदि पर।

परिशिष्टदीपकलिका—शूलपाणि द्वारा। रघु० के शुद्धि-तत्त्व में व०। सम्भवतः यह गृह्यपरिशिष्ट (यथा छन्दोग०) की टी० है।

परिशिष्टप्रकाश—रघु० के शुद्धितत्त्व एवं एकादशीतत्त्व में व०। सम्भवतः यह छन्दोगपरिशिष्टप्रकाश ही है। टी० हरिरामकृत।

परिशिष्टसंग्रह।

परिशेषखण्ड—चतुर्वर्गचिन्तामणि का एक अंश।

परीक्षातत्त्व—रघु० का दिव्यतत्त्व।

परीक्षापद्धति—वासुदेव कृत। दिव्यों पर। विश्वरूप, यज्ञपार्श्व, मिताक्षरा, शूलपाणि पर आश्रित। १४५० ई० के पश्चात्।

पर्णपुरुष—(पर्णपुरुषविधि) दूर मरने वाले लोगों का आकृतिदाह।

पर्यङ्कशौचविधि—संन्यास ग्रहण पर।

पर्वकालनिर्णय।

पर्वतदानविधि।

पर्वनिर्णय—गणपति रावल द्वारा, जो हरिदास के पुत्र तथा रामदास (औदीच्य गुर्जर एवं गौड़ाधीश मनोहर द्वारा सम्मानित) के पौत्र थे। दर्श एवं पूर्णिमा के यज्ञों एवं श्राद्धों के उचित कालों पर विवेचन। कालविवेचन, नि० सि०, निर्णयसागर, मदन के उल्लेख हैं। सं० १७४२ (नेत्राम्भोधिधराधरक्षितिमिते श्री-विक्रमार्के शके) अर्थात् १६८५-८६ ई०।

पर्वनिर्णय—मुरारि द्वारा।

पर्वनिर्णय—माधव के पुत्र रघुनाथ वाजपेयी द्वारा। १५५०-१६२५ ई० के बीच।

पर्वनिर्णय—धर्मसिन्धु का एक अंश।

पर्वसंग्रह।

पलपीयूषलता—मधुसूदन के पुत्र मदनमनोहर द्वारा। विभिन्न प्रकार के मांसों के धार्मिक उपयोग पर ७ अध्याय।

पल्लव—राजनीति पर एक ग्रन्थ। राजनीतिरत्नाकर (चण्डेश्वर कृत) में व०। १३०० ई० के पूर्व।

पल्लीपतन—छिपकली गिरने से शकुनों पर।

पल्लीपतनफल।

पल्लीपतनविचार।

पल्लीपतनशान्ति।

पल्लीशरटकाकभासादिशकुन।

पल्लीशरटयोः फलाफलविचार।

पल्लीशरटयोः शान्ति।

पल्लीशरटविधान।

पवित्ररोगपरिहारप्रयोग।

पवित्रारोपणविधान—श्रावण में देवता के चतुर्दिक् नव-सूत्र चढ़ाने एवं फिर धारण करने का कृत्य।

पशुपतिदीपिका—शुद्धिकौमुदी (पृ० २०६ एवं २१०) में व०। सम्भवतः यह पशुपति की 'दशकर्मदीपिका' है।

पशुपतिनिबन्ध—श्राद्धक्रियाकौमुदी (पृ० ५०३) में व०। हलायुध के भाई पशुपति की 'श्राद्धपद्धति ही सम्भवतः यह है। लग० ११७०-१२०० ई०।

पाकयज्ञनिर्णय—(या पाकयज्ञपद्धति) धर्मेश्वर (उप० धर्मभट्ट) के पुत्र उमापति (उप० उमाशंकर या उमण-भट्ट) के तनुज चन्द्रशेखर (उप० चन्द्रचूड़) द्वारा। १५७५-१६५० ई० के बीच।

पाकयज्ञपद्धति—पशुपति द्वारा।

पाकयज्ञप्रयोग—बालकृष्ण के पुत्र शम्भुभट्ट द्वारा। आपस्तम्बधर्मसूत्र का अनुसरण करता है। इण्डि० आ० (पृ० ९९-१००, पाण्डु० तिथि सं० १७४९, १६९२-९३ ई०)। १६६०-१७१० ई०।

पाञ्चालजातिविवेक।

पाणिग्रहणादिकृत्यविवेक—मथुरानाथ तर्कवागीश द्वारा। नो० (जिल्द ९, पृ० २४४) का कथन है कि लेखक रघुनाथ हैं, किन्तु कालोफोन में मथुरानाथ नाम आया है।

पारस्करगृह्यकारिका—(उप० कातीयगृह्यसूत्रप्रयोग-विवृति) शाण्डिल्य गोत्र के सोमेश्वरात्मज महेशसूरि

के पुत्र रेणुकाचार्य द्वारा। शक सं० ११८८ (१२६६ ई०) में प्रणीत (इण्डि० आ०, जिल्द १, पृ० ६७)।

पारस्करगृह्यपरिशिष्टपद्धति—कूपादिप्रतिष्ठा पर कामदेव दीक्षित द्वारा (गुजराती प्रेस में मुद्रित)।

पारस्करगृह्यसूत्र—(कातीयगृह्यसूत्र) तीन काण्डों में (स्टेंज़्लर द्वारा लिपज़िग में, काशी सं० सी० एवं गुजराती प्रेस, बम्बई द्वारा कई टीकाओं के साथ मुद्रित एवं एस० बी० ई०, जिल्द २९, द्वारा अनूदित)। टी० अमृतव्याख्या, अपनी शुद्धिचन्द्रिका में नन्दपण्डित द्वारा व०; १५५० ई० के पूर्व। टी० अर्थभास्कर, राघवेन्द्रारण्य के शिष्य भास्कर द्वारा। टी० प्रकाश, विश्वरूप दीक्षित के पुत्र वेदमिश्र द्वारा लिखित एवं उनके पुत्र मुरारिमिश्र द्वारा प्रयुक्त। टी० संस्कारगणपति, प्रयागभट्टात्मज कोनेट के पुत्र रामकृष्ण द्वारा (चौखम्भा सं० सी० द्वारा प्र०), चार खण्डों में; ये भारद्वाजगोत्रीय और विजयसिंह द्वारा संरक्षित थे; वशिष्ठा नदी पर चिंचमण्डलपत्तन में लिखित; कर्क, हरिहर, गदाधर, हलायुध, काशिका एवं दीपिका उ० हैं; लेखक ने श्राद्धगणपति भी प्रणीत किया; इण्डि० आ० (पृ० ५६२) में श्राद्धसंग्रह का वर्णन है; लग० १७५० ई०। टी० सज्जनवल्लभा, मेवाड़वासी भारद्वाज गोत्र के बलभद्र-पुत्र जयराम द्वारा; उवट, कर्क एवं स्मृत्यर्थसार के उल्लेख हैं एवं गदाधर द्वारा व०; अलवर (उद्धरण ३९) पाण्डु० की तिथि सं० १६११ अर्थात् १५५४-५ ई० है; १२००-१४०० ई० के बीच; गुजराती प्रेस एवं चौखम्भा द्वारा प्रका०। टी० भाष्य, कर्क द्वारा; त्रिकाण्डमण्डन, हेमाद्रि एवं हरिहर द्वारा व०; ११०० ई० के पूर्व; गुज० प्रे० द्वारा मुद्रित। टी० भाष्य, परिशिष्टकण्डिका पर कामदेव द्वारा; गुज० प्रेस द्वारा मुद्रित। टी० वामन के पुत्र गदाधर द्वारा; कर्क, जयरामभाष्य, भर्तृयज्ञ, मदनपारिजात, हरिहर के नाम आये हैं; लग० १५०० ई०; काशी सं० सी० एवं गुज० प्रे० द्वारा मुद्रित। टी० भर्तृयज्ञ द्वारा, जयराम के भाष्य में व०। टी० वेदमिश्र के पुत्र मुरारिमिश्र द्वारा (पारस्करगृह्यमन्त्रों पर); पाण्डु० (स्टीन, पृ० २५२) की तिथि सं० १४३० (१३७३ ई०)। टी० वागीश्वरीदत्त द्वारा। टी० वासुदेव दीक्षित द्वारा; हरिहर एवं रघु० (यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व में) द्वारा व०; सभी कृत्यों की पद्धति है; १२५० ई० से पूर्व। टी० काश्यपगोत्र के नागरब्राह्मण नृसिंह के पुत्र विश्वनाथ द्वारा; विश्वनाथ के चाचा अनन्त के पौत्र लक्ष्मीधर द्वारा बनारस में संगृहीत, तिथि १६९२ माघ (१६३५ ई०); कर्क, हरिहर, कालनिर्णय प्रदीपिका के उल्लेख हैं; अतः विश्वनाथ की तिथि लग० १५५० ई० है; देखिए अलवर (उद्धरण ४२); गुज० प्रेस में मुद्रित। टी० हरिशर्मा द्वारा; प्रायश्चित्ततत्व में उल्लिखित (जीवा०, जिल्द १, पृ० ५३१)। टी० भाष्य एवं पद्धति, हरिहर द्वारा (गुज० प्रे० एवं काशी सं० सी०); कर्क, कल्पतरुकार, रेणु, वासुदेव, विज्ञानेश्वर के उल्लेख हैं; श्राद्धक्रियाकौमुदी (गोविन्दानन्दकृत) में व०; १२७५-१४०० ई० के बीच; दे० प्रक० ८४; रघु० ने यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व में हरिशर्मा एवं हरिहर के नाम लिये हैं (कात्यायनगृह्य की एक व्याख्या में)।

पारस्करगृह्यसूत्रपद्धति—कामदेव द्वारा।

पारस्करगृह्यसूत्रपद्धति—भास्कर द्वारा। दे० ऊपर।

पारस्करगृह्यसूत्रपद्धति—वासुदेव द्वारा। देखिए ऊपर।

पारस्करमन्त्रभाष्य—मुरारि द्वारा। दे० 'पारस्करगृह्यसूत्र' के अन्तर्गत।

पारस्करश्राद्धसूत्रवृत्त्यर्थसंग्रह—उदयशंकर द्वारा (स्टीन, पृ० १७)।

पारिजात—बहुत-से ग्रन्थों के नाम इस शीर्षक से पूर्ण होते हैं, यथा—मदनपारिजात, प्रयोगपारिजात, विधानपारिजात।

पारिजात—दे० प्रक० ७५।

पारिजात—भानुदत्त द्वारा। बिहार० (जिल्द १, सं० २५७ एवं जे० बी० ओ० आर० एस०, १९२७, भाग ३-४ पृ० ७)।

पार्थिवलिंगपूजा—बौधायनसूत्र, बृहद्वसिष्ठ, लिंगपुराण पर आधृत। इण्डि० आ० (पृ० ५८५)।
पार्थिवलिंगपूजाविधि—स्टीन कैटलाग (पृ० ९५) में दो भिन्न ग्रन्थ।
पार्वणचटश्राद्धप्रयोग—देवभट्ट द्वारा।
पार्वणचन्द्रिका—गंगोली संजीवेश्वर शर्मा के पुत्र रत्नपाणि शर्मा द्वारा। कई प्रकार के, किन्तु विशेषतः पार्वण श्राद्ध पर। छन्दोग सम्प्रदाय के अनुसार।
पार्वणत्रयश्राद्धविधि—स्टीन (पृ० ९५)।
पार्वणप्रयोग—श्राद्धनृसिंह का एक अंश।
पार्वणश्राद्ध—(आश्वलायनीय)। टी० प्रदीप भाष्य, नारायण द्वारा।
पार्वणश्राद्धपद्धति।
पार्वणश्राद्धप्रयोग—छन्दोगों के लिए।
पार्वणश्राद्धप्रयोग—देवभट्ट द्वारा वाजसनेयियों के लिए।
पार्वणस्थालीपाकप्रयोग—नारायण भट्ट के प्रयोगरत्न का एक अंश।
पार्वणादिश्राद्धतत्त्व—रघु० का श्राद्धतत्त्व देखिए।
पिण्डपितृयज्ञप्रयोग—(हिरण्यकेशीय) उमापति के पुत्र चन्द्रचूड़ भट्ट द्वारा।
पिण्डपितृयज्ञप्रयोग—विश्वेश्वर भट्ट (उप० गागाभट्ट) द्वारा। बीकानेर कैटलाग (१३६)।
पिण्डपितृयज्ञप्रयोग—हरिहर के प्रयोगरत्न से।
पितामहस्मृति—दे० प्रक० ४४।
पितृदयिता—अनिरुद्ध कृत। दे० प्रक० ८२। संस्कृत-साहित्यपरिषद् सी०, कलकत्ता द्वारा प्रका०।
पितृपद्धति—गोपालाचार्य द्वारा। शूलपाणि का उल्लेख है। अतः १४५० ई० के उपरान्त।
पितृभक्ति—श्रीदत्त द्वारा। दे० प्रक० ८९, यजुर्वेद के पाठकों के लिए। टी० मुरारि द्वारा। लग० १५वीं शती के अन्त में।
पितृभक्तितरंगिणी—(उप० श्राद्धकल्प) वाचस्पति मिश्र द्वारा। दे० प्रक० ९८।
पितृमेधप्रयोग—कर्पादिकारिका के एक अनुयायी द्वारा। नो० (जिल्द १०, पृ० २७१)।
पितृमेधभाष्य—(आपस्तम्बीय) गार्ग्य गोपाल द्वारा।
पितृमेधविवरण—रङ्गनाथ द्वारा।
पितृमेधसार—गोपालयज्वा द्वारा।
पितृमेधसार—रङ्गनाथ के पुत्र वेंकटनाथ द्वारा।
पितृमेधसारसुधीविलोचन—(एक टीका) वैदिक-सार्वभौम द्वारा। सम्भवतः उपर्युक्त वेंकटनाथ ही हैं।
पितृमेधसूत्र—गौतम द्वारा। टी० कृष्ण के पुत्र अनन्त-यज्वा द्वारा। भारद्वाज द्वारा। हिरण्यकेशी द्वारा। आपस्तम्बीय (प्रश्न, कल्प के ३१-३२)। टी० कपर्दिस्वामी द्वारा (कुम्भकोनम् में प्रका०, १९०५ ई०)।
पितृसांवत्सरिकश्राद्धप्रयोग।
पितृहितकरणी—श्रीदत्त की पितृभक्ति में व०। लग० १३०० ई०।
पिष्टपशुखण्डन—टीकाकार शर्मा द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० ११६)।
पिष्टपशुखण्डनमीमांसा—(या पिष्टपशुमीमांसा) विश्वनाथ के पुत्र एवं नीलकण्ठ के शिष्य नारायण पण्डित द्वारा। नो० (जिल्द १०, पृ० ३१२)। यज्ञों में बकरे के स्थान पर पिष्टपशु का प्रयोग बतलाया गया है। पाण्डु० तिथि सं० १७८५ (१७२८ ई०)।
पिष्टपशुमण्डन—गार्ग्यगोत्र के टीकाकार शर्मा द्वारा। बड़ोदा (सं० २४३६)। सम्भवतः यह उपर्युक्त पिष्ट-पशुखण्डन ही है। टी० बड़ोदा (पाण्डुलिपि में)।
पिष्टपशुमण्डनव्याख्यार्थदीपिका—रक्षपाल द्वारा।
पिष्टपशुमीमांसाकारिका—विश्वनाथ के पुत्र नारायण द्वारा।
पुंसवनादिकालनिर्णय।
पुण्याहवाचनप्रयोग—पुरुषोत्तम द्वारा।
पुत्रक्रमदीपिका—रामभद्र द्वारा। बारह प्रकार के पुत्रों के दायाधिकारों एवं रिक्थ पर।
पुत्रप्रतिग्रहप्रयोग—शौनककृत कहा गया है। पीटर्सन की छठी रिपोर्ट (सं० १२२)।
पुत्रपरिग्रहसंशयोद्भेदपरिच्छेद—स्टीन (पृ० ९५)।
पुत्रस्वीकारनिरूपण—वत्स गोत्र के विश्वेश्वर के पुत्र

रामपण्डित द्वारा। विज्ञानेश्वर, चन्द्रिका, कालादर्श, वरदराज के उल्लेख हैं। १४०० ई० के उपरान्त।

पुत्रस्वीकारनिरूपण।

पुत्रीकरणमीमांसा--नन्दपण्डित द्वारा। यह ऊपर की दत्तकमीमांसा ही है। दे० प्रक० १०५।

पुत्रोत्पत्तिपद्धति।

पुनःसंधान--गृह्य अग्नि की पुनः स्थापना के विषय में।

पुनरुपनयन--प्रथम बार वर्जित भोजन करने पर ब्राह्मण का फिर से उपनयन।

पुनरुपनयनप्रयोग--महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा।

पुनर्विवाहमीमांसा--बालकृष्ण द्वारा। बड़ोदा (सं० ९०२६)।

पुनर्विवाहविधि।

पुरश्चरणकौमुदी--माधवाचार्य वज्र के पुत्र मुकुन्द द्वारा।

पुरश्चरणकौस्तुभ--अहोबल कृत, जो ईशानेन्द्र एवं नृसिंहेन्द्र के शिष्य थे। बनारस में प्रणीत।

पुरश्चरणचन्द्रिका--गोविन्दानन्द की वर्षकृत्यकौमुदी एवं रघुनन्दन के तिथितत्त्व एवं आह्निकतत्त्व में व०।

पुरश्चरणचन्द्रिका--बिबुधेन्द्राश्रम के शिष्य परमहंस देवेन्द्राश्रम द्वारा। नो० (जिल्द ७, पृ० १६३)। ड० का० (सं० ३३, १८९८-९९); सं० १७५३।

पुरश्चरणचन्द्रिका--माधव पाठक द्वारा।

पुरश्चरणदीपिका--बिबुधेन्द्राश्रम द्वारा।

पुरश्चरणचन्द्रिका--जयरामभट्ट के पुत्र काशीनाथ द्वारा।

पुरश्चरणदीपिका--चन्द्रशेखर द्वारा।

पुरश्चरणदीपिका--रामचन्द्र द्वारा।

पुरश्क्रियाचर्या--रघु० के तिथितत्त्व में उल्लिखित।

पुराणसमुच्चय--हेमाद्रि, निर्णयामृत, नि० सि०, द्वैतनिर्णय में व०। १२०० ई० के पूर्व।

पुराणसर्वस्व--बंगाल के ज़मीन्दार श्रीसत्य के आश्रय में श० सं० १३९६ (१४७४-५ ई०) में संगृहीत।

पुराणसर्वस्व--पुरुषोत्तम द्वारा। मित्र, नो० (जिल्द १, पृ० १८८)।

पुराणसर्वस्व--पुरुषोत्तम के पुत्र हलायुध द्वारा। ७३० सुन्दर विषयों पर। १४७४ ई० में प्रणीत। दे० औफ्रेक्ट (पृ० ८४-८७)।

पुराणसार--पराशरमाधवीय, नृसिंहप्रसाद एवं आह्निकतत्त्व में व०। १३०० ई० के पूर्व।

पुराणसार--नवद्वीप के राघवराय के पुत्र राजकुमार रुद्रशर्मा द्वारा। नो० (जिल्द १०, पृ० ६२-६५)

पुराणसारसंग्रह।

पुरुषार्थचिन्तामणि--रामकृष्ण के पुत्र विष्णुभट्ट आठवले द्वारा। काल, संस्कार आदि पर एक विशाल ग्रन्थ। मुख्यतः हेमाद्रि एवं माधव पर निर्भर। निर्णय० प्रे० एवं आनन्दाश्रम प्रे० द्वारा मुद्रित। बड़ोदा (सं० १६६६), श० सं० १७०६ (१७८४-५ ई०)।

पुरुषार्थप्रबोध--रामराजसरस्वती के शिष्य ब्रह्मानन्दभारती द्वारा। भस्म, रुद्राक्ष, रुद्र-भक्ति के धार्मिक महत्त्व पर क्रम से ४, ५, ६ अध्यायों में तीन भागों वाला एक विशाल ग्रन्थ; असनसी नदी के मलव्ली स्थान पर श० सं० १४७६ में प्रणीत। विद्यारण्य का उल्लेख एवं शूद्रकमलाकर में व०। दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २२०-२२२), सं० ६९९। चिदम्बरम् में मुद्रित, १९०७ ई०।

पुरुषार्थप्रबोधिनी।

पुरुषार्थरत्नाकर--कृष्णानन्द सरस्वती के शिष्य रंगनाथ सूरि द्वारा। पुराणप्रामाण्यविवेक, त्रिवर्गतत्त्वविवेक, मोक्षतत्त्वविवेक, वर्णादिधर्मविवेक, नामकीर्तनादि, प्रायश्चित्त, अधिकारी, तत्त्वपदार्थविवेक, मुक्तिगत विवेक पर १५ तरंगों में।

पुरुषार्थसुधानिधि--सायणाचार्य द्वारा (बड़ोदा, सं० ७१०१ तथा अन्य पाण्डु० के मत से, कुछ के मत से विद्यारण्य द्वारा)। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पर।

पुरुषोत्तमक्षेत्रतत्त्व--रघु० द्वारा। उड़ीसा के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर पर। दे० प्रक० १०२।

पुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार--दे० पीटर्सन की छठी रिपोर्ट सं० ९५।

पुलस्त्यस्मृति--दे० प्रक० ४५।

पुलहस्मृति--स्मृतिचन्द्रिका एवं माधवाचार्य द्वारा व०।

पुष्टिमार्गीयाह्निक--वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के लिए व्रजराज द्वारा।

पुष्पचिन्तामणि।

पुष्पमाला--रुद्रधर द्वारा। देव-पूजा में प्रयुक्त होने वाले पुष्पों एवं पत्तियों पर।

पुष्पसारसुधानिधि--अहल्याकामधेनु में उल्लिखित।

पूजनमालिका--भवानीप्रसाद द्वारा।

पूजापद्धति--जनार्दन के पुत्र आनन्दतीर्थ द्वारा।

पूजापद्धति--(या पद्यमाला) आनन्दतीर्थ के शिष्य जयतीर्थ द्वारा। बड़ोदा (सं० ८६८५)।

पूजापद्धति--विष्णुभट्ट छजवलकर के पुत्र रामचन्द्र भट्ट द्वारा। बड़ोदा (सं० १०४७१), पाण्डु० श० सं० १७३५, अर्थात् १८१३-१४ ई० में उतारी गयी।

पूजापाल--आह्निकचन्द्रिका में उल्लिखित।

पूजाप्रकाश--मित्रमिश्र द्वारा (वीरमित्रोदय का अंश)। दे० प्रक० १०८।

पूजाप्रदीप--गोविन्द द्वारा। रघु० के दीक्षातत्त्व में उल्लिखित।

पूजारत्नाकर--चण्डेश्वर द्वारा। दे० प्रक० ९०।

पूर्णचन्द्र--रिपुञ्जय द्वारा। प्रायश्चित्त पर।

पूर्तकमलाकर--कमलाकर भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०६।

पूर्तप्रकाश--प्रतापनारसिंह (रुद्रदेव कृत) का एक प्रकरण।

पूर्तमाला--रघुनाथ द्वारा।

पूर्तोद्द्योत--विश्वेश्वर भट्ट द्वारा। दिनकरोद्द्योत का एक अंश।

पूर्वाह्नलीला--वैष्णवों के लिए स्नान से पूजा तक के कृत्यों पर।

पृथगुद्वाह।

पृथ्वीचन्द्र--सम्भवतः यह पृथ्वीचन्द्रोदय ही है। विधानपारिजात में व०।

पृथ्वीचन्द्रोदय--हेमाद्रि (चतुर्वर्ग० ३।१।१८३), द्वैतनिर्णय (शंकरभट्ट), विधानपारिजात, नि० सि० द्वारा व०। १२५० ई० के पूर्व।

पृथ्वीमहोदय--भारद्वाज गोत्र के उमापति-पुत्र प्रेमनिधि शर्मा (विरुद 'पन्त') द्वारा। ड० का० (सं० १२६, १८८४-८६); १६५९, अर्थात् १७३७-३८ ई० (नन्दपञ्चनृपसंमितशाके) में प्रणीत। इसमें श्रवणाकर्म प्रायश्चित्त आदि का विवेचन है।

पृथ्वीरहस्य--अहल्याकामधेनु में व०।

पैङ्ग्यस्मृति--मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१८) में उल्लिखित।

पैठीनसिस्मृति--दे० प्रक० २४।

पैतृकतिथिनिर्णय--चक्रधर द्वारा।

पैतृमेधिक--भरद्वाज गोत्र के यल्लुभट्ट के पुत्र यल्लाजि द्वारा। भारद्वाजीय सूत्र एवं कपर्दी के अनुसार। हुल्श (सं० ५८)।

पैतृमेधिकसूत्र--भारद्वाज द्वारा (दो प्रश्नों में, प्रत्येक १२ कण्डिकाओं में)।

प्रकाश--बहुत-से ग्रन्थों का विरुद 'प्रकाश' है, यथा--सर्वधर्मप्रकाश (शंकरभट्टकृत), परशुरामप्रकाश, परिशिष्टप्रकाश।

प्रकाश--दे० प्रक० ७४।

प्रक्रियाञ्जनटीका--वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा।

प्रचेतःस्मृति--दे० प्रक० ४६।

प्रजापतिस्मृति--दे० प्रक० ४७, आनन्दाश्रम प्रे० (पृ० ९०-९८) में मुद्रित।

प्रजापद्धति--राजनीति पर।

प्रजापालन।

प्रणवकल्प--शौनककृत कहा गया है। ओंकार के रहस्यवादी प्रभाव एवं रूप पर। टी० हेमाद्रि द्वारा।

प्रणवकल्प--आनन्दतीर्थ द्वारा।

प्रणवकल्प--(स्कन्दपुराण से) टी० प्रकाश, रामचन्द्र सरस्वती के शिष्य गंगाधर सरस्वती द्वारा।

प्रणवदर्पण--वेंकटाचार्य द्वारा।

प्रणवदर्पण--श्रीनिवासाचार्य द्वारा।

प्रणवपरिशिष्ट--रघु० के आह्निकतत्त्व में व०।

प्रणवार्चनचन्द्रिका--मुकुन्दलाल द्वारा।

प्रणवोपासनाविधि--अग्निहोत्रिपाठक के पुत्र एवं काशीपाठक के पौत्र गोपीनाथ पाठक द्वारा।

प्रतापनारसिंह—भारद्वाज गोत्रज तोरोनारायण के पुत्र रुद्रदेव द्वारा। गोदावरी पर प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठन) में श० सं० १६३२ (१७१०-११ ई०) में प्रणीत। संस्कार, पूर्त, अन्त्येष्टि, संन्यास, यति, वास्तुशान्ति, पाकयज्ञ, प्रायश्चित्त, कुण्ड, उत्सर्ग, जातिविवेक पर प्रकाशों में विभक्त एक विशद निबन्ध। दे० बी० बी० आर० ए० एस० (पृ० २२२, सं० ७००-७०३)।

प्रतापमार्तण्ड—(या प्रौढप्रतापमार्तण्ड) सूर्यवंशज कपिलेश्वरात्मज पुरुषोत्तम के पुत्र, उत्कलराज प्रतापरुद्र गजपति का कहा गया है। पाँच प्रकाशों में। दे० प्रक० १००, नो० (जिल्द १०, पृ० २२२-२२५)। समयमयूख एवं श्राद्धमयूख में उल्लिखित।

प्रतापमार्तण्ड—माधव के पुत्र रामकृष्ण द्वारा। प्रतापरुद्र गजपति के आदेश से रचित। स्टीन (पृ० ९६)। सम्भवतः यह उपर्युक्त ही है।

प्रतापरुद्रनिबन्ध—शंकरभट्ट द्वारा द्वैतनिर्णय में उल्लिखित। सम्भवतः यह प्रतापमार्तण्ड है।

प्रतापार्क—रत्नाकरात्मज गंगारामपौत्र, रामेश्वर के पुत्र 'महाशब्द' उपाधिधारी, शाण्डिल्यगोत्र के विश्वेश्वर द्वारा। उनके पूर्वज के जयसिंहकल्पद्रुम पर आधृत एवं जयसिंह के पौत्र प्रताप के आदेश से प्रणीत। अलवर (३२८)।

प्रतिग्रहप्रायश्चित्तप्रकार।

प्रतिमादान।

प्रतिमाप्रतिष्ठा—नीलकण्ठ द्वारा।

प्रतिमासंग्रह—चण्डेश्वर के दानरत्नाकर में उल्लिखित।

प्रतिष्ठाकल्पलता—वृन्दावन शुक्ल द्वारा।

प्रतिष्ठाकौमुदी—शङ्कर द्वारा।

प्रतिष्ठाकौस्तुभ।

प्रतिष्ठाचिन्तामणि—गंगाधर द्वारा।

प्रतिष्ठातत्त्व—(या देवप्रतिष्ठातत्त्व) रघुनन्दन द्वारा। दे० प्रक० १०२।

प्रतिष्ठादर्पण—नारायणात्मज गोपाल के पुत्र पद्मनाभ द्वारा (पाण्डु०, भण्डारकर संग्रह)। तिथि श० सं० १७०६ (१७८४-५ ई०)।

प्रतिष्ठादीधिति—अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ से।

प्रतिष्ठानिर्णय—गंगाधर कृत।

प्रतिष्ठापद्धति—अनन्तभट्ट (उर्फ बापूभट्ट) द्वारा।

प्रतिष्ठापद्धति—रघुसूरि के पुत्र त्रिविक्रम भट्ट द्वारा। नो० (जिल्द ५, पृ० १५७); पाण्डु० सं० १७८५ में उतारी गयी।

प्रतिष्ठापद्धति—नीलकण्ठ द्वारा।

प्रतिष्ठापद्धति—महेश्वर भट्ट हर्ष द्वारा।

प्रतिष्ठापद्धति—राधाकृष्ण द्वारा।

प्रतिष्ठापद्धति—शंकरभट्ट द्वारा।

प्रतिष्ठाप्रकाश—हरिप्रसादशर्मा द्वारा।

प्रतिष्ठाप्रयोग—कमलाकर द्वारा।

प्रतिष्ठामयूख—नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०७। घरपुरे द्वारा मुद्रित। प्रतिष्ठाप्रयोग भी नाम है। दे० अलवर (उद्धरण ३३०)।

प्रतिष्ठारत्न।

प्रतिष्ठार्कपद्धति—दिवाकर द्वारा।

प्रतिष्ठाविवेक—उमापति द्वारा।

प्रतिष्ठाविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५।

प्रतिष्ठासंग्रह।

प्रतिष्ठासमुच्चय—रघु० के देवप्रतिष्ठातत्त्व में व०।

प्रतिष्ठासागर—बल्लालसेन कृत। उनके दानसागर में व०। दे० प्रक० ९३।

प्रतिष्ठासार—रामचन्द्र द्वारा। शान्तिमयूख में व०।

प्रतिष्ठासारदीपिका—पंचवटी निवासी चिन्तामणि के पुत्र पाण्डुरंग टकले द्वारा। श० सं० १७०२ (१७८०-८१ ई०) में प्रणीत। बड़ोदा (सं० ३३३)।

प्रतिष्ठासारसंग्रह—हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० १३४), कुण्डमण्डपसिद्धि एवं दानमयूख द्वारा व०।

प्रतिष्ठेन्दु—नारायण भाटे के पुत्र त्र्यम्बक द्वारा। बड़ोदा (सं० ११०८९ बी)।

प्रतिष्ठोद्द्योत—(दिनकरोद्द्योत का अंश) दिनकर एवं उनके पुत्र विश्वेश्वर (गागाभट्ट) द्वारा।

प्रतिसरबन्धप्रयोग—विवाह एवं अन्य उत्सवावसर पर कलाई में सूत्र बाँधने के नियमों पर।

प्रतीताक्षरा—मिताक्षरा पर नन्दपण्डित की टी०। दे० प्रक० १०५।

प्रत्यवरोहणप्रयोग—नारायणभट्ट के प्रयोगरत्न का अंश।

प्रथिततिथिनिर्णय—नागदैवज्ञ द्वारा।

प्रदीप—बहुत-से ग्रन्थों के नामों के अन्त में आता है, यथा आचारप्रदीप, कृत्यप्रदीप, समयप्रदीप, संवत्सर-प्रदीप आदि।

प्रदीप—दे० प्रक० ८०।

प्रदीपप्रदानपद्धति—देखिए महाप्रदीप०।

प्रदीपिका—गणेश के दण्डविवेक में एवं सरस्वतीविलास में व०। १४५० ई० के पूर्व।

प्रदोषनिर्णय—विष्णुभट्ट द्वारा (पुरुषार्थचिन्तामणि से)।

प्रदोषपूजापद्धति—वासुदेवेन्द्र के शिष्य वल्लभेन्द्र द्वारा।

प्रपञ्चसार—वर्षक्रियाकौमुदी, आह्निकतत्त्व (रघु० द्वारा) में व०। तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ प्रतीत होता है। १४५० ई० के पूर्व। टी० व्याख्यान, देवनाथ की तन्त्र-कौमुदी में उ०। १५५० ई० के पूर्व। टी० गीर्वाण-योगीन्द्र द्वारा। टी० ज्ञानस्वरूप द्वारा।

प्रपञ्चसारविवेक—(या भवसारविवेक) सदाशिव के पुत्र गंगाधर महाड़कर द्वारा। आठ उल्लासों में। पाण्डु० तिथि सं० १८४० (१७८३-४ ई०)। दे० नो० (जिल्द १०, पृ० १६२)। आह्निक, भगवत्पूजा, भागवतधर्म पर।

प्रपञ्चामृतसार—तंजौर के राजा एकराज (एकोजि) द्वारा, जिन्होंने १६७६ से १६८४ ई० तक राज्य किया। पूजा एवं नीति के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं। बर्नेल, तंजौर कैट०, (पृ० १४१ बी)।

प्रपन्नगतिदीपिका—तातादास द्वारा। विज्ञानेश्वर, चन्द्रिका, हेमाद्रि, माधव, सार्वभौम, वैद्यनाथदीक्षित का उल्लेख है।

प्रपन्नदिनचर्या—रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार।

प्रपन्नलक्षण।

प्रपन्नौर्ध्वदेहिकविधि।

प्रभाकराह्निक—प्रभाकर भट्ट द्वारा।

प्रमाणदर्पण।

प्रमाणपल्लव—नृसिंह या नरसिंह ठक्कुर द्वारा। आचार आदि पर परिच्छेदों में विभक्त।

प्रमाणसंग्रह।

प्रमाणसारप्रकाशिका।

प्रमेयमाला।

प्रयागकृत्य—त्रिस्थलीसेतु का एक अंश।

प्रयागप्रकरण—(प्रयागप्रघट्टक) त्रिस्थलीसेतु से।

प्रयागसेतु—अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ में व०। त्रिस्थलीसेतु का एक अंश।

प्रयागकौस्तुभ—गणेशपाठक द्वारा।

प्रयोगचन्द्रिका—वीरराघव द्वारा।

प्रयोगचन्द्रिका—सीताराम के भाई श्रीनिवास-शिष्य द्वारा।

प्रयोगचन्द्रिका—१८ खण्डों में। पुंसवन से श्राद्ध तक। आपस्तम्बगृह्य का अनुसरण है। कण्ठभूषण, पंचाग्नि-कारिका, जयन्तकारिका, कपर्दिकारिका, दर्शनिर्णय, वामनकारिका, सुधीविलोचन, स्मृतिरत्नाकर का उल्लेख है (मद्रास गवर्नमेण्ट सं० पाण्डु०, जिल्द ७, पृ० २७९८, सं० ३७१३)।

प्रयोगचिन्तामणि—(रामकल्पद्रुम का भाग) अनन्तभट्ट द्वारा।

प्रयोगचूडामणि—(भण्डारकर संग्रह में पाण्डु०) स्वस्ति-क, पुण्याहवाचन, ग्रहयज्ञ, स्थालीपाक, दुष्टरजोदर्शन-शान्ति, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, षष्ठीपूजा, नामकरण, चौल एवं अन्य संस्कारों, उपनयन, विवाह पर।

प्रयोगचूडामणि—मित्र, नो० (जिल्द ४, पृ० २२)।

प्रयोगचूडामणि—रघु० द्वारा व०।

प्रयोगतत्त्व—शाण्डिल्य गोत्रज भानुजि के पुत्र रघुनाथ द्वारा। सामान्य धार्मिक कृत्यों (संस्कारों), परि-भाषा, स्वस्तिवाचन ग्रहमख आदि पर २५ तत्त्वों में काशी में प्रणीत। तिथि श० सं० १५७७ (१६५६ ई०) में रचित।

प्रयोगतिलक—वीरराघव द्वारा। बड़ोदा (सं० ९८०६)।

प्रयोगदर्पण—चायम्भट्ट के पुत्र नारायण द्वारा। ऋग्वेद-विधि के अनुसार गृह्य कृत्यों पर। उज्ज्वला (हरदत्त कृत), हेमाद्रि, चण्डेश्वर, श्रीधर, स्मृतिरत्नावलि के नाम आये हैं। १४०० ई० के उपरान्त।

प्रयोगदर्पण—नारायण के पुत्र गोपालात्मज पद्मनाभ दीक्षित द्वारा। देवप्रतिष्ठा, मण्डपपूजा, तोरणपूजा आदि पर।

प्रयोगदर्पण—रमानाथ विद्यावाचस्पति द्वारा। गृहस्थों के आह्निकों पर। हेमाद्रि को उ० करता है।

प्रयोगदर्पण—वीरराघव द्वारा।

प्रयोगदर्पण—वैदिकसार्वभौम द्वारा।

प्रयोगदर्पण—अज्ञात। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० १९०), अन्त्येष्टि क्रिया एवं श्राद्ध पर। स्मृत्यर्थसार के लेखक श्रीधर का उ० है।

प्रयोगदीप—दयाशंकर द्वारा (शांखायनगृह्य के लिए)।

प्रयोगदीपिका—मञ्चनाचार्य द्वारा।

प्रयोगदीपिका—रामकृष्ण द्वारा।

प्रयोगदीपिकावृत्ति।

प्रयोगपञ्चरत्न—चातुर्मास्यप्रयोग में व०।

प्रयोगपद्धति—गंगाधर द्वारा (बौधायनीय)। झिंगय्य-कोविद (पेंजल्ल मंचनाचार्य के पुत्र) द्वारा; इसे शिंगाभट्टीय कहा जाता है। दामोदर गार्ग्य द्वारा; कर्कोपाध्याय, गंगाधर, हरिहर पर आधृत है एवं पारस्करगृह्य का अनुसरण करता है। इसका नाम संस्कारपद्धति भी है। रघुनाथ द्वारा (रुद्रभट्ट अयाचित के पुत्र); आश्वलायनीय। हरिहर द्वारा (गृह्य कृत्यों पर) दो काण्डों में; पारस्करगृह्य की टी० से सम्बन्धित।

प्रयोगपद्धति—कात्यायनश्राद्धसूत्र से सम्बन्धित।

प्रयोगपद्धतिसुबोधिनी—शिवराम द्वारा।

प्रयोगपारिजात—नरसिंह द्वारा। इण्डि० आ० (पृ० ४१५, सं० १३९६)। हेमाद्रि, विद्यारण्य, प्रसाद (जिसे सम्पादक ने नृसिंहप्रसाद माना है) का उल्लेख है। यह निम्नोक्त है और प्रसाद विट्ठल की टी० 'प्रसाद' (रामचन्द्र की प्रक्रियाकौमुदी पर) है। इण्डि० आ० (पृ० १६६) एवं भण्डारकररिपोर्ट दे० (१८८३-८४, पृ० ५९) जहाँ क्रम से टी० 'प्रसाद' तथा वंशावली का उल्लेख है।

प्रयोगपारिजात—कौण्डिन्य गोत्रीय एवं कर्णाटक के निवासी नृसिंह द्वारा। पाँच काण्ड हैं—संस्कार, पाकयज्ञ, आधान, आह्निक, गोत्रप्रवरनिर्णय पर। संस्कार का भाग निर्णय० प्रेस में मुद्रित (१९१६)। २५ संस्कारों का उ०; कालदीप, कालप्रदीप, कालदीपभाष्य, क्रियासार, फलप्रदीप, विश्वादर्श, विधिरत्न, श्रीधरीय, स्मृतिभास्कर का उल्लेख है; हेमाद्रि एवं माधव की आलोचना है। १३६० ई० एवं १४३५ ई० के बीच में प्रणीत। सम्भवतः यही ग्रन्थ नृसिंहप्रसाद (दानसार) एवं नारायण भट्ट के प्रयोगरत्न में व० है। बीकानेर (पृ० ४३९) में सं० १४९५ (१४३८-३९ ई०) पाण्डु० की तिथि है।

प्रयोगपारिजात—देवराजार्य के पुत्र पुरुषोत्तम भट्ट द्वारा।

प्रयोगपारिजात—रघुनाथ वाजपेयी द्वारा।

प्रयोगपारिजातसारावलि—धर्मप्रवृत्ति में व०।

प्रयोगप्रदीप—शिवप्रसाद द्वारा।

प्रयोगमंजरीसंहिता—श्रीकण्ठ द्वारा। बड़ोदा (सं० १२९५९)।

प्रयोगमणि—अभयङ्कर नारायण के पुत्र केशवभट्ट द्वारा।

प्रयोगमुक्तावलि—भिभिसूरि (?) तिर्पिलि द्वारा। ड० का० पाण्डु० (सं० १०२, १८७१-७२)। विज्ञानेश्वर, प्रयोगपारिजात, नृसिंह, आचारमयूख का उल्लेख है। १६५० ई० के उपरान्त।

प्रयोगमुक्तावलि—वीरराघव द्वारा।

प्रयोगरत्न—(या स्मार्तानुष्ठानपद्धति) विश्वनाथ के पुत्र अनन्त द्वारा। आश्वलायन के अनुसार २५ संस्कारों, स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन, स्थालीपाक, परिभाषा, प्रायश्चित्त का विवरण है। इण्डि० आ० (जिल्द ३, पृ० ५१५)।

प्रयोगरत्न—(हिरण्यकेशीय) विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। दे० पीटर्सन (पाँचवी रिपोर्ट, सं० १२६)। सम्भवतः यह उपर्युक्त ही है।

प्रयोगरत्न—सदाशिव के पुत्र काशीदीक्षित द्वारा।

प्रयोगरत्न—सदाशिव के पुत्र केशवदीक्षित द्वारा।

प्रयोगरत्न—(आश्वलायनीय) रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा। निर्णय० प्रेस। दे० प्रक० १०३।

प्रयोगरत्न—प्रेमनिधि द्वारा।

प्रयोगरत्न—(आश्वलायन एवं शौनक के अनुसार) नारायण भट्ट के पुत्र नृसिंहभट्ट द्वारा। भट्टोजि द्वारा चतुर्विंशतिमत व्याख्या द्वारा उ०। १५००-१६०० ई० के बीच।

प्रयोगरत्न—भट्टोजि द्वारा। सें० प्रा० (सं० ३१३१)।

प्रयोगरत्न—(स्मार्तप्रयोगरत्न) महादेव वैशम्पायन के पुत्र महेश द्वारा। संस्कार, शान्ति एवं श्राद्ध पर काशी में प्रणीत; श० सं० १७९८ में मुद्रित। मातृदत्त की प्रशंसा की गयी है। बड़ोदा, पाण्डु० (संख्या १६२६) तिथि १८४४ सं० (१७८७-८)।

प्रयोगरत्न—महादेव द्वारा (हिरण्यकेशीय)।

प्रयोगरत्न—आपदेव के पुत्र वासुदेवदीक्षित द्वारा।

प्रयोगरत्न—हरिहर द्वारा।

प्रयोगरत्नभूषा—रघुनाथ नवहस्त द्वारा। बी० बी० आर० ए० एस्० (जिल्द २, पृ० १८५)।

प्रयोगरत्नमाला—चौण्डप्पाचार्य द्वारा।

प्रयोगरत्नमाला—आपदेवभट्ट के पुत्र वासुदेव द्वारा, जो चितपावन ब्राह्मण थे। विष्णवादिसर्वदेवप्रतिष्ठा पर। नि० सि० का उल्लेख है। १६२०-१७६० के बीच। इसका नाम वासुदेवी एवं प्रतिष्ठारत्नमाला भी है।

प्रयोगरत्नमाला—पुरुषोत्तम विद्यावागीश द्वारा।

प्रयोगरत्नसंस्कार—प्रेमनिधि द्वारा।

प्रयोगरत्नसंग्रह—संस्कारमयूख में व०।

प्रयोगरत्नाकर—दे० ऊपर दयाशंकरकृत प्रयोगदीप।

प्रयोगरत्नाकर—(मैत्रायणीयों के लिए) यशवन्त भट्ट द्वारा। बड़ोदा (सं० ८३६५)।

प्रयोगरत्नावली—चिदानन्द ब्रह्मेन्द्रसरस्वती के शिष्य परमानन्द घन द्वारा। सम्भवतः श्रौत कृत्यों पर।

प्रयोगलाघव—महादेव के पुत्र विट्ठल द्वारा।

प्रयोगसंग्रह—रामनाथ द्वारा।

प्रयोगसागर—नारायण आरड द्वारा। १६५० ई० के उपरान्त। इसे गृह्याग्निसागर भी कहा जाता है।

प्रयोगसार—विट० एवं कीथ (जिल्द २, पृ० ९७)। ८ काण्डों में।

प्रयोगसार—नारायण के पुत्र कृष्णदेव स्मार्तवागीश द्वारा। इसे कृत्यतत्त्व या संवत्सरप्रयोगसार भी कहा जाता है।

प्रयोगसार—(बौधायनीय) केशवस्वामी द्वारा। वैदिक यज्ञों पर। नारायण एवं भवस्वामी के नाम आये हैं, त्रिकाण्डमण्डन द्वारा व० है। लग० ११०० ई०।

प्रयोगसार—(आपस्तम्बीय) गंगाभट्ट द्वारा।

प्रयोगसार—(कात्यायनीय) बलभद्र के पुत्र देवभद्र पाठक द्वारा। गंगाधर पाठक, भर्तृयज्ञ, वासुदेव, रेणु, कर्क, हरिस्वामी, माधव, पद्मनाभ, गदाधर, हरिहर, रामपद्धति (अनन्तकृत) का उल्लेख है। श्रौत सम्बन्धी विषयों पर विवेचन है।

प्रयोगसार—लक्ष्मीधर के पुत्र नारायण द्वारा। यह गृह्याग्निसागर एवं प्रयोगसागर ही है।

प्रयोगसार—निजानन्द द्वारा।

प्रयोगसार—गोकुल ग्राम में रहनेवाले दाक्षिणात्य बाल-कृष्ण द्वारा।

प्रयोगसार—दिनकर के पुत्र विश्वेश्वर भट्ट (उर्फ गागा भट्ट) द्वारा। पुण्याहवाचन, गणपतिपूजन आदि पर।

प्रयोगसार—शिवप्रसाद द्वारा।

प्रयोगसारावलि—धर्मप्रवृत्ति में उल्लिखित।

प्रयोगसारपीयूष—कुमारस्वामी विष्णु द्वारा। परिभाषा, संस्कार, आह्निक, प्रायश्चित्त पर।

प्रयोगसारसमुच्चय।

प्रयोगादर्श—मौद्गल गोत्र के वैद्यनाथ-पुत्र कनकसभापति द्वारा। यह लेखक की कारिकामञ्जरी पर टी० है।

प्रवरकाण्ड—(आश्वलायनीय) गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्बक में पी० चेन्तसालराव द्वारा मुद्रित (मैसूर, १९००)। टी० नारायण द्वारा।

प्रवरखण्ड—(आपस्तम्बीय) टी० कपर्दिस्वामी द्वारा (कुम्भकोणम् में १९१४ में एवं मैसूर में १९०० ई० में प्रका०)।

प्रवरखण्ड—(एक प्रश्न में वखानस)।

प्रवरगण—शार्दूलविक्रीडित छन्द में प्रवरों पर एक ग्रन्थ। दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २२५, सं० ७०७)। २५वें श्लोक के पश्चात् का अंश नहीं मिलता।

प्रवरदर्पण—कमलाकर द्वारा। इसे गोत्रप्रवरनिर्णय भी कहा जाता है। पी० चेन्तसालराव द्वारा सम्पादित गोत्रप्रवरनिबन्धक दम्बक में प्रका०। मैसूर, १९००।

प्रवरदीप—(या प्रवरप्रदीप) प्रवरदीपिका में व०।

प्रवरदीपिका—कृष्णशैव द्वारा। प्रवरमंजरी, स्मृतिचन्द्रिका का उल्लेख है। १२५० ई० के उपरान्त।

प्रवरनिर्णय—विश्वादर्श से।

प्रवरनिर्णय—भास्करत्रिकाण्डमण्डन कृत। कलकत्ता सं० कालेज, पाण्डु० (जिल्द २, पृ० ६९ सं० ६५)। टी० रामनन्दी द्वारा।

प्रवरनिर्णय—भट्टोजि द्वारा। गोत्रप्रवरनिर्णय भी नाम है।

प्रवरनिर्णयवाक्यसुधार्णव—विश्वनाथदेव कृत।

प्रवरमञ्जरी—दे० गोत्रप्रवरमंजरी। नृसिंहप्रसाद में व०।

प्रवरविवरण—प्रवरदीपिका में उल्लिखित।

प्रवराध्याय—अधिकांश श्रौतसूत्रों में प्रवर पर एक प्रकरण है।

प्रवराध्याय—मानवश्रौत का भाग (बी० बी० आर० ए० एस्०, जिल्द २, पृ० १७७)।

प्रवराध्याय—अगस्त्य का कहा गया है। गोत्रों एवं प्रवरों पर।

प्रवराध्याय—लक्ष्मणसेन के मन्त्री पशुपति द्वारा। ११७०-१२०० ई० के लग०।

प्रवराध्याय—भृगुदेव लिखित कहा गया है।

प्रवराध्याय—लौगाक्षि का कहा गया है। कात्यायन का ११वाँ परिशिष्ट।

प्रवराध्याय—विश्वनाथ कवि द्वारा।

प्रवराध्याय—विष्णुधर्मोत्तर से।

प्रवराध्याय—स्मृतिदर्पण से।

प्रवासकृत्य—रामचन्द्र के पुत्र गंगाधर द्वारा। स्तम्भतीर्थ (आधुनिक खम्भात) में प्रणीत। सं० १६६३ (१६०६-७ ई०)। जीविका के लिए विदेश निर्गत साग्निक ब्राह्मणों के कर्तव्यों पर।

प्रस्तावपारिजात।

प्रस्तावरत्नाकर—पुरुषोत्तम के पुत्र हरिदास द्वारा गदापत्तन में वीरसिंह के आश्रय में सं० १६१४ (१५५७-८ ई०) में लिखित। नीति, ज्योतिःशास्त्र आदि विषयों पर पद्य में।

प्रह्लादसंहिता—(वल्लभमतीय) लक्ष्मण के आचाररत्न में व०।

प्राचीन षडशीति—(अभिनव षडशीति के विरोध में)। दे० 'षडशीति'।

प्रातःकृत्य।

प्रातःपूजाविधि—नरोत्तमदास द्वारा (चैतन्य के अनुयायियों के लिए)।

प्रायश्चित्तकदम्ब—(या निर्णय) गोपाल न्यायपंचानन द्वारा। रघुनाथ, नारायण, जगन्नाथ तर्कपंचानन के अन्त ों का उल्लेख करता है। नो० (जिल्द १०, पृ० ११९)।

प्रायश्चित्तकदम्बसारसंग्रह—काशीनाथ तर्कालंकार द्वारा। शूलपाणि, मदनपारिजात, नव्यद्वैतनिर्णयकृच्चन्द्रशेखर के मत व० हैं। नो० न्यू० (पृ० २३३-३५)।

प्रायश्चित्तकमलाकर—कमलाकर भट्ट द्वारा।

प्रायश्चित्तकल्पतरु—कल्पत का एक अंश।

प्रायश्चित्तकाण्ड—वैद्यनाथ के स्मृतिमुक्ताफल का द्वितीय भाग।

प्रायश्चित्तकारिका—गोपाल द्वारा। बौधायनसूत्र पर आधारित। सायण के पहले।

प्रायश्चित्तकुतूहल—कृष्णराम द्वारा।

प्रायश्चित्तकुतूहल—मुकुन्दलाल द्वारा।

प्रायश्चित्तकुतूहल—गणेशभट्ट के पुत्र एवं अनन्तदेव के शिष्य रघुनाथ द्वारा। स्टीन (पृ० ९६), हुल्श (३, पृ० ५६)। श्रौत एवं स्मार्त प्रायश्चित्तों पर। लग० १६६०-१७०० ई०।

प्रायश्चित्तकुतूहल—रामचन्द्र द्वारा। शूलपाणि के प्रायश्चित्तविवेक पर आधारित। नो० (जिल्द १०, पृ० १९७)।

प्रायश्चित्तकौमुदी—(उर्फ प्रायश्चित्तविवेक) कृष्णदेव स्मार्तवागीश द्वारा।

प्रायश्चित्तकौमुदी—(उप० प्रायश्चित्तटिप्पणी) रामकृष्ण द्वारा।

प्रायश्चित्तचन्द्रिका—रामेश्वर के पुत्र महादेवात्मज दिवाकर द्वारा। रामेश्वर की उपाधि 'काल' है।

प्रायश्चित्तचन्द्रिका—मुकुन्दलाल द्वारा।

प्रायश्चित्तचन्द्रिका—भैयालवंश के रमापति द्वारा।

प्रायश्चित्तचन्द्रिका—राधाकान्तदेव द्वारा।

प्रायश्चित्तचन्द्रिका—विश्वनाथ भट्ट द्वारा। दिवाकर की प्रायश्चित्तचन्द्रिका में एवं स्मार्तप्रायश्चित्तोद्धार में उल्लिखित।

प्रायश्चित्तचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र द्वारा। दे०प्रक० ९८।

प्रायश्चित्ततत्त्व—रघुनन्दनकृत। दे० प्रक० १०२। जीवानन्द द्वारा प्रका०। टी० काशीनाथ तर्कालंकार द्वारा। कलकत्ता में १९०० में प्रका०। टी० राधामोहन गोस्वामी द्वारा (बंगला लिपि में कलकत्ता में मुद्रित, १८८५); लेखक कोलब्रुक का मित्र, चैतन्य का अनुयायी एवं अद्वैतवंशज था। टी० आदर्श, विष्णुराम सिद्धान्तवागीश द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रदीप – द्रदेव के प्रतापनारसिंह द्वारा व०। १७०० ई० के पूर्व।

प्रायश्चित्तदीपिका—भास्कर द्वारा।

प्रायश्चित्तदीपिका—राम द्वारा।

प्रायश्चित्तदीपिका—वैद्यनाथ के पुत्र लोकनाथ द्वारा (उसके सकलागमसंग्रह से)।

प्रायश्चित्तदीपिका—वाहिनीपति द्वारा।

प्रायश्चित्तनिरूपण—भवदेव भट्ट द्वारा। दे० प्रक० ७३। इसे प्रकरण भी कहा गया है।

प्रायश्चित्तनिरूपण—रिपुञ्जय द्वारा। कलकत्ता में बंगला लिपि में मुद्रित (१८८३ ई०)।

प्रायश्चित्तनिर्णय—अनन्तदेव द्वारा।

प्रायश्चित्तनिर्णय—गोपाल न्यायपंचानन द्वारा। रघु० के ग्रन्थ का सार।

प्रायश्चित्तपटल।

प्रायश्चित्तपद्धति—कामदेव द्वारा। पाण्डु० सन् १६६९ में उतारी गयी। औफ्रेक्ट (२९३ ए)।

प्रायश्चित्तपद्धति—हेमाद्रि के पुत्र जम्बूनाथ सभाधीश द्वारा। चार पटलों में।

प्रायश्चित्तपद्धति—सूर्यदास के पुत्र रामचन्द्र द्वारा।

प्रायश्चित्तपारिजात—गणेशमिश्र महामहोपाध्याय द्वारा।

प्रायश्चित्तपारिजात—रत्नपाणि द्वारा। कामधेनु का उल्लेख है। नो० (जिल्द ६, पृ० ३००)।

प्रायश्चित्तप्रकरण—स्टीन (पृ० ९६, ३१०)।

प्रायश्चित्तप्रकरण—भट्टोजि द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रकरण—भवदेव बालबलभीभुजंग द्वारा। दे० प्रक० ७३।

प्रायश्चित्तप्रकरण—रामकृष्ण द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रकाश—बलभद्र के पुत्र प्रद्योतनभट्टाचार्य का।

प्रायश्चित्तप्रदीप—स्मृतिकौस्तुभ (तिथि पर) द्वारा उल्लिखित।

प्रायश्चित्तप्रदीप—केशवभट्ट द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रदीप—गोपालसूरि द्वारा। बीकानेर (पृ० १३७) के अनुसार, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गोपालसूरि बौधायनश्रौत के एक भाष्यकार हैं, जिसका लेखक श्रौतप्रायश्चित्त का अनुसरण करता है।

प्रायश्चित्तप्रदीप—पन्थवंश के प्रेमनिधि द्वारा। १६७५ सं० (शक) में प्रणीत। बड़ोदा (सं० १४९०)।

प्रायश्चित्तप्रदीप—वेंकटाधीश के शिष्य वरदाधीश यज्वा द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रदीप---रत्नखेट श्रीनिवासदीक्षित के पुत्र राजचूड़ामणि द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रदीप---रामशर्मा द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रदीप---वाहिनीपति द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रदीप---भवनाथ के पुत्र शंकरमिश्र द्वारा। ये वर्धमान के गुरु थे। १५वीं शताब्दी के द्वितीय एवं तृतीय चरण में।

प्रायश्चित्तप्रदीपिका---आपदेव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा (यह प्रायश्चित्तशतद्वयी ही है)। श्रौतकृत्यों में प्रायश्चित्तों पर।

प्रायश्चित्तप्रयोग---अनन्तदीक्षित द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रयोग---त्र्यम्बक द्वारा। नो० (जिल्द १०, १६४), आश्वलायन पर आधारित।

प्रायश्चित्तप्रयोग---दिवाकर द्वारा। दे० 'स्मार्तप्रायश्चित्तप्रयोग'।

प्रायश्चित्तप्रयोग---बलशास्त्री कागलकर द्वारा।

प्रायश्चित्तप्रयोगरत्नमाला---स्मृत्यर्थसार, त्रिकाण्डमण्डन, प्रदीप, केशवीकार का उ० है।

प्रायश्चित्तमंजरी---महादेव केलकर के पुत्र बापूभट्ट की। स्टीन (पृ० ७६) ने विरचनकाल शक सं० १७३६ लिखा है।

प्रायश्चित्तमनोहर---कृष्णमिश्र के पुत्र एवं रामभद्र तथा केशवमिश्र के शिष्य मुरारिमिश्र।

प्रायश्चित्तमयूख---नीलकण्ठ कृत। दे० प्रक० १०७। घरपुरे द्वारा प्रका०।

प्रायश्चित्तमार्तण्ड---मार्तण्डमिश्र कृत। मित्र, नो० (जिल्द ७, पृ० सं० २२५२, शक सं० १५४४ अर्थात् १६२२-२३ ई०)।

प्रायश्चित्तमुक्तावली---महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा (उनके धर्मशास्त्रसुधानिधि का अंश)। लेखक के पुत्र वैद्यनाथ द्वारा अनुक्रमणी।

प्रायश्चित्तमुक्तावली---रामचन्द्र भट्ट द्वारा।

प्रायश्चित्तरत्न---कमलाकर भट्ट द्वारा। शूद्रकमलाकर में व०।

प्रायश्चित्तरत्नमाला---रामचन्द्र दीक्षित द्वारा।

प्रायश्चित्तरत्नाकर---रत्नाकर मिश्र द्वारा।

प्रायश्चित्तरहस्य---दिनकर द्वारा। स्मृतिरत्नावली में उल्लिखित।

प्रायश्चित्तवारिधि---भवानन्द द्वारा।

प्रायश्चित्तविधि---भास्कर द्वारा।

प्रायश्चित्तविधि---मयूर अप्पयदीक्षित द्वारा। हेमाद्रि एवं माधव का उल्लेख है।

प्रायश्चित्तविधि---वसिष्ठस्मृति से।

प्रायश्चित्तविधि---शौनक कृत कही गयी है।

प्रायश्चित्तनिर्णय---अनन्तदेव कृत।

प्रायश्चित्तविनिर्णय---भट्टोजि द्वारा।

प्रायश्चित्तविनिर्णय---यशोधर भट्ट द्वारा।

प्रायश्चित्तविवेक---शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५। बड़ोदा (सं० १०८४९, सं० १५०१, अर्थात् १४४४-४५ ई०), जीवानन्द द्वारा मुद्रित। टी० तत्त्वार्थकौमुदी, गणपतिभट्ट के पुत्र गोविन्दानन्द द्वारा। दे० प्रक० १०१। जीवानन्द द्वारा प्रका०। टी० कौमुदी या टिप्पणी, रामकृष्ण द्वारा। टी० निगूढप्रकाशिका; नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० ११४)।

प्रायश्चित्तविवेक---श्रीनाथकृत। लग० १४७५-१५२५ ई०।

प्रायश्चित्तविवेकोद्द्योत---मदनरत्न का एक अंश। दे० प्रक० ९४।

प्रायश्चित्तव्यवस्थासंक्षेप---चिन्तामणिन्यायालंकार भट्टाचार्य द्वारा। नो० (जिल्द ४, सं० १५८०)। इन्होंने तिथि, व्यवहार उद्वाह, श्राद्ध, दाय पर भी 'संक्षेप' लिखा है। पाण्डु० तिथि शक सं० १६११।

प्रायश्चित्तव्यवस्थाग्रह---मोहनचन्द्र द्वारा।

प्रायश्चित्तव्यवस्थासार---अमृतनाथ द्वारा।

प्रायश्चित्तशतद्वयी---भास्कर द्वारा। चार प्रकरणों में। नि० सि०, रघुनाथ के प्रायश्चित्तकुतूहल, भाविप्रकाशितप्रकरण में व०। १५५० ई० के पूर्व। सं० टी० वेंकटेश वाजपेययाजी द्वारा; पाण्डु० तिथि १६४१ (१५८४-५ ई०)। स्टीन (पृ० ३११)।

प्रायश्चित्तशतद्वयीकारिका--गोपाल स्वामी द्वारा (बोधायनीय)।

प्रायश्चित्तश्लोकपद्धति--गोविन्द ारा।

प्रायश्चित्तसंक्षेप--चिन्तामणि न्यायालङ्कार द्वारा। सम्भवतः यह उपर्युक्त प्रायश्चित्तव्यवस्थासंक्षेप ही है।

प्रायश्चित्तसंग्रह--कृष्णदेव स्मार्तवागीश द्वारा। नो० न्यू० (१, पृ० २३९)।

प्रायश्चित्तसंग्रह--देवराज द्वारा। यह हिन्दी में है; काशी के महाराज चेतसिंह के लिए लिखित; १७७०-१७८१ ई०।

प्रायश्चित्तसंग्रह--नारायण भट्ट द्वारा। शूलपाणि, रघु०, स्मृतिसागरसार का उल्लेख है, अतः १६०० ई० के उपरान्त। प्रायश्चित्त की परिभाषा यों दी हुई है--'पापक्षयमात्रकामनाजन्यकृतिविषयः पापक्षयसाधनकर्म प्रायश्चित्तम्।'

प्रायश्चित्तसदोदय--देवेश्वर के पुत्र सदाराम द्वारा।

प्रायश्चित्तसमुच्चय--त्रिलोचनशिव द्वारा।

प्रायश्चित्तसमुच्चय--भास्कर द्वारा।

प्रायश्चित्तसार--त्र्यम्बकभट्ट मोल्ह द्वारा।

प्रायश्चित्तसार--दलपति द्वारा (नृसिंहप्रसाद का अंश)। दे० प्रक० ९९।

प्रायश्चित्तसार--भट्टोजि दीक्षित द्वारा। जयसिंहकल्पद्रुम ारा व०।

प्रायश्चित्तसार--श्रीमदाउचा शुक्ल दीक्षित द्वारा। प्रतापनारसिंह में व०। दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २२४)।

प्रायश्चित्तसार--हरिराम द्वारा।

प्रायश्चित्तसार--यादवेन्द्र विद्याभूषण के स्मृतिसार से। नो० न्यू० (१, पृ० २४०), पाण्डु० तिथि १६१३ (१६९१ ई०)।

प्रायश्चित्तसारकौमुदी--वनमाली द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ९, पृ० ५८)।

प्रायश्चित्तसारसंग्रह--आनन्दचन्द्र द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० १२६)।

प्रायश्चित्तसारसंग्रह--नागोजिभट्ट द्वारा। दे० प्र० ११०।

प्रायश्चित्तसारसंग्रह--रत्नाकर मिश्र द्वारा।

प्रायश्चित्तसारावलि--बृहन्नारदीयपुराण का एक अंश।

प्रायश्चित्तसुधानिधि--मायण के पुत्र एवं माधवाचार्य के भाई सायण द्वारा। दे० प्र० ९२।

प्रायश्चित्तसुबोधिनी--श्रीनिवासमखी द्वारा (आपस्तम्बीय)।

प्रायश्चित्तसेतु--सदाशंकर द्वारा।

प्रायश्चित्ताध्याय--महाराजसहस्रमल्ल श्रीपति के पुत्र महादेव के निबन्धसर्वस्व का तृतीय अध्याय। इण्डि० आ० (जिल्द ३, पृ० ५५५)।

प्रायश्चित्तानुक्रमणिका--वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा।

प्रायश्चित्तेन्दुशेखर--शिवभट्ट एवं सती के पुत्र नागोजिभट्ट द्वारा। दे० प्रक० ११०; पाण्डु० (नो०, जिल्द ५, पृ० २३) की तिथि सं० १८४८ (१७८१-८२ ई०) है।

प्रायश्चित्तेन्दुशेखरसारसंग्रह--शिवभट्ट एवं सती के पुत्र नागोजि द्वारा। इण्डि० आ० (जिल्द ३, पृ० ५५५)।

प्रायश्चित्तोद्योत--दिनकर द्वारा। दिनकरोद्योत का अंश।

प्रायश्चित्तोद्योत--मदनसिंह देव द्वारा (मदनरत्न का अंश)। दे० प्रक० ९४।

प्रायश्चित्तोद्धार--महादेव के पुत्र दिवाकर ('काल' उपाधि) द्वारा (इसके अन्य नाम हैं स्मार्तप्रायश्चित्त एवं स्मार्तनिष्कृतिपद्धति)। बड़ोदा (सं० १३३४, १५४३ एवं १६६३)।

प्रायश्चित्तौघसार--अपराधों को चार शीर्षकों में बाँटा गया है--घोर, महापराध, मर्षणीय (क्षन्तव्य) एवं लघु (और इनके प्रायश्चित्त पर)।

प्रासाददीपिका--जटमल्लविलास द्वारा व०। १५०० ई० के पूर्व।

प्रासादप्रतिष्ठा--नृहरि ('पण्ढरपुर' उपाधि) द्वारा। प्रतिष्ठामयूख एवं मत्स्यपुराण पर आधारित। भडकमकर संग्रह में पाण्डु० श० सं० १७१४ में उतारी गयी। नि० सि० एवं रामवाजपेयी का उल्लेख है।

प्रासादप्रतिष्ठा--भागुणिमिश्र द्वारा।

प्रासादप्रतिष्ठादीधिति—(राजधर्मकौस्तुभ का अंश) अनन्तदेव द्वारा। दे० प्रक० १०९।

प्रासादशिवप्रतिष्ठाविधि—कमलाकर द्वारा। दे० प्रक० १०६।

प्रेतकृत्यनिर्णय।

प्रेतकृत्यादिनिर्णय—अज्ञात।

प्रेतप्रदीपका—गोपीनाथ अग्निहोत्री द्वारा।

प्रेतप्रदीप—कृष्णमित्राचार्य द्वारा।

प्रेतमञ्जरी—दे० ह० प्र० (१७), पाण्डु० की तिथि १७०७ ई० है।

प्रेतमञ्जरी—(या प्रेतपद्धति) द्यादुमिश्र द्वारा। अलवर (सं० १४०३)।

प्रेतमुक्तिदा—क्षेमराज द्वारा।

प्रेतश्राद्धव्यवस्थाकारिका—स्मार्तवागीश द्वारा।

प्रौढमताञ्जमार्तण्ड—(या कालनिर्णयसंग्रह) प्रतापरुद्रदेव द्वारा। दे० प्रतापमार्तण्ड।

फलप्रदीप—नृसिंह के प्रयोगपारिजात में उल्लिखित। सम्भवत: केवल ज्योतिष ग्रन्थ है।

फलाभिवेक।

बभ्रुस्मृति—पराशरमाधवीय में व०।

बलदेवाह्निक—महाभारत से संगृहीत।

बहिर्न्यासस्तूत्र।

बहिर्मातृका।

बहिर्यागपूजा।

बह्वृचकारिका—नि० सि० में व०।

बह्वृचकर्मप्रयोग—(शाकल के अनुसार) नो० (जिल्द १०, पृ० ५)।

बह्वृचगृह्यकारिका—शाकलाचार्य द्वारा। दे० बर्नेल, तंजौर कैटलाग (पृ० १४ बी)। यह उपर्युक्त ही है। समयमयूख में व०।

बह्वृचगृह्यपरिशिष्ट—हेमाद्रि, रघु० एवं नि० सि० में उल्लिखित।

बह्वृचश्राद्धप्रयोग।

बह्वृचषोडशकर्ममन्त्रविवरण।

बह्वृचसन्ध्यापद्धतिभाष्य।

बह्वृचाह्निक—रामचन्द्र के पुत्र कमलाकर के द्वारा। उसके प्रायश्चित्तरत्न का उ० है।

बादरायणस्मृति—प्रायश्चित्तमयूख एवं नीतिवाक्यामृत की टी० में उल्लिखित।

बार्हस्पत्यमुहूर्तविधान।

बार्हस्पत्यस्मृति—हेमाद्रि द्वारा व०।

बार्हस्पत्यसंहिता—गर्भाधान, पुंसवन, उपनयन एवं अन्य संस्कारों के मुहूर्तों तथा शकुनों पर। वीरमित्रोदय (लक्षणप्रकाश, पृ० ३५६) ने गद्य एवं पद्य में हाथियों के विषय में इसका उद्धरण दिया है।

बार्हस्पत्यसूत्र—पंजाब सं० सी० में प्रका०। नीतिसर्वस्व नाम भी है।

बालबोधक—आनन्दचन्द्रकृत। प्रायश्चित्त पर ४६ श्लोकों में।

बालमरणविधिकर्तव्यता।

बालम्भट्टी—लक्ष्मी देवी द्वारा। आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त पर। घरपुरे द्वारा प्रका०। घरपुरे ने व्यवहार के अंश का अनुवाद किया है। दे० प्रक० १११।

बालार्कोदय—नृसिंहप्रसाद (दानसार) में व०।

बालावबोधपद्धति—शांखायनगृह्यसूत्र पर।

बाष्कलस्मृति—मिताक्षरा (याज्ञ० ३।५८) द्वारा व०।

बुद्धिप्रकाश—रघु० द्वारा उल्लिखित।

बुधभूषण—शम्भुराजद्वारा (महाराज शिवाजी के पुत्र)। १६८०-१६८९ ई०। राजनीति आदि पर। गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सी० (पूना, १९२६) द्वारा प्रका०।

बुधस्मृति—एक पृष्ठ का (पद्य में) निबन्ध। ड० का० पाण्डु० (सं० २०७), १८८१-८२ एवं सं० १४५, १८९५-१९०२)। धर्म को 'श्रेयोभ्युदयसाधन' कहा गया है। उपनयन, विवाह, गर्भाधान आदि संस्कारों, पंचमहायज्ञ, पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, सोमयाग, सर्वसाधारण नियमों, चारों वर्णों, वानप्रस्थ, यति एवं राजधर्म के कर्मों का सार दिया गया है। दे० हेमाद्रि (३।२। ७४६)। इण्डि० आ० (जिल्द ३, पृ० ३८६)।

यह प्रायश्चित्तमयूख में व० है। दे० प्रक० २५। टी० हरिराम द्वारा।

बुधाष्टमी।

बुधाष्टमीव्रतकालनिर्णय।

बुधाष्टमीव्रतोद्यापन—स्टीन (पृ० ९६)।

बृहज्जातिविवेक—गोपीनाथ कवि द्वारा। बड़ोदा (सं० ९७०५)।

बृहत्पाराशरस्मृति—जीवानन्द (भाग ३, पृ० ५३३०९)।

बृहत्संहिता—व्यास द्वारा।

बृहद्यम—आनन्दाश्रम० (पृ० ९९-१०७)।

बृहद्रत्नाकर—वामनभट्ट द्वारा।

बृहद्राजमार्तण्ड—मलमासतत्त्व एवं संस्कारतत्त्व में रघु० द्वारा व०।

बृहद्वसिष्ठस्मृति—मिताक्षरा, मदन०, हलायुधद्वारा उ०।

बृहद्विष्णुस्मृति।

बृहद्व्यास—मिता० द्वारा व०।

बृहस्पतिशान्ति—अनन्तदेव कृत संस्कारकौस्तुभ से।

बृहस्पतिस्मृति—दे० प्रक० ३७। जीवा० (भाग १, पृ० ६४४-६५१) एवं आनन्दा० (पृ० १०८-१११)। टी० हेमाद्रि (परिशेषखण्ड, काल०, पृ० ३९९) में व०।

बैजवाप (या पि) गृह्य—मीमांसासूत्र (१।३।११) के तन्त्रवार्तिक में कुमारिलभट्ट द्वारा व०, यथा—'आश्वलायनकं सूत्रं बैजवापिकृतं तथा।'

बैजवापिस्मृति—अपरार्क (शुभ मृत्तिका एवं सपिण्डन के विषयक श्लोकों में) द्वारा व०।

बैजवापायन—हेमाद्रि द्वारा व०।

बोपणभट्टीय—इसकी टीका माधवमुनि द्वारा लिखित है।

बौधायनगृह्य—मैसूर में प्रका० (डा० शामशास्त्री द्वारा सम्पा०); गृह्य के चार प्रश्न, गृह्यसूत्रपरिभाषा पर दो, गृह्यशेष पर पाँच, पितृमेधसूत्र पर तीन एवं पितृमेधशेष पर एक प्रश्न। यह बौधायनगृह्यशेषसूत्र (२।६) है, जिसमें पुत्रप्रतिगृह (गोद लेने) पर एक वचन है जो वसिष्ठधर्मसूत्र से बहुत मिलता है। टी० पूरणव्याख्या, अष्टावक्रलिखित। टी० भाष्य (शिष्टिभाष्य), बुल्श (२, सं० ६६८)।

बौधायनगृह्यकारिका—कनकसभापति द्वारा।

बौधायनगृह्यपद्धति—केशवस्वामी द्वारा।

बौधायनगृह्यपरिशिष्ट—हार्टिङ्ग द्वारा सम्पा०।

बौधायनगृह्यप्रयोगमाला—चौण्ड या चाउण्ड के पुत्र राम द्वारा। अलवर (उद्धरण २१)। प्रयोगसार का उल्लेख है।

बौधायनगृह्यप्रायश्चित्तसूत्र।

बौधायनतति—गृह्य कर्मों पर।

बौधायनधर्मसूत्र—दे० प्रक० ६, आनन्दा० (पृ० ४२५-४८४) एवं मैसूर ग० सं० सी०। टी० गोविन्दस्वामी द्वारा (वही, मैसूर)। टी० अमल, परमेश्वर परिव्राजक द्वारा।

बौधायनसंग्रह।

बौधायनस्मार्तप्रयोग—कनकसभापति द्वारा। बुल्श (रिपोर्ट २, सं० ६७२)।

बौधायनस्मृति।

बौधायनाह्निक—विद्यापति द्वारा।

बौधायनीयपरिशिष्ट—रघु० के आह्निकतत्त्व द्वारा।

ब्रह्मगर्भस्मृति—मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२६८, अपरार्क एवं स्मृतिच० द्वारा व०)।

ब्रह्मचारिव्रतलोपप्रायश्चित्तप्रयोग—बी० बी० आर० ए० एस्० (जिल्द २, पृ० २४६)।

ब्रह्मदत्तभाष्य—रघु० के शुद्धितत्त्व में व० एवं कल्पतरु द्वारा उ०, अतः ११०० के पूर्व। यह शांखायनगृह्य पर टी० प्रतीत होती है।

ब्रह्मप्रकाशिका—(सन्ध्यामन्त्र पर टी०) महेशमिश्र के पुत्र वनमालिमिश्र द्वारा।

ब्रह्मयज्ञशिरोरत्न—नरसिंह द्वारा।

ब्रह्मसंस्कारमञ्जरी—नारायण ठक्कुर द्वारा। मुरारिभाष्य, उवटभाष्य, पारस्करगृह्यभाष्य में व०।

ब्रह्मौदनप्रायश्चित्त—बड़ोदा (सं० ६७८९ डी)।

ब्राह्मणपद्धति।

ब्राह्मणसर्वस्व—हलायुध द्वारा। दे० प्रक० ७२। कलकत्ता में १८९३ ई० एवं बनारस में प्रका०।

ब्राह्मवधस्मृति—मिताक्षरा (याज्ञ० ३।२५७) में व०।

भक्तिजयार्णव--रघुनन्दन द्वारा। सम्भवतः प्रसिद्ध रघुनन्दन भट्टाचार्य से भिन्न। नो० न्यू० (१, पृ० २५१)।

भक्तिप्रकाश--आठ उद्योतों में वैद्य रघुनन्दन द्वारा।

भक्तिमार्गमर्यादा--विट्ठलेश्वर द्वारा।

भक्तिमार्गसंग्रह--वल्लभसंप्रदाय के लिए।

भक्तिरत्नाकर--शिवदास के पुत्र द्वारा।

भक्तिरसामृतसिन्धु--सनातन द्वारा। १४६३ शकसं० (१५४१-४२ ई०) में प्रणीत। भक्तिजयार्णव में व०। टी० जीवकृत 'दुर्गसंगमनी'।

भक्तिरसार्णव--कृष्णदास द्वारा।

भक्तिरहस्य--सोमनाथ द्वारा।

भक्तिवर्धिनी--वल्लभाचार्य द्वारा।

भक्तिविवेक--श्रीनिवास द्वारा (रामानुज-सम्प्रदाय के लिए)।

भक्तिहंस--विट्ठलेश द्वारा।

भक्तिहेतुनिर्णय--विट्ठलेश। टी० रघुनाथ द्वारा।

भगवत्स्मृति--स्मृतिचन्द्रिका एवं आचारमयूख द्वारा व०।

भगवदर्चनविधि--रघुनाथ द्वारा।

भगवद्भक्तिनिर्णय--(या भगवद्भक्तिविवेक) आपदेव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। दे० प्रक० १०९।

भगवद्भक्तिरत्नावली--विष्णुपुरी द्वारा काशी में प्रणीत। लेखक मैथिल थे। टी० कान्तिमाला, लेखक द्वारा शक १५५५ फाल्गुन (१६३४ ई०) में प्रणीत। भण्डारकर (सन् १८८७-९१ ई०)।

भगवद्भक्तिरसायन--मधुसूदन सरस्वती द्वारा।

भगवद्भक्तिविलास--प्रबोधानन्द के शिष्य गोपालभट्ट द्वारा। २० विलासों में, वैष्णवों के लिए। गदाधर के कालसार में व०। टी० (कलकत्ता में सन् १८४५ में प्रका०)।

भगवन्तभास्कर--(या स्मृतिभास्कर) नीलकण्ठ द्वारा। १२ मयूखों में विभक्त। दे० प्र० १०७। सम्पूर्ण प्रका० (बनारस, १८७९-८०)।

भट्टकारिका--नि० सि० में व०।

भरद्वाजस्मृति--दे० प्रक० २७। टी० बालम्भट्ट द्वारा।

भर्तृसहगमनविधि।

भल्लाटसंग्रह--नि० सि० (जन्मनक्षत्रफल पर) में व०। सम्भवतः केवल ज्योतिष पर।

भवदेवनिबन्ध--प्रायश्चित्तमयूख में व०। सम्भवतः भवदेव भट्ट का प्रायश्चित्तनिरूपण। दे० प्र० ७३।

भस्मकरोगप्रकाश।

भस्मवादावली।

भागविवेक--(धनभागविवेक) श्रीनाथ के पुत्र भट्ट रामजित् द्वारा। टी० मितवादिनी, लेखक द्वारा। मिताक्षरा पर आधृत।

भारद्वाजगार्ग्यपरिणयप्रतिषेधवादार्थ--भारद्वाज एवं गार्ग्य गोत्र वालों में विवाह के निषेध पर।

भारद्वाजगृह्य--लीडेन में डा० जे० डब्लू० सालमन द्वारा सम्पा०। टी० कपर्दिस्वामी द्वारा। टी० गृह्यप्रयोगवृत्ति, भट्टरंग द्वारा।

भारद्वाजश्राद्धकाण्डव्याख्या।

भारद्वाजसंहिता--दे० भारद्वाजस्मृति।

भारद्वाजस्मृति--इस पर महादेव एवं वेणी के पुत्र वैद्यनाथ पायगुण्डे (नागोजि के शिष्य) की टी० है। दे० प्रक० १११।

भारद्वाजीयभाष्य--त्रिकाण्डमण्डन में भास्कर द्वारा व०। यह सम्भवतः भारद्वाजगृह्य पर कपर्दिभाष्य है। हरिहर द्वारा पारस्करगृह्यसूत्रभाष्य में व०।

भार्गवार्चनचन्द्रिका--तिथिनिर्णय में भट्टोजि द्वारा व०।

भार्गवार्चनदीपिका--नि० सि० एवं रामकल्पद्रुम में व०।

भार्गवार्चनदीपिका--सावाजी (या म्बाजी) या प्रतापराज द्वारा। अलवर (उद्धरण ६४८)।

भाविप्रायश्चित्त--(या भाविप्रकाशितप्रायश्चित्तप्रकरण) अज्ञात; माधवाचार्य द्वारा व०। बी० बी० आर० ए० एस० (जिल्द २, पृ० १९७)।

भाष्यार्थसंग्रह--हेमाद्रि (३।१।१३६०, जहाँ एक उपजाति छन्द में कपर्दी का उल्लेख है), स्मृतिचन्द्रिका (आशौच पर), माधव (कालनिर्णय में) द्वारा व०। १०००-१२०० ई० के बीच।

भास्कराह्निक।

भिक्षुतत्त्व—महादेवतीर्थ के शिष्य श्रीकण्ठतीर्थ द्वारा। यतिधर्म एवं अन्य संन्यासग्रहणार्थी लोगों के कर्तव्यों पर। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० २६०)।

भीमपराक्रम— गोविन्दानन्द की शुद्धिकौमुदी में, श्राद्ध-सौख्य (टोडरानन्द) एवं तिथितत्त्व में व०। यह ज्योतिष-ग्रन्थ सा लगता है।

भुक्तिदीपिका—ग्रहण के पूर्व भोजन करने के प्रश्न पर।

भुक्तिप्रकरण—कमलाकर द्वारा।

भुजबलभीम—भोजराज द्वारा। दे० प्रक० ६४। शूलपाणि (श्राद्धविवेक) एवं टोडरानन्द द्वारा व०। ज्योतिष-ग्रन्थ।

भूतशुद्धि—औफ्रेक्ट का लिपज़िग कैटलाग (सं० ५३८)।

भूतशुद्ध्यादिप्राणप्रतिष्ठा—औफ्रेक्ट (सं० ५३७)।

भूपालकृत्यसमुच्चय—चण्डेश्वर के कृत्यरत्नाकर (पृ० ४९९) में व०। सम्भवतः यह भोज धारेश्वर का ग्रन्थ है।

भूपालपद्धति—कुण्डाकृति में व०।

भूपालवल्लभ—परशुराम द्वारा। धर्म, ज्योतिष (फलित), साहित्य-शास्त्र आदि पर एक विश्वकोश; नि० सि०, निर्णयदीपक, कालनिर्णयसिद्धान्तव्याख्या में व०।

भूप्रतिमावान।

भृगुस्मृति—विश्वरूप, जीमूतवाहन (कालविवेक), मिताक्षरा, अपरार्क द्वारा व०।

भैरवार्चापारिजात—जैत्रसिंह द्वारा।

भैरवार्चापारिजात—श्रीनिकेतन के पुत्र एवं सुन्दरराज के शिष्य श्रीनिवासभट्ट द्वारा।

भ्रष्टवैष्णवखण्डन—श्रीधर द्वारा।

मकरन्दप्रकाश—हरिकृष्ण सिद्धान्त द्वारा। आह्निक, संस्कार पर। पाण्डु० (बीकानेर, पृ० ४१६) की तिथि सं० १७२५ (१६६८-९ ई०)।

मङ्गलनिर्णय—केशव दैवज्ञ के पुत्र गणेश द्वारा। उपनयन, विवाह आदि के कृत्यों पर।

मञ्जरी—बहुत-से ग्रन्थों के नाम के अन्त में आती है, यथा—गोत्रप्रवरमञ्जरी, स्मृतिमञ्जरी (गोविन्दराज कृत)।

मठप्रतिष्ठातत्त्व—रघुनन्दनकृत। दे० प्रक० १०२।

मठाम्नायादिविचार—शंकराचार्य सम्प्रदाय के प्रमुख सात मठों के धार्मिक कृत्यों पर। नो० (जिल्द १०, २५६) एवं स्टीन (पृ० ३१२)।

मठोत्सर्ग—कमलाकर द्वारा। सें० प्रा० (सं० ३७७१-७२)।

मठोत्सर्ग—माग्निदेव द्वारा (सें० प्रा० (सं० ३७७०)।

मणिमञ्जरीच्छेदिनी।

मण्डपकर्तव्यतापूजापद्धति—शिवराम शुक्ल द्वारा।

मण्डपकुण्डमण्डन—नरसिंहभट्ट सप्तर्षि द्वारा। टी० प्रकाशिका (लेखक कृत)।

मण्डपकुण्डसिद्धि—वरशर्मा के पुत्र विट्ठलदीक्षित द्वारा। श० सं० १५४१ (१६१९-२० ई०) में काशी में प्रणीत। विवृति (लेखक द्वारा); कुण्डकौमुदी, कुण्डरत्नाकर, प्रतिष्ठासारसंग्रह, प्रयोगसार, रामवाजपेयी के उल्लेख हैं।

मण्डपनिर्णय—उत्सर्गमयूख में उल्लिखित।

मण्डपप्रकरण।

मण्डपोद्वासनप्रयोग—धरणीधर के पुत्र द्वारा।

मण्डलकारिका—औफ्रेक्ट (सं० ६४७)।

मण्डलदेवतास्थापन—औफ्रेक्ट (सं० ६४८)।

मतपरीक्षा।

मतोद्धार—शंकरपण्डित द्वारा।

मथुरासेतु—आपदेव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। स्मृतिकौस्तुभ में व०। दे० प्रक० १०९।

मदनपारिजात—मदनपाल का कहा गया है (विश्वेश्वर भट्ट द्वारा प्रणीत)। दे० प्रक० ९३।

मदनमहार्णव—दे० 'महार्णव'।

मदनरत्न—(या मदनरत्नप्रदीप) मदनसिंहदेव का कहा गया है। दे० प्रक० ९४। अलवर (उद्धरण ३३६, समयोद्द्योत का)। बड़ोदा (सं० ४०३५, शुद्धि पर, सं० १५५१, १४९४-५ ई०); इसमे

लेखक का नाम भट्ट विश्वनाथ श्रीमालिगूर्जर है।

मधुपर्कनिर्णय।

मधुपर्कपद्धति।

मध्यमांगिरसस्मृति—मिता० (याज्ञ० ३।२४३, २४७, २५७, २६०) में व०।

मध्वाह्निक।

मनुस्मृति—(या मानवधर्मशास्त्र) दे० प्रक० ३१। टी० मन्वर्थमुक्तावली, कुल्लूकभट्ट द्वारा; दे० प्रक० ८८; वह वारेन्द्री (बंगाल में राजशाही) के निवासी थे। टी० मन्वाशयानुसारिणी, गोविन्दराजकृत (वी० एन० माण्डलिक द्वारा प्रका०); देखिए प्रक० ७६। टी० नन्दिनी, नन्दनाचार्य द्वारा; पश्चात्कालीन लेखक (वी० एन० माण्डलिक द्वारा प्रका०)। टी० मन्वर्थचन्द्रिका, राघवानन्द सरस्वती द्वारा। १४०० ई० के पश्चात् (वी० एन्० माण्डलिक द्वारा प्रका०)। टी० सुखबोधिनी, मणिरामदीक्षित (गंगाराम के पुत्र) द्वारा (स्टीन, पृ० ९८)। टी० मन्वर्थविवृति, नारायणसर्वज्ञ द्वारा; ११००-१३०० ई० के बीच (वी० एन्० माण्डलिक द्वारा प्रका०)। टी० असहाय द्वारा (दे० प्रक० ५८)। टी० उदयकर द्वारा; वि० र० में व०; १३०० ई० के पूर्व। टी० उपाध्याय द्वारा; मेधातिथिभाष्य में व०। टी० ऋजु द्वारा; मेधातिथिभाष्य में व०। टी० कृष्णनाथ द्वारा। टी० धरणीधर द्वारा; कुल्लूकभट्ट द्वारा व०; ९५०-१२०० ई० के बीच। टी० भागुरि द्वारा; वि० र० में व०। दे० प्रक० ३१। टी० (भाष्य) मेधातिथि द्वारा, दे० प्र० ६३ (मांडलिक, घारपुरे द्वारा प्र०)। टी० यज्वा द्वारा; मेधातिथि में व०। टी० रामचन्द्र द्वारा (वी० एन्० माण्डलिक द्वारा प्रका०)। टी० रुचिदत्त द्वारा। टी० अज्ञात (कोई कश्मीरी), डा० जाली द्वारा कुछ अंश प्रका०।

मन्त्रकमलाकर—कमलाकर द्वारा।

मन्त्रकोश—आचारमयूख में उल्लिखित।

मन्त्रकोश—आशादित्य त्रिपाठी द्वारा, २० परिच्छेदों में (दाक्षिणात्य), चार काण्डों में सामवेदगृह्यसूत्र के मन्त्र व्याख्यायित हैं। पाण्डु० (नो०, जिल्द १०, पृ० १२२) की तिथि श० सं० १७१७ (१७९५ ई०)।

मन्त्रतन्त्रप्रकाश—एकादशीतत्त्व में रघुनन्दन द्वारा व०।

मन्त्रप्रकाश—दीक्षातत्त्व में रघुनन्दन द्वारा व०।

मन्त्रतन्त्रभाष्य—हरदत्त द्वारा। दे० एकाग्निकाण्डमन्त्रव्याख्या।

मन्त्रमुक्तावली—रघु० के शुद्धितत्त्व एवं मलमासतत्त्व में उल्लिखित।

मन्त्ररत्नदीपिका—अहल्याकामधेनु में व०।

मन्त्रसारसंग्रह—सदाचारचन्द्रिका में व०।

मन्त्रसारसंग्रह—शिवराम द्वारा।

मयूरचित्रक—(या मेघमाला या रत्नमाला) नारद का कहा गया है। आसन्न वर्षा, दुर्भिक्ष आदि पर। बल्लालसेन के अद्भुतसागर में व०।

मयूरचित्रक—भट्टगुरु द्वारा; सात खण्डों में। ट्राएनीएल कैटलाग (मद्रास, १९१९-२२, पृ० ४४०४)।

मरणकर्मपद्धति—यजुर्वेदगृह्यसूत्र से सम्बन्धित कही गयी है।

मरणसामयिकनिर्णय—मृत्यु के समय कृत्य एवं प्रायश्चित्तों के विषय में। बीकानेर कैटलाग (पृ० ४२०)।

मरीचिस्मृति—दे० प्रक० ४८।

मर्यादासिन्धु—पुरुषोत्तम की द्रव्यशुद्धिदीपिका में व०।

मलमासकार्याकार्यनिर्णय।

मलमासतत्त्व—(या मलिम्लुचतत्त्व) रघुनन्दन कृत। जीवानन्द द्वारा प्रका०। टी० राधावल्लभ के पुत्र एवं रामकृष्ण के पौत्र काशीराम वाचस्पति द्वारा। टी० मथुरानाथ द्वारा। टी० टिप्पणी, राधामोहन द्वारा। टी० वृन्दावन द्वारा। टी० हरिराम द्वारा।

मलमासनिरूपण।

मलमासनिर्णय—दशपुत्र द्वारा।

मलमासनिर्णय—भवदेव के पुत्र बृहस्पति द्वारा। बड़ोदा (सं० १२८५१)।

मलमासनिर्णय—नरसिंह के पुत्र वञ्चेश्वर द्वारा।

मलमासनिर्णयतन्त्रसार—वासुदेव द्वारा।

मलमासरहस्य—भवदेव के पुत्र बृहस्पति द्वारा। श० सं० १६०३ (१६८१-२ ई०) में।

मलमासविचार—अज्ञात; १५७९ ई० में प्रणीत (बीकानेर, पृ० ४१७)। तिथि सम्भवतः १६७९ (१६०० शक) है।

मलमासाघमर्षणी—अज्ञात।

मलमासार्थसंग्रह—गुरुप्रसाद शर्मा द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० २७९)।

महागणपतिपूजापद्धति।

महादाननिर्णय—वाचस्पतिमिश्र की सहायता से मिथिलाराज भैरवेन्द्र द्वारा। पाण्डु० (ह० प्र०, पृ० १२, ३६ एवं १२२) तिथि ल० सं० ३९२ (१५११ ई०)। वंशावली यों दी हुई है—भवेश, उनके पुत्र हरिसिंह देव, उनके पुत्र भैरवेन्द्र (रूपनारायण, अन्यत्र हरिनारायण)। दे० अलवर (सं० १४१३), जहाँ यह ग्रन्थ महादानप्रयोगपद्धति कहा गया है।

महादानपद्धति—रूपनारायण द्वारा। इण्डि० आ० (पृ० ५५०, तिथि श० सं० १४५२ अर्थात् १५३० ई० है, क्योंकि विकृति वर्ष ठीक बैठता है) इसे महादान प्रयोगपद्धति भी कहा गया है। वाचस्पति (द्वैतनिर्णय), कमलाकर (दानमयूख) ने उल्लिखित किया है।

महादानपद्धति—विश्वेश्वर द्वारा।

महादानवाक्यावली—गंगोली संजीवेश्वर मिश्र के पुत्र रत्नपाणि मिश्र द्वारा। इसमें इतिहाससमुच्चय का उल्लेख है।

महादानानुक्रमणिका।

महादीपदानविधि।

महादेवपरिचर्याप्रयोग—(बौधायनीय) रघुराम तीर्थ के शिष्य सुरेश्वर स्वामी द्वारा। नो० (जिल्द १०, पृ० २३९)।

महादेवीय—निर्णयामृत द्वारा।

महाप्रदीपरत्नपद्धति—नो० न्यू० (१, पृ० २८०)।

महाप्रयोगसार—रघु० द्वारा आह्निकतत्त्व में उल्लिखित।

महाप्रवरनिर्णय।

महाप्रवरभाष्य—पुरुषोत्तम द्वारा। गोत्रप्रवरमंजरी में व०।

महारुद्रकर्मकलापपद्धति।

महारुद्रजपहोमपूजापद्धति।

महारुद्रन्यासपद्धति—बलभद्र द्वारा।

महारुद्रपद्धति—दे० रुद्रकल्पद्रुम।

महारुद्रपद्धति—वत्सराज के पुत्र अचलदेव द्विवेदी द्वारा (शांखायन के अनुसार)। लग० १५१८ ई०।

महारुद्रपद्धति—विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदीक्षित ('यज्ञोपवीत' उपाधि) द्वारा। नारायण भट्ट का प्रयोगरत्न उ० है, अतः १५७५ ई० के उपरान्त। इसका नाम महारुद्रप्रयोगपद्धति भी है।

महारुद्रपद्धति—काशीदीक्षित द्वारा। रुद्रकल्पद्रुम में व०।

महारुद्रपद्धति—(आश्वलायन के अनुसार) नारायण द्वारा।

महारुद्रपद्धति—(सामवेद के अनुसार) कर्ण के पुत्र परशुराम द्वारा। शूद्रकमलाकर द्वारा व०। १४५९ ई० में प्रणीत।

महारुद्रपद्धति—बलभद्र द्वारा।

महारुद्रपद्धति—गुर्जरदेश के श्रीस्थल में रत्नभट्टात्मज त्रिगलाभट्ट के पुत्र मालजित् (मालजी) द्वारा। ग्रन्थ का नाम रुद्रार्चनमंजरी एवं लेखक का वेदांगराय भी कहा गया है। लग० १६२७-१६५५ ई०। अलवर (सं० १४१५)।

महारुद्रपद्धति—(गोभिलीय) रामचन्द्राचार्य द्वारा। बड़ोदा (सं० १२५०)।

महारुद्रपद्धति—विष्णुशर्मा द्वारा।

महारुद्रपद्धति—त्रिगलाभट्ट के पुत्र वेदांगराय द्वारा। यह मालजी का ही ग्रन्थ है।

महारुद्रयज्ञपद्धति।

महार्णव—(या महार्णवप्रकाश) हेमाद्रि (जिल्द ३, भाग १, पृ० १८३, १४४०) एवं शूलपाणि (श्राद्धविवेक) द्वारा व०। इसे स्मृतिमहार्णव (या प्रकाश भी) कहा गया है। दे० प्रक० ८४।

महार्णव--(कर्मविपाक) मदनपाल के पुत्र मान्धाता कृत माना गया है। दे० प्रक० ९३।

महार्णव—पोङ्ग भट्ट (? पेदिभट्ट) के पुत्र विश्वेश्वरभट्ट द्वारा। दे० प्रक० ९३ (नो० जिल्द ७, पृ० १२१)। मान्धाता-लिखित महार्णव ही है।

महार्णवव्रतार्क।

महालयप्रयोग।

महालयश्राद्धपद्धति।

महाविष्णुपूजापद्धति--अखण्डानुभूति के शिष्य अखण्डानन्द द्वारा।

महाविष्णुपूजापद्धति—चैतन्यगिरि द्वारा।

महाशान्ति--शुद्धि एवं शान्ति से सम्बन्धित कृत्यों पर दो अध्याय (क्रम से १८ एवं २५ प्रकरणों में)।

महाशिवरात्रिनिर्णय—कश्मीर के कृष्णराम द्वारा।

महाष्टमीनिर्णय।

महिषीदान।

महिषीदानमन्त्र।

महेश्वरधर्माधर्म।

मांसनिर्णय—ढुण्ढि द्वारा।

मांसपीयूषलता—रामभद्रशिष्य द्वारा (सें० प्रा० कैटालाग, सं० ४१४३)।

मांसभक्षणदीपिका—वेणीराम शाकद्वीपी द्वारा।

मांसमीमांसा—रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा। नि० सि० द्वारा व०।

मांसविवेक—भट्ट दामोदर द्वारा। बतलाया गया है कि मांसार्पण के प्रयोग आजकल विहित नहीं हैं।

मांसविवेक—(या मांसतत्त्वविवेक) विश्वनाथ पंचानन द्वारा। १६३४ ई० में प्रणीत। सरस्वतीभवन सी० में प्रका०। इसे मांसतत्त्वविचार भी कहा गया है।

माघोद्यापन।

माण्डव्यस्मृति--जीमूतवाहन (कालविवेक), हेमाद्रि, दानमयूख द्वारा व०।

मातुलसुतापरिणय।

मातृगोत्रनिर्णय—नारायण द्वारा।

मातृगोत्रनिर्णय—रुद्रकवीन्द्र के पुत्र मुद्गलात्मज लौगाक्षि भास्कर द्वारा (बड़ोदा, सं० १४६३)। माध्यन्दिनीय ब्राह्मणों में विवाह के लिए मातृगोत्र वर्जित है।

मातृदत्तीय—हिरण्यकेशिसूत्र पर टी०। नि० सि० में व०।

मातृसांवत्सरिकश्राद्धप्रयोग।

मातृस्थापनाप्रयोग।

मात्रादिश्राद्धनिर्णय—कोकिल द्वारा।

माधवप्रकाश--(या सदाचारचन्द्रोदय)। दे० 'आचारचन्द्रोदय'।

माधवीयकालनिर्णय—दे० माधवकृत 'कालनिर्णय'।

माधवीयसारोद्धार—नारायण के पुत्र रामकृष्ण दीक्षित द्वारा। महाराजाधिराज लक्ष्मणचन्द्र के लिए लिखित, पराशरमाधवीय का एक अंश। स्टीन (पृ० ३०९)। लग० १५७५-१६०० ई०।

माधवोल्लास—रघुनन्दन द्वारा देवप्रतिष्ठातत्त्व (पृ० ५०९) में व०।

माध्यन्दिनीयाचारसंग्रहदीपिका—पद्मनाभ द्वारा।

मानवगृह्यसूत्र—(क्नौयेर द्वारा सम्पा० एवं गायकवाड़ ओरिएण्टल सी० में प्रकाशित)। 'पुरुष' नामक दो भागों में। टी० (भाष्य) अष्टावक्र द्वारा, याज्ञवल्क्य, गौतम, पराशर, बैजवाप, शबरस्वामी, भद्रकुमार एवं स्वयं भट्ट अष्टावक्र के उल्लेख हैं। भूमिका में (द्वितीय 'पुरुष') आया है कि लेखक ने इसे तब लिखा जब कि १०० वर्ष (संवत् अज्ञात) बीत चुके थे।

मानवगृह्यपरिशिष्ट—बी० बी० आर० ए० एस० (पृ० २०६, सं० ६५७)।

मानवधर्मशास्त्र—देखिए 'मनुस्मृति'।

मानवश्राद्धकल्प—हेमाद्रि द्वारा व०।

मानसागरीपद्धति—मानसिंह द्वारा। सें० प्रा० (सं० ४११६)।

मानसोल्लास—सोमेश्वर कृत। दे० 'अभिलषितार्थचिन्तामणि।'

मार्कण्डेयस्मृति—मिताक्षरा (याज्ञ० ३।१९) एवं स्मृतिचन्द्रिका द्वारा व०।

मार्तण्डदीपिका—अहल्याकामधेनु में व०।

मार्तण्डार्चनचन्द्रिका—मुकुन्दलाल द्वारा।

मालवदर्शन—चण्डेश्वर के दानरत्नाकर में उल्लिखित। सम्भवतः यह भोज के किसी मत का संकेत मात्र है, न कि इस नाम की कोई पुस्तक है।

मासकृत्य।

मासतत्त्वविवेचन—अज्ञात। मासों एवं उनमें किये जाने वाले उपवासों, भोजों एवं धार्मिक कृत्यों पर। बीकानेर (पृ० ४२१)।

मासदर्पण।

मासनिर्णय—भट्टोजि द्वारा।

माससीमांसा—गोकुलदास महामहोपाध्याय द्वारा। चान्द्र, सौर, सावन एवं नाक्षत्र नामक चार प्रकार के मासों एवं वर्ष के प्रत्येक मास में किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों पर।

मासादिनिर्णय—ढुण्ढि द्वारा।

मासिकश्राद्धनिर्णय—कमलाकर के पिता रामकृष्ण द्वारा। नि० सि० में व०।

मासिकश्राद्धपद्धति—गोपीनाथ भट्ट द्वारा।

मासिकश्राद्धप्रयोग—(आपस्तम्बीय) रघुनाथ भट्ट सम्राट्स्थपति द्वारा।

मासिकश्राद्धमानोपन्यास—मौनी मल्लारिदीक्षित द्वारा।

मिताक्षरा—हरदत्तकृत गौतमधर्मसूत्र पर टी०। दे० प्रक० ८६।

मिताक्षरा—मथुरानाथ द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृति पर टी०।

मिताक्षरा—विज्ञानेश्वर द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृति पर टी०। इसे ऋजुमिताक्षरा भी कहा जाता है। दे० प्रक० ७०। टी० प्रमिताक्षरा या प्रतीताक्षरा, नन्दपण्डित द्वारा; दे० प्रक० १०५। टी० बालम्भट्टी (उप० लक्ष्मी-व्याख्यान) लक्ष्मीदेवी द्वारा। दे० प्रक० १११; चौखम्भा सी० में (व्यवहार) एवं घरपुरे द्वारा (आचार, प्रायश्चित्त एवं व्यवहार) प्रका०। टी० सुबोधिनी, विश्वेश्वर भट्ट द्वारा; दे० प्रक० ९३ (व्यवहार, घरपुरे द्वारा अनूदित एवं प्रका०)। टी० मिताक्षरासार, मधुसूदन गोस्वामी द्वारा। टी० मुकुन्दलाल द्वारा। टी० रघुनाथ वाजपेयी द्वारा; पीटर्सन की छठी रिपोर्ट (पृ० ११)। टी० सिद्धान्तसंग्रह, राधामोहन शर्मा द्वारा। टी० हलायुध द्वारा। टी० व्याख्यानदीपिका, देवराजभट्ट के पुत्र निर्दुखिमश्रोपाध्याय द्वारा (व्यवहार पर)।

मिताक्षरासार—(विज्ञानेश्वर के ग्रन्थ का सारांश) मयाराम द्वारा।

मिथिलेशाह्निक—गगोली संजीवेश्वर शर्मा के पुत्र रत्नपाणि शर्मा द्वारा। मिथिला के राजकुमार छत्रसिंह के आश्रय में प्रणीत। सामवेद के अनुसार शौचविधि, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्याविधि, तर्पण, जपयज्ञ, देव-पूजा, भोजन, मांसभक्षण, द्रव्यशुद्धि, गार्हस्थ्यधर्म नामक आह्निकों पर। नो० (जिल्द ६, पृ० ३०-३२)। इस ग्रन्थ में मिथिलेशचरित है जिसमें महेशठक्कुर एवं उनके ९ वंशजों का उल्लेख है, और ऐसा आया है कि महेश को दिल्ली के राजा से राज्य प्राप्त हुआ था। नो० (जिल्द ६, पृ० ४८)।

मीमांसापल्लव—रुचिपति एवं रुक्मिणी के पुत्र इन्द्रपति द्वारा। एकादशीव्रत, श्राद्ध, उत्सर्ग जैसे धर्मशास्त्रीय विषयों पर मीमांसा के नियम प्रयुक्त हैं। नो० (जिल्द ५, पृ० २८१-८२) इनके गु गोपालभट्ट थे।

मुक्तिक्षेत्रप्रकाश—आपाजिभट्ट के पुत्र भास्कर द्वारा। अयोध्या, मथुरा, माया आदि सात तीर्थों पर प्रकाशों में विभक्त। बड़ोदा, सं० १२३८६। लेखक ने प्रयाग के लिए 'सितासिते सरिते', अयोध्या के लिए 'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या' (तैत्तिरीयारण्यक) 'वागक्षरं प्रथमजा' (तै० ब्रा०) एवं मथुरा, माया काशी के लिए क्रम से 'गोपालतापिनी', 'नृसिंहपूर्वतापनीय' एवं 'रामतापनीय' वैदिक वचन उद्धृत किये हैं।

मुक्तिचिन्तामणि—गजपति पुरुषोत्तमदेव द्वारा। जगन्नाथपुरी की तीर्थयात्रा पर धार्मिक कृत्यों के विषय में। लग० १५०० ई०।

मुद्गलस्मृति—(बड़ोदा, ताड़पत्र पाण्डु० सं० ११९५०) मौनादिविधि, दाय, अशौच, प्रायश्चित्त पर।

मुद्राविवरण।

मुनिमतमणिमाला—वामदेव द्वारा।

मुमूर्षुमृतकृत्यादिपद्धति—शंकरशर्मा द्वारा। शुद्धितत्त्व उ० है। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० १५२)।

मुहूर्तकण्ठाभरण।

मुहूर्तकलीन्द्र—शीतलदीक्षित द्वारा।

मुहूर्तकल्पद्रुम—मुहूर्तदीपक में महादेव द्वारा व०। १६५० ई० के पूर्व।

मुहूर्तकल्पद्रुम—केशव द्वारा।

मुहूर्तकल्पद्रुम—ब्रूबशर्मा के पुत्र विट्ठलदीक्षित (कृष्णात्रिगोत्र) द्वारा। सन् १६२८ ई० में प्रणीत। टी० मंजरी, लेखककृत।

मुहूर्तकल्पाकर—दुःखभञ्जन द्वारा।

मुहूर्तगणपति—हरिशंकर के पुत्र गणपति रावल द्वारा। १६८५ ई० में प्रणीत। टी० सीताराम के पुत्र परमसुख द्वारा। टी० परशुराममिश्र द्वारा।

मुहूर्तचक्रावलि।

मुहूर्तचन्द्रकला—हरजीभट्ट द्वारा। लग० १६१० ई०।

मुहूर्तचिन्तामणि—अनन्त के पुत्र रामदैवज्ञ (नीलकण्ठ के छोटे भ्राता) द्वारा। सन् १६००-१ ई० में काशी में प्रणीत। सिद्धेश्वर के संस्कारमयूख में व०। बम्बई में १९०२ ई० में मुद्रित। अलवर (उद्धरण, ५४२), जिससे प्रकट होता है कि नीलकण्ठ अकबर की सभा के पण्डित थे। इनके पूर्वज विदर्भ के थे। टी० प्रमिताक्षरा, लेखककृत; बनारस में १८४८ में मुद्रित। टी० कामधेनु। टी० नीलकण्ठ द्वारा। टी० पीयूषकर्णिका। टी० पीयूषधारा, नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द द्वारा १६०३ में प्रणीत, बम्बई में १८७३ ई० में मुद्रित। गोविन्द लेखक का भतीजा था। टी० पर टी० रघुदैवज्ञ द्वारा। टी० षट्साहस्री।

मुहूर्तचिन्तामणि—वेंकटेश भट्ट द्वारा।

मुहूर्तचिन्तामणिसार।

मुहूर्तचिन्तामणिसारिणी।

मुहूर्तचूडामणि—भारद्वाजगोत्र के श्रीकृष्ण दैवज्ञ के पुत्र शिव दैवज्ञ द्वारा।

मुहूर्ततत्त्व—कमलाकर के पुत्र केशव दैवज्ञ द्वारा। संस्कारकौस्तुभ में व०। टी० लेखक द्वारा। टी० कृपाराम द्वारा। टी० केशव दैवज्ञ के पुत्र गणेशदैवज्ञ द्वारा लग० १५४० ई० में प्रणीत। टी० महादेव द्वारा; मुहूर्तदीपक में व०।

मुहूर्तदर्पण—मार्तण्डवल्लभा में व०। टी० दीपिका (मद्रास ग० पाण्डु० सं० १८७०, १८७४)।

मुहूर्तदर्पण—प्रयाग के दक्षिण अलर्कपुर के गंगारामात्मज जगद्राम के पुत्र लालमणि द्वारा। अलवर (उद्धरण, ५४४)।

मुहूर्तदर्पण—विद्यामाधव द्वारा। टी० माधवभट्ट द्वारा।

मुहूर्तदीप—जयानन्द द्वारा।

मुहूर्तदीप—शिवदैवज्ञ के एक पुत्र द्वारा।

मुहूर्तदीपक—नागदेव द्वारा।

मुहूर्तदीपक—काहुजि (कान्हजित् ?) के पुत्र महादेव द्वारा। दे० ऑफ्रेक्ट (पृ० ३३६ बी)। टी० लेखक द्वारा सं० १५८३ (१६६१ ई०) में प्रणीत। टोडरानन्द का उल्लेख है।

मुहूर्तदीपक—देवीदत्त के पुत्र रामसेवक द्वारा।

मुहूर्तदीपिका—(नि० सि० के अनुसार) कालविधान में व०।

मुहूर्तदीपिका—बादरायण का कहा गया है।

मुहूर्तनिर्णय।

मुहूर्तपदवि।

मुहूर्तपरीक्षा—देवराज द्वारा।

मुहूर्तभूषण—(या मञ्जीर) रामसेवक द्विवेदी द्वारा। नो० (जिल्द ११, भूमिका, पृ० ४)।

मुहूर्तभूषणटीका—रामदत्त द्वारा।

मुहूर्तभैरव—भैरव दैवज्ञ के पुत्र गंगाधर द्वारा।

मुहूर्तभैरव—दीनदयालु पाठक द्वारा।

मुहूर्तमञ्जरी—यदुनन्दन पण्डित द्वारा। चार गुच्छों एवं १०१ श्लोकों में। दे० अलवर (उद्धरण ५४५)। सं० १७२६ (१६७० ई०) में प्रणीत।

मुहूर्तमंजरी—हरिनारायण द्वारा।

मुहूर्तमंजूषा।

मुहूर्तमणि—विश्वनाथ द्वारा।
मुहूर्तमाधवीय—सायण या माधवाचार्य का कहा गया है।
मुहूर्तमार्तण्ड—केशव द्वारा।
मुहूर्तमार्तण्ड—अनन्त के पुत्र नारायण भट्ट द्वारा। श० सं० १४९३ के फाल्गुन (लग० मार्च १५७२ ई०) में देवगिरि के पास १६० श्लोकों में। टी० मार्तण्ड-वल्लभा, लेखक द्वारा; बम्बई में १८६१ ई० में प्रकाशित।
मुहूर्तमाला—शाण्डिल्य गोत्र एवं चित्तपावन जातीय सरस के पुत्र रघुनाथ द्वारा। सन् १८७८ में रत्नगिरि में मुद्रित।
मुहूर्तमुक्तामणि।
मुहूर्तमुक्तावली—काशीनाथ द्वारा।
मुहूर्तमुक्तावली—देवराम द्वारा।
मुहूर्तमुक्तावली—भास्कर द्वारा।
मुहूर्तमुक्तावली—योगीन्द्र द्वारा, अलवर (उद्धरण ५४६)।
मुहूर्तमुक्तावली— ेपाल के पुत्र लक्ष्मीदास द्वारा। १६१८ ई० में प्रणीत।
मुहूर्तमुक्तावली—श्रीकण्ठ द्वारा।
मुहूर्तमुक्तावली—श्री हरिभट्ट द्वारा।
मुहूर्तरचना—दुर्गासहाय द्वारा।
मुहूर्तरत्न—ज्योतिषराय के पुत्र ईश्वरदास द्वारा। 'मुहूर्तरत्नाकर' नाम भी है।
मुहूर्तरत्न—गोविन्द द्वारा।
मुहूर्तरत्न—रघुनाथ द्वारा।
मुहूर्तरत्न—शिरोमणिभट्ट द्वारा।
मुहूर्तरत्नमाला—श्रीपति द्वारा। रघु० द्वारा व०। टी० लेखक द्वारा।
मुहूर्तरत्नाकर—हरिनन्दन द्वारा। टी० लेखक द्वारा।
मुहूर्तराज—विश्वदास द्वारा।
मुहूर्तराजीय।
मुहूर्तलक्षणपटल।
मुहूर्तविधानसार—कालमाधव में व०।
मुहूर्तविवरण।
मुहूर्तवृत्तशत।
मुहूर्तशिरोमणि—रामचन्द्र के पुत्र धर्मेश्वर द्वारा।
मुहूर्तसंग्रह—सिद्धेश्वर के संस्कारमयूख में एवं सं० कौ० में व०। १६५० ई० के पूर्व। टी० लक्ष्मीपति द्वारा।
मुहूर्तसर्वस्व—बूब के पुत्र वि ्लात्मज रघुवीर द्वारा। काशी में सं० १५५७ (१६३५-३६ ई०) में प्रणीत। नो० (जिल्द १, ृ० १०९)।
मुहूर्तसार—बर्नेल (तंजौर, पृ० ७९ ए)।
मुहूर्तसार—भानुदत्त द्वारा।
मुहूर्तसारिणी।
मुहूर्तसिद्धि।
मुहूर्तसिद्धि—नागदेव द्वारा।
मुहूर्तसिद्धि—महादेव द्वारा।
मुहूर्तसिन्धु—मधुसूदन मिश्र द्वारा। लाहौर में मुद्रित।
मुहूर्तस्कन्ध—बृहस्पति द्वारा।
मुहूर्तामृत—रघु० द्वारा ज्योतिस्तत्त्व में उल्लिखित।
मुहूर्तार्क—मृत्युञ्जय कोकिल द्वारा। टी० प्रभा, लेखक द्वारा।
मुहूर्तालंकार—भैरव के पुत्र गंगाधर द्वारा। श० सं० १५५४, माघ १५ (१६३३ ई०)। स्टीन (पृ० ३४३)।
मुहूर्तालंकार—जयराम द्वारा।
मुहूर्तावलि।
मूर्खहा—संकल्पवाक्यों, नान्दीश्राद्ध, तिथिव्यवस्था, एकोद्दिष्टकालव्यवस्था, श्राद्धव्यवस्था, गोवधादि-प्रायश्चित्त, व्यवहारदायादिव्यवस्था, विवाहनक्षत्रादि पर उत्तम ग्रन्थ। दे० नो० (जिल्द ३, पृ० ४९) एवं नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० १४६-७)।
मूर्तिप्रतिष्ठा—नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० २९३)।
मूर्तिप्रतिष्ठापन।
मूलनक्षत्रशान्ति।
मूलनक्षत्रशान्तिप्रयोग—शौनक का कहा गया है।
मूलशान्तिनिर्णय—स्टीन (पृ० ९९)।
मूलशान्तिविधान।
मूलशान्तिविधि—मधुसूदन गोस्वामी द्वारा।

मूलाविशान्ति।

मूल्यनिरूपण—गोपालकृत (सें० प्रा०, सं० ४३२१)।

मूल्यसंग्रह—(या मूल्याध्याय) बापूभट्ट द्वारा। संकल्पित दान देने में असमर्थता प्रकट करने पर धनदण्डों के सम्बन्ध में एक संक्षेप। गोपालभाष्य का उल्लेख है। पाण्डु० तिथि शक १७५६ है, नो० (जिल्द १०, पृ० २३८)।

मूल्याध्याय—(कुल ५।। श्लोकों में) कात्यायन कृत माना गया है। गाय एवं अन्य सम्पत्ति के दान के स्थान पर धन देने के विषय में। दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (जिल्द २, पृ० १७१)। टी० कामदेवदीक्षित द्वारा, नो० न्यू० (जिल्द ३, भूमिका, पृ० ४)। टी० गोपालजी द्वारा। टी० बालकृष्ण के पुत्र विट्‌ल (उपाधि वैष्णव, श्रीपुर के वासी); १६७० ई० के पश्चात्।

मृत्तिकास्नान।

मृत्युञ्जयस्मृति—हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० ७६४-६५, ७८४) द्वारा एवं दानमयूख में उल्लिखित।

मृत्युमहिषीदानविधि—(किसी की मृत्यु के समय भैंस का दान)।

मैत्रायणीयगृह्यपदार्थानुक्रम।

मैत्रायणीगृह्यपद्धति—मैत्रायणी शाखा के अनुसार १६ संस्कारों पर। अध्याय का नाम पुरुष है।

मैत्रायणीगृह्यपरिशिष्ट—हलायुध, हेमाद्रि एवं म० पा० द्वारा व०।

मैत्रायणीयौर्ध्वदेहिकपद्धति—दे० क्रियापद्धति।

मोक्षकल्पतरु—(कृत्यकल्पतरु या कल्पतरु का एक अंश) लक्ष्मीधर द्वारा। दे० प्रक० ७७।

मोक्षेश्वरनिबन्ध—पारस्करगृह्यपरिशिष्ट की टी० में गदाधर द्वारा व०। सम्भवतः यह मोक्षेश्वर के पुत्र ब्रह्मार्क का प्रश्नज्ञानदोष-पृच्छाप्रकरण ही है। बीकानेर (पृ० ३२५-३२६)।

मोहचूडोत्तर—(या मोहचूलोत्तर) हेमाद्रि (३।२।८८३, मोहचौरोत्तर), नि० सि० में व०।

यजुर्वल्लभा—(या कर्मसरणि) वल्लभाचार्य के पुत्र वं गोपीनाथ के भाई विट्ठल दीक्षित या विट्ठलेश द्वारा। आह्निक, संस्कार एवं आवसथ्याधान (गृह्य अग्नि स्थापित करने) पर तीन काण्ड (यजुर्वेद के अनुसार)। अलवर (सं० १२८०)।

यजुर्विवाहपद्धति।

यजुर्वेदिवृषोत्सर्गतत्त्व—रघु० द्वारा। दे० प्रक० १०२।

यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व—रघु० द्वारा। दे० प्रक० १०२।

यजुर्वेदीयश्राद्धविधि—ढोण्ढू द्वारा। दे० 'श्राद्धविधि'।

यजुःशाखाभेदतत्त्वनिर्णय—पाण्डुरंग टकले द्वारा। बड़ोदा (सं० ३७४)। लेखक का सिद्धान्त यह है कि जहाँ कहीं 'यजुर्वेद' शब्द स्वयं आता है वहाँ 'तैत्तिरीय शाखा' समझना चाहिए न कि 'शुक्लयजु०'।

यज्ञपार्श्वसंग्रहकारिका—पारस्कर गृह्य० पर गदाधर-भाष्य में व०।

यज्ञसिद्धान्तविग्रह—रामसेवक द्वारा।

यज्ञसिद्धान्तसंग्रह—रामप्रसाद द्वारा।

यज्ञोपवीतनिर्णय।

यज्ञोपवीतपद्धति—गणेश्वर के पुत्र रामदत्त द्वारा। वाजसनेयी शाखा के लिए।

यतिक्षौरविधि—मधुसूदनानन्द द्वारा। बड़ोदा (सं० ५०१५)।

यतिखननादिप्रयोग—श्रीशैलवेदकोटीर लक्ष्मण द्वारा। यतिधर्मसमुच्चय का उल्लेख है।

यतिधर्म—पुरुषोत्तमानन्द सरस्वती द्वारा। लेखक पूर्णानन्द का शिष्य था।

यतिधर्म—अज्ञात।

यतिधर्मप्रकाश—वासुदेवाश्रम द्वारा। बड़ोदा (सं० १२२८९)।

यतिधर्मप्रकाश—विश्वेश्वर द्वारा। यह यतिधर्मसंग्रह ही है।

यतिधर्मप्रबोधनी—नीलकण्ठ यतीन्द्र द्वारा।

यतिधर्मसंग्रह—अज्ञात (नो०, जिल्द ९, पृ० २७८)। सर्वप्रथम शंकराचार्य के अनन्तर आचार्यपरम्परा एवं मठाम्नाय का वर्णन है और तब यतिधर्म का।

यतिधर्मसंग्रह—सर्वज्ञविश्वेश के शिष्य विश्वेश्वर सरस्वती द्वारा। आनन्दाश्रम (पूना) द्वारा प्रका०।

यतिधर्मसमुच्चय—यादवप्रकाश द्वारा। वैष्णवों के लिए ११ पर्वों में।

यतिधर्मसमुच्चय—रघुनाथ भट्टाचार्य द्वारा।

यतिधर्मसमुच्चय—सर्वज्ञ विश्वेश के शिष्य विश्वेश्वर-सरस्वती द्वारा। पाण्डु० (नो०, जिल्द ८, पृ० २९३) की तिथि सं० १६६८ (१६११-१२ ई०)। इसे यतिधर्मसंग्रह (उपर्युक्त) भी कहा जाता है।

यतिनित्यपद्धति—आनन्दानन्द द्वारा (बड़ोदा, सं० ५०१७)।

यतिपत्नीधर्मनिरूपण—पूर्णानन्द के शिष्य पुरुषोत्तमानन्द सरस्वती द्वारा।

यतिमरणोपयुक्तांशसंग्रह।

यतिलिंगसमर्थन—तीन स्कन्धों में।

यतिवन्दननिषेध।

यतिवन्दनशतदूषणी।

यतिवन्दनसमर्थन।

यतिवल्लभा—(या संन्यासपद्धति) विश्वकर्मा द्वारा। संन्यास, यति के चार प्रकारों (कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस) एवं उनके कर्तव्यों पर। नो० (जिल्द १०, १७५)। विधानमाला की चर्चा हुई है।

यतिसंस्कार—(प्रतापनारसिंह का एक भाग)।

यतिसंस्कार—पुत्र द्वारा यति की अन्त्येष्टि एवं श्राद्ध पर। नो० (जिल्द १०, पृ० १०)।

यतिसंस्कारप्रयोग—रायम्भट्ट द्वारा।

यतिसंस्कारप्रयोग—विश्वेश्वर द्वारा। नो० (जिल्द १, पृ० १७३)।

यतिसंस्कारविधि—(दो भिन्न ग्रन्थ) दे० स्टीन (पृ० ९९)।

यतिसंस्कारविधिनिर्णय—इण्डि० आ० (पृ० ५२३, सं० १६४७)।

यतिसंस्कारोपयोगिनिर्णय।

यतिसन्ध्यावार्तिक—शंकर के शिष्य सुरेश्वर द्वारा। नो० (जिल्द १०, पृ० ९)।

यतिसिद्धान्तनिर्णय—सच्चिदानन्द सरस्वती द्वारा।

यत्यनुष्ठान।

यत्यनुष्ठानपद्धति—शंकरानन्द द्वारा।

यत्यन्तकर्मपद्धति—रघुनाथ द्वारा।

यत्याचारसंग्रहीययतिसंस्कारप्रयोग—विश्वेश्वर सरस्वती (नो०, जिल्द १, पृ० १७४)।

यत्याचारसप्तर्षिपूजा।

यत्याराधनप्रयोग।

यत्याह्निक—बड़ोदा (सं० ८५६३)।

यमस्मृति—दे० प्रक० ४९; जीवानन्द (भाग १, पृ० ५६०-५६७) एवं आनन्दाश्रम (पृ० ११२-११६) द्वारा प्रका०।

यल्लाजीय—यल्लुभट्ट के पुत्र यल्लाजि द्वारा। अन्त्येष्टि, सपिण्डीकरण आदि पर। आश्वलायनसूत्र, भारद्वाज-सूत्र और इनके भाष्यों तथा शौनक पर आधारित।

यशवन्तभास्कर—पुरुषोत्तमात्मज हरिभट्ट के पुत्र आपाजिभट्ट-तनुज हरिभास्कर या भास्कर द्वारा। बुन्देलखण्ड के राजा इन्द्रमणि के पुत्र यशवन्तदेव के आश्रय में। बीकानेर (पृ० ५०८) में इसका एक अंश संवत्सरकृत्यप्रकाश है। नो० (जिल्द ४, पृ० २६९)। हरिभट्ट त्र्यम्बकपुरी से आये थे और काश्यप गोत्र के थे एवं आपाजिभट्ट काशी में रहते थे। लग० १६७६।

याज्ञवल्क्यस्मृति—दे० ख० १, प्र० ३४। टी० अपरार्क द्वारा; दे० प्रक० ७९। टी० कुलमणि द्वारा। टी० देवबोध द्वारा; रघु० के शुद्धितत्त्व में व०। टी० धर्मेश्वर द्वारा; शूलपाणि के प्रायश्चित्तविवेक में व० (पृ० ५२९)। टी० बालक्रीड़ा, विश्वरूप द्वारा; दे० प्रक० ६०। टी० पर टी० विभावना। टी० पर टी० अमृतस्यन्दिनी (सोमयाजी द्वारा)। टी० पर टी० वचनमाला, सोमयाजी के शिष्य के शिष्य द्वारा। टी० पर टी० अज्ञात। टी० मिताक्षरा, मथुरानाथ द्वारा। टी० मिताक्षरा, विज्ञानेश्वर द्वारा; दे० प्रक० ७०, मिताक्षरा की टीकाओं के लिए देखिए 'मिताक्षरा'। टी० रघुनाथभट्ट द्वारा।

टी० शूलपाणि की दीपकलिका (दे० प्रक० ९५)। टी० वीरमित्रोदय, मित्रमिश्र द्वारा; दे० प्रक० १०८ (चौखम्भा से एक अंश प्रका०)।

याज्ञिककमलाकरी—सें० प्रा० (सं० ४४१४)।

यात्राप्रयोगतत्त्व—हरिशङ्कर द्वारा।

यात्राविवाहाद्युपाय—नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० १४९)।

युक्तिकल्पतरु—भोजदेव कृत। शासन एवं राजनीति के विषयों पर, यथा—दूत, कोष, कृषिकर्म, बल यात्रा, सन्धि, विग्रह, नगर-निर्माण, वास्तुप्रवेश, छत्र, ध्वज, पद्मरागादिपरीक्षा, अस्त्र-शस्त्रपरीक्षा, नौका-लक्षण आदि पर। स्वयं भोज, उशना, गर्ग, बृहस्पति, पराशर, वात्स्य, लोहप्रदीप, शार्ङ्गधर एवं कतिपय पुराणों का हवाला दिया गया है। कलकत्ता ओ० सी० (सं० १) द्वारा प्रका०।

युगार्णव—सें० प्रा० (सं० ४४१८)।

युद्धकुतूहल।

युद्धकौशल—रुद्र द्वारा।

युद्धचिन्तामणि—रामसेवक त्रिपाठी द्वारा।

युद्धजयप्रकाश—दुःखभञ्जन द्वारा।

युद्धजयार्णव—रघु० के ज्योतिस्तत्त्व में व०।

युद्धजयार्णव—अग्निपुराण (अध्याय १२३-१२५) से।

युद्धजयोत्सव—टी० अज्ञात। टी० मथुरानाथ शुक्ल द्वारा। टी० रामदत्त द्वारा।

युद्धजयोत्सव— गाराम द्वारा, पाँच प्रकाशों में। अलवर (उद्ध० ५५१)।

युद्धयात्रा—रघु० के ज्योतिस्तत्त्व में व०।

युद्धरत्नावली।

रंगनाथदेशिकाह्निक—रंगनाथदेशिक द्वारा।

रजतदानप्रयोग—कमलाकर द्वारा।

रत्नकरण्डिका—द्रोण ारा। ह० प्र० (पृ० १०-११, पाण्डु० तिथि सं० ११८९ अर्थात् ११३२-३३ ई०)। वाजसनेयियों के कृत्यों पर। ड० का० (२७३, १८८६-९२) की पाण्डु० अपूर्ण है, इसमें प्रायश्चित्त, स्पृष्टास्पृष्टप्रकरण, शावाशौच, श्राद्ध, गृहस्थाश्रमधर्म, दाय, ऋण, व्यवहार, दिव्य, कृच्छ्र आदि पर विवेचन हैं।

रत्नकोश—हेमाद्रि (३।२।७५०), रघु० (मलमासतत्त्व) एवं टोडरानन्द द्वारा व०।

रत्नदीपविश्वप्रकाश।

रत्नमाला—शतानन्द द्वारा; ज्योतिस्तत्त्व (जिल्द १, पृ० ५९६) में व०।

रत्नमाला—रघु० (शुद्धितत्त्व), गोविन्दार्णव, निर्णयदीप में व०। सम्भवतः श्रीपति या शतानन्द का ग्रन्थ।

रत्नसंग्रह—नि० सि० में व०।

रत्नसागर—नि० सि० में व०।

रत्नाकर—दे० प्रक० (चण्डेश्वर) ९०।

रत्नाकर— ोपाल द्वारा।

रत्नाकर—रामप्रसाद द्वारा। स्टीन (पृ० १००) में प्रायश्चित्त का अंश है।

रत्नार्णव—रघु० द्वारा व०।

रत्नावलि—हेमाद्रि (३।२।८५७) एवं रघु० (मलमासतत्त्व) में व०।

रथसप्तमीकालनिर्णय।

रविसंक्रान्तिनिर्णय—माधव के पुत्र रघुनाथ द्वारा।

रसामृतसिन्धु—सदाचारचन्द्रिका (सम्भवतः भक्ति पर) में व०।

राघवभट्टीय—नि० सि० में व०।

राजकौस्तुभ—(या राजधर्मकौस्तुभ) अनन्तदेव द्वारा। दे० प्रक० १०९।

राजधर्मसारसंग्रह—तंजौर के तुलाजिराज कृत कहा गया है (१७६५-१७८८)।

राजनीति—अज्ञात।

राजनीति—देवीदास द्वारा।

राजनीति—भोज द्वारा।

राजनीति—वररुचि (?) द्वारा। 'धन्वन्तरि....' आदि नवरत्नों के प्रसिद्ध श्लोक से इसका आरम्भ है। दे० बर्नेल (तंजौर, पृ० १४१ बी)।

राजनीति—काशी के हरिसेन ारा।

राजनीतिकामधेनु—चण्डेश्वर के राजनीतिरत्नाकर

द्वारा व०।

राजनीतिप्रकाश—मित्रमिश्र द्वारा। वीरमित्रोदय का एक अंश। चौखम्भा सं० सी० द्वारा प्रका०।

राजनीतिप्रकाश—रामचन्द्र अल्लडीवार द्वारा।

राजनीतिमयूख—नीलकण्ठ का नीतिमयूख ही है।

राजनीतिशास्त्र—चाणक्य द्वारा। ८ अध्याय एवं लग० ५६६ श्लोकों में। विंट० एवं कीथ (२, पृ० १८२)।

राजभूषणी—(नृपभूषणी) रामानन्द तीर्थ द्वारा। मनुस्मृति की कुल्लूककृत टीका का उल्लेख है।

राजमार्तण्ड—भोज द्वारा। दे० प्रक० ६४। ड का० (सं० ३४२, १८७९-८०) में राजमार्तण्ड ग्रन्थ है, जिसमें धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ज्योतिष का उल्लेख है और व्रतबन्धकाल, विवाहशुभकाल, विवाहराशियोजनविधि, संक्रान्तिनिर्णय, दिनक्षय, पुरुषलक्षण, मेषादिलग्नफल के विषय हैं। पाण्डु० की तिथि सं० १६५५ चैत्र (१५९८ ई० एप्रिल) है। टी० गणपति द्वारा।

राजलासक—सरस्वतीविलास में व० (मैसूरसंस्करण, पृ० २१)।

राजवल्लभ—(सूत्रधार मण्डनमिश्र द्वारा ?) महादेव के मुहूर्तदीपक में व०।

राजाभिषेक—अनन्त द्वारा।

राजाभिषेकप्रयोग—(नीलकण्ठ के नीतिमयूख से)।

राज्याभिषेक—(टोडरानन्द से)।

राज्याभिषेकपद्धति—दिनकरोद्द्योत का एक भाग।

राज्याभिषेकपद्धति—अनन्तदेव द्वारा।

राज्याभिषेकपद्धति—विश्वकर्मा के पुत्र शिव द्वारा।

राज्याभिषेकप्रयोग—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा। दे० प्रक० १०६।

राज्याभिषेकप्रयोग—माधवभट्ट के पुत्र रघुनाथ सम्राट्-स्थपति द्वारा।

रामकल्पद्रुम—कमलाकर के पुत्र अनन्तभट्ट द्वारा। दस काण्डों में विभक्त, यथा क्रम से—काल, श्राद्ध, व्रत, संस्कार, प्रायश्चित्त, शान्ति, दान, आचार, राजनीति एवं उत्सर्ग। औफ्रेख्ट के मत से केवल ७ काण्ड हैं, किन्तु एक पाण्डु० में उपर्युक्त काण्ड हैं। १६४०-१६७० ई०। बीकानेर (पृ० ४४५-४४७)।

रामकौतुक—निर्णयामृत एवं नि० सि० में व०।

रामतत्त्वप्रकाश—सायण कृत माना गया है।

रामदेवप्रसाद—(उर्फ गोत्रप्रवरनिर्णय) शम्भुदेव के पुत्र विश्वनाथ या विश्वेश्वर द्वारा। शक सं० १५०६ (१५८४ ई०) में प्रणीत।

रामनवमीनिर्णय—गोपालदेशिक द्वारा। नि० सि० उ० है।

रामनवमीनिर्णय—विट्ठलदीक्षित द्वारा।

रामनाथपद्धति—रामनाथ द्वारा।

रामनित्यार्चनपद्धति—चतुर्भुज द्वारा।

रामनिबन्ध—दीक्षितबाबू के पुत्र श्रीभवनन्दात्मज क्षेमराय द्वारा। १७२० ई० में प्रणीत (अलवर, सं० १४३१)।

रामपूजाविधि—क्षेमराज द्वारा। अलवर (सं० १४३२ एवं उद्धरण ३४१)।

रामपूजापद्धति—रामोपाध्याय द्वारा। स्टीन (पृ० १०१)।

रामप्रकाश—(१) कालतत्त्वार्णव पर एक टी०। (२) कृपाराम के नाम पर संगृहीत धार्मिक व्रतों पर एक निबन्ध, कृपाराम यादवराज के पुत्र, माणिक्यचन्द्र के राजकुल के वंशज एवं गौड़क्षत्रकुलोद्भव कहे गये हैं; वे जहाँगीर एवं शाहजहाँ के सामन्त थे। इण्डि० आ० (जिल्द ३, पृ० ५०२) के मत से काशीनाथ के पुत्र एवं रामदेव चिरञ्जीव के पिता राघवेन्द्र इस ग्रन्थ के वास्तविक प्रणेता थे। हेमाद्रि, माधव एवं गौड के लेखकों का आधार लिया गया है। अलवर (नं० १४३३) के मत से यह कालतत्त्वविवेचन पर आधारित टीका है। किन्तु इण्डि० आ० के विवरण से ऐसा नहीं प्रतीत होता।

रामप्रसाद—देखिए 'तीर्थरत्नाकर'।

रामानुजनित्यकर्मपद्धति—दे० पीटर्सन (छठी रिपोर्ट, पृ० १०७)।

रामार्चनचन्द्रिका——रघु० के तिथितत्त्व में तथा नि० सि० में व०।

रामार्चनचन्द्रिका——अच्युताश्रम द्वारा।

रामार्चनचन्द्रिका——परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमन्मुकुन्द वन के शिष्य आनन्द वन यति द्वारा। पाँच पटलों में (ड० का० पाण्डु० ४४०, १८९१-९५; तिथि शक १६०७, अर्थात् १६८५ ई०)। चार पटलों में। वसिष्ठ से गोड़पाद, गोविन्द, शङ्कराचार्य, विश्वरूप, सुरेश्वर तक की गुरु परम्परा का उल्लेख है। टी० लघुदीपिका, गदाधर द्वारा।

रामार्चनचन्द्रिका——कुलमणि शुक्ल द्वारा।

रामार्चनदर्पण——अलवर (सं० १४३५)।

रामार्चनदीपिका।

रामार्चनपद्धति——रामानन्द द्वारा।

रामार्चनरत्नाकर——केशवदास द्वारा। अहल्याकामधेनु में व०।

रामार्चनपद्धति——शुद्धितत्त्व एवं श्राद्धतत्त्व (पृ० २१९) में रघु० द्वारा व०।

रामसिंहप्रकाश——गदाधर द्वारा।

रासयात्रापद्धति——रघु० द्वारा। दे० प्रक० १०२।

रासयात्राविवेक——शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५।

रुद्रकलशस्थापनविधि——नारायण के पुत्र रामकृष्ण द्वारा।

रुद्रकल्प।

रुद्रकल्पतरु——(१) अज्ञात (बर्नेल, तंजौर, पृ० १३८ ए), सं० १७१४ (१६५७-८ ई०); (२) विश्वेश्वर के पुत्र द्वारा।

रुद्रकल्पद्रुम——(या महारुद्रपद्धति) उद्धव द्विवेदी (काशी निवासी) के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। हेमाद्रि, टोडरानन्द, प्रयोगपारिजात, रुद्रकारिका (परशुराम-लिखित), नि० सि० का उल्लेख है। १६४० ई० के उपरान्त।

रुद्रचिन्तामणि——(या रुद्रपद्धति) विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा (छन्दोगों के लिए)। बड़ोदा (सं० ८०१८)।

रुद्रजपसिद्धान्तशिरोमणि——रामचन्द्र पाठक द्वारा। एक विशाल ग्रन्थ। बड़ोदा (सं० १०९४६) में १३ प्रकरण हैं; सम्भवतः इससे अधिक प्रकरण हैं।

रुद्रपद्धति——(१) कर्ण के पुत्र परशुराम द्वारा। लेखक औदीच्य ब्राह्मण था। महारुद्र के रूप में शिवपूजा का वर्णन है। रुद्रजपप्रशंसा, कुण्डमण्डपलक्षण, पीठपूजाविधि, न्यासविधि पर कुल १०२८ श्लोक हैं। सं० १५१५ (१४५८ ई०) में प्रणीत। इसका 'रुद्रकारिका' नाम भी है। (२) इसी विषय पर एक अन्य छोटा निबन्ध, भूमिका कुछ अंश में समान है। १४७८-१६४३ ई० के बीच में प्रणीत (इण्डि० आ०, पृ० ५८४)। (३) विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदीक्षित द्वारा। बड़ोदा (पाण्डु० ८०३०; तिथि सं० १८०९ अर्थात् १७५२-३ ई०)। (४) तैत्तिरीयशाखा के अनुसार रुद्रप्रयोग का विवरण, यद्यपि रुद्र सभी शाखाओं में वाचित होता है। आया है—'स्मार्तरुद्रप्रयोगस्य बौधायनसूत्रमूलकत्वेन वह्वृचादीनां च तत्र बौधायनं ग्राह्यम्। पंचधा रूपं रुद्रो लघुरुद्रो महारुद्रोऽति रुद्रश्चेति एकादशगुणवृद्ध्या। सर्वञ्च त्रेधा जपरुद्रो होमरुद्रोऽभिषेकरुद्रश्चेति।' इण्डि० आ० (पृ० ५८०, सं० १७८३; पाण्डु० की तिथि सं० १५८७, १५३०-३१ ई०)। रूपनाथ कई बार उ० है।

रुद्रपद्धति——(मैत्रायणीय) बड़ोदा (सं० २४५२)।

रुद्रपद्धति——आपदेव द्वारा।

रुद्रपद्धति——सदाशिव के पुत्र काशीदीक्षित द्वारा। इसे रुद्रानुष्ठानपद्धति एवं महारुद्रपद्धति भी कहा जाता है।

रुद्रपद्धति——रामेश्वरभट्ट के पुत्र नारायणभट्ट द्वारा। 'यद्यप्यनेकासु शाखासु रुद्रः पठ्यते तथापि तैत्तिरीयशाखानुसारेण रुद्रः पठ्यते।'

रुद्रपद्धति——रामकृष्ण के पुत्र भास्करदीक्षित द्वारा (शांखायनगृह्य के अनुसार)।

रुद्रपद्धति——रेणुक द्वारा। पाण्डु० की तिथि १६०४ सं० (१६८२ ई०) है (बीकानेर, पृ० ६०१)।

रुद्रपद्धति—शम्भुदेव के पुत्र एवं रामदेव के छोटे भाई विश्वनाथ द्वारा (माध्यन्दिनीयों के लिए)।

रुद्रपूजापद्धति—पीटर्सन (छठी रिपोर्ट, पृ० १०९)।

रुद्रविधानपद्धति—सदाशिव दीक्षित के पुत्र काशीदीक्षित द्वारा।

रुद्रविधानपद्धति—चन्द्रचूड़ द्वारा।

रुद्रविलासनिबन्ध—नन्दनमिश्र द्वारा।

रुद्रस्नानविधि—(या रुद्रस्नानपद्धति) नारायणभट्ट के पुत्र रामकृष्ण द्वारा। कमलाकर के शान्तिरत्न में व०। लग० १५७०-१६०० ई०।

रुद्रप्रतिष्ठा।

रुद्रलघुन्यास—रुद्रपूजा के लिए नियमपद्धति।

रुद्रसूत्र—(या रुद्रयोग) उद्धव के पुत्र अनन्तदेव (काशी के रहने वाले) द्वारा। इसे त्रैविद्यमौढ (वाजसनेय शाखा के लिए) भी कहा जाता है। पीटर्सन (पाँचवीं रिपोर्ट, पृ० १७५)।

रुद्राक्षधारण।

रुद्राक्षपरीक्षा।

रुद्रानुष्ठानपद्धति—रामेश्वर के पुत्र नारायण द्वारा। ड० का० (सं० २८३, १८८६-९२)। यह उपर्युक्त रुद्रपद्धति (४) ही है, ऐसा प्रतीत होता है।

रुद्रानुष्ठानपद्धति—सर्वज्ञ कुल के मेंगनाथ द्वारा। महार्णव पर प्रधान रूप से आधारित।

रुद्रानुष्ठानपद्धति—बल्लालसूरि के पुत्र शंकर द्वारा। व्रतोद्यापनपद्धति में व०। लग० १७५० ई०।

रुद्रानुष्ठानपद्धति—(या दीपिका) दे० 'रुद्रपद्धति' ऊपर।

रुद्रानुष्ठानप्रयोग—मयरेश्वर के पुत्र खण्डभट्ट (अयाचित) द्वारा।

रुद्रार्चनचन्द्रिका—शिवराम द्वारा।

रुद्रार्चनमंजरी—वेदांगराय द्वारा। दे० महारुद्रपद्धति।

रूपनारायणीय—(पद्धति) शक्तिसिंह के पुत्र उदयसिंह रूपनारायण द्वारा। ड० का० (सं० २४०, १८८१-८२) में वंशावली दी हुई है। इसमें तुलापुरुष आदि षोडश महादानों, कूपवापीतड़ागादिविधि, नवग्रहहोम, अयुतहोम, लक्षहोम, दुर्गोत्सव का वर्णन है। भोजराज, लक्ष्मीधर (कल्पतरु), हेमाद्रि, चण्डेश्वर, पारिजात, हरिहर, भीमपराक्रम, विद्याधर, चिन्तामणि, वर्षदीप, महादानपद्धति (रूपनारायणकृत) पर आधारित। नारायणभट्ट की जलाशयारामोत्स पद्धति में व०, १४५०-१५२५ ई० के बीच।

रेणुकारिका—(या रेणुककारिका) दे० ऊपर 'पारस्करगृह्यकारिका'। १२६६-६७ ई० में प्रणीत।

लक्षणप्रकाश—मित्रमिश्र द्वारा। वीरमित्रोदय (राजनीति पर) का एक भाग। चौखम्भा सं० सी० में प्रका०।

लक्षणरत्नमालिका—विश्वनाथ के पुत्र नारोजि पण्डित द्वारा। वर्णाश्रमाचार, दैव, राज, उद्योग, शरीर पर पाँच पद्धतियों में। लगता है, यह लेखक की पुस्तक लक्ष्मणशतक की एक टीका है। दे० बर्नेल, तंजौर (पृ० १३२ एवं १६४ बी)।

लक्षणशतक—नारोजिपण्डित द्वारा।

लक्षणसंग्रह—हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० ३२८) एवं कुण्डमण्डपसिद्धि द्वारा व०।

लक्षणसमुच्चय—हेमाद्रि द्वारा। शरीर लक्षणों के एवं प्राकृतों पर। दे० बीकानेर (पृ० ४११)।

लक्षणसमुच्चय—हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० ८२३) एवं नि० सि० में व०।

लक्षणसारसमुच्चय—शिवलिंगों के निर्माण के नियम। ३२ प्रकरणों में।

लक्षहोमपद्धति—(१) सदाशिवदीक्षित के पुत्र काशी दीक्षित द्वारा। (२) पुरुषोत्तम के पुत्र गोविन्द द्वारा। (३) रामेश्वर के पुत्र नारायणभट्ट द्वारा, दे० प्रक० १०३।

लक्षणसमुच्चय—महादेव के मुहूर्तदीपक में व०।

लक्ष्मीनारायणार्चाकौमुदी—शिवानन्द स्वामी द्वारा। ५ प्रकाशों में।

लक्ष्मीसपर्यासार—श्रीनिवास द्वारा।

लघुकारिका—देवदत्त के पुत्र विष्णुशर्मा द्वारा (माध्यन्दिनशाखा के लिए)। बड़ौदा (सं० १२०७२),

तिथि सं० १५५२ एवं संख्या ४०५५ की तिथि १५०७ संवत्।

लघुकालनिर्णय—माधवाचार्य द्वारा। प्रथम श्लोक 'व्याख्याय माधवाचार्यो धर्मान् पाराशरानथ' है और अन्तिम है—'व्यतिपाते च वैधृत्यां तत्कालव्यापिनी तिथिः' (दे० बीकानेर, पृ० ४०८-४०९)।

लघुचाणक्य।

लघुचिन्तामणि—वीरेश्वरभट्ट गोडबोले द्वारा।

लघुजातिविवेक—शूद्रकमलाकर में व०।

लघुनारदस्मृति—नि० सि० एवं सं० कौ० में व०।

लघुनिर्णय—शिवनिधि द्वारा (बड़ोदा, सं० १२८५४)।

लघुपद्धति—(या कर्मतत्त्वप्रदीपिका) रघुनाथ के पुत्र पुरुषोत्तमात्मज कृष्णभट्ट द्वारा। कारिका, वृत्ति, वामनभाष्य एवं जयन्त पर आधारित। आचार, व्यवहार पर विवेचन। नो० (जिल्द १०, पृ० २४८); बड़ोदा (सं० १४२२, पाण्डु० संवत् १५९२, १५३५-६ ई०)। चन्द्रिका, स्मृतिसार एवं स्मृत्यर्थसार का उल्लेख है। १३२०-१५०० ई० के बीच।

लघुपाराशरस्मृति।

लघुबृहस्पतिस्मृति।

लघुयमस्मृति—अपरार्क (याज्ञ० ३।२३८) एवं हलायुध (ब्राह्मणसर्वस्व) द्वारा उल्लिखित।

लघुवसिष्ठस्मृति।

लघुविष्णुस्मृति—अपरार्क एवं हलायुध (ब्राह्मणसर्वस्व) द्वारा व०। आनन्दाश्रम (पृ० ११७-१२३) द्वारा प्रका०।

लघुव्यास—संस्कारमयूख में व०। जीवानन्द (भाग २, पृ० ३१०-३२०) द्वारा प्रका०।

लघुशंखस्मृति—आनन्दाश्रम (पृ० १२४-१२७) द्वारा प्रका०।

लघुशातातपस्मृति—आनन्दाश्रम (पृ० १२८-१३५) द्वारा प्रका०।

लघुशौनकस्मृति—१४४ श्लोकों में (बड़ोदा, सं० ११८६३)।

लघुहारीतस्मृति—अपरार्क द्वारा व०। आनन्दाश्रम (पृ० १३६-१४१) एवं जीवानन्द (भाग १, पृ० १७७-१९१) द्वारा प्रका०।

लघ्वत्रिस्मृति—जीवानन्द (भाग १, पृ० १-१२) द्वारा प्रका०। दे० प्र० १६।

लघ्वाश्वलायनस्मृति—आनन्दाश्रम (पृ० १४२-१८१) द्वारा प्रका०।

ललितार्चनचन्द्रिका—विद्यानन्दनाथ के गुरु सच्चिदानन्दनाथ द्वारा।

ललितार्चनदीपिका।

ललितार्चनपद्धति—स्वयंप्रकाशानन्दनाथ के शिष्य चिदानन्दनाथ द्वारा। सम्भवतः यह ललितार्चनचन्द्रिका ही है।

लवणश्राद्ध—(मृत्यु के उपरान्त चौथे दिन मृत को लवण की रोटियों के अर्पण पर)।

लिखितस्मृति—दे० प्र० १३। जीवानन्द (भाग ३, पृ० ३७५-३८२) एवं आनन्दाश्रम (पृ० १८२-१८६) द्वारा प्रका०। ड० का० (पाण्डु० ४४, १८६६-६८) में ६ अध्यायों में एक लिखितस्मृति है, जिसमें वसिष्ठ एवं अन्य ऋषि लिखित से चातुर्वर्ण्य-धर्म एवं प्रायश्चित्तों के प्रश्न पूछते हुए उल्लिखित हैं।

लिङ्गतोभद्र।

लिङ्गतोभद्रकारिका।

लिङ्गधारणचन्द्रिका।

लिङ्गधारणदीपिका।

लिङ्गप्रतिष्ठा—अनन्त द्वारा।

लिङ्गप्रतिष्ठापनविधि—अनन्त द्वारा (बौधायन के अनुसार)। इण्डि० आ० (जिल्द ३, पृ० ५८४-५८५)।

लिङ्गादिप्रतिष्ठाविधि—रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायणभट्ट द्वारा।

लिङ्गार्चनचन्द्रिका—विष्णु-पुत्र गदाधरात्मज सदाशिव दशपुत्र द्वारा जयसिंह को प्रसन्न करने के लिए प्रणीत। लेखक ने आशौचचन्द्रिका भी लिखी है। १८वीं शताब्दी का प्रथम चरण।

लेखपंचाशिका—५० प्रकार के विक्रयपत्रों, प्रतिज्ञापत्रों

एवं लेख्यप्रमाणों पर सन् १२३२ ई० में लिखित। दे० भण्डारकर रिपोर्ट (१८८२-८३ ई०, सं० ४१०; पाण्डु० तिथि सं० १५३६ अर्थात् १४७९-८० ई०)।

लेखपद्धति—बन्धकों, विक्रयपत्रों, सन्धियों के विभिन्न प्रकारों पर, ९वीं से लेकर १६वीं वि० शताब्दी तक के राजकीय सचिवालय के लेख्यप्रमाणों के उद्धरणों के साथ; गायकवाड़ ओ० सी० (१९२५)।

लेखमुक्तामणि—वत्सराज के पुत्र हरिदास द्वारा। उद्भव (लेखन के उद्भव), गणित, लिखन (लिपिक या मुहर्रिर के लिखने की कला) एवं नृपनीति पर ४६४ श्लोकों में एवं ४ सर्गों में। पाण्डु० १६२५ ई० में उतारी गयी (औफ्रेक्ट का कैटलाग)।

लोकपालाष्टदान।

लोकप्रकाश—क्षेमेन्द्र द्वारा। ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध। इसमें लेख्य प्रमाणों, बन्धक-पत्रों आदि के आदर्श-रूप वर्णित हैं।

लोकसागर—अहल्याकामधेनु में व०।

लोहितस्मृति।

लौगाक्षिस्मृति—दे० प्रक० ५०।

वंगिपुरेश्वरकारिका—वंगिपुरेश्वर द्वारा।

वचनसंग्रह—बड़ोदा (सं० ५५०७)।

वचनसमुच्चय—बीकानेर (सं० ४८९)।

वचनसारसंग्रह—सुन्दराचार्य के पुत्र श्रीशैलताताचार्य द्वारा। मदनपा० में उ०।

वटेश्वरसिद्धान्त—गदाधर के कालसार में उ०।

वत्सस्मृति—कालमाधव में एवं मस्करी द्वारा (गौतम-धर्मसूत्र में) व०।

वपननिर्णय।

वरदराजीय—हुल्श (सं० ४४८, रिपोर्ट १)।

वर्ज्याहारविवेक—वेंकटनाथ द्वारा।

वर्णकाचार।

वर्णशासन।

वर्णसङ्करजातिमाला—भार्गव राम द्वारा। नो० न्यू० (१, पृ० ३३२)।

वर्णसारमणि—वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा।

वर्णाश्रमधर्म—वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा। सम्भवतः उपर्युक्त ही है।

वर्णाश्रमधर्मदीप—(या दीपिका) भारद्वाज गोत्रीय राघवात्मज गोविन्द के पुत्र कृष्ण द्वारा। संस्कारों, गोत्रप्रवरनिर्णय, स्थालीपाक, लक्षहोम, कोटिहोम, तुलापुरुष, वास्तुविधि, आह्निकविधि, सर्वप्रायश्चित्त, मूर्तिप्रतिष्ठा आदि पर बनारस में प्रणीत।

वर्णाश्रमधर्मदीप—गोदावरी के तट पर स्थित महाराष्ट्र के राजा कृष्ण द्वारा। बीकानेर (पृ० ४८९)। यह एक विशाल ग्रन्थ है।

वर्धमानपद्धति—रघु० के श्राद्धतत्त्व में व०। इसे नव्यवर्धमान० भी कहा जाता है।

वर्षकृत्य—लक्ष्मीधर के पुत्र रुद्रधर द्वारा। १९०३ ई० में बनारस में प्रका०। दुर्गोत्सवविवेक (शूलपाणि-कृत) में व०।

वर्षकृत्य—चम्पहट्टी कुल के रावणशर्मा द्वारा। संक्रान्ति एवं १२ मासों के व्रतों एवं उत्सवों पर।

वर्षकृत्य—विद्यापति द्वारा। १५वीं शताब्दी के लग० प्रथमार्ध में। रघु० के मलमासतत्त्व में व०।

वर्षकृत्य—शङ्कर द्वारा। इसे स्मृतिसुधाकर या वर्ष-कृत्यनिबन्ध भी कहते हैं। बीकानेर (पृ० ४६८)।

वर्षकृत्य—हरिनारायण द्वारा। से० प्रा० (सं० ५०१७)।

वर्षकृत्यतरंग—कृत्यमहार्णव से।

वर्षकृत्यप्रयोगमत (माला)—मानेश्वर शर्मा द्वारा। पाण्डु० तिथि १४७७ ई० (बिहार०, जिल्द १, सं० ३१२ एवं जे० बी० ओ० आर० एस्०, १९२७, भाग ३ एवं ४, पृ० ४)।

वर्षकौमुदी—(या वर्षकृत्यकौमुदी) गणपतिभट्ट के पुत्र गोविन्दानन्द द्वारा। बिब्लि० इण्डि० द्वारा प्रका०। दे० प्रक० १०१।

वर्षदर्पण—दिवाकर की कालनिर्णयचन्द्रिका म एवं समय-मयूख में व०। १६०० ई० के पूर्व।

वर्षदीधिति—अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ का भाग।

वर्षदीप—रूपनारायणीय में व०।

वर्षदीपिका—चण्डेश्वर के कृत्यरत्नाकर में व०।

वर्षभास्कर—शम्भुनाथ सिद्धान्तवागीश द्वारा राजा धर्मदेव की आज्ञा से प्रणीत।

वसन्तराजीय—(उर्फ शकुनार्णव) शिवराज के पुत्र एवं विजयराज के भाई वसन्तराज भट्ट द्वारा मिथिला के राजा चन्द्रदेव की आज्ञा से प्रणीत। बल्लालसेन के अद्भुतसागर एवं शूलपाणि के दुर्गोत्सव द्वारा उल्लिखित। ११५० ई० के पूर्व। टी० अकबर के शासन-काल में भानुचन्द्रगणि द्वारा।

वसिष्ठकल्प।

वसिष्ठधर्मसूत्र—दे० प्रक० ९। बनारस सं० सी० द्वारा, जीवानन्द (भाग २, पृ० ४५६-४९६) एवं आनन्दाश्रम (पृ० १८७-२३१) द्वारा प्रका०। टी० यज्ञस्वामी द्वारा। बौधायनसूत्र की गोविन्दस्वामिटीका में व०।

वसिष्ठसंहिता—(या महासंहिता) शान्ति, जप, होम, बलिदान एवं नक्षत्र, वार आदि ज्योतिषसम्बन्धी विषयों पर ४५ अध्यायों में। अलवर (उद्धरण ५८२)।

वसिष्ठस्मृति—१० अध्यायों एवं लग० ११०० श्लोकों में। वैष्णव ब्राह्मणों के संस्कारों, स्त्रीधर्म, विष्ण्वाराधन, श्राद्ध, आशौच, विष्णुमूर्तिप्रतिष्ठा पर। इण्डि० आ० (जिल्द ३, पृ० ३९२, सं० १३३९)। बड़ोदा (सं० १८८५; पाण्डु० की तिथि शक १५६४ है।

वसिष्ठस्मृति—(या वासिष्ठी) टी० वासिष्ठभाष्य, वेदमिश्र द्वारा। राम ने वसिष्ठ से अपने वनवास का कारण पूछा है। ग्रहों की शान्ति, लक्षहोम, कोटिहोम पर। यह वसिष्ठ द्वारा माध्यन्दिनी शाखा पर आधारित है। ड० का० (पाण्डु० सं० २४५, १८७९-८० ई०); बड़ोदा (सं० १४१२, संवत् १५६५, १५०८-९ ई०)। टीका में केवल श्लोकों के प्रतीक दिये गये हैं। इसमें आया है कि वसिष्ठ द्वारा नारद एवं अन्य लोगों को लक्षहोम सिखाया गया था।

वसिष्ठहोमपद्धति।

वाक्यतत्त्व—सिद्धान्तपंचानन कृत। धार्मिक कृत्यों के उपयुक्त कालों पर। द्वैततत्त्व का एक भाग।

वाक्यमीमांसा—नृसिंहप्रसाद में व०।

वाक्यरत्नावलि—गदाधर के कालसार में व०।

वाग्भटस्मृतिसंग्रह—अपरार्क द्वारा व०।

वाग्वतीतीर्थयात्राप्रकाश—रामभद्र के पुत्र गौरीदत्त द्वारा।

वातव्याधिकर्मप्रकाश।

वादभयङ्कर—विज्ञानेश्वर के एक अनुयायी द्वारा, वीरमित्रोदय के मतानुसार। दे० प्र० ७०। कल्पतरु द्वारा व०। १०८०-११२५ ई० के मध्य में।

वाधूलवृत्तिरहस्य—(या वाधूलगृह्यागमवृत्तिरहस्य) सगमग्रामवासी मिश्र द्वारा। ऋणत्रयापाकरण, ब्रह्मचर्य, संस्कार, आह्निक, श्राद्ध एवं स्त्रीधर्म पर।

वापीकूपतडागादिपद्धति।

वाप्युत्सर्ग।

वारव्रतनिर्णय।

वाराणसीदर्पण—राघव के पुत्र सुन्दर द्वारा।

वामनकारिका—श्लोकों में एक विशाल ग्रन्थ। मुख्यतः खादिरगृह्य पर आधृत।

वामनपद्धति—श्राद्धसौख्य (टोडरानन्द) में व०।

वाराहगृह्य—गायकवाड़ सी० में २१ खण्डों में प्रका०। जातकर्म, नामकरण से पुंसवन तक के संस्कारों एवं वैश्वदेव एवं पाकयज्ञ पर।

वार्तिकसार—टेकचन्द्र के पुत्र यतीश द्वारा। १७८५ ई० में लिखित।

वार्षिककृत्यनिर्णय।

वासकर्मप्रकाश।

वासिष्ठलघुकारिका।

वासन्तीविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५।

वासिष्ठीशान्ति—विश्वनाथ के पुत्र महानन्द द्वारा (उन्होंने संशोधित किया या पुनः लिखा)। बीकानेर (पृ० ४९०)।

वासुदेवी—(या प्रयोगरत्नमाला) बम्बई (१८८४ ई०) में प्रका०। हेमाद्रि, कृत्यरत्नाकर, त्रिविक्रम, रूपनारायण, नि० सि० के उद्धरण आये हैं, अतः १६२० ई० के उपरान्त। मूर्तिनिर्माणप्रकार, मण्डपप्रकार, विष्णुप्रतिष्ठा, जलाधिवास, शान्तिहोम-प्रयोग, नूतनपिण्डिका स्थापन, जीर्णपिण्डिकायां देवस्थापनप्रयोग का वर्णन है।

वास्तुचन्द्रिका—करुणाशंकर द्वारा।
वास्तुचन्द्रिका—कृपाराम द्वारा।
वास्तुतत्त्व—गणपतिशिष्य द्वारा। लाहौर (१८५३ ई०) में प्रका०।
वास्तुपद्धति—(या वास्तूद्यापन) बड़ोदा (संख्या १६७२)।
वास्तुपूजनपद्धति—परमाचार्य द्वारा।
वास्तुपूजनपद्धति—याज्ञिकदेव द्वारा।
वास्तुप्रदीप—वासुदेव द्वारा। नि० सि० में व०।
वास्तुयागतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। दे० प्रक० १०२।
वास्तुरत्नावलि—जीवनाथ दैवज्ञ द्वारा। बनारस (१८-८३) एवं कलकत्ता (१८८५) में प्रका०।
वास्तुशान्ति—नारायणभट्ट के पुत्र रामकृष्ण द्वारा। आश्वलायनगृह्य के अनुसार। कमलाकरभट्ट के शान्तिरत्न में व०।
वास्तुशान्तिप्रयोग—शाकलोक्त।
वास्तुशान्तिप्रयोग—दिनकर के शान्तिसार से उद्धृत।
वास्तुशास्त्र—मय द्वारा। नि० सि० में उल्लिखित।
वास्तुशिरोमणि—मान नरेन्द्र के पुत्र स्यामसाह के आदेश से शंकर द्वारा। अलवर (सं० ५७६)।
वास्तुसर्वस्वसंग्रह—बंगलोर में सन् १८८४ में प्रका०।
विचारनिर्णय—गोपाल न्यायपंचानन भट्टाचार्य द्वारा।
विजयदशमीनिर्णय।
विजयदशमीपद्धति—अलवर (सं० १४४४ एवं उद्धरण ३४४)।
विजयविलास—रामकृष्ण द्वारा। शौच, स्नान, सन्ध्या, ब्रह्मयज्ञ, तिथिनिर्णय पर। कर्क, हरिहर एवं गदाधर के भाष्यों पर आधारित।
विज्ञानमार्तण्ड—नृसिंहप्रसाद में व०।
विज्ञानललित—हेमाद्रि (दानखण्ड, पृ० १०९) द्वारा एवं दानसार (नृसिंहप्रसाद के भाग) में व०।
विट्ठलीय—रामकृष्ण के श्राद्धसंग्रह में व०।
विदुरनीति—महाभारत के उद्योगपर्व के अध्याय ३३-४० बम्बई संस्करण में, गुजराती प्रेस द्वारा मुद्रित)।
विद्याकरणपद्धति—नित्याचारप्रदीप (पृ० ५६६, ५७१) में व०।
विद्याधरीविलास—रघु० के ज्योतिस्तत्त्व द्वारा व०।
विद्यारण्यसंग्रह—दे० स्मृतिसंग्रह।
विद्याविनोद—नि० सि० में व० (यह लेखक का नाम भी हो सकता है)।
विद्वन्मनोहरा—नन्दपण्डित द्वारा पराशरस्मृति की टीका। दे० प्रक० १०५।
विधवाधर्म।
विधवाविवाहखण्डन।
विधवाविवाहविचार—हरिमिश्र द्वारा।
विधानखण्ड—नि० सि० में व०।
विधानगुम्फ—अनन्त के विधानपारिजात में व०।
विधानपारिजात—नागदेव के पुत्र अनन्तभट्ट द्वारा। १६२५ ई० में बनारस में प्रणीत। लेखक अपने को 'काण्वशाखाविदां प्रियः' कहता है। स्वस्तिवाचन, शान्तिकर्म, आह्निक, संस्कार, तीर्थ, दान, प्रकीर्ण-विधान आदि पर पाँच स्तवकों में। देवजानीय, दिवोदासीय, त्रिस्थलीसेतु का उल्लेख है। बिब्लि० इण्डि० द्वारा प्रका०।
विधानमाला—(या शुद्धार्थविधानमाला) अत्रि गोत्र के नृसिंहभट्ट द्वारा। वैराट देश में चन्दनगिरि के पास वसुमती के निवासी। संस्कारकौस्तुभ एवं विधान-पारिजात में व०। १५५० ई० के पूर्व। इण्डि० आ० में २४० प्रकरण हैं (पृ० ५७५, सं० १७६९), पाण्डु० सं० १७३२ में उतारी हुई। आनन्दाश्रम द्वारा प्रका० १९२०। बड़ोदा (सं० १०४४९, पाण्डु० तिथि सं० १६२२, १५६५-६ ई०)। टी० हरि के पुत्र विश्वनाथ द्वारा।
विधानमाला—लल्ल द्वारा।
विधानमाला—विश्वकर्मा द्वारा।
विधानरत्न—नारायण भट्ट द्वारा।
विधानरहस्य—अहल्याकामधेनु में व०।
विधानसारसंग्रह—अज्ञात। दे० बीकानेर (पृ० ४९४)।

विधिपुष्पमाला---(पद्धति) श्रीदत्त की पितृभक्ति में व०। १३०० ई० के पूर्व।

विधिरत्न---गंगाधर द्वारा।

विधिरत्न---त्रिकाण्डमण्डन, हेमाद्रि एवं प्रयोगपारिजात द्वारा व०।

विनायकपूजा---योगीश्वर के पुत्र एवं 'शौच' (शौचे) विरुद वाले रामकृष्ण द्वारा। सन् १७०२ ई० में प्रणीत।

विनायकशान्तिपद्धति---इस पर श्रीधराचार्य की टी० है। बड़ोदा (सं० ५४९); सं० १६०७ (१५५०-५१ ई०)।

विबुधकण्ठभूषण---वेंकटनाथ द्वारा गृह्यरत्न पर टी०।

विभक्ताविभक्तनिर्णय।

विभागतत्त्व---(या तत्त्वविचार) नारायण भट्ट के पुत्र रामकृष्ण द्वारा। मिताक्षरा पर आधारित। लग० १५७५-१६०० ई०। अप्रतिबन्ध एवं सप्रतिबन्ध दाय, मुख्यगौण पुत्रों, विभागकाल, अपुत्रदायादक्रम, उत्तराधिकार के लिए पिता से माता की वरीयता पर विवेचन है। भण्डारकर संग्रह में पाण्डु० 'भ्रातरः' तक है।

विभागनिर्णय।

विभागसार---विद्यापति कृत। भवेश के पुत्र हरिसिंहात्मज दर्पनारायण के आदेश से प्रणीत। दायलक्षण, विभागस्वरूप, दायानर्ह, अविभाज्य, स्त्रीधन, द्वादशविध पुत्र, अपुत्रधनाधिकार, संसृष्टविभाग पर। नो० न्यू० (जिल्द ६, पृ० ६७)।

विभूतिधारण।

विमलोदयमाला---(या विमलोदयजयन्तमाला) आश्वलायनगृह्यसूत्र पर एक टी०।

विरुद्धविधिविध्वंस---मल्लदेव एवं श्रीदेवी के पुत्र एवं भगवद्बोधभारती के शिष्य लक्ष्मीधर द्वारा। उनका गोत्र काश्यप था, पितामह वामन, पितामह के भाई स्कन्द एवं प्रपितामह सोड थे। सोड शाकम्भरी (साँभर) के राजा सोमेश्वर के मन्त्री थे। तुरुष्कों द्वारा मारे जाने वाले पृथ्वीराज के सेनापति एवं सान्धिविग्रहिक थे क्रम से स्कन्द एवं वामन। स्कन्द ने हरिराज को शाकम्भरी में राजा बनाया और वामन अणहिल्लपाटक में चले गये। कुल मूलरूप में आनन्दनगर से आया था। ग्रन्थ कई अधिकरणों में विभाजित हैं। इण्डि० आ० (पृ० ४८९, सं० १५७७) पाण्डु० तिथि सं० १५८२ चैत्र, अर्थात् १५२६ ई०। धार्मिक नियमों के विवादों (यथा मृत को कौन श्राद्ध दे सकता है), शूद्रप्रायश्चित्त आदि पर।

विलक्षणजन्मप्रकाशिका।

विलाससंग्रहकारिका---गदाधर के कालसार द्वारा व०।

विवस्वत्स्मृति---स्मृतिचन्द्रिका एवं हेमाद्रि द्वारा व०।

विवादकल्पतरु---(लक्ष्मीधर कृत कल्पतरु का एक अंश)। दे० प्रक० ७७।

विवादकौमुदी---पीताम्बर सिद्धान्तवागीश द्वारा। शक १५२९, अर्थात् सन् १६०४ ई० में प्रणीत। लेखक आसाम के राजा के संरक्षण में था।

विवादचन्द्र---मिसरू मिश्र द्वारा। दे० प्रक० ९७।

विवादचन्द्रिका---अनन्तराम द्वारा। शूलपाणि एवं स्मार्तभट्टाचार्य के उद्धरण हैं। १६०० ई० के पश्चात्।

विवादचन्द्रिका---चण्डेश्वर के शिष्य रुद्रधर महामहोपाध्याय द्वारा। अपने ग्रन्थ श्राद्धचन्द्रिका में लेखक वर्धमान को उ० करता है। व्यवहार (कानून) के १८ विषयों एवं विवाद प्रकारों पर। लग० १४५० ई०।

विवादचिन्तामणि---वाचस्पतिमिश्र द्वारा। दे० प्रक० ९८। बम्बई में मुद्रित।

विवादताण्डव---कमलाकर भट्ट द्वारा। प्रकरण १०६।

विवादनिर्णय---गोपाल द्वारा।

विवादनिर्णय---श्रीकर द्वारा।

विवादभंगार्णव---जगन्नाथ तर्कपंचानन द्वारा। दे० प्रक० ११३। कोलब्रुक ने इसके मुख्य विषयों में दो के अनुवाद उपस्थित किये हैं। नो० न्यू० (जिल्द १, भूमिका, पृ० १३१४)।

विवादरत्नाकर---चण्डेश्वर द्वारा। दे० प्रक० ९०।

विवादवारिधि—रमापति उपाध्याय सन्मिश्र द्वारा। व्यवहार के १८ आगमों पर।

विवादव्यवहार—गोपाल सिद्धान्तवागीश द्वारा।

विवादसार—कुल्लूककृत। लेखक के श्राद्धसागर में व०। दे० प्रक० ८८।

विवादसारार्णव—सर विलियम जोंस के कहने पर सन् १७८९ ई० में सर्वोरु शर्मा त्रिवेदी द्वारा ९ तरंगों में संगृहीत। इसमें आया है—'संविल्यं मिस्तर-श्रीजोन्समहीपाज्ञप्त' आदि। मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु०, जिल्द ६, पृ० २४०७, सं० ३२०३।

विवादसिन्धु।

विवादार्णवभञ्जन—(या भङ्ग) गौरीकान्त एवं अन्य पण्डितों द्वारा संगृहीत। ड० का० पाण्डु० सं० ३६४ (१८७५-७६ ई०); नो० (जिल्द ९, पृ० २४४, सं० ३१६५)।

विवादार्णवसेतु—बाणेश्वर एवं अन्य पण्डितों द्वारा वारेन हेस्टिंग्स के लिए संगृहीत एवं हल्हेड द्वारा अंग्रेजी में अनूदित (१७७४ ई० में प्रका०)। ऋणा-दान एवं अन्य व्यवहारपदों पर २१ ऊर्मियों (लहरों अर्थात् प्रकरणों) में विभाजित। बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस में मुद्रित। इस संस्करण से पता चलता है कि यह ग्रन्थ रणजीतसिंह (लाहौर) की कचहरी में प्रणीत हुआ था। अन्त में प्रणेता पण्डितों के नाम आये हैं। नो० (जिल्द १०, पृ० ११५-११६) एवं नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ३३९-३४१, जहाँ पण्डितों के नाम तो आये हैं, किन्तु रणजीतसिंह का उल्लेख नहीं है।

विवादार्थसंग्रह।

विवाहकर्म—मथुरा के अग्निहोत्री विष्णु द्वारा।

विवाहकर्मपद्धति—दे० विवाहपद्धति।

विवाहकर्ममन्त्रव्याख्या सुबोधिनी—अलवर (संख्या १४५२)। हरिहर पर आधारित है।

विवाहकर्मसमुच्चय—पाण्डु० सन् १११३ ई० में उतारी गयी। ह० प्र० (पृ० ११)।

विवाहकौमुदी—से० प्रा० (सं० ५१४०-४१)।

विवाहचतुर्थीकर्म।

विवाहतत्त्व—(या उद्वाहतत्त्व) रघु० द्वारा। दे० प्र० १०२। टी० काशीराम द्वारा।

विवाहतत्त्वार्णव—रघु० के उद्वाहतत्त्व (जिल्द २, पृ० ११७) में व०।

विवाहद्विरागमनपद्धति।

विवाहनिरूपण—नन्दभट्ट द्वारा।

विवाहनिरूपण—वैद्यनाथ द्वारा।

विवाहपटल—रघु० के ज्योतिस्तत्त्व में व०। सम्भवतः वराहमिहिर या शार्ङ्गधर का ज्योतिष-सम्बन्धी ग्रन्थ।

विवाहपटल—सारंगपाणि (शार्ङ्गपाणि ?) द्वारा, जो मुकुन्द के पुत्र थे।

विवाहपटल—हरिदेवसूरि द्वारा।

विवाहपटलस्तवक—सोमसुन्दर-शिष्य द्वारा। बड़ोदा (सं० १३३)।

विवाहपद्धति—(या विवाहादिपद्धति, गोभिलीय)।

विवाहपद्धति—गौरीशंकर द्वारा।

विवाहपद्धति—चतुर्भुज द्वारा।

विवाहपद्धति—जगन्नाथ द्वारा।

विवाहपद्धति—नरहरि द्वारा।

विवाहपद्धति—नारायण भट्ट द्वारा।

विवाहपद्धति—रामचन्द्र द्वारा।

विवाहपद्धति—(या विवाहादिकर्मपद्धति) देवादित्य के पुत्र गणेश्वरात्मज रामदत्त राजपण्डित द्वारा। लेखक चण्डेश्वर के चचेरे भाई थे अतः वे लग० १३१०-१३६० ई० में थे। आभ्युदयिकश्राद्ध, विवाह, चतुर्थीकर्म, पुंसवन एवं समावर्तन तक के अन्य संस्कारों पर। वाजसनेयियों के लिए।

विवापद्धति—अनूपविलास से।

विवाहपद्धतिव्याख्या—गूदड़मल्ल द्वारा।

विवाहप्रकरण—कर्क की लघुकारिका से।

विवाहरत्न—हरिभट्ट द्वारा। १२२ अध्यायों में।

विवाहरत्नसंक्षेप—क्षेमकर द्वारा।

विवाहवृन्दावन—राणिग या राणग के पुत्र केशवाचार्य द्वारा। विवाह के शुभ मुहूर्तों पर १७ अध्यायों में।

एक पाण्डु० की तिथि शक १३२६ (१३९८-९९ ई०) है; दे० बी० बी० आर० ए० एस०, भाग १, पृ० १०९ सं० ३२२। महादेव के मुहूर्तदीपक एवं टोडरानन्द में व०। टी० दीपिका, केशव के पुत्र गणेशदैवज्ञ द्वारा; शक १४७६ (१५५४-५ ई०), दे० बी० बी० आर० ए० एस० (भाग १, पृ० ११०, सं० ३३४) और भण्डारकर रिपोर्ट (१८८३-८४ ई०, पृ० ३७२-३७३), जहाँ कहा गया है कि गणेश ने सर्वप्रथम 'ग्रहलाघव' लिखा और तब 'श्राद्ध-विधि' और तब मुहूर्ततत्त्व की टी० लीलावती पर एक टी०। टी० कल्याणवर्मा द्वारा।

विवाहसौख्य—नीलकण्ठ द्वारा। लगता है, यह टोडरानन्द का एक अंश है।

विवाहाग्निनष्टिप्रायश्चित्त।

विवाहादिकर्मानुष्ठानपद्धति—भवदेव द्वारा।

विवाहादिप्रयोगतत्त्व—रघु० का कहा गया है (नो०, जिल्द ११, भूमिका, पृ० १४)।

विवाह्यकन्यास्वरूपनिर्णय—अनन्तराम शास्त्री द्वारा।

विविधविद्याविचारचतुरा—भोज द्वारा। क्रुद्ध देवों को प्रसन्न करने, वापी, कूप आदि के निर्माण के विषय में। ह० प्र० (पृ० १३ एवं ६५), तिथि ल० सं० ३७२ (१४९०-९१ ई०)। यह धारेश्वर भोज से भिन्न हैं।

विवेककौमुदी—रामकृष्ण द्वारा। शिखा एवं यज्ञोपवीत धारण करने, विधि, नियम, परिसंख्या, स्नान, तिलक-धारण, तर्पण, शिवपूजा, त्रिपुण्ड्र, प्रतिष्ठोत्सर्गभेद के विषय में विवेचन। नो० (जिल्द १०, पृ० १०५-१०७)।

विवेकदीपक—दामोदर द्वारा। महादानों पर। संग्राम-साह के तत्त्वावधान में संगृहीत; पाण्डु० (इण्डि० आ०, पृ० ५५१, सं० १७१६) की तिथि सं० १६३८ (१५८२ ई०)।

विवेकमंजरी।

विवेकसारवर्णन।

विवेकार्णव—श्रीनाथ द्वारा। लेखक के कृत्यतत्त्वार्णव में व०। १४७५-१५२५ ई०।

विशुद्धिदर्पण—रघु० द्वारा। आशौच के दो प्रकारों (जननाशौच एवं शावाशौच) पर।

विश्वदीप—आचारार्क में वर्णित।

विश्वदेवदीक्षितीय।

विश्वनाथभट्टी—से० प्रा० (सं० ५१९७)।

विश्वप्रकाश—ड० का० पाण्डु० (सं० १४४, १८८४-८६)। वाजसनेय लोगों के लिए; सन्ध्यावन्दन, कृष्णजन्माष्टमीनिर्णय, ग्रहणनिर्णय एवं श्राद्ध जैसे आह्निक कर्मों पर।

विश्वप्रकाशिकापद्धति—नारायणाचार्य के पुत्र त्रिविक्रमात्मज पुरुषोत्तम के पुत्र एवं पराशरगोत्र वाले विश्वनाथ द्वारा। कतिपय कृत्यों एवं प्रायश्चित्तों पर; आपस्तम्ब पर आधारित। १५४४ ई० में प्रणीत। दे० नो० (जिल्द १०, पृ० २३३-२३५)।

विश्वम्भरशास्त्र—शूद्रकमलाकर में व०।

विश्वरूपनिबन्ध—कृत्यचिन्तामणि एवं नि० सि० में व०। दे० प्रक० ६०। बीकानेर (पृ० ४९७, सं० १९६७); विवाह में सपिण्ड सम्बन्ध पर, विशेषतः कन्या के लिए माता एवं पिता से क्रमशः पाँचवीं एवं सातवीं पीढ़ी के उपरान्त।

विश्वरूपसमुच्चय—रघु० द्वारा उद्वाहतत्त्व में (जिल्द २, पृ० ११६) व०।

विश्वादर्श—गीतार्थप्रवीण आचार्यादित्य के पुत्र कविकान्त सरस्वती द्वारा। लेखक काशी के विश्वेश्वर का भक्त था। आचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त एवं ज्ञान पर चार काण्डों में। प्रथम काण्ड में ४२ स्रग्धरा श्लोकों एवं एक अनुष्टुप् छन्द में शौच, दन्तधावन, कुशविधि, स्नान, सन्ध्या, होम, देवतार्चन, दान के आह्निक कृत्यों पर; दूसरे काण्ड (व्यवहार) में ४४ श्लोक विभिन्न छन्दों (मालिनी, अनुष्टुप्, मन्दाक्रान्ता आदि) में; तीसरे काण्ड (प्रायश्चित्त) में ५३ श्लोकों (सभी स्रग्धरा, केवल अन्तिम मालिनी) में एवं चौथा काण्ड (ज्ञानकाण्ड) ५३ श्लोकों (शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, अनुष्टुप् आदि छन्द) में वानप्रस्थ, संन्यास, त्वंपदार्थ, काशीमाहात्म्य

पर। लेखक के आश्रयदाता काशीस्थ नागार्जुन के पुत्र धन्य या धन्यराज थे। मुञ्ज, धारेश्वर, मेधातिथि एवं विज्ञानेश्वर की ओर संकेत है। हेमाद्रि (३।२, पृ० १०२, जो विश्वादर्श ३।३७ की टीका में आया है) एवं स्मृतिचन्द्रिका (आशौच, मैसूर संस्करण, पृ० १६४—'पतिव्रता त्वन्यदिनेनुगच्छेद्या स्त्री पतिं चित्यधिरोहणेन। दशाहतो भर्तुरघस्य शुद्धिः श्राद्धद्वयं स्यात्पृथगेककाले॥') द्वारा व०। ११०० ई० के पश्चात् एवं १२०० ई० के पूर्व। दे० भण्डारकर संग्रह की दो पाण्डुलिपियाँ। टी० लेखक द्वारा (बी० बी० आर० ए० एस्०, भाग २ पृ० २२९-२३१)।

विश्वामित्रकल्प—ब्राह्मणों के आह्निक कृत्यों पर।

विश्वामित्रकल्पतरु।

विश्वामित्रसंहिता—श्रीधर द्वारा।

विश्वामित्रस्मृति—दे० प्रक० ५७।

विश्वेश्वरनिबन्ध—संस्कारमयूख में व०। सम्भवतः मदनपारिजात या विश्वेश्वर की सुबोधिनी टीका।

विश्वेश्वरपद्धति—संन्यास पर विश्वेश्वर द्वारा। संस्कार-मयूख में व०।

विश्वेश्वरस्मृति—हुल्श (सं० ६९)।

विश्वेश्वरस्मृतिभास्कर—हुल्श (सं० १४४)।

विश्वेश्वरीपद्धति—(या यतिधर्मसंग्रह) चिदानन्दाश्रम के शिष्य अच्युताश्रम द्वारा। ज्ञानार्णव का उल्लेख है।

विश्वेश्वरीस्मृति—अच्युताश्रम द्वारा।

विषघटिकाजननशान्ति—(या विषनाड़ीजननशान्ति, वृद्धगार्ग्यसंहिता से) विषघटिका नामक चार कालों में जन्म होने से उत्पन्न दुष्ट प्रतिफलों के निवारणार्थ कृत्यों पर।

विष्णुतत्त्वप्रकाश—वनमाली द्वारा। माध्व अनुयायियों के लिए स्मार्त कृत्यों पर एक निबन्ध।

विष्णुतत्त्वविनिर्णय—आनन्दतीर्थ द्वारा।

विष्णुतीर्थीयव्याख्यान—पुरुषोत्तमाचार्य द्वारा।

विष्णुधर्ममीमांसा—सोमभट्ट के पुत्र नृसिंहभट्ट द्वारा। अलवर (सं० १४५७)।

विष्णुधर्मसूत्र—दे० प्र० १०। जीवानन्द (भाग १, पृ० ६०-१७६)। टी० वैजयन्ती, नन्दपण्डित द्वारा। दे० प्र० १०५। नटवल्लभविलास में व०।

विष्णुधर्मोत्तरामृत—जीमूतवाहन के कालविवेक में व०।

विष्णुपूजाक्रमदीपिका—शिवशंकर द्वारा। टी० सदानन्द द्वारा।

विष्णुपूजापद्धति।

विष्णुपूजाविधि—शुकदेव द्वारा। बड़ोदा (सं० ५४८७, पाण्डुलिपि लेखक की कही गयी है, संवत् १६९२, अर्थात् १६३५-६ ई०)।

विष्णुप्रतिष्ठापद्धति।

विष्णुप्रतिष्ठाविधिदर्पण—माधवाचार्य के पुत्र नरसिंह सोमयाजी द्वारा।

विष्णुभक्तिचन्द्र—निर्णयदीपक में व०।

विष्णुभक्तिचन्द्रोदय—नृसिंहारण्य या नृसिंहाचार्य द्वारा। १९ कलाओं में; द्रव्यशुद्धिदीपिका में पुरुषोत्तम द्वारा व०। मुख्य वैष्णव व्रतों, उत्सवों, कृत्यों पर। पाण्डु० तिथि संवत् १४९६ (१४४० ई०), भण्डारकर (१८८३-८४, पृ० ७६)।

विष्णुभक्तिरहस्य—रामानन्द द्वारा व०।

विष्णुमूर्तिप्रतिष्ठाविधि—रामाचार्य के पुत्र कृष्णदेव द्वारा। वैष्णवधर्मानुष्ठानपद्धति या नृसिंहपरिचर्या-पद्धति नामक बृहत् ग्रन्थ का एक अंश। पाण्डु० संवत् १६७५ में उतारी गयी।

विष्णुयागपद्धति—आपदेव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। दे० प्रक० १०९। पुत्र की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा किये जानेवाले कृत्यों पर। अलवर (सं० १४५८); बड़ोदा (सं० २२६४, शक १६०४)।

विष्णुरहस्य—अपरार्क, दानसागर एवं जीमूतवाहन के कालविवेक द्वारा व०।

विष्णुश्राद्ध—गोभिलगृह्य में नारायणबलि का एक भाग।

विष्णुश्राद्धपद्धति—(या वीरपूजापद्धति)।

विष्णुश्राद्धपद्धति—रामेश्वर के पुत्र नारायण द्वारा। बड़ोदा (सं० ८१७१)।

विष्णुसमुच्चय—अपरार्क, मदनपारिजात (पृ० २९१) द्वारा व०।

विष्णुस्मृति—दे० विष्णुधर्मसूत्र।

वीरनारसिंहावलोकन—दे० वीरसिंहावलोकन।

वीरमित्रोदय—मित्रमिश्र द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृति पर टी०। आचार पर चार भाग। चौखम्भा सीरीज द्वारा मुद्रित। दे० प्रक० १०८।

वीरशैवधर्मनिर्णय।

वीरसिंहमित्रोदय—(संस्कारप्रकरण) राम ज्योतिर्विद् द्वारा।

वीरसिंहावलोकन—(या विलोकन) तोमरवंश के कमलसिंहात्मज देवशर्मा के पुत्र वीरसिंह राजा द्वारा। इस जन्म में किये गये पापों की शान्ति पर। सं० १४३९ (१३८३ ई०) में प्रणीत। स्टीन (पृ० १८९)। ड० का० पाण्डु० ८५ (१८६९-७०) की तिथि १५७२। ऐसा कहा गया है कि यह आयुर्वेद, ज्योतिःशास्त्र एवं धर्मशास्त्र का संक्षेप है। यह गर्ग, गौतम, शालिहोत्र, मनु, व्यास, पुराण पर आधृत है। इसे 'सूर्यारुण' भी कहा गया है।

वृक्षोद्यापन।

वृत्तरत्नप्रदीपिका—द्वादशी को उपवास तोड़ने के उचित काल पर। वात्स्य वेदान्तदास द्वारा।

वृत्तशतसंग्रह—(या वृत्तशतक) मनोरथ के पुत्र एवं भास्कराचार्य के पिता महेश्वर द्वारा। नि० सि० एवं गोविन्दार्णव में व०। ज्योतिष ग्रन्थ। लग० ११००-११५० ई०। यागविधि, नक्षत्र विधि, भूपाभिषेक, यात्रा, गोचरविधि, संक्रान्ति, देवप्रतिष्ठा पर ११ प्रकरण। बड़ोदा (सं० ८१७३)।

वृद्धगौतमसंहिता—जीवानन्द (भाग २, पृ० ४९७-६३८) द्वारा मुद्रित।

वृद्धपाराशरीसंहिता—(१२ अध्यायों में) दे० वृद्ध पराशरसंहिता, प्रक० ३५।

वृद्धशातातपस्मृति—आनन्दाश्रम (पृ० २३२-२३५) द्वारा मुद्रित।

वृद्धहारीतस्मृति—जीवानन्द (भाग १, पृ० १९४-४०९) एवं आनन्दाश्रम (पृ० २३६-३५६) द्वारा मुद्रित।

वृद्धात्रिस्मृति—जीवानन्द (भाग १, पृ० ४७-५९) द्वारा मुद्रित।

वृद्धिश्राद्ध।

वृद्धिश्राद्धदीपिका—उद्धव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा।

वृद्धिश्राद्धपद्धति—बनारस में उद्धवद्विवेदी के पुत्र अनन्तदेव द्वारा।

वृद्धिश्राद्धप्रयोग—नारायण भट्ट द्वारा (प्रयोगरत्न का एक अंश)।

वृद्धिश्राद्धविधि—करुणाशंकर द्वारा।

वृद्धिश्राद्धविनिर्णय—(माध्यन्दिनीय) उद्धव के पुत्र अनन्तदेव द्वारा। बड़ोदा (१०४६४)।

वृन्दावनपद्धति—वल्लभाचार्य-सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए।

वृषभदान।

वृषभोत्सर्ग।

वृषोत्सर्गकौमुदी—रामकृष्ण द्वारा।

वृषोत्सर्गतत्त्व—रघु० द्वारा। ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं साम वेद में प्रत्येक के लिए लिखा।

वृषोत्सर्गपद्धति—कातीयशाखा से सम्बद्ध; शौनककृत कही गयी है।

वृषोत्सर्गपद्धति—रामेश्वर के पुत्र नारायण द्वारा।

वृषोत्सर्गपरिशिष्ट।

वृषोत्सर्गप्रयोग—(वाचस्पतिसंग्रह) यजुर्वेद के अनुयायियों के लिए (बौधायनीय)।

वृषोत्सर्गप्रयोग—नारदेव के पुत्र अनन्तभट्ट द्वारा। नीलवृषोत्सर्गप्रयोग नाम भी है।

वृषोत्सर्गप्रयोग—(छन्दोग) रघु० द्वारा लिखित कहा गया है।

वृषोत्सर्गभाष्य—स्टीन (पृ० १०४)।

वृषोत्सर्गविधि—मधुसूदन गोस्वामी द्वारा।

वृषोत्सर्गादिपद्धति—कात्यायनकृत; ३०७ श्लोकों में। बड़ोदा (सं० ९४७०, तिथि सं० १५९२)।

वेगराजसंहिता—वेगराज द्वारा। सं० १५५९ (रन्ध्रेषु-बाणशशी), अर्थात् १५०३ ई०।

वेणी—यात्रा के पूर्व वरुण-पूजा की विधियों के विषय में। बीकानेर (पृ० ४९२)।

वेणुगोपालप्रतिष्ठा।

वेदव्यासस्मृति—आनन्दाश्रम (पृ० ३५७-३७१) द्वारा मु०।

वेदव्रत।

वेदानध्याय—वैदिक अध्ययन की छुट्टियों के विषय में।

वैखानसधर्मप्रश्न—दे० प्रक० १५। टी० माधवाचार्य के पुत्र नृसिंहवाजपेयी द्वारा।

वैखानसमन्त्रप्रश्न—(वैखानसस्मार्तसूत्र के लिए मन्त्र) ८ प्रश्नों में (चार प्रश्न सन् १९१० में कुंभकोणम् द्वारा मुद्रित हुए)।

वैखानससंहिता—कालमाधवीय, नि० सि० एवं समय-मयूख द्वारा व०।

वैखानससूत्रदर्पण—माधवाचार्य वाजपेययाजी के पुत्र नृसिंह द्वारा। वैखानसगृह्य के अनुसार घरेलू कृत्यों पर एक लघु पुस्तिका। इल्लौर में सन् १९१५ ई० में मुद्रित।

वैखानससूत्रानुक्रमणिका—कोण्डपाचार्य के पुत्र वेंकट-योगी द्वारा।

वैखानसस्मृतिसूत्र—१० प्रश्नों में (गृह्य के ७ एवं धर्म के ३)। सन् १९१४ में कुम्भकोणम् द्वारा एवं बिब्लि० इण्डि० सीरीज़ में डा० कैलैण्ड द्वारा अनूदित। (१९२७ एवं १९२९)। टी० माधवाचर्य के पुत्र नृसिंह वाजपेयी द्वारा।

वैजयन्ती—नन्दपण्डित द्वारा विष्णुधर्मसूत्र पर टी०, १६२३ ई० में प्रणीत। दे० प्रक० १०५।

वैतरणीदान—वैतरणी पार करने के लिए काली गाय के दान पर।

वैतरणीदानप्रयोग—स्टीन (पृ० १०४)।

वैदिकप्रक्रिया।

वैदिकविजयध्वज।

वैदिकाचारनिर्णय—सच्चिदानन्द द्वारा।

वैद्यनाथसंग्रह।

वैद्यनाथीय—दे० स्मृतिमुक्ताफल।

वैशम्पायननीतिसंग्रह—दे० नीतिप्रकाश (-प्रकाशिका)।

वैशम्पायनस्मृति—मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३२६) एवं अपरार्क द्वारा वर्णित।

वैष्णवचन्द्रिका—रामानन्द न्यायवागीश द्वारा।

वैष्णवधर्मखण्डन—बड़ोदा (सं० १७४१)। पुण्ड्रधारण आदि के विरोध में।

वैष्णवधर्मपद्धति—कृष्णदेव द्वारा।

वैष्णवधर्ममीमांसा—अनन्तराम द्वारा।

वैष्णवधर्मशास्त्र—१०९ श्लोकों में; संस्कार, गृहिधर्म, आश्रमों, पारिव्राज्य, राजधर्म पर पाँच अध्याय।

वैष्णवधर्मसुरद्रुममञ्जरी—निम्बार्क अनुगामी केशव काश्मीरी के अनुयायी संकर्षणशरण द्वारा।

वैष्णवधर्मानुष्ठानपद्धति—रामाचार्य के पुत्र कृष्णदेव द्वारा।

वैष्णवनिर्णय—अलवर (सं० १४६६)।

वैष्णवप्रक्रिया—वेदचूडालक्ष्मण द्वारा। विज्ञानेश्वर, नि० सि० एवं सुधाविलोचन का उल्लेख है।

वैष्णवलक्षण—कृष्णताताचार्य द्वारा।

वैष्णवसर्वस्व—हलायुधकृत। ब्राह्मणसर्वस्व में उल्लिखित।

वैष्णवसिद्धान्तदीपिका—नृहरि के पुत्र कृष्णात्मज रामचन्द्र द्वारा। टी० रामचन्द्र (लेखक) के पुत्र नृसिंहात्मज विट्ठल द्वारा।

वैष्णवाचारसंग्रह।

वैष्णवामृत—आह्निकतत्त्व (रघु० कृत) एवं नि० सि० में व०।

वैष्णवामृत—भोलानाथ द्वारा। नो० (जिल्द ६, पृ० १८५-६)।

वैष्णवाह्निक—बड़ोदा (सं० १०५४३)।

वैष्णवोपयोगिनिर्णय—ड० का० पाण्डु० (सं० १६०, १८८४-८६) तिथि संवत् १७३२ (१६७५-६ ई०)। इसमें प्रह्लादसंहिता, रामार्चनचन्द्रिका का उल्लेख है। कठशाखा एवं अथर्ववेद (एभिर्वयमुरुतमस्य

चिह्नैरङ्किता लोके सुभगा भवेम) से श्लोक उद्धृत कर शरीर पर चक्र अंकित करने का समर्थन किया गया है।

व्यतिषंगनिर्णय—रघुनाथ भट्ट द्वारा।

व्यतीपातजननशान्ति--कमलाकर भट्ट द्वारा।

व्यतीपातव्रतकल्प ।

व्यतीपातप्रकरण ।

व्यवस्थादर्पण—रामशर्मा के पुत्र आनन्दशर्मा द्वारा। तिथिस्वरूप, मलमास, संक्रान्ति, आशौच, श्राद्ध, दायानधिकारी, दायविभाग आदि स्मृति-कृत्यों एवं नियमों पर। नो० (जिल्द ८, पृ० २११)।

व्यवस्थादीपिका--राधानाथ शर्मा द्वारा। नो० (जिल्द १०, पृ० ८४)। केवल आशौच पर।

व्यवस्थानिर्णय—अज्ञात। तिथि, संक्रान्ति, आशौच, द्रव्यशुद्धि, प्रायश्चित्त, विवाह, दाय पर।

व्यवस्थाप्रकाश ।

व्यवस्थारत्नमाला—गदाधर के पुत्र लक्ष्मीनारायण न्यायालंकार द्वारा। दायभाग, स्त्रीधन, दत्तकव्यवस्था पर १० गुच्छों में। मिताक्षरा एवं विधानमाला का उल्लेख है।

व्यवस्थार्णव—अज्ञात।

व्यवस्थार्णव--रघुनन्दन द्वारा। पूर्वक्रय पर।

व्यवस्थार्णव--रायराघव के आदेश पर रघुनाथ द्वारा।

व्यवस्थार्णव--रामभट्ट द्वारा। दे० स्मृतितत्त्वविनिर्णय के अन्तर्गत।

व्यवस्थासंक्षेप—गणेशभट्ट द्वारा।

व्यवस्थासंग्रह—गणेशभट्ट द्वारा। प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार पर निर्णय।

व्यवस्थासंग्रह—महेश द्वारा। आशौच, सपिण्डीकरण, संक्रान्तिविधि, दुर्गोत्सव, जन्माष्टमी, आह्निक, देवप्रतिष्ठा, दिव्य, दायभाग, प्रायश्चित्त के विषय में निश्चित निष्कर्षों पर। रघु० पर आधृत।

व्यवस्थासार—नारायणशर्मा द्वारा (बड़ोदा, पृ० ४५२)। आह्निक, आशौच, तिथि, दत्तपुत्र, विवाह, श्राद्ध पर। निम्नलिखित से भिन्न।

व्यवस्थासारसंग्रह—नारायणशर्मा द्वारा। उत्तराधिकार नियम पर। इसे व्यवस्थासारसंचय भी कहा गया है। नो० (जिल्द ३, पृ० १२६-१२७ एवं इण्डि० आ०, पृ० ४५३) जिसमें व्यक्त है कि ग्रन्थ में आशौच, दायभाग एवं श्राद्ध का विवरण है।

व्यवस्थासारसंग्रह--महेश द्वारा। सम्भवतः यह व्यवस्थासंग्रह ही है।

व्यवस्थासारसंग्रह—मुकुन्द के पुत्र रामगोविन्द चक्रवर्ती द्वारा। तिथि, संक्रान्ति, अन्त्येष्टि, आशौच आदि पर। नो० (जिल्द ४, पृ० २८९-२९१)। नो० न्यू० (१, पृ० ३४९) में लेखक को चट्टवंश के रामगोपाल का पुत्र कहा गया है।

व्यवस्थासेतु—ईश्वरचन्द्र शर्मा द्वारा। पाण्डु० शक १७४१ (१८१९-२० ई०) में उतारी हुई है।

व्यवहारकमलाकर—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा। धर्मतत्त्व का सातवाँ प्रकरण।

व्यवहारकल्पतरु—लक्ष्मीधर द्वारा (कल्पतरु का अंश)। दे० प्रक० ७७।

व्यवहारकोश—वर्धमान द्वारा। तत्त्वामृतसारोद्धार का एक भाग। मिथिला के राजा राम के आदेश से प्रणीत। १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में।

व्यवहारकौमुदी—सिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य द्वारा। बड़ोदा (सं० १०१०५, तिथि शक १५३५)।

व्यवहारचण्डेश्वर—संस्कारमयूख में व०।

व्यवहारचन्द्रोदय—कीर्तिचन्द्रोदय का भाग। न्यायसम्बन्धी विधि एवं विवादपदों पर।

व्यवहारचमत्कार—नाथमल्ल के पुत्र भवानीदासात्मज रूपनारायण द्वारा। संवत् १६३७ (१५८०-८१ ई०) में १३ प्रकरणों में लिखित (ड० का० पाण्डु० सं० १९९, १८८३-८५ एवं नो०, जिल्द ५, पृ० ९१)। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन एवं अन्य संस्कारों, विवाह, यात्रा, मलमासनिर्णय से सम्बन्धित फलित ज्योतिष पर।

व्यवहारचिन्तामणि—वाचस्पति द्वारा। दे० प्रक० ९८।

भाषा, उत्तर, क्रिया एवं निर्णय पर। नो० (जिल्द ३, पृ० ३४)।

व्यवहारतत्त्व—शङ्करभट्ट के पुत्र नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०७।

व्यवहारतत्त्व—रघुनन्दन द्वारा। दे० प्रक० १०२।

व्यवहारतत्त्वालोक—देखिए व्यवहारलोक।

व्यवहारतिलक—भवदेव भट्ट द्वारा। दे० प्रक० ७३।

व्यवहारदर्पण—अनन्तदेव याज्ञिक द्वारा। व्यवहार के अर्थ, विवादपद, प्रतिवाद, साक्षी-साधन, साक्षियों, लेख्यप्रमाण, स्वामित्व, निर्णय पर।

व्यवहारदर्पण—रामकृष्ण भट्ट द्वारा। राजधर्म, भाषा, उत्तर, प्रत्यवस्कन्दन, प्राङ्न्याय, साक्षी, लिखित, भुक्ति, जयपत्र पर।

व्यवहारदशश्लोकी—(या दायदशक) श्रीधरभट्ट द्वारा।

व्यवहारदीधिति—राजधर्मकौस्तुभ का एक अंश।

व्यवहारदीपिका—दिव्यतत्त्व में रघु० द्वारा उल्लिखित।

व्यवहारनिर्णय—(गौड़) शूद्रकमलाकर में उल्लिखित।

व्यवहारनिर्णय—काशी निवासी मयाराममिश्र गौड़ द्वारा (जयसिंह के आदेश से)। न्याय-विधि एवं व्यवहार-पदों पर। ड० का० पाण्डु० (१४०, १८९२-९५) सं० १८८५ (१७९८-९९ ई०) में उतारी गयी।

व्यवहारनिर्णय—वरदराज द्वारा। स० वि० एवं नि० सि० में व०। १५०० ई० के लगभग प्रणीत (वर्नेल ने अनूदित किया है)।

व्यवहारनिर्णय—श्रीपति द्वारा। ज्योतिस्तत्त्व एवं तिथि-तत्त्व में व०। सम्भवतः धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ज्योतिष की बातों पर।

व्यवहारपदन्यास—दे० ट्राएनिएल कैट०, मद्रास, पाण्डु० सन् १९१९-२२ ई०, जिल्द ४, पृ० ४८३६। व्यवहारावलोकनधर्म, प्राड्विवाकधर्म, सभालक्षण, सभ्य-लक्षण, सभ्योपदेश, व्यवहारस्वरूप, विचारविधि एवं भाषानिरूपण नामक ८ विषयों पर।

व्यहारपरिभाषा—हरिदत्त मिश्र द्वारा।

व्यवहारपरिशिष्ट।

व्यवहारप्रकाश—मित्रमिश्र द्वारा (वीरमित्रोदय का अंश)। दे० प्रक० १०८।

व्यवहारप्रकाश—शरभोजी (तंजौर के राजा, १७९८-१८३३ ई०) द्वारा।

व्यवहारप्रकाश—हरिराम द्वारा।

व्यवहारप्रदीप—कल्याणवर्मा द्वारा।

व्यवहारप्रदीप—कृष्ण द्वारा। धर्मशास्त्र सम्बन्धी ज्योतिष पर। ह० प्र० (८० २० एवं २५३), रघु० के दिव्यतत्त्व में व०।

व्यवहारप्रदीप—पद्मनाभ मिश्र द्वारा। न्याय-सम्बन्धी विधि पर।

व्यहारप्रदीपिका—वर्धमान द्वारा व०।

व्यवहारमयूख—नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०७। भण्डारकर ओ० इंस्टि०, पूना; जे० आर० घरपुरे, बम्बई एवं वी० एन्० मण्डलिक द्वारा मुद्रित।

व्यवहारमातृका—(या न्यायमातृका) जीमूतवाहन द्वारा। दे० प्रक० ७८।

व्यवहारमाधव—पराशरमाधवीय का तृतीय भाग।

व्यवहारमाला—वरदराज द्वारा। १८वीं शताब्दी। मलावार में अधिक प्रयुक्त।

व्यवहारमालिका—बड़ोदा (सं० ६३७३)।

व्यवहाररत्न—भौआलवंशज चन्दनानन्द के पुत्र भानुनाथ दैवज्ञ द्वारा।

व्यवहाररत्नाकर—चण्डेश्वर द्वारा। दे० प्रक० ९०।

व्यवहाररत्नावली।

व्यवहारशिरोमणि—विज्ञानेश्वर-शिष्य नारायण द्वारा। दे० प्र० ७०। ट्राएनिएल कैट० मद्रास, जिल्द ३, भाग १, पृ० ३९३८, सं० २७५०।

व्यवहारसमुच्चय—हरिगण द्वारा।

व्यवहारसमुच्चय—रघु० द्वारा देवप्रतिष्ठातत्त्व में एवं नि० सि० में उल्लिखित।

व्यवहारसर्वस्व—विश्वेश्वरदीक्षित के पुत्र सर्वेश्वर द्वारा।

व्यवहारसार—मयाराम मिश्र द्वारा।

व्यवहारसार—नि० सि० एवं निर्णयदीपक में व०।

व्यवहारसारसंग्रह—नारायण शर्मा द्वारा।

व्यवहारसारसंग्रह—रामनाथ द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० १९२)।

व्यवहारसारोद्धार—मधुसूदन गोस्वामी द्वारा लाहौर के रणजीत सिंह के राज्यकाल में प्रणीत (सन् १७९९ ई०)।

व्यवहारसिद्धान्तपीयूष—कोलब्रुक के अनुरोध पर नंदीपति के पुत्र चित्रपति द्वारा शक १७२५ (१८०३-४ ई०) में प्रणीत। टी० लेखक द्वारा।

व्यवहारसौख्य—टोडरानन्द का एक अंश।

व्यवहारांगस्मृतिसर्वस्व—जयसिंह के आदेश से बनारस के मयाराममिश्र गौड़ द्वारा। न्याय-विधि एवं व्यवहार-पदों का विवरण।

व्यवहारादर्श—चक्रपाणि मिश्र द्वारा। ड० का० पाण्डु० सं० २४७ (१८८७-९१ ई०)। भोजनविधि, अभोज्यान्न पर। पाण्डु० अधूरी है।

व्यवहारार्थसार—मधुसूदन द्वारा। यह व्यवहारसारोद्धार ही है।

व्यवहारार्थस्मृतिसारसमुच्चय—शरभोजी (तंजौर के राजा, १७९८-१८३३ ई०) द्वारा। सम्भवतः यह व्यवहारप्रकाश ही है।

व्यवहारालोक—गोपाल सिद्धान्तवागीश द्वारा।

व्यवहारोच्चय—सुरेश्वर उपाध्याय द्वारा। टोडरानन्द, नि० सि०, गोविन्दार्णव, स्मृतिकौस्तुभ द्वारा उ०। १५०० ई० के पूर्व।

व्याघ्रस्मृति—(या व्याघ्रपादस्मृति) मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३०), अपरार्क, हरदत्त द्वारा व०।

व्यासस्मृति—दे० प्रक० ५२। जीवानन्द (२, पृ० ३२१-३४२) एवं आनन्दाश्रम (पृ० ३५७-३७१) द्वारा मु०। लग० २४८ श्लोक। टी० कृष्णनाथ द्वारा।

व्रजतत्त्व।

व्रजपद्धति।

व्रतकमलाकर—कमलाकर भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०६।

व्रतकल्प—निर्णयदीपक द्वारा उ०।

व्रतकालनिर्णय—आदित्यभट्ट द्वारा।

व्रतकालनिर्णय—भारतीतीर्थ द्वारा।

व्रतकालनिष्कर्ष—मधुसूदन वाचस्पति द्वारा।

व्रतकालविवेक—शूलपाणि कृत। दे० प्रक० ९५।

व्रतकौमुदी—रामकृष्णभट्ट द्वारा।

व्रतकौमुदी—शङ्करभट्ट द्वारा।

व्रतकौस्तुभ।

व्रतखण्ड—चतुर्वर्गचिन्तामणि का प्रथम भाग।

व्रतचूडामणि।

व्रततत्त्व—रघु० द्वारा। दे० प्रक० १०२।

व्रतनिर्णय—औदुम्बरर्षि द्वारा।

व्रतपञ्जी—द्रोणकुल के देवसिंह-पुत्र नवराज द्वारा।

व्रतपद्धति—रुद्रधर महामहोपाध्याय द्वारा। दे० प्रक० ९६। एक पाण्डु० लक्ष्मणसेन संवत् (ल० स०) ३४४ (१४६३ ई०) की है। ह० प्र० १३ एवं ७३।

व्रतप्रकाश—वीरमित्रोदय का एक अंश।

व्रतप्रकाश—देखिए व्रतराज।

व्रतप्रकाश—अनन्तदेव द्वारा।

व्रतप्रतिष्ठातत्त्व—रघु० द्वारा। देखिए 'व्रततत्त्व'।

व्रतप्रतिष्ठाप्रयोग—(या साधारणव्रतप्रतिष्ठाप्रयोग)।

व्रतबन्धपद्धति—गणेश्वर के पुत्र रामदत्तमन्त्री द्वारा। वाजसनेयशाखा के लिए।

व्रतबोधविवृति—(या वृतबोधिनीसंग्रह) तिथिनिरूपण, व्रतमहाद्वादशी, रामनवम्यादिव्रत, मासनिरूपण, वैशाखादिचैत्रान्तमासकृत्यनिरूपण पर वैष्णवों के लिए पाँच परिच्छेद। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० १८२)।

व्रतरत्नाकर—सामराज द्वारा। शोलापुर में सन् १८७१ ई० में मुद्रित।

व्रतराज—कौण्डभट्ट द्वारा।

व्रतराज—(व्रतप्रकाश) गोपाल के पुत्र विश्वनाथ द्वारा। शक १६५८ (अर्थात् १७३६ ई०) में बनारस में संगृहीत। ये शाण्डिल्यगोत्र के चित्तपावन ब्राह्मण थे और रत्नगिरि जिले के संगमेश्वर से आये थे। कई बार बम्बई में प्रका०। वेंकटेश्वर प्रेस वाला संस्करण नवीनतम है।

व्रतवल्ली।

व्रतविवेकभास्कर—कृष्णचन्द्र द्वारा।

व्रतसंग्रह—कर्णाटवंश के राजा हरिसिंह के आदेश से प्रणीत। १४वीं शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश।

व्रतसमुच्चय—निर्णयदीपक द्वारा व०।

व्रतसंपात।

व्रतसागर—चण्डेश्वर द्वारा वर्णित।

व्रतसार—गदाधर द्वारा।

व्रतसार—दलपति द्वारा (नृसिंहप्रसाद का एक अंश)।

व्रतसार—श्रीदत्त द्वारा। दे० प्रक० ८९।

व्रताचार—गंगोली सञ्जीवेश्वर शर्मा के पुत्र रत्नपाणि शर्मा द्वारा खण्डबल कुल के छत्रसिंह-पुत्र रुद्रसिंहात्मज मिथिला के राजा महेश्वरसिंह की आज्ञा से लिखित। श्रीदत्त को अपने आधार के रूप में एवं ज्योतिर्बन्ध को उ० किया है।

व्रतार्क—गदाधर दीक्षित द्वारा।

व्रतार्क—नीलकण्ठ के पुत्र शङ्कर द्वारा। १६२०-१६७५ ई० के बीच में। इन्होंने कुण्डभास्कर सन् १६७१ में लिखा है। सन् १८७७ एवं १८८१ में लखनऊ में मुद्रित हुआ।

व्रतोद्द्योत—दिनकरोद्द्योत का एक अंश।

व्रतोद्यापन।

व्रतोद्यापनकौमुदी—शंकर द्वारा। ले० वल्लालसूरि के पुत्र, 'घोर' उपाधिधारी एवं चित्तपावन शाखा के थे। इन्होंने तीर्थोद्यापनकौमुदी भी लिखी और अपनी रुद्रानुष्ठानकौमुदी की ओर भी संकेत किया है। शक १६२५ (शाके शरद्वयाङ्गचन्द्रे) अर्थात् १७०३-४ ई० में प्रणीत। ज्ञानदर्पण प्रेस, बम्बई में मुद्रित (१८६३ ई०)

व्रतोद्यापनकौमुदी—रामकृष्ण द्वारा। हेमाद्रि पर आधृत। गौड़ों के व्रतों पर।

व्रतोपवाससंग्रह—निर्भयराम भट्ट द्वारा।

व्रात्यताप्रायश्चित्तनिर्णय—(नागोजिभट्ट के प्रायश्चित्तेन्दुशेखर से उद्धृत। इसमें निर्णय हुआ है कि आधुनिक राजकुमार उपनयन सम्पादन के अधिकारी नहीं हैं। बृहत् एवं लघुरूप में चौखम्भा सं० सी० द्वारा प्रका०।

व्रात्यताशुद्धि—स्टीन (पृ० १०५)।

व्रात्यताशुद्धिसंग्रह—चौखम्भा सं० सी० द्वारा प्रका०।

व्रात्यस्तोमपद्धति—माधवाचार्य द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द ३, पृ० १९४)। व्रात्य का अर्थ है पतितसावित्रीक।

शकुनार्णव—(या शकुनशास्त्र या शाकुन) वसन्तराज द्वारा। दे० वसन्तराजीय के अन्तर्गत। टी० भानुचन्द्रगणि द्वारा।

शंकरगीता—जीमूतवाहन के कालविवेक में एवं हेमाद्रि द्वारा व०। १००० ई० के पूर्व।

शंकुप्रतिष्ठा—गृह बनाने के लिए नींव रखते समय के कृत्यों पर।

शंकरभट्टी।

शंखचक्रधारणवाद—पीताम्बर के पुत्र पुरुषोत्तम द्वारा। बड़ोदा (७३६)

शंखधरसमुच्चय—जीमूत० के कालविवेक में उल्लिखित।

शंखलिखितधर्मसूत्र—दे० प्रक० १२। टी० कल्पतरु एवं वि० र० में व०।

शंखलिखितस्मृति—दे० प्रक० १२; आनन्दा० (पृ० ३७२-३७३) द्वारा प्रका०।

शंखस्मृति—दे० प्रक० १२; जीवानन्द (भाग २, पृ० ३४३-३७४) एवं आनन्दाश्रम (पृ० ३७४-३९५) द्वारा मुद्रित।

शतक्रतुस्मृति—मद० पारि० में उल्लिखित।

शतचण्डीपद्धति—गोविन्द द्वारा।

शतचण्डीप्रयोग—नारायणभट्ट के पुत्र कृष्णभट्ट द्वारा।

शतचण्डीविधानपद्धति—जयरामभट्ट द्वारा।

शतचण्डीविधानपूजापद्धति—दे० स्टीन (पृ० २३७)।

शतचण्डीसहस्रचण्डीप्रयोग—कमलाकर द्वारा (उनके शांतिरत्न से)।

शतद्वयी—प्रायश्चित्त पर। दे० प्रायश्चित्तशतद्वयी। टी० प्रायश्चित्तप्रदीपिका।

शतश्लोकी—यल्लभट्ट द्वारा।

शतश्लोकी—वेंकटेश द्वारा।

शतानन्दसंग्रह—गदाधर के कालसार में व०।

शत्रुघ्नी।

शत्रुमित्रोपशान्ति।

शम्यावान।

शरवक्षस्मृति—व्रतप्रकाश या व्रतराज में व०।

शाकटायनस्मृति—अपरार्क एवं श्राद्धमयूख द्वारा उल्लिखित।

शाकलस्मृति—व्यवहारमयूख एवं दत्तकमीमांसा में उल्लिखित।

शांखायनगृह्यकारिका।

शांखायनगृह्यनिर्णय।

शांखायनगृह्यपरिशिष्ट—नि० सि० एवं संस्कारकौस्तुभ में उल्लिखित।

शांखायनगृह्यसंस्कारपद्धति—विश्वनाथ कृत।

शांखायनगृह्यसंस्कार—ईजट के पुत्र वासुदेव द्वारा (बनारस सी० द्वारा प्रका०)। स्टीन (पृ० १९; संवत् १४२८)।

शांखायनगृह्यसूत्र—ओल्डेनवर्ग द्वारा इण्डिश्चे स्टूडिएन में सम्पा०, जिल्द १५, पृ० १-१६६ एवं सै० बु० ई० (जिल्द २९) द्वारा अनूदित। टी० (भाष्य) हरदत्त द्वारा; शुद्धितत्त्व के मत से कल्पतरु द्वारा उ०; ११०० ई० के पूर्व। टी० (केवल ४ अध्यायों पर), नो० (जिल्द १, पृ० २-४)। टी० प्रयोगदीप, धरणीधर के पुत्र दयाशंकर द्वारा। टी० अर्थदर्पण, रघुनाथ द्वारा। टी० गृह्यसूत्रपद्धति या आधानस्मृति, श्रीधरमालवात्मज शिवदास-पुत्र सूर्यदाससूनु रामचन्द्र द्वारा। टी० गृह्यप्रदीपक, श्रीपतितनुज कृष्णाजी द्विवेदी के पुत्र नारायण द्वारा। गुजरात स्थित श्रीपाटलापुरी के नागर कुल से सम्बन्धित वंशावली दी हुई है। श्रीपति उस कुल के चण्डांशु से आठवें थे। १६२९ (वर्षे नन्दकरर्तुचन्द्रसंमिते माघे आदि) संवत् (सम्भवतः विक्रम संवत्) में प्रणीत। लेखक ने गृह्यसूत्रपद्धति भी लिखी। अलवर एवं ड० का पाण्डु० (सं० ६, १८७९-९०)। टी० बालावबोधपद्धति।

शांखायनाह्निक—(या—ह्निकदीपिका) वत्सराज के पुत्र अचल द्वारा। लग० १५१८ ई०।

शाट्यायन—(या—निस्मृति) जीमूत० के कालविवेक में एवं अपरार्क द्वारा व०।

शाण्डिल्यगृह्य—रुद्रदत्त द्वारा व०। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (९।११।२१) पर।

शाण्डिल्यधर्मशास्त्र—(पद्य में) गर्भाधानादिसंस्कार, ब्रह्मचारिधर्म, गृहस्थविहितधर्म, गृहस्थनिषिद्धधर्म, वर्णधर्म, देहशोधन, सावित्रीजपादि, चतुर्वर्गदोष पर। दे० ट्राएनीएल कैट० मद्रास, पाण्डु० १९१९-२१ (जिल्द ४, पृ० ५१५३) के लिए।

शाण्डिल्यस्मृति—मिता० (याज्ञ० ३।२८०), स्मृतिच०, मस्करिभाष्य (गौतमधर्मसूत्र) द्वारा व०। भागवताचार पर ५ अध्यायों में। मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० (जिल्द ५, पृ० १९९१); बड़ोदा (सं० ७९६६)।

शातातपस्मृति—गद्य-पद्य-मिश्रित। शुद्धि एवं आचार पर। इंडि० आ० (पृ० ३९८)।

शातातपस्मृति—दे० प्रक० २८। जीवानन्द (भाग २, पृ० ४३५-४५५) एवं आनन्दाश्रम (पृ० ३९६-४१०) द्वारा प्रका०।

शातातपस्मृति—४७ अध्यायों एवं २३७६ श्लोकों में। नो० (जिल्द २, पृ० ४)।

शान्तिकमलाकर—(या शान्तिरत्न) कमलाकर भट्ट द्वारा। अपशकुनों की शान्ति पर। दे० प्रक० १०६। बम्बई में मुद्रित।

शान्तिकल्पदीपिका—गृह्याग्नि में मेढक पड़ने, पल्लीपतन, मूल या आश्लेषा नक्षत्र में पुत्रोत्पत्ति आदि पर शान्ति के कृत्यों पर।

शान्तिकल्पप्रदीप—(या कृत्यापल्लवदीपिका) श्री कृष्ण विद्यावागीश द्वारा। विरोधियों को मोहित करने, वश में करने या मारने के मन्त्रों पर। पाण्डु० तिथि संवत् १८५१।

शान्तिकल्पलता—अज्ञात।

शान्तिकल्याणी।

शान्तिकविधि—वसिष्ठ कृत। २१३ श्लोकों में। देखिए वासिष्ठीभाष्य, ऊपर। वसिष्ठ ने राम से यह कहा है कि किस प्रकार वे (राम), रावण, पाण्डव लोग एवं

कंस विपरीत नक्षत्रों के कारण पीड़ित हुए। इसमें अयुतहोम, लक्षहोम, कोटिहोम, नवग्रहहोम आदि पर विवेचन है। माध्यन्दिनीय शाखा से मन्त्र लिये गये हैं। ड० का० पाण्डु० सं० १०४ (१८७१-७२)।

शान्तिकौमुदी—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर भट्ट द्वारा। सम्भवतः यह शान्तिकमलाकर ही है।

शान्तिकौस्तुभ—से० प्रा० कैटलॉग (सं० ५५८५)।

शान्तिगणपति—गणपति रावल द्वारा। लग० १६८५ ई०।

शान्तिचन्द्रिका—कवीन्द्र द्वारा। काव्यचन्द्रिका (लेखक कृत) में व०। दे० औफ्रेक्ट (पृ० २११ बी)।

शान्तिचरित्र।

शान्तिचिन्तामणि—कुलमुनि द्वारा। लेखक के नीति-प्रकाश में व०।

शान्तिचिन्तामणि—मोढ जाति के विश्राम-पुत्र शिव-राम द्वारा।

शान्तितत्त्वामृत—(या शान्तिकतत्त्वामृत) नारायण चक्रवर्ती द्वारा। अद्भुतसागर का उल्लेख है। शान्ति की परिभाषा यों है—'यथा शस्त्रोपघातानां कवचं विनिवारणम्। तथा दैवोपघातानां शान्ति-र्भवति वारणम् एतेन अदृष्टद्वारा ऐहिकमात्रानिष्ट-निवारणं शान्तिः।'

शान्तिदीपिका—रघु० द्वारा शुद्धितत्त्व, संस्कारतत्त्व, एकादशीतत्त्व, श्राद्धतत्त्व (पृ० १९५) में व०।

शान्तिनिर्णय।

शान्तिपद्धति—विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा। सामवेद के अनुसार नवग्रहों की शान्ति के कृत्यों पर। लेखक ने छन्दोगानीयाह्निक भी लिखा है। पाण्डु० (इण्डि० आ०, पृ० ५७०, सं० १७६२) की तिथि सं० १८०६ (१७४९-५० ई०) है।

शान्तिपारिजात—अनन्तभट्ट द्वारा।

शान्तिपुस्तक।

शान्तिपौष्टिक—वर्धमान कृत।

शान्तिप्रकरण—बौधायनीय।

शान्तिप्रकार—गोभिल द्वारा। कर्मप्रदीप के प्रथम ७ अध्याय।

शान्तिप्रकाश—वीरमित्रोदय से।

शान्तिभाष्य—वेदमिश्र द्वारा। यह वासिष्ठीभाष्य ही है।

शान्तिमयूख—नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०७। बम्बई में जे० आर० घरपुरे द्वारा प्रका०।

शान्तिरत्न—(या शान्तिरत्नाकर) कमलाकर भट्ट द्वारा। दे० प्रक० १०६ (बी० बी० आर० ए० एस्० कैट०, पृ० २३४, सं० ७२९)। दे० 'शान्तिकमलाकर।'

शान्तिविवेक—विश्वनाथ द्वारा। ग्रहों की शान्ति के कृत्यों पर (मदनरत्न का एक अंश)। दे० अलवर (३५३)।

शान्तिसर्वस्व—नि० सि० एवं संस्कारकौस्तुभ में उ०।

शान्तिसार—दलपतिराज द्वारा (नृसिंहप्रसाद का अंश)।

शान्तिसार—रामकृष्ण के पुत्र दिनकरभट्ट द्वारा। अयुत-होम, लक्षहोम, कोटिहोम, ग्रहशान्ति, वैनायकीशान्ति, विवाहादी रुशान्ति नामक शान्ति कृत्यों पर। बम्बई में कई बार मुद्रित।

शान्तिहोम—माधव द्वारा।

शान्त्युद्द्योत—मदनरत्न का अंश। दे० प्र० ९४।

शापविमोचन—मदनरत्न का अंश। दे० प्रक० ९४।

शाम्बव्यगृह्यसूत्र।

शारदाक्रमदीपिका—दुर्गोत्सवविवेक में एवं रघु० द्वारा व०।

शारदातिलक—वारेन्द्रकुल के विजयाचार्यात्मज श्रीकृष्ण के पुत्र लक्ष्मणदेशिकेन्द्र द्वारा। तान्त्रिक ग्रन्थ, किन्तु धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में बहुधा उद्धृत हुआ है। सर्वदर्शन-संग्रह एवं रघु० के दिव्यतत्त्व द्वारा व०। १३०० ई० के पूर्व। टी० १४४९-५० ई० में रामवाजपेयी द्वारा कुण्डमण्डपलक्षण में व०। टी० गूढार्थदीपिका, श्रीराम भारती के शिष्य त्रिविक्रमज्ञ द्वारा। टी० गूढार्थप्रकाशिका, कामरूपपति द्वारा। टी० गूढार्थसार, विक्रमभट्ट द्वारा। टी० काशीनाथ द्वारा। टी० तन्त्रप्रदीप, लक्ष्मणदेशिक द्वारा। टी० तन्त्रप्रदीप,

रांघवेन्द्र के पुत्र गदाधर द्वारा; मिथिला के राजा भैरवेन्द्र के पुत्र रामभद्र के शासनकाल में लग० १४५० ई० में प्रणीत। (दे० नो०, जिल्द ६, पृ० २३३)। टी० नारायण द्वारा। टी० प्रकाश, मथुरानाथ शुक्ल द्वारा। टी० माधव द्वारा। टी० पदार्थादर्श, रामेश्वरात्मज पृथ्वीधर के पुत्र राघवभट्ट द्वारा; व्रतराज में व०; लेखक का कुल जनस्थान (नासिक) से बनारस आया था; १५५० रौद्रपौषसित १२ (सम्भवतः विक्रम सं०) में प्रणीत; अलवर (६६९)। टी० रामदीक्षित द्वारा। टी० शब्दार्थचिन्तामणि, प्रेमनिधिपन्थ द्वारा। टी० हर्षकौमुदी, श्रीहर्षदीक्षित द्वारा।

शारदार्चाप्रयोग—रामचन्द्र द्वारा।

शालग्रामदानकल्प।

शालग्रामदानपद्धति—बाबादेव द्वारा। दे० इण्डि० आ० (पृ० ५९३, सं० १८०५); पाण्डु० तिथि संवत् १८५८ (१८०१-२ ई०)।

शालग्रामनिर्णय।

शालग्रामपरीक्षा—शंकर दैवज्ञ द्वारा। इण्डि० आ० (पृ० ५९२)।

शालग्रामपरीक्षा—बीकानेर (पृ० ४५०)। एक भिन्न ग्रन्थ।

शालग्रामलक्षण—अज्ञात। नो० न्यू० (२, पृ० १८७)।

शालग्रामलक्षण—तुरगवदन पण्डित द्वारा।

शालग्रामलक्षण—सदाशिव द्विवेदी द्वारा।

शालंकायनस्मृति—स्मृतिच०, हेमाद्रि, मद० पा० एवं नि० सि० द्वारा व०।

शालाकर्मपद्धति—पशुपति की दशकर्मदीपिका का एक अंश।

शास्त्रदीप—अग्निहोत्री नृहरि द्वारा। पाण्डु० (बड़ोदा, ८१३२), तिथि संवत् १६६४ (१६०७-८ ई०)। प्रायश्चित्त पर; व्यवहार पर एक ग्रन्थ का उल्लेख है।

शास्त्रदीपार्थसार।

शास्त्रसारावलि—हरिभानु शुक्ल द्वारा।

शास्त्रसारोद्धार—यानन्त राव (?) के आदेश से होसिंग कुल के कृष्ण द्वारा। दे० बर्नेल (पृ० १३३ ए)। हेमाद्रि, माधव एवं मदनरत्न का उ० है। १४५० ई० के पश्चात्।

शास्त्रोपदेशक्रम।

शिङ्गाभट्टीय—नि० सि० में उ०। सं० प्रा० सं० ५६७०।

शिवतत्त्वरत्नाकर—केलड़ि कुल के राजा बसप्पनायक प्रथम द्वारा। राजनीति पर एक अध्याय है। कल्लोलों में विभक्त एवं प्रत्येक कल्लोल कई तरंगों में विभक्त। मद्रास से बी० एस्० नाथ एण्ड कम्पनी द्वारा प्रका०।

शिवदमनार्चनपद्धति—अलवर के पूर्ववर्ती राजा विनयसिंह के लिए प्रणीत। अलवर (सं० १४८५)।

शिवद्युमणिदीपिका—यह दिनकरोद्द्योत ही है।

शिवपूजनपद्धति—हरिराय द्वारा।

शिवपूजा—(अघोरपद्धति) दे० बीकानेर (पृ० ६११)।

शिवपूजातरंगिणी—जयराम के पुत्र एवं जड़े विरुदधारी काशीनाथ द्वारा।

शिवपूजापद्धति—अज्ञात। नो० (जिल्द २, पृ० २२५)।

शिवपूजापद्धति—राघवानन्दनाथ द्वारा।

शिवपूजाप्रकार।

शिवपूजासंग्रह—वल्लभेन्द्र सरस्वती द्वारा।

शिवपूजासूत्रव्याख्यान—अत्रि गोत्र के पाण्डुरंग के पुत्र रामचन्द्र द्वारा। शिव पर बौधायन सूत्र की व्याख्या की गयी है। नो० (जिल्द १०, पृ० ३४७)।

शिवप्रतिष्ठा—कमलाकर द्वारा।

शिवरात्रिकल्प।

शिवरात्रिनिर्णय—शिवोपाध्याय द्वारा। दे० 'महाशिवरात्रिनिर्णय'।

शिवलिंगपरीक्षा।

शिवलिंगप्रतिष्ठाक्रम।

शिवलिंगप्रतिष्ठाप्रयोग।

शिवलिंगप्रतिष्ठाविधि—अनन्त द्वारा।

शिवलिंगप्रतिष्ठाविधि—नारायण भट्ट के पुत्र रामकृष्ण भट्ट द्वारा।

शिववाक्यावली—वीरेश्वर के पुत्र चण्डेश्वर द्वारा। दे० प्रक० ९०।

शिवसर्वस्व—नि० सि० में एवं रघु० द्वारा उल्लिखित।

शिवाराधनदीपिका—हरि द्वारा।

शिवार्चनचन्द्रिका—नि० सि० में व०।

शिवार्चनचन्द्रिका—अप्पयदीक्षित द्वारा।

शिवार्चनचन्द्रिका—श्रीनिकेतन के पुत्र श्रीनिवास भट्ट द्वारा। १६ प्रकाशों में।

शिवार्चनपद्धति—अमरेश्वर द्वारा।

शिवार्चनशिरोमणि—नारायणानन्द नाथ द्वारा।

शिवार्चनशिरोमणि—लोकानन्द नाथ के शिष्य ब्रह्मानन्द नाथ द्वारा। २० उल्लासों में।

शिवालयप्रतिष्ठा—राधाकृष्ण द्वारा।

शिवाष्टमूर्तितत्त्वप्रकाश—सदाशिवेन्द्र सरस्वती के शिष्य रामेश्वर द्वारा।

शिष्टिभाष्य—दे० बौधायनगृह्यभाष्य।

शुक्रनीतिसार—ऑपर्ट द्वारा मद्रास में सन् १८९२ ई० में एवं जीवानन्द द्वारा १८९२ ई० में प्रका० तथा प्रो० विनयकुमार सरकार द्वारा सैक्रेड बुक्स आव दि हिन्दू सीरीज़ में अनूदित। चार अध्यायों में एवं २५०० श्लोकों में। इसमें राजधर्म, अस्त्र-शस्त्रों एवं बारूद (आग्नेयचूर्ण) आदि का वर्णन है।

शुक्लाष्टमी।

शुद्धदीपिका—दुर्गादत्तकृत। ह० प्र० (पृ० २१ एवं २५५)। प्रयोगसार से संगृहीत।

शुद्धसौख्य।

शुद्धिकारिका—(१) रामभद्र न्यायालंकार द्वारा। रघु० के शुद्धितत्त्व पर आधृत। (२) नारायण वन्द्योपाध्याय द्वारा। नो० न्यू० (२, पृ० १९६)।

शुद्धिकारिकावलि—मोहनचन्द्र वाचस्पति द्वारा। नो० न्यू० (१, पृ० ३६७-३६९)। शुद्धिरत्नाकर का उल्लेख है।

शुद्धिकौमुदी—गोविन्दानन्द द्वारा। बिब्लि० इण्डि०। दे० प्रक० १०१।

शुद्धिकौमुदी—महेश्वर द्वारा। सहगमन, आशौच, सपिण्डतानिरूपण, गर्भस्रावाशौच, सद्यःशौच, शवानुगमनाशौच, अन्त्येष्टिविधि, मुमूर्षुकृत्य, अस्थिसंचयन, उदकादिदान, पिण्डोदकदान, वृषोत्सर्ग, प्रेतक्रियाधिकारी, द्रव्यशुद्धि पर।

शुद्धिकौमुदी—सिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य द्वारा। बड़ोदा (सं० १०१८३)।

शुद्धिगुच्छ—गदाधर के कालसार में वर्णित।

शुद्धिचन्द्रिका—कालिदास द्वारा। हुल्श (सं० ९३)।

शुद्धिचन्द्रिका—कौशिकादित्य के षडशीति या आशौचनिर्णय पर नन्दपण्डित द्वारा टीका। दे० प्रक० १०५।

शुद्धचिन्तामणि—वाचस्पतिमिश्र द्वारा। दे० प्रक० ९८।

शुद्धितत्त्व—रघु० द्वारा। दे० प्रक० १०२। जीवानन्द द्वारा प्रका०। टी० बाँकुडा में विष्णुपुर के निवासी राधावल्लभ के पुत्र काशीराम वाचस्पति द्वारा; कलकत्ता में १८८४ एवं १९०७ ई० में मुद्रित। टी० गुरुप्रसाद न्यायभूषणभट्टाचार्य द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ३७१)। टी० राधामोहन शर्मा द्वारा; कलकत्ता में १८८४ एवं १९०७ में मुद्रित।

शुद्धितत्त्वकारिका—रामभद्र न्यायालंकार द्वारा। उपर्युक्त शुद्धिकारिका ही है।

शुद्धितत्त्वकारिका—हरिनारायण की। रघु० के शुद्धितत्त्व पर आधृत।

शुद्धितत्त्वार्णव—श्रीनाथ कृत। शुद्धितत्त्व में व०। (रघु० कृत) लग० १४७५-१५२५ ई०।

शुद्धिदर्पण—अनन्तदेव याज्ञिक द्वारा। शुद्धि की परिभाषा यह दी हुई है—'विहितकर्मार्हत्वप्रयोजको धर्मविशेषः शुद्धिः।' गोविन्दानन्द की शुद्धिकौमुदी के ही विषय इसमें हैं।

शुद्धिदीप—(या–प्रदीप) केशवभट्ट द्वारा। गोविन्दानन्द की शुद्धिकौमुदी के विषयों का ही विवेचन है।

शुद्धिदीप—नि० सि० एवं विधानपारिजात तथा रुद्रधर के शुद्धिविवेक में व०।

शुद्धिदीपिका—(१) श्रीनिवास महीन्तापनीय कृत; ज्योतिःशास्त्रप्रशंसा एवं राशिनिर्णय, ग्रहनिर्णय, ताराशुद्धिनिर्णय, वारादिनिर्णय, विवाहनिर्णय, जातक-

निर्णय, नामादिनिर्णय, यात्रानिर्णय नामक आठ अध्यायों में। लग० ११५९-६० ई० में प्रणीत (दे० इण्डियन ऐण्टीक्वरी, जिल्द ५१, १९२२, पृ० १४६-१४७); हलायुध के ब्राह्मणसर्वस्व में व०। वराहमिहिर का नाम आया है और उनके ग्रन्थों से पर्याप्त उद्धरण लिये गये हैं। टी० प्रभा, कृष्णाचार्य रा। टी० प्रकाश, राघवाचार्य रा। (कलकत्ता में सन् १९०१ में मुद्रित)। टी० अर्थकौमुदी, गणपतिभट्ट के पुत्र गोविन्दानन्द कविकंकणाचार्य द्वारा। दे० प्रक० १०१ (कलकत्ता में सन् १९०१ में मुद्रित)। टी० दुर्गादत्त द्वारा; प्रपंचसार (ह० प्र०, पृ० २१ एवं २५५) पर आधृत। टी० नारायण सर्वज्ञ द्वारा। टी० केशवभट्ट द्वारा। यह शुद्धिप्रदीप ही है।

शुद्धिदीपिकावृत्ति—मथुरानाथ शर्मा द्वारा।

शुद्धिनिबन्ध—रुद्रशर्मा के पुत्र मुरारि द्वारा। लेखक के पितामह हरिहर मिथिला के भवेश के ज्येष्ठ पुत्र देवसिंह के मुख्यन्यायाधीश थे तथा उसके प्रपितामह जयधर लाढ महेश के मुख्य न्यायाधीश थे। लग० १४५० ई०।

शुद्धिनिर्णय—उमापति द्वारा।

शुद्धिनिर्णय—गोपाल द्वारा।

शुद्धिनिर्णय—वाचस्पति महामहोपाध्याय सन्मिश्र द्वारा। दे० प्रक० ९८।

शुद्धिपञ्जी—रघु० के शुद्धितत्त्व में व०।

शुद्धिप्रकाश—बनारस के (हरि) भास्कर द्वारा, जो त्र्यम्बकेश्वरपुरी वासी पुरुषोत्तमात्मज हरिभट्ट के तनुज आपाजिभट्ट के पुत्र थे। संवत् १७५२ (द्वीपुसप्तेन्दुवत्सरे), अर्थात् १६९५-९६ ई० में प्रणीत। दे० नो० (जिल्द २, पृ० १२६) जहाँ वृत्तरत्नाकर (१७३२ संवत् में प्रणीत) पर लेखक की टीका (सेतु) का उल्लेख है।

शुद्धिप्रकाश—रघु० के शुद्धितत्त्व में व०।

शुद्धिप्रकाश—छोटराय के आदेश से नरसिंह के पुत्र कृष्णशर्मा द्वारा।

शुद्धिप्रदीप—केशवभट्ट द्वारा। दे० शुद्धिदीप।

शुद्धिप्रदीपिका—कृष्णदेव स्मार्तवागीश द्वारा।

शुद्धिप्रभा—वाचस्पति द्वारा।

शुद्धिबिम्ब—रुद्रधर के शुद्धिविवेक में व०। १४२५ ई० के पूर्व।

शुद्धिमकरन्द—सिद्धान्तवाचस्पति द्वारा।

शुद्धिमयूख—नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०७। जे० आर० घरपुरे द्वारा बम्बई में प्रका०।

शुद्धिमुक्तावली—बंगाल में काञ्जिविल्लीयकुल के महामहोपाध्याय भीम द्वारा। आशौच पर। नो० न्यू० (२, पृ० २०१)।

शुद्धिरत्न—अनूपविलास से लिया हुआ।

शुद्धिरत्न—दयाशंकर द्वारा।

शुद्धिरत्न—गंगाराम के पुत्र मणिराम द्वारा।

शुद्धिरत्नाकर—चण्डेश्वर द्वारा। दे० प्रक० ९० (पृ० ३६७)।

शुद्धिरत्नाकर—मथुरानाथ चक्रवर्ती द्वारा।

शुद्धिलोचन।

शुद्धिवचोमुक्तागुच्छक—माणिक्यदेव (अग्निचित् एवं पण्डिताचार्य उपाधिधारी) द्वारा। आशौच, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त आदि पर। ट्राएनिएल कैट०, मद्रास, पाण्डु० (१९१९-२२, पृ० ५४७४)।

शुद्धिविवेक—(१) लक्ष्मीधर के पुत्र एवं हलधर के अनुज रुद्रधर द्वारा। दे० प्रक० ९६। (२) श्रीकराचार्य के पुत्र श्रीनाथ द्वारा। अन्त में शूलपाणि का उ० है। १४७५-१५२५ ई०। (३) अनिरुद्ध की हारलता का एक अंश। (४) शूलपाणि द्वारा; दे० प्रक० ९५।

शुद्धिविवेकोद्द्योत—मदनरत्न का भाग।

शुद्धिव्यवस्थासंक्षेप—गौड़वासी चिन्तामणि न्यायवागीश द्वारा। स्मृतिव्यवस्थासंक्षेप का एक अंश; पाण्डु० तिथि शक १६१० (१६८८-८९ ई०)। दे० नो० (जिल्द ४, पृ० १३०)। लेखक ने तिथि, प्रायश्चित्त, उद्वाह, श्राद्ध एवं दाय पर भी ग्रन्थ लिखे हैं।

शुद्धिव्यवस्थासंग्रह।

शुद्धिसार—(१) कृष्णदेव स्मार्तवागीश (वन्द्यघटीय

ब्राह्मण) द्वारा। (२) गदाधर द्वारा। (३) श्रीकंठ शर्मा द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ३७२)।

शुद्धिसेतु--उमाशंकर द्वारा।

शुनःपुच्छस्मृति--मिता० (याज्ञ० ३।१६) एवं अपरार्क द्वारा व०।

शुभकर्मनिर्णय--मुरारि मिश्र द्वारा। गोभिल के अनुसार गृह्य कृत्यों पर। १५वीं शताब्दी के अन्त में (नो०, जिल्द ६, पृ० ७)।

शूद्रकमलाकर--(या शूद्रधर्मतत्त्व) कमलाकर भट्ट कृत। दे० प्रक० १०६।

शूद्रकर्मवृत्ति--शेषकृष्ण की शुद्धाचारशिरोमणि में व०।

शूद्रकुलदीपिका--रामानन्द शर्मा द्वारा। बंगाल के कायस्थों के इतिहास एवं वंशावली का विवेचन है। नो० (जिल्द २, पृ० ३५)।

शूद्रकृत्य--लालबहादुर द्वारा।

शूद्रकृत्यविचारतत्त्व--रघु० कृत। दे० प्रक० १०२।

शूद्रजपविधान।

शूद्रधर्मतत्त्व--कमलाकर भट्ट द्वारा। यह शूद्रकमलाकर ही है।

शूद्रधर्मबोधिनी--मदनपाल द्वारा। यह मदनपाल की स्मृतिकौमुदी ही है। दे० प्रक० ९३।

शूद्रधर्मोद्द्योत--दिनकरोद्द्योत का एक अंश। गागाभट्ट द्वारा पूर्ण किया गया।

शूद्रपञ्चसंस्कारविधि--कश्यप द्वारा।

शूद्रपद्धति--मकरन्दपाल के पुत्र त्रिविक्रमात्मज देहुणपाल के पुत्र अपिपाल द्वारा। एक पाण्डु० गौड़देश में संवत् १४४२ (१५२० ई०) में उतारी गयी (नो०, जिल्द ५, पृ० ३०२); श्राद्धक्रियाकौमुदी एवं श्राद्धतत्त्व में व०। स्पष्ट वर्णन है कि यह सोममिश्र के ग्रन्थ पर आधृत है। अन्त के श्लोक में आया है--'शाके युग्मसरोजसम्भवमुखाम्भोराशिचन्द्रान्विते' (शक सं० १४४२=१५२० ई०)।

शूद्रपद्धति--गोपाल के पुत्र कृष्णतनय गोपाल (उदास विरुदधारी) द्वारा। शूद्रों के १० संस्कारों पर एक बृहत् ग्रन्थ, यथा--गर्भाधान, पुंसवन, अनवलोभन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, विवाह पर एवं पंचमहायज्ञों पर भी। मयूख एवं शुद्धितत्त्व का उल्लेख है। १६४० ई० के उपरान्त। संस्कार के अंश को संस्कारदीपिका भी कहा गया है।

शूद्रपद्धति--स्मृतिमहाराज के अंश के रूप में कृष्णराज द्वारा प्रका०। मदनरत्न का उ० है। गोदान से आरम्भ है। बड़ोदा (सं० ८०२३)।

शूद्रविवेक--रामशङ्कर द्वारा।

शूद्रश्राद्धपद्धति--रामदत्त ठक्कुर द्वारा।

शूद्रषट्कर्मचन्द्रिका।

शूद्रसंस्कारदीपिका--कृष्णभट्ट के पुत्र गोपालभट्ट द्वारा। बड़ोदा (सं० ८९७५)।

शूद्रसंकर--अलवर (सं० १४९२)।

शूद्रस्मृति।

शूद्राचार--लगता है, केवल पुराणों के उद्धरण मात्र दिये हुए हैं।

शूद्राचारचिन्तामणि--मिथिला के हरिनारायण के दरबार में वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित।

शूद्राचारपद्धति--रामदत्त ठक्कुर द्वारा। यह संदिग्ध है कि लेखक वही रामदत्त है, जो चण्डेश्वर का चचेरा भाई था।

शूद्राचारविवेकपद्धति--गोण्डिमिश्र द्वारा।

शूद्राचारशिरोमणि--गोविन्दार्णव के लेखक नृसिंहशेष के पुत्र कृष्णशेष द्वारा। केशवदास (जिन्होंने दक्षिण में अपनी शक्ति प्रदर्शित की और जो परमवैष्णव के नाम से प्रसिद्ध थे।) के पुत्र पिलाजीनृप के अनुरोध पर प्रणीत। ड० का पाण्डु० (सं० ५५, १८७२-७३) स्तम्भतीर्थ (खम्भात) में संवत् १६४७ की फाल्गुन वदी ४, गुरुवार (मार्च ४, १५९१ ई०) को उतारी गयी। गोविन्दार्णव, मिताक्षरा, शंखधर, शूद्रकर्मवृत्ति, शूद्रोत्पत्ति, स्मृतिकौमुदी का उ० है और लक्ष्मण के आचाररत्न में व०। १५२०-१५९० ई० के बीच में। 'शेष' वंश के लिए दे० इण्डि० एण्टीक्वेरी (जिल्द ४१, पृ० २४५)।

शूद्राचारसंग्रह—(या सच्छूद्राचार) नवरंग सौन्दर्य भट्ट द्वारा।

शूद्राहःकृत्यतत्त्व—(-प्रयोग)—रघु० द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० २००)।

शूद्राह्निक।

शूद्राह्निकाचार—श्रीगर्भकृत। ताड़-पत्र पाण्डुलिपि की तिथि शक १४६२ (१५४०-४१ ई०) है।

शूद्राह्निकाचारसार—वासुदेव के पुत्र गौड़ के राजकुमार रघुदेव की आज्ञा से यादवेन्द्र शर्मा द्वारा। नो० न्यू० (ृ० ३७३)।

शूद्रोपद्धति।

शूद्रोत्पत्ति—शेषकृष्ण की शूद्राचारशिरोमणि में उल्लिखित।

शूद्रोद्द्योत—देखिए 'शूद्रधर्मोद्द्योत'।

शैवकल्पद्रुम—अप्पय्यदीक्षित द्वारा।

शैवकल्पद्रुम—लक्ष्मीचन्द्र मिश्र द्वारा।

शैवतत्त्वप्रकाश।

शैवतत्त्वामृत।

शैवतात्पर्यसंग्रह।

शैवधर्मखण्डन।

शैवरत्नाकर—ज्योतिर्नाथ द्वारा। हुल्श (सं० ७६)।

शैववैष्णवप्रतिष्ठाप्रयोग।

शैववैष्णवमतखण्डन।

शैवसर्वस्व—हलायुध द्वारा। ब्राह्मणसर्वस्व में उल्लिखित।

शैवसर्वस्वसार—विद्यापति द्वारा। भवेशात्मज देवसिंह के पुत्र शिवसिंह-सुत मिथिलानरेश पद्मसिंह की रानी विश्वासदेवी के आदेश से प्रणीत। १४००-१४५० ई० के बीच। नो० (खण्ड ६, पृ० १-५)।

शैवसिद्धान्तदीपिका।

शैवसिद्धान्तशेखर—(या सिद्धान्तशेखर) नि० सि० में उ०।

शैवसिद्धान्तसंग्रह।

शैवसिद्धान्तसार।

शैवसिद्धान्तसारावलि—(या सिद्धान्तसारावलि)।

शैवाह्निक।

शौचलक्षण।

शौचसंग्रहविवृति—भट्टाचार्य द्वारा।

शौचाचमनविधि।

शौचाचारपद्धति—हेमाद्रि (व्रतखण्ड १।५९) द्वारा उ०।

शौनककारिका—(या शौनकोक्तवृद्धकारिका) ड० का० पाण्डु० (९७, १८६९-७०)। २० अध्यायों में एक बृहत् ग्रन्थ। गृह्य कृत्यों पर। आश्वलायनाचार्य, ऋग्वेद की पाँच शाखाओं, सर्वानुक्रमणी का उल्लेख है। पाण्डु० की तिथि संवत् १६५३ (१५९६-९७ ई०) है। बीकानेर (पृ० १५२), बड़ोदा (सं० ८६३७)।

शौनककारिकावली—से० प्रा० (सं० ५८९८)।

शौनकगृह्य—विश्वरूप, अपरार्क, हेमाद्रि द्वारा व०।

शौनकगृह्यपरिशिष्ट—अपरार्क द्वारा व० (पृ० ५२५)।

शौनकपञ्चसूत्र।

शौनकस्मृति—दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २०८), जहाँ पद्य में एक बृहत् ग्रन्थ की चर्चा है; पुण्याहवाचन, नान्दीश्राद्ध, स्थालीपाक, ग्रहशान्ति, गर्भाधानादि संस्कारों, उत्सर्जनोपाकर्म, बृहस्पति-शान्ति, मधुपर्क, पिण्डपितृयज्ञ, पार्वणश्राद्ध, आग्रयण, प्रायश्चित्त आदि पर। आचारस्मृति, प्रयोगपारिजात, बृहस्पति, मनु का उल्लेख है।

शौनकी—नवग्रहों की पूजा पर।

श्रवणद्वादशीनिर्णय—गोपालदेशिक द्वारा।

श्राद्धकमल—नन्दपण्डित की श्राद्धकल्पलता में व०।

श्राद्धकला—भवदेवशर्मा के स्मृतिचन्द्र का पाँचवाँ भाग। कल्पत द्वारा उपस्थापित श्राद्ध की परिभाषा दी हुई है—'पितॄनुद्दिश्य द्रव्यत्यागो ब्राह्मणस्वीकार-पर्यन्तम्।' नो० (जिल्द १, पृ० २९९)।

श्राद्धकलिका—(या श्राद्धपद्धति) रघुनाथकृत। भट्ट नारायण को नमस्कार किया गया है। कालादर्श, धर्मप्रवृत्ति, निर्णयामृत, नारायणवृत्तिकृत्, जयन्तस्वामी, हेमाद्रि, हरदत्त एवं स्मृतिरत्नाकर के उद्धरण पाये जाते हैं। ड० का० (सं० ४२१, १८९१-९५ ई०)।

श्राद्धकलिकाविवरण—विश्वरूपाचार्य कृत। शिवभट्ट के षण्णवतिश्राद्धनिर्णय में व०।

श्राद्धकल्प—(मानव) बी० बी० आर० ए० एस्० (जिल्द २, पृ० १७७)। (१) कात्यायनीय (या श्राद्धकल्पसूत्र या नवकण्डिकाश्राद्धसूत्र) ९ अध्यायों में; श्राद्धकृत्यों पर ९ श्लोक हैं; कई टीकाओं के साथ गुजराती प्रेस में मुद्रित। टी० प्रयोगपद्धति; नो० (जिल्द २, पृ० १७४)। टी० श्राद्धविधिभाष्य, कर्क द्वारा (गुजराती प्रेस)। टी० श्राद्धकाशिका, नित्यानन्दात्मज अतिसुख के पुत्र विष्णुमिश्रसुत कृष्णमिश्र द्वारा; नि० सि० द्वारा व०; कर्क एवं हलायुध की टीकाओं की ओर संकेत है (गुजराती प्रेस)। टी० श्राद्धसूत्रार्थमंजरी, वामन पुत्र गदाधर द्वारा। टी० संकर्षण के पुत्र नीलासुर द्वारा (अलवर, ४४)। टी० समुद्रकर द्वारा (तिथितत्त्व, पृ० १७४ द्वारा व०)। टी० संकर्षण के पुत्र हलायुध द्वारा; गोविन्दराज एवं शंखधर का उल्लेख है; श्राद्धकाशिका द्वारा व०। लगता है, 'नीलासुर' नीलाम्बर (जिसका अर्थ 'हलायुध' है) का भ्रामक पाठ है; यजुर्वेदिश्राद्ध-तत्त्व (जीवानन्द, जिल्द २, पृ० ४९६) ने स्पष्टतः कात्यायन के नीलाम्बर कृत भाष्य का उल्लेख किया है। (२) मानवगृह्य का एक परिशिष्ट। (३) गोभिलीय; टी० महायशा द्वारा (बड़ोदा, सं० १२८९५)। (४) मैत्रायणीय। (५) अथर्ववेद का ४४वाँ परिशिष्ट।

श्राद्धकल्प—(१) काशीनाथ कृत। (२) भर्तृयज्ञ कृत। (३) वाचस्पतिकृत; पितृभक्तितरंगिणी नाम भी है (दे० प्रक० ९८)। (४) श्रीदत्त द्वारा; छन्दोगश्राद्ध नाम भी है (दे० प्रक० ८९); स्मृति-गृह्य, पुराणों, गोपाल एवं भूप पर आधृत (नो०, जिल्द ३, पृ० ३४; जिल्द २, पृ० ३६४)। (५) हेमाद्रि द्वारा (पीटर्सन की छठी रिपोर्ट, पृ० ११); चतुर्वर्गचिन्तामणि की चर्चा है।

श्राद्धकल्पदीप—होरिलत्रिपाठी कृत।

श्राद्धकल्पद्रुम।

श्राद्धकल्पना—इण्डि० आ० (पृ० ५५८)।

श्राद्धकल्पभाष्य—दे० 'गोभिलीयश्राद्धकल्प।'

श्राद्धकल्पलता—गोविन्दपण्डित कृत; श्राद्धकल्पलता में नन्दपण्डित द्वारा व०।

श्राद्धकल्पलता—नन्दपण्डित द्वारा। दे० प्रक० १०५।

श्राद्धकल्पसार—नारायणभट्ट के पुत्र शंकरभट्ट द्वारा। टी० लेखक द्वारा, दे० स्टीन (पृ० १०५, ३१६)।

श्राद्धकल्पसूत्र—दे० 'श्राद्धकल्प' (कात्यायनीय)।

श्राद्धकल्पसूत्र—(या नवकण्डिकासूत्र, कात्यायन का छठा परिशिष्ट) दे० 'नवकण्डिकासूत्र।'

श्राद्धकाण्ड—नृसिंह के प्रयोगपारिजात से।

श्राद्धकाण्ड—भट्टोजि द्वारा।

श्राद्धकाण्ड—वैद्यनाथ दीक्षित द्वारा। स्मृतिमुक्ताफल का एक भाग।

श्राद्धकाण्डसंग्रह—वैद्यनाथ द्वारा। सम्भवतः उपर्युक्त 'श्राद्धकाण्ड'।

श्राद्धकारिका—अलवर (सं० १४९६ एवं उद्धरण ३५४)।

श्राद्धकारिका—केशव जीवानन्द शर्मा द्वारा।

श्राद्धकार्यनिर्णय।

श्राद्धकाशिका—नित्यानन्द के पुत्र, प्रतिसुखात्मज विष्णुमिश्र-सुत कृष्ण द्वारा (गुजराती प्रेस, पारस्कर-गृह्य का संस्करण)। कर्क, धर्मप्रदीप, हलायुध का उल्लेख है और नन्दपण्डित रा श्राद्धकल्पलता, श्राद्धमयूख में व०। १३००-१५०० ई० के बीच।

श्राद्धकृत्यप्रदीप—होरिल द्वारा। अलवर (उद्धरण ३५५)।

श्राद्धकौमुदी—(या श्राद्धक्रियाकौमुदी) गोविन्दानन्द द्वारा। दे० प्रक० १०१। बिब्लि० ण्डि०।

श्राद्धक्रम—महादेव के पुत्र याज्ञिकदेव द्वारा।

श्राद्धखण्ड—नृसिंह के प्रयोगपारिजात से।

श्राद्धगणपति—(या श्राद्धसंग्रह) कौण्डभट्ट के पुत्र रामकृष्ण द्वारा। से० प्रा० (सं० ५९२१)। दे० 'श्राद्धसंग्रह।'

श्राद्धचन्द्रिका—(१) भारद्वाज गोत्रज बालकृष्ण के पुत्र

महादेवात्मज दिवाकर द्वारा। ले० के धर्मशास्त्रसुधानिधि का एक अंश। उसके पुत्र वैद्यनाथ द्वारा एक अनुक्रमणी प्रस्तुत की गयी। दे० आचारार्क, लग० १६८० ई०। (२) नन्दन द्वारा। (३) रामचन्द्र भट्ट द्वारा। (४) चण्डेश्वर के शिष्य रुद्रधर द्वारा। वर्धमान की दी हुई श्राद्ध-परिभाषा उ० है—'सम्बन्धपदोपनीतान् पितॄनुदिश्य द्रव्यत्यागः श्राद्धम्'। नो० (जिल्द ८, पृ० २७०)। (५) श्रीकराचार्य के पुत्र श्रीनाथ आचार्यचूड़ामणि द्वारा। यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व (पृ० ४९३) में उसके गुरु के ग्रन्थ के रूप में व०। श्रीदत्त की आलोचना की गयी है। लग० १४७५-१५२५ ई०।

श्राद्धचन्द्रिकाप्रकाश—यह दिवाकर की श्राद्धचन्द्रिका ही है।

श्राद्धचिन्तामणि—वाचस्पतिमिश्र द्वारा। बनारस में शक सं० १८१४ में मु०। दे० प्रक० ९८। टी० भावदीपिका, महामहोपाध्याय वामदेव द्वारा (नो०, जिल्द ५, पृ० १६५)।

श्राद्धचिन्तामणि—श्रीविश्राम शुक्ल के पुत्र शिवराम द्वारा। प्रयोगपद्धति या सुबोधिनी भी नाम है। ले० की कृत्यचिन्तामणि में श्राद्ध के भाग का निष्कर्ष भी दिया हुआ है। इण्डि० आ० (पृ० ५३८)।

श्राद्धतत्त्व—रघु० कृत। दे० प्रक० १०२; जीवानन्द द्वारा प्रका०। टी० विवृति, राधावल्लभ के पुत्र काशीराम वाचस्पति द्वारा (कलकत्ता में बंगला लिपि में मु०)। टी० भावार्थदीपिका, गंगाधर चक्रवर्ती द्वारा। टी० श्राद्धतत्त्वार्थ, जयदेवविद्यावागीश के पुत्र विष्णुराम सिद्धान्तवागीश द्वारा (इन्होंने प्रायश्चित्ततत्त्व पर भी टी० लिखी है)।

श्राद्धतिलक—विधानपारिजात में व०।

श्राद्धदर्पण—जयकृष्ण तर्कवागीश कृत। कल्पतरु की आलोचना है। इसे श्राद्धदीप (या–प्रदीप) भी कहा गया है।

श्राद्धदर्पण—मधुसूदन द्वारा।

श्राद्धदीधिति—कृष्णभट्ट कृत।

श्राद्धदीप—विधानपारिजात में व०।

श्राद्धदीप—जयकृष्ण भट्टाचार्य द्वारा (–प्रदीप नाम भी है)। नो० (जिल्द १०, पृ० १०७)। कल्पतरु की आलोचना भी है।

श्राद्धदीप—दिव्यसिंह महापात्र द्वारा।

श्राद्धदीपकलिका—शूलपाणि कृत। नि० सि०, विधानपारिजात में व०।

श्राद्धदीपिका—सदाशिव दीक्षित के पुत्र काशी दीक्षित याज्ञिक द्वारा। कात्यायनसूत्र एवं कर्कभाष्य पर आधृत।

श्राद्धदीपिका—गोविन्द पण्डित कृत। नन्दपण्डित की श्राद्धकल्पलता में व०।

श्राद्धदीपिका—वेदांगराय (गुजरात में श्रीस्थल के रत्नभट्ट-पुत्र त्रिगुलाभट्ट के पुत्र मालजित्) द्वारा। ले० ने शाहजहाँ के लिए सन् १६४३ ई० में पारसीप्रकाश भी लिखा।

श्राद्धदीपिका—श्रीकराचार्य के पुत्र श्रीनाथ आचार्यचूड़ामणि द्वारा। सामवेद-अनुयायियों के लिए। यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व में रघु० द्वारा व०। १४७५-१५२५ ई०।

श्राद्धदीपिका—श्रीभीम (जिन्हें काञ्चिविल्लीय अर्थात् राढीय ब्राह्मण कहा गया है) द्वारा। सामवेद के अनुयायियों के लिए। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ३७९)।

श्राद्धदीपिकानिर्णय।

श्राद्धदेवतानिर्णय।

श्राद्धद्वासप्ततिकला।

श्राद्धनवकण्डिकासूत्र—देखिए श्राद्धकल्प (कात्यायनीय)।

श्राद्धनिरूपण—अलवर (सं० १५०१)।

श्राद्धनिर्णय—उमापति कृत। नन्दपण्डित की श्राद्धकल्पलता में व०।

श्राद्धनिर्णय—चन्द्रचूड़ कृत।

श्राद्धनिर्णय—शिवभट्ट कृत।

श्राद्धनिर्णय—सुदर्शन कृत।

श्राद्धनिर्णयदीपिका—पराशरगोत्र के तिरुमलकवि द्वारा। कालादर्श का उल्लेख है।

श्राद्धनृसिंह—नृसिंह कृत (कलकत्ता सं० कालेज पाण्डु०, जिल्द २, पृ० ३९२)।

श्राद्धपञ्जी—वाचस्पतिमिश्र के द्वैतनिर्णय में उल्लिखित (आक्सफोर्ड कैटलाग, पृ० २७३ बी०)।

श्राद्धपञ्जी—रुद्रधर के श्राद्धविवेक में व०। १४०० ई० के पूर्व।

श्राद्धपद्धति—(आश्वलायनीय)।

श्राद्धपद्धति—(पंचत्रिंशच्छ्लोकी)।

श्राद्धपद्धति—कन्नोज के बाबू लक्ष्मीकान्तात्मज लोकमणि के पुत्र कुलमणि-सुत क्षेमराम द्वारा। पाण्डु० (इण्डि० आ०, पृ० ५५९) की तिथि सं० १८०५ (१७४८-९ ई०)।

श्राद्धपद्धति—रामपण्डित के पुत्र गोविन्द पण्डित द्वारा।

श्राद्धपद्धति—दयाशंकर द्वारा।

श्राद्धपद्धति—दामोदर द्वारा।

श्राद्धपद्धति—नारायण भट्ट आरडे द्वारा (बड़ोदा, सं० ३३८)।

श्राद्धपद्धति—नीलकण्ठ द्वारा। श्राद्धमयूख में व०।

श्राद्धपद्धति—हलायुध (जिन्होंने ब्राह्मणसर्वस्व लिखा है) के ज्येष्ठभ्राता पशुपति द्वारा। टी० हलायुध द्वारा।

श्राद्धपद्धति—माधव के पुत्र रघुनाथ द्वारा। 'दर्शश्राद्धपद्धति' नाम भी है। हेमाद्रि के ग्रन्थ पर आधृत। ले० नारायण भट्ट के भतीजे थे।

श्राद्धपद्धति—विश्वनाथभट्ट द्वारा।

श्राद्धपद्धति—शाण्डिल्य गोत्र के रत्नाकर-पुत्र शंकर द्वारा।

श्राद्धपद्धति—हेमाद्रि ारा। ले० की चतुर्वर्गचिन्तामणि की ओर संकेत है। स्टीन (पृ० ३१६-१७)।

श्राद्धपल्लव—रुद्रधर के श्राद्धविवेक एवं टोडरानन्द (श्राद्धसौख्य) में व०।

श्राद्धपारिजात—द्वैतपरिशिष्ट (द्वैतनिर्णयपरिशिष्ट) में केशव द्वारा व०।

श्राद्धप्रकरण—लोल्लट द्वारा (पूना के आनन्दाश्रम संग्रह में पाण्डु० है)। मेधातिथि के उद्धरण हैं। स्मृत्यर्थसार में उ० है, अतः ९००-११०० ई० के बीच।

श्राद्धप्रकरण—नरोत्तमदेव द्वारा।

श्राद्धप्रकाश—नि० सि० में व०।

श्राद्धप्रकीर्णकारिका।

श्राद्धप्रदीप।

श्राद्धप्रदीप—कृष्णमित्राचार्य द्वारा।

श्राद्धप्रदीप—गोवर्धन के पुत्र धनराम द्वारा। बड़ोदा (सं० ९९७१); १७५० ई० के पश्चात् नहीं।

श्राद्धप्रदीप—श्रीधरशर्मा के पुत्र प्रद्युम्नशर्मा द्वारा। पाण्डु० शक १४४८ (१५२६ ई०) में उतारी गयी। सम्भवतः अधिकारी के रूप में ही लेखक को श्रीहट्ट देशीय हाकादिट्टी का स्वामी कहा गया है। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ३८०-८१)।

श्राद्धप्रदीप—मधुसूदन के पुत्र मदनमनोहर महामहोपाध्याय द्वारा। यजुर्वेदपाठियों के लिए। नो० (जिल्द ६, पृ० २९९)।

श्राद्धप्रदीप—रुद्रधर द्वारा। से० प्रा० (९३९)। सम्भवतः यह श्राद्धचन्द्रिका या श्राद्धविवेक ही है।

श्राद्धप्रदीप—वर्धमान द्वारा। रघु० के श्राद्धतत्त्व में व०।

श्राद्धप्रदीप—भवनाथ सन्मिश्र के पुत्र शंकरमिश्र द्वारा। रुद्रधर के श्राद्धविवेक में, श्राद्धक्रियाकौमुदी तथा रघु० के श्राद्धतत्त्व में व०। नो० (जिल्द ७, पृ० १९१)। ले० वर्धमान के गुरु थे।

श्राद्धप्रभा—रामकृष्ण द्वारा। टी० भी है।

श्राद्धप्रयोग—(१) आपस्तम्बीय, (२) बौधायनीय, (३) भारद्वाजीय, (४) मैत्रायणीय, (५) सत्याषाढीय, (६) आश्वलायनीय, कमलाकर कृत।

श्राद्धप्रयोग—(आश्वलायनीय) विश्वनाथ के पुत्र रामभट्ट द्वारा।

श्राद्धप्रयोग—गोपालसूरि द्वारा। प्रयोगदर्पण, वैद्यनाथीय निबन्ध, सुधानिधिविलोचन द्वारा व० है।

श्राद्धप्रयोग—दयाशंकर द्वारा।

श्राद्धप्रयोग—नारायण भट्ट द्वारा। ले० के प्रयोगरत्न का एक अंश।

श्राद्धप्रयोगचिन्तामणि—अनूपसिंह कृत।

श्राद्धप्रयोगपद्धति—(कात्यायनीया) काशीदीक्षित द्वारा।

श्राद्धप्रशंसा।

श्राद्धब्राह्मण।

श्राद्धभास्करप्रयोगपद्धति।

श्राद्धमञ्जरी—नि० सि० एवं रुद्रधर के शुद्धिविवेक में व०।

श्राद्धमञ्जरी—रत्नगिरि जिले के राजापुर तालुका में फगशी के निवासी बापूभट्ट केलकर द्वारा। शक सं० १७३२ (१८१० ई०) में प्रणीत। आनन्दाश्रम प्रेस में मुद्रित।

श्राद्धमञ्जरी—मुकुन्दलाल द्वारा।

श्राद्धमन्त्रव्याख्या—हलायुध के ब्राह्मणसर्वस्व से। अलवर (३५६)।

श्राद्धमयूख—नीलकण्ठ कृत। दे० प्रक० १०७। जे० आर० घरपुरे द्वारा मु०।

श्राद्धमीमांसा—नन्दपण्डित द्वारा।

श्राद्धरत्न—इन्द्रपति के शिष्य लक्ष्मीपति द्वारा। सामवेदियों एवं शुक्लयजुर्वेदियों के लिए। श्रीदत्त पर आधृत।

श्राद्धरत्नमहोदधि—यज्ञदत्त के पुत्र विष्णुशर्मा द्वारा। ले० के श्राद्धाङ्गभास्कर में व०।

श्राद्धरहस्य—स्मृतिरत्नावलि में रामनाथ द्वारा व०।

श्राद्धवचनसंग्रह।

श्राद्धवमनप्रायश्चित्त।

श्राद्धवर्णन—हरिराम द्वारा।

श्राद्धवसिष्ठ—सं० कौ० में व०। यह वसिष्ठश्राद्धकल्प ही है।

श्राद्धविधि—(१) कोकिलोक्त; दे० ड० का० पाण्डु० (सं० २२३, १८७९-८०); स्कन्दपुराण, कात्यायन, आपस्तम्ब, सुमन्तु, शातातप, याज्ञवल्क्य का उल्लेख है; वृद्धिश्राद्ध, गणाधिपपूजा, मातृपूजा एवं अन्य श्राद्धों का विवेचन है। (२) छन्दोग। (३) माध्यन्दिनीय, ढोण्ढू द्वारा। दे० बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २३६, सं० २३६)। कर्क, कल्पतरु, श्रीकण्ठ उपाध्याय, हलायुधीय, श्राद्धभाष्य की ओर संकेत है। १२००-१५०० ई० के बीच।

श्राद्धविधिसंक्षेप।

श्राद्धविभक्ति—नो० (जिल्द १०, पृ० ३४७)।

श्राद्धविवेक—प्राणकृष्ण के पुत्र ढोण्ढूमिश्र द्वारा। पीटर्सन के दूसरे प्रतिवेदन (रिपोर्ट, पृ० १८८) में देखिए।

श्राद्धविवेक—लक्ष्मीधर के पुत्र रुद्रधर द्वारा। दे० प्रक० ९६। बनारस में मुद्रित।

श्राद्धविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५। मधुसूदन स्मृतिरत्न (महामहोपाध्याय) द्वारा कलकत्ता में मुद्रित। टी० टिप्पनी, अच्युतचक्रवर्ती द्वारा, दायभागटीका में व०। टी० अर्थकौमुदी, गोविन्दानन्द द्वारा; दे० प्रक० १०१। टी० भावार्थदीप, जगदीश द्वारा। टी० श्रीकृष्ण द्वारा, बंगला लिपि में कलकत्ता में सन् १८८० ई० में मु०। टी० नीलकण्ठ द्वारा। टी० श्रीकर के पुत्र श्रीनाथ आचार्यचूडामणि द्वारा। नो० न्यू० (जिल्द १, पृ० ३८१-३८२); ऐसा आया है कि श्रीनाथ ने केवल अपने पिता की कृति का विस्तार मात्र किया है। टी० श्राद्धादिविवेककौमुदी, महामहोपाध्याय रामकृष्ण न्यायालंकार द्वारा (नो०, जिल्द १०, पृ० ११९)।

श्राद्धविवेकसंग्रह।

श्राद्धवृत्तिप्रकरण।

श्राद्धव्यवस्था।

श्राद्धव्यवस्थासंक्षेप—चिन्तामणिकृत। दे० शुद्धिव्यवस्थासंक्षेप।

श्राद्धषोडशविधि—अलवर (सं० १५०८ एवं उद्धरण ३५७)।

श्राद्धसंकलन।

श्राद्धसंकल्प—रघुनाथ के प्रयोगपारिजात से।

श्राद्धसंकल्पविधि।

श्राद्धसंग्रह—(१) स्मृतिचन्द्रिका में व०; १२०० ई० के पूर्व। (२) प्रयागभट्टात्मज कौण्डभट्ट के पुत्र

रामकृष्ण कृत कात्यायन के श्राद्धकल्पसूत्र पर आधृत। उन्होंने कातीयगृह्यसूत्र पर संस्कारगणपति ग्रन्थ लिखा है। शक सं० १६७३ (त्रिनगभूपाख्ये) अर्थात् १७५१ ई० में बनारस में प्रणीत। दे० इण्डि० आ० (पृ० ५६०-६१, सं० १७३८)। इण्डि० आ० (पृ० ५६२) में तिथि शक-गगनांमा (ङ्का) ङ्गभूमिते (१६७०-१६९०) एवं १८२६ (वि० सं०, १७७० ई०) है, जो सम्भवतः पाण्डु० की तिथि है। कर्क, हलायुध, गदाधर, काशिका, दीपिका का उल्लेख है।

श्राद्धसमुच्चय।

श्राद्धसागर—(१) कुम्भकभट्ट (?) द्वारा। यह नाम कुल्लक या कुल्लूकभट्ट तो नहीं है? (२) कुल्लूकभट्ट द्वारा। दे० प्रक० ८८। (३) नारायण आरड द्वारा। लेखक के गृह्याग्निसार में व०। १६५० ई० के पश्चात्।

श्राद्धसार—(१) नृसिंहप्रसाद का एक अंश। विधानपारिजात में व०। (२) कमलाकर द्वारा।

श्राद्धसौख्य—टोडरानन्द का अंश। दे० प्रक० १०४।

श्राद्धहेमाद्रि—चतुर्वर्गचिन्तामणि का श्राद्धप्रकरण।

श्राद्धाङ्गतर्पणनिर्णय—रामकृष्ण द्वारा (बड़ोदा, सं० ३०३)।

श्राद्धाङ्गभास्कर—यज्ञदत्त के पुत्र विष्णुशर्मा द्वारा। कर्क पर आधृत। माध्यन्दिनीशाखा के लिए (अलवर, उद्धरण ३५९)।

श्राद्धादर्श—महेश्वर मिश्र द्वारा।

श्राद्धाविविधि।

श्राद्धाविविवेककौमुदी—रामकृष्ण द्वारा।

श्राद्धाधिकार—विष्णुदत्त द्वारा।

श्राद्धाधिकारिनिर्णय—गोपाल न्यायपंचानन द्वारा (नो०, जिल्द ३, पृ० ६०)।

श्राद्धानुक्रमणिका।

श्राद्धापरार्क।

श्राद्धालोक—लक्ष्मण के आचाररत्न में व०। १६०० ई० के पूर्व।

श्राद्धाशौचीयदर्पण—देवराज द्वारा।

श्राद्धेन्दु—अज्ञात (नो०, जिल्द ५, पृ० ९६)।

श्राद्धेन्दुशेखर—नागोजिभट्ट ('काले' उपाधि) द्वारा। दे० प्रक० ११०।

श्राद्धोद्योत—वर्धमान के गंगाकृत्यविवेक में व०। यह मदनरत्न का एक भाग है, ऐसा प्रतीत होता है।

श्राद्धोपयोगिवचन—अनन्त भट्ट द्वारा।

श्रावणकर्मसर्पबलिप्रयोग—एक गृह्य कृत्य।

श्रावणद्वादशी।

श्रावणी—(आश्वलायनीय)।

श्रावणी—(काण्वशाखीय)।

श्रावणीकर्म—(वाजसनेयी)।

श्रावणीकर्म—(हिरण्यकेशी) गोपीनाथ दीक्षित द्वारा।

श्रावणोत्सर्गकर्म।

श्री-आह्निक।

श्रीकरनिबन्ध—हरिनाथ के स्मृतिसार में व०।

श्रीधरसमुच्चय—रघु० के मलमासतत्त्व में व०।

श्रीधरीय—नि० सि० एवं योगपारिजात में व०। दे० प्रक० ८१।

श्रीनिवासदीक्षितीय—कौशिकगोत्र के गोविन्दार्य के पुत्र श्रीनिवास द्वारा। वैखानससूत्र पर (ट्राएनीएल कैट० पाण्डु०, सन् १९१९-२२, पृ० ५१७९)।

श्रीपतिरत्नमाला—समयमयूख में व०।

श्रीपतिव्यवहारनिर्णय—रघु० के तिथितत्त्व में व०। जीवानन्द (जिल्द १, पृ० २१)।

श्रीपतिव्यवहारसमुच्चय—रघु० के संस्कारतत्त्व में व०। सम्भवतः यह उपर्युक्त ही है।

श्रीपतिसमुच्चय—रघु० के ज्योतिस्तत्त्व में व० (जिल्द १, पृ० ५८२)।

श्रीस्थलप्रकाश—तिगलाभट्ट द्वारा। पीटर्सन (५वीं रिपोर्ट, सं० १५४)।

श्रुतिचन्द्रिका।

श्रुतिमीमांसा—नृसिंह वाजपेयी कृत।

श्रुतिमुक्ताफल।

श्रौतस्मार्तकर्मप्रयोग—नृसिंह द्वारा।

श्रौतस्मार्तक्रियापद्धति।

श्रौतस्मार्तविधि—बालकृष्ण द्वारा।

श्लोककात्यायन—अपरार्क में व०।

श्लोककालनिर्णय।

श्लोकगौतम—जीमूत० के कालविवेक, अपरार्क, कालमाधव द्वारा व०।

श्लोकचतुर्दशी—(धर्मानुबन्धी) कृष्णशेष द्वारा। टी० रामपण्डित शेष द्वारा; सरस्वतीभवन माला द्वारा (सं० २२) मुद्रित।

श्लोकतर्पण—लौगाक्षि द्वारा।

श्लोकसंग्रह—९६ श्राद्धों पर।

श्लोकापस्तम्ब—आचारमयूख में व०।

श्वश्रूस्नुषाधनसंवाद—(बर्नेल, तंजौर, पृ० १४३ बी०) इसने निर्णय किया है कि जब व्यक्ति पुत्रहीन मर जाता है तो विधवा एवं माता बराबर-बराबर रिक्थ पा जाती हैं।

श्वासकर्मप्रकाश।

श्वेताश्वदानविधि—कमलाकर द्वारा।

षट्कर्मचन्द्रिका—लक्ष्मणभट्ट के पुत्र चऩ्कूरि तिम्मयज्वा द्वारा। संन्यासी हो जाने पर ले० रामचन्द्राश्रम कहलाया।

षट्कर्मचन्द्रिका—कृष्णपण्डित के सन्ध्याभाष्य में व०।

षट्कर्मदीपिका—अज्ञात। त्र्यम्बक, पार्थिव शिवलिंग की पूजा के कृत्यों का संग्रह (नो०, जिल्द ९, पृ० २७३)।

षट्कर्मदीपिका—मुकुन्दलाल द्वारा।

षट्कर्मविचार—स्मृतिरत्नमहोदधि का एक भाग।

षट्कर्मविवेक—हरिराम द्वारा।

षट्कर्मव्याख्यानचिन्तामणि—नित्यानन्द द्वारा। यजुर्वेद के पाठकों के लिए विवाह एवं अन्य पंचकर्मों के समय प्रयुक्त वाक्यों के विषय में निरूपण। गुणविष्णु पर आधृत (नो०, जिल्द ३, पृ० २७)।

षट्त्रिंशन्मत—दे० प्रक० ५३।

षट्पदी—विट्ठलदीक्षित कृत (सें० प्रा० कैटलाग, सं० ६०२९)।

षट्पारायणविधि।

षडशीति—(या आशौचनिर्णय) कौशिकादित्य (अर्थात् कौशिक गोत्र के आदित्य) द्वारा। प्रथम श्लोक है—'अथानेकर्षिवाक्यानि संगत्यादाय केवलम्। संग्रथ्य कौशिकादित्यो लिखत्याशौचनिर्णयम्॥' जनन-मृत्यु के अशौच पर ८६ श्लोक एवं सूतक, सगोत्राशौच, असगोत्राशौच, संस्काराशौच एवं आशौचापवाद पर ५ प्रकरण। औफ्रेक्ट (२, पृ० ८२) ने भ्रमवश इसे अभिनवषडशीति माना है। टी० अघशोधिनी, लक्ष्मीनृसिंह द्वारा। टी० शुद्धिचन्द्रिका, नन्दपण्डित द्वारा (चौखम्भा सं० सी० द्वारा प्र०)।

षडशीति—यल्लभट्ट द्वारा।

षट्त्रिंशन्मत—स्मृति च० एवं परा० मा० द्वारा व०।

षण्णवतिश्राद्धनिर्णय—गोविन्दसूरि के पुत्र शिवभट्ट द्वारा एक श्लोक में ९६ श्राद्धों का संक्षेप में वर्णन है—'अमायुगमनुक्रान्तिधृतिपातमहालयाः। आन्वष्टक्यं च पूर्वेद्युः षण्णवत्यः प्रकीर्तिताः॥' कमलाकरभट्ट, नीलकण्ठभट्ट, दीपिकाविवरण, प्रयोगरत्न, श्राद्धकलिका, कलिकाविवरण (विश्वरूपाचार्यकृत) का उल्लेख है। १६५० ई० के पश्चात्।

षण्णवतिश्राद्धपद्धति—रामेश्वर के पुत्र माधवात्मज रघुनाथ द्वारा। नारायणभट्ट को अपना चाचा कहा गया है। १५५०-१६२५ ई० के लगभग।

षण्णवतिश्राद्धप्रयोग।

षष्टिपूर्तिशान्ति—(६० वर्ष पूर्ण होने पर कृत्य) बर्नेल (तंजौर, पृ० १३८ बी, १५१ बी०)।

षोडशकर्मकलापनिर्णय।

षोडशकर्मपद्धति—ऋषिभट्ट द्वारा।

षोडशकर्मपद्धति—गंगाधर द्वारा।

षोडशकर्मप्रयोग—सोलह संस्कारों, यथा—स्थालीपाक, पुंसवन, अनवलोभन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, षष्ठीपूजा, पञ्चगव्य, नामकरण, निष्क्रमण, कर्णवेध, अन्नप्राशन, चौलकर्म, उपनयन, गोदान, समावर्तन, विवाह पर। प्रयोगसार, प्रयोगपारिजात, दीपिका का उ० है। पाण्डु० की तिथि शक सं० १६९५ है (भण्डारकर संग्रह), १५०० ई० के उपरान्त।

षोडशपिण्डदानप्रयोग—अज्ञात। संवत्सरप्रदीप का उ० है। नो० (जिल्द २, पृ० ३१०-३११)।

षोडशमहादानपद्धति—(या दानपद्धति) कार्णाट वंश के मिथिलेश नृसिंह के मन्त्री (खौपालवंशज) रामदत्त द्वारा कुलपुरोहित भवशर्मा की सहायता से प्रणीत। ले० चण्डेश्वर का प्रथम चचेरा भाई था, अतः वह १४वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में था।

षोडशमहादानविधि—रामकृष्ण-पुत्र कमलाकर द्वारा। दे० प्रक० १०६।

षोडशयात्रा।

षोडशसंस्कार—आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार।

षोडशसंस्कार—कमलाकर द्वारा।

षोडशसंस्कार—चन्द्रचूड़ द्वारा। ले० के संस्कारनिर्णय का संक्षिप्त रूप।

षोडशसंस्कारपद्धति—(या संस्कारपद्धति) बीकानेर (पृ० ४६३); आनन्दराम दीक्षित द्वारा।

षोडशसंस्कारप्रयोग।

षोडशसंस्कारसेतु—रामेश्वर द्वारा।

षोडशोपचारपूजापद्धति—(विष्णुपूजा के लिए)।

संवत्सरकल्पलता—व्रजराज (वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलेश के भक्त) द्वारा। भाद्रपद की कृष्णजन्माष्टमी से आरम्भ कर अन्य उत्सवों का विवरण। ड० का० पाण्डु० (सं० २०१ ए, १८८२-८३)।

संवत्सरकृत्य—(संवत्सरकौस्तुभ या संवत्सरदीधिति) अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ का एक भाग। दे० प्रक० १०९।

संवत्सरकृत्यप्रकाश—भास्करशर्मा के यशवन्तभास्कर का एक अंश।

संवत्सरकौमुदी—गोविन्दानन्द द्वारा। दे० प्रक० १०१।

संवत्सरदीधिति—अनन्तदेवकृत स्मृतिकौस्तुभ का एक अंश।

संवत्सरनिर्णयप्रतान—पुरुषोत्तम द्वारा।

संवत्सरप्रकाश।

संवत्सरप्रदीप—शूलपाणि के दुर्गोत्सवविवेक, श्राद्धक्रियाकौमुदी, निर्णयामृत में व० एवं एकादशीतत्त्व (२, पृ० ५१) एवं शुद्धितत्त्व (२, पृ० ३२७) में हलायुधकृत माना गया है। औफ्रेस्ट (१, पृ० ६८१) ने भ्रमवश इसे शूलपाणि कृत माना है। दे० प्रक० ९५। नो० न्यू० (१, पृ० ३९०)।

संवत्सरप्रयोगसार—वन्द्यघटीय जाति के नारायण-पुत्र श्रीकृष्ण भट्टाचार्य द्वारा।

संवत्सरोत्सवकालनिर्णय—निर्भयराम द्वारा।

संवत्सरोत्सवकालनिर्णय—पुरुषोत्तम द्वारा। स्पष्ट है कि यह व्रजराज की पद्धति को स्पष्ट करने के लिए प्रणीत हुआ है। गद्य में, ड० का० पाण्डु० (सं० १७७, १८८४-८६)। १७५० ई० के पूर्व।

संवर्तस्मृति—दे० प्रक० ५५। जीवानन्द (भाग १, पृ० ५८४-६०३) एवं आनन्दाश्रम (पृ० ४११-४२४) द्वारा प्रका०।

संस्कर्तृक्रम—वैद्यनाथ द्वारा। सम्भवतः स्मृतिमुक्ताफल का एक अंश।

संस्कारकमलाकर—(या संस्कारपद्धति) कमलाकर द्वारा। दे० प्रक० १०६ (बी० बी० आर० ए० ए स्०, पृ० २३६ एव इडि० आ०, पृ० ५१४)।

संस्कारकल्पद्रुम—सुखशंकर शुक्ल के पुत्र जगन्नाथ शुक्ल द्वारा। गणेशपूजन, संस्कार एवं स्मार्तविधान नामक तीन काण्डों में। पारस्करगृह्य के भाष्य (वासुदेव कृत) का उ० है। २५ संस्कारों के नाम आये हैं। अल्वर (उद्धरण ३६४)।

संस्कारकौमुदी—वल्लभभट्ट के पुत्र गिरिभट्ट द्वारा।

संस्कारकौस्तुभ—(या संस्कारदीधिति) अनन्तदेव के स्मृतिकौस्तुभ का अंश। दे० प्रक० १०९ (मराठी अनुवाद के साथ निर्णय० एवं बड़ोदा में प्रका०)।

संस्कारगंगाधर—(या धरी) गंगाधर दीक्षित द्वारा। गर्भाधान, चौल, व्रतबन्ध, वेदव्रतचतुष्टय, केशान्त, व्रतविसर्ग, विवाह संस्कारों पर। ड० का० पाण्डु० (सं० ६१०, १८८२-८३)।

संस्कारगणपति—पारस्करगृह्यसूत्र पर रामकृष्ण द्वारा टी०। दे० 'पारस्करगृह्य'।

संस्कारचन्द्रचूडी—चन्द्रचूडकृत। देखिए 'संस्कारनिर्णय'

संस्कारचिन्तामणि—काशी के रामकृष्ण द्वारा (सें० प्रा०, सं० ६०७३)। सम्भवतः यह संस्कारगणपति ही है।

संस्कारतत्त्व—रघु० द्वारा। दे० प्रक० १०२। टी० कृष्णनाथ द्वारा।

संस्कारदीधिति—दे० संस्कारकौस्तुभ।

संस्कारदीधिति—बनारस में मुद्रित।

संस्कारनिर्णय—(१) धर्मभट्ट के पुत्र उमण्णभट्टात्मज चन्द्रचूडभट्ट द्वारा। गर्भाधान से आगे के संस्कारों का वर्णन है। ज्योतिर्निबन्ध, माधवीय, हरदत्त एवं सुदर्शन (आपस्तम्ब पर) तथा प्रयोगरत्न का उ० है। एक पाण्डु० (इण्डि० आ०, पृ० ९८, सं० ४६७) की तिथि है शक संवत् १६०७ (१६८५ ई०)। १५७५-१६५० ई० के बीच। (२) रामभट्ट के पुत्र तिप्याभट्ट ('गह्वर' उपाधिधारी) द्वारा। आश्वलायनों के लिए। १७७६ ई० में लेखक ने आश्वलायनश्रौतसूत्र पर संग्रहदीपिका लिखी। (३) नन्दपण्डित द्वारा; स्मृतिसिन्धु का एक अंश। दे० प्रक० १०५।

संस्कारनृसिंह—नरहरि द्वारा (से० प्रा०, सं० ६०७६)। बनारस में सन् १८९४ में मु०।

संस्कारपद्धति—सखाराम के पुत्र अमृतपाठक द्वारा (माध्यन्दिनीयों के लिए)। हेमाद्रि, धर्माब्धिसार, प्रयोगदर्पण, प्रयोगरत्न, कौस्तुभ, कृष्णभट्टी, गदाधर का उ० है।

संस्कारपद्धति—आनन्दराम याज्ञिक द्वारा।

संस्कारपद्धति—कमलाकर द्वारा। दे० 'संस्कारकमलाकर'।

संस्कारपद्धति—राम के पुत्र गंगाधरभट्ट द्वारा। दे० 'संस्कारगंगाधरी'।

संस्कारपद्धति—भवदेव द्वारा। यह छन्दोगकर्मानुष्ठानपद्धति ही है। दे० प्रक० ७३। टी० रहस्य, रामनाथ द्वारा। शक संवत् १५४४ (१६२२-२३ ई०)। नो० (६, पृ० २३७-२३८)।

संस्कारपद्धति—शिग्य द्वारा।

संस्कारप्रकाश—(१) प्रतापनारसिंह का एक भाग। (२) मित्रमिश्ररचित वीरमित्रोदय का एक भाग।

संस्कारप्रदीप।

संस्कारप्रदीपिका—विष्णुशर्मा दीक्षित द्वारा।

संस्कारप्रयोग।

संस्कारभास्कर—(१) मयूरेश्वर अयाचित के पुत्र खण्डभट्ट द्वारा। कर्क एवं गंगाधर पर आधृत। संस्कारों को ब्राह्म (गर्भाधान आदि) एवं दैव (पाकयज्ञ आदि) में बाँटा गया है। ड० का० (सं० ६११, १८८२-८३)। (२) विश्वनाथ के पुत्र ऋषिबुध (या-भट्ट, उपाधि शौच या शौचे) द्वारा। वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा मु०। कर्क, वासुदेव, हरिहर (पारस्करगृह्य पर) पर आधृत; प्रयोगदर्पण का उ० है। बी० बी० आर० ए० एस्० (२, पृ० २३६, सं० ७३९)।

संस्कारमंजरी—नारायण द्वारा। यह ब्रह्मसंस्कारमंजरी ही है।

संस्कारमयूख—(१) नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०७। कई पाण्डु० में यह लेखक के पुत्र द्वारा प्रणीत माना गया है। गुजराती प्रेस एवं जे० आर० घरपुरे द्वारा मु०। (२) इसका नाम संस्कारभास्कर भी है, जो शंकर के पुत्र दामोदरात्मज सिद्धेश्वर द्वारा रचित है। ले० नीलकण्ठ का भतीजा था। १६३०-१६७० ई० के बीच में। २५ संस्कारों पर। अन्त में गोत्रों एवं प्रवरों की एक पूर्ण सूची दी हुई है।

संस्कारमार्तण्ड—मार्तण्ड सोमयाजी द्वारा। स्थालीपाक एवं नवग्रह पर दो अध्याय हैं। मद्रास में मुद्रित।

संस्कारमुक्तावली—तानपाठक कृत।

संस्काररत्न—नारायण के पुत्र हरिभट्ट-सुत खण्डेराय द्वारा। ले० के कृत्यरत्न में व०। १४०० ई० के पश्चात्। विदर्भराज उसके वंश के आश्रयदाता थे।

संस्काररत्न—मणिराम के अनूपविलास या धर्माम्भोधि से।

संस्काररत्नमाला—(१) गोपीनाथभट्ट द्वारा, आनन्दाश्रम प्रेस एवं चौखम्भा द्वारा मुद्रित। (२) नागेशभट्ट द्वारा।

संस्काररत्नाकर—(पारस्करीय)।
संस्काररत्नावलि—प्रतिष्ठानवासी, कण्वशाखा वाले सिद्धभट्ट के पुत्र नृसिंहभट्ट द्वारा।
संस्कारवादार्थ—जातकर्म आदि संस्कारों के सम्यक् कालों पर। नो० (जिल्द १, पृ० १५०)।
संस्कारविधि—(या गृह्यकारिका) रेणुक द्वारा।
संस्कारवीचि—शेषनृसिंह द्वारा संगृहीत गोविन्दार्णव का एक अंश।
संस्कारसागर—नारायणभट्ट द्वारा (स्थालीपाक पर)।
संस्कारसार—नृसिंहप्रसाद का एक अंश। दे० प्रक० ९९।
संस्कारसौख्य।
संस्कारामृत—दामोदर के पुत्र सिद्धेश्वर द्वारा। दे० 'संस्कारमयख'। अपने पिता के द्वैतनिर्णयपरिशिष्ट का उल्लेख किया गया है।
संस्कारोद्द्योत—दिनकरोद्द्योत का एक अंश।
संस्थापद्धति—(या संस्थावैद्यनाथ) केशव के पुत्र, रत्नेश्वरात्मज वैद्यनाथ द्वारा। चार मानों में। अलवर (उद्धरण ६३)। कात्यायनगृह्य के मतानुसार आवसथ्य अग्नि में किये जाने वाले कृत्यों पर।
संहितादीप—सिद्धेश्वर के संस्कारमयूख में व०।
संहिताप्रदीप—नि० सि० में व०। ज्योतिष पर एक ग्रन्थ।
संहितासारावलि—संस्कारमयूख में व०।
संहिताहोमपद्धति—भैरवभट्ट द्वारा (बड़ोदा, सं० ३३५)।
सकलकर्मचिन्तामणि।
सकलदानफलाधिकार।
सकलदेवताप्रतिष्ठा।
सकलपुराणसमुच्चय—अल्लाड़नाथ द्वारा व०।
सकलप्रमाणसंग्रह।
सकलशान्तिसंग्रह।
सङ्क्रमततिथिनिर्णय।
संकल्पकौमुदी—रामकृष्ण कृत। नो० (जिल्द ४, पृ० २२२-२३)।
संकल्पचन्द्रिका—रघुनन्दन कृत। नो० (पृ० १६६)।
संकल्पश्राद्धप्रयोग।
संकल्पस्मृतिदुर्गभञ्जन—नवद्वीप के चन्द्रशेखर शर्मा द्वारा। सभी काम्य कृत्यों के आरम्भ में किये जाने वाले संकल्पों के विषय में। तिथि, मास, काम्यकर्मणि संकल्प, व्रत आदि चार भागों में विभाजित। नो० (जिल्द २, पृ० ३२९-३३०)।
संकष्टहरचतुर्थीव्रतकालनिर्णय।
संकेतकौमुदी—(सम्भवतः केवल ज्योतिषग्रन्थ) शम्भुनाथाचार्य द्वारा।
संकेतकौमुदी—शिव द्वारा।
संकेतकौमुदी—हरिनाथाचार्य द्वारा। रघु० द्वारा ज्योतिस्तत्त्व में व०।
संक्रान्तिकौमुदी—सिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य द्वारा; पाण्डु० (नो०, जिल्द ८, पृ० १९८) शक संवत् १५४० (१६१८ ई०)।
संक्रान्तिनिर्णय—गोपाल शर्मन्यायपंचानन द्वारा; ३ भागों में।
संक्रान्तिनिर्णय—बालकृष्ण द्वारा।
संक्रान्तिनिर्णय—स्मृतिमुक्ताफल का एक भाग।
संक्रान्तिनिर्णय—अज्ञात; भीमपराक्रम, दीपिका, कृत्यचिन्तामणि का उ० है।
संक्रान्तिविवेक—शूलपाणि कृत। दे० प्रक० ९५, नो० (जिल्द ६, पृ० २०५)।
संक्रान्तिव्यवस्थानिर्णय—अज्ञात। नो० (जिल्द २, पृ० ३१३)।
संक्रान्तिशान्ति।
संक्रान्त्युद्यापन।
संक्षिप्तनिर्णयसिन्धु—चैत्र से फाल्गुन तक के धार्मिक कृत्य का संक्षिप्त विवेचन। स्पष्ट है कि यह नि० सि० पर आधृत है। पाण्डु० (बीकानेर, पृ० ४५४) की तिथि १५१४ (१५९२ ई०) भ्रामक ढंग से पढ़ी गयी है (यदि कमलाकरकृत नि० सि० की ओर संकेत है)।
संक्षिप्तशास्त्रार्थपद्धति।
संक्षिप्तसार—रघु० के एकादशीतत्त्व में व०।

संक्षिप्तहोमप्रकार—रामभट्ट द्वारा।

संक्षिप्ताह्निकपद्धति—दुर्गादित्त के पुत्र चण्डीदास द्वारा। (कश्मीर के रणवीरसिंह की इच्छा से लिखित)।

संक्षेपतिथिनिर्णयसार—हरिजित् के पुत्र गोकुलजित् द्वारा। सन् १६३३ ई०।

संक्षेपपूजापद्धति—अलवर (सं० १५१३)।

संक्षेपसिद्धिव्यवस्था।

संक्षेपाह्निकचन्द्रिका—दिवाकरभट्ट द्वारा। दिवाकर की आह्निकचन्द्रिका के समान।

संख्यापरिमाणसंग्रह—केशवकवीन्द्र द्वारा। बनारस में लिखित। ले० तीरभुक्ति (आधुनिक तिरहुत) के राजा की परिषद् का मुख्य पण्डित था। स्मृति-नियमों के लिए तौल, संख्या एवं मात्राओं (यथा—दातुन की लम्बाई, ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत के सूतों की संख्या) पर। नो० (जिल्द ५,पृ० १६१-१६२)।

संग्रह—(स्मृतिसंग्रह)—दे० प्रक० ५४।

संग्रहचिन्तामणि—से० प्रा० (सं० ६१५३)।

संग्रहवैद्यनाथीय—वैद्यनाथ द्वारा।

संग्रामसाहीय—दे० दिवेकदीपक।

सच्चरितपरित्राण—वाधूल गोत्र के वीरराघव द्वारा। वैष्णवों के कर्तव्यों पर। स्मृतिरत्नाकर का उल्लेख हुआ है।

सच्चरितरक्षा—शंखचक्र धारण, ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण एवं भगवन्निवेदितोपयोग (३ प्रकरणों में)।

सच्चरितरक्षा—रामानुजाचार्य द्वारा। टी० सच्चरित-सारदीपिका, ले० द्वारा।

सच्चरितसुधानिधि—वीरराघव (नैध्रुव) द्वारा। ले० ने नाथ, राममिश्र, यामुनमुनि, रामानुज, रंगराज, वेदान्तदेशिक, परांकुश, श्रीनिवास आदि विशिष्टाद्वैतवादी गुरुओं को प्रणाम किया है।

सच्छूद्राह्निक।

सज्जनवल्लभा—जयराम द्वारा। पारस्करगृह्यसूत्र पर एक टी०। महादेव के मुहूर्तदीपक में व०।

सत्कर्मकल्पद्रुम।

सत्कर्मचन्द्रिका।

सत्कर्मचिन्तामणि।

सत्कर्मदर्पण।

सत्क्रियाकल्पमंजरी—(मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु०, जिल्द ५, पृ० २२१२; जिल्द ६, पृ० २३०८)।

सत्क्रियासारदीपिका—गोपालभट्ट द्वारा (वैष्णवों के लिए)। ले० ने हरिभक्तिविलास भी लिखा है। १५००-१५६५ ई० के लग०। भवदेव, अनिरुद्ध, भीम, गोविन्दानन्द एवं नारायण के नाम आते हैं।

सत्यव्रतस्मृति—जीमूत० के कालविवेक अपरार्क, स्मृतिच०, श्राद्धतत्त्व द्वारा व०।

सत्सम्प्रदायप्रदीपिका—(या सम्प्रदायप्रदीप) प्रमुख वैष्णव आचार्यों का विवरण।

सत्सम्प्रदायप्रदीपिका—गदाधर द्वारा।

सत्स्मृतिसार—जानकीराम सार्वभौम द्वारा। तिथि, प्रायश्चित्त आदि पर। नो० न्यू० (जिल्द २, पृ० २१०)।

सदाचार।

सदाचारक्रम—रामपति द्वारा।

सदाचारक्रम—वसिष्ठ द्वारा लिखित कहा गया है।

सदाचारचन्द्रिका—ड० का० पाण्डु० (सं० १०८; १८६९-७०) संवत् १७८७ माघ (अर्थात् फरवरी १७३१ ई०) में उतारी गयी। कृष्णभक्ति पर। रूपगोस्वामी, सनातनगोस्वामी, रामार्चनचन्द्रिका, हरिभक्तिविलास टीका, हरिभक्तिसुधोदय एवं इसकी टीका का उ० है।

सदाचारचन्द्रोदय—दे० आचारचन्द्रोदय (उप० माधव-प्रकाश)।

सदाचारनिर्णय—अनन्तभट्ट द्वारा।

सदाचारप्रकरण—शंकराचार्य द्वारा (योगियों के लिए)।

सदाचाररहस्य—दाईभट्ट के पुत्र अनन्तभट्ट द्वारा; जयसिंह के पुत्र अमरेशात्मज संग्रामसिंह की इच्छा से बनारस में प्रणीत। ल.ग० १७१५ ई० (दे० स्टीन, पृ० ३१७-३१८)।

सदाचारविवरण—शंकर द्वारा।

सदाचारसंग्रह—गोपाल न्यायपचानन द्वारा।

सदाचारसंग्रह—वेंकटनाथ द्वारा। दे० 'स्मृतिरत्नावलि'।

सदाचारसंग्रह—नीलकण्ठ-पुत्र शंकरभट्ट द्वारा (इण्डि० आ०, पृ० ५९०, सं० १८००)। सम्भवतः एक कल्पित अथवा कपट-ग्रन्थ। नो० (जिल्द १, पृ० १०३) में लेखक नाम नहीं है, किन्तु प्रथम श्लोक इण्डि० आ० (पृ० ५९०) के समान ही है।

सदाचारसंग्रह—श्रीनिवास पण्डित द्वारा; तीन काण्डों में, आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त पर।

सदाचारसमृद्धि।

सदाचारस्मृति—आनन्दतीर्थ द्वारा। ४० श्लोकों में। टी०, मध्व के शिष्य नृहरि द्वारा, बड़ोदा (सं० १८८४)। टी० रामाचार्य द्वारा (बड़ोदा, सं० २६१९)।

सदाचारस्मृति—विश्वनाथ-पुत्र नारायण पण्डित द्वारा। बीकानेर (पृ० ४४९, यहाँ ग्रन्थ का नाम 'सदाचार-स्मृतिटीका' है। स्टीन (पृ० १०७)।

सदाचारस्मृति—राघवेन्द्र यति द्वारा। आह्निक पर। से० प्रा० (पृ० ६१९३)।

सदाचारस्मृति—श्रीनिवास द्वारा (से० प्रा०, ६१९२)।

सदाचारस्मृतिव्याख्याक्षीरसिन्धु—बड़ोदा (सं० १८२०) प्रयोगपारिजात का उ० है।

सद्धर्मचन्द्रोदय—अहल्याकामधेनु में व०।

सद्धर्मचिन्तामणि—आचारमयूख में व०।

सद्धर्मतत्त्वाख्याह्निक—मथुरा के गंगेश-पुत्र हरिप्रसाद द्वारा। ६२ श्लोकों में। ले० ने आचारतत्त्व भी लिखा।

सद्वृत्तरत्नमाला।

सनत्कुमारसंहिता—त्रिस्थलीसेतु एवं नि० सि० में व०।

सन्तानदीपिका—सन्तानहीनता के ज्योतिष्-कारण बताये गये हैं।

सन्तानदीपिका—केशव द्वारा।

सन्तानदीपिका—महादेव द्वारा।

सन्तानदीपिका—हरिनाथाचार्य द्वारा।

संदर्भसूतिका—हारलता पर टीका।

सन्ध्याकारिका—लीळाधर के पुत्र सर्वेश्वर द्वारा।

सन्ध्यात्रयभाष्य—परशुराम द्वारा (बड़ोदा, ६४६३); द्विजकल्पलता नाम भी है।

सन्ध्यादि ब्रह्मकर्म।

सन्ध्यानिर्णय।

सन्ध्यानिर्णयकल्पवल्ली—रामपण्डित एवं लक्ष्मी के पुत्र कृष्णपण्डित द्वारा। चार गुच्छों में। हुल्श (सं० ४४२, पृ० ८०)।

सन्ध्यापद्धति—रघु० के आह्निकतत्त्व में व०।

सन्ध्याप्रयोग—नो० (जिल्द १०, पृ० ३४३)।

सन्ध्यारत्नप्रदीप—आशाधर भट्ट द्वारा। तीन किरणों में। बड़ोदा (सं० २९)।

सन्ध्यावन्दनभाष्य—(या सन्ध्याभाष्य) आनन्दतीर्थ द्वारा।

संध्यावन्दनभाष्य—राघवदैवज्ञ के पुत्र कृष्णपण्डित द्वारा। चार अध्यायों में। बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २३७)।

सन्ध्यावन्दनभाष्य—रामभट्ट एवं लक्ष्मी के पुत्र तथा मुकुन्दाश्रम एवं कृष्ण के शिष्य कृष्णपण्डित द्वारा। हुल्श (पृ० ५८)। इसे संध्यावन्दनपद्धति भी कहा जाता है। आनन्दाश्रम प्रेस में मुद्रित।

संध्यावन्दनभाष्य—चिन्नयार्य एवं कामाम्बा के पुत्र चौण्डपार्य द्वारा। आश्वलायनीयों के लिए। भानु के पुत्र चामुण्डि की प्रार्थना पर प्रणीत।

संध्यावन्दनभाष्य—तिर्मलयज्वा (या तिरुमल०) द्वारा।

संध्यावन्दनभाष्य—नारायणपण्डित द्वारा। ले० ने ६० ग्रन्थ लिखे हैं।

संध्यावन्दनभाष्य—महादेव के शिष्य रामाश्रमयति द्वारा। बनारस में शक १५७४ (१६५२-५३ ई०) में प्रणीत।

संध्यावन्दनभाष्य—विद्यारण्य द्वारा (ऋग्वेदी संध्या एवं तैत्तिरीय संध्या पर)।

संध्यावन्दनभाष्य—वेंकटाचार्य द्वारा (ऋक्संध्या पर)।

संध्यावन्दनभाष्य—नृसिंह के शिष्य व्यास द्वारा। स्टीन (पृ० २५६)।

संध्यावन्दनभाष्य—शंकराचार्य (?) द्वारा।

संध्यावन्दनभाष्य—शत्रुघ्न द्वारा। अलवर (सं० १५१४)।

संध्यावन्दनभाष्य—श्रीनिवासतीर्थ द्वारा।

संध्यावन्दनमन्त्र—विभिन्न वेदों के अनुयायियों के लिए इस नाम के कई ग्रन्थ हैं।

संध्यामन्त्रव्याख्या ब्रह्मप्रकाशिका—भट्टोजि के शिष्य वनमाली मिश्र द्वारा। स्टीन (पृ० २५६)। लग० १६५० ई०।

संध्यारत्नप्रदीप—आशाधरभट्ट द्वारा। बड़ोदा (सं० २९)।

संध्यावन्दनविवरण—द्विजकल्पलता से।

संध्याविधिमन्त्रसमूहटीका—रामानन्दतीर्थ द्वारा।

संध्यासूत्रप्रवचन—हलायुध द्वारा।

संन्यासकर्मकारिका।

संन्यासग्रहणपद्धति—जनार्दनभट्ट के पुत्र आनन्दतीर्थ द्वारा।

संन्यासग्रहणपद्धति—शंकराचार्य द्वारा।

संन्यासग्रहणपद्धति—शौनककृत कहा गया है।

संन्यासग्रहणरत्नमाला—भीमाशंकरशर्मा द्वारा (बड़ोदा, १२३०५)।

संन्यासग्राह्यपद्धति—(संन्यासप्रयोग या सप्तसूत्री) शंकराचार्यकृत कहा गया है। संन्यास-ग्रहण के समय के कृत्यों पर।

संन्यासदीपिका—अग्निहोत्री गोपीनाथ द्वारा (बड़ोदा, १००५७)।

संन्यासदीपिका—नृसिंहाश्रम के शिष्य सच्चिदानन्दाश्रम द्वारा। अलवर (उद्धरण ३६३)।

संन्यासधर्मसंग्रह—अच्युताश्रम द्वारा।

संन्यासनिर्णय—वल्लभाचार्य द्वारा (पद्य में)। टी० लेखक ारा। टी० विवरण, पीताम्बर के पुत्र पुरुषोत्तम द्वारा। ड० का० (सं० १७५, १८८४-८६)। टी० विट्ठलदीक्षित के शिष्य रघुनाथ द्वारा। बी०बी० आर० ए० एस्० (भाग २, पृ० ३२७)। टी० विट्ठलेश द्वारा।

संन्यासनिर्णय—पुरुषोत्तम द्वारा।

संन्यासपदमंजरी—वरदराजभट्ट द्वारा।

संन्यासपद्धति—नि० सि० एवं श्राद्धमयूख में वर्णित।

संन्यासपद्धति—अच्युताश्रम द्वारा।

संन्यासपद्धति—माध्व मत (१११९-११९९ ई०) के संस्थापक आनन्दतीर्थ द्वारा। स्टीन (पृ० ३१८)।

संन्यासपद्धति—निम्बार्कशिष्य द्वारा।

संन्यासपद्धति—ब्रह्मानन्दी द्वारा। बड़ोदा (संख्या १६७६) की संन्यासपद्धति ब्रह्मानन्दीय पद्धति के अनुसार है।

संन्यासपद्धति—रुद्रदेव द्वारा (प्रतापनारसिंह से उद्धृत)।

संन्यासपद्धति—शंकराचार्यकृत मानी गयी है (इ० आ० पृ० ५२१, संख्या १६४२)।

संन्यासपद्धति—शौनककृत मानी गयी है, नो० (भाग २, पृ० १०१)।

संन्यासभेदनिर्णय।

संन्यासरत्नावलि—पद्मनाभ भट्टारक द्वारा (माध्व सिद्धान्तों के अनुसार)।

संन्यासरीति।

संन्यासवरण—वल्लभाचार्य द्वारा। नो० (भाग १०, पृ० १७८)।

संन्यासविधि—विष्णुतीर्थ द्वारा (बड़ोदा, ८५१२)।

संन्यासाह्निक।

संन्यासिपद्धति—(वैष्णवों के लिए) इण्डिया आ० (पृ० ५२३)।

संन्यासिमरणोत्तरविधि—स्टीन (पृ० १०७)।

संन्यासिसंध्या।

संन्यासिसमाराधन।

संन्यासिसापिण्ड्यविधि—वेदान्तरामानुज तातदास द्वारा। संन्यासी पुत्र द्वारा अपने पिता के सपिण्डीकरण पर।

सन्मार्गकण्टकोद्धार—कृष्णतात द्वारा (प्रपन्न के सपिण्डीकरण की आवश्यकता पर)।

सन्मार्गकण्टकोद्धारखण्डन—मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डुलिपि (भाग ६, पृ० २३१४, सं० ३०९३)।

सपिण्डनिर्णय।

सपिण्डीकरण।

सपिण्डीकरणखण्डन।

सपिण्डीकरणविधि।

सपिण्डीकरणश्राद्ध।

सपिण्डीकरणान्तकर्म।

सपिण्डीकरणान्वष्टका।

सपिण्डीश्राद्ध—रघुवर द्वारा (से० प्रा०, सं० ६२२१)।

सप्तपाकयज्ञभाष्य।

सप्तपाकयज्ञशेष—चार प्रश्नों में विभक्त, प्रत्येक प्रश्न अध्यायों में विभक्त। नो० (भाग २, पृ० १२२-१२५)।

सप्तपाकसंस्थाविधि—महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा। श्रवणाकर्म, सर्पबलि, आश्वयुजी, आग्रयण, अष्टका एवं पार्वणश्राद्ध पर। हेमाद्रि एवं कौस्तुभ के नाम आये हैं।

सप्तमठाम्नायिक—देखिए मठाम्नायादिविचार।

सप्तर्षिमत—(-या स्मृति) नि० सि० में वर्णित।

सप्तर्षिसंमतस्मृति—३६ पदों में (इ० आ०, पृ० ४०२), सात ऋषि हैं—नारद, वसिष्ठ, कौशिक, पैंगल, गर्ग, कश्यप एवं कण्व।

सप्तर्षिस्मृतिसंग्रह।

सप्तव्यसनकथासमुच्चय—सोमकीर्ति आचार्य द्वारा, (नो०, ८, पृ० १४४)।

सप्तसंस्थाप्रयोग—विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदीक्षित, उप० यज्ञोपवीत द्वारा।

सप्तसंस्थाप्रयोग—महादेव के पुत्र बालकृष्ण द्वारा।

सप्तसंस्था-प्रयोग—अनन्तदेव के राजधर्मकौस्तुभ से उद्धृत।

सप्तसंस्थाप्रयोग—नारायणभट्ट के प्रयोगरत्न से।

सप्तसूत्रसंन्यासपद्धति—संन्यास-ग्रहण करने एवं दशनामी संन्यासियों (तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती एवं पुरी) एवं ब्रह्मा से लेकर शंकराचार्य तक के १० महागुरुओं के विषय में। नो० (भाग ६, पृ० २९५)।

सभापति-लक्षण।

समयकमलाकर—कमलाकर द्वारा।

समयकल्पतरु—लक्ष्मणभट्ट के पुत्र पन्तोनीभट्ट द्वारा। देखिए बीकानेर (पृ० ४५१), जहाँ केवल एकादशी-निर्णय का अंश है।

समयनय—दिनकर के पुत्र विश्वेश्वर द्वारा। मराठा राजा शम्भाजी के लिए १६८१ में लिखित।

समयनिर्णय—अनन्तभट्ट द्वारा। नो० (भाग ८, पृ० २०५) शक सं० १६०२ (१६८०-८१) में।

समयनिर्णय—पराशर गोत्र के नारायणात्मज माधव के पुत्र रामकृष्ण द्वारा; प्रतापमार्तण्ड का पाँचवाँ भाग, प्रताप (रुद्रदेव) के आदेश से लिखित। १५००-१५२५ ई० के लगभग।

समयप्रकाश—मुकुन्दलाल द्वारा।

समयप्रकाश—रामचन्द्रयज्वा द्वारा। दे० नो० (भाग ८, पृ० २१३)।

समयप्रकाश—विष्णुशर्मा द्वारा। इन्हें 'स्वराट्सम्राडग्निचित्स्थपतिमहायाज्ञिक' कहा गया है। यह 'कीर्तिप्रकाश' नामक निबन्ध का एक अंश है। गौर कुल में उत्पन्न कनकसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के आदेश से प्रणीत। इसका विरुद है 'कोदण्डपरशुराममानोन्नत, जो मदनसिंह देव के समान है, जिसके आदेश से मदनरत्न का प्रणयन हुआ। सम्भवतः इसी को श्राद्धक्रियाकौमुदी एवं रघु० के मलमासतत्त्व में समयप्रकाश कहा गया है।

समयप्रदीप—विट्ठल दीक्षित द्वारा (से० प्रा०, ६२८४)।

समयप्रदीप—श्रीदत्त द्वारा। दे० प्रक० ८९। टी० जीर्णोद्धार, मधुसूदन ठाकुर द्वारा।

समयप्रदीप—हरिहरभट्टाचार्य द्वारा। तिथि शक १४८१ (शाके महीमंगलवेदचन्द्रसंख्यागते) अर्थात् १५५९-६० ई०)। यह सन्देहास्पद है कि लेखक रघु० का पिता था। नो० (भाग ३, पृ० ५५-५६) एवं बड़ोदा (सं० १०१२०)। इसमें धार्मिक कृत्यों के मुहूर्तों का उल्लेख है।

समयमनोरमा—से० प्रा० (६२८६)।

समयमयूख—(या कालमयूख) नीलकण्ठ द्वारा। दे० प्रक० १०६। घरपुरे द्वारा मुद्रित।

समयमयूख—कृष्णभट्ट द्वारा।

समयरत्न—मणिराम द्वारा।

समयालोक—पद्मनाभभट्ट द्वारा। दे० दुर्गावतीप्रकाश।

समयोद्योत—मदनरत्न का एक भाग।

समयसार—सूर्यदास के पुत्र रामचन्द्र द्वारा। टी० लेखक के भाई भरत द्वारा। स्टीन (पृ० १७४)। टी० सूर्यदास एवं विशालाक्षा के पुत्र शिवदास ारा, इसने लेखक को अपना गुरु माना है। नो० (भाग २, पृ० २०४-२०६)।

समस्तकालनिर्णयाधिकार।

समानप्रवरग्रन्थ—स्टीन (पृ० १०७)।

समावर्तनकालप्रायश्चित्त।

समावर्तनप्रयोग—श्यामसुन्दर ारा।

समुदायप्रकरण—जगन्नाथसूरि द्वारा।

समुद्रकर भाष्य—श्राद्धसूत्र पर; रघु० के आह्निकतत्त्व एवं श्राद्धतत्त्व में वर्णित।

समुद्रयानमीमांसा।

सम्प्रदायप्रदीप—गद द्विवेदी द्वारा, संवत् १६१० (१५५३-४ ई०) में वृन्दावन में प्रणीत; पाँच प्रकरणों में। पुरुषोत्तम, ब्रह्मा, नारद, कृष्णद्वैपायन, शुक से आगत विष्णुभक्ति-परम्परा दी हुई है। इसमें मार्ग के तिरोधान का वर्णन है और तब वल्लभ, उनके पुत्र विटठल, गिरिधर आदि का उल्लेख है जो पुस्तक-प्रणयन के समय जीवित थे। इसमें पाँच बातों का उल्लेख है जिन्हें 'वस्तुपञ्चक' कहा जाता है, जिन पर वल्लभ विश्वास करते थे, यथा—गुरुसेवा, भागवतार्थ, भगवत्स्वरूपनिर्णय, भगवत्सेवा नैरपेक्ष्य। इसमें कुमारपाल, हेमचन्द्र, शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुज एवं निम्बादित्य तथा वल्लभ का, जब कि उनके माता-पिता काशी को ्याग रहे थे, उल्लेख है। ड० कॉ०, सं० १७६ (१८८४-८६)।

सम्बन्धगणपति—हरिशंकर सूरि के पुत्र गणपति रावल द्वारा। इसमें विवाह के शुभ मुहूर्त, विवाह-प्रकारों आदि का वर्णन है। लगभग १६८५ ई०।

सम्बन्धचूडामणि—अज्ञात। विवाह के निषिद्ध सम्बन्धों पर।

सम्बन्धतत्त्व—नि० सि० में उल्लिखित।

सम्बन्धनिर्णय—गोपालन्यायपंचानन भट्टाचार्य द्वारा। सपिण्ड, समानोदक, सगोत्र, समानप्रवर, बान्धव से सम्बन्धित विहित एवं अविहित विवाहों पर।

सम्बन्धप्रदीपिका—विद्यानिधि द्वारा। बड़ोदा (१०-१०६)।

सम्बन्धरहस्य—स्मृतिरत्नावली में वर्णित।

सम्बन्धविवेक—भवदेवभट्ट द्वारा। उद्वाहतत्त्व एवं संस्कारतत्त्व में उल्लिखित। दे० प्रक० ७३।

सम्बन्धविवेक—शूलपाणि द्वारा। रघु० द्वारा शुद्धितत्त्व में व०, संस्कारतत्त्व के परिशिष्ट में भी उल्लेख है। सम्भवतः यह परिशिष्ट भवदेव के ग्रन्थ का ही है।

सम्बन्धव्यवस्थाविकाश—(या उ ाहव्यवस्था)। नो० (भाग ३, पृ० ३३४)। उपर्युक्त उद्वाहव्यवस्था से भिन्न।

सरटपतनशान्ति।

सरला—(गोभिलगृह्य पर भाष्य ?) रघु० के उद्वाह-तत्त्व, एकादशीतत्त्व एवं छन्दोगवृषोत्सर्गतत्त्व में वर्णित।

सरस्वतीदशश्लोकी।

सरस्वतीविलास—उड़ीसा के गजपति कुल के प्रतापरुद्रदेव द्वारा। दे० प्रक० १००।

सरोजकलिका—भास्वत्कविरत्न द्वारा। श्राद्ध, आशौच, शुद्धि, गोत्र पर निबन्ध। मित्र इसे प्राचीन मानते हैं, क्योंकि इसमें किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं है। नो० (भाग ६, पृ० ३९)।

सरोजसुन्दर—(या स्मृतिसार) कृष्णभट्ट द्वारा। अलवर (उद्धरण ३७०)। पीटर्सन का यह कथन भ्रामक है कि सरोजसुन्दर नाम लेखक का है।

सर्पबलि।

सर्वतीर्थयात्राविधि—कमलाकर द्वारा।

सर्वदेवताप्रतिष्ठासारसंग्रह।

सर्वदेवप्रतिष्ठाकर्म।

सर्वदेवप्रतिष्ठाप्रयोग—माधवाचार्य द्वारा। नो० न्यू० (भाग ३, पृ० २१९)।

सर्वदेवप्रतिष्ठाविधि—रामचन्द्रदीक्षित के एक पुत्र द्वारा।

सर्वधर्मप्रकाश—नारायणभट्ट के पुत्र शंकरभट्ट द्वारा। दे० धर्मप्रकाश।

सर्वदेवमूर्तिप्रतिष्ठाविधि।

सर्वधर्मप्रकाशिका—वल्लभकृत। रामभक्ति पर ४२६ श्लोकों में, विभिन्न मासों एवं तिथियों में, मदनोत्सव (चैत्र द्वादशी), आषाढ शुक्ल द्वादशी पर क्षीराब्धि-शयनोत्सव, मुद्राधारणविधि, चातुर्मास्यव्रतविधि जैसे उत्सवों एवं कृत्यों पर। ड० का० पाण्डु० ३३१ (१८८७-९१)।

सर्वपुराणसार—शंकरानन्द द्वारा।

सर्वपुराणार्थ संग्रह—वेंकटराय द्वारा।

सर्वपुराणार्थसंग्रह।

सर्वप्रायश्चित्तप्रयोग—अनन्तदेव द्वारा।

सर्वप्रायश्चित्तप्रयोग—नारायणभट्ट कागलकर के पुत्र शेषभट्टात्मज बालशास्त्री या बालसूरि द्वारा। तुलज के पुत्र तंजौरराज शरभ के अधीन लिखा गया।

सर्वप्रायश्चित्तलक्षण।

सर्वव्रतोद्यापन—अनन्तदेव द्वारा।

सर्वव्रतोद्यापनप्रयोग।

सर्वशान्ति।

सर्वशान्तिप्रयोग—हेमाद्रि का वर्णन है। बीकानेर (पृ० ४५९)।

सर्वशास्त्रार्थनिर्णय—कमलाकर द्वारा। दे० बी० बी० आर० ए० एस्०, पृ० २३८ (सं० ७४४); पाण्डु० की तिथि शक १६३७, बीकानेर (पृ० ४५९)।

सर्वसंस्कारसंग्रह—नि० सि० में वर्णित।

सर्वसारसंग्रह—भट्टोजि द्वारा। १६००-१६५० ई० के बीच में।

सर्वस्मृतिसंग्रह—सर्वक्रतु वाजपेययाजी द्वारा।

सर्वाग्रयणकालनिर्णय।

सर्वाद्भुतशान्ति।

सर्वारिष्टशान्ति।

सर्वोपयुक्तकारिका—अज्ञात; श्राद्ध पर १४ श्लोक। टी० अज्ञात; पाण्डु० भण्डारकर संग्रह में; भट्टोजि के आधार पर।

सहगमनविधि—(या सतीविधान) गोविन्दराजकृत माना गया है। इ० ऑ० (पृ० ५७८, सं० ७७४); ६६ श्लोकों में।

सहगमनश्राद्ध।

सहचारविधि—पति की चिता पर भस्म होती हुई सती के विषय के कृत्य।

सहचारविधि—(या सहगमनविधि) ड० का० पाण्डु० सं० १८३ (१८८४-८६), जिसकी तिथि संवत् १६८६ है।

सहस्रचण्डीविधान—कमलाकर द्वारा।

सहस्रचण्डीविधि—अलवर (१५२८, उद्धरण ३६५)।

सहस्रचण्डीशतचण्डीविधान।

सहस्रचण्ड्यादिविधि—रामकृष्ण के पुत्र कमलाकर द्वारा। अपने ग्रन्थ निर्णयसिन्धु का उल्लेख किया है। नो० (९, पृ० २०३-२०४)। लगभग १६१२ ई०।

सहस्रभोजनविधि—स्टीन (पृ० १०७)।

सहस्रभोजनसूत्रव्याख्या—गम्भीरराय दीक्षित के पुत्र भास्करराय द्वारा (अलवर, उद्धरण २८)। मौलिक सूत्र बौधायन के हैं।

सहानुमरणविवेक—रामचरण न्यायालंकार के पुत्र अनन्तराम विद्यावागीश द्वारा। शुद्धितत्त्व, विवादभगार्णव का उल्लेख है। लग० १८०० ई० (नो०, भाग ७, पृ० २२३)।

सहृदय—हरि द्वारा, आचार पर। नो० (भाग ७, पृ० २८१)।

सांवत्सरिकश्राद्ध।

सांवत्सरिकैकोद्दिष्टश्राद्धप्रयोग—यजुर्वेद के अनुसार। नो० (भाग २, पृ० ६६)।

सागर—बहुत-से ग्रन्थ इस नाम से हैं, यथा—अद्भुत-सागर, दानसागर, स्मृतिसागर।

सागरधर्मामृत।

सागरसंहिता—हेमाद्रि द्वारा वर्णित (२, पृ० ८५२)।

साग्निकविधि—अग्निहोत्रियों के अन्त्येष्टि-कृत्यों के नियमों पर।

सांख्यायनगृह्यसूत्र—दे० शांखायनगृह्यसूत्र।

सांख्यायनगृह्यसंग्रह—वासुदेव द्वारा। दे० शांखायन०. (बनारस संस्कृत माला में प्रकाशित)।

साधनचन्द्रिका—केशवेन्द्र स्वामी द्वारा। वैष्णव कृत्यों पर।

साधनीद्वादशी—बर्नेल का तंजौर कैटलाग (पृ० ११० बी)।

साधारणप्रायश्चित्तसंग्रह।

साधारणव्रतप्रतिष्ठाप्रयोग—यजुर्वेद के अनुसार। नो० (भाग २, पृ० ६३२)।

सापिण्डीमंजरी—नागेश द्वारा।

सापिण्ड्यकल्पलता—(या—लतिका) नीलकण्ठात्मज श्रीपति के पुत्र सदाशिव देव (उप० आपदेव) द्वारा। २४ या २५ पद्यों में; विवाह के लिए सापिण्ड्य पर। लेखक देवालयपुर का था। ड० का० पाण्डु० ६१३ (१८८४-८३) तिथि शक १७६०। लेखक विट्ठल का शिष्य था। ग्रन्थ में आया है कि सपिण्ड का तात्पर्य है शरीर के कणों से सम्बन्ध। दे० नो० न्यू० (भाग ३, भूमिका पृ० ८-९ एवं पृ० २२२) जहाँ श्लोकों की सख्या ३६ कही गयी है। टी० सदाशिव देव के पुत्र रामकृष्ण के पुत्र नारायणदेव द्वारा (सरस्वती भवन द्वारा १९२७ ई० में प्रका०), वह लेखक का पौत्र एव नागेश का शिष्य था, नरसिंह-सप्तर्षि, वीरमित्रोदय, सापिण्ड्यप्रदीप, द्वैतनिर्णय का उल्लेख है।

सापिण्ड्यतत्त्वप्रकाश—रेवाधर के पुत्र धरणीधर द्वारा। बड़ोदा (१२७८३)।

सापिण्ड्यदीपिका—नागेश द्वारा। इसे सापिण्ड्यमंजरी एवं सापिण्ड्यनिर्णय भी कहा जाता है।

सापिण्ड्यदीपिका—(या सापिण्ड्यनिर्णय) श्रीधर भट्ट द्वारा। भण्डारकर संग्रह। प्रवरनिर्णय का उल्लेख है। सम्भवतः इसी का नि० सि० में उल्लेख है। लेखक कमलाकर का चचेरा पितामह था, अतः उसका काल १५२०-१५८० ई० है। ड० का० पाण्डु० (सं० २०८, १८८२-८३) का नाम अनुकल्प सापिण्ड्य-निर्णय है और वहाँ तृतीय कन्या-परिणयन के विषय में श्रीधर के सिद्धान्तों का विवेचन है। ड० का० पाण्डु० (१०९, १८९५-९८) की तिथि १६४७ (१५९० ई०) है।

सापिण्ड्यनिर्णय—नागोजिभट्ट द्वारा। नन्दपण्डित, अनन्तदेव, गोविन्दार्णव, वासुदेवभट्ट के नाम आये हैं। भण्डारकर संग्रह में पाण्डु० की तिथि शक संवत् १७२५ है।

सापिण्ड्यनिर्णय—भट्टोजि द्वारा। ड० का० पाण्डु० (सं० ६२२, १८८३-८४) में आरम्भ का अंश यों है—'अथ सप्तमीपंचमीनिर्णयः'।

सापिण्ड्यनिर्णय—रामकृष्ण द्वारा। से० प्रॉ० (संख्या ६३७८-८०)।

सापिण्ड्यनिर्णय—रामभट्ट द्वारा। बड़ोदा (५०३२)।

सापिण्ड्यनिर्णय—श्रीधरभट्ट द्वारा। व्य० म० द्वारा व०। यह सापिण्ड्यदीपिका ही है। ड० का० पाण्डु० (१२८, १८९५-९८)।

सापिण्ड्यप्रदीप—नागेशकृत। साण्ण्ड्यकल्पलतिका की टीका में व०। घरपुरे द्वारा प्रका०।

सापिण्ड्यमीमांसा—नि० सि० में व०। सम्भवतः यह श्रीधरकृत सापिण्ड्यदीपिका ही है।

सापिण्ड्यविचार—विश्वेश्वर उप० गागाभट्ट द्वारा (बड़ोदा, १९४७)।

सापिण्ड्यविषय—गोपीनाथ भट्ट द्वारा।

सापिण्ड्यसार—रेवाधर के पुत्र धरणीधर द्वारा (बड़ोदा, १२७८४)।

सापिण्ड्यश्राद्धविधि।

सामगव्रतप्रतिष्ठा—रघुनन्दन द्वारा।

सामगवृषोत्सर्गतत्त्व—रघु० द्वारा। दे० ऊपर वृषोत्सर्ग-तत्त्व।

सामगाह्निक—दे० छन्दोगाह्निक।

सामगृह्यपरिशिष्ट—दे० गोभिलगृह्यपरिशिष्ट।

सामगृह्यवृत्ति—रुद्रस्कन्द द्वारा।

सामवेदीयदशकर्म—भवदेव द्वारा। दे० कर्मानुष्ठान-पद्धति (प्रक० ७३) जो भवदेवकृत है।

सामवेदीयसंस्कारपद्धति—देवादित्य के पुत्र वीरेश्वर द्वारा। नो० न्यू० (भाग ३, पृ० २२१)। लग० १३०० ई०।

सामान्यक्रमवृत्ति।

सामान्यप्रघट्टक—त्रिस्थलीसेतु का एक अंश।

सामान्यहोमपद्धति।

सायणीय—नि० सि० में व०। सम्भवतः यह सायण की पुस्तक प्रायश्चित्तसुधानिधि है।

सायंप्रातरौपासन।

सारग्राहकर्मविपाक—नागर ब्राह्मण पद्मनाभ-आत्मज के ज्येष्ठपुत्र कान्हरदेव द्वारा प्रणीत। मंगल भूपाल के पुत्र दुर्गसिंह के मन्त्री कर्णसिंह के आश्रय में नन्दपद्रनगर में संवत् १४४० (१३८४ ई०) में प्रणीत। लेखक का कथन है कि उसने मौलगिनृप या मौलिगिनृप के कर्मविपाक पर अपने ग्रन्थ को आधृत किया है जिससे उसने १२०० श्लोक उद्धृत किये हैं। इस ग्रन्थ में ४९०० श्लोक हैं। लेखक ने विज्ञानेश एवं बौधायन से क्रमशः २७६ एवं ५०० श्लोक लिये हैं। ग्रन्थ में ५५ प्रकरण एवं ४५ अधिकार हैं। दे० इ० आ० (पृ० ५७३, सं० १७६७), बड़ोदा (स० ९४५९ एवं ९०८२) एवं भण्डारकर रिपोर्ट (१८८२-८३ पृ० ६३)। दानखण्ड एवं आचारदीपिका के भी उद्धरण हैं। बड़ोदा पाण्डु० संवत् १४९६ (१४३९ ई०) में उतारी गयी थी।

सारमञ्जरी—श्रीनाथकृत छन्दोगपरिशिष्टप्रकाश की टीका।

सारसंग्रह—दे० चाणक्यनीति के अन्तर्गत

सारसंग्रह—मदनपारिजात, सं० कौ० तथा रघु के तिथितत्त्व, दीक्षातत्त्व एवं मलमासतत्त्व में व०।

सारसंग्रह—अज्ञात। शुभाशुभ दिनों पर ८८१ पद्यों में। पाण्डु० (इ० आ०, पृ० ५३५ सं० १६७९) की तिथि १७७४ (१७१७-१८ ई०) है।

सारसंग्रह—मुरारिभट्ट द्वारा।

सारसंग्रह—राघवभट्ट द्वारा। रघु० के मलमासतत्त्व में व०।

सारसंग्रहदीपिका—रामप्रसाददेव शर्मा द्वारा।

सारसंग्रह—शम्भुदास द्वारा।

सारसमुच्चय—हेमाद्रि-दानखण्ड एवं शूलपाणि कृत दुर्गोत्सवविवेक में व०।

सारसागर।

सारार्थचतुष्टय—वरदाचार्य द्वारा।

सारावलि—अपरार्क (पृ० ८७२, त्रिपुष्करयोग पर) द्वारा व०। सम्भवतः ज्योतिष-ग्रन्थ, जो कल्याण वर्मा कृत था, जिसे अल्बरूनी ने वर्णित किया है, अतः तिथि १००० ई० के पूर्व।

सारावलि—दे० स्मृतिसारावलि।

सारासारविवेक।

सारोद्धार—(त्रिशच्छ्लोकीविवरण की टीका) शम्भुभट्ट द्वारा।

सिंहस्थपद्धति—जब बृहस्पति सिंह में रहता है उस समय गोदावरी में स्नान करने के पुण्य पर। नो० (भाग १०, पृ० ३४८)। हेमाद्रि पर आधृत।

सिद्धान्तचिन्तामणि—रघु० द्वारा मलमासतत्त्व में व०।

सिद्धान्तज्योत्स्ना—धनिराम द्वारा (से० प्रा०, ६५२१)।

सिद्धान्ततत्त्वविवेक—कमलाकर द्वारा। दे० तत्त्वविवेक।

सिद्धान्ततिथिनिर्णय—शिवनन्दन द्वारा। से० प्रा० के० (६५२२)।

सिद्धान्तनिर्णय—रघुराम द्वारा।

सिद्धान्तपीयूष—कोलब्रुक के लिए चित्रपति द्वारा लिखित।

सिद्धान्तबिन्दु—श्राद्ध पर (बर्नेल, तंजौर, १४३ बी)।

सिद्धान्तमंजरी—दे० दत्तसिद्धान्तमंजरी।

सिद्धान्तशिरोमणि—मोहनमिश्र द्वारा।

सिद्धान्तशेखर—नारायणभट्ट के प्रयोगरत्न एवं रघु० के मठप्रतिष्ठातत्त्व में व०। सम्भवतः तान्त्रिक ग्रन्थ। १५०० ई० के पूर्व।

सिद्धान्तशेखर—भास्कर के पुत्र विश्वनाथ द्वारा।

सिद्धान्तसन्दर्भ—रघु० द्वारा मलमासतत्त्व में व०।

सिद्धान्तसुधोद्धार—विश्वम्भर के स्मृतिसारोद्धार में व०।

सीमन्तकर्मपद्धति।

सीमन्तनिर्णय।

सुकृत्यप्रकाश—ज्वालानाथ मिश्र द्वारा। आचार, आशौच, श्राद्ध एवं असत्परिग्रह (अनुपयुक्त लोगों से दान ग्रहण) पर। नो० (भाग २, पृ० १३६)।

सुगतिसोपान—देवादित्य के पुत्र गणेश्वर मन्त्री द्वारा। यह चण्डेश्वर के चाचा थे। दे० प्रक० ९०। लेखक ने अपने को महाराजाधिराज कहा है और लिखा है कि वह देवादित्य साधिविग्रहिक (अपने पिता) से सहायता पाता था। रघु० द्वारा शुद्धितत्त्व में एवं द्रधर द्वारा व०। १४वीं शताब्दी के प्रथम चरण के लगभग प्रणीत।

सुज्ञानदुर्गोदय—दिनकर भट्ट के पुत्र विश्वेश्वर, उप० गागाभट्ट द्वारा। १६ संस्कारों पर। १६७५ ई० के लगभग प्रणीत (बीकानेर, पृ० ४७५)।

सुदर्शनकालप्रभा—रामेश्वर शास्त्री द्वारा।

सुदर्शनभाष्य—आपस्तम्बगृह्यसूत्र पर सुदर्शनाचार्य की टीका। भट्टोजि के चतुर्विंशतिमत व्याख्यान में तथा नि० सि० में व०। १५५० ई० के पूर्व। टीका अण्डबिला, ब्रह्मविद्यातीर्थ द्वारा; नि० सि० में व०।

सुदर्शनमीमांसाविवेक—बड़ोदा (४०८५)। वैष्णवों के तप्तचक्रादि पचायुधधारण को मान्य ठहराता है। पाण्डु० की तिथि संवत् १८३४।

सुधीचन्द्रिका।

सुधीमयूख।

सुधीविलोचन—गोपालसूरि के श्राद्धप्रयोग में, प्रयोग-चन्द्रिका एव वैष्णवप्रक्रिया में व०।

सुधीविलोचन—वैदिकसार्वभौम द्वारा।

सुधीविलोचनसार।

सुन्दरराजीय—प्रयोगचन्द्रिका में व०।

सुप्रभा—सिद्धेश्वर के पुत्र अनन्त द्वारा लिखित गोविन्द के कुण्डमार्तण्ड पर एक टीका। १६९२ में प्रणीत।

सुबोधिनी प्रयोगपद्धति—काशी संस्कृत माला में प्रका० (कृष्णयजुर्वेदीया एवं सामवेदीया)।

सुबोधिनी (होमपद्धति)—अनन्तदेव द्वारा। नवग्रहों की शान्ति पर।

सुबोधिनी—(त्रिंशच्छ्लोकी की एक टीका) कमलाकर के पुत्र अनन्त द्वारा। १६१०-१६६० ई०।

सुबोधिनी—महादेव द्वारा।

सुबोधिनी—संजीवेश्वर के पुत्र रत्नपाणिशर्मा द्वारा। मिथिला के रुद्रसिंह के आदेश से लिखित। दस संस्कारों, श्राद्ध एवं आह्निक पर एक स्मृतिनिबन्ध। नो० (६, पृ० ४७)।

सुबोधिनी—विश्वेश्वरभट्ट द्वारा मिताक्षरा पर टीका। दे० प्रक० ९३। व्यवहार प्रकरण एवं अनुवाद घरपुरे द्वारा प्रका०।

सुबोधिनी—(प्रयोगपद्धति) विश्राम के पुत्र शिवराम द्वारा; सामवेद के विद्यार्थियों के लिए। अपनी कृत्यचिन्तामणि का उल्लेख किया है। लगभग १६४० ई०।

सुमन्तुधर्मसूत्र—द० प्रक० २९ एवं ट्राएनिएल कैटलाग, मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० (१९१९-२२, पृ० ५१६०-६२)।

सुमन्तुस्मृति—मिताक्षरा एव अपरार्क द्वारा व०।

सूतकदीपिका—दे० त्रिंशच्छ्लोकी।

सूतकनिर्णय—(पृष्ठ के किनारे 'अष्टकाशौचभाष्य' नाम भी लिखा है)। स्टीन की पाण्डु० (पृ० ३१९) में तिथि संवत् १४६६ (१४०९-१९ ई०) है। "नाम, दन्त, उपनयन से पूर्व त्रिरात्र एवं आप्लव" इत्यादि।

सूतकनिर्णय—लक्ष्मीधर के पुत्र भट्टोजि द्वारा (भण्डारकर संग्रह में) माधव, हरदत्त, त्रिंशच्छ्लोकी का उल्लेख है।

सूतकसार।

सूतकसिद्धान्त—देवयाज्ञिक द्वारा।

सूरसंक्रान्तिदीपिका—जयनारायण तर्कपंचानन द्वारा।

सूरिसन्तोष—रघु० द्वारा एकादशीतत्त्व एवं तिथितत्त्व में उल्लिखित।

सूर्यनमस्कारविधि।

सूर्यप्रकाश—कृष्ण के पुत्र हरिसामन्तराज द्वारा। धर्म-

शास्त्र पर एक बृहत् निबन्ध। बीकानेर (पृ० ४७६) के कैटलाग में केवल व्रतखण्ड ही मिलता है।

सूर्यादिपञ्चायतनप्रतिष्ठापद्धति—भारद्वाज महादेव के पुत्र दिवाकर द्वारा। सूर्य, शिव, गणेश, दुर्गा एवं विष्णु की मूर्ति स्थापना पर।

सूर्यार्घ्यदानपद्धति—महादेवभट्ट द्वारा।

सूर्यार्घ्यदानपद्धति—रामेश्वर के पुत्र माधव द्वारा। लग० १५२०-१५८० ई०।

सूर्यार्णवकर्मविपाक—अलवर (सं० २९३), बम्बई में मुद्रित।

सूर्योदयनिबन्ध—नारायण की धर्मप्रवृत्ति में व०।

सेतुयात्राविधि।

सोदकुम्भश्राद्ध।

सोमनाथीय—नित्तल कुल के सूरभट्ट-पुत्र एवं वेंकटाद्रि-यज्वा के लघु भ्राता सोमनाथभट्ट द्वारा।

सोमवारव्रतोद्यापन।

सोमवारामावास्यव्रतकालनिर्णय।

सोमशेखर—(निबन्ध) रघु० के मलमासतत्त्व में एवं सरस्वतीविलास (मैसूर संस्करण, पृ० ४२२) में व०। दायभाग पर सोमशेखर का उद्धरण है।

सौभाग्यकल्पद्रुम—अच्युत द्वारा (बड़ोदा, १९०३)।

स्त्रीधननिर्णय।

स्त्रीधनप्रकरण।

स्त्रीधर्मकमलाकर—कमलाकरभट्ट द्वारा। विवादताण्डव में व०।

स्त्रीधर्मपद्धति—त्र्यम्बक द्वारा।

स्त्रीपुनरुद्वाहखण्डनमालिका—राघवेन्द्र द्वारा।

स्त्री-शूद्रदिनचर्या।

स्थालीपाक—(आपस्तम्बीय)।

स्थालीपाक—(आश्वलायनीय)।

स्थालीपाकनिर्णय।

स्थालीपाकप्रयोग—(आश्वलायनीय)।

स्थालीपाकप्रयोग—कमलाकर द्वारा। नो० न्यू० (भाग ३, पृ० २३६)।

स्थालीपाकप्रयोग—नारायण द्वारा।

स्थावरप्राणप्रतिष्ठा।

स्थिरलिङ्गप्रतिष्ठा।

स्नानविधिसूत्रपरिशिष्ट—(या स्नानसूत्र या त्रिकण्डिका सूत्र) कात्यायन द्वारा। टी० स्नानसूत्रपद्धति, कर्क द्वारा। टी० स्नानसूत्रदीपिका, महादेव के पुत्र गोपीनाथ द्वारा। टीका की टीका, कृष्णनाथ द्वारा। टी० छाग याज्ञिकचक्रचूडाचिन्तामणि द्वारा। टी० त्रिमल्लतनय (केशव ?) द्वारा। टी० महादेवद्विवेदी द्वारा (नो० भाग ७, पृ० ३०४)। टी० स्नानपद्धति या स्नानविधिपद्धति, याज्ञिकदेव द्वारा। टी० स्नान-सूत्रपद्धति, हरिजीवन मिश्र द्वारा, लेखक का कथन है कि उसने इस ग्रन्थ में अपने भाष्य का आधार लिया है। टी० स्नानव्याख्या एवं पद्धति, अग्निहोत्री हरिहर द्वारा।

स्मार्तकर्मानुष्ठानक्रमविवरण—चण्डूक द्वारा (बड़ोदा, २९६, संवत् १५९३)।

स्मार्तकुतूहल।

स्मार्तगंगाधरी—गंगाधर द्वारा (से० प्रा० संख्या ६७१०)।

स्मार्तदिनमणि—मैसूर गवर्नमेण्ट पाण्डु० (पृ० ७५)।

स्मार्तदीपिका—अज्ञात। आश्वलायन के आधार पर। बर्नेल (तंजौर कैटलाग, १३९ ए)।

स्मार्तपदार्थसंग्रह—गंगाधर की प्रयोगपद्धति से।

स्मार्तपदार्थानुक्रमणिका—द्वैपायनाचार्य द्वारा (बड़ोदा, ६९८६)।

स्मार्तपरिभाषा—कृष्णपण्डित के सन्ध्याभाष्य में व०।

स्मार्तप्रदीपिका—मैसूर गवर्नमेण्ट पाण्डु० (पृ० ७५)।

स्मार्तप्रयोग—त्रोपण्ण भट्ट द्वारा।

स्मार्तप्रयोग—(हिरण्यकेशीय) टीका वैजयन्ती।

स्मार्तप्रयोगकारिका।

स्मार्तप्रायश्चित्त—बालम्भट्ट के पुत्र रामभट्ट-तनूज तिप्पाभट्ट (उप० गह्वर) द्वारा।

स्मार्तप्रायश्चित्तप्रयोग—(या प्रायश्चित्तोद्धार) रामेश्वर के पुत्र महादेवात्मज दिवाकर (उपाधि काल या काले) द्वारा। यह कमलाकरभट्ट के पिता रामकृष्ण

की पुत्री के पुत्र थे। लग० १६६०-१६८० ई०। बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २३८, सं० ७४५)।

स्मार्तप्रायश्चित्तविनिर्णय—वेंकटाचार्य द्वारा।

स्मार्तप्रायश्चित्तोद्धार—यह दिवाकरकृत स्मार्तप्रायश्चित्तप्रयोग एवं प्रायश्चित्तोद्धार ही है।

स्मार्तमार्तण्ड-प्रयोग—मार्तण्ड सोमयाजी द्वारा।

स्मार्तव्यवस्थार्णव—मथुरेश के पुत्र रघुनाथ सार्वभौम द्वारा। शक सवत् १५८३ (१६६१-६२ ई०) में राजा रत्नेश्वरराय के आदेश से प्रणीत। तिथि, संक्रान्ति, आशौच, द्रव्यशुद्धि, अधिकारी, प्रायश्चित्त, उद्वाह एवं दाय नामक प्रकरणों में विभक्त (ड० का०, पाण्डु० स० ३०५, १८८६-९२, तिथि पर, नो० २, पृ० ७६, उद्वाह पर एवं नो० २, पृ० २८४, दाय पर)।

स्मार्तसमुच्चय—देवशर्मा के पुत्र नन्दपण्डित द्वारा। दे० प्रक० १०५। इन्होंने दत्तकमीमांसा को अपना ग्रन्थ माना है।

स्मार्तस्फुटपद्धति—नारायणदीक्षित द्वारा (से० प्रा०, सं० ६७१७)।

स्मार्ताधानपद्धति—गोविन्द द्वारा।

स्मार्ताधानप्रयोग—काश्यपाचार्य के पुत्र पीताम्बर द्वारा (बी० बी० आर० ए० एस्०, पृ० २३९, सं० ७४७)। मदनरत्न का उल्लेख है। दे० धर्मार्णव। १५०० एवं १६७५ ई० के बीच में।

स्मार्तानुष्ठानपद्धति—विश्वनाथ के पुत्र अनन्तभट्ट द्वारा। इसे अनन्तभट्टी भी कहा गया है। दे० प्रयोगरत्न के अन्तर्गत। आश्वलायन के आधर पर (इ० आ० पृ० ५१६)।

स्मार्तोपासनपद्धति—प्रयोगरत्न से।

स्मार्तोल्लास—पुष्करपुर के श्रीनिवास-पुत्र शिवप्रसाद द्वारा (बड़ोदा, ११९५८)। पाण्डु० की तिथि शक १६१०। मदनरत्न, टोडरानन्द का उल्लेख है। १५८०-१६८० ई० के बीच में। आधानकाल, मुहूर्तविचार, अग्निहोत्री के कर्तव्यों एवं रजस्वला धर्म जैसे कठिन विषयों पर।

स्मृतिकदम्ब—कञ्च येल्लुभट्ट द्वारा। हुल्श (सं० ६५७)।

स्मृतिकल्पद्रुम—शुक्ल ईश्वरनाथ द्वारा। टीका लेखक द्वारा, स्टीन, पृ० १०८।

स्मृतिकोशदीपिका—तिम्मणभट्ट द्वारा (बड़ोदा, २००८, केवल आह्निक पर)

स्मृतिकौमुदी—देवनाथ ठक्कुर द्वारा। चातुर्वर्ण्य, आचार, आह्निक, संस्कार, श्राद्ध, आशौच, दायभाग, व्रत, दान एवं उत्सर्ग पर एक निबन्ध (नो०, ५, पृ० २३७)।

स्मृतिकौमुदी—मदनपाल द्वारा। प्रक० ९३ (पृ० ३८३-३८४) इसे शूद्रधर्मोत्पलद्योतिनी भी कहते हैं।

स्मृतिकौमुदी—रामकृष्ण भट्टाचार्य द्वारा। नो० (६, पृ० १४०)।

स्मृतिकौमुदीटीका—कृष्णनाथ द्वारा।

स्मृतिकौस्तुभ—अनन्तदेव कृत। दे० प्रक० १०९। १२ दीधितियों में विभक्त।

स्मृतिकौस्तुभ—वेंकटाद्रि द्वारा। दे० आशौचनिर्णय।

स्मृतिग्रन्थराज—सार्वभौम द्वारा।

स्मृतिचन्द्र—सिद्धेश्वर के संस्कारमयूख में व०।

स्मृतिचन्द्र—हरिहर के पुत्र भवदेव न्यायालंकार द्वारा। १७२०-२२ ई० में प्रणीत। १६ कलाओं में विभाजित, यथा—तिथि, व्रत, संस्कार, आह्निक, श्राद्ध, आचार, प्रतिष्ठा, वृषोत्सर्ग, परीक्षा, प्रायश्चित्त, व्यवहार, गृहयज्ञ, वेश्मभू, मलिम्लुच, दान एवं शुद्धि। श्रीदत्त एवं सवत्सरप्रदीप का उल्लेख है। रघुनन्दन का अनुकरण है।

स्मृतिचन्द्रिका—आपदेव मीमांसक द्वारा। काल, मलमास, व्रत, आह्निक, विवाह एव अन्य संस्कार, स्त्रीधर्म, आश्रमधर्म, अन्त्येष्टि, आशौच, श्राद्ध पर (नो० ६, ३०१)।

स्मृतिचन्द्रिका—कुबेर द्वारा। दत्तकचन्द्रिका में व०।

स्मृतिचन्द्रिका—केशवादित्य भट्ट द्वारा (बीकानेर, ४६५, यह भ्रामक अंकन है, क्योंकि आरम्भिक एवं अन्त के

श्लोकों से पता चलता है कि यह ग्रन्थ देवण्णभट्ट का ही है)।

स्मृतिचन्द्रिका—केशवादित्यभट्ट के पुत्र देवण्णभट्ट द्वारा। दे० प्रक० ८५ (घरपुरे एवं मैसूर गवर्नमेण्ट द्वारा प्रका०)।

स्मृतिचन्द्रिका—वामदेव भट्टाचार्य द्वारा (नो० ९, पृ० १३७)।

स्मृतिचन्द्रिका—वैदिकसार्वभौम द्वारा।

स्मृतिचन्द्रिका—विट्ठलमिश्र के पुत्र शुकदेवमिश्र द्वारा। तिथिनिर्णय, शुद्धि, आशौच, व्यवहार पर (इ० आ०, पृ० ४७१)।

स्मृतिचन्द्रिका—अज्ञात। नो० (८, पृ० १५३)।

स्मृतिचन्द्रोदय—गणेशभट्ट द्वारा (से० प्रा० संख्या ६७२३-२४)।

स्मृतिचरण—भवानीशंकर द्वारा।

स्मृतिचिन्तामणि— गोपीनाथ मिश्र के पुत्र गंगादित्य या गंगाधर द्वारा। कल्पत , कामधेनु, हेमाद्रि, मदनरत्न का उल्लेख है और नृसिंहप्रसाद (इ० आ०, पृ० ४४४ व्यवहार) में वर्णित है। लगभग १४५०-१५००।

स्मृतिचिन्तामणिसंग्रह—ट्राएनिएल कैट०, मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु०, १९१९-२२, पृ० ४९७८, आह्निक पर।

स्मृतिचूडामणि—(या—मणिसंग्रह) वात्स्यगोत्र के वरदाचार्य द्वारा।

स्मृतितत्त्व—रघुनन्दन कृत। यह उनका वह निबन्ध है जिसमें २८ तत्त्व हैं। दे० प्रक० १०२।

स्मृतितत्त्वप्रकाश—श्रीदेव द्वारा।

स्मृतितत्त्वनिर्णय—(या व्यवस्थार्णव) श्रीनाथ आचार्यचूडामणि के पुत्र रामभद्र द्वारा। शूलपाणि का वर्णन है। १५००-१५५० ई० (नो० न्यू०, १, पृ० ४१३)।

स्मृतितत्त्वविवेक—भवेश एवं गौरी के पुत्र एवं मिथिला के भैरवेन्द्र की राजसभा के न्यायमूर्ति वर्धमान महामहोपाध्याय द्वारा। लग० १४५०-१५०० ई०। आचार, श्राद्ध, शुद्धि एवं व्यवहार पर (नो०, भाग ५, पृ० १८४)।

स्मृतितत्त्वसार—बिहार एवं उड़ीसा कैटलाग (भाग १, संख्या ४४०)।

स्मृतितत्त्वामृत—भवेश एवं गौरी के पुत्र वर्धमान द्वारा। नो० (६, पृ० १२) में शान्तिकपौष्टिकांजलि है। नो० (६, पृ० ५७) में तत्त्वामृतसारोद्धार (व्यवहाराञ्जलि) है, अन्तिम पद्यों में वर्धमान का कथन है कि उन्होंने आचार, श्राद्ध, शुद्धि एवं व्यवहार पर चार कुसुम लिखे हैं। अतः स्मृतितत्त्वविवेक एवं स्मृतितत्त्वामृत दोनों एक ही हैं। यह भैरवेन्द्र के पुत्र राम के आदेश से लिखा गया है।

स्मृतिदर्पण—श्राद्धकल्पलता, नृसिंहप्रसाद, शूद्रकमलाकर, विधानपारिजात में व०। १५०० ई० के पूर्व।

स्मृतिदर्पण—बड़ोदा (सं० १०९१६) की पाण्डु० अपूर्ण है। इसमें ३६ स्मृतिकारों, कलिवर्ज्यों का वर्णन है।

स्मृतिदीपिका—वामदेव उपाध्याय द्वारा। श्राद्ध एवं अन्य कृत्यों के कालों पर (भाग ५, पृ० १५७ एवं ७, पृ० १२५)।

स्मृतिदुर्गभंजन—चन्द्रशेखर द्वारा। दे० दुर्गभञ्जन।

स्मृतिनवनीत—रामचन्द्र एवं श्रीनिवास के शिष्य तथा नारसिंह के पुत्र वृषभाद्रिनाथ द्वारा।

स्मृतिनिबन्ध—नृसिंहभट्ट द्वारा। धर्मलक्षण, वर्णाश्रमधर्म, विवाहादिसंस्कार, सापिण्ड्य, आह्निक, आशौच, श्राद्ध, दायभाग, प्रायश्चित्त पर एक बृहत् निबन्ध (नो० ८, पृ० १७४)।

स्मृतिपरिभाषा—वर्धमान महामहोपाध्याय द्वारा। स्मृतिमहार्णव, हरिहरमिश्र के नाम आये हैं। रघु० के एकादशीतत्त्व में व०। लग० १४५०-१५०० ई० के बीच में।

स्मृतिप्रकाश—हरिभट्ट के पुत्र आयाजिभट्ट (या आपाजि—) के पुत्र भास्करभट्ट या हरिभास्कर द्वारा। बीकानेर (पृ० ४६७) में श्राद्ध का अंश।

स्मृतिप्रकाश—वासुदेव रथ द्वारा। कालनिरूपण, संवत्सर, संक्रान्ति पर। माधवाचार्य एवं विद्याकर वाजपेयी का उल्लेख है। १५०० ई० के पश्चात्।

स्मृतिप्रदीप—हेमाद्रि (काल०, पृ० ३५५) द्वारा व०।

स्मृतिप्रदीप—चन्द्रशेखर महामहोपाध्याय द्वारा। तिथि, आशौच, श्राद्ध पर।

स्मृतिप्रदीपिका—दे० चन्द्रशेखर वाचस्पति की धर्मदीपिका।

स्मृतिप्रदीपका—चतुर्विंशतिमत पर अपनी टीका में भट्टोजि द्वारा व०।

स्मृतिप्रामाण्यवाद।

स्मृतिभास्कर—स्मृतिचन्द्रिका, नृसिंह के प्रयोगपारिजात, धर्मप्रवृत्ति, नृसिंहप्रसाद द्वारा व०। मद्रास गवर्नमेण्ट (भाग ५, पृ० २०४३, सं० २७८६-८७) में एक स्मृतिभास्कर के यतिधर्म एवं शूद्रधर्म के अंश हैं।

स्मृतिभास्कर—नीलकण्ठ द्वारा (नो०, भाग ५, पृ० १०८)। आरम्भिक श्लोकों से पता चलता है कि यह नीलकण्ठ का शान्तिमयूख है।

स्मृतिभूषण—केशव के पुत्र कोनेरिभट्ट द्वारा। माध्व अनुयायियों के लिए एक निबन्ध।

स्मृतिमंजरी—कालीचरण न्यायालंकार द्वारा।

स्मृतिमंजरी—गोविन्दराज द्वारा। दे० प्रक० ७६।

स्मृतिमंजरी—रत्नधर मिश्र द्वारा।

स्मृतिमंजरी—अज्ञात (ड० का० पाण्डु० सं० १८४, १८८४-८६, श्राद्ध पर)।

स्मृतिमंजूषा—कालादर्श, स्मृतिसार (हरिनाथकृत) एवं श्रीदत्त के छन्दोगाह्निक में व०। १३०० ई० से पूर्व।

स्मृतिमहाराज—कृष्णराज द्वारा (बड़ोदा, सं० ८०२३)। मदनरत्न का उल्लेख है। गोदान से आरम्भ होकर मूर्तिप्रतिष्ठापन से अन्त होता है। इसे शूद्रपद्धति भी कहा गया है।

स्मृतिमहार्णव—(या स्मृतिमहार्णवप्रकाश) हेमाद्रि द्वारा व०। दे० महार्णव।

स्मृतिमहोदधि—चिदानन्दब्रह्मेन्द्रसरस्वती के शिष्य परमानन्दघन द्वारा।

स्मृतिमीमांसा—जैमिनि द्वारा। अपरार्क (पृ० २०६) द्वारा व०। जीमूतवाहन के कालविवेक, वेदाचार्य के स्मृतिरत्नाकर, हेमाद्रि के व्रतखण्ड एवं परिशेषखण्ड में तथा नृसिंहप्रसाद द्वारा व०।

स्मृतिमुक्ताफल—वैद्यनाथदीक्षित द्वारा। दक्षिण भारत का एक अति प्रसिद्ध निबन्ध। वर्णाश्रमधर्म, आह्निक, आशौच, श्राद्ध, द्रव्य शुद्धि, प्रायश्चित्त, व्यवहार, काल पर। लगभग १६०० ई०।

स्मृतिमुक्ताफलसंग्रह—चिदम्बरेश्वर द्वारा।

स्मृतिमुक्तावली—विजयीन्द्रभट्टात्मज कुमार नृसिंहभट्ट के पुत्र कृष्णाचार्य द्वारा। १० प्रकरणों में।

स्मृतिरत्न—कालादर्श, सं० कौ०, सं० म० (सिद्धेश्वरकृत) द्वारा व०।

स्मृतिरत्न—रघुनाथभट्ट द्वारा। पाण्डु० (नो०, भाग ७, पृ० २५३) की तिथि शक १६९९ है।

स्मृतिरत्नकोश।

स्मृतिरत्नमहोदधि—चिदानन्दब्रह्मेन्द्रसरस्वती के शिष्य श्री परमानन्दघन द्वारा। षट्कर्मविचार, आचार, आशौच आदि पर विवेचन है। माधवीय का उल्लेख है। मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० (पृ० २०५५-५७, संख्या २८०२-४)।

स्मृतिरत्नविवेक—चण्डेश्वर एवं रुद्रधर द्वारा व०। १३०० ई० के पूर्व।

स्मृतिरत्नाकर—तातयार्य द्वारा (बड़ोदा, ९९१९)।

स्मृतिरत्नाकर—ताम्रपर्णाचार्य द्वारा।

स्मृतिरत्नाकर—भट्टोजि द्वारा (प्रायश्चित्त एवं आशौच पर)। दे० मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० (भाग ५, पृ० २०५९, संख्या २८०६)।

स्मृतिरत्नाकर—विदुरपुर के निवासी केशव के पुत्र विट्ठल द्वारा। बर्नेल (तंजौर, पृ० १३३ ए)। स्थान एवं विषयों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह पूर्ववर्ती है।

स्मृतिरत्नाकर—विदुरपुरवासी केशव के पुत्र विष्णुभट्ट द्वारा। आह्निक, १६ संस्कारों, संक्रांति, ग्रहण, दान, तिथि-निर्णय, प्रायश्चित्त, आशौच, नित्यनैमित्तिक पर (ड० का० पाण्डु० सं० ५२, १८६६-६८)। बीकानेर (पृ० ४६७) में पिता का नाम शिवभट्ट लिखा है।

स्मृतिरत्नाकर—सरस्वतीवल्लभात्मज श्रीरंगनाथाचार्य के पुत्र वेंकटनाथ द्वारा। लेखक का उपनाम वैदिक-सार्वभौम है। आह्निक अंश लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण से प्रका०। विज्ञानेश्वर, स्मृतिच०, अखण्डादर्श, माधवीय, स्मृतिसारसमुच्चय एवं इतिहाससमुच्चय का उल्लेख है। इसको सदाचारसंग्रह भी कहा गया है।

स्मृतिरत्नाकर—वेदाचार्य द्वारा। नित्य-नैमित्तिकाचार, गर्भाधानादि संस्कार, तिथि निरूपण, श्राद्ध, शान्ति, तीर्थयात्रा, भक्ष्याभक्ष्य, व्रत, प्रायश्चित्त, आशौच, अन्त्येष्टि पर १५ अध्याय। कामरूप राजा के आश्रय में प्रणीत। इसने भवदेव (प्रायश्चित्त पर), जीमूतवाहन, स्मृतिमीमांसा, स्मृतिसमुच्चय, आचारसागर, दानसागर, महार्णव का उल्लेख किया है। रघु० के यजुर्वेदिश्राद्धतत्त्व में सम्भवतः इसी का उल्लेख है। १२५०-१५०० ई० के बीच में। इ० आ० (पृ० ४७३-७४), नो० (भाग ७, ४५)।

स्मृतिरत्नावलि—नृसिंहप्रसाद, अन्त्येष्टिपद्धति (नारायणभट्ट कृत), नि० सि०, शुद्धिचन्द्रिका (नन्द पण्डित कृत) में वर्णित है।

स्मृतिरत्नावलि—महेश्वर के पुत्र मधुसूदन दीक्षित द्वारा। बीकानेर (पृ० ४६७, केवल श्राद्ध का अंश)।

स्मृतिरत्नावलि—रामनाथ विद्यावाचस्पति द्वारा। सन् १६५७ ई० में प्रणीत। दे० दायभागविवेक। स्टीन (पृ० १०९)।

स्मृतिरत्नावलि—वेचूराम द्वारा। नो० (७, पृ० २२८)।

स्मृतिरहस्य।

स्मृतिविवरण—आनन्दतीर्थ द्वारा। यह सदाचारस्मृति ही है।

स्मृतिविवेक—मेधातिथि द्वारा। दे० प्रक० ६३।

स्मृतिविवेक—शूलपाणि द्वारा। दे० प्रक० ९५।

स्मृतिव्यवस्था—गौड़ देश के चिन्तामणि न्यायवागीश भट्टाचार्य द्वारा। शुद्ध्यादिव्यवस्था पर। पाण्डु० की तिथि शक १६१० (१६८८-८९)।

स्मृतिव्यवस्थार्णव—बिहार एवं उड़ीसा कैट० (१, सं० ४३३)।

स्मृतिशेखर—(या कस्तूरिस्मृति) नागय के पुत्र कस्तूरि द्वारा। बर्नेल (तंजौर कैट० १३६ ए)। आचार पर।

स्मृतिसंस्कारकौस्तुभ—सम्भवतः अनन्तदेव का ही संस्कारकौस्तुभ है।

स्मृतिसंक्षेप—नरोत्तम द्वारा। आशौच, सहमरण, षोडशदान पर। नो० न्यू० (भाग २, पृ० २२५ एवं भाग १, पृ० ४१४)।

स्मृतिसंक्षेपसार—मधुसूदन तर्कवागीश के पुत्र रमाकान्त चक्रवर्ती द्वारा। उद्वाह, उद्वाहकाल, गोत्र, प्रवर, सपिण्ड, समानोदक आदि पर। नो० न्यू० (भाग २, पृ० २२५)।

स्मृतिसंग्रह—(या संग्रह)। दे० प्रक० ५४।

स्मृतिसंग्रह—(१) छलारि नारायण द्वारा; लेखक के पुत्र द्वारा स्मृत्यर्थसारसागर में व०। (२) दयाराम द्वारा। (३) नीलकण्ठ द्वारा (ड० का० पाण्डु० सं० ३७३, १८७५-७६)। (४) नवद्वीप के रामभद्र न्यायालंकारभट्टाचार्य द्वारा। अनध्याय, तिथि, प्रायश्चित्त, शुद्धि, उद्वाह, सापिण्ड्य पर। इसे व्यवस्थाविवेचन या व्यवस्थासंक्षेप भी कहते हैं। (५) सायण एवं माधव लिखित कहा गया है।

स्मृतिसंग्रह—वाचस्पति द्वारा।

स्मृतिसंग्रह—विद्यारण्य द्वारा (हुल्श, सं० ५९१)।

स्मृतिसंग्रह—(या विद्यारण्यसंग्रह) ७००० पद्यों में एक विशाल ग्रन्थ (बड़ोदा, ११२४८)।

स्मृतिसंग्रह—वेङ्कटेश द्वारा। क्या यह वेङ्कटनाथ कृत स्मृतिरत्नाकर ही है?

स्मृतिसंग्रह—हरदत्त द्वारा।

स्मृतिसंग्रह—यह परमेश्वरीदासाब्धि ही है।

स्मृतिसंग्रह—व्यवहार पर (कलकत्ता संस्कृत कालेज पाण्डु० कैट० भाग २, पृ० १३७, सं० १४१)

स्मृतिसंग्रहरत्नव्याख्यान—नारायणभट्ट के पुत्र रामचन्द्र द्वारा चतुर्विंशतिमत पर एक टीका (इ० आ० कैट०

पृ० ४७५)। यह चतुर्विंशतिमत पर भट्टोजि की टीका भी हो सकती है।

स्मृतिसंग्रहसार—महेशपंचानन द्वारा। रघु० के स्मृतितत्त्व पर आधृत। नो० (६, पृ० २३५)।

स्मृतिसमुच्चय—बम्बई विश्वविद्यालय लाइब्रेरी की पाण्डु०, लगभग ५०० पद्यों में, आह्निक, शौच, स्नान, एकादशी आदि पर। गरुडपुराण के उद्धरण हैं।

स्मृतिसमुच्चय—(आचारतिलक या लघ्वाचारतिलक से) दन्तधावन, स्नान, संध्या आह्निक, श्राद्ध, एकादशी आदि पर ३२१ श्लोक (बड़ोदा सं० ७३३१)।

स्मृतिसमुच्चय—विश्वेश्वर कृत। जे० बी० ओ० आर० एस्० (१९२७, भाग ३-४, पृ० ६) में आया है कि यही ग्रन्थ जीमूत० के कालविवेक, हेमाद्रि (कालनिर्णय) ३।२।६८६, रघु० के दिव्यतत्त्व एवं शूलपाणि के तिथिविवेक में वर्णित है।

स्मृतिसरोजकलिका—विष्णुशर्म द्वारा ८ खण्डों में; स्नान, पूजा, तिथि, श्राद्ध; सूतक, दान, यज्ञ, प्रायश्चित्त पर। इसमें २८ स्मृतिकारों के नाम आये हैं। दे० ट्राएनिएल कैट०, मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० १९१९-२२ (पृ० ४३६०, सं० २९९७)।

स्मृतिसरोजसुन्दर—(या स्मृतिसार) दे० सरोजसुन्दर।

स्मृतिसर्वस्व—हुगली जिले के कृष्णनगर निवासी नारायण द्वारा। इ० आ० कैट० (पृ० ४४८)। १६७५ ई० के पूर्व। इसने शक १६०३ (१६८१ ई०) में आने वाले क्षयमास का उल्लेख किया है।

स्मृतिसागर—कुल्लूकभट्ट द्वारा। दे० गोविन्दार्णव। शूलपाणि के दुर्गोत्सवविवेक, गोविन्दानन्द की शुद्धिकौमुदी एवं रघु० के प्रायश्चित्ततत्त्व में इसका उल्लेख है।

स्मृतिसागर—नारायणभट्ट के प्रायश्चित्तसंग्रह एवं रघु० के मलमासतत्त्व में व०।

स्मृतिसार—केशवशर्मा द्वारा। विभिन्न तिथियों में किये जाने वाले कृत्यों पर १३५९ श्लोक।

स्मृतिसार—नारायण द्वारा।

स्मृतिसार—महेश द्वारा। जन्म-मरण के आशौच पर। नो० (३, पृ० ४८)।

स्मृतिसार—मुकुन्दलाल द्वारा।

स्मृतिसार—याज्ञिकदेव द्वारा। दायभाग, श्राद्ध, यज्ञोपवीत, मलमास, आचार, स्नान, शुद्धि, सापिण्ड्य, आशौच पर विभिन्न स्मृतियों से एकत्र ३११ श्लोक। ड० का० पाण्डु० (सं० १८१, १८९५-१९०२) की तिथि संवत् १६५२ (१५९५-९६ ई०) है।

स्मृतिसार—यादवेन्द्र द्वारा। कृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी, दुर्गोत्सव, श्राद्ध, आशौच, प्रायश्चित्त जैसे उत्सवों एवं कृत्यों पर। धर्मप्रवृत्ति द्वारा व०। इ० आ० कैट० (पृ० ४७७), नो० (भाग ४, पृ० २१३) की पाण्डु० की तिथि शक १६१९ है।

स्मृतिसार—श्रीकृष्ण द्वारा।

स्मृतिसार—हरिनाथ द्वारा। दे० प्रक० ९१। इसे स्मृतिसारसमुच्चय भी कहते हैं।

स्मृतिसार—(या आशौचनिर्णय) वेंकटेश के एक ग्रन्थ की टीका।

स्मृतिसारटीका—कृष्णनाथ द्वारा।

स्मृतिसारप्रदीप— रघुनन्दन द्वारा।

स्मृतिसारव्याख्या—विद्यारत्न स्मार्तभट्टाचार्य द्वारा।

स्मृतिसारसंग्रह—कृष्णभट्ट द्वारा।

स्मृतिसारसंग्रह—चन्द्रशेखरवाचस्पति द्वारा।

स्मृतिसारसंग्रह—पुरुषोत्तमानन्द द्वारा, जो परमहंस पूर्णानन्द के शिष्य थे। आह्निक, शौच, स्नान, त्रिपुण्ड्र, क्रमसंन्यास, श्राद्ध, विरजाहोम, स्त्रीसन्यासविधि, क्षौरपर्वनिर्णय, यतिपार्वणश्राद्ध पर।

स्मृतिसारसंग्रह—महेश द्वारा। दे० व्यवस्थासारसंग्रह।

स्मृतिसारसंग्रह—याज्ञिकदेव द्वारा। कुछ सवर्धनों के साथ यह स्मृतिसार ही जैसा लगता है। यहाँ ४५९ श्लोक हैं। ड० का० पाण्डु० (स० ३४४, १८८६-९२)।

स्मृतिसारसंग्रह—वाचस्पति द्वारा। रघु० का उल्लेख है। इ० आ० (पृ० ४३०)।

स्मृतिसारसंग्रह—विद्यानन्दनाथ द्वारा।

स्मृतिसारसंग्रह——विश्वनाथ द्वारा। विज्ञानेश्वर कल्पतरु, विद्याकरपद्धति का उल्लेख है। ट्राएनिएल कैट० मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० (१९१९-२२, पृ० ४२६४, सं० २९४४)।

स्मृतिसारसंग्रह——वेंकटेश द्वारा।

स्मृतिसारसंग्रह——वैद्यनाथ द्वारा।

स्मृतिसारसमुच्चय——घरेलू व्रतों पर। शौच, ब्रह्मचारी, आचार, दान, द्रव्यशुद्धि, प्रायश्चित्त पर २८ ऋषियों के उद्धरण हैं। दे० इ० आ० (पृ० ४७७, सं० १५५६) एवं अलवर (उद्धरण, ३७२) जहाँ यह आया है कि इसे धर्मशास्त्ररुचि ने लिखा है।

स्मृतिसारसमुच्चय——हरिनाथ द्वारा। यह उपर्युक्त स्मृतिसार ही है।

स्मृतिसारसर्वस्व——वेंकटेश द्वारा। वेंकटेशकृत आशौचनिर्णय ही है।

स्मृतिसारसागर——रघु० के तिथितत्त्व में व०।

स्मृतिसारावलि——नि० सि० में व०।

स्मृतिसारोद्धार——दे० चक्रनारायणीय निबन्ध। बनारस में प्रका०।

स्मृतिसिद्धान्तसंग्रह——इन्द्रदत्त उपाध्याय द्वारा।

स्मृतिसिद्धान्तसुधा——रामचन्द्र बुध द्वारा। अ पंचषष्टि पर एक टीका।

स्मृतिसिन्धु——श्रीनिवास द्वारा, जो कृष्ण के शिष्य थे। बर्नेल (तंजौर कैट०, पृ० १३५ ए)। वैष्णवों के लिए।

स्मृतिसुधाकर——(या वर्षकृत्यनिबन्ध) सुधाकर के पुत्र ओझाशंकर द्वारा। नो० (भाग ४, पृ० २७१)।

स्मृतिसुधाकर——शंकरमिश्र द्वारा। १६०० ई० के लग०। जे० बी० ओ० आर० एस्० (१९२७, भाग ३-४, पृ० १०)।

स्मृत्यधिकरण।

स्मृत्यर्थनिर्णय——(व्यवहार पर)।

स्मृत्यर्थरत्नाकर——इसे स्मृत्यर्थसार भी कहा जाता है।

स्मृत्यर्थसागर——नारायण के पुत्र छल्लारि नृसिंहाचार्य द्वारा। मध्वाचार्य की सदाचारस्मृति पर आधारित। आह्निक, काल, आशौच एवं शुद्धि पर चार तरंगों में विभक्त। दे० भण्डारकर की रिपोर्ट (१८८३-८४, पृ० ५२) बी० बी० आर० ए० एस्० (पृ० २३९, सं० ७४८) वं ऑफ़ेक्ट कैट० (२८५ बी०)। इसका कथन है कि मध्वाचार्य का जन्म ११२० (शक संवत्) में हुआ था। कमलाकर एवं स्मृतिकौस्तुभ का उल्लेख है। सन् १६७५ ई० के उपरान्त।

स्मृत्यर्थसार——नीलकण्ठाचार्य द्वारा। से० प्रा० कैट० (सं० ६७३३)।

स्मृत्यर्थसार——मुकुन्दलाल द्वारा।

स्मृत्यर्थसार——श्रीधर द्वारा। दे० प्रक० ८१।

स्मृत्यर्थसारसमुच्चय——बड़ोदा (४०८८), शौच, आचमन, दन्तधावन आदि पर २८ ऋषियों के दृष्टिकोणों के सार दिये हुए हैं। पाण्डुलिपि की तिथि है संवत् १७४३। २८ ऋषि ये हैं——मनु, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, अत्रि, कात्यायन, वसिष्ठ, व्यास, उशना, बौधायन, दक्ष, शंख, लिखित, आपस्तम्ब अगस्त्य, हारीत, विष्णु, गोभिल, सुमन्तु, मनु स्वायभुव, गु , नारद, पराशर, गर्ग, गौतम, यम, शातातप, अंगिरा, संवर्त।

स्मृत्यालोक——बिहार एवं उड़ीसा कैट० (भाग १, सं० ४४९)।

स्वत्वरहस्य——(या स्वत्वविचार) अनन्तराम द्वारा।

स्वत्ववाद——ट्राएनिएल कैट०, मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० (१९१९-२३, पृ० ४७८२)।

स्वत्वविचार——नो० न्यू० (भाग २, पृ० २२६)।

स्वत्वव्यवस्थार्णवसेतुबन्ध——रघुनाथ सार्वभौम द्वारा। विभागनिरूपण, स्त्रीधन, स्त्रीधनाधिकारी, अपुत्रधनाधिकार पर ६ परिच्छेद।

स्वर्गवाद——स्वर्गवाद, प्रतिष्ठावाद, सपिण्डीकरणवाद पर। नो० न्यू० (भाग २, पृ० २२९)।

स्वर्गसाधन——रघुनन्दनभट्टाचार्य द्वारा। प्रसिद्ध रघुनन्दन से भिन्न लेखक। श्राद्धाधिकारी, अन्त्येष्टिपद्धति, आशौचनिर्णय, वृषोत्सर्ग, षोडशश्राद्ध, पार्वणश्राद्ध आदि पर। नो० न्यू० (भाग १, पृ० ४१७)।

स्वस्तिवाचनपद्धति——जीवराम द्वारा।

हनुमत्प्रतिष्ठा।

हयशीर्षपञ्चरात्र——मूर्ति-स्थापन एवं मन्दिर-निर्माण-सम्बन्धी एक वैष्णव ग्रन्थ। रघु०, नि० सि० एवं हलायुध के पुराणसर्वस्व में वर्णित।

हरितालिकाव्रतनिर्णय।

हरितोषण——वेदान्तवागीश भट्टाचार्य द्वारा।

हरिदिनतिलक——वेदान्तदेशिक द्वारा। टीका (मद्रास गवर्नमेण्ट पाण्डु० भाग ६, पृ० २३६८, सं० ३१५३); इसके अनुसार लेखक वेदान्तदेशिक का काल स्मृतिच०, हेमाद्रि, कालादर्श एवं कालनिर्णय के पश्चात् था; टीका का कथन है कि इन ग्रन्थों के सिद्धान्त अशास्त्र एवं आसुर हैं।

हरिपूजापद्धति——आनन्दतीर्थ भार्गव द्वारा। स्टीन (पृ० १०९)।

हरिभक्ति——रघु० द्वारा आह्निकतत्त्व एवं एकादशीतत्त्व में वर्णित।

हरिभक्तिकल्पलता——विष्णुपुरी द्वारा। कृष्णभक्तिकल्पवल्ली में व०।

हरिभक्तिकल्पलतिका——कृष्णसरस्वती द्वारा। १४ स्तवकों में विभक्त।

हरिभक्तिदीपिका——गणेश द्वारा। नो० (भाग ५, पृ० १८९-१९०)।

हरिभक्तिभास्कर——(सद्वैष्णवसारसर्वस्व) भीमानन्द के पुत्र भुवनेश्वर द्वारा; १२ प्रकाशों में, संवत् १८८४ में प्रणीत।

हरिभक्तिरसायन।

हरिभक्तिरसायनसिन्धु।

हरिभक्तिरहस्य।

हरिभक्तिलता।

हरिभक्तिविलास——प्रबोधानन्द के शिष्य गोपालभट्ट द्वारा। चैतन्य ने इन्हें लिखने का आदेश दिया था। दे० भगवद्भक्तिविलास। १५६२ ई० के लगभग लिखित। रघु० द्वारा व०।

हरिभक्तिविलास——(लघु) रूपगोस्वामी द्वारा। टीका सनातन गोस्वामी द्वारा; वैष्णवतोषिणी में व०। दे० नो० (६, पृ० १९०-९३) जहाँ उनके कुल का वर्णन है।

हरिभक्तिसार।

हरिभक्तिसुधोदय——इसकी टीका का उल्लेख सदाचारचन्द्रिका में है।

हरिवंशविलास——नन्दपण्डित द्वारा। आह्निक, कालनिर्णय, दान, संस्कार पर कौतुकों में विभक्त। दे० प्रक० १०५।

हरिवासरनिर्णय——व्यङ्कटेश द्वारा (बड़ोदा, १, ८७९३)।

हरिहरदीक्षितीय।

हरिहरपद्धति——हरिहर द्वारा। पारस्करगृह्यसूत्र वाले उनके भाष्य में यही संलग्न है। हेमाद्रि, श्राद्धसौख्य (टोडरानन्द कृत) एवं रघु० के उद्वाहतत्त्व तथा अन्य तत्त्वों में व०। दे० प्रक० ८४।

हरिहरभाष्य——पारस्करगृह्य० पर हरिहर द्वारा।

हलायुधनिबन्ध——श्रीदत्त के आचारादर्श में व०।

हलायुधीय——आचारमयूख में व०। सम्भवतः यह हलायुध का ब्राह्मणसर्वस्व ही है।

हरिलता——अनिरुद्ध द्वारा। दे० प्रक० ८२। टीका सन्दर्भसूतिका, अच्युतचक्रवर्ती द्वारा, जो हरिदास तर्काचार्य के पुत्र थे। टीका विवरण, श्राद्धकल्पलता में नन्दपण्डित द्वारा व०।

हारीतस्मृति——दे० प्रक० ११ एवं ५६। टीका हेमाद्रि द्वारा व०, दे० प्रक० ११। टीका तकनलाल द्वारा।

हारीतस्मृति——(बड़ोदा, ८१८५) वर्णों एवं आश्रमों के नित्य, नैमित्तिक कृत्यों, आ नारीधर्म, नृपधर्म, जीव-परमेश्वरस्वरूप, मोक्षसाधन, ऊर्ध्वपुण्ड्र पर चार अध्याय। व्यवहाराध्याय भी है।

हिरण्यकामधेनुदान।

हिरण्यकेशाह्निक।

हिरण्यकेशी (सत्याषाढ) गृह्यसूत्र——दो प्रश्नों में; चार पटलों में विभक्त (डा० किर्स्टे द्वारा बिएना में सम्पादित, १८८९, एवं सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, भाग ३० में अनूदित)। टीका प्रयोगवैजयन्ती, महादेव

द्वारा। टीका मातृदत्त द्वारा (किर्स्टे के संस्करण में उद्धरण)।

हिरण्यकेशिधर्मसूत्र--दे० प्रक० ८। टीका उज्ज्वला, महादेव द्वारा। दे० प्रक० ८।

हिरण्यश्राद्ध।

हेमाद्रिकालनिर्णयसंक्षेप--(या-संग्रह) लक्ष्मीधर के पुत्र भट्टोजिदीक्षित द्वारा। दे० बड़ोदा (संख्या ५४८०)।

हेमाद्रिनिबन्ध--यह चतुर्वर्गचिन्तामणि ही है।

हेमाद्रिप्रयोग--विद्याधर द्वारा।

हेमाद्रिसंक्षेप--भजीभट्ट द्वारा। स्टीन (पृ० ११०)।

हेमाद्रिसर्वप्रायश्चित्त--बालसूरि द्वारा।

होमनिर्णय--शंकर के पुत्र नीलकण्ठात्मज भानुभट्ट द्वारा। लगभग १६२०-१६८० ई०।

होमकालातिक्रमप्रायश्चित्त।

होमपद्धति--माधव द्वारा। लेखक के मखतिलक का एक अंश। रूपनारायण का वर्णन है। अलवर (उद्धरण, ३७५)।

होमपद्धति--लम्बोदर द्वारा।

होमप्रायश्चित्त।

होमलोपप्रायश्चित्तप्रयोग।

होमविधान--बालकृष्ण द्वारा (ऋग्वेदीय)। बड़ोदा (८३५४)।

होमसिद्धान्त--अज्ञात।

होरिलस्मृति--विश्वम्भर के स्मृतिसारोद्धार में वर्णित।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

धर्म, नीति एवं संस्कृति विषय की प्रकाशित पुस्तकें

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम		मूल्य
१.	भारतीय संस्कृति	डॉ. देवराज	रु.	४५.००
२.	धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-१	मू. पी.वी. काणे अनु. अर्जुन चौबे काश्यप	रु.	१४०.००
३.	धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-२	मू. पी.वी. काणे अनु. अर्जुन चौबे काश्यप	रु.	११०.००
४.	धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-३	मू. पी.वी. काणे अनु. अर्जुन चौबे काश्यप	रु.	१५०.००
५.	धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-४	मू. पी.वी. काणे अनु. अर्जुन चौबे काश्यप	रु.	१६५.००
६.	धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-५	मू. पी.वी. काणे अनु. अर्जुन चौबे काश्यप	रु.	१६५.००
७.	हमारा ज्योतिष और धर्मशास्त्र	आचार्य हरिहर पाण्डेय		मुद्रणाधीन
८.	भारतीय ज्योतिष	अनु. शिवनाथ झारखंडी	रु.	१५०.००
९.	गीता का तात्त्विक विवेचन	आचार्य भास्करानंद लोहानी	रु.	१४०.००
१०.	भारतीय संस्कृति और कला	वाचस्पति गैरोला		मुद्रणाधीन

: सम्पर्क सूत्र :

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन,

६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज,